* सम्मति *

छान्दोग्योपनिषद्भाष्य के प्रथम दो खण्ड नमूने के प्रकार छापकर कुछ विद्वानों की सेवा में भेजे थे जिनमें से नीचे लिखे विद्वज्जनों ने कृपाकर अपनी सम्मति से कृतार्थ किया सो यहां प्रकाश की जाती हैं।

(१) पं० इन्द्रदत्तजी शर्मा, स्वतन्त्र आर्योपदेशक, जबलपुर।

आपका भेजा हुआ छान्दोग्य उपनिषद् पंडितवर शिवशङ्करजीकृत टिप्पणिका आई थी मैंने जहांतक देखी मेरी पूर्ण सम्मति है। भाष्य में पूर्वापर सम्बन्धार्थ विशेष विचार रहना चाहिये।

(२) गोस्वामी घनश्यामजी शर्म्मा, आयुर्वेदीय औषधालय, मुलतान।

आपने भेजी है वह देखी है, बहुत उत्तम है अवश्य छपनी चाहिये इस की आवश्यकता है।

(३) पं० पूर्णानन्दजी उपदेशक आर्यप्रतिनिधिसभा, पंजाब।

भाष्य के दो खण्ड छप चुके हैं मैंने अच्छीतरह से अवलोकन किये। मुझे इस का प्रकार बहुत अच्छा मालुम हुआ, विशेषतः प्रथम के द्वितीय खण्ड की जो काठिन्य थी उसको भी पं० जी ने निवारण कर दी है, वस्तुतः छान्दोग्य बृहदारण्यक के लिखने के योग्य पं० जी ही मालुम होते हैं अतएव प्रबन्धकर्तृसभा की सेवा में सविनय निवेदन यह है कि इस पुस्तक को विना ननुनच के अति शीघ्र छाप दीजियेगा आर्यसमाज के अन्दर ऐसी पुस्तकों की अति आवश्यकता है।

(४) श्रीमान् ठाकुर नन्दकिशोरसिंहजी शर्म्मा, स्टेटकौन्सल जयपुर।

आप का भेजा हुआ छान्दोग्योपनिषद्भाष्य दो खण्ड मैंने उत्तम प्रकार से देखा, अवश्य ही यह ग्रन्थ आजकल की जरूरत के अनुसार बहुत ही उत्तम तैयार होगा इसमें पदार्थों का प्रतिपादन बहुत स्फीतता से किया जाता है और लेख की सरलता पर भी अधिक ध्यान रक्खा जाता है जिससे कि सर्वसाधारण के समझने में कुछ भी क्लेश न हो, समय २ पर श्रीस्वामी शङ्कराचार्य आदि के भाष्यों की भूल भी अच्छीतरह प्रकट की जाती है और आरम्भ में प्रतीकोपासना का खण्डन भी बहुत युक्त प्रकार से लिखा है।

(अन्तिम पृष्ठ देखो)

अथ

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यविषयानुक्रमणिका ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः ।

संवर्गविद्या का आरम्भ ।

सत्यकाम जाबालविद्या ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

भूमशब्दवाच्य ब्रह्मोपासना ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

दहराकाशवाच्यब्रह्मोपासना का आरम्भ ।

इन्द्रविरोचनाख्यायिका ।

इति श्री छान्दोग्योपनिषद् विषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

समीक्षा अवतरणिका आदिक की सूची है *

* टिप्पणी अर्थात् फुटनोट जो स्थान २ में दी गई हैं उनकी सूची इसमें सम्मिलित नहीं है ।

ऋषि आदियों के नाम ॥

अङ्गिरा १ । २ । १० ॥

अतिधन्वा १ । ९ । ३ ॥

अभिप्रतारी ४ । ३ । ५ ॥ ४ । ३ । ६ ॥

अश्वपति ५ । ११ । ४ ॥

आटिकी १ । १० । १ ॥

आथर्वण ७ । २ । १ ॥ ७ । ७ । १ ॥

आयास्य १ । २ । १२ ॥

आरुणि ३ । ११ । ४ ॥ ५ । ११ । २ ॥ ५ । १७ । १ ॥ ६ । ८ । १ ॥

आरुणेय ५ । ३ । १ ॥ ६ । १ । १ ॥

औश्वतराश्वि ५ । ११ । १ ॥ ५ । १६ । १ ॥

इन्द्र २ । २२ । १, ३, ५ ॥

इन्द्रद्युम्न ५ । ११ । १ ॥ ५ । १४ । १ ॥

उद्दालक *

उपकोसल ४ । १० । १ ॥ ४ । १४ । १ ॥

उषस्त, उषस्ति १ । १० । १ ॥ १ । ११ । १ ॥

ऐतरेय ३ । १६ । ७ ॥

कात्तसेनि ४ । ३ । ५ ॥

कापेय ४ । ३ । ५, ६, ७ ॥

कामलायन ४ । १० । १ ॥

कृष्ण ३ । १७ । ६ ॥

कौषीतकी १ । ५ । २ ॥

गोश्रुति ५ । २ । ३ ॥

गौतम ४ । ४ । ३ ॥ ५ । ३ । ६, ७ ॥ ५ । ४ । १ ॥ ५ । १७ । १ ॥

ग्लाव १ । १२ । १ ॥

घोर ३ । १७ । ६ ॥

(१) मुण्ड० १ । १ । २ ॥ ३ । २ । ११ ॥ (२) यहां वेद अर्थ है । बृ० २ । ५ । १६, १७, १८ ॥ २ । ६ । ३ ॥ ४ । ६ । ३ ॥ ३ । ७ । १ ॥ (३) बृ० ३ । ७ । १ ॥ ३ । ७ । २३ ॥ ६ । ३ । ६ ॥ ६ । ४ । ४ ॥ (४) बृ० ६ । २ । १ ॥ (५) बृ० ५ । १४ । ८ । * आरुणि की संख्यावत् जानना ॥ (६) बृ० ३ । ४ । १ ॥ (७) बृ० २ । ६ । १, ३ ॥ ३ । ७ । १ ॥ ४ । ६ । २ ॥ ६ । २ । १ ॥ इन और अन्य स्थलों में भी आये हैं । कठ० १ । १० ॥ ४ । १५ ॥ ५ । ६ ॥

(१) बृ० ३ । ४ । १ ॥ (२) बृ० १ । ३ । २४ । में चैकितान शब्द आया है ॥ (३) बृ० ४ । १ । ६ ॥ ६ । ३ । ११ ॥ ६ । ३ । १२ ॥ (४) बृ० ६ । २ । १, ४ ॥ (५) बृ० २ । ६ । २ । तैति० १ । ६ । २ ॥ (६) बृ० ५ । १४ । ८ ॥ (७) बृ० २ । ६ । १ ॥ ४ । ६ । १ ॥ इत्यादि (८) मुण्ड० १ । १ । ३ ॥ (९) बृ० ४ । १ । ६ ॥ ६ । ३ । १२ ॥

* ओ३म् *

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यभूमिका ॥

ओमित्येवाभिधानेन, यद्गायन्ति कवीश्वराः ।
तद्वन्दे जगतामीशं, ब्रह्म निर्गुणमव्ययम् ॥ १ ॥
स्मारं स्मारं दयानन्द, पदवीं श्रुतिसम्मताम् ।
छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं, संस्कृते प्राकृतेऽपि च ॥ २ ॥
प्रसिद्धपदसंयुक्तं, सरलं च मनोहरम् ।
करोमि मिथिलादेश, निवासी शिवशङ्करः ॥ ३ ॥ युग्मम्
छन्दांसि येऽत्र गायन्ति, छान्दोगास्ते प्रकीर्तिताः ।
सामवेदिषु रूढोऽयं, जातः शब्दः प्रयोगतः ॥ ४ ॥
तेषामाम्नाय धर्म्मौ तु, छान्दोग्यं * कथ्यते बुधैः ।

जिस ब्रह्म को कवीश्वर लोग ओङ्कार नाम के द्वारा ही गाते हैं उस निर्गुण अव्यय जगदीश की मैं बन्दना करता हूं ॥ १ ॥ श्रुत्यनुकूल महर्षि दयानन्द सरस्वती की पदवी को वारंवार स्मरण करके मिथिलादेशनिवासी मैं शिवशङ्कर शर्म्मा, प्रसिद्ध पदों से युक्त सरल और मनोहर छान्दोग्योपनिषद्भाष्य को संस्कृत और प्राकृत (नागरीभाषा) में बनाता हूं ॥ २ । ३ ॥ छन्दों को जो गाते हैं वे "छन्दोग" कहलाते हैं शब्दप्रयोगवश आज कल सामवेदियों में यह शब्द रूढ होगया है ।

* छान्दोग्य शब्द--(छन्दांसि ये गायन्ति ते छन्दोगाः) २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ अक्षरों के क्रम से वेदों में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती नाम के छन्द होते हैं । और एक २ छन्द के आर्षी १ दैवी २ आसुरी ३ प्राजापत्या ४ याजुषी ५ साम्नी ६ आर्ची ७ और ब्राह्मी ८ ये आठ २ भेद हैं । इस प्रकार छन्दों के ७×८=५६ छप्पन भेद मुख्य हैं । इनके अतिरिक्त ५२, ५६,

६०, ६४, ६८, ७२, ७६ अक्षरों के क्रमशः अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति छन्द होते हैं। पुनः ८०, ८४, ८८, ९२, ९६, १००, १०४ अक्षरों के कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, सङ्कृति, अतिकृति, उत्कृति छन्द होते हैं। प्रथम गायत्री आदि सातों छन्दों का नाम छन्द, द्वितीय अतिजगती आदि सातों का नाम अतिच्छन्द और कृति आदिक सातों का नाम विच्छन्द है। पुनः इनके अनन्तभेद होते हैं। सब प्रकार के इन छन्दों को जो गाते हैं उन्हें छन्दोग कहते हैं। जिस कारण विशेषतया सामवेदी लोग ही वेदों के छन्दों को गाते हैं इस हेतु छन्दोग शब्द सामवेदी में ही रूढ है। किन्हीं आचार्यों का यह भी मत है कि छन्दः शब्द सामवेदवाची भी होता है इस हेतु भी छन्दोग सामवेदी को कहते हैं। (गै शब्दे। छन्दस् पूर्वक शब्दार्थक गै धातु से छन्दोग शब्द सिद्ध होता है) परन्तु महर्षि पाणिनि आदिक आचार्यों ने वेदमात्र अर्थ में छन्दः शब्द का प्रयोग किया है। यथा—बहुलं छन्दसि २। ४। ३९ ॥ बहुलं छन्दसि २। ४। ३६ ॥ अभ्युत्सादयां प्रजनयाम्…छन्दसि ३। १। ४२ ॥ गुपेश्छन्दसि ३। १। ५० ॥ इत्यादि छन्दः शब्द के अनेक प्रयोग "वेद" इस अर्थ में अष्टाध्यायी प्रभृति ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इसहेतु वेदों को जो गावें वे सब ही छन्दोग कहला सक्ते हैं। गै धातु का तात्पर्य केवल गानमात्र से नहीं है किन्तु वेदों को जो अच्छे प्रकार पढ़े पढ़ावे और उनके तत्त्वों को जो जाने जनवावे इत्यादि अर्थ भी उपलक्षण से सिद्ध होगा। "छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम्" छन्दोगों का जो धर्म या आम्नाय (वेद) उसे छान्दोग्य कहते हैं। इस में "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः" ४। ३। १२९ ॥ इस सूत्र से ञ्य प्रत्यय होकर छान्दोग्य शब्द बनता है अर्थात् सामवेदियों के धर्म, वेदसम्बन्धी ग्रन्थ और उनके वेद उन सबों का एकनाम छान्दोग्य है।

उपनिभ्यां सदेर्धातोः, क्विपि चोपनिषन्मता * ॥ ५ ॥
अन्तर्भावितण्यन्तस्य, सदेर्विशरणादिषु ।
केचिन्नर्थेषु मन्यन्ते, इदं रूपं तु संभवात् ॥ ६ ॥
अनया ब्रह्मसामीप्य-मुपवेष्टुं हि साधकाः ।
अर्हा भवन्ति क्षिप्रं यत्, तेनैवोपनिषन्मता ॥ ७ ॥

* उपनिषद् शब्द—इस शब्द में "उप" और "नि" ये दो उपसर्ग हैं और एक

"षद्" धातु है "षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु" विशरण, गति और अवसादन इन तीन अर्थों में सद् धातु होता है । मूर्धन्य षकार दन्त्य सकार हो जाता है । और उपसर्ग रहने पर धातु का अपना अर्थ बहुधा बदल जाता है । इस हेतु "उप+नि+सद्" धातु के अनेक अर्थ लोग करते हैं । उप सहित सद् धातु के प्रयोग उपनिषदों में बहुत आये हैं, यथा–

" अथ हैनं प्रस्तोता+उपससाद । छा० १ । ११ । ४ ॥ अथ हैनमुद्गाता+उपससाद १ । ११ । ६ ॥ अथ हैनं प्रतिहर्ता+उपससाद" १ । ११ । ८ ॥

इत्यादि स्थलों में उप+सद् धातु का अर्थ समीप में बैठना है । पुनः–

"लवणमेतदुदकेऽवधायाऽथ मा प्रातरुपसीदथाः" । छा० ६ । १३ । १ ॥

जल में इस लवण को रखकर तब प्रातःकाल मेरे निकट उपस्थित होना । यहां उप सद् का अर्थ उपस्थित होना है । पुनः–

" उपससादँ सनत्कुमारं नारदः । तं होवाच यद्वेत्थ तेन मा+उपसीद "

नारदजी सनत्कुमार के निकट पहुंचे उनसे सनत्कुमार बोले जो आप जानते हैं प्रथम (तेन) उससे (मा) मेरे (उपसीद) निकट उपस्थित होओ । अर्थात् जो आप जानते हैं प्रथम उसको मुझ से कहें वा सुनावें । यहां पर भी पहुंचना ही अर्थ प्रतीत होता है ।

" शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवद्+उपसन्नः+पप्रच्छ । मुण्डक उ० १ । १ । ३ ॥ तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय" । मुण्डक १ ।२।१३॥

इत्यादि स्थलों में उपसन्न शब्द का अर्थ समभाव से शरण में प्राप्त होना है ।

निषद्–नि सहित सद् के प्रयोग उपनिषदों में तो प्रायः नहीं हैं परन्तु वेदों में और काव्यादियों में बहुत हैं । " ऋचो अक्षरे ...... यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः । वेदे । निषेदुषीमासनबन्धधीरः " रघुवंशे । इत्यादि स्थानों में नि पूर्वक सद् का अर्थ बैठना होता है । पुनः–

उप+नि+षद्–परन्तु आश्चर्य यह है कि "उप+नि" दोनों उपसर्ग सहित सद् धातु का प्रयोग कहीं नहीं देखने में आता है । यदि दो चार प्रयोग भी इस के कहीं मिलते तो सहज रूप से प्रकरण और प्रसङ्ग से अवश्य इस शब्द का अर्थ विदित हो जाता । परन्तु प्रसिद्ध २ ग्रन्थों में इस का प्रयोग नहीं है इस हेतु "उप+नि+षद्" धातु का क्या यथार्थ अर्थ हो सकता है इस का पता लगाना सहज काम नहीं है ।

यद्वा सामीप्यमायातां, सर्वभावेन वै नृणाम् ।
शिथिलयति दुःखानां, समूहं प्रथमं यतः ॥ ८ ॥
अविद्याहेतुकान् क्लेशान्, निषादयति तत्क्षणात् ।
ततो गमयति ब्रह्म, तेन सोपनिषन्मता ॥ ९ ॥

अतः इन ग्रन्थों का क्योंकर यह उपनिषद् नाम पड़ा सो ठीक नहीं कह सकते । शब्दस्तोम महानिधि कहता है "उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति । उप+नि+षद् +क्विप्" ब्रह्मविद्या जिससे प्राप्त हो उसे उपनिषद् कहते हैं । श्रीशङ्कराचार्यजी मुण्डकोपनिषद्भाष्य की भूमिका में इस प्रकार अर्थ करते हैं ।

यथा । "य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति । अविद्यादि संसारकारणञ्चात्यन्तमवसादयति विनाशयत्युपनिषद् । उप+नि पूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्" ।

अर्थ–जो कोई श्रद्धा और भक्ति से संयुक्त होकर अत्यन्त प्रेम के साथ इस ब्रह्मविद्या के निकट आते हैं उनके गर्भ जन्म (गर्भ में जन्म ग्रहण करना) जरा रोगादि अनर्थसमूहों को शिथिल करती है अथवा उनको परब्रह्म में मिलाती है और उनके अविद्यादि संसार कारण को अत्यन्त विनष्ट कर देती है इस हेतु इस ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है । क्योंकि उप+नि+षद् का ऐसा अर्थ होना संभव है। श्रीशङ्कराचार्य का भाव यह है कि उप शब्द का अर्थ समीप । नि का अर्थ अत्यन्त और सद् धातु के विशरण=शिथिल करना, गति=गमन, अवसादन=नाश करना ये तीन अर्थ हैं। अतः संपूर्ण उपनिषद् शब्द का यह अर्थ हुआ कि जो जिज्ञासु (उप) इस ब्रह्मविद्या के समीप श्रद्धा और भक्ति से पहुंचता है । उस के क्लेशों को (निशातयति) अत्यन्त शिथिल करदेती है अथवा (उप) जो इस के समीप जाता है उस को (ब्रह्म+गमयति) ब्रह्म के समीप ले जाती है और अविद्यादि संसार कारण को (नि) अत्यन्त (अवसादयति) विनष्ट कर देती है । यह भाव है ।

अन्य कोई कहते हैं "उपनितरां सादयति विनाशयतीत्युपनिषद्" जो ब्रह्म के समीप पहुंचाकर अविद्यामूलक क्लेशों को नाश करे उसे उपनिषद् कहते हैं, यथाः—

"उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः"
"निहन्त्यविद्यां तज्जञ्च तस्मादुपनिषन्मता"

परन्तु जब यह विचार उपस्थित होता है कि जैसा शङ्कराचार्य आदिक महात्माओं ने अर्थ किया है, इसका उदाहरण क्या कहीं मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना पड़ता है कि नहीं। परन्तु पृथक् २ उप पूर्वक और नि पूर्वक सद् धातु के अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनका अर्थ प्रायः समीप बैठना होता है। हम यह भी देखते हैं कि ठीक इसी अर्थ में उप पूर्वक आस् धातु के बहुत प्रयोग आये हैं (उपास्ते) उपासना करता है अर्थात् समीप बैठता है। इसी प्रकार (उपविशति) समीप बैठता है। उपपूर्वक विश धातु के भी बहुत प्रयोग हैं। इसी प्रकार उप+नि+सद् धातु का भी अर्थ समीप बैठना किया जाय तो संगति अच्छी बैठ सकती है और क्लिष्ट कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है। और इसके उदाहरण भी मिलते हैं। अर्थ ऐसा करना चाहिये। "उपनिषत्तुं नितरां समीपे उपवेष्टुं समर्था भवन्ति साधका अनया इत्युपनिषद्" अर्थात् जिस ब्रह्मविद्या के अध्ययन अध्यापन के द्वारा ब्रह्म के अति समीप बैठने के योग्य हो उसे उपनिषद् कहते हैं इस में सन्देह नहीं कि उपनिषदों के अध्ययन अध्यापन से मनुष्य ब्रह्म के समीप बैठने के योग्य होता है बैठने से यह तात्पर्य है कि जैसा ईश्वर शुद्ध, अपापविद्ध, न्यायकारी, पक्षपातरहित, परमज्ञानी, दयालु आदि है वैसा ही साधक भी उपनिषद् के ज्ञान से होता है। ईश्वरीय गुणों को यथायोग्य धारण करना ही ईश्वर के निकटस्थ बैठना है। संज्ञावाचक उपनिषद् शब्द उपनिषदों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है उनके अर्थ में किञ्चित् भेद प्रतीत होता है॥

उपनिषद् शब्द के प्रयोग—

ईश—इस में उपनिषद् का प्रयोग नहीं है।

केन—"उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति"। ३२।

शिष्य पूछता है। हे गुरो ! उपनिषद् कहें। गुरु—तुमसे हमने उपनिषद् कही अब ब्राह्मी उपनिषद् (अब्रूम) कहेंगे (यहां भविष्यदर्थ में "अब्रूम" का प्रयोग हुआ है) यहां पर उपनिषद् शब्द का अर्थ आत्मज्ञानशास्त्र प्रतीत होता है। जब आचार्य अपने शिष्यों से उपनिषद् का उपदेश दे चुके थे तो शिष्यों ने यह प्रश्न क्यों पूछा ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है। इससे तो यह विदित होता है कि आचार्य का पूर्व उपदेश उपनिषद् नहीं थी। परन्तु यह सन्देह दूर हो जाता है जब आचार्य ने कहा कि उपनिषद् तो कह चुके। हां ब्राह्मी उपनिषद् अवशिष्ट है उसका उपदेश देंगे। यहां ब्राह्मी शब्द का अर्थ यह प्रतीत होता है कि जिस समय शिष्य ब्रह्म=वेद का अध्ययन कर रहा है उस समय कौनसा उपदेश ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् वेदाध्ययन सम्बन्धी जो उपनिषद्

(उपदेश) सो ब्राह्मी उपनिषद् क्योंकि आगे अतिसंक्षेप से कहा है, यथा:—

"तस्यै तपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठावेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्" ॥ ३ ॥

उस उपनिषद् का ब्रह्मचर्यादि तप, इन्द्रियदमन, अग्निहोत्रादि कर्म प्रतिष्ठा है क्योंकि तप, दम होने से ही वेदाध्ययन प्रतिष्ठित होता है। और सब अङ्ग सहित चारों वेद और सत्य इसके आयतन=आश्रय है। इस कथन से दूसरे उपनिषद् शब्द का अर्थ केवल उपदेश वा शिक्षा विदित होती है। इसी हेतु तैत्तिरीयोपनिषद् में—

वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः ···· एषा वेदोपनिषद्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्।१।११॥

वेद का व्याख्यान करके आचार्य शिष्यों को सिखलाते हैं कि सत्य बोलो। धर्म करो। नित्य पठन पाठन से प्रमाद मत करो··············इत्यादि उपदेश देकर कहते हैं कि हे शिष्यो यह वेदोपनिषद् है यह अनुशासन है। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि यहां वेदोपनिषद् शब्द का प्रयोग है और वहां ब्राह्मी उपनिषद् शब्द का प्रयोग है। ब्रह्म शब्द भी वेदवाचक है इस हेतु ऐसे २ स्थलों में उपनिषद् शब्द का अर्थ अनुशासन अर्थात् उपदेश या शिक्षा है।

छान्दोग्य—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" ।१।१।१०॥

जिस कर्म को विद्या से, श्रद्धा से और उपनिषद् से करता है वही वीर्यवान् होता है, यहां उपनिषद् का अर्थ ईश, केन, कठादिक शास्त्र हैं। क्योंकि विद्या शब्द का प्रयोग विद्यमान ही है इस हेतु ब्रह्मविद्या अर्थ उपनिषद् का नहीं हो सकता है। यहां केवल ईशादि ग्रन्थ से ही अभिप्राय है। पुनः "अन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳ साम्नामुपनिषदं वेद इति" १।१३।४॥ जो सामगान सम्बन्धी उपनिषद् को जानता है वह अन्नवान् और अन्नाद होता है। पुनः—

"तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वा असुरा वा ते पराभविष्यन्ति········" ८।८।४॥

प्रजापति के निकट इन्द्र और विरोचन अध्ययनार्थ आये। प्रजापति ने उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। परन्तु उस उपदेश को वे लोग समझ न सके बिना समझे हुए

ही उन दोनों ने वहां से प्रस्थान किया । उस समय प्रजापति कहते हैं वे दोनों आत्मा को न पाकर और न समझ कर यहां से जा रहे हैं जिन के बीच यह उपनिषद्' होगी वे अवश्य पराभूत (परास्त) होवेंगे यहां केवल उपनिषद् शब्द का अर्थ उपदेश प्रतीत होता है । पुनः-

"विरोचनोऽसुरान् जगाम तेभ्यो ह एतामुपनिषदं प्रोवाच आत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य......" ८ । ८ । ४ ॥

इस प्रकार विरोचन अपने बन्धु बान्धव असुरों के निकट पहुंचे । और उन लोगों से यह उपनिषद् कही कि शरीर ही आदरणीय और पूजनीय है । इत्यादि । पुनः-

"तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरोवतेति+असुराणां ह्येषा+उपनिषद् प्रेतस्य शरीरं भिक्षयावसनेन अलङ्कारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेनह्यमुंलोकं जेष्यन्तो मन्यन्त इति । ८ । ८ । ५ ॥"

इस हेतु आज कल भी अदानी, अश्रद्धालु और अयजनशील पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि यह असुर है । क्योंकि असुरों का ही यह उपनिषद् है । वेही लोग इस विनश्वर शरीर को भिक्षा, वसन और अलङ्कार से संस्कृत=अलङ्कृत करते हैं । और इसी से दोनों लोकों का विजय समझते हैं । यहां उपनिषद् शब्द का अर्थ ईश, केन, कठ आदि नहीं हो सकते हैं किन्तु शिक्षा अर्थ संघटित होता है । उनकी जैसी शिक्षा है वे वैसा करते हैं और देवों में जैसी शिक्षा है तदनुसार वे वर्ताव करते हैं ।

बृहदारण्यक में-"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव-मेवास्मदात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । तस्य उपनिषद् सत्यस्य सत्यमिति । प्राणावै सत्यं तेषामेव सत्यम्" २ । १ । २० ॥

जैसे ऊर्णनाभि (मकरा) निज तन्तु की सहायता से इधर उधर स्वच्छन्दता से विच-रण करता है । और जैसे अग्नि से छोटी २ चिनगारिएं निकलती हैं वैसे ही इस आत्मा से सब प्राण, सब लोक, सब देव, सब भूत निकलते हैं । जिस आत्मा से यह सम्पूर्ण स्थावर, जंगम, जगत्, अग्नि विस्फुलिङ्गवत् निकलती हैं और जिसमें ही लीन होता है उस आत्मा की उपनिषद् सत्य का सत्य है । यहां उपनिषद् का अर्थ पहुंचाने वाला या उपाय प्रतीत होता है अर्थात् उस आत्मा के निकट पहुंचने का क्या उपाय है सो कहते हैं (सत्य) है । पुनः-

…"अरेस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् । यदृग्वेदः यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदःश्लोकाः सूत्राणि+अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवेतानि सर्वाणि निःश्वसितानि" २ । ४ । १० ॥

यहां वेदादिकों के साथ पाठ होने से उपनिषद् शब्द ईशादि ग्रन्थवाचक है । पुनः—

"जनको ह वैदेहः कूर्चादुपाव सर्पन्नुवाच, नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति । स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददी तैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यःसन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथवैतेऽहं तद् वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति" ४ । २ । १ ॥

एक समय की बात है कि मिथिलादेशनिवासी वैदेह जनक राजा अपने सिंहासन से उठते हुए बोले कि हे भगवन् ! याज्ञवल्क्यगुरो ! आपको नमस्कार हो। मुझे अनुशासन (उपदेश) देवें तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य बोले—हे सम्राट् ! जैसे इस लोक में यदि बड़ा रास्ता काटना रहता है तो स्थलमार्ग से जानेवाला रथ और जलमार्ग से जाने वाला नौका लेता है वैसे ही आप इन उपनिषदों से समाहितात्मा हैं । और ऐसे पूज्य ऐसे धनाढ्य हैं । आपने वेद पढ़े हैं । उपनिषद् आप को कही गई है तथापि आप निर्भय नहीं दीखते हैं । हे सम्राट् ! क्या आप जानते हैं कि इन उपनिषदादि सामग्रियों को लेकर कहां जायेंगे । हे भगवन् जहां जाऊंगा सो मैं नहीं जानता हूं । यहां बहुवचन उपनिषद् शब्द के पाठ से विविध प्रकार के उपदेश प्रतीत होते हैं और ईशावास्यादि उपनिषदों का भी ग्रहण हो सकता है । इत्यादि उपनिषद् शब्द के अर्थ अनुसंधान करना ।

वेदान्त

शासनाद्वेदतत्त्वानां, स तु वेदान्त उच्यते ।
एतस्या भावनिर्णीत्यै, मीमांसा तु विनिर्मिता ॥ १० ॥
व्यासोक्ता याऽस्ति मीमांसा, तदाऽऽशयस्य निर्णयात् ।
वेदान्तपदवाच्या सा, सर्वशास्त्रार्थसंमता ॥ ११ ॥

वेदान्त नाम भी उपनिषदों का है। तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक १० । अनुवाक १० । प्रवाक ३ में यह श्लोक आया है । यथा:—

१ वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः,
२ सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।

३ ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले,

४ परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

यह श्लोक मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ६ में भी है परन्तु तृतीय और चतुर्थ चरणों के पाठ में इस प्रकार भेद है ।

३ ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले,

४ परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ *

यहां सायणाचार्य अर्थ करते हैं, यथा:—

"वेदान्ताः उपनिषद् वाक्यानि" वेदान्त अर्थात् उपनिषदों के वाक्य। पुनः—

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।

तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥ तैत्ति० आ० प्रपा० १० । अनु० १० । प्रवाक ३ ॥

यहां पर भी "वेदान्ते च उपनिषदि" वेदान्त शब्द का अर्थ सायण, उपनिषद् ही करते हैं । परन्तु यहां वेदान्त शब्द का उपनिषद् अर्थ नहीं है । यहां "वेदों का अन्त" अर्थ है । क्योंकि यहां यह दिखलाया गया है कि (वेदादौ) वेदों के अर्थात् वेद-मन्त्रों के (आदौ) आदि में (यः+स्वरः) जो ओङ्काररूप स्वर (प्रोक्तः) कहाजाता है (च) और (वेदान्ते) वेदों के मन्त्रों के (अन्ते) अन्त में (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है अर्थात् उच्चारित होता (तस्य) उस (प्रकृतिलीनस्य) ओङ्कारस्वरूप शब्द का (यः परः) जो पर अर्थ है (सः) वह (महेश्वरः) परब्रह्म है अर्थात् वेद के आदि और अन्त में जिस ओङ्कार का उच्चारण होता है उस शब्द का अर्थ परब्रह्म है । यहां विस्पष्टतया विद्वानों को बोध हो सकता है कि आदि शब्द के योग में अन्त शब्द का प्रयोग है । इस हेतु यहां अन्त शब्द का "उपनिषद् अर्थ करना" सायण का कहांतक उचित है सो विद्वान् लोग स्वयं विचार सकते हैं ।

श्री सदानन्दकृत वेदान्तसार में—

"वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्" ॥

---

* सप्तमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास में ऐसा ही पाठ है परन्तु तृतीयावृत्ति में आरण्यक समान पाठ है, दोनों ही शुद्ध हैं ।

"तदुपकारीणि शारीरक सूत्रादीनि च" ॥ ३ ॥

अर्थ–प्रमाणस्वरूप उपनिषदों का नाम वेदान्त है तथा प्रमाणस्वरूप उपनिषदों के अनुकूल जो मीमांसारूप शारीरक सूत्र आदिक अध्यात्म शास्त्र हैं। वे भी वेदान्त नाम से कहे जाते हैं। यह वेदान्त शब्द मुण्डकोपनिषद् को छोड़ अन्य ईश आदि नवों उपनिषदों में प्रायः कहीं नहीं आया है। अब यह शङ्का होती है कि उपनिषदों को वेदान्त क्यों कहने लगे। संस्कृत समास के अनुसार "वेदानाम्+अन्तः+वेदान्तः" वेदों के अन्त को वेदान्त कहते हैं। यदि यहां अन्त शब्द का अर्थ अन्तिम सूक्त वा भाग वा अन्तिम अध्याय वा अन्तिम प्रपाठक वा अन्तिम काण्ड आदि अर्थ किया जाय तो सब उपनिषदों में यह अर्थ नहीं घटेगा। केवल ईशावास्य उपनिषद् ही यजुर्वेद का अन्तिम ४० वां अध्याय है। इस को वेद का अन्त कह सकते हैं। परन्तु अन्य उपनिषद् वेदों के अन्त नहीं है। इस हेतु प्रतीत होता है कि अन्त शब्द का अर्थ अन्तिम नहीं। किन्तु वेदों के अन्तिम तात्पर्य वा प्रयोजन का वर्णन हो जिसमें उसे वेदान्त कहना चाहिये। जिस हेतु उपनिषदें वेदों के अन्तिम तात्पर्य ज्ञानकाण्ड को विशेषरूप से वर्णन करती हैं इस हेतु उन्हें वेदान्त कहना समुचित है।

ताण्ड्यमहाब्राह्मण और छान्दोग्योपविषद्—

छान्दोग्योपनिषच्छ्रेष्ठा, ताण्ड्यब्राह्मणनिःसृता।
अष्टौ प्रपाठकाः खण्डाः, समुद्रभूनभू युताः ॥ १२ ॥

ईशावास्योपनिषद् को छोड़, प्रायः सब ही उपनिषदें ब्राह्मण अथवा आरण्यक ग्रन्थों से उद्धृत मानी जाती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् नाम ही सूचित करता है कि यह उ० आरण्यक ग्रन्थ का जो बृहत्=बहुत बड़ा है, एक भाग है। परन्तु छान्दोग्योपनिषद् किस ब्राह्मण का भाग है यह निर्णय करना कठिन काम है। अनेक विद्वानों की यह सम्मति है कि जैसा प्रत्येक ऋग्वेदादि का एक २ ऐतरेय आदि ब्राह्मण विद्यमान है तद्वत् सामवेद का भी एक ब्राह्मण होना चाहिये। वह तण्ड ऋषिप्रणीत ताण्ड्यमहाब्राह्मण है। इसी को साम ब्राह्मण, प्रौढ ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहते हैं। श्रीमदाचार्य श्रीदयानन्द सरस्वतीजी ने इसी ताण्ड्यमहाब्राह्मण को सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सामब्राह्मण नाम से लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐतरेय ब्रा० शतपथ ब्रा० और ताण्ड्यमहाब्राह्मण इन तीनों की लेखशैली भाषा आदि अति प्राचीन और समान प्रतीत होती है अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण की भाषा और लेख इन तीन ब्राह्मणों की अपेक्षा से नवीन प्रतीत होते हैं, एवमस्तु। सामवेद के ताण्ड्यमहाब्राह्मण का ही भाग छान्दोग्योपनिषद्

मानी जाती है। विद्वान् लोग कहते हैं कि यह ताड्यमहाब्राह्मण प्रथम ४० अध्यायों में विभक्त था। परन्तु कुछ दिनों से एक ताण्ड्यमहाब्राह्मण को तीन वा चार ग्रन्थों में बांटकर पृथक् २ करदिया है। प्रथम, २५ अध्यायों का एक ग्रन्थ जो आजकल ताण्ड्यमहाब्राह्मण कहलाता है। और इसी कारण इसको कोई पञ्चविंश कहते हैं क्योंकि इसमें २५ अध्याय हैं। द्वितीय, पांच अध्यायों का एक ग्रन्थ जो षड्विंश ब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध है। जिस कारण षड्विंश २६ वां अध्याय से प्रारम्भ होता है अतः षड्विंश इसका नाम है। इसी ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय का नाम कोई २ अद्भुत और महाऽद्भुत आदि रखते हैं। तृतीय, १० अध्यायों का एक ग्रन्थ जिसको छान्दोग्योपनिषद् कहते हैं परन्तु इसमें भी दो भाग हैं। प्रथम ८ अध्यायों का एक भाग जो आजकल छान्दोग्योपनिषद् के नाम से और दो अध्यायों का दूसराभाग जो मन्त्रब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार सब मिलकर ४० अध्यायों का समुदाय एक ताण्ड्यमहाब्राह्मण है। तीन वा चार ग्रन्थ इस हेतु हमने कहा है कि ताण्ड्यमहाब्रा० षड्विंश महाब्रा० और उपनिषद् इस प्रकार विभाग करने से तीन होते हैं परन्तु उपनिषद् के साथ आजकल २ अध्याय जो मन्त्रब्राह्मण कहलाता है नहीं पाये जाते हैं। अतः उन अध्यायों को अवश्य पृथक् कहेंगे। और कोई महाअद्भुतब्राह्मण को भी षड्विंश से पृथक् ब्राह्मण मानते हैं इस हिसाब से पांच भाग हो सकते हैं परन्तु मुख्य चार ही भाग हैं इस हेतु चार ग्रन्थ हुए। ये चारों मिलकर एक ताण्ड्यमहाब्राह्मण कहलाता है। इस विषय में यह भी कहते हैं कि प्रायः ब्राह्मणग्रन्थों में प्रथम यज्ञसम्बन्धी विधि, तब उपनिषद्, तब गृह्यविधि (गृहाश्रमके लिये गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्य्यन्त की जहां विधि हो उसे गृह्यविधि कहते हैं) का वर्णन रहता है जैसा शतपथ ब्राह्मण में है और जैसा बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्त में गृह्यविधि उक्त है वैसा ही छान्दोग्योपनि० में भी होना चाहिये परन्तु इन आठ अध्यायों में नहीं है इस हेतु अनुमान होता है मन्त्रब्राह्मण जो दो अध्यायों में विभक्त है उपनिषद् का ही भाग है। परन्तु कर्म के सौकर्यार्थ (सुविधा के लिये) मन्त्रब्रा० उपनिषद् से पृथक् कर दिया गया है।

इस विचार के ऊपर हमें अवश्य इतना कहना पड़ता है कि षड्विंश ब्राह्मण बहुत आधुनिक प्रतीत होता है किसी ने इस को प्रथम चार प्रपाठकों वा अध्यायों में लिखकर प्राचीनत्व सिद्धि के लिये षड्विंश नाम रक्खा। क्योंकि ताण्ड्यमहाब्राह्मण २५ प्रपाठकों वा अध्यायों में होने से पञ्चविंश कहलाता है इससे सम्बन्ध जोड़ने के हेतु २६ वां अध्याय पर निज ग्रन्थ का नाम षड्विंश रक्खा। तत्पश्चात् मालूम होता है कि किसीने एक अध्याय

और भी उसमें जोड़ दिया। जो अद्भुत वा महाअद्भुत नाम से षड्विंश का पांचवां अध्याय है। अभी तक कोई २ महाअद्भुत को षड्विंश से पृथक् ही ब्राह्मण मानते हैं। इसमें महाअद्भुत कर्म्मों की शान्ति का विधान है "अथातोऽद्भुतानांकर्माणाꣳशान्ति व्याख्यास्यामः" अब अद्भुत कर्मों की शान्ति का व्याख्यान करेंगे। इसीहेतु इसका अद्भुत ब्राह्मण नाम है। यथार्थ में २५ प्रपाठक ताण्ड्य ८ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् और २ प्रपाठक मन्त्रब्राह्मण सब मिलकर ३५ प्रपाठकों के समुदाय को ताण्ड्यमहाब्राह्मण कहने में कोई क्षति नहीं। और इस प्रकार प्रत्येक वेद का एक एक ब्राह्मण भी सर्वांगपूर्ण सिद्ध होता है। सायणाचार्य्यादिकों ने जो यह कहा है कि—

"अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढं ब्राह्मणमादिमम्,
षड्विंशाख्यं द्वितीयंस्यात् ततः सामविधिर्भवेत्।
आर्षेयं दैवतं चैव मन्त्रं वोपनिषत्ततः,
संहितोपनिषद्वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः॥"

प्रथम प्रौढ ब्राह्मण अर्थात् ताण्ड्यमहाब्राह्मण, द्वितीय षड्विंश ब्राह्मण, तृतीय सामविधि या सामविधान ब्राह्मण, चतुर्थ आर्षेय ब्राह्मण, पञ्चम दैवत या देवताध्याय ब्रा०, षष्ठ मन्त्रोपनिषद् ब्रा०, सप्तम संहितोपनिषद् ब्रा० और अष्टम वंशब्राह्मण। ये आठ ब्राह्मणग्रन्थ सामवेद के हैं। यह कथन इनका ठीक नहीं है। यथार्थ में सामवेद का ताण्ड्यब्राह्मण नामक एक ही ब्राह्मण है। अन्य ब्राह्मणों को अनुब्राह्मण कह सकते हैं क्योंकि अनुब्राह्मणों की भी चर्चा पाणिनिकृत अष्टाध्यायी प्रभृति ग्रन्थों में आई है। अनुब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण सदृश है। परन्तु सामविधान प्रभृति को अनुब्राह्मण भी नहीं कह सकते हैं। ये सब बहुत आधुनिक और वेदविरुद्ध हैं। ग्रन्थविस्तारभय से इन विषयों पर विशेष निर्णय नहीं लिखते हैं।

उपनिषदों की संख्या ॥

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये १० दश उपनिषदें वेदानुकूल हैं। द्वितीय कोटि में कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् और मैत्र्युपनिषद् इन तीनों को भी रख सकते हैं। उपनिषदों के नाम से अन्य जितने ग्रन्थ पाये जाते हैं। उनको यथार्थ में उपनिषद् नहीं कह सकते हैं। शङ्कराचार्य के शारीरक वेदान्तभाष्य में उपरोक्त सब उपनिषदों के प्रमाण प्रायः आये हैं और

उपरोक्त दश उपनिषदों पर ही शाङ्करभाष्य पाये जाते हैं । अन्य किसी उपनिषद् का नाम तक भी शङ्कराचार्यकृत वेदान्तभाष्य में नहीं देखते । यथार्थ में अन्य उपनिषदें संप्रदाय के पक्षपात से परिपूर्ण हैं और वैदिक-सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण हेयकोट्यागार में ही निक्षेपणीय हैं परन्तु गौड़पादकारिका, सर्वोपनिषत्सार, अनुभूतिप्रकाश, ये तीन ग्रन्थ भी उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं और देखने के योग्य हैं ✝ ।

आजकल जितनी उपनिषदें पाई जाती हैं और जिस २ वेद की कहलाती हैं उन सबों का नाम वर्णानुक्रम से लिखते हैं ।

(१) सामवेद की १६ षोडश उपनिषदों के नामः—

१ अव्यक्त उपनिषद्
२ आरुणी „ *
३ कुण्डिका „
४ केन „ *
५ छान्दोग्य „ *
६ जाबालदर्शन „
७ जाबाली उपनिषद्
८ महत् „ *
९ मैत्रायणी „
१० मैत्रेयी „
११ योगचूड़ामणि „
१२ रुद्राक्ष „
१३ वज्रसूचिक उपनिषद्
१४ वासुदेव „ *
१५ संन्यास „
१६ सावित्री „

(२) ऋग्वेदीय १० उपनिषदों के नामः—

१ अक्षमालिका उपनिषद्
२ आत्मप्रबोध „ *
३ ऐतरेय „ *
४ कौषीतकी „ *
५ त्रिपुरा „
६ नादविन्दु „ *
७ निर्वाण उपनिषद्
८ मुद्गला „
९ बह्वृच „
१० सौभाग्य „

(३) अथर्ववेदीय ३१ उपनिषदों के नामः—

१ अथर्वशिखा उप० *
२ अथर्वशिर „ *
३ कृष्ण उपनिषद् *
४ गणपति „ *
५ गारुड़ „
६ गोपालतापन „
७ जाबाल „
८ त्रिपुरातपन „
९ दत्तात्रेय „
१० देवी „

✝ श्रीमद्भगवद्गीता को भी कोई २ उपनिषद् के नाम से पुकारते हैं परन्तु यह महाभारत का एक भाग है उपनिषद् नहीं। यह ग्रन्थ जगत् भर में प्रख्यात और आदरणीय है।

* इस चिन्हवाली उपनिषद् मुद्रित और भाषाटीका प्रभृति सहित मिलती है, इसके अतिरिक्त आश्रम (१) ब्रह्मविन्दु (२) चूलिका (३) ध्यानविन्दु (४) गोपीचन्दन (५) कठश्रुति (६) मैत्री (७) नीलरुद्र (८) पिण्ड (९) ये नौ उपनिषदें भी मुद्रित और टीकासहित मिलती हैं।

११ नारद परिब्राजक उप०
१२ नृसिंहतापिनी ,,*
१३ परब्रह्म ,,
१४ परिब्राजकान्नपूरणा ,,
१५ परमहंस ,,
१६ पाशुपत ,,
१७ प्रश्न ,,*
१८ भस्म ,,
१९ भावना ,,
२० महानारायण ,,*
२१ महावाक्य ,,
२२ माण्डूक्य ,,*
२३ मुण्डक ,,*
२४ रामतापिनी ,,*
२५ रामरहस्य ,,
२६ बृहज्जाबाल ,,
२७ शरभ ,,
२८ शाण्डिल्य ,,
२९ सीता ,,
३० सूर्यात्म ,,
३१ हयग्रीव ,,

(४) शुक्लयजुर्वेदीय १९ उपनिषदों के नामः—

१ अतीताध्यात्म उप०
२ ईशावास्य ,,*
३ जाबाल ,,*
४ तारसार उप०
५ तुरीय ,,
६ शिखी ,,
७ निरालम्ब ,,
८ परमहंस ,,*
९ पैङ्गल ,,
१० ब्राह्मण-मण्डल ,,
११ ब्राह्मद्वय तारक ,,
१२ भिक्षु ,,
१३ मन्त्रिका ,,
१४ मुक्तिका ,,*
१५ याज्ञवल्क्य ,,
१६ बृहदारण्यक ,,*
१७ शाण्ड्यायनी ,,
१८ सुबाल ,,
१९ हंस ,,*

(५) कृष्ण यजुर्वेदीय ३२ उपनिषदों के नामः—

१ अक्षि उप०
२ अमृतनाद ,,
३ अमृतविन्दु ,,*
४ अवधूत ,,
५ एकाक्षर ,,
६ कठरुद्र ,,
७ कठवल्ली ,,*
८ कलिसन्तरण ,,
९ कालाग्निरुद्र उप०*
१० कैवल्य ,,*
११ क्षुरिका ,,*
१२ गर्भ ,,*
१३ तेजोविन्दु ,,*
१४ तैत्तिरीयक ,,*
१५ दक्षिणामूर्ति ,,
१६ ध्यानविन्दु ,,*
१७ नारायण ,,*
१८ पञ्चब्रह्म ,,
१९ प्राणाग्निहोत्र ,,*
२० ब्रह्म ,,*
२१ ब्रह्मविद्या ,,*
२२ योगकुंडलिनी ,,
२३ योगतत्त्व ,,*
२४ योगशिखा ,,*
२५ वराह ,,
२६ शारीरक ,,
२७ शुकरहस्य ,,
२८ श्वेताश्वतर ,,*
२९ सर्वसार ,,
३० स्कन्द ,,*
३१ सरस्वतीरहस्य ,,
३२ हृदय ,,

—०—

(१) नृसिंहपूर्वतापिनी नृसिंहोत्तरतापिनी ये दो उपनिषदें हैं, पृथक् २ मिलती भी हैं।
(२) रामपूर्वतापिनी रामोत्तरतापिनी ये भी दो उपनिषद् हैं।

संस्कृत और भाषा में उपनिषद्भाष्य।

प्रथम मैंने विचार किया था कि जहांतक होगा प्रत्येक खण्ड के अन्त में भाष्यादिकों के अतिरिक्त संस्कृत और भाषा में समीक्षा देकर उपनिषद् के अभिप्राय को विस्तारपूर्वक विस्पष्ट करूंगा और इसी प्रकार स्थान २ में अवतरणिका अवपातनिका या भूमिका लिखकर ऋषियों का गौरव निज बुद्ध्यनुसार प्रकाशित करूंगा। परन्तु अनेक कारणों से यह विचार शिथिल होगया उनमें से यह भी एक मुख्य कारण था कि इस प्रकार ग्रन्थ का आकार बड़ा होने से प्रथम देखकर ही बहुत लोग डर ग्रन्थ पढ़ने का साहस नहीं करेंगे और प्रायः मूल्य के भय से भी विरले ही कोई जिज्ञासु इसके खरीदने में समर्थ होंगे इस प्रकार के कारणों के वशीभूत हो तीन प्रपाठकों तक जहां तहां समीक्षा और अवतरणिका आदि समालोचना बहुत संकुचितभाव से दे सका और चतुर्थ प्रपाठक से एक आध के अतिरिक्त समीक्षा बिलकुल छोड़दी गई। इन्हीं हेतुओं से संस्कृतभाष्य और थोड़े अक्षरों में लिखा गया है। यदि अध्यात्मजिज्ञासु और सरल सुबोध भी अतिचिरन्तन ऋषियों के हृदयान्वेषी पाठक महाशयगण इस विषय में अपनी २ उत्सुकता प्रकट करेंगे तो द्वितीयावृत्ति में इन सबों की पूर्त्ति की जायगी। इस छान्दोग्य उपनिषद् में आठ प्रपाठक और १५४ खण्ड हैं। और प्रत्येक खण्ड के अन्तर्गत प्रवाक होते हैं। ग्रन्थ-विस्तारभय से इन सबों का वर्णन नहीं दिया गया है।

❋ निवेदन ❋

ऋषि-वचोऽमृतपान-समुत्सुकाः!।
उपनिषन्मत-दर्शन-लालसाः!॥
अहरहः श्रुति-सार-गवेषिणः!।
पिबत भाष्यमिदं सरसं मधु॥ १॥
अहमिदं निखिलान् विबुधव्रजान्।
सविनयं प्रणिपत्य निवेदये॥
भवत चारुदृशोऽत्र विचक्षणाः!।
सुमतयो नहि दूषणदृष्टयः॥ २॥

अर्थ—ऋषियों के वचनामृत पान में समुत्सुक भ्राताओ! उपनिषद् के सिद्धान्त के जानने के लिये परमतृषित जनो! अहनिश श्रुतियों के सार के अन्वेषण करने वाले

विद्वान्-गणो ! आप लोग ब्रह्मरस संयुक्त इस भाष्य का पान करें ॥ १ ॥ मैं निखिल विद्वान्-समूहों को सविनय नमस्कार कर निवेदन करता हूं कि हे विबुध महाशयो ! इस के ऊपर आप लोग सुन्दर दृष्टिवाले होवें क्योंकि विद्वानों का स्वभाव ही है कि वे दोषों के ऊपर दृष्टि नहीं देते हैं ॥ २ ॥

* कृतज्ञताप्रकाश *

शास्त्रार्थविद्धर्मविचारकोविदः,
श्रीलात्मरामोऽखिलदेशसत्कृतः ।
संवीक्ष्य भाष्यं कृतवानुदारधीः,
स्वीयानुमत्योपकृतिं चिरस्मृतिम् ॥ १ ॥
तस्यार्हमत्या बहुदानहेतुना,
जातो वशी प्रोज्ज्वलकीर्तिशालिनः ॥
कुर्वे किमन्यद् बहुधन्यवादनात् ।
तस्मात्तदेव प्रददामि सर्वदा ॥ २ ॥

अर्थ–श्रील* अर्थात् श्रीमान् अमृतसरनिवासी मास्टर आत्मारामजी ने जो शास्त्रों के अर्थों को अच्छे प्रकार जानने वाले, धर्म के विचार में निपुण, सम्पूर्ण देश में सत्कृत और उदारबुद्धि हैं इस भाष्य को देखकर निज सम्मतिप्रदान से चिरस्मरणीय उपकार किया है ॥ १ ॥ उन उज्ज्वलकीर्तिशाली मास्टर आत्मारामजी की निज योग्यसम्मति के बहु प्रदान के हेतु, मैं उनके वशीभूत होकर बहु धन्यवाद के अतिरिक्त इसके लिये उनको क्या दे सकता हूं। उस हेतु वही उन्हें सर्वदा प्रदान करता हूं ॥ २ ॥

इति श्री छान्दोग्योपनिषद्भाष्यभूमिका समाप्ता ।

निवेदक–शिवशङ्कर । अजमेर ३०–७–१९०५ ई० ।

* श्रीमान् के अर्थ में सिध्मादिभ्यश्च ५ । २ । ९७ ॥ इस सूत्र के अनुसार श्री शब्द से लच् प्रत्यय होकर श्रील शब्द बनता है ।

ओ३म्

अथ छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

(उद्गीथशब्दवाच्यब्रह्मोपासना)

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति—ह्युद्गायति तस्यो-
पव्याख्यानम् ॥ १ ॥

ओम् । इति । एतत् । अक्षरम् । उद्गीथम् । उपासीत । ओम् । इति । हि ।
उद्गायति । तस्य । उपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—ओम्, इति शब्दो ब्रह्मवाचकोऽस्ति । यद्यपि ब्रह्मणो नामधेयानि बहूनि सन्ति । तथापि । सर्वेषां मुख्यतममिदमेवाभिधानम् । बह्वर्थत्वात् । अध्यात्मकत्वात् । सर्वोपनिषद्भिर्गीयमानत्वात् । योगादिशास्त्रैर्निरूप्यमाणत्वात् । वेदाध्ययनारम्भे प्रथमोच्चार्यमाणत्वात् । अव्ययतया ब्रह्मवन्निर्विकारत्वाच्च । एतैः कारणैर्ब्रह्मणः श्रेष्ठं नामधेयमोमित्येव विज्ञायते । ब्रह्मणः श्रेष्ठाभिधानेनायं ग्रन्थोऽप्यनेनैवाक्षरेण प्रारभ्यते । प्रायः सर्वाश्चोपनिषदो मुख्यतयैतदक्षरं श्रेष्ठमालम्बनमुपदिशन्ति । तद्यथा—

कठोपनिषदि[1]—एतदालम्बनं श्रेष्ठम् । एतदालम्बनं परम् ॥ एतदालम्बनं ज्ञात्वा । ब्रह्मलोके महीयते ॥ व० २ । मं० १७ ॥

(१) १ । ४ । १ । कूटस्थताम् ॥

प्रश्नोपनिषदि—यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणैव ओमित्येतेनैवाक्षरेण परंपुरुषमभिध्यायीत ......स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥ प्रश्न ५ । मं० ५ ॥

मुण्डकेऽपि—प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा । ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यम् । शरवत्तन्मयोभवेत् ॥ मुं० २ । खं० २ । मं० ४ ॥

इत्थं प्रायः सर्वोपनिषद ओमित्येवाक्षरं प्रधानत्वेन गायन्ति । ननु । एतावता किं प्रतीकोपासनात्रोपदिश्यते ? कच्चित् । अर्चादौ विष्णुमिवोङ्कारक्षरे ब्रह्मबुद्धिं भावयेत् ? अथवा । ओंशब्दप्रतिपाद्यं नीरूपं निराकारादिशब्दाभिधेयं यत् किमपि ब्रह्म वर्त्तते तदुपासीत ? एवं चेत्। को विशेषः प्रणवाक्षरे । एवं प्राप्ते ब्रूमः । नह्यत्रोपनिषत्सु प्रतीकोपासना विधीयते । किं तर्हि । सूक्ष्मतमस्य परमात्मनो निराकारस्य केनापि वाचकेनावश्यं भवितव्यम् । वाचकादृते वाच्यस्य बोधाभावात् । तत्रापि नेदिष्ठेन सार्थकेन तदर्थमर्म्मद्योतकेन तेन वाचकेन भवितव्यम् । ओमितिशब्दस्तंसर्वमर्थमवगमयति । अतो निर्विशेषं ब्रह्म प्रद्योतयितुं चिरन्तनैर्ऋषिभिर्वाचकत्वेनोमिति शब्दः प्रधानत्वेन प्रयुक्तः । अर्चादीनां तूपनिषत्सु चर्चालेशोपि न विद्यते । तेषामिदानीन्तनैरुपनिषदनभिज्ञैः प्रचारितत्वात् । दृप्तबालाकेरजातशत्रोश्चाख्याने आदित्यचन्द्रविद्युदादिरूपे प्रतीकेपि ब्रह्मोपासनां स्वयमेवोपनिषद् यदा प्रतिषेधयति । तदाकाशास्त्यन्यस्मिन्प्रतीके ब्रह्मोपासनामुपदिशेदिति । यद्वाचानभ्युदितमित्येवं जातीयकैर्वाक्यैर्बहुशस्तस्या निषिद्धत्वाच्च । न च सर्वेभ्यः पवित्रतम ओमित्यस्मिन्नेवाक्षरे प्रतीके ब्रह्मोपासनीयमिति वाच्यम् । उपनिषत्सु तस्य क्वचिदप्यनुक्तत्वात् । स्वमहिम्नि वर्त्तमाने ब्रह्मण्येव तदुपासनासम्भवाच्च ॥

ओमिति—अवति रक्षतीति । ओम् । अवतेष्टिलोपश्चेति वैयाकरणाः । आप्नोतीति च ओमितिब्राह्मणम् । अकारोकारमकारवर्णत्रयाद् ओमिति स्मृतिकाराः । अदृश्यत्वाव्यवहार्यत्वादिगुणात् कस्माच्चिदपि चतुर्थाक्षराद् ओमित्युपनिषदः । ओमिति ब्रह्मनामधेयं सर्वव्यापकाद्यर्थम् । यद्यपि । इति शब्दः परः प्रयुक्तः पूर्वं पदं वाच्याद् व्यावर्त्त्यशब्दस्वरूप एवावस्थापयति तथाप्यत्र ओमित्यस्य मुख्यतामेव प्रद्योतयितुं प्रयुक्तःसन् तस्य श्रैष्ठ्यमेव निर्धारयति । तज्जलानिति शांत उपासीत (३ । १४ । १) मनो ब्रह्मेत्युपासीत (३ । १८ । १) इत्यादिवच्चानुसंधेयम् तस्यैतदक्षरस्य गूढार्थं यथास्थानमुपरिष्टाद्दर्शयिष्यामः ॥

(एतत्) (अक्षरं)। न क्षरति । न संचलति । न विनश्यति । इत्यक्षरम् । अविनश्वरं ब्रह्म वर्णात्मकं वा । (उद्गीथम्) यं सामगा उच्चैर्गायन्ति सः । तम् उद्गीथम् । उद्गी-

थशब्दवाच्यम्। (उपासीत) भावयेत। मन्वीतेति यावत्। तज्जपस्तदर्थभावनम्। इति महर्षिणा पतञ्जलिनाभिहितत्वात्। ओं शब्दस्य जपपूर्वकं तदर्थेन गम्यमानमुद्गीथाभिधेयत्वेन ब्रह्म ध्यायेदित्यर्थः। (ओमिति हि उद्गायति) स्वयमुपनिषद् उद्गीथशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति। हि यस्मात् कारणादुद्गातृनामा ऋत्विक् ओमिति व्यापकं ब्रह्म उच्चैस्तमांस्वरेण गायति। अतएव, ओं शब्दस्योद्गीथापरपर्य्यायोपि भवति। अतएव च। उद्गीथशब्दवाच्यं ब्रह्मोपासीत। ओमित्यारभ्य हि यस्मादुद्गायत्यत उद्गीथ ओंकार इति केचित्। सामगाः खलु। उद्गीथनाम्ना, बह्वृचाः प्रणवनाम्ना, अन्ये तु, ओंकारनाम्ना प्राय ओंशब्दं व्यवहरन्ति। (तस्य) ओंकारशब्दस्य (उपव्याख्यानम्) उपव्याख्यानं नाम समीपव्याख्यानम्। समीपव्याख्यानञ्च तावत्। ओं शब्दस्ययोर्थो नेदिष्ठ आन्तरिकश्च तस्य व्याख्यानम्। सर्वो हि पदार्थ आभ्यन्तरबाह्यगुणैरुपेतोऽस्ति। बाह्या गुणाः प्रत्यक्षतया गृह्यमाणत्वादल्पज्ञैरपि गृह्यन्ते। आन्तरिकास्तु कैश्चिदेव विशेषज्ञैः। प्रकृतेतु। ऋषिभिराभ्यन्तरिकगुणदर्शिभिः सद्भिरोम् शब्दस्याभ्यन्तरिकार्थो विधास्यत इतियावत्॥ यथा पृथिव्यादीनां पदार्थानां बाह्या आभ्यन्तराश्च गुणाः सन्ति तथैव शब्दस्यापि। एकः साधारणार्थो भवति। यम् ईषद्विदोपि जानन्ति। स एव शब्दस्य बाह्योगुणः। अपरश्च विशेषार्थो भवति। यं केवलं शब्दतत्त्ववित्तमा ज्ञानिन एव जानन्ति स एव तस्याभ्यन्तरो गुणो बोध्यः। इदमेव तात्पर्यमुपव्याख्यानस्येति॥

अनुवाद—१–(मनुष्य) उच्चस्वर से गानेयोग्य इस अविनश्वर ओम् (ब्रह्म) की उपासना करे। क्योंकि ओम् (ब्रह्म) को ही उच्चस्वर से (ब्रह्मवित्) गाते हैं। (उसका उपव्याख्यान आगे कहा जायगा) यद्वा २–इस उद्गीथ नामक अविनाशी ओंकार का जप करे क्योंकि (ब्रह्मवित्) ओंकार को (प्रथम उच्चारण कर) उद्गीथ का गान करते हैं। उसी का गूढ़ व्याख्यान (आगे कहा जायगा)।

पदार्थ—(अक्षरम्) अविनश्वर (उद्गीथम्) जिसको सामगायक उच्चस्वर से गाते हैं और (एतत्) प्रत्यक्षवत्) सर्वत्र भासमान इस (ओम्) सर्वव्यापक सर्वरक्षक ब्रह्म की (इति) ही (उपासीत) उपासना करे (हि) क्योंकि ब्रह्मवित् (ओम् इति)

---

(१) य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः। १।५।१॥

(२) संस्कृत में (उपासीत) पद है इसका कर्तृपद मूल में नहीं कहागया है। जो पद अध्याहृत होवेंगे वे कोष्ठ (   ) के अभ्यन्तर रक्खे जावेंगे।

सर्वव्यापकत्वादि गुणयुक्त ब्रह्म को ही (उद्गायति) उच्च स्वर से गाते हैं । यद्वा (उ-द्गीथम्) उद्गीथ नामक (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनाशी (ओमिति) ओंकार का (उपासीत) जप करे अर्थात् अक्षय ओंकार के अर्थों को विचारे (हि) क्योंकि (ओमिति) ओंकार का प्रथम आरम्भ कर (उद्गायति) गान करते हैं (तस्य) उस ओङ्कार का (उपव्याख्यानम्) गूढ़ व्याख्यान (आगे कहा जायगा) ।

भाष्याशय-ओम् यह शब्द ईश्वरवाचक है । यद्यपि ईश्वर के नाम अनेक हैं तथापि ब्रह्म के सब नामों में से यह नाम मुख्यतम अर्थात् श्रेष्ठ है । क्योंकि १–इस शब्द के अर्थ बहुत हैं । २–वेदों का सारभूत है । ३–प्रायः सब उपनिषदें इसी शब्द को गा रही हैं । ४–योग आदि शास्त्र इसका निरूपण कर रहे हैं । ५–वेद के अध्ययन के आरम्भ में प्रथम इसी को उच्चारण करते हैं । ६–और अव्यय होने के कारण ब्रह्मवत् यह शब्द भी निर्वि-कार है । (अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर आदि शब्द के व्याकरण के अनुसार विभक्तिकृत विकार प्रतीत होते हैं तद्वत् ओं शब्द में विकार की प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि यह शब्द अव्यय है । अव्यय का सर्वदा एक ही रूप बना रहता है । इन कारणों से यह शब्द ब्रह्म का ही मुख्य नाम है) । जिस कारण यह नाम मुख्य है अतः इसी नाम से ग्रन्थ का भी आरम्भ करते हैं और इसी नाम के जप से ब्रह्म की उपासना भी प्रायः सब उपनिषदें मुख्यतया बतलाती हैं । यथा—

(एतदालम्बनमित्यादि) यह कठोपनिषद् का वचन है । इस के पहिले ओंकार का वर्णन है । यह ओंकार रूप आलम्बन श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है । इस आलम्बन को जानकर मनुष्य मुक्ति का भागी होता है ।

पुनः प्रश्नोप० में–(यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणैवेत्यादि) जो मनुष्य इस त्रैमात्रिक ओंकार के द्वारा ब्रह्म का ध्यान करता है वह इस जीव के द्वारा परात्पर ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है ।

पुनः मुण्डक में–(प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा इत्यादि) ओंकार को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर सावधानी से उस लक्ष्य में बेध करे और जैसे बाण लक्ष्य में लगकर तन्मय होजाता है वैसे ही ओंकार के द्वारा मनन करता हुआ साधक भी ब्रह्म में समाधिस्थ होजाय ।

इस प्रकार प्रायः सब ही उपनिषदें ओंकार शब्द को उत्तम आलम्बन बतलाती हैं। शङ्का हो सकती है कि मूर्त्ति में जैसे विष्णु आदि की भावना लोग करते हैं वैसे ही क्या ओंकार शब्द में ब्रह्मबुद्धि करे? अथवा ओं शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है अर्थात् ब्रह्म जो रूपरहित और जो निराकार आदि शब्द का वाच्य होता है उसकी उपासना करे? यदि उस ब्रह्म की उपासना उपनिषद् बतलाती है तो फिर ओंकार शब्द में ही क्या विशेषता रह गई। किसी एक शब्द वा अनेक व्याख्यान से उस को जानलेंगे। किसी प्रकार से वह ब्रह्म ज्ञात होजाय, ओंकार शब्द के द्वारा ही उस की उपासना क्यों कीजाय। इस के उत्तर में कहा जाता है कि सूक्ष्मतम निराकार जो परमात्मा है उस का नाम कोई अवश्य होना चाहिये क्योंकि नाम के विना नामी का बोध नहीं हो सकता। परन्तु नाम भी ऐसा होना चाहिये कि जो नामी के यथार्थ गुण और कर्म का बोधन करे। ऐसा नाम केवल एक ओंकार ही है। जो ईश्वर के सब गुणों को बोधन करता है इस कारण प्राचीन ऋषियों ने वैदिक शब्दों में से इस शब्द को दुहकर ब्रह्म के नाम में प्रयोग किया है। अर्चा (मूर्त्तिपूजा) की चर्चा का लेश भी उपनिषदों में नहीं है। इस का तो उपनिषद् के अनभिज्ञ किन्हीं आधुनिक लोगों ने प्रचार किया है। जब स्वयं उपनिषद् दृप्तबालाकि और अजातशत्रु की आख्यायिका में सूर्य्य, चन्द्र और विद्युत् आदि प्रतीक में भी ब्रह्मोपासना का प्रतिषेध करती है तब कब आशा हो सकती है कि अन्य प्रतीक में ब्रह्मोपासना के लिये उपनिषद् उपदेश करे। और "यद्वाचानभ्युदितम्" इत्यादि अनेक वाक्यों से प्रतीकोपासनाका पुनः पुनः निषेध करती आती है इन से यही सिद्ध होता है कि यहां प्रतीकोपासना से अभिप्राय नहीं है। यदि ऐसा कहें कि सबों से पवित्रतम अक्षरात्मक ओंकाररूप प्रतीक में ही उस की उपासना करे सो भी ठीक नहीं क्योंकि उपनिषदों में ऐसा वचन कहीं नहीं कहा गया है, स्वमहिमा में वर्त्तमान ब्रह्म में ही उस की उपासना हो सकती है। इसके गूढ़ तात्पर्य्य को स्थान स्थान में आगे दिखलावेंगे।

ओम् शब्द—रक्षा आदि अर्थ में विद्यमान है। 'अव' धातु से ओम् शब्द की सिद्धि वैयाकरण[२] लोग मानते हैं।

---

(१) न प्रतीकेन स्वः। वेदान्त सू० ४। १। ४। इस सूत्र से सर्वथा प्रतीक उपासना का निषेध है।

(२) अवतेष्टिलोपश्च। १। १४१। उणादि सूत्र से मन् प्रत्यय और टि लोप होकर 'अव' धातु से ओम् शब्द सिद्ध होता है।

२–आप्लृ धातु से भी ओम् शब्द की सिद्धि ब्राह्मण ग्रन्थ[1] मानता है ।

३–अकार उकार मकार इन तीन वर्णों से ओम् शब्द की सिद्धि स्मृतिकार[2] लोग मानते हैं ।

४–अदृश्य अव्यवहार्य आदि गुणवाला किसी चतुर्थ अमात्रिक से भी ओंकारशब्द की सिद्धि उपनिषद्[3] मानती है । ओम् यह ब्रह्म का नाम है सर्वव्यापक आदि इस का अर्थ है ।

इति शब्द–यद्यपि इति शब्द जिसके पर में प्रयुक्त होता है उस पूर्व-पद को अपने वाच्य से पृथक् करके केवल शब्द स्वरूप में ही स्थापित कर देता है तथापि यहां ओम् शब्द की मुख्यता को द्योतित करने के लिये ही प्रयुक्त हुआ है अतएव उसकी श्रेष्ठता को ही अवधारित करता है । अतएव ओम् शब्द को अपने वाच्य ब्रह्म से पृथक् नहीं करता प्रत्युत श्रेष्ठता को दृढ़ करता है । जैसे (तज्जलान्) उस ब्रह्म को उत्पत्ति स्थिति संहार-कर्ता मान उपासना करे । और (मनो ब्रह्म०) मनको बृहत् मान अध्ययन करे इत्यादिवत् ।

उद्गीथशब्द–साम गानेवाले ओंकार शब्द को उच्चस्वर से गाते हैं इसी कारण उसको उद्गीथ कहते हैं । क्योंकि–उत्+गीथ इन दो शब्द के योग से उद्गीथ बनता है । उत् नाम उच्च । गीथ नाम जो गाया जाय अर्थात् जो शब्द उच्चस्वर से गाया जाय अथवा जिसका गान उच्चस्वर से किया जाय उसे उद्गीथ कहते हैं । सामवेद में उद्गाता नाम ऋत्विक् कर्तृक गान का नाम भी उद्[4]गीथ होता है । यहां पर इतनी बात और जाननी चाहिये कि प्रायः सामवेदी लोग ओंकार को उद्गीथ नाम से व्यवहार करते ऋग्वेदी लोग प्रायः प्रणव और अन्य लोग ओंकार क[5]हते हैं ।

उपासीतश[6]ब्द–इसके अर्थ मनन करना आदि हैं क्योंकि महर्षि पतञ्जलि ने अपने

(१) को धातुरित्याप्लृधातुः······तस्मादापेरोङ्कार सर्वमाप्नोतीत्यर्थः । गोपथ ब्रा० । प्रपा० १ । कां० २६ । जो सर्वत्र व्यापक हो उसे ओङ्कार कहते हैं यह इसका आशय है ।

(२) अकारञ्चाप्युकारञ्चमकारञ्च प्रजापतिः । वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ मनुः २ । ७६ ॥

(३) अमात्रश्चतुर्थः । माण्डू० उप० १२ ॥ (४) द्वितीय प्रपाठक में इस का वर्णन होगा ।

(५) जो उद्गीथ है सो प्रणव है, जो प्रणव है सो उद्गीथ है । छा० १ । ५ । १ ॥

(६) द्वितीय प्रपाठक के आरम्भ की समीक्षा देखो ॥

योगशास्त्र में कहा है कि (तज्जपस्तदर्थभावनम्) योगसू० पा० १। सू० २८ अर्थात् ओम् शब्द का मुख से उच्चारण करता हुआ ओम् शब्द से गम्यमान जो ब्रह्म है उसका ध्यान करे केवल ओम् शब्द का ही उच्चारण न करता रहे।

उपव्याख्यान शब्द—उप+व्याख्यान इन दो शब्दों से उपव्याख्यान शब्द बनता है। उस का अर्थ समीप। व्याख्यान अर्थात् व्याख्या। समीपव्याख्यान का तात्पर्य यह है। ओम् शब्द का जो आन्तरिक (गूढ़) अर्थ है उस का व्याख्यान। अर्थात् सब पदार्थ आन्तरिक और बाह्य गुणों से युक्त हैं। बाह्य गुणों की प्रत्यक्षता होने के कारण अल्पज्ञ मनुष्य भी उन्हें जान लेते हैं परन्तु आभ्यन्तरिक गुणों को तो कोई २ विशेषज्ञ मनुष्य ही जानते हैं। परन्तु आन्तरिक गुण ही ठीक रीति से जानने चाहियें। अतः आन्तरिक गुणों के जानने वाले महर्षि लोग ओं शब्द के आभ्यन्तरिक अर्थ को यहां कहेंगे यह इसका भाव है। जैसे पृथिवी आदि के आभ्यन्तर और बाह्य गुण हैं तद्वत् शब्द का भी एक सामान्य अर्थ होता है जिसको सर्वसाधारण जानते हैं वही उसका बाह्य अर्थ है। और एक विशेष अर्थ होता है जिसको बड़े २ ज्ञानी शब्दतत्त्ववेत्ता ही जानते हैं। वही शब्द का आभ्यन्तरिक वा गूढ़ अर्थ है। यही तात्पर्य उपव्याख्यान शब्द का है ॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामो-षधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

एषाम्। भूतानाम्। पृथिवी। रसः। पृथिव्याः। आपः। रसः। अपाम्। ओषधयः। रसः। ओषधीनाम्। पुरुषः। रसः। पुरुषस्य। वाक्। रसः। वाचः। ऋक्। ऋचः। साम। रसः। साम्नः। उद्गीथः। रसः ॥ २ ॥

भाष्यम्—(एषाम्) आकाशवायुतेजोजलानां (भूतानां) महाभूतानां (पृथिवी रसः) सारभूता। कुत एषां चतुर्णां महाभूतानां पृथिवी रसः ? । एषां गुणाः शब्दस्पर्शरूपरसा अस्यामुपलभ्यन्ते। पृथिव्यास्तु गन्धो गुणः। अनेकधातुलतादि—निःसारितरससमूहमौषधमिव। एषां

(१) एषां वै भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपोऽपामोषधयः। ओषधीनां पुष्पाणि। बृ० ६। ४। १॥

चतुर्णां महाभूतानां गुणानामाश्रयत्वाद् एषां भूतानां रस इव पृथिवी वर्तते । अथवा । एषां दृश्यमानानां चराणामचराणाञ्च पृथिवी रसः । आश्रय इत्यर्थः । अस्मिन् प्रकरणे रसशब्दो ह्यनेकार्थद्योतकोऽस्ति । यथा । आम्ररस इक्षुप्रभृतीनाञ्चरसो भवति तादृङ् नायं रसः । रसशब्दस्य एकदेशतात्पर्य्यमेवात्रापेक्ष्यते । अयमर्थः । पदार्थस्य सार एव रसपदेन व्यवह्रियते । सारश्च कस्तावत् । यः खलु वस्तूनामाधारोऽस्ति यदाधारेण वस्तूनां वस्तुत्वं विज्ञायते स एव सारः । एतेन वस्तूनामाधारो जीवनं वा रस एवेत्यपि कथयितुं शक्यते । यथा तिलस्य रस एव सारोऽस्ति । तिलाद्यदि रसो निःसार्य्येत । तदा वस्तु किं स्यात् । येन कारणेन तिलं तिलं भवति । अधुना तत् तिलं न तिलमस्ति । किन्तु निःसारं निस्तेजस्कं तिलस्य शरीरमेवावतिष्ठते न यथार्थं तिलम् । एतेन विज्ञायते वस्तूनां रस एव स्थितिकारणम् । स एवाश्रयः । तेनैव हेतुना वस्तूनां सौन्दर्यं वा । तेजो वा । याथार्थ्यं वा । विद्यते । अतो रसं, स्थितिगतिभूषणसुन्दरतातेजआदिभिः शब्दैर्व्यवहर्तुं शक्नुमः । कार्य्यकारणयोरभेदविवक्षया सा संगतिर्भवितुमर्हति । यथा गृहकारणत्वाद् गृहशब्दवाच्या स्त्री भवति । तद्वत् । अतोऽत्र प्रकरणे रस शब्दः केवलं स्वार्थप्रद्योतको भवति ।

(पृथिव्याः) (आपः) जलं (रसः) । अयमर्थः । खन्यमानायाः पृथिव्याः सकाशात् पीड्यमानाया स्तिलसंहते रस इव जलमुद्भवल्लभ्यते । अत इयं वर्णना सुसंगता । न पृथिव्या वास्तविको रसो जलमस्ति किन्त्व रस इव रस इति यावत् । (अपाम्) जलस्य (ओषधयः) शालीगोधूमयवादीनि अन्नसाधनानि (रसः) । यतो जलसहकारेण आसामुत्पत्तिस्थिती भवतः । जलमेव सर्वासामोषधीनां जीवनम् । अतएव जलस्य जीवनमित्यपरपर्य्यायः पठ्यते जलनामसु । (ओषधीनां पुरुषो रसः) ओषधीरन्तरा जीवनधारणस्याशक्यत्वाद् ओषधीनां पुरुषोरस इत्युच्यते च्यते । ओषधेर्वीर्य्यम् । तस्मात्पुरुष इत्यप्यनुसन्धेयम् । (पुरुषस्य वाग्रसः) पुरुषस्य वागेवभूषणम् । विस्पष्टार्थो वाणी मनुष्याणां वाग् पशुविहगादीनान्तु भाषा नादकूजनादिशब्दाभिवचना । मनुष्याणां मध्ये विस्पष्टार्था भाषा नाभविष्यत् तदा समुन्नतिर्वा । वृद्धिर्वा । मनुष्यता वा नाभविष्यत् । अतो मनुष्याणां यथार्थरसो वागेव । मनुष्याणां परमां शोभां वागेव वर्द्धयति । मनुष्यस्तु कञ्चित् कालमेवात्र स्थित्वा नामावशेषोभवति । तस्य वाग्रसमयो ग्रन्थस्तु सर्वदा रसिकान् रसे निमज्जयति । नह्यत्र वाक् साधारणा गृह्यते । बहुकालानुभूता बहुपरिश्रमानुमिता जगत्कल्याणी या महात्मनां वाणी सैवात्र वाग् । सा च इक्षुरसधारेव मनुष्यान्तःकरणविनिर्गता महाफला सुस्वादीयसी । (वाच ऋग्रसः) । अत्र ऋग्पदेन पादव्यवस्थासहितानि गायत्री प्रभृतीनि वैदिकानि च्छन्दांसि गृह्यन्ते । "तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" इति मीमांसावचनात् । ताश्च ऋचश्छन्दोबद्धत्वात् सुमधुरा उच्चार्यमाणाः सत्यो मनुष्यवाणीं सर्वथा भूषयन्ति पवित्रयन्ति च ।

एतस्माद्धेतोः पुरुषवचनस्य ऋगेव रसोभूषणम् । (ऋचः सामरसः) गीतिविधायकानि छन्दोबद्धानि पदान्यत्र सामपदेन गृह्यन्ते "गीतिषुसामाख्या" इति मीमांसावचनात् । यदा च । सैव ऋग् सामगैर्गीयते तदा तस्या अपि भूषणवत् साम प्रतीयते । अत ऋचोपि सामरसो भूषणम् । (साम्न उद्गीथोरसः) सामवेदस्य रसो निष्कर्षस्तात्पर्यमुद्गीथः । ब्रह्मेत्यर्थः । यद्वा । गेयानां साम्नां मध्ये सुललितत्वात् । सुमधुरत्वात् । श्रुतिसुखकरत्वाच्च । उद्गीथ ओङ्कारस्तेषां सारतम इव प्रतिभाति । अत ओङ्कारः साम्नां वैदिकगेयपदानामपि सारतमः ॥ २ ॥

अनुवाद:—इन भूतों का रस पृथिवी है । पृथिवी का रस जल है । जल का रस ओषधि (धान, गेहूं, यव, आदि) है । ओषधि का रस पुरुष है । पुरुष का रस वाग् (वचन) है । वचन का रस ऋग् है । ऋग् का रस साम है । साम का रस उद्गीथ (ओङ्कार) ब्रह्म है ॥

पदार्थ:—(एषाम्) इन (भूतानाम्) जल, वायु, आकाश, तेज आदि महाभूतों अथवा प्राणियों के (रसः) रस वा आश्रय पृथिवी है (पृथिव्याः) पृथिवी का (रसः) रस (आपः) जल है (अपाम्) जल का (रसः) रस (ओषधयः) अन्न है (ओषधीनाम्) अन्नों का (रसः) कार्य (पुरुषः) पुरुष है (पुरुषस्य) पुरुषका (रसः) भूषण (वाग्) वाणी है (वाचः) वाणी का (रसः) रस (ऋग्) ऋचा है (ऋचः) ऋचा का (रसः) रस (साम) सामगान है (साम्नः) सामगान का (रसः) रस (उद्गीथः) ओङ्कार है । यद्वा सामवेद का रस अर्थात् निष्कृष्टार्थ मुख्य तात्पर्य उद्गीथ ब्रह्म ही है ॥

भाष्याशय:—(१) इन भूतों का रस पृथिवी है । इसका भाव यह है कि आकाश, वायु, तेज और जल इन चार महाभूतों के जो क्रमशः शब्द १ स्पर्श २ रूप ३ और रस ४ ये चार गुण हैं, वे चारों इस पृथिवी में पाये जाते हैं और पृथिवी का अपना गुण गन्ध है । इस कारण पृथिवी सब भूतों का रस कहलाती है । जैसे कई एक औषध (दवाई) अनेक वस्तुओं का रस होता है तद्वत् यह पृथिवी भी सब के गुणों के आश्रय होने के कारण मानो उन सब भूतों का रस है इस कारण इन भूतों का रस पृथिवी कही गई है । अथवा ये जो चर, अचर दृश्यमान पृथिवी के पदार्थ हैं इन सब का आश्रय पृथिवी ही है । अतः इन का रस (आश्रय) पृथिवी कही गई है ॥

यहां रस शब्द अनेक अर्थों का द्योतक है । यद्यपि जैसा आम्र और इक्षु (ईख) आदि का रस होता है वैसा रस यहां नहीं है किन्तु यहां रस शब्द का केवल एकदेशी तात्पर्य लिया

गया है अर्थात् वस्तु का सार रस है । परन्तु सार क्या वस्तु है ? सार वस्तु वही है जिस के आधार पर उस वस्तु की स्थिति मानी जाती है । इस कारण यदि ऐसा कहा जाय कि इस वस्तु का आधार वा जीवन रस है वा रस ही सार है तो अनुचित नहीं होगा । जैसे तिल का जो रस है वही तिल का सार है यदि तिल से रस निकाल लिया जाय तो वस्तु क्या रह जायगी ? । निःसन्देह जिस के कारण यह तिल, तिल कहलाता है वह अब यथार्थ में तिल नहीं है । किन्तु निःसार निस्तेज तिल का शरीरमात्र है । इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु का जो रस है वही वस्तु की स्थिति का कारण और आश्रय है । और उसी रस के कारण उसकी सुन्दरता तेज आदि गुण विद्यमान हैं । अतः रस शब्द को स्थिति, गति, भूषण, सुन्दर, तेज आदि नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । कार्य और कारण को एक मान लेने से यह संगति होती है । जैसे गृह का कारण स्त्री है इसलिये संस्कृत में गृह स्त्री को भी कहते हैं । इसलिये यहां रस शब्द केवल अपने अर्थ का द्योतक है, वाचक नहीं । द्योतक उस को कहते हैं जो अपने गौण अर्थ से विविध भाव को प्रकाश करता हो अतः यहां रस शब्द का अर्थ आश्रय आदि भी किया गया है और किया जायगा ॥

(२) पृथिवी का रस जल है । इस का तात्पर्य यह है जैसे तिल और सर्षप (सरसों) आदि पदार्थों को कोल्हू आदि यंत्रों में पीड़ने से तेलरूप रस निकलते हैं तद्वत् पृथिवी को भी खोदने से उसके भीतर से जल निकलता हुआ देख पड़ता है इसलिये पृथिवी का रस जल कहा है । पृथिवी का वास्तविक रस तो जल नहीं है किन्तु रस के सदृश अर्थ करने से सुसंगति होती है ॥

(३) जल का रस ओषधि है यद्यपि धान, गेहूं, यव आदि का नाम ओषधि है । क्योंकि संस्कृत में ओषधि उसको कहते हैं जिसके फल पकजाने पर सर्वथा सूखजायँ । गेहूं आदि ओषधि के फल जब पकजाते हैं तब वे ओषधियां सूख जाती हैं । परन्तु यहां ओषधि प्रकार से अभिप्राय है अतः ओषधि शब्द से उन सब वृक्षों का ग्रहण होता है जिनमें किसी प्रकार के खाद्य पदार्थ लगते हों । और उपलक्षण से ओषधि शब्द का अर्थ अन्नमात्र का ग्रहण करना चाहिये । ओषधि का जीवन जल है अर्थात् जल की सहायता से ही ओषधियों की उत्पत्ति और पालन होते हैं । इसी कारण संस्कृत में जल के नामों में से एक नाम जीवन भी है क्योंकि जल सब का जिलाने वाला है इसलिये यहां जल का रस ओषधि कही गई है ॥

(१) ओषध्यः फलपाकान्ताः । इति कोशः ॥
(२) पयः कीलालममृतंजीवनं भुवनंवनम् । इति कोशः ॥

(४) ओषधि का रस पुरुष है। ओषधि का अर्थ यहां सकल अन्न का ग्रहण करना चाहिये। ओषधि के विना मनुष्य का जीवन नहीं रह सकता। अतः ओषधियों का रस पुरुष का शरीर कहा गया है। यद्वा ओषधि से पुरुष की उत्पत्ति होने के कारण से भी ओषधियों का रस पुरुष है॥

(५) पुरुष का रस वाग् है। पुरुष का भूषण वचन है। वाग् शब्द का अर्थ संस्कृत में स्पष्ट भाषण का है; पशु पक्षी आदि के भाषण को नाद, कूजन आदि कहेंगे परन्तु मनुष्य की भाषा को वाग् कहते हैं। यदि मनुष्य में विस्पष्ट भाषण नहीं रहता तो कदापि मनुष्यजाति की ऐसी उन्नति वा मनुष्यता नहीं होती। अतः मनुष्य की स्थिति, उन्नति, वृद्धि आदि मनुष्य के भाषण के ऊपर ही निर्भर है इस कारण मनुष्य का यथार्थ रस वचन ही है। मनुष्य की यथार्थ शोभा वचन ही समझना चाहिये क्योंकि मनुष्य इस संसार से चल बसता है परन्तु उसका वचन रूप रस अर्थात् ग्रन्थ सकल मनुष्यों को अपने में निमज्जित करता रहता है। यहां वाणी शब्द का अर्थ साधारण वचन नहीं किन्तु निज अनुभव से और परिश्रम से जो कल्याणकारिणी वाणी इक्षु से रसवत् अन्तःकरण से निकलती है उसका यहां ग्रहण है। वह निकली हुई कल्याणी वाणी निःसन्देह सम्पूर्ण शरीर में रस रूप है॥

(६) वचन का रस ऋग् है। यहां ऋग् शब्द से पादव्यवस्थासहित जो गायत्री आदि विविध वैदिक छन्द हैं उन का ग्रहण है। क्योंकि मीमांसा में कहा गया है कि:—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ मीमांसा २। १। ३५॥

जैसे आजकल तोटक आदि छन्दों में चरण की व्यवस्था है अर्थात् किस चरण में कितने गुरु और लघु होने चाहिये इत्यादि की व्यवस्था होती है। वैसे ही गायत्री आदि छन्द में भी व्यवस्था है अतः वैसी व्यवस्था जिस वैदिक छन्दों में पाई जाय उसको ऋग् वा ऋचा कहते हैं। यहां ऋचा शब्द वैदिक छन्द में रूढ़ है अर्थात् जो वैदिक छन्द हैं उन्हीं को यहां ऋग् वा ऋचा कहनी चाहिये। प्रायः सकल छन्द वचनों का रस है। वैदिक छन्द तो वचनों का रसतम है क्योंकि जब वचन में पूरी शक्ति आती है तब ही मनुष्य ईश्वरीय वा प्राकृतिक भाव को पूर्ण रीति से छन्दोबद्ध कर सकता है। मनुष्य जब उत्पन्न होता है तब वह अपनी साधारण भाषा को बोलता हुआ निर्वाह करता

(१) अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनौ ३। ७६॥ मैत्री उ० ६। ३७॥

है परन्तु जब शिक्षा मिलती है और निज विचारों और विविध भावों से अपने अन्तःकरण को भरता है तब कदाचित् अपने भावों को छन्दोबद्ध करने में समर्थ होता है । उसका काव्य वा ग्रन्थ मानो वचनों का सारभूत है मनुष्य का यह स्वभाव है कि जितना विचार पद्य के लिखने में करेगा उतना गद्य के लिखने में नहीं । अतः वचनों का सार यथार्थ में छन्दोबद्ध काव्य है । और ईश्वरीय काव्य की तो बात ही क्या । ऋग् ईश्वरीय काव्य है अतः मनुष्य के वचन का भूषण ऋग् वा ऋचा कही गई है ॥

(७) ऋग् का रस साम है । साम पद से यहां वेद में जो गाने के योग्य ऋचा हैं उनका ग्रहण है । क्योंकि—"गीतिषु सामाख्या ॥ (मीमां० २ । १ । ३६)" इस मीमांसा के वचन से साम उसी को कहते हैं जो ऋचाएं गाई जावें । प्रथम वर्णन हो चुका है कि वचन का भूषण वा रस ऋचा है । वही छन्दोबद्ध पद यदि गाया जाय तो निःसन्देह छन्दों का भी वह रस ज्ञात होता है । उस गानरूप महारस में मनुष्य इस प्रकार निमग्न होता है कि जिसका वर्णन हो नहीं सकता । वह अलौकिक रस है इसी कारण ऋचा का भी रस साम कहा गया है अर्थात् ऋचाओं का जो गान है वह मानो ऋचाओं का रस है ॥

(८) साम का रस उद्गीथ (ओङ्कार) है । इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सामवेद के तत्त्वों का सारभूत केवल ब्रह्म ही है यह आठवां रस है । यहां बहुत विचारने की बात है । जैसे लोक में अनेक प्रकार के गान हैं तद्वत् वेद में भी हैं, और गान भी समय समय के होते हैं और उन गानों में कोई बहुत अच्छे गान, कोई उससे मध्यम, कोई निकृष्ट । परन्तु ओंकाररूप साम भी एक गेय (गानेयोग्य) और सर्वोत्तम है । क्योंकि यह पद अतिशय ललित, मधुर और कर्ण का सुखकर है । इसमें भी क्या कारण है ? ओम् शब्द (जो, अ+उ+म् अक्षरों से बना है) में क्यों मधुरता मानी जाय । इस का अनुभव केवल शब्द शास्त्र के तत्त्व जानने वाले कर सकते हैं । और इस का उच्चारण भी विचित्र ध्वन्यात्मक होता है । इसी कारण साम का भी यह रस कहा गया है[1] ॥

अब आप इन आठों की संगति मिला लेवें, जड़ पदार्थ से लेकर चेतन पदार्थ तक का अन्तिम रस ओंकार है । जिस प्रकार घास आदि का रस दूध है और दूध का रस घृत है यदि घृत का भी कोई रस निकाला जाय और उसका भी रस निकाला जाय तो वह पदार्थ कैसा उत्तम हो सकता है । तद्वत् पृथिवी आदियों में यह ओंकार अनुपम रस है । शोक

(१) इस खण्ड के अन्त में इस शब्द के ऊपर समीक्षा देखो ॥

इस बात का है कि आज भारतवर्ष में इस रस के प्रकाश करने वाले गायक नहीं हैं। कोई प्रश्न करे कि यदि ओंकार में ऐसा रस रहता तो मनुष्य उसको नहीं छोड़ता क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है कि जिससे उस की तृप्ति होती है उसको वह कदापि नहीं छोड़ सकता। सत्य है, परन्तु भारत की गति उलटी है। जब इस ने ईश्वर को भी छोड़ दिया, मनुष्यता को भी त्याग दिया तब अन्य की चर्चा ही क्या? आपामर जानता है कि ईश्वर से बढ़कर मेरा कल्याणकारी कोई नहीं है। परन्तु यहां लोगों ने ईश्वर के लिये क्या किया? नाना पाखण्ड रच स्वयं ईश्वर बन अथवा नाना धूर्तता कर स्वार्थ के लिये ईश्वर की जगह में जिसी किसी की पूजा निकाल पूजने और पुजवाने लगे। ऐसे अधःपतित देश की चर्चा क्या?॥

स एष रसानाᳮ रसतमः परमः । पराद्धर्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥ ३ ॥

सः। एषः। रसानाम्। रसतमः। परमः। पराद्धर्यः। अष्टमः। यद्। उद्गीथः॥३॥

भाष्यम्—पूर्वोक्तमेवोपसंहरति। (स एषः) उद्गीथाख्य ओंकारः (रसानाम्) आनन्दानाम्। रसशब्द आनन्दवाची (रसतमः) अतिशयितो रसो रसतम आनन्दघन इत्यर्थः॥

रसो वै सः रसᳮ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्याम। एषह्येवानन्दयाति (ब्रह्मानन्दवल्ली ७)

इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनात् रसशब्देन ब्रह्माप्यभिधीयते क्वचित् (परमः) यस्मात् किमपि परतरं नास्ति स परमः (पराद्धर्यः) परञ्चतदर्द्धं स्थानमिति परार्द्धम्। तदर्हतीति पराद्धर्यः। परमपदमित्यर्थः। (अष्टमः) सामवेदस्य मुख्यतात्पर्यभूतः। कोसौ? (यत्) यः। अत्र छान्दसं नपुंसकत्वम्। (उद्गीथः) उद्गीथशब्दवाच्य ईश्वरः। द्वितीयोर्थः—स एष ओंकारो रसानां पूर्वोक्तानां पृथिव्योषधिप्रभृतीनां मध्ये। अतिशयितो रसो रसतमः। पुनः परम उत्कृष्टः। वर्णानां मध्ये गेयानां मध्ये वा परः। पुनः पराद्धर्यः। परार्द्धमुत्कृष्टपदमर्हतीति पराद्धर्यः। उत्कृष्टवाचक इत्यर्थः। अष्टमः। पृथिव्यादिरससंख्यायामष्टमः। यदुद्गीथः य ओङ्कारः। यतोयमोङ्कारो रसिष्ठो ब्रह्मवाचकोस्ति। अत एनं द्वारीकृत्य परमं ब्रह्मोपासीत॥ ३॥

(१) अर्द्ध शब्दः स्थानवाची। यथा—सहायस्तः पितुरर्द्धमेयाय॥ छा० ५। ३। ४॥ गौतमो राज्ञोर्धमेयाय॥ छा० ५। ३। ६॥

अनुवादः—सो यह उच्चैर्गीयमान ब्रह्म, आनन्दों में परम आनन्द अथवा सम्पूर्ण रसों में अत्युत्तम रस, उत्कृष्ट, परमपूजनीय और सामवेद का सारभूत है। २—सो यह उद्गीथ (ओङ्कार अक्षर) रसों में उत्तम रस उत्कृष्ट, अत्युत्तमपद और संख्या में अष्टम अर्थात् सकल गेय वस्तु का सार है।

पदार्थः—(यत्) जो (उद्गीथः) उद्गीथ शब्दवाच्य ब्रह्म है (स एषः) वह यह ईश्वर (रसानाम्) सम्पूर्ण रसों में (रसतमः) अत्युत्तम रस अर्थात् आनन्द है। यहां रस शब्द आनन्द वाचक है (परमः) जिससे परे कोई न हो उस ब्रह्म को परम कहते हैं (परार्द्ध्यः) और वह ब्रह्मवित् का परम प्रापणीय स्थान है (अष्टमः) तथा सामवेद का सारभूत है। २—(यत् उद्गीथः) जो उद्गीथ ओङ्कार अक्षर है (स एषः) वह यह (रसानाम्) सम्पूर्ण गेय पदार्थों के रसों में (रसतमः) अत्युत्तम रस है (परमः) गेय पदों में उत्कृष्ट (परार्द्ध्यः) अत्युत्तम पद और (अष्टमः) पृथिव्यादि रस संख्या में आठवां है ॥ २ ॥

भाष्याशयः—रसशब्द—यह शब्द कहीं [१] ब्रह्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे (रसो वै सः इत्यादि) तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रमाण है। इस का भाव यह है कि वह रस है। रस ही को पाकर यह जीवात्मा आनन्दमय होता है। सम्पूर्ण प्राणी को (यः रसयति आनन्दयति स रसः) जो आनन्दित करता है उसे रस कहते हैं। जगत् में जो कुछ रस है वह उस ब्रह्म का ही है। वह रसों का महासमुद्र होने के कारण रस नाम से पुकारा जाता है। यहां पर रस शब्द का प्रयोग विलक्षण, केवल स्वात्मग्राह्य और अनुभवगम्य अर्थ में हुआ है। सम्पूर्ण प्राणी रस की कामना करते हैं इसलिये महारस रसघन ब्रह्म की ओर रस शब्द के द्वारा उपनिषद् आकर्षण करती है।

अर्द्धशब्द[२]—प्राचीन काल में यह अर्द्ध शब्द स्थानवाची होता था जैसे (परमेपरार्द्धे) इत्यादि स्थल में अर्द्ध शब्द स्थान, पद इत्यादि का वाचक है ॥

कतमाकतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

कतमा। कतमा। ऋक्। कतमत्। कतमत्। साम। कतमः। कतमः। उद्गीथः। इति। विमृष्टम्। भवति ॥ ४ ॥

---

(१) ब्रह्मानन्द वल्ली। अनु० ७ ॥
(२) छा० ५। ३। ४। और ५। ३। ६ देखो ॥

भाष्यम्ः—ऋक्सामोद्गीथशब्दाः श्लोकगीति सामगेयमात्रे प्रयोगार्हत्वाद्। अत्र किमर्थाः सन्तीति सन्देहव्युदासाय प्रश्नोत्तराभ्यां स्वयमेवोपनिषद् विशदयति। वाच ऋग् रस इति यदुक्तं तत्र प्रश्नो भवति। सा (ऋग्) (कतमा) ऋचां मध्ये सा कतमा ऋगस्ति? ऋचः साम रस इति यदुक्तम्। तत्र कतमत् (साम)? साम्नां मध्ये तत् कतमत् साम अभिप्रेयतं? एवं गेयवस्तूनां मध्ये (कतम उद्गीथः)? (इति) पूर्वोक्तं (विमृष्टम्) विमर्शो विचारो भवति। अत्र सर्वत्र द्विरुक्तिरादरार्था॥ ४॥

अनुवादः—कौन २ सी ऋचा हैं? कौन २ सा साम है? कौन २ सा उद्गीथ (ओङ्कार) है इस का विचार होता है॥ ४॥

पदार्थः—अब यह शङ्का होती है कि पूर्वोक्त द्वितीय मन्त्र में ऋग्, साम और उद्गीथ ये जो तीन शब्द आये हैं वे अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे छन्दोबद्ध श्लोकमात्र को ऋग्, गानमात्र को साम और उद्गातृकर्तृक गानमात्र को उद्गीथ कह सक्ते हैं और कहते हैं। पुनः यहां कौन अर्थ लेना चाहिये? इस शङ्का के निवारणार्थ प्रथम प्रश्न और उत्तर के द्वारा पूर्वोक्त अर्थ को संक्षेप से उपनिषद् परामर्श करती है। पहिले कहा गया है कि वाक् का रस ऋग् (ऋचा) है यहां प्रश्न होता है (कतमा कतमा) कौन २ (ऋक्) ऋचा है अर्थात् वह ऋचा कौनसी है। पुनः पहले कहा गया है कि ऋचा का साम रस है। (कतमत् कतमत्) कौन कौन (साम) साम है? अर्थात् वह कौन साम है। और इसी प्रकार गेय वस्तुओं के मध्य में (कतमः कतमः) कौनसा (उद्गीथः) ओङ्कार है। (इति) यह पूर्वोक्त। (विमृष्टम्) विचारित (भवति) होता है॥४॥

वागेवर्क्। प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनम्। यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च॥ ५॥

वाक्। एव। ऋक्। प्राणः। साम। ओम्। इति। एतत्। अक्षरम्। उद्गीथः। तत्। वै। एतत्। मिथुनम्। यत्। वाक्। च। प्राणः। च। ऋक्। च। साम। च॥ ५॥

भाष्यम्—उत्तरति यथा (वागेवऋग्) ईश्वरस्य परमकल्याणी या वेदवाणी सैव। अत्र ऋग्। नान्या छन्दोबद्धा इत्यर्थः। अन्यापि छन्दोबद्धा ऋग् भवतीति तन्निवारणार्थेयमुक्तिः। अथवा। उच्चावचार्थप्रतिपादिका बहुविधा वेदेषूपलभ्यन्त ऋचः। आध्यात्मिकी या प्रशस्ता ब्रह्मवाग् वेदेषु वर्तते सैवात्र गृह्यते। यत अध्यात्मविद्यायाः प्रवृत्तिकरणमेवोपनिषदां परं प्रयोजनम्। द्वितीयं प्रश्नं समाधत्ते। (प्राणः साम) ईश्वरस्य प्राणइव साम। यद्वा।

सामान्यपि वेदेषु सन्ति बहूनि । यत् सामगानं जीवान् प्राणयति जीवयति तत्साम ग्राह्यम् । शरीरस्यान्नमिव आत्मनोभोजनं वैदिकसामगानमेव । यथा शरीरे प्राणाधीनं चक्षुरादिकरणानामस्तित्वं तद्वत् प्राणइव यत् साम वर्त्तते तद् ग्राह्यम् । अतः परमकल्याण्या ब्रह्मवाण्याः कारणरूपाया कार्य्यं साम तदनुरूपमेव स्यात् । ईदृशः कारणस्य प्राणएव कार्य्यं भवितुमर्हति नान्यदित्यववेयम् । अतः प्राणः साम इति समाधिः सम्यग् भाति । तृतीयं प्रश्नं समाधत्ते । (ओमिति) (एतदक्षरम्) (उद्गीथः) सर्वव्यापकं सर्वरक्षकं सर्वत्र भासमानम् एतदविनश्वरं ब्रह्मैव उद्गीथः । उद्गीथशब्दवाच्यम् । अयमभिप्रायः । गीतीनामपि मध्ये विद्यन्ते बहूनि गेयानि । तत् कतमत् गेयं गृह्यते ? ओङ्कारएवाक्षरं नान्यदित्यर्थः । एतदेवाक्षरं पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्य प्राणरूपस्य सामगानस्य रसो भवितुमर्हति । (वै) निश्चयेन (तदेतत्) वक्ष्यमाणं मिथुनं मिथुनसंज्ञकं भवति । यत् (वाक्च प्राणश्चेति) (ऋक् च साम च) वेति । एकश्चकारो वार्थः । वाक्शब्देन ऋचः प्राणशब्देन साम्नो ग्रहणं कर्त्तव्यम् । तेन वाक्च प्राणश्चेति मिथुनं कथ्यताम् । अथवा । ऋक्च सामचेति मिथुनं कथ्यताम् उभयोरेकएवाभिप्रायः । यद्वा । इदानीमोङ्काराक्षरे धर्म्मद्वयं दर्शयितुमुपक्रमते । तद्वा एतन्मिथुनमिति । यदेतद् वक्ष्यमाणं मिथुनं द्वन्द्वं वर्त्तते तत् किं मिथुनम् ? वाक् च प्राणश्च । इत्येकं मिथुनम् । पुनः ऋक् च साम च द्वितीयं मिथुनम् एतदुभयं मिथुनम् । तद्वै तदक्षरमेव तेनैव संवद्ध्यत इत्यर्थः । एतावता कोर्थलाभो जातः । सति प्राणे वाग् भवति । असति सा न भवति । सत्यां वाचि प्राणोऽनुमीयते । असत्यां नानुमीयते । एवं परस्परमुभयं परस्परानुमापकं भवति । तथाच । सत्यामृचि सामानुमीयते । सति च साम्नि ऋगनुमीयते । एवमेतदुभयं परस्परानुगमकं भवति । तदिह प्रकृते ओमित्येतस्मिन्नक्षरे धर्मद्वयं दर्शयति । तथाहि । विद्यमानयोर्वाक्प्राणयोरोङ्कारस्य गानं सम्भवति । गीयमाने च ओङ्कारे । ऋक् च साम च अनुमीयते ॥

इदं ज्ञातव्यं भवति यानि यानि छन्दोबद्धानि पद्यात्मकानि काव्यानि भवन्ति तेषां मुख्यं प्रयोजनं गानमेव । एवं गानात्मकानि वस्तूनि प्रायः पद्यान्येव भवन्ति । गद्यमपि गीयते । नहि तत् सर्वगुणसम्पन्नं गानं भवति । एवं पद्यात्मकानि काव्यानि दृष्ट्वैव बुद्धिमन्तो जना अनुमास्यन्तीमानि गानार्थानीति । एवमेव श्रुत्वा च गानानीमानि पद्यान्यतएव गीयन्त इत्यप्यनुमानं सुकरं भवति । इति दिक् । यत ओमितिशब्दः सामगैर्गीयते । अत ऋक्सामयोरुभयोरपि धर्मोऽस्मिन्ननुमीयते । इतराभावे इतरानुपपत्तेः ॥

यद्यपि सर्वा त्रयी प्रियास्ति । तथापि । गेयं वस्तु प्रियतमं भवति । लोकेपीयं व्यवस्था दृश्यते । छन्दोबद्धानि पदानि स्वभावत एव मधुराणि भवन्तु नाम । तत्रापि गीयमानानि मधुरतमानि

भवन्ति । ओङ्कार ऋग्रूपोऽपि प्रियएव । सामरूपस्तु मधुरतमो भवति । इत्थमुभयधर्मावलम्बी ओमिति शब्दः ॥ ५ ॥

अनुवादः—ईश्वर की वाणी ही ऋग्वेद है ईश्वर के प्राण समान सामवेद है और यह सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, अविनश्वर, ईश्वर ही उद्गीथ है जो यह वाक् और प्राण, ऋक् और साम युगल हैं ये उसी अक्षर से सम्बन्ध रखने वाले हैं । अथवा वाक् और प्राण वा ऋक् और साम मिथुन कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः—(वागेव ऋग्) ईश्वर की वाणी ही ऋग्वेद है (प्राणः साम) ईश्वर के प्राण समान सामवेद है (ओम् इति) सर्वरक्षक (एतत्) सर्वत्र भासित यह (अक्षरम्) अविनश्वर ब्रह्म ही (उद्गीथः) उद्गीथ है । अर्थात् यहां ऋक् से ईश्वर वाणी, साम से प्राण के समान सामवेद और उद्गीथ शब्द से अविनश्वर, अजर, अमर, सर्वरक्षक, ब्रह्म समझना चाहिये (तद्वा एतत्) वह यह (वक्ष्यमाण) निश्चय (मिथुनम्) मिथुन है (यत्) जो (वाक् च प्राणश्च) वाक् और प्राण हैं (च) अथवा (ऋक् च साम) ऋक् और साम है । इन दोनों की मिथुन संज्ञा है । यद्वा (यत्) जो (वाक् च) वाणी (प्राणश्च) और प्राण (एतन्मिथुनम्) यह मिथुन युगल है (च) अथवा (ऋग् साम च) ऋग्वेद और सामवेद यह जो मिथुन है ये दोनों (तद्वै) निश्चयकर वही अक्षर है अर्थात् वाणी वा प्राण ऋक् वा साम उसी अक्षर ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है । इस विषय को स्वयं उपनिषद् आगे बतलावेगी ॥ ५ ॥

भाष्याशयः—अब क्रमशः तीनों प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं । १—वाक् ही ऋचा है । ईश्वर की परम कल्याणी जो वेदवाणी है वही यहां ऋचा है । अथवा वेदों में सकल पदार्थों के निरूपण करने वाली विविध प्रकार की ऋचाएं हैं । परन्तु यहां अध्यात्म सम्बन्धी जो वेद में कल्याणी वाक् (वाणी) है उसका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि अध्यात्मविद्या की प्रवृत्ति ही उपनिषदों का परम प्रयोजन है । अन्य छन्दोबद्ध पद भी ऋक् कहला सकता है । इस शङ्का के निवारण के लिये ईश्वरीय वाणी ही ऋक् कही गई है ॥

२—प्राण साम है । अलङ्कार की रीति से ईश्वर के प्राण के समान सामवेद का यहां ग्रहण है अथवा सामगान भी वेदों में बहुत है; परन्तु जो सामगान जीवों को आनन्द देने वाला है उसका ग्रहण करना चाहिये अतः यहां प्राण शब्द का प्रयोग किया

गया है (प्राणयति आनन्दयति भूतानि) इस व्युत्पत्ति से प्राण शब्द की सिद्धि होती है जैसे इस शरीर का भोज्य अन्न है वैसे ही इस आत्मा का भी भोजन वैदिक सामगान है अथवा जैसे इस शरीर में प्राण के अधीन नेत्र आदि इन्द्रियों का अस्तित्व है वैसे प्रिय प्राण समान आत्मवशीकरण साम का ग्रहण है अतएव परम कल्याणी जो ब्रह्मवाणी रूप कारण है उसका कार्य्य भी तद्गुण सहित ही होगा ऐसे कारण का कार्य्य अवश्य प्राण ही हो सकता है अन्य नहीं । अतः यहां प्राण साम है यह बहुत ठीक कहा गया है ॥

३–ओम् यह अक्षर ही उद्गीथ है । सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, सर्वत्रभासमान यह अविनश्वर ब्रह्म ही उद्गीथ है इसी का ग्रहण करना चाहिये । अथवा उच्चःस्वरसे गेय-गान भी वेदों में बहुत है । यहां कौन गेय साम लेना चाहिये ? जो यथार्थ में उस का रस हो सकता है । उस प्राणरूप सामका यथार्थ रस ओङ्कार ही हो सकता है अन्य नहीं ॥

४–मिथुनसंज्ञाविधान–यह वाक् और प्राण अथवा ऋक् और साम मिथुन कहलाता है अर्थात् वाक् और प्राण कहिये अथवा इन दोनों की जगह में ऋक् और साम कहिये इन दोनों का अभिप्राय एक ही है । वाक् शब्द ऋग्वेद वाची और प्राण शब्द सामवेद वाची होने से इन दोनों का एक अभिप्राय है । यद्वा अब ओङ्काररूप अक्षर में दो प्रकार के धर्म्म दिखलाने के लिये आगे का प्रकरण कहा जाता है अर्थात् वाग् (वचन) और प्राण ये दोनों मिलकर एक मिथुन (जोड़ा) कहलाता है । मिथुन इस कारण कहलाता है कि जब तक प्राण रहता है तब तक वचन । प्राण के अभाव से वचन का भी अभाव होता है । अब इसकी प्रतिकूल रीति से संगति यह है कि वचन रहते हुवे प्राण का अनुमान और वचन के अभाव से प्राण का अभाव समझा जाता है । इस प्रकार परस्पर दोनों एक दूसरे के अनुमापक हैं । इसी प्रकार ऋक् और साम एक मिथुन कहलाते हैं । क्योंकि ऋचा से साम का और साम से ऋचा का अनुमान होता है यह भी परस्पर अनुमापक है । अर्थात् ये दोनों द्वन्द्व एक दूसरे के अधीन हैं । यह मिथुन केवल उसी ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है और ओङ्कार अक्षर में भी पाया जाता है । क्योंकि वाक् और प्राण का अस्तित्व रहने से ही ओङ्कार का जैसा उच्चारण होना चाहिये सो होता है अतः ओङ्कार के उच्चारण के लिये वाक् और प्राण दोनों की आवश्यकता है एवं ओङ्कार के गाने के समय ऋग् और साम इन दोनों के अनुमान होने से ओङ्कार अक्षर में इन दोनों मिथुनों का समावेश कहा गया है ॥

यहां पर ऐसा जानना चाहिये कि छन्दोबद्ध जो जो पद्यात्मक काव्य होते हैं उनका मुख्य प्रयोजन गान ही है । प्राय: गाने की चीजें पद्यात्मक ही होती हैं । यद्यपि गद्य को भी गा सकते हैं परन्तु वह गान उत्तम वा सर्वगुणसम्पन्न कदापि नहीं हो सकता अथवा इसको यों भी समझना चाहिये कि पद्य होने से ही उस में एक प्रकार की मधुरता आ जाती है । गान का भी यही अभिप्राय है । इस व्यवस्था के अनुसार बुद्धिमान् मनुष्य पद्यात्मक काव्य को देखकर ही अनुमान कर सकते हैं कि यह गाने के लिये है । इसी प्रकार गान सुनकर बुधजन यह भी अनुमान कर सकते हैं कि यह अवश्य पद्यात्मक है । यह अनुमान बहुत सहज है । जिस कारण ओम् यह शब्द गाया जाता है इसलिये इस में ऋक् और साम दोनों के धर्म (गुण) पाये जाते हैं । यदि ओङ्कार ऋचा नहीं रहता तो इसका गान उत्तम नहीं होता जिस कारण इस का गान उत्तम होता है अत: इस ओङ्कार में दोनों धर्म हैं यह सिद्ध हुआ ॥

यहां वाक् और प्राण शब्द का प्रयोग बहुत विलक्षण है ईश्वर के अधीन जो वाक् (वाणी) थी वही सृष्टि की आदि में ऋषियों के द्वारा ऋक् रूप धारण करके प्रकाशित हुई । अत: वाक् (ईश्वरस्थित वाणी) ऋचाओं का कारण है यह भी कह सकते हैं और प्राण शब्द उच्चारण करने से जो विविध स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, महाप्राण, अल्पप्राणादि प्रयत्न कहे गये हैं उन अर्थों में भी आता है । इससे यह सिद्ध होता है कि सामगान के लिये प्राण ही (नाना उच्चारण प्रयत्न) कारण हैं । अतएव १—वाक् और प्राण अर्थात् मधुर-वाणी और विविध उच्चारण प्रयत्न मिथुन हैं क्योंकि गान में इन दोनों की आवश्यकता है । २—एवम् ऋक् के अन्तर्गत ही साम है अत: ऋक् और साम भी मिथुन हैं ॥

इस में ऋक्, साम और उद्गीथ इन तीनों के ही विषय में निर्णय किया गया है । परन्तु प्रकरण में पृथिवी, जल, ओषधि, पुरुष, वाक् भी आते हैं और ये भी अनेकार्थक हैं फिर इन के निर्णय क्यों नहीं किये गये ? इस का उत्तर यह है कि उपनिषद् का परमप्रयोजन ब्रह्मसाधन है । वह ऋक्, साम, उद्गीथ इन तीनों से ही साधनीय है अन्य से नहीं । अतएव यहां ऋक् पद से ज्ञानमय कर्मकाण्ड का और सामपद से उपासना का ग्रहण कर लेना चाहिये और इन दोनों के परमप्रतिपाद्य उद्गीथ से परब्रह्म का । अतएव (ओमित्ये-तदक्षरमुद्गीथ:) यह पद उपनिषद् में विस्पष्ट कहा गया है अर्थात् अविनश्वर सर्वरक्षक, परात्पर, परब्रह्म ही सबों का साध्य है इस प्रकरण में ओम् और अक्षरशब्द दो २ अर्थ में आये हैं इसका ध्यान रखना चाहिये ॥ ५ ॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते ॥ यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

तत् । एतत् । मिथुनम् । ओम् । इति । एतस्मिन् । अक्षरे । संसृज्यते । यदा । वै । मिथुनौ । समागच्छतः । आपयतः । वै । तौ । अन्योन्यस्य । कामम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वोक्तं स्पष्टयति—(तत्) पूर्वोक्तमृग्सामरूपम् (एतन्मिथुनम्) द्वन्द्वं (ओमिति) (एतस्मिन्नक्षरे) परमे ब्रह्मणि (संसृज्यते) । संयुक्तं भवति निखिलवेदतात्पर्यं ब्रह्मण्येव पर्य्यवसितं वेदितव्यम् । (वै) इति निश्चयेन (यदा मिथुनौ) स्त्रीपुंसौ प्रेम्णा (समागच्छतः) संगतौ भवतः । तदा (वै तौ) निश्चयेन स्त्रीपुंसौ (अन्योन्यस्य) परस्परस्य (कामम्) (अभीष्टम्) (आपयतः) पूरयतः । तथैव यदा । ओंकाराक्षरं द्वारीकृत्य जीवात्मा परमात्मना सह सङ्गच्छते तदा अन्योन्यस्य कामः पूर्य्यते । परमात्मा तु जीवात्मानमाज्ञाकरमवलोक्य प्रसीदति । जीवात्मा तु, अभीष्टदेवतां स्वीयां लब्ध्वा कृतकृत्यो भवति । अयं योगोपि तदा भवति यदोङ्कारस्य याथार्थ्यं विदित्वोपासकाः परमात्मानमुद्गायन्ति । अथवा । यदा ब्रह्मवित् सम्पूर्णस्यर्क्सामरूपस्य मिथुनस्य तात्पर्यं ब्रह्मणैव सार्द्धं संघटयति । तदान्योन्यस्य ब्रह्मणो वेदस्य च यथार्थतात्पर्यस्याप्तिः प्राप्तिर्भवति ॥ ६ ॥

अनुवाद-वह मिथुन (ऋक् साम, वाक् प्राण रूप) इस व्यापक अविनश्वर ईश्वर से सम्बन्ध रखता है। निश्चय जब दो मिथुन संयुक्त होते हैं तब ही वे दोनों एक दूसरे के काम की पूर्त्ति करते हैं ॥ ६ ॥

पदार्थः-(तत्) वह (एतत्) यह (मिथुनम्) युगल अर्थात् ऋग् और साम, वाक् और प्राणरूप मिथुन (ओमिति एतस्मिन्नक्षरे) ओं इस अक्षर में अर्थात् परब्रह्म में (संसृज्यते) संयुक्त होता है । अर्थात् निखिल वेद का तात्पर्य केवल ब्रह्म से ही है ऐसा जानना चाहिये । (यदा) जब (वै) निश्चय (मिथुनौ) युगल अर्थात् स्त्री और पुरुष (समागच्छतः) प्रीति से संगत (एकत्रित) होते हैं तब (वै) निश्चय (तौ) वे दोनों (अन्योन्यस्य) एक दूसरे के (कामम्) काम को (आपयतः) पूर्ण करते हैं ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—जैसे स्त्री और पुरुष परस्पर प्रीति से युक्त रहने पर संसार में बहुत सुख भोगते हैं वैसे ही जब जीवात्मा ओंकार को द्वार बनाकर परमात्मा के साथ संयुक्त होता है तब दोनों की सफलता होती है । परमात्मा जीवात्मा को आज्ञाकारी देखकर मानो प्रसन्न

होता है और जीवात्मा अपने अभीष्ट देवता को पाकर कृतकृत्य हो जाता है सो यह योग तव ही होता है जब उपासक ओंकार के अर्थ को समझाता हुआ परमात्मा का गान करता है अथवा जब ब्रह्मवित् सम्पूर्ण ऋक् साम रूप मिथुन के तात्पर्य को ब्रह्म पर घटाता है तब ही ब्रह्म और वेद दोनों के यथार्थ तात्पर्य की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

आपयिता। ह। वै। कामानाम्। भवति। यः। एतत्। एवम्। विद्वान्। अक्षरम्। उद्गीथम्। उपास्ते ॥ ७ ॥

भाष्यम्—प्ररोचनार्थं फलं दर्शयति। (यः) उपासकः (एतदक्षरम्) सर्वत्रभासमानं विनाशरहितम् (उद्गीथम्) ब्रह्म (एवम्) अमुना प्रकारेण (विद्वान्) विदन् सन्। विदेःशतुर्वसुः इति शतुर्वसुरादेशो भवति। जानन्नित्यर्थः (उपास्ते) भावयति (ह वै) स एव (कामानाम्) अभीष्टानाम् (आपयिता) पूरयिता (भवति) ॥ ७ ॥

अनुवादः—जो इस अविनश्वर उद्गीथ को इस प्रकार जानता हुआ उस की उपासना करता है वह सकल कामनाओं का (आपयिता) प्रापक होता है ॥ ७ ॥

पदार्थः-(यः) जो (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनश्वर (उद्गीथम्) ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उसकी उपासना करता है। वह (वै) निश्चय (कामानाम्) मनोरथों का (आपयिता) प्रापक अर्थात् पहुंचाने वाला होता है (ह) यह बात प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

भाष्याशयः—मनुष्यों के प्ररोचनार्थ यह फल कहा गया है। यथार्थ में ब्रह्मवित् ही यजमान के सकल मनोरथों की पूर्त्ति कर सकता है अन्य नहीं ॥ ७ ॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरम्। यद्धि किञ्चानुजानात्योमित्येव। तदाहैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा। समर्द्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

(१) विद्वान् शब्द में विद् धातु से शतृ प्रत्यय है।

तत् । वै । एतत् । अनुज्ञाक्षरम् । यत् । हि । किञ्च । अनुजानाति । ओम् । इति । एव । तत् । आह । एषा । उ । एव । समृद्धिः । यत् । अनुज्ञा । समर्द्धयिता । ह । वै । कामानाम् । भवति । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । अक्षरम् । उद्गीथम् । उपास्ते ॥ ८ ॥

भाष्यम् — प्रसंगादन्यमप्यर्थं दर्शयितुं प्रवर्त्तते ग्रन्थः ।

बृहदारण्यकोपनिषदि—कत्येव देवा याज्ञवल्क्य इति ?। त्रयस्त्रिंशत् । ओमिति होवाच । कत्येवदेवा याज्ञवल्क्य इति ? । षट् । ओमिति होवाच । पुनः । अनुशिष्टोऽस्ति पित्रा इति ? । ओमिति होवाच । इत्यादिस्थलेषु । ओंकारशब्दोऽनुज्ञार्थो भवति । लोकेपि । अनुज्ञायामयं शब्दः प्रयुज्यते । तवेदं पुस्तकमहं गृह्णानि ? ओमिति स कथयति । अर्थाद्ग्रहीतुं निजामनुमतिं ददाति । गृहाण इति । कच्चित्त्वं व्याकरणं जानासि ? । ओमिति । अहं व्याकरणं जानामीति स स्वीकरोति । (तद्वा एतद्) ओंकाराक्षरम् (अनुज्ञाक्षरम्) अनुज्ञा च सा अक्षरञ्च तदनुज्ञाक्षरम् । अनुमतिप्रदानार्थं प्रयुज्यते (हि) यतः (यत् किञ्च) यत्किञ्चित् (अनुजानाति) अनुमतिं करोति (तदा) अनुज्ञासमये (ओमित्येव) ओमित्यक्षरमेव (आह) कथयति (एषा उ एव समृद्धिः यदनुज्ञा) या अनुज्ञा अत्र छान्दसं नपुंसकत्वम् । या एषा अनुज्ञा सा एव समृद्धिः । उदारता ।

अत्रेदं विचारणीयम् । सत्कर्मानुष्ठातुं प्रत्यहमेतेनाक्षरेणेश्वरो जीवान् स्मारयति । यदा च वयमोमित्यक्षरं वाचोच्चारयामः । तदा मनसेश्वरस्य तदीयानुज्ञा स्मर्तव्या । कर्मणा च सा संपादनीया । जीवेषु ईश्वरस्य महती कृपा यदनुज्ञां करोति । इत्यपि मनसा ध्यातव्यम् । तदैव वयं समृद्धिमन्तो भविष्याम इति ।

(यः) पुरुषः (एतत्) इदं (अक्षरम्) अविनश्वरम् (उद्गीथम्) ब्रह्म (एवं विद्वान्) एवं जानन् सन् (उपास्ते) स एव (कामानाम्) मनोरथानाम् (समर्द्धयिता) सम्यग् वर्द्धयिता (भवति) (ह) इति प्रसिद्धम् (वै) निश्चितम् । अत्र न संदेह इत्यर्थः ।

ओङ्कारस्य द्वावर्थौ जातौ । अनुज्ञा स्वीकृतिश्च । तेन वैदिकी आज्ञा पालनीया तथेश्वरस्य या महती कृपास्मदादिषु वर्त्तते सा स्वीकरणीया । इत्युभयमर्थमोङ्कारशब्देन भावयेत् । अथवा । ईश्वरस्य सकाशात् आज्ञा । स्वस्य सकाशात् स्वीकृतिरित्यर्थद्वयमोङ्कारेण चिन्तयेत् ।

(१) बृ० उ० ३ । ६ । १ ॥ (२) बृ० उ० ६ । २ । १ ॥

यथा ईश्वर आज्ञापयति "मागृधः कस्यस्विद्धनम्" । ओमिति नाहं गर्धिष्यामि। इति स्वीकृतिः कर्त्तव्या इति संक्षेपतः ॥ ८ ॥

अनुवादः–वह यह ओङ्कार अक्षर अनुज्ञाक्षर है क्योंकि जब मनुष्य अनुमति देता है तब ओम् इसी पद को कहता है और जो यह अनुज्ञा है वही समृद्धि परम अनुग्रहरूप है। वह ब्रह्मवित् निश्चय कामनाओं का समर्द्धयिता (प्रवर्द्धक) होता है जो इस उद्गीथ अक्षर को इस प्रकार जानता हुआ उपासना करता है । यह बात प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

पदार्थः–(तद्वा एतत्) निश्चय वह यह ओङ्कार अक्षर (अनुज्ञाक्षरम्) अनुज्ञा अक्षर है अर्थात् अनुमति देने के अर्थ में उसका प्रयोग होता है।(यत् हि किञ्च) क्योंकि जब मनुष्य कुछ (अनुजानाति) अनुमति वा आज्ञा देता है । (तदा) तब (ओमित्येव) ओम् इसी पद को (आह) कहता है । (एषा उ एव) यही (समृद्धिः) समृद्धि अर्थात् परम अनुग्रह है (यद् अनुज्ञा) जो अनुज्ञा अर्थात् अनुमति देना वा करना है । एक प्रकार की यह महती कृपा है। वह साधक (कामानाम्) कामनाओं के (समर्द्धयिता वै) निश्चय और सम्यक् रीति से बढ़ाने वाला (भवति) होता है (ह) यह प्रसिद्ध है (यः) जो (एतत्) इस (अक्षरमुद्गीथम्) अविनश्वर उद्गीथ का (एवं विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ (उपास्ते) चिन्तन करता है ॥ ८ ॥

भाष्याशयः—ओङ्कार के अनेक अर्थ होते हैं प्रसंग से अन्य अर्थ को दिखलाता हुआ उसके मुख्य तात्पर्य से ईश्वर की आज्ञा सूचित करता हुआ ग्रन्थ आरम्भ होता है । यह ओङ्कार अक्षर अनुज्ञा (अनुमति) अर्थ में आता है । उदाहरण से विस्पष्ट होगा अतः दो उदाहरण यहां लिखते हैं:—

बृहदारण्यक उपनिषद् के शांकल्य और याज्ञवल्क्य के संवाद में यह प्रसंग आया है कि शाकल्य ऋषि याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछते हैं कि " कत्येव देवा याज्ञवल्क्य इति ? " हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?, याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं–" त्रयस्त्रिंशत् " अर्थात् ३३ तैंतीस देव हैं । इसके पश्चात् शाकल्य कहते हैं कि–ओम् । हां । अर्थात् आपका कथन ठीक है । इसको मैं स्वीकार करता हूं । पुनः श्वेतकेतु और राजा प्रवाहण के संवाद में आया है " अनुशिष्टोन्वसि पित्रा इति " राजा प्रवाहण श्वेतकेतु से पूछते हैं कि क्या तुमको पिता ने शिक्षा दी है ? इसके उत्तर में श्वेतकेतु कहता है । "ओम्" हां । अर्थात् आर्य्यभाषा में जहां हांजी शब्द और अंग्रेजी में 'yes' आदि शब्द कहते हैं वहां संस्कृत में ओम् कहने की परिपाटी थी वा अब भी है । जैसे:—

" तव इदं पुस्तकं गृह्णानि " क्या तेरी इस पुस्तक को मैं ग्रहण करूं "ओम्" हां लेलो । यह पुस्तकवाले का उत्तर होगा । " कच्चित्त्वं व्याकरणं जानासि " क्या तू व्याकरण जानता है । "ओम्" जी मैं जानता हूं । यह उत्तर व्याकरण जानने वाले का होगा । इन स्थानों में यथार्थ अर्थ देखें तो ओम् शब्द का अर्थ स्वीकार करना और आज्ञा देना दो अर्थ देखने में आतेहैं । इस अर्थ के वर्णन से यहां क्या भाव है ? । यह ओङ्कार ईश्वर की आज्ञावत् है । ईश्वर सत्कर्म्म के अनुष्ठान के लिये ओङ्कार अक्षर रूप आज्ञा के द्वारा जीवों को स्मरण करवाता है । अतः जब हम लोग ओङ्कार अक्षर का वाणी के द्वारा उच्चारण करें तब ईश्वर की आज्ञा का स्मरण । और कर्म द्वारा उस आज्ञा का पालन करें और ईश्वर की जो मनुष्यों पर महती कृपा है इस को स्वीकार करें । यही दो भाव ओङ्कार यहां बतलाता है । जैसे ईश्वर की आज्ञा होती है कि (मागृधः कस्यस्विद्धनम्[१]) किसी के धन का लालच मत करो । इस आज्ञा को ओम् कह कर स्वीकार करें कि हे भगवन् इस तेरी आज्ञा को मैं स्वीकार करता हूं । मैं किसी के धन की लिप्सा नहीं करूंगा । इस प्रकार मन के द्वारा समझे कि ईश्वर सदा मुझे आज्ञा देता है और मैं ओम् २ अर्थात् हां हां कहकर स्वीकार करता हूं तब ही मनुष्य समृद्धिमान् हो सकता है । इसमें सन्देह नहीं कि जो इस के भाव को समझेगा वह सकल कामनाओं का पूरा करने वाला होगा ॥ ८ ॥

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन[२] ॥ ९ ॥

तेन । इयम् । त्रयी । विद्या । वर्त्तते । ओम् । इति । आश्रावयति । ओम् । इति । शंसति । ओम् । इति । उद्गायति । एतस्य । एव । अक्षरस्य । अपचित्यै । महिम्ना । रसेन ॥ ९ ॥

---

(१) यजुः अ० ४० । मं० १ ॥

(२) ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳसर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओꣳशोमिति शस्त्राणिशꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगिरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ तै० उ० शिक्षाध्याय । अनु० ८ ।

भाष्यम्—(तेन) पूर्वोक्तेन ओङ्काराक्षरेण सह (इयं त्रयी विद्या) ऋग्यजुःसामलक्षणा (वर्त्तते) विद्यते। प्रारम्यते। धातूनामनेकार्थत्वात् वृतेः प्रारम्भार्थो गृह्यते। ओङ्कारोच्चारणपूर्वकं वेदमारभन्त ऋत्विज इत्यर्थः। यद्वा (तेन) ओङ्काराभिधेयेन ब्रह्मणा हेतुना (इयं त्रयीविद्या) वर्त्तते। यद्वा। तेनाक्षरेण समन्विता त्रयी वर्त्तते। मन्त्राणां सर्वेषामादावन्ते च तस्योच्चारणादिदमवगम्यते। तदेव दर्शयति। कोपि बह्वृचः (ओमिति) पदं सोमयागे (आश्रावयति) आसमन्तात् समुपस्थितान् विदुष आश्रावयति। निशामयति। यद्वा। ओम् ब्रह्मण एव व्याख्यानम् उपस्थितान् जनानाश्रावयति अन्योध्वर्युः (ओमिति) ब्रह्म (शंसति) स्तौति। अपर उद्गाता (ओमिति) पदं उद्गायति। उच्चैर्गायति।

अयमभिप्रायोस्ति। सोमयागादौ न केवलं सर्वे ऋत्विजो वैदिका वा ओङ्कारमेवोच्चैर्घोषयन्त्यावर्तयन्ति वा। किन्तु सकलमन्त्राणामादावन्ते च तदक्षरमावर्तयन्ति। तेनोङ्कारस्यैव मुख्यता प्रतीयते। नैतावता ज्ञातव्यं। ओमिति वर्णात्मकं पदमभिप्रेतं वर्त्तते तस्यैव वा सर्वत्र स्तुतिर्विधीयत इति। किन्तु तेनाक्षरेण ब्रह्मैव सर्वत्र लक्षणीयम्। तथाहि (एतस्य) सर्वत्रैव विद्यमानस्य अस्य (अक्षरस्य) अविनश्वरस्य ब्रह्मण एव (अपचित्यै) पूजायै तस्यैव (महिम्ना) तस्यैव (रसेन) ब्रह्मणो महत्त्वेन आनन्दरसात्मकत्वेन हेतुना मनुष्यास्तत्तत्क्रियामनुतिष्ठन्तीति बोध्यम्।

ननु प्रकरणात् प्रकृतमोमिति वर्णात्मकं यदक्षरं तस्यैवेयं स्तुतिर्वर्त्तते। ननु तदक्षरप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण इति। नहि भो महारम्भेयमुपनिषत् केवलमक्षरं प्रस्तोतुमुपक्रमेत। तदक्षरं द्वारीकृत्य ब्रह्मण एव महत्त्वं प्रतिपादयितुं प्रवृत्तेयमुपनिषत् केवलवर्णात्मकोंशब्दव्याख्यानेन स्वसिद्धान्तात् प्रच्युता भवेत्। अपचितिशब्दस्य पूजार्थत्वात् ब्रह्मण एव पूज्यत्वाभिप्रायोऽभीष्टः खलु। सच केवलस्याक्षरस्यापचितिविधानेन व्याहन्येत। अतोत्र ब्रह्मवाचिनाक्षरेण भवितव्यम्। इत्थं

अर्थ—ओं ब्रह्म का नाम है। ओं सम्पूर्ण वेद वचन से सम्बन्ध रखता है। ओं यह अनुज्ञा अक्षर प्रसिद्ध है। ओं को सुनाते हैं। ओं यह शब्द उच्चारण कर साम गाते हैं। ओंकार पूर्वक शस्त्र (जो ऋङ्मन्त्र नहीं गाये जाते वे शस्त्र और जो गाये जाते उन्हें स्तोत्र कहते हैं) को ऋग्वेदी कहते हैं। प्रति वचन में अध्वर्यु ओंकार ही कहते हैं। ओंकार पदपूर्वक ब्रह्मा ऋत्विक् आज्ञा देता है। ओंकार से ही अग्निहोत्र की आज्ञा देता है। ब्राह्मण ओंकार उच्चारण करते हुए कहते हैं कि हम ब्रह्म को प्राप्त होवें। वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इस अनुवाक में दश वार ओंकार कहा गया है।

महिम्ना रसेन इति पदद्वयमपि तस्मिन् संगच्छते । प्रकरणमपि सम्पूर्णं ओमिति पदं द्वारीकृत्य ब्रह्मैवोपलक्षयति । ये खलु वर्णात्मकमक्षरमेवोद्दिश्य एतानि पदानि व्याचक्षते ते भ्रान्ताएव प्रतीयन्ते ॥ ९ ॥

अनुवादः—उसी से त्रयी विद्या आरम्भ होती है । ओम् इसी पद की व्याख्या करते हैं । ओङ्कार ही की प्रशंसा करते हैं और ओङ्कार ही को गाते हैं । इसी अक्षर की श्रेष्ठता के लिये इसी की महिमा से और इस के ही रस से युक्त होकर (मनुष्य शुभ कर्म्म में प्रवृत्त होता है) ॥ ९ ॥

पदार्थः—(तेन) उसी ओङ्कार के साथ (इयम्) ये त्रयी विद्याएं (वर्त्तते) हैं (ओमिति) ब्रह्म वा ओम् अक्षर को ही (आश्रावयति) होता सुनाते हैं (ओमिति) ब्रह्म वा ओङ्कार अक्षर की ही (शंसति) अध्वर्यु स्तुति करते हैं (ओमिति) ओङ्कार का ही (उद्गायति) उद्गाता गान करते हैं (एतस्य एव) ये सब क्रियाएं इसी (अक्षरस्य) अविनश्वर ईश्वर की (अपचित्यै) अपचिति अर्थात् उपासना के लिये होती है । इसी की (महिम्ना) महिमा से और इसी के (रसेन) आनन्द से मनुष्यों की प्रवृत्ति शुभ कर्म में होती है ऐसा जानना चाहिये ॥ ९ ॥

भाष्याशयः—१—संस्कृत में (वर्त्तते) पद है । धातु के अनेक अर्थ होते हैं । अतः यहां उसका अर्थ आरम्भ है । प्रकरण के अनुसार यही अर्थ सुसंगत होता है । इस कारण यह अर्थ हुआ कि उस ओङ्कार अक्षर से त्रयी विद्या अर्थात् ऋग् यजुः और साम रूप तीनों विद्याएं आरम्भ होती हैं । अर्थात् ऋत्विग् लोग प्रथम ओङ्कार को उच्चारण करके ही उन्हें उच्चारण करते हैं । २—अथवा । उस ओङ्कार अक्षर का लक्ष्य जो ब्रह्म है उसके द्वारा तीनों विद्याएं (वर्त्तते) विद्यमान हैं । अर्थात् उस ब्रह्म के कारण से ही तीनों विद्याओं की विद्यमानता है । ३—यद्वा । उस ओङ्कार से युक्त ही तीनों विद्याएं हैं क्योंकि सब मन्त्रों के आदि और अन्त में प्रथम उस का उच्चारण होता है । इस से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण ऋग्, यजु, साम और अथर्व ओङ्कारयुक्त हैं । इस अर्थ में युक्त पद का अध्याहार करना चाहिये । ४—यद्वा । उस ओंकार अक्षर से अर्थात् उस ओंकार अक्षर की सहायता से ही तीनों विद्याएं कर्म में (वर्त्तते) वर्त्तती हैं । कर्म्म में उन की उपयोगिता होती है । यदि प्रथम ओंकार का उच्चारण न हो तो कर्म्म करने में तीनों विद्याओं की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि ओंकार मुख्य नाम होने के कारण प्रथम इस का उच्चारण

करना आवश्यक है। ऋषि लोग ऐसे ही करते आये हैं[1] अतः जबतक इसका उच्चारण न हो तबतक त्रयी विद्या की प्रवृत्ति नहीं होती। कर्म पद यहां अध्याहृत है॥

आगे इसी को विस्पष्ट करते हैं सोमयाग में कोई ऋग्वेदी ओम् इस पद को (आश्रावयति) उपस्थित विद्वानों को सुनाते हैं। कोई अध्वर्यु ओम् इस पद की प्रशंसा करते हैं। कोई उद्गाता ओम् इस पद को उच्च स्वर से गाते हैं। इस प्रकार आश्रावण प्रशंसन और उद्गायन क्रमशः ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी करते हैं। इस का अभिप्राय यह है कि सब ऋत्विग् मिलकर केवल ओंकार अक्षर की हीं घोषणा वा आवृत्ति नहीं करते हैं किन्तु सकल मन्त्रों की आदि में ओङ्कार अक्षर की आवृत्ति करते जाते हैं। इस से ओंकार अक्षर की ही मुख्यता प्रतीत होती है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वर्णात्मक ओंकार शब्द से ही केवल अभिप्राय यहां है। किन्तु ब्रह्मवाची ओंकार का ही यहां ग्रहण करना चाहिये यद्वा सोम यागादिकों में होता, अध्वर्यु और उद्गाता आदि ऋत्विग् उसी ब्रह्म के यथार्थ तात्पर्य को दिखलाते हुए अपने २ कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इन्हीं विषयों को आगे उपनिषद् दिखलाती है। जैसे (इसी अक्षर की महिमा के लिये) यहां अक्षर शब्द का अर्थ अविनश्वर, अचल, निर्विकार ब्रह्म है। सर्वत्र विद्यमान उस ब्रह्म की पूजा के लिये ही उस ईश्वर की महिमा के वशीभूत होकर और उस ब्रह्मानन्द रूप से मोहित होकर मनुष्य शुभ कर्म्म में प्रवृत्त होता है ऐसा अर्थ जानना चाहिये। इति॥

शङ्का हो सकती है कि प्रकरण के अनुसार यहां ओङ्कार जो वर्णात्मक अक्षर है उसी का ग्रहण होना चाहिये। परन्तु आप अक्षर शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं सो ठीक नहीं और उपनिषद् का भी अभिप्राय यही विदित होता है। क्योंकि उसी अक्षर की स्तुति वा पूजा कही गई है न कि ब्रह्म की और महिमा वा रस शब्द का भी यह अर्थ है कि ओङ्कार शब्द की यह महिमा है। ऋत्विग् लोग प्रथम तो ओंकार को उच्चारण कर तब अन्य मन्त्रों को पढ़कर अग्नि में हव्य द्रव्यों को होमते हैं। यदि ओंकार का उच्चारण न हो तो होम भी न हो। अतः ओङ्कार शब्द की ही यह महिमा है कि होम होता है। और "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" । मनु० ३। ७६ ॥ मैत्री उ० ६ ॥ ३७ ॥

(१) ब्रह्मणः प्रणवं कुर्य्यादादावन्ते च सर्वदा ॥ मनु० २। ७४ ॥

अग्नि में होमा हुआ द्रव्य आदित्य लोक में प्राप्त होता है। आदित्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न होता है। अन्न से प्रजा होती है। इस कारण होम के द्वारा जो विविध अन्न ओषधिरूप रस उत्पन्न होते हैं उन्हीं से होम होता है। यह सब ओंकार की ही महिमा है। इस कारण ओंकार शब्द की ही अपचिति के लिये सम्पूर्ण कर्म्म का अनुष्ठान होता है ऐसा मानना चाहिये। और होम के द्वारा ही तो अन्न की उत्पत्ति होती है। उसके भोजन आदि से ही प्राण तृप्त होते हैं और प्राण तृप्त होने पर ही ओं शब्द का गान होता है। इस कारण भी अक्षर की ही प्रधानता विदित होती है अतः वर्णवाची अक्षरमात्र का यहां वर्णन ज्ञात होता है न कि ईश्वरवाची अक्षर का। उत्तर—महा आरम्भवाली उपनिषद् की प्रवृत्ति केवल वर्णवाची अक्षर की स्तुति के लिये नहीं हो सकती। और ओम् अक्षर को द्वार बनाकर ब्रह्म के महत्त्व के प्रतिपादन के लिये प्रवृत्त हुई उपनिषद् यदि केवल वर्णात्मक ओङ्कार शब्द के व्याख्यान को ही प्रतिपादन करे तो निज सिद्धान्त से भी गिर जायगी और अपचिति शब्द का अर्थ पूजा होने के कारण ब्रह्म के ही पूज्यत्व को उपनिषद् भी स्वीकार करती है। सो यदि केवल अक्षर की ही पूजा अभीष्ट हो तो उपनिषद् का अभिप्राय ही नष्ट हो जायगा। इस कारण यहां ब्रह्मवाची अक्षर का ग्रहण है। पुनः महिमा और रस ये दोनों शब्द अक्षर में कदापि संघटित नहीं हो सकते। क्योंकि प्रत्येक मन्त्र के आदि में जो ओङ्कार का उच्चारण होता है सो महिमा ब्रह्म की है न कि अक्षर की और हवन करने से जो कुछ जलादि से लाभ पहुंचता है वह सब ईश्वर की ही महिमा है। उसी महिमा से जगत् भी रसमय होरहा है। ईश्वर ही मुख्य रस है वही सब को रस दे रहा है। ओङ्कार वा वैदिक मन्त्र द्वारमात्र है ॥ अलमतिविस्तरेण ॥ ९ ॥

तेनोभौ कुरुते यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

तेन । उभौ । कुरुतः । यः । च । एतत् । एवम् । वेद । यः । च । न । वेद । नाना । तु । विद्या । च । अविद्या । च । यत् । एव । विद्यया । करोति । श्रद्धया । उपनिषदा । तत् । एव । वीर्यवत्तरम् । भवति । इति । खलु । एतस्य । अक्षरस्य । उपव्याख्यानम् । भवति ॥ १० ॥

(१) प्रथम प्रपाठके दशमखण्डमारभ्योषस्तिकथा द्रष्टव्या।

भाष्यम्—ओङ्कार शब्दस्य विविधानर्थान् दर्शयित्वार्थज्ञानकर्त्तव्यतावश्यकतामुपदिशति तेनेत्यादिना (यः) पुरुषः (एतद्) अक्षरम् (एवम्) पूर्वोक्तरीत्या व्याख्यातम् (वेद) जानाति (यश्च) पुरुषः (न वेद) न जानाति (उभौ) विज्ञाविज्ञौ (तेन) ओङ्काराक्षरेण (कुरुतः) कर्मानुष्ठानं कुरुतः। अर्थात् सम्प्रत्ययमाचारो दृश्यते यदोङ्काराक्षरस्यार्थमविदित्वापि केपि कर्मानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते केपि बुध्वापि। ब्रुवन्ति तु कर्म्मठाः कर्म्मसामर्थ्यादेव उभावपि समानं फलं प्राप्नुतः। अतो व्हायासेन बहुपरिश्रमेण बहुकालेन ज्ञात्वापि तदर्थं तेन किं करिष्यति तज्ज्ञः। लोकेपि दृश्यते तद्गुणानां ज्ञात्रज्ञात्रोर्हरीतकीं भक्षयतोर्जनयोर्भवत्येव समानं विरेचनम्। अग्निर्यथा अतद्गुणज्ञमुपतापयति तथैव तद्गुणज्ञमपि। तर्हि को विशेषो ज्ञानाज्ञानयोः। अत उत्तरं पठति (नानातु विद्या चाविद्या च) तु शब्दः पूर्वपक्षं निवर्त्तयति। अर्थान्नेदृशोऽन्यायस्य प्रामाण्यं सेत्स्यति। कथम्?। यस्मात्। विद्या च अविद्या च। नाना भिन्नास्ति। विद्याविद्ये हि भिन्ने स्तः (विद्यया) विज्ञानेन (श्रद्धया) प्रीत्या (उपनिषदा) उपनिषदां शिक्षया च युक्तः सन् (यदेव) यदेव कर्म्म। करोति अनुतिष्ठति (तदेव) कर्म्म एवमेवानुष्ठीयमानं (वीर्य्यवत्तरं) बहुफलदायकतरं भवति।

अयमर्थः—वने निवसन्तः शबरपुलिन्दप्रमुखा अनभिज्ञाजनाः पद्मरागगजमुक्तादीन् दुर्लभान् मणीन् प्राप्यापि न किञ्चिदपि फलं लभन्ते। तानेव तद्विशेषज्ञा वणिजो लब्ध्वा विक्रीय च बहूनि धनानि समासाद्य सुचिरकालं सुखेन निवसन्ति भूमिं वाह्यतो जानन्तोपि भारतदेशीयास्तद्विशेषानभिज्ञा क्लिश्यन्त्येव। भूगर्भविद्या निपुणाः खलु पाश्चात्या भूगर्भे बहूनाकरान् प्राप्य तद्द्वारा समासादितधनसम्पत्त्योजगदपि सुखयन्ति। एवं तत्तत्पदार्थतत्त्वविद्भिस्तैः प्रकाशितानि बहून्यपूर्वाणि वस्तूनि जगदानन्दयन्ति। एतेन ज्ञायते कानिचिद् वस्तूनि विदितान्येव फलं प्रयच्छन्ति। यथा मणिमुक्तादीनि। कानिचिदविदितान्यपि यथा विषभक्षणादीनि। अत्र मीमांसा भवति दार्ष्टान्तिके। ओङ्काराक्षरमविदितार्थं फलप्रदाने समर्थमस्तीति न वा। ओङ्काराक्षरं तावत् कीदृशं वर्त्तते। ज्ञातं सत् फलवाहकमाहोस्विदज्ञातमपि। सम्यग् विदितः सन्नेव शब्दः फलप्रदो भवतीति शब्दस्वभावः। तथाहि लोके दृश्यते। अर्थमबुध्वा यदि सम्पूर्णं व्याकरणं वाचयेन्नहि तेन तस्य किमपि फलम्। नहि तेन स वैयाकरणो निगद्यते। अर्थं बुध्वा यदा व्याकरणमधीते तदा वैयाकरणसंज्ञाम् लभते। एवं शब्दस्य यथा यथार्थं तत्त्वञ्च विजानाति तथा तथा मनः प्रसीदति। अर्थविज्ञानेन ब्रह्मतत्त्वमपि विदितप्रायं जायते। इदमेव शब्दानां परमं प्रयोजनम्। अविदितार्थश्च शब्दो न तत्प्रयोजनमावहति। अतः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सन्नेव कामधुग् भवति तद्विज्ञानेनैव कर्माण्यपि विधिवदनुष्ठितानि भवन्ति। ओङ्कारोप्यक्षरत्वात् स सम्यग्ज्ञातः सन्नेव फलप्रापको भवेत्। अतोस्यार्थं

उपनिषद् व्याख्यानरीत्या सम्यज् ज्ञातव्यः । यातु । औषस्त्ये काण्डे अविज्ञानवतामप्यृत्विजां कर्मणि प्रवृत्तिर्दृश्यते । तद्विदुषामृत्विजां मूर्धपतनामिवानं तत्फलं श्रूयते तत्रैव । अतो ज्ञात्वैव कर्मणि प्रवर्तितव्यमितिदिक् । सम्प्रति । उपसंहरति (खलु) निश्चयेन (एतस्यैव अक्षरस्य) परस्य ब्रह्मण अविनश्वरस्य निश्चलस्य अविकारस्य सर्वैः पूर्वोक्तविशेषणैरुपव्याख्यानं भवति नान्यस्येत्यर्थः ॥ १० ॥

अनुवादः—जो कोई ओङ्कार को इस प्रकार जानता और जो नहीं जानता । वे दोनों ही उस ओङ्कार के द्वारा (आश्रय से) कर्म करते हैं, परन्तु विद्या और अविद्या भिन्न हैं । विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् की शिक्षा से युक्त होकर मनुष्य जिस कर्म को करता है । वही कर्म बलवत्तर होता है' यह सब निश्चय करके अक्षर (अविनाशी) का ही उपव्याख्यान है ॥ १० ॥

पदार्थः—(यः) जो (एतत्) इस अक्षर को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है । (च) अथवा (यः च) और जो (न वेद) नहीं जानता है (उभौ) दोनों (तेन) उस ओङ्कार की सहायता से (कुरुतः) कर्म करते हैं (तु) परन्तु (विद्या च) और विद्या (अविद्या च) और अविद्या (नाना) भिन्न भिन्न हैं (विद्यया) विद्या से (श्रद्धया) श्रद्धा से (उपनिषदा) उपनिषद् की शिक्षा से (यदेव) जिसी कर्म को (करोति) करता है (तदेव) वही कर्म (वीर्यवत्तरम्) बहुत फल देनेवाला (भवति) होता है (इति) पूर्वोक्त सम्पूर्ण वर्णन (खलु) निश्चय कर के (एतस्यैव) इसी (अक्षरस्य) अविनश्वर ईश्वर का (उपाव्याख्यानम्) विशेष व्याख्यान (भवति) होता है ॥ १० ॥ इति प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यम् ॥

भाष्याशयः—ओङ्कार शब्द के विविध अर्थों को दिखला कर अर्थज्ञान करने की आवश्यकता का उपदेश देती है ।

शङ्कापूर्वक वर्णन किया जाता है कि जो कोई ओङ्कार शब्द के अर्थ जानता और जो अर्थ को नहीं जानता । वे दोनों ही उस ओङ्कार से कर्म करते हैं। कर्मकाण्डी लोग कहते हैं कि कर्म के सामर्थ्य से दोनों का फल तुल्य होगा । यदि ऐसा है तो अर्थज्ञान के लिये उतना परिश्रम करना व्यर्थ ही है । लोक में भी देखा जाता है कि अनजान और जानने वाले दोनों ही हरीतकी का भक्षण करें तो विरेचन रूप फल समान ही है । विष के खाने वाले

(१) प्रथम प्रपाठक दशम खण्ड से उषस्ति चाक्रायण की कथा देखो ।

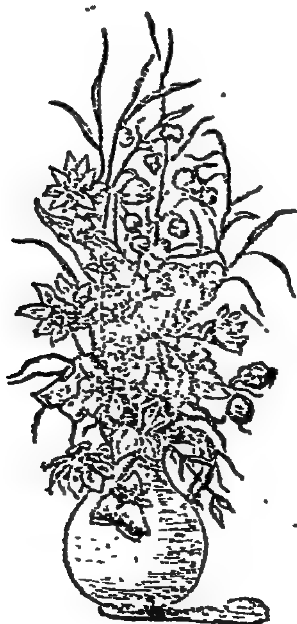
ज्ञाता अज्ञाता दोनों ही मरेंगे । फिर अर्थज्ञान की क्या आवश्यकता । इस कारण उपनिषद् शिक्षा देती है कि विद्या और अविद्या ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं । तब दोनों के फल समान कैसे हो सकते हैं । अर्थात् वन में रहने वाले अनभिज्ञ शवर, पुलिन्द आदि पद्मराग गजमुक्ता आदि दुर्लभ वहुमूल्य मणियों को पाकर किञ्चित् भी फल को नहीं कर सकते हैं, परन्तु उनके विशेप गुण के जानने वाले वणिक् उन्हें पाय बेच और वहु धन प्राप्त कर वहुत काल तक सुख से निवास करते हैं । यद्यपि भारतवासी भी भूमि को बाह्य रीति से जानते थे और अव भी जानते हैं, परन्तु उसकी विशेषता को न जाननेके कारण क्लेश पारहे हैं। भूगर्भविद्या के निपुण पाश्चात्य विद्वान् भूगर्भ में अनेक आकरों (खानों) को पाकर उसके द्वारा असंख्य धन सम्पत्ति वाले होकर जगत् को भी सुखी कर रहे हैं। एवं तत्तद् पदार्थों के तत्त्वों को जानने वाले पाश्चात्य विद्वान् अनेक अपूर्व वस्तुओं को प्रकाशित कर जगत् को आनन्दित कर रहे हैं। यदि पदार्थों के तत्त्व को न जानते तो उनके द्वारा इन विद्याओं का प्रकाश नहीं होता। इन उदाहरणों से विदित होता है कि कोई वस्तु विदित होने पर ही विशेष फल देने वाली होती है। जैसे मणि, मुक्तादि और कोई वस्तु अविदित रहने पर भी फल देने वाली होती है। जैसे विप भक्षण आदि । परन्तु विष का ज्ञान रखने वाला विष से बचने का उपाय कर सकता है, अज्ञानी नहीं ।

अब यहां दार्ष्टान्तिक में मीमांसा करनी चाहिये कि ओङ्काराक्षर अविदितार्थ होने पर भी फलदेने में समर्थ है वा नहीं। अर्थात् यह ओङ्काराक्षर कैसा है ? ज्ञातार्थ होने पर ही फल देनेवाला है वा अज्ञातार्थ भी । सम्यग् ज्ञात होने पर ही शब्द फलका देने वाला होता है यह शब्दका स्वभाव है जैसे लोक में देखते हैं कि अर्थ को न जानकर यदि संपूर्ण व्याकरण वांच जाय तो उससे उसे कुछ भी फल नहीं मिलता । कदापि वह वैयाकरण नहीं कहला सकता । अर्थ जानकर जब व्याकरण पढ़ता है तब ही वैयाकरणकी पदवी को पाता है । इस प्रकार शब्द के अर्थ को जैसे २ जानता जाता है। वैसे वैसे मन भी प्रसन्न होता जाता है । शब्द के वास्तविक तत्त्व के जानने से परम आनन्द भी प्राप्त होने लगता है । और शब्दार्थ ज्ञान से ब्रह्मतत्त्व भी विदितप्राय: होने लगता है । यही शब्दों का परम प्रयोजन है। अविदितार्थ शब्द से वह प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अत: शब्द सम्यग् ज्ञात होने पर ही कामधुक् होता है। और अर्थ के विज्ञान से ही कर्म भी विधिवत् अनुष्ठित हो सकते हैं । जिस कारण ओङ्कार भी शब्दमय है । अत: ज्ञात होने पर ही फल देने वाला हो सकता है अन्यथा नहीं । इस कारण ओङ्कार शब्द के अर्थ उपनिषद् के व्याख्यान की रीति से जानने चाहियें। तब ही इस का फल भी होगा।

शङ्का—इसी उपनिषद् के उषस्तिकाण्ड में अज्ञानियों की प्रवृत्ति कर्मकाण्ड में देखते हैं। तब अर्थ की आवश्यकता के ऊपर आप इतना विवाद क्यों करते हैं। उत्तर—प्रवृत्ति को तो कोई भी रोक नहीं सकता क्योंकि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, परन्तु फल की जिज्ञासा करनी चाहिये। वहां फल यह कहा गया है कि उन अज्ञानी ऋत्विजों के शिर खण्डशः हो जाते यदि उषस्ति चाक्रायण के द्वारा उन ऋत्विजों को अर्थ ज्ञान नहीं होता। अतः अर्थ जान कर ही कर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥

इसी अभिप्राय से उपनिषद् शिक्षा देती है कि विद्या से युक्त होकर जो कर्म किया जाता है वही वीर्यवत्तर अर्थात् बहुफलदायक होता है। उसमें भी श्रद्धा और शिक्षा की आवश्यकता है। अतः श्रद्धा और उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् उपनिषद् की शिक्षा से ओङ्कार शब्द के यथार्थ अर्थ का ग्रहण कर उसके द्वारा ब्रह्मसमाधि की भावना करनी चाहिये यह सब पूर्वोक्तवर्णन यथार्थ में इसी अविनश्वर ब्रह्म का ही जानना चाहिये अन्य का नहीं। अतएव मूल में (एतस्यैव) इस पद में एव शब्द का पाठ है जिससे सूचित होता है कि उस ब्रह्म का ही यह सम्पूर्ण वर्णन किया गया है। और इससे विस्पष्ट होता है कि जो लोग ओम् शब्द का वर्णात्मक अक्षर अर्थ करते हैं वे भ्रान्त हैं ॥ १० ॥

इति प्रथमप्रपाठकस्य प्रथम खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥



ओ३म् ॥

अथ ओङ्कारसमीक्षा ॥

संस्कृतम्—नतु ऋचि, साम्नि, अथर्वणि च वेदे, ओमित्येतस्याक्षरस्य प्रयोगादर्शनात् । शतपथैतरेयादिषु पुरातनेषु ग्रन्थेषु च विशेषवर्णनाभावाच्चाचिरप्रवृत्तप्रचारोऽयंशब्द इत्यनुमीयते । यत्तु यजुपश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये द्विरयमधीयते । तदपि बहुसन्देहानेवजनयति । यतोऽस्मिन्नध्याये शाखाभेदेन विविधपाठैर्बहुविधव्यत्ययैर्लुप्तप्रक्षिप्तबहुशब्दैश्चदोषगृहीत्तत्वात् कतमः पाठः वैदिक आसीदित्यवधारयितुं सम्प्रति न शक्नुमः । तथा चैतस्योपनिषत्त्वमेव । न वेदत्वम् । पश्चाद् वेदीभूतइत्युपनिषद्विदां सम्मतिर्वर्त्तते । यत एतेमन्त्राः कर्मसु न विनियुक्ताः । सम्प्रत्यपि ईशावास्यवाजसनेयोपनिपदादिनाम्ना उपनिषदां मध्ये सर्वश्रेष्ठेयं परिगण्यते । अतोत्राध्यायपठितोङ्कारशब्देननाधुनिकत्वशङ्काविनिवृत्तिः ॥

भाषा—शङ्का—ऋग्, साम और अथर्ववेद में इस ओङ्कार अक्षर के अदर्शन से और शतपथ ऐतरेय आदि प्राचीन ग्रन्थों में इसका विशेष वर्णन न होने से अनुमान होता है कि वैदिक समय में इस का प्रचार नहीं था । यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में जो दो वार इसके पाठ आते हैं उन से भी सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि इस अध्याय में शाखाभेद से बहुविधपाठ, बहुप्रकार के परिवर्त्तन, अनेक पदों के लोप और उनकी जगह में दूसरे शब्दों के सन्निवेश आदि दोष विद्यमान रहने के कारण निश्चय नहीं कर सकते हैं कि वास्तविक वैदिक पाठ क्या था ? और उपनिषद् के तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं कि यजुर्वेद का यह अन्तिमाध्याय यथार्थ में प्रथम उपनिषद् के रूप में था पश्चात् वेद का भाग माना गया । क्योंकि इन मन्त्रों के विनियोग कर्मकाण्ड में नहीं देखे जाते हैं । कर्मकाण्डी लोगों के द्वारा सम्पूर्ण वैदिक मन्त्रों के विनियोग देखे जाने और इन के विनियोग न होने से विस्पष्ट ही प्रतीत होता है कि ये मन्त्र वेद के भाग नहीं हैं । सम्प्रति भी ईशावास्योपनिषद् वाजसनेयोपनिषद् इत्यादि नाम से उपनिषदों में ही इसकी गणना की जाती है । अतएव इस अध्याय में पठित ओङ्कार शब्द से इस की प्राचीनता में सन्देह ही होता है ।

अन्यच्च । अग्निवायुमरुदिन्द्रादयश्शब्दा बहुशः प्रयुक्तत्वादिमान्येव ब्रह्मणः प्रियतराणि नामानीति चावगम्यते । यागप्रचारावसरे केनापि कारणेन कतिपयेष्वर्थेषु ऋत्विग्भिः संकेतित उपनिषत्समये शनैःशनैर्ब्रह्मवाचको जात इति शब्दशास्त्रविदां परामर्शः सुष्ठुतरं प्रतिभाति । सामगीतौ हाई, हावू, औहोई, हिं, हुं इत्यादिसामस्तोभा निरर्थकाः केवलं विश्रामप्रयोजना उच्चार्यमाणा यथा दृश्यन्ते तथैवायमपि ॥

अस्मिन् विषये बलवत्तरं युक्तियुक्तञ्च प्रमाणमप्युपलभ्यते । तद्यथा । अकारककारादिवर्णसमाम्नायवद् अस्मादक्षरात् कारप्रत्ययविधानेन वर्णविशेषत्वमेवास्य समायातं न च वाचकत्वं कदापि । अकारमुपासीतेति कथनेन अकाररूपो यो वर्णस्तस्यैवोपासना प्रतीयते नतु तद्वाच्यस्य तद्वदिहापि । इन्द्राग्निप्रभृतिब्रह्मवाचकेभ्यः कारप्रत्यायादर्शनाच्च । एवंविधैर्हेतुभिरोङ्कारशब्दस्य सामगीतिविशेषे संकेतत्वमेव प्रतीयते । पश्चाद् भूरिसंचरो यदृच्छया स्वस्वसम्प्रदा-

---

दूसरी बात यह है कि अग्नि, वायु, मरुत और इन्द्र आदि शब्द वेद में बारम्बार प्रयुक्त होने से ब्रह्म के ये ही सब प्रिय नाम प्रतीत होते हैं, अन्य नहीं। यज्ञ के प्रचार के समय में किसी कारण विशेष से यह अक्षर किन्हीं अर्थों का संकेतमात्र ऋत्विकों ने माना था । पश्चात् उपनिषद् के समय में धीरे २ ब्रह्मवाचक बन कर अति श्रेष्ठ और पवित्र हो गया । ऐसी शब्दशास्त्र तत्त्ववेत्ताओं की सम्मति अच्छी मालूम होती है । क्योंकि जैसे सामवेद के गान में हाई, हावू, औहोई, हिं, हुं आदि शब्द (जो सामस्तोभ कहलाते हैं) निरर्थक हैं केवल सामगान के समय बीच २ में विश्राम के हेतु ही उनका उच्चारण प्रयोजन देखने में आता है । वैसे ही यह शब्द भी संकेतार्थ वा विश्रामार्थ प्रयुक्त होता होगा । इसकी पुष्टि में यह एक बलिष्ठ और युक्तियुक्त प्रमाण मिलता है कि जिस अक्षर के पर में "कार" प्रत्यय का विधान रहता है वह केवल वर्णवाची होता है । जैसे अकार, इकार, ककार, चकार और ठकारादि शब्दों से केवल अ, इ, क, च और ठ आदि वर्णमात्र का ही बोध होता है इन के वाच्य का नहीं । वैसे यहां पर भी 'ओङ्कार' कहने से केवल ओ+म् इन दो अक्षरों का ही बोध होगा अन्य का नहीं । ब्रह्मवाचक इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि किसी शब्द के पर में 'कार' शब्द के प्रयोग का दर्शन नहीं होता इससे भी विदित होता है कि ओङ्कार शब्द केवल संकेतमात्र था । पश्चात् अपनी २ इच्छा के अनुसार और अपने २ सम्प्रदाय के अनुकूल इस के अर्थ, इस का विन्यास और रङ्गरूप आदि बना लिये गये । इस हेतु अवैदिक होने के कारण ब्रह्म के इन्द्रादि प्रिय नामों में इस की गिनती करनी आप वैदिक लोगों के लिये सर्वथा अनुचित ही प्रतीत होती है । पुनरपि आप लोग जो इसकी इतनी

यानुसारेण सन्निवेशितार्थः कृतसंस्कारः पवित्रीभूतो यज्ञादिसत्कर्मसु लब्धोत्तमस्थानः संवृत्तः । तस्माद्वैदिकत्वादिन्द्राग्निप्रभृतिब्रह्मनामवन्नायं श्रेष्ठपदमर्हति । तत्कथं वैदिकैर्भवद्भिर्ब्रह्मणः प्रियवाचकत्वेनाक्षरमिदम्प्रयुज्यत इति तु न जानीमो वयम् । इत्याशङ्कायां ब्रूमः ॥ विद्यते खल्वेतस्य परमप्रसिद्धस्याक्षरस्य व्याख्यानं वेदेषु । तथाहि । "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् *" निरुक्त परिशिष्टे १ । १० ॥ इत्यस्य व्याख्यानावसरे यास्काचार्यः शाक पूण्याद्याचार्यत्रयस्य मतं व्याचख्यौ "कतमत् तदेतदक्षरम् ? 'ओमित्येषा वागिति" शाकपूणिः" शाकपूणेराचार्यस्यमते अक्षरवाच्योत्र ओङ्कारः । पुनः शङ्कते—साक्षादोङ्कारस्यात्र प्रयोगाभावात् । तत्कथंशाकपूणिव्याख्यानस्य प्रामाण्यं स्यात् । पुनरप्यस्य मन्त्रस्य तत्रैव त्रिविधव्याख्यानदर्शनात् । शाकपूणिपुत्र आदित्यपरकं मन्यते । अपरेत्वात्मपरं व्याचक्षते । तत्कथमनेन मन्त्रेण निर्णयो भवितुमर्हति । समाधीयते—भवतुतावत् । शाकपूणिसमये ओमित्यस्यासीत्प्रचार इतित्ववश्यमुररीकरिष्यन्ति भवन्तः । शाकपूणेः यास्काचार्यादपि चिरन्तनत्वाच्चिरन्तनप्रचारोयं नाधुनिक इति पर्य्यवसितम् ।

प्रतिष्ठा कर रहे हैं इसका क्या कारण है ? यह समझ में नहीं, आता, उत्तर—इस आशङ्का के उत्तर में आगे वर्णन किया जाता है । परमप्रसिद्ध इस अक्षर का व्याख्यान वेदों में अवश्य ही है, देखो—ऋचो अक्षरेत्यादि निरुक्त० परिशिष्ट १ । १० । इस मन्त्र * के व्याख्यान में यास्काचार्य ने शाकपूणि आदि तीन आचार्य्यों के मत उद्धृत किये हैं । शाकपूणि कहते हैं कि इस मन्त्र में अक्षर शब्द से किस अक्षर का ग्रहण होता है ? इसके उत्तर में 'ओमित्येषावाग्' ओम् ही वह अक्षर है ऐसा कहते हैं, शङ्का—साक्षात् ओङ्कार शब्द के प्रयोग यहां न होने के कारण शाकपूणि के व्याख्यान का प्रामाण्य कैसे हो सकता है । और इस मन्त्र के व्याख्यान वहां ही तीन प्रकार से कहे गये हैं शाकपूणि के पुत्र इस मन्त्र को "आदित्य" में अन्य आचार्य "अध्यात्म" में और शाकपूणि "ओम्" अक्षर में घटाते हैं तब किनके व्याख्यान का प्रमाण मानाजाय । इसलिये इस मन्त्र के द्वारा कैसे निर्णय हो सकता है । उत्तर—अच्छा शाकपूणि के समय में इसका प्रचार था इस बात को आप अवश्य स्वीकार करेंगे और शाकपूणि के यास्क से भी चिरन्तन होने के कारण इसका प्रचार चिरन्तन है आधुनिक नहीं, यह सिद्ध होता है ।

---

* ऋग्वेद २ । ३ । २१ ॥

किन्तु अस्मिन्नपि मन्त्रे प्रत्यक्षोहि ओङ्कारः सुनिपुणमतिभिर्भवद्भिः सूक्ष्मदृष्ट्यावलोक्यताम् । व्योमन्नित्यत्र वि+ओम्+अन् इति पदत्रयं विद्यते । वि+अन् इत्येतयोर्द्वयोर्मध्ये विराजते च ओम् शब्दः । तत्कथं निगद्यते भवद्भिर्नास्य साक्षात्प्रयोग इति । वि शब्देन विशिष्टा मूलप्रकृतिर्गृह्यते । अन् शब्देन जीवः । अनिति प्राणिति जीवतीति अन् । जीवः पुरुष आत्मा इति । अन् धातोः क्विप् । ओम् पदेन ब्रह्म । पदार्थानांत्रित्वाद्धेतोरिमानेव त्रीन् पदार्थान् अवगमयितुं व्योमन् पदेन शिक्षते मातृभूता ऋक् । एतत्त्रयमविदितं यदिचेत् (किमृचा करिष्यति) व्यर्थमेववेदानामध्ययनमिति सम्यक् सूचयति भगवान् कारुणिकः परमपुरुषः । ब्रह्म खलु सर्वस्य मध्ये तिष्ठतीति सूचयितुमितरयोर्मध्ये ओम् शब्दस्य प्रयोगः कृतोस्ति । एतदेव प्रतिपादयन्तः—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्यआत्मनि तिष्ठति" "हृदि ह्येषं आत्मा" इत्येवंविधा उपनिषत्सु सन्ति बहवः प्रयोगाः । यास्काचार्योप्येतस्य मन्त्रस्य त्रीनेवार्थान् व्याचक्षाणः "सन्ति चात्र त्रयः पदार्थाः" इति सम्यक्प्रदर्शयाञ्चकार । ओम् पर आदित्यपर अध्यात्मपरश्चमन्त्रोयम् । आदित्यशब्देन सर्वत्रैव द्योतमाना प्रकृतिरत्र विवक्षिता । ओम् शब्देन ब्रह्म । अध्यात्मशब्देन पुरुषः शारीरः । एत-

---

किन्तु इसी मन्त्र में प्रत्यक्ष ही ओङ्कार है । सूक्ष्मदृष्टि से बुद्धिमत्ता के साथ देखो व्योमन् इस पद में वि+ओम्+अन् ये तीन पद विद्यमान हैं "वि और अन्" इन दोनों के मध्य में ओम् शब्द विराजमान हो रहा है तब तुम कैसे कहते हो कि इसका साक्षात्प्रयोग नहीं है । वि शब्द से विशेष मूल प्रकृति का और अन् शब्द से जीव ग्रहण है क्योंकि (अनिति, प्राणिति, जीवति इति अन्) जो सदा जीवित रहे उसे अन् वा जीव कहते हैं । अन् धातु से यहां 'क्विप्' प्रत्यय है । इसी से प्राणी आदि शब्द भी बनते हैं और ओम् शब्द से ब्रह्म का ग्रहण प्रसिद्ध है । पदार्थ भी ३ ही हैं इस कारण इन्हीं तीन पदार्थों को जनाने के हेतु व्योमन् पद से मातृसदृशी ऋचा शिक्षा देती है । ये तीन पदार्थ यदि अविदित रह जायं तो (किमृचाकरिष्यति) अर्थात् वेद का अध्ययन व्यर्थ है इस को अच्छी तरह से भगवान् सूचित कर रहे हैं । ब्रह्म सब के मध्य में विराजमान है एतत्सूचनार्थ वि और अन् के मध्य में ओम् शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी को प्रतिपादन करते हुए (अंगुष्ठमात्रः हृद्येषः) इत्यादि उपनिषदों में बहुत प्रयोग हैं । यास्काचार्य ने इस मन्त्र के तीन ही अर्थ करते हुए जगत् में तीन ही पदार्थ हैं यह प्रकाशित किया है । यह मन्त्र ओम्परक, आदित्यपरक व अध्यात्मपरक है । आदित्यशब्द से यहां सर्वत्र द्योतमान प्रकृति, ओम् शब्द से ब्रह्म और

---

(१) कठोप० ४ । १२ ॥ (२) प्रश्न उ० ३ । ६ ॥

दर्थत्रयस्य व्याख्यानेन महान् गूढार्थः प्रकाशितो यास्काचार्येणवेदविदां वरिष्ठेन । मन्त्रेव्योमन्निति लुप्तसप्तम्यन्तं पदं विशेष्यम्। अक्षरे, परमे इतिपदद्वयं विशेषणं। त्रयाणामपि अविनश्वरत्वादक्षरत्वम्। उत्कृष्टत्वात् परमत्वमितिसङ्गतिः। यत्तुसायणाचार्येण स्वकीये ऋग्वेदभाष्ये अर्थचतुष्टयमभ्यधायि तन्निजपाण्डित्यमेवप्रदर्शितम्। तदिह व्योमञ्छब्दः सर्वेषु वेदेष्वस्मिन्नेवार्थे बहुशः प्रयुक्तोऽस्तीति "वेदेषु प्रयोगादर्शनात् नायं वैदिक" इति यदुक्तं तदसंगतं संवृत्तम्॥ वेदस्य तत्त्वं परमं निगूढं लक्षेषु कश्चिदेव विजानाति। अतोत्रविषये "इदमित्थ" मितीयत्ता नावधारणीया। किन्तु सद्भावेन सदा तत्त्वं विजिज्ञासनीयम्। अहो विगतसन्देहा वयं संवृत्ताः स्मः। नायमर्थः केनापि प्रदर्शितोऽस्मभ्यम्॥ इदानींतनैरबुधैर्वेदतत्त्वात् सुदूरमपगतैः संशयं नीतेन मया तथोक्तमिति। आस्तान्तावत्। अन्यदपिऋग्वेदस्योदाहरणं शृणुत—

"ओमासश्चर्षणी धृतो विश्वेदेवास आ गत। दाश्वांसो दाशुषः सुतम्"। ऋग्वेदे १।१।६। अयमर्थः। हे विश्वेदेवासः। सर्वे विद्वांसो यूयं दाशुषो दत्तवतः। आदर-

---

अध्यात्म शब्द से देही पुरुष का ग्रहण है इन तीन अर्थों के व्याख्यान करते हुए वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ यास्काचार्य ने महान् गूढ़ अर्थ का प्रकाश किया है। और तुम ने जो ये कहा कि इस मन्त्र को तीन आचार्य्य तीन अर्थों में घटाते हैं उस का भी यह अभिप्राय समझना कि ये तीनों मिल कर मन्त्र का सम्पूर्ण अर्थ होता है। मन्त्र के "अक्षरे" और "परमे" ये दोनों पद व्योमन् शब्द के विशेषण हैं। ये तीनों अविनाशी होने से अक्षर, और उत्कृष्ट होने के कारण परम कहलाते हैं। सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य में जो इस मन्त्र के चार अर्थ किये हैं सो उनका पाण्डित्यमात्र है। यह व्योमन् शब्द चारों वेदों के अनेक स्थल में प्रयुक्त हुए हैं। इसलिये वेद में ओङ्कार का प्रयोग नहीं यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं। वेद के तत्त्व परम गूढ हैं लक्षों में विरला ही कोई जानता है। अतः वेद के विषय में इदमित्थम् कह-कर किसी विषय की इयत्ता नहीं करनी चाहिये किन्तु तत्त्वों की जिज्ञासा तो अवश्य करे। अब हम लोगों के सन्देह निवृत्त हुए इस अर्थ को हम लोगों से किसी ने प्रकाशित नहीं किया था वेद के तत्त्वों से बहुदूरस्थित साम्प्रतिक अज्ञानियों ने यह सन्देह डाला था इसलिये मैंने ऐसा कहा था, अच्छा जाने दो।

अब ऋग्वेद का दूसरा उदाहरण भी सुनो। (ओमासश्चर्षणी *) इत्यादि निरुक्त १२।४०। (विश्वेदेवासः) हे सकल विद्वानो! आप लोग (दाशुषः) आदर करने वाले

---

* ऋग्वेद १।१।६॥

यितुः मम सुतं सोमप्रधानमन्नं ग्रहीतुम् । आगत । आगच्छत । ममान्नं गृहीत्वा गृहं शोभयत । कथंभूतायूयम् । ओमासः । ओम्—ब्रह्मणः उपवेष्टारः । ब्रह्म समीप उपवेशकाः । ब्रह्मविद् इत्यर्थः । अत्र आस्तेः क्विप् । आसते इति आसः । ओम्—ब्रह्मणः आसः इति ओमासः । षष्ठीतत्पुरुषः । पुनः कथंभूताः । चर्षणीधृतः । चर्षणीनां मनुष्याणां धृतः । धारयितारः । स्वेनोपदेशेन प्रजानां पालका इत्यर्थः । इहापि धृ धातोः क्विप् । पुनः दाश्वांसः । विज्ञानप्रदाः । अत्र ओम् शब्दस्य प्रत्यक्षः प्रयोगोस्ति । अवितृगन्तृकामयितृश्रोतृप्रभृत्यर्थोपि ओंशब्दः । धातोस्तदर्थत्वात् ।

पुनरपि विचार्यताम् । सर्वेषां वेदमन्त्राणाम् "प्रणवष्टेः ८ । २ । ८९" अनेन यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशो भवति "अपां रेतांसि जिन्वतोम्" इत्याद्युदाहरणम् एतेन सर्वे वैदिक-

मेरे (सुतम्) प्रस्तुत भोज्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिये (आगत) आवें अर्थात् मेरे अन्न को ग्रहण करके गृह को सुशोभित करें । आप लोग कैसे हैं ? ओमासः । ओम् अर्थात् ब्रह्म और आस नाम बैठने वाले अर्थात् ब्रह्म के समीप बैठने वाले अर्थात् ब्रह्म के जानने वाले आप लोग हैं यहां ओम्+आस् मिल कर ओमास् पद बनता है और आस् धातु से क्विप् प्रत्यय से आस् बनता है । ओमास् शब्द के अर्थ रक्षक आदि भी होते हैं । (चर्षणीधृतः) मनुष्यों को अपने उपदेश से भरण पोषण करने वाले हैं पुनः (दाश्वांसः) विज्ञान के देनेवाले । यहां ओम् शब्द का साक्षात् पाठ देखो ।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओङ्कार का विधान ।

वेदों में येही पूर्वोक्त दो एक स्थल ओङ्कार युक्त नहीं हैं किन्तु सकल मन्त्र के अन्तिम टि[1] ओङ्कार से युक्त है यह विषय उदाहरण से विस्पष्ट होगा जैसे अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ य० अ० ३ । मं० १२ ॥ विश्वेदेवा यजमानश्चसीदत ॥ य० अ० १५ । मं० ५४ ॥ आपो भवन्तु पीतये यजु० । इन मन्त्रों में क्रमशः अन्तिम टि तिका इ, तकार का अकार, येकार का एकार है ये सब अक्षर यज्ञकर्म में पढ़ने के समय ओम् हो जायेंगे जैसे जिन्वति के स्थान में (जिन्वतोम्) सीदत के स्थान में (सीदतोम्) पीतये=पीतयोम्, इत्यादि । इसी प्रकार सब मन्त्र में जान लेवें ।

महर्षि पाणिनि इस विधि के लिये सूत्र रचते हैं यथा प्रणवष्टेः । ८ । २ । ८९ । यज्ञकर्म में टिके स्थान में ओम् आदेश हो । अन्तिम स्वर है आदि में जिस के उस वर्ण की

(१) टि व्याकरण की एक संज्ञा है ।

मन्त्रा ओमित्यनेनैवान्ते संयुक्ताः सन्तीति। यावन्तो वैदिकमन्त्रास्तावन्त अस्याक्षरस्य पाठा वेदेषु विद्यन्त इति सम्यग् विज्ञायते॥ एतेन "अग्न्यादि शब्दवत् नायं बहुशः पठित" इत्यादि यदुक्तं भवद्भिस्तदप्ययुक्तम्। प्रत्युत सर्वेभ्यः शब्देभ्यो बहुलतरोऽयमेव पठितो भवति। सर्वमन्त्रान्ते अस्यैवोच्चारणविधानात् न पृथग्भूयानस्य पाठः कृतोस्ति। एतेन सर्वैर्मन्त्रैर्ब्रह्मैव समन्वीयते। अतएव तदन्ते एतस्याक्षरस्योच्चारणोपदेशः कृतइति बोध्यं गूढतात्पर्यम्। केवलोच्चारणप्रयोजनसम्बन्धित्वेन पुस्तकमध्ये लेखननिष्प्रयोजनान्न कस्मिंश्चित् तेन सहिता मन्त्रा लिखिताः सन्ति। नच याज्ञिकैः प्रचारितमिमंनियममवलोक्य महर्षिणा पाणिनिना वैयाकरणेन "प्रणवष्टेः" इति सूत्रं सूत्रितमित्याशङ्कनीयम्। तस्यापि वेदपारदर्शित्वात्। अन्यच्च नहि स्वकल्पितं वर्णं वैदिकैर्मन्त्रैः सार्द्धं योजयितुं केप्यर्हन्ति। निष्प्रयोजनत्वात् प्रमाणाभावादाप्तपुरुषाणां तत्करणानर्हत्वाच्च॥

अस्मादेव वैदिकनियमात् ऐमिन् (Amen) آمین आमिन्नित्यादि शब्दानधुनापि यवनाः प्रार्थनान्ते एव पठन्ति। एतेऽपि ओमित्यस्यैव विकाराः। किंत्विदानीं कस्मादायातः

"टि" संज्ञा होती है। "अचोन्त्यादिटि" इस सूत्र से, इस नियम से सिद्ध होता है कि वेद के सब ही मन्त्र ओङ्कार अक्षर से युक्त हैं। यदि यह कहो कि याज्ञिक कर्तृक इस नियम को देखकर पाणिनि ने उस सूत्र का विधान किया हो यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं। क्योंकि वे भी तो वेद के पारदर्शी थे। और दूसरी बात यह है कि स्वकपोलकल्पित वर्ण को वैदिक मन्त्रों के साथ कोई जोड़ नहीं सकता। क्योंकि जोड़ने वाले का इससे कोई प्रयोजन नहीं। इसमें कोई प्रमाण भी नहीं और न आप्त पुरुष ऐसा कर भी सकते॥

यदि यह कहा जाय कि वेदों के पुस्तकों में लिखित ओङ्कार क्यों नहीं देखे जाते? तो उस का उत्तर यह है कि चारों वेदों के लिये यह नियम समान है। लाघवार्थ लिखे नहीं जाते। क्योंकि अनादिकाल से चली आती हुई यह परिपाटी सर्वत्र परम प्रसिद्ध थी और अब भी है। यह व्याकरण और उच्चारणमात्र से सम्बन्ध रखने के हेतु भी लिखा नहीं जाता। शङ्का—तब हम इस पर कैसे विश्वास कर सकते हैं कि प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओङ्कार का प्रश्लेष है। उत्तर—जिस कारण आप्त पुरुष ऐसा ही उच्चारण करते आये हैं और (अग्निमीळे) इत्यादिकों का प्रमाण भी आप्त पुरुष के प्रमाण ही से मानते हैं। जब ब्राह्मण और महर्षि पाणिनि इस में साक्षी हैं तो सन्देह करना ही मूर्खता है। यों तो प्रत्येक मन्त्र में ही सन्देह हो सकता है कि यह वेद है वा नहीं॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के मन्त्रों की जितनी संख्याएं हैं उतने वार ओंकार के प्रश्लेष हैं अतः इन्द्र, अग्नि, वायु आदि ईश्वर वाचक शब्दों से इसी का अधिक पाठ

कोर्थः कथमन्ते पाठ्य इत्येवं ते न विदन्ति । चिरकालार्य्यपृथक्निवासादिकारणात् । हाई हावू प्रभृति सामस्तोभा अप्यर्थवन्तः । सप्रयोजनाश्च । अयं वावलोको हाउकार इत्यादिनिर्देशात् । यद्यपि वर्णात्कारः । तथापि नेदमर्थान्तरबाधकम् । अकारो विष्णुः । उकारः प्रजापतिः । इत्यादि प्रयोगविद्यमानात् । वर्णाश्चापि प्रायः सर्वे अर्थवन्तः । खं ब्रह्म । कः प्रजापतिः । इत्यादि प्रयोगदर्शनात् । यजुष अन्त्याध्यायस्य वेदत्वं न वेति अप्रसंगात् विस्तरभयाच्च न निर्णीयते । अन्यत्र क्वचिद् द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणान्यपि सर्वाणि प्राय एतदक्षरं प्रस्तुवन्ति यथा—तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योभितप्तेभ्यस्त्रयोवर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति तस्मादोमिति प्रणौति । ओमिति वै स्वर्गोलोकः । ओमित्यसौ योऽसौ

सिद्ध हुआ । इस हेतु आप का जो ये कथन था कि "इन्द्रादिक शब्दों के बहुवार पाठ होने से ईश्वर के प्रियनाम ये ही प्रतीत होते हैं" असंगत ठहरा । इस नियम को द्वीप द्वीपान्तर में भी यहां से गये हुए प्राचीन आर्य लोग पालते रहे व अभी तक पाल रहे हैं। जैसे कृष्टान लोग ऐमिन् (Amen) और अन्य यवन लोग (آمین) आमिन आदि शब्द को प्रार्थना के अन्त में ही उच्चारण करते हैं यह ऐमिन् आदि शब्द ओङ्कार का अपभ्रंश है, इस में सन्देह नहीं । यद्यपि यह शब्द कहां से आया, क्या अर्थ है, क्यों अन्त में इस को पढ़ना चाहिये इत्यादि बातों को वे लोग अब नहीं जानते क्योंकि चिरकाल से उन लोगों का निवास आर्यों से पृथक् हो गया और उन में संस्कृत का प्रचार भी नहीं रहा । तथापि अनादि काल से प्रचालित परम प्रिय इस ओङ्कार को साथ ले जाने ही के कारण उन लोगों में अभी तक ओम् का अपभ्रंश ऐमिन् आदि शब्द विद्यमान है यद्यपि उन लोगों को प्रायः संस्कृत का इतना प्रचार होने पर भी बाइबिल आदि धर्म पुस्तक में कथित ऐमिन् शब्द का मूल और कारण का पता नहीं लगा है, परन्तु ओम् शब्द ही इस का मूलकारण है इसमें सन्देह नहीं ।

अब इससे यह जानना चाहिये कि सब मन्त्रों के अन्त में ओङ्कारोच्चारण का उपदेश इसलिये है कि परम्परया सकल वेदों का तात्पर्य अन्त में उसी ब्रह्म से है और ईश्वर की उस महती आज्ञा को ओङ्कार शब्द के द्वारा अन्त में सदा स्वीकार किया करें ।

और आपने जो यह कहा कि " हाई हावू आदि सामस्तोभवत् यह भी निरर्थक हैं सो भी ठीक नहीं । क्योंकि वे भी अर्थवान् और सप्रयोजन हैं देखो (अयंवाव इत्यादि) इसी उपनिषद् का प्रमाण है । हाउकार का अर्थ यह पृथिवीलोक है इत्यादि । और आपने

तपति। ऐतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिका ३२। इत्यादि प्रयोगा ब्राह्मणेष्वपि विद्यन्ते। इतरेष्वपि तथैव द्रष्टव्याः।

त्रिमात्र ओङ्कार।

अस्मिन् वर्णास्त्रयः। मात्रास्तिस्रः। प्लुतत्वाभिधायिनाङ्केन तृतीयेनैव समन्वितः। शब्दपारदृश्वना पाणिनिनापि "ओमभ्यादाने" इत्यनेन ओमित्यस्य प्रारम्भे प्लुतो विधीयते प्लुतस्तु त्रिमात्र एव। वेदत्रयादेव निर्दुग्ध इति मन्वादिभिः स्मर्यते। जपकर्मणि ओमः परं भूर्भुवःस्वः इति पदत्रयमुच्चार्यते। तस्मादपि परा त्रिपदी गायत्री प्रायो जप्यते। कथमेवमिदंत्रित्वम्?

कहा था अकार ककारादिवत् ओङ्कार कहने से वर्णमात्र का बोध होता है सो भी ठीक नहीं देखो (अकारो विष्णुः) इत्यादि अकार से विष्णु, मकार से प्रजापति इत्यादि। (वर्णात्कारः) यह वार्तिक अर्थान्तर का बाधक नहीं हो सकता। और अपने वाच्य से भी वर्णों को पृथक् नहीं कर सकता इत्यादि जान लेना, प्रायः सब वर्ण भी अर्थवान् हैं॥ यथा—(कः प्रजापतिः) "क" से प्रजापति (खं ब्रह्म) "ख" से ब्रह्म इत्यादि। अब यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के वेदत्व अथवा अवेदत्व के विषय में यहां इतना ही कहा जाता है कि वेद के एक शब्द को भी कोई नहीं बदल सकता। जो वेद सम्प्रति विद्यमान है वही यथार्थ वेद है। अप्रसंग और सविस्तर होने के भय से यहां पर इस विषय का विचार नहीं करते इस को कहीं अन्यत्र देखना परन्तु यह निश्चित है कि यजुर्वेद का ४० वां अध्याय जिसमें दो वार स्पष्ट ओं शब्द आया है वह वास्तव में ईश्वरोक्त वेद है। प्रायः सभी ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी चर्चा है देखो ऐतरेयब्राह्मण पञ्चम पञ्चिका ३२ वां खण्ड इत्यादि।

त्रैमात्रिक ओङ्कार शब्द।

इस में तीन ही वर्ण, तीन ही मात्राएं और प्लुतत्वाविधायक इसके साथ अङ्क भी तृतीय। शब्दपारदर्शी पाणिनि भी "ओमभ्यादाने" इस सूत्र से मन्त्रों के आदि में इस को प्लुत विधान करते हैं। त्रयी विद्या से इस का एक २ अक्षर लिया गया है यह मन्वादियों की सम्मति है। जप कर्म में ओम् शब्द के परे तीन ही महा व्याहृतियों का और उसके परे प्रायः त्रिपदी गायत्री का उच्चारण देखते हैं सो यह त्रित्व ओङ्कार के साथ क्यों लगा हुआ

एतेन त्रयी विद्या सुवेदितव्या । ऋणानि त्रीणि अपाकृत्यानि । त्रयोऽग्नयः परिचर्य्याः । त्रयः पदार्थाः सम्यगवगन्तव्याः । त्रीणि दुःखानि अपसार्य्याणि इत्येवंविधानि भूयांसि ऐहिकानि आमुष्मिकानि च प्रयोजनवन्ति वस्तूनि अनुशास्ति ॥

है इसका क्या कारण है ? त्रयी विद्याओं को अच्छी तरह से जानना तीनों ऋणों का शोधना, तीनों अग्नियों में हवन करना, तीन ही जगत् में पदार्थ हैं इन्हें अवगत करना और तीनों दुःखों से छूटने के प्रयत्न करना, इत्यादि इस प्रकार के अनेक ऐहिक और पारलौकिक प्रयोजनों की इन तीन अक्षरों से शिक्षा होती है ।

छान्दोग्य में

"ओ३म्"

शब्द के प्रयोग॥

१–ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।	१।१।१॥
२–ओमितिह्युद्गायति।	,,।,,।,,॥
३–ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः।	,,।,,।५॥
४–एतद्मिथुनम् "ओम्" इत्येतदस्मिन्नक्षरे संसृज्यते।	,,।,,।६॥
५–यद्धि किञ्चानुजानाति "ओम्" इत्येव तदाह।	,,।,,।८॥
६–ओमित्याश्रावयति। ७–ओमिति शंसति। ८–ओमित्युद्गायति।	,,।,,।९॥
९–ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।	,,।४।१॥
१०–ओमितिह्युद्गायति।	,,।,,।,,॥
११–यदा वा ऋचमाप्नोति "ओम्" इत्येवातिस्वरति।	,,।,,।४॥
१२–ओमितिह्येष स्वरन्नेति।	१।५।१॥
१३–ओमितिह्येष स्वरन्नेति।	,,।,,।३॥
१४–ओ३म् अदा३म। १५–ओ३म् पिवा३म। १६–ओ३म् देवः.....अन्नमिहाहराहर। १७–ओ३म् इति।	१।१२।५॥
१८–स ओ३म् इति वा होद्गामीयते।	८।६।५॥

(ये अठारह १८ वार साक्षात् ओम् शब्द के प्रयोग आये हैं)

ओङ्कार।

१–तेभ्योऽभि तप्तेभ्य ओङ्कारः सम्प्रास्त्रवत्।	२।२३।४॥
२–ओङ्कारेण सर्वावाग् सन्तृण्णा।	,,।,,।,,॥
३–ओङ्कार एवेदं सर्वम्	,,।,,।,,॥

अन्य उपनिषदों में ओम् शब्द का प्रयोग ।

ईश उ०—ओम् क्रतोस्मर । .... १७ ॥

कठ उ०—तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीमि "ओम्" इत्येतत् .... २ । १५ ।

प्रश्न उ०—यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणैव "ओम्" इति । .... ५ । ५ ॥

मुण्डक उ०—ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् । .... २ । २ । ६ ॥

माण्डूक्य उ०—ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वम् .... । १ ॥

तैत्तिरीय उ०—ओमितिब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति ओमिति सामानि गायन्ति । ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमितिब्रह्म प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नुवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति । ओं दश । १ । ८ । १ । (यहां ९ वार आया है)

बृहदारण्यक उ०—ओमिति होवाच० ३ । ९ । १ । (यहां ७ वार आया है) ओं खं ब्रह्म ५ । १ । १ ॥ ओमिति होवाच ५ । २ । १ ॥, ५ । २ । २ ॥, ५ । २ । ३ ॥, ओमिति होवाच ६ । २ । १ ॥, ओम् क्रतोस्मर ५ । १५ । १ ॥

गीता—ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः १७ । २३ ॥,

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः । १७ । २४ ॥

ओङ्कार ।

प्रश्न—स यः……प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत .... ५ । १ ॥

प्रश्न—एतद्वै……परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारः .... „ । २ ॥

तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् .... „ । ७ ॥

माण्डूक्य०—भूतंभवद्भविष्यदितिसर्वमोङ्कार एव .... । १ ॥

यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव .... । १ ॥

सोयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोधिमात्रम् .... । ८ ॥

शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव .... । १२ ॥

गीता—वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च .... । ९ । १७ ॥



ओ३म् ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

संस्कृतम्—अस्मिन् व्याचिख्यासिष्यमाणे द्वैतीयीके खण्डे प्रजापतिदेवासुरास्त्रयः शव्दा न काश्चिद्देहधारिणीर्व्यक्तीरभिसम्बध्नन्ति । अहर्दिवं क्षणे क्षणे इन्द्रियाणि प्रतिशरीरं परस्परं कलहायन्ते । कानिचिच्छास्त्रमर्यादां स्मारंस्मारमकृत्यविमर्शादपि विरमन्ति । तान्येवात्रदेवशव्देनाभिप्रेयन्ते । कानिचित् स्वाभाविकांस्तामसान् गुणानाश्रित्य कृत्याकृत्यानि समुल्लंघ्य अननुष्ठेये कर्म्मणि निपत्य जीवात्मानं विमोहयन्ति । तान्येवात्रासुरशव्देन व्यवह्रियन्ते । इमानि उभयानि देवसंज्ञानि असुरसंज्ञानि चेन्द्रियाणि एकस्यैव शारीरकस्य पुत्रवद् वर्त्तन्ते तेनैवाधिष्ठितत्वात् । अतोत्रदेही तु प्रजापतिः । इन्द्रियाणि तु प्राजापत्यानि ॥ मातापितृशतेभ्योपि वत्सलतरोपनिषदनेकविधैरुपायैर्मन्देभ्योजनेभ्यो गूढार्थं बुवोधयिषुराख्यायिकाव्याजेन महत्तत्त्वमुपदेष्टुमुपक्रमते देवासुराहेत्यादिना । प्रथम खण्डे ओङ्कारस्यार्थं श्रेष्ठतार्थं विज्ञानावश्यकतादिकमुपदिश्य कथमस्योपासना केन कृता किं फलमित्याद्यनुशासिष्यति ॥

भाषाः—इस व्याचिख्यासिष्यमाण (जिस का व्याख्यान आगे होने वाला है) द्वितीय खण्ड में प्रजापति १ देव २ और असुर ३ ये तीनों शब्द किन्हीं देहधारी व्यक्ति विशेष वाचक नहीं हैं । प्रतिदिन क्षण क्षण इन्द्रिय प्रति शरीर में युद्ध करते हैं । इन में कोई इन्द्रिय शास्त्र मर्यादा को स्मरण करके अकृत्य के विचार से भी निवृत्त रहते हैं वे ही इन्द्रिय यहां देव कहे गये हैं । और कोई इन्द्रिय स्वाभाविक निजतमोगुणों को लेकर कृत्य और अकृत्य विचार को त्याग अनुचित कर्म में गिरकर जीवात्मा को भी मोहित करते हैं । वे ही यहां असुर कहे गये हैं । ये दोनों (देव और असुरसंज्ञक इन्द्रिय) एक ही जीवात्मा के पुत्र सदृश हैं । क्योंकि यदि जीवात्मा इनका अधिष्ठाता न हो तो स्वयं इन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि इन्द्रिय सब अचेतन और एक जीवात्मा ही इस में चेतन है । अतः जीवात्मा इन का पितावत् स्वामी और ये पुत्रवत् सेवक हैं ।

इसी कारण इस प्रकरण में देही (आत्मा) को प्रजापति और इन्द्रियों को पुत्र कहते हैं। सहस्रों माता पिता से बढ़कर आदर करने वाली उपनिषद् अनेक विध उपायों से मन्द जनों को सिखलाने की इच्छा करती हुई आख्यायिका के व्याज से ब्रह्म के महान् तत्त्व के उपदेश के लिये देवासुरोपाख्यान को आरम्भ करती है और प्रथम खण्ड में ओङ्कार के अर्थ श्रेष्ठता, अर्थविज्ञानावश्यकता आदिकों का उपदेश देकर उसकी उपासना किस प्रकार होती, किसने की और क्या फल होता है इत्यादि का अनुशासन करेगी।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे। उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति[1] ॥ १ ॥

देवासुराः। ह। वै। यत्र। संयेतिरे। उभये। प्राजापत्याः। तत्। ह। देवाः। उद्गीथम्। आजह्रुः। अनेन। एनान्। अभिभविष्यामः। इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—(ह) इति पूर्ववृत्तोद्भासको निपातः (वै) निपातो निश्चयं द्योतयति (देवासुराः) देवाश्च असुराश्च्येतिदेवासुराः। द्योतनार्थाद् दीव्यतेर्धातोरचि देवशब्दसिद्धिः। ये स्वेष्वेव असुषु प्राणेषु प्राणक्रियासु रमन्ते। ते। असुराः। शास्त्रपरिशीलनजनितज्ञाननिर्मला इन्द्रियवृत्तयो देवाः। तद्विपरीता असुरा इत्यर्थः। ते निश्चयेन किल (यत्र) यस्मिन् निमित्ते (संयेतिरे) युयुधिरे। सम्पूर्वकोयततिः संग्रामार्थः॥ इतरेतरविषयापहरणाय संग्रामं कृतवन्तः। शास्त्रोद्दापितानीन्द्रियाणीतराण्युत्पथगामीनि अन्याय्याचरणान्निवर्त्तयन्ति। तानि तु शास्त्रीयाण्येव कृत्ये प्रवर्त्तयितुं यतन्ते। इत्थं परस्परमिन्द्रियाणि युध्यन्ते। अयमेव संग्रामोऽनादिकालप्रवृत्तः सर्वैरित्थं प्रतिशरीरमनुभूयमानो देवासुरसंग्रामोनाम्नाभिधीयते (उभयेप्राजापत्याः) उभयविधानि तानि इन्द्रियाणि प्रजापतेर्देहिनोपत्यानि। यतो जीवोज्ज्वलितत्वादेवाचेतनानीन्द्रियाणि प्रवर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते वा। अतः प्रजापतेरपत्यानि "दित्यदित्यादित्यपत्यु-

(१) यही कथा बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम अध्याय तृतीय ब्राह्मण में भी आई है इन दोनों में किञ्चिन्मात्र भेद है। इनकी एकता करने के लिये वेदान्तसूत्र (३। ३। ६ देखो) पद ये हैं-'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथे नात्ययामेति'। अर्थात् प्रजापति के सन्तान देव असुर दो प्रकार के थे। कनिष्ठ देव, ज्येष्ठ असुर। वे इन लोकों में युद्ध करने लगे, उन में देवों ने विचार किया कि इस यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा असुरों को जीतें॥

त्तरपदाराराय:" इति प्रजापतेरर्थः। (तत्) तस्मात्कारणात् (ह) किल प्रसिद्धा देवाः। शास्त्रीयाणि इन्द्रियाणि (उद्गीथम्) उद्गीथभक्त्युपलक्षितमौद्गात्रं यज्ञानुष्ठानम् (आजह्नुः) आहृतवन्तः। कृतवन्तः। यद्वा। उद्गीथम्। ओङ्कारम्। आजह्नुः। आनीतवन्तः। तस्योपासनां कर्तुमारेभिरे इत्यर्थः। कस्माद्धेतोः ? (अनेन) उद्गाथेन करणेन। (एनान्) इमान् असुरान् "द्वितीयाटौः स्वेनः २। ४। ३४" इदम एनादेशः। अशास्त्रीयाणि इन्द्रियाणि (अभिभविष्यामः) जेष्यामः (इति) इति हेतोरुद्गीथमाजह्नुरित्यर्थः॥ १॥

अनुवादः—प्रजापति[1] के प्रसिद्ध सन्तान देवे[2] और असुर[3] दोनों युद्ध के लिये जिस कारण सन्नद्ध हुए। इस कारण देवों ने असुरों को जीतने के हेतु उद्गीथ (ओङ्कार) के आश्रित हुए। यद्वा। उद्गीथ की उपासनारूप कर्म में प्रवृत्त हुएँ

पदार्थः—(उभये) दोनों (प्राजापत्याः) प्रजापति के पुत्र (हैं) (वै[6]) परम प्रसिद्ध (देवासुराः) देव और असुर (यत्र) जिस कारण (संयेतिरे) युद्ध करने के लिये प्रवृत्त हुए (तत्) उस कारण (ह) निश्चय (देवाः) देव (उद्गीथम्) उद्गीथ सम्बन्धी कर्म्म (आजह्नुः) ले आये अर्थात् ओङ्कार की उपासना करने लगे (अनेन) इस उद्गीथ से (एनान्) इन असुरों को (अभिभविष्यामः) जीतेंगे (इति) इस हेतु॥ १॥

भाष्याशयः—दिव धातु से देव शब्द की सिद्धि होती है और अपने प्राणों में अर्थात् प्राण की क्रियाओं में जो रमित हों उन्हें असुर कहते हैं। असु+रम् इन दो शब्दों से यहां असुर शब्द की सिद्धि माननी चाहिये। शास्त्र के अभ्यास से जनित जो ज्ञान, उससे निर्मल जो इन्द्रिय वा इन्द्रिय की वृत्तियें वे देव और तद्विपरीत वृत्तिवाले इन्द्रिय असुर हैं। शास्त्रोद्दीपित इन्द्रिय इतर उत्पथगामी इन्द्रियों को अन्याय्य आचरण से रोकते हैं और उत्पथगामी इन्द्रिय शास्त्रीय इन्द्रियों को अकृत्य में लेजाने के लिये सर्वदा प्रयत्न

नोट—(१) आत्मा (२) उत्तम इन्द्रिय प्रवृत्ति। (३) दुष्ट इन्द्रिय प्रवृत्ति। खण्ड के अन्त में इस शब्द के ऊपर समीक्षा देखो। (४) मन्द जनों की प्रवृत्ति के हेतु कथा रूप में तत्त्व का उपदेश किया गया है। कथा यथार्थ नहीं केवल रूपक मात्र है। ऐसी कथा उपनिषदों में बहुधा आई है। द्वितीय मन्त्र की टिप्पणी देखो।

(५) ह शब्द इतिहास का स्मारक प्रायः होता है। (६) वै का अर्थ निश्चय भी होता है।

करते हैं । इस प्रकार परस्पर इन्द्रिय युद्ध कर रहे हैं । इस संग्राम को जो अनादि काल से प्रवृत्त है जिसको सब कोई प्रतिदिन अनुभव कर रहे हैं और जो प्रति शरीर में वर्त्तमान है, देवासुर संग्राम कहते हैं ॥ १ ॥

संस्कृतम्—सम्प्रतत्यनयोर्मध्ये कतरो विजेष्यत इति वक्ष्यति । लोकेऽधीतशास्त्रो विज्ञतरः खलु अनुत्तमं प्रतीकारमनुसंधाय सपत्नान् अभिभवति । ईश्वराश्रयादन्यः को नाम प्रतीकारः प्रशस्यतरो भवेत् । महतः शत्रोः समूलघाताय महानेव आश्रयितव्यः । अतोदेवा ईश्वराभिधानेषु सर्वोत्तमं प्रणवमाशिश्रियुः परन्तु प्रणवं द्वारीकृत्य क केनोपायेन च ब्रह्मोपासनीयमिति तु देवा न सम्यग् बुबुधिरे ॥ अन्तरायाश्चापि शुभकर्मणिभूयांस आपतन्ति । इत्यादि सर्वं स्वयमुपनिषद् दर्शयिष्यति । केपि नासाग्रमवलोकयन्तः, अन्ये श्रोत्रे पिधाय तदन्तर्गतान् संततमुत्पद्यमानान् अहतान्ध्वनीन् शृण्वन्तः, परे मनसा इन्द्रियाणि निगृह्य हृदयं पुण्डरीकाकारं सहस्रदलमात्मानुगतं च कल्पयन्तो ब्रह्मोपासते । केचित्तु ब्रह्मवादिनो निरतिशय सर्वज्ञं सर्वान्तर्यामि तज्ज्ञात्वा तद्विभूतीः सर्वत्रैव निरीक्षमाणाः सर्वदा सर्वत्रैव ध्यायन्ति । इत्थं बहुविधेषूपासनेषु कतमन्निःश्रेयस्करमित्यप्यवधारयिष्यति ॥

भाषा—आगे दिखलाया जाता है कि इन दोनों में विजय किसको और किस प्रकार से होता है । लोक में प्रत्यक्ष है कि शास्त्रीय पुरुष विशेष ज्ञानी होने से अनुत्तम प्रतीकार कर अज्ञानी को परास्त कर लेता है । अतः देव ओङ्काररूप महा योद्धा की उपासनारूप आश्रय में असुरों के विजयार्थ आये । यह युक्त है । इस में सन्देह नहीं कि ऐसे शत्रुओं के विजयार्थ वैसेही महान् योद्धा के आश्रय में जाना ही ठीक है। परन्तु विजय शीघ्र नहीं होता और शुभ कर्म में विघ्न भी अनेक आगिरते हैं इस विषय को उपनिषद् स्वयं आगे दिखलावेगी । इस के साथ २ यह भी निरूपित होगा कि ओङ्कार के द्वारा ईश्वर की उपासना कैसे और कहां करनी चाहिये ॥

कोई नासाग्र को देखते हुये, कोई श्रोत्रेन्द्रिय को मूंद उन में सदा उत्पद्यमान अनहद शब्दों को सुनते हुए, कोई नेत्र की अन्तर्गत पुत्तलिका को ईश्वररूप मानते हुए और कोई मन से इन्द्रियों को निग्रह कर कमल सदृश सहस्र दल वाले आत्मा सहित हृदय को जानते हुए उस की उपासना करते हैं और कोई ब्रह्मज्ञानी निरतिशय सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी उस को जान उस की विभूतियों को सर्वत्र ही देखते हुए सर्वत्र सर्वदा एकाग्रचित्त से ध्यान करते हैं । इस प्रकार बहुविध उपासनाओं के मध्य कौन निश्रेयस्कर है इस को भी निश्चय करेगी ॥ १ ॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तᳫं हासुराः पाप्मनाविविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः[2] ॥ २ ॥

ते । ह । नासिक्यम् । प्राणम् । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । तम् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयम् । जिघ्रति । सुरभि । च । दुर्गन्धि । च । पाप्मना । हि । एषः । विद्धः ॥ २ ॥

भाष्यम्–(ते) देवाः । शास्त्रोद्भासितानि इन्द्रियाणि (ह) निश्चितम् (नासिक्यम्) नासिकायां भवम् (प्राणम्) वायुमधिष्ठानीकृत्य इत्यध्याहार्यम् (उद्गीथम्) प्रणवम् ओङ्कारम् । अर्थात् तत्प्रतिपाद्यं ब्रह्म (उपासाञ्चक्रिरे) उपासितवन्तः (असुराः) दुष्टचित्तवृत्तयः (तम्) नासिक्यं प्राणमुपासनार्थं देवैरधिष्ठानीकृतं विदित्वा (पाप्मना) पापेन[2] (विविधुः) विद्धवन्तः । स्वभावतः पाप्मवत्वादेव असुरैरपि विद्ध प्राणः । शुद्धस्याशुद्धत्वकरणाशक्यात् । अर्थात् नेदमुपासनास्थानं समुचितमिति विघ्नं प्राप्य देवा ज्ञातवन्त इत्यर्थः (हि) यस्मात् कारणात् (सुरभि च) सौरभ्ययुक्तम् (दुर्गन्धि च) दुर्गन्धियुक्तं च (उभयम्) उभयं वस्तु (तेन) नासिकाप्राणेन (जिघ्रति) उपादत्ते । देहीति कर्तृपदमध्याहार्य्यम् (एषः) प्राणः (पाप्मना) पापेन (विद्धः) अवरुद्धो गृहीतोस्ति । अतो नेदमुपासनास्थानं समुचितमित्यवधेयम् । अयं भावोस्ति । परमं पूततमं ब्रह्म । तदुपचित्यै नासिका, सुगन्धिदुर्गन्धियुक्तत्वाद् ब्रह्मासनं भवितुं नार्हति । अतो ये नासिकाग्रं तद्गतं वायुं वा स्थानीकृत्य उद्गीथमुपासते । न ते फलभाजो दुःखमेव सर्वदा यान्ति । इत्याख्यायिकाशयः । अग्रेप्येवमेव ज्ञातव्यम् ॥

(१) अथ प्राणमूचुस्त्वन्न उद्गायेति......ते विदुरनेनवै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्......बृ० १ । ३ । ३ ॥ अर्थ–वे प्राण से बोले कि हम लोगों के लिये उद्गान करो । प्राण ने उन के लिये उद्गीथ का गान किया । असुरों ने जान लिया कि इस उद्गाता के द्वारा ये हम लोगों को जीत लेवेंगे । इस हेतु असुरों ने प्राण के निकट जा उसको पाप से विद्ध किया ॥

(२) अस्त्रीपङ्कं पुमान्पाप्मा पापं किल्बिष कल्मषम् । इति कोशः ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध (देवगण) नासिकागत प्राण को (अधिष्ठान बना कर) उद्गीथ की उपासना करने लगे। असुरों ने पाप से उसे विद्ध किया। जिस कारण उस प्राण से (जीवात्मा) सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों को सूंघता है इससे (विदित होता है कि) यह प्राण पाप से गृहीत है[२] ॥ २ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (ते) वे अर्थात् शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय (नासिक्यम्) नासिकागत (प्राणम्) प्राणवायु को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) ओङ्कार अर्थात् तत् प्रतिपाद्य ब्रह्म की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (तम्) उस नासिकागत प्राण को (देवों ने नासिक्य

टि०—प्रकरणस्थ उद्गीथ पद से शङ्कराचार्य ने कहीं उद्गीथ सम्बन्धी कर्म, कहीं उद्गाता और कहीं उद्गीथ शब्दवाच्य ओङ्कार अर्थ किया है ॥

"तेहदेवानासिक्यम् । नासिकायां भवं चेतनावन्तं घ्राणं प्राणम् । उद्गीथकर्त्तारमुद्गातारम् । तद्गीथभक्त्या उपासाञ्चक्रिरे । कृतवन्त इत्यर्थः । नासिक्यप्राणदृष्ट्या उद्गीथाख्यमक्षरमोङ्कारमुपासाञ्चक्रिरे इत्यर्थः" । शङ्कराचार्य्यः ॥

अर्थ—"उन देवों ने नासिकास्थित और चेतनवान् प्राण को उद्गीथ (उद्गीथ सम्बन्धी कर्म) का कर्त्ता उद्गाता (मानकर) उद्गीथभक्ति से उस की उपासना की। अर्थात् नासिकागत प्राण की दृष्टि से उद्गीथ नामधारी ओङ्कार अक्षर की उपासना की। शङ्कराचार्य के सम्पूर्ण प्रकरणस्थ आशय इस प्रकार हैं कि शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय प्रवृत्तिएं देवनाम से और तद्विपरीत वृत्तिएं असुरनाम से यहां कही गई हैं। देवलोग असुर विजयार्थ सामवेद विहित औद्गात्र (उद्गाता सम्बन्धी) कर्म में प्रवृत्त हुए। परन्तु इस कर्म में उद्गाता ऋत्विक् की परम आवश्यकता है। अतः वे देव क्रमशः नासिकागत प्राण, वचन, चक्षु, श्रोत्र और पश्चात् मन को उद्गाता बनाकर उद्गीथ कर्म प्रारम्भ किया। यद्वा इन सबों की दृष्टि से ओङ्कार की उपासना की। परन्तु असुरों ने उन सब उद्गाताओं को अधर्मासंग रूप पाप से विद्ध=अपहत=बाधित किया।

(१) संस्कृत वाक्यों में कहीं कहीं अन्यपदों का बहुत अध्याहार करना पड़ता है। उपनिषद् अपने भाव को बहुत संक्षेप से वर्णन करती है। इस कारण विचा[illegible] के आशय प्रकट नहीं होता ॥

(२) शङ्कराचार्य्य का अर्थ-वे (देव) नासिकागत प्राणरूप उद्गीथ की [illegible] करने लगे उस प्राण को असुरों ने पाप से वेधन किया इस कारण उससे (लोक) सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों सूंघता है जिस हेतु वह पाप से विद्ध है ॥

प्राण को उपासनार्थ अधिष्ठान बनाया है इसे जान) (ह) निश्चय (असुराः) असुरों ने (पाप्मना) पाप के द्वारा (विविधुः) विद्ध किया अर्थात् विघ्न किया (हि) जिस कारण (तेन) नासिकागत प्राण से (सुरभि च) सुगन्धि अथवा (दुर्गन्धि च) दुर्गन्धि (उभयम्) दोनों को जीवात्मा (जिघ्रति) सूंघता है (तस्मात्) इससे अनुमान होता है कि (हि) निश्चय (एषः) यह प्राण (पाप्मना) पाप से (विद्धः) गृहीत=युक्त है ॥ २ ॥

टि०—अतः अन्त में मुख्य मुखस्थित (जो सर्वम्भरि अर्थात् अन्य सकल प्राणों का भरण पोषण करने वाला भी कहाता है), प्राण की उपासना से देवों का विजय और असुरों का पराजय हुआ । इत्यादि ॥"

विचारणीय इस में यह है कि नासिकागत प्राण वचन आदि जड़ और अनुपास्य होने से उनमें उपासना की संभावना ही नहीं हो सकती । फिर उनमें देव लोग कैसे उपासना कर सकते । शङ्कराचार्य्य जो यह कहते हैं कि "चेतनावन्तं घ्राणं प्राणम्" सो समझ में नहीं आता कि नासिकागत प्राण चेतन कैसे हो सकता । यदि उसे चेतन मान भी लिया जाय तथापि वचन की चेतनता सिद्ध नहीं हो सकती । फिर वचन दृष्टि से उद्गीथ की उपासना कैसे ? और मुखस्थित प्राण की उपासना से देव विजयी हुए यह भी कथन ठीक नहीं । क्योंकि वह कौनसा मुखस्थित प्राण है जो सुगन्धि दुर्गन्धि से रहित और सर्वम्भरि हो । नासिकागत और मुखस्थित प्राण में क्या एकतानता का सम्बन्ध नहीं है ? क्या दोनों ही वायुमय नहीं हैं ? यदि हैं तो एक पापविद्ध और दूसरा अपापविद्ध यह कैसे संभवित हो सकता है । जब नासिकागत प्राण को आप अपवित्र, अशुद्ध और पापविद्ध मानते हैं तो अवश्य ही मुखस्थित प्राण को वैसा ही मानना पड़ेगा क्योंकि खाद्य और अखाद्य दोनों प्रकार के पदार्थों को यह भी खाता है फिर अपापविद्ध कैसे । शङ्कराचार्य का उत्तर यह है यथाः—

"ननु नासिक्योपि प्राणो वाय्वात्मा यथामुख्यः । तत्र नासिक्यः प्राणः पाप्मनाविद्धः । प्राण एव सन्नमुख्यः । कथम् । नैषदोषः । स्थानकरणवैगुण्याद् विद्धो वाय्वात्मापि सन् मुख्यः स्थानदेवतावलीयस्त्वान्न विद्ध इति युक्तम् । यथा वास्यादयः शिक्षावत् पुरुषाश्रयाः कार्यविशेषं कुर्वन्ति । नान्यहस्तगताः । तद्वत् दोषवद्घ्राणसचिवत्वाद् विद्धा घ्राणदेवता न मुख्यः ॥

अर्थ—"ननु नासिकागत प्राण भी वायुरूप है जैसे मुख्यगत प्राण है । उनमें

भाष्याशयः—इस द्वितीय मन्त्र के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म की उपासना के लिये नासिका स्थान उपयुक्त नहीं। क्योंकि ब्रह्म परम पवित्र। नासिका अपवित्र।

नासिकागत प्राण पाप से विद्ध हुआ। वायु ही होता हुआ मुखगत प्राण कैसे पाप से विद्ध न हुआ ? यह दोष नहीं है। क्यों ? स्थान के कारण इन्द्रिय की विगुणता रूप दोष से वह तो विद्ध हुआ और वायुरूप होता हुआ भी मुखगत प्राण स्थानगत देवता के अत्यन्त बलवान् होने से विद्ध नहीं हुआ, यह युक्त है। जैसे वास्य (बढ़ई के शस्त्र-विशेष) आदि शस्त्र शिक्षित पुरुष के आश्रय होने से कार्य विशेष को करते हैं। अन्य (अशिक्षित) हस्तगत नहीं। तद्वत् दोषवाले प्राणरूप सहाययुक्त होने से नासिकागत प्राण देवता तो विद्ध हुई और मुखगत प्राण नहीं"।

सम्पूर्ण का भाव यह है कि इन दोनों के दो स्थान होने से इन की देवताएं भी भिन्न २ हैं। नासिकागत प्राण की देवता दुर्बल और अशिक्षित होने से वह तो पापविद्ध हुई। परन्तु मुखगत प्राण की देवता बलीयान् और शिक्षित होने से पापविद्ध नहीं हुई। एक देवता को बलिष्ठ और अन्य को दुर्बल मानने में यहां कोई युक्ति नहीं। और वह देवता है कौन ? शङ्कराचार्य ने आडम्बरमात्र बढ़ाया है। वास्तविक तत्त्व प्रकाशित नहीं किये॥

अतः नासिका, वाणी, नेत्र आदिकों को अधिष्ठान वा पूजास्थान मानकर ओङ्कार की उपासना करने लगे। परन्तु पश्चात् तत्तत् स्थानों की अपवित्रता ज्ञात होने पर अन्त में "मुख्यप्राण" आत्मा को अधिष्ठान बना ईश्वर की उपासना करते हुए वे देव विजयी हुए। इत्यादि ही अर्थ सुसंगत प्रतीत होता है। यहां पर अध्यात्म वर्णन के द्वारा उपनिषद् शिक्षा देती है कि इस लघु शरीर में ईश्वर का आसन हृदयस्थित आत्मा ही है। यदि अध्यात्म उपासना करना चाहते हो तो उसी को अधिष्ठान बनाओ। परन्तु यहां भी अपनी उपासना की समाप्ति मत करो। अतः तृतीय खण्ड में अधिदैवत उपासना को दिखलाती हुई ओङ्कार का पूजास्थान वा लक्ष्य सर्वव्यापक ईश्वर को ही बतलाती है।

एवम् मुख्यप्राण जीवात्मा को सर्वम्भरि। सुगन्धि दुर्गन्धि रहित और किसी अंश में अपहतपाप्मा आदि विशेषण भी दे सकते हैं। अतः मुख्य प्राण शब्द से जीवात्मा का ग्रहण करना प्रथम पक्ष। और इस शरीर में भी ईश्वर की व्याप्ति होने से प्राण शब्दवाच्य ईश्वर को हृदयस्थित प्राणप्रिय समझ कर उसकी उपासना करनी इत्यादि भाव भाष्य में देखो।

यह दुर्गन्धि सुगन्धि दोनों का स्थान है। अतः इस स्थान को देखते हुए जो ब्रह्म की उपासना करते हैं वे सर्वदा दुःखभागी होते हैं। इससे (संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ६ । १३) यह गीता का वचन चिन्तनीय (अमाननीय) है। इसका आशय यह है कि अपनी नासिका के अग्रभाग को देख और अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ब्रह्म की उपासना करे ॥ २ ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। ताᳬहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यञ्चानृतं च । पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

टि०—पुनरपि शङ्कराचार्य कृत अर्थ में यह शंका उपस्थित होती है कि असुरों ने यदि नासिका वाणी आदि को पाप से विद्ध वा संसर्ग किया तो पापविद्ध होने से केवल पापविशिष्ट वस्तुओं के ग्राहक वा विषयी उन्हें होने चाहिये थे। उभय ग्राहक वा विषयी कैसे? अर्थात् नासिकागत प्राण से केवल दुर्गन्धि, वचन से असत्य, चक्षु से अदर्शनीय, श्रोत्र से अश्रवणीय और मन से असङ्कल्पनीय वस्तु ही गृहीत होनी चाहिये सुगन्धादि नहीं। यदि आप ऐसा कहें कि बृहदारण्यक प्रथमाध्याय तृतीय ब्राह्मण के अनुसार सुगन्धि आदि की अविवक्षा है अर्थात् केवल दुर्गन्धि आदि से ही तात्पर्य है सुगन्धि आदि से नहीं क्योंकि (यदेवेदमप्रतिरूपं वदति । अप्रतिरूपं जिघ्रति इत्यादि) इन प्रमाणों से अप्रतिरूप अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध दुर्गन्धादि एक ही का ग्रहण करेंगे दूसरे का नहीं। क्योंकि ये दोनों प्रकरण समान हैं। इत्यादि आप का कथन ठीक नहीं क्योंकि पुनः २ सुगन्धादि शब्दों का पाठ प्रत्येक मन्त्र में देखते हैं। यदि उपनिषद् को दोनों से तात्पर्य नहीं होता तो प्रत्येक मन्त्र में क्यों उन्हें पढ़ती। और मुख्य प्राण के वर्णन में (नैवैतेनसुरभि न दुर्गन्धि विजानाति) इत्यादि का निर्धारण भी नहीं हो सकता। क्या उपनिषद् को यह दोष नहीं सूझता था। फिर सुगन्धादि पदों का पाठ क्यों किया? यह शङ्का आपके मत में दुर्वार है। हमारे अर्थ में तो न उपनिषद् में दोषारोपण और न अविवक्षा आदि करना पड़ता और दोनों उपनिषद् की सङ्गति भी बैठजाती इत्यादि अनुसन्धान कर लेना। इन हेतुओं से शङ्कराचार्य्य के और तदनुयायी अन्य टीकाकारों के अर्थ ठीक नहीं। अलमति विस्तरेण विवेकिजनेषु ॥

(१) ते ह वाचमूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। ...... तेविदुरनेन

अथ । ह । वाचम् । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । ताम् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तया । उभयम् । वदति । सत्यम् । च । अनृतम् । च । पाप्मना । हि । एषा । विद्धा ॥ ३ ॥

भाष्यम्—(अथ) नासिक्यप्राणस्यानधिष्ठेयत्वविज्ञानानन्तरम् (ह) निश्चयेन (वाचम्) वचनमधिष्ठानीकृत्य (उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे) (ताम्) वाचम् (असुराः) (पाप्मना) पापेन (विविधुः) विद्धवन्तः । यतः (तया) वाचा (सत्यं च) (अनृतम्) मिथ्या च (उभयम्) सत्यासत्यद्वयम् (वदति) ब्रवीति । तस्मात् (हि) निश्चयेन (एषा) वागपि (पाप्मना) पापेन (विद्धा) गृहीतास्ति । प्रकृत्या पाप्मविद्धत्वादेवासुरैरपि विद्धा । शुद्धस्याशुद्धत्वकरणाशक्यात् । अतः केवलया वाचापि ब्रह्मोपासनं न स्यात् । ये तु ब्रह्मनामधेयमोङ्कारादिकं केवलं वाचा सर्वदा आवर्त्तयन्ति तेनैवसन्तुष्टास्तेपि मूढा एव इति शिक्षते ॥ ३ ॥

अनुवादः—अनन्तर वचन को अधिष्ठान करके (वे देव) उद्गीथ की उपासना करने लगे । असुरों ने उसको भी पाप से विद्ध किया । जिस कारण वचन के द्वारा सत्य और असत्य दोनों का व्यवहार जीवात्मा करता है उस कारण निश्चय वचन भी पाप से युक्त है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) निश्चय (वाचम्) वचन को अर्थात् वचन को अधिष्ठान बनाकर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ताम्) उस वचन को (ह) निश्चय (असुराः) दुष्ट प्रवृत्तियों ने (पाप्मना) पाप से (विविधुः) विद्ध किया । जिस कारण (तया) उस वचन के द्वारा (सत्यं च) सत्य (अनृतं च) और असत्य (उभयम्) दोनों को (वदति) बोलता है (तस्मात्) उस कारण (हि) निश्चय (एषा) यह वाणी (पाप्मना) पाप से (विद्धा) गृहीत है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—भाव यह है कि बहुत लोग केवल वाणी से ओङ्कार आदि ब्रह्मनाम की आवृत्ति वा जप किया करते हैं और समझते हैं कि जप की संख्या जितनी होगी उतना ही कल्याण है और इसी जप से सन्तुष्ट होकर अन्य जिज्ञासा से निवृत्त हो जाते हैं । बहुत लोग तो केवल माला फेरने को ही धर्म्म समझते हैं परन्तु परम कल्याणकारिणी उपनिषद् इस बात को प्रतिषेध करती है । इस प्रकार के जप से कुछ भी लाभ नहीं । क्योंकि जिस वाणी से तुम जप करते हो वह तो सत्य और असत्य से मिश्रित है । ईश्वर केवल सत्य

इत्यादि पूर्ववत् । बृ० १ । ३ । २ ॥ अर्थ—देव वाणी से बोले कि हम लोगों के लिये तुम उद्गीथ का गान करो वाणी ने उनके लिये गाया । असुरों ने जान लिया । इत्यादि पूर्ववत् ॥

ही है। उस सत्य की प्राप्ति के लिये वाणी को प्रथम सत्य बनाओ। केवल वाणीमात्र से जप करने वाले भी बालकवत् ही हैं॥ ३॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च। पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ४॥

अथ। ह। चक्षुः। उद्गीथम्। उपासाञ्चक्रिरे। तत्। ह। असुराः। पाप्मना। विविधुः। तस्मात्। तेन। उभयम्। पश्यति। दर्शनीयम्। च। अदर्शनीयम्। च। पाप्मना। हि। एतत्। विद्धम्॥ ४॥

भाष्यम्—वागशुद्धिज्ञानानन्तरम्। निश्चयेन (चक्षुः) नेत्रम्। नेत्रगतकनीनिकामधिष्ठानीकृत्य (उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे) इत्यादि। सुगममन्यत्। नेत्रे यः पुरुषो दृश्यते तमेव लक्ष्यीकृत्य केपि उद्गीथमुपासते। तदपि न समुचितमिति शिक्षते॥ ४॥

अनुवाद—अनन्तर नेत्र को अधिष्ठान बना (वे देव) उद्गीथ की उपासना करने लगे। असुरों ने उसको भी पाप से विद्ध किया (जिस कारण) नेत्र के द्वारा दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को (जीवात्मा) देखता है इस कारण निश्चय यह भी पाप से युक्त है॥ ४॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर। वे देव (चक्षुः) नेत्रगत कनीनिका को अधिष्ठान मानकर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ह) यह बात प्रसिद्ध है। जिस कारण (तेन) उस नेत्र से (दर्शनीयञ्च) देखने योग्य (अदर्शनीयञ्च) नहीं देखने योग्य (उभयम्+पश्यति) दोनों को जीवात्मा देखता है (तस्मात्) उस कारण (पाप्मना) पाप से (हि) निश्चय (एतत्) यह नेत्र (विद्धम्) विद्ध अर्थात् गृहीत है॥ ४॥

भाष्याशयः—इस का भाव यह है कि बहुत लोग नेत्र के बीच जो बहुत छोटा छाया-पुरुष विदित होता है उसी को लक्ष्य कर उद्गीथ की उपासना करते हैं सो भी ठीक नहीं। इत्यादि॥ ४॥

---

(१) अथ ह चक्षुरूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति। तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्......तेविदुरनेनवै इत्यादि। अर्थ-देवों ने चक्षु को गाने के लिये कहा। चक्षु ने उनके लिये गान किया, परन्तु वे असुर जान गये। इत्यादि॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम्ँ ॥ ५ ॥

अथ । ह । श्रोत्रम् । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । तत् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयम् । शृणोति । श्रवणीयम् । च । अश्रवणीयम् । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—(अथ) चक्षुरशुद्धिज्ञानानन्तरम् (ह) प्रसिद्धाः देवाः (श्रोत्रम्) श्रोत्रे प्रतिक्षणमुत्पद्यमानं शब्दमधिष्ठानीकृत्य (उद्गीथम्) उद्गीथशब्दवाच्यं ब्रह्म (उपासाञ्चक्रिरे) भावयाम्बभूवुः (असुरा ह) देवचिकीर्षितं विदित्वा (तत्) श्रोत्रम् (पाप्मना) पापेन (विविधुः) विद्धवन्तः । इदमपि न ब्रह्मार्हस्थानमिति विघ्नं पाप्य देवा ज्ञातवन्तः । तथाहि (हि) यस्मात् (तेन) श्रोत्रेण (श्रवणीयञ्च) श्राव्यम् (अश्रवणीयञ्च) अश्राव्यञ्च एतत् (उभयम्) (शृणोति) मनुष्य आकर्णयति । तस्माज् ज्ञायते (एतत्) श्रोत्रमपि (पाप्मना) पापेन (विद्धम्) युक्तं श्रोत्र उत्पद्यमानं शब्दमेव ब्रह्मानुशासनं मन्यमानास्तमेवोपासते । तदप्यनुचितमिति ध्वन्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद—अनन्तर (वे देव) श्रोत्र में उत्पद्यमान शब्द को अधिष्ठान बनाकर उद्गीथशब्दवाच्य ब्रह्म की उपासना करने लगे । असुरों ने उसे भी विद्ध किया (जिस कारण) इस श्रोत्र के द्वारा श्राव्य और अश्राव्य दोनों प्रकार के शब्दों को मनुष्य सुनता है इससे ज्ञात होता है कि यह श्रोत्र भी पाप से युक्त है ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध देवगण (श्रोत्रम्) श्रोत्र के शब्द को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे । (असुराः) असुरगण ने (ह) निश्चय (तत्) उस श्रोत्र को (पाप्मना) पाप से (विविधुः) विद्ध किया (हि) क्योंकि (तेन) उस श्रोत्र से (श्रवणीयञ्च) सुनने योग्य (अश्रवणीयञ्च) नहीं सुनने योग्य (उभयम्) दोनों प्रकार के शब्दों को (शृणोति) जीवात्मा सुनता है (तस्मात्) उस कारण से ज्ञात होता है (एतत्) यह श्रोत्र (पाप्मना) पाप से (विद्धम्) युक्त है ॥ ५ ॥

(१) अथ श्रोत्रमूचुस्त्वन्न उद्गायेति पूर्ववत् ॥ बृ० १ । ३ । ५ ॥

भाष्याशयः—बहुत से अज्ञानी मनुष्य श्रोत्रोत्पन्न शब्द को ही ईश्वरवाणी समझ कर ध्यान करते हैं इसको भी इस मन्त्र के द्वारा उपनिषद् निषेध करती है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ सङ्कल्पयते सङ्कल्पनीयञ्चासङ्कल्पनीयञ्च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

अथ । ह । मनः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । तत् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयम् । सङ्कल्पयते । सङ्कल्पनीयम् । च । असङ्कल्पनीयम् । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—(अथ) श्रोत्राशुद्धिविज्ञानानन्तरम् (ह) प्रसिद्धा देवाः (मनः) मानसं हृदयम् । अधिष्ठानीकृत्य (उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे) उद्गीथं भावितवन्तः । एतद्देवचिकीर्षितं ज्ञात्वा (असुराः) असुरगणाः । दुष्टेन्द्रिय प्रवृत्तय इत्यर्थः (ह) निश्चितम् (तत्) मनः (पाप्मना) (विविधुः) पापेन विद्धवन्तः । ताडितवन्तः । इदमपि न ब्रह्मसपर्य्यार्हं स्थानमिति देवा ज्ञातवन्त इत्यर्थः (हि) यस्मात् (तेन) मनसा (सङ्कल्पनीयञ्च) सङ्कल्पयोग्यञ्च (असङ्कल्पनीयञ्च) असङ्कल्पयोग्यञ्च एतद् (उभयं सङ्कल्पयते) तस्माज् ज्ञायते (एतत्) मनः (पाप्मना विद्धम्) पापेन ताडितं युक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवाद—अनन्तर (वे प्रसिद्ध देवगण=शास्त्रीय इन्द्रियों की प्रवृत्तियां) मन को अधिष्ठान बनाकर उद्गीथ की उपासना करने लगे । निस्सन्देह, असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध किया (जिस कारण) उस मन के द्वारा सङ्कल्पयोग्य और असङ्कल्पयोग्य इन दोनों विषय का सङ्कल्प (जीवात्मा) करता है (इस से ज्ञात होता है कि) यह मन भी पापयुक्त है ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध देवगण (मनः) हृदय को अधिष्ठान बनाकर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ह) निस्सन्देह (असुराः) दुष्ट इन्द्रिय प्रवृत्तियों ने (तत्) उसे (पाप्मना) पाप से (विविधुः) विद्ध किया । अर्थात् यह भी ब्रह्म की पूजा के योग्य स्थान नहीं है यह देवों को ज्ञात हुआ (हि) क्योंकि (तेन) उस मन से (सङ्कल्पनीयञ्च) सङ्कल्प योग्य (असङ्कल्पनीयञ्च) और असङ्कल्प योग्य (उभयम्) दोनों विषयों का (सङ्कल्पयते) जीवात्मा

(१) अथ ह मन ऊचुस्त्वन्न उद्गायेति । इत्यादि बृ० १ । ३ । ६ ॥

ध्यान करता है (तस्मात्) उस से ज्ञात होता है (एतत्) यह मन (पाप्मना) पाप से (विद्धम्) ताडित=युक्त है ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—बहुतसे मनुष्य मन के द्वारा इन्द्रियों को वश करके केवल हृदय कमल में ही ईश्वर का ध्यान किया करते हैं इस को भी उपनिषद् निषेध करती है यद्यपि—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानोभूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" ॥ कठ० ४ । १२ ॥

शरीर के मध्य में अङ्गुष्ठमात्र पुरुष विद्यमान है, जो भूत, भविष्यत् का नियन्ता है उसे जानकर जीवात्मा क्लेशादि से निवृत्त हो जाता है । पुनः—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानोभूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" ॥ कठ० ४ । १३ ॥

जो धूमरहित अग्नि की ज्योति के सदृश अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान आदि का नियन्ता है वही सदा स्थिर रहने वाला एक रस सबों के हृदय में विद्यमान है । पुनः—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥ कठ० ६ । १७ ॥

अङ्गुष्ठ परिमाण वाला वह अन्तरात्मा पुरुष सदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट है इत्यादि अनेक प्रमाण से सिद्ध है कि हृदय में उस ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये । फिर आप कैसे कहते हैं कि हृदय में भी ध्यान करना ठीक नहीं । उत्तर—केवल हृदय में उपासना करने का उपनिषद् निषेध करती है क्योंकि ब्रह्म की व्यापकता के सर्वत्र विद्यमान रहने के कारण किसी एक ही स्थल में ब्रह्म की उपासना करनी सर्वथा अनुचित है । इस विषय को महर्षि व्यासजी ने निज वेदान्तसूत्र अध्याय १ । पाद ३ । सूत्र २६ में विस्पष्ट किया है ॥ ६ ॥

अथ ह य एवायं मुख्यःप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तꣳ हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत[१] ॥ ७ ॥

(१) अथ हेममासांन्यं प्राणमूचुस्त्वन्न उद्गायेति । तथेति तेभ्य एष प्राण उद्-

अथ। ह। यः। एव। अयम्। मुख्यः। प्राणः। तम्। उद्गीथम्। उपासाञ्चक्रिरे। तम्। ह। असुराः। ऋत्वा। विदध्वंसुः। यथा। अश्मानम्। आखणम्। ऋत्वा। विध्वंसेत॥ ७॥

भाष्यम्—(अथ) तत्तत्पूर्वोक्तस्थाने। ईश्वरसपर्यामनुचितामवलोक्य देवा अनन्तरं (य एवायं मुख्यः प्राणस्तमेव उद्गीथम्) मत्वा। उद्गीथपदवाच्यं ज्ञात्वा (उपासाञ्चक्रिरे) अत्र मुख्यपदं श्रेष्ठस्य वरणीयस्य प्राणवाच्यस्य ब्रह्मण एव विशेषणम्। प्राणपदेन च ब्रह्मलक्षणीयम्। नतु मुखेभवो मुख्यो मुखस्थित इतियावत्। न वा प्राणशब्देन वायुरत्र विवक्षितः। मुखस्थितप्राणस्यापि पूर्वोक्तदोषसंभवात्। मुख्यशब्दोत्र श्रेष्ठवाची। अत्र प्रमाणम्—

प्रधानमुत्तमं रम्यं श्रेष्ठं मुख्यमनुत्तमम्।

वरं वरेण्यं प्रमुखं परार्द्धं प्रवरं तथा॥ इतिकोशः॥

इत्येवं विधाः शब्दाः परस्परपर्यायाः। लोकेपि च श्रेष्ठार्थे प्रयुज्यते। प्राणः। सर्वाञ्जीवान् यः प्राणयति जीवयति आनन्दयति सः। तद्ब्रह्म एव। स उ प्राणस्य प्राण इति श्रुत्यन्तरात्। अयमितिपदं ब्रह्मणः सर्वत्र विद्यमानतां द्योतयत् सर्वैर्दृश्यमानत्वमिव निर्दिशति। यद्वा। मुख्यः प्राणोत्रात्मा। तमधिष्ठानीकृत्य। उद्गीथं ब्रह्मोपासाञ्चक्रिरे। यद्वा। जीवनहेतुकशरीरस्थितश्रेष्ठप्राणस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्। प्राणशब्दस्य प्रयोग उपमार्थोस्ति वा। यथास्य देहस्य स्थितिहेतुर्मुख्यः कोपि प्राणोस्ति तथैवास्य परितोविकाशमानस्य ब्रह्माण्डस्य गतिकारकः कोपि महान् प्राणो विद्यते। यः सम्पूर्णं प्राणयति जीवयति तद्ब्रह्मैव। लघुना शरीरदृष्टान्तेन महद्ब्रह्माण्डं लक्ष्यते। तेन जीवनहेतुत्वेन तदुपासीतेतिनिष्कृष्टार्थः। एतत्प्रकरणस्थानि सर्वाणि विशेषणानि प्रधानत्वेन ब्रह्मप्रतिपादयन्ति। अपहतपाप्मत्वम्। अङ्गिरोबृहस्पतिप्रभृतिभिर्ऋषिभिरुपास्यत्वं च तस्मिन्नेव सम्भवति।

(तम्) मुख्यं प्राणम् (ऋत्वा) प्राप्य (असुराः) दुष्टेन्द्रियवृत्तयः (विदध्वंसुः) विनष्टाः। यदा मनुष्या ईश्वरसान्निध्यमुपयन्ति। तदा सर्वानर्थाः प्रक्षीयन्ते। अत्र दृष्टान्तः (आखणम्) खनितुमशक्यः अखणः। अखण एव आखणः। भेदानर्ह इत्यर्थः। तम् (अश्मा-

---

गायत्। ते विदुरनेनवै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मना विध्यन्। स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंछसेतैवध्ध हैव विध्वध्ध समान विश्वञ्चो विनेशुः। बृ० १। ३। ७॥ इत्यादि। इसका अभिप्राय छान्दोग्य के समान है॥

नम्) प्रस्तरम् । (ऋत्वा) प्राप्य । सामर्थ्यात् लोष्टः पांशुपिण्डः इत्यध्याहारः । यथा (विध्वंसेत) विनश्येत विदीर्य्येत । तथैव ते विदध्वंसुरित्यर्थः ॥ ७ ॥

अनुवाद—जब शास्त्रीय इन्द्रिय प्राणों के प्राण जीवनहेतु सर्व श्रेष्ठ इस व्यापक ब्रह्म की उपासना करने लगे । तब दुष्ट इन्द्रिय वृत्तिएं प्राण के समीप आ नष्ट हो गईं । सो जैसे अछेद्य अभेद्य प्रस्तर के ऊपर गिरकर मिट्टी के पिण्ड छिन्न भिन्न होजाते हैं तद्वत् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (यः) जो (एव) ही (अयम्) यह (मुख्यः) श्रेष्ठ सर्वोत्तम (प्राणः) ईश्वर, जीवात्मा और शरीरस्थमुख्यप्राण है (तम्) उस ब्रह्म को लक्ष्य करके अथवा उस आत्मा को अधिष्ठान बना अथवा उस को जीवन हेतु समझ (उद्‌गीथम्) ब्रह्म की (उपासाञ्चक्रिरे) वे देव लोग उपासना करने लगे । (तम्) उस प्राण को (ऋत्वा) पाकर (ह) प्रसिद्ध (असुराः) दुष्ट इन्द्रिय प्रवृत्तिएं (विदध्वंसुः) छिन्न भिन्न हो गईं (यथा) जैसे (आखणम्) अभेद्य (अश्मानम्) प्रस्तर को (ऋत्वा) पाकर (विध्वंसेत) मिट्टी का पिण्ड छिन्न भिन्न हो जाय ॥ ७ ॥

भाष्याशयः—तत्तत् स्थानों में अशुद्धता के कारण ईश्वर की पूजा अनुचित समझ शरीरस्थित आत्मा को अधिष्ठान बना ईश्वर की उपासना से वे लोग विजयी हुए ।

मुख्यशब्दः—इन के ये अर्थ हैं—प्रधान, उत्तम, रम्य, श्रेष्ठ, मुख्य, अनुत्तम, वर, वरेण्य, प्रमुख, परार्द्ध, प्रवर इत्यादि । जो कोई "मुखसम्बन्धी जो वस्तु उसे मुख्य कहते हैं" ऐसा अर्थ करते हैं वे उपनिषद् के तात्पर्य को नहीं समझते । क्योंकि मुखस्थित प्राण में भी पूर्वोक्त दोष की विद्यमानता के कारण यह भी पापविद्ध है । क्या मुखस्थित और नासिकास्थित प्राण अर्थात् वायु वास्तविक में दो हैं ? यथार्थ में वे दोनों एक हैं । अतः मुखस्थित वायु अर्थ करना शङ्कराचार्यादिकों का अनुचित है । इसी खण्ड के द्वितीयमन्त्र की टिप्पणी देखो । लोक में भी मुख्यशब्दार्थ श्रेष्ठ ही लिया जाता है ।

प्राणशब्दः—यहां तीन अर्थों में मुख्यतया प्रयुक्त हुआ है । ब्रह्म, जीवात्मा और जीवन का हेतु शरीरस्थित प्राण । संस्कृत भाष्य देखो । यहां पर प्राण शब्द का प्रयोग उपमार्थ भी हुआ है । जैसे इस देह के स्थिति कारण कोई मुख्य प्राण है । वैसे ही इस परितोविकाशमान ब्रह्माण्ड का गतिकारण कोई महान् प्राण विद्यमान है । जो सम्पूर्ण में जीवनीशक्ति को देता हुआ भासित हो रहा है । इस लौकिक शरीर दृष्टान्त से महा

(१) प्र० ५ । खं० १ की समीक्षा में प्राण शब्द का व्याख्यान देखो ॥

ब्रह्माण्ड लक्ष्य है। इस कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवन हेतु गतिसंचारक उसे समझ उसकी उपासना करनी चाहिये। यह प्राण शब्द का निष्कृष्टार्थ है। किन्तु मुख्य अर्थ इसका ब्रह्म ही यहां है। क्योंकि प्रकरणस्थ समस्त विशेषण प्रधानत्वेन ब्रह्म का प्रतिपादन कर रहे हैं। अपहतपाप्मत्व, अङ्गिरा बृहस्पति प्रभृति महान् ऋषि कर्तृक उपास्यत्व आदि धर्म उसी में घट सकते हैं॥ ७॥

एवम्। यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते। य एवंविदि पापं कामयते। यश्चैनमभिदासति। स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

एवम्। यथा। अश्मानम्। आखणम्। ऋत्वा। विध्वंसते। एवम्। ह। एव। सः। विध्वंसते। यः। एवंविदि। पापम्। कामयते। यः। च। एनम्। अभिदासति। सः। एषः। अश्माखणः॥ ८॥

भाष्यम्-(एवम्) ईदृश्यां व्यवस्थायां सत्याम् (यथा) येनप्रकारेण (आखणम्) खनितुमशक्यम् (अश्मानम्) प्रस्तरम् (ऋत्वा) प्राप्य। पांशुपिण्डः (विध्वंसते) विनश्यति (एवं ह एव) तथैव (यः) पुरुषः (एवंविदि) उद्गीथस्यैतत्तात्पर्य्यस्य ज्ञातरि (पापं कामयते) पापं कर्त्तुमिच्छति (यश्च) पुनः (एनम्) ब्रह्मविदम् (अभिदासति) हिंसति (सः) ब्रह्मविदि पापचारी पुरुषः (विध्वंसते) विनश्यति। यतः। (स एषः) ब्रह्मवित् पुरुषः (अश्माखणः) अभेद्योऽच्छेद्यः प्रस्तर इव वर्त्तते। अधर्षणीय इति यावत्॥ ८॥

अनुवाद—इस प्रकार जैसे अभेद्य अच्छेद्य प्रस्तर के ऊपर फेंका हुआ मिट्टी का ढेला चूरचूर हो जाता है। वैसे ही वह (मनुष्य) विनष्ट हो जाता है जो प्राणवेत्ता में पाप (अमङ्गल) करने की कामना करता है और जो उसकी हिंसा करना चाहता है। (क्योंकि) सो यह (प्राणवेत्तायोगी) अश्माखण अर्थात् अभेद्य प्रस्तर (पत्थर) समान है इति॥ ८॥

पदार्थः-(एवम्) ऐसी व्यवस्था होने के कारण। अथवा इस प्रकार (यथा) जैसे (आखणम्) अभेद्य अच्छेद्य (अश्मानम्) प्रस्तर (ऋत्वा) पाकर मिट्टी का पिण्ड (विध्वंसते) नष्ट हो जाता (एवं हैव) वैसे ही (स विध्वंसते) वह मनुष्य नष्ट हो जाता है (यः) जो (एवंविदि) इस प्रकार जानने वाले ब्रह्मवेत्ता के सम्बन्ध में (पापं कामयते) पाप करना चाहता है (यः च) और जो (एनम्) इस ब्रह्मवादी को (अभिदासति)

अनिष्ट पहुंचाना चाहता है । क्योंकि (स एषः) वह यह ब्रह्मवादी (अश्माखणः) अच्छेद्य अखण्डनीय दृढ़तर शिला के सदृश है ॥ ८ ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवत्येतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥ ६ ॥

न । एव । एतेन । सुरभि । न । दुर्गन्धि । विजानाति । अपहतपाप्मा । हि । एषः । तेन । यत् । अश्नाति । यत् । पिबति । तेन । इतरान् । प्राणान् । अवति । एतम् । उ । एव । अन्ततः । अवित्वा । उत्क्रामति । व्याददाति । एव । अन्ततः । इति ॥ ९ ॥

भाष्यम्—मुख्यप्राणोपासनस्य फलमुक्त्वाधुना मुख्यप्राणोपासकस्य दुःखसंसर्गाभावमुपपादयति । नैवैतेनेत्यादिना (एतेन) मुख्येन प्राणेनेश्वरेण । सह वर्त्तमानो जीवात्मा (नैवसुरभि) नैवसुगन्धि (न दुर्गन्धि) न दुर्गन्धि वस्तुविजानाति । अत्र सुरभिदुर्गन्धिशब्दावुपलक्षणमात्रम् । सुखं दुःखञ्च शीतमुष्णञ्च मानमपमानञ्च सर्वं द्वन्द्वं नानुभवति । कथमित्थम् ? (हि) यतः (एषः) उपासकस्याभीष्टः प्राणाख्योदेवः (अपहतपाप्मा) अपहताः विनष्टाः पाप्मानः पापानि यस्य । सः । शुद्ध इत्यर्थः । उपास्यस्य प्राणशब्दाभिलप्यस्य ब्रह्मणो निरतिशयशुद्धत्वात् तदुपासकोपि तदुपासनेन पवित्री भवति । पवित्रत्वादुपासकस्य क्लेशाभावः । तदुपासकस्य सर्वं परार्थं दर्शयति (तेन) प्राणेन सहवर्त्तमानः । अयं जीवात्मा (यदश्नाति) यत्किमपि अत्ति । (यत्पिबति) यत् किमपि वस्तु पिबति (तेन इतरान् प्राणान्) अन्यान् प्राणिनो जीवान् (अवति) रक्षति ॥

अश्नातिपिबती अप्युपलक्षणम् । तेन ब्रह्मणो योगेन । अयमात्मा यत्किमपि स्वार्थमाचरति । तदपि परानुग्रहेच्छयैव । यथा बलं प्राप्य दुर्बलान् रक्षति । विद्यां लब्ध्वा परानुपदिशति । धनमासाद्य परोपकाराय वितरति । इत्यादि । तद्विपरीतं प्रति क्लेशं सूचयति (एतमु) एतमेव प्राणाराममेव (अन्ततः) अन्तावस्थायाम् । मरणावस्थापर्य्यन्तमपि (अवित्वा) अप्राप्य यदि (उत्क्रामति) देहं त्यक्त्वा व्रजति । तदा अन्ततः अन्तावस्थायाम् । (व्याददाति एव) सम्यङ्मया । अनेन शरीरेण नोपलब्धं ब्रह्म । अतः (अन्ततः) अन्तःकरणेन यथार्थभावेनेत्यर्थः । व्याददात्येव । मुखंनिस्फार्य्य निःश्वसिति एव । आत्मानं हतभाग्यं मन्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनुवाद—(जो प्राणवित्) उस ब्रह्म के योग के साथ वर्त्तमान रहता । वह सुख और दुःख का अनुभव नहीं करता । क्योंकि यह ब्रह्म परम शुद्ध है । वह योगी जो कुछ व्यापार करता है उस से दूसरे जीवों की रक्षा करता है । इसी ब्रह्म को अन्त अवस्था तक भी न पाकर जो मनुष्य यहां से प्रस्थान करता है वह मुख खोल कर यथार्थभाव से पछताता है ॥ ९ ॥

पदार्थः—(एतेन) इस ब्रह्म के साथ वर्त्तमान जो योगी वह (नवै) न तो (सुरभि) सुगन्धि=सुख को (न) और न (दुर्गन्धि) दुर्गन्धि=दुःख को (विजानाति) जानता है (हि) क्योंकि (एषः) यह मुख्य प्राण (अपहतपाप्मा) पापरहित=परमशुद्ध है (तेन) उसके द्वारा (यत्) जो (अश्नाति) खाता है (यत्) और जो (पिबति) पीता है (तेन) उस से (इतरान्) अन्य (प्राणान्) प्राणियों की (अवति) रक्षा करता है । (एतम् उ एव) निश्चय इसी ब्रह्म को (अन्ततः) अन्त समय तक भी (अवित्वा) न पाकर (उत्क्रामति) यदि शरीर का त्याग कर प्रस्थान करता है । तब (अन्ततः) अन्तःकरण से=यथार्थ हृदय से (व्याददाति एव) मुख खोल कर निःश्वास लेता है कि हाय अन्तवेला में भी ब्रह्म न मिले इस कारण वह पछताता है ॥ ९ ॥

भाष्याशयः—प्रथम ही कहचुके हैं कि मुख्य प्राणशब्द का अर्थ यहां ब्रह्म है । उक्त मन्त्र में ब्रह्मोपासन का फल निर्दिष्ट हुआ । अब मुख्य प्राणोपासक को दुःख संसर्गाभाव का उपपादन किया जाता है । जब यह योगी उस ब्रह्म के साथ योग करता है तब द्वन्द्व से छूट जाता है "सुरभि" और "दुर्गन्धि" शब्द के अर्थ यहां केवल सुगन्धि और दुर्गन्धि ही नही हैं किन्तु ये दोनों शब्द उपलक्षणमात्र हैं । अर्थात् सुगन्धि दुर्गन्धि के समान, सुख, दुःख, शीत, उष्ण, मान, अपमान आदि एतत् सदृश सकल द्वन्द्व का ग्रहण है । अर्थात् ब्रह्म के साथ जब मनुष्य का योग (सम्बन्ध) होता है तब जीवात्मा सुख दुःखादि को समान समझने लगता है ॥

ब्रह्मोपासक के सुख दुःख राहित्य में आगे कारण कहा जाता है "वह ब्रह्म अपहतपाप्मा है" जिस कारण उपासक के उपास्यदेव परमशुद्ध अपापविद्ध है । अतः संसर्ग गुण से उसके उपासक भी शुद्ध विशुद्ध हो जाते हैं । परन्तु शुद्ध वही होसकता है जो सुख दुःखादि द्वन्द्व से विनिर्मुक्त है । ब्रह्मोपासक की सकल कर्त्तव्यता की परार्थता सूचनार्थ आगे का प्रकरण कहा जाता है ॥

(अश्नाति) खाना (पिबति) पीना ये दोनों शब्द भी उपलक्षण हैं । अर्थात् ब्रह्मोपासक के सकल कर्त्तव्य परोपकार दृष्टि से किये जाते हैं । परोपदेशार्थ विद्या, अकिञ्चन जन को वितरणार्थ धनसञ्चय, दुर्वलोंको रक्षार्थ वल धारण इत्यादि । वे जो कुछ करते हैं उनका परार्थ अभिप्राय है । अन्तिम अंश से अब्रह्मविद्का पश्चात्तापादि शोकसूचित किया गया है ॥ ९ ॥

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

तम् । ह । अङ्गिराः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रे । एतम् । उ । एव । अङ्गिरसम् । मन्यन्ते । अङ्गानाम् । यत् । रसः ॥ १० ॥

भाष्यम्—(तम्) पूर्वोक्तम् । मुख्यम् । प्राणनामधेयं परमात्मानं लक्षीकृत्य । आत्मानमधिष्ठानीकृत्य वा (ह) इति ऐतिह्ये (अङ्गिराः) अङ्गिरोनामा ऋषिः (उद्गीथमुपासाञ्चक्रे) अङ्गिरः शब्दं व्युत्पादयति (अङ्गानाम्) अवयवानां प्राणिनां मध्ये इत्यर्थः (यद्रसः) योरसः । यो मुख्यः (एतमु) एतमेव (अङ्गिरसं मन्यन्ते) विद्वांसः । विदुषां वरिष्ठो ब्रह्मनिष्ठोऽखिलजीवेषु श्रेष्ठोऽङ्गिरा ऋषिरपि तम्प्राणारामुपास्तेस्म । आधुनिकैरस्माभिस्तु कल्याणाभिलाषिभिः सुतरां तद्ब्रह्म । अतिशयितमुपासनीयमिति सूचयति ॥ १० ॥

अनुवाद—उसी प्राणवाच्य ब्रह्म को लक्ष्य कर अथवा आत्मा को अधिष्ठान बना अङ्गिरा ऋषि भी उद्गीथ की उपासना किया करते थे । उसी को अङ्गिरा मानते हैं जो सकल प्राणियों में श्रेष्ठ हो[२] ॥ १० ॥

(१) सो यास्य अङ्गिरसोऽङ्गानाꣳहि रसः । प्राणो वा अङ्गानाꣳरसः । बृ० १ । ३ । १९ ॥

(२) कोई आचार्य १०–११–१२ वें मन्त्रों को १३ वें मन्त्र के साथ मिलाते हैं । अङ्गिरा, बृहस्पति और आयास्य इन तीनों शब्दों के परे "इति" शब्द का अध्याहार कर इन को कर्मकारक बनाते हैं और इन को प्राण के पर्याय वाचक ही समझते हैं ऋषियों के नाम नहीं । ऐसी संगति बैठाकर यह अर्थ करते हैं कि दाल्भ्य बक नाम ऋषि ने उस उद्गीथ को अङ्गिरा, बृहस्पति और आयास्य समझकर अर्थात् इन तीनों शब्दों के अर्थों से गम्यमान प्राण को मान उपासना की । इस के प्रताप से ऋषियों के भी उद्गाता हुए इत्यादि । शङ्कराचार्य कहते हैं कि यद्यपि "एतमु एवाऽङ्गिरसं बृहस्पतिमायास्यम्प्राणं मन्यन्ते" अर्थात् इसी प्राण को अङ्गिरा, बृहस्पति, आयास्य मानते हैं इस प्रमाण से अङ्गिरा आदि प्राण कहला सकते हैं ।

पदार्थः—(ह) यह शब्द इतिहास सूचक है (तम्) उस पूर्वोक्त प्राण नाम ईश्वर को लक्ष्य कर अथवा प्राणात्मा को अधिष्ठान मान (अङ्गिराः) अङ्गिरा नामक ऋषि

तथापि जहां मुख्य अर्थ की बाधा होय वहां गौण अर्थ करना ठीक है परन्तु अन्य श्रुति के द्वारा अङ्गिरा आदि ऋषि भी कहे गये हैं। इसलिये यहां मुख्य अर्थ भी घट सकता है। यदि यह कहा जाय कि फिर वे प्राण क्यों कहलाते हैं? इस का उत्तर यह है कि वे ऋषि जिस कारण प्राण की उपासना किया करते थे अतः अभेद ज्ञान के लिये प्राण ही के नाम से पुकारे गये। क्योंकि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव और अत्रि आदि वैदिक ऋषि भी श्रुति के द्वारा प्राण कहे गये हैं इस से प्राण के उपासक ऋषि भी प्राण कहलाये यह विदित होता है वैसा ही यहां पर भी जानना।

इस में ये भी प्रमाण हैं कि ऋषि शतर्ची कहलाते हैं। शतर्ची शब्द का यदि शब्दार्थ लिया जाय तो सौ ऋचाओं का जानने वाला ऐसा अर्थ होगा परन्तु यह इस का तात्पर्य नहीं है। ईश्वर की उपासना के द्वारा जिनका प्राण अर्थात् आयु सौ वर्ष हों उन्हें शतर्ची कहते हैं अर्थात् प्राण जो ब्रह्म उसकी उपासना से प्राण जो आयु उस के प्राप्त करने वाले शतर्ची अर्थात् शतवर्षजीवी ऋषि कहलाते हैं। यहां प्राण के दो अर्थ हैं। इसी प्रकार गृत्समद–निद्राकाल में वाक् आदियों के निगल जाने के कारण गृत्स नाम प्राण है। और रेत के विसर्ग और मद के हेतु होने से अपान नाम वायु मद कहलाता है। यह दोनों शब्द मिलकर गृत्समद होता है (वागादीनीन्द्रियाणि गृणातीतिगृत्सः मदयतीति मदः) ये संस्कृत व्युत्पत्ति है। विश्वामित्र–यहां मिद स्नेहने धातु से मित्र। विश्वनाम सम्पूर्ण जगत्। निवास के हेतु सम्पूर्ण जगत् स्नेह का पात्र बन रहा है। जिस के लिये वह विश्वामित्र नाम प्राण है। इसी प्रकार वामदेव आदि ऋषियों की भी सङ्गति लगती है। परन्तु इन व्याख्यानों से यह नहीं समझना चाहिये कि मनुष्य शरीरधारी वेद प्रचारकर्त्ता भारतवर्ष में नाना वंश प्रवर्त्तक विश्वामित्र आदि ऋषि कोई हुए ही नहीं। अन्यथा परम्परया वेदादियों के प्रचार की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इसलिये वे लोग देहधारी मनुष्य तो अवश्य ही हुए हैं। अतः वेद में ये नाम सब यौगिक और लोक में व्यक्ति विशेष अर्थ में योगरूढ़ मानने चाहियें॥

अब उपनिषद् के प्रसङ्ग में शरीरधारी ऋषियों की प्रतीति होती है। क्योंकि इतिहास और उदाहरण के द्वारा उपनिषद्कार का अभिप्राय यह है कि इसी प्राण की उपासना परम प्रसिद्ध वैदिक ऋषि अङ्गिरा आदि भी किया करते थे अतः हे शिष्यो! तुम्हें भी इसी प्राण की उपासना करनी चाहिये। इतिदिक्॥

(उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना किया करते थे । आगे अङ्गिरा शब्द की व्युत्पत्ति कही जाती है (अङ्गानाम्) अङ्गों के अर्थात् प्राणी समूहों के मध्य (यद्रसः) जो रस अर्थात् श्रेष्ठ है (एतम् उ) इसी को (एव) निश्चय (अङ्गिरसम्) अङ्गिरा (मन्यन्ते) विद्वान् लोग मानते हैं ॥ १० ॥

भाष्याशयः—जब परमविद्वान् और सकल जीवों में श्रेष्ठ अङ्गिरा ऋषि ने भी उस प्राणाराम ब्रह्म की उपासना की थी तब आधुनिक कल्याणाभिलाषी हम जीवों को तो उस की उपासना अवश्य करनी चाहिये ॥ १० ॥

तेन तꣳ ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एषः पतिः ॥ ११ ॥

तेन । तम् । ह । बृहस्पतिः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रे । एतम् । उ । एव । बृहस्पतिम् । मन्यन्ते । वाग् । हि । बृहती । तस्याः । एषः । पतिः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—(तेन) तेन हेतुना (तं ह) पूर्वोक्तम् । प्राणमात्मानमधिष्ठानीकृत्य । ब्रह्म वा लक्षीकृत्य (बृहस्पतिः) बृहस्पतिनामा ऋषिः (उद्गीथमुपासाञ्चक्रे) बृहस्पतिशब्दव्युत्पत्तिः— (हि) यतः (वाग्) वाणी एव (बृहती) बृहतीशब्दवाच्या वागित्यर्थः (तस्याः) वाचः (एषः) अयमृषिः (पतिरस्ति) अतः (एतम् उएव) एतमेव बृहस्पतिं मन्यन्ते । बृहत्पतिशब्दाभ्यां बृहस्पतिशब्दस्य सिद्धिः । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्चेत्यप्यनुसन्धेयम् । तत्र बृहच्छब्देन वेदवाणी गृह्यते । पतिरधिपतौ स्वामिनि वा । अत्र यः खलु वेदवाण्या अधिपतिः । स एव बृहस्पतिः । स तदधिपतित्वाद् बृहस्पतिरित्यन्वर्थां संज्ञां भेजे ॥ ११ ॥

अनुवादः—उसी हेतु उस ब्रह्म को (लक्ष्य करके) वा आत्मा को अधिष्ठान बना बृहस्पति नामा ऋषि उद्गीथ की उपासना किया करते थे । इसी को बृहस्पति कहते हैं जो वाणी के अधिपति हो ॥ ११ ॥

पदार्थः—(तेन) उसी हेतु (तं) उस ब्रह्म को लक्ष्य करके वा आत्मा को अधिष्ठान बना (बृहस्पतिः) बृहस्पति नाम के ऋषि (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना किया करते थे (ह) यह बात प्रसिद्ध है । आगे बृहस्पति शब्द का अर्थ दिखलाया जाता है (हि) क्योंकि (वाग्) वचन को (बृहती) बृहती कहते हैं (तस्याः)

(१) एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः। बृ० १।३।२०॥

उस वाणी का (एषः) यह ऋषि (पतिः) पति है। इस कारण ('एतम् उ एव) इसी को (बृहस्पतिम्) बृहस्पति (मन्यन्ते) विद्वान् लोग मानते हैं अर्थात् बृहत्+पति इन दो शब्दों से बृहस्पति बनता है। बृहत् वा बृहती नाम वाणी का है। पति नाम स्वामी का। वेद वाणी का अधिपति महान् वैदिक विद्वान् होने के कारण बृहस्पति उनका नाम भी अन्वर्थ ही है इति ॥ ११ ॥

तेन तᳬंहायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्यायदयते ॥ १२ ॥

तेन। तम्। ह। आ (अ) यास्यः। उद्गीथम्। उपासाञ्चक्रे। एतम्। उ। एव। आयास्यम्। मन्यन्ते। आस्यात्। यत्। अयते ॥ १२ ॥

भाष्यम्—(तेन) तेनैव हेतुना (तम्) प्राणपदवाच्यमीश्वरं लक्षीकृत्य। उत। प्राणमात्मानमधिष्ठानीकृत्य (आयास्यः)' आयास्यनामा कश्चिदृषिः (उद्गीथमुपासाञ्चक्रे) आयास्यशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति (यत्) यः (आस्यात्) आस्येमुखेभव आस्यः। मुख्यः। मुख्यः प्राणः। प्राणयितृ ब्रह्म इत्यर्थः। तस्मात्। अत्र ल्यप् लोपे पञ्चमी। तम्। आस्यं मुख्यम्। प्राणाभिधेयमीश्वरं 'विदित्वा इति यावत् (अयते) अन्तर्भावितण्यर्थः। अयते। आययति। अवगमयति यः स आयास्यः। यो मुख्यं प्राणं स्वयं विदित्वाथ जिज्ञासूनवबोधयति स आयास्यनामा ऋषिर्भवति। यत्त्वाह। आस्यान् मुखाद्। अयते गच्छति स अयास्य इति। तन्न संगतम्। नही मनुष्यो मुखाद् बहिर्गन्तुं शक्नोति। उत्पद्यते वा ॥१२॥

अनुवादः—उसी हेतु उस ब्रह्म को (लक्ष्य कर) वा आत्मा को अधिष्ठान बना आयास्य नाम के ऋषि उद्गीथ की उपासना किया करते थे। आयास्य उसी को कहते हैं जो स्वयं ब्रह्म को जान अन्य को जनावे ॥ १२ ॥

पदार्थः—(तेन) उसी हेतु (तम् ह) निश्चय उस ब्रह्म को लक्ष्य करके वा उस आत्मा को अधिष्ठान मान (आयास्यः) आयास्य नामा ऋषि (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना करते थे। आगे आयास्य शब्द की व्युत्पत्ति कहते हैं (एतम् उ एव) निश्चय इसी को (आयास्यम्) आयास्य (मन्यन्ते) मानते हैं (यत्) जो (आस्यात्) मुख्य प्राणाराम ब्रह्म को जानकर (अयते) दूसरे को बोध करवाता है ॥१२॥

भाष्याशयः—"आयास्य" यह "आस्य+आय" इन दो शब्दों के योग से बना है। आस्य नाम मुख। आस्य सम्बन्धी वस्तु को भी आस्य कहते हैं। अब जैसे मुख से मुख्य

बनने के हेतु मुख्य का अर्थ केवल मुख सम्बन्धी ही नहीं होता । किन्तु अपने अर्थ को त्याग श्रेष्ठ आदि अर्थ में भी वरतता है । वैसे ही यहां आस्य शब्द का अर्थ केवल मुख सम्बन्धी नहीं । किन्तु श्रेष्ठ आदि जानना । परन्तु सर्व श्रेष्ठ ईश्वर है । अतः आस्य पद से यहां ईश्वर का ग्रहण हुआ है । और "आय" शब्द का अर्थ "बोधयिता" बोध कराने वाला है । अतः यह सिद्ध हुआ कि जो ईश्वर का बोध करावे उसे आयास्य कहना चाहिये। एवम् (आस्यात्) इस पद में पञ्चमी विभक्ति ल्यप् लोप अर्थ में जाननी । जो कोई आस्य शब्द का अर्थ केवल मुख कर "मुख से निकलने वाले को अयास्य कहते हैं" सो ठीक नहीं । क्योंकि मुख से न तो कोई मनुष्य निकल सकता न उत्पन्न हो सक्ता । आस्य और मुख्य शब्द एक पर्य्याय वाचक होने से आस्य शब्द का अर्थ मुख्य ही करना चाहिये । इति दिक् ॥ १२ ॥

तेन तꣳ वको दाल्भ्यो विदाञ्चकार स ह नैमिशीयाणा-मुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

तेन । तम् । वकः । दाल्भ्यः । विदाञ्चकार । सः । ह । नैमि (शी) षीयाणाम् । उद्गाता । बभूव । सः । ह । स्म । एभ्यः । कामान् । आगायति ॥१३॥

भाष्यम्—(तेन) प्राणोपासनहेतुना । आधुनिकानां मध्ये (तम्) उद्गीथम् (ह) ऐतिह्ये (दाल्भ्यः) दल्भ्यस्यर्षेरपत्यम् (वकः) वक नामतः (विदाञ्चकार) विज्ञातवान् । स वकनामा ऋषिः (नैमिषीयाणाम्) नैमिषारण्यनिवासिनां परमप्रसिद्धानां सत्रमुपासीना-नामृषीणाम् (उद्गाता) एतन्नामक ऋत्विक् बभूव (सः) एभ्यो मुनिभ्यो निमित्ताय (कामान्) अभिलषितान् मनोरथान् (आगायतिस्म) ब्रह्मगानप्रभावेण आपूरयतिस्म इति यावत् । हेतिप्रसिद्धम् । न केवलं चिरंतना एव ऋषयस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । इदानीन्त-नोप्युपासितवान् । उपास्य चान्येषामृषीणां कामानां पूरयितापि बभूव ॥ १३ ॥

अनुवादः—इसी प्रकार प्राणोपासना हेतु उस ब्रह्म को दाल्भ्यवकनामा ऋषि ने जाना । वे नैमिषारण्य निवासी ऋषियों के उद्गाता हुए और उन के अभीष्ट पूर्ण किये यह प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

पदार्थः—(तेन) उसी प्राणोपासना से (तम्) उस उद्गीथ को (दाल्भ्यः) दल्भ्य नाम ऋषि के पुत्र (वकः) वक नामा ऋषि ने (विदाञ्चकार) जाना (सह) वे प्रसिद्ध ऋषि

(१) नैमिशीयानामिति क्वचित्पाठः ।

(नैमिषीयाणाम्) नैमिषारण्य निवासी परमप्रसिद्ध और यज्ञ करने की इच्छा करने वाले ऋषियों के (उद्गाता) उद्गाता नाम के ऋत्विक् (बभूव) हुए। (सः) वे (एभ्यः) इन के लिये (कामान्) मनोरथों को (आगायतिस्म) गाया करते थे अर्थात् उनके मनोरथ को पूर्ण किया करते थे (ह) यह बात प्रसिद्ध है॥ १३॥

भाष्याशयः—पूर्व तीन उदाहरण प्राचीन ऋषियों के दिये गये। यह चतुर्थ उदाहरण उस समय का है जिस समय उपनिषद् लिखी गई। उस काल में यह आधुनिक उदाहरण था। ये वक नाम ऋषि केवल उनके उद्गाता ही नहीं किन्तु उनके कामों के पूरक भी हुए॥ १३॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम्॥ १४॥

आगाता। ह। वै। कामानाम्। भवति। यः। एतद्। एवम्। विद्वान्। अक्षरम्। उद्गीथम्। उपास्ते। इति। अध्यात्मम्॥ १४॥

भाष्यम्—फलं निर्दिशति—स पुरुषः (कामानाम्) मनोरथानाम्। (ह वै) निश्चयेन (आगाता) गायकः पूरको भवति (यः) पुरुषः (एतदक्षरमुद्गीथम्) (एवम्) पूर्वोक्तगुणविशिष्टम् (विद्वान्) जानन् सन् (उपास्ते) इति अध्यात्मम्। आत्मनिविषयोपासनमिति यावत्॥ १४॥

अनुवादः—निश्चय वह ब्रह्मवित् कामनाओं का पूरक होता है। जो इस अविनश्वर उद्गीथ की ऐसे जानता हुआ उपासना करता है। इति अध्यात्मम्॥ १४॥

पदार्थः—वह ब्रह्मवित् (कामानाम्) मनोरथों का (ह वै) निश्चय (आगाता) आगायक=पूरक (भवति) होता है (यः) जो (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनश्वर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपास्ते) उपासना करता है। (इति अध्यात्मम्) यह उपासना आध्यात्मिक उपमा के साथ समाप्त हुई॥ १४॥

असुर शब्द की समीक्षा (२)

वेदों में असुर शब्द ईश्वर, सूर्य, वायु, मेघ, पुरोहित, दुष्ट आदिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है केवल दुष्ट अर्थ में ही रूढ़ नहीं हुआ था। कई एक उदाहरण वेदों से दिखलाये जाते हैं:—

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य-राज्ञः ॥ अथर्व० १ । १० । १ ॥

अर्थः–(देवानाम्) इन्द्रादीनां मध्ये (असुरः) क्षेप्ता पापिनां निग्रहीता । "असु क्षेपणे असे रुन् इति उरन् प्रत्ययः" ईदृश अयं वरुणो (विराजति) विशेषेण दीप्यते । इत्यादि सायणः ॥

(अयम्) ये वरुण देव (देवानाम्) इन्द्रादि देवों के मध्य (असुरः) पापियों के निग्रह करने वाले (विराजति) शोभित होते हैं । यह सायणाचार्य का अर्थ है । यहां असुर शब्द वरुणदेव का विशेषण है । वरुण=ईश्वर ॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँजात्वर्वाङ् । अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ यजु० ३४ । २६ ॥

इस मन्त्र में आये हुए असुर शब्द का अर्थ इस प्रकार महीधर करते हैं (कीदृशोदेवः) वह सूर्यदेव कैसा है (असुरः=असून्प्राणान्राति ददातीत्यसुरः) असु जो प्राण उन को देने वाले । अर्थात् प्राण के देने वाले सूर्य, यहां असुर शब्द सूर्य का विशेषण है ॥

श्रीमदाचार्य (दयानन्द सरस्वती) अर्थ करते हैं (असुरः) असून्प्राणान्राति ददात्यसुरः अविद्यमानरूपगुणो वा सोऽसुरो वायुः । प्राण को जो दे उसे असुर कहते हैं । यहां असुर शब्द वायु के अर्थ में आया है ॥

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः । ऋग् मण्डल १ । सू० ३५ । मं० ७ ॥

इस मन्त्र में आये हुए असुर शब्द का अर्थ स्वामी जी ऐसा करते हैं (असुरः=सर्वेभ्यः प्राणदः सूर्योदयेमृता इवोत्तिष्ठन्तीत्यतः । असुषु प्राणेषु रमते वा) अर्थ–सब के प्राण देने वाला । क्योंकि सूर्योदय होने पर प्राणी मृतवत् उठते हैं । अथवा प्राण में जो रमित हो उसे असुर कहते हैं । यहां असुर शब्द ईश्वर और आदित्य अर्थ में है । सायण आदिक भी ऐसा ही अर्थ करते हैं ॥

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षतिहर्यतो हृत्तं इष्यति ।

.................असुरो वेपते मती। अथर्व० १८। १। २३॥

सायणाचार्य असुर शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं (असुरः बलवान् अग्निः) बलवान् अग्नि को यहां असुर कहा है। इस प्रकार असुर शब्द प्राचीनकाल में केवल दुष्टार्थक नहीं था। असुर शब्द निघण्टु में मेघवाचक आया है (१।१०) प्राचीनकाल में एक छन्द का नाम भी आसुरी था। सांख्य के कर्त्ता एक ऋषि भी आसुरि हुए हैं। अब वहां विचार उपस्थित होता है कि असुर शब्द केवल दुष्ट अर्थ में कब से प्रत्युक्त होने लगा। इतिहास के अन्वेषण से प्रतीत होता है कि किसी समय भारतवर्षीय आर्यों में धर्मार्थ महान् युद्ध उपस्थित हुआ। उस में दो दल हुए। एक दल कहा करता था कि "सुरा" पान करना उचित नहीं। दूसरा दल उस को उचित ठहराता था। जो दल सुरा पीना अनुचित समझता था वह असुर कहलाने लगा, क्योंकि (न विद्यते सुरा अस्येत्यसुरः) जो सुरापान न करे उसे असुर कहते हैं और जो मद्यपान करने लगा वह देवनामसे प्रसिद्ध हुआ। अथवा जो युद्ध में परम निपुण हुए वे असुर। क्योंकि (असुक्षेपणे) जो अस्त्र शस्त्र को अच्छी तरह से चलावें। इन दोनों दलों में इस प्रकार विरोध हुआ कि एक दूसरे को बुरी दृष्टि से देखने लगे। और ये दोनों नाम, एक दूसरे के यहां निन्दित होगये। जो असुर दल था उसकी संख्या कम होने के कारण यहां से कहीं पश्चिम की ओर चला गया। आज कल उनमें से एक दल पारसीक (पारसी) नामसे प्रसिद्ध है। इनके यहां असुर शब्द उत्तम अर्थ में आता है और देव शब्द निन्दित अर्थ में। जैसे यहां देव शब्द उत्तम अर्थ में, असुर शब्द निन्दित अर्थ में। यहां के इतिहास से भी यह देवासुर संग्राम आपस का और धर्मार्थ ही प्रतीत होता है क्योंकि कश्यप के ही असुर और देव दोनों पुत्र थे। और कोशादि से भी मालूम होता है कि असुरगण भी प्रथम देव ही थे पीछे असुर हुए। क्योंकि असुरों का नाम "पूर्वदेव" है। तब ही से असुर और देवों का संग्राम प्रसिद्ध हुआ।

आलङ्कारिक अर्थ।

परन्तु ब्राह्मण और उपनिषदादि ग्रन्थों में देवासुर संग्राम आलङ्कारिक अर्थ में आया है और प्रजापति के लड़के ये दोनों माने गये हैं। यथाः—

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे।

शतपथ कां० १ अ० २ ब्रा० २ प्र० १॥

देवाश्च ह वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । एतस्मिन्यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यति अस्माकमयं भविष्यतीति ॥ शतपथ कां० १ । अ० ६ । ब्रा० ३ । प्र० ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में केवल आलङ्कारिक अर्थ है ।

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः ॥ बृ० उ० ५ । २ । १ ॥

प्रजापति के पुत्र देव, मनुष्य, असुर ये तीनों ब्रह्मचर्य करने को पिता प्रजापति के निकट गये ।

असुर शब्द की व्युत्पत्ति—"असून्प्राणान्राति ददातीत्यसुरः । असवः प्राणाः तेन आपो लक्ष्यन्ते । असव आपः सन्त्यस्येत्यसुरो मेघः । असुषु प्राणेषु रमते इत्यसुरः । न सुरा विद्यत अस्येत्यसुरः" । अर्थ–असु प्राण को जो देवे उसे असुर कहते हैं (असु+रा धातु से असुर) असु जल, सो है जिस को उसे असु कहते हैं (यहां असु शब्द से मत्वर्थी र प्रत्यय हुआ है) असु प्राण में जो रमित हो उसे असुर कहते हैं । (यहां असु पूर्वक रम् धातु से असुर बना है) इत्यादि व्युत्पत्तिएं प्राचीन काल में थीं । पश्चात् यह अर्थ हुआ (न-सुरा विद्यते अस्य) जो सुरा मद्य से रहित हो । "असु क्षेपणे" आदि धातु से भी इसकी सिद्धि होती है । आश्चर्य यह है कि किसी समय जिसका अर्थ प्राणदाता था । उस का अर्थ प्राणहर्त्ता होगया कैसा शब्दों का अर्थ परिवर्त्तित होता है । यह इतिहास का विषय है आध्यात्मिक विद्या से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं इस हेतु किञ्चित् मात्र यहां दिखला दियागया ॥

इति प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥

अवतरणिका (१)

(अध्यात्माधिदैवते)

छान्दोग्ये—मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवति । अध्यात्मञ्चाधिदैवतम् ॥ ३ । १८ । १ ॥ (१)

पुनः—वायुर्वाव संवर्ग इत्यारभ्य·······यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापयन्ति । वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ ४ । ३ । २ ॥ (२) अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति । प्राणं चक्षुः । प्राणं श्रोत्रम् । प्राणं मनः । प्राणोह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ ४ । ३ । ३ ॥ (३)

बृहदारण्यके—यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरम् । यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ ३ । ७ । १४ ॥ (४)

भाषा—छान्दोग्य में लिखा है (मनो ब्र०) मन में ब्रह्म विभूति का अध्ययन करे । यद्वा । मन को बड़ा समझ मानसिक विद्या का अध्ययन करे । यह अध्यात्म । अब अधिदैवत कहते हैं:—

आकाश में ब्रह्मविद्या की महिमा का अध्ययन करे । यद्वा । आकाश को बृहत् मान आकाशीय विज्ञान का विचार करे । इन अध्यात्म और अधिदैवत दोनों उपासनाओं का उपदेश होता है । (१) पुनः (वायुर्वाव) वायु ही संवर्ग है इत्यादि आरंभ करके आगे कहते हैं जल जो सूखता है वह वायु में ही लीन होता है । क्योंकि वायु ही इन सब पदार्थों को अपने में अन्तर्लीन करता है । यह अधिदैवत है (२) इस के पश्चात् अध्यात्म अलंकार कहा जाता है । प्राण ही संवर्ग है । पुरुष जब सोता है तब वाणी प्राण में ही लीन होती है और चक्षु श्रोत्र मन भी प्राण में ही लीन होते हैं । क्योंकि प्राण ही इन सबों को अपने में अन्तर्लीन करता है ॥ (३)

बृहदारण्यक में लिखा है (यस्तेजसि०) जो तेज में रहता हुआ तेज के अभ्यन्तर में वर्त्तमान है जिस को तेज नहीं जानता जिस का तेज शरीर है । जो अन्तर्गत होकर तेज का शासन करता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृतरूप है । यह अधिदैवत है, इस के अनन्तर अधिभूत कहा जाता है (४):—

बृहदारण्यके—यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणिभूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् । यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्य्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥ (५)

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरम् । यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥ (२ । ७) (६)

केनोपनिषदि—तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३इतीन्न्यमीमिषदा३इत्यधिदैवतम् ॥२९॥ (७) अथाध्यात्मम् । यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ३० ॥ (८)

इत्थमुपनिषदां बहुषु स्थलेषु अध्यात्ममधिदैवतं चोपासने प्रदर्शिते । एतयोः सरलेप्यभिप्राये कञ्चित् विशेषं समालोचयितुमुपक्रमामहे । तथाहि । एकं सर्वस्य स्वं स्वं शरीरमस्ति । यस्याभिमानी सर्वोस्ति । द्वितीयं शरीराद् भिन्नं बाह्यं जगदस्ति । यस्मिन्नग्निर्वायुः सूर्यः । पृथिव्यन्तरिक्षं द्युलोकम् । वर्षम् । ऋतवः । मासाः । इत्येवमसंख्येयानि वस्तूनि प्रतिभान्ति ।

जो सब प्राणियों में रहता हुआ सब प्राणियों में व्यापक है, जिसको सब प्राणी नहीं जानते, जिसका शरीर प्राणी है, जो अन्तर्गत होकर सब प्राणियों का शासन करता है । वह तेरा (परम) आत्मा अन्तर्यामी अमृतरूप है । यह अधिभूत है । अब अध्यात्म कहते हैं । (५) जो प्राण में रहता हुआ प्राण में व्यापक है, जिस को प्राण नहीं जानता जिसका शरीर प्राण है जो अन्तर्गत होकर प्राण का शासन करता है वह तेरा परम आत्मा अन्तर्यामी अमृतरूप है । (६) उसका यह आदेश है जो यह विद्युत् समान प्रकाशित हुआ और पुनः तिरोभूत हुआ, यह अधिदैवत है ॥ (७) अब अध्यात्म कहा जाता है जिस को मानो मन प्राप्त करता है और इस को प्रतिक्षण सङ्कल्प मन के द्वारा ही स्मरण करता है (८) केन उ० ॥

इस प्रकार उपनिषदों के बहुत स्थानों में अध्यात्म और अधिदैवत रीति से उपासनाएं दिखलाई गई हैं । इन के अभिप्राय सरल होने पर भी किंचित् विशेष वस्तु की समालोचना के लिये इस को प्रस्तुत करते हैं । जैसे कि सब का एक अपना २ शरीर होता है जिसका अभिमानी सब कोई है जिस में वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, आदि हैं और दूसरा शरीर से भिन्न यह बाह्य जगत् है । जिस में अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, वर्ष, ऋतु, मास इत्यादि असंख्येय वस्तु चारों तरफ भासित होते हैं । दोनों

उभयत्र ब्रह्मसत्ता साम्येनस्थितास्ति । तत्रेदं विचार्य्यते । उपासनाद्वयेन कोभिप्रायोस्ति । मनो ब्रह्मेत्युपासीत । आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः । स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते । इत्यादि स्थलेषु मनो ब्रह्म विदित्वा । आदित्यं ब्रह्म ज्ञात्वा च । मनस आदित्यस्य चोपासनं कर्त्तव्यम् । उत । मनसि आदित्ये चाधिष्ठाने ब्रह्मण उपासनम् । उत । केवलं तयोर्मध्ये ब्रह्मविभूतिविज्ञान-रूपमेवोपासनं विधेयम् । अस्यांविचिकित्सायाम् । मन आदित्यञ्च ब्रह्म विदित्वा तयोरेवो-पासनं विधेयमित्येव प्राप्नोति । कथम् । मनोब्रह्म । आदित्यो ब्रह्म इत्यत्रोभयत्र प्रथमा विभ-क्तिर्दृश्यते । मनो ब्रह्मास्ति । आदित्यो ब्रह्मास्ति । इत्येवार्थः प्रतीयते । मनो ब्रह्मास्ति । आदित्यो ब्रह्मास्तीति तयोरुपासनं विधेयम् । उत्तरम् । यद्येष आशयः स्यात्तर्हि बहूनि ब्रह्माणि भविष्यन्ति । तथाहि ।

येऽन्नं ब्रह्मोपासते । ये प्राणं ब्रह्मोपासते । तैत्तिरीये ।

यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते । यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते । यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते । यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते । यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते । यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते । यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते । यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते ।

में ही ब्रह्मसत्ता समरूप से स्थित है । वहां ऐसा विचार किया जाता है । दो प्रकार की उपासनाशैली से क्या अभिप्राय है ? (मनोब्रह्म०) इत्यादि स्थलों में मन वा इन्द्रियों को ब्रह्म मान और आदित्य को ब्रह्म जान मन और आदित्य की उपासना करे, अथवा मन और आदित्यरूप अधिष्ठान में ब्रह्म की उपासना करे, अथवा केवल इन दोनों के मध्य ब्रह्मविभूति विज्ञानरूप ही उपासना करे । क्या अभिप्राय है ? इस संशय से प्रतीत होता है कि मन और आदित्य को ब्रह्म समझकर दोनों की उपासना करनी चाहिये ऐसा ही प्राप्त होता है । क्यों ? (मनोब्रह्म०) (आदित्यो ब्रह्म०) इन दोनों में प्रथमा विभक्ति देख पड़ती है । मन ब्रह्म है आदित्य ब्रह्म है, ऐसा ही अर्थ प्रतीत होता है । इसलिये मन ब्रह्म है, आदित्य ब्रह्म है ऐसा जान उन दोनों की उपासना करनी चाहिये । एवं ईदृग् स्थलों में ऐसा ही अर्थ उपनिषद् का प्रतीत होता है । उत्तर—यदि यह आशय है तो बहुत ब्रह्म होंगे जैसे (येऽन्नं०) जो अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं । जो प्राण ब्रह्म की उपासना करते हैं ॥ तैत्ति० ॥

जो नाम की ब्रह्म मान उपासना करता है । जो वाणी की ब्रह्म मान उपासना है ।
जो मन की ब्रह्म मान उ० । जो सङ्कल्प की ब्रह्म मान उ० । जो चित्त की ब्रह्म मान उ० ।
जो ध्यान की ब्रह्म मान उ० । जो विज्ञान की ब्रह्म मान उ० । जो बल की ब्रह्म मान उ० ।

योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते। योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते। यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते। य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते। (छान्दोग्योप०)

इत्थमन्नादीनामपि ब्रह्मत्वं सेत्स्यति। एवं हि वेदान्तसिद्धान्तो व्याहन्येत। अतो विभक्तिसामानाधिकरण्येन न श्रुतिवाक्यानि कदर्थयितव्यानि।

तर्हिमनस्यादित्ये चाधिष्ठाने ब्रह्मण उपासनं विधेयमिति द्वितीयोऽर्थ एव गृह्यताम्। एतदपि विरुद्धम्। तथाहि—

(१) औपमन्यव! कं त्वमात्मानमुपास्से। इति। दिवमेव भगवो राजन्निति। होवाच। १॥

.... । मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच। मूर्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मांनागमिष्य इति। २॥

जो अन्न को ब्रह्म मान उ०। जो जल को ब्रह्म मान उ०। जो तेज को ब्रह्म मान उ०। जो आकाश को ब्रह्म मान उपासना करता है॥ छां० ७॥

इस प्रकार अन्नादियों का भी ब्रह्मत्व सिद्ध होगा। ऐसा होने से वेदान्त सिद्धान्त की हानि होगी। इसलिये एक विभक्ति होने के कारण श्रुतिवाक्यों के अर्थ गर्हित नहीं करने चाहिये।

आगे स्थान २ पर विस्तारपूर्वक इन सबों का विचार होगा। तब ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि मन और आदित्य रूप अधिष्ठान में ब्रह्म की उपासना करे। इस द्वितीय अर्थ का ग्रहण करना ठीक है?, उत्तर—नहीं यह भी विरुद्ध है। क्योंकि आगे के संवाद से यह विस्फुट होगा कि अधिष्ठान विशेष में भी ब्रह्म की उपासना करनी उचित नहीं। जैसे—एक समय प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जनशार्कराक्ष्य और बुडिल आश्वतराश्वि ये पांचों महाश्रोत्रिय उद्दालक महर्षि के निकट वैश्वानर आत्मा (परब्रह्म) के विषय में विशेष जिज्ञासार्थ पहुंचे। परन्तु उद्दालक ऋषि स्वयं इन महाश्रोत्रियों की सब शङ्का मिटाने में अपने को असमर्थ पा सब कोई मिल कैकेयाधिपति अश्वपति महाराज के समीप आये। यथाविधि यथोचित सत्कार कर इनके मानसिक भाव को जान महाराज ने एक २ से एक २ प्रश्न करना आरम्भ किया वह यह है जैसे:—

(१) हे औपमन्यव! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?, हे भगवन् राजन् दिव (द्यु लोक) की ही यह उत्तर दिया। १।

महाराज बोले। आत्मा का यह तो मूर्धा समान है। आप के मूर्धा का पतन हो जाता यदि मेरे निकट नहीं आते। २।

(२) प्राचीनयोग्य ! कं त्वमात्मानमुपास्से। इति। आदित्यमेव भगवो राजन्निति। होवाच। १।
...........। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाच। अन्धोऽभविष्यद्यन्मा नागमिष्य इति। २॥
(३) वैयाघ्रपद्य ! कं त्वमात्मानमुपास्से। इति। वायुमेव भगवो राजन्निति। होवाच। १।
प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मानागमिष्य इति। २।
(४) शार्कराक्ष्य ! कं त्वमात्मानमुपास्से। इति। आकाशमेव भगवो राजन्निति। होवाच। १।
.... । सन्देहस्त्वेष आत्मन इति होवाच। सन्देहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति। २। इत्यादि छान्दोग्ये। ५। १२–१५॥
(५) स होवाच गार्ग्यो य एवासौ आदित्ये पुरुषः। एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति।
स होवाचाजातशत्रुर्मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति। ....

---

(२) हे प्राचीनयोग्य ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ? हे भगवन् राजन् आदित्य की ही, यह उत्तर दिया। १।

महाराज बोले। आत्मा का यह तो नेत्र समान है। आपका नेत्र अन्ध हो जाता, यदि मेरे निकट नहीं आते। २।

(३) वैयाघ्रपद्य ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ? भगवन् राजन् वायु की ही, यह उत्तर दिया। १।

महाराज बोले। आत्मा का यह तो प्राण समान है। आपका प्राण चला जाता यदि मेरे निकट आप नहीं आते। २॥

(४) शार्कराक्ष्य ! आप किस आत्माकी उपासना करते हैं ? हे भगवन् राजन् आकाश की ही, यह उत्तर दिया। १।

महाराज बोले। आत्मा का यह तो संदेह (मध्यम शरीर) समान है। आपका संदेह विशीर्ण हो जाता यदि मेरे निकट नहीं आते। २।

इत्यादि सम्वाद छान्दोग्य के पञ्चम प्रपाठक के १२ वें खण्ड से १५ वें खण्ड तक देखो॥

दूसरा संवाद दृसवालाकि गार्ग्य और अजातशत्रु के मध्य जो हुआ है वह यह है। जैसेः—

(५) वह गार्ग्य बोले कि जो यह आदित्य में पुरुष है। इसी को मैं ब्रह्म जान उपासता हूं॥

अजातशत्रु बोले। न, न इस (आदित्य) में कदापि ब्रह्मसंवाद मत करें। हां, यह सब भूतों का अतिक्रमण कर मूर्ध्ववत् देदीप्यमान है ऐसा ही मैं इसे जानता हूं।

(६) स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुषः । एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति ।····
·······। स होवाचाजातशत्रुर्मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठा बृहत्पाण्डरवासाः सोमोराजेति वा अहमेतमुपासे । इति । ३ ।

(७) स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुषः । एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति सहोवाचाजातशत्रुर्मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः । तेजस्वी वा अहमेतमुपास इति ।

(८) स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नु इति एतावद्धीति । नैतावता विदितं भवतीति सहोवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति । इत्यादि बृहदारण्यके । २ । १ ॥

इमौ संवादावादित्यादीनां ब्रह्मत्वं तेष्वधिष्ठानेषु ब्रह्मोपासनं चोभयं निषेधतः । प्रथमसंवादे द्युलोकादेर्ब्रह्ममत्योपासनेन मूर्द्धाद्यवयवानां विकृतिरूपमनिष्टम् । द्वितीये चाज्ञानता । पुनश्च ब्रह्मज्ञानायाध्ययनं दृश्यते । अतः कांश्चिदपि पदार्थानधिष्ठानीकृत्य ब्रह्मोपासनं नोचितम् । अतस्तेषु ब्रह्मविभूतिः केवलाध्येतव्या विज्ञातव्या च । तद्विज्ञानेन ब्रह्मयाथात्म्यविज्ञानमात्रं संभवति । ब्रह्मोपासनं तु ब्रह्मण्येवानाधिष्ठाने विहितम् । नहि पितुरुपा-

---

(६) वह गार्ग्य बोले । जो यह चन्द्र में पुरुष है इसी को ब्रह्म जान उपासता हूं। अजातशत्रु बोले । न, न इसमें ब्रह्मसंवाद कदापि मत करें । हां, यह तो बृहत् शुक्लतारूप वस्त्रधारी सर्वप्रिय राजा (शोभायुक्त) है । ऐसा ही इस को मैं जानता हूं ।

(७) वह गार्ग्य बोले । जो यह विद्युत् में पुरुष है इसी को ब्रह्म जान उपासता हूं । अजातशत्रु बोले । न, न इसमें ब्रह्मसंवाद कदापि भी मत करें। हां, यह तो ब्रह्म की सृष्टि में तेजस्वी पदार्थ है ऐसा ही मैं इसको जानता हूं ।································

(८) अजातशत्रु बोले कि क्या आप को इतना ही ब्रह्मज्ञान है ? गार्ग्य बोले हां । इतना ही । इतने से ब्रह्म विदित नहीं होता । तब गार्ग्य ने कहा कि मैं आप से ब्रह्मविद्याध्ययन करना चाहता हूं । इत्यादि संवाद बृ० उ० के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ से ही देखो ।

ये दोनों संवाद आदित्यादिकों का ब्रह्मत्व और उन अधिष्ठानों में ब्रह्मोपासन इन दोनों का प्रतिषेध करते हैं । प्रथम संवाद में द्युलोकादि में ब्रह्मबुद्धि से उपासना और मूर्धा आदि अवयवों का विकृतिरूप अनिष्ट कहा गया है और द्वितीय में अज्ञानता सूचित की गई है और ब्रह्मज्ञान के लिये पुनरपि अध्ययन कहा । अतः किन्हीं पदार्थों को अधिष्ठान मान ब्रह्मोपासना उचित नहीं । अतः तत्तत् वस्तु में केवल ब्रह्मविभूति ही अध्येतव्य और विज्ञातव्य है । उन इन वस्तुओं के विज्ञान से ब्रह्म की यथार्थता के बोध की संभावना है ।

सनं (पूजनम्) तदतिरिक्ते वस्तुनि सर्वथा भवितुमर्हति। नहि जलस्योपासनं कदाप्यग्नौ स्यात्। इतरपदार्थेन गुणादिस्मरणमेव सम्भवति।

आत्मनि इत्यध्यात्मम्। देवता इव दैवतम् दैवते इत्यधिदैवतम्। सप्तम्यर्थद्योतक एवाधिशब्दः। आत्मशब्देन "आत्मेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" इति लक्ष्यते। अतो यत्र चक्षुः श्रोत्रं वाङ्मनो हृदयमित्येवमादि शरीरपदार्थाभिधानेनेप्सितमर्थं व्याख्याय ब्रह्म विभूत्यवलोकनायोपदिशति तत्राध्यात्मशब्दः। यत्र चाग्निर्वायुः सूर्य इत्येवमादि दैवतनाम कीर्त्तनेनेष्टमर्थं दर्शयित्वा ब्रह्मविभूतिविज्ञानोपदेशस्तत्राधिदैवतम्प्रयुज्यते। यत्र च मन्त्रस्यैकस्मिन् पक्षे सर्वेऽर्थाः कस्मिंश्चिद्दैवत एवं संयोज्यन्ते तदप्यधिदैवतम्। इतरस्मिन् पक्षे आत्मनि जीवात्मनि परमात्मनि वा संयोज्यन्ते तदप्यध्यात्मम्। निरुक्ते भूयांस्युदाहरणान्यनयोः। इत्थमधिभूतमधियज्ञमित्येवंविधान्यप्युपासनानि भवितुमर्हन्ति। यथास्थानमुपरिष्टात् सर्वमेतद्दर्शयिष्यामः।

अतो जननीव हिततरोपनिपत् सुकुमारमतींस्तत्त्वानि बुभूत्सून् प्रति बहुविधोपायैः

ब्रह्मोपासना तो केवल ब्रह्मरूप अधिष्ठान में हो सकती है। पिता की पूजा तदतिरिक्त वस्तु में कदापि भी नहीं हो सकती। नहीं जल की उपासना अग्नि में की जासकती है। इतर पदार्थों से गुणादिकों का स्मरण हो सकता है। इतिदिग्

"अध्यात्म और अधिदैवत शब्द"

"आत्मा में" "देवता में" इस अर्थ में अध्यात्म और अधिदैवत शब्द बनता है। आत्मा और अधिदैवत के साथ जो (अधि) शब्द है। उस का अर्थ केवल सप्तमी है (में—पर—आदि) आत्मा से यहां आत्माश्रय इन्द्रियाश्रय और इन्द्रियार्थाश्रय शरीर का ग्रहण मालूम होता है। इसी हेतु जहां चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन, हृदय इत्यादि शरीर पदार्थ के अभिधान से ईप्सित अर्थ का व्याख्यान कर ब्रह्म की विभूतियों को देखने के लिये उपदेश देते हैं वहां अध्यात्म शब्द का प्रयोग होता है। और जहां अग्नि, वायु, सूर्य इत्यादि देवताओं के नाम कीर्त्तन से इष्टार्थका प्रतिपादन कर ब्रह्मविभूति विज्ञानार्थ शिक्षा देते हैं वहां अधिदैवत कहा जाता है। और भी जहां एक मन्त्र के एक पक्ष में सब अर्थ किसी सूर्यादि देवता में घटाये जायँ वह अधिदैवत कहलाता है और दूसरे पक्ष में उसी मन्त्र के अर्थ जीवात्मा वा परमात्मा में वह अध्यात्म है। निरुक्त में इस के अनेक उदाहरण हैं। इस प्रकार अधिभूत, अधियज्ञ आदि भी उपासनाएं हो सकती हैं। इन संवादों को स्थान २ में आगे दिखलावेंगे॥

अतः मातृवत् हितैषिणी उपनिषद् तत्त्वजिज्ञासु सुकुमारमति अनेक मनुष्यों को

शासितुं समीहते । अध्यात्मोपमयानन्तरोक्ते खण्डे प्रशासितवती । सम्प्रत्यधिदैवतनिदर्शनेन शिक्षितुमुपक्रमते ।

इदं वपुरेव तावन्निखिलं ब्रह्माण्डसमम् । ब्रह्माण्डोपमिते शरीरे सर्वम्भरिः प्राण एव मुख्यः । क्षणमपि तं विना जीवनिवहः प्राणितुं जीवितुञ्च न पारयति । अतोऽत्र प्राणस्यैव प्रधानता । एतां बहुभिर्विधाभिरुपरिष्टात् प्रदर्शयिष्यति । अतस्तावत् । प्रथमतरमेतस्मिन् ब्रह्मवैभवं भावयेत् । अनेनैव हेतुना द्वितीयखण्डे सप्तमे मन्त्रे प्राण उद्गीथस्योपासनं विहितम् । तदनु । तद् विहाय परितोविकाशमानमिदं ब्रह्माण्डं सभास्करं सचन्द्रतारकं समस्तलोकलोकान्तरसमन्वितं समीक्षेत । एतस्मिन् द्युमणिस्तावन्महिष्ठो वरिष्ठः श्रेष्ठश्च प्रतिभाति । इमं कायमभितो बिभ्रत् प्राण इव परितः स्थितानि जगन्त्याकृष्ट्या दधदसावतिष्ठते । अस्मिन्नपि तस्यैव सर्वाधारस्यविराजमानामनन्तप्रभवां ब्राह्मीं शक्तिमवलोकयेत् । इदंतूपमाद्वयं प्रत्यक्षम् ।

अधुनेदमपि परिहृत्य रविसहस्रोपमितेऽनन्तेऽपारे वा ब्रह्माण्डेतदीयविभुताप्रकाशलेशः सर्वत्रैवानुमानेन दृश्येत । इममर्थमग्रे वक्ष्यति । यद्वा । प्रथममिदं भावयेदस्यविग्रहस्य विधारयिता प्राण इति । स च कस्याधीनः ? । असंदिग्धं परम्परयायमपि सूर्यस्य परतन्त्रः ।

अनेकविध उपायों से समझाने के लिये प्रयत्न करती है । गतखण्ड में अध्यात्म उपमाद्वारा ब्रह्मतत्त्व समझा चुकी । अब अधिदैवत उपमाद्वारा उपदेशार्थ प्रवृत्त होती है मानो यह शरीर ही एक ब्रह्माण्ड सदृश है । इस में धारण पोषण करने वाला मुख्य प्राण ही है । क्षणमात्र भी इसके विना जीव अपने को धारण नहीं करसकता । अतः इसमें सर्वोपरि प्राण की ही अधिकता और प्रधानता प्रतीत पड़ती है । इसको कई प्रकार से आगे उपदेश करेगी । अतः इस प्राण में महती शक्ति का अनुभव करे । इसीलिये द्वितीय खण्ड प्रवाक सात में मुख्य प्राण को उद्गीथ की महिमा का सूचक कहा गया है । तत्पश्चात् परितोविकाशमान ब्रह्माण्ड को सूर्यचन्द्रतारक और लोकलोकान्तर सहित विचार दृष्टि से देखे। इस में सूर्य सब से श्रेष्ठ महिष्ठ वरिष्ठ और मुख्य है । क्योंकि जैसे प्राण इस शरीर को वशीभूत करता हुआ विद्यमान है वैसे ही सूर्य भी निज परितः स्थित जगत् को धारण कर प्रकाशित हो रहा है । इनके द्वारा भी उसी ब्रह्म की अद्भुत प्रकाण्ड शक्ति के वैभव को अनुभव करे, ये दोनों प्रत्यक्ष उपमाएं हुईं ॥

अब दोनों को परित्याग कर इस सूर्य के सदृश सहस्रों अथवा अनेक ब्रह्माण्ड में उसकी विभुता की छटा का अनुमान करे । यह ही विषय अगले तृतीय खण्ड में वर्णन होगा । यद्वा । प्रथम यह चिन्तन करे कि इस शरीर का धारण करने वाला तो प्राण है ।

स च कस्यवश्य: ? असंशयं सतु विभो: परस्यात्मन आयत्त: । स एव पर आत्मा आकीटपतङ्गादाब्रह्माण्डजगत: परम:स्वामी । इत्येवं मनसि ध्यायेत । इत्थं शरीरिण: शरीरनिबन्धनोपमया यद् वर्ण्यते तदध्यात्मम् । रविशशिमरुदग्निप्रमुख दैवतोपम्येन यद् वर्ण्यते तदधिदैवतमत्राचक्षते । अध्यात्ममुपदिश्याधिदैवतमारभते ।

परन्तु वह भी किसके अधीन रहकर निज व्यापार के सम्पादन में तत्पर है । वह निःसन्देह परम्परा से सूर्य है । परन्तु सूर्य का अधिष्ठाता कौन है ? निस्सन्देह वह सूर्य उस महान् आत्मा के वशीभूत हो अप्रमत्ततया स्वकीय कार्य्य में व्यापृत देख पड़ रहा है । वही महान् आत्मा इस शरीर से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का परमस्वामी है । इस प्रकार मन में विचार करे । इस शरीर आत्मा के साथ जो उपमा दी जाती है वह अध्यात्म कहलाती और सूर्य्य चन्द्र वायु अग्नि के साथ जो उपमा दी जाती है वह अधिदैवत कहलाता है । गत खण्ड में अध्यात्म उपमा कह कर अब अधिदैवत उपमा का वर्णन होगा ॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यꣳस्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

अथ । अधिदैवतम् । य: । एव । असौ । तपति । तम् । उद्गीथम् । उपासीत । उद्यन् । वै । एष: । प्रजाभ्य: । उद्गायति । उद्यन् । तम: । उभयम् । अपहन्ति । अपहन्ता । ह । वै । भयस्य । तमस: । भवति । य: । एवम् । वेद ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथाध्यात्मोपासनानन्तरमधिदैवतं प्रारभ्यते देवताविषयकमुद्गीथोपासनं विचार्य्यत इत्यर्थ: । तमुद्गीथमुपासीत । य एव असौ उद्गीथ: परमात्मा तपति । सूर्योप्युष्णतां ददाति । सूर्यस्यप्युष्णप्रदो य: खलूद्गीथोस्ति । तमुपासीत "तप संतपे" ।

(१) देवता एव दैवतम् । स्वार्थेऽण् । यद्वा देव एव देवता तस्या इदं दैवतम् । दैवते इत्यधिदैवतम् । देवताधिकरणे ब्रह्मशक्तिविज्ञानमधिदैवतमुच्यते ॥

अर्थ—देवता व दैवत दोनों शब्द एकार्थ हैं । यद्वा देव को ही देवता कहते हैं व तत्सम्बन्धी दैवत । देवता रूप अधिकरण में ब्रह्मशक्ति का विज्ञान अधिदैवत कहलाता है ॥

कीदृश उद्गीथः। उद्यन्। हृदि आविर्भवन् सन् "याते: शतृ प्रत्ययः" एषः प्रजाभ्यो जनेभ्यः। उद्गायति। कल्याणं साधयति। धातोरनेकार्थत्वात्। पुनः उद्यन्। मनसि प्रकाशमानः सन्। तमोभयमज्ञानजनितक्लेशमपहन्ति हिनस्ति। अज्ञानमेव तमः। आवरणकत्वात्। तस्माज्जातंभयं तमोभयम्। पदमेकम्। यद्वा। य एव असौ। आदित्यस्तपति। जगत् प्रद्योदयति। तस्मिन्। आदित्ये तं विभुमुद्गीथं ब्रह्मशक्तिमुपासीत भावयेत्। गगनतलविहारिणि दिनमणावपियत्ते-जोस्ति। तदपि ब्रह्मण एव। अहो आश्चर्यं ब्रह्मवैभवमिति। तपनं विशिनष्टि। उद्यन् वै। उदयं गच्छन् एव सहस्रांशुः। प्रजाभ्यः उद्गायति। उपकरोति। कर्म्मणि प्रवर्तयति वा। यद्वा। उद्यन् सन् प्रजाभ्य उपदेष्टुमिव ब्रह्मण एव महत्त्वमुद्गायति। उद्घोषयति। अहं तदीयनियोगमनुतिष्ठंस्तन्माहात्म्यं यथा गायामि तथैव यूयमपि तदनुशासनमनुपालयन्तस्तदेव गायतेत्युद्यन् सूर्यः सूचयति। कथमिव प्रजाभ्य उपकरोतीति ब्रूते। उद्यन् हि सूर्यः। तमः। नैशमन्धकारम्। भयं। तमःकृतां भीतिञ्च। अपहन्ति दूरमपसारयति। यः। यः पुरुषः तम्। एवं। पूर्वोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्मादित्ययोः क्रमशो व्यापक व्याप्यभावं। वेद जानाति "विद ज्ञाने। विदोलटो वा। ३। ४। ८३। वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयोवास्युः" स ह वै। स एव भयस्य भीते स्तमसोऽज्ञानस्य। अपहन्ता। विनाशयिता भवति। अत्र तमः शब्दोद्व्यर्थः। अन्धकारेऽज्ञानेचास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—अब अधिदैवत उपमा (कही जाती है) सूर्य्य में प्रकाश देने वाला जो ब्रह्म है उस की उपासना करे (क्योंकि) यही (हृदय में) उदित होने पर मनुष्यों के कल्याण का साधन करता है (और पुनः पुनः) उदित होने पर अज्ञानजनित क्लेश का नाश करता है। जो ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार उस को जानता है वह ही भय और अज्ञान का अपहन्ता होता है। यद्वा—जो यह (सूर्य जगत् को) तपन कर रहा है। इस में उस ब्रह्मशक्ति की महिमा का चिन्तन करे। (क्योंकि) यह सूर्य्य उदित होता हुआ प्रजाओं का उपकार करता है और उदित होताहुआ रात्रिजनित अन्धकार और तज्जनित भय का नाश करता है। जो ब्रह्मवेत्ता इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

(१) आदित्यो ह वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। प्रश्ने।

अर्थ—आदित्य ही बाह्यप्राणरूप हो उदित होता है और यही नेत्रगत प्राण के ऊपर अनुग्रह करता है ॥

(२) मूल में उद्गीथ पद है। प्रथम पद में उद्गीथ का अर्थ ब्रह्म है और द्वितीय में ब्रह्मशक्ति।

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (अधिदैवतम्) दैवत उपमा द्वारा उपासना का विचार आरम्भ करते हैं (तम्) उस (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासीत) उपासना करे (य एव असौ) जो यह उद्गीथ (तपति) सूर्य को भी (नियम से) तपाता है । सूर्य्य की सत्ता का आधार उद्गीथ (ब्रह्म) है, उसकी उपासना करे । वह उद्गीथ कैसा है ? जो (उद्यन्) प्रजाओं के हृदय में आविर्भूत होता हुआ (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (उद्-गायति) कल्याण साधन करता है । पुनः (उद्यन्) हृदय में उदित होता हुआ (तमो-भयं) अज्ञानजनित भय को (अपहन्ति) विनाशता है यद्वा (य एव असौ) जो यह । अर्थात् जो यह सूर्य (तपति) जगत् को प्रकाशित करता है, उस तपन (सूर्य) में (तम्) उस (उद्गीथम्) व्यापक ब्रह्मशक्ति की महिमा को (उपासीत) अनुभव करे । अर्थात् गगनतलबिहारी सूर्य में जो नियम से प्रकाश करने का स्वभाव है उस का नियामक ब्रह्म है ऐसा चिन्तन करे । यह कैसा आश्चर्य ब्रह्म का वैभव है इत्यादि विचारे । आगे तपन (सूर्य) का विशेषण कहते हैं । यह सूर्य कैसा है ? (उद्यन् वै) उदित होता हुआ ही (प्रजाभ्यः) प्रजा के लिये (उद्गायति) उपकार करता है । यद्वा उदित होता हुआ सूर्य मानो प्रजाओं को उपदेश देने के लिये उस ब्रह्म के महत्त्व को घोषण कर रहा है अर्थात् मैं इसके नियोग का अनुष्ठान करता हुआ उसकी महिमा को जैसे गाता हूं वैसे ही तुम भी उस के अनुशासन को पालन करते हुए उसी का गान करो इस बात को उदित हुआ सूर्य सूचित करता है । प्रजाओं का उपकार कैसे करता है सो दिखलाते हैं । (उद्यन्) उदित होता हुआ सूर्य (तमः) रात्रि के अन्धकार को और (भयम्) अन्धकारजनित भय को (अपहन्ति) दूर अपसारित करता है अर्थात् नाश करता है (यः) जो मनुष्य (एवम्) ऐसे अर्थात् ब्रह्म के और सूर्य के व्यापक और व्याप्यभाव को क्रमशः (वेद) जानता है (स ह वै) वह निश्चय (भयस्य) भय का और (तमसः) अज्ञानरूप अन्धकार का (अपहन्ता भवति) विनाशक होता है । यहां तमः शब्द द्व्यर्थक है । अन्धकार और अज्ञान ये दो अर्थ इस के हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः—तपति "तप संतापे" तप=तपना, तपाना । उपासीत "उप+आस उपवेशने" अति समीप बैठना । उद्यन् "उत्+या प्रापणे शतृ" या=जाना । उत् लगने से या धातु का अर्थ उद्गमन होता है । उत् गायति "कै गै शब्दे" कै, गै इन दोनों धातु का अर्थ गाना है उत् उपसर्ग लगने से उद्गान, उद्गाता, उद्गीथ आदि शब्द बनते हैं । अपहन्ता "अप+हन् हिंसागत्योः" हन मारना, अप पूर्वक हन् धातु से तृच् प्रत्यय करने पर अपहन्ता शब्द बनता है । वेद "विद ज्ञाने" विद् जानना ॥ १ ॥

समान उ एवायञ्चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुञ्चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

समानः । उ । एव । अयम् । च । असौ । च । उष्णः । अयम् । उष्णः । असौ । स्वरः । इति । इमम् । आचक्षते । स्वरः । इति । प्रत्यास्वरः । इति । अमुम् । तस्माद् । वै । एतम् । इमम् । अमुम् । च । उद्गीथम् । उपासीत ॥ २ ॥

भाष्यम्—समान इति । अध्यात्माधिदैवतोपासनयोर्मध्ये प्राणादित्यौ शब्दौ प्रायः ब्रुवन्ति । कथमिदम् ? किं काचित् तयोः समतास्ति ? तामेव दर्शयितुमुपक्रमते । यद्यपि भौतिकप्राणादित्यौ परस्परविप्रकृष्टौ लघुबृहतौ प्रकाश्यप्रकाशकौ न च कदापि साम्यमर्हतस्तथापि कतिपयेऽर्थे तयोरपि साम्यमुपपादयन्ति महर्षयः । उ । उ सम्बोधन रोपोक्त्योरनुकंपा नियोगयोः । पदपूरणे च पादपूरणेपि च दृश्यते इतिमेदिनी । अत्रोकारः पदपूरणार्थो दृश्यते । अयं च प्राणः । प्राणवाच्यो जीवात्मा परमात्मा मुख्यः प्राणो वाचादेतेषां समुच्चयः । असौ च । सूर्यश्च । समान एव । मानेन सहवर्तमानः समानः मानं परिमाणं तुलयासंमितम् । यद्वा समानं मानं यस्य स समानः "समानस्य छन्दसीति सः" तुल्य एवेत्यर्थ । कुतस्त्या तुल्यतातयोः । यतः अयम् असौ च उष्णः । उभौ च उष्णगुणविशिष्टौ । सति प्राणे उष्णः कायः । असति अनुष्णः । तेन प्राणस्यैवोष्णत्वमनुमीयते । सवितरि तु प्रत्यक्षमुष्णत्वम् । इतश्चापिसाम्यम् । इमं प्राणं । प्राणविदः स्वर इति आचक्षते । कथयन्ति । अमुमादित्यमपि । स्वर इति प्रत्यास्वर इति च कथयन्ति । प्रथमे दृष्टान्ते गुणतः साम्यं साधयित्वाऽनेन द्वितीयेन केवलं नामतः किञ्चिद् गुणतश्च साम्यं संगिरन्ते । स्वरति अस्माद्देहान्निःसरति इति स्वरः । देहाद्देहं गच्छतीत्यर्थः जीवात्मा प्राणश्च । स्वरति उपतापयतीति स्वरः परमात्मा । तपतः सूर्यादीनपि स परमात्मैव उपतापयति । यद्वा स्वरयति आक्षिपति सम्पूर्णं विश्वमिदं प्रेरयतीति स्वरः परमात्मा । यद्वा सुष्ठु इयर्ति गच्छति सर्वत्र व्याप्नोतीति स्वरः परमात्मा । स्वरशब्देन परमात्मा क्वचिदभिधीयते "स्वरमेव प्राविशन्निति" अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । यद्वा स्वरति शब्दयतीति वा । नासिकाभ्यां प्रतिक्षणं निःसरतीति वा स्वरः प्राणः सत्ये वप्राणे सर्वाणीन्द्रियाणि स्वस्व व्यापारं प्रति चेष्टन्ते स्वरतीत्युपलक्षणमत्र ॥ "स्वर शब्दोपतापयोः । भ्वादिः, स्वर आक्षेपे चुरादिः सु पूर्वक ऋस् गताविति धातुर्वा इत्यादयो धातवः स्वरशब्दे ऊह्याः"

णत्वात् । सूर्यः खलु प्रत्यहं स्वरति गच्छति धातूनामनेकार्थत्वात् । सुष्ठु अरतीयर्तिगच्छतीति वा "ॠसृगतौ" अस्तं गच्छति । पुनश्च आस्वरति आगच्छति । अतः स्वरः प्रत्यास्वरश्च इति द्वे नाम्नी सूर्यस्य भवतः । प्राणः खलु यं देहं विरहय्य याति न तं पुनरपि आदत्ते । अतः प्राणस्य स्वर इति एकमेव नामधेयं । स्वरत्वेन तयोस्तुल्यता । तस्माद्वै । तस्माद्धेतोरेव । एतम्प्राणमिममादित्यं च अधिकृत्य इत्यध्याहार्यम् । अमुम् । उद्गीथमुपासीत । यद्यपीदमेतददसः प्राय एकार्था लक्ष्यन्ते तथाप्यस्त्येतेषु कश्चिदर्थ भेदः । यथाह कारिका "इदमः प्रत्यक्षगतं समीपवर्त्ति चैतदोरूपम् अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्" ॥ २ ॥

अनुवादः—यह (प्राण) और वह (सूर्य्य) निश्चय समान है । क्योंकि यह (प्राण) और वह (सूर्य्य) उष्ण है । इस प्राण को स्वर कहते हैं और उस सूर्य्य को भी स्वर और प्रत्यास्वर कहते हैं इस कारण निश्चय इस प्राण और उस सूर्य्य में उस ब्रह्मशक्ति का चिन्तन करें ॥ २ ॥

पदार्थः—अध्यात्म, अधिदैवत उपासना के विषय में "प्राण" और "आदित्य" शब्द का प्रयोग करते हैं यह क्यों ? क्या इन दोनों की कोई समता है ? हां । इस को दिखलाने के लिये आगे प्रकरण का आरम्भ करते हैं । यद्यपि भौतिक प्राण और सूर्य ये दोनों परस्पर बहुत दूरस्थ हैं प्राण, लघु और सूर्य बृहत् शक्ति है । प्राण प्रकाश्य, सूर्य प्रकाशक है इन दोनों में पूरी तुल्यता नहीं हो सकती तथापि कुछ अंश में इन दोनों की तुल्यता उपनिषद् दिखलाती है ॥

(उ) देखा जाता है कि (अयम्) यह प्राण (असौ च) और वह सूर्य (समान एव) समान ही हैं । क्योंकि (अयम्) यह प्राण (असौ च) और वह सूर्य (उष्णः) उष्ण है । अर्थात् दोनों उष्ण होने के कारण इस गुण में तुल्य हैं । प्राण के रहने पर काया उष्ण रहती है, प्राण के न रहने से काया ठंडी हो जाती है अतः अनुमान से ज्ञात होता है कि इस शरीर में प्राण ही मुख्य उष्णरूप है । जिससे सम्पूर्ण शरीर जीवित

(१) यद्यपि इस शरीर को प्राण उष्ण रखता है और ब्रह्माण्डरूप शरीर को सूर्य्य उष्ण रखता है इस कारण तुल्यता इस अंश में प्रतीत होती है और प्राण में उष्णता सूर्य्य से ही प्राप्त होती है । मूल में उष्ण शब्द का प्रयोग इस कारण है कि उष्णता और तेज का परस्पर सम्बन्ध है । जहां उष्णता वहां तेज और जहां तेज वहां उष्णता । दार्ष्टांतिक में ब्रह्म को तेजोमय जीवनप्रदाता मानकर उपासना करे यह निष्कर्ष है ।

रहता है ॥ सूर्य में तो उष्णता प्रत्यक्ष ही है । इस कारण से भी दोनों की समता है यथा (इमम्) इस प्राण को (स्वर इति) स्वर ऐसा नाम (आचक्षते) प्राणतत्त्व जानने वाले कहते हैं । (अमुम्) उस सूर्य को (स्वर इति) (प्रत्यास्वर इति च) स्वर और प्रत्यास्वर (आचक्षते) कहते हैं । प्रथम दृष्टान्त में गुण की समता दिखलाई गई है और इस द्वितीय दृष्टान्त में नाम से और किञ्चित् गुण से भी समता दिखलाई जाती है । प्राण को स्वर इस हेतु कहते हैं कि स्वर धातु का अर्थ गमन है । प्राण रात दिन गतिमान रहता और एक देह को छोड़ कर दूसरे में जाता है अतः प्राण स्वर है यद्वा प्राण के द्वारा शब्द का उच्चारण होता है अतः प्राण स्वर है । यद्वा नासिकाओं से सर्वदा प्राण (वायु) निकलता रहता है अतः प्राण स्वर है ॥ सूर्य को स्वर इस हेतु से कहते हैं कि सूर्य का अस्त होना ही स्वर अर्थात् गमन है और सूर्य अस्त होकर पुनरपि उदय होता है अतः उसको प्रत्यास्वर भी कहते हैं, परन्तु प्राण जिस देह को छोड़कर चला जाता है उस में पुनः नहीं आता । अतः प्राण को प्रत्यास्वर नहीं कह सकते अर्थात् सूर्य और प्राण इन दोनों को प्राचीन भाषा में स्वर कहते थे इस हेतु दोनों की समता है । सूर्य प्रत्यास्वर भी कहलाता है अतः प्राण से सूर्य श्रेष्ठ है यह भी सूचित हुआ (तस्माद्वा) इसी कारण से (एतम्) इस को=इस प्राण में (इमम्) इस को=और इस सूर्य में (अमुम्) इस (उद्गीथम्) ब्रह्म की महिमा का (उपासीत) चिन्तन करे । इति ॥ २ ॥

भाष्याशयः—(अयम्) यह । पूर्व प्रसंगानुसार यहां "अयम्" शब्द से जीवात्मा परमात्मा और मुख्य प्राण तीनों का ग्रहण करना चाहिये ये तीनों ही उष्ण हैं और ये तीनों "स्वर" भी हैं क्योंकि "स्वर" शब्द अनेक धातुओं से बनता है । स्वृ, स्वर, सु+ऋ इत्यादि धातु से सिद्ध होगा संस्कृत भाष्य में इसके सब अर्थ किये हुए हैं । यद्यपि (तद्) (इदम्) और (अदस्) ये तीनों सर्व नाम शब्द प्रायः एकार्थवाची हैं तथापि इनमें अर्थ का किञ्चित् भेद है । यथा (इदमः) इदम् शब्द से प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु का (एतदः) एतद् शब्द से समीपवर्ती वस्तु का (अदसः) अदस् शब्द से दूरवर्ती वस्तु का (ततः) तद् शब्द से परोक्ष वस्तु का बोध होता है यह जानना चाहिये ॥ २ ॥

अधुना पुनरपि प्रकारान्तरेण तस्यैवोपासना विधित्स्यते । उक्तं हि पूर्वं प्राणादित्ययोर्मध्ये ब्रह्मशक्तिं भावयेदिति । अनयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकरूपः सम्बन्धोऽपि प्रदर्शितः । इदानीमिदं मीमांस्यते । अनयोः सम्बन्धस्य घटयित्रीक्तमाशक्तिर्विद्यते । या चैतदुभयसम्बन्ध-

घटयित्रीशक्तिरस्ति सा एव व्यानशब्देनात्र व्यवह्रियते । इत्थं प्राणापानयोर्द्युलोकभूलोकयोः गुणगुणिनोर्जातिव्यक्त्योः क्रियाक्रियावतोः प्रत्येकं द्वन्द्वयोः पुनः परस्परं भिन्नानां पार्थिवादिपरमाणूनां सम्भूयसम्मिलितानामन्योन्येषां परमाणूनां पुनर्जीवप्रकृत्योः, जीवमनसोः, मन इन्द्रियाणां इन्द्रियविषयाणामित्थं सर्वेषां निखिलपदार्थव्यूहानां सम्बन्धस्य घटयित्री ईश्वरशक्तिरेव सर्वत्रेतिध्येयम् । इममेवार्थं व्यानशब्दो व्युत्पत्त्यापि आविष्करोति । तथाहि विशेषेण आनयति प्राणयति संयोजयति इति व्यानः । विशेषेण अन्यते संयोज्यते पदार्थो येन स व्यानः । व्यानयतेर्वा व्यानितेर्वा व्यानितेर्वायम् सिद्धः । नाहि अत्र व्यानाख्यो । वायोर्वृत्तिविशेषः कल्पनीयः । उपनिषदपि स्वयमिममेवार्थं अतिसंक्षिप्य दर्शयिष्यते । इममेव विषयं प्रकारान्तरेण कठोपनिषदि विस्पष्टतया विवृणवन्त्याचार्य्याः ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ ३ ॥ अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्यदेहिनः । देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्रपरिशिष्यते । एतद्वैतत् ॥ ४ ॥ न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेणतु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥ (कठ० वल्ली ५)

भाषा–अब पुनः अन्य प्रकार से उद्‌गीथ की उपासना की महिमा कही जाती है प्रथम कहा गया है कि प्राण और आदित्य में ईश्वर शक्ति की महिमा का चिन्तन करना चाहिये और इन दोनों में सम्बन्ध भी दिखलाया गया है । परन्तु विचारदृष्टि से देखना चाहिये कि इन दोनों में सम्बन्ध जोड़ने वाली कौनसी शक्ति है ? जो शक्ति उन दोनों के सम्बन्ध जोड़ने वाली है उसी को यहां व्यान कहा है इसी प्रकार प्राण और अपान वायु, द्युलोक और भूलोक, द्युलोक और चन्द्रलोक, द्युलोक और नक्षत्रलोक, नक्षत्र और भूलोक, गुण और गुणी, जाति और व्यक्ति, क्रियावान् और क्रिया इत्यादि प्रत्येक द्वन्द्व में पुनरपि भिन्न २ पार्थिव आदियों के परमाणु और परस्पर एक दूसरे के सम्मिलित परमाणु, पुनः जीव प्रकृति, जीव मन, मन इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय इन सबके और इसी प्रकार निखिल पदार्थसमूहों के सम्बन्ध के घटानेवाली जो ईश्वर की एक शक्ति है उसी को सर्वत्र अनुभव करे । यही अभिप्राय व्यान शब्द का है । इस अर्थ को व्यान शब्द व्युत्पत्ति से भी प्रकाश करता है अर्थात् वि+आन इन दो शब्दों के योग से व्यान शब्द की सिद्धि होती है । जो विशेष रूप से पदार्थों को मिलावे अथवा पदार्थ संयुक्त होवे जिससे उसे व्यान कहते हैं । वि+आङ् पूर्वक णिञ् प्रापणे धातु से अथवा वि+आङ् पूर्वक अन् धातुः से अथवा वि पूर्वक अन् धातु से व्याकरण के अनुसार व्यान सिद्ध होता है । यहां व्यान शब्द से वायुविशेष अर्थ

लेना भूल है । उपनिषद् भी स्वयं इसी अर्थ को संक्षेप से दिखावेगी । इसी विषय को प्रकारान्तर से यमाचार्य ने कठोपनिषद् में विस्पष्ट किया है:—

(ऊर्ध्वम्) जो हृदय से ऊपर (प्राणम्) प्राणवृत्ति अर्थात् वायु को (उन्नयति) ऊपर ले जाता है और (अपानम्) अपान वायु को (प्रत्यक्) नीचे की ओर (अस्यति) फेंकता है । उस (मध्ये) हृदय पुण्डरीक के बीच में (आसीनम्) बैठा हुआ (वामनम्) सम्यक् सेवने के योग्य उस शक्ति विशेष को (विश्वेदेवाः) सब चक्षुरादि इन्द्रिय (उपासते) सेवते हैं जैसे प्रजाएं राजा को सेवती हैं, जिस शक्ति से ये सब इन्द्रिय अपने २ व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, वह एक भिन्न पदार्थ है । यह सिद्ध हुआ ॥ ३ ॥ (अस्य) इस (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाला (देहिनः) देही के (विस्रंसमानस्य) अंशमान होजाने पर अर्थात् (देहाद् विमुच्यमानस्य) देह से निकल जाने पर (अत्र) इस शरीर में (किं परिशिष्यते) क्या रह जाता है (तद्वैतत्) निश्चय यही वह है । जैसे पुरवासियों में से पुरस्वामी के निकल जाने से वह पुर हतबल और विध्वस्त हो जाता है वैसे ही जिस के निकलने से यह शरीर विनष्ट हो जाता है वह शक्ति कोई भिन्न है यह सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥ (न प्राणेन) न प्राण वायु वृत्ति से (न अपानेन) न अपानवायु से (कश्चन) कोई (मर्त्यः) मरणशील प्राणी (जीवति) जीता है (इतरेण तु जीवन्ति) किन्तु प्राण अपानादि विलक्षण अन्य किसी शक्ति विशेष से ये प्राणी जीते हैं (यस्मिन्) जिस में (एतौ) ये दोनों (उपाश्रितौ) आश्रय पाकर के स्थित हैं । इस वर्णन से अन्य शक्ति का अनुमान होता है वही यहां व्यान शब्द कहा जायगा ॥ ५ ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभि व्याहरति ॥ ३ ॥

अथ । खलु । व्यानम् । एव । उद्गीथम् । उपासीत । यद् । वै । प्राणिति । सः । प्राणः । यत् । अपानिति । सः । अपानः । अथ । यः । प्राणापानयोः । सन्धिः । सः । व्यानः । यः । व्यानः । सा । वाक् । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । वाचम् । अभि । व्याहरति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत । व्यानशब्दं द्वारीकृत्य । यद्वा । व्यानशब्देन प्रतीयमानं विशेषगूढार्थं लक्षीकृत्य ब्रह्म भावयेत् । सन्धिः खलु व्यानशब्दाभिधेयः । अधुना व्यानं लक्षयितुमुपक्रमते । यद्वै । यं वायुं मनुष्यः । प्राणिति । मुखनासिकाभ्यां निःसारयति । सः । प्राणः प्राणनामा वायुवृत्तिविशेषः । यदपानिति यं वहिर्भूतं वायुं ताभ्यामेव अन्तराकर्षति सोऽपानः सः अपाननामा वायुः । अथ यः प्राणापानयोः । उक्त लक्षणयोर्मरुतोः सन्धिः सन्धानकृत् संयोजकः । स व्यानः । सा व्याननाम्नी शक्तिरिति यावत् । यः व्यानः सा वाग् । यतो व्यान प्रयत्नेन वागुच्चार्यते । अतोऽभेदविवक्षया वागपि व्यानशब्द वाच्या । तस्मात् कारणादप्राणन् अनपानंश्च प्राणापानव्यापारौ अकुर्वन् वाचं वचनमभिव्याहरति उच्चारयति मनुष्य इत्यर्थः । एतेन प्राणापानापेक्षया व्यानस्य उत्कर्षिता प्रदर्शिता ॥ ३ ॥

अनुवाद-अब व्यान में ईश्वर के महत्त्व को देखे जिस वायु को मुख से निकालते हैं उसे प्राण और जिस वायु को भीतर लेते हैं उसे अपान कहते हैं । और जो प्राण और

(१) सकल पदार्थ के संयोजक शक्ति का नाम व्यान है । जिस प्रकार प्राण और अपान की सन्धि (जोड़ने वाली शक्ति) को मूल में व्यान कहा गया है । तद्वत् सकल पदार्थ की सन्धि को व्यान समझना यह भाव है । प्राण अपान यहां उपलक्षणमात्र है । पुनः वाक् भी उपलक्षणमात्र है । जैसे वाक् प्राण, अपान की सहायता विना उच्चरित होती है अर्थात् व्यान की सहायता से वह वाणी उच्चरित होती है । वैसे सकल पदार्थ ही व्यान की शक्ति से व्यवहृत होरहे हैं । भाव इसका यह है कि केवल दृश्यमान जो एक एक शक्ति प्रत्येक वस्तु में सुशोभमान है वही काम करने वाली नहीं है, किन्तु इन के बीच में कोई महती शक्ति अदृश्य है जो सब में काम कर रही है । यथार्थ में वही सब का प्राण है । मूल में प्राण अपान के विना जो वचन का उच्चारण दिखलाया गया है वह आध्यात्मिक लघु दृष्टान्त है । इस दृष्टान्त से सर्वत्र अनुमान करलेना यह इसका भाव है । यद्यपि प्राण अपान की सहायता से ही वाणी का उच्चारण होता है यह विषय लोक में प्रत्यक्ष है । तथापि जो यह उदाहरण दिया गया उसका भाव यह है कि उस प्राण और अपान का भी सहायक कोई अन्य शक्ति है जिस के विना वे कुछ भी नहीं कर सकते अतः परम्परया उसी शक्ति के ऊपर सकल वस्तु निर्भर है यह सिद्ध होता है । अतः यह दृष्टान्त सुसंगत है । इसी प्रकार अन्य दृष्टान्त भी मूल में कहे जावेंगे । उनका भी यही अभिप्राय समझना ॥

अपान की सन्धि है उस को व्यान कहते हैं। जो व्यान (शक्ति) है वह मूल वाणी है इस कारण प्राण और अपान की सहायता के विना वाणी का प्रथम उच्चारण (चेष्टा) करता है ॥

पदार्थः—(अथ खलु) अब (व्यानमेव) व्यान शब्द के द्वारा (उद्गीथम्) उद्गीथ की महिमा का (उपासीत) ध्यान करे यहां व्यान शब्द का मुख्य अर्थ सन्धि है। अब व्यान शब्द का लक्षण कहते हैं-(यद्वै) जिसी वायु को (प्राणिति) मुख नासिकाओं से मनुष्य बाहर निकालता है (स प्राणः) वह प्राण नाम का वायु है (यत् अपानिति) जिस बाह्य वायु को मुख नासिकाओं से भीतर आकर्षण करता है (सः अपानः) वह वायु अपान नाम का है (अथ) और (यः) जो (प्राणापानयोः) प्राणापान नाम के वायुओं का (सन्धिः) मिलाने वाला है (स व्यानः) वह व्यान है अर्थात् व्यान नाम्नी शक्ति है। (यः व्यानः) जो व्यान है (सा वाग्) वह वाक्=वचन है क्योंकि व्यान के प्रयत्न से ही वाग् का उच्चारण होता है। इस कारण कार्य कारण के अभेद विवक्षा से व्यान शब्द को वाच्य वाग् कही गई (तस्मात्) इस कारण (अप्राणन् अनपानन्) प्राण और अपान वायु के व्यापार को न करता हुआ मनुष्य (वाचम्) वचन को (अभिव्याहरति) बोलता अर्थात् उच्चारण करता है इसी प्रकार सकल वस्तुओं में उस व्यान शक्ति को देखे ॥ ३ ॥

यावाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्सत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्सामगायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

या । वाग् । सा । ऋग् । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । ऋचम् । अभिव्याहरति । या । ऋक् । तत् । साम । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । साम । गायति । यत् । साम । सः । उद्गीथः । तस्मात् । अप्राणन् । अनपानन् । उद्गायति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—या वाग्[1] सा ऋग् तस्माद् अप्राणन् अनपानन् ऋचमभिव्याहरति उच्चारयति । या ऋग् तत्साम[2] । अन्यत् सर्वमतिरोहितार्थम् ॥ ४ ॥

(१) वाच ऋग् रसः १ । १ । २ ॥ वागेवर्क् प्राणः साम १ । ७ । १ ॥
(२) ऋचः साम रसः १ । १ । २ ॥

अनुवाद—जो वाणी है सो ऋग् (का मूल) है । इस कारण प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ (होता) ऋचा को उच्चारण करता है । जो ऋचा है वह साम (का मूल) है । उस कारण प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ (उद्गाता) साम को गाता है । जो साम है वह उद्गीथ (का बोधक) है उस कारण प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ ब्रह्मविद् (उद्गीथ) को गाता है ।

पदार्थः—(या वाग् सा ऋग्) जो वचन है सो ऋग् है । क्योंकि वाङ्मयीऋचा है (इनका वर्णन सविस्तर प्रथमखण्ड में हो चुका है) (तस्मात्) इस हेतु से (अप्राणन् अनपानन्) प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ होता (ऋचम्) ऋचा को (अभिव्याहरति) उच्चारण करता है (या ऋग्) जो ऋक् है (तत्साम) वह साम है । क्योंकि ऋगाश्रित साम है (तस्मात् अप्राणन् अनपानन्) पूर्ववत् (सामगायति) उद्गाता साम को गाता है (यत्साम) जो साम है (स उद्गीथः) वह उद्गीथ का बोधक है (तस्मात् अप्राणन् अनपानन्) पूर्ववत् (उद्गायति) उस उद्गीथ को ब्रह्मविद् गाता है । इति ॥ ४ ॥

अतो यान्यानि वीर्य्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

अतः । यानि । अन्यानि । वीर्य्यवन्ति । कर्म्माणि । यथा । अग्नेः । मन्थनम् । आजेः । सरणम् । दृढस्य । धनुषः । आयमनम् । अप्राणन् । अनपानन् । तानि । करोति । एतस्य । हेतोः । व्यानम् । एव । उद्गीथम् । उपासीत ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अन्यान्यपि व्यानस्य कर्म्माणि उत्तरप्रवाकेण दर्शयति । अतः । अस्मात् पूर्वोक्तादन्यानि यानि वीर्यवन्ति बलवन्ति कर्म्माणि सन्ति । तानि । अप्राणन् अनपानन् सन्

(१) तृतीय और चतुर्थ प्रवाकों के द्वारा यह शिक्षा मिलती है कि जो व्यान है सो वाक् का मूल है । जो वाक् है सो ऋक् मूलक है । जो ऋक् है सो साम मूलक है । जो साम है सो उद्गीथ बोधक है । इस से यह सिद्ध होता है कि अन्ततोगत्वा सकल पदार्थ उसी ब्रह्म शक्ति के आधार पर विद्यमान हैं और इसी विचार को क्रम से मन में स्थिर करे ।

मनुष्यः करोति । कानि तानि कर्माणि तानि संक्षेपतः गणयति । अग्नेर्वह्नेर्मन्थनं काष्ठसंघर्षणेन वह्नेर्मन्थनम् निःसारणम् । आजेः । समभूभागस्य समरस्य वा सरणं धावनम् । दृढस्य धनुषः चापस्य आयमनं आकर्षणमिति । एतस्य हेतोः । एतस्मात् कारणात् व्यानमेव उद्गीथमुपासीत । निखिलशक्तिभ्यो व्यानस्य विशिष्टत्वाद् विशिष्टे विदिते सर्वं विदितं भवतीति विशिष्टे व्यानम् लक्षीकृत्य उद्गीथपदाभिधेयं ब्रह्म चिन्तयेत् ॥ ५ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त जो वीर्यवान् कर्म हैं जैसे अग्नि का मन्थन, सम भूमि में वा संग्राम में धावन, दृढ धनु का आकर्षण इन (कर्म्मों को) प्राण और अपान के व्यापार के विना आदमी करता है। इस हेतु व्यान को ही लक्ष्यकर ब्रह्मशक्ति का चिन्तन करे॥ ५॥

पदार्थः—व्यान के अन्य कर्म आगे के लेख से दिखलाए जाते हैं (अतः) इस पूर्वोक्त से अतिरिक्त (यानि अन्यानि) जो अन्य (वीर्यवन्ति) बलवाले (कर्म्माणि) कर्म्म हैं (तानि) उन को (अप्राणन् अनपानन्) प्राण और अपान के व्यापार को न करता हुआ (करोति) करता है। वे कौन कर्म हैं सो आगे संक्षेप से गिनाते हैं। (यथा) जैसे (अग्नेः मन्थनम्) आग का मंथन अर्थात् काष्ठ के संघर्षण से आग निकालना (आजेः) समभूमि वा संग्राम में (सरणम्) दौड़ना (दृढस्य धनुषः) दृढ़ धनुष का (आयमनम्) चढ़ाना, खींचना, आकर्षण करना आदि कर्म। (एतस्य हेतोः) इस कारण (व्यानमेव) व्यान को ही लक्ष्यकर (उद्गीथम्) उद्गीथ ब्रह्म की उपासना करे। निखिल शक्तियों से व्यान ही विशिष्ट है और विशिष्ट के जानने से सब विदित होता है। अतः विशिष्ट व्यान को ही लक्ष्य करके ब्रह्मशक्ति का ध्यान करे॥ ५॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳ सर्वꣳ स्थितम् ॥ ६ ॥

(१) एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत् । प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धम् । वागेव गीथा । उच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥ बृह० १ । ३ । २३ ॥

अर्थः—यही उद्गीथ है। प्राण ही उत् है। क्योंकि प्राण से ही सर्व प्राणी उत्थित होता है। वाणी ही गीथा है। उत् और गीथ मिल करके वह उद्गीथ है॥

अथ । खलु । उद्गीथाक्षराणि । उपासीत । उद्गीथः । इति । प्राणः । एव । उत् । प्राणेन । हि । उत्तिष्ठति । वाक् । गीः । वाचः । ह । गिरः । इति । आचक्षते । अन्नम् । थम् । अन्ने । हि । इदम् । सर्वम् । स्थितम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्-अथेति । अधुना उद्गीथोपासनाप्रसंगेन उद्गीथाक्षराणामर्थान् व्याचष्टे । अथ खलु अधुना उद्गीथाक्षराणि उद्गीथ शब्दे उद्+गी+थ इति एतानि त्रीणि यान्यक्षराणि सन्ति तानि उपासीत । जानीयात् । प्राण एव उद् । उच्छब्दः प्राणार्थः । यतः प्राणेन उत्तिष्ठति । सर्वोजीवः सति प्राणे इतश्चेतश्च चलितुं उत्थातुं वा शक्नोति । तस्माद् उदा प्राणो गृह्यते । उत्थानसाम्यात् । वाग् गीः । गी शब्दो वागर्थः । ह वाचो गिर इति बुधा व्याचक्षते कथयन्ति । गीर्वाग् वाणी सरस्वतीत्यपि कोशात् । अन्नम् वस्तु थम् थ शब्दः अन्नार्थः । हि यतः । अन्ने इदं सर्वं भूतजातं स्थितम् ॥ ६ ॥

अनुवाद-अब उद्गीथ शब्द में जो उत् १ गी २ थ ३ ये तीन अक्षर हैं उनके अर्थ का विचार करे । प्राण ही उत् है । क्योंकि प्राण से ही मनुष्य उत्थान करता है वाणी गी है । क्योंकि विद्वान् वाणी को गी कहते हैं । अन्न थ है। क्योंकि अन्न में यह (सकल प्राणी) स्थित है ॥ ६ ॥

पदार्थः-अब उद्गीथ की उपासना के प्रसंग से उद्गीथाक्षर के अर्थों का व्याख्यान किया जाता है (अथ खलु) उद्गीथ की उपासना के अनन्तर निश्चय (उद्गीथाक्षराणि) उद्गीथ शब्द में जो २ अक्षर हैं उनको (उपासीत) विचारे कौन २ अक्षर हैं सो कहते हैं (उद्+गी+थ इति) उद्+गी और थ ये तीन अक्षर उद्गीथ शब्द में हैं । इन तीनों अक्षरों के पृथक् २ आगे अर्थ कहते हैं (प्राण एव उत्) उत् शब्द का अर्थ प्राण ही है (हि) क्योंकि (प्राणेन) प्राण से (उत्तिष्ठति) जीव इधर उधर गमन करता वा उठ सकता है (संस्कृत में उद् का ही कहीं उत् हो जाता है अतः उद् वा उत् दोनों एक ही समझना चाहिये) (वाग्+गीः) गिर शब्द का अर्थ वाग्=वचन है (हि) क्योंकि (वाचः) वचनों को (गिरः) गिर (इति) ऐसा (आचक्षते) विद्वान् जन कहते हैं अर्थात् गिर, वाग्, वाणी, सरस्वती, भारती, भाषा, ब्राह्मी आदि शब्द पर्यायवाचक हैं गिर् शब्द ही विसर्गान्त और दीर्घ ईकारा वर्ण बन गया है उद्गीथ शब्द में गिर के रेफ का लोप होकर केवल दीर्घ गी रह गया है (अन्नम्+थम्) "थ" शब्द का अर्थ अन्न है । क्योंकि (अन्ने) अन्न में (इदम् सर्वम्) यह सब प्राणी समूह (स्थितम्) स्थित हैं ।

अर्थात् "थ" शब्द का अर्थ स्थिति है तिस कारण साधारणतया अन्न में ही सबों की स्थिति है । अतः अन्न का नाम "थ" है ॥ ६ ॥

द्वितीयोर्थः—यद्वात्र प्राण शब्देन ब्रह्म गृह्यते । तेन । उच्छब्दः प्राणार्थः ब्रह्मार्थ इत्यर्थः । प्राणेन हि । यतः । ब्रह्मणैव ब्रह्मणः शक्त्यैव इदं सर्वमुत्तिष्ठति । उत्थानं करोति । उत्तिष्ठति । इति उपलक्षणम् । तेन ब्रह्मशक्त्यैव इदं सम्पूर्णं विश्वं धारितं रक्षितं जनितञ्च । वर्त्तत इत्यर्थः । अत्ति सर्वं जगत् यत्तदन्नं ब्रह्म । तेन थ शब्दोपि अन्नार्थः ब्रह्मार्थ इत्यर्थः । सर्वमिदं दृश्यमानं सचराचरं जगत् । अन्ने ब्रह्मणि एव स्थितम् । अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत इति श्रुत्यन्तराद् अन्न-शब्दो ब्रह्मवाचकः । वाग् शब्देन वेदवाणी गृह्यते गिरति उपदिशति सर्वा विद्या या सा गीः वेद वाणी ।

एतेन उद्गीथ शब्देन ब्रह्मणो वेदानाञ्च सर्वेषां संग्रहो भवति । तेन उद्गीथार्थं भावयता मुमुक्षुणा सर्वेषां वेदानामर्थस्तन्निरूपणीयं ब्रह्म च भाव्येत इति यावत् । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

पदार्थः—यद्वा यहां प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म है । अतः (प्राणः एव) ब्रह्म ही (उत्) उत् शब्द का अर्थ है । उत् शब्द ब्रह्मवाचक है (हि) क्योंकि (प्राणेन) ब्रह्म से अर्थात् ब्रह्म की शक्ति से (इदम्) यह (सर्वम्) सब (उत्तिष्ठति) उत्थान करता है । उत्तिष्ठति पद उपलक्षणमात्र है अर्थात् उस ब्रह्म (ब्रह्मशक्ति) से ही यह सम्पूर्ण विश्व धारित रक्षित और जनित है, ऐसा जानना चाहिये । अन्न शब्द का भी अर्थ ब्रह्म है । क्योंकि (अत्ति) जो सम्पूर्ण जगत् का संहार करे उसे अन्न कहते हैं । (थम्) थ शब्द (अन्नम्) ब्रह्मवाचक है (हि) क्योंकि (इदम् सर्वम्) यह दृश्यमान सम्पूर्ण विश्व (अन्ने) ब्रह्म में ही (स्थितम्) स्थित है (अन्नं ब्रह्मेति) इस वचन से भी विदित होता है कि अन्न ब्रह्मवाचक है । वाक् शब्द से यहां वेद वाणी का ग्रहण है जो सकल विद्याओं का उपदेश करे उसे गिर कहते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि एक उद्गीथ शब्द से सम्पूर्ण वेद और ब्रह्म का बोध होता है । इस कारण उद्गीथ के अर्थ को विचारता हुआ मुमुक्षु सम्पूर्ण वेदार्थ और तत्प्रतिपाद्य ब्रह्म का ध्यान करे अन्य सब पूर्ववत् जानना ॥ ६ ॥

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवीथमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्नि-स्थᳪ सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग् दोहं

यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त "उद्गीथ" इति[1] ॥ ७ ॥

द्यौः । एव । उत् । अन्तरिक्षम् । गीः । पृथिवी । थम् । आदित्यः । एव । उद् । वायुः । गीः । अग्निः । थम् । सामवेदः । एव । उत् । यजुर्वेदः । गीः । ऋग्वेदः । थम् । दुग्धे । अस्मै । वाग् । दोहम् । यः । वाचः । दोहः । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । यः । एतान् । एवम् । विद्वान् । उद्गीथाक्षराणि । उपास्ते । उद्गीथः । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—द्यौरिति । द्यौः एव उत् । सर्वेभ्यरुच्चैः स्थितत्वादुच्छब्देन द्यौरभिधीयते । अन्तरिक्षं गीः । शब्दस्य नभोवृत्तित्वात् तदधिष्ठानमन्तरिक्षमपि गीरुच्यते पृथिवीथम् सर्वे जीवाः पृथिव्यां तिष्ठन्तीतिहेतोः पृथिवी थम् । आदित्य एव उत् । ऊर्द्धस्थितत्वात् । वायुः गीः । गिरतीति गीः । अग्निः थम् । यतः अग्नौ एव यज्ञीयकर्मणां स्थितिः । सामवेद एव उद् । यजुर्वेदो गीः । ऋग्वेदः थं । उद्गीथाक्षरविज्ञानस्य प्ररोचनार्थं फलमपिदर्श्यते । यो वाचो दोहः । दोग्धीति दोहः दोग्धा इति यावत् । यः पुरुषः । एवं वाच उद्गीथरूपस्य वचनस्य दोहः दोग्धा अस्ति । अस्मै पुरुषाय । एवंविदे पुरुषाय वाग् वाणी । स्वयमेव दोहं दोहनं दुग्धे करोति । स्वयमेव वाणी आत्मानं दुग्ध्वा तस्मै साधकाय स्वकीयं तात्पर्य्यं सम्यग् विस्फोटयति । वाचोदोह इत्यत्र कर्मणि षष्ठी । दुग्ध इत्यत्र कर्मकर्तरि प्रयोगः । "न दुहस्नुनमां यक् चिणौ" इत्यनेन यक् निषेधः । यद्वा दुह्यत इति दोहः क्षीरम् । वाक् वाणी अस्मै साधकाय दोहं दुग्धं क्षीरं दुग्धे स्वयमेव । यो वाचो वाण्या दोहो दुग्धमस्ति नह्यत्र गवादीनां दुग्धमपेक्षते । किन्तु वाण्या गोर्विचाररूपं दुग्धमभिप्रेतं वर्त्तते । पुनः स पुरुष अन्नवान् भवति । पुनः । अन्नादः । अन्नमत्तीति अन्नादः नीरोगतया दीप्ताग्निर्भवति । यः पुरुषः एवं विद्वान् । पूर्वोक्तार्थं विजानन् । एतानि उद्गीथाक्षराणि उद+गी+थ इति त्रीणि अक्षराणि उपास्ते । सः । अन्नवान् अन्नादश्च भवतीति योज्यम् । कथं ब्रह्मपथस्य नेत्री इयमुपनिषद् ऐहिकफलप्रदर्शनेन ऐहिके क्षणविध्वंसिनि अन्नादिप्रगाढपङ्के मुमुक्षून् निमज्जयितुं प्रयतते । एतावदक्षरविज्ञानेन अन्नाधिपत्यमेव फलम् यदि लभ्येत । तर्हि सुकरैरेव लौकिकैरुपायैस्तत्साध्यत्वात् कृतं बह्वायासेन अक्षर विज्ञानेन । महोपकारकमौषधमपिवन्तं शिशुं गुडमपिलिप्स्यसे यदिदं

(१) छा० उ० १ । १३ । ४ ॥ २ । ८ । ३ देखो ॥

पिबेरिति प्रलोभ्य पाने प्रवर्त्तयति तथैव जननीव कल्याणकारिणी प्रकृत्यैव धनेप्सून् जनान् तदेवफलं दर्शयित्वा ततोप्यधिकतमं फलं प्रति शनैर्नयति ॥ ७ ॥

अनुवाद–द्युलोक ही "उत्" है। अन्तरिक्ष ही "गीः" है पृथिवी "थ" है आदित्य ही "उत्" है। वायु ही "गी" है। अग्नि ही "थ" है। सामवेद ही "उत्" है। यजुर्वेद ही "गीः" है। ऋग्वेद ही "थ" है। जो (ब्रह्मवित्) वचन का दोग्धा है इस के लिये स्वयं वाणी अपने से वचनरूप दूध दुहती है। अथवा वाणी इस के लिये दूध देती है। जो वचनरूप दूध है। और उद्+गी+थ इन अक्षरों के अर्थ को पूर्वोक्त रीति से जानता हुआ जो उद्गीथ की उपासना करता है वह अन्नवान् और अन्नाद होता है[1] ॥ ७ ॥

पदार्थः—पुनः उद्गीथ अक्षर के अर्थ दिखलाए जाते हैं। (द्यौः एव उद्) द्युलोक को उत् कहते हैं। क्योंकि उत् शब्द का अर्थ ऊर्ध्व है और सब से ऊर्ध्व स्थित-भाग को द्युलोक कहते हैं। जिस कारण द्युलोक ऊर्ध्व है अतः उसे उत् कहते हैं। (अन्तरिक्षम्) आकाश को (गीः) कहते हैं। गी नाम वाणी का है। वाणी अर्थात् शब्द का स्थान आकाश है शब्द का अधिष्ठान होने के कारण आकाश भी गी कहलाता है। जैसे गृह स्त्री को कहते हैं क्योंकि गृह की शोभा वा गृहस्थाश्रम स्त्री के कारण से है। अतः स्त्री को भी गृह कहते हैं तद्वत् जानना। (पृथिवी थम्) पृथिवी को थ कहते हैं। क्योंकि थ शब्दार्थ स्थिति है सकल प्राणी की स्थिति निवास पृथिवी पर है अतः पृथिवी को थ कहते हैं पुनः (आदित्य एव उद्) सूर्य को उद् कहते हैं। क्योंकि सूर्य उपरिस्थ है (वायुः गीः) वायु को गी कहते हैं क्योंकि वायु के कारण वाणी का उच्चारण होता है (अग्निः थम्) अग्नि को थ कहते हैं क्योंकि यज्ञीय पदार्थ अग्नि में ही स्थापित किये जाते हैं। (सामवेद एव उद्)

(१) द्युलोक उसे कहते हैं जो सूर्य के उपरिस्थ है। सूर्य से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त अन्तरिक्ष लोक और पृथिवीलोक प्रत्यक्ष हैं ये तीनों त्रिलोक कहाते हैं इन तीनों भुवन वा लोक को सम्पूर्ण असंख्य भुवन के स्थानापन्न मानने चाहिये। एवं आदित्य वायु और अग्नि ये त्रिदेव कहाते हैं। इन तीनों के ही अन्तर्गत सकलदेव समझने चाहिये। एवं ऋग्, यजु और साम ये त्रयी विद्या है इन तीनों के वर्णन से सारी विद्या का अन्तर्भाव करलेना चाहिये। भाव यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समस्त देव और निखिल विद्याएं उसी ब्रह्म के अधीन हैं। ईदृग् भावना एक उद्गीथ शब्द के द्वारा साधक करे और इस सम्पूर्ण में ईश्वर शक्ति की व्यापकता और महिमा को देखे।

सामवेद को उद् (यजुर्वेदः गीः) यजुर्वेद को गी । और (ऋग्वेदः थम्) ऋग्वेद को 'थ' कहते हैं । उत्+गी और थ ये तीनों शब्द अनेकार्थक हैं । अतः इन के भिन्न २ अर्थ दिखलाए गये हैं । इस प्रकार एक उद्गीथ शब्द के प्राण से लेकर वेद तक अर्थ होने के कारण ईश्वर वाचकों में यह भी श्रेष्ठ नाम है ऐसा जानना चाहिये ।

आगे मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये उद्गीथाक्षर विज्ञान का फल कहा जाता है ॥

(यः) जो (वाचः) उद्गीथरूप वचन के (दोहः) दुहने वाला है (अस्मै) इस दोग्धा साधक के लिये (वाग्) ऋगादि वेदवाणी (दोहम्) दूध को (दुग्धे) स्वयं अपने आत्मा को दुहती है । अर्थात् स्वयमेव वाणी अपने को दुहकर अपने तात्पर्य को उस के सामने प्रकाश करती है यह अलङ्कारमात्र है । अर्थात् जो साधक इस प्रकार ब्रह्म को विचारता है उसको सब अर्थ ज्ञात होने लगते हैं । यद्वा (वाग्) वाणी (अस्मै) उसके लिये (दोहम्) दूध (दुग्धे) स्वयं अपने को दुहती है (यः) जो (वाचः) वचन का (दोहः) दूध है । यहां दुहना गाय का नहीं किन्तु वाणी रूप गाय का दुहना है (यः) जो साधक (उद्गीथाक्षराणि) उद्गीथ के अक्षर जो (उत्+गी+थ+इति) उत्+गी और थ ये तीन अक्षर हैं उनको (एवं विद्वान्) पूर्वोक्त रीति से जानता हुआ (उपास्ते) ब्रह्म की उपासना करता है वह (अन्नवान्) प्रचुर धनाढ्य और (अन्नादः) अन्न नाम खाद्य पदार्थ और आद नाम खानेवाला अर्थात् अन्न के खाने वाला (भवति) होता है ॥

शङ्का—ब्रह्म के पथ की ओर लेजाने वाली उपनिषद् ऐहिक फल को दिखलाकर ऐहिक क्षणविध्वंसी अन्न आदिरूप प्रगाढ़ पङ्क में मुमुक्षुओं को डुबाने के लिये क्यों यत्न करती है ? इतने अक्षर (ब्रह्म) के विज्ञान से यदि केवल अन्न का अधिपतित्वरूप ही फल प्राप्त हो तो बहुश्रमसाध्य अक्षर विज्ञान से क्या लाभ है वह तो लौकिक सहज उपायों से सुगमता के साथ प्राप्त हो सकता है । फिर इसके लिये शास्त्रों के अध्ययन और प्रत्येक अक्षर आदि का विचार व्यर्थ है ॥

उत्तर—महोपकारी औषध को न पीते हुए शिशु सन्तान को माता पिता कहते हैं कि इस औषध को यदि तूं पान करेगा तो तुझे गुड़ भी देवेंगे इस प्रकार प्रलोभन देकर अज्ञानी बालक को औषधपान में प्रवृत्त करवाते हैं तद्वत् माता सदृश कल्याण करने वाली उपनिषद् स्वभावतः धनेप्सुजनों को प्रथम वही फल दिखला कर उन्हें उस से भी अधिकतम फल की ओर ले जाती है, अतः ऐसा वर्णन किया गया है ।

उपनिषद् ने जो कहा है कि ब्रह्मोपासक अन्न के खाने वाला होता है वह केवल प्रलोभन नहीं है, परन्तु वास्तव में सत्य है । ईश्वर से विमुख पुरुष जो अन्न खाते हैं वे अन्न पाप कर्म द्वारा कमाकर खाते हैं केवल ईश्वरभक्त ही वास्तव में अन्न खा सक्ते वा खाते हैं । श्रीजनक से ब्रह्मवेत्ता चक्रवर्ती राज्य करते रहे । अश्वपति से महाराज जीवन-मुक्त हो गये । श्रीकृष्ण से योगिराज गृहस्थ धर्म पालन करते रहे महर्षि याज्ञवल्क्य परम ब्रह्मवेत्ता गृहस्थ थे । इत्यादि दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म उपासक धन धान्य से पूरित हो सक्ता है अतः इस को हम केवल प्रलोभन नहीं कह सक्ते । साथ ही यजु० अ० ४० मं० २ में मरण पर्य्यन्त जीव को कर्म करने की आज्ञा है जो कर्म करेगा उस को अन्न भी स्वतः प्राप्त होगा । इसी हेतु से तो स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश समु० ५ में लिखा है कि विरक्त को धन रत्न दान देने चाहिये । इत्यादि अनुसन्धान कर लेना ॥ ७॥

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन् स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

अथ । खलु । आशीः । समृद्धिः । उपसरणानि । इति । उपासीत । येन । साम्ना । स्तोष्यन् । स्यात् । तत् । साम । उपधावेत् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—अथ खलु सम्प्रति । आशीः समृद्धिरुच्यते । आशिष आशायाः कामस्य समृद्धिः सम्यग् वृद्धिर्यैरुपायैर्भवेत् । तान् दर्शयति । उपसरणानि । उपसर्तव्यानि । उपमन्तव्यानि मीमांस्यानि चिन्त्यानि यानि यानि वस्तूनि भवन्ति तानि तानि उपासीत चिन्तयेत् । कियन्ति कतमानि चेति संक्षेपतो विशदयति । येन साम्ना गेयसामवेदेन स्तोष्यन् स्यात् । स्तुतिं करिष्यन् भवेत् । तत् साम प्रथमतरमुपधावेत् । चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

अनुवाद—अब कामना की समृद्धि (कही जाती) है जो चिन्तनीय वस्तुएं (यज्ञादि में) आती हैं उन्हें विचारें । जिस सामवेद से स्तुति करनी हो प्रथम उस साम के तत्त्व का विचार करे ॥ ८ ॥

(१) अब यहां से समाप्ति पर्यन्त यह दिखलाया जाता है कि जिनके द्वारा उस ब्रह्म के निकट पहुंचता है, प्रथम उन सकल सामग्रियों को अच्छी तरह से जाने । मूल में आशीः समृद्धि पद आया है । आशीः नाम ईश्वर का आशीर्वाद, उसकी परम वृद्धि को आशीः समृद्धि कहते हैं । ईश्वर का आशीर्वाद तब ही प्राप्त कर सकता है जब उस की आज्ञा को पालन करे, उस की आज्ञा वेद है । अतः वेद से आरम्भ किया जाता है ।

पदार्थः—(अथ खलु) अब इस के अनन्तर (आशीः समृद्धिः) आशीः= कामना उस की समृद्धि परमवृद्धि जिन उपायों से होती है उन को उपनिषद् दिखलाती है । (उपसरणानि) उपमन्तव्य अर्थात् उपासना वा कर्म के समय में जो जो विषय मीमांस्य वा चिन्तनीय होते हैं उन्हें उपसरण कहते हैं । इन को (उपासीत) विचारे । वे उपसरण कितने और कौन हैं इस को आगे दिखलाते हैं । (येन) जिस (साम्ना) साम से अर्थात् गाने के मन्त्र से (स्तोष्यन् स्यात्) ऋत्विग् वा यजमान को स्तुति करनी हो (तत् साम) उस साम को (उपधावेत्) विचारे । अर्थात् प्रथम जिस साम के मन्त्र से स्तुति करनी हो उसके अर्थ आदि का विचार करे । यह प्रथम उपसरण है ॥ ८ ॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन् स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

यस्याम् । ऋचि । ताम् । ऋचम् । यत् । आर्षेयम् । तम् । ऋषिम् । याम् । देवताम् । अभिस्तोष्यन् । स्यात् । ताम् । देवताम् । उपधावेत् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—यस्यामिति । यस्यामृचि तत् पूर्वोक्तं सामस्यात् । ताम् । ऋचम् । उपधावेत् । विचारयेत् । उपधावेदिति पदमग्रे सर्वत्र योज्यम् । यदार्षेयम् । येन ऋषिणा तत् साम दृष्टम् । तमृषिम् । यां देवतामभिस्तोष्यन् । यजमानो ब्रह्मविद्वा यस्याः स्तुतिं करिष्यन् स्यात् तां देवतामुपधावेत् । सर्वेषां वेदतात्पर्य्याणां परमे ब्रह्मणि पर्य्यवसानमिति । तत्तुसमन्वयादित्यादिसूत्रजातैः स्पष्टीकृतं वेदव्यासेन । उपनिषदः खलु पदे पदे तमेव विषयं विशदयन्ति । देवताशब्दाभिलप्यानां जातवेदोरविशशिमरुदादीनामपि गुणान् सम्यग् विज्ञाय तस्यैव ब्राह्मीं विस्तीर्णां शक्तिं सर्वत्र भावयेत् ॥ ९ ॥

अनुवाद—जिस ऋचा में (वह साम होवे) उस ऋचा की, जो आर्षेय हो उस ऋषि की, जिस देवता की स्तुति करनी हो उस देवता अर्थात् विषय का ध्यान करे ॥ ९ ॥

पदार्थः—(यस्याम्) जिस (ऋचि) ऋचा में "वह साम हो" इतना अध्याहार करना चाहिये (ताम् ऋचम्) उस ऋचा को (उपधावेत्) विचारे (यत्) जो (आर्षेयम्) उस साम का जो ऋषि हो (तम् ऋषिम्) उस ऋषि को (उपधावेत्)

(१) ऋग्वेद के अन्तर्गत ही प्रायः सकल सामवेद है । अतः ऋग्वेद के जिस स्थल से वह साम सम्बन्ध रखता हो । वहां के सकल सम्बन्ध आदि का विचार करे ।

(२) अर्थ की सुगमता के हेतु यह पद तीनों स्थानों में योजित किया गया है ।

विचारें अर्थात् उनके गुण कर्म स्वभाव सम्बन्धी इतिहास को स्मरण करे । (याम्) जिस (देवताम्) देवता=मंत्रस्थविषय का (अभिस्तोष्यन्) यजमान वा ब्रह्मवेत्ता स्तुति करने वाला (स्यात्) होवे (ताम् देवताम्) उस देवता (विषय) का (उपधावेत्) चिन्तन करे ॥ ९ ॥

भाष्याशयः—"तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र से वेदव्यास ने सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण वेद के वास्तविक तात्पर्य्य उसी ब्रह्म से हैं । उपनिषद् तो पद पद पर इस को दिखलाती है । तथा वेद का परमपूज्य देव एक वही ब्रह्म है अन्य नहीं । परन्तु अग्नि, सूर्य्य, मरुद् आदि भी देवनाम से कहे गये हैं । उन को भी उपयोगी जान ब्रह्म की महिमा की ओर मन लगावे ॥ ९ ॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात् तꣳस्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

येन । छन्दसा । स्तोष्यन् । स्यात् । तत् । छन्दः । उपधावेत् । येन । स्तोमेन । स्तोष्यमाणः । स्यात् । तम् । स्तोमम् । उपधावेत् ॥ १० ॥

भाष्यम्—येनेति । येन च्छन्दसा गायत्र्यादिरूपेण स्तोष्यन् स्यात् । तच्छन्दः । उपधावेत् । येन स्तोमेन । सामस्तुतिसमूहेन स्तोष्यमाणः स्यात् तंस्तोममुपधावेत् । सरलार्थत्वाद् न विवृतानि सर्वाणि पदानि । गायत्री, बृहती, जगती, पंक्ति, प्रमुखानि सप्तविधानि वैदिकानि च्छन्दांसि प्रसिद्धानि । तेषाञ्च भेदा असंख्येया भवन्ति । सामवेदस्य स्तोत्राणि यथाकालं यथाकर्म्मपाठ्यानि रथन्तरोक्थ शस्त्रस्तोमादिशब्दैरभिलप्यन्ते । तानि सम्यग् वेदितव्यानीति शिक्षते ॥ १० ॥

अनुवाद—(यजमान वा ब्रह्मवेत्ता को) जिस छन्द से स्तुति करनी हो उस छन्द को विचारे जिस स्तोम[१] से स्तुति करनी हो उस स्तोम को विचारे ॥ १० ॥

पदार्थः—(येन छन्दसा) जिस गायत्री आदि छन्द से (स्तोष्यन्+स्यात्) स्तुति करनी हो (तत्+छन्दः) उस छन्द को (उपधावेत्) विचारे (येन स्तोमेन) जिस स्तोम से (सामवेद के स्तुति समूह को स्तोम कहते हैं) (स्तोष्यमाणः स्यात्) स्तुति करनी हो (तं स्तोमम्) उस स्तोम को (उपधावेत्) विचारे ॥ १० ॥

भाष्याशयः—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात छन्द

(१) स्तुतिसमूह । स्तोत्र ।

प्रधान हैं। उनके अवान्तर भेद तो बहुत हैं और उक्थ, शस्त्र, रथन्तर, स्तोम आदि स्तोम, सामवेद सम्बन्धी हैं। जो समय समय पर उद्गाता आदि गाते हैं, इन सब को अच्छी तरह से जानने के हेतु उपनिषद् शिक्षा देती है ॥ १४ ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन् स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

याम् । दिशम् । अभिष्टोष्यन् । स्यात् । ताम् । दिशम् । उपधावेत् ॥ ११ ॥

भाष्यम्—यामिति। यां दिशम्। दिशति उपदिशति या सा दिग् शिक्षको ब्रह्मा नामक ऋत्विक्। दिक् शब्दस्य स्त्रीत्वात् पुंसि ब्रह्मण्यसामर्थ्यमिति न शङ्कनीयम्। स्त्रीपुत्रादिषुदारकलत्रापत्यादिविद्यमानत्वात्। यां दिशम् यं ब्रह्माणम्। अभिस्तोष्यन्। अभिमुखीकरिष्यन्। कर्म्मणि नियोजयिष्यन् स्यात्। भवेत्। तां दिशं तं ब्रह्माणमृत्विजमुपधावेत् विचारयेत्। तस्य गुणकर्मादिविचारयेत् तस्य सर्वं स्वभावं विदित्वा तम् कर्मणि नियोजयेदित्यर्थः। इत्थं सर्वेषामृत्विजां स्वभावं ज्ञात्वैव तत्तत्कर्मणि तंतं वृणीतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

अनुवाद—जिस ब्रह्मानाम ऋत्विक् को कर्म में नियोजित करना हो उस का विचार करे ॥ ११ ॥

पदार्थः—(यां दिशम्) जिस ब्रह्मा को (यहां दिग् शब्द का अर्थ उपदेश करने वाला शिक्षक है अर्थात् कर्मशिक्षक ब्रह्मा आदिक ऋत्विक्) (अभिस्तोष्यन्) कर्म में नियोजित करना हो (तां दिशम्) उस शिक्षक ब्रह्मा के (उपधावेत्) गुण कर्म स्वभाव आदि को विचारे अर्थात् उस के सकल स्वभाव को प्रथम विचार कर तब कर्म में नियोजित करे ॥ ११ ॥

भाष्याशयः—शङ्का। स्त्रीलिङ्ग दिग् शब्द पुल्लिङ्ग ब्रह्मा अर्थ में कैसे प्रयुक्त होगा ?, उत्तर—यह दोष नहीं। स्त्रीलिङ्ग स्त्री अर्थ में, पुल्लिङ्ग दार और नपुंसक कलत्रशब्द के प्रयोगवत् जानने अर्थात् व्याकरण के अनुसार "दार" शब्द पुल्लिङ्ग है परन्तु अर्थ उस का स्त्री होता है। इत्यादि संस्कृत में सहस्रशः प्रयोग विद्यमान हैं ॥ ११ ॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत। कामं ध्यायन्न प्रमत्तो-

(१) मूल में दिक् शब्द है। यद्यपि आजकल दिग् शब्द के अर्थ पूर्व पश्चिम आदि होते हैं, परन्तु प्राचीनकाल में शिक्षक भी अर्थ होता था। पूर्व पश्चिम आदि अर्थ यहां असंगत हैं।

ऽभ्यासो (शो) ह यदस्मै स कामः समृद्ध्येत । यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

आत्मानम् । अन्ततः । उपसृत्य । स्तुवीत । कामम् । ध्यायन् । अप्रमत्तः । अभ्यासः (शः) । ह । यत् । अस्मै । सः । कामः । समृद्ध्येत । यत्कामः । स्तुवीत । इति । यत्कामः । स्तुवीत । इति ॥ १२ ॥

भाष्यम्–आत्मानमिति । इत्थं सर्वाणि चिन्तनीयानि वस्तूनि ध्यायं ध्यायमन्ते ब्रह्मैकमेव ध्यायेदित्यत्र उपदिश्यते । अप्रमत्तः । अवहित एकाग्रः । एकाग्रेण मनसा सर्वेभ्यस्तत्तद्विषयेभ्य इन्द्रियाण्याकृष्य सर्वथा स्थिरमना भूत्वा काममभिलषितम् । कामं यथास्यात्तथा क्रियाविशेषणं वा यथेष्टम् । पूर्णरीत्या ध्यायंस्तदेव ब्रह्मस्मरन् । अन्ततः । अन्त । आत्मानम् । परमात्मानमुपसृत्य । मनसा परस्यात्मनः समीपं गत्वा स्तुवीत । स्तुतिं कुर्य्यात् । एवं सति । यत् । यस्मिन् कर्म्मणि । स ब्रह्मवित् । उद्गाता भूत्वा । यद्वा । यत् । यदर्थम् । यत्कामः । यः कामो यस्य स यत्कामः । यद्यद् वस्तु कामयमानः सन् । स्तुतिं कुर्य्यात् । अस्मै । एवंविदे पुरुषाय स कामः अभ्यासः तालव्योपधो वा शीघ्रं ह निश्चयेन समृद्ध्येत । समृद्धोभवेत् । इति । यत्कामः स्तुवीतेति द्विरुक्तिरादरार्था खण्डसमाप्त्यर्था वा इति ॥ १२ ॥

अनुवाद–अप्रमत्त हो पूर्ण रीति से ध्यान करता हुआ (वा अभिलषित वस्तु का स्मरण करता हुआ) अन्त में (मन के द्वारा) परमात्मा में समाधिस्थ (एकाग्रचित्त) हो स्तुति करे । इस ब्रह्मवित् का वह मनोरथ अवश्य ही शीघ्र समृद्ध हो जिसलिये वह स्तुति करे । वह स्तुति करे ॥ १२ ॥

पदार्थः–इस प्रकार सम्पूर्ण चिन्तनीय वस्तुओं को ध्यान करता हुआ अन्त में एक ब्रह्म का ही ध्यान करे इस का उपदेश किया जाता है (अप्रमत्तः) अवहित । एकाग्र हो अर्थात् स्तुति आदि कर्म में प्रमाद वा आलस्य को न करता हुआ (कामम्) यथेष्ट । सम्पूर्ण प्रकार से वा अभिलषित वस्तु को (ध्यायन्) (ब्रह्म का) ध्यान करता हुआ (अन्ततः) अन्त में (आत्मानम्) परमात्मा की (उपसृत्य) मन के द्वारा समीप जाकर (स्तुवीत) स्तुति करे । इस प्रकार (यत् कामः) जिस काम का अभिलाषी होकर (यत्) जिस

(१) यहां आत्मा शब्द ब्रह्मवाचक है । अन्य टीकाकारों ने अपने नाम पुत्र कलत्र आदि अर्थ किये हैं सो ठीक नहीं ।

(२) संस्कृत में अभ्यास पद है । शीघ्र उसका अर्थ होता है ।

शुभकाम के लिये (स्तुवीत) स्तुति करेगा (ह) निश्चय (सकामः) वह शुभकाम (अ-भ्यासः) शीघ्र (अस्मै) इस ब्रह्मवित् के लिये (समृद्धचेत) समृद्ध सम्पन्न अर्थात् प्राप्त हो । (यत्कामः) (स्तुवीत) यह द्विरुक्ति आदर वा खण्ड समाप्ति के लिये आई है[1] ॥ १२ ॥

इति तृतीय खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्यो-पव्याख्यानम्[2] ॥ १ ॥

भाष्यम्-ओमिति । नन्वाद्यं प्रवाकं पुनरप्युपपादयन्तीयं किमधिकतरं फलं पश्यति ? अन्तरोद्गीथाक्षरार्थमीमांसनेन प्रस्तुतस्याक्षरस्यान्तरितत्वादप्रासङ्गिकोदोषो माभूदित्येतदर्थं पुन-रपि प्रकृतमक्षरमभयादिगुणविशिष्टं स्मारयित्वा तदेव व्याचिख्यासितुकामोमित्येतदक्षरमित्यादि प्रारभते । तत्रैवास्य व्याख्यानं द्रष्टव्यम् ॥

भाषा-शङ्का-प्रथम प्रवाक को पुनरपि उपपादन करती हुई यह उपनिषद् कौन से अधिकतर फल को देखती है ?, उत्तर-बीच में उद्गीथाक्षर की मीमांसा से प्रस्तुत (प्रार-म्भ किया हुआ) अक्षर के अन्तर पड़जाने के कारण अप्रासङ्गिक दोष न होवे अतः पुनरपि अभयादि गुण सहित प्रकृत अक्षर को स्मरण करवा उसी की व्याख्या करने की इच्छावाली उपनिषद् ओमित्यादि का आरम्भ करती है वहां ही ओमित्यादि का संस्कृत और भाषा अर्थ देख लेना ॥ १ ॥

---

(१) बृहदारण्यक में कहा गया है "स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात् तदेतानि जपेद् । असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं ग-मय" बृ० १ । ३ । २८ ॥ अर्थ-प्रस्तोता नाम ऋत्विक् सामगान का प्रस्ताव करे । वह प्रस्तोता जिस काल में साम के प्रस्ताव का आरम्भ करे उस समय यह जपे । असतोमा इत्यादि । हे परब्रह्म असत् से सत्य की ओर मुझ को ले चलो, अन्धकार से ज्योति की ओर मुझ को ले चलो, मृत्यु से अमृत की ओर मुझ को ले चलो ।

(२) प्रपाठक १ । खण्ड १ । प्रवाक १ देखो ।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभि-रच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

देवाः । वै । मृत्योः । बिभ्यतः । त्रयीम् । विद्याम् । प्राविशन् । ते । छन्दोभिः । अच्छादयन् । यत् । एभिः । अच्छादयन् । तत् । छन्दसाम् । छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

भाष्यम्–देवा इति । कदाचिद्देवा विद्वांसः । वै निश्चयेन मृत्योर्मरणाद् बिभ्यतः । भयं दधानाः । "नाभ्यस्ताच्छतुः ७ । १ । ७८ । अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न स्यात्" इति नुम् निषेधः । तत्प्रतीकाराय । ते । त्रयींविद्याम् । ऋग्यजुःसामलक्षणांश्चतुरोवेदान् । त्रयोऽवयवा अस्या इति त्रयी । त्रयीतिवेदनामधेयम् । श्रुतिस्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिरिति-कोशः । प्राविशन् । प्रविष्टवन्त आश्रितवन्त इत्यर्थः । यद्वा । मृत्योस्त्राणं तैर्मन्यमानास्ते विद्वांसो वैदिकानि कर्माणि प्रारब्धवन्त इत्यर्थः । अत्र त्रयीविद्या शब्दः कर्मकाण्ड परः । किन्त्र । ते । छन्दोभिर्गायत्र्यादिच्छन्दोभिः । अच्छादयन् । अपावारयन् आत्मानं गोपयांचक्रुरित्यर्थः । "छद अपवारणे" यथाराजभयमापन्ना जनाः केनापि पूर्वव्यतिरेकेण वेषेणात्मानं छादयित्वा क्वचित्स्थाने प्रलीय स्वस्था इव तिष्ठन्ति यद्वा शीतार्ता वासोभिरात्मानं वासयित्वा निर्वातस्थान उपविश्य सुखिनो भवन्ति तथैव वैदिकैश्छन्दोभिरात्मानं ढौकयित्वा वेदान्प्रविश्याभयंमन्यमानास्ते तस्थुः । प्रसंगाच्छन्दः शब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थमपि लक्षयति । यत् । यस्माद्धेतोः । एभिश्छन्दोभिः । देवा अच्छादयन् छादयन्ति । तत्तस्मात् छन्दसां छन्दस्त्वं । तस्मादेव कारणाद् वेदस्यच्छन्द इति नाम जगति प्रसिद्धम् ॥ ५२ ॥

समीक्षा–केचिदत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते यत् साकारैः समवेतैः पदार्थैराच्छादनं लोके दृष्टम् । तत्कथमरूपैरक्षरमयैश्छन्दोभिर्देवानामाच्छादनं स्यात् । किं यथा अधुना दुर्गादीनां श्लोकान् भूर्जादिपत्रे लिखित्वा कस्मिंश्चित् सौवर्णे राजते ताम्रे वा यन्त्रे स्थापयित्वा कण्ठे हस्ते शिरसि वा परिधाय आत्मानं परितो रक्ष्यमाणं करवालादिभिरप्यखण्ड्यमानं मन्यमाना बालिशाः संति सहस्रशः । एवं श्लोकमयान् बहून् ग्रन्थान् विरचय्य कवचनामधेयान् विधाय समरे कवचानि बिभ्राणा योद्धार इव तान् धृत्वा रक्षितं मन्यन्ते केचित् । तद्वदेव किं ते देवाः कृतवन्त उतान्यत् किञ्चिदपि । इत्याशङ्कायां ब्रूमः । नहि तद्वत् । तत्तु । अज्ञानां शिशूनामिवाचरणम् । किं तर्हि यस्य यादृशी योग्यता तत्तथैव नियोजितव्यम् । यथा प्राणायामे वायुमाकर्षति । नह्यत्र रज्जुवद् वायोराकर्षणं सम्भवति । किं तर्हि । मुखनासिकाभ्यां तस्याकर्षणसम्भवः ।

उरगो वायुं पिबति नह्यत्र दुग्धादिवत्पानं। दुःखेन दह्यते। नह्यत्र अग्निवद्दहनम्। नेत्राभ्यां सुतस्य वदनं पिबति। नह्यत्र जलादिवद्वदनपानं किं तर्हि सस्नेहमवलोकनम्। एवमेव च्छन्दोभिर्देवा अच्छादयन्नित्यत्र नहि वासोवद् देहाच्छादनम्। किं तर्हि। छन्दसां वैदिकमन्त्राणामाचार्य्यतोऽक्षरशोऽर्थान् सम्यग् विदित्वा तावतैवार्थविज्ञानेनात्मानममरं पश्यन्तः कृतकृत्याः सन्त उदासाञ्चक्रिरे। यद्वा छन्दोभिः सोमयागादिबहुविधकर्मानुष्ठानैस्तज्जनितपुष्कलफलैरात्मानं सुरक्षितं निर्भयञ्च मेनिर इत्यर्थः। ऐदंयुगीनाः खलु वेदपथादवरुह्य शिष्टाचारानप्यनादृत्य यदृच्छया अशास्त्रविहितानि कर्माण्यनुतिष्ठन्तः प्रचारयन्तश्च मायाजालैर्धीवरामत्स्यानिव अबोधान् जनान् पाशयित्वा तैः सहान्तत आत्मानमप्यधोधः पातयन्ति। एतैरेव स्वार्थपरकैर्मनुष्यैः पुराणतन्त्रादीनि केवलप्रमत्तप्रवादैर्निरूपितानि नटविटधूर्त्तादिमनोहराणि पुस्तकानि शतानि सहस्राणि लक्षाणि वा लिखितानि। तानि सर्वथा वेदविरुद्धत्वात् पूर्वैः शिष्टैरगृहीतत्वाच्चोपेक्षितव्यानि अनादर्त्तव्यानि च॥

छन्दः—मन्त्रा मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजते सामसम्मितमृचास्यतेर्वर्चा समं मेन इति नैदानाः। निरु० अ० ७। खं० १२॥ अविद्यादि दुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनाच्छन्दोवेदः। तथा। "चन्देरादेश्चछः" (२१९) इत्यौणादिकं सूत्रम्। "चदि आह्लादने दीप्तौ च" इत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति। वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति। सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दोवेदः।

देवशब्दः—द्वया वै देवा देवाः। अहैवदेवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्य देवास्तेषां द्वेधाविभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाꣳ शुश्रुवुषामनूचानानामाहुतिभिरेवदेवान्प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाँच्छुश्रुवुषोऽनूचानांस्त एनमुभे देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति। शतपथे कां० ४। अ० ३। प्र० ३। मं० ४॥ पुनः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते। अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः। स एक आजानदेवानामानन्दः। बृ० उ० ४। ३। ३३। ये कर्मणा देवानपियन्ति। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। आजानजानां देवानामानन्दाः। एवं जातीयकैः प्रमाणैर्द्विविधोदेवो भवतीति विज्ञायते। एकस्तु जन्मना देवोस्ति यथा सूर्योवायुश्चन्द्रः पृथिवी। इत्यादि। एते सर्वे जड़देवाः सन्ति। अन्यो मनुष्येषु यो कर्मणा देवत्वं प्राप्नोति। देवत्वं परोपकारादिगुणविशिष्टत्वं। यथा सूर्योऽहरहः परोपकारं साधयन् स्वनियोगमशून्यं करोति। तथैव यो विद्वान् विद्यादिभिर्जगदुपकरोति सोऽपि देवः। इदानीमपि राजा देव इति राज्ञी देवीत्युच्यते संस्कृतभाषायाम्॥

अनुवाद—विद्वान् लोग निश्चय मृत्यु से डरते हुए त्रयी विद्या में पैठ गये और उन्होंने छन्दों से अपने देह को ढांक लिया। जिस कारण देव इन छन्दों से अपने को आच्छादन करते हैं इसलिये छन्दों का छन्दस्त्व जानना ॥ २ ॥

पदार्थः—(देवाः) विद्वान् लोग (वै) निश्चय (मृत्योः) मरण के भय से (बिभ्यतः) डरते हुए अर्थात् डरकर (त्रयीं विद्याम्) ऋग् यजु साम लक्षण वाले चारों वेदों में (प्राविशन्) पैठ गये (ते) उन्होंने (छन्दोभिः) वैदिक गायत्र्यादि छन्दों से अपने को (अच्छादयन्) आच्छादित करलिया (यत्) जिस कारण (एभिः) इन छन्दों से देवता लोगों ने (अच्छादयन्) आच्छादित किया (तत्) इसलिये (छन्दसाम्) छन्दों का (छन्दस्त्वम्) छन्दस्त्व है ॥ २ ॥

भाष्याशयः—कदाचित् देव लोग मृत्यु से डरकर उसके प्रतीकार के लिये चारों वेदों के आश्रय में आये अर्थात् वैदिककर्म्म द्वारा मृत्यु से त्राण समझकर वैदिक सोमयागादि कर्म्मों को आरम्भ किया। यहां त्रयीविद्या शब्द केवल त्रयी विहितकर्म्म को ही दिखलाता है क्योंकि ज्ञान भी वैदिक होने के कारण वेदों से ऊपर उठना यह वक्ष्यमाण वर्णन ज्ञान को सूचित करता हुआ वैदिकज्ञान से ही तात्पर्य रखता है ॥ उन देवों ने वैदिक गायत्र्यादि छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया इस का तात्पर्य यह है कि जैसे राजाओं के भय से भयभीत होकर प्रथम वेष से भिन्न किसी अन्य वेष से अपने को आच्छादित कर किसी गुप्तस्थान में छिपकर मानो स्वस्थ हो जाता है। यद्वा। शीतार्त आदमी वस्त्रों से अपने को आच्छादित कर निर्वात स्थान में बैठकर सुखी होता है वैसे ही वैदिक छन्दों के द्वारा देव लोग अपने को ढांक कर वेदों में पैठ आत्मा को अभय मानने लगे। अर्थात् आचार्य से वेदों के यथार्थ अर्थ को जानकर केवल क्रिया में तत्पर हो अपने को अभय मानने लगे ॥ २ ॥

समीक्षा—यहां पर कोई शङ्का करे कि साकार सम्मिलित पदार्थों से लोक में आच्छादन (ढांकना) देखा गया है। तब कैसे रूपरहित अक्षरमय छन्दों से विद्वानों का आच्छादन हो सकता है। क्या इसका यह भाव है कि जैसे आजकल दुर्गा आदि ग्रन्थों के श्लोकों को भोजपत्र आदि पत्रों में लिखकर किसी सोने, चांदी वा ताम्र के यन्त्र में रख कण्ठ, हाथ, शिर आदि किसी अङ्ग में पहिन अपने को परितोरक्ष्यमाण और खड्गादि से भी अखण्ड्यमान समझते हुए सहस्रशः मूर्ख देख पड़ते हैं। और श्लोकमय बहुत ग्रन्थ रचकर उन्हें कवच (युद्ध

के समय में योद्धाओं के पहिनने के योग्य लोहादि निर्मित जो वस्त्र उसे संस्कृत में कवच कहते हैं), नाम रखकर समर में कवच को धारण किये हुए योद्धा के सदृश उन्हें धारण कर कोई मूर्खजन अपने को रक्षित समझते हैं। वैसा ही क्या उन विद्वानों ने भी किया अथवा कुछ और ? इस आशङ्का का उत्तर यह है कि वैसा नहीं अर्थात् विद्वान् लोगों ने वैसा नहीं किया। वह तो अज्ञानी बालकों के जैसे आचरण हैं। तब क्या अर्थात् उस का क्या अभिप्राय है ? उत्तर–जिसकी जैसी योग्यता हो उसको वैसा ही लगाना और समझना चाहिये। जैसे प्राणायाम के समय में वायु को आकर्षण करता है इस वाक्य से यह भाव नहीं है कि रस्सी के समान वायु का आकर्षण करता है किन्तु मुख नासिका से उस वायु को भीतर खींचता है। सांप वायु पीता है यहां पर दुग्धादिवत् पान नहीं समझा जाता। दुःख से जलना है यहां पर अग्निवत् दहन नहीं माना जाता। एवं नेत्रों से पुत्र के मुख को पीता है यहां जलादिवत् मुख का पान नहीं है किन्तु स्नेहपूर्वक देखना ही अर्थ है। इसी प्रकार देवों ने छन्दों से अपने को आच्छादित किया यहां पर भी वस्त्रों से देहाच्छादन के समान अर्थ नहीं है किन्तु वैदिक मन्त्रों को आचार्य्यों से एक २ अक्षर का अर्थ जानकर उतने ही अर्थ विज्ञान से अपने को अमर समझ कृतकृत्य हो ज्ञान के साधन से उदासीन हो गये। यद्वा। छन्दों के द्वारा सोमयागादि बहुविध कर्मों के अनुष्ठान से और तज्जनित पुष्कल फलों से अपने को सुरक्षित और निर्भय मानने लगे, यह इसका आशय है। इस युग के लोग वेद के मार्ग से नीचे उतर शिष्टाचार का भी अनादर कर अपनी इच्छा से अशास्त्रविहित कर्म को करते कराते हुए मायावी जालों से मछलियों को मछुए के समान अबोधजनों को फँसाकर उनके साथ अन्त में अपने को भी नीचे गिराते हैं। इन्हीं स्वार्थी मनुष्यों ने केवल पागलपने की बातों से निरूपित नट विट धूर्त्त आदियों के मन को हरण करने वाले पुराण तन्त्रादि पुस्तक सहस्रों लक्षों लिखे हैं। सर्वथा वेद-विरुद्ध और पुरातन आप्तों से अस्वीकृत होने के कारण वे ग्रन्थ सब उपेक्षणीय और अनादरणीय हैं॥

देवशब्दः—(द्वा वै देवा देवा इति)। दो प्रकार के देव होते हैं। एक तो यज्ञ, मन्त्र, सूर्य्य, अग्नि आदि जड़ देव हैं। दूसरे (ये ब्राह्मणाः) जो ब्रह्मवित् समस्त शास्त्रों को सुने हुये और वेदों के व्याख्यान करने वाले हैं वे मनुष्य देव हैं। इन दोनों प्रकार के देवों का यज्ञ विभक्त है। अग्नि आदि देवों की दक्षिणा तो आहुतियां हैं और ब्रह्मवित् शुश्रुवान् अनूचान मनुष्य देवों की आहुतियों से यजमान उनको तृप्त करता है और हिरण्यादि दक्षिणा से मनुष्यदेवों को यजमान प्रसन्न रखता है। दोनों प्रकार के देव प्रसन्न होकर यजमान

को कल्याण पहुंचाते हैं। पुनः (कर्मदेवानाम्) इत्यादि प्रमाणों से भी द्विविध ही देव प्रतीत होते हैं। एक आजान देव दूसरे कर्म देव। जो जन्म से देव हैं वे आजान देव, जो कर्म से देव हैं वे कर्म देव। सूर्य्यादि देव जड़ हैं वे ईश्वरीय विभूति को प्रकट करते हैं। जैसे सूर्य प्रतिदिन परोपकार साधन करता हुआ अपने नियोग को अशून्य रखता है। वैसे ही विद्यादिकों से जो जगत् में उपकार करता है वह भी देव कहलाता है। आजकल भी परोपकारी राजा को देव, राज्ञी को देवी संस्कृत भाषा में कहते हैं। तृतीय देवाधिदेव महादेव ब्रह्म है। आगे पुनः देवशब्द पर विचार किया जायगा॥

तानुतत्र मृत्युर्यथामत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्य्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि तेनु विरत्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

तान् । उ । तत्र । मृत्युः । यथा । मत्स्यम् । उदके । परिपश्येत् । एवम् । पर्यपश्यत् । ऋचि । साम्नि । यजुषि । ते । नु । वित्त्वा । ऊर्ध्वाः । ऋचः । साम्नः । यजुषः । स्वरम् । एव । प्राविशन् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तानिति । यथा धीवर इति शेषः । उदके । अनतिगभीरे नीरे । मत्स्यं मीनम् । परिपश्येत् । एवं । तथा । मृत्युः । तत्र तस्यामृचि ऋग्वेदे । साम्नि सामवेदे । यजुषि यजुर्वेदे । स्थितान् । इति शेषः । ऋगादिविहितं कर्म्मानुतिष्ठत इत्यर्थः । तान्नु । तानपि । छान्दोभिराच्छादितविग्रहानपि । तान् देवान् । पर्य्यपश्यत् पर्य्यवालोकयत् । ते नु वितर्के । ते खलु देवाः । वित्त्वा । मृत्योर्चिकीर्षितं विदित्वा ज्ञात्वा । ऋचः साम्नोयजुषः । ऋग्यजुःसामसम्बद्धात् कर्म्मणः सकाशात् । अभ्युत्थाय इति अध्याहार्य्यम् । ऊर्ध्वाः ऊर्ध्वस्थिता भूत्वा । स्वरमेव स्वरशब्दितमक्षरमेव । प्राविशन् । प्रविष्टवन्तः । ओङ्कारोपासनतत्परा बभूवुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवाद—जैसे (मत्स्यघाती) (अनतिगभीर) जल में मत्स्य को देखता है। वैसे ही मृत्यु ने उन देवों को ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के आश्रय में देखा। पश्चात् वे देव (मृत्यु के कर्त्तव्य को) वितर्क से जान ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से उपरिष्ठ होकर स्वर (ओङ्कार) में ही प्रविष्ट हुए ॥ ३ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (मत्स्यम्) मछली को (उदके) जल में (परिपश्येत्)

मत्स्यघाती देखता है (एवम्) वैसे (मृत्युः) मृत्यु ने (उ) निश्चय (तान्) उन देवों को (तत्र) उस (ऋचि) ऋग्वेद में (साम्नि) सामवेद में (यजुषि) यजुर्वेद में स्थित (पर्य्यपश्यत्) देखा (नु) वितर्क पूर्वक (ते) वे देव (वित्त्वा) मृत्यु के इस व्यापार को जान (ऋचः) ऋग्वेद से (साम्नः) सामवेद से (यजुषः) यजुर्वेद से (ऊर्ध्वाः) ऊर्ध्वस्थित होकर (स्वरमेव) ओङ्कार में ही (प्राविशन्) प्रविष्ट हुए ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—देव लोग जब तक केवल कर्म में ही लिप्त हो वेद के तात्पर्य पर्यवसित परमब्रह्म की शरण में नहीं पहुंचे थे तब तक निश्चय मृत्यु के मुख से विमुक्त नहीं हुए थे। यहां ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद से तात्पर्य यह है कि तीनों वेद सम्बन्धी केवल कर्मकाण्ड। ज्ञानकाण्ड नहीं। यहां पर यह भी जानना चाहिये कि ऋग्, यजु, साम से ऊपर जाकर स्वर में प्रविष्ट हुए। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि त्रयीविद्या को उन देवों ने त्याग दिया किन्तु त्रयी विद्या का तात्पर्य केवल ब्रह्म में ही है। जिस प्रकार दूध के मथन से घृत ऊपर निकल आता है। यद्यपि वह घृत दूध में ही मिश्रित है। तथापि दूध के ऊपर आ जाता है। तद्वत् ब्रह्म वेद के वचन से ही बोधित होता है ब्रह्मवित् जब उसे (अभ्यास से) मथन करते हैं तो उसी वेदवाणी से ब्रह्म प्रकाशित होता है तब ज्ञानी साधक केवल ब्रह्म की विभूति को ही सर्वत्र देख २ कर सदा ब्रह्मानन्द को प्राप्त करते रहते हैं। अन्य कर्मकाण्ड को परोपकार दृष्टि से करते हैं। इसी को इस प्रकार उपनिषद् वर्णन करती है ॥ ३ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

यदा। वै। ऋचम्। आप्नोति। ओम्। इति। एव। स्वरति। एवम्। साम। एवम्। यजुः। एषः। उ। स्वरः। यत्। एतद्। अक्षरम्। एतद्। अमृतम्। अभयम्। तत्। प्रविश्य। देवाः। अमृताः। अभयाः। अभवन् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यदेति। अधुना ब्रह्मणो व्याप्तिं स्वयमेव दर्शयति। यदा वै। ब्रह्मवित् पुरुषो होता। ऋचमृग्वेदम्। आप्नोति शंसति। तया कर्म्मारभत इत्यर्थः। तदा प्रथमम्। ओमित्यवातिस्वरति। अतिशयेन आदरधिया स्वरति उच्चारयति। एवं सामोद्गाता। एवं यजुरध्वर्युश्च यदाप्नोति। तदातिस्वरतीति सम्बन्धः। अत उक्तम् ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳ

सर्वम् । ओमित्येतदनुकृति ह स्म वा अप्योश्रावयेत्या श्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओ३ँ शोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगिरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्म प्रसौति । इत्यादि तैत्तिरीये ॥ तथा च । तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते । ओमित्याश्रावयति । ओमिति शꣳसति । ओमित्युद्गायति । छान्दोग्ये । इत्थं होताऽध्वर्युरुद्गाता प्रतिमन्त्रं ओमित्याश्रावयति । शंसति उद्गायति च ॥ स्वरं लक्षयति । एष उ । एष एव । स्वरः । यदेतद् । अक्षरममृतम् । अभयञ्चास्ति । तदक्षरं पूर्वोक्तगुणविशिष्टं प्रविश्य देवा अपि अमृता अभया अभवन् । तादृग्गुणास्ते भवन्ति यादृशं देवं भजन्ते । अमृतत्वाभयत्वगुणविशिष्टं ब्रह्म भजमाना देवा अपि तादृशा एव बभूवुरित्यर्थः ॥

अनुवाद—जब (कोई ब्रह्मवित्) ऋग्वेद का आरम्भ करता है (तब प्रथम) ओङ्कार का ही अतिशय आदर बुद्धि से उच्चारण करता है । एवं सामवेद और यजुर्वेद का । निश्चय यही स्वर है जो यह अविनश्वर अमृत और अभय है उस में प्रविष्ट होकर देव अमृत और अभय हुए ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यदा) जब (वै) निश्चय ब्रह्मवित् होता (ऋचम्) ऋग्वेद को (आप्नोति) प्राप्त करता है । ऋग्वेद के द्वारा कर्म्म आरम्भ करता है (ओम् इति एव) ओङ्कार का ही (अतिस्वरति) अतिशय आदर बुद्धि से उच्चारण करता है (एवम्) इसी प्रकार (साम) साम (एवम्) इसी प्रकार (यजुः) यजुर्वेद । अर्थात् इसी प्रकार जब साम और यजुर्वेद का अध्ययन कोई ब्रह्मवित् आरम्भ करता है तो प्रथम ओङ्कारका ही उच्चारण कर लेता है (एषः) यही (उ) निश्चय (स्वरः) स्वर है (यत्) जो (एतत्) यह (अक्षरम्) अविनश्वर है (एतत्) यह (अमृतम्) अमृत है और जो (अभयम्) अभय है (तत्) उस ब्रह्म में (प्रविश्य) पैठकर (देवाः) देवलोग (अमृताः) अमृत (अभयाः) अभय (अभवन्) हुए । इस प्रवाक के द्वारा ब्रह्म की व्याप्ति दिखलाई गई है । जब ऋग्वेदतत्त्ववित् होता ऋग्वेद का पढ़ना वा उसके द्वारा कर्म्म आरम्भ करते हैं, प्रथम ओङ्कारका उच्चारण करते हैं इसी प्रकार अध्वर्यु और उद्गाता भी करते हैं । ओङ्कार प्रथम क्यों उच्चारण किया जाता है ? इसका मुख्य तात्पर्य यही है कि ब्रह्म का सम्बन्ध जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से है तद्वत् सम्पूर्ण वेद के संपूर्ण मन्त्रों से ब्रह्म का सम्बन्ध है अतएव प्रत्येक मन्त्र के आदि अन्त में प्रथम ओङ्कार का उच्चारण होता है । पुनः इस में यह भी वर्णन हुआ है कि देव भी अमृत और अभय हो गये । इस में शङ्का होती है कि अमृत अभय तो केवल ब्रह्म है । पुनः देव लोग अमृत और अभय कैसे हुए । उत्तर—

उपासक वैसे ही गुण वाले होते हैं जैसा उनका उपास्य देव होता है। देवों का उपास्य देव अभय और अमृत होने के कारण वे भी वैसे ही हुए।

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳस्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥

सः। यः। एतद्। एवम्। विद्वान्। अक्षरम्। प्रणौति। एतद्। एव। अक्षरम्। स्वरम्। अमृतम्। अभयम्। प्रविशति। तत्। प्रविश्य। यद्। अमृताः। देवाः। तत्। अमृतः। भवति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स य इति। प्ररोचनार्थं फलं दर्शयति। यो ब्रह्मवित्। एतदक्षरं ब्रह्म। एवं विद्वान् पूर्वोक्तगुणसहितं विजानन्। प्रणौति। प्रकर्षेण। स्तौति। "णुस्तुतौ" "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य"। ८। ४। १५। इति णत्वम्। उपासते। स एवंवित्। एतदेवाक्षरमविनश्वरम्। अमृतम्। अमरणधर्माणम्। अभयम्। निर्भयम्। स्वरम् स्वरोपलक्षितसामवेद प्रतिपाद्यम् ब्रह्म। प्रविशति प्राप्नोति ॥ यत्। यस्माद्धेतोर्देवास्तत् प्रविश्य अमृता बभूवुः। तत्तस्मात्। इदानीन्तनोऽपि साधकः। तद् ब्रह्म प्रविश्यामृतो भवति। न च चिरन्तना एव विद्वांसस्तत्प्राप्यामृता अभया बभूवुः। ऐदंयुगीना अपि तथैव भवितुमर्हन्ति ॥ ५ ॥

अनुवाद—जो (ब्रह्मवित्) इस अक्षर को ऐसा जानता हुआ स्तुति करता है। वह इसी अक्षर सामवेद प्रतिपादित अमृत और अभय ब्रह्म में प्रविष्ट होता है। जिस कारण (उसे पा) देव अमृत हुए अतः (आधुनिक ब्रह्मवित् भी) उसे प्राप्त कर अमृत होता है ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यः) जो (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनश्वर ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (प्रणौति) उसकी स्तुति करता है (सः) वह (एतत्) इस (एव) ही (अक्षरम्) अविनश्वर (अमृतम्) अमृत (अभयम्) अभय (स्वरम्) सामवेद प्रतिपाद्य ब्रह्म में (प्रविशति) अन्तर्भूत होता है (यत्) जिस हेतु उसे पाकर (देवाः) देव (अमृताः) अमृत हुए (तत्) इस हेतु आजकल का साधक भी (तत् प्रविश्य) उस में अन्तर्लीन होकर (अमृतः) अमृत (भवति) होता है ॥ ५ ॥

इति चतुर्थ खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

वेदस्य । (३)

समीक्षा नन्वस्मिंस्तुरीये खण्डे धीरा मृत्युभीतिं सन्तितीर्षवो वेदानाश्रयन्तोपि वैदिकै-र्मन्त्रैरात्मानं गोपायन्तोप्यभयमलभमानास्तेभ्यः समुत्थाय कञ्चित् स्वरं प्रविश्याभयाअमृताश्चा-भूवन्निति प्रघट्टकेन विशदीकुर्वन्ती तेन वेदानामानुश्रविककर्मणां च तुच्छतां सूत्रयित्वा किम-प्यन्यदेवोपदिदिक्षुरिव दृश्यत उपनिषद् । तेन कृतं वेदाध्ययनाभ्यां वैदिककर्मानुष्ठानेन च ।

तर्हि स एव स्वरो जिज्ञासितव्यः किमनेन वहुलायाससाध्येन वेदेन । यदि च स स्वरोऽपि वेदविहितोस्ति तर्हि वेदाभिन्नत्वादूर्द्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् । इत्यस्याच-रितार्थत्वमायाति । यदि भिन्नोस्ति । वाढं तर्हि । परं तदा निखिलवेदस्यैव वैयर्थ्योपत्तिः समा-याति । एतेन किमियं वेदविरुद्धं प्रतिपादयति नवाहोस्विदिति ॥ अधुना सांशयिका वयं संवृत्ताः । समाधीयते । नहि मातापितृशतेभ्योपि कल्याणितरोपनिषद् भगवद्वाक्यादतिक्रमय्य अन्यदुत्पथमस्मान्नेष्यति । किं तर्हि । आम्नायस्य याथार्थ्यमुद्बुबोधयिषन्ती ब्रह्मप्राप्तिप्यगम-नोपायान सरलाञ्छ्रुतिवचनोदितानेवानुवदति । तथाहि । "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्येवं जातीयकानि वचनानि वहूनि वेदेषूपलभ्यन्ते । अयमभिप्रायोस्ति । केचिन्मन्त्रानेव केवलान् समभ्यस्य तेनैवामृतत्वमाकांक्ष-न्तस्तिष्ठन्ति । अपरे तदर्थानिविदित्वापि तदनुकूलमननुतिष्ठन्तस्तेनैव मृत्युत्राणं मन्यमानां अन्य-स्मात्कर्म्मण उपरमन्ति । एके वेदतत्त्वविरहिता अहर्दिवं हिरण्यरेतसमेव हव्येन प्रीणयन्त एतदेवपरं निःश्रेयसकरं जानन्तः परतरतत्त्वाद् विमुखा अपि अज्ञानाद् ब्रह्माभिमुखीनमात्मानं विदन्ति । अधुनापि संस्कृतविदामियं व्यवस्था दृश्यते यत्केऽपि संजिहाना गङ्गाष्टकं वा गीताम्वा दुर्गादिपाठान्वा पाठं पाठं समयान् यापयन्ति । केचित् सम्पूर्णदिनं कुसुमावचयन-चन्दन-संघर्षण-क्षेपनाक्षतादि परितःपरिकिरणशालग्रामादि-शिलार्चनादिव्यापारेण भगवदाराधनं मन्यमानाः स्वस्थाः शेरते । अन्ये केचित् कमपि मन्त्रं वैदिकं वा पौराणिकं वा तान्त्रिकम्वा गारुडं सार्प भौतम्वा मारकं वा औचाटकादिकम्वा मालामुद्रयाजपन्तस्तेनैव कृतकृत्या इवान्य-स्मात् कल्याणतमात् कर्मण उदस्यन्ति । अतत्त्वविदामेतेषामवसादोमाभूदित्येतदर्थं परमंज्ञानमनेन खण्डेनोपदिशति । ब्रह्मज्ञानं विना सर्वेषां तुच्छकरत्वात् ।

ननु वेदान् विहायोर्द्ध्वमाश्रितास्त अभयं लेभिरे इति विस्फुटार्थविवरणेन वेदत्यागमभि-लपन्त्युपनिषत् कथङ्कारं समर्थ्यते भवद्भिः । सत्यम् ॥

उपनिषत्तात्पर्यस्य गूढत्वात् स्वल्पाक्षरैर्विवृतत्वाच्च सुकुमारमतीनां वेदार्थान् कदर्थयन्तीवोपनिषद् प्रतिभाति । शृणु । अत्र वेदशब्दः केवलकर्मविषयपरः । ज्ञानस्यापि तदर्थत्वात् । अन्यथा व्याघातदोषापत्तिः । स्वरशब्दोहि ब्रह्मपरः । वेदस्य ब्रह्मैव मुख्योविषयः । तल्लाभाय क्रमश उपायाननुशास्ति । प्रथमतरं गुरौ ब्रह्मचर्यं चरद्भिः साङ्गा वेदा अध्येतव्याः । इदमेवाध्ययनं वेदप्रवेशनम् । तदनु । सर्वतोऽक्षरशः पदशोऽर्थानां प्रचुरविज्ञानं कर्त्तव्यम् । इदमेवाच्छादनम् । गृहिणो यथा गृहांस्तृणैर्वा अन्यैर्वा वस्तुभिराच्छाद्य तेषु कंचित् कालं सुखिनस्तिष्ठन्ति । परमेतावतैव न रक्षा सम्भवति । विश्वस्तान् रक्षानपि परितोविधाय आत्मप्रयत्नमन्तरा न सुखिनो भवन्ति । एतेनाप्रमत्ताः सन्तोजना यदा सर्वस्मिन् कर्मणि अवतिष्ठन्ते । तदा सर्वथैव निर्भया विचरन्ति । एवमेव वेदानामर्थविज्ञानेन प्रथमं सर्वतोभावेनात्मानं ढौकयित्वा वेदानां श्रवणेन मननेन निदिध्यासनेन क्षीरान्मन्थेन नवनीतमिव हृद्युद्भूतं ब्रह्म प्राप्य परमां शान्तिं लभते ब्रह्मविदित्यभिप्रायः । अतएव "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति । यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" (बृ० ४ । ४ । २२) तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् (मु० १ । २ । १२) इत्येवं जातीयकेषु वाक्येषु वेदज्ञानपूर्विका ब्रह्मविविदिषा वेदविदाचार्यकरणञ्च संगच्छते । यदि वेदः खलु ब्रह्मज्ञानाय न कल्पते तर्हि किं फलमनुसंधाय श्रोत्रियं गुरुमभिगच्छेदित्युपदिशेत् । वेदानुवचनेन कथं नाम ऋषीणां ब्रह्मविविदिषा सम्भवेत् । सम्भवेप्यज्ञानात् कथं कार्य्यं सिध्येत् । एतेन नाहि किञ्चित् वेदविरुद्धमुपनिषत्सु इति सर्वमनवद्यम् । ननु एतावतापि न विशदीकृतं तत्त्वं भवद्भिः । ब्रह्मज्ञानेन कमभिप्रायं ब्रुवन्ति । अभयममृतं सत्यकामं सत्यसंकल्पमपिपासं विजरं विमृत्यु । एवमेव अखिलकल्याणगुणैकधाम निरवधिकं निरतिशयं ब्रह्म विदित्वा अन्यानि वैदिकानि कर्माणि हेयानि आहोस्विदाचरितव्यानि । किं तावत् प्राप्तं हेयानि इति । कथम् । आब्रह्मज्ञानोदयादेव तदनुष्ठेयत्वं प्रतिपादयति । तथाहि:—

"या अन्या आहुतयः अन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्ति । तद्धस्मैतत् पूर्वे विद्वांसः अग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रुः" कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि २ । ५ ॥

अस्यार्थः—याः प्रसिद्धाः पयोदध्यादिद्रव्यसाध्याः अन्या वाक्प्राणाहुतिभ्यां व्यतिरिक्ता आहुतयः द्रव्यत्यागा अन्तवत्यः स्वरूपेण फलतोपि नाशवत्यः । तत्र हेतुमाह । ताः कर्ममय्यः शरीरादिव्यापारसाध्याः कृतकाः हि यस्मात्तस्मात् अन्तवत्यो भवन्तीति स्पष्टम् । अस्तु अग्निहोत्रस्य ज्ञाने सर्वसंगपरित्यागलक्षणसंन्यासमाह । एतद्धवै पूर्वेविद्वांसः ह प्रसिद्धाः वै

स्पर्यमाणाः पूर्वे अतीता एतविद्वांसः एतद् ब्रह्म विजानन्तः अग्निहोत्रं अग्निहोत्रहोमं न कृतवन्तः। सर्वसंगपरित्यागलक्षणं संन्यासं कृतवन्त इत्यर्थः ॥

पुनः—" तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथमुनिरमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केनस्याद्येनस्यादित्यादि। बृ० अ० ३। ५। १ ॥

अयंभावः पाण्डित्यं निःशेषं विदित्वा बाल्येन ज्ञानबलेनैव तिष्ठासेत्। एतेनापि कर्मत्याग एव ध्वन्यते।

"क्षीयन्तेचास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।.......................। प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा इष्टापूर्तं मन्यमाना इत्यादि तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति"॥ एवं विधैरनेकैर्वाक्यैरा-ब्रह्मज्ञानात् कर्मानुष्ठानस्य आवश्यकता विज्ञायते। सतिज्ञाने अनादर्तव्यानि सर्वाणि कर्माणीति।

उत्तरम्—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः। इति प्रमाणेन यावद्देहसम्पातमग्नि-होत्रादिकर्मणामनुष्ठेयत्वेसिद्धे उपनिषद् वाक्यार्थजिज्ञासायां प्रकरणवाक्यार्थविज्ञानेन नानयो-र्विरोधलेशोऽपिविद्यत इति ज्ञास्यते ॥ तथाहि कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि:—

"अथातः संयमनं प्रातर्दनमान्तरमग्निहोत्रमित्याचक्षते इत्यारभ्य सततं जुहोति इत्यन्तं आन्तरिकमग्निहोत्रमुपदिशन्ति" २। ५ ॥

अग्निहोत्रानुष्ठानमेव दर्शयति भेदस्तु इयानेव यद्बाह्यं कर्म विहाय आन्तरिकं कर्म तं विद्वांसः सततं जाग्रतोऽनुतिष्ठन्ति। अज्ञाः खलु बाह्यकर्मपराएव भवन्ति। वेदेषु विविधानि कर्म्माणि अनुष्ठेयत्वेन विधीयन्ते। नहि सर्वाणि सर्वे पूरयितुं क्षमाः सन्ति। अतः सन्ध्यादि-लक्षणं कर्म्म अहरहरुपासितव्यम्। अन्यद्यथावकाशं यथाशक्ति सर्वत्र ज्ञानपूर्वकमेव कर्त्तव्य-मितिमहारम्भाया उपनिषद् आशयः। इत्थं बृहदारण्यकमपि ज्ञानबलमेव शिक्षते न कर्म-त्यागमितिदिक्। यथास्थानमिममर्थं पुनरपि विस्पष्टयिष्यामः। इति ॥

भाषा–इस चतुर्थ खण्ड में यह वर्णन है कि धीर लोग मृत्यु के पार उतरने की इच्छा से वेदों के आश्रय बनाने और वैदिक मन्त्रों से अपने २ आत्मा को गोपन करने पर भी अभय को न पाते हुए उन वेदों के ऊपर उठ किसी स्वर में प्रवेश कर अभय और अमृत हुए। इस को वर्णन के द्वारा विशद करती हुई यह उपनिषद् वेदों और वैदिक कर्मों की तुच्छता सूचित कर कुछ अन्य ही वस्तु का उपदेश देने की इच्छावाली प्रतीत होती है। उस से वेदों के अध्ययन अध्यापन और वैदिक कर्मानुष्ठान व्यर्थ हैं यह सूचित होता है। तब वही स्वर विजिज्ञासनीय है। बहुलायाससाध्य वेद से क्या? यदि स्वर

भी वेदविहित है। तब वेदों से अभिन्न होने के कारण "ऋग्, साम, यजुर्वेद के ऊपर जा स्वर में प्रविष्ट हो अभय अमृत हुए" यह उपनिषद् कथन अचरितार्थ होगा। यदि वह स्वर भिन्न है तो ठीक है। परन्तु तब सम्पूर्ण वेदों की ही व्यर्थतारूप आपत्ति आती है। तो इससे क्या यह वेदविरुद्ध प्रतिपादन करती है वा नहीं? क्या सिद्ध होता है? हम लोग तो संशयापन्न हो गये। इस का उत्तर-सैकड़ों माता पिताओं से अधिक कल्याणकारिणी उपनिषद् कदापि भगवद्वाक्यों से परित्याग कर वा हम लोगों को उत्पथ में नहीं ले जायगी। तब क्या? वेद के गूढार्थ को समझाने की इच्छा करती हुई ब्रह्मसान्निध्यगमन के उपायों को सरल बना वेद के वचनों के अनुसार ही अनुवाद करती है। जैसे वेद में कहा गया है "जो उस को नहीं जानता है वह वेदों से क्या करेगा" "उसी को जान मृत्यु का अतिक्रमण करता है गमनार्थ अन्यपन्था नहीं है"। इस प्रकार के वचन वेद में बहुत पाये जाते हैं॥

इसका अभिप्राय यह है कि कोई मनुष्य केवल मन्त्रों को ही अच्छे प्रकार अभ्यस्त कर उसी से अमृतत्व की आकांक्षा करते हुए अन्य कर्म से उदासीन रहते हैं। कोई उन मन्त्रों के अर्थों को जानकर भी तदनुकूल कर्मों को न करते हुए और उसी से मृत्युत्राण मानते हुए अन्य कर्म से रहित हो जाते हैं। वेद तत्त्वों से रहित कोई प्रतिक्षण अग्नि को विविध सामग्रियों से तृप्त करते हुए यही परमनिःश्रेयस साधन है। ऐसा जानते हुए परमोत्कृष्टतत्त्व से विमुख रहने पर भी अपनी अज्ञानता से अपने आत्मा को ब्रह्माभिमुख जानते हैं। आज-कल भी संस्कृतवेत्ताओं की यह व्यवस्था देखते हैं। कोई उठते ही गंगाष्टक वा गीता वा दुर्गादि पाठ आदिकों को पढ़ते २ अपने समय को यापन करते हैं। कोई सम्पूर्ण दिन कुसुमों को चुनना, चन्दन घिसना, लेपन अक्षतादिकों को मूर्त्तियों के ऊपर चारों तरफ फेंकना, शालग्रामादि शिला को पूजना आदि व्यापार से ही ब्रह्म की आराधना मानते हुए स्वस्थ हो सोते हैं। दूसरे कोई, कोई मन्त्र वैदिक वा पौराणिक वा तान्त्रिक वा गरुड़ सम्बन्धी वा सार्प वा भौत वा मारक वा औच्चाटकादि ऐसे २ किसी मन्त्र को मालापर जपते हुए उसी से कृतकृत्य हो अन्य कल्याणतर कर्म से उदासीन हो जाते हैं। अतः इन अतत्त्ववेत्ता सबों का अधःपतन न हो इस हेतु परमतत्त्व का इस चतुर्थ खण्ड से उपदेश देती है क्योंकि ब्रह्मज्ञान विना सबही तुच्छ है। अतः वेदों के द्वारा ब्रह्म को जब नहीं जानता तब तक उसके सब कर्म अपूर्ण हैं। क्योंकि सबों का अन्तिम तात्पर्य ब्रह्मज्ञान से ही है। केवल कर्ममात्र से कुछ भी नहीं होता।

शङ्का-"वेदों को त्याग ऊपर को जा देव अभय को प्राप्त हुए" इस विस्फुट अर्थ के विवरण से वेदत्याग को कहती हुई उपनिषद् का समर्थन आप लोग कैसे करते हैं। उत्तर-

सत्य है। उपनिषत्तात्पर्य अतिगूढ़ होता है। क्योंकि स्वल्पाक्षरों से वह प्रकाशित हुआ है इस हेतु सुकुमारमति मनुष्यों को वेदार्थों का कदर्थ करती हुई उपनिषद् भान होती है। सुनिये। यहां वेद शब्द केवल कर्म्मपरक है। क्योंकि ऐसा न मानाजाय तो ज्ञानकाण्ड का भी तो वेदविधायक है। फिर उस ज्ञानकाण्ड की व्यर्थता हो जायगी जिससे व्याघात-दोष आवेगा अतः वेद शब्द कर्मपरक और स्वरशब्द ब्रह्मपरक है। वेद का मुख्य विषय ब्रह्म ही है। उसके लाभ के लिये क्रमशः उपायों का अनुशासन करती है। जैसे प्रथम गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य करते हुए ब्रह्मचारी हो साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने चाहिये। यह अध्ययन, मानो वेदप्रवेश है। तत्पश्चात् सर्व प्रकार से अक्षर २ पद २ के अर्थों का विशेष ज्ञान लाभ करना। यही मन्त्रों से आत्माच्छादन है। जैसे गृही गृह को तृणों वा अन्य वस्तुओं से आच्छादित कर कुछ काल सुखपूर्वक निवास करते हैं परन्तु इतने से ही गृह की रक्षा नहीं होती किन्तु विश्वस्त रक्षकों को भी चारों तरफ रखने से निज प्रयत्न विना सुखी नहीं होते। इस हेतु जब मनुष्य अप्रमत्त हो सब कर्मों में प्रवृत्त रहता है तब सर्वथा निर्भय विचरता है। ऐसे ही वेदों के अर्थ विज्ञान से प्रथम आत्मा को अन्य उपद्रवों से ढांक (बचा) वेदों के पुनः २ श्रवण, मनन, निदिध्यासन से क्षीर के मथन से नवनीत के समान हृदयोद्भूत ब्रह्म को पा परमशान्ति को प्राप्त होता है। अतएव (तमेतम्०) ब्राह्मण लोग उस इस ब्रह्म को वेदों के वचनों से जानना चाहते हैं। (यज्ञेन०) और यज्ञ दान तपस्या अनशनादि से इसी को जान मुनि होता है (एतमेव०) संन्यासी लोग मुक्ति चाहते हुए उसी के निकट जाते हैं (वृहदारण्यक) (तद्विज्ञानार्थं०) उस के विज्ञान के लिये ब्रह्मचारी समित्पाणि (उपयुक्त सामग्रीयुत) हो ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के निकट जाय (मुण्डक०) एवं जातीय वाक्यों में वेदज्ञानपूर्वक ब्रह्मज्ञान की इच्छा और वेदविद् आचार्यकरण जो कहे गये हैं वे सङ्गत होते हैं। यदि वेद ब्रह्मज्ञानार्थ समर्थ न होता तो क्या फल देख "श्रोत्रिय गुरु के निकट जाय" ऐसा उपदेश देते और वेदानुवचन से ऋषियों को ब्रह्मविविदिषा क्यों होती। यदि अज्ञानवश ब्रह्मविविदिषा (ब्रह्म जानने की इच्छा) हो भी तो कार्यसिद्धि कैसे हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपनिषदों में वेदविरुद्ध उपदेश नहीं है ॥

पुनः शङ्का—इससे भी विषय विशद नहीं हुआ। ब्रह्मज्ञान से आप क्या अभिप्राय लेते हैं ? क्या अभय, अमृत, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, अपिपास, विजर, विमृत्यु और इसी प्रकार अखिलगुणैकधाम, अवधिरहित, निरतिशय जो ब्रह्म, उस को जब जानले तब अन्य वैदिक कर्म्मों का परित्याग करदे अथवा करता ही रहे, इन दोनों में से वैदिककर्म

का परित्याग ही प्राप्त होता है । क्योंकि ब्रह्म ज्ञानोदय पर्य्यन्त ही कर्मों का अनुष्ठान कहा गया है । जैसे कौशीतकिब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है कि (था:०) जो अन्य आहुतियां हैं वे अन्तवती और कर्मवती हैं । इसी हेतु पूर्व विद्वान् अग्निहोत्रादि कर्म को नहीं करते थे पुनः (तस्माद्०) इस हेतु ब्राह्मण पाण्डित्य को जान बाल्यभाव से रहते हैं और बाल्य और पाण्डित्य दोनों को जान मुनि होते हैं । अमौन और मौनभाव को जान ब्राह्मण होते हैं । सो ब्राह्मण जिस किसी उपाय से ऐसे ही होने चाहिये ॥

इसका भाव यह है कि निःशेष पाण्डित्य जान ज्ञानबल से रहे । इस से भी कर्मत्याग ही सिद्ध होता है पुनः (क्षीयन्ते०) इस ब्रह्म के दर्शन होने पर सर्व कर्मोंका क्षय होता है । पुनः (प्लवा:०) यज्ञरूप नौकाएं अदृढ़ हैं पुनः (इष्टापूर्तं०) इष्टापूर्त को ही जो श्रेय मानते हैं वे मूढ़ हैं । पुनः (तपः श्रद्धे०) जो तप और श्रद्धा करते हैं वे ज्ञानी हैं । इस प्रकार के वचनों से ब्रह्मज्ञानोदय पर्य्यन्त ही कर्म्मानुष्ठान की आवश्यकता प्रतीत होती है । ज्ञान होने से इन सब कर्मों का निरादर करना चाहिये यह तात्पर्य है । उत्तर- (कुर्वन्नेव०) कर्म करते ही शतवर्ष जीनेकी इच्छा करे । इस वैदिक प्रमाण से देहसम्पात पर्य्यन्त अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठेयत्व सिद्ध होता है परन्तु तब उपनिषद् वाक्यों के अर्थ की जिज्ञासा उपस्थित होती है । प्रकरणस्थ वाक्यार्थ परिज्ञान से ही इन दोनों में विरोध लेश भी नहीं है यह ज्ञात होगा । जैसे कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में (अथात:०) अब आन्तरिक अग्निहोत्र का वर्णन किया जाता है । भाव इस का यह है कि विद्वद्गण बाह्यकर्मों को त्याग सब तरह सावधान हो आन्तरिक कर्म्म का अनुष्ठान करते हैं । परन्तु अज्ञ लोग केवल बाह्य आडम्बरों को ही अच्छे मानते हैं । वेद में विविध कर्म अनुष्ठेयत्वेन विहित हुए हैं । सब कर्मों को सब पूर्ण नहीं कर सकते अतः सन्ध्यादि लक्षण कर्म तो प्रतिदिन अनुष्ठेय हैं अन्यकर्म यथावकाश यथाशक्ति ज्ञानपूर्वक अनुष्ठेय हैं । यह उपनिषद् शिक्षा देती है । इस प्रकार बृहदारण्यक उ० भी ज्ञानबल की ही शिक्षा देती कर्मपरित्याग की नहीं । यथास्थान में पुनरपि इस को विस्पष्ट करेंगे ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ १ ॥

अथ । खलु । यः । उद्गीथः । सः । प्रणवः । यः । प्रणवः । सः । उद्गीथः । इति । असौ । वै । आदित्यः । उद्गीथः । एषः । प्रणवः । ओम् । इति । हि । एषः । स्वरन् । एति ॥

भाष्यम्—अथेति । अस्मिन् खण्डे प्रणवोद्गीथयोरेकत्वं दर्शयित्वाधिदैवतमध्यात्मं चोपासनं पूर्वोक्तमेवानूद्यादरस्य परस्य ब्रह्मण उपासनेनैहिकामुष्मिकनिखिलसौख्यभाग् भवतीत्युपदेक्ष्यति (अथ खलु) अथानन्तरम् । खलु प्रसिद्धो य उद्गीथः स प्रणवः । यः प्रणवः स उद्गीथः । अयंभावः । बह्वृचा यं प्रणवं कथयन्ति । तमेवच्छन्दोगा उद्गीथं ब्रुवन्ति । उद्गीथप्रणवावेकार्थौ वित्यर्थः । एष उद्गीथः । प्रणवश्च । वै परमः प्रसिद्धः । असावादित्योऽविनश्वरोऽखण्ड ईश्वरोऽस्ति । अत्र वाच्यवाचकाभिन्नत्वाभिप्रायेणैषोक्तिः । अयमभिप्रायः । प्रणवोद्गीथशब्दाभिधेयं ब्रह्मैवास्ति नान्यत् । हि यतः । एष प्रणव उद्गीथश्च । ओमिति । ब्रह्मेति स्वरन्नेति । उच्चारयन् गच्छति अभिप्रैतीत्यर्थः । एष इत्येकवचनं प्रणवोद्गीथयोरेकत्वसूचनार्थम् । अथवा लुप्तोपमालंकारः । आदित्यात्पर इवशब्दोऽध्याहार्यः । आदित्य इव उद्गीथः प्रणवश्चास्ति । जगति सूर्य्य इव शब्दाकरे प्रणवः प्रकाशको मुख्यश्चेत्याशयः । एष हि । सूर्य्यः । ओमिति ब्रह्मेति ईश्वरस्य कीर्त्तिं । स्वरन् स्वरेण गायन् प्रकाशयन्निव । एति गच्छति "इण् गतौ" प्रणवोऽपिब्रह्मण एव विभूतिं स्वरन्नेति । अतस्तयोस्तुल्यता ॥ १ ॥

अनुवादः—अब जो प्रसिद्ध उद्गीथ है सो प्रणव है । जो प्रणव है सो उद्गीथ है और यह उद्गीथ और प्रणव आदित्य अर्थात् अविनश्वर अखण्ड ईश्वर है क्योंकि यह उद्गीथ और प्रणव ओङ्कारवाच्य ब्रह्म से अभिप्राय रखता है । अथवा यह उद्गीथ और प्रणव सूर्य्य के समान है क्योंकि यह सूर्य्य निश्चय उसी अविनश्वर की कीर्त्ति को प्रकाश करता हुआ जाता है । और यह (उद्गीथ और प्रणव) भी उसी की कीर्त्ति को दिखलाता हुआ विद्यमान है ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (खलु) प्रसिद्ध (यः उद्गीथः) सामवेदियों का जो उद्गीथ है (सः) वह (प्रणवः) ऋग्वेदियों का ओङ्कार है (यः) जो (प्रणवः) प्रणव है (सः) वह (उद्गीथः+इति) उद्गीथ है । अर्थात् ये दोनों एकार्थक हैं (एषः) यह (उद्गीथः) उद्गीथ (एषः) और यह (प्रणवः) प्रणव (वै) निश्चय वा परम प्रसिद्ध (असौ) यह (आदित्यः) अविनश्वर अखण्ड ईश्वर है (हि) क्योंकि (एषः) यह उद्गीथ और प्रणव (ओमिति) ओङ्कारवाच्य ब्रह्म को (स्वरन् एति) गाता हुआ उसी से सम्बन्ध रखता है । अथवा (उद्गीथः) यह उद्गीथ और (एष प्रणवः) यह प्रणव (वै) प्रसिद्ध (आदित्यः) सूर्य के समान है अर्थात् जगत् में सूर्य के समान शब्द के समूह में यह प्रणव प्रकाशक और मुख्य है (हि) क्योंकि (एषः) यह सूर्य (ओमिति) ओङ्कारवाच्य ईश्वर की कीर्त्ति को (स्वरन् एति) मानो उच्चस्वर से गाता हुआ आता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—प्रथम लिख आये हैं कि (ओङ्कार को ऋग्वेदी प्रणव और सामवेदी उद्गीथ कहते हैं) अतः उद्गीथ और प्रणव शब्द एकार्थक हैं । इसी कारण मूल में कहा गया है कि जो उद्गीथ है सो प्रणव है इत्यादि । मूल में आदित्य शब्द है । वह आजकल केवल सूर्य अर्थ में प्रवृत्त होता है, परन्तु उसके अर्थ अखण्ड, अविनश्वर, अच्छेद्य आदि भी होते हैं । इसके धातु प्रत्यय आगे दिखलाये गये हैं । अथवा यहां लुप्तोपमालङ्कार है । उपमावाचक इव आदि शब्द लुप्त हैं । अतः आदित्य के परे इव शब्द का अध्याहार करना चाहिये । तब यह अर्थ हुआ कि सूर्य के समान यह उद्गीथ वा प्रणव है अर्थात् जैसे इस भूमण्डल में सूर्य सब वस्तु का प्रकाशक और मुख्य है ऐसे ही ईश्वरवाचक शब्द समूह में ओङ्कार ईश्वर के गुणों का प्रकाशक और मुख्य है ॥ १ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषम् । तस्मान्मम त्वमेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच । रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्त्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

एतम् । उ । एव । अहम् । अभ्यगासिषम् । तस्मात् । मम । त्वम् । एकः । असि । इति । ह । कौषीतकिः । पुत्रम् । उवाच । रश्मीन् । त्वम् । पर्यावर्तयाद् । बहवः । वै । ते । भविष्यन्ति । इति । अधिदैवतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—एतमु इति । ह प्रसिद्धः । कौषीतकिः कुषीतकस्यापत्यं कौषीतकिर्ऋषिः । पुत्रं स्वतनयमुवाच अब्रवीत् । हे पुत्र । एतम् उ एव । एतमेव पूर्वोक्तगुणविशिष्टं सर्वव्यापकं प्रणवोद्गीथाभिधेयमिममीश्वरम् । अभ्यगासिषमाभिमुख्येन गीतवानस्मि । उपासितवानस्मि । तस्मात् । तद्गायनप्रतापेण । मम । त्वम् । एको मुख्यः प्रधानः पुत्रोऽसि । हे पुत्र त्वम् । रश्मीन् । सूर्यस्य विस्तीर्णान् प्रग्रहानिव । ब्रह्मशक्तिसमूहान् । यद्वा भूमानमिति । उत्तरस्माच्चतुर्थात् श्लोकादपकर्षणीयम् । त्वंपदात्परोभूमन्छब्दः प्रायो लुप्तोऽस्ति वा । यतश्चतुर्थेमन्त्र एतत्सदृश्युपमास्ति । तत्र भूमन्छब्दस्य प्रयोगो दृश्यते तेन । सूर्यरश्मीनिव व्याप्तं तम्भूमानम्महान्तम्परमेश्वरम् । पर्य्यावर्त्तयाद् पर्य्यावर्त्तय इत्यर्थः "तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ।" ७ । १ । ३५ इति हेस्तातङ् उपास्स्वेति यावत् । तेन । वै तव । ते निश्चितम् । बहवो भूयांशः पुत्रा इति शेषः । भविष्यन्ति । यदि त्वमिच्छेरिति वाक्य शेषः । इत्यधिदैवतम् । देवताविषयकमुपमानं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवाद—प्रसिद्ध कौषीतकि नाम के ऋषि ने अपने पुत्र से कहा कि हे पुत्र मैंने उसी का गान किया था इस कारण तू मेरा एक सुयोग्य पुत्र हो । हे पुत्र तू सूर्य किरण के समान, सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की शक्तिसमूह को सर्वत्र देख । उससे तेरे निःसन्देह अनेक पुत्र होवेंगे (यदि तू चाहेगा) इति अधिदैवतम् ॥ २ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (कौषीतकिः) कौषीतकि नाम के ऋषि ने (पुत्रम्) अपने पुत्र से (उवाच) कहा कि (एतम् उ एव) इसी को अर्थात् पूर्वोक्त गुण सहित उद्गीथ प्रणववाच्य ब्रह्म को ही (अहम्) मैंने (अभ्यगासिषम्) अच्छी तरह गाया था (तस्मात्) उस कारण (मम) मेरा (त्वम्) तू (एकः) मुख्य, योग्य, प्रधान पुत्र (असि) हो इति (त्वम्) तूं (रश्मीन्) सूर्य के किरण के समान सर्वत्र व्याप्त (भूमानम्[१]) महान् परमेश्वर को (पर्य्यावर्त्तयाद्) सर्वत्र देखो अर्थात् उसकी उपासना करो उससे (ते) तेरे (वै) निश्चय (बहवः) बहुत पुत्र (भविष्यन्ति) होवेंगे (इति अधिदैवतम्) जो यह वर्णन देवता की उपमा के साथ किया गया सो समाप्त हुआ ॥

भाष्याशयः—इन पूर्वोक्त दोनों प्रवाकों में आदित्य से ब्रह्म की और आदित्य की किरणों से ईश्वरीय शक्ति समूहों की उपमा दीगई है । उपमावाचक इव आदि शब्द दोनों स्थान में लुप्त हैं और उपमेय अध्याहृत है । द्वितीय प्रवाक में (रश्मींस्त्वम्) के पीछे (भूमानम्)

(१) यह पद चतुर्थमन्त्र से अध्याहृत हुआ है ।

यह पद छूटा हुआ सा मालूम पड़ता है। क्योंकि एतत्सदृश ही वक्ष्यमाण चतुर्थ प्रवाक की उपमा में (प्राणांस्त्वं) के पीछे (भूमानम्) पद देख पड़ता है । ये दोनों उपमाएं प्रायः एकसी हैं। भेद इतना ही है कि प्रथम उपमा अधिदैवत और द्वितीय आध्यात्मिक है इसलिये (रश्मींस्त्वम्) के पीछे (भूमानम्) शब्द का अवश्य अध्याहार करना योग्य है॥ २॥

अथाध्यात्मम् । य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

अथ । अध्यात्मम् । यः । एव । अयम् । मुख्यः । प्राणः । तम् । उद्गीथम् । उपासीत । ओम् । इति । हि । एषः । स्वरन् । एति ॥ ३ ॥

भाष्यम्–अथेति । अथानन्तरमध्यात्ममुपासनं व्याख्यायते । य एवायं मुख्यः प्राणः । य एवायं सर्वत्र विद्यमानः सर्वप्रधानः प्राणयितेश्वरोऽस्ति । तमुद्दिश्योद्गीथमुपासीत भावयेत । हि यतः । एष उद्गीथः । ओमितिपदं । स्वरन्नेति । उच्चारयन्नेति । "इण् गतौ" ओमितिब्रह्मेतितात्पर्य्यं द्योतयन्वर्तत इत्यर्थः । द्वितीयोऽर्थः । य एवायं भौतिके शरीरे मुख्यः प्राणः प्राणोऽस्ति । येन प्राणेन कलेवरंधार्य्यमाणं तिष्ठति । तमुपमीय । उद्गीथमुपासीत । उद्गीथपदवाच्यंब्रह्मध्यायेत । अयमभिप्रायः । यथा । अस्मिँल्लघुकलेवर एकोमुख्यःप्राणोऽस्ति तथैव महति कलेवरसमाने ब्रह्माण्डे कोप्यचिन्त्यो मुख्यो प्राणोऽस्ति । अस्य शरीरस्य प्राणमिव समष्टिरूपस्य जगतः प्राणमीश्वरमुद्गीथमुपासीतेत्यर्थः । एष प्राणः । ओमिति ब्रह्मणः कीर्त्तिमेव । स्वरन् प्रकाशयन् । एति । देहाद्देहमात्मना सह गच्छति ॥ ३ ॥

अनुवादः–अब अध्यात्म उपमा दी जाती है। जो यह सर्वत्र विद्यमान सर्व श्रेष्ठ सर्वोत्तम सबों का प्राणाराम ईश्वर है उसी को लक्ष्य कर उद्गीथ का चिन्तन करे क्योंकि यह उद्गीथ उसी ओम् पद से अर्थात् ब्रह्म से तात्पर्य रखता है। द्वितीय अर्थ—जैसे इस लघु कलेवर में सर्वश्रेष्ठ मुख्य प्राण है वैसे ही सम्पूर्ण समष्टिरूप महान् शरीरसदृश ब्रह्माण्ड में विद्यमान जो महाप्राण ईश्वर है उसे लक्ष्य कर उद्गीथ का चिन्तन करे। शेष पूर्ववत् जानना ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (अध्यात्मम्) अध्यात्म-उपमा का व्याख्यान होता है (यः) जो (एव) ही (अयम्) यह (मुख्यः) श्रेष्ठ=सर्वोत्तम (प्राणः) सकल जीवों का प्राणाराम ईश्वर अथवा शरीरस्थ वायु है (तम्) उस को लक्ष्य करके अथवा प्राण की उपमावत् समझ कर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासीत) भावना करे (हि) क्योंकि

यह उद्गीथ अथवा प्राण (ओमिति) ओम् पद से ही वा ओम् पद का ही (स्वरन्नेति) तात्पर्य्य रखता है अथवा कीर्त्ति प्रकाश करता हुआ जाता है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः-इस मन्त्र में प्राण शब्द ईश्वरवाचक और शरीरस्थ वायुवाचक है। इसीलिये दोनों अर्थ किये गये हैं परन्तु अध्यात्म उपमा होने के कारण मुख्य ऐसा भाव समझना चाहिये कि यह शरीर ब्रह्माण्ड सदृश है और प्राण ईश्वर सदृश है। जैसे उस शरीर में मुख्य प्राण है वैसे ही इस ब्रह्माण्ड में मुख्य ब्रह्म है। इसी भाव से यह उपमा जिज्ञासुओं के समझाने के लिये दी गई है और शब्द भी वैसा रक्खा गया है जो दोनों अर्थों के प्रतिपादन करने में समर्थ हो ॥ ३ ॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषम् । तस्मान्ममत्वमेकोसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच । प्राणाᳬंस्त्वंभूमानमभिगायताद् बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

एतम् । उ । एव । अहम् । अभ्यगासिषम् । तस्मात् । मम । त्वम् । एकः । असि । इति । ह । कौषीतकिः । पुत्रम् । उवाच । प्राणान् । त्वम् । भूमानम् । अभिगायताद् । बहवः । वै । मे । भविष्यन्ति । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्-एतमिति । ह प्रसिद्धः । कौषीतकिः कौषीतकिनामा ऋषिः । पुत्रमुवाच हे पुत्र ! एतम् उ एव । प्राणमेव एतत्प्राणसदृशं प्रणवाभिधेयंब्रह्मैव । अहम् । अभ्यगासिषम् । आभिमुख्येनगीतवानस्मि । तस्मात् मम त्वम् । एकोमुख्यः । पुत्रोऽसि इति । हे पुत्र ! त्वं प्राणान् देहेव्याप्तानीन्द्रियाणीव । सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणशब्देनाख्यायन्ते प्राणा इत्येवाचक्षते (५ । १ । १५) इति वक्ष्यमाणत्वात् । भूमानं महान्तं विभुं परमेश्वरम् । अभिगायताद् अभिगाय । "तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्यामिति तातङ्" । उपास्व इति । किं कुर्वन् । अनेनोपासनेन । मे मम । बहवः पुत्राः । वै निश्चितम् । भविष्यन्ति भवन्तु इति कामयमानः सन्नित्यर्थः । अयमभिप्रायः । मम बहवः पुत्राभवेयुरिति कामयमानो यदि त्वं तं भूमानं प्राणस्यप्राणंपरात्परमीश्वरं उपासिष्यसे । निश्चितं तव मनोरथसिद्धिः सम्पत्स्यते ॥ ४ ॥

अनुवादः—वह प्रसिद्ध कौषीतकि ऋषि अपने पुत्र से बोले कि मैंने उसी प्राण सदृश ब्रह्म का अच्छी तरह से गान किया था इसीलिये मेरा तू एक योग्य पुत्र है। हे पुत्र तू भी, मेरे अनेक पुत्र होवें, इस कामना से उस प्राण समान महान् विभु की उपासना कर ॥ ४ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (कौषीतकिः) कौषीतकि ऋषि (पुत्रम्) अपने पुत्र से (उवाच) बोले कि हे पुत्र (एतम् उ एव) इसी प्राण समान ब्रह्म को (अहम्) मैंने (अभ्यगासिषम्) अच्छी तरह से गाया था अर्थात् उपासना की थी (तस्मात्) इसलिये (मम) मेरा (त्वम्) एक सुयोग्य सुपुत्र (असि इति) है। हे पुत्र! (त्वम्) तूं (प्राणान्) प्राण के समान (भूमानम्) महान् विभु को (अभिगायतात्) अच्छी तरह से गाओ (बहवः) अनेक पुत्र (मे) मेरे (भविष्यन्ति) होवेंगे अर्थात् होवें इति ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—इस प्रवाक में प्राण के पश्चात् इव शब्द अध्याहृत है। भूमा शब्द यहां ईश्वरवाचक है, यद्यपि भूमा का अर्थ महान् है तथापि ऐसे २ स्थानों में भूमा शब्द से ईश्वर ही का ग्रहण होता है आगे सप्तम में भूमा का निरूपण करेंगे ॥ ४ ॥

अथ खलु य उद्‌गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्‌गीथ इति होतृषदनाद्धैवापिदुरुद्‌गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

अथ। खलु। यः। उद्‌गीथः। सः। प्रणवः। यः। प्रणवः। सः। उद्‌गीथः। इति। होतृसदनात्। ह। एव। अपि। दुरुद्‌गीतम्। अनुसमाहरति। इति। अनुसमाहरति। इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति। अथानन्तरं खलु प्रसिद्धो य उद्‌गीथ सामवेदिनाम्। स प्रणवः बह्वृचानाम्। यः प्रणवः। स उद्‌गीथः। नानयोर्भेदोस्तीति। एवंविद् उद्‌गाता। होतृसदनात्। होतुरुपवेशनस्थानात्। ह। निश्चितम्। एवापि। अर्थात् हौत्रात्कर्मणः सम्यक् प्रयुक्तादुद्‌गीथाद् एव। एवापि निपातौ अवधारणार्थकौ। दुरुद्‌गीतम्। दुष्टम् उद्‌गीतं उद्‌गानं कृतम्। उद्‌गात्रा स्वकर्मणि क्षतंकृतमित्यर्थः। तत् अनुसमाहरति। अनुसंधत्ते। प्रतिसंदधाति पूरयतीत्यर्थः। द्विरुक्तिः खण्डसमाप्त्यर्था ॥ ५ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-जो ब्रह्मविद् पुरुष, जो उद्‌गीथ है सो प्रणव है जो प्रणव है सो उद्‌गीथ है इसको जानते हैं। वे होता के आसन पर से ही उद्‌गातृकृत उद्‌गीथगान सम्बन्धी दोष को पूरा करते हैं अवश्य उसे पूरा करते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (खलु) प्रसिद्ध (यः) जो (उद्‌गीथः) सामवेदियों का उद्‌गीथ है (सः प्रणवः) वही ऋग्वेदियों का प्रणव है (यः प्रणवः स उद्‌गीथः)-जो

प्रणव है सो उद्गीथ है अर्थात् इन दोनों में भेद नहीं है (इति) इस बात को जो ब्रह्म-विद् जानते हैं वे (होतृसदनाद्) होता के आसन पर से (एव अपि) ही (ह) निश्चय (दुरुद्गीतम्) होतृकृत् दुष्टगान को (अनु समाहरति इति) पूर्ण करते हैं। (अनुसमाहरति) पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥



अथ षष्ठः खण्डः ॥



इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । इयमेव "सा" ग्नि "रम"-स्तत्साम ॥ १ ॥

इयम् । एव । ऋग् । अग्निः । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । इयम् । एव । सा । अग्नि । अमः । तत् । साम ॥ १ ॥

भाष्यम्—इयमिति । इदानीं प्रसङ्गादृक्सामयोरेकत्वमाधाराधेयत्वञ्च कतिभिश्चिदुपमाभिः प्रदर्श्य पृथिवीमारभ्याद्युलोकाद् ब्रह्मणोव्याप्तिञ्चनिरूप्यादित्योपमया तेजोमयस्यपुरुषस्यविवरणेन "तेजोऽसि तेजोमयि धेहि" इति तेज इत्युपासितव्यमितिनिष्कर्षयिष्यति । इयम् । पृथिवीति-शेषः । इयं पृथिवी एव ऋग् । पृथिवी इव । ऋग् वर्त्तते । अग्निः साम । अग्निरिवसाम । इव शब्दोऽध्याहार्य्यः सर्वत्र । पार्थिवान् परमाणूनाश्रित्याग्नेया अंशास्तिष्ठन्ति । तेष्वन्तर्लीनोह्यग्निः । संघर्षणेन काष्ठादग्निरुत्पत्तिः प्रत्यक्षा । वेणवोऽन्योन्यसंघर्षणेनोत्पन्नेनात्मजेनैवाग्निनादह्यन्ते । ननु जलसमुदायाद्वारिवाहकादपि कथमग्नेः प्रादुर्भावः ? तत्रापि तत्सत्त्वात् । नहीयमुपमाग्नेरितरसत्त्वंव्यावर्तयति । तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमित्युपमांनिर्देशात् । तेन पृथिव्यां लीनोऽग्निरिव । ऋचि-लीनं साम इत्युपमा सम्यक् संगच्छते । तदेतत् । अग्निसमानं साम । एतस्यां पृथिवीसामायामृचि । अध्यूढम् । अधिगतम् । अन्तर्गतमित्यर्थः । ऋग्सामयोर्नात्यन्तभेदः । तस्मादेवकारणात् । ऋचि

अध्यूढम् । ऋक्सम्बद्धमेव साम । सामगैरिदानीमपिगीयते । अग्रे साम्नितदुभयं धर्म्मं घटयति । तथाहि सामशब्दे सा च अमश्चेति द्वेपदेस्तः । यद्यपिनान्तः "सामन्" इति शब्दोस्ति । तथाप्यकारान्तं मत्वा 'सा' "अम" इति विभाजयति । तयोश्चार्थः । इयमेव । इयं पृथिवी एव । सा । सा शब्दवाच्या । सामनामार्धशब्दवाच्येत्यर्थः । अग्निः अमः । अमशब्दवाच्यः इतरार्धशब्दवाच्योग्निः । तत् साम तत्पदद्वयं मिलित्वा साम शब्दो भवतीत्यर्थः । तदेतत् पृथिव्यग्निद्वयं नित्यसंश्लिष्टतया अभिन्नमिव । नित्यसम्बद्धतया ऋगसामयोरनन्यत्वम् । एतेन प्रथमं पृथिव्यग्निद्वये ब्रह्मव्यापकता । ब्रह्मैश्वर्यम् । ब्रह्मकौशलञ्च द्रष्टव्यम् । पृथिवीशब्देनैकेन सर्वेषांदृश्यमानानां पृथुलतरपदार्थानां संग्रहः । अग्निशब्देन समस्तानामन्तर्गूढानां सूक्ष्मतमानां दृश्यादृश्यानामैशशक्तीनांसंग्रहः । प्रथमं पृथिव्याश्रयाणामग्न्योषधिलतागुल्मवीरुधप्रभृतीनाम् । नरपशुपक्षिसरीसृपादीनां यावत्पदार्थानां विज्ञानमभ्यसेत् । विदितावसिते तु तदूर्ध्वमन्तरिक्षस्थवायुसमवेतवस्तुपरिज्ञानं विधेयमित्युपदेक्ष्यति । इति ॥ १ ॥

अनुवाद—इस (पृथिवी) के समान ऋग्वेद और अग्नि के समान सामवेद है । वह यह साम इस ऋचा में अध्यूढ (अन्तर्गत) है उस हेतु ऋक्सहित साम गाया जाता है । "सा"[3] शब्द का अर्थ पृथिवी और "अम" शब्द का अर्थ अग्नि है । वे दोनों मिलकर साम पद होता है[4] ॥ १ ॥

---

(१) मूल में पृथिवी शब्द नहीं है । "इयम्" पद से यहां पृथिवी का ग्रहण किया गया है ॥

(२) सामवेद ऋग्वेद का ही आश्रित है । अतः यह अन्तर्गत कहा गया है ॥

(३) साम शब्द में सा+अम ये दो पद हैं । इन दोनों के भिन्न २ अर्थ दिखलाये जायेंगे । विचार और ईश्वरीय विभूति को अनुभव कराने के लिये ऐसा वर्णन किया जाता है ॥

(४) यह वर्णन पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्य्यन्त क्रमशः किया जायगा । इस के क्रम पर भी ध्यान रखना चाहिये ।

"यह पृथिवी ऋक् है । और अग्नि साम है सो यह साम इस ऋचा में अन्तर्गत है । इस हेतु ऋचा अध्यूढ साम गाया जाता है । यह (पृथिवी) ही "सा" है । अग्नि अम है । सो (युगल) साम है" । ऐसा अर्थ कोई करते हैं (इव) शब्द का अध्याहार इन लोगों ने नहीं किया है । सो इन लोगों की भूल मालूम होती है । प्राचीन शास्त्रों में

पदार्थः–(इयम्) यह पृथिवी । अर्थात् पृथिवी के समान (ऋग्) ऋचा है । और (अग्निः) अग्नि के समान (साम) सामवेद है । (तत्) वह (एतत्) यह (साम) सामवेद । अर्थात् अग्नि समान सामवेद (एतस्याम्) इस पृथिवी के समान (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) अन्तर्लीन है (तस्मात्) उस कारण (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) अन्तर्गत=ऋग्वेद सहित ही (साम) साम (गीयते) गाया जाता है । सामवेद में दोनों धर्म्म आगे दिखलाये जाते हैं (सा) साम शब्द में जो पहला आधा "सा" पद है । उसका अर्थ (इयम् एव) यह पृथिवी ही है (अमः) जो अन्य आधा "अम" पद है । उसका अर्थ (अग्निः) अग्नि है (तत्) वह दोनों "सा+अम" मिलकर (साम) सामपद बनता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः–प्रथम पृथिवी और अग्नि में ब्रह्म की व्यापकता, ब्रह्म का ऐश्वर्य और ब्रह्म का कौशल देखे । यहां एक पृथिवी शब्द से सकल दृश्यमान स्थूल वस्तुओं का और अग्नि शब्द से समस्त अन्तर्लीन अतिसूक्ष्म दृश्यादृश्य पदार्थों का संग्रह है । प्रथम पृथिवी के आश्रित अग्नि, ओषधि, लता, गुल्म, वीरुध प्रभृतियों के और नर, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि पदार्थों के विज्ञान करने चाहिये इनके विदित और समाप्त होने पर उसके ऊपर अन्तरिक्षस्थ वायुयुक्त वस्तुओं का विशेष परिज्ञान करे और आग्नेय और पार्थिव सम्पूर्ण इहस्थ पदार्थ उसी ब्रह्म के अन्तर्गत=लीन हैं=वा उसी के आधार पर विद्यमान हैं । इसको द्योतित करने के हेतु सामपद में दोनों धर्म कहे गये हैं । इस लोक में पृथिवी और अग्नि की प्रधानता के कारण इन दोनों का ग्रहण किया गया है ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम । तदेतदेतस्या मृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

लुप्तोपम अलङ्कार बहुत लिखे जाते थे । उपमासूचक, इव, यथा आदि शब्दों का प्रयोग जहां नहीं किया गया हो परन्तु अर्थ वैसा ही हो उसे लुप्तोपम अलङ्कार कहते हैं (लुप्त है उपमा जिसकी) यह पृथिवी ही "सा" है । अर्थात् "सा" शब्द का अर्थ पृथिवी । ऐसी सङ्गति सर्वत्र करनी चाहिये "ऋचा में पृथिवी दृष्टि और साम विषे अग्नि दृष्टि" "सा" पद में पृथिवी दृष्टि और "अम" पद में अग्निदृष्टि । इत्यादि संगति लगाकर इनमें उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये । ऐसे कहने वाले हमारी दृष्टि में भ्रान्त ही प्रतीत होते हैं । आगे भी ऐसी ही समालोचना जान लेनी ।

अन्तरिक्षम् । एव । ऋग् । वायुः । साम । तत् । एतद् । एतस्याम् । ऋचिं । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । अन्तरिक्षम् । एव । सा । वायुः । अमः । तत् । साम ॥ २ ॥

भाष्यम्—अन्तरिक्षमिति । अन्तः पृथिवीद्युलोकयोर्मध्येयदीक्ष्यते दृश्यते । अन्तर्यस्य मध्ये सर्वे पदार्था ईक्ष्यन्ते दृश्यन्ते वेति । अन्तरिक्षमेव । अन्तरिक्षमिवैव । ऋग् । ऋग्वेदोस्ति वायुः साम । वायुरिव सामवेदोस्ति । यथान्तरिक्षे वायुरस्ति तथैवर्चि सामास्ति । एतस्यामन्तरिक्षसमानायामृचि । तदेतत् । वायुसमानं साम । अध्यूढम् । तस्मादृचि अध्यूढं साम गीयते । अन्तरिक्षमेव । सा । सामशब्दार्धवाच्यम् । वायुः अमः । इतरसामार्धवाच्यः । तदुभयं मिलित्वा साम भवति ॥ २ ॥

अनुवादः--ऋग्वेद अन्तरिक्ष[1] समान और सामवेद वायु समान है । सो यह वायु समान सामवेद अन्तरिक्ष समान ऋग्वेद में अध्यूढ (अन्तर्गत) है इस कारण ऋग्वेद के सम्बन्ध के साथ ही साम गाया जाता है । "सा" शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष है और "अम" शब्दार्थ वायु है । दोनों मिलकर सामपद होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(ऋग्) ऋग्वेद (अन्तरिक्षम् एव) निश्चय अन्तरिक्ष के समान और (साम) सामवेद (वायुः) वायु समान है (तत् एतत्) सो यह वायु समान (साम) सामवेद (एतस्याम्) अन्तरिक्ष समान इस (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) अन्तर्गत है (तस्मात्) उस कारण (ऋचि अध्यूढम्) ऋग्वेद संमिलित (साम) सामवेद (गीयते) गाया जाता है (सा) सामवेद के आधे सा शब्दार्थ (अन्तरिक्षमेव) अन्तरिक्ष ही है (अमः) साम शब्द के अम का अर्थ (वायुः) वायु है (तत्) (साम) दोनों मिलकर साम ऐसा पद होता है ॥ २ ॥

भाष्याशयः—पृथिवीस्थ पदार्थों के ज्ञानानन्तर वायुसम्मिलित अन्तरिक्षस्थ मेघ, विद्युत् आदि पदार्थों के परिज्ञान की कर्त्तव्यता सूचनार्थ वायुलोक का वर्णन हुआ है और तत्स्थ

(१) अन्तरिक्ष शब्द अन्तः+ईक्ष से बनता है । अन्तः नाम मध्य । ईक्ष नाम दर्शन । अर्थात् पृथिवी और द्युलोक के मध्य में जो देख पड़ता है । अथवा जिसके मध्य में सम्पूर्ण पदार्थ देख पड़ें उसे अन्तरिक्ष कहते हैं । ईक्ष का ईकार ह्रस्व होगया है । यहां अन्तरिक्ष और वायु इन दो शब्दों से अन्तरिक्षस्थ सकल पदार्थों का संग्रह मानना ।

लोक का सम्बन्ध भी उस ब्रह्म से है । अतः वायु और अन्तरिक्ष अम और सा कहा गया है ॥ २ ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम । तदेतदस्यामृच्यध्यूढꣳसाम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । द्यौरेव साऽऽदित्योऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

द्यौः । एव । ऋग् । आदित्यः । साम । तत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । द्यौः । एव । सा । आदित्यः । अमः । तत् । साम ॥ ३ ॥

भाष्यम्—द्यौरिति । सर्वस्मादूर्ध्वं रविरश्मिभासितमाकाशं द्यौरुच्यते । सूर्योपरिस्थ लोक इति यावत् । द्यौरेव ऋग् द्यौरिवेवऋग् ऋग्वेदः । आदित्य इव साम सामवेदः । तदेतद् आदित्यसमं साम । एतस्यां द्युसमानायामृचि । अध्यूढम् । तस्मादृचि अध्यूढं साम गीयते । द्यौरेवसा । सा शब्दवाच्या । आदित्यः । अमः । अम शब्दवाच्यः । तत् । साम । तत् द्यौश्चादित्यश्चोभयं साम शब्दैकाभिधेयमिति सर्वं योजनीयं पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अनुवाद–ऋग्वेद द्युलोकसमान और सामवेद आदित्य समान है । सो यह आदित्य समान सामवेद इस द्युलोक समान ऋग्वेद में अध्यूढ है । उस कारण ऋग्बद्ध ही साम गाया जाता है । द्युलोक ही सा शब्दार्थ है और आदित्य ही अम शब्दार्थ दोनों मिलकर सामपद बनता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(द्यौः एव) निश्चय द्युलोक समान (ऋग्) ऋग्वेद है (आदित्यः) आदित्यसमान (साम) सामवेद है (तत् एतत्) सो यह आदित्य समान (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस द्युलोक के सदृश (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) अन्तर्गत है (तस्मात्) उस कारण (ऋचि अध्यूढम्) ऋग्वेद सम्मिलित (सामगीयते) साम गाया जाता है (सा) सा शब्द का अर्थ द्युलोक (अमः) अम शब्द का अर्थ (आदित्यः) आदित्य है (तत्) वह दोनों (साम) साम है । अर्थात् सा और अम मिलकर साम है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—वायुलोकस्थ पदार्थ ज्ञानानन्तर द्युलोक वस्तुओं के परिज्ञानार्थ यह वर्णन हुआ है । द्यु शब्द से उपरिस्थ सकलपदार्थ का ग्रहण किया गया है और यह भी उसी जगदात्मा से सम्बद्ध है । एतत् सूचनार्थ द्यु और आदित्य साम कहा है ।

क्रमशः इन तीनों भुवनों का परिज्ञान करना चाहिये । और ये तीनों लोक उपलक्षणार्थ हैं इन तीनों के अन्तर्गत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की लक्षणा करनी ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

नक्षत्राणि । एव । ऋक् । चन्द्रमाः । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । नक्षत्राणि । एव । सा । चन्द्रमाः । अमः । तत् । साम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—नक्षत्राणीति । नक्षत्राण्येवेव ऋग्वेदः । चन्द्रमा इव सामवेदः । तदेतदेतस्यामित्यादि पूर्ववद् योजना । लोकदृष्ट्येयमुपमा । नक्षत्रचन्द्रं परस्परं विप्रकृष्टम् । अपितु नक्तं नक्षत्रमध्यगतश्चन्द्रोदृश्यते । अतएव नक्षत्राणामपिपतिश्चन्द्रो निगद्यते ॥ ४ ॥

अनुवाद—ऋग्वेद नक्षत्र समान और सामवेद चन्द्रमा समान है । वह यह चन्द्र समान सामवेद इस नक्षत्र समान ऋग्वेद में अधिगत है । अतः ऋक् संमिलित साम का गान होता है । " सा " शब्दार्थ नक्षत्र और " अम " शब्दार्थ चन्द्र है वह दोनों मिलकर साम होता है[1] ॥ ४ ॥

पदार्थः—(नक्षत्राणि एव) निश्चय नक्षत्रों के समान (ऋग्) ऋग्वेद है (चन्द्रमाः) चन्द्र के समान (साम) सामवेद है । आगे पूर्ववत् जानना ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—यह उपमा लोकदृष्टि से दीगई है । नक्षत्र और चन्द्र परस्पर बहुत दूरस्थ हैं । परन्तु रात्रि में नक्षत्रों के मध्य गत चन्द्रमा देख पड़ता है अतएव नक्षत्रों का अधिपति भी चन्द्रमा कहागया है ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥ ५ ॥

(१) यह चतुर्थ प्रवाक अप्रासङ्गिक प्रतीत होता है क्योंकि पृथिवी और द्युलोक के अन्तर्गत ही सब पदार्थ हैं । उनके वर्णन से सब का वर्णन होचुका पुनः इसका वर्णन व्यर्थ है । तृतीय और आगे पञ्चम से पुनः आदित्य का सम्बन्ध है । चतुर्थ में सम्बन्ध भग्न होजाता है ।

अथ । यद् । एतत् । आदित्यस्य । शुक्लम् । भाः । सा । एव । ऋग् । अथ । यत् । नीलम् । परः । कृष्णम् । तत् । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ त्रिभुवनविज्ञानानन्तरं तदन्तर्गतशक्तिज्ञानं विधेयमित्युपदिश्यते । यदेतत् । आदित्यस्य सूर्यस्य शुक्लं भाः । शुक्लादीप्तिरस्ति । सा एव । सा इवैव । ऋग्वेदः । अथ । यत् । आदित्ये नीलं परः । अतिशयेन । कृष्णंभा ज्योतिः प्रतीयते । तत् साम । तद्धि नीलमेकान्तसमाहितदृष्टे दृश्यते । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् योजनीयम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—सूर्य की शुक्ल दीप्ति के समान ऋग् और अतिशय कृष्णदीप्ति के समान सामवेद है । सो यह कृष्णदीप्ति समान सामवेद इस शुक्ल दीप्ति समान ऋग्वेद में अधिगत है । अतः ऋग् सम्मिलित सामवेद गाया जाता है[1] ॥ ५ ॥

पदार्थः—अब त्रिभुवन के ज्ञान के अनन्तर तदन्तर्गत शक्ति के ज्ञान का उपदेश किया जाता है (अथ) अनन्तर (यत्) जो (एतत्) यह (आदित्यस्य) आदित्य की (शुक्लम्) श्वेत (भाः) दीप्ति है (सा एव) निश्चय उसी के समान (ऋग्) ऋग्वेद है (अथ) और (यत् नीलम्) जो नील (परः कृष्णम्) अर्थात् अतिशय कृष्ण है (तत्) तद् सदृश (साम) सामवेद है (तत् एतत्) इत्यादि पूर्ववत् जानना ॥ ५ ॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

अथ । यत् । एव । आदित्यस्य । शुक्लम् । भाः । सा । एव । सा । अथ । यत् । नीलम् । परः । कृष्णम् । तत् । अमः । तत् । साम । अथ । यः । एषः । अन्तरादित्ये । हिरण्मयः । पुरुषः । दृश्यते । हिरण्यश्मश्रुः । हिरण्यकेशः । आप्रणखात् सर्वः । एव । सुवर्णः ॥ ६ ॥

---

(१) सूर्य्य में बहुत सा भाग कृष्ण है । वहां उष्णता नहीं है । इस विद्या को अति प्राचीन कालसे ऋषि लोग जानते थे ।

भाष्यम्—अथेति । अथादिसामान्तः पूर्ववत् शब्दार्थः । इदानीमेकैकस्मिन् पदार्थे व्यापकतां निरूप्य समाप्यचाधिदैविकीं प्रधानोपासनामुपदिदिक्षुः शब्दतोऽर्थतश्च श्लेषेणोपास्यस्वरूपमुपन्यस्यति । आदित्यः । समस्तं ब्रह्माण्डमादित्य उच्यते । कस्मात् । आसमन्ताद् द्योतते प्रकाशत इत्यादित्यः । इदं दृश्यमानं ब्रह्माण्डम् । न दितिः खण्डो विद्यत अस्येति वा अदितिः स एव आदित्यः । अविनश्वरी ईश्वरस्य परमा अखण्डनीया शक्तिर्वा । आदित्यः=सूर्यश्च इत्यमादित्यशब्दो बह्वर्थकः सप्तमस्यादाववतरणिका दृश्यताम् । हिरण्मयः । अत्र हिरण्यशब्दो दीप्तिपरकः प्रकाश इति यावत् सुवर्णवाचकश्च । अथ य एषः । अन्तरादित्ये । आदित्यस्य सूर्यस्य ब्रह्माण्डस्य वान्तर्मध्ये हिरण्मयः । ज्योतिर्मयः । पुरुषः पुरि सूर्यरूपेदेहे ब्रह्माण्डे वा शयनं स्थितिर्यस्य स पुरुषः । पूरयति स्वेनात्मना जगद् यः स पुरुषो वा । ईश्वरः सूर्यशक्तिश्च । कीदृशः पुरुषः । हिरण्यश्मश्रुः । हिरण्यानि ज्योतींषि श्मश्रूणि इव अस्य सः । यद्वा । हिरण्यानि सुवर्णानि । सुवर्णानि इव देदीप्यमानानि ज्योतींषि एव श्मश्रूणि यस्य सः । पुनः । हिरण्यकेशः । हिरण्यानि ज्योतींषि केशा इव अस्य सः । हिरण्यानि इव केशा किरणाः यस्य स इति वा । पुनः । आप्रणखात् । प्रणखो नखाग्रं । नखाग्रेण सहेत्यर्थः सर्वः सुवर्ण एव ज्योतिर्म्मय एव इत्यर्थः सूर्येयाशक्तिरस्ति सा ज्योतिर्मयीत्यलङ्कारेण निरूप्यते । इति सूर्यपक्षे । ब्रह्मपक्षे तु । उद्गीथस्योपासनायाः प्रक्रान्तत्वाद् ज्योतिषामपि ज्योतिः । ज्योतिष्मतामपि ज्योतिष्मान् इतिदर्शयितुं तस्मिन्नेव सर्वप्रकरणं योज्यम् । अन्तरादित्ये आदित्यस्य । देदीप्यमानस्याविनश्वरस्य दृश्यमानस्य जगतोऽन्तर्मध्ये य एष व्यापको हिरण्मयो ज्योतिर्म्मयः सूर्य्यादीनामपि प्रकाशकः । पुरुषः । पुरि जगद्रूपे शरीरे पुरुषु सर्वेषु वा यः शेते तिष्ठति स पुरुषः । दृश्यते । ध्यानावस्थितचेतसा अवलोक्यते । कथंभूतः सः । हिरण्यश्मश्रुः । ह्रियन्ते अज्ञानानि येन तद्धिरण्यं विद्याप्रकाशकं विज्ञानम् । श्मश्रुचिन्हम् । हिरण्यं विद्याप्रकाशकं विज्ञानं श्मश्रुः चिन्हं यस्येति स हिरण्यश्मश्रुः । पुनः हिरण्यकेशः । हरति संहरति सम्पूर्णं जगत् यः स हिरण्यः । संहारकर्त्ता । हिरण्य एव हिरण्यकः । स चासावीशश्चेति हिरण्यकेशः । हिरण्यशब्दो धनवचनो वा क शब्दः सुखार्थः हिरण्यानां धनानां कस्य सुखस्य चेश इति हिरण्यकेशः । के सुखे शेते । के सुखे शयितुं शीलमस्य वा । इति केशः आनन्दस्वरूपः हिरण्यश्चासौ केशश्चेति हिरण्यकेशः । पुनः । सुवर्णः शोभनो वर्णो यस्य स सुवर्णः परमसुन्दर इत्यर्थः । आप्रणखात् सम्पूर्णतः सर्व एव सुवर्णः शोभन इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवाद—जो आदित्य की शुक्लदीप्ति हैं । वह सा शब्द का वाच्य और अतिशय कृष्णादीप्ति अम शब्द का वाच्य है । वह दोनों मिलकर सामपद होता

हैं[1]। (सूर्यपक्षे) अब जो यह आदित्य के मध्य ज्योतिः समूहरूपशक्ति देख पड़ती है जिस के ज्योति ही श्मश्रुवत् और ज्योति ही केश समान है। जो नख सिख सब ही ज्योतिर्मय है। (ब्रह्मपक्ष में) देदीप्यमान इस जगत् वा सूर्य में जो यह सर्वव्यापक ब्रह्म है। विज्ञान ही जिस के चिन्ह हैं, सम्पूर्ण धन और सुखों का जो प्रभु है और जो नखशिखै सर्वथा परम-सुन्दर वा ज्योतिर्मय है (वही उपास्यदेव है) ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अथ) अब (आदित्यस्य) आदित्य का (यत्) जो (एतत्) यह (शुक्लम्) श्वेत (भाः) दीप्ति ज्योति है (सा एव) वही (सा) सा शब्दवाच्य है (अथ) और (यत्) जो (नीलम्) नील अर्थात् (परः) अतिशय (कृष्णम्) श्यामता है (तत्) वह (अमः) अम है। सामपद के "सा" का अर्थ आदित्य श्वेत-दीप्ति और "अम" का अर्थ आदित्य श्यामता है। (अथ) और (अन्तरादित्ये) आदित्य के मध्य में (हिरण्मयः) ज्योतिर्मय (पुरुषः) अपने ज्योति वा किरणों से जगत् को पूरण करने वाला जो सूर्यमण्डलान्तर्गत सम्पूर्ण ज्योतिः समूहरूप पुरुष (दृश्यते) दीखता है फिर उसी के विशेषण आगे कहते हैं (हिरण्यश्मश्रुः) हिरण्य=ज्योति ही जिस के श्मश्रु (डाढ़ी) के समान है (हिरण्यकेशः) ज्योति ही जिस के केश सदृश है। यद्वा। सुवर्ण समान जिस के ज्योति वा किरण हैं (आप्रणखात्) नखशिख (सर्व एव) सम्पूर्ण ही (सुवर्णः) ज्योतिर्मय है। ब्रह्मपक्षे-(अन्तरादित्ये) देदीप्यमान विश्व वा सूर्य के मध्य (यः) यो (एषः) प्रत्यक्षवत् भासमान (पुरुषः) जगदन्तर्गत जगन्निवास (हिरण्यश्मश्रुः) विज्ञानकेतु, वेदविद्या प्रकाशक (हिरण्यकेशः) परमैश्वर्य (आप्रणखात्) नखशिख (सर्व एव) सम्पूर्ण ही (सुवर्णः) ज्योतिर्म्मय वा परमसुन्दर ब्रह्म (दृश्यते) प्रकाशित है वही उपास्य है ॥ ६ ॥

भाष्याशयः-१-हिरण्य-यह शब्द अनेकार्थक है। सुवर्ण, धन, ज्ञान, ज्योति आदि अर्थों में आता है। यास्कजी कहते हैं "हृदयरमणं भवतीति वा" नि० २ । १० ॥ हृदयरमण=हृदयविहारी आदि उसके अर्थ हैं। वेद में हिरण्यपाणि, हिरण्यगर्भ, हिरण्यरेता, हिरण्यस्तूप प्रभृति बहुधा प्रयुक्त हुए हैं।

२-पुरुष-"पुरिशयनात्। पूरयति वा स्वेनात्मना जगत्। शङ्कराचार्यः" शरीर में शयन अर्थात् निवास करने से पुरुष। अथवा अपने आत्मा से जगत् को जो पूर्ण करता

(१) इतना भाग पञ्चम प्रवाक का ही अंश मालूम पड़ता है। परन्तु प्रायः सकल पुस्तक में षष्ठ के साथ ही है।

है उसे पुरुष कहते हैं । "पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्ययम्मात् परामित्यादि" नि० २ । ३ ॥ इसके ऊपर "श्रीमदाचार्य स्वामी दयानन्दजी" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं "पुरिसर्वस्मिन् संसारे सीदति वर्त्तते इति" "(पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वरः इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण व्याप्नोति तस्मात् स पुरुष इत्यादि" ये सब प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं कि प्रचलितार्थ से बहुत विलक्षण अर्थों में यह प्रयुक्त होता था । इसका आन्तरिक गूढार्थ शब्द व्युत्पत्ति से समझ सकते हैं ।

"परि+ष" ये दो शब्द हैं "पुरि" की जगह में "पुरु" होगया है "श" के स्थान में "ष" । अन्य आचार्य कहते हैं कि केवल "पुर्" धातु से बनता है और कोई "पुरि+षद्" मानते हैं । और अन्य आचार्य "पुरु+ष" इस में "पुरि" की जगह में "पुरु" आदेश नहीं करते और अर्थ करते हैं—जगत् वा आत्माओं को बन्धन में डालने वाले ईश्वर का नाम पुरुष । और सुख दुःख नाम भोग से बन्धन में पड़ने वाला जीवात्मा पुरुष । सांख्य योग प्रायः जीवात्मा, परमात्मा दोनों अर्थों में इसका प्रयोग करते हैं । पुरुषोत्तम भी ईश्वर को कहते हैं । सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी आदि अर्थ के प्रमाण में (यस्मात्परं नापरमस्ति) इत्यादि श्रुतियां आती हैं । इस कारण प्रकरणस्थ "पुरुष" के अर्थ वैदिक प्राचीन ग्रहण करें । लौकिक अर्थ आज कल हम लोगों को यथार्थ तत्त्व से पृथक् कर देता है। यहां अधिदैविक उपासना को समाप्त करते हुए ब्रह्म के महाज्योतीराशि से ही सूर्य्यादि में भी प्रकाश आता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी उसी की सत्ता है इस अर्थ के दिखलाने के हेतु क्रमशः पृथिवी से द्युलोकस्थ आदित्य में पहुंच पुनः आदित्यान्तर्गत भी उसे बतला अगु २ में व्याप्ति को दिखलाने के हेतु विशेष रूप से "पुरुष" शब्द का प्रयोग करते हैं ।

हिरण्यकेश—हिरण्य+क+ईश । वह केवल व्यापकमात्र ही नहीं किन्तु (हिरण्य) सोना चांदी पुत्र कलत्र आदि सकल धन और (क) परमानन्द सुख इनका वही ईश है । क—इस शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं निघण्टु और निरुक्त में "कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा" दै० ४ । २२ । इत्यादि देखो । वेद में—"कस्मै-दैवाय" इत्यादि स्थल देखो । यहां किं शब्द का "कस्मै" नहीं । वैश्वानरो····राजाहि कम् । इत्यादि बहुशः प्रमाण विद्यमान हैं । "के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयम्" इत्यादि लौकिक वाक्य में जलार्थक भी आया है ।

केश–केशीकेशा रश्मयः तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा" निरु० दै० ६ । २६ ॥ पुनस्तत्रैव "केशीदं ज्योतिरुच्यते·······। अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी । धूमेनाग्नी रजसा च मध्यमः" वेद में–"कश्यग्निं केशी विषं केशीबिभर्ति रोदसी । केशीविश्वं स्वर्द्दशेकेशीदं ज्योतिरुच्यते" "त्रयः केशिनः इत्यपि ।" इत्यादि स्थलों में केश शब्दार्थ ज्योति है । इसी हेतु अग्नि, विद्युत, सूर्य आदि को "केशी" (केशवाला) कहते हैं । श्रीमदाचार्य्य स्वामी दयानन्दजी "उपनः सुतमागहि" इस मन्त्र में अखण्ड केशी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं, यथा–"केशा बहवो रश्मयो विद्यन्ते येषामग्निविद्युत्सूर्याणां तैः सह" केश शब्द काश (To Shine) धातु से निष्पन्न होने के कारण प्रकाश विकाशार्थक है । ज्योति से जगत् में प्रकाश होता है अतः ज्योतिर्मय सब पदार्थ केशीनाम से कहे गये हैं । मनुष्यस्थित केश को भी इसी कारण केश कहते हैं उससे सुन्दरतारूप ज्योति प्रकाश होता अथवा अन्तरीय ज्योति की रक्षा होती । यद्वा । मनुष्य लोग शिरस्थ बालों को सुरक्षित और प्रिय समझने लगे इस हेतु भी वह केश कहलाने लगा क्योंकि ('के' मूर्द्धनिशिरसि शेरते विराजन्ते इति केशाः) क नाम शिरका है श नाम विराजमान । जो शिरके ऊपर विराजमान हो ।

अब सूर्य्यपक्ष में हिरण्यकेश का अर्थ–हिरण्य, सुवर्ण तद्वत् देदीप्यमान केश=ज्योति है जिसके । ईश्वर पक्ष में करचुके । दिङ्मात्र दिखलाया है । हिरण्यश्मश्रु—जिस कारण यहां सूर्य्यान्तर्गत ज्योतीराशिरूप शक्ति से उपमा दीगई है अतः द्व्यर्थ शब्द रक्खे गये हैं अज्ञान वा तम को हरण करने से हिरण्य । श्मश्रु नाम चिन्ह । जैसे केतु आदि शब्द लक्षणा से चिन्हार्थ होते हैं वैसे ही यहां पर भी श्मश्रु लक्षणासे चिन्हार्थक है । अज्ञानहरण=ज्ञान ईश्वर का, तमोहरण सूर्य का चिन्ह है । अतः दोनों पक्षों में ठीक है ।

समीक्षा—शङ्का–यहां आपका अर्थ अच्छा नहीं प्रतीत होता है क्योंकि इस मन्त्र के श्मश्रु (दाढी), नख, केश आदि शब्द केवल पुरुष में ही घट सकते हैं । पुनः "य एषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते" जो यह नेत्र के मध्य में पुरुष दीखता है । इतना कहकर "तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपं" उस आदित्यगत पुरुष का जो रूप है वही रूप इस नेत्रगत पुरुष का भी है यह इसी के पश्चात् सप्तम खण्ड में कहा गया है अर्थात् आदित्यगत पुरुष का अतिदेश (आरोप) नेत्रगत पुरुष में किया गया है । यहां रूपशब्द का प्रयोग साक्षात् है परन्तु ईश्वर का रूप नहीं "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत् । कठ० ३ । १५ ।" "अशब्द" अस्पर्श अरूप आदि शब्दों से वह कथित है ।

पुनः इस प्रवाक में आधार का वर्णन है "यः एषोन्तरादित्ये इत्यादि" अर्थात् आदित्य और नेत्र इसका आधार है । परन्तु ईश्वर का आधार नहीं क्योंकि "स भगवन् कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" नारदजी ने सनत्कुमारजी से पूछा है कि हे भगवन् ! वह किसमें प्रतिष्ठित है ? इसके उत्तर में सनत्कुमारजी कहते हैं "स्वे महिम्नि" अपनी ही महिमा में । "आकाशवत् सर्व गतश्च नित्यः" यह भी श्रुति ईश्वर की निराधारता में प्रमाण है । अतः निराधार स्वमहिम प्रतिष्ठ सर्वव्यापी ईश्वर के आधार का वर्णन नहीं होसक्ता । पुनः यहां ऐश्वर्य्य मर्य्यादा का वर्णन है यथा-(स एष येचैतस्मादित्यादि) आदित्यलोक से ऊर्द्ध्व स्थित लोकों का और देवकामनाओं का वह ईशिता है अन्य का नहीं । परंन्तु ईश्वर के ऐश्वर्य्य की सीमा नहीं हो सक्ती क्योंकि "एष सर्वेश्वरः । एष भूताधिपतिः । एष भूपालः । एष सेतुः । विधरणः इत्यादि" यह सर्वेश्वरः । यह भूताधिपति । यह भूपाल आदि कहा गया है । इन हेतुओं से उपनिषद् का तात्पर्य्य किसी पुरुष से विदित होता न कि ईश्वर से । पुनः आपका अर्थ युक्तियुक्त कैसे मानें ॥

उत्तर—इस शङ्का को निर्मूल करने की इच्छा से ही कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । वेदान्त सू० १ । १ । २० ॥ इस सूत्र को रचा है । अर्थात् "जो यह आदित्य के मध्य में और जो यह नेत्र के मध्य में पुरुष दीखता है" इत्यादि स्थलों में किसी शरीरधारी पुरुष विशेष का वर्णन नहीं किन्तु उसी निराधार सर्वव्यापक ब्रह्म का ही वर्णन जानना क्योंकि (अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्) उसके मध्य में उस ब्रह्म के धर्म का उपदेश होने से अर्थात् आदित्य और नेत्र के मध्यगत पुरुष में जो गुण वा धर्म उपदिष्ट हुए हैं । वे ईश्वर के ही हो सकते हैं । जीवात्मा वा देवात्मा आदि में नहीं घट सकते । प्रकरण को प्रथम देखो "सब पापों से वह पृथक् है । ऋग् और साम उसके गायक हैं । वह ऋग्, वह साम, वह उक्थ, वह यजु, वह ब्रह्म है पुनः उसी को बीणा में गाते हैं, उस के गाने वाले भी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं" इत्यादि विशेषण क्या जीव में कदापि घट सकते हैं और उसके रूप आदि जो वर्णन किये गये हैं उनके कारण ये हैं । "इत्यधिदैवतम् अथाध्यात्मम्" अर्थात् अधिदैवत और अध्यात्म वर्णन जहां २ आता है वहां रूपकालङ्कार से श्रुति प्रतिपादन इस हेतु करती है कि मन्दजनों को शीघ्र बोध हो और उपासक लोगों को सुगमता से समझ में आवे । "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" इत्यादि भी इसी कारण से जानना "अन्तर उपपत्तेः" १ । २ । १३ ॥ "सुखविशिष्टाभिधानाच्च" १ । २ । १५ ॥ इत्यादि वेदान्त सूत्र देखो । पुनः व्यासदेव कहते हैं-भेदव्यपदेशाच्चान्यः । वे० सू० १ । १ । २१ ॥ भेद के कथन से भी ब्रह्म का ही ग्रहण है । क्योंकि-"य आदित्ये तिष्ठन्

आदित्यादन्तरः यमादित्योनवेदेत्यादि" जो ईश्वर आदित्य में स्थित है परन्तु आदित्य से भिन्न है। जिसको आदित्य नहीं जानता है इत्यादि अनेक प्रमाण के साक्ष्य से ही इस प्रकरण को ब्रह्म पक्ष में ही मुख्य समझना और गौणता से आलङ्कारिक अर्थ का भी अनुसन्धान करले तो क्षति नहीं। उन वेदान्त सूत्रों को विचारने से सब शङ्का जाती रहती है ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। तस्योदिति नाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

तस्य। यथा। कप्यासम्। पुण्डरीकम्। एवम्। अक्षिणी। तस्य। उत्। इति। नाम। सः। एषः। सर्वेभ्यः। पाप्मभ्यः। उदितः। उदेति। ह। वै। सर्वेभ्यः। पाप्मभ्यः। यः। एवम्। वेद ॥ ७ ॥

भाष्यम्–तस्येति। तस्य। ज्योतीराशिरूपस्य पुरुषस्य। पुरिशयस्य सूर्य्यशक्तेरित्यर्थः। कप्यासम्। कपेर्वानरस्य आसः आसनम्। पुच्छभागोऽत्यन्ततेजस्वीत्यर्थः। तत्तुल्यं। पुण्डरीकम्। कमलं यथा भवति एवं। अक्षिणी नेत्रेस्तः। अत्राऽलङ्कारेण वर्णना न याथार्थ्यम् सूर्य्यस्य सर्वे किरणानेत्राणीववर्ण्यन्ते। अतः सहस्राक्षः स उच्यते। तस्य पुरुषस्य "उत्" इति नामधेयम्। उन्नामा स पुरुषः। ऊर्ध्वे स्थितत्वात्। इतश्चापि। स एषः। सर्वेभ्यः सकलेभ्यः। पाप्मभ्यः पापेभ्यस्तमोरूपदोषेभ्यः अत्र ल्यप् लोपे पञ्चमी। तेन सर्वाणि पापानि सर्वान् नैशान् दोषान् विनाश्य। उदितः। उद्+इतः उर्द्ध्वगतः सर्वपापविरहित इत्यर्थः। जड़त्वाद्। उदयं प्राप्तो वा। ह वै निश्चितम्। यः पुरुषः। एवं वेद। सोपि सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः पापेभ्य उदेति पृथक् भूय प्रकाशते निष्पापो जायते। यद्वा। सर्वाणि पापानि तज्ज्ञानबलेन विनाश्य शुद्ध्यते ॥

ब्रह्मपक्षे यथा—कप्यासशब्दः कृष्णपरकः। पुण्डरीक शब्दः श्वेतपरकः। तेन कप्यासपुण्डरीके यथासंख्यमशुभशुभार्थद्योतके। अशुभं शुभञ्च यथाभवेत्। एवं तस्य सर्वेश्वरस्याक्षिणीनेत्रे। कप्यासपुण्डरीके वर्त्तेते। अर्थाद्दुष्टान् प्रत्यशुभदृष्टिः। शिष्टान् प्रति शुभदृष्टिः सोस्तीत्यर्थः। तस्य उद् इति नाम। यस्मात् सर्वस्मादूर्ध्वे स तिष्ठति। अतः "उत्" इति नामधेयमन्वर्थम्। स एष पुरुषः। सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः। सर्वेभ्यः पापेभ्यः पृथक्। उदितः प्रकाशितोस्ति। निखिलपापास्पृष्टः। अपहतपाप्मा इत्यर्थः। यः ब्रह्मवित्। एवं विशिष्टं ब्रह्म वेद। जानाति। सोपि सर्वेभ्यः

पाप्मभ्यः पृथक् भूय उदेति प्रकाशते । ह वै निपातौ निश्चयार्थौ । अवश्यमेव स ब्रह्मवित् सकलपाप्मभ्यो विप्रकृष्टो भवति ॥' ७ ॥

अनुवाद—सूर्यपक्ष में—उस (ज्योतीराशिरूप पुरुष)' के नील और श्वेत कमल के समान नेत्र हैं उस का उत् यह नाम है । सो यह (सूर्यकिरणसमूह रूप पुरुष) सम्पूर्ण (रात्रिसम्बन्धी अन्धकाररूप) दोषों को विनाश करके उदित (उत् इत) हुआ है । जो ज्ञानी ऐसा जानता है, वह भी सम्पूर्ण पापों से पृथक् होकर प्रकाशित होता है ॥

ब्रह्मपक्ष में—उस व्यापक ईश्वर के कृष्ण (दण्ड दृष्टि) और श्वेत (कृपादृष्टि) दो मानो नेत्र हैं उत् उस का नाम है । सो यह सकल पापों से पृथक् होकर वा उनसे

---

(१) यतः प्रथम वर्णन हो चुका है कि सूर्य में कृष्ण और शुक्लदीप्ति है । अतः वे दोनों मानो नेत्र के समान हैं । मूल में "कप्यास" पद है (कपि+आस) कपि नाम वानर । आस नाम आसन अर्थात् कपि का आसन । शङ्कराचार्य ने कपिपृष्ठान्तासन=अति तेजस्वी अर्थ किया है । परन्तु कृष्ण अर्थ करना अच्छा है । प्राचीन काल में कृष्ण कमल का नाम था । पुण्डरीक नाम श्वेत कमल यहां श्वेतरंग से अभिप्राय है । कप्यास को कोई विशेषण मानते हैं ॥

(२) "उत्" "इत" इन शब्दों से उदित बनता है । उत् नाम ऊपर इत नाम गत प्राप्त जो ऊर्ध्व प्राप्त है, जिस हेतु पृथिवी और अन्तरिक्ष नाम लोक से वह उत्=ऊपर है अतः उत् नाम से उदित हुआ है ॥

(३) मूल में कप्यास और पुण्डरीक शब्द कृष्ण और श्वेत के रूपक हैं । परन्तु कृष्ण और श्वेतरंग अशुभ और शुभ अर्थ के द्योतक होते हैं । इसी कारण पाप आदि दुष्ट गुणों की कृष्ण पदार्थ से और धर्म यश कीर्त्ति आदि शुभ गुणों की श्वेत पदार्थ से उपमा दी जाती है । दुष्टों के प्रति दण्डविधानार्थ कृष्णदृष्टि अतएव रुद्र भी वह है और शिष्टों के प्रति शुभफल विधायक होने से शुभदृष्टि वह माना जाता । अतः कृष्ण और श्वेत इस के दो नेत्र के समान कहे गये हैं ॥

(४) जिस कारण सब में प्राप्त होकर सबों से पृथक् वर्त्तमान है अतः उसका उत् नाम होना बहुत ही ठीक है । सूर्य में गौण, ईश्वर में मुख्य है । अतः ईश्वर का नाम अथर्ववेद में "उच्छिष्ट" भी कहा गया है ॥

"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः" (११ । ४ । ७ । २४) इत्यादि मन्त्र में ॥

ऊपर प्रकाशित है अर्थात् निखिल पापगंधरहित है जो ब्रह्मवित् ऐसा जानता है वह भी सकल पापों से दूर होकर (जगत् में) प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

पदार्थः—सूर्यपक्ष में–(यथा) जैसे (कप्यासम्) कृष्णकमल (पुण्डरीकम्) और श्वेत कमल होता है (एवम्) वैसे (तस्य) उस ज्योतिःसमूह सूर्यरूप पुरुष के (अक्षिणी) नेत्र हैं । यह अलङ्कारमात्र है । सूर्य में कृष्ण और शुक्ल दीप्ति है । अतः ये दो नेत्र के समान हैं (तस्य) उस का (उत्) उत् (इति) यह (नाम) नाम है (स एषः) सो यह (सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः) रात्रि सम्बन्धी सकल दोषों को नाश करके (उदितः) उदित होता है (य एवं वेद) जो आदमी ऐसा जानता है वह (ह वै) निश्चय (सर्वेभ्यः) सब (पाप्मभ्यः) पापों से पृथक् होकर (उदेति) जगत् में प्रकाशित होता है ॥

आशय—यहां "सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः" इस पद में ल्यप् लोप अर्थ में व्याकरण के अनुसार पञ्चमी है । ल्यप् लोप अर्थ में पञ्चमी होने से एक ल्यबन्त क्रिया का लोप रहता है । अतः उस पद का यों अर्थ होता है " सर्वाणि पापानि विनाश्य" सब पापों को नाश करके । यहां पापशब्द दोष का वाचक है अतः रात्रिसम्बन्धी भयरूप और अन्धकाररूप दोषों का नाश करके वह सूर्य उदित होता है ॥ ७ ॥

पदार्थः—ब्रह्मपक्ष में–(यथा) जैसे (कप्यासम्) कृष्ण और (पुण्डरीकम्) श्वेत रङ्ग होता है (एवम्) वैसे (तस्य) उस व्यापक ब्रह्म के मानो (अक्षिणी) नेत्र हैं (तस्य) उसका (उत् इति नाम) उत् यह नाम है (स एषः) वह यह व्यापक पुरुष (सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः) सकल पापों से पृथक् होकर (उदितः) प्रकाशित है । (य एवं वेद) इत्यादि पूर्ववत् ॥

आशय—मूल में कप्यास और पुण्डरीक शब्द क्रमशः कृष्ण और श्वेत कमलवाचक है । यहां रूपक उपमा के द्वारा वर्णन है । अतः कप्यास का केवल कृष्ण और पुण्डरीक का श्वेत रंग अर्थ लिया गया है ॥ ७ ॥

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ । तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता । स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

तस्य । ऋक् । च । साम । च । गेष्णौ । तस्मात् । उद्गीथः । तस्मात् । तु ।

एव । उद्गाता । एतस्य । हि । गाता । सः । एषः । ये । च । अमुष्मात् । पराञ्चः । लोकाः । तेषाम् । च । ईष्टे । देवकामानाम् । च । इति । अधिदैवतम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—तस्येति । इदानीमुद्गीथोद्गातृशब्दयोर्गूढार्थं प्रकाशयन्ती ब्रह्मण ईशितृत्वादि धर्मान् विशदीकरोति । नायं द्व्यर्थः । उपसंहारस्य ब्रह्मण्येवपर्यवसितत्वात् । तस्य ब्रह्मणः । ऋक् सामच । वेदौ गेष्णौ । गायकौ । द्वौ चावनुक्तौ यजुर्वेदाथर्ववेदौ समुच्चिनुतः । गेष्णौ पर्वणी इति केचित् । गानविशेषावित्यपरे । उद्गीथं व्युत्पादयति । तस्मात्कारणात् । स उद्गीथ उच्यते । अयमभिप्रायोस्ति । पूर्वम् । तस्य " उत् " इति नाम कथितम् । उदिति नाम्ना तद्ब्रह्म ऋग्सामाभ्यां गीयत इत्युद्गीथो ब्रह्म । गीथशब्दस्य गै धातु निष्पन्नत्वात् । उद्गातृशब्दं व्युत्पादयति । तस्मादेत कारणात् । उद्गातृनामा ऋत्विक् । उद्गाता इत्यभिधीयते । हि यतः । एतस्य । उतः परमात्मनो गाता । अतः उद्गाता । उत् ब्रह्म गायति यः स उद्गाता इति यावत् । तं पुरुषं विशिनष्टि । स एषः । व्यापकः पुरुषः । अमुष्मात् आदित्यात् पराञ्चः । परागञ्चनादूर्ध्वा लोका ये च सन्ति । चादधो लोकाः । तेषाञ्च लोकानाम् । ईष्टे "ईश ऐश्वर्ये" ईशिनेत्यर्थः । च । चकाराद् धारयति च । च पुनः । देवकामाना देवानां विदुषां कामा मनोरथास्तेषामीष्टे । यद्वा । सकलसूर्यादिदेवानां गमनादिमार्गान् स एव अनुशास्ति । इत्याधिदैवतम् ॥ ८ ॥

इति षष्ठस्य खण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवाद—उस (व्यापक पुरुष) के गायक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं । इस हेतु वह (ब्रह्म) उद्गीथ[3] और इसी कारण (उद्गाता ऋत्विक्) उद्गाता[4] कहलाता है क्योंकि उसी का गाता (गानेवाला) है । जो सूर्य्य से भी ऊर्द्ध्व लोक है

---

(१) मूल में गेष्णा शब्द है किन्हीं टीकाकारों ने पर्व गान आदि अर्थ किया है ।

(२) मूल में दो "च" शब्द आये है । संस्कृत के नियम के अनुसार उन दोनों 'च' शब्दों से अनुक्त (नहीं कहे हुए) यजुर्वेद और अथर्ववेद का भी ग्रहण होता है । च शब्द की ऐसी शक्ति है कि अनुक्त पदार्थों को भी अपनी ओर खींच लेती है ।

(३) "उत्" यह नाम ईश्वर का है । यह प्रथम वर्णन होचुका है गीथ जो गाया जाय । उत् नाम द्वारा सम्पूर्ण वेद उस को गाते हैं । अतः वह उद्गीथ है । इस का भी अभिप्राय यह है कि वह परमेश्वर सबों में व्याप्त रहने पर भी सबों से ऊपर है । ऐसा ही वर्णन वेद करते हैं । इस लोक में भी देखाजाता है कि आपामर ईश्वर को लक्ष्य करके ऊपर ही हाथ उठाता है । अतः उत् (ऊपर ऊर्द्ध्व) इसका नाम भी है ।

(४) उत्=परमेश्वर, गाता=गायक, परमेश्वर का गायक ।

उन का भी वह ईश (शासक) है और विद्वानों के मनोरथों का भी ईश पूरक है ॥ इति अधिदैवतम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(तस्य) उस व्यापक पुरुष के (गेष्णौ) गायक (ऋक् च) ऋक् और यजुः (साम च) साम और अथर्व हैं (तस्मात्) उस कारण (उद्गीथः) वह ब्रह्म उद्गीथ कहलाता है (तस्मात् तु एव) इसी कारण से (उद्गाता) उद्गाता ऋत्विक् भी उद्गाता कहलाता है (हि) क्योंकि (एतस्य) इसी " उत् " नाम ब्रह्म का वह (गाता) गाने वाला है (स एषः) सो यह ब्रह्म (ये च) जो (अमुष्मात्) इस आदित्य लोक से (पराञ्चः) ऊर्द्ध्वस्थित (लोकाः) लोक हैं (तेषां च) उनका (ईष्टे) ईशिता स्वामी है । च शब्द के प्रयोग से धारण आदि भी अर्थ करना (देवकामानाञ्च) और विद्वानों की कामनाओं का भी (ईष्टे) पूर्ण करने वाला है (इति, अधिदैवतम्) देवता विषयक उपमा समाप्त हुई "ईश ऐश्वर्य्ये" ईश धातु का अर्थ ऐश्वर्य है ॥ ८ ॥

भाष्याशयः—इस प्रवाक से उद्गीथ और उद्गाता शब्दों के गूढार्थ दिखलाये गये हैं और ईश्वर को सम्पूर्ण जगत् का शासक और विद्वानों के मनोरथ का पूरक कहा गया है । "उद्गीथ" इस कारण नाम हुआ कि प्रथम उत् उसका नाम है सो गत वर्णन में कहा गया है । गीथ शब्द गै धातु से सिद्ध होता है । जिस कारण उत् जो ब्रह्म उस को चारों वेद गाते हैं अतः वह उद्गीथ कहलाता है । उद्गाता (उत्+गाता) दो शब्दों के योग से बनता है । उत् नाम ईश्वर । गाता नाम गाने वाला । जिस कारण ईश्वर को ही गाता है अतः वह ऋत्विक् उद्गाता कहलाता है । "गेष्णौ" गेष्ण शब्द का अर्थ कोई पर्व गान आदि करते हैं । पृथिवी अग्नि । अन्तरिक्षवायु । द्युलोक आदित्य आदि ईश्वर के मनुष्यपर्व (संयुक्त अवयव) गांठि वा पोरवत् वे भी एक २ पर्व हैं । इत्यादि । परन्तु गेष्ण शब्द का यहां गायक अर्थ करना समुचित मालूम पड़ता है । यद्यपि पुरुष के वर्णन होने के कारण अवयवार्थ अनुचित नहीं तथापि यहां प्रधानतया ईश्वर की विभूति के वर्णन होने से गायक अर्थ ठीक भासित होता है । ऋग्वेदादि जिसके गायक हैं । आदित्य लोकादियों का जो धारक है । जो देवकामनाओं का पूरक है । इत्यादि वर्णन उस की परम विभूति का ही है ॥ ८ ॥

इति षष्ठस्य खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥



आदित्य शब्द ।

अधिदैवत उपासना में प्रायः अग्नि, वायु, आदित्य ये ही तीनों देव और अग्नि, वायु, आदित्य ये ही तीनों शब्द ऋषियों ने प्रयुक्त किये हैं, यथा:—

आदित्य एवोद् । वायुर्गीः । अग्निस्थम् । १ । ३ । ७ ॥ अग्निः साम । वायुः साम । आदित्यः साम ॥ १ । ६ । १–३ ॥ अग्निः । वायुः । आदित्यः । स उद्गीथः । २ । ११ । १ ॥

अथवा वसु, रुद्र और आदित्य ये तीन नाम आते हैं ॥

वसूनां प्रातःसवनम् । रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम् । आदित्यानाञ्च विश्वेषां देवानां तृतीयं सवनम् ॥ २ । २४ । १ ॥

त्रया वै देवाः । वसवो रुद्रा आदित्याः । शतपथ ब्रा० । ४ । ३ । ५ । १ ॥ वसवः प्रातः सवनेनागूरुद्रा माध्यन्दिनेन सवनेनादित्यास्तृतीय सवनेन । १२ । ३ । ४ । १ ॥

इत्यादि प्रसंग में अग्नि, वायु, आदित्य अथवा वसु, रुद्र, आदित्य ये तीन नाम बहुधा प्रयुक्त दीखते हैं । यास्काचार्य भी कहते हैं जैसे:—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवाम्यन्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः ॥ निरुक्त दै० १ । ५ ॥

तीन ही देवता होते हैं । पृथिवीस्थान अग्नि, अन्तरिक्षस्थान वायु, द्युस्थान सूर्य्य । यहां यास्काचार्य ने आदित्य की जगह में सूर्य शब्द का प्रयोग किया है । परन्तु उपनिषद् में विशेषकर एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रायः आदित्य शब्द का ही प्रयोग किया है । सूर्य आदि शब्द नहीं । और अधिदैवत वर्णन में तो आदित्य शब्द को छोड़ सूर्यादि शब्द कदापि भी प्रयुक्त नहीं हुआ है । जैसे:—

असौ वा आदित्य उद्गीथः । छा० १ । ५ । १ ॥ आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः । ३ । १९ । १ ॥ आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते । ३ । १९ । ४ ॥ य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते । यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः ।…………। अयमेवसः । योऽयमात्मेदममृतम् । ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ बृ० २ । ५ । ५ ॥ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य । तस्य का देवतेति । सत्यमिति होवाच ॥

इत्यादि अनेक प्रयोग आये हैं। इस कारण यहां आवश्यकता प्रतीत होती है कि "आदित्य" शब्द के ऊपर कुछ विचार किया जाय। आज कल लोग इस शब्द को सूर्य-वाचक ही लेते हैं। जैसे:—

सूरसूर्यार्यमादित्य द्वादशात्म दिवाकरा:। अ० को० दिग्वर्ग २८ ॥

सूर, सूर्य, अर्यमा, आदित्य, द्वादशात्म, दिवाकर आदि सूर्य के नाम हैं। परन्तु अति प्राचीन काल में केवल सूर्यवाचक ही नहीं था। अतः इस के तात्पर्य का अनु-सन्धान जहांतक हो करना चाहिये ॥

एतेहीदꣳ सर्वमाददानायन्ति ते यदिदं सर्वमाददानायन्ति तस्मादादित्या इति ॥ बृ०। ३। ६। ५ ॥

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि "आ+दा" धातु से आदित्य शब्द सिद्ध होता है। आपूर्वक दा धातु आदान अर्थात् ग्रहण अर्थ में होता है। जो ग्रहण करे उसे आदित्य कहते हैं। अतएव कहा गया है यथा:—

प्राणावादित्या एतेहीदꣳ सर्वमाददते ॥ छा० ३। १६। ५ ॥

आदित्य नाम प्राण का है क्योंकि ये ही सम्पूर्ण इन्द्रियों को ग्रहण किये हुये है। सूर्य भी आकर्षण शक्ति से अखिल पदार्थों को अपनी ओर ग्रहण किये है। अतः आ-दित्य कहलाता है। परन्तु इतना ही अर्थ आदित्य शब्द का नहीं। "अदिति" शब्द से भी आदित्य बनता है।

दित्यदित्यादित्य पत्युत्तर पदाण्ण्यः ॥ पा०। ४। १। ८५ ॥

दिति, अदिति, आदित्य और पत्युत्तर शब्द से प्राग् दीव्यति अर्थों में ण्य प्रत्यय होता है। इस सूत्र के अनुसार (अदितेरयमादित्यः। आदित्यस्यायमादित्यो वा) अदिति और आदित्य इन दोनों शब्दों से आदित्य बनता है। अदिति शब्द का क्या अर्थ है? पौराणिक लोग कहते हैं कि कश्यप ऋषि की स्त्री का नाम अदिति है। उससे सूर्य की उत्पत्ति हुई है उस हेतु सूर्य आदित्य कहलाता है; परन्तु यह सर्वथा अश्रद्धेय है। वेद में कहा गया है:—

अदितिर्द्यौः। अदितिरन्तरिक्षम्। अदितिर्माता। स पिता। स पुत्रः। विश्वेदेवा-अदितिः। पञ्चजना अदितिः। जातमदितिर्जनित्वम् ॥ नि० नै० ४। २३ ॥

द्युलोक अन्तरिक्ष आदि का वाचक अदिति है। यास्कजी कहते हैं "देवमाता" "देवानांमाता निर्मात्री" देवों को निर्माण करने वाली को अदिति कहते हैं। एक स्थान में यास्काचार्य कहते हैं—कि "अदितेर्दक्षोऽजायत। दक्षाद्वदितिः। परीति च। तत्कथमु-

पपद्येत । समानजन्मानौस्याताम् इत्यपि वा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौस्यातामितरेतरप्रकृती ॥ नि० दै० ५ । २३ ॥

"अदिति से दक्ष की उत्पत्ति और दक्ष से अदिति" की उत्पत्ति । उलटा भी । यह जो प्राचीन ऋषियों का कथन है सो कैसे हो सकता है । इतना प्रश्नकर स्वयं उत्तर देते हैं । कदाचित् दोनों समान जन्म वाले हों वा देव धर्म से परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले हों इति । अदिति से दक्ष और दक्ष से अदिति हुई इसका तात्पर्य विस्पष्ट है कठिन नहीं । अदिति=अखण्डस्वरूप ईश्वर । दक्ष=सम्पूर्ण सृष्टि । एक पक्ष में । और द्वितीय पक्ष में दक्ष=ब्रह्म । अदिति=प्रकृति इतना अर्थ करने से सब सङ्गति हो जाती है । अतः वेद में कहा गया है कि अदिति नाम माता का और पुत्र का भी है । ईश्वर सब की माता है इसलिये ईश्वर अदिति कहलाता है परन्तु प्रकृति भी सर्व पदार्थों का उपादान कारण है इसलिये प्रकृति का भी नाम अदिति है और इसी हेतु यह माता है परन्तु ईश्वर की प्रेरणारूपी शक्ति से प्रकृति प्रवृत्त होती है इस हेतु ईश्वर की पुत्रीवत् प्रकृति है, इस हेतु अदिति पुत्री भी कहलाती है । अर्थात् प्रकृति ईश्वर की पुत्रीवत् और महदादि की माता है, अथवा अदिति और दक्ष क्रम से प्रकृति और पुरुष को कहते हैं । प्रकृति की सहायता से पुरुष, पुरुष का प्रकाश और पुरुष की सहायता से प्रकृति का प्रकाश । इस हेतु इतरेतर प्रकृति ये दोनों कहलाते हैं । यह बात बहुत विशद है । इसके ऊपर "वेदार्थप्रकाश" में विस्तृत व्याख्यान किया जावेगा । प्रकृतिविषय में यह फलित हुआ कि अदिति नाम प्रकृति का है और प्रकृति के पुत्र को (अदितेरपत्यम्) आदित्य कहते हैं । प्रकृति का पुत्र कौन है ? । उत्तर—यह सम्पूर्ण सृष्टि । अतः यह सिद्ध हुआ कि आदित्य नाम सृष्टि का है । आज कल भी देवता वाचकों में आदित्य शब्द का पाठ आता है । यथा:—

अमरानिर्जरा देवास्त्रिदशाविबुधासुराः । आदित्या ऋभवोस्वप्नाऽमूर्त्या अमृतान्धसः ॥

यह सम्पूर्ण सृष्टि ही देव है इसी का नाम आदित्य है । क्योंकि प्रवाहरूप से यह अमर्त्य है । ऋषि प्रयुक्त शब्दों के किञ्चिदंश की भी समालोचना करने में असमर्थ हो गये हैं । क्योंकि आज कल संस्कृत की परिपाटी ऐसी अधःपतित हो गई है कि शब्दार्थ के तत्त्व से लक्षोंकोश दूर हम लोगों को फेंक दिया है ।

अब प्रकरण के अनुसार भी देखिये कि आदित्य शब्द से क्या तात्पर्य निकलता है । प्रथम अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्रादियों में ब्रह्मव्याप्ति कह कर पुनः आदित्य के अभ्यन्तर व्याप्ति का वर्णन करते हैं । यदि यहां आदित्य शब्द का केवल सूर्य ही

अर्थ लिया जाय तो पुनरुक्ति होगी अथवा अन्य देवों में ब्रह्म की अभ्यन्तर व्याप्ति नहीं है यह सिद्ध होगा परन्तु यह इष्ट नहीं। अतः आदित्य शब्द सम्पूर्ण देववाचक है केवल सूर्यवाचक नहीं। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र और नक्षत्र में व्याप्ति दिखला अवशिष्ट देवों में भी वैसी ही ब्रह्म व्याप्ति है। एतदर्थसूचक यह शब्द प्रतीत होता है परन्तु यह अधिदैवत उपासना है इस हेतु अध्यात्म उपासना को छोड़ अन्य सब उपासनाओं का अन्तर्भाव इसी उपासना में होना चाहिये। क्योंकि दो ही उपासनाएं कही गई हैं। सो जब तक आदित्य शब्द प्रकृतिमात्रवाचक न होगा तब तक यह हो नहीं सकता। अतः आदित्य शब्द सम्पूर्ण प्रकृतिवाचक है यह जानना। अतएव अदिति शब्द से केवल अपत्य अर्थ में ही महर्षि पाणिनि ने प्रत्यय नहीं किया है किन्तु प्राग् दीव्यतीय सब अर्थों में। अतः (अदितिरेव आदित्यः) स्वार्थ में ही प्रत्यय करने से अदिति से आदित्य बनता है। अर्थात् आदिति को ही आदित्य कहते हैं। आदित्य नाम प्रकृति। अतः आदित्य नाम प्रकृति का सिद्ध हुआ। कठोपनिषद् के वचन से स्पष्ट विदित होता है कि अदिति नाम प्रकृति का है यथाः—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ कठ० ४। ७॥

(या) जो (अदितिः) अविनश्वरी अखण्डनीया अदिति (प्रकृति) (प्राणेन) प्राण=ब्रह्म की सहायता से (संभवति) उत्पन्न=प्रकाशित होती है। वह प्रकृति कैसी है? (देवतामयी) सत्त्व, रज, तमरूप देवताओं से युक्त (या) जो अदिति। (भूतेभिः) पृथिवी, अप, तेज आदि महाभूतों के साथ (व्यजायत) उत्पन्न होती है। पुनः (गुहां) ब्रह्मरूप गह्वर में (तिष्ठतीम्) निवास करती हुई उसको जो जानता है वही द्रष्टा है।

यहां अदिति को देवतामयी कहते हैं। सृष्टि के सम्पूर्ण बीज का नाम देवता है। इसी को सांख्यकर्त्ता ने सत्त्व, रज और तम नाम से कहा है और जिस हेतु इसी प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विस्तार होता है अतः (भूतेभिः व्यजायत) कहा गया है। इसी कारण से भ्रमवश पौराणिकों ने सकल देवताओं की माता को अदिति माना है शब्दों के अर्थों में बहुत परिवर्त्तन होने से आजकल सत्यता का पता नहीं लगता है। एक समय जो अदिति प्रकृति वाचक था आज वह एक स्त्रीरूपा देवमाता यथार्थतया मानी जाती है। इस हेतु कहा हैः—

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः ॥ तै० ३। १०। ४॥

सो जो पुरुष में है। जो यह आदित्य में है। वह दोनों एक ही हैं अर्थात् आन्तर और बाह्य दोनों जगत् में एक ही है। इतिदिग्।

सूर्य को अधिष्ठान मानकर भी ब्रह्मोपासना ऋषि निषेध करते हैं यथाः—

प्राचीन योग्य कं त्वमात्मानमुपास्से। इति आदित्यमेव भगवोराजन्निति।........। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाच। अन्धोऽभविष्यद्यन्मानागमिष्य इति। छा० ५। १३॥

अश्वपति पूछते हैं कि हे प्राचीनयोग्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?, उत्तर–हे भगवन् राजन्! आदित्य की ही। हे प्राचीनयोग्य! यह तो आत्मा का नेत्र समान ही है। आप अन्धे हो जाते यदि मेरे निकट नहीं आते। पुनः—

"सहोवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति। सहोवाचा जातशत्रुः" । बृ० २। १। २॥

गार्ग्य कहते हैं कि आदित्य में जो पुरुष है उसी को ब्रह्म मान उपासता हूं। अजातशत्रु कहते हैं, नहीं नहीं ऐसा नहीं। यह आदित्य तो सब प्राणियों का मूर्धा समान है इस की उपासना से क्या?।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्य्याम्यमृतः॥ बृ० ३। ७। ६॥

जो आदित्य में व्यापक हुआ आदित्य से अन्तर भिन्न है। जिस को आदित्य नहीं जानता है आदित्य जिसका शरीरवत् है, जो आदित्य के अभ्यन्तर में रहकर आदित्य का शासन करता है वही अन्तर्यामी अमृत ब्रह्म है। उसी को जानो। पुनः—

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषादेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति॥ तै०। २। ८॥

उसी ब्रह्म के भयरूप शासन से वायु चल रहा है उसी के भय से सूर्य उदित हो रहा है। अग्नि, विद्युत्, मृत्यु, चन्द्र, नक्षत्र सब ही उसी के भय से स्व स्व नियोग में स्थित हैं।

"न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" । मुं० २। २। १०॥

"न सूर्य न चन्द्र न तारागण न विद्युत् न अग्नि उसको प्रकाश करते हैं किन्तु उसी ब्रह्म की प्रकाशरूपी सत्ता से ये सब प्रत्युत प्रकाशित हो रहे हैं।

शङ्का–यदि ब्रह्म इन सब में व्याप्त है तो क्यों नहीं इन को अधिष्ठान मान ब्रह्म की उपासना करें?। उत्तर–ब्रह्म इन सबों में व्याप्त होने पर भी उन से भिन्न है और अपनीही महिमा में प्रतिष्ठित है। यथाः—

"स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि इति । पादोस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि इति" ।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तो उस के अल्प अंशतुल्य है वह केवल अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है इत्यादि प्रमाण से सिद्ध है कि ब्रह्म की पूजा ब्रह्म में ही हो सकती है अन्य में नहीं । आचार्य की पूजा आचार्य में होती है अन्य किसी में नहीं । इतिदिक् । यथास्थान इसको पुनः विस्पष्ट करेंगे । इति ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

अथाध्यात्मं । वागेवर्क् प्राणः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

अथ । अध्यात्मम् । वाक् । एव । ऋक् । प्राणः । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । वाक् । एव । सा । प्राणः । अमः । तत् ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथेदानीमध्यात्ममुच्यते । वागेव । सर्वत्रैव इवशब्दोऽध्याहार्यः । वागिव एव ऋग् वर्त्तते । प्राण इव साम । तदेतत् । प्राणसमानं साम । एतस्यां वाक्तुल्यायामृचि । अध्यूढम् । तस्मादृचि अध्यूढम् । साम गीयते । इत्यादीनामर्थः । पूर्ववद्विज्ञेयः । वागेवर्क् प्राणः साम । ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः । तद्वा एतन्मिथुनम् । यद् वाक् च प्राणश्चर्क साम च । वाचऋग्रसः ऋच सामरस इत्याद्यप्यनुसन्धेयम् । वागेवसा । सा शब्दवाच्या । प्राणः अमः अमशब्दवाच्यः तत् साम । सामनामार्धशब्दवाच्या वाग् । एवमितरार्धशब्दवाच्यः प्राणोऽस्तीति । तत् साम । तदुभयधर्मविशिष्टो सामवर्त्तते ॥ १ ॥

अनुवाद—अब अध्यात्म वर्णन होता है । वाणी समान ही ऋग्वेद और प्राण समान ही सामवेद । सो यह (प्राणसमान) सामवेद इस (वाग्समान) ऋग्वेद में अध्यूढ

(अन्तर्गत आश्रित) है । अतः ऋग्बद्ध ही साम गाया जाता है । सा शब्दार्थ वाक् और अम शब्दार्थ प्राण है । वह दोनों मिलकर साम है ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ अध्यात्मम्) अब अध्यात्म वर्णन होता है । पूर्व में अधिदैवत कह चुके हैं । (ऋग्) ऋग्वेद (वाग् एव) निश्चय वाणी के समान है (साम) सामवेद (प्राणः) प्राण के समान है (तत् एतत्) सो यह अर्थात् प्राण के समान (साम) सामवेद (एतस्याम्) इस वाणी समान (ऋचि) ऋग्वेद में (अध्यूढम्) आश्रित अन्तर्गत है (तस्मात् ऋचि अध्यूढम्) अतः ऋग्बद्ध (सामगीयते) साम गाया जाता (सा) सा शब्द का अर्थ (एव) निश्चय (वाग्) वाणी है (अमः) साम शब्द के अम का अर्थ (प्राणः) प्राण है (तत्) दोनों अर्थात् सा और अम मिलकर (साम) साम है ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

चक्षुः । एव । ऋग् । आत्मा । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । चक्षुः । एव । सा । आत्मा । अमः । तत् । साम ॥ २ ॥

भाष्यम्—चक्षुरिति । ऋक् । चक्षुरिवैव । साम । आत्मा । आत्मेव । चक्षुषि दृश्यमानश्च छायापुरुष इहात्मा । अन्या योजना पूर्ववत् । चक्षुषि यथा छायापुरुषः । ऋचि तथा सामेति ॥ २ ॥

अनुवाद–निश्चय, नेत्र समान ही ऋग् और नेत्रगत छायापुरुष समान ही साम है सो यह आत्मसमान सामवेद इस नेत्रसमान ऋग्वेद में अध्यूढ है । इस कारण ऋग्बद्ध ही

(१) साम शब्द में सा+अम दो शब्द हैं । इन दोनों के पृथक् २ अर्थ अध्यात्म रीति से दिखलाये जाते हैं । अन्यत्र भी ऐसा ही जानना ॥

(२) गतखण्ड में ऐसा ही वर्णन हुआ है । अतः यहां विस्तार नहीं किया जाता है । वहां ही देखना ॥

(३) मूल में आत्मा शब्द है । यहां आत्मा शब्द का अर्थ नेत्रगत छायापुरुष है । नेत्र के भीतर एक पुरुष का बिम्ब विदित होता है उसे कनीनिका, छायापुरुष आदि कहते हैं ॥

साम गाया जाता है । सा शब्दार्थ चक्षु और अम शब्दार्थ आत्मा है । वह साम है ॥ २ ॥

पदार्थः-(चक्षुः+एव+ऋग्) नेत्र के समान ही ऋग्वेद (आत्मा साम) नेत्रगत कनीनिका समान साम है (तत्+एतत्+साम) सो यह आत्मसदृशसाम (एतस्याम्+ऋचि) चक्षु समान ऋग्वेद में (अध्यूढम्) अन्तर्गत है (तस्मादृचि०) इस कारण ऋग्बद्ध साम गाया जाता है (चक्षुरेवसा) सा शब्द लक्ष्यनेत्र (आत्मा अमः) अम शब्द लक्ष्य आत्मा (कनीनिका) (तत् साम) दोनों मिलकर साम ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम । तेदतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

श्रोत्रम् । एव । ऋक् । मनः । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । श्रोत्रम् । एव । सा । मनः । अमः । तत् । साम ॥ ३ ॥

भाष्यम्-श्रोत्रमिति । श्रोत्रमेव । ऋगित्यादीनि । पदानि पूर्ववद् व्याख्यातानि वेदित्तव्यानि ॥ ३ ॥

अनुवाद—श्रोत्र समान ही ऋग् । मन समान साम । सो यह मन समान साम, श्रोत्र समान ऋग्वेद में अन्तर्गत है । अतः ऋग्बद्ध ही साम गाया जाता है । सा शब्द का लक्ष्य श्रोत्र और अम का मन । वह दो धर्म विशिष्ट साम है ॥ ३ ॥

पदार्थ-(श्रोत्रम्+एव+ऋग्) श्रोत्र समान ही ऋग् (मनः+साम) मन समान साम (तत्+एतत्+साम) सो यह मनरूप साम (एतस्याम्+ऋचि) इस श्रोत्ररूप ऋग्वेद में (अध्यूढम्) आश्रित है (तस्मात्+ऋचि+अध्यूढम्) इसलिये ऋगाश्रित (साम+गीयते) साम गाया जाता है (श्रोत्रम्+एव+सा) सा शब्द लक्ष्य श्रोत्र (मनः अमः) अम लक्ष्य मन (तत्+साम) उभय धर्म्मावगाही साम है ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम । तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

अथ । यत् । एतत् । अक्ष्णः । शुक्लम् । भाः । सा । एव । ऋक् । अथ । यत् । नीलम् । परः । कृष्णम् । तत् । साम । तत् । एतत् । एतस्याम् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । तस्मात् । ऋचि । अध्यूढम् । साम । गीयते । अथ । यत् । एव । एतत् । अक्ष्णः । शुक्लम् । भाः । सा । एव । सा । अथ । यत् । नीलम् । परः । कृष्णम् । तत् । अमः । तत् । साम ॥ ४ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथ यदेतत् प्रत्यक्षवद्भासमानम् । अक्ष्णः । नेत्रस्य । शुक्लम् । श्वेतम् । भाः । दीप्तिः । सैव ऋक् । अथ यन्नीलं परः कृष्णम् । अतिशयश्यामम् । तत्साम । तदेतत् । इत्यादीनि पदान्यतिरोहितार्थानि । पूर्ववत् संगतिः कार्या ॥ ४ ॥

अनुवाद-अब जो यह नेत्रगत शुक्ल दीप्ति है तत्सदृश ही ऋग् । अतिशय श्याम-दीप्ति समान साम । सो यह साम इस ऋचा में अध्यूढ (अन्तर्गत) है । अतः ऋगाश्रित साम गाया जाता है । सा शब्द लक्ष्य नेत्रगत शुक्ल दीप्ति और अम लक्ष्य नेत्रगत कृष्ण दीप्ति । एतदुभयधर्मविशिष्ट साम है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) अब । अनन्तर (यत्+एतत्) जो यह (अक्ष्णः) नेत्र की (शुक्लम्+भाः) शुक्ल दीप्ति है (सा+एव+ऋग्) तत् समान ही ऋग्वेद है (यत्+नीलं+परः+कृष्णः) जो अतिशय श्याम है (तत्+साम) वह साम है (तद्+एतत्+साम) सो यह साम (एतस्याम्+ऋचि) इस ऋग्वेद में (अध्यूढम्) अन्तर्गत है (तस्मात्+ऋचि+अध्यूढम्) इस कारण ऋग् मिश्रित (साम+गीयते) साम गाया जाता है (अथ) और (यद्+एव+एतत्+अक्ष्णः+शुक्लम्+भाः) जो यह नेत्रगत शुक्ल दीप्ति है (सा+एव+सा) वही सा पद का लक्ष्य है (अथ+यत्+नीलम्+परः+कृष्णः) जो अतिशय श्याम दीप्ति है (तत्+अमः) वह अम पद लक्ष्य है (तत्+साम) तदुभय धर्मावलम्बी साम है ॥ ४ ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम । तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म । तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्य रूपं । यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ । यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

अथ । यः । एषः । अन्तः । अक्षिणि । पुरुषः । दृश्यते । सा । एव । ऋक् । तत् । साम । तत् । उक्थम् । तत् । यजुः । तत् । ब्रह्म । तस्य । एतस्य । तत् । एव । रूपम् । यत् । अमुष्य । रूपम् । यौ । अमुष्य । गेष्णौ । तौ । गेष्णौ । यत् । नाम । तत् । नाम ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति । उपास्यस्वरूपमलङ्कारेण विवृणोति । ब्रह्मणः सर्वत्र व्यापकत्वात् सुकुमारमतीन् प्रति निकटस्थ इन्द्रियेऽपि तद्विद्यमानतां प्रदर्श्य अरुन्धतीतारान्यायेन ब्रह्माभिमुखान् करोति । अस्मिन् देहेऽक्ष्णः प्रधानत्वाद् । तस्मिंस्तदुपदेशः । नचात्र पुरुषशब्देन छायापुरुषस्य ग्रहणम् । तस्य द्वितीयप्रवाके वर्णनेन गतत्वात् । पुरुषशब्देन सर्वव्यापक ईश्वर एव अभीष्टः । तस्मिन्नेव वक्ष्यमाणधर्मसमन्वय संभवात् । य एषः पुरुषः अन्तर्याम्यमृतः । अन्तरक्षिणिअक्ष्णरन्तर्मध्ये सर्वेन्द्रियाणांमध्ये इत्यर्थः । दृश्यते । अत्राक्षिशब्द इन्द्रियवाचकः । प्रकृतिविचनश्चेतिसमीक्षायां विस्पष्टयिष्यामः । सा एव ऋक् । स पुरुषः एव ऋग्वेदप्रतिपाद्यः । अत्र तच्छब्दैश्चाक्षुषः पुरुष उच्यते । ऋगाद्यपेक्षया लिङ्गव्यत्ययः । इत्थं तत्साम । तत् । उक्थम् । तत् यजुः । सामोक्थयजुर्वेद विषयः स एवपुरुषः । प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभेदविवक्षयैतद्वर्णनम् । दृश्यते च ब्रह्मवेदयोरुभयोरपि ब्रह्मशब्दः । उक्थम् सामवेदस्थस्तोत्रविशेषः । तत् । ब्रह्म । य अक्षिणि व्यापकः पुरुषः । तदेव ब्रह्म तत्रापि व्यापकत्वात् । यद्वा । उक्थं सामवेदगीतिविशेषः । तत्साहचर्यात् सामपदेन सामस्तोत्रम् । उक्थाद् भिन्नं शस्त्रमृगुच्यते । यजुः स्वाहास्वधावषडादिः । ब्रह्मपदेन अवशिष्टा ऋग्यजुस्सामाथर्वाणो वेदाः । तत्सर्वैर्वेद्यं परब्रह्मैवेत्यर्थः । तस्य एतस्य । अक्षिव्यापकस्य ब्रह्मणः । तदेवरूपम् । यद् अमुष्य आदित्यान्तर्गतस्य ब्रह्मणो रूपम् । अमुष्य यौ गेष्णौ (गायकौ) एतस्यापि तावेव गेष्णौ गायकौ । अमुष्य यन्नाम । एतस्यापि तदेवनाम । य एवादित्ये स एवाक्षिणि । स एव सर्वत्र । यदेवादित्यव्यापिनः ईश्वरस्य स्वरूपम् । तदेव सर्वत्र विद्यमानस्थस्य । नात्रकोऽपि विभेदः । अतएव साम्यं सर्वत्र ॥ ५ ॥

अनुवाद—अब जो अक्षि में व्यापक पुरुष देख पड़ता है वही मानो ऋग्वेद, वही सामवेद, वही उक्थ और वही यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय अर्थात् ब्रह्म है, इस का मानो वही रूप है, जैसा आदित्य व्यापक पुरुष का है। जो उसके गायक हैं, वे ही इसके गायक हैं। जो उसका नाम है वही इसका नाम है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(अथ) आध्यात्मिक विज्ञानानन्तर (यः एषः) जो यह (अन्तरक्षिणि) इन्द्रियों के मध्यगत (पुरुषः) व्यापक ईश्वर की सत्ता (दृश्यते) अनुभव होती है (सैव ऋग्) वही ऋग्वेद का प्रतिपाद्य विषय है । एवम् (तत् साम) वही सामवेद

(१) अक्षि शब्द के ऊपर समीक्षा देखो ।

(२) प्रपाठक १ । खण्ड ६ । प्रवाक ६ की टिप्पणी देखो ।

(३) अक्षि शब्द की समीक्षा देखो ।

का प्रतिपाद्य (तत् उक्थम्) सामवेद के स्तोत्र समूह का नाम उक्थ है। तद्प्रतिपाद्य वही है (तत् यजुः) वही यजुर्वेद का विषय है (तत् ब्रह्म) वही ब्रह्म है (तस्य) उस (एतस्य) इसका (तदेव) वही (रूपम्) बोधन करानेवाला रूप है (यत्) जो (अमुष्य) आदित्य व्यापक का (रूपम्) बोधन करानेवाला रूप है (अमुष्य) आदित्य व्यापक ब्रह्मका (यौ) जो (गेष्णौ) गायक अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-रूप गायक हैं इसके भी (तौ गेष्णौ) वे ही गायक हैं (यन्नाम) जो उसका नाम है (तन्नाम) वही इसका भी नाम है ॥ ५ ॥

शङ्का-(यः एषः अन्तः अक्षिणि पुरुषो दृश्यते) नेत्र के मध्य में जो यह पुरुष दीखता वह तो छायापुरुष है ब्रह्म नहीं। परन्तु इस प्रवाक में उसी को ब्रह्म कहा गया है (तत् ब्रह्म) इस पद से। पुनः (सैव ऋग् इत्यादि) वही ऋक् आदि भी कहा गया है। इस से क्या नेत्रगत छायापुरुष को ब्रह्म मानकर ध्यान वा उपासना की विधि की आज्ञा होती वा कुछ अन्य ?, उत्तर-यहां "पुरुष" शब्द का अर्थ छायापुरुष नहीं। छायापुरुष का वर्णन द्वितीय प्रवाक में हो गया है[1] ॥

शङ्का-नेत्र में ही क्यों उस की व्यापकता कही गई है। उत्तर-यहां अध्यात्म वर्णन का आरम्भ हुआ है। गत खण्ड में अधिदैवत कह चुके हैं। ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र की प्रधानता से तद्गत व्यापकता दिखलाई गई है इन्द्रियजन्य सकल ज्ञान का एक नाम "प्रत्यक्ष" है। परन्तु अक्षि (नेत्र) से जो ज्ञान होवे उसी को "प्रत्यक्ष" कहना चाहिये। पुनः सकलेन्द्रियजन्य ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष कैसे। इस से नेत्र की प्रधानता सूचित होती है। प्रधान में वर्णन होने से अप्रधान श्रोत्रादि में व्यापकता की सिद्धि स्वतः फलित हो जाती है। केवल ज्ञानसाध्य ब्रह्म के होने से ज्ञानेन्द्रिय प्रधान नेत्र में तद्व्यापकता लक्षित हुई है। समीक्षा देखो।

शङ्का-(सैवऋक् तत्साम आदि) इस का अर्थ यह है कि "वही ऋक् है वही साम है" इत्यादि परन्तु आपने वही "ऋग्वेद का प्रतिपाद्य विषय है" ऐसा अर्थ किया है सो कैसे ? उत्तर—संस्कृत की प्राचीन परिपाटी चली आती है कि कहीं प्रतिपाद्य और प्रतिपादक दोनों एक ही अर्थ में लिये जाते हैं। जैसे ब्रह्म ईश्वर। परन्तु ब्रह्मनाम वेद का भी है। ब्रह्म नाम वेद का क्यों ? वेद में ब्रह्म के वर्णन होने से तत्प्रतिपादक वेद भी ब्रह्म कहलाता है। एवं ब्रह्म के गायक को भी ब्रह्म कहा है। अतः अति प्राचीन काल में

(१) खण्ड ६। प्रवाक ६ की व्याख्या आदिक देखो।

ऋत्विक् भी ब्रह्म कहलाते थे । अब भी प्रधान ऋत्विक् ब्रह्मा कहा जाता है । इस से यह सिद्ध होता है कि कहीं २ प्रतिपाद्य और प्रतिपादक में अभेद सम्बन्ध माना गया है । ईश्वर प्रतिपाद्य और वेद प्रतिपादक है । अतः प्रतिपादक जो ऋग्वेदादि । सो भी अभेद सम्बन्ध से प्रतिपाद्य ब्रह्म कहा गया है इसी कारण हम ने वैसा अर्थ किया जो कि प्राचीन शैली के अनुकूल है ॥

शङ्का—गेष्ण शब्द का अर्थ पर्व (Joint) आदि सबों ने किया है आप गायक अर्थ कैसे करते हैं ॥

उत्तर—इस का उत्तर पूर्व में कुछ दे चुके हैं । गै धातु से औणादिक प्रत्यय करने पर गेष्ण सिद्ध होता है । अतः गायक ही अर्थ ठीक है । एवं राजा की कीर्त्ति को जैसे गायक गाकर प्रसन्न करते हैं तद्वत् सम्पूर्ण ऋग्वेद प्रभृति उस के यश के गायक हैं । आगे षष्ठ प्रवाक में कहा भी गया है कि (वीणायां गायन्ति इत्यादि) वीणा वाद्य में इस ब्रह्म को गाते हैं । अतः गेय ब्रह्म, गायक वेद और जगत्, इस को न जानकर भूल से गेष्ण शब्द का पर्व (Joint) आदि अर्थ लोग करते हैं ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानाञ्चेति । तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति । तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

सः । एषः । ये । च । एतस्मात् । अर्वाञ्चः । लोकाः । तेषाम् । च । ईष्टे । मनुष्यकामानाम् । च । इति । तत् । ये । इमे । वीणायाम् । गायन्ति । एतम् । ते । गायन्ति । तस्मात् । ते । धनसनयः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—स इति । स एषः । अक्षिणि व्यापकः पुरुषः । एतस्माद् । अक्ष्णः । अर्वाञ्चो ये लोकाः । अर्वाग्गताः । अधोधोगता लोका ये सन्ति चादूर्ध्वलोकाः । तेषाञ्च । ईष्टे अनुशास्ति । ईशिता । मनुष्यकामानाञ्च ईशिता । अयमभिप्रायः । अक्षिणि व्यापकः पुरुषो न केवलं तस्यैवेशिता किन्तु तदन्यधोधो ये लोकास्तेषामपि शासकः । तथा मनुष्येष्टानामपि पूरकः । सर्वत्र व्यापकत्वलिङ्गाद्ब्रह्मण एवेदं वर्णनं विज्ञेयम् । तत् तस्मात् । ये । इमे । ब्रह्मवादिनः । वीणायां वाद्ये गायन्ति ते ब्रह्मविदो गायकास्तमेतमेव । ईश्वरं गायन्ति । तस्मात्ते [illegible]यः । धनस्य सनिर्लाभो येषां ते । धनलाभयुक्ता धनवन्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवाद—सो यह (ब्रह्म) अक्षि के उन अधोऽधः स्थित लोकों और मनुष्य के मनोरथों का भी ईशिता है इस कारण जो ये ब्रह्मविद् वीणा में जो कुछ गाते हैं वे इसी को गाते हैं अतः वे आप्तकाम हैं ॥ ६ ॥

पदार्थः-(च) पुनः (ये) जो (अस्मात्) इस अग्नि से (अर्वाञ्चः) अधःस्थित (लोकाः) भुवन हैं (तेषाञ्च) उनका भी (स एषः) वही यह (ईष्टे) शासन करने वाला स्वामी है (च) और (मनुष्यकामानाम्) मनुष्य के मनोरथों का भी वही स्वामी है (इति) (तत्) इस कारण (ये इमे) जो ये ब्रह्मविद् लोग (वीणायाम्) वीणा-वाद्य में (गायन्ति) गाते हैं (एतम्) इसी ब्रह्म को (ते) वे (गायन्ति) गाते हैं (तस्मात्) इस कारण (ते) वे (धनसनयः) धनवान् हैं ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायत्युभौ स गायति । सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामाꣳश्च ॥ ७ ॥

अथ । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । साम । गायति । उभौ । सः । गायति । सः । अमुना । एव । सः । एषः । ये । च । अमुष्मात् । पराञ्चः । लोकाः । तान् । च । आप्नोति । देवकामान् । च ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरं यो ब्रह्मविद् । एवं विद्वान् । यथोक्तं उद्गीथाभिधेयं ब्रह्म विजनान् सन् । एतद् । साम । सामवेदं गायति । स ब्रह्मवित् । उभौ । आदित्ये चक्षुषि च व्यापकं ब्रह्म गायति । सः । अमुनैव । आदित्यान्तर्गतब्रह्मविज्ञानेनएव । ये च । अमुष्मात् । आदित्यात् । पराञ्चः उर्द्ध्वस्थितालोकाः सन्ति । तान् आप्नोति पुनश्च स एषः । देवकामांश्च प्राप्नोति । इति । प्रवृत्त्यर्थं फलं प्रदर्शितं भवति ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो (ब्रह्मविद्) इस को ऐसा जानता हुआ इस साम को गाता है वह दोनों को गाता है । वह इसी से उसके उपरिष्ठ लोकों और देवकामनाओं को भी प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अथ) अब फल कहा जाता है (यः) जो ब्रह्मवित् (एवम्) इस प्रकार से ब्रह्म को (विद्वान्) जानता हुआ (एतद्) इस (साम गायति) सामवेद को गाता है (सः) वह ब्रह्मवित् (उभौ) दोनों अध्यात्म, अधिदैवत ब्रह्म को (गायति) गाता है (सः) वह (अमुनैव) आदित्यगत ब्रह्म विज्ञान के बल से ही (ये च) जो (अमुष्मात्) इस आदित्य से (पराञ्चः) ऊर्द्ध्वस्थित (लोकाः) लोक हैं (तान् च) उनको (आप्नोति) प्राप्त करता है (स एषः) वह यह ब्रह्मविद् (देवकामांश्च) और देवकामनाओं को भी (आप्नोति) प्राप्त करता है । इति ॥ ७ ॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाꣳश्च । तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

अथ । अनेन । एव । ये । च । एतस्मात् । अर्वाञ्चः । लोकाः । तान् । च । आप्नोति । मनुष्यकामान् । च । तस्मात् । उ । ह । एवंविद् । उद्गाता । ब्रूयात् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ । अनेनैव । अक्षिव्यापकब्रह्मविज्ञानेनैव । ये च । एतस्मात् । अन्तरक्षिपुरुषात् । अर्वाञ्चः । अधोगताः । लोकाः । सन्ति । तांल्लोकान् । आप्नोति लभते । मनुष्यकामांश्च आप्नोति । तस्मात् कारणात् । उह । एवकारार्थौ । निश्चितम् । एवंवित् । एवंब्रह्मविज्ञाता । उद्गातैव । शिष्यादीन् यजमानम्वा ब्रूयात् । उपदिशेत् ॥ ८ ॥

अनुवाद—पुनः इसी से (वह ब्रह्मवित्) इस के उन अधोऽधः स्थित लोगों को और मनुष्य कामनाओं को भी पाता है । इस कारण ईदृग् ब्रह्मविद् ही उद्गाता (अपने शिष्य आदि से) उपदेश करे ॥ ८ ॥

पदार्थः-(अथ) पुनः (अनेन एव) इस अक्षि व्यापक ब्रह्मविज्ञान से ही (ये च) जो (अस्मादर्वाञ्चः) इन अक्षि के अधोगत (लोकाः) लोक हैं (तान् च) उन को (आप्नोति) प्राप्त करता है (मनुष्यकामांश्च) मनुष्य की कामनाएं भी प्राप्त करता है (तस्मात्) इस कारण (उ एव) निश्चय (एवं विद्) इस प्रकार ब्रह्म के जानने वाला ही (उद्गाता) ब्रह्मगाता (ब्रूयात्) अपने शिष्य आदिकों को उपदेश करे ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे । य एवं विद्वान् साम गायति । साम गायति ॥ ६ ॥

कम् । ते । कामम् । आगायानि । इति । एषः । हि । एव । कामागानस्य । ईष्टे । यः । एवम् । विद्वान् । साम । गायति । साम । गायति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—कमिति । उद्गाताब्रूते । हे ब्रह्मचारिन् ! यद्वा हे यजमान ! ते तव । कं कामम् । काममभीष्टम् । आगायानि इति । तव कस्मै कामाय ब्रह्म प्रार्थयानि इति प्रश्नः । हि यतः । एष एव । एवंविदेव उद्गाता । कामागानस्य ईष्टे । ईशिता तस्य स्वामी इत्यर्थः । कोऽसौ स्वामी ? । यः एतदेवं विद्वान् विजानन् सन् सामगायति सामगायति द्विरुक्तिरुपासनासमाप्त्यर्था ॥ ६ ॥

इति सप्तम खण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवाद—हे ब्रह्मचारिन्! हे यजमान! मैं तेरे किस काम को लक्ष्य करके ब्रह्मको गाऊं। इति। क्योंकि यही अभिलषित का स्वामी है, जो इस ब्रह्म को ऐसा जानता हुआ साम गाता है। साम गाता है ॥ ९ ॥

पदार्थः–(ते) हे यजमान! तेरे (कम्+कामम्) किस कामना को लक्ष्य करके (आगयानि+इति) ब्रह्म का गान करूं (हि) क्योंकि (एषः+एव) यही (कामागानस्य) कामों की पूर्त्ति का (ईष्टे) स्वामी है (यः) जो (एवं विद्वान्) ऐसा जानता हुआ (साम गायति) साम गाता है (सामगायति) साम गाता है ॥ ९ ॥

इति सप्तम खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अक्षिण्यच्छब्दस्य समीक्षा। (४)

अध्यात्म वर्णन में बहुधा वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मनका वर्णन हुआ है, जैसेः–

" अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे " छा० १। २। ३—६ ॥ " वाग् प्रस्तावः। चक्षुरुद्गीथः। श्रोत्रं प्रतिहारः। मनो निधनम् " छा० २। ७। १ ॥ "मनोहिंकारः। वाग्प्रस्तावः। चक्षुरुद्गीथः। श्रोत्रं प्रतिहारः" छा० २। ११। १ ॥ "प्राणमेव वागप्येति। प्राणं चक्षुः। प्राणꣳ श्रोत्रम्। प्राणं मनः" छा० ४। ३। ३ ॥ "वाग् वाव वसिष्ठः। चक्षुर्वावप्रतिष्ठा। श्रोत्रं वावसम्पद्। मनो ह वा आयतनम्" छा० ५। १। २—५ ॥ " वागुच्चक्राम। चक्षुर्होच्चक्राम। श्रोत्रꣳहोच्चक्राम। मनोहोच्चक्राम" छा० ५। १। ८–११ ॥ "न वै वाचो न चक्षूꣳषि। न श्रोत्राणि न मनाꣳसीति" छा० ५। १। १५ ॥ "वाग्वै वसिष्ठा। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा। श्रोत्रं वै सम्पद्। मनो वा (वै) आयतनम्" बृ० उ० ६। १। २–५ ॥ "वाग्घोच्चक्राम। चक्षुर्होच्चक्राम। श्रोत्रꣳहोच्चक्राम। मनोहोच्चक्राम" बृ० उ० ६। १। ८–११ ॥

इत्यादि अनेक स्थलों में केवल चार इन्द्रियों का प्रसंग देखते हैं। इनमें से चक्षुरिन्द्रिय में बाह्यव्यापकता वारम्वार दिखलाई गई है।

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते। छा० ४। १५। १ ॥ य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते"। छा० ८। ७। ४ ॥ " योऽयं दक्षिणे अक्षन् पुरुषः। बृ० २। ३। ५ ॥ योऽयं दक्षिणे अक्षन् पुरुषः। बृ० ४। २। २ ॥ ५। २। ४ ॥ ५। ५। २ ॥ वामेऽक्षिणि पुरुषः। बृ० ४। २। ३ ॥"

लौकिक भाषा में "अक्षि" नाम नयन (आंख) का प्रसिद्ध है । कोश भी कहता है ॥

लोचनं नयनं नेत्रम्—ईक्षणं चक्षुरक्षी दृग् दृष्टी ॥ अ० को० मनुष्यवर्ग ९३ ॥

लोचन १ नयन २ नेत्र ३ ईक्षण ४ चक्षु ५ अक्षि ६ दृग् ७ दृष्टि ८ । ये आठ नाम नेत्र के हैं । परन्तु यहां ध्यान रखने की बात यह है कि जहां २ इन्द्रियों का वर्णन है वहां २ प्रायः चक्षु शब्द का प्रयोग देखते हैं जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है और जहां २ पुरुष की व्यापकता उपदिष्ट हुई है वहां २ अक्षि शब्द का ही प्रायः प्रयोग हुआ है । उपनिषद् वर्णन में यह विचित्रता दीखती है । इसका क्या कारण है, ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि:—

"अक्षिणी निरभिद्येताम् । अक्षिभ्यां चक्षुः । १ । ४ । ·········· । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" । २ । ४ ॥

दो अक्षी (पक्षी के अण्डे के समान) प्रस्फुटित हुए (फूटे) उन दो अक्षि से चक्षुरिन्द्रिय उत्पन्न हुआ ॥ आदित्य (तेज) चक्षु होकर दोनों अक्षियों में प्रविष्ट हुआ इस ऐतरेय के उदाहरण से अक्षि और चक्षु दो पदार्थ विदित होते हैं । अक्षि शब्द में द्विवचन का प्रयोग है और चक्षु शब्द में एक वचन का अक्षि से चक्षु हुआ । पुनः आदित्य (तेज) चक्षु होकर अक्षि में प्रविष्ट हुआ न कि अक्षि होकर अक्षि में प्रविष्ट हुआ । इससे साफ मालूम पड़ता है कि अक्षि और चक्षु दो पदार्थ हैं। दोनों एक ही अर्थ के कहने वाले नहीं।

इन वर्णनों से प्रतीत होता है कि इन्द्रिय गोलक और इन्द्रिय दो पदार्थ हैं । गोलक का नाम अक्षि और इन्द्रिय का नाम चक्षु है, परन्तु ऐसे स्थलों में एक अक्षि शब्द वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सकल ज्ञानेन्द्रिय का लक्षक होता है, क्योंकि जैसे अक्षि में ब्रह्म की व्यापकता है वैसे ही सब इन्द्रियों में भी उसकी व्यापकता है । सर्व सिद्धान्त हैं सो यदि अक्षि शब्द का अर्थ सर्वेन्द्रिय नहीं लिया जायगा तो ब्रह्म की व्यापकता में दोष आवेगा। अतः अक्षि शब्द सामान्यतया इन्द्रिय वाचक है अतएव सकल इन्द्रियजन्य ज्ञान का नाम "प्रत्यक्ष" है यह प्रत्यक्ष शब्द "प्रति+अक्षिन्" शब्द से सिद्ध होता है । अतएव अध्यात्म वर्णन में (छा० १ । ६) प्रथम वाणी चक्षु श्रोत्र और मन का वर्णन कर तत्पश्चात् अक्षि शब्द का उपादान किया है । अक्षि शब्द के अनन्तर पुनः किसी शब्द का ग्रहण नहीं है। यदि यह अक्षि शब्द केवल चक्षु वाचक ही होता तो "चक्षु" कह कर पुनः अक्षि शब्द

का ग्रहण क्यों करते। अतः अक्षि शब्द सर्वेन्द्रियवाचक है यह प्रतीत होता है। अतः ईश्वर समभाव से सर्वेन्द्रिय में व्यापक है। उसी की शक्ति से भाषण आदि व्यापार करता है यह फलितार्थ है।

परन्तु यहां ही अक्षि शब्द का अर्थ समाप्त नहीं हुआ है। सम्पूर्ण प्रकृति का द्योतक यह अक्षि शब्द है। जैसे प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रिय जीवों को तत्तत् विषय दिखलाता है वैसे ही यह प्रकृति हमको ब्रह्म का दर्शन मानो प्रत्यक्षतया करवाती है। अतः अक्षि शब्द सम्पूर्ण प्रकृतिवाचक है। अतः (यो यम् अक्षिणि पुरुषः) इसका अर्थ यह है जो यह पुरुष सम्पूर्ण प्रकृतिमात्र में व्यापक है उसकी उपासना करो कि नेत्रगत वा सर्वेन्द्रियगत ही ब्रह्म समझ कर अपनी अध्यात्मोपासना समाप्त मत करो। अतः बृहदारण्यक में कहा गया है जैसेः—

"यो यं दक्षिणे अक्षन् पुरुषः। तस्यभूरिति शिरः। एकं शिरः। एकमेतदक्षरम्। भुव इति बाहू। द्वौ बाहू द्वे इति अक्षरे। स्वरिति प्रतिष्ठा" इत्यादि ५।५।४॥

जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है उसका भू शिर। शिर एक होता है। भू भी एक अक्षर का है। भुवः उसका बाहू है। बाहू दो होते हैं। भुवः दो अक्षरों का है। स्वर उसकी प्रतिष्ठा है अर्थात् त्रिभुवनव्यापी वह है इस प्रकरण में भी "सैव ऋक् तत्साम, तदुक्थ्यम्। स एष ये चैतदस्मादर्वाञ्चोलोकाः इत्यादि" वही ऋक्, यजु, साम आदि वेदों का प्रतिपाद्य है वही सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों का ईश है मनुष्य कामनाओं को पूर्ण करता है इत्यादि॥

नेत्रवाची अक्षि शब्द॥

नेत्रवाची अक्षि शब्द के प्रयोग करने का भी विशेष अभिप्राय है। उपनिषद् में कहा गया हैः—

चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत। का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव-सम्राडिति होवाच। चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति। तत्सत्यं भवति" बृ० ४।१।४॥

"तदैतत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यम्। चक्षुर्हि वै सत्यम्। तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमाना वेयाताम्। अहमदर्शम्। अहमश्रौषमिति। य एव ब्रूयादहमदर्शमिति। तस्मा एव श्रद्दध्याम इति"। ५।१४।४॥

अर्थ-(चक्षुरेवायतनम्) चक्षुही आयतन (आश्रय) है आकाश प्रतिष्ठा है । इस चक्षु को "सत्य" मान चाक्षुष विज्ञान का अध्ययन करे । जनक पूछते हैं कि याज्ञवल्क्य ! चक्षु की सत्यता क्या है ?, याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे सम्राट् ! चक्षु ही । हे सम्राट् ! चक्षु से देखते हुए मनुष्य को कहते हैं कि किसने देखा है । जब वह कहता कि "मैंने देखा है" उसे लोक सत्य मानते हैं ॥ (तदेतत्सत्ये०) यह चक्षु सत्य में प्रतिष्ठित है । चक्षु ही सत्य है जिसकारण चक्षु ही सत्य है, इस हेतु आजकल भी (यदि कोई दो पुरुष विवाद करते हुए आवें कि "मैंने देखा है" और "मैंने सुना है" इन दोनों में जो ही यह कहे कि मैंने देखा है उसी पर हम लोग विश्वास करेंगे और जो कहता है "मैंने सुना है" उस पर विश्वास नहीं करेंगे ।)

इस से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु की श्रेष्ठता मानी है । इस कारण चक्षु का नाम उपनिषद्कार 'सत्य' रखते हैं । तब (य एषः अक्षिणि पुरुषः) उस प्रकार के वाक्य का अर्थ यह हुआ कि "जो यह ब्रह्म सत्य में प्रतिष्ठित है" ।

धर्मशास्त्र के अनुसार भी गवाह वही माना जाता है जो "साक्षी" हो अर्थात् जो (अक्षी) प्रत्यक्ष ज्ञान और सत्यता के साथ वर्त्तमान हो वही साक्षी हो सकता है और जो (अक्षी) प्रत्यक्ष ज्ञान से तो युक्त हो परन्तु सत्य नहीं वह साक्षी नहीं होगा । प्रत्यक्षज्ञान सत्यता दोनों संयुक्त होने से साक्षी का साक्षित्व हो सकता है । संस्कृत भाषा में विलक्षण २ शब्दों का प्रयोग है । जिसके तत्त्वविद् केवल ऋषि लोग ही होते हैं (अक्ष्णां दर्शन-ज्ञानेन सहवर्त्तमानं यत्तत् साक्षम् । निपातनात् सिद्धम् । साक्षमस्यास्तीति साक्षी) यह संस्कृत व्युत्पत्ति है । यथा स्थान में पुनः इसके ऊपर विचार किया जायगा ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥ १ ॥

त्रयः । ह । उद्गीथे । कुशलाः । बभूवुः । शिलकः । शालावत्यः । चैकितायनः । दाल्भ्यः । प्रवाहणः । जैवलिः । इति । ते । ह । ऊचुः । उद्गीथे । वै । कुशलाः । स्मः । हन्त । उद्गीथे । कथाम् । वदामः । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्-त्रय इति । हेति ऐतिह्यार्थः । कदाचिदुद्गीथे । उद्गीथविद्यायां त्रयः । त्रिसंख्यका ब्रह्मचारिणः । कुशला निपुणाः । बभूवुः । संवृत्ताः । ते के त्रयः । इत्याकाङ्क्षायाम् । एकः । शालावत्यः शालावतोऽपत्यं शालावत्यः । शालावत ऋषेः पुत्रः शिलकः । नाम्नाशिलकः । द्वितीयः । चैकितायनः । चिकितायनस्यापत्यं । दाल्भ्यः । दाल्भ्य गोत्रो दाल्भ्यः (द्व्यामुष्यायणो वा अमुष्य प्रसिद्धस्यापत्यम् आमुष्यायणः । द्वयोरामुष्यायणः । इति द्व्यामुष्यायणः । अयं बालकस्तवापि ममापि च पुत्रो धर्म्मतः परिगृहीतः) तृतीयः । जैवलिः । जीवलस्यापत्यं । नामतः प्रवाहणः । एते त्रयः । उद्गीथे पटवो बभूवुः ते ह परस्परमूचुः । यद् उद्गीथे । उद्गीथज्ञाने । वै निश्चयेन कुशलाः स्मः । वयं दक्षा संवृत्ताः । हन्त । यदि सर्वेषामनुमतिः स्यात् । तर्हि । उद्गीथे । उद्गीथज्ञानमुद्दिश्य कथां विचारणाम् । वदामो ब्रूमः कुर्म्मः । पूर्वपक्षोत्तरपक्षोपन्यासेन वयं सर्वे उद्गीथं प्रतिविचारयामः । इति । न हि सम्पूर्णे जगत्येतेषामेव त्रयाणामुद्गीथे कौशलमित्यवधेयम् । किन्तूषस्तिश्चाक्रायणः । जानश्रुतिः पौत्रायणः । मैथिलो जनकः । महर्षिर्याज्ञवल्क्यः । कैकेयोऽश्वपतिः । अन्ये च बहवः श्रूयन्ते ब्रह्मवादिनोऽधीतवेदा विदिततत्त्वा महाश्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा ब्रह्मपरायणाः । एतेतु त्रयस्तद्विद्यावन्तोऽकस्मात् परस्परं संमिलिताः सन्तो विचारेण तत्थ्यं विस्पष्टं भवतीति प्रश्नोत्तरोपन्यासेन उद्गीथम् व्यचीचरन् ॥ १ ॥

अनुवाद-किसी समय १ शालावत्यशिलक । २ चैकितायन दाल्भ्य । ३ जैवलि-प्रवाहण । ये तीनों उद्गीथविद्या में निपुण हुए । वे परस्पर बोले कि हम लोग (निश्चय) उद्गीथ विद्या में निपुण हैं यदि सबों की सम्मति हो तो उद्गीथ विद्या में कथा करें ॥ १ ॥

पदार्थः-(ह) ह शब्द इतिहाससूचक है । अर्थात् कदाचित् (उद्गीथे) उद्गीथ विद्या में (त्रयः) तीन मनुष्य (कुशलाः) निपुण (बभूवुः) हुए । १-(शालावत्यः) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलकनाम का ऋषि । २-(चैकितायनः) चिकितायन ऋषि का पुत्र (दाल्भ्यः) दाल्भ्य गोत्र का ऋषि । और ३-(जैवलि०) जीवल राजा का पुत्र (प्रवाहणः) प्रवाहण नाम का राजा (इति) ये तीनों उद्गीथ विद्या में निपुण हुए (ते) वे (ह ऊचुः) परस्पर बोले कि (उद्गीथे) उद्गीथ विद्या में (वै) निश्चय (कुशलाः स्मः) हम लोग निपुण हैं (हन्त) यदि सब की

(१) छा० १ । २ । १३ ॥ १ । १२ । १ ॥
(२) छा० ५ । ३ । १ ॥ बृ० ६ । २ । १ ॥ ६ । २ । ४ ॥

सम्मति हो तो (उद्गीथे) उद्गीथ विद्या के सम्बन्ध में (कथाम्) विचार (वदामः) करें । इति । अर्थात् यदि सब की सम्मति हो तो सब कोई मिलकर उद्गीथ विद्या में प्रश्नोत्तररूप से विचार करें ॥ १ ॥

इस आख्यायिका से यह नहीं जानना चाहिये कि येही तीन उद्गीथविद्या में निपुण हुए। किन्तु ये तीनों किसी एक स्थान में संमिलित हो गये। अतः इन लोगों ने विचार किया कि देखें कहांतक हम लोगों ने इस विद्या को समझा है। इस विद्या में उषस्ति चाक्रायण, जानश्रुति पौत्रायण, कैकेय अश्वपति, जनक मैथिल, महर्षि याज्ञवल्क्य प्रभृति अनेक ऋषि परम प्रसिद्ध हुए थे।

द्व्यामुष्यायण–किसी के मत से दाल्भ्य ऋषि द्व्यामुष्यायण कहलाते हैं। इस का अभिप्राय यह है कि किसी २ ऋषि के दो गोत्र होते थे। एक तो पितृगोत्र और दूसरा मातामह का गोत्र। ऐसी रीति प्राचीनकाल में थी कि जिस मनुष्य की कन्या हो और पुत्र न हो वह अपुत्री मनुष्य अपनी कन्या के पुत्र को पोष्य पुत्र बनाता था और वह पुत्र दोनों नाम से अर्थात् पिता और पितामह के नाम से पुकारा जाता था कभी ऐसा होता था कि गुरु के नाम से भी वह पुकारा जाता था। जैसे शुनःशेप ऋषि आजीगर्त कृत्रिम वैश्वामित्र कहलाते हैं। अजीगर्त इन के पिता का नाम होने से आजीगर्त और विश्वामित्र के माननीय शिष्य होने के कारण वैश्वामित्र कहलाते हैं। इत्यादि संक्षेपतः ॥

तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । भगवन्तावग्रे वदतां । ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳ श्रोष्यामीति ॥ २ ॥

तथा । इति । ह । समुपविविशुः । सः । ह । प्रवाहणः । जैवलिः । उवाच । भगवन्तौ । अग्रे । वदताम् । ब्राह्मणयोः । वदतोः । वाचम् । श्रोष्यामि । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–तथेति । विद्यासम्वादेन विपरीतग्रहणविनाशोऽपूर्वबोधोत्पत्तिः सन्देह जालनिवृत्तिश्च भवतीति । तद्विद्भिश्च सह सम्वादः कर्त्तव्य इति । इतिहासस्य प्रयोजनं दृश्यते । इतिहासस्तु खलु स्वल्पधियां सुखबोधार्थः । अत स्तथेत्युक्त्वा । ह प्रसिद्धास्ते । समुपविविशुः । उपविष्टवन्तः । अनन्तरं । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच । अवोचत् । अग्रे प्रथमं भगवन्तौ पूजावन्तौ भवन्तौ ब्राह्मणौ वदताम् । उद्गीथम् प्रति कथां कुरुताम् । अहं तावद्वदतोर्विचारयतोर्ब्राह्मणयोर्विप्रयोर्वाचं वाणीं श्रोष्यामि इति ॥ २ ॥

अनुवाद—तथाऽस्तु कह वे तीनों वहां बैठ गये (पश्चात्) प्रवाहण जैवलि बोले कि प्रथम आप दोनों बोलें। विचार करते हुए आप दोनों ब्राह्मणों की वाणी मैं सुनूंगा ॥ २ ॥

पदार्थः—विद्या में संवाद करने से विपरीत ग्रहण का विनाश, अपूर्वबोध की उत्पत्ति; अखिल शंकाओं की निवृत्ति होती है। इस कारण उस विद्या के जानने वालों के साथ संवाद अवश्य करना चाहिये। यही इतिहास का प्रयोजन ज्ञात होता है। स्वल्प बुद्धि मनुष्य के लिये ही इतिहास के द्वारा ज्ञानोपदेश किया जाता है। इस कारण (तथा इति ह) एवमस्तु ऐसा कहकर वे तीनों (समुपविविशुः) बैठ गये। इस के अनन्तर (सः) वह (ह) प्रसिद्ध (प्रवाहणो जैवलिः) जीवल का पुत्र प्रवाहण नाम राजा (उवाच) बोला कि (भगवन्तौ) पूजनीय आप दोनों (अग्रे) आगे (वदताम्) विचार करें (वदतोः) विचार करते हुए (ब्राह्मणयोः) आप दोनों ब्राह्मणों की (वाचम्) वाणी (श्रोष्यामि) मैं सुनूंगा ॥ इति ॥ २ ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच। हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

सः। ह। शिलकः। शालावत्यः। चैकितायनम्। दाल्भ्यम्। उवाच। हन्त। त्वा। पृच्छानि। इति। पृच्छ। इति। ह। उवाच ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स इति। शालावत्यः शालावतोऽपत्यम्। सह शिलकः। चैकितायनं दाल्भ्यमृषिं प्रत्युवाच। हन्त। यदि त्वं साधु अनुमन्यसे। तर्हि त्वा त्वां पृच्छानि। त्वां प्रति प्रश्नं करवाणि। इति पृष्टः सन्। पृच्छ इति दाल्भ्य उवाच ॥ ३ ॥

अनुवाद—वह प्रसिद्ध शालावत्य शिलक, चैकितायन दाल्भ्य से बोले कि यदि आप की अनुमति हो तो आप से प्रश्न करूं। दाल्भ्य ने कहा कि पूछिये। इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—(स ह) वह प्रसिद्ध (शालावत्यः) शालावान् ऋषि का पुत्र (शिलकः) शिलक (चैकितायनम्) चैकितायन (दाल्भ्यम्) दाल्भ्य से (उवाच) बोले कि (हन्त) यदि आप अच्छा समझें तो (त्वा) आप को (पृच्छानि) मैं पूछूं (इति) तत्पश्चात्। (पृच्छ) पूछिये (इति ह उवाच) ऐसा दाल्भ्य ने उत्तर दिया ॥ इति ॥ ३ ॥

का साम्नो गतिरिति? स्वर इति होवाच ॥ स्वरस्य का गतिरिति? प्राण इति होवाच ॥ प्राणस्य का गति? रित्यन्नमिति होवाच ॥ अन्नस्य का गति? रित्याप इति होवाच ॥ ४ ॥

का । साम्नः । गतिः । इति । स्वरः । इति । ह । उवाच । स्वरस्य । का । गतिः । इति । प्राणः । इति । ह । उवाच । प्राणस्य । का । गतिः । इति । अन्नम् । इति । ह । उवाच । अन्नस्य । का । गतिः । इति । आपः । इति । ह । उवाच ॥ ४ ॥

भाष्यम्—का इति । कासाम्नोगतिरिति । यद्यप्यत्रोपास्यत्वेन प्रष्टव्यत्वेन चोद्गीथस्यैव प्रस्तुतत्वात् तद्विषयक एवप्रश्नः कर्त्तव्योऽस्ति । तथाप्युद्गीथज्ञानस्य वेदाधीनत्वाच्छान्दोग्योपनिषदश्च साममूलकत्वात् । सामजिज्ञासया संवादः प्रारभ्यते ।

(प्रश्नः) साम्नः । सामवेदस्य का गतिः ? (उत्तरम्) स्वरइति (प्रश्नः) स्वरस्य का गतिः ? इति (उत्तरम्) प्राणे इति (प्रश्नः) प्राणस्य का गति ? (उत्तरम्) अन्नम् (प्रश्नः) अन्नस्य का गतिः ? (उत्तरम्) आपः (जलम्) ॥

शिलकः पृच्छति । दाल्भ्यः समादधाति । साम्नः का गतिरिति पृष्टे स्वरइत्युत्तरमस्ति । गतिरत्राश्रयः परायणम् । आधार इत्यर्थः ॥

यद्यपि चत्वारोऽपि वेदाः स्वराश्रयाः सन्ति । तथापि । साम्नि गेयत्वात् सर्वेस्वरा विस्फुटी भवन्ति । षड्जादिस्वरैः साकमेव तद्गीयते । अतः साम्नो गतिः स्वरइति । उदात्तानुदात्तस्वरितास्त्रयः स्वरा व्याकरणशास्त्रे प्रसिद्धाः । निषादयः सप्तस्वरास्तद्भेदाश्च गीतिशास्त्रे विहिताः । "निषादर्षभगान्धारः षड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमीसप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः । इत्यमरकोशः ॥"

यो हि यदात्मकः स तद्गतिर्भवति तदाश्रयश्च मृदाश्रय इव घटादिः । साम्नः प्रायेण स्वरात्मकत्वाद् स्वरोगतिरिति सुष्ठूक्तम् । स्वरस्यतु प्राणो गतिः । शरीरान्तःसंचारीवायुः प्राणः । स च पञ्चधा । प्राणः । अपानः । समानः । व्यानः । उदानः । दशचेति केचित् । नागः । कूर्म्मः । कृकलः । देवदत्तः । धनञ्जयः । पूर्वोक्ताश्चपञ्च । यदि शरीरे प्राणानां व्यापारो न स्यात्तर्हि स्वराणामनुच्चारणापत्तिः । अतः स्वरस्य प्राण एवगतिरस्ति । अन्यत्सुगमं व्याख्यानम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—शिलक पूछते हैं साम विद्या की कौन गति है ?, दाल्भ्य उत्तर देते हैं स्वर है । शिलक पू० स्वर की गति कौन है ?, दाल्भ्य उ० प्राण है । शिलक पू० प्राण की गति कौन है ?, दाल्भ्य उ० अन्न है । शिलक पू० अन्न की गति कौन है ?, दाल्भ्य उ० जल है ॥ ४ ॥

(१) १ । ४ । ३ ॥ १ । ५ । १ ॥ अवलोक्यताम् ॥ (२) १ । १ । ५ ॥ १ । ७ । १ ॥ अवलोक्यताम् ॥ (३) ६ । ७ सम्पूर्णः खण्डोदृश्यताम् ॥ ७ । ६ । अयमपि च ॥ (४) ७ । १० । दृश्यताम् ॥

पदार्थः-शिलक पूछते हैं कि (साम्नः) सामवेद की (का गतिः) कौन गति है?। गति नाम आश्रय परायण। अर्थात् साम का आश्रय कौन है। दाल्भ्य उवाच। (ह) निश्चय (स्वर इति) स्वर है अर्थात् साम का आश्रय स्वर है। क्योंकि सामवेद में स्वर ही प्रधान है स्वर के ही अधीन सम्पूर्ण साम है। शिलक उवाच (स्वरस्य का गतिः इति) स्वर की गति कौन है?। दाल्भ्य उवाच (प्राण इति) प्राण है। क्योंकि प्राण के विना स्वर का उच्चारण नहीं हो सकता। शिलक पू० (प्राणस्य का गतिः) प्राण की गति कौन है?। दाल्भ्य उ० (अन्नमिति) अन्न है क्योंकि अन्न विना प्राण नहीं रह सकता। शिलक पू० (अन्नस्य का गतिः इति) अन्न की गति कौन है?। दाल्भ्य उवाच (आप इति ह) जल है। जल के विना अन्न नहीं हो सकता इस कारण अन्न की गति जल है॥ ४॥

भाष्याशयः-यद्यपि यहां उद्गीथ की ही उपासना का प्रकरण है और उसी के विषय में प्रष्टव्य भी है इस के अनुसार उद्गीथ के विषय में ही प्रश्न पूछना उचित था तथापि उद्गीथ का ज्ञान वेदों के अधीन है और छान्दोग्योपनिषद् का मूल सामवेद है इस हेतु सामवेद की जिज्ञासा से सम्वाद का आरम्भ करते हैं॥

(प्रश्न) सामवेद की गति कौन है?, (उत्तर) स्वर, (प्रश्न) स्वर की गति क्या है?, (उत्तर) प्राण, (प्रश्न) प्राण की गति कौन है?, (उत्तर) अन्न, (प्रश्न) अन्न की गति कौन है?, (उत्तर) आप (जल)।

शिलक पूछने वाले और दाल्भ्य उत्तर देने वाले हैं।

साम की गति स्वर है। गतिशब्द आश्रयपरायण और आधार आदि अर्थ में है यद्यपि चारों वेद स्वर के आश्रित हैं। तथापि गेय होने से सामवेद में स्वर विस्फुटतया प्रतीत होते हैं अतः साम की गति स्वर कहागया है। उदात्त १ अनुदात्त २ और स्वरित ३ ये तीन स्वर व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध हैं और निषाद आदि सप्त स्वर गीतिशास्त्र में विहित हैं। निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, पञ्चम ये सात स्वर वीणा आदि और कण्ठ से उच्चरित होते हैं। और सर्व गानविद्या के मूल हैं।

जो पदार्थ पदात्मक होता है वह उसका आश्रित भी होता है। जैसे मृत्तिका का आश्रय घट होता है। साम प्रायः स्वरात्मक होने से स्वर ही उसकी गति है। यह कथन बहुत अच्छा है। स्वर शब्द का अर्थ ईश्वर भी होता है प्रथम प्रपाठक चतुर्थ खण्ड में देखो॥

स्वर की गति प्राण है । शरीर के अभ्यन्तर विचरण करने वाले वायु का नाम यहां प्राण है । वह पांच प्रकार का है । प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान । कोई आचार्य दश प्रकार के कहते हैं । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और पांच पूर्वोक्त । यदि शरीर में प्राण के व्यापार न होवें तो स्वरों का उच्चारण नहीं हो सकता । अतः स्वर की गति प्राण है ।

अपां का गति?रित्यसौलोक इति होवाच ॥ अमुष्य लोकस्य का गतिरिति ? न स्वर्ग लोकमतिनयेदिति होवाच ॥ स्वर्ग वयं लोकꣳ सामाभि संस्थापयामः स्वर्गसꣳ स्तावꣳ हि सामेति ॥ ५ ॥

अपाम् । का । गतिः । इति । असौ । लोकः । इति । ह । उवाच । अमुष्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । न । स्वर्गम् । लोकम् । अतिनयेत् । इति । ह । उवाच । स्वर्गम् । वयम् । लोकम् । साम । अभिसंस्थापयामः । स्वर्गसंस्तावम् । हि । साम । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अपामिति । शिलक उवाच । अपां का गतिरिति प्रश्नः । दाल्भ्य उवाच । असौलोक इति । असौ । ऊर्ध्वं दृश्यमानो यो लोकः स्वर्गाख्यः । स एव । अपां जलानां गतिरिति । शिलकः । अमुष्य लोकस्य का गतिरिति प्रश्नः । दाल्भ्य उवाच । स्वर्गं लोकं न अतिनयेत् । तमतिक्रम्य आश्रयान्तरं न कोपि साम नयेत् । वयमपि साम स्वर्गं लोकमभिसंस्थापयामः । स्वर्गलोकप्रतिष्ठं सामेति वयं जानीमः । हि यतः । स्वर्गसंस्तावं । स्वर्गं संस्तौति इति स्वर्गसंस्तावम् । स्वर्गस्य संस्तावः संस्तवनं यस्मिन् तत् स्वर्गसंस्तावं साम इति वा । यतः । अमुं दृश्यमानंस्वर्गं लोकमेव साम संस्तौति । अतो वयमपि साम स्वर्गमतिक्रम्य आश्रयान्तरं न नयाम इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अनुवाद—शिलक पूछते हैं जल की गति कौन है ?, दाल्भ्य उत्तर देते हैं वह स्वर्ग लोक । शिलक पू० उस लोक की गति कौन है ?, दाल्भ्य उ० स्वर्ग लोक का अतिक्रमण कर अन्यत्र साम को कोई नहीं ले जाता । अतः हम लोग स्वर्ग में ही साम को स्थापित करते हैं । क्योंकि स्वर्ग का ही स्तवन करने वाला साम है ॥ ५ ॥

पदार्थः—शिलक पूछते हैं (अपां का गतिः इति) जल की गति कौन है ? । दाल्भ्य (असौ लोक इति) वह लोक अर्थात् स्वर्गलोक (शिलकः) (अमुष्यलोकस्य का गतिरिति) उस लोक की गति कौन है ? (दाल्भ्य उवाच) (न स्वर्गं लोकम् अतिनयेत्) ;

स्वर्ग लोक का अतिक्रमण कोई नहीं करता अर्थात् साम की गति स्वर्गलोक ही है। अतः (वयम्) हम लोग भी (स्वर्ग लोकम्) स्वर्ग लोक में ही (साम) साम को (अभिसंस्थापयामः) स्थापित करते हैं। अर्थात् स्वर्गलोकप्रतिष्ठ ही साम को समझते हैं क्योंकि (स्वर्गसंस्तावम्) स्वर्ग की स्तुति करने वाला (साम) साम है ॥ ५ ॥

तꣳ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य ! साम ॥ यस्त्वे तर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

तम् । ह । शिलकः । शालावत्यः । चैकितायनम् । दाल्भ्यम् । उवाच । अप्रतिष्ठितम् । वै । किल । ते । दाल्भ्य । साम । यः । तु । एतर्हि । ब्रूयात् । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति मूर्द्धा । ते । विपतेत् । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्–तमिति । तं ह चैकितायनं दाल्भ्यं प्रति शालावत्यः शिलक उवाच । हे दाल्भ्य ! ते तव । साम । वै निश्चितम् अप्रतिष्ठितं किल । अनाश्रितम् अगतीति यावत् । वै किलौ निपातावागमंस्मारयतः । हे दाल्भ्य ! यः कश्चित् । असहिष्णुः सामविदेतर्हेतस्मिन् काले विपरीतज्ञानं त्वां प्रति ब्रूयात् । यत् ते तव मूर्द्धा शिरोविपतेदिति । पतत्विति शापं दद्याद् । तर्हि अवश्यमेव ते तव मूर्द्धा विपतिष्यतीति । नात्र सन्देहः । यतस्त्वं परोवरीयस उद्गीथस्य तत्त्वं न वेत्सि ॥ ६ ॥

अनुवाद–उस चैकितायन दाल्भ्य से शालावत्य शिलक बोले कि हे दाल्भ्य ! निश्चय तेरा साम अप्रतिष्ठित है । हे दाल्भ्य ! यदि इस समय तुम से कोई कहे कि तेरा शिर गिर पड़े तो अवश्य तेरा शिर गिर पड़ेगा ॥ ६ ॥

पदार्थः–(शालावत्यः शिलकः) शालावत्य शिलक (तं वै चैकितायनं दाल्भ्यं ह उवाच) उस चैकितायन दाल्भ्य से बोले (दाल्भ्य) हे दाल्भ्य ! (ते) तेरी (साम) सामविद्या=उद्गीथविद्या (अप्रतिष्ठितम्) अनाश्रित=अगति, गति रहित है (वै किल) ये दोनों व्याकरण में निपात कहलाते हैं इनके अनेक अर्थ होते हैं। यहां शास्त्रीय बात के स्मारक हैं (यः) जो=यदि कोई तेरे अपराध का असहिष्णु सामविद् (एतर्हि) इस अपराध काल में (ब्रूयात्) कहे कि (मूर्द्धा ते विपतेद् इति) तेरा शिर गिर पड़े इति (तू इस बात को भले प्रकार नहीं जानता) तो अवश्य (मूर्द्धा ते विपतिष्यति इति)

(१) इसी प्रपाठक के ११ वें खण्ड की समीक्षा देखो ॥

तेरा शिर गिर पड़ेगा (तेरा शिर इन उच्चभावों से शून्य रहेगा) क्योंकि तुम सामविद्या के तत्त्व को नहीं जानते हो ॥ ६ ॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति ? विद्धि होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति? ये लोक इति होवाच ॥ अस्य लोकस्य का गतिरिति ?। न प्रतिष्ठां लोकमति नयेदिति होवाच ॥ प्रतिष्ठां वयं लोकꣳ सामाभि सꣳस्थापयामः प्रतिष्ठा सꣳस्तवꣳ हि सामेति ॥ ७ ॥

हन्त । अहम् । एतत् । भगवतः । वेदानि । इति । विद्धि । इति । ह । उवाच । अमुष्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । अयम् । लोकः । इति । ह । उवाच । अस्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । न प्रतिष्ठां । लोकम् । अतिनयेत् । इति । ह । उवाच । प्रतिष्ठां । वयम् । लोकम् । साम । अभिसꣳस्थापयामः । प्रतिष्ठासंस्तावम् । हि । साम । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—हन्त इति । शिलकेनेत्थमभिभूतो दाल्भ्यस्तं ब्रूते । हन्त यदि तव मय्यनुकम्पाचेत् । अहमेतत् सामज्ञानं भगवतः पूजावतोऽत्रभवतः सकाशात् वेदानि । जानानि । इति पृष्टः शिलको ब्रूते विद्धि इति । तेनानुज्ञातः सन् दाल्भ्यः पृच्छति=अमुष्य लोकस्य । स्वर्गलोकस्य का गतिरिति प्रश्नः । अयं लोक इत्युत्तरम् । मर्त्यो लोक इति यावत् । अयं मर्त्यलोको यागदानहोमादिक्रियाभिरूर्द्ध्वस्थितं लोकममुं पालयति । अतोऽमुष्यलोकस्यायंलोकोगतिरित्युत्तरम् । पुनः । अस्यलोकस्यकागतिरिति प्रश्नः । न काश्चिद्विद्वान् । प्रतिष्ठां । प्रतिष्ठाकरीं सर्वस्यधारिणीं पृथिवीं । लोकमतिनयेदिति । सामेत्यध्याहृत्य । पृथिवीं लोकमतिक्रम्यान्यत्रकाचित्साम न नयेत् प्रापयेत् । अतोवयमपि साम । प्रतिष्ठां लोकं पृथिवीं लोकम् अभिसंस्थापयामः । अस्मिन्नेव लोके साम्नः प्रतिष्ठामभिसंस्थापयामः । कुर्म्म इत्यर्थः । हि यतः । साम । प्रतिष्ठासंस्तावं । प्रतितिष्ठन्ति जीवा अस्यामिति प्रतिष्ठा पृथिवी प्रतिष्ठां संस्तौति । प्रतिष्ठायाः संस्तावोयत्र वा तत् । ईदृशं सामास्ति अस्य लोकस्य नान्यागतिरिति प्रश्नोत्तरमवधेयम् । इति ह स उवाच ॥ ७ ॥

अनुवाद—दाल्भ्य कहते हैं कि यदि आपकी कृपा है तो इस (उद्गीथ) विद्या को आपसे समझलूं । शिलक ने कहा समझो । दाल्भ्य ने पूछा इस स्वर्गलोक

की गति कौन है? (शिलक उ०) यह मर्त्यलोक (दाल्भ्य) इस मर्त्यलोक की गति कौन है? (शिलक) इस प्रतिष्ठा लोकका अतिक्रमण कर साम को अन्यत्र कोई नहीं ले जाता। हम लोग भी इसी प्रतिष्ठा लोक में साम को स्थापित करते हैं। क्योंकि प्रतिष्ठा के स्तवन करने वाला ही साम है। इति ॥ ७ ॥

पदार्थः—दाल्भ्य ने शिलक से निरुत्तर होकर निवेदन किया कि (हन्त) यदि आप की कृपा मुझ पर होवे तो (अहम्) मैं (एतत्) इस साम विद्या को (भगवतः) पूजनीय आप से (वेदानि) जानूं अर्थात् आप से इस ज्ञान को सीखूं। (इति) (विद्धि इति होवाच) शिलक उत्तर देते हैं कि सीखिये। इति। दाल्भ्य पू० (अमुष्य लोकस्य का गतिः इति) उस स्वर्गलोक की गति कौन है? शिलक उ० (अयं लोकः) यह लोक। अर्थात् यह मर्त्यलोक, स्वर्गलोक की गति है। क्योंकि याग दान होम आदि क्रिया से यह लोक स्वर्गलोक का पालन करता है। दाल्भ्य पू० (अस्य लोकस्य का गतिरिति?) इस लोक की कौन गति है? इति। शिलक उ० (प्रतिष्ठां) धारण करने वाली पृथिवी स्वरूप (लोकम्) इस लोक को (न अतिनयेत्) अतिक्रमण करके साम को अन्यत्र कोई नहीं ले जाता है। अतः (वयम्) हम भी (साम) साम को (प्रतिष्ठाम्) पृथिवी (लोकम्) लोक में (अभिसंस्थापयामः) रखते हैं। क्योंकि (प्रतिष्ठासंस्तावं साम) पृथिवी की ही स्तुति करने वाला साम है इति। जीव लोक स्थित होवे जिस पर उसे प्रतिष्ठा कहते हैं अर्थात् पृथिवी, पृथिवी का संस्ताव स्तवन है जिस में उससे प्रतिष्ठासंस्ताव कहते हैं ॥ ७ ॥

तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य? साम ॥ यस्त्वे तर्हि ब्रूयान्मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति मूर्द्धा ते विपतेदिति ॥ हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति? विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

तम्। ह। प्रवाहणः। जैवलिः। उवाच। अन्तवत्। वै। किल। ते। शालावत्य। साम। यः। तु। एतर्हि। ब्रूयात्। मूर्द्धा। ते। विपतिष्यति। इति। मूर्द्धा। ते। विपतेत्। इति। हन्त। अहम्। एतद्। भगवतः। वेदानि। इति। विद्धि। इति। ह। उवाच ॥ ८ ॥

भाष्यम्—तमिति । प्रवाहणो जैवलिः । तं ह शिलकं सामेमंलोकं नयन्तंप्रति । उवाच । हे शालावत्य ! ते तव साम । अन्तवद् । वै किल । विनश्वरमेव । यः कश्चित् सामवित् तवापराधमसहमानस्तु । एतर्हि । अस्मिन्नपराधकाले "मूर्द्धा ते विपतेदिति" त्वां ब्रूयात् । तर्हि ते तव मूर्द्धा विपतिष्यति । इति संभाव्यते । इत्युक्तः शालावत्यो ब्रूते । हन्त यदि तव मयि । कृपाचेत् तर्हि भगवतः । एतत् । सामविज्ञानं वेदानि जानानि । विद्धि इति ह प्रवाहण उवाच ॥ ८ ॥

इति अष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवाद—उस शालावत्य से जैवलि प्रवाहण बोले कि हे शालावत्य ! निश्चय तेरा सामभी विनश्वर है । इस समय यदि कोई तुमसे कहे कि तेरा शिर गिरपड़े तो तेरा शिर अवश्य गिरपड़ेगा (तब शिलक बोले) यदि आपकी कृपा मुझपर होवे तो मैं इस विद्या को आप से सीखूं । प्रवाहण ने उत्तर दिया कि सीखो ॥ ८ ॥

पदार्थः—(प्रवाहणो जैवलिः उवाच) तब प्रवाहण जैवलि बोले कि (शालावत्य) हे शालावत्य ! (ते साम) तेरा सामज्ञान (अन्तवत् वै किल) निष्फल विनश्वर ही है । क्योंकि तुम भी साम की गति ठीक नहीं बतलाते हो (यः तु एतर्हि) तेरे उत्तर को सुन असहिष्णु हो यदि कोई सामविद् इस काल में (ब्रूयात्) तुम से कहे कि (मूर्द्धा ते विपतेद्इति) तेरा शिर गिरपड़े तो अवश्य (मूर्द्धा ते विपतिष्यति) तेरा शिर गिर पड़ेगा इति । तत्पश्चात् शिलक आगे निवेदन करता है (हन्त अहम् एतत्) यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इस विज्ञान को (भगवतः) पूजनीय आप से (वेदानि इति) जानूं । प्रवाहण कहता है (विद्धि) सीखो (इति ह उवाच) ॥ ८ ॥

इति अष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच ॥ सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥ १ ॥

(१) इसी प्रपाठक के ११ वें खण्ड की समीक्षा देखो ।

अस्य । लोकस्य । का । गतिः । इति । आकाशः । इति । ह । उवाच । सर्वाणि । ह । वै । इमानि । भूतानि । आकाशात् । एव । समुत्पद्यन्ते । आकाशम् । प्रति । अस्तम् । यन्ति । आकाशः । हि । एव । एभ्यः । ज्यायान् । आकाशः । परायणम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-अस्येति । इतरोऽनुज्ञातोऽनुयुङ्क्ते । अस्य लोकस्य का गतिः । इति प्रश्नः । आकाशः । इत्युत्तरम् । प्रवाहणो जैवलिरुवाच ह । अस्य लोकस्य गतिराकाश एव । आसमन्तात् काशते प्रकाशत इत्याकाशः । यद्वा । आकाशयति विकाशयति सर्वाणि भूतानि यः सः । यद्वा । आकाशन्ते प्रकाशन्ते अवकाशं लभंते सर्वाणि भूतान्यस्मिन्निति सः । आकाशशब्देनात्र सर्वप्रकाशकं ब्रह्माभिधीयते । सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि । आकाशादेव ब्रह्मण एव । समुत्पद्यन्ते जायन्ते । आकाशं प्रति । ब्रह्मप्रति । अस्तम् । यन्ति । अवसाने क्रमेण तदेव ब्रह्म सर्वाणि भूतानि प्रविशन्ति । हि यतः । एभ्यो दृश्यमानेभ्यः सर्वेभ्यः पृथिव्यादितारकान्तेभ्यः पदार्थेभ्य. । आकाश एव ब्रह्मैव ज्यायान् महत्तमः । आकाश एव परायणम् । परेषां महतामपि । अयनम् आश्रयः सर्वेषामाश्रय इत्यर्थः । यतो ब्रह्म सकलदृश्यमानब्रह्माण्डात् महत्तमं वर्त्तते । अत आश्रयोपि तदेतस्य । एतेनास्यापिगतिस्तदेवेति सिद्धम् ॥ १ ॥

अनुवाद-(प्रश्न) इस लोक की गति कौन है ?, (उत्तर) आकाश । ऐसा प्रवाहणने कहा । क्योंकि ये सब प्राणी आकाश से ही उत्पन्न होते हैं । आकाश में ही अस्त होते हैं । क्योंकि इन सबों से आकाश ही बड़ा है । आकाश ही परायण है, इस में सन्देह नहीं ॥ १ ॥

पदार्थः-जब राजकुमार प्रवाहण ने शिलक के साम की गति को भी अप्रतिष्ठित कहा तब प्रवाहण से आज्ञा पा शिलक ने भी प्रश्न पूछना आरम्भ किया । यथा (प्रश्न):—"अस्य लोकस्य का: गति इति" इस लोक की गति कौन है ? (प्रवाहण उवाच) "आकाशइति" आकाश है । आकाश शब्द का अर्थ यहां ब्रह्म है । क्योंकि जिसका सर्वत्र प्रकाश है उसे आकाश कहते हैं ॥ १ ॥ यद्वा जो सम्पूर्ण भूतों को प्रकाशित करे उसे आकाश कहते हैं ॥ २ ॥ यद्वा जिस में सम्पूर्ण प्राणी और भूतजात अच्छी तरह अवकाश पावें उसे आकाश कहते हैं ॥ ३ ॥ सर्वाणि इमानि भूतानि, सब ही ये भूतजात (आकाशादेवसमुत्पद्यन्ते) आकाश=ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं (ह वै) यह बात परम प्रसिद्ध है (आकाशम् प्रति अस्तं यन्ति) अन्त में क्रमशः ब्रह्म में ही प्रलीन होते हैं (हि) क्योंकि (आकाश एव) ब्रह्म ही (एभ्यः) इस सकल दृश्यमान जगत् से (ज्या-

यान्) महत्तम है (आकाशः) ब्रह्म (परायणम्) आश्रय है । जिस कारण ब्रह्म सबों से महत्तम है अतः सबों का आश्रय भी यही है । अर्थात् इस लोक का भी आश्रय वा गति वही ब्रह्म है यह सिद्ध हुआ इति ॥ १ ॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति । परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति । य एतदेवं विद्वान् परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

सः । एषः । परोवरीयान् । उद्गीथः । सः । एषः । अनन्तः । परोवरीयः । ह । अस्य । भवति । परोवरीयसः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । परोवरीयांसम् । उद्गीथम् । उपास्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स एष इति पूर्वोक्तमाकाशं विशिनष्टि । यः । सर्वेषां प्रकाशकः सर्वेभ्यो ज्यायान् सर्वाधार आकाशशब्दवाच्यः परमेश्वरः । स एवैषः । परोवरीयानुद्गीथः । नान्य इत्यर्थः । परेभ्यो महद्भ्योपि वरीयान् श्रेष्ठः । यद्वा "परोवरीयान्" इति पदद्वयं । पर उत्कृष्टः । रसतमत्वादिगुणैरुत्कृष्टः । अतो वरीयान् । अवान्तरेभ्योऽन्तरिक्षादिभ्यश्च श्रेष्ठः । यद्वा पर इति अव्ययं सकारान्तम् । परः । कृत्स्नः । इति प्रयोगात् । वरेभ्योपि अतिशयेन वर इति वरीयान् । परश्चासौ वरीयान् । इति परोवरीयान् ईदृग् उद्गीथः । पुनः । स एषः । अनन्तः । अविद्यमानेऽन्तो यस्य सोऽनन्तः । यो ब्रह्मविद् । पुरुषः । एवं विद्वान् । पूर्वोक्तलक्षणं ब्रह्म जानन् सन् । एतत् । एतं । नपुंसकंछान्दसम् । परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्ते तस्य विदुष एतत् फलं भवति । अस्य ब्रह्मविदः पुरुषस्य परोवरीयः । परम्परं वरं विशिष्टतरं जीवनं भवति । पुनः । परोवरीयसो लोकान् जयति । उत्तरोत्तरविशिष्टतरान् गन्धर्वादीन् लोकाञ्जयति प्राप्नोति ह ॥ २ ॥

अनुवादः—वही यह सर्वोत्कृष्ट उद्गीथ है । वही यह अनन्त है । सो जो कोई इस परोवरीयान् उद्गीथ को इस प्रकार जानता हुआ उपासता है । उसका जीवन निश्चय परोवरीय होता है । और निश्चय वह परोवरीयान् लोकों को पाता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(स एषः) वही यह (परोवरीयान्) सबों से श्रेष्ठ (उद्गीथः) ब्रह्म है (स एषः) वह यह (अनन्तः) अन्तरहित है (यः) जो (एवं विद्वान्) उक्तलक्षणयुक्त ब्रह्म को जानता हुआ (एतत्) इस (परोवरीयांसम् उद्गीथम्) सर्वोत्कृष्ट उद्गीथ की (उपास्ते) उपासना करता है । ऐसे विद्वान् का फल आगे कहते हैं (अस्य) इस विद्वान्

का (परोवरीयः) विशिष्ट जीवन (भवति ह) निश्चय होता है। और (परोवरीयसः लोकान्) उत्तरोत्तर विशिष्ट जो लोक उनकी (जयति) जय करता है।

तꣳ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच ॥ यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते । परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

तम् । ह । एतम् । अतिधन्वा । शौनकः । उदरशाण्डिल्याय । उक्त्वा । उवाच । यावत् । ते एनम् । प्रजायाम् । उद्गीथम् । वेदिष्यन्ते । परोवरीयः । ह । एभ्यः । तावत् । अस्मिन् । लोके । जीवनम् । भविष्यति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तमिति । शौनकः । शुनकस्यापत्यम् । अतिधन्वा । अतिधन्वनामा कोऽपि ऋषिः । तम् एतम् । उद्गीथम् । विजानन् सन् । उदरशाण्डिल्याय स्वशिष्याय । उक्त्वा । उपदिश्य । उवाच । यावत् । यावन्तं कालम् । ते तव । प्रजायां सन्ततौ मध्ये । केपि । एतमुद्गीथं वेदिष्यन्ते ज्ञास्यन्ते । तावन्तं कालम् । अस्मिन् लोके एभ्यः । प्रसिद्धेभ्यो लोकजीवनेभ्यः । परोवरीयो जीवनमुत्तरोत्तर विशिष्ट जीवनं तेषां भविष्यति ॥ ३ ॥

अनुवाद—शौनक अतिधन्वाने अति प्रसिद्ध उस इस (उद्गीथ) का गान, उदरशाण्डिल्य से उपदेश कर कहा कि जब तक तेरी सन्ततियों में कोई इस उद्गीथ को जानते रहेंगे तब तक इस लोक में इन जीवनों से बहुत अधिक जीवन उन का होता रहेगा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(शौनकः) शुनक ऋषि का पुत्र (अतिधन्वा) अतिधन्वा नामक ऋषि ने (तम् एतम्) उस उद्गीथ को जानता हुआ (उदरशाण्डिल्याय) निज शिष्य उदरशाण्डिल्य को (उक्त्वा) उपदेश करके (उवाच) कहा कि (यावत्) जबतक (ते) तेरी (प्रजायाम्) सन्ततियों में से कोई (एतं उद्गीथम्) इस उद्गीथ को (वेदिष्यन्ते) जानेंगे। उन को (तावत्) तबतक (अस्मिन् लोके) इस लोक में (एभ्यः) इन प्रसिद्ध लौकिक जीवनों से (परोवरीयः) बहुत बड़ा (जीवनम्) जीवन (भविष्यति) होगा ॥ ३ ॥

तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति ॥ स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति । तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति । लोके लोक इति ॥ ४ ॥

तथा । अमुष्मिन् । लोके । लोकः । इति । सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । उपास्ते । परोवरीयः । एव । ह । अस्य । अस्मिन् । लोके । जीवनम् । भवति । तथा । अमुष्मिन् । लोके । लोकः । इति । लोके । लोकः । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तथेति । तथा अमुष्मिंल्लोके लोक इति । यथा । अस्मिंल्लोके । उद्गीथविदः । परोवरीयान् लोको भवति । तथैव । अमुष्मिंल्लोके । अदृष्टे परलोकेऽपि । परोवरीयान् लोको भविष्यति । स्यादेतच्चिरन्तनानां महाभाग्यानां फलम् । नैदंयुगीनानामल्पभाग्यवतामित्याशङ्कानिवृत्तये आह । स यः कश्चित् विद्वान् । एवमनेनप्रकारेण विद्वान् जानन् । अस्मिन् समये एतमुद्गीथम् । परोवरीयस्त्वेन । उपास्ते अस्यापि । अस्मिन् लोके । परोवरीय एव सर्वोत्कृष्टमेव जीवनं भवति हेति निश्चितम् । तथा तेनैव प्रकारेण अमुष्मिंल्लोके । परलोकेऽपि । अस्य लोकः सद्गतिर्भवतीति । द्विरुक्तिः समाप्तिसूचिका ॥ ४ ॥

अनुवाद—तथा उस लोक में भी उसको लोक मिलता है । सो जो कोई इस प्रकार जानता हुआ इस उद्गीथ की उपासना करता है । उसको इस लोक में परोवरीयान् जीवन होता है यह निश्चय है । तथा उस लोक में भी लोक होता है इति ॥ ४ ॥

पदार्थः—उद्गीथ के जानने वाले का जीवन जैसे इस लोक में बहुत से बहुत होता है (तथा) वैसे ही (अमुष्मिन् लोके) अदृष्ट अन्य लोक में भी बड़े से बड़ा (लोकः) लोक (स्थान) होता है (इति) अब कहते हैं कि अच्छा उस युग के लोग बड़े भाग्यवान् थे इस कारण उनको वैसा फल मिलता था । परन्तु इस युग के लोगों का अल्पभाग्य है इनको वैसा फल कदाचित् न प्राप्त हो, इस शङ्का की निवृत्ति के लिये आगे कहते हैं यथा (स यः विद्वान्) सो जो कोई विद्वान् (एवम्) इस प्रकार आज कल भी (एतम्) इस उद्गीथ की (उपास्ते) उपासना करते हैं (अस्य) इस विद्वान् का (जीवनम्) जीवन (परोवरीय एव ह) बहुत (भवति) होता है (तथा) वैसे ही (अमुष्मिन् लोके) अन्य अदृष्ट लोक में भी उत्तम से उत्तम (लोकः) स्थान होता है । द्विरुक्ति खण्ड समाप्त्यर्थ है ॥ ४ ॥

आकाशशब्दस्य समीक्षा ॥

शङ्का--प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों में प्रसिद्ध अर्थ का ही ग्रहण करना उचित है । आकाश शब्द पञ्चमहाभूतों में से एक महाभूतार्थ में रूढ है उसे त्याग आकाश

शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ "ब्रह्म" क्यों करते हैं। उत्तर-यहां आकाश से सब भूतों की उत्पत्ति कही गई है। उत्पत्ति केवल चेतन से ही मानी गई है। यह सर्वसिद्धान्त है इस कारण यहां आकाश शब्द का अर्थ "ब्रह्म" है। और इस में प्रमाण भी सुनो। "आकाशस्तल्लिङ्गात्। वेदान्त० १। १। २२" इसी शङ्का की निवृत्ति के लिये भगवान् वेदव्यास ने इस सूत्र को रचा है। यह आकाश शब्द जिस कारण दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः ऐसी शङ्का होती है। महाभूत विशेष वाचक तो आकाश शब्द लोक वेद दोनों में सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। परन्तु क्वचित् यह शब्द "ब्रह्म" में भी प्रयुक्त हुआ है। जहां पर वाक्य के अर्थों के वश से अथवा असाधारण गुण के वर्णन से केवल ब्रह्म ही अर्थ निर्धारित हो सकता है अन्य नहीं। वहां पर आकाश शब्द केवल ब्रह्मवाचक ही होता है (यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। को ह्येवान्यात् तै०....) यदि यह आकाश आनन्दमय नहीं होता तो कौन जी सकता। पुनः (आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता० छा० ८। १४। १। आकाश ही नाम और रूप की उत्पत्ति और स्थिति का हेतु है। और जो "नाम रूप जिससे" भिन्न है वही ब्रह्म है। इत्यादि प्रयोग में आकाश शब्द ब्रह्मवाचक है। परन्तु यहां क्या युक्त है? कौन अर्थ लेना उचित है * भूताकाश ही अर्थ लेना ठीक है। क्योंकि प्रसिद्धतर प्रयोग से, अर्थ, शीघ्र बुद्धि में आता है॥ यदि यह कहें कि जब दोनों अर्थों में यह शब्द साधारणतया प्रयुक्त होता है तो दोनों अर्थों में जहां जैसा प्रसंग होगा वहां वैसा अर्थ करेंगे फिर भूताकाश में ही तुम्हारा क्यों आग्रह है। सुनिये इसका कारण यह है। यह शब्द दोनों अर्थों में साधारण नहीं है। अर्थात् दोनों अर्थों में इस का प्रयोग नहीं होता है क्योंकि ऐसी अवस्था में आकाश शब्द को अनेकार्थ मानना पड़ेगा। परन्तु अनेकार्थ मानना गौरव है। अतः लाघवात् आकाशशब्द को एक ही अर्थ में रूढ मानना ठीक है। इस प्रकार ब्रह्म अर्थ में इस शब्द को गौण और महाभूतविशेष में मुख्य मानने से सब कार्य सिद्ध होगा। इस प्रकार व्यापकता आदि जो अनेक धर्म आकाश के हैं सो ब्रह्म के भी हैं। अतः आकाश के सदृश ब्रह्म है ऐसा कहेंगे। जहां मुख्यार्थ की सम्भावना है वहां गौणार्थ करना उचित नहीं। यहां मुख्य आकाश का ग्रहण संभवित है अतः भूताकाश ही अर्थ करना ठीक है। यदि यह कहें कि भूताकाश अर्थ लेने से अन्तिम वाक्य का अर्थ युक्त नहीं होगा क्योंकि (सर्वाणि०) ये

* यहां प्रथम पूर्वपक्ष कहे जाते हैं। पश्चात् उत्तर दिया जायगा॥

सकलभूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ भूताकाश में कैसे घटेगा। सुनिये यह दोष नहीं होगा क्योंकि भूताकाश भी वायु आदियों का कारण कहा गया है।

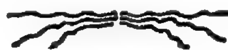
जैसे–(तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः) उस आत्मा से आकाश। आकाश से वायु। वायु से अग्नि इत्यादि। इस वचन से वायु आदि की उत्पत्ति आकाश से कही गई है। सुतरां, भूताकाश से सब भूत होते हैं यह सिद्ध हुआ। एवं अन्य भूतों की अपेक्षा से यह आकाश बड़ा है अतः (ज्यायान्) सब से बड़ा। और सब का आश्रय भी है अतः (परायण) कहा गया है। अतः यहां पर भी प्रसिद्ध भूताकाश का अर्थ करना चाहिये न कि अप्रसिद्ध वा गौण ब्रह्म का इति।

इस महती शङ्का की निवृत्ति के लिये भगवान् व्यासदेव "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इस सूत्र को रचते हैं। आकाश शब्द से यहां ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि (तल्लिङ्गात्) ब्रह्म के चिन्ह होने से। परब्रह्म का ही यह लिङ्ग है (सर्वाणि०). सब ये भूत आकाश से भी उत्पन्न होते हैं। परब्रह्म से ही सकलभूतों की उत्पत्ति मानी गई है वेदान्त की यही मर्यादा है। यदि यह कहें कि अभी तो आकाश को भी सब वायु आदि भूतों का कारण आप बतलाते हैं। फिर ऐसा क्यों कहते हैं। ठीक है। तथापि मूलकारण परब्रह्म को छोड़कर आकाश का ग्रहण करना उचित नहीं। वहां पर भी (आत्मनः) यह प्रथम पद है और (आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति)=(सब भूत आकाश में ही अस्त होते हैं) यह चिन्ह तो ब्रह्म का ही हो सकता है अन्य का नहीं है। यहां (ज्यायान् परायण) ये दोनों शब्द अनापेक्षित होकर ब्रह्म में ही संघटित होते हैं अर्थात् जिस से कोई बड़ा नहीं उसे ज्यायान् और बड़ों से बड़े पदार्थों का जो अयन=आश्रय है उसे (परायण) कहते हैं। अतः ये दोनों शब्द भी परब्रह्म में ही संघटित होते हैं। पुनः अन्य स्थल में कहा गया है अर्थात् (ज्यायान् पृथिव्या इत्यादि) यह परब्रह्म पृथिवी से बड़ा, आकाश से बड़ा, द्युलोक से बड़ा, सकल लोक ब्रह्माण्डों से भी बड़ा है। अतः ज्यायान् शब्द भी यहां ब्रह्म में ही घटता है और इस प्रकरण में जैवलिप्रवाहण ने शालावत्य के पक्ष को अन्तवत्=विनश्वर कह कर निन्दा की है और निन्दा करके अनन्तता को दिखलाने के लिये प्रस्तावना की है और अपनी प्रस्तावना के अनुसार उपसंहार (अन्त) में (स एष परोवरीयान् उद्गीथः स एषोऽनन्तः) ऐसा कहा है अनन्त्य केवल ब्रह्म का ही लिङ्ग है। अतः आकाश का अर्थ यहां ब्रह्म है।

(प्रश्न) आप ने अभी कहा है कि प्रसिद्ध अर्थ करना ठीक है । फिर ऐसा भी कहते हैं । सो क्यों ? ठीक है । परन्तु यहां अन्तिम वाक्य में केवल परब्रह्म के ही गुण देख कर उस का त्याग किया । और ब्रह्म में भी आकाश प्रयुक्त होता है (आकाश वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता) इत्यादि वाक्यों से दिखला चुके हैं ।

एवं आकाश पर्यायवाची शब्द, ब्रह्म में बहुधा प्रयुक्त हुआ करते हैं । यथा "ऋचो अक्षरे परमेव्योमन् ऋ० १ । १६४ । ३९ ॥ सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता" तैत्तिरीय ३ । ६ ॥ इन दोनों में व्योमन् शब्द जो आकाशवाची है । यहां ब्रह्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पुनः (कं ब्रह्म खं ब्रह्म खं पुराणम्) यहां खम् शब्द आकाश-वाची है सो ब्रह्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

इत्यादि अनेक उदाहरण हैं । जहां आकाश वाचक शब्द भी ब्रह्म अर्थ में आए हैं । वहां वहां ब्रह्म ही अर्थ होता है । और प्रकरण के आदि में आकाश का प्रयोग किया गया है और अन्त में भी आकाश शब्द का प्रयोग कर ब्रह्मगुण उस में दिखलाये गये हैं अतः यहां आकाश का ब्रह्म ही अर्थ करना चाहिये । जैसे (अग्निरधीतेऽनुवाकम्) अग्नि अनुवाक को पढ़ता है । यहां उपक्रम और उपसंहार देखकर अग्नि=माणवक=बालक अनु-वाक को पढ़ता है ऐसाही अर्थ किया जाता है । तद्वत् यहां परभी इस से यह सिद्ध हुआ कि ऐसे स्थलों में आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म करना चाहिये । मूल को अच्छी तरह प्रथम पढ़जाना चाहिये फिर इस विवरण को पढ़िये तब ही समझ में भलीप्रकार आवेगा । इति ॥



अथ दशमः खण्डः ॥



मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्यासह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

मटचीहतेषु । कुरुषु । आटिक्या । सह । जायया । उषस्तिः । ह । चाक्रा-यणः । इभ्यग्रामे । प्रद्राणकः । उवास ॥ १ ॥

भाष्यम्-मटचीहतेष्विति । विज्ञानपूर्वकं यज्ञाद्यम्यनुष्ठेयमित्याख्यायिकाऽऽरम्यते । कुरुषु कुरुजनपदेषु कुरुदेशस्थशस्येष्वित्यर्थः । मटचीहतेषु सत्सु । मटच्योऽशनयः पाषाणवृष्टयो वा रक्तवर्णाः क्षुद्रपक्षिविशेषा वा । तैर्हतेषु विनाशितेषु सत्सु । कदाचित् । ह । ऐतिह्ये । प्रसिद्धो वा चाक्रायणः । चक्रस्य ऋषेर्गोत्रापत्यं चाक्रायणः "फक् प्रत्ययः" उषस्तिः । एतन्नामा ऋषिः । आटिक्या जायया सह । पयोधरादीनि यौवनसूचकानि स्त्री व्यंजनानि न जातानि यस्याः सा आटिकी । यद्वा । आसमन्तादटितुं पर्य्यटितुं विदेशान् भ्रमितुं समर्था विदेशप्रस्थानयोग्येत्यर्थः । तया जायया वनितया सह सार्द्धमिभ्यग्रामे । इभो गजस्तमर्हतीति इभ्यः । ईश्वरो धनाढ्यो गजारोहो वा । तस्यग्राम इतीभ्यग्रामः । तस्मिन् । प्रद्राणकः । द्रा कुत्सायाम्, कुत्सितां गतिंगतः । अन्त्यावस्थां प्राप्तः । अन्नालाभात् शोच्यावस्थां प्राप्तः सन्नित्यर्थः । उवास । उषितवान् । कस्यापि गृहमाश्रित्य तस्थावित्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवाद-ओलों के गिरने से अथवा टिड्डियों के उपद्रव से कुरुदेश में दुर्भिक्ष होने पर "उस देश को त्याग" अपनी भ्रमण समर्था स्त्री के साथ चाक्रायण उपस्तिनाम के ऋषि इभ्यै नाम ग्राम में (अन्न आदिकों के अभाव के कारण) मलीन रूप बने हुए (किसी के आश्रित में) निवास कर रहे थे ॥ १ ॥

पदार्थः-यज्ञादि कर्म भी ज्ञानपूर्वक अनुष्ठेय है । इसे दर्शाने को आख्यायिका आरम्भ करते हैं । (मटचीहतेषु) मटची नाम है ओले वा टिड्डियों का । ओलों से वा टिड्डियों से विनाशित (कुरुषु) कुरुदेश वासियों के जनपद को कुरु कहते हैं । कुरुदेशस्थ धान्यादिकों के होने पर (कुरुदेशस्थ धान्यादिकों के ओलों से विनाश होने पर) (आटिक्या) नई । यद्वा । भ्रमण समर्था (जायया) वनिता=स्त्री के (सह) साथ (ह) कदाचित् वा परम प्रसिद्ध (चाक्रायणः) चक्रनाम ऋषि का गोत्रापत्य (चक्रनाम ऋषि का पौत्र) (उषस्तिः) उपस्ति नाम का ऋषि (इभ्यग्रामे) इभ्यग्राम में (इभ=हाथी, हाथी से युक्त जो मनुष्य सो इभ्य अर्थात् धनिक । अथवा इभ जो हाथी उस से युक्त वा उस के पालन करने वाला हाथीवान् गजारोही) (प्रद्राणकः) कुत्सितरूप धारण कर (उवास) निवास करते थे ॥ १ ॥

(१) (आटकी) आ+अट् धातु से आटकी शब्द बनता है । शङ्कराचार्य्य ने बालिका अर्थ किया है । परन्तु यहां प्रतीत होता है कि जो चलने में समर्थ हो ।

(२) इभ्य=धनिक । दुर्भिक्ष पीड़ित मनुष्य धनाढ्य ग्राम में जाता है ।

(३) मू० प्रद्राणक शब्द है । प्र+द्रा से बना है । कुत्सा=निन्दा अर्थ में "द्रा" धातु आता है । निन्दित मलीनवेषधारी ।

सहेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे। तꣳहोवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

सः। ह। इभ्यम्। कुल्माषान्। खादन्तम्। बिभिक्षे। तम्। ह। उवाच। न। इतः। अन्ये। विद्यन्ते। यत्। च। ये। मे। इमे। उपनिहिताः। इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—सहेभ्यमिति। स ह। स प्रसिद्धः। उषस्तिः। कदाचित् कुल्माषान् कुत्सितान् माषान् खादन्तं भक्षयन्तम्। इभ्यं गजारोहिणं बिभिक्षे याचितवान्। तं ह। तमुषस्तिं प्रति। स इभ्य उवाच। यत्। इतः। अस्मात् मया खाद्यमानादुच्छिष्टराशेः। अन्ये अपरे कुल्माषा न विद्यन्ते न वर्तन्ते। ये इमे मे मम भाजने उपनिहिताः। प्रक्षिप्ता दत्ताः सन्ति। ममभोजनपात्रनिहितेभ्योऽतिरिक्ता न विद्यन्ते यान् तुभ्यं दद्याम्। अगत्या किं करोमि। उच्छिष्टस्यादेयत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवाद—(एक दिन) उस प्रसिद्ध (उषस्ति नाम के ऋषिने) उड़दों को खाते हुए किसी हाथीवान से भिक्षा मांगी। उसने यह कहा कि जो मेरे खाने के भाजन में रक्खे हैं इससे अधिक वा इसके अतिरिक्त मेरे पास माष नहीं हैं (इस कारण मैं आपको भिक्षा देने में असमर्थ हूं, क्योंकि उच्छिष्ट कैसे आपको दूं) ॥ २ ॥

पदार्थः—(स ह) उस प्रसिद्ध उषस्ति नामा ऋषि ने कदाचित् (कुल्माषान्) कुत्सित माषों (उड़दों) को (खादन्तम्) खाते हुए (इभ्यम्) हाथीवान से (बिभिक्षे) भिक्षा मांगी (तम् ह उवाच) उस ऋषि से वह बोला (यत्) कि (इतः) इससे (अन्ये) अन्य अर्थात् जो मैं खारहा हूं इससे अन्य माष (न विद्यन्ते) नहीं हैं (ये इमे च) जो ये (मे) मेरे भाजन में (उपनिहिताः) रक्खे हुए हैं (इति) अर्थात् जो मेरे खाने के वास्ते मेरे सामने भाजन में माष रक्खे हुए हैं इन से अतिरिक्त मेरे निकट नहीं जो आपको दूं। और उच्छिष्ट देना अनुचित है अतः अगत्या, आपके वास्ते मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इति ॥ २ ॥

एतेषां मे देहीति होवाच। तानस्मै प्रददौ। हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳ स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

एतेषाम्। मे। देहि। इति। ह। उवाच। तान्। अस्मै। प्रददौ। हन्त। अनुपानम्। इति। उच्छिष्टम्। वै। मे। पीतम्। स्यात्। इति। ह। उवाच ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एतेषामिति। एतेषाम्। एतान्। त्वया खाद्यमानान्। एव कुल्माषान्।

(१) "कर्म्मणि षष्ठी" यहां कर्म्मकारक में षष्ठी है॥

मे मह्यम् । देहि । इति होवाच । इति उपस्तिस्तं प्रत्युवाच । सः । अस्मै । उपस्तये । तान् माषान् प्रददौ । दत्त्वाचाब्रवीत् । हन्त खेदे । अनुपानम् । इदमुदकञ्च गृहाण इति । एवं तेनोक्तः स ऋषिरुवाच । उच्छिष्टं वै निश्चयेन । उच्छिष्टं मे मम पीतं पानं स्यात् अर्थाद्य-दीदमुदकमहं पास्यामि तर्ह्युच्छिष्टपानं भविष्यति । अत उदकं न ग्रहीष्यामीत्यर्थः । इति तं प्रत्युवाच ॥ ३ ॥

अनुवाद-(उस के अनन्तर) ऋषि ने कहा (कि जो माष तू खा रहा है) उन्हीं को मुझे दो (इतने कहने पर उस इभ्यने) उन्हें वे कुल्माष दिये (और देकर कहा कि) शोक की बात है इस जल को भी ग्रहण करें । ऋषि ने तब कहा कि (यदि जल भी लूं और उसे पान करूं तो) मुझे निश्चय उच्छिष्ट जल पीने का दोष होगा ॥ ३ ॥

पदार्थः-(एतेषाम्) इन कुल्माषों को (देहि) दो (इति) यह (ह उवाच) वे प्रसिद्ध ऋषि बोले तत्पश्चात् (अस्मै) इस ऋषि को (तान्) वे कुल्माष (प्रददौ) उस इभ्यने दिये और कहा (हन्त) करुणा वा खेद की बात है कि (उदपानम्) जल को भी लीजिये तब ऋषि ने कहा कि (वै) निश्चय (उच्छिष्टम्) जूठा (मे) मेरा (पीतम्) पीना (स्यात्) होगा (इति) ऐसे (ह उवाच) उपस्ति ने कहा अर्थात् जो जल तुम देरहे हो । यदि उसे मैं ग्रहण करूं तो मुझे उच्छिष्ट जल पीना होगा क्योंकि यह जल उच्छिष्ट है ॥ ३ ॥

ऋषेरसङ्गतं वचनं श्रुत्वा इभ्य आह—

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति ? न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच । कामो म उदपानमिति ॥ ४ ॥

न । स्वित् । एते । अपि । उच्छिष्टाः । इति । न । वै । अजीविष्यम् । इमान् । अखादन् । इति । ह । उवाच । कामः । मे । उदपानम् । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—न स्विदिति । स्वित् किंस्विदिति प्रश्ने । एते कुल्माषा अपि न उच्छिष्टा कच्चिदिति । प्रश्नः । एते माषा न उच्छिष्टा इत्यध्याहार्य्यम् । एते नोच्छिष्टा इव । इत्युत्त-रम् । कथम् । इमान् । माषान् तवोच्छिष्टान् । अखादन् । अभक्षयन् । अहं न वै अजीवि-ष्यम् न वै कदाचित् जीविष्यामि न प्राणान् धारयिष्यामि इति स होषस्तिरुवाच । कामः कामतोयथेष्टमिति यावत् । उदपानं जलपानम् । उदकस्यपानमुदपानमिति । जलन्तु सर्वत्रैव प्राप्यत अतोऽन्यत्रापि यथेष्टं प्राप्स्यामि । किं उच्छिष्टपानेन । भोजनन्तु न क्वाप्युपलभ्यते । तद्विना जीवनमेव संदिग्धम् । अतोऽत्र नोच्छिष्टविवेचना ॥ ४ ॥

अनुवाद-(जब ऋषि ने कहा कि उच्छिष्ट जल नहीं लूंगा । तब उस इभ्य ने पूछा कि हे महर्षे ! ये कुल्माष भी तो उच्छिष्ट हैं इन्हें आपने क्यों लिये) ये कुल्माष भी उच्छिष्ट नहीं हैं क्या ? (तब ऋषि ने कहा कि ये कुल्माष उच्छिष्ट के समान नहीं हैं) क्योंकि यदि इस उच्छिष्ट कुल्माष को मैं न खाऊं तो मैं प्राण धारण नहीं कर सक्ता (परन्तु धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साधन के लिये प्राण धारण करना आवश्यक है । अतः उच्छिष्ट कुल्माषों का भी ग्रहण किया है इसमें दोष नहीं) परन्तु जलपान तो सब ही स्थान में मिल सक्ता है फिर उच्छिष्ट जल लेने की क्या आवश्यकता इति ॥ ४ ॥

पदार्थः—ऋषि की उस असङ्गत बात को सुनकर वह इभ्य पूछता है कि (स्वित्) क्या (एते) ये कुल्माष (अपि) भी (न उच्छिष्टाः) उच्छिष्ट नहीं हैं ? (इति) आगे ऋषि उत्तर देते हैं कि ये कुल्माष उच्छिष्ट के समान नहीं । क्यों ? (इमान्) इन कुल्माषों को (अखादन्) न खाता हुआ (न वै) निश्चय नहीं (अजीविष्यन्) जीऊंगा=प्राण धारण करूंगा (इति) इसे (ह उवाच) वे प्रसिद्ध ऋषि बोले (उदपानम्) जलपान (मे) मेरी (कामः) इच्छा से । अर्थात् जल की इच्छा जहां करूंगा वहां ही जल मुझे मिल सकता है । अतः जल का ग्रहण करना उचित नहीं ॥ ४ ॥

स ह खादित्वाऽतिशेषान् जायाया आजहार । साऽग्र एव सुभिक्षा बभूव । तान् प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

सः । ह । खादित्वा । अतिशेषान् । जायायै । आजहार । सा । अग्रे । एव । सुभिक्षा । बभूव । तान् । प्रतिगृह्य । निदधौ ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स हेति । स ह ऋषिः । तान् खादित्वा भक्षयित्वा । अतिशेषान् । अवशिष्टान् । माषान् । जायायै वनितायै कारुण्यात् । आजहार आनिनाय । सा । ऋषिजाया । अग्रएव प्रथममेव सुभिक्षा शोभना भिक्षा यस्याः सा लब्धान्नेत्यर्थः । बभूव । संवृत्ता । तान् पत्यानीतान् माषान् प्रतिगृह्य निदधौ कुत्रचित् निक्षिप्तवती स्थापितवती ॥ ५ ॥

अनुवाद—वे परम प्रसिद्ध ऋषि उन माषों को खाकर अवशिष्ट कुल्माषों (उड़दों) को निज पत्नी के लिये ले आए । परन्तु वह (स्त्री) प्रथम ही भिक्षा की प्राप्ति से संतुष्ट[१] हो चुकी थी अतः उन्हें लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

(१) मूल में सुभिक्षा शब्द है जिसको सुन्दर वा प्रचुर भिक्षा मिल चुकी है उसे सुभिक्षा कहते हैं ।

पदार्थः-(स ह) वे प्रसिद्ध ऋषि (खादित्वा) उन कुल्माषों को खाकर (अतिशेषान्) बचे हुए कुल्माषों को (जायायै) स्त्री के निमित्त कृपया (आजहार) ले आए। (सा) वह स्त्री (अग्रे एव) पहिले ही (सुभिक्षा) शोभन भिक्षा वाली (बभूव) हुई। अर्थात् उनकी स्त्री को प्रथम ही पूर्ण भिक्षा मिल चुकी थी। इस कारण (तान्) उन कुल्माषों को (प्रतिगृह्य) लेकर (निदधौ) रख दिया ॥ ५ ॥

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच । यद्बताऽन्नस्य लभेमहि । लभेमहि धनमात्राꣳ राजाऽसौ यक्ष्यते । स मा सर्वैरार्त्विज्यै-र्वृणीतेति ॥ ६ ॥

स । ह । प्रातः । सञ्जिहानः । उवाच । यद् । बत । अन्नस्य । लभेमहि । लभेमहि । धनमात्राम् । राजा । असौ । यक्ष्यते । सः । मा । सर्वैः । आर्त्विज्यैः । वृणीत । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—स ह प्रातरिति । सहर्षिः । प्रातः संजिहानः । उषसिनिद्रांत्यजन् सन् जायामुवाच । यत् । यदि । बत खेदे । अन्नस्यमात्रां स्तोकं लभेमहि प्राप्नवाम । तर्हि । तदन्नं भुक्त्वा समर्थोभूत्वा धनमात्रां धनस्याल्पं लभेमहि लप्स्यामहे । धनप्राप्तौ कारणमाह । असौनातिदूरे वर्त्तमानो राजा नृपो यक्ष्यते । इष्टिं सम्पादयिष्यते । "यजमानत्वात्तस्यात्मनेपदम्" तेन किम् ? स यक्ष्यमाणो राजा मां पात्रमुपलभ्य सर्वैरखिलैरार्त्विज्यैः । ऋत्विक्कर्मभिः । ऋत्विक्कर्मप्रयोजनायेत्यर्थः । वृणीत वरीष्यते इति ॥ ६ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध ऋषि प्रातःकाल उठते ही (अपनी स्त्री से) बोले कि शोक (के साथ कहना पड़ता है कि) यदि कुछ खाने को अन्न पावें तो कुछ धन प्राप्त कर सकते हैं (क्योंकि) यह महाराजा यज्ञ करनेवाला है। वह अवश्य मुझको सब ऋत्विक् कार्यों के (निरीक्षण के हेतु) स्वीकार करेगा-इति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(सः) वे (ह) प्रसिद्ध ऋषि (प्रातः संजिहानः) प्रातःकाल

(१) मूल में बत पद है। करुणा खेद भी उसका अर्थ होता है ॥

(२) उसका अभिप्राय कहते हैं कि यदि घर में कुछ अन्न हो तो उसे भोजन कर उससे कुछ बल प्राप्त कर राजा के समीप जाऊं। क्योंकि बुभुक्षित जाने से वहां बोल नहीं सकूंगा उससे कदाचित् अवक्ता समझकर मुझे वह राजा स्वीकार न करे इति ॥

(३) "यक्ष्यते" मूल में है। स्वयं राजा यज्ञ करने वाला है और उस कर्म के फल भी उसे ही मिलेंगे अतः यज् धातु से वहां आत्मनेपद हुआ है ॥

निद्रा को त्यागते हुए (जागते हुए) अपनी स्त्री से (उवाच) बोले कि (यदि) यदि (बत) खेद (खेद के साथ कहना पड़ता है) (अन्नस्य) कुछ थोड़ासा भोजन (लभेमहि) पावें तो (धनमात्राम्) कुछ धन (लभेमहि) पाऊंगा । धनप्राप्ति का कारण कहते हैं (असौ) यह अर्थात् समीपस्थ (राजा) राजा (यक्ष्यते) यज्ञ करने वाला है (सः) वह (मा) मुझ को पात्र समझ कर (सर्वैः) सम्पूर्ण (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्मों से अर्थात् ऋत्विक् कर्म्मों के लिये (वृणीत) वरेगा (इति) मुझ को ऋत्विग् बनावेगा । उससे अवश्य कुछ धन प्राप्त करूंगा ॥ ६ ॥

तं जायोवाच ॥ हन्त ! पत इम एव कुल्माषा इति ॥ तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

तम् । जाया । उवाच । हन्त । पते । इमे । एव । कुल्माषाः । इति । तान् । खादित्वा । अमुम् । यज्ञम् । विततम् । एयाय ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तमिति । तं जायोवाच । इति । ब्रुवन्तंपतिं । जाया वनिता । उवाच । हन्त हे पते ! स्वामिन् । इम एव कुल्माषाः । ये ह्यस्तने त्वया मद्धस्ते निक्षिप्ताः । त इमे कुल्माषाः सन्ति । तान् गृहाण इति । स ऋषिः । तान् खादित्वा । नृपस्य । विततं विस्तीर्णम् । अमुं यज्ञं यागम् । एयाय आजगाम ॥ ७ ॥

अनुवाद—उस अपने स्वामी से स्त्री बोली कि हे पते ! खेद की बात है । ये ही कुल्माष हैं (इन्हें ग्रहण कीजिये) वे ऋषि उन्हें खाकर राजा के इस विस्तारित यज्ञ में गये ॥ ७ ॥

पदार्थः—(तम्) इस प्रकार कहते हुए उस पति से (जाया) पतिव्रता स्त्री (उवाच) बोली (हन्त) खेद की बात है (पते) हे स्वामिन् ! (इमे एव कुल्माषाः) ये ही कुल्माष । अर्थात् आपने सायंकाल में जिन उच्छिष्ट कुल्माषों को दिये थे वे ही कुल्माष हैं आप इन्हें ग्रहण करें (इति) वे (तान्) उन्हें (खादित्वा) खाकर (विततम्) ऋत्विकों के द्वारा विस्तारित (अमुम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ में (राजा के यज्ञ में) (एयाय) गये ॥ ७ ॥

तत्रोद्गातॄनास्तावेस्तोष्यमाणानुपोपविवेश । स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

तत्र । उद्गातॄन् । आस्तावे । स्तोष्यमाणान् । उपोपविवेश । सः । ह । प्रस्तोतारम् । उवाच ॥ ८ ॥

भाष्यम्—तत्रोद्गातॄनिति । तत्र तत्स्थानं प्राप्यास्तावे । आसमन्तात् स्तुवन्ति यज्ञं सम्पादंत्यृत्विजो यत्र स आस्तावः । यज्ञशालेत्यर्थः । तस्मिन्नास्तावे स्तोष्यमाणान् आशंसिष्यतः । उद्गातॄन् । उद्गातृपुरुषान् उद्गातृप्रभृतीन् ऋत्विज इत्यर्थः आगत्य तेषां समीपे । उपोपविवेश । उपविष्टवान् । उपविश्य च स ह ऋषिः । प्रस्तोतारम् । प्रस्तावकर्म्मणि प्रवृत्तमृत्विजमुवाच ॥ ८ ॥

अनुवाद—(वे ऋषि) वहां जाकर यज्ञशाला में स्तुति करने वाले उद्गाता आदि ऋत्विजों के समीप बैठ गये । (बैठने के पश्चात्) वे प्रसिद्ध ऋषि (प्रथम) प्रस्तोता नाम ऋत्विक् से बोले ॥ ८ ॥

पदार्थः—(तत्र) वहां जाकर वे ऋषि (आस्तावे) जिस स्थान में ऋत्विक् लोग मिलकर ईश्वर स्तुति करते हैं । उसे आस्ताव कहते हैं अर्थात् यज्ञशाला में (स्तोष्यमाणान्) स्तुति करने वाले (उद्गातॄन्) उद्गाताओं के (उपोपविवेश) समीप में बैठ गये । बैठने के अनन्तर (स ह) वह प्रसिद्ध ऋषि (प्रस्तोतारम्) प्रस्तोता नाम ऋत्विक् से (उवाच) बोले ॥ ८ ॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ॥ ताञ्चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

प्रस्तोतः । या । देवता । प्रस्तावम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । प्रस्तोष्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति ॥ ९ ॥

भाष्यम्—अभिमुखीकरणाय आमन्त्रयति । हे प्रस्तोतः ! या देवता प्रस्तावं प्रस्तावभक्तिम् । अन्वायत्ता । अनुगता अस्ति । तां देवतां चेद्यदि । अविद्वान् अजानन् प्रस्तोष्यति । प्रस्तावं करिष्यति । तर्हि ते मूर्द्धा मस्तकं विपतिष्यति । इति स ऋषिः प्रस्तोतारं प्रत्युवाचेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ९ ॥

(१) मूल में "आस्ताव" पद है । जिस गृह में ऋत्विक् लोग सर्वथा स्तुति प्रार्थना आदि कर्म्म करें उसे आस्ताव कहते हैं । आ+स्तु (स्तुति करना) धातु से यह शब्द बनता है ।

(२) मूल में (उद्गातॄन्) बहुवचन प्रयोग है । अतः उद्गाता आदि ऋत्विक् अर्थ हुआ है । सामवेद में उद्गाता नाम ऋत्विक् की प्रधानता होती है । अतः उद्गातृ पद का अभिधान हुआ है ॥

अनुवाद-(वे ऋषि बोले कि) हे प्रस्तोता जो देवता प्रस्ताव भक्ति से सम्बन्ध रखता है उसे न जानता हुआ यदि तू प्रस्ताव करेगा तो तेरा शिर अवश्य गिर पड़ेगा ॥ ९ ॥

पदार्थः-अभिमुख करने के लिये सम्बोधन करते हैं कि (हे प्रस्तोतः) हे प्रस्तोता ऋत्विक् (या देवता) जो देवता (प्रस्तावम्) प्रस्ताव भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत= विद्यमान है । अर्थात् प्रस्ताव कर्म से जो देवता सम्बन्ध रखती है (ताम्) उस देवता को (चेत्) यदि (अविद्वान्) न जानता हुआ तू (प्रस्तोष्यसि) प्रस्ताव करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) इस प्रकार वह उपस्ति ऋषि प्रस्तोता नाम ऋत्विक् से बोले । यह पूर्व प्रवाक से सम्बन्ध लगा लेना ॥ ९ ॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता । ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

एवम् । एव । उद्गातारम् । उवाच । उद्गातः । या । देवता । उद्गीथम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । उद्गास्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति ॥ १० ॥

भाष्यम्—एवमेवेति । एवमेव । अनेन प्रकारेणैव । उद्गातारं प्रति । स ऋषिरुवाच । हे उद्गातः । या देवता । उद्गीथम् । उद्गीथभक्तिं प्रति । अन्वायत्ता अनुगता । उद्गीथकर्मसम्बद्धेत्यर्थः । तां चेदविद्वान् । अजानन् । उद्गास्यसि । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

अनुवाद—(वे ऋषि) इसी प्रकार उद्गाता ऋत्विक् से बोले कि हे उद्गाता ! जो देवता उद्गीथ कर्म से सम्बन्ध रखती है उसे न जानता हुआ यदि तू (उद्गीथ कर्म का) उद्गान आरम्भ करेगा तो निश्चय तेरा शिर गिर पड़ेगा ॥ १० ॥

पदार्थः—(एवम्+एव) इसी प्रकार वे उषस्तिचाक्रायण ऋषि (उद्गातारम्) उद्गाता नाम ऋत्विक् से (उवाच) बोले कि (उद्गातः) हे उद्गाता (या देवता) जो देवता (उद्गीथम्) उद्गीथ भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत है अर्थात् उद्गीथ कर्म से सम्बन्ध रखती है (तां चेत्) यदि उसको (अजानन्) न जानता हुआ तू (उद्गास्यसि) उद्गान करेगा अर्थात् उस कर्म का आरम्भ करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) मस्तक (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्त्तारमुवाच प्रतिहर्त्तर्या देवता प्रतिहार-मन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि। मूर्द्धा ते विपतिष्य-तीति। ते ह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥ ११ ॥

एवम् । एव । प्रतिहर्त्तारम् । उवाच । प्रतिहर्त्तः । या । देवता । प्रतिहारम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेद् । अविद्वान् । प्रतिहरिष्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । ते । ह । समारताः । तूष्णीम् । आसाञ्चक्रिरे ॥ ११ ॥

भाष्यम्—एवमेवेति एवमेव पूर्वोक्तरीत्यैव प्रतिहारमुवाच । हे प्रतिहर्त्तः ऋत्विक् । या देवता । प्रतिहारं । प्रतिहारभक्तिं प्रति । अन्वायत्ता । ताञ्चेद्विद्वान् । अजानन् । प्रतिहरिष्यसि । प्रतिहर्तृकर्म करिष्यसि । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति । ततस्ते ह प्रसिद्धा राज-नियुक्ताः प्रस्तोत्रादय ऋत्विजः । तच्छ्रुत्वा । समारताः स्वस्वकर्मणः सकाशादुपरताः सन्तः । तूष्णीमासाञ्चक्रिरे । मूर्द्धपातभयात् सर्वऋत्विजस्तद्वचनं श्रुत्वा स्वं स्वं कर्म विहाय तूष्णीं बभूवुः ॥ ११ ॥

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १० ॥

अनुवाद—(वे ऋषि) इसी प्रकार प्रतिहर्त्ता नाम ऋत्विक् से बोले कि हे प्रति-हर्त्ता ! जो देवता प्रतिहार कर्म से सम्बन्ध रखती है उसे न जानता हुआ यदि तू प्रतिहार कर्म का आरम्भ करेगा तो तेरा शिर अवश्य गिरपड़ेगा । (ऋषि के इन वचनों को सुन-कर) वे प्रसिद्ध ऋत्विक् लोग अपने कर्म से विरत हो चुप होकर बैठगये ॥ ११ ॥

पदार्थः—(एवमेव) इसी प्रकार (प्रतिहर्त्तारम्) प्रतिहर्त्ता नाम ऋत्विक् से (उवाच) बोले कि (प्रतिहर्त्तः) हे प्रतिहर्त्ता ! (या देवता) जो देवता (प्रतिहारम्) प्रतिहारभक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत है (ताम् चेत्) यदि उस को (अविद्वान्) न जानता हुआ तू (प्रतिहरिष्यसि) प्रतिहार कर्म को करेगा तो (ते) तेरा (मूर्द्धा) मस्तक (विपातिष्यसि) गिरपड़ेगा (इति) (ते ह) वे प्रसिद्ध प्रस्तोता आदि ऋत्विक् ऋषि के वचन को सुनकर (समारताः) अपने अपने कर्म से निवृत्त होकर (तूष्णीमासा-ञ्चक्रिरे) चुपहो बैठगये ॥

इति दशमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १० ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं यजमान उवाच ॥ भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

अथ । ह । एनम् । यजमानः । उवाच । भगवन्तम् । वै । अहम् । विविदिषाणि । इति । उषस्तिः । अस्मि । चाक्रायणः । इति । ह । उवाच ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । असौ कोऽप्युग्रतपा विदितात्मा महर्षिर्दृश्यते । यस्य प्रश्नमसमादधतो मम सर्वऋत्विजः स्वकर्मविरतास्तब्धा इव लक्ष्यन्ते । इमं व्यापारमवलोक्य । अथ । अनन्तरम् । ऋत्विजां स्वस्वकर्म परित्यागानन्तरम् । यजमानो राजा । ह । एनम् । निकटस्थमुपस्थितमुपस्तिमुवाच । भगवन्तं पूजावन्तं भवन्तं । वै निश्चयेन । अहं विविदिषाणि वेदितुं ज्ञातुमिच्छानि इति । "रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छःसश्च" अ० १ । २ । ८ । इति कित्त्वान्नगुणः । एवं नृपेण पृष्टः । उपस्तिर्ह । उवाच यदहं चाक्रायण उषस्तिरस्मि । कदाचित् तवापि श्रोत्रपथं गतोऽस्मीति संभावयामि ॥ १ ॥

अनुवाद—अनन्तर वह प्रसिद्ध यजमान उस उषस्ति चाक्रायण से बोले कि हे भगवन् मैं आपको निश्चयरूप से जानना चाहता हूं । उषस्ति ने उत्तर दिया कि मैं प्रसिद्ध चक्रऋषि का पौत्र उषस्ति हूं ॥ १ ॥

पदार्थः—यह कोई उग्र तपस्वी ब्रह्मवित् ऋषि देख पड़ता है जिसके प्रश्न के उत्तर न देते हुए मेरे ये सब ऋत्विक् अपने कर्म से विरत होकर स्तब्ध से देख पड़ते हैं । इस व्यापार को देखकर (अथ) अनन्तर (यजमानः) यजमान राजाने (ह) निश्चय वा विस्पष्ट (एनम्) इस उषस्ति ऋषि से (उवाच) पूछा कि (भगवन्तम्) पूजनीय आपको (वै) निश्चयरूप से (विविदिषाणि) जानना चाहता हूं (इति) इस प्रकार राजा से पूछे हुए ऋषि उपस्ति (उवाच) बोले कि (ह) प्रसिद्ध (चाक्रायणः) चक्रऋषि का पौत्र (उपस्तिः) उषस्ति नामवाला (अस्मि) हूं । अर्थात् मैं चक्रऋषि का पौत्र हूं और उपस्ति मेरा नाम है । प्रायः आप भी मेरे पितामह का और मेरा नाम सुने होंगे (इसी अभिप्राय से यहां चाक्रायण पद आया है) ॥

स होवाच ॥ भगवन्तं वा अहमेभिःसर्वैरार्त्विज्यैः पर्य्यैषिषम् । भगवतो वा अहमवित्त्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥

सः । ह । उवाच । भगवन्तम् । वै । अहम् । एभिः । सर्वैः । आर्त्विज्यैः । पर्य्यैषिषम् । भगवतः । वै । अहम् । अवित्त्या । अन्यान् । अवृषि ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । अहो मम भाग्यम् "पूर्वमन्विष्टोऽपि यो न लब्धः । सम्प्रति स्वयमेव स ऋषिः समागत" इति विस्मितः सन् । स यजमानो राजोवाच । भगवन्तं । वै । पूजावन्तं भवन्तमेव । एभिः । एतैः । सर्वैः सम्पूर्णैः । आर्त्विज्यैः । ऋत्विक्कर्मभिः । एतत्सर्वकर्म्मानुष्ठानावेक्षणाय । पर्य्यैषिषं । पर्य्येषणमन्वेषणं कृतवानस्मि । मार्गयित्वा भगवतो वै । अवित्त्या । अलाभेन अन्यान् । अपरान् इमान् ऋत्विजः । अवृषि वृतवानस्मि । लुङ्रूपम् ॥ २ ॥

अनुवाद—वह प्रसिद्ध यजमान बोला कि हे भगवन् ! मैंने प्रथम आप को ही सकल ऋत्विक् कर्म के लिये अन्वेषण किया था परन्तु हे भगवन् ! आप के अलाभ से मैंने इन ऋत्विकों का वरण किया है ॥ २ ॥

पदार्थः—अहो क्या ही मेरा भाग्य है कि अन्वेषण करने पर भी जो नहीं मिले थे वे सम्प्रति स्वयमेव समागत हुए हैं । इस घटना से विस्मित होकर (स ह उवाच) वह राजा बोला कि (भगवन्तम्) पूजनीय आप को (वै) ही (एभिः) इन (सर्वैः) सम्पूर्ण (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्म्मों से अर्थात् इस सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्म के लिये (पर्य्यैषिषम्) मैंने अन्वेषण किया और आप का अन्वेषण कर के (भगवतः) आप के (वै) निश्चित (अवित्त्या) अलाभ से (अन्यान्) दूसरे इन ऋत्विकों को (अहम्) मैंने (अवृषि) वरण किया । अर्थात् आपको मैं बहुत दिनों से बहुगुणी जानता हूं और मैंने आप का अन्वेषण भी करवाया परन्तु मेरे अभाग्य के कारण आप न मिले अतः मैंने इन ऋत्विकों का वरण किया ॥ २ ॥

भगवांस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति । तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति । तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

भगवान् । तु । एव । मे । सर्वैः । आर्त्विज्यैः । इति । तथा । इति । अथ । तर्हि । एते । एव । समतिसृष्टाः । स्तुवताम् । यावत् । तु । एभ्यः । धनम् । दद्याः । तावत् । मम । दद्याः । इति । तथा । इति । ह । यजमानः । उवाच ॥ ३ ॥

भाष्यम्—भगवानिति । राजा कथयति । इदानीमपि तु । पुनर्भगवान् एव मे मम । सर्वैः । अखिलैः । आर्त्विज्यैः । ऋत्विक्कर्मभिः । ऋत्विक्कर्मसम्पादनार्थं । प्रधानाचार्य्योऽस्तु । इत्यध्याहार्यम् । इत्थं प्रार्थित उषस्तिस्तथेत्याह । किन्तु हे राजन् ! अथ । एवं तर्हि क्रियताम् । एते एव । त्वया पूर्वं वृता इमे ऋत्विज एव । समतिसृष्टाः । मया सम्यक् प्रसन्नेन मनसाऽनुज्ञाताः सन्तः । स्तुवताम् । मदर्थं त्वयात्वेतत्कार्यम् । एभ्यः ऋत्विग्भ्यो यावत् । यत् परिमाणं धनम् । दद्याः । दास्यसि । तावत् मम मह्यं दद्याः । इति । तथास्तु । इति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

अनुवाद—(राजा निवेदन करते हैं कि) हे भगवन् परमपूजनीय आप ही अब भी मेरे सकल ऋत्विग् कर्म के निरीक्षण के हेतु प्रधान आचार्य्य होवें । ऋषि ने एवमस्तु कह कर कहा कि "राजन् !" अब ऐसा करो कि ये ही ऋत्विग् लोग मुझ से आज्ञप्त होकर स्तुति करें, परन्तु इन को जितना धन दो उतना मुझे भी देना । यजमान ने तथास्तु कह कर स्वीकार किया । इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—राजा कहते हैं कि अब भी (तु) पुनः (भगवान्+एव) आप ही (मे) मेरे (सर्वैः) सम्पूर्ण (आर्त्विज्यैः) ऋत्विक् कर्म्म के सम्पादन के लिये प्रधान आचार्य्य * होवें । इस प्रकार प्रार्थित होने पर उषस्ति ने कहा कि (तथा इति) एवमस्तु । (अथ+तर्हि) परन्तु अब ऐसा करो कि (एते+एव) ये ही अर्थात् जिन को आप प्रथम ही वर चुके हैं (समतिसृष्टाः) प्रसन्नतापूर्वक मुझ से भी अनुज्ञप्त होकर (स्तुवताम्) स्तुति करें अर्थात् ऋत्विग् सम्बन्धी कर्म करें (तु) परन्तु अब आप को मेरे लिये ऐसा करना चाहिये कि (एभ्यः) इन को (यावत्) जितना (धनम्) धन (दद्याः) देवें (मम) मुझ को भी (तावत्) उतना धन देवें इति (तथा इति) एवमस्तु (यजमानो, ह, उवाच) उस प्रसिद्ध राजा ने स्वीकार किया ॥ ३ ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद । "प्रस्तोतर्यादेवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति" मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

अथ । ह । एनम् । प्रस्तोता । उपससाद । प्रस्तोतः । या । देवता । प्रस्तावम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । प्रस्तोष्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मा । भगवान् । अवोचत् । कतमा । सा । देवता । इति ॥ ४ ॥

* इतना अध्याहार करना चाहिये ।

भाष्यम्—अथेति । उषस्तिनृपयोरवसिते च सम्वादे । पृष्टानां प्रश्नानां समाधानाय जिज्ञासायै च । अथेत्याद्युपक्रम्यते । अथ सम्वादावसानानन्तरम् । ह ऐतिह्यार्थः । प्रस्तोता । ऋत्विक् (एनम्) उषस्तिम् । उपससाद । विनयेन उपस्तेः समीपमाजगाम । आगत्य पूर्वपृष्टं प्रश्नं स्मारयित्वोत्तरं पृच्छति । हे "प्रस्तोतः । या देवता प्रस्तावम् अन्वायत्ता ताञ्चेत् अविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते पतिष्यतीति" पूर्वमेवव्याख्यातम् । इत्येवम् । भगवान् । पूजावान् भवान् । मा मामवोचत् । अप्राक्षीत् । हे भगवन् ! सा कतमा देवता या प्रस्तावभक्तिमन्वायत्ता । तां कृपया शाधि । इति ॥ ४ ॥

अनुवाद—अनन्तर प्रस्तोता नाम ऋत्विक् विनयपूर्वक उन के निकट आये (और आकर बोले) कि हे भगवन् आप ने मुझ से पूछा था कि "हे प्रस्तोता जो देवता प्रस्ताव भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली है उसे न जानता हुआ यदि तू प्रस्ताव करेगा तो तेरा शिर गिर पड़ेगा" । हे भगवन् ! वह देवता कौन है ? ॥ ४ ॥

पदार्थः—उषस्ति और नृप के सम्वाद की समाप्ति होने पर पूछे हुए प्रश्नों के समाधान की जिज्ञासा के लिये अथेत्यादिका अब आरम्भ होता है (अथ ह) राजा तथा उषस्ति के भाषण के अनन्तर (प्रस्तोता) प्रस्तोता नाम ऋत्विक् (एनम्) इस उषस्ति ऋषि के (उपससाद) समीप, विनयपूर्वक आ बैठे और बैठकर पूछा कि (उपस्ति ने जिस प्रश्न को प्रथम पूछा था उसी प्रश्न के स्मरणार्थ यहां पुनः आवृत्ति करते हैं) (प्रस्तोतः) हे प्रस्तोता (या देवता) जो देवता (प्रस्तावम् अन्वायत्ता) प्रस्ताव भक्ति में अनुगत हैं अर्थात् प्रस्ताव भक्ति से सम्बन्ध रखती है (तां चेद् अविद्वान्) यदि उस को न जानता हुआ तू (प्रस्तोष्यसि) प्रस्ताव करेगा तो (ते मूर्द्धा पतिष्यतीति) तेरा मस्तक गिर जायगा । ऐसा (भगवान्) आप ने मुझको (अवोचत्) पूछा था । हे भगवन् (सा) वह (कतमा) कौन (देवता) देवता है (इति) अर्थात् आपने जो प्रथम पूछा था सो अब कृपाकर उस का उत्तर बतलावें कि प्रस्ताव भक्ति में कौन देवता अनुगत है ॥ ४ ॥

प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति । प्राणमभ्युज्जिहते । सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । ताञ्चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

प्राणः । इति । ह । उवाच । सर्वाणि । ह । वै । इमानि । भूतानि । प्राणम् । एव । अभिसंविशन्ति । प्राणम् । अभि । उज्जिहते । सा । एषा । देवता । प्रस्तावम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । प्रास्तोष्यः । मूर्द्धा । ते । व्यपतिष्यत् । तथा । उक्तस्य । मया । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—प्राण इति । उपस्तिरुत्तरति । प्राण इति । प्रस्तावस्य प्राण एव देवतास्ति । प्राणयति । जीवयति आनन्दयति सर्वान् जीवान् यः स प्राणो ब्रह्म । सम्पूर्णस्य यज्ञस्य ब्रह्मणि पर्य्यवसानात् । प्राणो ब्रह्मैव देवता । कथम् । सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि । समस्तानि दृश्यमानानि भूतजातानि । प्राणमेव । ब्रह्मैव । अभिसंविशन्ति प्रविशन्ति । हेति लोकवेदयोः प्रसिद्धम् । प्राणम् ब्रह्मैव अभ्युज्जिहते । उत्पत्तिकाले ब्रह्मैव लक्षयित्वा ब्रह्मणः सकाशादेव उद्गच्छन्ति । अतः सा परमप्रसिद्धा । एषा सर्वत्र वर्त्तमाना देवता प्रस्तावमन्वायत्ता । तांचेदविद्वान् । अजानन् । प्रास्तोष्यः । प्रस्तावं प्रस्तावभक्तिमकरिष्यः । तर्हि मया तथा पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तस्य कथितस्य निवारितस्य ते तव मूर्द्धा शिरो व्यपतिष्यत् । यदि मम वचनं नाकरिष्योऽवश्यमेव तव शिरो विपतितमभविष्यत् । त्वया साधु कृतं यन्मया निवारितः संस्त्वं कर्मण उपरममकार्षीरित्यर्थः ॥ ५ ॥

अनुवाद-(ऋषि ने उत्तर दिया कि) प्राण[1] अर्थात् प्रस्ताव का देवता प्राण है । क्योंकि समस्त ये दृश्यमान प्राणी प्राण में ही प्रविष्ट होते हैं और (उत्पत्ति काल में) प्राण से ही सम्पूर्ण उत्पन्न होते हैं । वही यह देवता प्रस्ताव सम्बन्धी है । उस को न जानता हुआ यदि तू मुझ से निवारित होने पर भी प्रस्ताव करता तो तेरा शिर अवश्य गिर जाता ॥ ५ ॥

पदार्थः-उषस्ति उत्तर देते हैं (प्राण इति) प्राण अर्थात् प्रस्ताव का देवता प्राण है । प्राण नाम यहां ब्रह्म का है । जो सम्पूर्ण प्राणी को जीवित आनन्दित करे उसे प्राण कहते हैं । सम्पूर्ण यज्ञ का पर्य्यवसान केवल ब्रह्म में ही है अतः सम्पूर्ण यज्ञ का देवता ब्रह्म है । क्योंकि (सर्वाणि वै) सब ही (इमानि भूतानि) ये प्राणी समूह (प्राणम् एव) ब्रह्म में ही (अभिसंविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ह) यह बात लोक वेद में प्रसिद्ध है और उत्पत्तिकाल में (प्राणम्) ब्रह्म को ही (अभि) लक्ष्य करके अर्थात् ब्रह्म की ही आज्ञानुकूल (उज्जिहते) उत्पन्न होते हैं (सा एषा देवता) वही यह परम प्रसिद्ध देवता (प्रस्तावम्) प्रस्ताव भक्ति में (अन्वायत्ता) अनुगत है (ताम् चेदविद्वान्) यदि

(१) ब्रह्म "अतएव प्राणः" वेदान्त० । १ । १ । २३ देखो ।

उस को न जानता हुआ तू (प्रास्तोष्यः) प्रस्ताव करता तो (मया) मुझ से (तथोक्तस्य) पूर्वोक्त रीति से निवारित अर्थात् मुझ से निवारित होने पर भी यदि तू प्रस्ताव करता तब (ते मूर्द्धा) तेरा शिर (व्यपतिष्यत्) गिर जाता। अर्थात् तूने बहुत अच्छा किया कि मेरे कहने पर अपने कर्म से उपरत हो गया अन्यथा तेरा शिर पतित हो जाता अर्थात् तेरा बड़ा अनिष्ट होता क्योंकि यज्ञ के तात्पर्य को न जानकर यज्ञ करवाना सर्वथा अनुचित है ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससादो "द्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता । ताञ्चेदविद्वानुद्गास्यसि । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति" मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

अथ । हैनम् । उद्गाता । उपससाद । उद्गातः । या । देवता । उद्गीथम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । उद्गास्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मा । भगवान् । अवोचत् । कतमा । सा । देवता । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अथेति । अत्र प्रस्तोतृवचनसमाप्त्यनन्तरमुद्गाता एवम् उपससाद । इत्यादि पूर्ववदनुसन्धेयम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—अनन्तर उद्गाता नाम ऋत्विक् उनके समीप विनयपूर्वक आ बैठे "और बोले कि" हे भगवन् ! आपने मुझ से पूछा था कि "हे उद्गाता ! जो देवता उद्गीथ भक्ति से सम्बन्ध रखती है उसे न जानता हुआ यदि तू उद्गीथ कर्म का आरम्भ करेगा तो तेरा अनिष्ट होगा" । हे भगवन् ! सो वह कौन देवता है ? इति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अथ ह) प्रस्तोता के वचन की समाप्ति के अनन्तर (उद्गाता) उद्गाता नाम ऋत्विक् (एतम्) इस उषस्ति के (उपससाद) समीप विनयपूर्वक आ बैठे और आकर जिज्ञासा की कि (उद्गातः) हे उद्गाता ऋत्विक् ! (या) जो (देवता) देवता (उद्गीथम्) उद्गीथ कर्म के सम्बन्ध में (अन्वायत्ता) अनुगत है (ताम्) उसको यदि (अविद्वान्) न जानता हुआ (उद्गास्यसि) तू उद्गान करेगा तब (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (विपतिष्यति) गिर पड़ेगा (इति) इस बात को (भगवान्) आपने (मा) मुझको (अवोचत्) पूछा था हे भगवन् ! (कतमा सा देवता इति) वह कौन देवता है ? । सो कृपाकर आप मुझे कहें इसका उत्तर आगे कहेंगे इति ॥ ६ ॥

आदित्य इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति । सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वानुदगास्यो मुर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥७॥

आदित्यः। इति। ह। उवाच। सर्वाणि। ह। वै। इमानि। भूतानि। आदित्यम्। उच्चैः। सन्तम्। गायन्ति। सा। एषा। देवता। उद्गीथम्। अन्वायत्ता। ताम्। चेत्। अविद्वान्। उदगास्यः। मूर्द्धा। ते। व्यपतिष्यत्। तथा। उक्तस्य। मया। इति॥ ७॥

भाष्यम्—आदित्य इति। हे उद्गातः। उद्गीथस्य आदित्यो देवतास्ति। आदित्यः कस्मात्। आसमन्ताद्द्योतते प्रकाशते इति आदित्यः। न विद्यते दितिः खण्डो यस्य सोऽदितिः। अखण्डः। अदितिरेव आदित्यः। अथवा। आदौ सृष्टेरारम्भे तनोति। सम्पूर्णा भूतमात्रा विस्तारयतीत्यादित्यः। यद्वा। आदत्ते गृह्णाति। अवसाने सम्पूर्णां सृष्टिं संहरति यः स आदित्यः। परमात्मा। अग्रे ब्रह्मलिङ्गवर्णनादादित्योऽत्र ब्रह्मैव गृह्यते। तथाहि सर्वाणि वै इमानि भूतानि समस्तानि दृश्यमानानि। भूतानि। प्राणिजातानि सन्तम्। सत्स्वरूपं। सदा सर्वत्र वर्त्तमानम्। आदित्यं सर्वप्रकाशकं ब्रह्मैव। उच्चैः। उच्चस्वरैर्गायन्ति। यद्वा। उच्चैः सन्तं=सर्वव्यापकमपि सर्वेभ्यो लोकेभ्य ऊर्द्धस्थितम्। अन्यत् पूर्ववत्। सा एषा देवता। एषा परमा प्रसिद्धा देवता। उद्गीथम्। अन्वायत्ता। ताञ्चेदविद्वान् उदगास्यः। उद्गानमकरिष्यः। तर्हि मया तथोक्तस्य मयानिवारितस्य। ते तव मूर्द्धा व्यपतिष्यत्। तव शिरो विपतितमभविष्यत्। साधुकृतं त्वया। मयानिवारितः सन् स्वकर्म विरतोऽभूः॥ ७॥

अनुवाद—(ऋषि उत्तर देते हैं कि) आदित्य (अर्थात् उद्गीथ भक्ति के देवता आदित्य हैं) क्योंकि सकल प्राणी निःसन्देह उसी सर्वत्र विद्यमान आदित्य को उच्च स्वर से गाते हैं, यह प्रसिद्ध है। वही यह प्रसिद्ध देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखती है। हे उद्गाता! उसे न जानता हुआ यदि तू मुझ से निवारित होने पर उद्गीथ का उद्गान करता तो तेरा शिर गिर पड़ता। इति॥ ७॥

पदार्थः—(आदित्य इति) हे उद्गाता! उद्गीथ का देवता आदित्य है। यहां आदित्य नाम परमात्मा का है क्योंकि १—आदित्य शब्द के अर्थ ये हैं—जो (आ)

सर्वत्र सब प्रकार से (द्योतते) प्रकाशित होता है अर्थात् जिस का प्रकाश सर्वत्र सदा होता है उसे आदित्य कहते हैं । अथवा २—आदित्य, अदिति शब्द से आदित्य बनता है अदिति में दो शब्द हैं । अ+दिति । अ=नहीं । दिति=खण्ड अर्थात् जिस का खण्ड नहीं है अर्थात् अखण्ड अविनश्वर । अदिति को ही आदित्य कहते हैं (स्वार्थ में प्रत्यय होने से) अथवा ३—आदि+त्य ये दो शब्द हैं । आदौ (तनोति) आदि=सृष्टि की आदि में । त्य=फैलना अर्थात् सृष्टि की आदि में जो सम्पूर्ण भूतमात्रा और परमाणुओं को विस्तार करता है अर्थात् परमाणुरूप से स्थूलरूप में सृष्टि को लाता है उसे आदित्य कहते हैं । अथवा ४—(आदत्ते) अन्त में जो सृष्टि को संहार करलेता है उसे आदित्य कहते हैं । इन सब अर्थों से ब्रह्म का ही बोध होता है । ५—और वक्ष्यमाण विशेषण से भी ज्ञात होता है कि आदित्य नाम ईश्वर का है । जो कोई कश्यप की स्त्री अदिति के पुत्र को आदित्य बतलाते हैं और आदित्य शब्द का अर्थ सूर्य्य लेते हैं वे भ्रान्त हैं । क्योंकि प्रथम तो सूर्य्य किसी व्यक्ति विशेष का पुत्र नहीं । और स्तुति वा गान ईश्वर का होता है न कि जड़ वस्तु का । उपनिषद् केवल ईश्वर की ही स्तुति करती है । वैदिक "अदिति" और "आदित्य" ये दोनों शब्द एक हैं और यह शब्द ईश्वर की अखण्डता अविनश्वरता अवधिरहितता आदि अर्थ प्रकाश करता है । परन्तु आज हम लोग इस शब्द के मुख्य तात्पर्य्य को भूलकर कश्यप की स्त्री वा सूर्य्य आदि अर्थ करते हैं । इस शब्द की विशेषता समीक्षा में देखो । आगे आदित्य का वर्णन करते हैं कि वह आदित्य कैसा है (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (वै) निश्चय (सन्तम्) सत्यस्वरूप सदा सर्वत्र विद्यमान (आदित्यम्) ब्रह्म को (उच्चैः) उच्चस्वरों से (गायन्ति) गाते हैं । यद्वा (उच्चैः सन्तम्) सर्वत्र व्यापक होने पर भी जो सकल दृश्य अदृश्य लोक समूहों से उच्च स्थित है । ईदृग् आदित्य को ही सब कोई गाते हैं (इति) (ह) यह बात प्रसिद्ध है अर्थात् प्राणीमात्र उस आदित्य का गान करते हैं यह विषय लोक और वेद में प्रसिद्ध है (सा एषा देवता) वह यह परम प्रसिद्ध देवता (उद्गीथमन्वायत्ता) उद्गीथ भक्ति में अनुगत है (ताम्+चेत्+अविद्वान्) यदि उस देवता को न जानता हुआ तू (उद्गास्यः) उद्गान करता तो (मया) मुझ से (तथोक्तस्य) पूर्वोक्त रीति से उक्त (ते) तेरा (मूर्द्धा) शिर (व्यपतिष्यत्) गिरजाता (इति) । अर्थात् मुझ से निवारित होने पर भी तू विना जानता हुआ यदि उद्गान करता तो तेरा शिर अवश्य गिर पड़ता । सो तुमने अच्छा किया कि अपने कर्म से विरत होगया ॥ ७ ॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद । "प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहार मन्वायत्ता । ताञ्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति" मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

अथ । ह । एनम् । प्रतिहर्ता । उपससाद । प्रतिहर्तः । या देवता । प्रतिहारम् । अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । प्रतिहरिष्यसि । मूर्द्धा । ते । विपतिष्यति । इति । मा । भगवान् । अवोचत् । कतमा । सा । देवता । इति ॥ ८ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथ ह एनमुपस्तिं प्रतिहर्त्ता उपससादेत्यादि पूर्ववत् सर्वम् ॥ ८ ॥

अनुवाद-अनन्तर प्रतिहर्त्ता नाम ऋत्विक् विनय पूर्वक इनके निकट आ बैठे और बोले कि हे भगवन् ! मुझ से आपने यह पूछा था कि "हे प्रतिहर्त्ता ! जो देवता प्रतिहार भक्ति से सम्बन्ध रखती है उसे न जानता हुआ यदि प्रतिहार कर्म करेगा तो तेरा शिर गिर पड़ेगा" । हे भगवन् ! वह कौन देवता है ? । इति ॥ ८ ॥

पदार्थः-(अथ ह) अनन्तर (प्रतिहर्त्ता) प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक् (एनम्) इस उषस्ति के (उपससाद) समीप, विनयपूर्वक आये और यह बोले "(प्रतिहर्तः) हे प्रतिहर्ता (या देवता) जो देवता (प्रतिहारम्) प्रतिहार भक्ति में अनुगत है (तां+चेत्+अविद्वान्) यदि उसे न जानता हुआ तू (प्रतिहरिष्यसि) प्रतिहाररूप कर्म को करेगा तो (मूर्द्धा+ते+विपतिष्यति+इति) तेरा शिर गिर जायगा" ऐसा (मा+भगवान्+अवोचत्) मुझ से आपने कहा था (कतमा+सा+देवता+इति) वह कौन देवता है सो आप कृपा कर कहें (इति) ॥ ८ ॥

अन्नमिति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति । सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता । ताञ्चेदविद्वान् प्रत्यहरिष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति । तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

अन्नम् । इति । ह । उवाच । सर्वाणि । ह । वै । इमानि । भूतानि । अन्नम् । एव । प्रतिहरमाणानि । जीवन्ति । सा । एषा । देवता । प्रतिहारम् ।

अन्वायत्ता । ताम् । चेत् । अविद्वान् । प्रत्यहरिष्यः । मूर्द्धा । ते । व्यपतिष्यत् । तथा । उक्तस्य । मया । इति । तथा । उक्तस्य । मया इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अन्नमिति होवाच । हे प्रतिहर्त्तः ! प्रतिहारस्य देवता । अन्नं खाद्यं वस्तु वर्त्तते । बहुलान्नलाभार्थं तत्र प्रतिहर्त्ता ब्रह्म प्रार्थयेदित्यर्थः । यतः । सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि । अन्नं खाद्यं पदार्थं । प्रतिहरमाणानि आददानानि सन्ति । जीवन्ति । सैषा देवता इत्यादियोजना सर्वा विस्पष्टार्था ॥ ६ ॥

इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ।

अनुवाद—(हे प्रतिहर्त्ता ! प्रतिहार का) अन्न देवता है क्योंकि ये सकल प्राणि अन्न को ही ग्रहण करते हुए जीवित हैं। वह यह देवता प्रतिहार भक्ति में अनुगत है उसे न जानता हुआ यदि प्रतिहार कर्म का अनुष्ठान करता तो तेरा शिर गिर पड़ता । सो तुम ने अच्छा किया कि मुझ से निवारित होने पर अपने कर्म से पृथक् होगया । अपने कर्म से पृथक् होगया ॥ ६ ॥

पदार्थः—अब तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं (अन्नम् इति ह उवाच) हे प्रतिहर्त्ता ! प्रतिहार का देवता अन्न है ऐसा उषस्ति ने कहा अर्थात् प्रभूत अन्न के लाभ के लिये प्रतिहर्त्ता ईश्वर की प्रार्थना करे । यही प्रतिहर्त्ता का मुख्य कर्त्तव्य है (सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि) सब ही ये प्राणी (अन्नम् एव) अन्न को ही (प्रतिहरमाणानि) ग्रहण करते हुए (जीवन्ति) जीते हैं (सैषा इत्यादि) वही प्रसिद्ध देवता प्रतिहार कर्म के लिये मुख्य है । उसे न जानता हुआ यदि तू प्रतिहार कर्म करता तो मुझ से यथोपदिष्ट तेरा शिर गिर पड़ता अर्थात् तूने अच्छा काम किया कि मेरे वचन को सुनकर अपने काम से निवृत्त हो गया ॥ ६ ॥

इत्येकादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ।

(१) आपने प्राण और आदित्य का अर्थ तो ब्रह्म किया, फिर यहां अन्न का अर्थ ब्रह्म क्यों नहीं ?, उत्तर—यहां योग्यता नहीं है । अर्थात् यहां ब्रह्म का लक्षण कोई नहीं है । उस में प्रविष्ट होना, उससे उत्पन्न होना और उसका गान करना इत्यादि लक्षण ब्रह्म के पूर्वोक्त में पाये जाते हैं अतः उन दोनों का अर्थ ब्रह्म किया । यहां सो नहीं है ॥

आपद्धर्मः ॥

अस्मिन्नौषस्त्येप्रकरणे निकृष्टस्योच्छिष्टभोजनं पर्य्युषितान्नाशनं दृश्यते । तेन किं सर्वैः सर्वदा तद्विधातव्यमित्युपदिशति । उतार्थान्तरं किञ्चित् । पुनरप्युद्गातृप्रभृतीनां स्वस्वध्येयदेवतानामज्ञातॄणां मूर्द्धविपतनाभिलापश्च श्रूयते । प्रागुपस्त्यागमनात्तददर्शनात् क्षुधार्ततया स्वार्थसाधनतत्पर ऋषिर्वितथमेवावोचदित्यनुमीयते । तथा च । अविद्वांसोऽपि कर्मण्यभिवर्त्तमानाः शनैश्शनैस्तज्ज्ञानसाधनानि संचिन्वानाः समये सम्यग्ज्ञानवन्तो भवन्ति । न हि केषाञ्चिदपि युगपदेव निखिलबोधागमः क्वचिद्दृश्यते । तत्किमाबोधोदयात् कर्मणि न केऽपि प्रवर्त्तेरन्नित्युपदिशति ? इत्थं स्यात्तर्ह्यचिरकृतोपनयनानां माणवकानामप्यज्ञानात्सन्ध्यामुपासीनानां मूर्द्धानो विपतेयुर्नाम । नच, आमन्त्रार्थसम्यग्ज्ञानात् सन्ध्यादौ माणवका न प्रवर्त्तयितव्या इतिवाच्यम् । उपनयनदिवसादेव वटुकेभ्यः सन्ध्योपासन कर्त्तव्यतास्ति । श्रुत्यनुशासनात् । इत्थं

इस औषस्त्य प्रकरण में देखते हैं कि उपस्ति चाक्रायण ऋषि ने हस्तिपक (महावत) के उच्छिष्ट और पर्य्युषित (वासी) अन्न का ग्रहण किया है । इस से यहां क्या शिक्षा मिलती है ? । क्या सबों को वह कार्य्य करना चाहिये । अथवा इससे कोई अन्य उपदेश दिया जाता है । और दूसरी शङ्का यह है कि स्व स्व ध्येय देवताओं के विषय में अज्ञानता के कारण उद्गातृ प्रभृतियों को मूर्धा का पतनरूप भय दिखलाया गया है । परन्तु उस ऋषि के आगमन के पूर्व मूर्धापतन का नाम भी नहीं सुना था । इससे तो यह मालूम पड़ता है कि क्षुधा से पीड़ित होने के कारण ऋत्विजों से भगवान् उपस्ति ने कदाचित् मिथ्या ही कहा हो और अविद्वान् लोग भी कर्म में वरतते और धीरे २ कर्म के तत्त्वज्ञान के साधनों को इकट्ठे करते हुए, समय पर, सम्यग् ज्ञानवान् होते हैं । किन्हीं को भी साथ ही बोधोदय कहीं नहीं देखा जाता । इस से क्या यह अभिप्राय है कि जब तक बोधोदय न हो तब तक कर्म में प्रवृत्त नहीं होने चाहिये । यदि ऐसा हो तो अचिर कृतोपनयन बालकों के भी, अज्ञानता के कारण से सन्ध्योपासन करते हुए, मूर्धा गिरजाने चाहिये । यदि ऐसा कहो कि जब तक बालकों को अर्थ ज्ञान नहीं तब तक कर्म में उन को प्रवृत्त नहीं करने चाहिये । परन्तु ऋषियों का अनुशासन है कि उपनयन के दिन से ही माणवक को सन्ध्या वन्दनादि आह्निक कर्म करने चाहिये । अब आप के कथनानुसार अज्ञानपूर्वक

तन्मूर्धविपतनदर्शनाभावान् मुनिवितथभाषणानुमानादुपनिषच्छिक्षायाअकिञ्चित्करत्वात् । कृत-मुपनिषद्विज्ञानेन ॥

इत्थं प्राप्ते ब्रूमोवयं । सर्वतः परिपतन्त्यामापत्तावुच्छिष्टपर्युषितान्नभोजनेऽपि दोषाभाव-मुपदिशन्तः सन्त्यनेके चिरन्तना इतिहासाः । धर्मार्थकाममोक्षाणामेतन्मानुषविग्रहेण संग्रहसंभ-वादातल्लाभात्तद्धारणस्यावश्यकतायां सिद्धायां सत्यामननुष्ठेयानुष्ठेयजिज्ञासायामाप्तानां श्रुति-तत्त्वनिष्णातानामाचरणमेव शरणम् । मनुरप्येतदनुमोदते ॥ यथाः—

१—जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिवपङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ म० १० ॥

भगवान् व्यासोऽप्येतदनुमोदमानः सन्निदं सूत्रं सूत्रयामास तद्यथाः—

सर्वान्नानुमतिश्चप्राणात्ययेतद्दर्शनात् । ३ । ४ । २८ ॥

प्राणानामत्यये विनाशे समुपस्थिते सति सर्वेषामधममध्यमोत्तमानां नराणां भक्ष्या-भक्ष्याणाम्वान्नानामनुमतिः आज्ञाभवति । यतः तस्या अनुमतेः श्रुतिस्मृतिषु दर्शनं दृश्यते ।

सन्ध्योपासन करते हुए माणवकों के मूर्धा गिरजायं । परन्तु उन के मूर्धा गिरते नहीं । इस हेतु विदित होता है कि मुनि का भाषण मिथ्या ही है । अतः उपनिषद् की शिक्षा अकिञ्चित् कर होने से उपनिषद् विज्ञान से क्या ? ।

ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं । चारों तरफ से आती हुई आपत्ति में उच्छिष्ट और पर्य्युषित अन्न के भोजन में दोषाभाव को दिखलाते हुए अनेक इतिहास हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पदार्थ इस मनुष्य शरीर से ही सिद्ध होते हैं अतः इस शरीर के धारण की आवश्यकता सिद्ध है । अब विचार यह रहा कि अननुष्ठेय और अनुष्ठेय क्या है ?, इस विषय में श्रुतितत्त्व-निष्णात—मुनियों के आचरण ही शरण हैं । मनु भगवान् कहते हैं कि (जीवि०) जो मरणापन्न मनुष्य, जहां तहां से अन्न खाता है वह पाप से लिप्त नहीं होता । जैसे आकाश पङ्क से लिप्त नहीं होता । १ । भगवान् व्यास ने भी इसी को अनुमोदन करते हुए इस सूत्र को रचा है (सर्वान्नानु०) (प्राणात्यये) प्राण के नाश उपस्थित होने पर (सर्वाऽन्नानुमतिः) सबों के अन्न की अनुमति—आज्ञा है । क्योंकि (तद्दर्शनात्) वैसा प्राचीन काल के ग्रन्थों में देखा जाता है । इस सूत्र के व्याख्यान करते

एतत्सूत्रं व्याचक्षाणौ श्रीमच्छंकररामानुजावुपस्तेरेवप्रवृत्तिमुदाजहतुः । पुनरपि मनुर्भगवानिमाञ्छ्लोकानैतिहासिकान्निर्दिशति । तद्यथा:-

२-अजीगर्तः सुतंहन्तु, मुपासर्पद् बुभुक्षितः ।
न चालिप्यतपापेन, क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥
३-श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं, धर्माऽधर्म-विचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं, वामदेवो न लिप्तवान् ॥
४-भरद्वाजः क्षुधार्त्तस्तु, सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह, वृबोस्तक्ष्णो महातपाः ॥
५-क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्, विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय, धर्माऽधर्मविचक्षणः ॥
मनु० ॥ १० । १०५--१०८ ॥

हुए श्रीमान् शङ्कराचार्य और रामानुज ने भी उपस्ति की ही प्रवृत्ति का उदाहरण दिया है । पुनरपि मनु भगवान् ने वक्ष्यमाण श्लोकों के द्वारा प्राचीन इतिहास इस सम्बन्ध में दिखलाया है, जैसे:-

(अजीगर्तः) अजीगर्त ऋषि बुभुक्षित (भूख से पीड़ित) हो अपने बालक को मारने के लिये दौड़े । परन्तु वे पाप से लिप्त नहीं हुए क्योंकि अति क्षुधा की निवृत्ति के लिये उस काम में वे प्रवृत्त हुए थे । २ । (श्वमांसम्०) धर्म अधर्म के निर्णय में परम विद्वान् वामदेव ऋषि (आर्तः) क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित हो प्राण की रक्षार्थ (श्वमांसम्) कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा करते हुए (न लिप्तवान्) आप से लिप्त नहीं हुए । ३ । (भरद्वाजः) महा तपस्वी भरद्वाज ने पुत्र सहित निर्जन वन में अत्यन्त क्षुधार्त हो वृबु नामक (तक्ष्णः) बढ़ई से बहुत गायें दान में लीं । परन्तु पाप से लिप्त नहीं हुए । प्रतिग्रह=दान लेना भी पाप है परन्तु आपत्ति में दान लेना पाप नहीं । ४ । (क्षुधार्तः) क्षुधा से आतुर हो (धर्माऽधर्मविचक्षणः) धर्माऽधर्म निर्णय में परम निपुण (विश्वामित्रः) महर्षि विश्वामित्र (चण्डालहस्तात्) चण्डाल के हाथ से (श्वजाघनीम्) कुत्ते की जांघ के मांस को (आदाय) लेकर (अत्तुम्) खाने के लिये (अभ्यागात्).

अजीगर्तादयो महर्षयोऽपि क्षुधार्त्ताः सन्तः सुतहननाद्यकर्मणि प्रवर्त्तमानादृश्यन्ते । अतः प्राणात्ययमापन्नो महर्षिश्चाक्रायणो हस्तिपकस्योच्छिष्टं भुञ्जानो न दोषाय कल्पते । अत उक्तम् ॥

न ह वा एवं विदि किञ्चनानन्नं ॥ छा० ५ । २ । १ ॥ न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतम् य एवमेतदन्नस्यान्नं वेद ॥ बृ० । ६ । १ । १४ ॥ सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ बृ० । २ । २ । १४ ॥

अयमभिप्रायः—यो वै तत्त्वविदन्नस्य तत्त्वं जानाति । तस्यकिमपि, अनन्नं न भवति । तस्य सर्वमन्नमेवभवतीत्यर्थः । ब्रह्मविदः पुरुषस्य न कदाप्यन्नस्य शुद्ध्यशुद्ध्योर्जिज्ञासा भवति । जडत्वादन्नेन पापं पुण्यं वा तिष्ठति । न च स्पर्शेन तदन्नं कदापि दूष्यते । परन्त्वेतस्य जिज्ञासाजायते । शुद्धेनपुरुषेण शुद्धेन जलेन शुद्धाभिः सामग्रीभिश्च प्रस्तुतमिदमन्नं न वेति । यत एतदुक्तम् ॥

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः । सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । छा० ७ । २६ । २ ॥

न कस्यामपि जातौ व्यक्तौ वा किन्तु शुद्धतायामेवाऽऽग्रहः । अतो महर्षिधर्माऽधर्म-

दौड़े परन्तु वे पाप से लिप्त नहीं हुए । ५ । अजीगर्त आदि महर्षि भी सुतहननादि अकर्म में प्रवर्त्तमान देखे जाते हैं । इस हेतु प्राण का नाश देख महर्षि चाक्रायण महावत के उच्छिष्ट को भोजन करते हुए दोषी नहीं होसकते । इसी हेतु कहा गया है (न ह वै०) जो मनुष्य अन्न के तत्त्व को जानते हैं उन के लिये कोई पदार्थ अनन्न नहीं होता अर्थात् ब्रह्मविद् पुरुष अन्न की शुद्धि अशुद्धि की जिज्ञासा नहीं करते । क्योंकि जड़ होने के कारण अन्न में न पाप न पुण्य रहता है । और अन्न, स्पर्श से कदापि दूषित नहीं होता है । परन्तु जिज्ञासा इस बात की होती है कि शुद्ध पुरुष, शुद्ध जल और शुद्ध सामग्रियों से यह अन्न प्रस्तुत हुआ या नहीं । जिस हेतु यह कहा गया है ।

(आहारशुद्धौ०) आहारकी शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि से ध्रुवास्मृति, ध्रुवास्मृति के लाभ से हृदयस्थ सब ग्रन्थियों का नाश होता है । किसी जाति वा व्यक्ति में नहीं किन्तु केवल शुद्धता ही में उन लोगों का आग्रह होता है

विचक्षणोयाज्ञवल्क्यो ब्रवीति । अस्य प्राणविदो ब्रह्मविदो नानन्नं जग्धं भवति । यस्मात्कस्माच्चिदपि पुरुषाद्यति सोऽनन्नंगृह्णीयात् तर्हि तस्य तदन्नमेव । नानन्नम् । न अनदनीयम् । किन्तु अदनीयमेव सर्वमित्यर्थः । अत उषस्तिर्ब्रह्मवित्ताद्दशमन्नमग्रहीत् ।

अत्र केचित् संशेरते । महर्षयोवाताशना अब्भक्षा निराहारा वर्षसहस्राणि स्थातुं शक्नुवन्तीति श्रूयते । तत्कथं नोस्तिर्वाताद्याहारेण निराहारेण वा दुर्भिक्षकालं क्षपयामासेति । अत्र ब्रूमः । नह्येष ऋषीणां सिद्धान्तः । न चोदाहरणमपीदृगाप्तग्रन्थेषु क्वाप्युपलभ्यते । उपनिषत्कारा भगवन्तो महर्षय एवं व्याचक्षते । तद्यथाः—

प्राणस्य का गतिरित्यन्नमितिहोवाच । छा० । १ । ८ । ४ ॥

शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात् । बृ० । ५ । १२ । १ ॥

अन्यच्च—**स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भोः । ऋचः सोम्य यजूंषि सामानीति । स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भोः । छा० । ६ । ७ ॥**

इसी हेतु धर्माऽधर्म विचक्षण महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (अस्य) इस ब्रह्मविद् पुरुष को (न ह वा) कदापि नहीं (अनन्नम्) अनन्न (जो अन्न नहीं है) (जग्धं भवति) खाया जाता है । अर्थात् जिस किसी पुरुष से वह ब्रह्मवित् अन्न ग्रहण करे तो उस के लिये अनन्न अर्थात् अखाद्य नहीं होता किन्तु खाद्य ही होता है । इसी हेतु उषस्ति चाक्रायण ने वैसे अन्न का ग्रहण किया ।

यहां कोई शङ्का करते हैं कि महर्षि लोग, पूर्व समय में, कोई वायु पीकर, कोई जल खाकर, कोई निराहार ही सहस्रों वर्ष तक रह सकते थे, ऐसा सुना जाता है । तब क्यों नहीं उषस्ति चाक्रायण ने वायु प्रभृति के आहार से वा निराहार ही उस दुर्भिक्ष काल की यापना की ?, इस शङ्का के उत्तर में कहा जाता है कि यह महर्षियों का सिद्धान्त नहीं और न उसका उदाहरण कहीं आप्त ग्रन्थों में मिलता है । प्रत्युत उपनिषद्कार परमपूजनीय महर्षि लोग यों कहते हैं। जैसे (प्राणस्य का गतिः) प्राण की गति क्या है ? अन्न। (शुष्यति०) अन्न के विना प्राण शुष्क होजाता है। और भी कहा गया है (स ह पञ्च०) अपने पिता की आज्ञा से, परीक्षार्थ, कुमार श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक अन्न का ग्रहण नहीं किया। परन्तु जल पीते रहे। अनन्तर अपने पिता के निकट आ के बोले कि भगवान् अब क्या आज्ञा होती है ? पिता ने कहा–हे पुत्र ! ऋग्, यजु, सामवेद कुछ सुनाओ ।

अन्यच्च—तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद् यद्युहजीवेद् । अथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवति । छा० ७ । ६ । १ ॥

इत्येवमादीनिप्रमाणानि "प्राणस्यान्नमेव गतिरस्तीति" ज्ञापयन्ति । सत्ययुगीनामहर्षयोपि दशरात्रोपवासेन यदा अद्रष्टारः, अश्रोतारः, अमन्तारः, अबोद्धारः, अकर्त्तारोऽभवन् । तर्ह्येदं-युगीनानां का कथा । एतेनेदमपिज्ञाप्यते । चतुर्ष्युयुगेष्वपि समानाव्यवस्थेति । अद्यापि विनान्नं कथंकथमपि दशाहं जीवति । न तस्मै किमपि प्रतिभाति। व्याधिना गृहीतोऽनशनो मासमपि जीवति । तथा च । मनुष्याणामायुरपि सहस्रं न भवति । "शतायुर्वै पुरुषः" । त्रीणि, पञ्च, शतानि वा पुरुषायुषं । सहस्रसंवत्सरवायुभक्षणादिकथा श्रुतिविरोधाद्धेया । इत्थं प्राणस्यान्नगति-रेव सिद्धयति । अतोऽन्नं प्रशंसन्ति भगवन्तो महर्षयः । तथाहि—

कुमार ने उत्तर दिया कि इस अवस्था में मुझे कुछ नहीं स्मरण होता है । पुनः पिता की आज्ञा से भोजन करने पर उनकी दशा पूर्ववत् हुई । और भी (तस्मात्०) यदि कोई मनुष्य, दश रात्रि तक, भोजन न करे तो वह मर जायगा। यदि जीता रहेगा तो (अद्रष्टा०) न किसी को देख, सुन और समझ सकता है । इत्यादि अनेक प्रमाण "प्राण की अन्न ही गति है" यह सूचित करते हैं । जब सत्ययुगीन महर्षि भी दश रात्रि के उपवास से अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता होते थे तो आज कल के मनुष्यों की कथा ही क्या । इससे यह भी विदित होता है कि चारों युगों की प्रायः समान ही व्यवस्था रहती है । आज भी किसी प्रकार अन्न के विना दश दिन मनुष्य जीता है परन्तु उसे कुछ मालूम नहीं होता। व्याधि से गृहीत होकर विना खाये हुए मास दिन भी मनुष्य जी सकता है। और मनुष्य की आयु भी सहस्र वर्ष की कदापि नहीं हो सकती । क्योंकि (शतायुर्वै पुरुषः०) पुरुष की आयु सौ ही वर्ष की होती है । बहुत से बहुत किसी विशेष विधि से चारसौ वर्ष तक आयु हो सकती है परन्तु वेद में बहुधा सौ वर्ष की आयु की चर्चा हैं । सहस्र वर्ष वायुभक्षणादिकों की कथा वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है । इस प्रकार प्राण का अन्न ही गति है यह सिद्ध हुआ । इसी हेतु अन्न की प्रशंसा महर्षि लोग करते हैं ।

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । अन्नाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते । तैत्तिरीये ॥

साक्षाच्छ्रुतिरप्यन्नं विशिनष्टि । तद्यथा:—

अहमस्मिप्रथमजा ऋतस्य । पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्यनाम । यो मा ददाति स इदेव माऽवत्, दहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥ सा० पू० प्र० ६ । अर्धप्र० ३ । सू० १० । मं० ९ ॥

अन्नाय प्रार्थनां स्वयं वेद उपदिशति-

य इमा विश्वा । विश्वकर्मा । यो नः पिता । अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि । यजु० ३४ । ५८ ॥

(अन्नं न०) अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिये । वह व्रत है (अन्नं न परि०) अन्न का त्याग नहीं करना चाहिये । वह व्रत है (अन्नं बहु०) अन्न बहुत करना चाहिये । वह व्रत है (अन्नद्धै) अन्न से ही प्रजाएं होती हैं ।

साक्षात् श्रुति भी अन्न की प्रशंसा करती है:—

अलङ्कार रूप से यहां वर्णन किया गया है । मानो स्वयं अन्न कहता है कि (पूर्वं देवेभ्यः) जीवात्मा सहित उन इन्द्रिय रूप देवों की सृष्टि के प्रथम ही (चक्षु, कर्ण, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के सहित प्राणका नाम देव है । जब तक विविध शरीरों में सकल इन्द्रियों के साथ यह जीवात्मा नहीं आया था उस के पहिले ही) (अमृतस्य) अविनश्वर (ऋतस्य) सत्यस्वरूप ब्रह्म का (प्रथमजाः) प्रथम पुत्र (अहं अस्मि) मैं हूं (नाम) यह बात प्रसिद्ध है । इस हेतु (यः) जो विवेकी पुरुष (मा) मुझ अन्न को (ददाति) देता है (स इद्+एव) वही विवेकी पुरुष (आवत्) प्राणिमात्र की रक्षा करता है । जो मनुष्य लोभयुक्त होकर समर्थ होने पर भी प्राणियों को अन्न नहीं देकर स्वयं ही उस अन्न को खाता रहता है उस (अन्नम्+अदन्तम्) लोभी अन्न के खाने वाले को (अहम्+अन्नम्) मैं अन्न (अद्मि) खा जाता हूं (यः) जो तू परमात्मा (इमा विश्वा) इस सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों की सृष्टि करने वाले हो । और (विश्वकर्मा) सर्वत्र जिस के कर्म प्रकट हैं । हे पिता ! (अन्नपते) हे अन्न का पालक ! (नः) हम लोगों को (अन्नस्य) अन्न (देहि) दो ।

ब्रह्माप्यन्ननाम्ना गीयते—

हा ३ वु हा ३ वु हा ३ व ॥ अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः । अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि । यो मा ददाति स इदेव मा३ऽऽवाः अहमन्नमन्न मदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्नज्योतीः । य एवं वेद । तैत्तिरीये भृगुवल्ल्याम् ॥ १० ॥

कहीं ब्रह्म भी अन्न नाम से गाया गया है ।

(हा वु ३) ईश्वर कहता है कि महा आश्चर्य की बात है । यद्यपि मैं सदा निरञ्जन अभोक्ता हूं । तथापि (अहम्+अन्नम् ३) मैं ही अन्न हूं । ३ । मेरा ही नाम अन्न है और (अहम्+अन्नादः ३) मैं ही अन्नाद (अन्नभोक्ता) हूं । ३ । और (अहम् श्लोककृत् ३) मैं ही अन्न और अन्न भोक्ताओं के समूह को उत्पन्न करने वाला हूं ३ (अहम्) मैं (प्रथमजाः) प्रथम प्रकाशक और जगत् को प्रथम प्रकाश में लाने वाला हूं (ऋतस्य) इस जगत् के (देवेभ्यः) सम्पूर्ण विद्वानों के लिये (अमृतस्य) अमृतत्व का (नाभिः) मध्य स्थान मैं ही हूं । अर्थात् सब प्राणियों का मोक्ष मेरे ही अधीन है (यः) जो कोई (मा) मुझ अन्न को (ददाति) देता है (स इदेव) वही ज्ञानी (मा) मुझ अन्न को (अवाः) रक्षा करता है । जो कोई मुझे देने में समर्थ होने पर भी वेदविद् पुरुष, याचक ब्रह्मचारी आदि को नहीं देता है उस (अन्नम्+अदन्तम्) अन्न खाते हुए पुरुष को (अद्मि) मैं खा जाता हूं (अहम्) मैं (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) जगत् का (अभ्यभवम्) अभिभव=विनाश करने वाला हूं मैं ही (सुवः=स्वः) स्वर्ग के आदित्य (न) समान (ज्योतीः) प्रकाश हूं ।

यद्यपि वेदोक्त (अहमस्मि०) यह मन्त्र इस उपनिषद् के प्रकरण में भी आया है । इस हेतु यहां पर भी अन्न का ही प्रकरण ग्रहण करना उचित था । तथापि यह ब्रह्म में भी लगाया गया है क्योंकि मन्त्र में कतिपय परिवर्त्तन कर के ऋषि ने उपनिषद् में

प्रथमप्रपाठकस्य द्वादशः खण्डः । चतुर्थप्रपाठकस्य च तृतीयः खण्डोऽपि द्रश्यताम् ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किन्नहतं रक्षता किन्नरक्षितम् ।

अत आपदि प्राणसंकटेचोच्छिष्टादिमीमांसा न विधेयेति मातृभूतोपनिषदुपदिशति । उषस्तेर्विभीषिकाप्रदानमनृतं स्वार्थपरकञ्चेति यच्छङ्कितं तदप्यसत् । साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयो भवन्ति स्वप्नेऽपि तेषां मनो न स्पृशत्यसत्यम् । एवमेवान्यत्राप्युक्तं तथाहि:—

यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति । मूर्धा ते विपतेदिति । अश्वपति रौपमन्यवं विभाययति तद्यथा मूर्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मां नाऽगमिष्यः । छा० ॥

उद्दालक आरुणिर्याज्ञवल्क्यं ब्रवीति—

रक्खा है । उस से यह प्रकरण ब्रह्म में संघटित हो जाता है । जैसे अन्न दान दिया जाता । तद्वत् ब्रह्म का भी दान होता है । अतः ब्रह्म ने अपने को अन्न कहा है । और सबों का वही संहारकर्त्ता है । अतः वह अन्नाद (अन्न भोक्ता) भी है ।

प्रथम प्रपाठक के द्वादशखण्ड और चतुर्थ प्रपाठक के तृतीयखण्ड को भी देखो (धर्मार्थकाम०) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थिति का हेतु प्राण ही है उन प्राणों के नाश करने वाले सबों को नाश करते हैं और रक्षा करने वाले सबों की रक्षा करते हैं । इस हेतु आपत्ति काल में जब प्राण का संकट उपस्थित हो । उच्छिष्टादि मीमांसा नहीं करनी चाहिये यह माता सदृशी उपनिषद् शिक्षा देती हैं ।

अब उषस्ति चाक्रायण की विभीषिका प्रदान मिथ्या है । और स्वार्थपरक है ऐसी जो शङ्का की है सो भी असत् है । क्योंकि साक्षात् कृतधर्मा महर्षि लोग होते हैं । स्वप्न में भी उनका मन असत्य को नहीं छूता है । देखो ऐसे वाक्य और कई जगह आये हैं । (यस्त्वेतर्हि०) अश्वपति औपमन्यव को भय दर्शाते हैं । जैसे (मूर्धा ते) मूर्धा आप का गिर पड़ता यदि मेरे निकट नहीं आते । उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य से कहते हैं (स्वं याज्ञवल्क्य०) हे याज्ञवल्क्य यदि तू उस सूत्र और उस अन्तर्यामी को न जानते

एवं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तञ्चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवी-रुदजसे । मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति । बृ० ॥

याज्ञवल्क्यो ब्रह्मवादिनीं गार्गीमाह—

सहोवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्माते मूर्द्धा व्यपतत् अनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि । बृ० ॥

इत्यादीनि भूयांसि महर्षिवचनानि मूर्धावपातत्रासञ्जनयन्तिविद्यन्ते । ज्ञानकोशो विवेकस्थानं सत्यासत्यनिर्णायकश्च मनुष्यस्य मूर्धास्ति । तेन मूर्ध्ना संवरीक्ष्य समालोच्य च । निर्धारितमेवब्रूयात् । अन्यथा । मूर्द्धायदिपाप्मना विद्धःस्यात् तर्हि देहे किमवशिष्टम् । ज्ञानस्थानमूर्द्धकलुषितत्वमेवावपतनम् । न वास्तवेन शिरसः कन्धराद् भूम्यवपातइष्यते । अतएव श्रुतिषु बहुषुस्थलेष्वलङ्कारेण दध्यङ्ङाथर्वणस्यशिरस इन्द्रेण विकर्त्तनमाम्नातं दृश्यते । इन्द्रेण निवारितोऽपि दध्यङ्ङाथर्वणोमहर्षिः परमकारुणिकोऽश्विभ्यां तद्विद्यामवोचत् । तेन स्वप्रतिज्ञाभङ्गेन मूर्ध्नः पाप्मविद्धीकृतत्वान् महर्षावपि महानीश्वर दण्ड आपतति किमु इतरेष्विति । तथा च—

हुए ब्राह्मणों की गायों को ले जाते हो तो तुम्हारा मूर्धा गिर पड़ेगा । याज्ञवल्क्य ब्रह्मवादिनी गार्गी से कहते हैं (स होवाच०) हे गार्गि ! ऐसा प्रश्न मत पूछ । ऐसा न हो कि तेरा शिर गिर पड़े । नहीं पूछने योग्य देवता के विषय में पूछती है । इत्यादि अनेक महर्षियों के वचन मूर्धावपात का डर दर्शाते हुए विद्यमान हैं । इस का भाव यह है कि यह मनुष्य का मूर्धा (शिर) ज्ञान का कोश, विवेक का स्थान, सत्याऽसत्य का निर्णायक है । उस मूर्धा से अच्छे प्रकार परीक्षा और विचार कर निर्धारित वस्तु को ही बोले । क्योंकि यदि मूर्धा पाप से स्पष्ट होगा तो धर्माधर्म का निर्णय भी नहीं हो सकता । तब फिर देह में क्या रहा । इस हेतु ज्ञान स्थान मूर्धा का कलुषित=दूषित हो जाना ही उस का गिरना है । वास्तविक ग्रीवा से मूर्धा का पृथ्वी पर गिरने का अभिप्राय यहां नहीं है । अतएव श्रुतियों के बहुस्थलों में अलङ्कार रूप से दध्यङ्ङाथर्वण के शिर का काटना इन्द्र के द्वारा कहा गया है । इन्द्र से निवारित होने पर भी दध्यङ्ङाथर्वण महर्षि परम कारुणिक हो दो राजाओं से विद्या का उपदेश किया । इस अपनी प्रतिज्ञा के भंग से अपने मूर्धा को पाप से विद्ध (ताड़ित) किया । इस हेतु उस महर्षि के ऊपर भी ईश्वरीय महान् दण्ड आ गिरा । और दूसरों की कथा ही क्या ?

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति । एष ह्येव कामागानस्येष्टे । य एवं विद्वान् साम गायति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति । एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं, यजमानं, सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति । तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत । नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥

इत्येवंविधां मुनिमर्यादां विद्याञ्च गोपितुं मुनिस्तथाब्रवीत् । तथाचोपस्तिना भगवतोच्छिष्टविषय एव दोषः प्रदर्शितः । नहि जातेर्वा व्यक्तेर्वाऽन्ने पक्काऽपक्के वा स्पृष्टाऽस्पृष्टे वाऽऽदरो दृश्यते । तेन पुरा स्पर्शदोषः पक्काऽपक्काऽन्नविचारो नासीदित्यपि शिक्षते । उच्छिष्टं तु न केनापि कस्मैचिदपि दातव्यम् । आपत्काल एव तस्य ग्रहणं ज्ञानिभिरेव विधातव्यम् । अबाधाच्च । वे० ३ । ४ । २९ ॥ अपि च स्मर्यते ३० ॥ शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥ इत्यादीन्यपि सूत्राणि तत्रद्रष्टव्यानीतिदिक् ॥

और (यदेव०) ज्ञान श्रद्धा और उपनिषद् शिक्षा द्वारा जिस कर्म को करते हैं वही वीर्यवत्तर होता है (एष हि०) वही मनोरथों को ब्रह्मज्ञान से पूर्ण कर सकता है। जो ऐसा जानता हुआ साम गाता है (भेषजकृतः) जहां ऐसा ब्रह्मा होता है वही यज्ञ, जैसे औषध, रुग्न पुरुषको अच्छा करती है तद्वत् यजमान को सब प्रकार से कल्याण साधक होता है (एवं विद्०) ऐसे ब्रह्म के जानने वाला ही ब्रह्मा, यज्ञ यजमान और अन्य ऋत्विजों की सब प्रकार से रक्षा करता है । इस हेतु एवंविद् पुरुष को ही ब्रह्मा बनावे । जो ऐसा नहीं जानता है उस को कदापि ब्रह्मा न बनावे । इत्यादि मुनि मर्यादा और विद्या की रक्षा के लिये ही ऋषि ने वैसा कहा था । वे ऋत्विज् लोग यज्ञ के तत्त्वों के विना जाने हुए, यज्ञ में प्रवृत्त हुए थे । यदि उन से कोई कहता कि "तुम ने बड़ा अनुचित काम किया" उस समय यदि वे कल्याणाभिलाषी होते तो अवश्य उन के शिर नीचे हो जाते क्योंकि अज्ञानियों के शिर अवश्य नीचे हो जाते हैं । इस हेतु महर्षि उषस्ति चाक्रायण का कथन बहुत ही ठीक है ।

अब विषय विचारणीय है कि भगवान् उषस्ति चाक्रायण ने उच्छिष्ट विषय में ही दोष प्रदर्शित किया है । जाति वा व्यक्ति वा पक्काऽपक्क अन्न वा स्पृष्टाऽस्पृष्ट में आग्रह नहीं देखते हैं । इससे पूर्व काल में स्पर्शाऽस्पर्श दोष पक्काऽपक्क अन्न का विचार नहीं था । यह भी शिक्षा इससे प्राप्त होती है कि कोई किसी को उच्छिष्ट न देवे । आपत्काल में ही उसका ग्रहण है । सो भी ज्ञानी के लिये ही । इति दिग् ।

अथ द्वादशः खण्डः ॥

अन्नानामलाभेनर्षेस्तत्त्वविदोऽपि महत्कष्टं प्रजायते । किमु इतरेषाम् । ऋषिरुषस्ति-श्चाक्रायणो हस्तिपकस्योच्छिष्टं पुनरप्युच्छिष्टोच्छिष्टं पर्य्युषितमन्नमपि प्राणरक्षार्थं जग्राहेति व्यतीते खण्डे वर्णितम् । अतोऽन्नलाभायापि तदेव ब्रह्म प्रार्थनीयम् । इममेवार्थमत्रालङ्कारेण बुभुक्षितानीन्द्रियाणि स्वपित्रे प्रजापतये जीवात्मनेऽन्नलाभार्थं निवेदयन्ति । ततो जीवात्मा स्वप्रयत्नेनान्नं तदर्थं साधयित्वा तेभ्यः प्रयच्छतीति ब्रूते । एतेन सर्वेऽन्नप्राप्त्यर्थं प्रयत्नवन्तो भवन्त्विति चाख्यायिकाव्याजेन दर्शयति ॥

अन्नों के अलाभ से तत्त्वविद् ऋषि को भी जब महाकष्ट कभी २ सम्प्राप्त होता है तो इतर मनुष्यों की कथा ही क्या ! क्योंकि ऋषि उषस्ति चाक्रायण ने हाथीवान् के उच्छिष्ट और पर्य्युषित अन्न का भी प्राण रक्षार्थ ग्रहण किया । इस आख्यायिका का व्यतीत खण्ड में वर्णन हो चुका है । अतः अन्नलाभ के लिये भी वही ब्रह्म प्रार्थनीय है । इस अर्थ को अलङ्कार के द्वारा कहते हैं । मानो बुभुक्षित इन्द्रिय स्व पिता प्रजापति जीवात्मा से अन्न लाभ के लिये निवेदन करते हैं । तब जीवात्मा स्व प्रयत्न से उन के लिये अन्न का साधन कर उन को देता है । "सब कोई अन्न प्राप्त्यर्थ प्रयत्नवान् होवें" इस विषय को भी आख्यायिका से दिखलाते हैं ॥

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बकोऽदाल्भ्योऽग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥ १ ॥

अथ । अतः । शौवः । उद्गीथः । तद् । ह । बकः । अदाल्भ्यः । अग्लावः । वा । मैत्रेयः । स्वाध्यायम् । उद्वव्राज ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथात इति । शुनां श्व-स्वभाववतामिन्द्रियाणां सम्बन्धी य उद्गीथः । अन्नलाभाय ब्रह्म-प्रार्थनारूपमुद्गानम् । स शौव उद्गीथः प्रारभ्यते । तत् तस्मिन् विषये हेदं प्रस्तूयते । किम् ? । बकः । वक्तीति बको वक्ता । उपलक्षणमेतत् । वक्ता श्रोता मन्ता द्रष्टेत्यादि विज्ञेयम् । यद्वा । यथा बकोनाम पक्षी श्वेतो भवति । तथैव श्वेतः शुद्धो जीवात्मा बकशब्देनोक्तः । किंभूतः सः । अदाल्भ्यः । दारयितुमशक्य इत्यदाल्भ्योऽदार्यो नित्य इत्यर्थः । पुनः । अग्लावः=अग्लानः । सदाहृष्ट आनन्दस्वरूप इत्यर्थः । वा

चार्थे । पुनः । मैत्रेयः सुहृद् । ईदृक् जीवात्मा । स्वाध्यायम् । स्वाध्यायोवेदः । ईश्वरो वा तमुपासितुम् । उद्वव्राज । उज्जगाम । सर्वाणीन्द्रियाणि संहृत्य स्वाध्यायं वेदमीश्वरम्वोपासितुं कामयाञ्चक्रे । किन्तु बुभुक्षितेन किमपि कर्तुं न शक्यत इत्यग्रे दर्शयिष्यति ताण्ड्यो महर्षिः ॥ १ ॥

अनुवाद—अब इस कारण शौव उद्गीथ आरम्भ होता है । उस विषय में यह प्रस्ताव होता है । अविनश्वर, सदा हृष्ट, सबों का सुहृद् वक्ता श्रोता द्रष्टा साक्षी आदि इस जीवात्मा ने स्वाध्याय करने की चेष्टा की ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर जिस कारण अन्न विना बड़ा कष्ट उत्पन्न होता है (अतः) इस हेतु (शौव उद्गीथः) प्राण सहित इन्द्रिय सम्बन्धी (उद्गीथः) उद्गान=ब्रह्मप्रार्थना, आख्यायिका के द्वारा आरम्भ करते हैं (तत्+ह) उस विषय में यह प्रस्ताव होता है (वकः) वक्ता (अदाल्भ्यः) अदार्य्य=नित्य (अग्लावः) ग्लानि रहित=सदा आनन्दस्वरूप (वा) और (मैत्रेयः) सबों का मित्र इस जीवात्मा ने (स्वाध्यायम्) वेद वा ईश्वर की उपासना के लिये (उद्वव्राज) चेष्टा की ॥ १ ॥

भाष्याशयः—(शौव) श्व=कुत्ता "श्व" से शौव बना है । इन्द्रिय सब कुत्ते के स्वभाव वाले प्रायः होते हैं अतः श्व शब्द से यहां इन्द्रिय कहे गये हैं । इन्द्रिय सम्बन्धी प्रार्थना का नाम यहां शौव उद्गीथ है (वक) वक्ता यह शब्द उपलक्षक है । अतः वक्ता, श्रोता, मन्ता, ज्ञाता आदिक भी इसके अर्थ होंगे (अदाल्भ्य) अदार्य्य जिसका दारण=विनाश न हो उसे अदाल्भ्य कहते हैं (अग्लाव) ग्लाव=ग्लानि दुःख उससे रहित (मैत्रेय) सब का सुहृद् । यहां चारों विशेषणों से आत्मा के सकल गुण दर्शाये गये हैं । समीक्षा को देखो ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवाना गायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

तस्मै । श्वा । श्वेतः । प्रादुर्बभूव । तम् । अन्ये । श्वानः । उपसमेत्य । ऊचुः । अन्नम् । नः । भगवान् । आगायतु । अशनायाम । वै । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्ः—तस्मा इति (तस्मै) पूर्वोक्ताय जीवात्मने निवेदयितुमित्यध्याहारः (श्वेतः) शुद्धो मुख्यः (श्वा) श्व स्वभावः प्राणः । मुख्यः प्राण इत्यर्थः । सोऽपहतपाप्मा शुद्धोऽस्तीत्यतः "श्वेत" इति विशेषणम् (प्रादुर्बभूव) प्रादुर्भूतः । मुख्यः प्राणः स्वस्वा-

(१) इस खण्ड के अन्त में समीक्षा देखो ॥

मिनः प्रयतमानस्य जीवात्मनः समीपमागत इव (तम्) मुख्यं प्राणम् (उपसमेत्य) उपसमागम्य (अन्येश्वानः) अन्यानि श्व–स्वभावानीन्द्रियाणि (ऊचुः) निवेदयामासुः (भगवान्) अस्माकं पूज्योभवान् (नः) अस्माकं निमित्ताय (अन्नम्) खाद्यंवस्तु (आगायतु) ब्रह्मगानेन सम्पादयतु । कथम् ? (वै) निश्चितम् (अशनायाम) अशितुमिच्छामः । वयं बुभुक्षिताः स्मः । अस्मदर्थमन्नं साधयतु भवान् । यतस्तवाधीना एव वयमिति भावः (इति) एवं विधाऽऽख्यायिका बहुपुस्थानेषूपलभ्यते "ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति । ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति । तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्ते ॥ वृ० १ । ३ । १८" अस्यार्थः—अत्रेन्द्रियसम्वादोऽस्ति । ते वागादयो देवाः स्वस्वविषयद्योतनाद्देवा "मुख्यं प्राणम्" अब्रुवन् कथयामासुः । हे प्राण ! एतावद्वै । नातोऽधिकम् । एतावदेवाऽन्नमस्मभ्यं निमित्तायत्वं सम्पादितवान् ? अस्मादधिकमन्नं कथं नास्मदर्थं सम्पादयसि । त्वं खलु स्वार्थी दृश्यसे। हे प्राण ! यदन्नं प्राणिभिरद्यते । तदिदं सर्वमन्नम् । आत्मने । आत्मार्थं स्वार्थमित्यर्थः । आगासीः । गानेन सम्पादितवानसि । अहो तवस्वार्थता ! वयं सम्प्रत्यन्नं विना स्थातुं न शक्नुमः । अतो हे प्राण ! अनुपश्चात् । अधुनापि । अस्मिन्नन्ने । यत्त्वयास्वार्थं सम्पादितमस्ति तस्मिन्नस्मिन्नन्ने । नोऽस्मान् आभजस्व । आभाजयस्व विभाजय । अर्थात् अस्मानपि अस्यान्नस्य भागिनः कुरु । इति प्रार्थितः मुख्यः प्राणो ब्रूते । हे सर्वे वागादयो मम सुहृदः ! । ते । ईदृशो बुभुक्षिता यूयं यदि स्थ तर्हि ते यूयं सर्वे वै । मा माम् । अभिसंविशत । समन्ततः मामभिमुख्येन प्रविशत । इत्थं कथितवति प्राणे । तथेति स्वीकृत्य ते वागादयो देवाः । तं मुख्यं प्राणम् । समन्तम् । समन्ततः । परिण्यविशन्त । परितो निश्चयेना विशन्त । ते प्राणं परिवेष्टय निविष्टवन्त इत्यर्थः । तस्माद्धेतोः अनेन मुख्येन प्राणेन द्वारभूतेन प्राणी । यदन्नमत्ति । तेनैव । एतावागादयो देवतास्तृप्यन्ति । अलङ्कारेणान्नस्य माहात्म्यं प्रदर्शितं भवति । अन्यच्च । "तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति । व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयोभविष्यतीति । अथ यदा सुवृष्टिर्भवति । आनन्दिनः प्राणा भवन्ति । अन्नं बहुभविष्यतीति" । छान्दोग्य० ७ । १० ॥ इत्थं बहुषु स्थलेष्वलङ्कारेणेन्द्रियाणामन्नाय याचना दृश्यते । अत इयमप्याख्यायिका तत्सम्बन्धिनी वर्तत इति विज्ञायते । प्राण शब्देनात्र मुख्यतया प्रयत्नोऽध्यवसायो व्यवसायः परिश्रम इत्येवंप्रकारकः पदार्थो गृह्यते । तेन परिश्रमेण सर्वाणि कार्याणि सम्पादयन्तः सर्वेन्द्रियाणि कार्योपयोगीनि बलवन्ति च विधाय परोपकारं कुर्वन्त्विति ताण्ड्यो महर्षिरुपदिशति ॥ २ ॥

अनुवाद–उस जीवात्मा के निकट श्वेत श्वा (मुख्य प्राण) मानो प्रादुर्भूत (उपस्थित) हुआ। उस के पीछे अन्य श्वान (वागादि इन्द्रिय) समीप में आकर उस (मुख्य प्राण) से बोले कि आप हम लोगों के अन्न के लिये ईश्वर से प्रार्थना करें। क्योंकि निश्चय, हम लोग बुभुक्षित हो रहे हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–(तस्मै) उस नित्य सदा आनन्दस्वरूप आत्मा से निवेदन करने के लिये (श्वेतः) शुद्ध (श्वा) मुख्य प्राण (जिस हेतु मुख्य प्राण को उपनिषद् अनेक स्थलों में शुद्ध अपहतपाप आदि विशेषण देती है अतः वह श्वेत कहा गया है) (प्रादुर्बभूव) उपस्थित हुआ (तम्) उस मुख्य प्राण से (अन्येश्वानः) अन्य वागादि, कुत्ते स्वभाव वाले इन्द्रिय (उपसमेत्य) समीप आकर (ऊचुः) बोले (भगवान्) हम लोगों के पूजनीय आप (नः) हम लोगों के लिये (अन्नम्) अन्न को (आगायतु) ब्रह्म प्रार्थना से सम्पादन करें। क्योंकि (वै) निश्चय (अशनायाम) हम लोग बुभुक्षित (भूखों मर रहे) हैं (इति) यह आप से प्रार्थना है। आप के ही अधीन हम लोग हैं ॥ २ ॥

भाष्याशयः–ऐसी आख्यायिका उपनिषदों के अनेक स्थलों में आई है। बृहदारण्यकोपनिषद् का एक उदाहरण दिया है उस का अर्थ। यह इन्द्रिय सम्वाद प्रकरण है (ते) वे वागादि (देवाः) इन्द्रिय (अपने २ विषय के प्रकाशक इन्द्रिय हैं, अतः वे देव कहलाते हैं) (अब्रुवन्) मुख्य प्राण से बोले हे प्राण! (एतावद्+वै) क्या इतना ही। अर्थात् हम लोगों के लिये क्या आपने इतना ही अन्न सम्पादन किया है। इस से अधिक अन्न क्यों नहीं हम लोगों के लिये सम्पादन करते हैं आप बड़े स्वार्थी विदित होते हैं। हे प्राण! (यद्+अन्नम्) जिस अन्न को सब प्राणी खाते हैं (तद्+इदम्+सर्वम्) उस सब अन्न का (आत्मने) अपने निमित्त (आगासीः) गान द्वारा सम्पादन करते हो। ऐसी आप की स्वार्थता है। सम्प्रति अन्न विना हम लोग नहीं ठहर सकते। अतः हे प्राण! (अस्मिन्+अन्ने) जिस अन्न को आपने अपने लिये रक्खा है उस अन्न में (नः) हम लोगों को (आभजस्व) भागवाले बनावें। अर्थात् इस अन्न में हम लोगों का भी भाग दीजिये। इस प्रकार प्रार्थित मुख्य प्राण कहता है कि हे मेरे सुहृद् वागादि देवता! यदि आप लोग भूखों मर रहे हैं तो (ते) वे आप लोग (वै) निश्चय (मा) मुझ में (अभिसंविशत) सब तरह से प्रवेश कर जायं। प्राण के ऐसा कहने पर (तथेति) एवमस्तु ऐसा कह वे वागादि देव (तम्) उस प्राण में (समन्तम्) सब प्रकार से (परि+

नि+अविशन्त) पैठ गये । (तस्माद्) इस हेतु प्राणी (अनेन) इस मुख्य प्राण के द्वारा (यद्+अद्दम्) जिस अन्न को (अत्ति) खाता है (तेन) उस से (एताः) ये वागादि देवता (तृप्यन्ते) तृप्त होते हैं ।

पुनः छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है (तस्माद्) इस हेतु जब सुवृष्टि नहीं होती तब (प्राणाः) प्राण सहित सब इन्द्रिय बहुत दुःखित हो जाते हैं कि अन्न किञ्चित् होगा (अथ यदा०) और जब सुवृष्टि होती है तो सब इन्द्रिय आनन्दित होते हैं कि अन्न बहुत होगा । इस प्रकार बहुत स्थलों में अलङ्कार के द्वारा अन्न के लिये इन्द्रियों की याचना देखी जाती है । अतः यह आख्यायिका भी तत्सम्बन्धी है यह विदित होता है । यह भी यहां जानना चाहिये कि प्राण से मुख्य तात्पर्य्य प्रयत्न, व्यवसाय, अध्यवसाय, परिश्रम आदि से है । जो परिश्रमी मनुष्य नहीं हैं उन के इन्द्रिय सदा दुर्बल रह कर किसी काम के नहीं होते हैं । इस हेतु मनुष्यों को बहुत परिश्रम करके अपने इन्द्रियों को सदा प्रबल रखने चाहिये । और उन प्रबल इन्द्रियों के द्वारा सदा जगत् का उपकार साधन करे । इस विषय का महर्षि ताण्ड्य उपदेश देते हैं ॥ २ ॥

तान् होवाचेहैवमाप्रातरुपसमीयातेति । तद्ध वको ऽदाल्भ्यो ऽग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ॥ ३ ॥

तान् । ह । उवाच । ह । एव । मा । प्रातः । उपसमीयात । इति । तद् । ह । वकः । अदाल्भ्यः । अग्लावः । वा । मैत्रेयः । प्रतिपालयाञ्चकार ॥ ३ ॥

भाष्यम्–तानिति । स श्वामुख्यः प्राण एवमुक्तस्तान् ह उवाच । इहैव । अस्मिन्नेव स्थाने । प्रातः । प्रातःकाले मा माम् । उपसमीयात । इति । यूयं सर्वे । उपसमागच्छत । अत्र दैर्घ्यमार्षम् । समीयातेति प्रमादपाठो वा । अर्थात् भवद्भिः सम्बोधितोऽहं युष्माकं बुभुक्षाजनितं दुःखं विदितवानस्मि । सम्प्रति तदर्थं यतिष्ये । किन्तु सद्यः कार्यं न सिद्ध्यति । अतो विलम्बेन मम समीपे पुनरागच्छन्तु भवन्तः । अवश्यं भवदर्थमन्नं सम्पादयिष्यामि । अत्र "प्रातरुपसमीयात" इति विलम्बतामेव सूचयति । नहि याथार्थ्येन प्रातःकाल अभीष्टः । अतःपरं जीवात्मनः साक्षित्वं दर्शयति । तद्+ह तत्र । वकः शुद्धो वक्ता द्रष्टा श्रोता इत्येवंविधः । अदाल्भ्यः । अदाभ्योऽविनाश्यः । पुनः । अग्लावः । ग्लावो दुःखम् । तद्रहितः । सदाऽऽनन्दीत्यर्थः । पुनः । मैत्रेयः सर्वेषां सुहृज्जीवात्मा । वा शब्दश्चार्थः । प्रतिपालयाञ्चकार । साक्षित्वेन प्राणसहितानामिन्द्रियाणां व्यापारं पश्यन् प्रतीक्षांचक्रे ॥ ३ ॥

अनुवाद-उनसे वह प्रधान प्राण बोला कि इसी स्थान पर प्रातःकाल मेरे समीप तुम लोग आओ, इति। वहां ही मानो वक्ता, अविनाश्य, आनन्दस्वरूप और सभों का सुहृद् जीवात्मा (इन्द्रियों के व्यापार को साक्षीरूप से देखता हुआ) प्रतीक्षा करने लगा ॥ ३ ॥

पदार्थः-(तान्) उन वागादि इन्द्रियों से (ह) निश्चय (उवाच) वह श्वेत शुद्ध मुख्य प्राण बोला कि (इह एव) यहां ही अर्थात् इसी स्थान पर (प्रातः) प्रातः-काल (मा) मेरे (उपसमीयात्) निकट आओ (इति) आगे आत्मा का केवल साक्षी-पन दर्शाया जाता है (तत्+ह) वहां ही (वकः) वक्ताः, श्रोता, मन्ता, बोद्धा इत्यादि गुणयुक्त (अदाल्भ्यः) अदार्य=अविनाश्य=अविनश्वर (अग्लावः) ग्लाव=दुःख। उस-से रहित (वा) और (मैत्रेयः) सभों का सुहृद् वह जीवात्मा (प्रतिपालयाञ्चकार) साक्षीरूप से मुख्य प्राण सहित सब इन्द्रियों के उस व्यापार को देखता हुआ राह देखने लगा कि देखें मेरे योग से ये वागादि इन्द्रिय क्या २ व्यापार करते हैं ॥ ३ ॥

प्रातःकाले सर्वे सम्मिलिताः सप्राणा वागादयोदेवाश्चेतनेन जीवात्मना वकादिनामधेयैर्व-र्णितेन लब्धचेतना इव यथेश्वरप्रार्थनामन्नार्थी कृतवन्तस्तद्दृष्टान्तेन दर्शयति।

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येव मासस्रृपुस्तेह समुपविश्य हिञ्चक्रुः ॥ ४ ॥

ते। ह। यथा। एव। इदम्। बहिष्पवमानेन। स्तोष्यमाणाः। संरब्धाः। सर्पन्ति। इति। एवम्। आसस्रृपुः। ते। ह। समुपविश्य। हिञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—ते हेति। यथैव येन प्रकारेण एव। इदं। कर्म्मानुष्ठीयमानम्। बहिष्प-वमानेन। बहिष्पवमानं नाम वैदिकस्तोत्रम्। तेन स्तोष्यमाणाः स्तुतिंकरिष्यमाणाः। उद्-गातृपुरुषाः। संरब्धाः अन्योऽन्यसंमिलिताः सन्तः सर्पन्ति स्थानात्स्थानं गच्छन्ति। एवम्। तथैव। तेपि पूर्वोक्ताः सप्राणा वागादयो देवाः। तत्रैव समागत्य। आसस्रृपुः। परस्परं संग-त्य मनसा एककालावच्छेदेन। ईश्वरं ध्यातुमारेभिरे। यद्वा। मुख्यप्राणेनसहान्नार्थं स्वस्वव्या-पारं कर्तुमासमन्तात् सर्वेमिलित्वा यत्नवन्तो बभूवुः। ते। एवम् आसृप्य स्वस्वव्यापारं कृत्वाऽ-न्नं सम्पाद्य परिश्रमेणागत्य ह तत्रैव। समुपविश्य हिञ्चक्रुः हिमितिपदं सामगा अन्ते प्रायो गानकाले उच्चारयन्ति। हिङ्कारविधिः सामगाने बहु प्रसिद्धोस्ति द्वितीये प्रपाठके द्रष्टव्यः।

अत्र हिमितिपदन्नुपलक्षणपरकन् । सामगातुम् आरेभिरे । अन्नलाभेन सन्तुष्टा भूत्वा प्रार्थनापरावभूवुरित्यर्थः । सन्ति त्रीणि तृचात्मकानि सूक्तान्याम्नातानि । तत्र "उपास्मै गायतानरः" इत्याद्यं सूक्तम् "दविद्युतत्याश्रुचा" इति द्वितीयम् । "पवमानस्य ते कवे" इति तृतीयम् । ज्योतिष्टोमस्य प्रातः सवनानुष्ठाने तेषु त्रिषु सूक्तेषु गायत्रं साम गातव्यं भवति । तदिदं सूक्तत्रयगानसाध्यं स्तोत्रं वहिष्पवमानमित्युच्यते । अत्रावस्थितानामृचां पवमानार्थत्वात् बहिः सम्बन्धाच्च । न खल्विदं स्तोत्रमितरस्तोत्रवत् सदोनामकस्य मण्डपस्य मध्ये प्रयुज्यते किन्तु सदसो बहिःसर्पद्भिर्ऋत्विग्भिः प्रयुज्यते । बृहदारण्यके १ । ३ । २८ ॥ पवमानशब्दो द्रष्टव्यम् । तत्र असतोमासद्गमय इत्याद्युदाहृतम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—जैसे इस यज्ञादि कर्म में वहिष्पवमान नामक स्तोत्र के द्वारा स्तुति करते हुए उद्गातादि ऋत्विक् परस्पर मिलकर (एक स्थान से दूसरे स्थान) जाते हैं वैसे ही वे प्राण सहित वागादि देव सब मिलकर अपने व्यापार में चले (प्रयत्न में अन्न के लिये तत्पर हुए) तत्पश्चात् बैठकर वे मानो सामगान करने लगे ॥ ४ ॥

पदार्थः—प्रातःकाल सब वागादि इन्द्रिय देव प्राण सहित मिलकर वकादि नामों से वर्णित जीवात्मा की संगति से मानो सचेत न हो जिस प्रकार ईश्वर प्रार्थना करने लगे। इसको दृष्टान्त सहित वर्णन करते हैं । (यथा एव) जिसी प्रकार (इदं) इस यज्ञादि कर्म में (वहिष्पवमानेन) वहिष्पवमान नामक स्तोत्र के द्वारा (स्तोष्यमाणाः) ब्रह्म की स्तुति करते हुए (ते ह) उद्गाता आदि ऋत्विक् (संरब्धाः) परस्पर संमिलित होकर (सर्पन्ति) चलते हैं अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं (एवम्) वैसे ही (ह) निश्चय (ते ह) वे प्राण सहित इन्द्रिय वहां (आससृपुः) मिलकर अपने व्यापार को मानो चले । अर्थात् सब मिलकर अन्न लाभ के लिये प्रयत्नवान् हुए, तत्पश्चात् मानो परिश्रम से अन्न को पा वहां ही आ (ते ह) वे मुख्य प्राण सहित श्व स्वभाव वाले इन्द्रिय (समुपविश्य) वहां ही बैठके (हिन्चक्रुः) अन्न के लाभ से सन्तुष्ट हो सामगान करने लगे । सामगान में एक हिङ्कारविधि होता है । द्वितीय प्रपाठक में देखो ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—वहिष्पवमान * नाम वैदिकस्तोत्र का है । ३ तृचात्मक (जिस में तीन ३ ऋचाएं हों वह तृच कहलाता है) सूक्त कहे गये हैं उन में । उपास्मै० ।

* बृहदारण्यक १ । ३ । २८ में पवमान शब्द को देखो ॥ वहिष्पवमान में "असतोमा सद्गमय" इत्यादि कहा है ।

साम० उ० १ । १ । १ ॥ यह प्रथम तृच है (दविद्युतत्या०) यह द्वितीय तृच है (पवमानस्य ते कवे) साम० उ० १ । १ । ३ ॥ इत्यादि तृतीय तृच है ज्योतिष्टोम नाम के यज्ञ में प्रातःसवन के अनुष्ठान के समय इन तीनों सूक्तों में गायत्रीछन्दोऽन्वित सामगान होता है । इन तीनों सूक्तों से बने हुए स्तोत्र का नाम बहिष्पवमान है बहिः+पवमान दो शब्दों से यह बना है । बहिः=बाहर । पवमान=पवित्र करने वाला यह स्तोत्र अन्यस्तोत्र सदृश मण्डप में नहीं पढ़ाजाता किंतु ऋत्विग् लोग मण्डप से बाहर निकलते हुए इनको पढ़ते हैं । अतः इसका नाम बहिष्पवमान हुआ है ॥ ४ ॥

ओ३मदा३मों३पिबा३मों३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता२-ऽन्नमिहा२हरदन्नपते ! ३ऽन्नमिहा२ऽऽहराऽऽहरो३मितिॐ ॥ ५ ॥

ओ३म् । अदाम । ओ३म् । पिबाम । ओ३म् । देवः । वरुणः । प्रजापतिः । सविता । अन्नम् । इह । आहरत् । अन्नपते । अन्नम् । इह । आहर । आहर । ओ३म् । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्-ओ३मिति । इन्द्रियाणांगानमाह । प्रार्थनापरकोऽयं मन्त्रः । ओम् शब्दस्याव्ययत्वात्सम्बोधनेऽपि समानंरूपम् । हे ओम् ! रक्षक ब्रह्मन् ! त्वत्कृपया । अदाम । अशनं करवाम । हे ओम् ! जगदीश्वर । त्वदनुग्रहेण पिबाम । पानंकरवाम । ओमिति स्वीकुर्मः । आद्यान्त्या वोङ्कारौ मङ्गलार्थौ । मध्यगौ सम्बोधनार्थौ यद्वा टेरोमादेशः । तदानैते सम्बोधनपदे । देवः । जगत्प्रकाशकः । वरुणः । वरणीयः । पूजनीयः । प्रजापतिः । प्रजापालकः । सविता जगत्प्रसविता । अन्नमिह अस्मभ्यमन्नमत्र । आहरत् । आहरतु । हे अन्नपते ! अन्नमिह आहर २ अवश्यमेवास्मभ्यमन्नं देहि । ओमिति अस्माकं शान्तिर्भवतुत्वां प्रार्थयामहे । द्विरुक्तिरादरार्था । इतिशब्द उपासनासमाप्त्यर्थः ॥ ५ ॥

इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ।

अनुवाद—हे ब्रह्म ! (आपकी कृपा से) हम लोग भोजन करें हे जगत्पालक ईश्वर ! आप के अनुग्रह से पान करें । यह हम लोगों की आशा पूर्ण हो । हे भगवन् ! आप देव, वरुण, प्रजापति और सविता हैं अन्न प्रदान करें । हे अन्नपते ! अन्न का दान दीजिये आप कृपया अवश्य ही अन्न प्रदान करें † ॥ ५ ॥

ॐ एकादशखण्डस्य समीक्षा दृश्यताम् ॥
† एकादश खण्ड की समीक्षा देखो ॥

पदार्थः—(ओम्) हे सर्वरक्षक ब्रह्म ! आपकी कृपा से (अदाम) हम लोग भोजन करें (ओम्) जगदीश्वर ! (पिबाम) आप के अनुग्रह से हम लोग पान करें (ओम्) हे भगवन् ! यह आशा हम लोगों की पूर्ण हो । आप (देवः) जगत्प्रकाशक (वरुणः) सबों के स्वीकरणीय (प्रजापतिः) प्रजाओं के अधिपति और (सविता) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जनक हैं (अन्नम्) अन्न (इह) हम लोगों के समीप (आहरत्) कृपया लाइए (अन्नपते !) हे अन्नपते ! (अन्नम्) अन्न (इह) यहां (आहर) कृपया हम लोगों को दीजिये (आहर) अवश्य ही दीजिये (ओम्) हम लोगों में शान्ति हो यह आप से प्रार्थना है ॥ ५ ॥

भाष्याशय–आद्य और अन्त्य ओङ्कार मङ्गलार्थ और मध्य के ओङ्कार सम्बोधनार्थ हैं यद्वा टि के स्थान में ओम् आदेश है ॥ ५ ॥

इति द्वादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

श्वान शब्द की समीक्षा ॥



श्वन् वा श्वान शब्द के ऊपर विशेष विचार करने की आवश्यकता इसलिये प्रतीत होती है कि लोक में पशुविशेष=कुत्ता (कुक्कुर) अर्थ में इसकी रूढिता और प्रसिद्धता विद्यमान है । परन्तु मैंने अपनी टीका में इसका अर्थ प्राण सहित इन्द्रिय किया है । अतः प्रथम इस शब्द के प्रयोग प्राचीन अनेक ग्रन्थों से दिखलाये जाते हैं ताकि लोगों को विदित हो कि किस अर्थ में और किस रूपक में इसके प्रयोग हुए हैं ।

"भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा च सप्तमः । आत्मनो सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात्" ॥ महा० महाप्रास्थानिक पर्व अ० १ ॥

महाराज युधिष्ठिर के महाप्रास्थानिक (मरणार्थ यात्रा) समय में केवल सात साथी थे । अपने सहित पांच भाई । छठी द्रौपदी और सातवां एक कुत्ता । आगे इसी पर्व के वर्णन में कहा गया है कि वह कुत्ता यथार्थ में धर्म था । हिमालय पर्वत के ऊपर

आरोहण के समय महाराज युधिष्ठिर के साथ से प्रथम पतिव्रता द्रौपदी तत्पश्चात् नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम एक २ करके क्रमश: नीचे गिरते गये केवल एक कुत्ता ही उनके साथ रहगया। यथा—"श्वाप्येकोऽनुययौयस्ते बहुश: कीर्त्तितोमया"। महाभारत महा० प्र० अ० २॥

एक कुत्ता ही उन के साथ गया जिसके विषय में मैंने बहुत कुछ कहा है।

युधिष्ठिर उवाच—अयंश्वाभूतभव्येशभक्तोमां नित्यमेवह।

स गच्छेत मया सार्द्धमानृशंस्या हि मे मति: ॥

आगे स्वर्ग के निकट पहुंचने पर इस कुत्ते के बारे में इन्द्र और युधिष्ठिर के मध्य जो संवाद हुआ है वह यह है। युधिष्ठिर कहते हैं कि हे भूत भव्येश इन्द्र यह श्वा (कुत्ता) मेरा सर्वदा भक्त बनारहा यह मेरे साथ ही स्वर्ग जायगा क्योंकि इस के ऊपर बहुत मेरी दया है।

शक्र उवाच—अमर्त्यत्वं मत्समत्वञ्च राजन् श्रियां च कृत्स्नां महतीञ्चैवसिद्धिम्।

सम्प्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वम् त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥

इन्द्र कहते हैं कि हे राजन्! आपने देवत्व, मत्समत्व, सम्पूर्ण लक्ष्मी, सिद्धि और आज स्वर्ग सुख पाये हैं। इस कुत्ते को छोड़ देवें। इस के ऊपर दया नहीं करनी चाहिये ऐसे अपवित्र, वान्ताशी, अस्पृश्य पशु को साथी साधुजन नहीं बनाते। इस प्रकार इन्द्र ने अनेक हेतु दिखलाते हुये कुत्ते के त्याग के के लिये कहा है। परन्तु युधिष्ठिर ने उसे नहीं त्यागा। अनन्तर—

"तद्धर्मराजस्य वचोनिशम्य, धर्मस्वरूपी भगवानुवाच"। इत्यादि ॥

धर्मराज के उस वचन को सुनकर धर्मरूपी वह कुत्ता बोला। इत्यादि प्रसंग महाप्रास्थानिक पर्व महाभारत देखो। यहां विस्पष्ट ही धर्म को कुत्ते के वेष में माना है। यह सम्पूर्ण वर्णन अलङ्कारिकमात्र है। धर्म को कुत्ते के वेष में इस कारण कवियों ने माना है कि इस लोक में प्राय: कुत्ते से बढ़कर स्वामिभक्त कोई भी पशु वा मनुष्य नहीं है। आमरणान्त स्वामी की सेवा कुत्ता जैसा कोई भी नहीं कर सकता वैसे ही धर्म भी सदा जीवात्मा की सेवा करने वाला है। सदा धर्मचारी स्वकर्मनिष्ठ जीवात्मा का त्याग कदापि भी धर्म नहीं करता। अत: इससे बढ़कर इस विषय में अन्य रूपकालङ्कार सर्वाङ्ग सम्पन्न नहीं हो सकता। अत: धर्म का रूपक श्वान समझा गया है। पुन: आदिपर्व तृतीयाध्याय महाभारत में यह एक प्रसङ्ग आया है। यथा:—

जनमेजय: पारीक्षित: सह भ्रातृभि: कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपास्ते। तस्य भ्रातरस्त्रय: श्रुत-

सेनः उग्रसेनः भीमसेनः इति । तेषु तत् सत्रमुपासीनेषु आगच्छत्सारमेयः । स जनमेजयस्य-भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् । तं माता रोरूयमाणमुवाच । किं रोदिषि केनास्यभिहत इति । एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच । जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति । तं माता प्रत्युवाच । व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति । स तां पुनरुवाच । नापराध्यामि किञ्चिन्नावेक्षे हवींषि नावलेहे इति ।

भाषा—महाराज परीक्षित के पुत्र जनमेजय नाम राजा अपने श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन तीनों भाइयों के साथ कुरुक्षेत्र में महायज्ञ कर रहे थे। यज्ञ में एक सारमेय (कुत्ता) आया । जनमेजय के भाइयों ने उस कुत्ते को मारा । वह रोता हुआ अपनी माता के निकट गया । रोते हुए उसे देख माता बोली कि तू क्यों रोता है ? किसने तुझे मारा है ?, उस कुत्ते ने अपनी माता से कहा कि जनमेजय के भाइयों ने मुझे मारा है । पुनः माता बोली कि निश्चय तुमने अपराध किया होगा जिससे मारखाया है । वह पुनः माता से बोला कि न तो मैंने अपराध किया, न कुछ देखा और न हविष्य वस्तुओं का अवलेहन किया है ।

अनन्तर यह कथा है कि वह सरमा देवशुनी पुत्र की व्यथा से दुःखित होकर जनमेजय के यज्ञ में पहुंच राजा से बोली कि हे राजन् ! आप के भाइयों ने विना अपराध मेरे पुत्र को क्यों मारा है। उन में से किसी का उत्तर न पाकर उस देवशुनी ने यह शाप दिया कि हे राजन् ! अनपराधी मेरे पुत्र को जिस कारण तेरे भाइयों ने मारा है । अतः तुम्हारे ऊपर कोई अदृष्ट भय आ गिरेगा ।

"जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं संभ्रान्तो विषण्णश्चासीत्" देवशुनी सरमा की इस वाणीको सुन कर राजा जनमेजय अत्यन्त भ्रान्त हो विषाद से भर गये" यह भी रूपक मात्र है । यहां वेद वाणी ही देवशुनी सरमा और धर्म सारमेय है । जिस कारण सरमा जो वेद वाणी उस से धर्म की उत्पत्ति हुई है । अतः सारमेय (सरमा का पुत्र) धर्म्म को कहते हैं । वेद वाणी को देवशुनी इस हेतु कहा है कि देव नाम ईश्वर उन की शुनी अर्थात् वाणी । क्योंकि "श्वयति गच्छति श्वास प्रश्वासवत् निःसरतीति श्वा । तस्य स्त्रीलिङ्गे शुनी" श्वास प्रश्वासवत् अनायास ईश्वर से विनिःसृत होने से श्वा नाम वेद का है । और श्वन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में शुनी बनता है । वाणी शब्द को स्त्रीलिङ्ग होने से श्वन् शब्द को स्त्रीलिङ्ग में शुनी व्यवहार किया गया है । सरमा शब्द का भी यही अर्थ है। "सरमा सरणात् निरुक्त" जो निःसृत हो उसे सरमा कहते हैं। और सरमा शब्द से ही "सरमाया

अयम्" सारमेय बनता है । भूल से यहां टीकाकारों ने सारमेय शब्द का अर्थ पशु विशेष अर्थात् कुत्ता किया है । जनमेजय के तीनों भाई यज्ञ के तत्त्वों को अच्छी तरह नहीं जानते थे । इन की अज्ञानता ही मानो यहां धर्म्मरूप श्वान का हनन करना है । धर्म की माता वेदवाणी ही देवशुनी । धर्महत होकर वेद वाणी के निकट जाता है । और धर्म के हनन करने वाला स्वयं हत होता है । "धर्म एव हतो हन्ति" मनु० । जिस कारण जनमेजयने अज्ञानतारूप दोष से धर्म का निर्णय नहीं किया अतः उनके ऊपर अदृष्टभय का आना बहुत ही ठीक है ।

सरमा—सरमा सरणात् तस्या एषा भवति । निरु० ११ । २५ ॥

इस निरुक्तवचन के ऊपर भाष्यकार दुर्गाचार्य लिखते हैं । यथा–"देवशुनीति ऐतिहासिक पक्षेण' माध्यमिकावाग् नैरुक्तपक्षेण । साकस्मात् सरणाद् गमनात् । तस्या एषा भवति" ।

ऐतिहासिक पक्ष में सरमा शब्दार्थ देवशुनी और नैरुक्त पक्ष में माध्यमिका वाणी । सब के मध्य में जो वर्त्तमान होवे (मध्ये भवो मध्यमः) वह मध्यम । अर्थात् सर्वव्यापक सब के बीच में वर्त्तमान ईश्वर तत्सम्बन्धी जो (वाग्) वाणी वह माध्यमिका वाणी कहलाती है, अर्थात् ईश्वर की वाणीरूप वेद । यह सिद्धान्त और मत निरुक्तकार लोगों का है । परन्तु दुर्गाचार्य माध्यमिका वाणी वा वाग् से तात्पर्य मेघगर्जन भी लेते हैं, परन्तु सो यहां संघटित नहीं हो सकता । अथवा हमें इस से कुछ प्रयोजन विशेष नहीं यहां पर इतना ही दिखलाना है कि सरमा वा श्वान के भिन्न २ क्या २ अर्थ होते हैं । इन के मत से इस शब्द के अर्थ माध्यमिका वाक् मेघगर्जन और देवशुनी हुए । दुर्गाचार्य की टीका के ऊपर ध्यान न दिया जाय किन्तु केवल निरुक्त के तात्पर्य को ही विचारें तो वहां पूर्वापर देखने से सरमा शब्द का अर्थ वेद वाणी प्रतीत होता है । महर्षि यास्काचार्य्य कहते हैं कि सरमा क्यों कहलाती है ? "सरणात्" गमन होने से अर्थात् वेद वाणी का ईश्वर के द्वारा श्वास प्रश्वासवत् सरण=गमन होने से, इस व्याख्यान से वेद वाणी प्रतीत होती है और उषा अर्थ भी द्योतित होता है । इस व्याख्यान के परे "पावकानः सरस्वती*" इस मन्त्र को उद्धृत करते हैं जो केवल वेदवाणी का ही वर्णन है । इस अध्याय में मध्यस्थानी स्त्रियों (शक्तियों) का वर्णन आरम्भ हुआ है विस्तारभय से उन सभों की समीक्षा नहीं करते हैं । पुनः आगे चल कर यास्कजी लिखते हैं कि "देवशुनी इन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूदे"

* ऋग्वेद मं० १ । सू० ३ । मंत्र १० ॥

निरुक्त ११ । २५ ॥ इन्द्र से प्रेषित देवशुनी पणि आदि असुरों के साथ वार्त्ता करने लगी। दुर्गाचार्य इस के ऊपर लिखते हैं । "देवपणयः किलासुरा देवगवीरपजह्रुः । तत किलेन्द्रस्त-दन्वेषणाय तदालयं सरमां प्राहिणोत्" अर्थ—देवपणि नाम के असुर लोग देवों की गायों को हरण कर लेगये । तब इन्द्र ने उन गायों के अन्वेषण के लिये उन असुरों के गृहपर सरमा को भेजा । इसी कथा को सायणाचार्य्यने अपने वेदभाष्य के अनेक स्थलों में दिया है । ऋग्वेद के मंडल १० सूक्त १०८ में सायण लिखते हैं कि:—

"ऐन्द्रपुरोहितस्य बृहस्पतेर्गोषु बलनाम्नोऽसुरस्यभटैः पणिनामकैरसुरैः अपहृत्य गुहायां निहितासु सतीषु बृहस्पतिप्रेरितेन इन्द्रेण एवमन्वेषणाय सरमानाम देवशुनी प्रेषिता सा च महतीं नदीमुत्तीर्य बलपुरं प्राप्य गुप्तस्थाने नीतास्ता गा ददर्श । अथ तस्मिन्नन्तरे पणय इमं वृत्तान्तमवगच्छन्त एनां मित्रीकर्तुं सम्बादमकुर्वन्" इति ।

जब इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति की गायों को बलनाम के असुरसैन्य पणिनाम वाले असुरों ने हरण करके किसी गुहा में छिपा दिया । तव बृहस्पति से प्रेरित इन्द्र ने गायों के अन्वेषण के लिये सरमा नाम देवशुनी को भेजा । उस देवशुनी ने महती नदी को पार उतर बलासुर के नगर में जा गुप्तस्थान में अवरुद्ध गायें देखीं । अनन्तर इस वृत्तान्त को जानते हुए पणिनाम वाले असुर लोग सरमा को मित्र बनाने के लिये सम्बाद करने लगे । ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १०८ के १, ३, ५, ७, ९ मन्त्र के ऋषि पणिनाम के असुर हैं । और २, ४, ६, ८, १०, ११ मन्त्र के ऋषि सरमा देवशुनी हैं और इस के देवता भी सरमा और पणि हैं "किमिच्छन्ती सरमा" यहां से लेकर "दूरमित पणयो वरीय" इस मन्त्र पर्य्यन्त ११ मन्त्र हैं । यहां सरमा शव्द बारम्बार प्रयुक्त हुआ है । * पुनः सायणः—

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु * ॥ ऋग्वेद मं० १ । सू० ६ । मं० ५ ॥

इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं, यथा—"अस्तिकिञ्चिदुपाख्यानम् पणिभिः देव-लोकाद् गावोऽपहृताः अन्धकारे प्रक्षिप्ताः । तांश्चेन्द्रो मरुद्भि सहाजयादिति ॥ पणिभि-

* सायण जी इन मन्त्रों का यथार्थ अर्थ नहीं कर सके ।

रसुरैर्निगूढाः गा अन्वेष्टुं सरमां देवशुनीम् इन्द्रेण प्रहिताम् असुरैभिः पणयो मित्रीयन्तः प्रोचुः" इत्यादि । अर्थ-इस विषय में किञ्चित् उपाख्यान है । देवलोक से देवगायें अपहरण करके पणिनाम वाले असुरों ने अन्धकार में रक्खीं, उनको मरुद्गणों के साथ इन्द्र ने विजय किया । पणिनाम असुरों से अपहृत गायों को अन्वेषण करने के लिये इन्द्र से प्रेषित देवशुनी सरमा से मैत्री करने की इच्छा करते हुए वे बोले इत्यादि । अनेक स्थलों में सायणने देवशुनी की चर्चा की है ।

इस पूर्वोक्त ऋग्वेदीय मन्त्र की टिप्पणी में श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त बंगलाभाषा में लिखते हैं, जिसका अनुवाद यह है—पणि नाम असुरों ने देवलोक से गायों को अपहरण कर के अन्धकार में रख दिया । इन्द्र ने मरुद्गण के साथ उन का उद्धार किया । गायों के अन्वेषण के लिये सरमा नाम्नी एक देवकुक्कुरी को नियुक्त किया था । एवं सरमा ने असुरों के साथ मैत्री करके गायों का अनुसन्धान किया । यूरोपीय पण्डित (Max Muller) मैक्सम्यूलर विवेचना करते हैं कि यह वैदिक उपाख्यान प्रातःकाल की प्रकृति सम्बन्धीय एक उपमामात्र है और देवगण की गोसमुदाय अर्थात् सूर्य्यरश्मि समुदाय है । अथवा वेही रश्मिरञ्जित मेघखण्ड जो अन्धकार द्वारा अपहृत हुए हैं । देवगण और मनुष्यगण उनके उद्धारार्थ व्यस्त होरहे हैं । अवशेष में उषा (प्रातःकाल) दिखलाई, वह उषा विद्युत्-गति से गन्ध पाकर जैसे कुक्कुरी जाती है तद्वत् इतस्ततः धावन करने लगी । वह (सरमा) अनुसन्धान करके लौट आई और आलोकदेव इन्द्र (सूर्य्य) प्रकाशित हो अन्धकार के साथ युद्ध करके एवं उनके दुर्ग से उन देवों की गायों के उद्धार करने के लिये प्रस्तुत हुए (Max Muller) मैक्सम्यूलर और भी विवेचना करते हैं कि ट्रय के युद्ध सम्बन्धी गल्प को लेकर चिरस्मरणीय कवि होमर ने ग्रीकभाषा में जो महाकाव्य लिखा है । सो गल्प केवल पणि और सरमा के गल्प के रूपान्तरमात्र है सरमा=हेलेना (Helena) विलू (पणिकादुर्ग) (Ilium) पणिस-Paris, वृषय-Brises, इत्यादि" ।

"The siege of Troy is but a repetition of the daily siege of the East, by the solar powers that every evening are robbed of their brightest treasures in the West."—*Science of Language* (1882), vol. II, pp. 513 to 516.

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं

सदन्ति ॥ ऋग्० मं० १० । सू० १४ । मं० १० ॥

यह मन्त्र अथर्ववेद अष्टादशकाण्ड द्वितीय अनुवाक में भी है किञ्चित् पाठ का व्यत्यय है । ईश्वर ने गुरु और शिष्य के कर्त्तव्य को इस मन्त्र के द्वारा उपदेश किया है ।

अर्थ—गुरु इस प्रकार शिष्य को उपदेश करता है कि हे शिष्य ! (सारमेयौ) वेद विहित (श्वानौ) कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड (उपासना भी कर्मकाण्ड के अन्तर्गत है) के (अतिद्रव) अतिशय समीप जाओ अर्थात् उन दोनों कर्मों का अनुष्ठान करो । वे दोनों कर्म कैसे हैं (चतुरक्षौ) जिनके चार साधन हैं । अथवा (अक्षिनाम नेत्र । अक्षि से अक्ष बनता है) ये चारों वेद जिनके नेत्रवत् हैं । पुनः कैसे हैं (शबलौ) स्वच्छ अर्थात् निर्दोष शुद्ध पवित्र (साधुना पथा) साधु मार्ग से अर्थात् गुरूपदिष्ट मार्ग से उसके निकट जाओ (अथ) और इस कार्य्य के लिये (सुविदत्रान्) परम विज्ञानी (पितॄन्) पिता आचार्य आदिकों के (उपेहि) समीप प्राप्त होओ (ये) जो (यमेन) ईश्वर के साथ (सधमादम्) योग होने के कारण परम आनन्द को (मदन्ति) भोग रहे हैं ॥

सायण का अर्थ—प्रेतः संबोध्यते । हे पितृलोकं गच्छन् प्रेत ! सारमेयौ सरमानाम देवशुनी तस्याः पुत्रौ । स्त्रीभ्योढक् । चतुरक्षौ चत्वारि अक्षीणि ययोः । एकैकस्य चतुरक्षत्वम् । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः इति षच् समासान्तः । शबलौ शबलवर्णौ । यद्वा नामधेयम् एतत् । श्यामशबल संज्ञकौ । शबलाविति द्विवचनेन श्यामोपि विवक्ष्यते । स्मर्यते हि । "श्वानौ द्वौ श्यामशबलौ वैवस्वत कुलोद्भवौ । ताभ्यां बलिं प्रदास्यामि स्यातां मे तावहिंसकौ ॥ इति तौ श्वानौ साधुना समीचीनेन ऋजुना पथा मार्गेण अतिद्रव अतीत्यगच्छ । अध अथ अनन्तरं सुविदत्रान् । विदत्र शब्दो धनवाची । सुधनान् शोभनहवीरूपान्नान् । यद्वा । वेत्तेः कत्रन् प्रत्ययः । ज्ञानवाची विदत्रशब्दः । संज्ञानान् पितॄन् अपेहि । अपशब्दः । उपोपसर्गस्यार्थे उपेहि । उपगच्छेत्यर्थः । यद्वा अपशब्दो वर्जनार्थः । अपवृज्य मार्गासीनौ श्वानौ वर्जयित्वा पितॄन् एहि गच्छ । एतेर्लोटिरूपम् । ये पूर्वजाः पितरो यमेन पितृराजेन सधमादम् सहमादनंतृप्तिर्यस्मिन् कर्मणि तत् सधमादं सह तृप्ति हर्षा वा यथा भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति तान् इहीति सम्बन्धः । सधमादस्थ योश्छन्दसि इति सहस्य सधादशः । माद्यतेर्णिजन्तो माद इति माद्यतेर्वा व्यत्ययेन घञ् ॥

(१) सायण का यह अर्थ भ्रममूलक और यथार्थ नहीं है ।

हे पितृलोक को जाननेवाले प्रेत ! सरमा नाम्नी देवशुनी के पुत्र, चार चार आंख वाले शबल नामधारी, उन दोनों कुत्तों को अतिक्रमण करके (अर्थात् उन दोनों कुत्तों से अलग होकर) सीधे मार्ग से जाओ । अनन्तर ज्ञानवान् वा धनाढ्य पितरों से जाकर मिलो । जो पितर यमराज के साथ आनन्द भोग रहे हैं । सायण यहां कहते हैं कि शबल पद से श्याम का भी ग्रहण करना चाहिये अन्य प्रमाण की सहायता से यथा–

"श्वानौ द्वौ श्यामशबलौ वैवस्वत कुलोद्भवौ । ताभ्यां बलिं प्रदास्यामि स्यातां मे तावहिंसकौ ।"

अर्थात् वैवस्वत कुलोद्भव श्याम और शबल नाम के दो कुत्ते हैं उनको मैं बलि दूंगा वे मेरे अहिंसक होवें शबल शब्द का शबलवर्ण भी अर्थ सायण ने किया है ।

आगे शिष्य के लिये ईश्वर से गुरु प्रार्थना करे इस का उपदेश देते हैं ।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ । ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्तिचास्मा अनमीवञ्च धेहि । ऋ० मं० १० सू० १४ मं० ११ ॥

(राजन्) हे विद्याबुद्धि प्रकाशकदेव ! (यम) हे मुक्ति सुख के देने वाले ब्रह्मन् ! जो (ते) तेरे (चतुरक्षौ) ऋग्, यजु, साम, अथर्वरूप चार साधन वाले (पथिरक्षी) तेरे मार्ग के रक्षा करने हारे (नृचक्षसौ) मनुष्य के सदुपदेशक (यमरक्षितारौ) जिस के आप ही रक्षा करने वाले हैं ऐसे (यौ) जो (श्वानौ) वेद विहित कर्म्म और ज्ञानकाण्डरूप साधन हैं (ताभ्याम्) उन दोनों कर्म और ज्ञानकाण्ड से (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (स्वस्ति) कल्याण (परिदेहि) देवें (च) और (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिये (च) अवश्य (अनमीवम्) नीरोगस्थान (धेहि) कृपया प्रदान करें । अर्थात् इस को सदा निरुपद्रव नीरोग और बलिष्ठ बनाये रक्खे । क्योंकि यह आप की वाणी की रक्षार्थ प्रस्तुत होता है । यह मन्त्र अथर्ववेद १८ काण्ड द्वितीय अनुवाक में १२ वां है किञ्चित्मात्र परिवर्तित है ।

सायण का अर्थ–यमरक्षितारौ यमो रक्षिता गोपायिता ययोः । ऋतश्छन्दसि कबभावः । अन्तोदात्तप्रकरणे "त्रिचक्रादीनाम् उपसंख्यानाम्" इति अन्तोदात्तत्वम् ।

(१) "यमः रक्षिता ययोस्तौ" बहुव्रीहिसमास । अथवा यम शब्द को सम्बोधन भी मान सकते हैं ।

यद्वा यमशब्देन तत्स्वामिकं पुरम् उच्यते । यमपुरस्य पालयितारौ । कृदुत्तरपदप्रकृति स्वरत्वेन अन्तोदात्तत्वम् । चतुरक्षौ व्याख्यातम् । पथिसदी पितृभिर्गन्तव्ये मार्गे सीदन्तौ । "छन्दसि वनसन रक्षिमथाम्" इति विहित इन् प्रत्ययः सदेरपि व्यत्ययेन भवति । नृचक्षसा नृचक्षसौ नृणां गन्तॄणां द्रष्टारौ हे राजन् पितॄणां स्वामिन् ते त्वदीयौ यौ श्वानौ वर्तेते ताभ्यां श्वभ्याम् एनम् अनवादिष्टं प्रेतं परिधेहि । परिदेहीत्यर्थः । रक्षणार्थं दानं परिदानम् इत्युच्यते । किञ्च अस्मै त्वदीयं लोकं गच्छते । स्वस्ति स्वस्तीत्यविनाशिनाम । अविनाशम् अनमीवम् अमीवो रोगः बाधा तद्रहितं स्थानं च धेहि विधेहि[1]" ॥

हे (राजन्) पितरों के स्वामिन् ! (यमरक्षितारौ) यम जिस के रक्षक हैं । यद्वा यमपुरी के रक्षा करने वाले (चतुरक्षौ) चार २ आंख वाले (पथिसदी) प्रतीक्षा करने वाले (नृचक्षसा) यमपुरी गमनकारी मनुष्य के देखने हारे (ते) तेरे (यौ श्वानौ) जो दो कुत्ते हैं (ताभ्याम्) उन दोनों कुत्तों से (एनम्) पूर्वोक्त प्रेत को (परिदेहि) रक्षा कीजिये और (अस्मै) तेरे गृह पर जाते हुए इस को (स्वस्ति) अविनाशी नामक (अनमीवम्) रोगरहित स्थान (धेहि) देवें ।

इन पूर्वोक्त मन्त्रों से विदित होता है कि श्वान वा सरमा शब्द ज्ञान और कर्मकाण्ड अर्थ में भी प्रयुक्त होता था इन मन्त्रों में ज्ञान और कर्मकाण्ड अर्थ करना ही समीचीन विदित होता है यदि यह कहा जाय कि वेदभाष्यकर्त्ता सायण ने तो श्वान शब्द का अर्थ लोकप्रसिद्ध कुत्ता ही किया है । पुनः आपके अर्थ कैसे माने जायं ?, प्रश्न ठीक है परन्तु हम पूछते हैं कि यम के द्वार पर वा मार्ग में बैठे हुए वे दो कुत्ते कौन हैं ? पुनः यम के दो ही कुत्ते क्यों माने जायं ? क्या यम सरीखे वे कुत्ते भी अजर अमर हैं ?, निस्सन्देह इत्यादि बातों पर ध्यान देने से यहां "श्वानौ" का कुत्ता अर्थ करना कदापि बुद्धिमान् के लिये ठीक नहीं । सायणाचार्य निस्सन्देह वेद के तत्त्वविद् नहीं थे पौराणिक प्रथा के अनुसार सायण ने अर्थ किया है अतः सायण का अर्थ उपेक्षणीय और त्याज्य है । कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में ब्रह्म के द्वारपाल की चर्चा आई है उसके देखने से विस्पष्ट हो जायगा कि यथार्थ में श्वान शब्द से क्या अभिप्राय लेना चाहिये । यथा— "इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ" कौ० ब्रा० उ० अध्याय १ । ३ ॥

यहां पर ब्रह्म के द्वारपाल इन्द्र और प्रजापति कहे गये हैं इन्द्र शब्द परमैश्वर्य्य वाचक और प्रजापति शब्द यज्ञ वाचक होता है । अतः परमैश्वर्य सम्पादक ज्ञानकाण्ड से तात्पर्य रखने वाला इन्द्र शब्द और कर्मकाण्ड सूचक प्रजापति शब्द है । ब्रह्म

(१) अथर्ववेद के पाठ के अनुसार सायण का अर्थ किया गया है ।

के द्वारपाल ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड ही हैं । अन्य कुत्ते आदि नहीं । अतः प्राचीन ग्रन्थों में सायण का अर्थ कहीं भी लक्षित नहीं होगा । वेदतात्पर्य के अधःपतन के समय यम एक क्रूर देवता और उसके दो कुत्ते पापियों को दण्ड देने वाले मानेगये । ईश्वर का नाम यम प्रसिद्ध है इसके द्वारपाल ज्ञान और कर्म्मकाण्ड हैं । पुराण की एक गाथा चली आती है कि विष्णु के द्वारपाल जय और विजय नामा दो पुरुष हैं । उसका भी यही अभिप्राय है कर्म्मकाण्ड के द्वारा विविध लोकों की प्राप्तिरूप और ज्ञान के द्वारा मुक्ति की प्राप्तिरूप महाविजय होता है । पुराण के समय में विष्णु को एक पृथक् देव मानकर उनके ये दो द्वारपाल माने गये हैं ।

इस प्रकार प्राचीन वैदिक शब्द के तत्त्वानुसन्धान करने से गूढार्थ को हम लोग समीचीनतया जान सकते हैं । जो शब्द वेद में उत्कृष्टार्थ देनेवाले थे वे बहुकालानन्तर निकृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगे और तदनुकूल नाना उपाख्यान और इतिहास भी बनगये जो श्वान शब्द ज्ञान और कर्मकाण्ड वाची था वह समयानन्तर पशु कुत्ता माना गया । और यम का द्वारपाल बन गया । पश्चात् उन दोनों कुत्तों के सन्तोषार्थ उनके उद्देश्य से बलिदान भी लोग करने लगे । और यथार्थरूप से समझने लगे कि यम के मार्ग में निश्चय दो कुक्कुर बैठे रहते हैं। जो पापियों को काट खाया करते हैं। भिन्न २ प्रकार से उसको वर्णन करते हुए वैदिक तत्त्वानभिज्ञों ने इस को इतना बढ़ाया है कि एक बृहत् ग्रन्थाकार संगृहीत हो सकता है । एवमस्तु । अब विचारवान् पुरुष विचार सकते हैं कि प्रकृत उपनिषद् में श्वान पद का अर्थ क्या है । शङ्कराचार्य्य का मत इस पर इस प्रकार है:-"स्वाध्यायेन तोषिता देवता ऋषिर्वा श्वरूपं गृहीत्वा श्वा श्वेतः सन् तस्मै ऋषये प्रादुर्बभूव" अर्थ-स्वाध्याय से तोषित देवता वा ऋषि, श्वेत कुत्ते का रूप धारण कर, ऋषि के अनुग्रहार्थ वहां आविर्भूत हुआ । पुनः शङ्कराचार्य इसी प्रकरण में लिखते हैं:—

"मुख्यप्राणवागादयो वा प्राणमन्वन्नभुजः ।
स्वाध्यायपरितोषिताः सन्तः अनुगृह्णीयुरेनं श्वरूपमादायेति"

प्राण के पीछे अन्न के भोजन करने वाले वाग् आदि इन्द्रिय स्वाध्याय से तोषित होकर "इस के ऊपर अनुग्रह करना चाहिये" इस हेतु श्वान के रूप को धारण कर वहां आये । इन दोनों कथन से शङ्कराचार्य्य के तीन अर्थ निकलते हैं । सन्तुष्ट होकर देवता वा अन्य ऋषि वा मुख्य प्राण वाणी आदि कुत्ते के रूप बनाकर दाल्भ्य ऋषि के अनुग्रहार्थ वहां आये । इस की टिप्पणी में आनन्दगिरि कहते हैं ।

"श्वेतश्वा कश्चिद् ऋषिर्देवता वा । अन्ये च श्वानो देवता ऋषयो वा" । श्वेत श्वा नाम कोई ऋषि वा देवता था और अन्य श्वान के भी अर्थ देवताएं वा ऋषि हैं । आनन्दगिरि का भाव यह प्रकट होता है कि श्वेत श्वा कोई ऋषि वा देवता था । और उस के पीछे और भी ऋषि वा देवता आये । परन्तु यहां यह भाव विदित होता है कि मैत्रेय ऋषि अधिष्ठाता साक्षी जीवात्मा है । श्वेत श्वा मुख्य प्राण है । और "अन्ये श्वानः" दूसरे श्वान यहां इन्द्रिय वृत्तियां हैं । मैत्रेय जो आत्मा सो साक्षीमात्र है उस के निकट श्वेतश्वा=मुख्य प्राण प्रकट होता है । उस आत्मा को प्राण के द्वारा मन सहित इन्द्रिय वृत्तियां भोजन आदि व्यवहार के लिये आकुल व्याकुल करती हैं। यद्यपि आत्मा उन्हें पृथक् करना चाहता है तथापि वे आत्मा को नहीं त्यागती हैं । पश्चात् ईश्वर प्रार्थना और परिश्रम द्वारा अन्न का सम्पादन कर वे सब सन्तुष्ट होते हैं ।

अथ त्रयोदशः खण्डः ।

अयं वाव लोको हा उकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथ-कार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

अयम् । वाव । लोकः । हाउकारः वायुः । हाइकारः । चन्द्रमाः । अथ-कारः । आत्मा । इहकारः । अग्निः । ईकारः ॥ १ ॥

भाष्यम्—अयमिति । सामवेदसम्बन्धिनो हाउकारादिस्तोभा रथन्तरे प्रसिद्धाः । ते च निरर्थका एव उत सार्थका अपि ? एवं किंविषयपरकाश्चेति निर्धारयितुं खण्डः प्रारभ्यते उद्गीथावयवात्तेषां नाति प्रसङ्गः शङ्कनीयः । अयं वाव अयमेव । लोको हाउकारः । हाउ-कारनामा स्तोभो लोकमिमसुद्दिश्य गीयते । पार्थिवान्गुणान् प्रकटयितुमित्यर्थः । वावशब्द एवार्थः । वायुः । वायुसम्बन्धि सर्वः पदार्थः । हाइकारः । वायु गुणान् उद्दिश्य हाइकारो-गीयते । चन्द्रमा अथकारः । चन्द्रमसोगुणानुद्दिश्य । अथकारः । आत्मा इहकारः । प्रत्यक्षो-ह्यात्मा । इहशब्देव व्यपदिश्यते अग्निरीकारः । आग्नेयान् गुणान् उद्दिश्य ईकारोगीयते । तत्तत् शब्दैस्तत्तत्पदार्थो वेदितव्या इत्युपदिश्यते ॥ १ ॥

अनुवाद–पार्थिव गुण विज्ञानार्थ हाउकार, वायव्यगुणों के उद्देश से हाइकार, चान्द्रमस गुण के उद्देश से अथकार, आत्मोद्देश से इहकार और आग्नेय पदार्थोद्देश से ईकार गाया जाता है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अयम्) यह (वाव) ही (लोकः) पृथिवी लोक (हाउकारः) हाउकार नाम का स्तोभ है अर्थात् पार्थिव गुणों के जानने के लिये हाउकार शब्द गाया जाता है (वायुः) वायु सम्बन्धी गुणों के उद्देश से (हाइकारः) हाइकार शब्द का गान होता है इसी प्रकार (चन्द्रमाअथकारः) चन्द्रमा के गुणों के उद्देश से अथकार (आत्मा इहकारः) आत्मोद्देश से इहकार और (अग्निः) आग्नेय गुणों के उद्देश से (ईकारः) ईकार शब्द का गान होता ॥ १ ॥

आदित्य ऊकारो निहवएकारो विश्वेदेवा औहो इकारः प्रजापतिर्हिङ्कारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

आदित्यः । ऊकारः । निहवः । एकारः । विश्वेदेवाः । औहोइकारः । प्रजापतिः । हिङ्कारः । प्राणः । स्वरः । अन्नम् । या । वाग् । विराट् ॥ २ ॥

भाष्यम्–आदित्य इति । आदित्यः । ऊकारः । आदित्यान् द्युलोकसम्बन्धिनो गुणानुद्दिश्य ऊनामास्तोभो गीयते । निहवः एकारः । निहव आह्वानम् । आवाहनम् । यद्वा । निहूयते आहूयते अनेनेतिनिहवः । आवाहनार्थः । आवाहनमुद्दिश्यएकारशब्दः । विश्वेदेवा औहोइकारः । विश्वेदेवानुद्दिश्य औहोइनामास्तोभः । प्रजापतिः हिंकारः । प्रजापतिः यज्ञः । प्रजापतिं यज्ञमुद्दिश्य हिंनामास्तोभः । प्राणः स्वरः । प्राणो ब्रह्म । शरीरान्तः संचारी वायुर्वा प्राणः । तमुद्दिश्यस्वरनामा स्तोभः । अन्नमुद्दिश्य यानामास्तोभः । वाग् विराट् । विराट् वाग् इतिव्यत्ययः । विराट् । विराजतेप्रकाशतेसर्वत्रेतिविराट् । इहदृश्यमानं सम्पूर्णं ब्रह्माण्डं विराट्शब्देनाभिधीयते । वाङ् नामास्तोभो विराजमुद्दिश्य गीयते ॥ २ ॥

अनुवाद—द्युलोकस्थ गुणप्रकाशार्थ ऊकार, आवाहनार्थ एकार, विश्वेदेव गुणप्रकाशार्थ औहोइकार, यज्ञगुणप्रकाशार्थ हिंकार, प्राणगुणप्रकाशार्थ स्वर, अन्नार्थ यानामस्तोभ और सम्पूर्ण जगत् के उद्देश से वाग् नाम स्तोभ का गान होता है ॥ २ ॥

पदार्थः–"आदित्यः ऊकारः" द्युलोकस्थ सकल पदार्थ का नाम यहां आदित्य है । उन के गुणों के प्रकाश के हेतु ऊ नामा स्तोभ (निहव एकारः) आवाहनार्थ एनामा स्तोभ (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण अनुक्त देवों के गुणों के प्रकाशार्थ (औहोइकारः) औहोइनाम

स्तोभ (प्रजापतिः) यज्ञगुणप्रकाशार्थ (हिंकारः) हिंनामास्तोभ (प्राणः) प्राण निमित्त (स्वरः) स्वर नाम स्तोभ (अन्नम्) अन्न प्राप्त्यर्थ (या) या नामास्तोभ । और (विराट्) सम्पूर्ण जगत् के गुण वा कल्याण के लिये (वाग्) वाग् नाम स्तोभ इन सबों के गान होते हैं ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुङ्कारः ॥ ३ ॥

अनिरुक्तः । त्रयोदशः । स्तोभः । संचरः । हुङ्कारः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—संचरः । संचरति । सम्यक् सर्वत्र गच्छति । सर्वान् स्तोभान् प्राप्नोति यः स संचरः । त्रयोदशः स्तोभः । हाउकारादिसंख्यायां त्रयोदशः । त्रयोदशसंख्यकः । हुंकारो हुंनामस्तोभः । अनिरुक्तः । कारणात्म ब्रह्म । अव्यक्तत्वाद् निर्वक्तुं व्याख्यातुं यन्न शक्यते । तदनिरुक्तं ब्रह्म । एतादृशमनिरुक्तं ब्रह्म उद्दिश्य त्रयोदशः स्तोभः=हुंनामा गीयत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवाद—सबों के साथ योग करने वाला हुंकारनामा त्रयोदशस्तोभ, अनिरुक्त कारणात्मा ब्रह्म के उद्देश से गाया जाता है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अनिरुक्तः) अनिर्वचनीय "वह ऐसा ही है" ईदृग् सीमा जिस के लिये नहीं हो सकती । यहां अनिरुक्त पद से कारणात्मा ब्रह्म का ग्रहण है उस के उद्देश से (त्रयोदशः) तेरहवां (संचरः) सब अन्यस्तोभ से सम्बन्ध रखने वाला (हुङ्कारः) हुंकारनामा (स्तोभः) सामगान विशेष गाया जाता है ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति । य एतामेवꣳ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥ ४ ॥

दुग्धे । अस्मै । वाग् । दोहम् । यः । वाचः । दोहः । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । यः । एताम् । एवम् । साम्नाम् । उपनिषदम् । वेद । उपनिषदम् । वेद । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—दुग्धइति । वाग् वाणी । अस्मै स्तोभाक्षराणां विज्ञात्रे । दोहम् दुग्धम् । दुग्धे स्वमात्मानमेवदुग्धे । कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । यः वाचो दोहोस्ति । अत्र न गोदुग्धम् । वाणीरूपाया धेनोर्दुग्धम् । वचनमिति यावत् । सह वाग्विद् अन्नवान् । प्रचुरान्नसम्पन्नः । अन्नादः नीरोगतया अन्नभोक्ता च भवति । यः साम्नां सामगानानाम् । एताम् । इमां पूर्वोक्ताम् ।

उपनिषदं । तत्त्वं एवम् वेद जानाति । द्विरुक्तिः । अध्यायसमाप्त्यर्थाः सामावयवविषयोपासनाविशेषपरिसमाप्त्यर्थं इति शब्दः ।

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ।
श्रीमत् काव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये
प्रथमप्रपाठकस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ।

अनुवाद–इसके लिये स्वयं वाणी अपने को दूध दुहती है जो वाणी का दूध है । और वह अन्नवान् और अन्नाशी होता है जो सामगान के इस तत्त्व को ऐसा जानता है, जो इस तत्त्व को अच्छी तरह जानता है ॥ ४ ॥

पदार्थः–(वाग्) वाणी (अस्मै) स्तोभाक्षर के तत्त्ववित् साधक के लिये (दोहम्) दुग्ध को (दुग्धे) स्वयं दुहती है (यः) जो (वाचः) वाणी का (दोहः) दूध है अर्थात् वाणी स्वयं अपने आत्मा से वाणीरूप दूध को दुहकर उस साधक को देती है । वह साधक (अन्नवान्) प्रचुरधनशाली और (अन्नादः) नीरोगिता से बहुन्नाशी (भवति) होता है (यः) जो ब्रह्मविद् (साम्नाम्) सामवेद सम्बन्धी (एताम्) इस (उपनिषदम्) तत्त्व को (वेद) जानता है (उपनिषदम् वेद इति) जो तत्त्व को अच्छी तरह जानता है ॥ ४ ॥

समीक्षा–इस खण्ड में हाउकार (१) हाइकार (२) अथकार (३) इहकार (४) ईकार (५) ऊकार (६) एकार (७) औहोइकार (८) हिंकार (९) स्वर (१०) याकार (११) वाग् (१२) और हुंकार (१३) इन तेरह स्तोभों की चर्चा आई है । पृथिवी प्रभृति पदार्थों को जानते हुए अन्त में वही अनिरुक्त जिज्ञासनीय है और सम्पूर्ण गान का तात्पर्य भी उसी से है । यह अन्तिम शिक्षा इस प्रपाठक की है ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ।
इति श्रीमत् काव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्म कृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये
प्रथमप्रपाठकस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ।

ओं तत्सत्

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

भूमिका ।



सामवेद गान के लिये ही प्रसिद्ध है । वेदविहित गानमात्र का नाम साम है । गायत्रसाम, रथन्तरसाम, वामदेव्यसाम, बृहत्साम, वैरूपसाम, वैराजसाम, शक्करीसाम, रेवतीसाम, यज्ञायज्ञिय और राजनसाम ये सब सामगान के अनेक भेद हैं जिनका वर्णन इस में भी आया है । इन सब के नाम वेद में भी पाये जाते हैं । ब्राह्मण श्रौतसूत्र आदि विशेषरूप से इन सबों का व्याख्यान करते हैं ।

प्रत्येक सामगान में पांच वा सात विभाग होते हैं । उस को संस्कृत में भक्ति वा विभक्ति वा भाग कहते हैं । उन भागों के नाम ये हैं । हिङ्कार १, प्रस्ताव २, उद्गीथ ३, प्रतिहार ४ और निधन ५ इनमें आदि और उपद्रव संयुक्त करने से सात विभक्तिएं होती हैं । इस हेतु किन्हीं के मत से सामगान पाञ्चभक्तिक और किन्हीं के साप्तभक्तिक हैं इन दोनों पाञ्चभक्तिक और साप्तभक्तिक का व्याख्यान इस द्वितीय प्रपाठक में आया है।

उद्गीथः-इन सातों विभागों में उद्गीथ बहुत प्रसिद्ध है । जिसका वर्णन पूर्व प्रपाठक में विस्तारपूर्वक आचुका है । उद्गीथ उन सात विभक्तियों में से एक है । परन्तु छन्दोग (सामवेदी) लोग ब्रह्म को भी उद्गीथ नाम से पुकारते हैं । ऋग्वेदी लोग जैसे ओङ्कार प्रणव आदि नाम ब्रह्म के कहते हैं वैसे ही सामवेदी लोग ब्रह्म को उद्गीथ नाम से पुकारते हैं । जैसा कि इसी में कहा गया है । "य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः" छा० १ । ५ । १ ॥ जो उद्गीथ है वह प्रणव जो प्रणव है वह उद्गीथ । पुनः उद्गीथ नाम ब्रह्म का इसलिये है कि "उत्" नाम ब्रह्म का है क्योंकि यह सब में व्याप्त होने पर भी सब से पृथक् है क्योंकि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस के अल्पावयव समान है । वह ब्रह्म अपने ही महिमा में प्रतिष्ठित है । पुनः वह सब में उत्तम है । और सामवेदी लोग वीणा आदि वादित्रों में उसी को उच्च स्वर से गाते हैं । इत्यादि कारणों से ब्रह्म

का नाम "उत्" है। वेद में भी इसी हेतु "उत्+शिष्ट" नाम रक्खा है। वह ब्रह्म "उत्" से अर्थात् "उत्" शब्द के सर्वोर्द्ध पुरुषोत्तम सर्वगत आदि जो अर्थ हैं उन अर्थों के अनुसन्धान से गाया जाता है अतः उद्गीथ भी उस का नाम है। स्वयं महर्षि बतलाते हैं यथा (तस्योदितिनाम=तस्य उत्+इतिनाम। १। ६। ७) उस का "उत्" यह नाम है (तस्यर्क् च साम च गेष्णौ=तस्य ऋक् च साम च गेष्णौ) उस के ऋग्=ऋग्वेद। च से यजुर्वेद। साम=सामवेद। च से अथर्ववेद ये चारों वेद (गेष्णौ) उस के गायक हैं (तस्मादुद्गीथः=तस्मात्+उद्गीथः) उस हेतु वह उद्गीथ कहलाता है (१। ६। ८) उद्गीथ शब्द के अन्य भी अर्थ हैं। जो पूर्व प्रपाठक में दिखलाया गया है। उद्गाता भी इसी हेतु सामवेदी ही का नाम है "उत्" नाम से ब्रह्म को ही गाता है यथा-(तस्मात्त्वेवोद्गाता= तस्मात्+तु+एव+उद्गाता। १। ६। ८) उसी हेतु वह उद्गाता है (एतस्य हि गाता) क्योंकि इसी "उत्" का गाने वाला है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि छन्दोग लोग ब्रह्म को उद्गीथ नाम से पुकारते हैं। परन्तु उद्गीथ नाम हिङ्कार प्रस्ताव आदि पांच वा सात भक्तियों में अन्यतम (एक) है जिस कारण उद्गीथ कर्म और ब्रह्म दोनों का नाम है अतः इसका विवरण पूर्व खण्ड में प्रथम ही कहा गया। अब इस द्वितीय खंड का सम्पूर्ण साम गान के विषय में उपदेश देने के लिये प्रारम्भ करते हैं। क्योंकि कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में उद्गीथ एक अङ्गमात्र है अतः सम्पूर्ण अङ्गों को पूर्णतया सबों को दिखलाना आवश्यक है ॥

आध्यात्मिक—जिस हेतु उपनिषद् अध्यात्म वर्णन से ही विशेष सम्बन्ध रखती है अतः आगे दिखलाया जायगा कि पृथिवी, अग्नि, वायु, आदित्य, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्र, संवत्सर, ऋतु, मास, दिन, पशु, पक्षी आदि सकल प्राकृतिक जगत् उसी ईश्वर की विभूति का मानो गान करता है। कर्मकाण्ड में तो हिङ्कार, प्रस्ताक, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन आदिक सामगानों के सम्पादक उद्गाता आदिक पुरुष हैं। वहां अग्नि, वायु, सूर्य आदि ही उन गानों का अनुष्ठान करते हैं। यहां मण्डपरूप ही यज्ञस्थली है। वहां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही यज्ञस्थली है इसका भाव केवल यही है कि ब्रह्मविभूति का अन्त नहीं है। उस विभूति को सर्वत्र देखो। जो प्रकृति में है वह वेद में कहा गया है। जो वेद में कहा गया है वह प्रकृति में है। इस हेतु जो अज्ञानी पुरुष किसी एकहीं में ब्रह्म विभूति देखते हैं वे यथार्थ ब्रह्मज्ञानी वा ब्रह्मवादी नहीं हैं। अतः प्राकृतिक और वैदिक दोनों जगत् में उसकी परम विभूति को दिखलाना ही महर्पियों का अभिप्राय है। शङ्कराचार्य्यादि ने उपनिषद् और वेदान्तादिभाष्यों में जो भ्रममूलक अर्थ किया है वह सब त्याज्य है।

प्रतीक और ब्रह्म—ब्रह्मप्राप्ति दो प्रकार से करनी चाहिये । एक सम्पूर्ण समष्टि रूप दृश्यमान जगत् द्वारा वा ईश्वर के प्रकाशित ज्ञानवेद द्वारा । दूसरे ब्रह्मसत्ता का ही चिन्तन करना इस हेतु उन दोनों का आश्रय लेना आवश्यक होता है इसी का नाम प्रतीक है और इन दोनों के आश्रय से उपासना का नाम "प्रतीकोपासना" है उपासना शब्द का अर्थ यहां अध्ययन है (आगे उपासना शब्द के अनेक अर्थ दिखलाये गये हैं) सृष्टि और वेद में ब्रह्मविषयक अध्ययन करने का नाम ही प्रतीकोपासना है । किन्तु केवल इस प्रकृति वा वेद में ही ईश्वर को ढूंढते रहना उचित नहीं किन्तु इन सत्रों के द्वारा उसके निकट जा साक्षात् ईश्वर में ही अपने मन को स्थिर करे उसी का नाम ब्रह्मोपासना है । उपनिषदों में कहा गया है ।

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृताभवन्ति " । केन । १३ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों तथा पदार्थों में उसे विचार धीरजन ब्रह्म को पा अजर अमर होते हैं । पुनः नचिकेता पूछते हैं:—

"अन्यत्रधर्मा दन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात् कृतादकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद" । कठ १ । २ । १४ ॥

अर्थ—(धर्मात्) शास्त्रीय धर्म्मानुष्ठान, उस के फल और उस के अनुष्ठान कर्त्ता इन तीनों से (अन्यत्र) पृथक् (अधर्म्मात्) अधर्म्म से (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृताकृतात्) कृत=कार्य्य और अकृत=जगत् का निमित्त कारण प्रकृति उस से (अन्यत्र) पृथक् (भूतात्+च) भूत (भव्याच्च) भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों से (अन्यत्र) पृथक् (यत्) जो है (तत्) उसे (पश्यसि) आप जानते हैं । (तत्) उसे (वद) कहें । इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने प्रथम ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।
यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञान आत्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।
(कठ अ० १ । वल्ली ३ । प्रवाक १२—१३)

(सर्वेषु+भूतेषु) सकल ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त में (एषः) यह ईश्वर (गूढः) छिपा हुआ (न प्रकाशते) नहीं प्रकाशित होता है । परन्तु (सूक्ष्मदर्शिभिः) कोई २

सूक्ष्मदर्शी योगी (अग्रया) एकाग्र और (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या) बुद्धि से (दृश्यते तु) अवश्य देखते हैं (प्राज्ञः) विवेकी पुरुष (वांक्) वचन को अर्थात् सकल इन्द्रियों को (मनसी) मन में (यच्छेत्) बांधे और (तत्) उस को (ज्ञाने आत्मनि) चेतन प्रकाशस्वरूप बुद्धि में (यच्छेत्) बांधे (ज्ञानम्) बुद्धि को (महति आत्मनि) जीवात्मा में (नियच्छेत्) बांधे (तत्) उस चेतन महान् जीवात्मा को (शान्ते+आत्मनि) शान्तिधाम परमात्मा में (यच्छेत्) लगावे।

इत्यादि के द्वारा सब भूतों में उसका प्रकाश और उसके उपाय भी दिखला अन्त में—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु परःपुरुषोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति॥
कठ अ० २। वल्ली ३। प्र० ७। ८॥

अर्थः—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (परं मनः) पर मन है। (मनसः सत्त्वमुत्तमम्) मन से यह उत्तम बुद्धि है (सत्त्वाद्+अधि) बुद्धि से पर (महान्+आत्मा) महत्तत्त्व अथवा जीवात्मा (महतः) महत्तत्त्व से पर (उत्तमम्+अव्यक्तम्) प्रकृति है (तु) और अव्यक्तात्) अव्यक्त=प्रकृति से (परः) पर (पुरुषः) पुरुषोत्तम ब्रह्म है वह कैसा है?। (व्यापकः) सर्वत्र व्यापक पुनः (अलिङ्ग+एव+च) चिन्हरहित अर्थात् सकल संसार धर्मरहित है। (यं ज्ञात्वा) जिस को जान (जन्तुः+मुच्यते) प्राणी मुक्त होता है अमृतत्वं+च+गच्छति) और मुक्तिदाता परमेश्वर को पाता है। इससे ब्रह्म को अलिङ्ग बतला सब के अन्त में यह सिद्धान्त दिखलाया है।

नैववाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा,
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः,
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ कठे॥

(न वाचा) न वाणी से (न मनसा) न मन से (न चक्षुषा) न नेत्र से (प्राप्तुं शक्यः) वह ब्रह्म प्राप्त हो सकता किन्तु (अस्ति इति ब्रुवतः) जो मनुष्य वैदिक वचनों पर विश्वास करने वाले हैं और जिन्हें श्रद्धा भक्ति है और जो अस्ति=वह अवश्य है।

(१) यहां वाचं के स्थान वाग् मनसि के स्थान मनसी प्रयोग आर्ष है।

ऐसी आस्तिक बुद्धि वाले हैं । वेही प्राप्त करते हैं (अन्यत्र) आस्तिक बुद्धि से पृथक् जीव को (तत्) वह ब्रह्म (कथं) कैसे (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ॥

परम कारुणिक महर्षि इन सबों से दिखलाते हैं कि इस भौतिक जगत् में ब्रह्म की विभूति देखे । परन्तु उस से ब्रह्म प्राप्ति नहीं किन्तु (अस्ति) ब्रह्म की सत्ता से ही उस की सत्ता को जाने । वह है इस में सन्देह नहीं इसके स्वरूप को जानने से ही प्रसन्नता होती है अन्यथा नहीं, ब्रह्म को ब्रह्म की ही सत्ता में अनुभव करने का ही नाम ब्रह्मोपासना है । क्योंकि ब्रह्म अपने महिमा में ही विराजमान है ॥

ब्रह्म और वेदान्तसूत्र—" * आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च * " वे० सू० ४ । १ । ३ ॥ (आत्मा+इति) आत्मा=परमात्मा में ही परमात्मा की चिन्ता करे (उपगच्छन्ति) क्योंकि सब कोई उसी के निकट जाते हैं । जिस के निकट जाना हो उसी की उपासना करनी चाहिये (ग्राहयन्ति च) और प्राचीन ऋषि लोग अपने ग्रन्थों के द्वारा उसी का ग्रहण करवाते हैं । क्या इस जगत्‌रूप प्रतीक में उसकी उपासना नहीं करनी चाहिये और उससे क्या उसकी प्राप्ति नहीं होगी, इस पर कहते हैं ॥

"† न प्रतीके नहि सः †" वे० सू० ४ । १ । ४ ॥ (हि) किस कारण (सः) वह परमात्मा (प्रतीकेन) प्रतीक के द्वारा (न) न तो उसकी उपासना न उसकी प्राप्ति होती है इस हेतु उसकी उपासना उसी में हो सकती है, दूसरे में नहीं । तो क्या इन पदार्थों में उन को ढूंढे वा नहीं ? ।

"‡ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ‡" वे० सू० ४ । १ । ५ । (ब्रह्मदृष्टिः) ब्रह्मदर्शन, दृष्टि का अर्थ दर्शन नाम ज्ञान का है । जिस के द्वारा ज्ञान हो उसे भी दर्शन कहते हैं । इसी हेतु षट्शास्त्र का नाम दर्शन है । यह सम्पूर्ण विश्व (ब्रह्मदृष्टिः) ब्रह्मदर्शन है ब्रह्मज्ञान का साधनमात्र है क्यों ? (उत्कर्षात्) क्योंकि उत्कर्ष नाम विभूति का है । महिमा, उत्कृष्टता, ऐश्वर्य, नाम से भी कहा जाता है इस जगत् में ब्रह्म की महिमा है । इस कारण यह विश्व केवल ब्रह्मदर्शनमात्र है (उत्कर्ष) इसका एक गूढार्थ भी है । उत् नाम ब्रह्म का है । कर्ष नाम आकर्षण । ब्रह्म का आकर्षण इस जगत् में है अतः यह जगत् भी ब्रह्म ज्ञान का साधन है (एष सर्वेषु भूतेषु इत्यादि) उपनिषद् भी गाती है । आगे कृष्णद्वैपायन स्वयं विस्पष्ट करते हैं, यथा—

* "अप्रतीकालम्बनान्नयतीतिबादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च १५ *।" (अप्रतीकालम्बनान्) जो प्रतीक न हो उसे अप्रतीक कहते हैं, अर्थात् ब्रह्म। अप्रतीक है आलम्बन=आश्रय जिनको, उन्हें अप्रतीकालम्बन कहते हैं (यहां बहुब्रीहि समास होता है) उन अप्रतीकालम्बन (ब्रह्माश्रय) पुरुषों को (नयति) पहुंचाता है, अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूप कर्म मानो पथप्रदर्शक (नायक) होकर ब्रह्मोपासकों को ब्रह्म के निकट लेजाता है। अन्य प्रतीकोपासकों को नहीं ले जाता (उभयथा+अदोषात्) इस द्विविध सिद्धान्त से कहीं दोष नहीं हो सक्ता अर्थात् केवल ब्रह्मोपासक ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। प्रतीकोपासक नहीं। क्योंकि (तत्क्रतुः+च) कहा गया है कि "तत्क्रतु" ब्रह्मोपासक ही उसको पाता है। कोई शङ्का करे कि "प्रतीकोपासकों की भी तो ब्रह्म प्राप्ति कही गई है उस पर कहते हैं।

* "विशेषञ्चदर्शयति। वें० ४। ३। १६ ॥" * प्रतीकोपासना में (विशेषञ्च०) विशेषता दिखलाई गई है। सप्तम प्रपाठक में कहा गया है कि जो "यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य कामचारो भवति" नाम के तत्त्व जाननेवाला नाम की जहां तक गति है वहां तक पहुंचता है "वाग्वा नाम्नो भूयसी" नाम से वाणी श्रेष्ठ है (यावद्वाचो गतं तत्रास्य०) वाणी के तत्त्व जाननेवाला जहां तक वाणी की गति है वहां तक पहुंचता है। इस प्रकार वर्णन करते हुए अन्त में ब्रह्म की उपासना से ही ब्रह्म की प्राप्ति कही गई है इसका नाम भूमाप्रकरण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल ब्रह्मोपासक ही ब्रह्म प्राप्ति करते हैं। प्रतीकोपासक प्रतीक में ही लीन रहकर ब्रह्म प्राप्ति से शून्य रह जाते हैं और इस भूमा प्रकरण में विस्पष्ट कहा गया है कि (स्वे महिम्नि) वह अपनी महिमा में ही वर्त्तमान है अर्थात् अपने में ही वह स्थित है। अतः यह जगत् भी उसका अधिष्ठान नहीं। अतः ब्रह्म की पूजा ब्रह्म में ही करनी चाहिये। इन दो सूत्रों के भाष्य में प्रतीकोपासक को ब्रह्म प्राप्त नहीं होता। यह शङ्कराचार्यजी को भी विस्पष्टरूप से कहना पड़ा है। यह भूमाप्रकरण अद्भुत प्रकार की विद्या है। अब आगे कहाजायगा कि:—

"लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत वृष्टौ पञ्चविधं सा०। ऋतुषु पञ्चविधं सा०। वाचि सप्तविधं सा०" लोक वृष्टि और ऋतु आदिकों में पञ्चविध वा सप्तविध साम का अध्ययन करे। यहां पर यह शङ्का होती है कि हिङ्कार, प्रस्ताव आदिकों को लोक वृष्टि आदित्यादि मान उपासे अथवा लोक वृष्टि आदित्य आदिकों को हिङ्कार मान कर उपासे।

यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सहज है परन्तु अज्ञानी लोग भ्रम में पड़ जाते हैं अतः इस का विचार वेदव्यासजी करते हैं:—

" * आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः * " । वे० ४ । १ । ६ ॥

(अङ्गे) हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन ये सब सामगान के एक २ अङ्ग हैं इस हेतु अङ्ग कहलाते हैं । इस हिङ्कारादि अङ्ग में (आदित्यादिमतयः) आदित्य, पृथिवी, अग्नि, वायु आदि दृष्टि करनी चाहिये क्योंकि (उपपत्तेः) इस में उपपत्ति हेतु है अर्थात् यदि हिङ्काररूप गान को आदित्य समझे तो इस से क्या लाभ होगा । यदि कहा जाय कि हिङ्कार को आदित्य मानने से आदित्य फल देवेगा । यह सब मूर्खता की बात है । आदित्य जड़ है वह क्या देवेगा, उससे जो कुछ भौतिक उपकार होता है उसे कोई रोकने वाला नहीं, उसकी ज्योति से अथवा आतप से काम लेना हम लोगों के अधीन है सूर्य्य के अधीन नहीं । जैसे अग्नि, जल, पृथिवी आदिक से जब हम काम लेना चाहें तब ले सकते हैं इसी प्रकार जितने जड़ पदार्थ बनाये गये हैं वे चेतन के उपकारार्थ हैं । अतः यहां पर यह युक्त है कि आदित्य पृथिवी आदिक को ही हिङ्कार प्रस्ताव आदि समझे अर्थात् यह पृथिवी आदिक भी हिङ्कारादिकवत् ईश्वर की विभूति को प्रकाश करता है । जैसे पञ्चविध वा सप्तविध सामगान से वेदवाणी के महत्त्व और ईश्वर की कीर्त्ति प्रतीत होती है वैसे ही इस पृथिवी, आकाश, अग्नि, वायु, सूर्य प्रभृति से ईश्वर की रचना और विभूति का महत्त्व ज्ञात होता है । अतः यह समझे कि किसी एक क्रिया का अनुष्ठान पृथिवी, किसी का सूर्य्य, किसी का वायु ये सब मिलकर उसी ब्रह्म के यश का सामगान कर रहे हैं । इत्यादि दिङ्मात्रमिहदर्शितम् ॥

उपास्ते ।

सम्प्रति वयं सर्वथैवासमर्था "उपास्ते" इत्यस्यार्थं विज्ञातुम् । आधुनिकैर्विरलतया हि प्रयुज्यते । प्रयुञ्जाना अपि "ब्रह्मण्येवायं प्रयुज्यतेनान्यत्र" इति विदन्ति । उपासनाशब्देन ब्रह्मण एव ध्यानं चिन्तनं भावनावा नान्येषामिति सर्वत्रेदानीं प्रसिद्धिरस्तीति "उपास्ते" इतीमां क्रियां यथाशक्यमुदाहरणैर्विशदीकुर्म्मः ।

भाषार्थः—आजकल उपासना शब्द के वास्तविक अर्थ को जानने में हम लोग असमर्थ होगये हैं । क्योंकि आधुनिक विद्वान् विरलतया इस का प्रयोग करते हैं । प्रयोग करते भी हैं तो ब्रह्म में ही इस का प्रयोग होता अन्यत्र नहीं ऐसा समझते हैं । उपासना शब्द से ब्रह्म का ही ध्यान चिन्तन वा भावना समझी जाती है अन्यों की नहीं ।

आस उपवेशने इति धातुपाठः। आस्तेरित्यस्यैतावत उपवेशनं समीपवेशनमित्यर्थः समायाति पुनरप्युपेनोपसर्गेण संयुक्तोयमास्तिशब्दः किमर्थप्रत्यायक इति प्रकृत्यैवविजिज्ञासा समुपतिष्ठते। कुरुकुरुगच्छगच्छादिद्विरभ्यासो यथा शीघ्रतरत्वबोधकस्तथैव उपउपवेशनकथनेन अत्यन्तसमीपोपवेशनं प्रतीयते। अतोऽत्यन्तसमीपोपवेशनमुपास्तेरर्थः। सोऽयमुपास्तिशब्दो भूरिष्वर्थेषु महर्षिभिः प्रयुक्त इत्युपरिष्टादुदाहरणैर्निश्चीयते।

"यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"। तै० १। ११। २। उपास्यानि=नियमेन कर्त्तव्यानीति यावदिति शङ्कराचार्य्यः। निरन्तरमनुष्ठेयानीति-केचित्।

"इष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते। प्रश्न० १। ६॥ ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते। छा० ५। १०। १॥ अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते "छा० २। १०। ३॥ ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते" बृ० ६। २। १५॥

यही सर्वत्र आजकल प्रसिद्ध है। इस कारण "उपास्ते" इस क्रिया को यथाशक्ति उदाहरणों से विस्पष्ट करते हैं:—

(आस उपवेशने=उपवेशन अर्थ में यह आस् धातु है) "आस" इतने ही का अर्थ उपवेशन=समीप बैठना है। जब "आस" का ही उपवेशन अर्थ है तब इस शब्द में "उप" यह उपसर्ग लगायाजाता है तो फिर किस अर्थ का बोध होगा? स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उ०—करो २ जाओ २ इत्यादि दो वार कथन जैसे अतिशीघ्रता का बोधक होता है वैसेही यहां उप+उपवेशन कहने से अत्यन्त समीप बैठना अर्थ प्रतीत होता है। अतः "उपास्ति" का अत्यन्त समीप बैठना यह मौलिक अर्थ होता है अर्थात् किसी पदार्थ के अन्त तक पहुंचना ही उस की उपासना है यही इस का मुख्य अर्थ है। यह गौणतया अनेक अर्थों में महर्षियों के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। इस को अनेक उदाहरणों से दिखलाते हैं।

(यान्यस्माकम्०) हे प्रियशिष्य! जो हमारे सुचरित हैं उन की (त्वया+उपास्यानि) उपासना तुम्हें करनी चाहिये, अन्य की नहीं। यहां श्रीशङ्कराचार्य्य ने भी "उपास्यानि" का अर्थ (नियमेन कर्त्तव्यानि+इति यावत्) नियम से करना चाहिये यही अर्थ किया है। नियमपूर्वक निर्वाह करना ही आचरणों की उपासना है (इष्टापूर्त्ते०) जो आदमी विविध यज्ञ और कूप तड़ाग आराम आदि की उपासना करते हैं।

(ये च इमे०) जो ये ब्रह्मज्ञानी अरण्य में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं।

एवं विधेषु वाक्येषु । इष्टमग्निहोत्रादिकं वैदिकं कर्म उपासते । सम्पादयन्ति । पूर्त्तं वापीकूपतडागारामादि उपासते । कुर्वन्ति । दत्तंदानमुपासते । ददति । श्रद्धामुपासते । ब्रह्मणि श्रद्धां वर्द्धयन्ति । तप उपासते । तपश्चरणं कुर्वन्ति तपस्यन्ति । इत्येवमेवार्थो भवितुमर्हति । एवं इष्टापूर्त्तादीनामनुष्ठानमेवोपासनं सिद्धयति । तेषां यथाविधि यथाशक्त्यञ्च सम्यक् सम्पादनमेवोपासनम् ॥

वेदेपि—श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।

श्रद्धाहृदय्ययाकूत्या श्रद्धयाविन्दते वसु ॥ ऋ० १० । १५१ । ४ ॥

का श्रद्धाया उपासना ? नहि कापि श्रद्धा मूर्त्तिमयी देवी वर्त्तते । तस्या उपासना ध्यानं भवति । श्रत्सत्यं दधातीतिश्रद्धा । विश्वासः । भक्त्युद्रेकः । उत्कटप्रेम । परमाप्रीतिः । इत्यादिशब्दैः श्रद्धा व्याख्यायते । इत्थं ब्रह्मणि वा कस्मिंश्चिद्वस्तुनि वा परमप्रीतेः प्रत्यहं वृद्धिकरणम् । विश्वासस्थापनम्वा श्रद्धोपासनमुच्यते । पुनः—

"यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ॥ यजु० ३२ । १४ ॥ इत्यत्र (उपासते) प्राप्यसेवन्ते । इति श्रीमदाचार्य्य अवोचत् । मेधां प्रज्ञां धनम्वा प्राप्य तस्या यथोचितकार्य्ये संयोजनमेवोपासनम् ॥

(अथ य इमे०) जो ये मनुष्य ग्राम में इष्ट पूर्त्त और दान की उपासना करते हैं । (ये चामी०) जो ये ब्रह्मविद् अरण्य में श्रद्धा सत्य की उपासना करते हैं ।

इत्यादि उदाहरणों से उपासना शव्द का अर्थ ध्यान कदाचित् भी नहीं होसकता विधिपूर्वक अनुष्ठान करना ही यज्ञ की उपासना है । वापी कूप आराम प्रभृति की उपासना क्या है ? जहां पानी की आवश्यकता हो वहां वापी कूप खोदना खोदवाना और जहां पर सूर्य ताप की प्रचण्डता हो वहां नानावृक्ष लगाना लगवाना ही उनकी उपासना है । इन उदाहरणों से यह सिद्ध हुआ कि सव सत्कर्मों का अनुष्ठान वा सम्पादन अर्थ में यह उपासना शव्द प्रयुक्त होता है । वेद में भी कहा गया है कि (श्रद्धां देवा०) विद्वान् तथा ईश्वर रक्षित यजमान श्रद्धा की उपासना करते हैं । श्रद्धा कोई मूर्त्तिमयी देवी नहीं कि जिसकी उपासना अर्थात् ध्यान करे । पुनः श्रद्धा की उपासना क्या है ? (श्रत् दधाति) सत्य को जो धारण करती उसे श्रद्धा कहते हैं । उसी को विश्वास, उत्कटभक्ति, उत्कटप्रेम, परमप्रीति आदि कहते हैं । इस प्रकार ब्रह्म में वा किसी वस्तु में परमप्रीति का वर्धन करना ही श्रद्धा की उपासना है । पुनः (यां मेधाम्०) जिस प्रज्ञा बुद्धि की उपासना विद्वद्गण और पितृगण करते हैं । यहां पर श्रीमदाचार्य्य दयानन्दजी ने "उपासते" का अर्थ "प्राप्य सेवन्ते=बुद्धि को प्राप्त कर उसकी

इत्थं । श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ ऋ० १० । १५१ । १ ॥

श्रद्धया परमया प्रीत्या यजमानेनाग्निः समिध्यत इत्यर्थः । अतः श्रद्धादीनामुपासनया श्रद्धादि वृद्धिकरणमेवप्रतीयते । "स्त्रियमध उपासीत" बृ० ६ । ४ । २ ॥ इत्यत्रस्त्रिया उपासनं विहितम् स्त्रियाः सत्कार एवोपासनम् । पुनः—

"वाचंधेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः । स्वाहाकारः । वषट्कारः । हन्तकारः । स्वधाकारः । तस्य द्वौस्तनौ देवा उपजीवन्ति । स्वाहाकारञ्च । वषट्कारञ्च । हन्तकारं मनुष्याः । स्वधाकारं पितरः । तस्याः प्राण ऋषभः मनो वत्सः ॥" बृ० ५ । ८ । १ ॥

अत्रोपास्तिर्धेनुरूपाया वाचस्तत्त्वज्ञानमेव प्रद्योतयति । पुनः—

"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते" वेदे । इहहि साक्षाद् वेदोब्रह्मणि उपास्तिं प्रयुनक्ति स्वरूपतो ब्रह्मविज्ञाय सर्वतोभावेन तस्मिन्नेव चित्तवृत्तिस्थापनं ब्रह्मोपासनमामनन्ति महर्षयः ॥

"अम्भो अमोमहः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५० ॥ अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५१ ॥ उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५२ ॥

सेवा करते हैं" किया है (मेधाम्०) धन वा प्रज्ञा उसे पाकर यथोचित कार्य में उसको लगाना ही उसकी उपासना वा सेवा है । इस प्रकार (श्रद्धयाग्निः) श्रद्धा=परमप्रीति से यज्ञानुष्ठान करता है । इत्यादि प्रयोग में श्रद्धा, मेधा प्रभृति की उपासना से यह अर्थ प्रतीत होता है कि श्रद्धा वा मेधा को विशेषरूप से बढ़ाना और यथोचित कार्य्य में लगाना आदि है ।

(स्त्रियमध उपासीत) स्त्री की उपासना करे । स्त्रियों का पूर्ण सत्कार करना ही उपासना है (वाचं धेनुम्०) वाणी को धेनु मान उपासे । उसके ४ स्तन हैं । स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार, स्वधाकार इत्यादि यहां धेनुरूपा वाणी की उपासना यही है कि उसके अन्त तक तत्त्वों को जाने । ब्रह्म में भी इसके प्रयोग बहुत आते हैं । यथा—(य आत्मदा०) यहां पर ब्रह्म की उपासना अर्थ में "उपासते" प्रयुक्त हुआ है । स्वरूपतः ब्रह्म को जान उसी में अपनी चित्तवृत्तियों को लगादेना ही ब्रह्मोपासना है । (अम्भो०) इत्यादिक अनेक प्रयोग वेद में आते हैं । उपनिषदों में भी ब्रह्म के चिन्तन वा ध्यान अर्थ में उपास्ति का प्रयोग किया है । ब्रह्म के अत्यन्त निकट पहुंचना ब्रह्मोपासना है । यथा—

प्रथीवरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५३ ॥" अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ ॥ स वेदैतत्परमंब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् । उपासते पुरुषं येह्यकामास्ते शुक्रमेतदति-वर्त्तन्तिधीराः" मु० ३ । २ । १ ॥ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" छा० ३ । १४ । १ ॥ इत्यादिप्रयोगेषु ब्रह्मण उपासनं विहितम् । तस्यात्यन्तनिकटोपवेशनम् । तस्य सम्यग् विज्ञानमित्यर्थः । ब्रह्मणो नेदिष्ठस्पर्शनमेवोपासनं विज्ञायते । अत उक्तम् । तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति" ॥ तवल्कारोपनिषत् ४ । २७ । २ ॥ इत्यादि प्रयोगेषु उपासना विहिता । तस्मादत्यन्तनिकटोपवेशनम् । तस्यसम्यग् विज्ञानमित्यर्थः । सोयम् "उपास्ति" शब्दः प्रायोऽस्यां चतुर्विंशत्युत्तरशतवारं प्रयुक्तोस्ति । तद्यथाः—

प्रपाठकः	वारः	प्रपाठकः	वारः
१	२३	५	११
२	१९	६	०
३	९	७	४१
४	८	८	१
		सर्व योग=	१२४

वृहदारण्यके (५०) पञ्चाशतोप्यधिकः प्रयोगोस्ति । सर्वाश्चोपनिषद इमनुपास्तिं प्रयुञ्जन्ति । तद्यथा–ईशे–२ । केने–६ । कठे–१ । प्रश्ने–१ । मुण्डके–१ । माण्डूक्ये–० । तैत्तिरीये–१३ । ऐत०–१ ॥

(नेदिष्ठम्) अत्यन्त समीप (पस्पृशुः) स्पर्श किया । अर्थात् ब्रह्म के अतिशय समीप तक वे देव पहुंचे । सो यह "उपास्ति" छान्दोग्योपनिषद् में प्रायः १२४ वार प्रयुक्त हुआ है ।

प्रपाठक	वार	प्रपाठक	वार
१	२३	५	११
२	१९	६	०
३	९	७	४२
४	८	८	१
		सर्वयोग	१२४

उपासना संज्ञावाचक शब्दों को छोड़कर उपास्ति क्रिया प्रायः १२४ वार प्रयुक्त हुई है । वृहदारण्यक में ५० से अधिकवार यह क्रिया आई है । ईश–२ । केन–६ । कठ–१ । प्रश्न–१ । मुण्डक–१ । माण्डूक्य–० । तै०–१३ । ऐ०–१ ॥

इस प्रकार इसका अर्थ यह सिद्ध होता है कि पदार्थ के बाह्याभ्यन्तरसर्वतोभाव से अन्त तक पहुंचने का नाम उपासना है। प्राचीन ऋषियों ने सम्पूर्ण सत्कर्मानुष्ठान में इसका प्रयोग किया है। यथास्थान में उसे देखना ॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु। यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते। यदसाधु तदसामेति ॥ १ ॥

समस्तस्य। खलु। साम्नः। उपासनम्। साधु। यत्। खलु। साधु। तत्। साम। इति। आचक्षते। यत्। असाधु। तत्। असाम। इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—समस्तस्येति। समस्तस्य सम्पूर्णस्य। साम्नः सामवेदस्य। उपासनं विचारणम्। साधु कल्याणकरम्। खलु वाक्यालङ्कारे। सामशब्दस्यार्थं स्पष्टीकरोति। यत् खलु साधु कल्याणकरं जगति वस्तु दृश्यते। तत् सर्वं सामेति वेदविद आचक्षत उपदिशन्ति। एवम्। जगति यत्किमप्यसाध्वकल्याणकरममंगलमहितम्। तत्सर्वम्। असामेति। आचक्षते। सामशब्दस्य तृतीये वेदे रूढत्वेप्यन्यदपि तत्समं सुखकरं मंगलरूपं वस्तु साम निगद्यते। अतः सामशब्दस्यायमेवार्थोस्ति। ननु यदि सर्वं साधु वस्तु साम। तर्ह्यस्मिन्नेव का निष्ठा? साधुत्वभूयस्त्वाद्। इदन्तु साधुतमम्। ईश्वररचितत्वेन तथैव विहितत्वात्। अन्यदपि भूरि भूरि वस्तु साध्वस्ति तदपि साम तु स्यादेव। यथा इतरेषामपि जीवानां दन्तित्वेपि तादृग् विशाललम्बदृढदन्तस्यान्यत्राविद्यमानत्वाद्दन्तिपदेन गज एव व्यवह्रियते नान्यः। एवमेवात्रापि वेदितव्यम् ॥ १ ॥

अनुवादः—सम्पूर्ण सामवेद का तत्त्वावधारण करना साधु है। जो साधु है उसे साम कहते हैं। जो असाधु है उसे असाम कहते हैं ॥ १ ॥

(१) मूल में "उपासनम्" है। उपासना वा उपासन शब्द का अर्थ सर्वत्र ध्यान करना ही नहीं होता, तत्त्व को विचारने का नाम उपासना है।

पदार्थः-(खलु) वाक्यालङ्कार में आता है, निश्चयार्थक भी होता है, निश्चितरूप से (समस्तस्य) सम्पूर्ण (साम्नः) सामवेद के सकल अवयवों का (उपासनम्) विचार=विवेक अर्थात् अशेषरूप से तत्त्वावधारण करना (साधु) सुखकर=कल्याणकर=मंगल है । आगे साम शब्दका अर्थ दिखलाते हैं (यत् खलु) जो (साधु) कल्याणकर वस्तु है (तत्) उसे (साम) साम (इति आचक्षते) ऐसा वेदविद् कहते हैं (यत् असाधु) जो असाधु है (तत् असाम इति) उसे असाम ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः—यद्यपि साम शब्द तृतीय वेद में आरूढ है तथापि जो सुखकर मंगलरूप जगत् में वस्तु है वह सब ही साम कहला सकता है क्योंकि साम शब्द का यही अर्थ है । अब शङ्का होती है । यदि सब ही साधु वस्तु साम है । तो इसी सामवेद में हम लोग निष्ठा क्यों करें? । उ०-सामवेद साधुतम है । अर्थात् इस से बढ़कर जगत् में कल्याणकारी वस्तु नहीं है । अतः सामवेद तो साधुतम है और ईश्वर रचित जगत् में अन्य भी बहुत वस्तु साधु है । उन्हें भी साधु वा साम कह सकते हैं । परन्तु जैसे अन्य प्राणियों के भी दन्त हैं । परन्तु वैसा विशाल लम्ब दृढ अन्य पशुओं में न होने से दन्ती शब्द तो हाथी में ही चरितार्थ होता है समस्त दन्तवाले जीव को दन्ती कहने में कोई क्षति नहीं किन्तु कहते नहीं । वैसाही परमकल्याणकारी होने के कारण वेद में ही यह साम पद चरितार्थ होता है ॥ १ ॥

तदु ताप्याहुः "साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहु"रसाम्नैनमुपागादित्य "साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः" ॥ २ ॥

तत् । उत् । अपि । आहुः । साम्ना । एनम् । उपागात् । इति । साधुना । एनम् । उपागात् । इति । एव । तत् । आहुः । असाम्ना । एनम् । उपागात् । इति । असाधुना । एनम् । उपागात् । इति । एव । तत् । आहुः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तदिति । सान्वयव्यतिरेकाभ्यामुदाहरणाभ्यां पूर्वोक्तमर्थं द्रढयति । तत् तत्र तस्मिन् विषये । उतापि आहुरन्य अनूचाना व्याचक्षते । यत् । एनं राजानमाचार्यमन्यं कमपि पुरुषम्वा "साम्ना उपागात्" । उपागतवान् । इत्यस्य कोऽर्थो भवति । तमेवाग्रेस्फुटयति । "एनंसाधुना उपागात्" । साधुना वेषेण, साधुनावृत्तेन, साधुना विनयेन, उपागात् उपागमत् । इत्येव तदाहुर्विचक्षणाः । व्यतिरेकः खलु । "असाम्ना एनमुपागात्" असाधुना

एनमुपागात्। इत्येवतदर्थंजातमाहुः कथयन्ति ॥ २ ॥

अनुवादः-उस विषय में कोई २ (अनूचान) कहते हैं कि वह साम (वेष) से उसके निकट प्राप्त हुआ। इसका तात्पर्य यही वर्णन करते हैं कि "साधु वेष से उसके निकट प्राप्त हुआ" और पुनरपि कहते हैं कि "असाम (वेष) से उसके निकट प्राप्त हुआ" इसका भी तात्पर्य यही वर्णन करते हैं कि "असाधु (वेष) से उसके निकट प्राप्त हुआ" ॥२॥

पदार्थः-(तत्) उसमें (उत+अपि) और भी (आहुः) वेदवित् कहते हैं कि (साम्ना) साधु वेष से वा मधुर विनय से वा मधुर भाव से (एनम्) इसके निकट (उपागात्) वह प्राप्त हुआ अब आगे विचार किया जाता है कि "साम्ना एनम् उपागात्" इस वाक्य में "साम्ना" पद आता है इसका क्या तात्पर्य है। "साम्ना एनम् उपागात्" इतने का अर्थ "साधुना एनम् उपागात्" है। अर्थात् इन दोनों वाक्यों में परिवर्तन इतना है कि "साम्ना" के स्थान में "साधुना" पद आया है अतः साधुवेष से उसके निकट वह पहुंचा इसका अर्थ हुआ। (इति+एव+तत्+आहुः) ऐसा ही इसके विषय में कहते हैं। अब विपरीत उदाहरण कहते हैं (असाम्ना+एनम्+उपागात्) असाम वेष से उसके निकट वह गया। उसका भी तात्पर्य यह है कि (असाधुना+एनम्+उपागात्) असाधु वेष वा भाव से उसके निकट पहुंचा (इति+एव+तद्+आहुः) वैसा ही इस विषय में बुधजन कहते हैं अर्थात् लौकिक उदाहरणों से भी साम शब्द का अर्थ "साधु" सिद्ध किया गया है ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

अथ । उत । अपि । आहुः । साम । नः । बत । इति । यत् । साधु । भवति । साधु । बत । इति । एव । तत् । आहुः । असाम । नः । बत । इति । यत् । असाधु । भवति । असाधु । बत् । इति । एव । तत् । आहुः ॥ ३ ॥

भाष्यम्-अथेति। पुनस्तदेव प्रकारान्तरेण व्याचष्टे। अथोताप्याहुः। एके आचार्य्या इदमपि व्याचक्षते। प्रजासु यद्वस्तु साधु शोभनं सुखकरम्भवति आपतति। तदा प्रजा ब्रुवन्ति। तत् सामनोबत इति अर्थात् तत् साधु नोबत इति। बत इति अनुकम्पायाम्। अनुकम्पयतो जगदीश्वरात्तत्साम=साधु=मंगलम्। नोऽस्मान् प्राप्तम्। एतद्विपरीतम्। यदा यद्वस्तु असाधु

प्रजासु भवति आपतति । तदा प्रजाः कथयंति । तद् असाम नोवत इति अर्थात् असाधु नोवत इति । तस्माज्जगदीश्वरान्नोऽस्मान् असाम असाधु एव प्राप्तम् । इत्येवपूर्वोक्तवाक्यरूपस्य भावं विवृण्वन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः—यह भी इस विषय में (अनूचान) लोग कहते हैं कि प्रजाओं को जब उस कारुणिक जगदीश्वर की ओर से साधु (कल्याण) प्राप्त होता है तो प्रजाएं कहती हैं कि हम लोगों को उस कृपालु से वह साम प्राप्त हुआ है अर्थात् साधु (कल्याण) प्राप्त हुआ है ऐसा ही इसका भाव बुधजन वर्णन करते हैं । इसके विपरीत प्रजाओं को जो असाधु (अकल्याण) उस कृपालु से प्राप्त होता है तो प्रजाएं कहती हैं कि हम लोगों को वह असाम प्राप्त हुआ है अर्थात् वह असाधु प्राप्त हुआ है ऐसा ही भाव कोविद वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (उत+अपि) और भी (आहुः) कोई आचार्य कहते हैं कि प्रजाओं को जब (यत्) जो (साधु) शोभनवस्तु=मंगलवस्तु (भवति) प्राप्त होता है तो प्रजाएं यह कहती हैं कि (तत्) वह (साम) साम (नः) हम को (वत इति) उस कृपालु से प्राप्त हुआ है अर्थात् (साधु वत) साधु वस्तु प्राप्त हुई है (इत्येव आहुः) ऐसा ही कहती हैं (यद्+असाधु+भवति) जब जो असाधु वस्तु प्रजाओं को प्राप्त होती है तो प्रजाएं यह कहती हैं कि (नः+वत+इति) हमको उस दयालु से (तत्+असाम) वह असाम प्राप्त हुआ है (असाधुवत) अर्थात् वह असाधु वस्तु हम को प्राप्त हुई (इत्येव+आहुः) ऐसा ही कहती हैं ॥ ३ ॥

स य एतदेवं विद्वान् साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ ४ ॥

सः । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । साधु । साम । इति । उपास्ते । अभ्याशः । ह । यत् । एनम् । साधवः । धर्माः । आ । च । गच्छेयुः । उप । च । नमेयुः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—स इति । स यो वेदविद् । एतत् साम । एवं पूर्वोक्त गुण विशिष्टम् । पूर्वोक्तरीत्या । विद्वान् जानन् सन् । साधु मंगलं कल्याणमिति मत्वा । उपास्ते भावयति तम् एनम् अयं साधुरिति मत्वा । साम्न उपासकम् । सर्वे साधवो धर्माः । अभ्याशोह । शीघ्रमेव । आगच्छेयुश्च । प्राप्नुयुः । न केवलं साधवो धर्मा एवागच्छेयुः । उप च

नमेयुः उपनमेयुश्च । भोग्यत्वेनोपतिष्ठेयुरित्यर्थः । "छन्दसिपरेपि। १ । ४ । ८१ । व्यवहिताश्च" । १ । ४ । ८२ । इति व्यवहित उपसर्गः ।

साधु दृष्ट्या सर्वाणि वस्तूनि सृष्टावुपासनीयानि। न केवलं वेदयेव सामबुद्धिर्विधेया ईश्वरेण सृष्टेषुसकलेषुवस्तुषु तथैव बुद्धिरारोपणीया । आनन्दमयेन प्रभुणा परमविलासिना मायाविना तेन निखिलजीवनिवहानां प्रमोदाय न वै दुःखायेयं विसृष्टी रचिता । अत्र केचिदिमां विसृष्टिं क्लेशकरीं मत्वा असाध्वीत्यवमन्यन्ते । अन्ये च जगति शब्दमयः सामवेद एव साधुरन्यदसाध्विति मनसि कुतश्चित्कारणाद् विभाव्य सर्वं सृष्टं तिरस्कुर्वन्ति । अपरे सामवेदविहितक्रियापरायणास्तस्मिन्नेववेदे समस्ताः क्रियाः पश्यन्ति । किंत्वस्मिन्नद्भुतक्रियासम्पन्ने सुमधुरसुरस-गीतिगायके नियमित इव कर्मणि तत्परे परमविभूतिं क्षणेक्षणे दर्शयति विश्वंब्रह्माण्डे स्वत एवोत्पद्यमानाः स्वत एव भवन्तीः सामवेदक्रिया नानुपश्यन्ति । तदिहोपनिषच्छिक्षते न केवलं शब्दमयोवेद एवक्रियामुपदिशति कल्याणं मंगलम्वा पन्थानं प्रकटयति किन्तु सम्पूर्णमिदं जगदपि तामेवक्रियां सूचयति । नहि सर्वं ईदृशो विवेकिनस्तत्त्वविद उपनिषत्सारमर्मज्ञाविद्यन्त अतस्तां महाविभूतिं दुर्लभां मनोहारिणींनावलोकयन्ति तदर्थमग्रिमखण्डारम्भः ॥ ४ ॥

इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अनुवादः-सो जो कोई इस सामवेद को ऐसा जानता हुआ "साधु" मानकर उपासता है, इसको अति शीघ्र साधु धर्म्म प्राप्त ही नहीं होते किन्तु अपने हो जाते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः-(सः+यः) सो जो कोई विद्वान् (एतत्+साम) इस सामवेद को (एवम्) पूर्वोक्त गुण सहित (विद्वान्) जानता हुआ (साधु) साधु=मङ्गल=कल्याण जान (उपास्ते) उपासता है (अभ्याशः+ह) अति शीघ्र ही (एनम्) इस उपासक को (यद्+साधवः+धर्म्माः) जो मङ्गलविधायक धर्म्म हैं वे (आ+च+गच्छेयुः) प्राप्त होते हैं केवल प्राप्त ही नहीं होते हैं किन्तु (उप+च+नमेयुः) अपने समान वे धर्म्म हो जाते हैं ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-सृष्टि में सब वस्तुएं साधु दृष्टि से विचारने योग्य हैं । केवल वेद में ही साम बुद्धि करनी नहीं, किन्तु ईश्वर सृष्ट सब वस्तुओं में भी वैसी ही बुद्धि करनी चाहिये । आनन्दस्वरूप परमविलासी उस प्रभु ने निखिल जीव समूहों को आनन्द पहुंचाने को न कि दुःख के लिये यह विविध सृष्टि रची है । यहां कोई, इस विसृष्टि को क्लेशकरी और असाध्वी जान इसका अपमान करते हैं । और दूसरे कोई, इस जगत् में शब्दमय सामवेद ही साधु है अन्य सब ही असाधु इसको किसी कारण से मन में विचार सम्पूर्ण सृष्ट पदार्थ का

तिरस्कार करते हैं । और दूसरे, सामवेद विहित क्रियापरायण हो उसी वेद में ही समस्त क्रियाओं को देखते हैं किन्तु अद्भुत क्रियासम्पन्न सुमधुर सुरसगीति गायक मानो नियमित होकर कर्म्म में तत्पर और परमविभूति को क्षण क्षण में दिखलाते हुए इस विश्व में स्वतः ही उत्पद्यमान (अपने ही होती हुई) क्रियाओं को नहीं देखते हैं । इसलिये यहां उपनिषद् सिखलाती है कि केवल शब्दमय वेद ही क्रियाओं को उपदेश नहीं देता किंवा कल्याण मङ्गल पन्थ को नहीं प्रकट करता किन्तु यह सम्पूर्ण जगत् भी उसी क्रिया को सूचित करता है । जिस हेतु सब कोई ऐसे विवेकी तत्त्वविद् उपनिषद्सारमर्मज्ञ नहीं हैं । अतः इस दुर्लभ मनोहारिणी महाविभूति को नहीं देखते हैं, उनके लिये यह अग्रिम शिक्षा प्रारम्भ होती है ॥ ४ ॥

इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

लोकेषु । पञ्चविधम् । साम । उपासीत । पृथिवी । हिङ्कारः । अग्निः । प्रस्तावः । अन्तरिक्षम् । उद्गीथः । आदित्यः । प्रतिहारः । द्यौः । निधनम् । इति । ऊर्ध्वेषु ॥ १ ॥

भाष्यम्—लोकेष्विति । एकैकस्य साम्नः पञ्चविभक्तयः । हिङ्कार प्रस्तावोद्गीथ प्रतिहारोपद्रव निधनाख्याः । तत्र हिङ्कारस्त्रिभिरुद्गातृभिः कर्त्तव्यः । इति सायणेन ताण्ड्यब्राह्मणस्य द्वितीयाध्यायस्य प्रथममन्त्रभाष्य उक्तम् । अत्रोपद्रवशब्दस्याधिकः पाठः प्रमादाद्वाभ्रमाद्वा दृश्यते । तेन षट् विभक्त्यापत्तेः । प्रतिज्ञाहानिः । उपनिषदि चोपद्रवस्य पञ्चसुविभक्तिषु पाठाभावाच्च । समष्टिरूपेषुसमस्तेषुलोकेषु पञ्चविधम् । हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनानीति पञ्चविधाः प्रकारा यस्य तत् पञ्चविधम् साम । उपासीत विचारयेत् । न केवलं यज्ञेष्वेव पञ्चविभक्तीनि सामानि उपासनीयानि । एतेषु नयनगोचरीभूतेषु ब्रह्माण्डेष्वपि सामगेयसाम्यमवगन्तव्यम् । तथाहि । पृथिवीहिङ्कारः । सर्वे सामगामिलित्वा हिंशब्दोच्चारणपूर्वकं विधेः प्रारम्भ एव यद् गेयं सामगायन्ति स हिङ्कारः । पृथिव्यां हिङ्कारदृष्टिः कर्त्तव्या । पृथिव्यामपि द्विपाच्चतुष्पात् प्राणिनः, अन्ये स्थावरा अपि सर्वेमिलित्वा

(१) तिसृभ्यो हिङ्करोति स प्रथमया । तिसृभ्यो हिङ्करोति स मध्यमया । तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तमया । उद्यती निवृत्ति विद्युतिरित्यादि हिङ्कार विधिस्ताण्ड्यब्राह्मणस्य द्वितीयाध्याये द्रष्टव्यः ॥

हिङ्कारविधिं कुर्वन्त इव लक्ष्यन्ते । अग्निः प्रस्तावः । प्रस्तोत्रा ऋत्विजा यद् गेयं प्रस्तूयते स प्रस्तावः । ईश्वरस्य विभूतेः प्रस्तोताग्निर्लक्ष्यते । अन्तरिक्षम् । उद्गीथः । अन्तरिक्षस्था मरुन्मेघविद्युदादय उच्चैर्ब्रह्मण ऐश्वर्यं गायंति । आदित्यः । प्रतिहारः । आदित्ये प्रतिहार-बुद्धिर्विधेया । द्यौर्निधनम् । कर्मसमाप्तौ पुनरपि सर्वे मिलित्वा निधनाख्यं कर्म गानैः प्रार-भन्ते । अस्यैकस्य ब्रह्माण्डस्य पृथिवीमारभ्य द्युलोकान्ता समाप्तिर्भवति । अतो दिवि निधन-दृष्टिर्विधेया । इति । ऊर्ध्वेषु । उपरितनेषु विभागेषु । पृथिवी प्रथमोलोकः । अग्निर्द्वितीयो लोकः । अन्तरिक्षं तृतीयोलोकः । आदित्यश्चतुर्थो लोकः । द्यौः पञ्चमोलोकः । अनेन क्रमेण यदा गण्यते तदा ऊर्ध्वोर्ध्व व्यवस्था भवति । एतद्विपरीतेन आवृत्तव्यवस्था भवति । सा च द्वितीये वक्ष्यते । इमे च भूरादयो लोकाः सामगा इव एकैकं विधिमनुतिष्ठन्ति । कोऽपि हिङ्कारविधिं कोऽपि प्रस्तावकर्म कोऽपि प्रतिहारकर्म सम्पादयति । इत्थं सर्वे मिलित्वा समस्तस्य सामवेदस्य विधीन् पूरयन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—"पृथिवी अन्तरिक्ष आदि" लोकलोकान्तर में पञ्चविध साम की भावना करे । पृथिवी हिङ्कार, अग्नि प्रस्ताव, अन्तरिक्ष उद्गीथ, आदित्य प्रतिहार, द्युलोक निधन है । ऊर्ध्व ऊर्ध्व व्यवस्था से यह योजना जाननी ॥ १ ॥

पदार्थः–(लोकेषु) पृथिवी अन्तरिक्ष आदि लोकलोकान्तर के मध्य (पञ्चविधम्) हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इस पञ्च प्रकार (साम) साम गीति के अवयवों को (उपासीत) विचार करे (पृथिवी हिङ्कारः) पृथिवी को हिङ्कार (अग्निः प्रस्तावः) अग्नि को प्रस्ताव (अन्तरिक्षम् उद्गीथः) अन्तरिक्ष को उद्गीथ (आदित्यः प्रतिहारः) आदित्य को प्रतिहार (द्यौर्निधनम्) और द्युलोक को निधन समझे (इति ऊर्ध्वेषु) यह व्यवस्था ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोक विषय में जाननी । अर्थात् प्रथम पृथिवी, पृथिवी से ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष के ऊपर द्युलोक इस क्रम से योजना करने से ऊर्ध्व योजना कहलाती है * ॥ १ ॥

* हिङ्कार विधि को, तीन वा सब उद्गाता मिलकर आरम्भ करते हैं हिङ्कार इसका नाम इस कारण है कि उद्गाता लोग गीत में हिं वा हुम् शब्द का उच्चारण अधिक करते हैं । प्रस्तोता जिस गेय साम को गाता है उसे प्रस्ताव, उद्गाता जिस गेय साम को गाता है उसे उद्गीथ, प्रतिहर्त्ता जिस गेय साम को गाता है उसे प्रतिहार, सब मिलकर जिसे गाते हैं उसे निधन कहते हैं ।

भाष्याशयः—सामवेद के गान का यह हिसाव है कि प्रत्येक गान में पांच वा सात विभक्तिएं होती हैं विभक्ति शब्द का अर्थ यहां विभाग है । प्रथम विभक्ति हिङ्कार, द्वितीया प्रस्ताव, तृतीया उद्गीथ, चतुर्थी प्रतिहार और पञ्चमी निधन है । उपद्रव और आदि इन दो विभक्तियों के बढ़ाने से सात होती हैं आदि को प्रणव भी कहते हैं इन का वेद में भी प्रमाण पाया जाता है यथाः—

"तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्रस्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति । विश्वेदेवानिधनम् ॥ २ ॥
तस्मा उद्यन्सूर्यो हिङ्कृणोति सङ्गवः प्रस्तौति ॥ ४ ॥
मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम् ॥ ५ ॥
तस्मा अभ्रोभवन् हिङ्कृणोति स्तनयन्प्रस्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रतिहरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन्निधनम्" ॥ ७ ॥
अथर्व० कां० ६ अनु० ३ सू० ६ ॥

(तस्मै) उस ब्रह्म की कीर्त्ति को गाने के लिये (उषा) प्रातःकाल (हिङ्कृणोति) मानो हिङ्कारविधि का अनुष्ठान करता है (सविता) सूर्य (प्रस्तौति) मानो प्रस्ताव विधि की पूर्त्ति करता है ॥ १ ॥ (बृहस्पतिः) मध्याह्न सूर्य (ऊर्जया) परमज्योति से युक्त हो (उद्गायति) उद्गीथ कर्म का सम्पादन करता है (त्वष्टा) अपराह्ण सूर्य (पुष्ट्या) पुष्टि प्रदान से (प्रतिहरति) प्रतिहारविधि पूर्ण करता है और (विश्वेदेवाः) सायंकाल सम्पूर्ण जीव (निधनम्) मानो निधनसाम गाते हैं क्योंकि निधनसाम अन्त में गाया जाता है सन्ध्याकाल सम्पूर्ण जगत् सब कर्म को समाप्तकर शान्तिलाभ करते हैं मानो यही निधन है ॥ २ ॥ (तस्मै) उस ब्रह्म की विभूति के गानार्थ (उद्यन्सूर्यः) उगता हुआ सूर्य (हिङ्कृणोति) हिङ्कार साम का (सङ्गवः, प्रस्तौति) सङ्गव समय का सूर्य मानो प्रस्ताव का अनुष्ठान करता है (जिस समय गोचारक वत्सों को दूध पिला चराने के लिये गायों को खोलता है उसका नाम सङ्गव है) ॥ ४ ॥ (मध्यन्दिनः, उद्गायति) मध्याह्न सूर्य उद्गीथ का (अपराह्णः, प्रतिहरति) अपराह्ण सूर्य प्रतिहार का (अस्तं, निधनम्) अस्त होता हुआ सूर्य निधनसाम का मानो गान कर रहा है ॥ ५ ॥ उस ब्रह्म के यश के गानार्थ ही (भवन् अभ्रः) प्राथमिकमेघ (हिङ्कृणोति) हिङ्कारविधि (स्तनयन्, प्रस्तौति) गर्जन करता हुआ मानो प्रस्ताव कर रहा है ॥ ६ ॥ (विद्योतमानः) विद्योतित होता हुआ (प्रतिहरति) प्रतिहार को (वर्षन्) वरसता हुआ (उद्गायति) उद्गीथ को (उद्गृह्णन्) अपने को उपसंहृत करता हुआ मेघ मानो (निधनम्) निधन विधि को पूर्ण कर रहा है ॥ ७ ॥

इस अथर्ववेद के प्रमाण से हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन ये सब अनादिकाल से चले आते हैं यह सिद्ध होता है और सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ इस कर्म का अनुष्ठान कर रहे हैं उस में भी मेरी विभूति को देखो भगवान् स्वयं यह उपदेश देते हैं। इस प्रपाठक के तृतीय और अष्टम खण्ड देखो। ऐसा ही वर्णन है ॥ १ ॥

अथाऽऽवृत्तेषु। द्यौर्हिङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अथ। आवृत्तेषु। द्यौः। हिङ्कारः। आदित्यः। प्रस्तावः। अन्तरिक्षम्। उद्गीथः। अग्निः। प्रतिहारः। पृथिवी। निधनम् ॥ २ ॥

भाष्यम्-अथेति। अथोर्ध्वमुखवर्णनानन्तरम्। आवृत्तेषु। अधोमुखेषुलोकेषु वक्ष्यमाणव्यवस्था। द्यौर्द्युलोको हिङ्कारो हिङ्कारविधिं द्युष्ठाः सम्पादयन्ति। कथमिव। द्युलोकस्थास्तारका नक्षत्राणि च मिलित्वा तस्यैव महदैश्वर्यं गातुमिव स्वस्वस्थानमलङ्कुर्वाणानि भासन्ते। नक्तं शान्तिपाठे समाप्त इव प्रातःकाले सर्वान् जन्तून् प्रति, उत्तिष्ठत। जागृत। सम्प्रति ईश्वरमहिमानं पश्यत। इत्येवं प्रस्तावं कुर्वन्निव सूर्य उदेति। अतः। सूर्यः प्रस्तावः। अन्तरिक्षम्। उद्गीथः अन्तरिक्षस्था वायुमेघ-चपला-प्रभृतय उच्चैर्गायन्त इव तदीयं महिमानं भासन्ते। अतः। अन्तरिक्षमुद्गीथः। अग्निः। प्रतिहारः। प्रतिहरति आनयति प्रापयतीति प्रतिहारः। यथा हुतद्रव्याणि गार्हपत्याद्यग्निः प्रत्येकं देवं प्रति यथाभागं नयति। तथैव भुवनरूपे महाकुण्डे चितोग्निः सर्वाणि वस्तूनि यथास्थानं यथाभागं नयति। प्रति। प्रत्येकं पदार्थं प्रतिहरति नयतीति प्रतिहारः। पृथिवी निधनम्। निदधातीति। स्वस्मिन् सर्वान् जन्तून् स्थापयति। अतोनिधनं पृथिवी ॥ २ ॥

अनुवादः—अब आवृत्त विषय में इस प्रकार जानना—द्युलोक हिंकार, आदित्य प्रस्ताव, अन्तरिक्ष उद्गीथ, अग्नि प्रतिहार और पृथिवी निधन है ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) ऊर्ध्व मुख लोकों के वर्णन के अनन्तर अब (आवृत्तेषु) अधोमुख लोकों के वर्णन के विषय में कहा जाता है कि (द्यौः) द्युलोक ही (हिङ्कारः) हिंकार है अर्थात् द्युलोकस्थ पदार्थ हिंकारविधि का सम्पादन करते हैं। कैसे ? द्युलोकस्थ तारकाएं और नक्षत्र मिलकर उसी के महान् ऐश्वर्य के गाने के हेतु मानो स्वस्व स्थान को भूषित करते हुए भासित होरहे हैं। अतः द्युलोक को हिङ्कार कहा है (आदित्यः, प्रस्तावः) सूर्य प्रस्ताव है। क्यों ? मानो रात्रि का शान्तिपाठ अब समाप्त हुआ। प्रातःकाल सब जन्तुओं के प्रति, उठो, जागो, सम्प्रति ईश्वर की महिमा देखो, इस प्रकार

प्रस्तावना को करता हुआ सूर्य उदित होता है (अन्तरिक्षम्, उद्गीथः) अन्तरिक्ष उद्गीथ है। क्योंकि अन्तरिक्षस्थ वायु मेघ और विद्युत् प्रभृति उच्च स्वर से उसकी महिमा को गाते हुए भासमान होते हैं। अतः अन्तरिक्ष को उद्गीथ कहा है (अग्निः, प्रतिहारः) अग्नि प्रतिहार है। क्यों ? गार्हपत्यादि अग्नि प्रत्येक देव के प्रति यथा भाग को ले जाते हैं "प्रतिहरति प्रत्येकं प्रतिहरति नयतीति प्रतिहारः" क्योंकि प्रत्येक के प्रति जो लेजाय उसे ही प्रतिहार कहते हैं (पृथिवी, निधनम्) पृथिवी निधन है। क्यों ? अधोमुख लोकों की गणना से पृथिवी अन्तिम होती है और सब पदार्थों को अपने में स्थापित करती है ॥ २ ॥

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च। य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

कल्पन्ते । ह । अस्मै । लोकाः । ऊर्ध्वाः । आवृत्ताः । च । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । लोकेषु । पञ्चविधम् । साम । उपास्ते ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कल्पन्त इति । उपासनफलं ब्रवीति । यो ब्रह्मविद् । एवम् पूर्वोक्तगुणविशिष्टं एतदिदं साम विद्वान् जानन् सन् । लोकेषु मध्ये पञ्चविधं साम । उपास्ते अधीते अस्मै उपासकाय ह । ऊर्ध्वाश्च । ऊर्ध्वस्थितलोकाश्च । आवृत्ताश्च अवाङ्मुख स्थितलोकाश्च । कल्पन्ते उपतिष्ठन्ते । एतेषां लोकानां तत्त्वं विभूतिञ्च जानातीत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ।

अनुवादः—जो उपासक ऐसा जानता हुआ इस पञ्चविध साम को लोक लोकान्तर में विचारता है उसके लिये ऊर्ध्व और आवृत्त लोक सब ही कल्पित होते हैं। इस में सन्देह नहीं अर्थात् दोनों प्रकार से सकल लोक लोकान्तरों के तत्त्वों को वह जान जाता है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(यः) जो उपासक (एतत्) इस (पञ्चविधम्) पञ्च प्रकार (साम) साम को (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (लोकेषु) पृथिवी अग्नि आदि लोकों में (उपास्ते) उपासना=विचार करता है (अस्मै) इस उपासक के लिये (ऊर्ध्वाः, लोकाः+च) ऊर्ध्व मुख लोक (आवृत्ताः+च) और अधोमुख लोक (कल्पन्ते) उपस्थित होते हैं (ह) इस में सन्देह नहीं। अर्थात् इन लोक लोकान्तर के सब तत्त्वको वह अच्छे प्रकार जान लेता है। इसी कारण प्राचीन लोक पदार्थतत्त्ववित् होते थे आधुनिक जन इस संसार में वर्त्तमान ईश्वरीय कौशल को नहीं देखते अतः तत्त्वज्ञान विमुख होते हैं ॥ ३ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत। पुरोवातो हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

वृष्टौ। पञ्चविधम्। साम। उपासीत। पुरोवातः। हिङ्कारः। मेघः। जायते। सः। प्रस्तावः। वर्षति। सः। उद्गीथः। विद्योतते। स्तनयति। सः। प्रतिहारः॥ १॥

भाष्यम्—वृष्टाविति। वर्षास्वपि सामविधयः प्रकृत्यैवानुष्ठीयन्ते। वृष्टौमेघवर्षणे। पञ्चविधं सामोपासीत। तथाहि। पुरोवातः प्राथमिको वायुः। हिङ्कारः। प्राथमिकवायुरूप ऋत्विक्। जलक्रियाप्रारम्भाय प्रसरणशान्तिवाचनं विधत्त इव। आकाशे मेघो यज्जायते परितः सम्भूय उत्पद्यते। सः प्रस्तावः। जायमानं मेघमवलोक्य वर्षिष्यति देव इति प्रजा आशासते। अतोमेघोन्नतिर्वृष्टेः प्रस्तावोऽस्ति। यद्वर्षति स उद्गीथः शीकरपातसमये परमाह्लादकरी स्वाभाविकी "उन्नामानमीश्वरं" गायन्तीव मन्दंमन्दम् उद्गीथकर्म विदधतीव च जलधारा निपतति। अतः स उद्गीथः। यद् विद्योतते प्रकाशते स्तनयति गर्जति च। स सर्वो मिलित्वा प्रतिहार विधिः निधनमग्रेवक्ष्यति॥ १ ॥

अनुवादः—वृष्टि में पञ्चविध साम का विचार करे प्राथमिक वायु ही हिङ्कार है। मेघ जो उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है जो बरसता है वह उद्गीथ है। जो मेघ में विद्युत् प्रकाशित होती है और जो गरजता है वह प्रतिहार है॥ १॥

पदार्थः—(वृष्टौ) जल वर्षण में (पञ्चविधम्) पांचों प्रकारों से (साम) साम को (उपासीत) विचारे=अध्ययन करे। आगे पञ्च प्रकार कहते हैं। (पुरोवातः) जो प्राथमिक वायु है वह तो (हिङ्कारः) मानो हिङ्कार विधि का सम्पादन करता है। क्योंकि प्राथमिक वायुरूप ऋत्विक् जलरूप विधि के प्रारम्भ के लिये शान्ति वचन मानो कर रहा है (मेघो जायते) आकाश में मेघ चारों तरफ से एकत्रित हो उत्पन्न होता हुआ दीखता है। (सः प्रस्तावः) वह प्रस्ताव है। क्योंकि जायमान मेघ को देख वृष्टि होने की आशा प्रजाओं में होती है। इस हेतु मेघोन्नति वृष्टि का प्रस्ताव है (वर्षति) जो बरसता है (सः उद्गीथः) मानो वह उद्गीथ है। क्यों? जल बिन्दुओं के पतन के समय परमाह्लादकरी, स्वाभाविकी, उन्नाम वाले ईश्वर को गाती हुई उससे मानो मन्द मन्द उद्गीथ कर्म का विधान करती हुई जलधारा गिरती है। इस हेतु वह उद्गीथ है। और (विद्योतते)

आकाश में जो विद्युत् प्रकाशित होती है और (स्तनयति) गरजता है (सः प्रतिहारः) वह दोनों मिलकर प्रतिहार है । निधन आगे कहेंगे ॥ १ ॥

उद्गृह्णातितन्निधनम् । वर्षति हास्मै वर्षयति ह । य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

उद्गृह्णाति । तत् । निधनम् । वर्षति । ह । अस्मै । वर्षयति । ह । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । वृष्टौ । पञ्चविधम् । साम । उपास्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्-उद्गृह्णातीति । यद् उद्गृह्णाति । वर्षोपसंहारं करोति तन्निधनम् । निधनविधौ यथा सामगा मन्दंमन्दं प्रगाय सर्वमुपसंहरन्ति तथैव वर्षणसमाप्तिकाले मन्दंमन्दं धाराया अवरोधो दृश्यते । अत उद्ग्रहणमुपसंहारो निधनं निगद्यते । एतदुपासनफलं वक्ति । यो ब्रह्मविद् । एवं विद्वान् जानन् सन् । वृष्टौ पञ्चविधं साम उपास्ते । अस्मै ह प्रसिद्धायोपासकाय । वर्षति ह्यानन्दवृष्टिर्भवति । अन्यान् प्रति च सहोपासकः । वर्षयति आनन्दवृष्टिं कर्तुं समर्थो भवति ॥ २ ॥

इति तृतीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-जो धीरे २ वर्षा समाप्त होती है वह निधन है । जो विद्वान् इसको ऐसा जानता हुआ वृष्टि में पञ्चविध साम का विचार करता है । इसके लिये आनन्द की वृष्टि होती है और यह दूसरों के हृदय में भी आनन्दरूप वृष्टि बरसाता है ॥ २ ॥

पदार्थः-(उद्गृह्णाति) वर्ष का जो उपसंहार करता है (तत् निधनम्) मानो वह निधन है क्योंकि निधनविधि में जैसे साम गानेवाले मन्दमन्द गाकर अपने गान का उपसंहार करते हैं । तद्वत् वर्षा की समाप्तिकाल में धारा का अवरोध मन्दमन्द होता है । अतः उद्ग्रहण जो उपसंहार वह निधन कहलाता है । अब इस उपासना का फल कहते हैं (यः) जो विद्वान् (एतत्) इसको (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (वृष्टौ) वृष्टि विषय में (पञ्चविधम्) पञ्चविध (साम) साम का (उपास्ते) विचार करता है (अस्मै+ह) इस उपासक के लिये (वर्षति) आनन्द की वृष्टि होती है और (वर्षयति+ह) दूसरों के हृदय में भी यह आनन्दवृष्टि कर सकता है ॥ २ ॥

इति तृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । मेघो यत्

सम्प्लवते स हिङ्कारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

सर्वासु। अप्सु। पञ्चविधम्। साम। उपासीत। मेघः। यत्। सम्प्लवते। सः। हिङ्कारः। यत्। वर्षति। सः। प्रस्तावः। याः। प्राच्यः। स्यन्दन्ते। सः। उद्गीथः। याः। प्रतीच्यः। सः। प्रतिहारः। समुद्रः। निधनम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-सर्वासु इति। सर्वासु सकलासु। नदीतड़ागवापीषु। अप्सु जलेषु। पञ्चविधं साम उपासीत। तास्वपि वैदिकीक्रिया अनुष्ठीयते। तत्रापि सर्वमवलोकनीयं दृष्ट्वाईश्वर-विभूति-महिमानं भावयेत। तथाहि। मेघो यत् सम्प्लवते। एकीभूय सम्यग् इतस्ततःप्लवितुं गन्तुं प्रारभते। स हिङ्कारविधिः। सादृश्यात्। मेघोयद्वर्षति। सः प्रस्तावः। मेघ वर्षणेन नदीवृद्धिः प्रस्तूयते। या आपः। प्राच्यः प्राङ्मुखाः सत्यः। स्यन्दन्ते। स उद्गीथः। याः आपः। प्रतीच्यः प्रत्यङ्मुखाः सत्यः स्यन्दन्ते। स प्रतिहारः। समुद्रो निधनम्। सर्वासामपांचजलधौसमाप्तेः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

अनुवादः-सब जलों में पञ्चविध सामका विचार करे। मेघ जो इधर उधर (आकाश में) उड़ता है मानो वह हिङ्कार है। जो बरसता है वह प्रस्ताव है। जो जल पूर्व मुख हो बहता है वह उद्गीथ है, जो जल पश्चिम मुख हो बहता है वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है ॥ १ ॥

पदार्थः—(सर्वासु+अप्सु) सब नदी, तड़ाग, वापी आदि (अप्सु) जलों में (पञ्चविधम्+साम) पञ्चविध साम का (उपासीत) विचार करे। जलों में भी वैदिकी क्रिया अनुष्ठित होती है उनमें भी सब अवलोकनीय वस्तु देख ईश्वर की विभूति की महिमा को देखे। इसी को आगे दिखलाते हैं (मेघः) मेघ (यत् सम्प्लवते) एक होकर अच्छे प्रकार इधर उधर दौड़ना आरम्भ करता है मानो (स हिङ्कारः) वह हिङ्कार है (यद् वर्षति) जो वर्षण होता है (स प्रस्तावः) वह मानो प्रस्ताव है। क्यों? मेघवर्षण से नदी की वृद्धि का प्रस्ताव होता है (याः) जो जल (प्राच्यः) पूर्वमुख हो (स्यन्दन्ते) बहता है (स उद्गीथः) मानो वह उद्गीथ है (याः) जो जल (प्रतीच्यः) पश्चिम मुख हो बहता है (स प्रतिहारः) वह प्रतिहार है (समुद्रोनिधनम्) समुद्र निधन है क्योंकि सब जलों की समुद्र में समाप्ति होने से वह निधन है ॥ १ ॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान् भवति । य एतदेवं विद्वान् सर्वा स्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

न । ह । अप्सु । प्रैति । अप्सुमान् । भवति । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । सर्वासु । अप्सु । पञ्चविधम् । साम । उपास्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्—न हाप्सु इति । एतदुपासनफलं दर्शयति । यो विद्वान् । एवम् । पूर्वोक्तगुणसहितम् । विद्वान् । जानन् । सर्वासु । अप्सु । सकलेषु जलेषु । एतत्पञ्चविधं सामोपास्ते । स न कदापि अप्सु । जलेषु । प्रैति । म्रियते । तथा । अप्सुमान् जलवान् भवति । यस्य पुरुषस्य जलस्य यावन्ति तत्त्वानि विदितानि भवन्ति । स विद्वान् प्रतीकारं विधातुं सर्वथैव समर्थो भवति । अतः । ईदृग् विद्वान् महासमुद्रे पतितोऽप्यात्मानमुद्धर्तुमर्हति । यत्र मरुभूमिषु च जलं न दृश्यते तत्रापि स्वयुक्त्या जलं संचेतुं संग्रहीतुमुत्खातुं च क्षमो भवति । जलाभावेन न कदापि स बाध्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अनुवादः—जो विद्वान् ऐसा जानता हुआ सब जलों में इस पञ्चविध साम का विचार करता है । वह कभी जल में नहीं मरता और सर्वत्र जलवान् होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(यः) जो विद्वान् (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (सर्वासु) सब (अप्सु) जलों में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) पञ्चप्रकारक (साम) साम का (उपास्ते) विचार करता है वह (न ह) कदापि नहीं (अप्सु) जलों में (प्रैति) मरता है और (अप्सुमान्+भवति) सर्वत्र जलवाला होता है ॥ २ ॥

भाष्याशयः—इस उपासना का फल यहां दिखलाया जाता है जिस पुरुष को जल के सब तत्त्व विदित होते हैं वह प्रतीकार करने में भी समर्थ होता है । अतः ईदृग् विद्वान् महासमुद्र में पतित होने पर भी अपने आत्मा का उद्धार कर लेता है और जहां मरुभूमियों में जल नहीं दीखता है । वहां पर भी जल को अपनी युक्ति से संचय, संग्रह और खोदने में शीघ्र समर्थ होता है अर्थात् जल के अभाव से कदापि वह मरता नहीं ॥ २ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ।

ऋतुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

ऋतुषु । पञ्चविधम् । साम । उपासीत । वसन्तः । हिङ्कारः । ग्रीष्मः । प्रस्तावः । वर्षाः । उद्गीथः । शरत् । प्रतिहारः । हेमन्तः । निधनम् ॥ १ ॥

भाष्यम् ऋतुष्विति । वसन्तादिष्वृतुषु । पञ्चविधं सामोपासीत । अवलोकयेत । कथम् । वसन्तो हिङ्कारः । वसन्ते विविधानि कुसुमानि सर्वेजीवाश्च प्रफुल्लिताः सन्तो वर्षारम्भे हिङ्कारविधिं कुर्वन्त इव लक्ष्यन्ते । ग्रीष्मः प्रस्तावः । भविष्यद्वर्षलक्षणं ग्रीष्मः प्रस्तौति । वर्षाः उद्गीथः । स्ववृष्टिपतननादोच्चारणेन । उन्नामानमीश्वरं गायंतीव । शरत्प्रतिहारः । शरदृतुर्बहून् रोगान् प्रतिहरत्यानयति । हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

अनुवादः–ऋतुओं में पञ्चविध साम विधि को देखे । वसन्त हिङ्कार, ग्रीष्म प्रस्ताव, वर्षा उद्गीथ, शरद् प्रतिहार और हेमन्त निधन हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(ऋतुषु) वसन्तादि ऋतुओं में (पञ्चविधम्) पञ्च प्रकार (साम) सामविधि का (उपासीत) विचार करे । कैसे ? (वसन्तः) वसन्त (हिङ्कारः) हिङ्कार है क्यों ? वसन्त में विविध कुसुम और सब जीव प्रफुल्लित हो वर्ष के आरम्भ में हिङ्कार विधि को पूर्ण करते हुए मानो देख पड़ते हैं (ग्रीष्मः प्रस्तावः) ग्रीष्म प्रस्ताव है । क्यों ? वर्षा के भविष्यत् लक्षण का प्रस्ताव करता है (वर्षा उद्गीथः) वर्षा ऋतु उद्गीथ है । क्योंकि स्ववृष्टिपतन के नादरूप उच्चारण से उन्नामवाला ईश्वर का मानो गान कर रहा है (शरत्+प्रतिहारः) शरद् ऋतु प्रतिहार है । क्योंकि शरद् ऋतु अनेक रोगों को लाता है (हेमन्तो निधनम्) हेमन्त निधन है ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति । य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

कल्पन्ते । ह । अस्मै । ऋतवः । ऋतुमान् । भवति । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । ऋतुषु । पञ्चविधम् । साम । उपास्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्—कल्पन्त इति । फलंवक्ति । यो विद्वान् । एवं पूर्वोक्तगुणसमन्वितम् । विद्वान् । विजानन् । ऋतुषु वसन्तादिषु । एतत् पञ्चविधं सामोपास्ते । अस्मै ह प्रसिद्धाय विदुषे । सर्वे ऋतवः कल्पन्ते । भोग्यत्वेनोपतिष्ठन्ते । यद्वा स ऋतुतत्त्वाभिज्ञोभवति । तथा । ऋतुमान् भवति । असमयेति ऋतुं प्रकटयितुं समर्थो भवति ॥ २ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः–जो विद्वान् ऐसा जानता हुआ ऋतुओं में इस पञ्चविध साम को तत्त्वावधारण करता है । उस के लिये सब ऋतु भोग्यत्वेन उपस्थित होते हैं और वह ऋतुमान् होता है ॥ २ ॥

पदार्थः-(यः) जो विद्वान् (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (ऋतुषु) ऋतुओं में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) पञ्चप्रकारक (साम) साम का (उपास्ते) तत्त्वावधारण करता है (अस्मै ह) इस उपासक के लिये (ऋतवः) ऋतु सब (कल्पन्ते) भोग्यत्वेन उपस्थित होते हैं । अथवा सकल ऋतुओं के तत्त्वों को वह जानता है और (ऋतुमान्+भवति) ऋतुमान् होता है ॥ २ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठ खण्डः ॥

पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत । अजाः हिङ्कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषोनिधनम् ॥ १ ॥

पशुषु । पञ्चविधम् । साम । उपासीत । अजाः । हिङ्कारः । अवयः । प्रस्तावः । गावः । उद्गीथः । अश्वाः । प्रतिहारः । पुरुषः । निधनम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-पशुष्विति । पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत । सम्यग् वृत्तेष्वृतुषु पशव्यः काल इत्यानन्तर्य्यः । अजाः । हिङ्कारः । प्राधान्यात् प्राथम्याद्वा । अजः पशूनां प्रथम इति । अवयः । प्रस्तावः । साहचर्यदर्शनादजावीनाम् । गाव उद्गीथः । श्रैष्ठ्यात् । अश्वाः प्रतिहारः प्रतिहरणात्पुरुषाणाम् । पुरुषो निधनम् । पुरुषाश्रयत्वात्पशूनाम् ॥ १ ॥

अनुवादः-पशुविषय पञ्चविध सामविधि का तत्त्वावधारण करे । अज (छाग) हिङ्कार, अवि (मेष) प्रस्ताव, गायें उद्गीथ, अश्व प्रतिहार और पुरुष निधन है ॥ १ ॥

पदार्थः-(पशुषु) पशुओं में (पञ्चविधम्) पञ्चविध (साम) सामवेद विधि का (उपासीत) तत्त्वावधारण करे । कैसे ? (अजाः) छाग सदृश पशुमात्र (हिङ्कारः) हिङ्कारविधि के अनुष्ठाता हैं (अवयः+प्रस्तावः) अवि=मेष सदृश पशु प्रस्ताव है (गावः) गायें (उद्गीथः) उद्गीथ हैं (अश्वाः+प्रतिहारः) अश्व प्रतिहार है (पुरुषः+निधनम्) पुरुष निधन है ॥ १ ॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति । य एतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

भवन्ति । ह । अस्य । पशवः । पशुमान् । भवति । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । पशुषु । पञ्चविधम् । साम । उपास्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्-भवन्तीति । फलं ब्रवीति । य उपासकः । एवं विद्वान् सन् । पशुषु अजाविप्रभृतिषु । एतत् पञ्चविधं सामोपास्ते । तस्यास्यैतत् फलं भवति । अस्य ह पशवो भवन्ति । युक्तया नियमेन च पाल्यमानाः पशवः प्रशस्ता भवन्ति वृद्धिं च प्राप्नुवन्ति । पुनः । पशुमान् भवति । प्रशस्ताः पशवोऽस्येति । न तस्य पशवः पशव्यरोगेण कदाचिदपि म्रियंत इत्यर्थः॥२॥

इति पष्ठखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अनुवादः—जो कोई विद्वान् ऐसा जानता हुआ पशुओं में इस पञ्चविध साम के तत्त्वों की अवधारणा करता है । इसको, निश्चय, पशु होते हैं और वह पशुमान् होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(यः) जो (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (पशुषु) पशुओं में (एतत्) इस (पञ्चविधम्) पांच प्रकार के (साम) साम के (उपास्ते) तत्त्वों का अवधारण करता है (अस्य) इस उपासक को (ह) निश्चितरूप से (पशवः) प्रशस्त पशु (भवन्ति) होते हैं और (पशुमान्+भवति) वह प्रशस्त पशुवाला होता है ॥ २ ॥

इति पष्ठखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत । प्राणो हिङ्कारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम् । परोवरीयाᳬसि वा एतानि ॥ १ ॥

प्राणेषु । पञ्चविधम् । परोवरीयः । साम । उपासीत । प्राणः । हिङ्कारः । वाग् । प्रस्तावः । चक्षुः । उद्गीथः । श्रोत्रम् । प्रतिहारः । मनः । निधनम् । परोवरीयांसि । वै । एतानि ॥ १ ॥

भाष्यम्—प्राणेष्विति । प्राणेषु घ्राणादिस्थप्राणेषु । पञ्चविधं पञ्चप्रकारकम् । परोवरीय परम्परं परोवरीयस्त्वगुणवद् अन्योन्यश्रेयस्त्वगुणविशिष्टमित्यर्थः । साम उपासीत विचारयेत । कथम् । प्राणो घ्राणस्थो वायुः । हिङ्कारः । उत्तरोत्तरवरीयसामिन्द्रियाणां मध्ये प्राथम्यात् । वाग् । घ्राणप्राणाद् वरीयसी वाग् । वाक्स्थः प्राणः प्रस्तावो वाचाहि सर्वं प्रस्तूयत अतः प्रस्तावः । वाणी व्यवहितमपि शब्दं गृह्णाति । घ्राणोवायुस्तु प्राप्तमेव विषयं विषिणोति । अतः । घ्राणाद् वरीयस्त्वं वाचः । चक्षुरुद्गीथः चक्षुषा ब्रह्मविभूतिर्यथा दृश्यते न तथान्यैरिन्द्रियैः । चक्षुषा निर्धारितं ब्रह्मोद्गायन्ति । श्रोत्रं श्रोत्रप्राणः प्रतिहारः । मनोनि-

धनम् । मनसि हि सर्वेन्द्रियविषयानिधीयन्ते स्थाप्यन्ते । अतीन्द्रियविषयोपि मनसोगोचर एवेति । परोवरीयांसि वै एतानि । उत्तरोत्तर वरीयस्त्वमुपपत्या विज्ञेयम् ॥ १ ॥

अनुवादः—प्राणों में पञ्चविध परोवरीय साम की तत्त्वावधारणा करे । घ्राणस्थ प्राणहिंकार, वाग् प्राण प्रस्ताव, चाक्षुष प्राण उद्गीथ, श्रौत्र प्राण प्रतिहार और मानस प्राण निधन है । निश्चय ये सब परोवरीय हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(प्राणेषु) प्राणादिस्थ प्राणों में (पञ्चविधम्) पञ्च प्रकारक (परोवरीयः) उत्तरोत्तर उत्कृष्ट श्रेष्ठ (साम) साम की (उपासीत) तत्त्वावधारणा करे (प्राणः) घ्राणस्थ प्राण (हिङ्कारः) हिङ्कार है क्योंकि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ प्राणों में यह प्रथम है (वाग्+प्रस्तावः) वाग्स्थित प्राण प्रस्ताव है । क्योंकि वचन से ही सबों का प्रस्ताव होता है । और घ्राण से वाग् इस हेतु श्रेष्ठ है कि व्यवहित विषय को भी वह ग्रहण करती है (चक्षुः+उद्गीथः) नयन उद्गीथ है नेत्र से जैसे ब्रह्म विभूति दीखती है वैसे अन्य इन्द्रियों से नहीं । नेत्र से निर्धारित ब्रह्म को गाते हैं (श्रोत्रम्+प्रतिहारः) श्रोत्र प्रतिहार है (मनः+निधनम्) मन निधन है क्योंकि सब इन्द्रियों से हृत विषय मन में ही प्राप्त होते हैं (वै) निश्चय (एतानि) ये घ्राण प्राणादि (परोवरीयांसि) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥ १ ॥

परोवरीयो हास्यभवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति । य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

परोवरीयः । ह । अस्य । भवति । परोवरीयसः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । प्राणेषु । पञ्चविधम् । परोवरीयः । साम । उपास्ते । इति । तु । पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

भाष्यम्—परोवरीय इति । यो विद्वान् । एवं । एवं गुणविशिष्टं साम । विद्वान् जानन् सन् । प्राणेषु । घ्राणादिस्थप्राणेषु । एतत्परोवरीयः श्रेष्ठं पञ्चविधं साम । उपास्ते विचारयति । तस्य सम्यग् तत्त्वावधारणं यः करोति । अस्य विदुषः । जीवनमित्यध्याहारः । परोवरीयो ह भवति । सर्वोत्कृष्टं भवतीत्यर्थः । तथा । परोवरीयसो लोकान्ह । जयति प्राप्नोति । इति तु पञ्चविधस्य साम्नो व्याख्यानं समाप्तम् ॥ २ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यम् समाप्तम् ॥ ७ ॥

अनुवादः—जो कोई विद्वान् ऐसा जानता हुआ, प्राणों में इस पञ्चविध परोवरीयान् साम की तत्त्वावधारणा करता है, इसका निश्चय (जीवन) परोवरीयान्=सर्वोत्कृष्ट होता है और परोवरीयान् लोकों का विजयी होता है। यहां पञ्चविध साम का वर्णन समाप्त हुआ ॥ २ ॥

पदार्थः-(यः) जो कोई विद्वान् (एवं+विद्वान्) ऐसा जानता हुआ (एतत्) इस (पञ्चविधम्) पञ्च प्रकार के (परोवरीयः) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ (साम) सामविधि की (उपास्ते) तत्त्वावधारणा करता है (अस्य ह) निश्चय, इस विद्वान् का जीवन (परोवरीयः) सर्वोत्कृष्ट होता है और (ह) प्रसिद्ध (परोवरीयसः) सर्वोत्तम (लोकान्) स्थानों का (जयति) विजयी होता है (इति तु) यह (पञ्चविधस्य) पञ्चविध साम का वर्णन समाप्त हुआ ॥ २ ॥ इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथ अष्टमः खण्डः ॥

अथ सप्तविधस्य। वाचि सप्तविधꣳसामोपासीत। यत्किञ्च वाचो हुमिति (हुं ३ इति) स हिङ्कारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

अथ। सप्तविधस्य। वाचि। सप्तविधम्। साम। उपासीत। यद्। किञ्च। वाचः। हुम्। इति। सः। हिङ्कारः। यत्। प्र। इति। सः। प्रस्तावः। यत्। आ। इति। सः। आदिः ॥ १ ॥

भाष्यम्-अथेति। कचिद् यागे सप्तभागानि सामगैर्गीयमानानि सामानि सन्ति। तानि अन्येष्वपि वागादित्यादिषु अतिदिश्यन्ते। हुं, प्र, आ, नि, उत् प्रभृतयः शब्दाअप्येकैकं याज्ञिकभावं दर्शयन्ति। शब्दोच्चारणे तां क्रियां शब्दतत्त्वविदः पश्यन्ति। संकेतो हि शब्दः। वायुना तात्वादिषु स्थानेषु संघर्षं प्राप्योद्भवति। दृश्यते च प्रत्यहं मारुतेन ताड्यमाना भूरुहा गर्जन्ति। कोमलः कठोरश्च द्विधाशब्दः। कमप्यनायासेन शिशव उच्चारयन्ति। कमप्युच्चारयितुं प्रयत्नेनाप्यसमर्थाः। अथ पञ्चविधस्य समस्तस्य साम्न उपदेशादनन्तरं। सप्तविधस्य सप्तविधाः प्रकारा यस्य तस्य सप्तविधस्य। समस्तस्य साम्न उपासनमग्रे व्याख्यास्यामः। वाचि। उच्चार्यमाणायां वाण्यां मध्ये। सप्तविधं सप्तप्रकारकं। साम सामधर्म्मम्। उपासीत। सूक्ष्मप्रज्ञया अवलोकयेत। तथाहि। वाचः वाण्याः। सम्बन्धि। यत्किञ्च। यत्किमपि हुम्। इति। हुं प्रकारकं पदम्। वर्त्तते। स यज्ञस्य हिङ्कारोवेदितव्यः। बाह्यतोवाभ्यन्तरतो वा यदा मनुष्यो व्याकुलीभवति तदा शान्त्यर्थं मन्दम्वातारम्वा हुमितिशब्दः स्वभावादेव तस्यमुखान्निःसरति।

यदा च कस्मैचिदपराधिने क्रुध्यति । तदापि हुं शब्दोच्चारणं विधाय तं दूरीकृत्य प्रकृतिं लभते । हिङ्कारविधिरपि सर्वैः शान्त्यै प्रयुज्यते । अत उभयोः साम्याद् हुमिति हिङ्कारः । यत् खलु प्र इति पदमस्ति स प्रस्तावः । यद् आ इति शब्दः । स आदिः ॥ १ ॥

अनुवादः–अनन्तर सप्तविध (समस्त) साम की उपासना का व्याख्यान करेंगे । वचन के विषय में सप्तविध साम की उपासना करे । वाणी सम्बन्धी जो कुछ "हुम्" यह शब्द है सो हिङ्कार है । जो "प्र" यह शब्द है सो प्रस्ताव है । जो "आ" यह शब्द है सो आदि है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) पञ्चविध साम की उपासना के अनन्तर (सप्तविधस्य) सप्तविध समस्त साम की उपासना का व्याख्यान करेंगे । सो आगे दिखलाया जाता है । (वाचि) वाणी के विषय में (सप्तविधम्) सप्त प्रकार के (साम) सामगान का (उपासीत) विचार करे (वाचः) वाणीसम्बन्धी (यत्किञ्च) जो कुछ (हुम्) हुम् (इति) यह अक्षर= हुं समान अक्षर हैं (सः) वह (हिङ्कारः) हिङ्कार है (यत्+प्र+इति) जो "प्र" यह अक्षर है (सः+प्रस्तावः) वह प्रस्ताव है (यद्+आ+इति) जो "आ" यह अक्षर है (सः+आदिः) वह आदि नामक साम है ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

यद् । उद् । इति । सः । उद्गीथः । यत् । प्रति । इति । सः । प्रतिहारः । यद् । उप । इति । सः । उपद्रवः । यत् । नि । इति । तत् । निधनम् ॥ २ ॥

भाष्यम्–यदिति । "उद्" इति यदक्षरं वर्त्तते स उद्गीथः । "प्रति" इति यदक्षरं स प्रतिहारः । "उप" इति यदक्षरं स उपद्रवः । "नि" इति यदक्षरन्तन्निधनम् ॥ २ ॥

अनुवादः–"उद्" जो अक्षर है वह उद्गीथ । "प्रति" जो अक्षर है सो प्रतिहार । "उप" जो पद है वह उपद्रव और "नि" जो पद है वह निधन है ॥ २ ॥

पदार्थः—(यद्) जो (उद्) उद् (इति) यह पद है (सः) वह (उद्गीथः) उद्गीथ है (यत्+प्रति+इति) जो यह "प्रति" पद है (सः प्रतिहारः) वह प्रतिहार (यद्+उप+इति) जो "उप" यह पद है (सः+उपद्रवः) वह उपद्रव है (यत्+नि+इति) जो यह "नि" पद है (तत्+निधनम्) वह निधन है ॥

इन सातों भक्तियों में से एक "हुं" को छोड़ अन्य सब में एक एक उपसर्ग का प्रयोग है । यथा–प्र+स्ताव=प्रस्ताव । आ+आदि=आदि । उद्+गीथ=उद्गीथ ।

प्रति+हार=प्रतिहार । उप+द्रव=उपद्रव । नि+धन=निधन । हुं यह अव्यय है । इन ही सप्त प्रकार के गानों से प्रायः सर्व वाणी बद्ध है अतः इनकी भी सूक्ष्मता का अध्ययन करे और उस में ईश्वर की महिमा देखे ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहम् । यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति । य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

दुग्धे । अस्मै । वाक् । दोहम् । यः । वाचः । दोहः । अन्नवान् । अन्नादः । भवति । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । वाचि । सप्तविधम् । साम । उपास्ते ॥ ३ ॥

भाष्यम्—दुग्ध इति । अस्मै उपासकाय । वाग् वाणी । स्वयं दोहं दुग्धं दुग्धे । को दोहः ? किं गवादीनां दुग्धम् ? न । तर्हि किम् ? यः वाचो दोहः । वाण्या यद् दुग्धं न तु धेन्वादीनां दुग्धम् । स्वसम्बन्धि दुग्धं । दुग्धे । आत्मानमेव दुग्धे । पुनः स उपासकः । अन्नवान् प्रचुरान्नो भवति । अन्नादः । विज्ञानलाभेन स्वस्थतयान्नभक्षकः । आधिव्याधि-रहित आनन्दितोभवतीत्यर्थः । आनन्देन नीरुग् जायते नीरोगतयाच स्वस्थतया यथेच्छं भोगवान् भवति । यः । उपासकः । एवं विद्वान् जानन् । वाचि । वाग्विषये । एतत्सप्तविधं । साम । उपास्ते भावयति अधीत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—इस उपासक के लिये वाणी स्वयं निज सम्बन्धी दूध दुहती है और वह (उपासक) अन्नवान् और अन्नाद होता है जो उपासक वाणी विषय में इस प्रकार जानता हुआ इस सप्तविध साम को विचारता है ॥ ३ ॥

पदार्थः—इस उपासक के लिये (वाग्) वाणी स्वयं (दोहम्) दुग्ध (यः) जो (वाचः) वाणी का (दोहः) दुग्ध है अन्य गाय आदि का दूध नहीं (दुग्धे) दुहती है अर्थात् उस उपासक को वाणी के तत्त्व विदित होने लगते हैं और (अन्नवान्) बहुत अन्नवाला (अन्नादः) अच्छे प्रकार भोजन करने वाला (भवति) होता है (यः) जो (एवं विद्वान्) इस प्रकार जानता हुआ (वाचि) वचन के विषय में (एतत्सप्त-विधं साम) इस सप्त विध साम को (उपास्ते) विचारता है * ॥ ३ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

---

* प्रपाठक १ । ३ । ७ । तथा १ । १३ । ४ देखो ॥

समीक्षा ।

नैकस्मिन्नेवैशानी विभूतिः पर्य्यालोचनीया । तुच्छतरमपि यद्वस्तु त्वद्दृष्ट्या विद्यते । तदपि भूयोभूय उपास्यमानमभित आलोड्यमानञ्च सदैशानीं विलक्षणां कृतिं तव मानसे प्रतिविम्बयित्वा कामपि आत्मनैवविज्ञेयामानन्दधारां सेक्ष्यति । यः खलु कस्मिंश्चिदप्येकस्मिन्नेव परमात्मविकाशं दर्शंदर्शंविमुह्यन्नन्यतो जिज्ञासाया विरमति स ईषद्विदेव वालक्रीडं क्रीडति । अतः परस्परविभिन्नानन्दप्रदायिन्यां मनोहारिण्यामद्भुतच्छविमय्यामीश्वरीयियावत्सृष्टावेकैकां विलक्षणतामधीष्व । यद्यपि त्वद्दृष्ट्या प्र, परा, अप, आ, नि, उत् प्रभृतयः शब्दाः निःसारा विचारानर्हाः प्रतीयेरन्नाम । तथापि पृच्छामस्तावत् । एते कुत आयाताः ? किंमूलकाः ? केन पुरा प्रयुक्ताः ? स्वतोर्थविद्योतनाः पारतंन्त्र्येणैवार्थगमकावा ? कश्चैतेषामितिहासः ? कथमेते उपसर्गा निपाता अव्ययनिवा व्याकरणपरिभाषाभिः परिभाष्यन्ते ? न तत्त्वतोवबुध्यते महद्भिरपि कोविदैः । एतेषामियं विलक्षणता । यद्यपि प्राय उपसर्गो न केवलः प्रयुक्तो दृश्यते । मिलित्वा आकाशं पातालं विदधाति । पातालञ्चाकाशम् ।

भाषार्थः—एक ही वस्तु में केवल ब्रह्म की विभूति देखनी नहीं चाहिये । तुम्हारी दृष्टि में जो वस्तु बहुत ही तुच्छ है उसे भी यदि वारम्वार अध्ययन करो और भूयो भूय उसमें प्रविष्ट हो विचारो तो वह भी विलक्षण ईश्वरीय कृतिको तुम्हारे मन में प्रतिविम्वित कर, केवल आत्मैक-विज्ञेय किसी अद्भुत आनन्दधाराको सिक्त करेगी । जो आदमी किसी एक ही वस्तु में परमात्मविकाश देख उसी को देख २ मोहित हो अन्य जिज्ञासा से विरत हो जाते हैं, वे ईषद्विद् हैं । वे केवल वालक्रीड़ा कर रहे हैं । अतः परस्पर विभिन्न-आनन्द-प्रदायिनी, मनोहारिणी, अद्भुतछविमयी, ईश्वरीय यावत्-सृष्टि में एक २ विलक्षणता का अध्ययन करो । तव उसकी महिमा का विकाश तुम्हारे हृदय में होने लगेगा, यद्यपि तुम्हारी दृष्टि में प्र, परा, अप, आ, नि, उद् आदि शब्द निःसार और विचारानर्ह (विचारने के योग्य नहीं) प्रतीत होते हैं । तथापि मैं पूछता हूं कि ये कहां से आये ? इनका मूल क्या है ? किसने प्रथम इनको प्रयुक्त किया ? क्या ये स्वयं कुछ अर्थ देते हैं ? या परतन्त्र होकर ही अर्थ के वोधक होते हैं ? इनका इतिहास क्या है ? क्यों व्याकरण परिभाषाओं से उपसर्ग वा निपात वा अव्यय ये सव कहे जाते हैं । वड़े २ विद्वान् भी इसमें विस्मित हो अवाक हो जाते । सुनो, इनकी यह विलक्षणता है । उपसर्ग प्रायः अकेले नहीं प्रयुक्त होते हैं । परन्तु अन्य में संयुक्त होकर वड़ी विचित्रता दिखलाते हैं । वहुधा निपात और अव्ययों की भी यही गति है ।

गमनमागमनम् । हारमाहारम् । मरणममरणम् । ईश्वरमनीश्वरङ्करोति । इत्थं सर्वे उपसर्गा अव्ययानि वा महाबलवन्ति आकर्षणशक्तीनि च लक्ष्यन्ते । यदीमानि तत्त्वतो विज्ञातुमिच्छसि तर्हि महर्षेः पाणिनेः शरणमन्विच्छ । एवं च शाब्दिक विद्या पारावारं विज्ञाननौकया प्रविश । तदा द्रक्ष्यसि "अनन्ता वै प्रभु नियमाः सर्वे वा आमोदाः प्रमोदा इति । उपसमीपे सृज्यन्ते प्रयुज्यन्त इत्युपसर्गाः । शब्दानां समीपगाः सन्त एवार्थावभासकाः । वेदे खलु परे पूर्वे च प्रयुक्ता व्यवहिता अपि । सम्प्रति वेदवन्न प्रयुज्यन्ते । तेचोपसर्गा धातोः प्रागेव प्रयुज्यन्ते । कथमियं व्यवस्था ? किं पाणिनिना हठान्नियमोऽयं प्रवर्त्तितः ? लोकैश्चापि तथैव गृहीतः? नहि भोः । शनैः शनैर्मनुष्याणामीदृशी रुचिर्जाता यदेते उपसर्गा धातोः प्रागेव अव्यवहिता एव प्रयोक्तव्या इति । लक्ष्याणि ईदृशान्येव दृष्ट्वा तादृशमेवसूत्रं सूत्रयाञ्चकार महर्षिः पाणिनिः । कथमीदृशी रुचिर्जाता कथम्वा ईदृशी व्यवस्था लोकैः प्राचारि । न ज्ञायते कारणम् । अन्वेषणीय-

---

ये मिलकर आकाश को पाताल और पाताल को आकाश कर देते हैं। देखो, हार को विहार, गमन को आगमन, हार को आहार, मरण को अमरण, ईश्वर को अनीश्वर ये बना देते हैं। इससे ये उपसर्ग और अव्यय बड़े शक्तिशाली और आकर्षण शक्ति वाले प्रतीत होते हैं। यदि इनको तत्त्वतः जानना चाहते हो तो महर्षि पाणिनि की शरण में जाओ। इस प्रकार विज्ञाननौका से शाब्दिक विद्या पारावार (समुद्र) में प्रवेश करो। देखो, कैसे २ ईश्वरीय नियम तुम्हें प्रतीत होंगे। पुनः उपसर्ग की विलक्षणता देखो। ये समीप में ही प्रयुक्त होते हैं। ये सर्वदा धातु के निकट ही रहते हैं इसी हेतु इनका नाम उपसर्ग हुआ। वेद में ये उपसर्ग पूर्व, पर और व्यवहित होकर भी प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु वेदवत् आजकल इनका प्रयोग नहीं होता। आजकल ये धातुओं के अव्यवहित पूर्व में ही सदा रहेंगे। परन्तु काल पाकर ऐसी व्यवस्था क्यों हो गई ? क्या यह जिज्ञासा तुम्हारे हृदय में नहीं उत्पन्न होती है। क्या महर्षि पाणिनि ने हठात् उस नियम को बदल दिया और लोग भी वैसा ही मानने लगे ? परन्तु यह बात नहीं हो सकती। वैदिक नियम को पाणिनि नहीं बदल सकते। किन्तु धीरे २ निज सुगमतार्थ इस परिवर्त्तन को करने लगे कि उपसर्ग धातु से पूर्व ही और अव्यवहित ही प्रयोक्तव्य हैं। पाणिनि महर्षि ने भी लक्ष्यों को देख वैसे ही लक्षण बनाये। परन्तु मनुष्यों की ऐसी व्यवस्था और ऐसी रुचि क्योंकर हुई ? क्यों ऐसी व्यवस्था प्रचारित की। इत्यादि अनेक वस्तुओं की जिज्ञासा केवल उपसर्ग से होती है। क्या हे सौम्य ! यह ईश्वरीय शक्ति

मेवकारणमिदानीमपि । पुनरपि विचार्य्यतां सौम्य ! परमविलासिनो लीलापरायणस्याचिन्त्यमहीयसोऽविज्ञेय स्वभावस्य ब्रह्मणः कृतिः कीदृशं वैलक्षण्यं प्राप्ता भासते । शब्दमयान् संसारानभित एव तस्य लीलाकौशलं निरीक्षस्व । शब्दानुद्दिश्य कदाचित्त्वं महिमानमद्राक्षीः ? यावन्तो जीवास्तावन्तः शब्दास्त्वया श्रूयन्ते । सर्वे परस्परविलक्षणाः । समयेसमये सर्वे मनोहराः । मूल्यंविनैव प्रत्येकमात्मानं प्रसादयन्ति विहगाः प्रकृतिगायका एकस्वरालापिनः सदैवाविकृतहृदयाः सततमस्खलितकण्ठाः । रात्रौ झिल्लिकाः स्वमधुरनिनदैः । वर्षासु पीताम्बरा उच्चस्वराः प्रहृष्टाः क्रीडारता मण्डूका ब्रह्मचारिण इव तस्यैव सामगेयस्य विष्णोरद्भुतां गाथां गायन्ति । इत्थमनन्ता वै विद्याः सौम्य ! । परमकारुणिका महर्षयो वाणीविलक्षणतामध्येतुमस्मान् प्रेरयन्ति । जगति ब्रह्मविभूत्यध्ययनायेवेयं मनुष्यसृष्टिः । स्वयं भगवान् वर्षर्तुं विशिनष्टि ।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः । ऋ० ७ । १ । सू० ३० । १ ॥

नहीं है ? । यह अध्ययन करने की वस्तु नहीं है । हे सौम्य ! ये सब बड़ी निपुणता के साथ अध्ययन करने के योग्य हैं । इस प्रत्येक वस्तु के अध्ययन से मनुष्य मुनि होते हैं यह तो मैंने उपसर्ग के विषय में तुम को संकेत किया । यह देखो, परमविलासी, लीलापरायण, अचिन्त्यमहिमा, अविज्ञेय स्वभाव ब्रह्म की कैसी २ कृति, विलक्षणता को प्राप्त हो भासित हो रही है । शब्दमय संसार के चारों तरफ उस की लीलाकौशल देखो । प्रायः जितने जीव हैं उतने शब्दों को तुम सुनते हो । प्रायः सब ही परस्पर विलक्षण हैं । समय २ पर सब ही मनोहर हैं । ये विहङ्ग मूल्य विना ही अपने मधुर ध्वनि से प्रत्येक मनुष्य के आत्मा को तृप्त कर रहे हैं । ये सब प्रकृतिदेवी के गायक हैं । देखो कोकिलों को, सदैव अविकृत-हृदय और उन के कण्ठ कभी स्खलित नहीं होते । ये झिल्लिक स्वमधुर निनादों से रात्रि में कैसे आनन्द देते हैं । वर्षाकाल में पीताम्बर, उच्चस्वर, प्रहृष्ट, क्रीडारत मण्डूक, ब्रह्मचारी समान, सामगेय विष्णु की अद्भुत गाथा को गाते हैं । इस प्रकार अनन्त विद्याएं हैं । हे सौम्य ! परमकारुणिक महर्षिगण हम जीवों को प्रेरित करते हैं कि वाणी की विलक्षणता में भी ईश्वरीय मोहिनी विभूति को देखो । हे प्रिय ! संसार में ब्रह्मविभूति को जानने के लिये ही यह मनुष्यसृष्टि हुई है । स्वयं भगवान् भी वर्षा-ऋतु का वर्णन दिखलाते हैं, यथा—

(व्रतचारिणः) व्रत करने वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण के समान (संवत्सरम्)

पुनरप्युपमया शकुनिं विशिनष्टि तद्यथा-

प्रदक्षिणिदभिगृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः । उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानुराजति ॥ १ ॥ उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि । वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥ २ ॥ आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः । यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ३ ॥ ऋ० मंड० २ । सू० ४३ ॥

इत्थं प्रत्येक वस्तुनि ब्रह्मविभूत्यध्ययनं कर्त्तव्यमितिशिक्षते महर्षिः ॥

वर्षभर (शशयानाः) सोने वाले (मण्डूकाः) ये दादुर (पर्जन्यजिन्विताम्) मेघ से सुशोभित (वाचम्) वाणी को (प्र+अवादिषुः) बोल रहे हैं ॥

पुनः उपमा के द्वारा पक्षियों की भी प्रशंसा दिखलाई गई है-जैसे (ऋतुथा) ऋतुओं में (वदन्तः) बोलते हुए (शकुन्तयः) शक्तिमान् (वयः) पक्षी कहते हैं वैसे (कारवः) कारुकजन (उभे) ऐहिक और पारमार्थिक सुख सिद्ध करने वाली (वाचौ) वाणियों का (अभि, गृणन्ति) सब ओर से उपदेश करते हैं जो (प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिणा को प्राप्त होने वाला (सामगाइव) साम गाने वाले के समान (गायत्रम्) गायत्री (च) और उष्णिहादि (त्रैष्टुभम्) त्रैष्टुभ को (च) और जगती आदि को भी (वदति) कहता है वह ऐहिक पारमार्थिक दोनों वाणियों को (अनु राजति) अनुकूलता से प्रकाशित करता है ॥ १ ॥ हे (शकुने) पखेरू के समान सामर्थ्य वाले जो तुम (उद्गातेव) ऊर्ध्व स्वर से वेद को गाते हुए के समान (साम) सामवेद का (गायसि) गान करते हो (ब्रह्म पुत्र इव) चारों वेदों के ज्ञाता का जैसे कोई पुत्र हो वैसे (सवनेषु) यज्ञ सम्बन्ध में प्रातःकाल की क्रिया आदि में (शंससि) स्तुति करते सो तुम (वृषेव) महाबलि बैल के समान (वाजी) बलवान् (शिशुमतीः) प्रशंसित बालकों वाली स्त्रियों को (अपीत्य) निश्चय से प्राप्त होकर (नः) हम लोगों के लिये (सर्वतः) सब ओर से (भद्रम्) कल्याण का (आवद) उपदेश कर । हे (शकुने) कहने की शक्ति से युक्त पुरुष तू सब ओर विद्या का उपदेश कर । हे (शकुने) सब ओर से शक्तिमान् (नः) हम लोगों के लिये (विश्वतः) सब ओर से (पुण्यम्) पुण्य का (आवद) उपदेश कर ॥ २ ॥ हे (शकुने) शक्तिमान् पक्षी के समान वर्त्तमान तू (आवदन्) सब ओर से उपदेश करता हुआ (भद्रम्) कल्याण करने योग्य प्रस्ताव का (आवद) अच्छे प्रकार उपदेश कर (तूष्णीम्) मौन को आलम्बन कर (आसीनः) बैठे हुए योग का अभ्यास करता हुआ (नः)

अथ नवमः खण्डः ॥

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत। सर्वदा समस्तेन साम। मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम॥ १ ॥

अथ। खलु। अमुम्। आदित्यम्। सप्तविधम्। साम। उपासीत। सर्वदा। समः। तेन। साम। माम्। प्रति। माम्। प्रति। इति। समः। तेन। साम॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति। य इमां सम्पूर्णां विसृष्टिं समुदितां ससर्ज। स कीदृग् भवेत्। क्वास्ति इति साधारणा जिज्ञासा मानवानां हृदि समुत्पद्यते। सत्वशरीरः शरीरेषु तिष्ठति। शारीरेण चक्षुषा कथं दृश्येत। तस्य महिमैव दृश्यः। यथा विरहिणो जनाः स्मारं २ स्वप्रियस्य महिमानमेवोत्कीर्तयन्ति, गुणान् गायन्ति, तद्भुक्तसृष्टान् पदार्थान् दर्शं दर्शम् "इदमस्य शयनागारम्। इदमस्य प्रियं पाठ्यं स्तोत्रम्। इयमस्यप्रिया लेखनी। स्वयं तेन वासन्ती॥ रोपिता। इमानि कुसुमानि तेनैव सम्यक् पालितानि सिक्तानि च। आलवालानि परितः कृतानि" इत्येवंविधैस्तदीयैर्वस्तुभिः सार्धमालपन्तः कथं कथमपि वासराणि क्षपयन्ति। तथैव जिज्ञासुभिर्जनैस्तदीयं महिमानं गायद्भिः कीर्तयद्भिर्ध्यायद्भिर्विचारयद्भिश्च समयो नेतव्यः। अतस्तस्य महान्तं महिमानं जिज्ञासून् दर्शयितुमुपनिषदुपक्रमते। अथेदानीं। खलु वाक्यालङ्कारः। अमुंद्युस्थम्। आदित्यम् आसमन्ताद् द्योतमानं भास्करम्। उद्दिश्य। आदित्यसमन्वा। सप्तविधं सप्तप्रकारकं साम। उपासीत विचारेत। कीदृगादित्यः। सर्वदा समः सर्वान् प्रति तुल्यरूपः सूर्योस्ति। मनुष्यादारभ्याकीटपतङ्गेभ्यो सर्वेभ्यो जीवेभ्यः सममालोकं लाभम्वा वितरत्येष सूर्य्यः। अतः आदित्यः समोनिगद्यते। यत आदित्यः समोस्ति। तेनैव हेतुना सामापि सामतुल्योऽपि। कथमिदम्? अज्ञानिनो ज्ञानिनो वा सर्वे सामगीतौ समा एव निमग्ना भवन्ति। ये च सामपदानामर्थं जानन्ति ये च न जानन्ति उभयेऽपि आनन्दरोमाञ्चिता दृश्यन्ते। अतः सामगीतिर्यथा सर्वान् प्रति समास्ति तथैवायम्। ननुभोरर्थज्ञा गीतितत्त्वमर्मज्ञाश्च इतरेभ्योविशेषमानन्दमासादितुं शक्नुयुरित्यनुमीयते। तत्कथं साम्नः

हम लोगों की (सुमतिम्) शुभ बुद्धि (चिकिद्धि) समक्ष (उत्पतन्) ऊपर को उड़ते के समान जिस (भद्रम्) कल्याण करने योग्य काम को (यथा) जैसे (कर्करिः) निरन्तर करने वाला हो वैसे (वदसि) कहते हो इसी से (सुवीराः) सुन्दर वीरों वाले हम लोग (विदथे) संग्राम में (बृहत्) बहुत कुछ (वदेम) कहें ॥ ३ ॥ यह अर्थ श्रीस्वामीजी का है ॥

समत्वं सर्वान् प्रति? गीतौ विलक्षणव्यवस्थानियमादपूर्वा कापि शक्तिः। या, उभयेभ्योऽज्ञ-विज्ञेभ्यः समानमानन्दं वितरति। नहि कोकिल-कूजनं कमप्यर्थं प्रत्याययति। नहि वीणाध्वनिरर्थनिर्णायकः। नह्येतेषु शब्दार्थौ आह्लादकारणम्। किन्तु ध्वनिरेवानन्दहेतुः। हठादिव गीतिः सर्वानाकृष्य स्वव्यापारे बुधानबुधांश्च बध्नाति। अत आदित्यः सामवत्। केवल गीतिप्रसंगादत्रेयं व्याख्या। अन्यत्र तु। अर्थज्ञा एवानन्दभागिनो नह्यन्ये। सूर्यस्य समत्वं दर्शयति। अयमादित्यः। मां प्रति वर्त्तते मां प्रति वर्त्तत इति सर्वान्जनान् प्रति तुल्यां बुद्धिमुत्पादयति। मम सम्मुखे मम सम्मुख एव सूर्योऽस्तीति सर्वोजनस्तुल्यमेव सूर्यं पश्यति। अतः सर्वेण सार्धं तुल्यः सूर्योऽस्ति तेनैव तुल्यत्वेन साम। सः। सामतुल्य इत्यर्थः॥ १॥

अनुवादः—मन इस आदित्य के समान सप्त प्रकार के साम का विचार करे। वह आदित्य सर्वदा सम है इस हेतु साम तुल्य है। मुझ को मुझ को सूर्य प्राप्त है, वा मेरे प्रति मेरे प्रति आदित्य वर्त्तता है (ऐसी तुल्य बुद्धि को सूर्य उत्पन्न करता है) इस हेतु (वह) सर्वों के साथ सम है, अतः वह सामवत् है॥ १॥

पदार्थः—(अथ) अब (खलु) निश्चयरूप से (अमुम्+आदित्यम्) इस आदित्य के उद्देश से अथवा आदित्य के समान (सप्तविधम्) हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन इस सप्तविध (साम) गेय साम को (उपासीत) ईश्वरीय सृष्टि में विचार करे। वह आदित्य कैसा है सो आगे कहते हैं (सर्वदा) सर्वदा (समः) तुल्य है (तेन) इस कारण (साम) सामवत् है (मां प्रति) मेरे प्रति (मां प्रति) मेरे प्रति वह आदित्य वर्त्तमान है ऐसा ही लोग समझते हैं (इति) इस हेतु (सर्वेण समः) वह आदित्य सर्वों के साथ सम है (तेन साम) इस हेतु वह साम तुल्य है॥ १॥

भाष्याशयः—(१) जिस ने इस सम्पूर्ण समुदित विसृष्टि का सृजन किया है, वह कैसा होगा और कहां है? यह साधारण जिज्ञासा मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होती है। वह अशरीर परमात्मा सम्पूर्ण शरीरों में स्थित है। शारीर चक्षु से कैसे देख पड़े। उस की महिमा ही दीखती है। जैसे विरहि-जन वारम्वार स्मरण करके अपने प्रिय की महिमा को ही उत्कीर्त्तन करते हैं। गुणों को गाते हैं उससे भुक्त और परित्यक्त पदार्थों को देख देख "यह इसका शयनागार है। यह प्रिय पाठ्यस्तोत्र है। यह इसकी प्रिय लेखनी है। स्वयं इसने वासन्ती रोपी थी। कुसुम उसने स्वयं रक्षित और सिक्त किये। वृक्षों के

मूलों के चारों तरफ ये आलवाल (जलाधार) किये" इत्यादि एवंविध उस की वस्तुओं के साथ २ आलाप करते हुए कथंकथमपि (किसी प्रकार) वासरों को व्यतीत करते हैं। वैसे ही जिज्ञासु जनों को उचित है कि उस ब्रह्म की महिमा को गाते कीर्त्तन करते ध्यावते और विचार करते हुए समय वितावें । इसी हेतु यह उपनिषद् उस की महान् महिमा को जिज्ञासुओं को दिखलाने के हेतु आगे का प्रकरण आरम्भ करती है ।

(२) सर्वदा समः । सर्वदा वह आदित्य (सूर्य्य) सम (तुल्य) है । इस का भाव यह है कि मनुष्य से लेकर कीट पतङ्ग पर्य्यन्त सब जीवों को तुल्य ही लाभ वा आलोक पहुंचाता है । अतः आदित्य सम कहलाता है ॥ (३) तेन साम । जिस कारण यह सम है अतः यह आदित्य साम गान के तुल्य है । कैसे ? अज्ञानी वा ज्ञानी सब ही समान ही सामगान में निमग्न हो जाते हैं जो साम पदों के अर्थों को जानते और जो नहीं जानते हैं वे दोनों ही आनन्द-रोमाञ्चित देखने में आते हैं । अतः जैसे सामगान सबों को समान ही भासित होता है वैसा ही आदित्य भी । इस हेतु आदित्य सामसमान है । इसमें आशङ्का होती है कि जो लोग अर्थ और गीति-तत्त्व के मर्मज्ञ हैं । वे इतर जनों से विशेष आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं ऐसा अनुमान होता है । फिर आप सामगान का समत्व सबों के प्रति कैसे सिद्ध करते हैं ?, समाधान—गीत में एक विलक्षण व्यवस्था के नियम के कारण अपूर्व कोई शक्ति है । जो अज्ञ और विज्ञ दोनों को समान फल देती है । देखो ! कोकिल कूजन से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । वीणाध्वनि किसी अर्थ का निर्णायक नहीं है तथापि आह्लादक है । इन सबों में शब्दों के अर्थ आह्लाद के कारण नहीं । किन्तु ध्वनिमात्र आनन्द का कारण है । इसी हेतु गीत, बुध अबुध जनों को बलात् अपनी ओर आकर्षण करके अपने व्यापार में समान ही बांध रखता है । इस हेतु अर्थज्ञ और अर्थ रहित दोनों ही सामगान से समान ही प्रसन्न होते हैं । अतः सूर्य्य सामवत् कहा गया है । यहां केवल गीत का प्रसंग है । हां ! जहां अर्थ का विचार है वहां तो अर्थज्ञ को ही आनन्द प्राप्त हो सकता है अन्य को नहीं । (४) पुनः आशङ्का होती है कि ईश्वरकी सृष्टि में पृथिवी वायु मेघ चन्द्रतारका आदि सब ही वस्तु तुल्य ही लाभ पहुंचाने वाली हैं । फिर सूर्य में विशेषता क्या रही । यह तुम्हारा कथन तो ठीक है, परन्तु सूर्य इन सब पदार्थों में सौर जगत् की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है अतः मुख्यता के कारण इस का उदाहरण दिया गया है और तृतीय प्रपाठक के प्रारम्भ में आदित्य शब्द के ऊपर अवतरणिका देखो ॥ १ ॥

अवपातनिका ।

न प्रयतामहे खल्वादित्यविषये यावज्ज्ञेयमस्ति तावत्सर्वं विज्ञातुम् । अतिदूरत्वात् तेजः शरीरतया यन्त्रादिभिरपि दुर्निरीक्षणीयत्वादस्माकमनवहितत्वाच्च यावन्तः सूर्यगतधर्मा अस्मन्मतिषु नोदिताः । शङ्कन्तेकेऽपि । किमस्त्यादित्ये यद् वयमन्वेषयामः प्राकृतत्वाद् बन्धनहेतुत्वेन हेये वस्तुन्यात्मानमासज्य कथमवसादयेम । तद्गत-भूयोधर्मावबोध-पाटवेनाप्यमृतत्वाय न कल्पामहे । सत्यम् । सर्वस्यास्य ब्रह्माण्डस्य प्रकृत्याक्रान्तत्वात् तद्रिक्तस्थानाभावात् सर्वत्रैव बन्धनापत्तिः । येनामृतत्त्वोपभोगस्तदपि लैङ्गं शरीरं प्राकृतमेव । प्राकृताज्जगतो दूरमपसर्तुं न वयं पारयामः । ईश्वरेण प्रकृतेस्तथैव विस्तारितत्वात् । जडाप्रकृतिः कथं चेतनानस्मान् बद्धुं शक्नुयात् । अहो वाव प्रियतमस्य हृदयविलासिनः शारीरेणाहरहराकाङ्क्षितस्याऽऽकृष्टनिखिलजनमानसस्य अन्याकृताकृतेर्दुर्लभस्य स्वामिनोऽपि अलौकिकीं दिव्यां छविं प्रकृतिद्वारैव यदावलोकयामस्तदा का नाम प्रकृतेस्त्यागस्य कथा । प्रकृतिं दर्शं २ तदीयां लीलां स्मरामः, प्रकृतिषु पत्रेषु स्वेन करेण लिखितानि अक्षराणि वाचं २ गुणान् स्मृत्वा सवाष्पनयना गद्गद्वाचो भूत्वा कञ्चिदानन्दावगाहं प्रविश्य सर्वमन्यत्तत्कालं विस्मरामः । यदि आदित्यादयस्तस्य स्मारकास्तदीयैश्वर्यप्रसारिणो मा भूवन् कः खलु तर्हि तज्ज्ञातुं शतकोटिकल्पैरपि शक्नुयात् । यर्हि वाव स्वयमेव परमात्मना निरतिशयशुभगुणाकरेण रचयित्वेमां सर्वतो निजकौशलालङ्कृतां सृष्टिं मुक्तावलिमिवानुप्रविश्य व्याप्यते । तर्हि ब्रह्मगह्वरामिमां प्रकृतिमण्डलीमपहाय क्वान्यत्र तदन्विष्यामः । अहो सौम्य ! तस्मात् प्रकृतिरेवद्वारं तज्ज्ञानाय । प्रकृतावादर्शे तद् द्रष्टुं शक्नुमः । अत उक्तं च "भूतेषु भूतेषु विचिन्त्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" अन्यच्च "यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश । य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः" स्वयं वेदः खलु इममेवार्थमुपदिशति " सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यदि । यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरं । दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मैज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः । महद्यक्षं भुवनस्यमध्ये" इत्यादिश्च मंत्रः किं शिक्षते । परमेश्वरः प्रकृतौ अन्वेषणीयः उपासनीयस्तु स्वे महिम्न्येव । इति ॥

भाषाः—आदित्य के विषय में जितनी ज्ञेयवस्तु है, उतनी सबको जानने के लिये हम लोग प्रयत्न नहीं करते हैं । अति दूर होने से और तेजोमय शरीर के कारण यन्त्रादिकों से भी वह आदित्य दुर्निरीक्षणीय है और हम लोगों की असावधानता भी विशेष कारण है । जिससे कि यावत् सूर्यगत धर्म हम लोगों की बुद्धि में अभी तक उदित नहीं हुए हैं । यदि कोई कहे कि सूर्य में क्या वस्तु है जिसको हम लोग अन्वेषण करें और

प्राकृत होने से बन्धन के कारण त्याज्य वस्तु में अपने आत्मा को लगा क्योंकर नीचे गिरावें। आदित्यगत बहुत धर्मों के बोध में यदि हम लोग पटुता प्राप्त भी कर लेवें तब भी क्या हुआ। अमृत पाने के अधिकारी उससे हम लोग नहीं होसकते हैं। समाधान-सत्य है, यह तो विचारो कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस प्रकृति से आक्रान्त है। प्रकृतिरहित कोई भी स्थान नहीं। तब प्रकृति वा प्राकृत वस्तु यदि बंधन का कारण हो तो सर्वत्र ही बन्धन ही बन्धन है, मुक्ति कहीं भी नहीं होसकती। जिस शरीर से मुक्तिसुख का उपभोग होता है वह भी तो लिङ्ग सम्बन्धी शरीर प्राकृत ही है। सुनो ! प्राकृत जगत् से दूर जाने को हम लोग समर्थ नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर ने प्रकृति को वैसी ही विस्तारित किया है कि उससे शून्य कोई भी स्थान नहीं। प्रकृति जड़ है हम चेतन को कैसे बांध सकती है। अहो, आश्चर्य, प्रियतम, हृदयविलासी, आत्मा से प्रतिदिन क्षण क्षण आकांक्षित, आकृष्ट-निखिल-जन-मानस, अव्याकृताकृति दुर्लभ उस स्वामी की अलौकिक अनतिशय सुन्दरी दिव्य छवि को प्रकृति के द्वारा ही जब हम लोग देख सकते हैं तो प्रकृति के त्याग की कथा ही क्या हो सकती है। प्रकृति को ही देख देखकर उसकी लीला को स्मरण करते हैं। प्रकृतिरूप पत्रों पर मानो उसके हाथ से लिखित अक्षरों को बांच बांच गुणों को स्मरण कर सवाष्प-नयन और गद्गद वचन होकर किसी आनन्दसरोवर में प्रविष्ट हो स्वदुःखों को उस काल में भूल जाते हैं। हे सौम्य ! यदि आदित्य आदि पदार्थ उसके स्मारक और ऐश्वर्य के प्र-सारक न होते तो कौन आदमी उसके जानने में शतकोटि कल्पों में भी समर्थ होसकता। हे सौम्य ! जब निरतिशय शुभगुणाकर स्वयं परमात्मा सर्वतः निज कौशलालंकृत इस सृष्टि को रचकर अपने को जनवाने के हेतु दर्पण समान इसे बना इसमें प्रविष्ट हो सर्वत्र व्याप्त होरहा है। तब ब्रह्मगह्वर इस प्रकृतिमण्डली को त्याग कहां दूसरी जगह इसको अन्वेषण कर सकते हैं। हे सौम्य ! इस हेतु प्रकृति ही इसके ज्ञान के लिये द्वार है इसी प्रकृतिरूप आदर्श में इसको देख सकते हैं। अन्य उपनिषद् में भी कहा गया है (भूतेषु०) सकल पदार्थों वा प्राणियों में उसकी विभूति को जो अनुभव करता है वह मुक्तिभागी होता है। और भी (यो देवो०) जो देव अग्नि जलादि सब भुवन में प्रविष्ट है उसे नमस्कार है। हे सौम्य ! स्वयं वेद इस वाक्य में क्या कहता है सुनो ! (सूर्य्य आत्मा०) वही स्थावर और जंगम का आत्मा है। "यस्य भूमिः प्रमा" इत्यादि। "महद् यक्षम्" इत्यादि मन्त्र हमको क्या उपदेश देता है परमेश्वर प्रकृति के मध्य में अन्वेषणीय है। यह सिखला रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि वह उपास्य तो स्वमहिमा में ही है यह सम्पूर्ण प्रकृति उसकी

दर्शिका है । योगशास्त्र में प्रकृति का नाम दृश्य रक्खा है (द्रष्टुं योग्यं दृश्यम्) देखने के योग्य को "दृश्य" कहते हैं सौर जगत् में सूर्य्य की प्रधानता है। अतः यह भगवान् की प्रियतम रचना है जैसे तक्षा की बनाई हुई वस्तु की प्रशंसा से तक्षा की ही वह प्रशंसा समझी जाती है । वैसेही ईश्वरकृति की गुणवर्णना से उसकी स्तुति होती है । परन्तु जैसे तक्षाकृत वस्तु को कोई तक्षा नहीं कह सकता वैसे ही ईश्वरकृत पदार्थ को कोई ईश्वर नहीं कह सकता ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिङ्कारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिङ्कुर्वन्ति हिङ्कारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

तस्मिन् । इमानि । सर्वाणि । भूतानि । अन्वायत्तानि । इति । विद्यात् । तस्य । यत् । पुरोदयात् । सः । हिङ्कारः । तत् । अस्य । पशवः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । ते । हिङ्कुर्वन्ति । हिङ्कारभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ॥ २ ॥

भाष्यम्–तस्मिन्निति । इमानि प्रसिद्धवद्दृश्यानि सर्वाणि निखिलानि भूतानि । प्राणिनः । तस्मिन् आदित्ये । अन्वायत्तानि अनुगतानि अधीनानि । तदधीनान्येव कार्य्यानुष्ठायीनीत्यर्थः । इति विद्यात् जानीयात् । इति मुनय उपदिशन्ति । अधीनत्वात् प्राणिनो यद् यत् कुर्वन्ति तत्तदादित्यकारणमेव । आत्माधीनत्वादिन्द्रियव्यापाराः सर्वे यथात्महेतवः । कः प्राणी कस्मिन् काले कतमत् साम अभिनयतीत्युच्यते । तस्यादित्यस्य । उदयादुद्गमनाद् । पुरापूर्वम् । यद्योब्राह्ममुहूर्त्तपरिमितः कालोस्ति । स हिङ्कारः । हिङ्कारविधिकृत् । यद्वा तत्कालसमो हिङ्कारः । अस्यादित्यस्य तत् हिङ्कार भक्तिरूपं ब्राह्ममुहूर्तम् । अन्वायत्ताः । अनुगामिनः । पशवः । तत्कालाधीनाः प्रायेण कर्म्मानुष्ठायिनः । तस्मिन् काले आरण्या ग्राम्या वा पशवो विनिद्राभवन्ति । आरण्यास्तु नक्तं यथेच्छं चरित्वा आनन्दमुपभोक्तुं स्वस्वविवराभिमुखाः प्रतिष्ठन्ते । समस्तस्यानन्दस्य उपभोक्ष्यमाणस्य एकांशतयायं हिङ्कारविधिप्रारम्भः। ग्राम्यास्तु स्वस्व स्वामिनोत्थिते न प्रदास्यमानान् घासादीन् आहारान् तदानन्दप्रदान् उपलब्धुं हिङ्कारशब्दं कुर्वन्तो हिङ्कारविधिमनुतिष्ठन्त इव स्वामिगमनं प्रतीक्षन्ते । यद्वा । प्रकृत्या पशवस्तस्मिन् समये उन्निद्रा सन्त आह्निक याज्ञस्यैकांशं पूरयन्त इव प्रतीक्षन्ते ॥ २ ॥

अनुवादः—उस (आदित्य) में ये सब प्राणी अन्वायत्त हैं । ऐसा जानना चाहिये । उस सूर्य के उदय के पूर्व जो ब्राह्ममुहूर्त समय है वह मानो हिङ्कार है । इस सूर्य के उस हिङ्कार के अन्वायत्त पशु हैं । उस कारण वे (पशु) हिङ्कार कर्म करते हैं । क्योंकि इस साम गान के ये ही हिङ्कारभाजी हैं ॥ २ ॥

पदार्थः—(तस्मिन्) उस आदित्य में (इमानि+सर्वाणि) ये सब (भूतानि) प्राणी (अन्वायत्तानि) अनुगामी अर्थात् आदित्य के अधीन ही सब प्राणी स्व स्व कार्य्य के अनुष्ठाता हैं (इति+विद्यात्) ऐसा जाने (तस्य) उस सूर्य के (उदयात्+पुरा) उदय के पूर्व (यत्) जो ब्राह्ममुहूर्त्तरूप काल है (सः+हिङ्कारः) वह हिङ्कार है (अस्य) इस सूर्य के (तत्) उस ब्राह्ममुहूर्तरूप काल के (अन्वायत्ताः) अधीन (पशवः) पशु हैं (तस्मात्) उस कारण (ते) वे (हिङ्कुर्वन्ति) हिङ्कारविधि का अनुष्ठान करते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस (साम्नः) सामगानरूप (हिङ्कारभाजिनः) हिङ्कारविधि के अनुष्ठाता पशु ही हैं ॥ २ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

अथ । यत् । प्रथमोदिते । सः । प्रस्तावः । तद् । अस्य । मनुष्याः । अन्वायत्ताः । तस्माद् । ते । प्रस्तुतिकामाः । प्रशंसाकामाः । प्रस्तावभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथेति । हिङ्कारविवरणादनन्तरं प्रस्तावः प्रारभ्यते । प्रथमोदिते । तस्येति पदं सर्वत्राध्याहार्यं द्वितीयस्मात् । तस्यादित्यस्य प्रथमोदयसमये । यन्मुहूर्त्तं भवति । स प्रस्तावः । प्रस्तावकारणं । प्रस्तावविधिप्रचारकं विज्ञेयं तम्समः प्रस्तावो वा । कथम् । मनुष्याः । अस्यादित्यस्य तन्मुहूर्त्तम् । अन्वायत्ताअनुगताः । तदधीनकर्मानुष्ठानपरायणाः । तस्मादेव कारणात् । ते मनुष्याः । प्रस्तुतिकामाः प्रशंसाकामाश्च तस्मिन्काले भवन्ति । हि यतः । एतस्य साम्नः । एतस्यादित्यतुल्यस्य साम्नः । प्रस्तावभाजिनो मनुष्याः । प्रस्तावं भक्तुं सेवितुं शीलं येषां ते प्रस्तावभाजिनः ॥ ३ ॥

अनुवादः—अनन्तर उस (सूर्य्य के) प्रथम उदय के समय में जो मुहूर्त्त होता है तत्सम प्रस्ताव है इस (सूर्य) के उस मुहूर्त्त के अधीन मनुष्य हैं । उस हेतु वे (मनुष्य) प्रस्तुतिकाम और प्रशंसाकाम होते हैं । क्योंकि इस आदित्यसम साम के प्रस्तावभाजी मनुष्य हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः–(अथ) हिङ्कार के वर्णन के अनन्तर प्रस्ताव प्रसंग का आरम्भ होता है (प्रथमोदिते) सूर्य के प्रथमोदय के समय में (यत्) जो मुहूर्त्त वा रूप होता है (स प्रस्तावः) उसके समान मानो प्रस्ताव है। कैसे ? सो आगे कहते हैं (अस्य) इस सूर्य के (तद्) उस मुहूर्त्त वा रूप के (अन्वायत्ताः) अन्वायत्त=अनुगत=अधीन (मनुष्याः) मनुष्य हैं अर्थात् उस मुहूर्त्त के ऊपर निर्भर मनुष्य रहते हैं (तस्मात्) उस हेतु (ते) वे मनुष्य (प्रस्तुतिकामाः) उस समय में प्रस्तुति=विशेष स्तुति करने की कामना वाले होते हैं और (प्रशंसाकामाः) ईश्वर की प्रशंसा करने की इच्छावाले होते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य) इस आदित्य समान (साम्नः) गेय सामवेद के (प्रस्तावभाजिनः) प्रस्ताव की सेवा करने वाले मनुष्य हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायाᳬं स आदिस्तदस्य वयाᳬं स्यन्वायत्तानि। तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

अथ। यत्। सङ्गववेलायाम्। सः। आदिः। तत्। अस्य। वयांसि। अन्वायत्तानि। तस्मात्। तानि। अन्तरिक्षे। अनारम्भणानि। आदाय। आत्मानम्। परिपतन्ति। आदिभाजीनि। हि। एतस्य। साम्नः ॥ ४ ॥

भाष्यम्–अथेति। अथप्रस्तावानन्तरमादिः प्रारभ्यते। सङ्गववेलायाम्। तस्यादित्यस्य यन्मुहूर्त्तं रूपम्वास्ति। स आदिः। तत्सम आदिः। आदि विधिकारणम्। यस्यां वेलायां रश्मीनां सङ्गवो संगमनं संक्रमणं निःसरणं भवति अर्थाद्यस्मिन् काले सूर्य्यरश्मयोनिष्क्रमितुमारभन्ते सा सङ्गववेला। यद्वा। यस्मिन्काले गोचारका वत्सान् पाययितुं स्व स्व मातृभिः सङ्गमय्य गाश्चारयितुं गोष्ठान्निःसारयन्ति सा सङ्गववेला। कथं तन्मुहूर्त्तमिवादिरित्याह। अस्यादित्यस्य तन्मुहूर्त्तम्। अन्वायत्तानि=अनुगतानि=अधीनानि। वयांसिपक्षिगणा सन्ति। यत एवंतस्माद्धेतोः। तानि वयांसि। अन्तरिक्षे आकाशे अनारम्भणानि=अनालम्बनानि सन्ति। आत्मानमादाय गृहीत्वा परिपतन्ति परितः पतन्ति=उड्डीयन्ते। हि यतएतस्यादित्यसमस्य साम्नः गेय सामवेदस्य। आदिभाजीनि=आदिविधिसेवीनि वयांसि भवन्ति। आदिं भक्तुं सेवितुं शीलं येषां तानि ॥ ४ ॥

अनुवादः–अनन्तर सङ्गववेला में (आदित्य का) जो मुहूर्त्त होता है वह आदि है। पक्षिगण इस (आदित्य) के उस मुहूर्त्त के अधीन हैं। अतः वे अन्तरिक्ष में आल-

म्बन रहित रहने पर भी अपने को ले चारोंतरफ उड़ते हैं। क्योंकि इस आदित्य सम साम के आदिभाजी वे पक्षी हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) प्रस्तावभक्ति के वर्णन के अनन्तर (सङ्गववेलायाम्) सूर्यकी किरणों के निकलने का जो समय है वा वत्सों को दूध पिलाकर गौओं को वन में ले जाने का जो समय है उसे सङ्गववेला कहते हैं। उस समय में (यत्) जो मुहूर्त्त हैं (सः+आदिः) वह आदि है वह समय आदि विधिका प्रवर्त्तक है। अथवा उस के समान मानो आदि है (वयांसि) पक्षिगण (अस्य) इस आदित्य के (तत्) उस मुहूर्त्त के (अन्वायत्तानि) अधीन हैं वा तदधीनकार्य करनेवाले हैं। वा पक्षिगण इस समयानुसार मानो वैदिक "आदि" विधि के अनुष्ठाता हैं। (तस्मात्) इस कारण (तानि) वे पक्षीगण (अन्तरिक्षे) आकाश में (अनारम्भणानि) अनारम्भण=अनालम्बन=आश्रय रहित हो करके भी (आत्मानम्) अपने को (आदाय) ले (परिपतन्ति) चारों तरफ उड्डीयमान होते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य+साम्नः) इस आदित्य समान साम की (आदिभाजीनि) आदि नामक विधि के सेवन करने वाले वे पक्षीगणही हैं ॥४॥

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

अथ । यत् । सम्प्रति । मध्यन्दिने । सः । उद्गीथः । तत् । अस्य । देवाः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । ते । सत्तमाः । प्राजापत्यानाम् । उद्गीथभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति । आदिविवरणानन्तरमुद्गीथभक्तिः प्रदर्श्यते । सम्प्रति । इदानीम् । मध्यन्दिने । मध्याह्नसमये । आदित्यस्ययन्मुहूर्त्तरूपम्वास्ति । स उद्गीथः । तत्समः । उद्गीथः । कथम् ? अस्यादित्यस्य तन्मुहूर्त्तरूपम्वा । देवाः । विद्यादिगुणैः प्रकाशमाना विद्वांसः । अन्वायत्ता अनुगताः । अधीनाः । यत एवम् । तस्मात्कारणात् । ते देवाः प्राजापत्यानाम् प्रजापतिसन्ततीनां मध्ये । ईश्वररचितानां जीवानां मध्य इत्यर्थः । सत्तमाः । विशिष्टतमाः सन्ति । हि यतः । एतस्यादित्यतुल्यस्य साम्नः । उद्गीथभाजिनः । उद्गीथसेविनो देवाः सन्ति ॥ ५ ॥

अनुवादः-अनन्तर । सम्प्रति मध्याह्नसमय में आदित्य का जो मुहूर्त्त होता है ।

तत् सम उद्गीथ है। इस आदित्य के उस मुहूर्त्त के अनुगत देवगण हैं। इस कारण ईश्वर सृष्टि में सत्तम=अत्युत्तम हैं। क्योंकि इस आदित्यसमान साम के उद्गीथसेवी वे ही हैं॥ ५॥

पदार्थः-(अथ) आदि भक्ति के अनन्तर (सम्प्रति) सम्प्रति (मध्यन्दिने) मध्याह्न समय में (यत्) सूर्य्य का जो मुहूर्त्त होता है (सः+उद्गीथः) मानो वह उद्गीथ है (अथ) इस आदित्य के (तत्) उस मुहूर्त्त के (अन्वायत्ताः) अधीन कार्य्य करने वाले (देवाः) विद्यादिगुणों से प्रकाशमान विद्वान् गण हैं (तस्मात्) उस हेतु (ते) वे विद्यादि प्रकाशित विद्वान् गण (प्राजापत्यानाम्) ईश्वर के सृष्ट पदार्थों में (सत्तमाः) सबों से उत्तम हैं (हि) क्योंकि (एतस्य+साम्नः) इस आदित्य समान गेय साम के (उद्गीथभाजिनः) उद्गीथभक्ति वाले वे ही देव हैं॥ ५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ६॥

अथ। यद्। ऊर्ध्वम्। मध्यन्दिनाद्। प्राग्। अपराह्णात्। सः। प्रतिहारः। तद्। अस्य। गर्भाः। अन्वायत्ताः। तस्मात्। ते। प्रतिहृताः। न। अवपद्यन्ते। प्रतिहारभाजिनः। हि। एतस्य। साम्नः॥ ६॥

भाष्यम्—अथेति। उद्गीथभक्तिः प्रदर्शिता। प्रतिहारभक्तिरथनिरूप्यते। मध्यन्दिनाद्। ऊर्ध्वम्। अपराह्णात्। प्राग्। यन्मुहूर्त्तम्। रूपम्वा वर्त्तते। स प्रतिहारः। तत्सम: प्रतिहारः। अस्यादित्यस्य तन्मुहूर्त्तं गर्भा अन्वायत्ता अधीनाः सन्ति। यत एवम्। तस्मात्कारणात्। ते। गर्भाः प्रतिहृताः सन्तः। न। नैव कदापि। तदा। अवपद्यन्ते। निपतन्ति हि यतः। एतस्यादित्यसमस्य साम्नः प्रतिहारभाजिनो गर्भा भवन्ति॥ ६॥

अनुवादः—अनन्तर मध्याह्न से ऊर्ध्व अपराह्ण से पूर्व जो मुहूर्त्त है मानो वह प्रतिहार है। इस आदित्य के उस मुहूर्त्त के अधीन गर्भ काम करने वाले हैं। उस हेतु वे गर्भ प्रतिहृत होकर उस समय नहीं गिरते हैं क्योंकि इस आदित्य समान साम के प्रतिहारभाजी वे ही हैं॥ ६॥

पदार्थः-(अथ) उद्गीथ के अनन्तर (मध्यन्दिनात्) मध्याह्न समय के (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व (अपराह्णात्+प्राग्) अपराह्ण से पूर्व (यत्) जो मुहूर्त्त होता है (अस्य+तत्) इस आदित्य के उस समय के (अन्वायत्ताः) अनुसार कार्यसाधक (गर्भाः) गर्भ होते हैं (तस्मात्) उस हेतु (ते) वे गर्भ (प्रतिहृताः) प्रतिहृत होकर उस समय (न) नहीं

(अवपद्यन्ते) गिरते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य+साम्नः) इस आदित्य सम साम के (प्रतिहारभाजिनः) प्रतिहार के अनुष्ठाता वे ही हैं ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्व-मपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षं श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

अथ । यद् । ऊर्ध्वम् । अपराह्णात् । प्राग् । अस्तमयात् । सः । उपद्रवः । तद् । अस्य । आरण्याः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । ते । पुरुषम् । दृष्ट्वा । कक्षम् । श्वभ्रम् । इति । उपद्रवन्ति । उपद्रवभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अथानन्तरम् । अपराह्णात् । ऊर्ध्वम् । अस्तमयात् । प्राग् । आदित्यस्य । यन्मुहूर्त्तं रूपम्वा वर्त्तते । स उपद्रवः । कथम् । अस्यादित्यस्य तन्मुहूर्त्तम् । रूपम्वा । अन्वायत्ताः अधीनाः । तदधीन कार्य्यानुष्ठायिनः । आरण्याः । अरण्य पशवः । यत एवम् । तस्मात्कारणात् । ते पशवः । पुरुषम् । मनुष्यम् । दृष्ट्वा । अवलोक्य । कक्षम् । अरण्यम् । श्वभ्रम् । भयशून्यं निजविवरं । उपद्रवन्ति । उपगच्छन्ति । पलायन्त इत्यर्थः । हि यतः । एतस्यादित्योपमस्य साम्नः । उपद्रवभाजिनस्ते भवन्ति ॥ ७ ॥

अनुवादः—अनन्तर । अपराह्ण समय के ऊर्ध्व और अस्त समय के पूर्व जो मुहूर्त्त है। मानो वह उपद्रव विधि है । इस आदित्य के उस समय के अनुसार कार्य्यकर्त्ता अरण्य पशु हैं । उस कारण वे पुरुष को देख अरण्य को वा निज विवर को दौड़ते हैं, क्योंकि इस आदित्य सम साम के उपद्रवविधि के सेवक वे ही हैं ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अथ) प्रतिहार भक्ति के वर्णन के अनन्तर उपद्रव भक्ति का वर्णन प्रारम्भ होता है (अपराह्णात्) अपराह्ण से (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व और (अस्तमयात्) अस्त समय से (प्राग्) पूर्व (यत्) जो मुहूर्त्त है (सः+उपद्रवः) वह मानो उपद्रव है (आरण्याः) अरण्यपशु (अस्य) इस आदित्य के (तत्) उस मुहूर्त्त के (अन्वायत्ताः) अधीन हो कार्य्यानुष्ठाता हैं (तस्मात्) उस हेतु (ते) वे अरण्यपशु (पुरुषम्) पुरुष को देखकर (कक्षम्) वनको (श्वभ्रम्) वा निजविवर को (उपद्रवन्ति) भाग जाते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य+साम्नः) इस साम के (उपद्रवभाजिनः) उपद्रवविधि के अनुष्ठाता वे ही हैं ॥ ७ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनम् । तदस्य पितरोऽ-

न्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ८ ॥

अथ । यत् । प्रथमास्तमिते । तत् । निधनम् । तत् । अस्य । पितरः । अन्वायत्ताः । तस्मात् । तान् । निदधति । निधनभाजिनः । हि । एतस्य । साम्नः । एवम् । खलु । अमुम् । आदित्यम् । सप्तविधम् । साम । उपास्ते ॥ ८ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथानन्तरम् । प्रथमास्तमिते । सूर्यस्य प्रथमास्तसमये । यन्मुहूर्त्तरूपमवास्ति । तत् । तन्मुहूर्त्तसमम् । निधनमस्ति । अस्यादित्यस्य । तन्मुहूर्त्तम् । अन्वायत्ताः । अनुगताः । पितरः सन्ति । यत एवम् तस्मात् । तान् पितॄन् । पालकान् । निदधति । स्वकीयरक्षणे निहितान् स्थापितान् कुर्वन्ति । हि यतः । एतस्यसाम्नो निधनभाजिनः पितरो भवन्ति । एवमवयवशः सप्तविधं । सप्तधाविभक्तम् । साम । अमुमादित्यं दृश्यमानं सूर्यमुद्दिश्य । यो विद्वान् उपास्ते स आदित्य-तत्त्वविद् जायत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अनुवाद:-अनन्तर । प्रथम अस्तसमय में जो मुहूर्त्त होता है मानो वह निधन हैं । इस सूर्य के उस मुहूर्त्त के अनुगामी पितर हैं उस हेतु इन पितरों को उस समय में सन्निहित करते हैं । क्योंकि वे इस साम के निधनभाजी हैं । इस प्रकार निश्चितरूप से इस आदित्यसम सप्तविध साम की जो उपासना करता है (वह आदित्य के तत्त्वों को जान जाता है) ॥ ८ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (प्रथमास्तमिते) प्रथम अस्तमय समय में (यत्) जो मुहूर्त्त होता हैं (तत्+निधनम्) मानो वह निधन है (पितरः) पितरगण (अस्य) इस आदित्य के (तत्) उस मुहूर्त्त के (अन्वायत्ताः) अनुसार कार्य्यकर्त्ता हैं (तस्मात्) उस हेतु (तान्) उन पितरों को (निदधति) मनुष्य लोग रक्षा करने में सन्निहित करते हैं (हि) क्योंकि (एतस्य+साम्नः) इस आदित्य समान साम के (निधनभाजिनः) निधनविधि के सेवक वे ही हैं (एवम्) इस प्रकार (खलु) निश्चितरूप से (अमुम्+आदित्यम्) इस आदित्य के समान (सप्तविधम्) सप्तविध (साम) साम की (उपास्ते) जो उपासना करते हैं वे आदित्य के सकल तत्त्वों को जानते हैं यह इस का फल है ॥ ८ ॥

इति नवमखण्डस्य भाषा समाप्ता ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः

गेय साम्नः सप्तविभक्तयो भवन्ति । हिङ्कारः । प्रस्तावः । आदिः । प्रतिहारः । उद्गीथः । उपद्रवः । निधनञ्च । इति पूर्वं प्रदर्शितम् । एतेषु सप्तसु पदेषु द्वाविंशतिरक्षराणि भवन्ति । एकमक्षरं यदि त्यजेत्तर्ह्येकविंशतिरक्षराणि शिष्यन्ते सप्तभिर्विभाजितेषु तेषु त्रीण्यक्षराणि लभ्यन्ते । प्रत्येकविभागे त्रीणि त्रीणि अक्षराणि भवन्तीति विज्ञेयम् । अतः सर्वासां विभक्तीनां त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैः समत्वम् । अधुनादित्योप्येकविंशतितमः । द्वादशमासाः । पञ्चर्तवः । त्रय इमे लोकाः । असावादित्यश्च । सर्वोमिलित्वैकविंशत्यात्मक एक आदित्यो निगद्यते । आदित्येनैवैतेषां धारणं पोषणञ्च । अयमेवादित्यो मृत्युः । आदित्योह्येवाहोरात्रादिकालेन जगदिदं प्रमापयति । तेनैव प्राणिनांमृत्युर्भवति । एतन्मृत्युतरणायास्ति कोप्युपायो न वेति ? अस्ति । कस्तावत् ? एतत्सप्तविभक्त्यादीनां विज्ञानम् । एतेनैव मृत्युमतितरति । अवशिष्टं यदेकक्मक्षरम् । तेनादित्यात्परं ज्योतिर्जयतीति प्रदर्शयितुं खण्डस्यास्यप्रारम्भः ॥

गेय साम की सात विभक्तिएं हैं । हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्गीथ, उपद्रव और निधन । यह पूर्व दिखलाया गया है । इन सातों पदों में २२ (बाईस) अक्षर हैं । एक अक्षर यदि छोड़ दिया जाय तो २१ (इक्कीस) अक्षर शेष रहेंगे । सात से यदि वे विभक्त होवें तो तीन अक्षर लब्ध होंगे । अर्थात् प्रत्येक विभाग में तीन २ अक्षर होंगे ऐसा जानना चाहिये । अतः उन सातों विभक्तियों का तीन २ अक्षरों से समत्व होगा । यह भी तुम जानते हो कि आदित्य भी एकविंश=इक्कीसवां है अर्थात् १२ मास । पांच ऋतु । तीन ये लोक और एक यह आदित्य । ये सब मिलकर एकविंशत्यात्मक आदित्य कहलाता है आदित्य से ही इनका धारण और पोषण होता है अतः यह सब आदित्यात्मक है और यही आदित्य मृत्यु है । क्योंकि आदित्य ही दिन रात्रि काल से इस सम्पूर्ण जगत् को नापते रहते हैं उसी से प्राणियों को मृत्यु होता है । अब यह प्रश्न होता है कि इस मृत्यु के तरण के लिये कोई उपाय है वा नहीं है । कौन ? इन सातों विभक्तियों के अक्षरों का ज्ञान । उसी से मृत्यु को तरते हैं । अब अवशिष्ट जो एक अक्षर है उस के द्वारा आदित्य से पर ज्योति को जीतता है । इस विषय को दिखलाने के हेतु इस खण्ड का आरम्भ है ॥

---

(१) विद्या प्रवृत्त्यर्थ यह उपदेश है । (२) इन सबों का अन्तिम परिणाम ब्रह्मज्ञान है वही आदित्य से पर ज्योति है ।

अथ खल्वात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपासीत। हिङ्कार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

अथ । खलु । आत्मसम्मितम् । अतिमृत्यु । सप्तविधम् । साम । उपासीत। हिङ्कारः । इति । त्र्यक्षरम् । प्रस्तावः । इति । त्र्यक्षरम् । तत् । समम् ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति । खलु वाक्यालङ्कारः । अथानन्तरम् । सप्तविधं सामोपासीत । कीदृशं साम । आत्मसम्मितम् । स्वावयवतुल्यतयामितम् । परमात्मतुल्यतया वा सम्मितम् । पुनः कीदृशम् । अतिमृत्यु । मृत्युमतिक्रान्तमतिमृत्यु । मृत्युविजयि । सम्प्रति हिङ्कारादि-सप्त-विभक्तीनामक्षराणि आचतुर्थमन्त्राद् गणयति । हिङ्कार इति त्र्यक्षरम् । त्रयाणामक्षराणां समाहारस्त्र्यक्षरम् । त्रीण्यक्षराणि यस्मिन्निति वा । हिं+का+र इति त्र्यक्षराणि । पुनः प्रस्ताव इति त्र्यक्षरम् । प्र+स्ता+व इति । तद्द्वयं समम् । अक्षरसंख्यया तुल्यम् ॥ ११ ॥

अनुवादः—अब आत्मसम्मित, अतिमृत्यु सप्तविध साम का अध्ययन करे । हिङ्कार-पद में तीन "हिं+का+र" अक्षर हैं वैसे ही प्रस्तावपद में तीन "प्र+स्ता+व" अक्षर हैं अतः वे दोनों तुल्य हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (खलु+आत्मसम्मितम्) अपने तुल्य वा परमात्म तुल्य (अतिमृत्यु) मृत्यु को अतिक्रम करने वाला (सप्तविधम्) सप्तविध (साम) गेय साम का (उपासीत) अध्ययन करे । आगे अक्षर गिनाते हैं (हिङ्कारः+इति) हिङ्कार यह पद (त्र्यक्षरम्) तीन "हिं+का+र" अक्षरों का है (प्रस्तावः+इति) प्रस्ताव यह पद (त्र्यक्षरम्) तीन "प्र+स्ता+व" अक्षरों का है (तत्) वे दोनों (समम्) सम हैं ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरम् । प्रतिहार इति चतुरक्षरम् । तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

आदिः । इति । द्व्यक्षरम् । प्रतिहारः । इति । चतुरक्षरम् । ततः । इह । एकम् । तत् । समम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—आदिरिति । आदिरिति द्व्यक्षरं पदम् । आचादिश्चेति । प्रतिहार इति चतुरक्षरं पदम् । प्रश्च तिश्च हाच रश्चेति । ततस्तस्मात् प्रतिहारपदादेकमक्षरमाकृष्य । इह । आदि-पदे प्रक्षेपणीयम् । ततः । तद्द्वयं । त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैः समम् ॥ २ ॥

अनुवादः-आदि यह पद दो "आ+दि" अक्षरों का है। प्रतिहार पद चार "प्र+ति+हा+र" अक्षरों का है। उस प्रतिहार पद से एक अक्षर को ले आदि पद में स्थापन करे तब दोनों (तीन अक्षरों से) सम होते हैं॥ २॥

पदार्थः-(आदिः+इति) आदि यह पद (द्व्यक्षरम्) दो "आ+दि" अक्षरों का है (प्रतिहारः+इति) प्रतिहार यह पद (चतुरक्षरम्) चार "प्र+ति+हा+र" अक्षरों का है (ततः) उस प्रतिहार पद से (एकम्) एक अक्षर लेकर (इह) इस "आदि" पद में स्थापन करने से (तत्) दोनों (समम्) सम होंगे ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

उद्गीथः । इति । त्र्यक्षरम् । उपद्रवः । इति । चतुरक्षरम् । त्रिभिः । त्रिभिः । समम् । भवति । अक्षरम् । अतिशिष्यते । त्र्यक्षरम् । तत् । समम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्-उद्गीथ इति । उश्च गीश्च थश्चेति त्र्यक्षरं पदम् । उपद्रव इति । उश्च पश्च द्रश्च वश्चेति चतुरक्षरं पदम् । त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैर्द्वयं समं भवति । किन्तु । उपद्रवपदे । एकमक्षरमतिशिष्यते । त्र्यक्षरं तद्द्वयं सममेव ग्रहीतव्यम् ॥ ३ ॥

अनुवादः-उद्गीथ यह पद तीन "उद्+गी+थ" अक्षरों का है। तीन २ अक्षरों को लेकर दोनों सम हैं। एक अक्षर शेष रहता है। अतः तीन २ अक्षरों से वे दोनों तुल्य हैं॥ ३॥

पदार्थः—(उद्गीथ+इति+त्र्यक्षरम्) उद्गीथ इस पद में "उद्+गी+थ" तीन अक्षर हैं (उपद्रवः+इति+चतुरक्षरम्) उपद्रव इस पद में "उ+प+द्र+व" चार अक्षर हैं (त्रिभिः+त्रिभिः+समम्) इन दोनों में तीन ३ अक्षरों की समता है (अक्षरम्+अतिशिष्यते) उपद्रव पद में एक अक्षर अवशेष रहजाता है (त्र्यक्षरम्) अन्य २ तीन २ अक्षरों से (तत्) वह (समम्) सम है ॥ ३ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति। तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

निधनम् । इति । त्र्यक्षरम् । तत् । समम् । एव । भवति । तानि । ह । वै । एतानि । द्वाविंशतिः । अक्षराणि ॥ ४ ॥

भाष्यम्-निधनमिति। निश्च धश्च नश्चेति त्र्यक्षरं पदम्। तन्निधनपदं सममेव भवति। अन्यैस्त्र्यक्षरी कृतैः पदैस्तुल्यम्। तानि वै। एतानि। सर्वाण्यक्षराणि हिङ्कारादीनाम्। द्वाविंशतिरक्षराणि भवन्ति ॥ ४ ॥

अनुवादः-निधन यह पद तीन "नि+ध+न" अक्षरों का है वह सम ही है। निश्चय वे ये सब मिला कर द्वाविंशति (२२) अक्षर हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः-(निधनम्+इति) निधन यह पद (त्र्यक्षरम्) तीन "नि+ध+न" अक्षरों का है (तत्) वह (सममेव) सम ही (भवति) होता है (तानि+वै) वे (एतानि) ये (द्वाविंशतिः+अक्षराणि) २२ अक्षर हैं ॥ ४ ॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

एकविंशत्या। आदित्यम्। आप्नोति। एकविंशः। वै। इतः। असौ। आदित्यः। द्वाविंशेन। परम्। आदित्यात्। जयति। तद्। नाकम्। तद्। विशोकम्॥ ५ ॥

भाष्यम्-एकविंशत्येति। एकविंशत्याक्षरैर्हिङ्कारादीनाम्। आदित्यम्। आदित्यस्वरूपं मृत्युमाप्नोति। जयति। कथम्। यस्मात्। इतोऽस्माल्लोकात्। असावादित्योमृत्युः। एकविंशः। एकविंशतितमसंख्यापूरकः। द्वादशमासाः। ऋतवः पञ्च। इमे त्रयोलोकाश्च। ततः। आदित्यः। अवशिष्टेनद्वाविंशेनाक्षरेण। आदित्यात् परं यज्ज्योतिर्वर्त्तते। तज्जयति प्राप्नोति। यच्च तदादित्यात्परं ज्योतिः किं तदित्याह। तन्नाकम्। कं सुखम्। न कम्। अकं दुःखं। अकं दुःखम् न विद्यतेऽस्मिन्। तन्नाकम्। सुखमयम्। पुनः। तदाविशोकम्। विगतः शोको यस्मात्। तद्विशोकम् दुःखरहितम् ॥ ५ ॥

अनुवादः-एकविंशति अक्षरों से आदित्य का जय होता है। निश्चय, यहां से यह आदित्य एकविंश है। और बाईसवें अक्षर से आदित्य से पर ज्योति का विजय होता है वह सुखमय और आनन्दमय है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(एकविंशत्या) एकविंशति=इक्कीस अक्षरों से (आदित्यम्) आदित्यरूप मृत्यु के (आप्नोति) विजय को पाता है (वै) निश्चय (इतः) इस स्थान से (असौ+आदित्यः) यह आदित्य (एकविंशः) इक्कीसवां है (द्वाविंशेन) बाईसवें अक्षर से (आदित्यात्) आदित्य से (परम्) परज्योति को (जयति) जीतता है (तत्+नाकम्) वह ज्योति सुखस्वरूप है (तत्+विशोकम्) वह आनन्दमय है ॥ ५ ॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयोभवति । य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

आप्नोति । इह । आदित्यस्य । जयम् । परः । ह । अस्य । आदित्यजयात् । जयः । भवति । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । आत्मसम्मितम् । अतिमृत्यु । सप्तविधम् । साम । उपास्ते । साम । उपास्ते ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आप्नोतीति । फलं निर्दिशति । यो विद्वान् । एवं । पूर्वोक्तगुणविशिष्टम् । एतत्साम । विद्वान् जानन् सन् । आत्मसम्मितं स्वावयवतुल्यम् । अतिमृत्यु मृत्युमतिक्रम्य वर्त्तमानम् । सप्तविधं साम । उपास्ते । तस्य विदुष इदं फलम् । इहलोके । आदित्यस्य मृत्योर्जयमाप्नोति । एवम् । ह प्रसिद्धस्यादित्यस्य जयात् परो जयो भवति । पर उत्कृष्टोजयो लभ्यते । परं ज्योतिः प्राप्नोतीत्यर्थः । द्विरभ्यास उपासनासमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १० ॥

अनुवादः—जो विद्वान् इस साम को पूर्वोक्त गुणविशिष्ट जानता हुआ इस आत्मसम्मित अतिमृत्यु सप्तविध साम का अध्ययन करता है । वह इस लोक में मृत्यु पर जय पाता है और मृत्यु के जय से परजय प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यः) जो विद्वान् (एतत्) इस साम को (एवं विद्वान्) ऐसा जानता हुआ (आत्मसम्मितम्) अपने तुल्य (अतिमृत्यु) मृत्यु को अतिक्रमण करने वाला (सप्तविधम्) सप्तप्रकार (साम) गेय साम का (उपास्ते) अध्ययन करता है, वह विद्वान् (इह) इस लोक में (आदित्यस्य) यम की (जयम्+आप्नोति) जय को पाता है (ह) और प्रसिद्ध (आदित्य जयात्) मृत्यु की जय से (परः+जयः+भवति) परजय होता है अर्थात् मृत्यु के विजय से परजय (उत्कृष्टविजय) जो परमज्योति की प्राप्ति है उसे वह पाता है ॥ ६ ॥ इति दशमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १० ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

मनो हिङ्कारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

मनः । हिङ्कारः । वाक् । प्रस्तावः । चक्षुः । उद्गीथः । श्रोत्रम् । प्रतिहारः । प्राणः । निधनम् । एतद् । गायत्रम् । प्राणेषु । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-मनो हिङ्कारः। मनश्चित्तम्। हिङ्कारो हिङ्कारतुल्यम्। करणवृत्तीनां यथा-मनो प्रथममस्ति तथैव सप्तविधगानेषु हिङ्कारः प्रथमः। हिङ्कारं विना यथेतराणि गेयानि न प्रवर्त्तन्ते तथैव मनो विना कतमदिन्द्रियं विषयाद्विषय-मुत्क्रमितुं शक्नुयात्?। अतोप्युभयोः समत्वम्। वाक् वाणी भाषणम्। प्रस्तावः। प्रस्तावेन तुल्या। यथा हिङ्कारादनन्तरं प्रस्तावो-भवति तथैव मनसा प्रथमं यद् विचार्य्यते तदेव वाण्या प्रस्तूयते। अतोवाक्प्रस्ताव इति। यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदतीति। चक्षुर्नयनम्। उद्गीथः। श्रेष्ठयात्। श्रोत्रम्। प्रतिहारः। प्राणम्। निधनम्। यथा मुख्येप्राणएव सर्वेषामिन्द्रियव्यापाराणां निधनं=समाप्तिः। तथैव गे-यानामपिनिधनविधौ। अतस्तुल्यता। एतद्गायत्रं गायत्रनामकं साम। गयान् प्राणान् त्रायत इति गायत्रं। प्राणा वै गया इति बृहदारण्यके। गया एव गायाः। गयान् प्राणान् (इन्द्रियाणि) त्रायत इति गायत्रम्। प्राणेषु इन्द्रियेषु प्रोतम्। आबद्धम् इन्द्रियसम्बन्धी-त्यर्थः॥ १॥

अनुवादः-मन हिङ्कार समान, वाणी प्रस्ताव समान, चक्षु उद्गीथ तुल्य, श्रोत्र प्रति-हार सदृश और प्राण निधन सम है। यह गायत्र नाम साम गान प्राणों से सम्बन्ध रखने वाला है॥ १॥

पदार्थः-(मनः) मन इन्द्रिय (हिङ्कारः) हिङ्कार तुल्य है (वाक्) वाणी (प्रस्तावः) प्रस्ताव तुल्य है (चक्षुः+उद्गीथः) नयन उद्गीथ तुल्य है (श्रोत्रम्+प्रतिहारः) श्रोत्र प्रतिहार है (प्राणः+निधनम्) प्राण निधन है (एतत्) यह (गा-यत्रम्) गायत्र नाम का साम गान (प्राणेषु) प्राणों (इन्द्रियों) में (प्रोतम्) आबद्ध है अर्थात् गायत्र साम इन्द्रियों से केवल सम्बन्ध रखने वाला है गाय=प्राण। त्र=रक्षक। अर्थात् प्राण रक्षक दोनों मिलकर गायत्र॥ १॥

भाष्याशयः-जैसे इन्द्रिय वृत्तियों में मन प्रथम है वैसे सप्त विध साम में हिङ्कार प्रथम है। अतः मन की हिङ्कार से तुल्यता है। हिङ्कार के विना जैसे कोई कर्म प्रारम्भ नहीं होते वैसे ही मन के विना कौन इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण कर सकता? वाणी प्रस्ताव है। जैसे हिङ्कार के अनन्तर प्रस्ताव साम होता है वैसे ही मन से विचार वाणी द्वारा मनुष्य किसी विषय का प्रस्ताव करता है (यन्मनसा ध्या०) मन से जो विचारता है वाणी से उसे कहता है॥ १॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद। प्राणीभवति

सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतद् । गायत्रम् । प्राणेषु । प्रोतम् । वेद । प्राणीभवति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । महामनाः । स्यात् । तत् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्–स इति । सः य उपासकः । प्राणेषु इन्द्रियेषु । "सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणशब्देनोच्यन्त इत्युपनिषद्व्यवस्था" । प्रोतमेतद्गायत्रम् । साम । एवम् । ईदृग्गुणविशिष्टम् । वेद । जानाति । स उपासकः । प्राणीभवति । अविकलेन्द्रियो भवतीत्यर्थः । सर्वं सकलम् । आयुः । एति प्राप्नोति । शतं वर्षाणि जीवतीत्यर्थः । ज्योक् । उज्ज्वलम् । क्रियाविशेषणम् । ज्योक् । यथा स्यात् तथा जीवति । प्रजया पशुभिश्च सह महान्भवति । कीर्त्या च महान् भवति । गायत्रोपासकस्यैतद्व्रतं कर्त्तव्यम् । सः । महामनाः । अक्षुद्रचित्तः । उदारचेता भवेत् । तत्तदेव व्रतम् अस्य कर्त्तव्यम् ॥ २ ॥

अनुवाद:–जो कोई (उपासक) प्राण प्रोत इस गायत्र साम को इस प्रकार जानता है, वह प्राणी होता है । सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है । उज्ज्वल जीवन जीता है । प्रजा और पशुओं से महान् होता है । और (जगत् में) कीर्ति से महान् होता है । "महामना" होवे । यह उसका व्रत है ॥ १ ॥

पदार्थः–(सः+यः) सो जो कोई उपासक (प्राणेषु+प्रोतम्) प्राणों से सम्बन्धित (एतत्+गायत्रम्) इस गायत्र नाम के साम गान को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (प्राणीभवति) प्राणधारी होता है अर्थात् प्राणों (इन्द्रियों) के तत्त्व जानने के कारण शुद्ध प्राण से युक्त रहता है (सर्वम्+आयुः) सम्पूर्ण आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) उज्ज्वल शुद्ध विशुद्ध (जीवति) जीवन को धारण करता है । (प्रजया+पशुभिः) प्रजा और पशुओं के साथ (महान्+भवति) महान् होता है (कीर्त्या+महान्) कीर्ति से महान् होता है (महामनाः+स्यात्) गायत्रोपासक को महामना (उदारचेता) होना चाहिये (तद्व्रतम्) यही व्रत उनका है कभी क्षुद्र हृदय होना नहीं चाहिये । यही एक महाव्रत है ॥ २ ॥ इत्येकादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

अभिमन्थति स हिङ्कारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति

तन्निधनꣳ सꣳ शाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥१॥

अभिमन्थति । सः । हिङ्कारः । धूमः । जायते । सः । प्रस्तावः । ज्वलति । सः । उद्गीथः । अङ्गाराः । भवन्ति । सः । प्रतिहारः । उपशाम्यति । तत् । निधनम् । सम् । शाम्यति । तत् । निधनम् । एतद् । रथन्तरम् । अग्नौ । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—अभिमन्थतीति । ऋत्विग् । यदग्नि-मरण्यो-रभिमन्थनान्मः मथ्नाति । स हिङ्कारः । प्राथम्यात् । अग्नेः सकाशाद् धूमो जायते । उद्भवति । स प्रस्तावः । आनन्तर्यात् । यज्ज्वलति । अग्निः । समिद्भिर्यद्दीप्यते स उद्गीथः । हविःसम्बन्धाच्छ्रैष्ठ्यं ज्वलनस्य । अग्नेर्ये अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारः । प्रतिहृतत्वात् । उपशाम्यति । शनैःशनैर्यदुपशमितुं प्रारभते तन्निधनं । यद्वा । यत् संशाम्यति सम्यक् शाम्यति शान्तो भवति तन्निधनं । एतद्रथन्तरं । रथन्तरनामकं सामगानम् । अग्निरेव रथन्तरः । अग्निरूपेण रथेन यजमानस्तरति शोकं तरति दुःखम् । अग्निरिति यज्ञोपलक्षकः । यज्ञैरेव रथैस्तरति । अग्नौ प्रोतम् । अग्निना सम्बद्धम् ॥ १ ॥

अनुवाद—(ऋत्विग्लोग) जो अग्नि मन्थन करते हैं वह हिङ्कार है अग्नि से जो धूम उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है । अग्नि जो प्रज्वलित होती है सो उद्गीथ है । अग्नि में जो अङ्गारें होती हैं सो प्रतिहार है । धीरे २ जो उपशान्त होना आरम्भ होती है सो निधन है । यद्वा जो बिलकुल शान्त होजाती है सो निधन है । यह रथन्तर नाम का सामगान अग्नि से सम्बन्ध रखता है ॥ १ ॥

पदार्थः—(अभिमन्थति) ऋत्विग् लोग अरणि नाम काष्ठ में अग्नि का जो मन्थन करते हैं । (सः+हिङ्कारः) वह हिङ्कार विधि के तुल्य है (धूमः+जायते) अग्नि से जो धूम उत्पन्न होता है (सः+प्रस्तावः) मानो वह प्रस्ताव है (ज्वलति) समिधाओं से जो अग्नि प्रज्वलित होती है (सः+उद्गीथः) मानो वह उद्गीथ है (अङ्गाराः+भवन्ति) अग्नि में जो अङ्गारें होती हैं (सः+प्रतिहारः) मानो वह प्रतिहार है (उपशाम्यति) अग्नि जो धीरे २ शान्त होना आरम्भ होती है (तत्+निधनम्) मानो वह निधन है । यद्वा (सं शाम्यति) अग्नि जो बिलकुल शान्त हो जाती है (तन्निधनं) मानो वह निधन है (एतत्) यह (रथन्तरम्) रथन्तर नामक सामगान विशेष (अग्नौ) अग्नि में (प्रोतम्) सम्बन्ध रखने वाला है । यहां रथन्तर नाम अग्नि का है । अग्निरूप रथ से ही यजमान शोक दुःख को तैरता है । अग्नि शब्द यज्ञोपलक्षक है । अर्थात्

अग्नि शब्द यहां यज्ञवाचक है । विविध प्रकार के यज्ञों से ही दुःखरूप संसार को पार उतर सुख को पाता है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद । ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या । न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥२॥

सः । यः । एवम् । एतद् । रथन्तरम् । अग्नौ । प्रोतम् । वेद । ब्रह्मवर्चसी । अन्नादः । भवति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । न । प्रत्यङ् । अग्निम् । आचामेत् । न । निष्ठीवेत् । तत् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स य उपासकः । अग्नौ प्रोतम् । अग्निसम्बन्धि । एतद्रथन्तरं । रथन्तर-नामकं सामगानविशेषम् । एवं गुणविशिष्ट-मनया रीत्या । वेद । जानाति । स उपासकः ब्रह्मवर्चसी वृत्तस्वाध्यायनिमित्तं तेजो ब्रह्मवर्चसं । तदस्यास्तीति ब्रह्मवर्चसी । अन्नादः । अन्नमत्तीति अन्नादः । भवति । सर्वम् । शतं वर्षाणि । आयुः । एति । प्राप्नोति । प्रत्यङ् अग्निम् न आचामेत् । अग्नेरभिमुखः सन् आचमनं न कुर्यात् । न निष्ठीवेत् । अग्नौ श्लेष्मनिरसनं च न कुर्यात् । रथन्तरोपासकस्य तद्व्रतं भवति शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

भाषानुवादः—जो कोई उपासक अग्नि सम्बन्धी इस रथन्तर सामगान को इस प्रकार जानता है वह ब्रह्मवर्चसी और अन्नभोक्ता होता है । सर्व आयु को प्राप्त करता है । उज्ज्वल जीवन जीता है प्रजा और पशुओं से महान् होता है । कीर्त्ति से महान् होता है वह अग्नि (यज्ञ) सम्मुख हो आचमन न करे । और उसमें थूक न फेंके । वह इसका व्रत है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः+यः) सो जो कोई उपासक (एतत्+रथन्तरम्) इस रथन्तर साम को (एवम्) ऐसा (अग्नौ+प्रोतम्) अग्नि सम्बन्धी (वेद) जानता है वह (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मचारीवत् तेजस्वी (अन्नादः) और अन्नभोक्ता (भवति) होता है (सर्वम्+आयुः) सम्पूर्ण आयु को (एति) पाता है (ज्योक्) संसार में ज्योक्=उज्ज्वल हो (जीवति) जीता है (प्रजया+पशुभिः) प्रजा और पशुओं से (महान् भवति) महान् होता है (कीर्त्या) कीर्त्ति से (महान्) महान् होता है । इसके लिये व्रत कहा जाता है ।

(अग्निम्+प्रत्यङ्) अग्नि=यज्ञादिक के सम्मुख हो (न+आचामेत्) आचमन न करे । (न निष्ठीवेत्) और न थूके । (तत्+व्रतम्) वही इसलिये व्रत है ॥ २ ॥ इति द्वादश-खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रतिस्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥

उपमन्त्रयते । सः । हिङ्कारः । ज्ञपयते । सः । प्रस्तावः । स्त्रिया । सह । शेते । सः । उद्गीथः । प्रति । स्त्री । सह । शेते । सः । प्रतिहारः । कालम् । गच्छति । तत् । निधनम् । पारम् । गच्छति । तत् । निधनम् । एतद् । वामदेव्यम् । मिथुने । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—उपमन्त्रयत इति । प्रकृतिपुरुष-परिचयार्थं वामदेव्यं सामाह । प्रथममियं प्रकृतिः । पुरुषम् । उपमन्त्रयते । आह्वयति । निमन्त्रयतीत्यर्थः । पुरुषाय विविधान् विषयान् प्रदर्श्य तं पुरुषं प्रथमं स्वाभिमुखीकरोति । पुरुषं स्त्रीव । स हिङ्कारः । हुं इति भणित्वा हे जीव ! मत्पाशबन्धात् त्वं कुत्र यासि । आगच्छेह । पश्य ममैश्वर्यमिति विविधविषयैः प्रलोभ्य प्रकृतिर्जीवं स्वायत्तं करोत्यतः स हिङ्कारः । हुं कृत्वा वशीकरोतीत्यर्थः । सा प्रकृतिः । इत्थं निमन्त्रिताय पुरुषाय ततः ज्ञपयते । अयं ज्ञाने ज्ञापने च वर्त्तते । विविधविषयान् प्रख्यापति प्रलोभनाय भोगाय वा दर्शयति स प्रस्तावः । मन्ये बन्धनाय प्रस्तावं करोति । इत्थं प्रस्तुतः प्रलोभित आकर्षितश्च जीवः स्त्रिया प्रकृत्या सह शेते । आरक्त आरक्तयेव । ब्रह्म विस्मृत्यप्रमत्तश्च भूत्वा प्रकृत्यासार्धं लिप्तोभवति । इदमेव श्रेयः । नान्यच्छ्रेयोस्त्यतः । इति मत्वा विषयान् भोक्तुं प्रवर्त्तते । यथा शयितः पुरुषो न किमपि वेत्ति । तथैव विषयासक्तो यो जीवः किमपि न जानाति तदेव सुखं मन्यते । स उद्गीथः । उद्भ्रान्तवद् गायन्निव विषयसेवनेनानन्दमनुभवन्निव भ्राम्यति । अतः स उद्गीथः । प्रतिस्त्री सह शेते । अर्थात् व्यामुग्धं स्वजालनिबद्धं पुरुषं विलोक्य । स्त्री प्रकृतिरपि । तं प्रति । अनुरक्तेव भूत्वा तेन सार्धं शेते । अर्थात् तं पुरुषं सम्यग् सर्वतो भावेन बध्नातीत्यर्थः । स प्रतिहारः । अयमेव प्रतिहारः । यतः सर्वतोभावेन विषयासक्तं पुरुषं स्वात्मानं प्रति प्रतिहरति आकृष्यति प्रकृतिरतः प्रतिहारः । इत्थं विमुग्धोजीवः कालं

गच्छति । गमयति । अर्थात् पारमतिशयितं परमेवपारं । यथास्यात् तथा कालं गच्छतिगमयति एतदेवनिधनम् । जीवनाशकारणं । निधनं समाप्तिः । नाशः । कालं गच्छति तन्निधनमित्यस्यैवपारं गच्छति तन्निधनमितिव्याख्यानं वर्त्तते । गच्छत्यन्तर्भावितरयर्थः । अत्रकालमितिद्वितीयान्तं कर्मसंज्ञकंपदम् । गच्छतिइत्यस्यकर्तृपदं पुरुषोस्ति । तदेतद्वामदेव्यम् । जीवविषयकंसाम । इहहि वामदेवशब्दोजीववाची । समीक्षा दृश्यताम् । वामदेवस्यजीवस्य सम्बन्धियत्साम तद्वामदेव्यं साम । तदेतत्साममिथुने प्रकृतिपुरुषरूपेद्वन्द्वेप्रोतम् । प्रकृतिपुरुषस्वभावप्रदर्शने ग्रथितं कथित-मित्यर्थः । साङ्ख्याः प्रकृतिंवन्धकारिणींमन्यन्ते । यदा पुरुषः प्रकृतिं पश्यति तदा परपुरुषा-वलोकिताकुलवधूर्यथालज्जितासतीतस्मादन्तर्दधाति । तथैवतस्मात् पुरुषात् सा "अनेनदृष्टास्मी" तिनिवर्तते । पुनस्तस्मैपुरुषाय भोगं न प्रयच्छतीत्यर्थः । तथाहि । प्रकृतेः सुकुमारतरं न कि-ञ्चिदस्तीति मे मतिर्भव । यादृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य । सांख्य० कारि० ॥ ६१ ॥ १ ॥

अनुवादः–(प्रकृति) पुरुष को जो निमन्त्रित करती है (अपने ओर जीव को जो आकर्षण करती है) वह हिङ्कार है । और विषयों को जो दिखलाती है वह प्रस्ताव है । प्रकृति के साथ पुरुष जो आसक्त होता है वह उद्गीथ है । उस जीव के प्रति प्रकृति भी जो आसक्त होती है वह प्रतिहार है । इस प्रकार जीव जो समय विताता है वह निधन है ॥ १ ॥

पदार्थ और आशयः—(उपमन्त्रयते) प्रकृति और जीवात्मा की गति यहां कहते हैं । प्रकृतिरूपा स्त्री विविधविषयों को दिखला जीव को मोहित कर अपने पाश (जाल) में बांध लेती है । यही विषय यहां दिखलाया जाता है । इस प्रकार प्रथम मानो प्रकृति पुरुष को (उपमन्त्रयते) पुकारती है । अर्थात् हे जीव ! यहां आओ । मेरे ऐ-श्वर्य को देखो कहां जाते हो ? इस प्रकार मानो यह स्त्रीरूपा प्रकृति पुरुष को प्रथम उप-मन्त्रण=निमन्त्रण (न्योता) देती हैं (सः हिङ्कारः) वह मानो हिङ्कार हैं (हुम्) हुङ्कार शब्द कह हुं ऐसा कह हे जीव ! मेरे विस्तृत पाश=जाल से निकलकर कहां तुम जा सकोगे इस प्रकार भाषण कर (करोति) प्रकृति आत्मा को अपने वश कर लेती है अतः इसका नाम हिङ्कार है (हुं शब्देन वशीकरोति इति हिङ्कारः) (ज्ञपयते) इस प्रकार निमन्त्रण दे वा वशकर प्रकृति (ज्ञपयते) विविधभोगों को दिखलाना आरम्भ करती है (सः प्रस्तावः) वह मानो प्रस्ताव है । अर्थात् इस प्रकार पुरुष को बांधने के लिये प्रकृति अपने कार्य को

आरम्भ करती है। इस हेतु यह प्रस्ताव है। (स्त्रिया सह शेते) एवं पुरुष निमन्त्रित हो (स्त्रिया०) स्त्रीरूपा प्रकृति के साथ (शेते) सोजाता है अर्थात् प्राकृतिक विविध विषयों को भोग करता हुआ अपने सुहृद् ब्रह्म को भूल उन्मत्त उद्भ्रान्त हो उस में ऐसा भ्रान्त हो जाता है कि मानो प्रसुप्त मनुष्य के समान अन्य कल्याण साधन कुछ भी उसे भासित नहीं होते। विषय भोग को ही मुख्य मान प्रकृति में आसक्त हो सोजाता है। (सः+उद्गीथः) वह उद्गीथ है। क्योंकि इस अवस्था में जीव उन्मत्त उद्भ्रान्त हो गाता फिरता है अर्थात् उसी में आनन्द का अनुभव करता हुआ प्रसन्नता से काल विताना आरम्भ करता है। परन्तु भविष्यत् आपत्ति उसे नहीं सूझती। इस हेतु उसके लिये उद्गीथ समान है। (प्रति स्त्री सह शेते) जब जीव इस प्रकार प्रकृति में लीन हो जाता है, तब मानो प्रत्युपकार के लिये (प्रति) जीव के प्रति भी (स्त्री) स्त्रीरूपा प्रकृति (सह) पुरुष के साथ (शेते) सोजाती है अर्थात् मानो जैसे अनुरक्त पुरुष में पुंश्चली स्त्री आसक्तसी हो जाती है वैसे ही अनुरक्त जीव के साथ प्रकृति भी अनुराग करने लगती है। अर्थात् प्रकृति अपने शरीर को पुरुष के प्रति समर्पण कर इस प्रकार अपने में वश कर लेती है कि पुरुष को प्राकृतिक सकलवस्तु प्रिय मालूम होने लगती है। जैसे विषयीपुरुष स्त्री व्यासक्त हो उसके कहने से उचित अनुचित सब कार्य्य करना आरम्भ कर देता है अथवा प्रियतमा की सब बात ही उसको अच्छी भान होने लगती हैं। तद्वत् प्रकृति के सब पदार्थ ही उस अनुरक्त पुरुष को भोग्य ही प्रतीत होने लगते हैं। (सः+प्रतिहारः) वह प्रतिहार है क्योंकि इस अवस्था में सब प्रकार से पुरुष को अपने में हरण कर लेती है अतः वह प्रतिहार है (कालं+गच्छति+तत्+निधनम्) इस प्रकार जीव जो काल विताना आरम्भ करता है (तत्+निधनम्) वही निधन है। निधन=समाप्ति=नाश। यही आत्मा का नाश का कारण है अर्थात् प्रकृति में बद्ध हो आत्मा पतित हो जाता है (पारं गच्छति तत् निधनम्) पूर्व वाक्य का ही यह अनुवाद है (पारम्) अतिशय आसक्त होकर काल को विताना ही मानो निधन है नाश का कारण है (एतद् वामदेव्यम्) यह वामदेव्यसाम है। वामदेव यहां जीव का नाम है जीवसम्बन्धी जो साम उसे वामदेव्य कहते हैं। इसकी समीक्षा देखो। (मिथुने+प्रोतम्) यह वामदेव्यसाम प्रकृति पुरुष द्वन्द्व (दो) के विज्ञान में (प्रोतम्) कहा गया है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद। मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति महान्

प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या । न काञ्चन परिहरेत्त-द्व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतद् । वामदेव्यम् । मिथुने । प्रोतम् । वेद । मिथुनीभवति । मिथुनात् । मिथुनात् । प्रजायते । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योग् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । न । काञ्चन । परिहरेत् । तत् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—स य इति । स यो विद्वान् । एतद्वामदेव्यंसाम मिथुने प्रकृतिपुरुषद्वन्द्वे प्रकृति-पुरुष विज्ञान इत्यर्थः । प्रोतं । वेद जानाति । स मिथुनीभवति । प्रकृतिपुरुषद्वन्द्व विज्ञानवान् भवति । मिथुनात् मिथुनात् । सकल प्राकृतिक दुःख द्वन्द्वात् प्रजायते । पृथक् भूत्वा प्रजायते । ल्यप् लोपे पञ्चमी । शीतञ्चोष्णञ्च सुखञ्च दुःखञ्च इत्येवं विधं सर्वं द्वन्द्वं तिरस्कृत्य प्रकृष्टो भवति (न काञ्चन परिहरेत्) अतो न काञ्चन प्रकृतिं । परि परितः सर्वतो भावेन हरेत् आसज्जेत । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

अनुवादः—जो कोई इस वामदेव्यसामको मिथुन सम्बन्धी जानता है वह प्रकृति पुरुष विज्ञानवित् होता है और सब द्वन्द्व से छूटकर प्रकृष्ट होता है । सम्पूर्ण आयु पाता है । बहुत जीता है । प्रजाओं और पशुओं से महान् होता है । और जगत् में कीर्ति के द्वारा महान् प्रख्यात होता है । किसी प्राकृत वस्तु में सर्वतोभाव से आसक्त नहीं होना चाहिये वह इसका व्रत है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः+यः) जो कोई विद्वान् (एतद्वामदेव्यम्) इस वामदेव्य साम को (मिथुने) प्रकृतिपुरुष दर्शन के सम्बन्ध में (प्रोतम्) संबद्ध (वेद) जानता है । (मिथुनीभवति) वह प्रकृति पुरुषरूप द्वन्द्ववित् होता है और (मिथुनात् मिथुनात्) प्रत्येक द्वन्द्व से छूट (प्रजायते) जगत् में प्रख्यात होता है । (सर्वम्) इत्यादि पूर्ववत् । (काञ्चन) इस हेतु किसी प्राकृत पदार्थ में (परि) सर्वतोभाव से=सब प्रकार से (न हरेत्) आसक्त न होवे (तत्—व्रतम्) वह व्रत है । यही इस साम का व्रत है ॥ २ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १३ ॥

वामदेव्य साम। (६)

महर्षि पाणिनि कहते हैं यथा–"वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ ॥ पा० सू० ४ । २ । ६ ॥ वामदेवेन ऋषिणा दृष्टं साम वामदेव्यम्" । जिस सामगान के द्रष्टा वामदेव ऋषि हैं उस साम का नाम वामदेव्य है । अर्थात् जिन २ ऋचाओं के तत्त्वों को जान वामदेव ऋषि गानार्थ उपदेश देते हैं । उस साम गान का नाम वामदेव्य है । प्रायः सब शुभ कर्म के अन्त में इस का गान होता है । श्रीमदाचार्य दयानन्दजी भी संस्कारविधि के अनेक स्थानों में वामदेव्य गानार्थ शिक्षा दे गये हैं । अतः श्रौतसूत्र में कहा गया है यथा–"वामदेव्यं दक्षिणेऽपि कक्षे तिष्ठन् गायेत् । लाट्यायन श्रौत सू० १ । ५ । १६ ॥ दक्षिण भाग में स्थित होकर वामदेव्यगान करे । द्राह्यायण श्रौतसूत्र में भी ऐसा ही है । "वामदेव्यमसीत्यधिष्ठानम्" । ला० २ । ८ । ७ ॥ "वामदेव्येन स्तोष्यमाणः प्राग् स्तोमयोगाद् गावो अश्वा अजावयो व्रीहयो यवा इति मनसा ध्यायेत्" । ला० श्रौ० २ । १० । १ ॥ वामदेव्यसाम से स्तुति करने की इच्छा वाला यजमान स्तोमयोग से पूर्व गाय, अश्व, अज (बकरे), अवि (मेष) व्रीहि और यव आदि की वृद्ध्यर्थ ब्रह्म को मन से ध्यान करे । हे ईश्वर ! मेरी गौ आदि की वृद्धि होवे । ऐसी प्रार्थना वामदेव्य साम के द्वारा करे यह इस का भाव है । "ये वामदेव्येन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ते सतः सदभ्युत्तिष्ठन्ति । पूर्णात् पूर्णमायतनादायतनम् । अन्तरिक्षायतना हि प्रजा" । ताण्ड्य० ४ । ८ । १६ ॥ अर्थ-(ये) जो (वामदेव्येन) वामदेव्यसाम गान से (स्तुत्वा) ब्रह्म की स्तुति कर (उत्तिष्ठन्ति) जगत् में उन्नति करना चाहते हैं । वे (सतः) सत्य वामदेव्यगान से (सत्) ब्रह्म की (अभि) ओर (उत्तिष्ठन्ति) उत्थान करते हैं और (पूर्णाद् आयतनाद्) पूर्ण आयतन आश्रय अर्थात् ब्रह्म । पूर्ण आयतन नाम ब्रह्म का है उस से (पूर्णम्+आयतनम्) पूर्ण आश्रय पाते हैं (हि) क्योंकि (प्रजा) प्रजा (अन्तरिक्षायतना) ब्रह्माश्रय ही है । यहां अन्तरिक्ष नाम भी ब्रह्म का है (अन्तर्मध्ये ईक्षते पश्यति इति अन्तरिक्षः अन्तर्यामी इत्यर्थः) (अन्तः) सब के मध्य में विराजमान होकर (ईक्षते) जो धर्माधर्म को देखता है वह अन्तरिक्ष कहलाता है । अर्थात् अन्तर्यामी ब्रह्म को अन्तरिक्ष, पूर्णायतन कहते हैं । इसी हेतु " मातरिश्वा" भी ईश्वर का नाम है । माता के उदर में बालक को श्वास प्रश्वास प्रदान करे उसे "मातरिश्वा" कहते हैं (मातरि मातुरुदरे स्थितः सन् श्वासयतीतिमातरिश्वा) वामदेव्य साम गान से ईश्वर की प्राप्ति होती है यह सिद्ध हुआ ।

"पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि" । ताण्ड्य० ७ । ६ । १ ॥ "अयं वै लोको मध्यमो वामदेव्यम्" । ताण्ड्य० ७ । ६ । ५ ॥ पितृ समान वामदेव्य साम है । और पुत्र समान पृष्ठ्य साम है । पृष्ठ्य नाम का एक सामगान होता है वा यहां पृष्ठ्य नाम सकल साम का है । यह मध्यम लोक ही वामदेव्य है । मध्यम लोक अन्तरिक्ष कहलाता है (मध्ये भवो मध्यमः) आश्चर्य प्रकार से ऋषियों ने शब्द प्रयोग किये हैं । वामदेव्य साम प्रायः ईश्वर से अधिक सम्बन्ध रखता है । "कयानश्चित्र आभुवदूती" यही तृच प्रायः वामदेव्य साम में गाया जाता है । इस को वैदिकभाषा में "कवती" कहते हैं । कवतीभ्यो ह्येति प्रजापतेः" । ताण्ड्य० । ७ । ६ । २२ ॥ दोष परिहार के लिये प्रजपति (प्रजाओं का पति=ब्रह्म) सम्बन्धी कवती ऋचाओं के द्वारा स्तुति करे । "अन्तरिक्षं वै वामदेव्यम्" । ता० ७ । ६ । ६ ॥ अन्तरिक्ष ही वामदेव्य है । प्रजापति नाम ब्रह्म का है । उसे "क" भी कहते हैं । "कस्मैदेवाय० । वेद । कं ब्रह्म खं ब्रह्म । उपनिषद्" इस हेतु जिसमें "क" प्रजापति की उपासना हो उसे कवती कहते हैं । इसी हेतु वह साम शुभ कर्म के अन्त में गाया जाता है । जो कुछ दोष हुआ हे ईश्वर ! उसे क्षमा करो । कहा भी गया है । "पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि" । ताण्ड्य० ७ । ६ । १ ॥ "यद्धि पुत्रोऽशान्तं चरति पिता तच्छमयति" । ताण्ड्य० ७ । ६ । ४ ॥ पितृसमान वामदेव्य साम है । और अन्य साम पुत्र समान है । पुत्र जो कुछ अशान्त कर्म करता है पिता उस को शमन (शान्त) करता है । समस्त गान कृतदोषों को अन्तिम वामदेव्य साम शान्त करता है । यदि अन्त में भी ईश्वर की प्रार्थना मन से होवे तो निःसन्देह कुछ लाभ अवश्य हो जाय । पूर्वकाल में आरती की जगह में वामदेव्यगान होता था । कैसे वामदेव्यसाम गाना चाहिये सो कहते हैं । "कथमिव वामदेव्यं गेयमित्याहुः" । ताण्ड्य० ७ । ६ । १० ॥ "यथांकुली पुत्रान् संदश्यासंभिन्दती । हरति यथावातोऽप्सु शनैर्वाति" । ताण्ड्य० ७ । ६ । ११ ॥ अर्थ—(यथा) जैसे (अंकुली) मार्जारी बिडाली (पुत्रान्) अपने बच्चों को (संदश्य) दांतों से पकड़ (असंभिन्दती) परन्तु दांतों से असंभेद स्पर्श न करती हुई (हरति) ले जाती है । और जैसे (वातः) वायु (अप्सु) जल के ऊपर (शनैः) धीरे २ (वाति) वहता है वैसे ही वामदेव्य साम गाना चाहिये । अर्थात् बहुत धीरे २ बड़ी सावधानी से वामदेव्य साम गान करे । क्योंकि यह अन्तिम प्रार्थना है । इस में भी त्रुटि रह गई तो फिर कहां आश्रय मिल सकता है ।

वामदेवादि मुक्तो नाद्वैतम् । सांख्य० सू० १ । १५७ ॥ यहां पर एक क्लिष्टतर प्रश्न उपस्थित होता है कि वामदेव्य यथार्थ में कौन है क्योंकि उपनिषदों में कहा गया है—

तदुक्तमृषिणा । गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीय-मिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच । ऐ० उ० १ । ४ । ५ ॥

पुनः—तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे "अहंमनुरभवꣳ सूर्यश्च" इति । बृ० उ० १ । ४ । १० ॥ प्रथमऐतरेयोद्धृत "गर्भेनुसन्" यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल ४ सूक्त २७ का प्रथम मन्त्र है । और बृहदारण्यकोपनिषदुद्धृत "अहं मनुरभवम्" यह मन्त्र ऋग्वेद चतुर्थमण्डल २६ सूक्त का प्रथम मन्त्र है । बृ० उ० में मन्त्र का केवल प्रतीकमात्र दिया हुआ है । पुनः—शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥ वे० सू० १ । १ । ३० ॥ इस सूत्र के ऊपर सब ही भाष्यकार क्या शङ्कराचार्य क्या रामानुज क्या आधुनिक पण्डित आदि सब ही ने उपनिषदों के ही उक्त वचन देकर वामदेव के ये वचन हैं और वामदेव एक ऋषि थे ऐसा ही अर्थ किया है । परन्तु यह बात असंगत है । क्योंकि ये दोनों वेद के मन्त्र हैं । वामदेव वक्ता नहीं हो सकते किन्तु द्रष्टा हो सकते हैं । अतः यह आवश्यक है कि इस में पूर्ण विचार किया जाय । अतः मैं इन दोनों मन्त्रों का अर्थ दिखलाता हूं तत्पश्चात् समीक्षा करूंगा ।

"गर्भेनुसन्" ऋ० ४ । सू० २७ । मं० १ ॥ इस का ऋषि वामदेव है और देवता इन्द्र है । जैसे आत्मा नाम जीव और ब्रह्म दोनों का है वैसे ही इन्द्र नाम जीव और ब्रह्म दोनों का है ॥ श्रीमदाचार्य स्वामी दयानन्दजी कहते हैं " अथ जीवगुणानाह " अब जीव के गुणों को कहते हैं । अर्थात् यह मन्त्र जीव के गुणवर्णन-परक है । एक सिद्ध मुक्त जीव कहते हैं कि (सन्) जीवात्मा (अहम्) मैंने (गर्भे) इस ब्रह्माण्डरूप गर्भ में (वर्त्तमानानाम्) वर्त्तमान (एषां देवानाम्) इन अग्नि, वायु, सूर्यादि सकल प्राकृतिक वस्तुओं के (विश्वा) सर्वथा (जनिमानि) उत्पत्ति स्थिति आदि अर्थात् सब तत्त्वों को (नु) निश्चितरूप से (अनु+अवेदम्) अच्छे प्रकार जान लिया (मा) मुझ को

(१) सन् नाम ब्रह्म जीव और प्रकृति इन तीनों का है । अतः ब्रह्म का एक नाम सच्चिदानन्द है । सत् प्रकृति भी, चित् और आनन्द नहीं । जीव सत् और चित् दोनों है परन्तु सर्वदा आनन्द नहीं ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द तीनों है । और ये तीनों नित्य पदार्थ हैं अतः सत् कहे जाते हैं । पुलिङ्ग में सत् का सन् बन जाता है ।

(आयसीः) लौहमयी अर्थात् बन्धनमय (शतम्) अनेक (पुरः) शरीर (अरक्षन्) रक्षा करते थे (अध) अनन्तर (जवसा) ज्ञानरूप बड़े वेग से (श्येनः) बाज पक्षी के सदृश (निरदीयम्) निकल गया हूं। मुझ को लोहमय शरीर रक्षा करते थे। इस का भाव यह है कि मैं अज्ञान के कारण लोहसदृश अटूट शरीरों में बन्द था। जब मैंने सकल प्राकृतिक वस्तुओं के तत्त्व अच्छे प्रकार जान लिये तब श्येन पक्षी के समान बड़े वेग से उन लोहमय शरीरों से छूट कर निकल गया। अब मैं इन्द्र (परमैश्वर्यवान्) होकर मुक्ति का सुख भोगरहा हूं जो यथार्थ में इन्द्रपना है उस को मैं सब बन्धनों से छूट मुक्तावस्था में पा रहा हूं।

सम्पूर्ण प्राकृतिक वस्तु की एक संज्ञा देव है। सांख्यशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि जब तक प्रकृति को पुरुष नहीं जानता है तब तक पुरुष को प्रकृति अपने वश में रखती है जब पुरुष प्रकृतिरूपा कुलवधू के सर्वाङ्ग को देख लेता है तब प्रकृति मानो लज्जित होकर उस पुरुष से पृथक् हो जाती है। अर्थात् तत्त्ववित् पुरुष को प्रकृति नहीं बांधती है। कहा गया है "प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य"। सांख्यकारिका ६१। जब जीव प्रकृति को अच्छे प्रकार जान लेता है तब वह बन्धन से छूट मुक्त हो जाता है। यह शिक्षा इससे मिलती है। अतः सब को उचित है कि सृष्टि विद्या को जानें यही भाव श्रीमदाचार्य दयानन्दजी का है। "अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः"। ऋ० ४। २६। १॥

इस द्वितीय मन्त्र का अर्थ–श्रीस्वामी दयानन्दजी इस पर कहते हैं–"अथेश्वर गुणानाह" ईश्वर के गुणों का उपदेश करते हैं। इस मन्त्र का देवता इन्द्र (परमात्मा) है। (अहम्) मैं (मनुः) सम्पूर्ण पदार्थों का मनन करने वाला (अभवम्) हूं। अर्थात् मैं सर्वज्ञ हूं (सूर्य्यः+अहम्) सूर्य्यवत् प्रकाशक मैं ही हूं (कक्षीवान्) सम्पूर्ण सृष्टि की कक्षा से युक्त मैं ही हूं (ऋषिः) सर्वव्यापक (अस्मि) हूं (विप्रः) वीजप्रद मैं हूं (आर्जुनेयम्) दीप्यमान (कुत्सम्) प्रधान=प्रकृति को (नि) अतिशय (ऋञ्जे) वश में रखने वाला हूं (अहम्+कविः) परमज्ञानी हूं (उशना:) सबों को चाहने वाला मैं हूं। हे जीव !

(१) कक्षा=श्रेणी, स्थान, प्रकृति विद्या। उसे जो जाने उसका नाम कक्षीवान् है। (२) (ऋषगतौ) सर्वगत। (३) (डुवपबीजसन्ताने) बीज के फैलाने वाला। (४) अर्जुन=शुक्ल। (५) (कुतमात्मानं जीवं सिनोति बध्नातीति कुत्सः प्रधानम्)। (६) (वश कान्तौ कान्तिरिच्छा) इच्छार्थक वश धातु से उशना बनता है।

(मा) ऐसे मुझ को (पश्यत) जानो वा साक्षात् करो। इसके अव्यवहित परमन्त्र के देखने से विस्पष्ट होता है कि यह ब्रह्म का प्रकरण है।

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्। ऋ० मण्ड० ४। सू० २६। मं० २॥

(अहम्) मैं (आर्याय) मनुष्य को (भूमिम्) आश्रय (अददाम्) देता हूं (अहम्) मैं (दाशुषे+मर्त्याय) दानशील पुरुष को (वृष्टिम्) धनादि की वर्षा देता हूं (अहम्) मैं (अपः) जल (अनयम्) लाता हूं (वावशानाः) मुझको चाहने वाले (देवाः) मेधावीगण (मम) मेरे (केतम्) केतन–गृह में=मेरी शरण में (अनु+आयन्) प्राप्त होते हैं। इस सम्पूर्ण सूक्त को देखो।

इस विवरण से यहां विशदरूप से विदित होता है कि यहां जीव और ब्रह्म का प्रकरण है। वेद में एक संकेत है कि जिस मन्त्र का जो देवता होता है उसी का उसमें वर्णन होता है। यहां इन्द्र देवता है अतः यह वर्णन इन्द्र (जीव वा ब्रह्म) का ही हो सकता है। अन्य का नहीं। इस कारण इन वैदिक मन्त्रों को ऋषिप्रोक्त कहना ठीक नहीं। अब उपनिषद् की संगति इस प्रकार होती है। ऐतरेयोपनिषद् में–"गर्भे नु सन्नन्वेषाम्" इस मन्त्र के पूर्व यह कहा गया है–"अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। तदस्य तृतीयं जन्म" (अथ) अनन्तर (अस्य) इस कुमार का (अयम्) यह (इतर आत्मा) दूसरा आत्मा अर्थात् पिता (कृतकृत्यः) कृतकृत्य होकर ऋणत्रय के संशोधन से कृतकृत्य वह पितारूप आत्मा (वयोगतः) वृद्धावस्था को प्राप्त हो (प्रैति) मरता है (सः) वह (इतः) यहां से (प्रयन्नेव) प्रस्थान करते ही=मरते ही (पुनः जायते) पुनः उत्पन्न होता है (तत्) वह (अस्य) इसका (तृतीयम्) तृतीय (जन्म) जन्म है। यहां मनुष्य के तीन जन्मों का व्याख्यान है। प्रथम जन्म भार्य्या में वीर्यस्थापन द्वारा, द्वितीय सन्तानरूप से उत्पन्न होना, तृतीय कृतकृत्य होकर मुक्ति को प्राप्त करना। यहां (पुनः जायते) इसका यह अर्थ नहीं है कि फिर किसी योनि में ही जन्म लेवे। यहां एक शरीर को छोड़ दूसरे स्थान में जाना ही जन्म है। यहां यदि किसी योनि में जन्म लेना अर्थ किया जाय तो "कृतकृत्यः" शब्द व्यर्थ हो जायगा। कृतकृत्य वही होगा जिसके सब अच्छे कर्म होंगे। और जिस के अच्छे कर्म होंगे वह अवश्य मुक्त होगा "अतः पुनर्जायते" का यहां "मुक्ति" में जाना

अर्थ है। यह भी जन्मवत् है। अब "तदुक्तमृषिणा" इस प्रकार (ऋषिणा) पूर्वोक्त जीव मुक्तावस्था में प्राप्त होकर (उक्तम्) कहा है। "गर्भे नु सन्नन्वेषाम्" इस प्रकार लगाने से प्रकरण विस्पष्ट हो जाता है और वेद में भी दोष नहीं आता। अब आगे "गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" ईश्वर के आश्रयरूप गर्भ में रहते हुए ही (वामदेव०) मुक्त जीवने कहा। वामदेव नाम मुक्तजीव का है (वामो वननीयः सेवनीयो देवः) जो सेव्य देव हो उसे वामदेव कहते हैं। और बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म का ही प्रकरण है "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" अतः (अहं मनुरभवम्) यह बहुत ठीक कहा है। दोनों स्थानों में विशद है। ऐतरेय में जीव का प्रकरण है अतः "गर्भेनुसन्" कहा है बृहदारण्यक में ब्रह्म का प्रकरण है अतः "अहं मनु" कहा गया। बृहदारण्यक में इस प्रकार है:—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत् सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्य्यश्चेति ॥ बृ० १। ४। १० ॥

अर्थः-(अग्रे) सृष्टि के पहले (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म (वै) ही (आसीत्) था (तत्) उस ब्रह्म ने (आत्मानं+अवेत्) अपने में विचार किया (अहम्+ब्रह्म+अस्मि) मैं सम्पूर्ण सृष्टि करने में समर्थ हूं। सो मैं सृष्टि करूं (तस्मात्) तदनन्तर उस ब्रह्म से (तत्सर्वम्) वह सब यह सम्पूर्ण जगत् (अभवत्) उत्पन्न हुआ (तत्) तदनन्तर=तब से (देवानाम्) विद्वानों में से—ब्रह्मज्ञानियों में से (यो यः) जो २ (प्रत्यबुध्यत) ब्रह्म को अच्छे प्रकार जान गये (सः) वह २ (तद्+एव) उसी को (अभवत्) पाते गये और (तथा ऋषीणाम्+तथा मनुष्याणाम्) वैसा ही ऋषियों और मनुष्यों में से जो २ उसको जानते गये वे वे उसको पाते गये (तद्+ह+एतत्) वह यह सर्वत्र दृश्यमान (ऋषिः) सर्वगत (वामदेवः) पूजनीयदेव (प्रतिपेदे) उपदेश देते हैं कि "अहंमनुरभवम्" इत्यादि यह वेद का मन्त्र है जिसका अर्थ कर आया हूं। "तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति"। बृ० १। ४। १० ॥

---

(१) इससे यह शिक्षा ईश्वर ने दी है कि यह जीव मुक्त और बद्ध दोनों होता है। (२) मातृगर्भ से जीव कदापि नहीं बोल सकता। और भी यह वेद का मन्त्र है। इस हेतु ईश्वर का आश्रयरूप ही गर्भ है। यद्यपि सम्पूर्ण विश्व ही मानो उसके उदर में है परन्तु मुक्त जीव ही उसके सान्निध्य को अनुभव करते हैं। (३) ("तदैक्षत०) ईक्षणक्रिया। (४) भू प्राप्तौ धातुपाठ। भू=पाना। यहां सकर्मक क्रिया है।

(तत्+इदम्) इससे यह बात सिद्ध हुई कि जैसे देव ऋषि मनुष्यों में से ब्रह्म-ज्ञानी लोग उस समय में ब्रह्म को प्राप्त हुए वैसे ही (एतर्हि) आजकल (यः एवं वेद) जो ऐसा जानता है (अहं ब्रह्म अस्मि) मैं ब्रह्म में स्थित हूं (सः) वह पुरुष (इदं सर्वम्) इस सबको अर्थात् इस सर्वात्म ब्रह्म को (भवति) पाता है ।

भू प्राप्तौ—ऐसे स्थलों में यदि भू धातु का अर्थ प्राप्ति नहीं किया जाय तो यह दोष आवेगा "स इदं सर्वं भवति" इस की जगह में "स अयं सर्वः भवति" ऐसा होना चाहिये अतः यहां भू धातु सकर्म्मक क्रिया है । पाना उसका अर्थ है । वह सब को पाता है इसी प्रकार (स एव तदभवत्) इत्यादि में भी जानना इस में यह प्रमाण भी है । "रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" । ऋ० मण्ड० ६ । सू० ४७ । मं० १८ ॥ इस मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य ने "बभूव । प्राप्नोति । भू प्राप्ता वितिधातुः" भू धातु का अर्थ प्राप्त किया । यह भी वर्णन ठीक ऐसा ही है । परन्तु इसी "रूपं रूपं" मन्त्र में जो बृहदारण्यक द्वितीयाध्याय पञ्चम ब्राह्मण १९ खण्ड में भी है श्रीशङ्कराचार्य्यजी "बभूव" का अर्थ "प्राप्नोति" नहीं करते हैं यहां पर भी अद्वैतवाद में ही घटाते हैं । तात्पर्य यह है कि श्रीशङ्कराचार्यजी पक्षपात के कारण ऐसे २ स्थलों में अर्थ का अनर्थ करते हैं । इसी प्रकार "अहं मनु" इत्यादि मन्त्रों को न जानकर शङ्कराचार्य्यजीने भूल की है । गम्भीर आशय में लोग प्रविष्ट नहीं हुये थे और इसी असावधानता के कारण वेदान्तसूत्र (शास्त्रदृष्टया०) में "अहं मनुरभवं" इत्यादि उदाहरण दिया । एवं शङ्करा-चार्यजी के पीछे सब भाष्यकर्त्ताओं ने उन का ही अनुकरण किया । वेदान्त सूत्र में यह उदाहरण कदापि नहीं देना चाहिये था । अलमतिविस्तरेण विद्वज्जनेषु ॥

वामदेव और वेद ।

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥ बृहच्च रथन्तरं च द्वौस्तनावा-स्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥ ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहून् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥ अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ८ । १० (२)

(१) "ब्रह्मणि" की जगह में ब्रह्म हो गया । समास हेतु सप्तमी लोप हो गई है (ब्रह्मणि + अस्मि इति ब्रह्मास्मि) यह समास है । यद्वा यहां सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णा-च्छेया डाड्यायाजालः । ७ । १ । ३९ ॥ इस सूत्र से सप्तमीविभक्ति का लोप होगया है । नकार का लोप आर्ष है ॥ (२) भू प्राप्तौ । धातुपाठे । भू=पाना ॥

यहां वेदवाणी का प्रसंग आया हुआ है। ब्रह्म मानो एक गौ (वृष) है। संपूर्ण वेदवाणी मानो एक विराट् धेनु है। गायत्री आदि इस के बच्चे हैं "को नु गौ कएक ऋषिः" अथर्व० ८। ९॥ "विराड् वा इदमग्र आ०" अथर्व० ८। १० मन्त्र देखो। (तस्याः) उस वेदवाणीरूपा धेनु के (वत्सः) वत्स (इन्द्र आसीत्) विद्वान् जीव हैं (गायत्री+अभिधानी) गायत्री छन्द दुग्धपात्र है (अभ्रम्) अभ्र नामक छन्द (ऊधः) स्तनमण्डल है॥ ५॥ (बृहत्+च+रथन्तरञ्च) बृहत् और रथन्तर साम (द्वौ+स्तनौ+आस्ताम्) दो स्तन हैं और चकार से अन्य भी दो दो साम स्तन हैं ऐसा जानना। (यज्ञायज्ञियञ्च वामदेव्यञ्च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्यसाम (द्वौ) दो स्तन हैं। च से अन्य भी दो दो साम स्तन हैं॥ ६॥ (देवाः) विद्वद्गण दोग्धा हैं (रथन्तरेण) रथन्तररूप स्तन से (ओषधीः+एव अदुहन्) ओषधियों को दूहते हैं (बृहता) बृहत्‌रूप स्तन से (व्यचः) विविध प्रकार के शुद्ध पवित्र अन्नों को॥ ७॥ (वामदेव्येन) वामदेव्यरूप स्तन से (अपः) जल को (यज्ञायज्ञियेन) यज्ञायज्ञियरूप स्तन से (यज्ञम्) यजनीय ब्रह्म को दूहते हैं॥ ८॥ वेद वाणीरूपा धेनु से ही सब सार निकलते हैं यह इस का भाव है। पुनः—"यज्ञायज्ञियञ्च वामदेव्यञ्चानुष्ठातारौ" अथर्व० १५। ४। ५॥ यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य उसके अनुष्ठान करने वाले हैं। चकार से अन्य साम भी। पुनः—"बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्ताम्। यज्ञायज्ञियञ्च वामदेव्यञ्च तिरश्च्ये"। अथर्व० १५। ३। ५॥

बृहत् और रथन्तर इस के उत्तर जानु और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम दक्षिण जानु हैं। च से अन्य भी। पुनः—ऋचः प्राञ्चस्तनवो यजूंषि तिर्य्यञ्चः॥ ६॥ (ऋचः) पद्यरूपा वेदवाणी (तिर्यञ्चः) पश्चिमतनु हैं। इस से विदित होता है कि बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, वैरूप, वैराज आदि सामगान के भेदमात्र हैं। अतः यहां वामदेव किसी ऋषि का नाम नहीं हो सकता। क्योंकि एक तो गान के प्रसंग से वेद में वामदेव शब्द आया है। दूसरी प्रवल युक्ति इसमें यह है कि बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वैराज, गायत्र, रेवती, शकरी आदि जितने साम गान के नाम आये हैं इन में से कोई भी किसी पुरुष वा व्यक्तिविशेष के नाम नहीं है। इसी गान प्रसंग में वामदेव्य नाम भी आया है। अतः विस्पष्टतया वोध होता है कि बृहत् रथन्तर आदि सामवत् वामदेव भी किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं। उपनिषद् में गायत्र १ रथन्तर २ वामदेव्य ३ बृहत् ४ वैरूप ५ वैराज ६ शकरी ७ रेवती ८ यज्ञायज्ञिय ९ राजन १० इस क्रम से नाम आये हुए हैं। इस में केवल एक वामदेव ही पद संदिग्ध और विवादास्पद है। परन्तु जब अन्य सब ही

किसी व्यक्ति के नाम नहीं तब वामदेव एक व्यक्तिविशेष वा पुरुषविशेष मानकर वामदेव पुरुष-सम्बन्धी साम को वामदेव्य कहना सर्वथा अनुचित और युक्तिहीन है। इस हेतु ऐसे प्रसंग में वामदेव शब्द किसी व्यक्तिविशेष का वाचक नहीं हो सकता। यहां वामदेव शब्द ब्रह्म और जीववाचक है। ब्रह्म और जीवसम्बन्ध में जो गान उसे वामदेव्य-गान वा साम कहते हैं ॥

प्र०-यदि कहो कि इस मन्त्र में तो वामदेव साक्षात् ऋषि ही प्रतीत होते हैं, यथा-"कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्य्यर्चनानाः। विश्वामित्रोयं जमदग्निरत्रिरवन्तुनः कश्यपो वामदेवः।" अथर्व० १८। ३। १५ ॥ "विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव। शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरोमृडता नः।" अथर्व० १८। ३। १६ ॥

इन मन्त्रों में तो प्रत्यक्ष ही व्यक्तिविशेष का ही नाम वामदेव है। इस में सन्देह नहीं, क्योंकि विश्वामित्र, भरद्वाज, वसिष्ठ, अत्रि आदि नाम प्रसिद्ध ऋषियों के ही हैं फिर आप वामदेव भी व्यक्तिविशेष वाचक क्यों नहीं मानते हैं।

उ०-वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थ व्याख्यानरूप हैं उन में वसिष्ठ, भरद्वाज आदिक नामों की व्याख्या कीहुई है, यथा देखो:—

"वसिष्ठः-प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। शत० ८। १। १। ६ ॥ भरद्वाजः-मनो वै भरद्वाज ऋषिः। ८। १। १। ८ ॥ जमदग्निः-चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः। ८। २। ३ ॥ विश्वामित्रः-श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। ८। २। ६ ॥ विश्वकर्मा-वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिः। ८। २। ६ ॥" इत्यादि से सिद्ध है कि वेद में आये हुए ये नाम सब किसी व्यक्तिविशेष वाचक नहीं। पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् देखो:—

"इमावेव गोतम भरद्वाजा वयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजइमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठ कश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद" ॥ बृ० २। २ ॥ ४ ॥

गोतम, भरद्वाज, दक्षिण उत्तर कर्णों के; विश्वामित्र, जमदग्नि नेत्रों के; वसिष्ठ, कश्यप, नासिकाओं के और अत्रि वाणी के नाम हैं। इत्यादि प्रकरणानुसार इन सब के अर्थ होते हैं। इन प्रमाणों से प्रतीति होती है कि वेद में आये हुए शब्द किसी व्यक्ति-

विशेष के वाची कदापि नहीं हो सकते, इन सबों का कुछ और ही अर्थ है । इस प्रकरण में वामदेव शब्द पूजनीय विद्वान् का नाम है ।

वामदेव शब्दार्थ:-"वामो वननीयः संभजनीयः सेवनीयो देवो विद्वान् इति वामदेवः । यद्वा वामो देवो द्योतको बोधो यस्य स वामदेवः" ।

सेवनीय जो देव उसे वामदेव कहते हैं । अथवा सेवनीय देव=तत्त्व विषय में बोध है जिस में वह वामदेव । यह इसका मुख्य अर्थ है । ब्रह्म परम सेवनीय है । अतः वामदेव नाम ब्रह्म का है । आत्मा भी सेवनीय उद्धरणीय है अतः जीवात्मा भी वामदेव है और जिस में उत्तम बोध हो वह भी वामदेव है ।

वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा । वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती" नि० नै० ६ । ३१ ॥ इस मन्त्र की व्याख्या में (वामं वननीयं भवति) ऐसा अर्थ करते हैं । इस हेतु वामदेव शब्द का अर्थ ब्रह्म, जीव, विद्वान् आदि है ॥

ऋषि वामदेव-परन्तु वामदेव नाम के एक ऋषि भी हुए हैं । ऋग्वेद चतुर्थ सम्पूर्ण मण्डल के ऋषि वामदेव ही हैं । ये बड़े भारी विद्वान् योगी ऋषि हुए हैं इसी हेतु इनका नाम वेदान्त सांख्य पाणिनी सूत्र आदि में आते हैं । पूर्व में कह आये हैं कि वामदेव्यगान सब शुभकर्म के अन्त में होता है । अन्त में ईश्वर की प्रार्थना होती है । इसी हेतु इस का वामदेव्य नाम है । जो ऋचाएं गाई जाती हैं उन्हें "कवन्ती" भी कहते हैं "क" ब्रह्म देवता है जिस का, उसे "कवती" कहते हैं (कं ब्रह्मदेवतास्ति अस्याऋचः सा कवती) परन्तु इस साम का ऋषि भी वामदेव ही है । अतः ऋषि के नाम से भी इस को वामदेव्य कह सकते हैं । इत्यादि अर्थों का अनुसन्धान करके उपनिषद्कर्ता महर्षि के वचनों का अर्थ करना उचित है । इतिदिग् ।

इति वामदेव्य सामसमीक्षा ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

उद्यन्हिङ्कार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

उद्यन् । हिङ्कारः । उदितः । प्रस्तावः । मध्यन्दिनः । उद्गीथः । अपराह्णः । प्रतिहारः । अस्तम् । यन् । निधनम् । एतद् । बृहत् । आदित्ये । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-उद्यन्निति । उद्यन् उद्गच्छन् सूर्यः । हिङ्कारः हिङ्कारसमः । उदितः उदयम् प्राप्तः सविता । प्रस्तावः प्रस्तवनहेतुत्वात्कर्मणाम् । मध्यन्दिनः उद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । अपराह्णः प्रतिहारः । पश्वादीनां गृहान् प्रतिहरणात् । अस्तं यन् गच्छन् । सूर्यस्य अस्तवेला यत् वर्त्तते तत् निधनं रात्रौ प्राणिनां गृहे निधानात् । एतत् । बृहत् बृहन्नामकं सामगानम् । आदित्ये सवितरि । प्रोतम् आबद्धम् ॥ १ ॥

अनुवादः-उदय होता हुआ सूर्य मानो हिङ्कार है । उदित सूर्य प्रस्ताव समान है मध्यन्दिन उद्गीथ सम । अपराह्ण प्रतिहार और अस्तवेला प्राप्त निधन है । यह बृहत् नामक सामगान आदित्यसम्बन्धी है ॥ १ ॥

पदार्थः-(उद्यन्) उदित होता हुआ सूर्य (हिङ्कारः) मानो हिङ्कार साम का (उदितः+प्रस्तावः) उदित सूर्य प्रस्ताव साम का (मध्यन्दिनः) मध्याह्नसूर्य (उद्गीथः) उद्गीथ साम का (अपराह्णः) अपराह्ण सूर्य (प्रतिहारः) प्रतिहार का (अस्तम्+यन्) अस्त होता हुआ सूर्य (निधनम्) निधन साम का अनुष्ठान करता है (एतद्+बृहत्) यह बृहन्नामका साम है (आदित्ये) आदित्य विषय में (प्रोतम्) ग्रथित है ॥ १ ॥ *

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद । तेजस्व्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतद् । बृहत् । आदित्ये । प्रोतम् । वेद । तेजस्वी । अन्नादः । भवति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । तपन्तम् । न । निन्देत् । तद् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्-स इति । स य उपासकः । आदित्ये प्रोतम् एतद् बृहन्नामकं सामगानम् ।

---

* तस्मा उद्यन्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्रस्तौति । ४ । मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम् । ५ । अथर्व० का० ६ । सू० ५ (५) ॥ अर्थ-(तस्मै) उसी ब्रह्मकी कीर्त्ति गानार्थ (उद्यन्+सूर्यः) उदित होता हुआ सूर्य हिङ्कारविधि का अनुष्ठान करता है । इत्यादि । छा० २ । २ । १ का भाष्याशय देखो ॥

एवं वेद । स तेजस्वी भवति । तपन्तं जगत्तपन्तं स्वप्रचण्डकिरणजालैर्विश्वं तापयन्तं सवितारं बृहत्सामोपासको न निन्देत् तद्व्रतमस्य । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अनुवादः-जो कोई उपासक आदित्यसम्बन्धी इस बृहन्नाम सामगान को इस प्रकार जानता है वह तेजस्वी और अन्नवाला होता है । सम्पूर्ण आयु को पाता । उज्ज्वल जीवन जीता है । प्रजा और पशुओं से युक्त होता और कीर्ति से महान् होता है । तपते हुए सूर्य की निन्दा न करे वह व्रत है ॥ २ ॥

पदार्थः-(सः+यः) जो कोई उपासक (आदित्ये प्रोतम्) आदित्यविषयक एतद्-बृहत्) इस बृहत् नामक साम को (एवं वेद) ऐसा जानता है वह (तेजस्वी+अन्नादः) तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है । इस का व्रत यह है (तपन्तं) जगत् को संतप्त करते हुए सूर्य की (न+निन्देत्) निन्दा न करे क्योंकि ईश्वर के सब कार्य सप्रयोजन हैं किसी प्रयोजन के लिये ही सूर्य के द्वारा संसार को तपाता है । सूर्य जितना ही तपता है, वर्षा भी उतनी ही होती है । और सब पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

अभ्राणि सम्प्लवन्ते स हिङ्कारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपंपर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

अभ्राणि । सम्प्लवन्ते । सः । हिङ्कारः । मेघः । जायते । सः । प्रस्तावः । वर्षति । सः । उद्गीथः । विद्योतते । स्तनयति । सः । प्रतिहारः । उद्गृह्णाति । तत् । निधनम् । एतद् । वैरूपम् । पर्जन्ये । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-अभ्राणीति । अभ्राणि । अपो जलानि भरन्तीति अभ्राणि । यद्वा । सूर्यकिरणै-र्जलानि ऊर्ध्वं गत्वा मेघाकाराणि भवन्ति तदा मेघा अभ्रपदेन व्यवह्रियन्ते । अभ्राणि यत् सम्प्लवन्ते स हिङ्कारः । हिङ्कार समानि । मेघो यज्जायते स प्रस्तावः । वर्षति वृष्टिं करोति

(१) ईश्वर के सकल कार्य्य किसी न किसी अभिप्राय से होते हैं । अज्ञानी लोग उन्हें न जान ईश्वर में वा उनके कार्य्यों में दोष लगाना आरम्भ करते हैं, सो नहीं चाहिये किन्तु अभिप्राय का अन्वेषण करना चाहिये ॥

स उद्गीथः । यद्विद्योतते विद्युत्प्रकाशते । स्तनयति गर्जति स प्रतिहारः । उद्गृह्णाति उपशाम्यति तन्निधनं । एतद् वैरूपं वैरूपनामकं सामगानं पर्जन्ये मेघे प्रोतमावद्धम् । विरूपोमेघस्तत्सम्बन्धि वैरूपम् ॥ १ ॥

अनुवादः–अभ्र जो एकत्रित होते हैं वह हिङ्कार है जो मेघ होता है वह प्रस्ताव है जो वरसता है वह उद्गीथ है जो विजुली विद्योतित होती है और मेघ गरजता है वह प्रतिहार है । जो शान्त होता है वह निधन है । यह वैरूप्यनाम सामगान पर्जन्य-सम्बन्धी है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अभ्राणि) मेघ (सम्प्लवन्ते) आकाश में जो संचित होता है (सः+हिङ्कारः) मानो वह हिङ्कार विधि का (मेघो जायते) जो अच्छे प्रकार से आकाश में मेघ वनता है (स प्रस्तावः) वह प्रस्ताव साम का (वर्षति) जो वरसता है (स उद्गीथः) वह उद्गीथ का (विद्योतते+स्तनयति) विद्योतित होता है और गर्जन करता है (स प्रतिहारः) वह प्रतिहार का (उद्गृह्णाति) धीरे २ अपने को जो ग्रहण करता है अर्थात् शान्त होता है (तत् निधनम्) वह निधनसाम का अनुष्ठान करता है (एतद्+वैरूपम्) यह वैरूप साम है (पर्जन्ये+प्रोतम्) पर्जन्य=मेघ विषय में ग्रथित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद । विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, वर्षन्तं न निन्देत्तद् व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतद् । वैरूपम् । पर्जन्ये । प्रोतम् । वेद । विरूपान् । च । सुरूपान् । च । पशून् । अवरुन्धे । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । वर्षन्तम् । न । निन्देत् । तद् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्–स य इति । स य उपासकः पर्जन्ये प्रोतं मेघेन सम्बद्धं वैरूपमेतन्नामकं सामगानविशेषम् एवं पूर्वोक्तरीत्या । वेद जानाति । सः । विरूपांश्च । विविधरूपांश्च ।

---

(१) तस्मा अभ्रोभवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्रस्तौति । ६ । विद्योतमानः प्रतिहरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन्निधनम् । ७ । अथर्व० ६ । सू० ५ । अर्थ उपनिषद्वत् ही है । २ । २ । १ का भाष्याशय देखो ॥

सुरूपांश्च सुन्दररूपांश्च । पशून् अजमहिष गोप्रभृतीन् । पशून् । अवरुन्धे प्राप्नोति । वर्षन्तं मेघं न निन्देत् । तद्व्रतम् । तस्य वैरूपसामोपासकस्यैतदेव व्रतं भवति । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् ॥ २ ॥ इति पञ्चदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १५ ॥

अनुवादः–जो कोई उपासक मेघ सम्बन्धी इस वैरूपनामक सामगान को इस प्रकार जानता है वह विविधरूपवान् और सुन्दर रूपवान् पशुओं को प्राप्त करता है । सम्पूर्ण जीवन को पाता है । उज्ज्वल जीवन जीता है । प्रजा और पशुओं से महान् और कीर्त्ति से महान् होता है । बरसते हुए मेघ की निन्दा न करे उसका यह व्रत है ॥ २ ॥

पदार्थः–(सः यः) सो जो विद्वान् (पर्जन्ये+प्रोतम्) पर्जन्यविषयक (एतद्+वैरूपम्) इस वैरूप साम को (एवं वेद) ऐसा जानता है वह (विरूपान्+च) विविध रूपवाले (सुरूपान्+च) सुरूपवाले (पशून्) पशुओं को (अवरुन्धे) पाता है । च से अन्य पदार्थ को भी । सर्व प्रकार पशुओं के तत्त्वों को वह उपासक जान जाता है यह भाव है । (वर्षन्तं न निन्देत्) बरसते हुए मेघ की निन्दा न करे (तत्व्रतम्) वह व्रत है । शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥ इति पञ्चदशखण्डस्य भाषाभाष्यम् ॥ १५ ॥

अथ षोडशः खण्डः ॥

वसन्तो हिङ्कारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

वसन्तः । हिङ्कारः । ग्रीष्मः । प्रस्तावः । वर्षाः । उद्गीथः । शरत् । प्रतिहारः । हेमन्तः । निधनम् । एतद् । वैराजम् । ऋतुषु । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-वसन्त इति । ऋतुर्वसन्तः । हिङ्कारः । हिङ्कारसमः । ग्रीष्मर्तुः प्रस्तावः । संवत्सरः कीदृशोभविष्यतीति ग्रीष्मर्तुः स्वलक्षणेन जनयतीति तस्य प्रस्तावसमत्वम् । वर्षर्तुरुद्गीथः । श्रेष्ठयात् । शरत्प्रतिहारः । हेमन्तो निधनम् । एतद्वैराजम् । वैराजनामकं सामगानम् ऋतुषुप्रोतम् । ऋतुषु सम्बद्धम् ॥ १ ॥

अनुवादः–वसन्तऋतु हिङ्कार समान । ग्रीष्मऋतु प्रस्ताव सम । वर्षाऋतु उद्गीथ सदृश । शरदृतु प्रतिहार तुल्य और हेमन्तऋतु निधन समान है यह वैराजनामक सामगान ऋतुसम्बन्धी है ॥ १ ॥

पदार्थः–(वसन्तो हिङ्कारः) वसन्तऋतु हिङ्कारविधि का (ग्रीष्मः प्रस्तावः) ग्रीष्मऋतु प्रस्ताव साम का (वर्षा उद्गीथः) वर्षाऋतु उद्गीथ साम का (शरत् प्रतिहारः) शरत् प्रतिहार साम का (हेमन्तो निधनम्) हेमन्तऋतु निधनसाम का अनुष्ठान

करता है । (एतद्+वैराजम्) यह वैराजनाम का साम है (ऋतुषु प्रोतम्) ऋतु ज्ञान विषय में ग्रथित है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद । विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, ऋतून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतद् । वैराजम् । ऋतुषु । प्रोतम् । वेद । विराजति । प्रजया । पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेन । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । ऋतून् । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स य उपासकः । ऋतुषु प्रोतम् एतद्वैराजं सामगानम् एवं वेद सः प्रजया पुत्रपौत्रादिसन्तानेन पशुभिर्गोमहिषाजादिप्रभृतिभिर्महान् भवति ब्रह्मवर्चसेन ब्रह्म तेजसा विराजति शोभते । वैराजोपासकस्यैतद्व्रतम् यद् ऋतून् न निन्देत्तद्व्रतम् शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति षोडशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

अनुवादः—जो कोई उपासक ऋतुसम्बन्धी इस वैराजनाम सामगान को इस प्रकार जानता है वह प्रजा पशु और ब्रह्मतेज से सुशोभित होता, सम्पूर्ण आयु को पाता, सुन्दर जीवन जीता है । प्रजा और पशुओं तथा कीर्ति से महान् होता है । ऋतु की निन्दा न करे यह उसका व्रत है ॥ २ ॥

पदार्थः—(स यः) जो कोई (ऋतुषु प्रोतम्) ऋतुज्ञान सम्बन्धी (एतद्+वैराजम्) इस वैराज साम को (एवं वेद) ऐसा जानता है वह (प्रजया) प्रजासे (पशुभिः) पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (विराजति) विशेषतया शोभित होता है (ऋतून्+न निन्देत्) ऋतुओं की निन्दा न करे (तत्+व्रतम्) यही इसका व्रत है और सब पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति षोडशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः खण्डः ॥

पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

पृथिवी । हिङ्कारः । अन्तरिक्षम् । प्रस्तावः । द्यौः । उद्‌गीथः । दिशः । प्रतिहारः । समुद्रः । निधनम् । एताः । शक्कर्यः । लोकेषु । प्रोताः ॥ १ ॥

भाष्यम्–पृथिवीति। पृथिवी हिङ्कारः प्राथम्यात् । अन्तरिक्षम् । आकाशः प्रस्तावः प्रस्ताव समः । द्यौः । द्युलोक उद्‌गीथ उत्तमत्त्वात् । दिशः । पूर्वपश्चिमादि दिशः प्रतिहारः। समुद्रो निधनम् । एताः शक्कर्यः शक्करी नाम्न्यः सामगीतयः । लोकेषु प्रोताः लोकविषयिका इत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः–पृथिवी हिङ्कार, अन्तरिक्ष प्रस्ताव, द्युलोक उद्‌गीथ, दिशा प्रतिहार और समुद्र निधन है । ये शक्करी नाम सामगान लोक सम्बन्धी हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(पृथिवी+हिङ्कारः) हिङ्कार साम का पृथिवी (अन्तरिक्षम्+प्रस्तावः) प्रस्ताव का अन्तरिक्ष (द्यौः+उद्‌गीथः) उद्‌गीथ का द्युलोक (दिश+प्रतिहारः) प्रतिहार का दिशाएं (समुद्र +निधनम्) निधन का समुद्र अनुष्ठान करता है (एताः+शक्कर्यः) यह शक्करी साम कहलाती है (लोकेषु प्रोताः) पृथिव्यादि लोक ज्ञानार्थ ग्रथित है ॥१॥

स य एवमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोतावेद । लोकीभवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्त्या, लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एताः । शक्कर्यः । लोकेषु । प्रोताः । वेद । लोकीभवति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्त्या । लोकान् । न । निन्देत् । तद् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्–स इति । स य उपासकः । एवं पूर्वोक्तरीत्या एताः शक्कर्यः शक्करीनाम्न्यः सामगीतयः लोकेषु सर्वेषां लोकानां प्रशंसापरकाः प्रोता आवद्धा इति वेद जानाति । स लोकीभवति । सर्वलोकस्य तत्त्वविद् भवति । शक्करी सामोपासकस्यैतद्व्रतम् यल्लोकान् न निन्देत् । शेषं पूर्ववत् । २ ॥ इति सप्तदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अनुवादः–जो कोई उपासक इस शक्करी सामगान को लोकप्रशंसा-परक जानता है वह लोकी होता है । सम्पूर्ण आयु पाता । उज्ज्वल जीवन जीता है । प्रजा और पशुओं से तथा कीर्त्ति से महान् होता है । लोकों की निन्दा न करे ऐसा व्रत है ॥ २ ॥

(१) शक्करी शब्द प्रायः बहुवचन में ही आता है ।

पदार्थः-(स यः) जो कोई (लोकेषु प्रोताः) अग्न्यादि लोक विज्ञानप्रद (एताः शक्कर्यः) इस शक्करी नामक सामगान को (एवं वेद) ऐसा जानता है (लोकी भवति) वह अग्न्यादि लोक की विद्या से विज्ञानवान् होता है ॥ २ ॥

इति सप्तदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः खण्डः ॥

अजा हिङ्कारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः॥ १ ॥

अजा। हिङ्कारः। अवयः। प्रस्तावः। गावः। उद्गीथः। अश्वाः। प्रतिहारः। पुरुषः। निधनम्। एताः। रेवत्यः। पशुषु। प्रोताः॥ १ ॥

भाष्यम्-अजा इति। अजाश्छाग्यः। हिङ्कारः हिङ्कारसमाः। अवयः। मेष्यः। प्रस्तावः प्रस्तावतुल्याः। गावः उद्गीथः। श्रैष्ठ्यात्। अश्वाः हयाः प्रतिहारः। पुरुषः। एतत् पशु-पुरुषजातिर्निधनम्। एता रेवत्यः रेवती नाम्न्यः सामगीतयः पशुषु प्रोता पशु-सम्बन्धिन्यः ॥ १ ॥

अनुवादः-बकरियां हिङ्कार हैं, भेड़ियां प्रस्ताव हैं और गाएं उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं, पुरुष निधन, यह रेवतीनामक सामगानविशेष पशु-सम्बन्धी है ॥ १ ॥

पदार्थः-(अजाः+हिङ्कारः) हिङ्कार साम का अज (बकरे) (अवयः+प्रस्तावः) प्रस्ताव साम का अवि (मेष) (गावः+उद्गीथः) उद्गीथ साम का गायें (अश्वाः+प्रतिहारः) प्रतिहार साम का अश्व (घोड़े) (पुरुष+निधनम्) निधन साम का पुरुष अनुष्ठान करते हैं (एताः+रेवत्यः) यह रेवतीनामक साम है (पशुषु+प्रोताः) पशुविद्या ज्ञानार्थ ग्रथित हैं ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद। पशुमान् भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान्प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः। यः। एवम्। एताः। रेवत्यः। पशुषु। प्रोताः। वेद। पशुमान्। भवति। सर्वम्। आयुः। एति। ज्योक्। जीवति। महान्। प्रजया। पशुभिः। भवति। महान्। कीर्त्या। पशून्। न। निन्देत्। तत्। व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्–स इति । स य उपासक एता रेवत्य एतद्रेवतीनामकं सामगानं । पशुषु प्रोताः पशुगुणद्योतिकाः । वेद जानाति । स पशुमान् । प्रशस्तपशुमान् भवति । एतत् सामोपासकस्य एतद्व्रतम् । यत् पशून् न निन्देत् ॥ २ ॥

इत्यष्टादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अनुवादः–जो कोई उपासक इस रेवती नामक सामगान को इस प्रकार पशु-सम्बन्धी जानता है वह पशुमान् होता है, सम्पूर्ण आयु को पाता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, प्रजा और पशुओं तथा कीर्त्ति से महान् होता है । पशुओं की निन्दा न करे सो उसका व्रत है ॥ २ ॥

पदार्थः–(स यः पशुषु प्रोताः) सो जो कोई विद्वान् पशुविद्या-सम्बन्धी (एताः+रेवत्यः) इस रेवती साम को (एवं वेद) ऐसा जानता है वह (पशुमान्) पशु वाला होता है । पशुविद्या जानने से पशु-सम्बन्धी रोगादिकों को जानता है उससे उसके पशु अकालमृत्यु ग्रस्त नहीं होते (पशून्+न निन्देत्+तत्+व्रतम्) पशुओं की निन्दा नहीं करनी चाहिये वह इस का व्रत है ॥ २ ॥ इत्यष्टादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशः खण्डः ॥

लोम हिङ्कारस्त्वक् प्रस्तावो माᳫं समुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञि(ज्ञी)यमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम । हिङ्कारः । त्वक् । प्रस्तावः । मांसम् । उद्गीथः । अस्थि । प्रतिहारः । मज्जा । निधनम् । एतद् । यज्ञायज्ञियम् । अङ्गेषु । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्–लोमेति । लोम हिङ्कारः । देहावयवानां प्राथम्यात् । त्वक् प्रस्तावः आनन्तर्यात् । मांसमुद्गीथः श्रैष्ठ्यात् । अस्थि प्रतिहारः प्रतिहतत्वात् । मज्जा निधनम् । एतद् यज्ञायज्ञियं–नाम सामगानमङ्गेषु देहावयवेषु प्रोतम् सम्बद्धम् ॥ १ ॥

अनुवादः–लोम हिङ्कार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है, मज्जा निधन है, यह यज्ञायज्ञिय सामगान शरीरावयव सम्बन्धी है ॥ १ ॥

पदार्थः–(लोम+हिङ्कारः) हिङ्कार साम का लोम (त्वक्+प्रस्तावः) प्रस्ताव साम का त्वचा (मांसम्+उद्गीथः) उद्गीथ साम का मांस (अस्थि+प्रतिहारः) प्रतिहार साम का अस्थि (मज्जा+निधनम्) निधन साम का मज्जा अनुष्ठान करता है । (एतत्+यज्ञायज्ञियम्) यह यज्ञायज्ञियनामक साम है (अङ्गेषु+प्रोतम्) अवयव विद्या-प्रद्योतक है ॥१॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञियमङ्गेषु प्रोतं वेद । अङ्गी भवति-नाङ्गेन विहूर्च्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्जो नाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतद् । यज्ञायज्ञियम् । अङ्गेषु । प्रोतम् । वेद । अङ्गीभवति । न । अङ्गेन । विहूर्च्छति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । संवत्सरम् । मज्जः । न । अश्नीयात् । तद् । व्रतम् । मज्जः । न । अश्नीयात् । इति । वा ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स य उपासकः । एतद्यज्ञायज्ञियं नाम सामगानम् । एवमङ्गेषु देहावयवेषु प्रोतमाबद्धम् । वेद जानाति स अङ्गीभवति समग्राङ्गो भवतीत्यर्थः । अङ्गेन केनचिदवयवेनापि न विहूर्छति न कुटिलीभवति न व्यङ्गो भवतीत्यर्थः । संवत्सरं सर्वदा मज्जोमांसानि नाश्नीयात् न भक्षयेत् । पुनस्तदेव द्विरुक्त्या द्रढयति । वेति शब्दो निश्चयार्थः । निश्चितं मज्जो नाश्नीयात् ॥ २ ॥ इत्येकोनविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १९ ॥

अनुवादः-जो उपासक इस यज्ञायज्ञिय सामगान को इस प्रकार अवयव सम्बन्धी जानता है वह अङ्गी होता है किसी अङ्ग से वक्रता को प्राप्त नहीं होता । सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, प्रजा पशुओं और कीर्त्ति से महान् होता है। कभी मांस का भक्षण न करे, निश्चय कभी मांस का भक्षण न करे । यही उसका व्रत है ॥ २॥

पदार्थः—(स यः) जो कोई विद्वान् (अङ्गेषु+प्रोतम्) अवयव विज्ञानसम्बन्धी (एतत्+यज्ञायज्ञियम्) इस यज्ञायज्ञिय नामक साम को (एवं+वेद) ऐसा जानता है वह (अङ्गीभवति) प्रशस्त अवयववान् होता है अथवा अवयव विद्यावान् (अङ्गेन) अङ्ग से (न विहूर्च्छति) कभी कुटिल नहीं होता है अर्थात् अङ्ग भङ्ग उस के नहीं होते (संवत्सरम्+मज्जोनाश्नीयात्) कभी मांस न खाय (तद्व्रतम्) यह इस का व्रत है वा

(१) संवत्सर=वर्ष में भी कभी न खाय यहां "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" । २ । ३ । ५ ॥ इस सूत्र के अनुसार अत्यन्त संयोग में द्वितीया है अर्थात् कभी मांस न खाय सूचित होता है ॥

निश्चय ही (मज्जोर्नाश्नीयात्+इति) मांस न खाय ॥ २ ॥

इत्येकोनविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १९ ॥

अथ विंशः खण्डः ॥

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्निः । हिङ्कारः । वायुः । प्रस्तावः । आदित्यः । उद्गीथः । नक्षत्राणि । प्रतिहारः । चन्द्रमाः । निधनम् । एतत् । राजनम् । देवतासु । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—अग्निरिति । अग्निः हिङ्कारः पृथिवीस्थानीयत्वेन प्राथम्यात् । वायुः प्रस्तावः । आनन्तर्यसामान्यात् । आदित्यः सूर्य उद्गीथः । उच्चस्थितिसामान्यात् । नक्षत्राणि तारका प्रतिहारः प्रतिहृतत्वात् । चन्द्रमानिधनम् । एतद्राजनं नाम सामगानं देवतासु । अग्निप्रमुखेषु देवेषु प्रोतमाबद्धम् ॥ १ ॥

अनुवादः—अग्नि हिङ्कार, वायु प्रस्ताव, आदित्य उद्गीथ, नक्षत्र प्रतिहार और चन्द्रमा निधन है । यह राजन नामक सामगान देवता सम्बन्धी है ॥ १ ॥

---

(१) परमकारुणिक महर्षि इस व्रत को दोवार कहते हैं किसी व्रत को दोवार नहीं कहा है । इससे विदित होता है यज्ञों में पशुहिंसा वेद विरोधियों की चलाई हुई है । वेद विस्पष्टरूप से हिंसा निषेध करते हैं:—

"मुग्धाऽदेवा उत शुना यजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त । य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणोवोचस्तमिहेह ब्रवः" । अथर्व० । ७ । ५ । ५ ॥ अर्थ-(मुग्ध+अदेवाः) महामूढ़ अदेव= असुर लोग (उत शुना) कुत्ते से भी (अयजन्त) यज्ञ करते हैं । अखाद्य पदार्थों में परमावधि कुत्ते हैं, महामूर्ख लोग उससे भी यज्ञ करते हैं (गोः+अङ्गैः+उत) गौ के अङ्गों से भी (पुरुधा) बहुधा (अयजन्त) यज्ञ करते हैं । अवध्य पशुओं में परमावधि गौ पशु है परन्तु महामूर्ख लोग उससे भी यज्ञ करते हैं । अर्थात् पशुओं से जो यज्ञ करते हैं वे मुग्ध (मुह+वैचित्ये) पागल मूर्ख हैं । आगे ज्ञानयज्ञ की प्रशंसा करते हैं (यः) जो (इमं यज्ञम्) इस यजनीय परमेश्वर को (मनसा) मन से (चिकेत) जानते हैं वे (नः) हम लोगों के गुरु हैं (प्रवोचः) ऐसा कहै । जब ज्ञानी गुरु मिले तो उनसे कहे कि हे गुरो ! (तम्) उस यज्ञनीय परमात्मा को (इहेह) यहां ही (ब्रवः) कहैं उसके विषय में मुझ को शिक्षा दीजिये ॥

पदार्थः-(अग्निः+हिङ्कारः) अग्नि हिङ्कार है (वायुः) वायु (प्रस्तावः) प्रस्ताव (आदित्यः) आदित्य (उद्गीथः) उद्गीथ (नक्षत्राणि) नक्षत्र (प्रतिहारः) प्रतिहार और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (निधनम्) निधन है (एतत्+राजनम्) यह राजन साम (देवतासु) देवताओं में (प्रोतम्) ग्रहीत है अर्थात् अग्नि आदि विद्याध्ययनार्थ है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या, ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतत् । राजनम् । देवतासु । प्रोतम् । वेद । एतासाम् । एव । देवतानाम् । सलोकताम् । सार्ष्टिताम् । सायुज्यम् । गच्छति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । महान् । प्रजया । पशुभिः । भवति । महान् । कीर्त्या । ब्राह्मणान् । न । निन्देत् । तत् । व्रतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्-स इति । स यो विद्वान् देवतासु प्रोतमेतद्राजनं साम । एवंगुणविशिष्टं वेद । तस्यैषा समृद्धिः । तथाहि । एतासामेवदेवतानामग्निवाय्वादित्यनक्षत्रचन्द्राणां द्योतकानां प्रकाशकानाञ्च तत्त्वविज्ञानेन प्रथमं सलोकतां समानलोकतां गच्छति प्राप्नोति । तद्विज्ञानसमीपतां गच्छति तन्मर्मज्ञो भवितुमुपक्रमत इत्यर्थः । सैव सलोकता । ततः सार्ष्टितां समानर्धितां प्राप्नोति । अग्न्यादीनां प्रकाशनेन अग्न्यादिसमृद्धिमान् सम्यगुतद्विज्ञानवान् भवतीत्यर्थः । ततः सायुज्यञ्च गच्छति । युनक्ति प्रयुनक्तीतियुङ् । प्रयोगकर्त्ता । तस्यभावो युज्यं प्रयोगः। युज्येन सह प्रवर्त्तत इति सयुज्यः तस्य भावः सायुज्यम् । आग्नेय वायव्य सौर नाक्षत्र चान्द्रमस विद्यादि विज्ञानबलेन तान् अग्न्यादि पदार्थान् कार्य्ये प्रयोक्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥ इति विंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २० ॥

अनुवादः-जो कोई देवताओं में प्रोत इस राजन सामको ऐसा जानता है वह देवताओं की सलोकता, सार्ष्टिता और सायुज्यता को प्राप्त करता । सम्पूर्ण आयु को पाता है । ब्राह्मणों की निन्दा न करे । वह व्रत है । शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥

पदार्थः-(सः+यः) जो कोई विद्वान् (देवतासु प्रोतम्) दैवत तत्त्वविज्ञापक (एतत्+राजनं साम) इस राजन साम को (एवं वेद) ऐसा जानता है अर्थात् जो इस

विद्या में निपुण होता है वह प्रथम (एतासाम्+एव देवतानाम्) इन्हीं देवताओं के (सलोकताम्) सलोकता को (गच्छति) पाता है अर्थात् वह विद्वान् प्रथम अग्नि, वायु, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्र आदि पदार्थों के विज्ञान की समीपता को पहुंचता है उनके मर्मों को जानना आरम्भ करता है यही यहां सलोकता है। एकलोकता=समानलोकता को सलोकता कहते हैं। अग्नि के लोक पाना क्या है? अग्निरूप जो एक पदार्थ उसके समीप पहुंचना अर्थात् उसके मर्म जानना। महामूर्ख भी रातदिन अग्नि के समीप रहता है परन्तु अग्नि में क्या २ गुण हैं, नहीं जानता। आग्नेयविद्याध्ययनशील पुरुष उसके गुण जानना आरम्भ करते हैं। यही मानो यहां सलोकता है। इस प्रकार प्रथम सलोकता को पा (सार्ष्टिताम्+गच्छति) समानैश्वर्यता को पाता है अर्थात् अग्नि वायु आदिकों में जो विद्याएं हैं उनकी प्राप्ति से यह साक्षात् अग्नि है, यह साक्षात् सूर्य है। इत्यादि इसके विषय में इतरलोक कहना आरम्भ करते हैं। यही इसकी सार्ष्टिता है (स+ऋष्टि) ऋष्टि नाम अस्त्र शस्त्र का है, ऋद्धि (धन सम्पति) को ऋष्टि कहते हैं। अग्न्यादि विद्या जानने से लोक में अग्न्यादि समान माना जाता है। यही सार्ष्टिता कही गई है। तत्पश्चात् (सायुज्यम्+गच्छति) उनके प्रयोग विज्ञान को प्राप्त करता है अर्थात् आग्नेय, वायव्य और नाक्षत्र चान्द्रमस विद्याओं को विशेषरूप से जान लौकिक कार्य में उनको प्रयुक्त करने में समर्थ होता है। जैसे पूर्व समय में आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, वारुणास्त्र प्रभृति अनेक अस्त्र शस्त्र थे। रावण इन सब विद्याओं को जानता था। इसी हेतु इसने सम्पूर्ण पृथिवीपर विजय प्राप्त किया था। परन्तु आर्य लोग भारतवर्ष में उससे भी बुद्धिमान् थे। इस हेतु जब उस रावण ने भारतवर्ष में उपद्रव करना आरम्भ किया तब महायोद्धा विश्वामित्र-शिष्य विविध अस्त्र शस्त्रवेत्ता श्रीरामचन्द्र ने उसे मारा और इसी हेतु कहा जाता है कि रावण के वंश में सब देवता थे जैसे आज हम कह सकते हैं कि श्रीमहाराजाधिराज भारतेश्वर श्रीएडवर्ड के अधीन सब ही देवता हैं क्योंकि सूर्य रश्मियों से, चन्द्र किरणों से, विविध आग्नेय शक्तियों से, वायु से, विद्युत् से, इस प्रकार बहुविधदेवताओं से काम लिया जाता है (युनक्ति युङ्) जो प्रयोग को जाने उसे युङ् कहते हैं "युजेरसामे। १। ७। ७१"। इस सूत्र से पाणिनि महर्षि "युङ्" यह प्रयोग सिद्ध करते हैं अर्थात् "युङ्" यह शब्द बहुत प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है (युजो भावो युज्यम्) प्रयोक्तृत्व को युज्य कहते हैं। अग्नि आदि पदार्थों के प्रयोग में निपुणता का नाम सायुज्य है (सर्वम्+आयुः+एति) सम्पूर्ण आयु को पाता है। (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों की (न+निन्देत्) निन्दा न करे (तद्व्रतम्) वही व्रत है। शेष पूर्ववत् ॥ २ ॥ इति विंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २० ॥

अथ एकत्रिंशः खण्डः ॥

त्रयी विद्या हिङ्कारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयी । विद्या । हिङ्कारः । त्रयः । इमे । लोकाः । सः । प्रस्तावः । अग्नि । वायुः । आदित्यः । सः । उद्गीथः । नक्षत्राणि । वयांसि । मरीचयः । सः । प्रतिहारः । सर्पाः । गन्धर्वाः । पितरः । तत् । निधनम् । एतत् । साम । सर्वस्मिन् । प्रोतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—त्रयीति । त्रयी विद्या वेदाः हिङ्कारः । त्रयो भूर्भुवः स्वराख्या इमे दृश्यमाना लोका ये सन्ति स प्रस्तावः । अग्निः वायुः आदित्यः । इमे त्रयो ये प्रत्यक्षदेवताः सन्ति । स उद्गीथः । नक्षत्राणि । वयांसि पक्षिणो पक्षिसमानानि दृश्यमानानि नक्षत्राणीत्यर्थः । मरीचयः शीघ्र नाशोन्मुखानि इतराणि नक्षत्राणि । मरीचयो मरणधर्म्माणः । किरणा इति केचित् । एते त्रयो ये सन्ति स प्रतिहारः । सर्पाः सर्पणशीलाः सरीसृपप्रकारकाः । गन्धर्वाः । गां पृथिवीं धरन्ति आश्रयन्ति पृथिव्यन्तः स्थायिनः । पितरः गोवलीवर्दमहिषाजाविप्रभृतयो मनुष्यरक्षका ये पशवः सन्ति । तन्निधनम् एतत् साम सर्वस्मिन् ब्रह्माण्डे प्रोतं सम्बद्धम् ॥ १ ॥

अनुवादः—त्रयीविद्या हिङ्कार है । ये जो तीनों लोक सो प्रस्ताव है । अग्नि वायु आदित्य ये जो तीनों प्रत्यक्ष देव हैं सो उद्गीथ है । नक्षत्र पक्षी और किरण हैं सो प्रतिहार है । सर्प गन्धर्व पितर ये तीनों निधन है । यह साम सब से सम्बन्ध रखने वाला है ॥ १ ॥

पदार्थः–(त्रयीविद्या) वेद (हिङ्कारः) हिङ्कार हैं (त्रयः+इमे+लोकाः) भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक ये जो तीनों लोक हैं (सः+प्रतिहारः) वह प्रतिहार है (अग्निः+वायुः+आदित्यः) अग्नि, वायु और आदित्य ये जो तीन देवता हैं (सः+उद्गीथः) वह उद्गीथ है (नक्षत्राणि) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रगण (वयांसि) छोटे २ पक्षी समान जो अन्य नक्षत्र दीखते (मरीचयः) जो अल्पस्थायी नक्षत्रगण हैं (सः+प्रतिहारः) वह प्रतिहार है (सर्पाः) सर्पनशील सस कर चलने वाले जिस को संस्कृत में सरीसृप

कहते हैं (गन्धर्वाः) पृथिवी के अभ्यन्तरशायी[1] जीव (पितरः) मनुष्यों की रक्षा करने वाली गौ, वलीवर्द, महिष, कुक्कुर, अज, आवि आदि पशु (तत्+निधनम्) ये सब निधन हैं (एतत्+साम) यह साम (सर्वस्मिन्+प्रोतम्) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखने वाला है ॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद सर्वं ह भवति ॥ २ ॥

सः । यः । एवम् । एतत् । साम । सर्वस्मिन् । प्रोतम् । वेद । सर्वम् । ह । भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स य उपासक एतत्साम सर्वस्मिन् प्रोतमावद्धम् । वेद जानाति सः । सर्वं ह भवति सर्वं ह प्राप्नोति । भू प्राप्तौ सकर्म्मकः ॥ २ ॥

अनुवादः—जो कोई उपासक इस सामगान को सर्व सम्बन्धी जानता है वह सर्व वस्तु को पाता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः+यः) सो जो कोई उपासक (सर्वस्मिन्+प्रोतम्) सर्व सम्बन्धी (एतत्+साम) इस साम को (एवम्) ऐसा जानता है (सर्वम्+ह) निश्चय, सब को (भवति[1]) पाता है ॥ २ ॥

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

तत् । एषः । श्लोकः । यानि । पञ्चधा । त्रीणि । तेभ्यः । न । ज्यायः । परम् । अन्यत् । अस्ति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदेष इति । निरुपचरित सर्वभावे हि दिक्स्थेभ्यो वलि प्राप्त्युपपत्तेस्तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकोऽप्यस्ति । यानि । पञ्चधा पञ्चप्रकारैर्हिङ्कारादिविभागैः प्रोक्तानि । त्रीणि त्रीणि त्रयी विद्यादीनि । तेभ्यः पञ्चत्रिकेभ्यो ज्यायोमहत्तरं परञ्चोत्कृष्टमन्यद्वस्त्वन्तरं नास्ति । न विद्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः—इस में यह श्लोक है । जो पञ्च प्रकार के सामगान में तीन २ त्रिके[2] मिला करके कहे गये हैं उन से दूसरा कोई साम महान् और उत्कृष्ट नहीं है ॥ ३ ॥

---

(१) (भू प्राप्तौ) भू=पाना । सकर्मक धातु है इसका "सर्व" कर्म्म है ।
(२) तीन पदार्थ जिसमें हों उसे त्रिक कहते जैसे अष्टक, शतक आदि होते हैं तद्वत् ।

पदार्थः-(तत्) उस पूर्वोक्त विषय में (एषःश्लोकः) यह श्लोक है (पञ्चधा) हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन विभाग में (यानि+त्रीणि) जो तीन २ त्रिक (जैसे त्रयी, विद्याएं हिंकार; तीन ये लोक प्रस्ताव; अग्नि, वायु, आदित्य ये तीनों देव उद्गीथ इत्यादि) कहे गये हैं (तेभ्यः) उन त्रिकों से (ज्यायः) बड़ा और (परम्) उत्कृष्ट (अन्यत्) अन्य सामगान (न+अस्ति) नहीं है ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत । तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

यः । तत् । वेद । सः । वेद । सर्वम् । सर्वाः । दिशः । बलिम् । अस्मै । हरन्ति । सर्वम् । अस्मि । इति । उपासीत । तत् । व्रतम् । तत् । व्रतम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्-य इति । य उपासकस्तत्पूर्वोक्तं साम । वेद जानाति । स सर्वं वेद जानाति । अस्मै उपासकाय सर्वादिशः सर्वदिग्वासिनोजना बलिं भोगम् । हरन्ति आनयन्ति प्रापयन्ति । एतत्सामोपासकस्यैतद्व्रतम् अहं सर्वमस्मीति । सर्वम् । सर्वं कर्त्तुं समर्थोऽस्मीत्यर्थः । इत्युपासीत भावयेत । सर्वोऽस्मीति वक्तव्ये सर्वमिति कर्म्मसंज्ञकं पदम् कर्त्तुमित्यध्याहार्य्यमिति सूचयति तद्व्रतं तद्व्रतम् । द्विरुक्तिः सामोपासनसमाप्त्यर्था ॥ ४ ॥

इत्येकविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ।

अनुवादः-जो कोई इस साम को जानता है वह सब जानता है इस उपासक के लिये सब दिक् निवासी भोग्यवस्तु लाते हैं । मैं सब करने को समर्थ हूं यह भावना करे । यही उसका व्रत है । यही उसका व्रत है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(यः) जो उपासक (तद्+वेद) उस पूर्वोक्त सामको जानता है (सः) वह (सर्वम्+वेद) सब पदार्थों को जानता है (अस्मै) इस बहुविद् उपासक के लिये (सर्वाः+दिशः) सर्व दिग्स्थ पुरुष (बलिम्) भोग्यवस्तु (हरन्ति) ले आते हैं । इसका आगे व्रत कहते हैं (सर्वम्+अस्मि) सब करने को मैं समर्थ हूं (इति+उपासीत) यह विचारे (तद्+व्रतम्+तद्+व्रतम्) वह व्रत है वह व्रत है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-(सर्वम्+अस्मि) यहां पर (सर्वः+अस्मि) कहना उचित था परन्तु (सर्वम्+अस्मि) कहा है इससे विदित होता है कि (सर्वम्) यह कर्मपद है अस्मि का विशेषण नहीं (कर्त्तुं समर्थः) इतने पद का यहां अध्याहार करना चाहिये । यह जीवात्मा मनुष्य शरीर पा बहुत आश्चर्य्य २ काम कर सकता है परन्तु अज्ञानी लोग "मैं ऐसा नहीं कर सकता" ऐसा समझ किसी काम में प्रवृत्त नहीं होते । भारतवर्ष में "सब

कुछ ईश्वर ही करेंगे" इस विचार ने सर्व नाश कर दिया है। समुद्र में सेतु ईश्वर बांध गये, व्याकरण को साक्षात् महादेव ही पाणिनिरूप धर रच गये। साक्षात् शेष ही महाभाष्य बना गये। ज्योतिष सूर्य ने कहा, वैद्यकशास्त्र विष्णुभगवान् धन्वन्तरिरूप से बनागये। शोक! मनुष्यों ने तब क्या किया? ऐसे २ विचार ऋषियों के समय में नहीं थे इसी हेतु उस समय बड़े २ काम होते थे। इस हेतु ऋषिवत् आज भी मैं सब कुछ कर सकता हूं, ऐसा साहस रक्खे॥ ४॥

इत्येकविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम्॥ २१॥

अथ द्वाविंशः खण्डः॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणन्त्वेव वर्जयेत्॥ १॥

विनर्दि। साम्नः। वृणे। पशव्यम्। इति। अग्नेः। उद्गीथः। अनिरुक्तः। प्रजापतेः। निरुक्तः। सोमस्य। मृदु। श्लक्ष्णम्। वायोः। श्लक्ष्णम्। बलवत्। इन्द्रस्य। क्रौञ्चम्। बृहस्पतेः। अपध्वान्तम्। वरुणस्य। तान्। सर्वान्। एव। उपसेवेत। वारुणम्। तु। एव। वर्जयेत्॥ १॥

भाष्यम्—विनर्दीति। पूर्वेषु खण्डेषूक्तानि विविधानि सामानि। तेषां सम्बन्धस्तज्ज्ञानवतां तत्तत् फलंचोक्तम्। सम्प्रति। सामगानोपदेष्टॄणां नामधेयैः सह तत्तत् गानस्य प्रकृतिः प्रदर्श्यते। पुरा खलु सर्व विद्योदधींश्चतुरोवेदान् सर्वाविद्या ऋषयो दुग्ध्वा सर्वत्रैव लोकोपकाराय प्राचारयन्। गीतिभूयस्त्वात् सामवेदस्य गीतीनामितिहासः कर्त्तारः प्रकृतयो विद्या इत्येवं विधं तत्तत्सम्बन्धि सर्वं वक्तव्यमिति तदर्थमेवोत्तरो ग्रन्थः। विनर्दि। विशिष्टो नर्दः स्वरविशेषो नादविशेष इत्यर्थः। इति विनर्दः। सोस्यास्तीति विनर्दि। यद्वा विविधाः पशूनां नर्दा नादा इति विनर्दाः। ते सन्त्यस्येति विनर्दि। पशूनां नादानुकूलत्वेन नानास्वरसमन्वितम्। न हि वस्तुतश्चतुष्पद् विविध निनदानुकारि किन्तु तद्भाव प्रद्योतकमेव। विनर्दि संज्ञकं गानमपि भवति। तदप्यनुसंधेयम्। पशव्यम्। गोमहिष-हयगजगमुखानां पशूनां चतुष्पदां गुणकर्मप्रकृति प्रकाशकम्। पशुभ्योहितम्। पशव्यम्। अर्थात् यद्गीतिश्रवणेन सञ्जातोचित सत्त्वभावा अदया अपि दयावन्तो भूत्वा निरपराद्धानां प्रकृत्यैवाक्लिष्टसाधुजन-हृदयानां स्वच्छन्दचारिणां वन्यतृणाहाराणां ग्राम्यवन्यचतुष्पादा-

नामकारणत्वधात्रिवृत्तव्यापारा प्रत्युत तद्रक्षण व्रतपरायणास्सन्तस्तदुपकारं साधयन्ति । तेन पशूनां महद्धितं जायते । अतः पशव्यमित्युक्तम् । तदित्थम् । कोऽपि गीति-प्राप्ति-कामो ब्रह्मचारी प्रार्थयते । यत् । साम्नः । सामवेद सम्बन्धि विनर्दि पशव्यञ्च वृणे । प्रार्थये । सामवेद सम्बन्धि यत्पशव्यं विनर्दि गानं वर्त्तते । तदीश्वरानुग्रहेण मां प्राप्नुयात् । इतीश्वरं प्रार्थयते । इदं पशव्यं विनर्दि सामगानम् । अग्नेः । अग्निनामकस्य कस्यापि पुरातनस्य महर्षेः । उद्गीथः । उद्गानम् गानमित्यर्थः । वर्त्तते । एतस्योपदेष्टा अग्निर्ऋषिरस्तीति वेदितव्यम् । प्रजापतेर्महर्षेरुद्गीथः । अनिरुक्तः अनुपमः । न विद्यते निरुक्तं निरुक्तिर्निर्वचनं यस्य सः । इदमीदृशमितीयत्ता यस्य नास्ति सोऽनिरुक्तः । अनिर्वचनीय इति यावत् । सोमस्य महर्षेः । सामगानम् । मृदु । कोमलम् । श्लक्ष्णम् । चिक्कणम् । इन्द्रस्य महर्षेः । सामगानं श्लक्ष्णम् । बलवत् । बलयुक्तम् । बलिष्ठैर्गेयम् । बृहस्पतेर्महर्षेः । सामगानम् । क्रौञ्चम् । क्रौञ्च विहग निनादसमम् । वरुणस्य महर्षेः साम । अपध्वान्तम् । भिन्नकांस्यस्वरसमम् । तान् पूर्वोक्तान् सर्वान् उद्गीथान् सेवेत । जानीयात् । गायेत् । यज्ञेषु वारुणं वरुण महर्षि प्रचारितं गानन्तु । एव निश्चितम् । वर्जयेत् । त्यजेत् । अपध्वान्ततया श्रुतिकटुत्वाद्धेयं तस्य साम ॥ १ ॥

अनुवादः—पशुगुणप्रकाशक विविध नादयुक्त अग्निकर्तृक सामगान को मैं स्वीकार करता हूं । प्रजापति (महर्षि) का सामगान अनिरुक्त है । सोम नामक महर्षि का गान निरुक्त है । वायु महर्षि का मृदु और श्लक्ष्ण है । इन्द्र महर्षि का बलवद् और श्लक्ष्ण है । बृहस्पति का सामगान क्रौञ्च पक्षी के नाद के समान है । और वरुण का गान अपध्वान्त है । इन सबों को (यज्ञों में) गाना चाहिये । किन्तु, वरुणकर्तृक गान का परित्याग करना चाहिये ॥ १ ॥

पदार्थः—(पशव्यम्) गो महिष मृग व्याघ्र चतुष्पद् आदि जन्तुओं के गुणों का प्रकाशक । यद्वा पशुओं के हितकारी (विनर्दि) नाना स्वरयुक्त अर्थात् विशेष विशेष आविष्कृत स्वरों से युक्त (साम्नः) सामसम्बन्धी गान को (वृणे) मैं स्वीकार करता

(१) अग्नि नामक ऋषि से प्रचारित । सृष्टि की आदि में जिस अग्निनामक महर्षि के हृदय से वेद प्रकाश हुआ है सो ये नहीं हैं । क्योंकि वे तो सम्पूर्ण वेद के प्रकाशक हैं । और ये सब सामगान की विधिशैली है ॥ (२) अनिरुक्त=अनिर्वचनीय=अनुपम । उपमारहित ॥ (३) निरुक्त=स्पष्ट ॥ (४) श्लक्ष्ण=चिक्कण, गान में जो बहुत ही कोमल और सरल हो ॥ (५) जिसका स्वर सुनने में कांस्यपात्र समान हो ॥

हूं (इति अग्नेः+उद्गीथः) यह विनर्दि पशव्य साम गान (अग्नेः) अग्नि नामक महर्षि का दृष्ट (उद्गीथः) गान है । अर्थात् इस गान के प्रचारक अग्नि नामक महर्षि हैं । (प्रजापतेः) प्रजापति नामक महर्षि का गान (अनिरुक्तः) अनिर्वचनीय अनुपम है अर्थात् वह उतना गूढ़ार्थ अत्युत्तम है कि जिसका वर्णन हम नहीं कर सकते (सोमस्य) सोम ऋषि का गान भी (निरुक्तः) स्पष्ट=सुबोध है । (वायोः) वायु महर्षिकृत गान (मृदु) कोमल (श्लक्ष्णम्) और चिकना (रसीला) है (इन्द्रस्य) इन्द्र महर्षि का गान (श्लक्ष्णम्) रसीला और (बलवत्) बलवान् है । अर्थात् जिसके गान से बल प्राप्त हो वा बलिष्ठ पुरुष जिस को गा सके अर्थात् जिस के गाने में अधिक परिश्रम हो (बृहस्पतेः) बृहस्पति नामक महर्षि का प्रचारित गान (क्रौञ्चम्) क्रौञ्च नामक एक पक्षी होता है जो प्रायः जलीय लघु जन्तुओं को खाया करता है । उस पक्षी के नाद के समान है (वरुणस्य) वरुण महर्षि का सामसम्बन्धी गान (अपध्वान्तम्) ध्वनिरहित है अर्थात् बहुत ही कर्णकटु कर्कश ध्वनि जैसा फूटे कांस्यपात्र का होता है तद्वत् वरुणकृत गान है (तान्) उन (सर्वान्+एव) सब ही गानों को (उपसेवेत) यज्ञों में गावें (वारुणम्+तु+एव) केवल वरुणकृत सामगान को (वर्जयेत्) त्याग करे ॥ १ ॥

भाष्याशयः–पूर्व खण्डों में विविध सामगान कहे गये हैं उन के सम्बन्ध और जानने वालों को फल भी (उक्त) हुआ है । अब इस खण्ड में सामगानों के उपदेष्टाओं के नाम के साथ उन की प्रकृति का भी वर्णन करते हैं । पूर्वकाल में सर्व विद्या उदधि चारों वेदों से ऋषियों ने विविध विद्याओं को दुह कर सर्वत्र लोकोपकार के लिये उनको पान करवाया । सामवेद गीत के लिये ही अधिक प्रसिद्ध है इस हेतु यहां गीतों के इतिहासकर्त्ता, प्रकृति, प्रकार आदि पदार्थ (सामगान सम्बन्धी) एतत् सदृश अन्य विषय भी अति संक्षेप कर कहना उचित है अतः अब उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ है ।

विनर्दि–जिस गान में विविध पशुओं के नाद समान स्वर होवें । इस का यह तात्पर्य्य नहीं है कि बिलकुल पशुनाद के सदृश ही हो, किन्तु केवल भाव के द्योतक हों । प्रत्येक पशु की बोली एक एक विलक्षण भाव को सूचित करती है । ये पशु सब प्रकृतिरूपा महाराज्ञी के विविधरूप भाव को प्रकाशित करते हुए विद्यमान हैं । यद्वा । जिस गान में विशेष नाद होता हो उसे भी विनर्दि कह सकते हैं । यद्वा । साम गानों में से एक गान विनर्दिसंज्ञक भी होता है उस का भी अनुसन्धान करना चाहिये ।

पशव्य–पशु शब्द से बनता है । गौ महिष हय गज प्रमुख जो चतुष्पद हैं उन

के गुण कर्म स्वभाव का वर्णन जिस में विशेषरूप से हों उसे पशव्य कहते हैं । यद्वा । पशुओं का हितकारी अर्थात् जिस गान के श्रवण से संजातोचित सत्त्वभाव अदय आदमी भी दयावान् हो और निरपराधी अपनी मधुर प्रकृति से ही साधुजनों के हृदय को आकृष्ट करने वाले स्वच्छन्दचारी वन्यतृणाहारी ऐसे ग्राम्य वा वन्यपशुओं के अकारण वध से निवृत्त व्यापार होकर ही नहीं प्रत्युत उन पशुओं के रक्षणरूप व्रतपरायण होते हुए उनके उपकारों को साधन करते हैं । उससे पशुओं को महा हित होता है अतः पशव्य कहा गया है (वृणे) प्रार्थना करता हूं प्राचीन ऋषि परम कारुणिक होते थे । उन में से कोई ऋषि कहते हैं कि हे परमेश्वर ! मैं तुझ से प्रार्थना करता हूं कि मेरे हृदय में पशु-सम्बन्धी दया बराबर बनी रहे और इसी हेतु इस दया को सदा जागृत रखने वाला यह पशव्य गान मुझे सदा ही स्मृतिगोचर बना रहे । अग्नेरुद्गीथः—आगे दिखलाया जाता है कि गान के प्रचारक कौन ऋषि हुए हैं । यहां अग्नि, प्रजापति, सोम, वायु, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण आदि महर्षियों के नाम हैं ॥ १ ॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

अमृतत्वम् । देवेभ्यः । आगायानि । इति । आगायेत् । स्वधाम् । पितृभ्यः । आशाम् । मनुष्येभ्यः । तृणोदकम् । पशुभ्यः । स्वर्गम् । लोकम् । यजमानाय । अन्नम् । आत्मने । आगायानि । इति । एतानि । मनसा । ध्यायन् । अप्रमत्तः । स्तुवीत ॥ २ ॥

भाष्यम्-अमृतत्वमिति । ऋषीणामन्यतमो ब्रवीति । अहम् । देवेभ्यः विद्वद्भ्यः । ब्रह्मविदो हि देवा भवन्ति । ब्रह्मविदर्थमित्यर्थः । अमृतत्वम् । अमरणत्वम् । चिरजीवित्वं कैवल्यञ्च । आगायानि । इतिब्रह्मणः सकाशात् प्रार्थये । ब्रह्मविदो नरा भुवि लोकोपकाराय चिरञ्जीवन्तु । इतो गत्वा कैवल्यञ्च प्राप्नुवन्तु । एतद्विषयकमेव गानं सदाहम् । येनागायेयम् । अस्मिन्नेव मम+मनोरमताम् । नेतरस्मिन्ननुचिते गाने प्रधावनं कुर्य्यादित्यहं प्रार्थये भगवन्तं नारायणम् । एवमेव । स्वधां पितृभ्यः आगायानि इति पदं सर्वत्र योज्यं पित्रर्थं स्वधामागायानीत्यर्थः । अयमर्थः पान्ति रक्षन्ति इति पितरः । जगद्रक्षणव्रता अग्निष्वात्ताग्निदग्ध बर्हिषद सोमसदाङ्गिरोऽथर्वाद्याख्या बहुविधाः पितरो भवन्ति । तेषामनन्यगामिनी

स्वधेति पदवी भवति । तदित्थम् । आजीवनपररक्षणैकव्रतधुरीणा मम सर्वे अग्निष्वात्तप्रमुखाः पितरः स्वधापदवीं लभन्ताम् । तच्छब्दार्थञ्च सनाथी कुर्वन्तु । एतद्विषयीभूतां गीतिं सदा-गायेयम् । मनुष्येभ्य आशाम् । आगायानि । आशावन्तो हि मनुष्याः । आशया यज्ञं कुर्वन्ति । आशया ब्रह्म यजन्ते । आशयैव सर्वाणि कर्म्माणि अनुतिष्ठन्ति । कर्म्मणां फलं बाहुल्येनादृष्टं वर्त्तते । कः खलु ज्ञातुं शक्नोति अस्य कर्म्मण इदमेव फलं नान्यदिति । प्रत्य-क्षाणामपि बीजवपनारोपणविद्याध्ययनादीनां फलं तावन्निश्चेतुमनीश्वराः । कस्कथं परोक्षाणा-मग्निष्टोम-प्रभृतीनां यज्ञानामिदमेवफलमिति निर्धारयिष्यामः । सर्वत्रैव विघ्नप्राचुर्य्यसद्भाव-तुल्यत्वात् । अतोमनुष्या यत्किमपि कुर्वन्ति । तदाशयैव । तदेवम् । मनुष्याः सर्वदैव येन आशावन्तोभवेयुरिति । एतदर्थं घटितां सामावलीम् । ईश्वरकृपया गायेयम्* । पशुभ्यस्तृणो-दकम् आगायानि । पशवो हि तृण-सम्पन्नताम् । तदनु । पूर्णोदकमिच्छन्ति । तावतैव संतुष्टा जगत् सुखयन्ति । पशवो येन तृणानि चोदकं पुष्कलं प्राप्नुवन्तु इत्येवार्थद्योतिकां सामगीतिं गायेयम् । यजमानाय । यजमानार्थम् । स्वर्गम् । सुखम् । लोकम् । प्रदेशम् । आगायानि । आत्मने । आत्मार्थम् । अन्नम् । जीवनप्रदं । भोग्यंवस्तु आगायानि । ऋषिः कथयति । यथाहमिमान्येव सामानि सर्वदा गायेयमितीश्वरं प्रार्थये । तथैव । अन्योऽपि । अमृतत्वं देवेभ्य आगायेत् । स्वधां पितृभ्य आगायेत् । इत्यादि सर्वत्रैव योजित्वार्थोऽनुसंधेयः ॥

एतानि सामानि मनसाध्यायन् । एतानि सामानि मयास्मिन् कर्मणि गीयमानानि तत्त-ल्लोकोपकाराय । ईश्वरानुग्रहेण फलन्तु । जनमनसि तद्भावोद्दीपकानि च भवन्तु । इति निखिल कामपूरकं ब्रह्मैव मनसान्तःकरणेन । ध्यायन् चिन्तयन् । अप्रमत्तः । अनवहितः । सर्वत्तोमनआ-कृष्य स्वस्मिन् स्थापयित्वा ब्रह्मणि स्थिरीभूय तदेव स्तुवीत प्रार्थयेत् ॥ २ ॥

अनुवादः—विद्वानों को अमृतत्व प्राप्त होवे इस उद्देश से मैं सर्वदा गान किया करूं। पितरों को स्वधा, मनुष्यों को आशा, पशुओं को तृणोदक, यजमान को स्वर्गलोक, अपने को अन्न (प्राप्त होवे) इस उद्देश से मैं सर्वदा गान किया करूं (यह ईश्वर से प्रार्थना करता हूं) जिस प्रकार मैं सर्वदा इन के कल्याणार्थ गान करने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर की कृपा से इन के लिये ही ऐसे ही गान गाया करूं ऐसी आशा ईश्वर से करता हूं वैसे ही अन्यान्य मनुष्य भी देवों के लिये अमृतत्व, पितरों के

* आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूं-श्चेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छत आशामुपस्वति ॥ छा० ७ । १४ । १ ॥

लिये स्वधा प्राप्त होवे इत्यादि ही गान सर्वदा गावे, अन्य नहीं। ये गान सफल होवें ऐसा मन से ध्यान करता हुआ अप्रमत्त होकर ईश्वर की ही स्तुति करे ॥ २ ॥

पदार्थः-कोई ऋषि कहते हैं कि (देवेभ्यः) ब्रह्मवित् पुरुषों के लिये (अमृतत्वम्) अमृतत्व और कैवल्य को (आगायानि) अच्छी तरह से गान करूं (इति) यह ईश्वर से प्रार्थना है (पितृभ्यः) जगद्रक्षक पितरों के लिये (स्वधाम्) स्वधापदवी (मनुष्येभ्यः) साधारण मनुष्यों के लिये (आशाम्) आशा को (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (तृणोदकम्) तृण और जल को (यजमानाय) यजमान के लिये (स्वर्गलोकम्) परमसुखकर स्थान को (आत्मने) अपने लिये (अन्नम्) अन्न को (आगायानि) मैं गान करूं (इति) यही ईश्वर से प्रार्थना है (आगायेत्) जिस प्रकार मैं इनके हित के लिये गान किया करता हूं वैसा ही सब कोई गावे (इमानि) इन पूर्वोक्त गानों के उद्देश से अर्थात् ये गान फलित और मनुष्यों के अन्तःकरण में प्रभावोद्दीपक होवें, इस उद्देश से (मनसा) मन से ईश्वर को (ध्यायन्) ध्यान करता हुआ (अप्रमत्तः) सावधान होकर (स्तुवीत) उसी ईश्वर की स्तुति करे ॥ २ ॥

भाष्याशयः-(देव) ब्रह्मवित् विद्वान् पुरुष देव कहलाते हैं (अमृतत्व, अ+मृत+त्व। अमृत से भाव में प्रत्यय होने से अमृतत्व बनता है। अमरण और कैवल्य ये दो अर्थ इस के होते हैं। अमरण शब्द का भी यह तात्पर्य्य है कि मनुष्य की जितनी आयु है उतनी आयु को निर्विघ्न प्राप्त करना, यह नहीं कि कदापि नहीं मरे। (पितृशब्द) पा रक्षणे धातु से इस शब्द की सिद्धि ऋषि लोग मानते आते हैं। वेद विद्या की, अपने कुल की, परिवार की, देश की रक्षा में जो आजीवन पर्य्यन्त तत्पर रहते थे, वे ही पूर्व समय में पितर नाम से पुकारे जाते थे और जो इस व्रत में परम दृढ़ हो जाते थे उन को "स्वधा" की पदवी दी जाती थी। काल के हेर फेर से इसका आज कुछ अन्य ही अर्थ लोग करते हैं सो सब मिथ्या जानना (स्वधा) स्वधा पितरों की पदवी है (आशा) मनुष्य में यदि आशा न हो तो कोई काम नहीं हो सकता। आशा से ही यज्ञ करते हैं। आशा से ही ब्रह्म की स्तुति प्रार्थना करते हैं कर्म्मों के प्रायः बहुत फल अदृष्ट हैं। इस कर्म का यही फल है इसको कौन जान सकता है। प्रत्यक्ष बीज वपन, आरोपण, विद्याध्ययन आदि के फल को जब निश्चित करने में असमर्थ हैं। तब कैसे अप्रत्यक्ष अग्निष्टोम आदि यज्ञों का यही फल है ऐसा निर्धारण कर सकेंगे। हां, बहुत से फल तो प्रत्यक्ष ही

हैं । यदि कहो कि यज्ञों का फल तो जैसा शास्त्र में कहा गया है वैसा ही अवश्य मिलेगा । सो नहीं हो सकता क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष बीजवर्धन विद्याध्ययन आदि कार्य्य में नाना विघ्न होते हैं तद्वत् वैदिक कर्म्म में नाना वैगुण्य की उपस्थिति की संभावना बनी रहती है और हम लोक में सदा देखते हैं कि एक न एक विघ्न उपस्थित होही जाता है अतः विघ्न की सर्वत्र संभावना होने से मनुष्य की किसी कार्य्य में प्रवृत्ति न होगी यदि उस में आशा प्रत्याशा न हो । अतः । ऋषि कहते हैं कि मनुष्य के लिये आशा का गान करताहूं ।

(आगायानि) इस पद से यह समझना कि देवों को अमृतत्व प्राप्त होवे । पितरों को स्वधा प्राप्त होवे इत्यादि आगान को मैं सदा गाना चाहता हूं और ईश्वर से भी यही प्रार्थना है कि ऐसे ही गान में मेरा और सबों का मन संलग्न रहे । आगे सर्वस्पष्ट है ॥ २ ॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

सर्वे । स्वराः । इन्द्रस्य । आत्मानः । सर्वे । ऊष्माणः । प्रजापतेः । आत्मानः । सर्वे । स्पर्शाः । मृत्योः । आत्मानः । तम् । यदि । स्वरेषु । उपालभेत । इन्द्रम् । शरणम् । प्रपन्नः । अभूवम् । सः । त्वा । प्रतिवक्ष्यति । इति । एनम् । ब्रूयात् ॥३॥

भाष्यम्-सर्वे स्वरा इति । अक्षराणां प्रचारयिता तद्विज्ञाने कुशलश्च कः कोऽभूद् भुवीति प्रसंगात्तदपि दर्शयति । सर्वे अ इ उ प्रभृतयः स्वराः । इन्द्रस्य महर्षेरात्मानः । आत्मवत् प्रियाः । स्वराणां प्रचारयिता तद्विशेषज्ञ इन्द्रो नाम कश्चिदृषिरभूदिति विज्ञेयम् । एवमेवाग्रे योजनीयम् । सर्वे सकला ऊष्माणः । श ष स हा वर्णाः । प्रजापतेर्महर्षेः । आत्मानः । आत्मवत् प्रियाः । सर्वे स्पर्शाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । मृत्योर्महर्षेरात्मानः । यदि कश्चित् कञ्चिदुद्गातारं स्वरेषु स्वरवर्णोच्चारणेषु । उपालभेत । निन्देत् । हे उद्गातः ! त्वं स्वरवर्णान् यथायोग्यं नोच्चारयसि पापीयान् त्वं भविष्यसि । तवदोषेण यजमानस्यापि विनष्टिर्वर्तेत इत्यादिदोषोद्घाटनेन यदि उद्गाताऽन्यो वा ऋत्विक् उपालब्धो भवेत् । तर्हि उद्गाता तं प्रति ब्रूयात् । हे उपालम्भक ! अहम् । इन्द्रं महर्षिं शरणंप्रपन्नोऽभूवम् । प्राप्तोस्मि । अयंभावः । इन्द्रेण । इन्द्रशिष्यपरम्परया वा यथा स्वरा उपदिष्टा उच्चारिताश्च सन्ति । मया तथैवोच्चार्य्यन्ते नात्र ममदोषः । स एव इन्द्रः । परम्पराऽऽगतेन्द्रशिष्यो वा । त्वा । त्वां प्रति । वक्ष्यति । समाधास्यति । ममोपालम्भनं माकार्षीः । तस्यैव शालां गच्छ ।

स एवोत्तरिष्यति । इति । एनमुपालम्भकं ब्रूयात् कथयेत् ॥ ३ ॥

अनुवादः-सब स्वर (वर्ण) इन्द्र महर्षि के आत्मा (प्रिय) हैं । सब ऊष्मा[2] (वर्ण) प्रजापति महर्षि के आत्मा हैं । सब स्पर्श[3] (वर्ण) मृत्यु महर्षि के आत्मा हैं यदि (किसी उद्गाता को कोई अन्य पुरुष) स्वरों में निन्दा करे तो वह (उद्गाता) इस (उपालम्भक) से कहे कि मैं महर्षि इन्द्र की शरण को प्राप्त हूं वे तुम को उत्तर देवेंगे ॥३॥

पदार्थः—(सर्वे) सब (स्वराः) अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ये नवों स्वर वर्ण (इन्द्रस्य) इन्द्र नामक महर्षि के (आत्मानः) आत्मा अर्थात् प्रिय हैं अर्थात् स्वर के प्रचारक और उन के तत्त्वज्ञाता इन्द्र नामक महर्षि हुए हैं (सर्वे) सब (ऊष्माणः) श ष स ह ये चारों ऊष्मा (प्रजापतेः) प्रजापति नाम के महर्षि के (आत्मानः) आत्मवत् प्रिय हैं (सर्वे) सब (स्पर्शाः) क ख ग घ ङ । च छ ज झ ञ । ट ठ ड ढ ण । त थ द ध न । प फ ब भ म ये २५ स्पर्श वर्ण (मृत्योः) मृत्यु महर्षि के (आत्मानः) आत्मवत् प्रिय हैं । अर्थात् इस के प्रचारक और तत्त्व जानने वाले महर्षि मृत्यु थे (यदि) यदि (तम्) उद्गाता वा अन्य ऋत्विक् को कोई अन्य पुरुष (स्वरेषु) स्वर वर्णों में (उपालभेत) निन्दा करे अर्थात् हे ऋत्विक् ! वा हे उद्गाता ! तुम स्वर वर्णों का उच्चारण यथासम्भव यथायोग्य नहीं करते हो अतः तुम दोषभागी होओगे और तेरे अपराध से यजमान को भी अनिष्ट होगा इत्यादि उलहना किसी ऋत्विक् को कोई देवे । तब निन्दित उद्गाता (एनम्) इस उपालम्भक (दोषारोपक) को (ब्रूयात्) उत्तर देवे कि (इन्द्रः) इन्द्र की (शरणम्) शरण में (प्रपन्नः+अभूवम्) मैं प्रपन्न हुआ हूं । अर्थात् स्वर वर्णों के उच्चारण मैंने इन्द्र से वा इन्द्र के परम्परागत शिष्य सम्प्रदाय से सीखे हैं (सः) वेही (त्वा) तुम को (प्रतिवक्ष्यति) उत्तर देवेंगे । तुम उन के समीप वा उन के सम्प्रदायी पाठशाला में जाओ । वे ही इस का उत्तर देवेंगे । इति ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनꣳ स्पर्शेषूपालभेत

(१) अ इ उ आदि स्वर अक्षर । (२) श ष स ह ये चार वर्ण ऊष्मा कहलाते हैं । (३) क से लेकर म पर्य्यन्त वर्ण स्पर्श हैं ।

मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति धक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥४॥

अथ । यदि । एनम् । ऊष्मसु । उपालभेत । प्रजापतिम् । शरणम् । प्रपन्नः । अभूवम् । सः । त्वा । प्रति । पेक्ष्यति । इति । एनम् । ब्रूयात् । अथ । यदि । एनम् । स्पर्शेषु । उपालभेत । मृत्युम् । शरणम् । प्रपन्नः । अभूवम् । सः । त्वा । प्रति । धक्ष्यति । इति । एनम् । ब्रूयात् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ । यदि । एनम् । उद्गातारम् । वाऽपरमृत्विजं कश्चित्पुरुषः । ऊष्मसु । शषसह वर्णोच्चारणेषु उपालभेत निन्देत् त्वमूष्मणो नोच्चारयसि सम्यगिति निन्देत् । तद्युपालब्धः स उद्गाता । एनमुपालम्भकं ब्रूयात् । यत् । अहम् । ऊष्मणां प्रचारकं विज्ञातारञ्च प्रजापतिं महर्षिं शरणं प्रपन्नोऽभूवम् । प्राप्तोस्मि । स प्रजापतिः । त्वा त्वां निन्दकं प्रति पेक्ष्यति । पिष्टं करिष्यति । यतस्त्वं मुधैव निन्दसि । अतस्तवपेषणमुचितम् । अथ । यद्येनमुद्गातारं स्पर्शेषु स्पर्शवर्णोच्चारणेषु कश्चिद्विद्वान् । उपालभेत । निन्देत् । तर्ह्येनमुपालम्भकं प्रति ब्रूयात् । यत् । अहम् स्पर्शानां प्रचारकं तद्विज्ञातारञ्च मृत्युं महर्षिं शरणं प्रपन्नोऽभूवम् । प्राप्तोस्मि । स मृत्युः । त्वा । त्वाम् । धक्ष्यति । दग्धं करिष्यति । यतस्त्वं मुधैव निन्दसि । अत्रेन्द्र प्रजापति मृत्यव एते पुरा वैयाकरणा अभूवन् । सम्प्रति देवा निगद्यन्ते तेषां पठनपाठन सम्प्रदाया अपि तैरेव शब्दैर्व्यवह्रियन्ते ॥ ४ ॥

अनुवादः-यदि इस उद्गाता को ऊष्मवर्णोच्चारण में कोई उपालम्भ (निन्दा) करे तो उस (उपालम्भक) से वह (उद्गाता) कहे कि मैं प्रजापति की शरण प्राप्त हुआ हूं । वह तुम को डाटेंगे । इति । यदि उस को कोई स्पर्श वर्णोच्चारण में उपालम्भ करे तो इस को यह कहे कि मैं मृत्यु महर्षि की शरण में प्राप्त हुआ हूं । वे तुम को दण्ड देंगे । इति ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (यदि) यदि (एनम्) इस उद्गाता वा अन्य ऋत्विक् को (ऊष्मसु) श ष स ह वर्णों के उच्चारण निमित्त (उपालभेत) उलहना देवे तो वह उद्गाता (एनम्) इस दोषारोपक को (ब्रूयात्) कहे कि (प्रजापतिम्) प्रजापति महर्षि की (शरणम्) शरण में (प्रपन्नः) प्राप्त (अभूवम्) हुआ हूं अर्थात् मैंने ऊष्मवर्णों के तत्त्ववेत्ता और प्रचारक प्रजापति के शिक्षानुसार ऊष्म वर्णों के उच्चा-

रण सीखे हैं (सः+त्वा) वे तुम को (प्रति पेक्ष्यति) शान्त करेंगे अर्थात् तुम स्वयं नहीं जानते हो किन्तु दूसरों की निन्दा कर रहे हो मैंने तो प्रजापति की शिक्षानुसार सीखा है अतः तुम निन्दक को प्रजापति से पढ़े हुए अवश्य दण्ड देवेंगे (अथ) अनन्तर (यदि) यदि (एनम्) इस उद्गाता को (स्पर्शेषु) स्पर्शवर्णों के उच्चारण निमित्त (उपालभेत) कोई अन्य पुरुष निन्दा करे तो (एनम्+ब्रूयात्) इस दोषारोपी पुरुष से वह उद्गाता कहे कि (मृत्युम्+शरणम्) मृत्यु की शरण में (प्रपन्न+अभूवम्) प्राप्त हुआ हूं (स+ (त्वा+प्रति+धक्ष्यति) वे तुम को दण्ड देंगे अर्थात् मैंने स्पर्श वर्णों के तत्त्ववेत्ता मृत्यु महर्षि की शिक्षानुसार स्पर्श वर्णों का उच्चारण सीखा है । वे तुम को उत्तर देवेंगे । उनके सम्प्रदायी के यहां जाओ, इनसे उच्चारण की जिज्ञासा करो ॥ ४ ॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणो अग्रस्ता निरस्ता विवृत्ता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

सर्वे । स्वराः । घोषवन्तः । बलवन्तः । वक्तव्याः । इन्द्रे । बलम् । ददानि । इति । सर्वे । ऊष्माणः । अग्रस्ताः । निरस्ताः । विवृत्ताः । वक्तव्याः । प्रजापतेः । आत्मानम् । परिददानि । इति । सर्वे । स्पर्शाः । लेशेन । अनभिनिहिताः । वक्तव्याः । मृत्योः । आत्मानम् । परिहराणि । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सर्व इति । इन्द्र-प्रचारिताः स्वराः कीदृशाः सन्तीति दर्शयितुमाह । सर्वे स्वरा इति । सर्वे अ इ उ प्रभृतयः स्वरवर्णाः । घोषवन्तः । घोषो नादः । सोऽस्त्येषामिति घोषवन्तः । विशेष नादवन्त इत्यर्थः । पुनर्बलवन्तः । बलमस्त्येषामिति बलवन्तः । येषामुच्चारणे बलाधिक्यस्यापेक्षा भवेत् । यद्वा । व्यञ्जनवन्नावलाः । स्वरैरेव समं व्यञ्जनान्यपि उच्चैस्तरामुच्चार्य्यन्ते । येऽन्येभ्योपि बलं प्रयच्छन्ति ते बलिष्ठा भवितुमर्हन्ति । वक्तव्याः कथयितव्याः । अग्रे कोऽप्यृषिः । इन्द्र-प्रदर्शित स्वरगुणग्राही तदुद्देशेन स्वयं किमाचरतीति स्वयं कथयति । यदहम् । इन्द्रप्रचारित स्वरशास्त्र विज्ञाननैपुण्येन संतोषिताभ्यः प्रजाभ्यः सकाशात् यत्किमपि बलम् । गो हिरण्यादि साहाय्यरूपं बलं प्राप्नोमि । तत्सर्वम् । इन्द्रे । इन्द्रनिरूपिते पठन-

कार्य्ये । तत्सम्प्रदायरक्षके । ददानि । समर्पयामि । अयमभिप्रायोऽस्ति । इन्द्रो नाम कश्चित्पुरा प्रसिद्धो वैयाकरण आसीत् । तदुपदिष्ट-विद्या-समृद्धयै तद्रक्षणार्थञ्च तस्य नामधेयेन पठनपाठन-व्यवस्था-शाला सर्वत्र स्थापिता । तस्याः शालाया अधीतविद्यः समावर्तितः कश्चिदृषिस्तत् स्वर-शास्त्र विज्ञान-पाटवोपलब्ध्या प्रसन्नाभ्यः प्रजाभ्यो यत्किमपि प्राप्नोति तत्सर्वं तस्यामेवशालायामविच्छिन्नसम्प्रदायप्रवृत्यर्थं छात्र-वृत्यर्थं ददाति । इदमेवर्षिः कथयति (इन्द्रे बलं ददानीति) अग्रे । प्रजापति-प्रचारितानामूष्मणां धर्म्माः प्रदर्श्यन्ते । सर्वे ऊष्माणः शषसहावर्णा अग्रस्ता अन्तरप्रवेशिताः । निरस्ताः । अवहिराक्षिप्ताः । विवृत्ताः विवृत प्रयत्नोपेताः । एतद्गुणविशिष्टा ऊष्माणः सन्ति । एतदर्थमहं किं करोमीति कश्चिदृषिः स्वयं कथयति । प्रजापतिप्रदर्शितोष्मगुणविमोहितः सन्नहम् । अन्यत् किमप्य कृत्वा । आत्मानम् । आत्मानमेव । प्रजापतेः । महर्षये प्रजापतये सम्बन्धविवक्षयाषष्ठी । परिददानि । समर्पयामि । इति । मृत्युप्रदर्शितानां स्पर्शानां वर्णानां गुणा उच्यन्ते । सर्वे स्पर्शाः । कादयोमावसानाः स्पर्शाः । लेशेन । शनकैः । अनभिनिहिताः । अनभिनिक्षिप्ता वक्तव्याः । एतदर्थमहं किं करोमीति कश्चिदृषिः कथयति । अहं मृत्युमहर्षिणा प्रदर्शितेन स्पर्शगुणेन विमोहितःसन् । मृत्योः । मृत्यवे । एतन्नामकाय महर्षये । सम्बन्धविवक्षयाषष्ठी । आत्मानम् । आत्मानमेव । परिहराणि । समर्पयामि । उपसर्गवशेन धातोरर्थपरिवर्त्तनं भवति ॥ ५ ॥

इति द्वाविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—सब स्वरवर्ण घोषवान् और बलवान् कहने के योग्य हैं । मैं अपने बल को इन्द्रसम्बन्धी कार्य में प्रदान करूं । इति । सब ऊष्म वर्ण अग्रस्त, निरस्त और विवृत कहने के योग्य हैं । मैं अपना आत्मा प्रजापति को समर्पण करूं । इति । सब स्पर्श वर्ण शनैः शनैः अनभिनिहित कहने योग्य हैं अपना आत्मा मृत्यु को समर्पण करूं । इति ॥५॥

पदार्थः—(सर्वे+स्वराः) सकल अ इ उ ऋ आदि स्वरवर्ण (घोषवन्तः) उच्च नादवाले हैं (बलवन्तः) बलवान् हैं अर्थात् स्वर के विना व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण नहीं होता इससे मालूम होता है कि स्वर वर्ण बहुत ही बलवान् हैं जो अन्य को भी बल देते हैं वे तो अवश्य बलवान् होवेंगे (वक्तव्याः) कहने योग्य हैं । आगे कोई ऋषि इन्द्र प्रचारित स्वर के गुणों से मोहित हो कहते हैं कि (इन्द्रे) इन्द्र प्रचारित विद्या रक्षणार्थ उनकी पाठशाला आदि में (बलम्) अपने सम्पूर्ण बल को (ददानि) प्रदान करूं (इति) यही ईश्वर से प्रार्थना है । पुनः कोई ऋषि प्रजापति प्रदर्शित

ऊष्मवर्ण गुण से मोहित होकर कहते हैं कि (प्रजापतेः) प्रजापति को अर्थात् प्रजापति-सम्बन्धी विद्यालय को (आत्मानम्) अपना आत्मा (ददानि) समर्पित करूं (इति) यही ईश्वर से प्रार्थना है (सर्वे) सब (स्पर्शाः) क ख से लेकर म पर्य्यन्त वर्ण (लेशेन) शनैः शनैः (अनभिनिहिताः) अनभिनिहित (वक्तव्याः) कहने योग्य हैं। पुनः कोई ऋषि मृत्युप्रदर्शित स्पर्शवर्णों के गुणों से मोहित होकर कहते हैं कि (मृत्योः) मृत्यु-सम्बन्धी पाठशाला आदि को (आत्मानम्) अपना आत्मा (परिहराणि) समर्पित करूं (इति) यही ईश्वर से प्रार्थना है ॥ ५ ॥

इति द्वाविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः ॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

त्रयः । धर्मस्कन्धाः । यज्ञः । अध्ययनम् । दानम् । इति । प्रथमः । तपः । एव । द्वितीयः । ब्रह्मचारी । आचार्य्यकुलवासी । तृतीयः । अत्यन्तम् । आत्मानम् । आचार्यकुले । अवमादयन् । सर्वे । एते । पुण्यलोकाः । भवन्ति । ब्रह्मसंस्थः । अमृतत्वम् । एति ॥ १ ॥

भाष्यम्—त्रय इति । धर्म्मस्कन्धा धर्म्मस्यस्कन्धाः शाखाविभागा इत्यर्थः । त्रयः । मुख्यतया त्रिसंख्योपेता वर्त्तन्ते । यज्ञः । अध्ययनम् । दानम् । एतत्त्रयं मिलित्वा प्रथमः प्रथमः स्कन्धः । धर्मस्यैकः स्कन्धो भवति । तप एव । एकम् । तपएव धर्मस्य द्वितीयः स्कन्धः । तपोऽपि धर्म्मस्यैक स्कन्धः । अन्यं स्कन्धमाह । आचार्य्यकुलवासी । आचार्यकुले वसतीत्याचार्य्यकुलवासी ब्रह्मचारी । अत्यन्तमतिशयम् । आत्मानम् । अवसादयन् । विविधनियमैरात्मानं क्षपयन् क्लेशयन् सन् आचार्यकुले यत् निवसति स तृतीयो धर्म्मस्य स्कन्धः । आचार्य्यकुलनिवासोध्ययनार्थमेकः स्कन्धः । सर्व एते त्रयोप्याश्रमिणः । यथोक्तैर्धर्मैः पुण्यलोकाः । पुण्यो लोको येषान्ते पुण्यलोका भवन्ति । एतेषु आश्रमिषु । यः खलु ब्रह्मसंस्थः । ब्रह्मणि संतिष्ठते । इति ब्रह्मसंस्थः । सः । अमृतत्वम् । अपवर्गत्वम् । एति प्राप्नोति ॥ १ ॥

अनुवादः—धर्म्म के तीन स्कन्ध (भाग) हैं । यज्ञ, अध्ययन और दान (ये तीनों मिलकर) धर्म्म का एक स्कन्ध है । तप ही धर्म का द्वितीय स्कन्ध है । अपने आत्मा (शरीर) को अत्यन्त क्लेशित करता हुआ आचार्य्यकुलवासी ब्रह्मचारी को जो आचार्य कुल में निवास करना है । वह धर्म्म का तृतीय स्कन्ध है । ये सब (आश्रमी) पुण्यलोक वाले होते हैं परन्तु ब्रह्मसंस्थ (ब्रह्मनिष्ठ) पुरुष अमृतत्व (कैवल्य) को पाते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(धर्म्मस्कन्धाः) धर्म के स्कन्ध अर्थात् भाग (त्रयः) मुख्य तीन हैं (यज्ञः+अध्ययनम्+दानम्) यज्ञ, अध्ययन और दान (इति प्रथमः) ये तीनों मिलकर धर्म्म का एक स्कन्ध है । और (तप एव) तपस्या ही (द्वितीयः) धर्म्म का द्वितीय स्कन्ध है (आत्मानम्) अपने शरीर को (अत्यन्तम्) अतिशय (अवसादयन्) सत्य, अध्ययन, मौन, ज्ञान आदि विविध नियमों से क्लेशित करता हुआ (आचार्य्यकुलवासी) आचार्य-कुलवासी (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आचार्य्यकुले) आचार्य्यकुल में जो निवास करता है वही (तृतीयः) धर्म्म का तीसरा स्कन्ध है (सर्वे+एते) ये सब आश्रमी (पुण्यलोकाः) पुण्य लोक वाले (भवन्ति) होते हैं (ब्रह्मसंस्थः) परन्तु इन आश्रमियों में जो ब्रह्म-निष्ठ होता है वह (अमृतत्वम्) मुक्ति को (एति) पाता है ॥ १ ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी-विद्या सम्प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

प्रजापतिः । लोकान् । अभ्यतपत् । तेभ्यः । अभितप्तेभ्यः । त्रयीविद्या । सम्प्रास्रवत् । ताम् । अभ्यतपत् । तस्याः । अभितप्तायाः । एतानि । अक्षराणि । सम्प्रास्रवन्तः । भूः । भुवः । स्वः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—प्रजापतिरिति । प्रजापतिः । प्रकर्षेण जायते इति प्रजा । प्रकृतिः । समष्टि-रूप विश्वमित्यर्थः । सन्ततिजनाश्चापि प्रजा उच्यन्ते । अस्मादेव कारणात् । सर्वेषां जीवानां मध्ये जनानां प्रकृष्ट जननं वर्त्तते । तथाच । उत्पन्नायां सन्ततौ च जनाः प्रहृष्टा जायन्ते । मम सौभाग्य वृद्धिर्जाता । वृद्धावस्थाया यष्टिः । भक्तप्रदः । नयनानन्दकरः । सन्तानो जातः । इति मातुःपितुस्तन्मित्राणाञ्चानन्दप्रकर्षेण सार्धं सन्ततिर्जायते । अतः सन्ततिरपि प्रजानि-गद्यते । प्रजायाः प्रकृतेः प्रजानां जननशीलानां सर्वेषां प्राणिनां च पतिः । पालयिता । लोकान् । लोक्यन्ते । आलोक्यन्ते । दृश्यन्ते । इति लोकाः प्रत्यक्ष विषयताप्राप्त्यर्हा इति

यावत् । तान् लोकान् प्राकृतपदार्थान् । अभ्यतपत् । अभितः । सर्वतः । अतपत् । ज्योतिर्म्मयान् सृष्टवान् । प्रकाशितवानित्यर्थः । तेभ्यः । अभितप्तेभ्यः । सृष्टेभ्यः पदार्थेभ्यः । अनन्तरम् । त्रयी विद्या । वेदविद्या । सम्प्रास्रवत् तस्मादेवेश्वरादजायत । पश्चादीश्वरः । ताम् । त्रयीविद्याम् । अभ्यतपत् । अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसां परमप्रसिद्धानां महर्षीणां हृदयैः प्रकाशितवान् । तस्याः । त्रय्याः विद्यायाः । अभितप्तायाः । ईश्वरेण प्रकाशिताया अनन्तरम् । भूर्भुवःस्वरिति । एतानि अक्षराणि सम्प्रास्रवन्त । अजायन्त । सर्वेषां वेदानामविनश्वराणि सहजातानि । अर्थ सम्बन्धादीनि । अर्थबोधकानि वस्तुजातानि । ईश्वरेण प्रकाशितानि । ऋषीणां हृदयेषु वेदान् प्रकाश्य सहजाता अविनश्वराः पदशक्तयोपि प्रकाशिता । न च अ इ प्रभृतीनामक्षराणामिवभूर्भुवःस्वरित्येषामक्षराणामिदमक्षरं बोधकमित्यनुसंधेयम् । त्रय्यान्तुभूर्भुवःस्वरित्यस्य बहुशः पाठोऽस्ति । तेन त्रय्यक्षर प्रकाशेन सार्धमेव तेषामपि प्रकाशस्य सम्भवात् पुनरुक्तिरापद्यत । अत्र भूर्भुवःस्वरिति एतानि त्रीणिपदानि संकेतकानि ज्ञेयानि भूरित्यनेन सर्वासामृचाम् । भुवरित्यनेन यजुषाम् । स्वरित्यनेन साम्नामर्थसम्बन्धादिग्रहणम् । अक्षराणि । नक्षरो विनाशो येषां तान्यक्षराणि । अविनश्वराणि । पदार्थसहजातानि । पदार्थशक्तिजातानीत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवाद:-प्रजापति ने सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों को प्रकाशित किया । उनके प्रकाशित होने के अनन्तर त्रयीविद्या उत्पन्न हुई । उस त्रयीविद्या को (अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के हृदयों के द्वारा) प्रकाशित किया । उस (त्रयीविद्या) के प्रकाशित होने पर ये अक्षर भूः भुवः स्वः प्रगट हुए ॥ २ ॥

पदार्थः-(प्रजापतिः) प्रजाओं के पालक ईश्वर ने (लोकान्) सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों को (अभ्यतपत्) सर्वतः विकाशित किया (तेभ्यः) उनके (अभितप्तेभ्यः) चारों ओर प्रकाशित होने के अनन्तर (त्रयीविद्या) वेद विद्या (संप्रास्रवत्) ईश्वर के द्वारा आविर्भूत हुई (ताम्) उस त्रयीविद्या को (अभ्यतपत्) ऋषियों के हृदय के द्वारा प्रकाशित किया (तस्याः+अभितप्तायाः) उस त्रयीविद्या के प्रकाशित होने के पश्चात् (एतानि) ये (अक्षराणि) अविनश्वर (भूर्भुवः स्वः इति) भूः, भुवः, स्वः (संप्रास्रवन्त) ईश्वर से प्रकटित हुए ॥ २ ॥

भाष्याशयः—१-प्रजापति यह शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है । आज कल प्रजा शब्द का प्रसिद्ध अर्थ=प्रकृति मालूम पड़ती है क्योंकि (प्रकर्षेण जायते उत्पद्यते इति प्रजा) प्रसिद्धि के साथ जो उत्पन्न हो । अर्थात् जिसकी उत्पत्ति परम प्रसिद्ध हो

प्रकृति शब्द का भी यही अर्थ है (प्रकृष्टा कृतिर्व्यापारो यस्याः सा) जिसकी कृति प्रकृष्ट प्रसिद्ध हो उसे प्रकृत कहते हैं। अतः प्रजा शब्द का प्रकृति अर्थ करना सुसंगत प्रतीत होता है। द्वितीय अर्थ—ईश्वर की सृष्टि में सम्पूर्ण जीवों के मध्य मनुष्य की उत्पत्ति भी प्रकृष्ट, उत्कृष्ट है अतः मनुष्य को भी प्रजा कहने लगे। तृतीय अर्थ—सन्तान के जन्म के अवसर प्रायः माता पिता और उनके मित्रों को परम आनन्द प्राप्त होता है। मेरे भाग्योदय की वृद्धि हुई है। वृद्धावस्था की वह यष्टि (दण्ड) है। अन्न देने वाला नयनानन्दकर सन्तान मेरे गृह में उत्पन्न हुआ है। इन सब प्रकर्षों (आनन्दों) के साथ सन्तान की उत्पत्ति मानी जाती है अतः सन्तान को भी प्रजा कहते हैं। परन्तु इसका मुख्य अर्थ प्रकृति है। अतः प्रजा शब्द से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रहण है। २—लोक—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विषयीभूत जो पदार्थ होवें उन सब को लोक कहने चाहियें क्योंकि धातु का ऐसा ही अर्थ होता है। अतः यहां लोकशब्द से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रहण है। ३—अभ्यतपत्—इसका अर्थ अनेक प्रकार से टीकाकार लोग करते हैं। शङ्कराचार्य्यजी कहते हैं (अभ्यतपत् अभितापं कृतवान्। ध्यान तपः कृतवानित्यर्थः) अर्थात् ध्यानरूप तप किया। परन्तु मैं देखता हूं कि जहां २ सृष्टि की उत्पत्ति का प्रकरण आया है वहां २ प्रायः अभ्यतपत् शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे—"तमभ्यतपत् तस्याभितप्तस्य। ऐ० १। ४। सयोऽभ्यतपत् ऐ० ३। २। पुनः छान्दोग्य उ० ४—१७। १, २, ३। इत्यादि बहुधा प्रयोग देखते हैं। इन सब प्रयोगों से अभ्यतपत् का अर्थ प्रकाशित करना सृष्टि करना ही विदित होता है। समीक्षा देखो। ४ भूः भुवः स्वः—ये तीनों शब्द यहां संकेतिक हैं। भू शब्द से ऋचाओं के, भुवः शब्द से यजुर्गणों के, स्वः शब्द से सामगानों के अर्थ सम्बन्ध आदिक द्योतित होते हैं। अक्षर शब्द अ+क्षर। इन दो शब्दों से एक अक्षर शब्द बना है। अ=नहीं। क्षर=नाश। बहुव्रीहि समास करने पर अर्थ यह हुआ कि जिस का नाश नहीं हो अर्थात् पद और अर्थ का जो एक सहज (जो साथ २ ही उत्पन्न हो) सम्बन्ध है जिस का कभी नाश नहीं होता उस अर्थ को द्योतित करने के लिये यहां अक्षर शब्द का प्रयोग हुआ है। तब यह अर्थ हुआ कि ऋग् यजु साम के सहज अर्थ सम्बन्ध आदिक ऋषियों के हृदय में प्रकाशित हुए। कोई २ अ इ उ आदि अक्षर अर्थ जो अक्षर शब्द का यहां करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि त्रयीविद्या में भूर्भुवःस्वः इन के पाठ वारम्बार आये हुए हैं। तब त्रयीविद्या के अक्षर के प्रकाश के साथ २ उन का भी प्रकाश हो ही चुका फिर यह कहना कि ये तीन अक्षर प्रकाशित हुए यह एक पुनरुक्ति दोष होगा ॥ २ ॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः सम्प्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णोङ्कार एवेदꣳ सर्वमोङ्कार एवेदꣳ सर्वम् ॥ ३ ॥

तानि । अभ्यतपत् । तेभ्यः । अभितप्तेभ्यः । ओङ्कारः । सम्प्रास्रवत् । तत् । यथा । शङ्कुना । सर्वाणि । पर्णानि । सन्तृण्णानि । एवम् । ओङ्कारेण । सर्वा । वाक् । सन्तृण्णा । ओङ्कारः । एव । इदम् । सर्वम् । ओङ्कारः । एव । इदम् । सर्वम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्-तानीति । तानि । अक्षराणि भूर्भुवःस्वरिति । एतानि । अभ्यतपत् । एतेषां तात्पर्यं सम्यक्प्रकाशितवान् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यः । प्रकाशितेभ्यः । पश्चात् । ओङ्कारः । ओङ्कारवाच्यं ब्रह्म । सम्प्रास्रवत् प्रकाशितोऽभूत् । अर्थविज्ञानानन्तरं ब्रह्मबोधो जात इति सुष्ठूक्तम् ओङ्कारः सम्प्रास्रवदिति । अग्रे ओङ्कारं विशिनष्टि । तद्यथा । शङ्कुना पर्णनालेन । सर्वाणि । निखिलानि । पर्णानि । पत्रावयवजातानि । संतृण्णानि । निबद्धानि । व्याप्तानि भवन्ति । एवमेव । अनेन प्रकारेण । ओङ्कारेण । ओङ्काराभिधेयेन ब्रह्मणा । सर्वा । समस्ता । वाग् । वाणी । त्रयीवाणीत्यर्थः संतृण्णा । व्याप्तास्ति । ओङ्कार एव । इदं सर्वम् । वेदार्थजातम् । संतृण्णः । व्याप्तोऽस्ति । ओङ्कार एव ओङ्काराभिधेय ईश्वर एव । इदं सर्वं जगदपि संतृण्णः व्याप्तोऽस्ति । नहि केवलं त्रयीवाण्यैव ब्रह्म संबध्यते । सम्पूर्णेन जगतापीतिभावः । अत्र सर्वमिति द्वितीयान्तं पदं बोध्यम् । संतृण्णपदस्य उभयत्रान्वयः पक्षे कर्तृप्रत्ययः । एतत् प्रकरणस्थविषयं विस्पष्टरूपेणैतरेयब्राह्मणमाह । यथा-प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेमांल्लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं तांल्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्तान्वेदानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदो३मिति । पञ्चम पञ्चिका अ० ५ । काण्ड ३२ ॥ ३ ॥

इति त्रयोविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २३ ॥

अनुवादः-(प्रजापति ने) उन्हें प्रकाशित किया । उनके प्रकाशित होने के अनन्तर ओङ्कार वाच्य ब्रह्म प्रकाशित हुआ सो जैसे पर्णनाल से सकल पत्रावयव समूह व्याप्त रहते

हैं तद्वत् ओङ्कार से सम्पूर्ण त्रयी वाक्य व्याप्त हैं। ओङ्कार ही इस सम्पूर्ण त्रयी वाक्य में सम्बद्ध है ओङ्कार ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(तानि) उन भूर्भुवःस्वः इन तीन अक्षरों को (अभ्यतपत्) प्रजापति ने प्रकाशित किया (तेभ्यः+अभितप्तेभ्यः) उन के प्रकाशित होने के अनन्तर (ओङ्कारः) ओङ्कारवाच्य ब्रह्म (संप्रास्रवत्) स्वयं प्रकाशित हुआ। अब आगे ओङ्कार का वर्णन करते हैं (तत्) इस हेतु (यथा) जैसे (शंकुना*) पत्तों के नाल से (सर्वाणि) सब (पर्णानि) पत्ते (सं+तृण्णानि) व्याप्त हैं (एवम्) इसी प्रकार (ओङ्कारेण) ओङ्कार से (सर्वा) सब (वाग्) वेदवाणी (संतृण्णा) व्याप्त है (ओङ्कारः) ओङ्कारवाच्य ईश्वर (एव) ही (सर्वम्+इदम्) सम्पूर्ण इस वाक्य में व्याप्त हैं अर्थात् सम्पूर्ण वेदवाक्य का उसी से सम्बन्ध है (ओङ्कार एव) ओङ्कारवाच्य ब्रह्म ही (सर्वम्+इदम्) सम्पूर्ण इस जगत् में व्याप्त है ॥ ३ ॥ इति त्रयोविंश खण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २३ ॥

पारिव्राज्यम् (१०)

अत्र प्रथम शब्दो न क्रमबोधकः। प्रसिद्धवेदबोधितक्रमानुरोधात्। तथाहि। प्रथम आचार्यकुलवासः। द्वितीयं गार्हस्थ्यं। यदुद्दिश्य यज्ञोऽध्ययनं दानमिति त्रयं विहितम्। तृतीयो वानप्रस्थाश्रमः। यमुद्दिश्य तप इत्युक्तम्। चतुर्थः संन्यासः। यमुद्दिश्य पृथक्त्वेन किमपि नोक्तम्। अनुमीयते। यदुभयोरनयोराश्रमयोस्तपसः प्रधानत्वात्तदेवैतदर्थमप्यत्र ॥ केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते। ब्रह्मसंस्थपदेन केवलस्य चतुर्थाश्रमिणो ग्रहणं विवक्षितम्। पुण्यलोकादमृतत्वस्यपृथङ्निर्देशात् परिव्राज एव ब्रह्मसंस्थत्वं नेतरेपामित्य-

भा०-यहां प्रथम शब्द क्रमबोधक नहीं है। क्योंकि, प्रसिद्ध वेदबोधितक्रम इस प्रकार है। प्रथम आचार्य्यकुल वास, द्वितीय गार्हस्थ्य। जिस के उद्देश से यज्ञ, अध्ययन, दान ये तीन कर्म्म कहे गये हैं। तृतीय वानप्रस्थाश्रम। जिस के उद्देश से तप कहा है। चतुर्थ संन्यास। जिस के बारे में पृथक् कुछ नहीं कहा गया है। अनुमान होता है कि वानप्रस्थ और संन्यास इन दोनों आश्रमों में तप की प्रधानता है। वही तप संन्यास के लिये भी है। यहां कोई शङ्का करते हैं कि मूलस्थ "ब्रह्मसंस्थ" पद केवल चतुर्थाश्रमी (संन्यासी) के लिये ही है। क्योंकि मूल में कहा गया है कि ये तीनों आश्रमी

* शङ्कुना—वृक्षों में एक ऐसी शक्ति है जो सम्पूर्ण अङ्गों में पृथिवी से रस खींच कर पहुंचाया करती है वृक्षों में भी मनुष्यवत् ही नाड़ियें विद्यमान हैं जिसका प्रत्येक पत्ते से सम्बन्ध है, उसी को यहां शङ्कु कहते हैं ॥

भिप्रायो लक्ष्यते । एवं ब्रह्मसंस्थत्वस्य धर्मस्कन्धत्रयादपि बहिर्भूतत्वम् । तेनेदमपि चायाति । यत्रयत्र धर्म्मस्कन्धता तत्रतत्र न ब्रह्म संस्थता । यत्र ब्रह्म संस्थता न तत्र धर्म्मस्कन्धता । अखिलधर्म्मनिवृत्तस्वभावस्य ब्रह्मण: सेवकेनापि तथैव भवितव्यमिति श्रुतित: स्मृतितो भूयो भूय: श्रवणात् । श्रीकृष्ण आह-"सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" मैत्रेयी संवादे महर्षि: श्रीयाज्ञवल्क्य: पारिव्राज्यं सर्वोत्तमममृतत्वप्रदं सम्यग् दर्शनमुवाच । अतएव कौषीतकेय कहोलकाण्डे संन्यास एवं प्रदर्शित: । तथाहि-"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा: पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति । तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याऽथ ब्राह्मण: स ब्राह्मण: केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्त्तं ततो ह कहोल: कौषीतकेय

"पुण्यलोका भवन्ति=पुण्यलोक वाले होते हैं" और "ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व को पाता है" इससे विदित होता है कि चतुर्थाश्रमी संन्यासी यथार्थ में ब्रह्मसंस्थ (ब्रह्म में स्थित) है और यही अमृतत्व का अधिकारी है अन्य नहीं । क्योंकि "ब्रह्मसंस्थ:+अमृतत्वमेति=ब्रह्मस्थित पुरुष अमृतत्व को पाता है" इस का पृथक् पाठ किया है । और "ब्रह्मसंस्थ" को तीनों धर्म्मस्कन्ध से पृथक् रक्खा है इससे यह भी विदित होता है कि जहां २ धर्म्मस्कन्धता है वहां २ ब्रह्मसंस्थता नहीं और इसके विपरीत जहां ब्रह्मसंस्थता वहां २ धर्म्मस्कन्धता नहीं । इस शङ्का का भाव यह है कि ब्रह्म अखिल धर्म्म से निवृत्त है इस हेतु उसके सेवक को भी अखिल धर्म से निवृत्त होना चाहिये । इस में श्रुति और स्मृति दोनों के प्रमाण हैं । श्रीकृष्णजी कहते हैं कि (सर्वधर्म्मान्०) सब धर्म्म को त्याग मेरी शरण में आओ । बृहदारण्यकोपनिषद् मैत्रेयी सम्वाद में महर्षि श्री याज्ञवल्क्य ने संन्यास को सर्वोत्तम अमृतत्वप्रद और सम्यग्-दर्शन कहा है । अतएव कौषीतकेय कहोलकाण्ड में संन्यास इस प्रकार दिखलाया है । यथा-(तम्) उस (एतम्) इस (आत्मानम्) परमात्मा को (वै) निश्चितरूपसे (विदित्वा) जान (ब्रह्मणा:) ब्रह्मविद् पुरुष (पुत्रैषणाया:+च) पुत्र की एषणा=इच्छा से । और (वित्तैषणाया:+च) वित्त=धन की एषणा=इच्छा से (लोकैषणाया:+च) लोक=अच्छे लोक लोकान्तर की एषणा से (व्युत्थाय) उन पूर्वोक्त तीनों (एषणा) इच्छाओं से पृथक् हो (अथ) पश्चात् (भिक्षाचर्य्यम्) केवल जीवनधारणार्थ भिक्षाचरण (चरन्ति) करते हैं (तस्मात्) इस हेतु (ब्राह्मण:) ब्राह्मण (पाण्डित्यम्) पाण्डित्य को (निर्विद्य) अच्छे प्रकार जान (बाल्येन) ज्ञानबल से (तिष्ठासेत्) स्थिति करने की इच्छा करे (बाल्यञ्च+पाण्डित्यञ्च) बाल्य और

उपरराम" बृ० ५ । १ । इत्यनेन ब्रह्म विदित्वा सर्वाणि कर्माणि त्यक्त्वा बालभावेन तिष्ठन् "अहं ब्रह्मास्मी"ति अपरोक्षतया जानन् सुखेन महीं विचरेत् । अन्यदार्त्तमित्यनेन पारिव्राज्यं विहाय सर्वं क्लेशकरमेवेत्येवार्थः सम्यग् ध्वनितः । पुनश्चैतमेवार्थं चतुर्थाध्याये ब्रवीति । तद्यथा-" एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते । किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" । अतः सर्वकर्मपरित्यागरूपो यः सन्न्यासाश्रमो विद्यते । स एवामृतत्वं नेतुं शक्नुयान्नेतर इतिसूचयितुमेव "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" पृथगुपन्यस्तम् ।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः । संन्यासित्वं सर्वेभ्यः श्रेष्ठमित्यत्रोमिति ब्रूमः । परन्तु सर्वकर्मत्यागलक्षणं संन्यस्तमिति कुत्र के कथयन्ति । इति तु केचिदनभिज्ञा अलसा एव सर्वकर्मपरित्यागलक्षणं संन्यस्तमवोचन् । ऐतरेयस्य यावज्जीवनं कर्म्माऽऽचरतश्चरित्रं पश्यामः ।

पाण्डित्य को (निर्विद्य) अच्छे प्रकार जान (अथ) अनन्तर (मुनिः) योगी होता है । (अमौनञ्च+मौनञ्च) अमौन और मौन (आत्मज्ञान की वृद्धि का और अनात्मज्ञान के तिरस्कार का नाम अमौन है और अनात्मज्ञान के तिरस्कार के अन्तिमपरिणाम का नाम मौन है) (निर्विद्य) जान (अथ+ब्राह्मणः) तब मनुष्य ब्रह्मवित् होता है (सः+ब्राह्मणः) ऐसा (ब्राह्मणः) ब्रह्मवित् (केन+स्यात्) किस आचरण से होता है (येन+स्यात्) जिस आचरण से हो परन्तु (तेन+ईदृश+एव) इस हेतु ऐसा ही होवे । अर्थात् जिस उपाय से हो ऐसा ब्राह्मण होना चाहिये (अतः+अन्यत्+आर्तम्) इस के अतिरिक्त केवल दुःखप्रद ही है । इस वर्णन से यह भाव है कि ब्रह्म को जान सर्व कर्म्म को त्याग ज्ञानबल से वर्त्तता हुआ "अहं ब्रह्मास्मि" इस को प्रत्यक्ष करता हुआ सुखपूर्वक पृथिवी पर विचरण करे और " अन्यदार्तम् " इस पदसे संन्यासाश्रम को त्याग अन्य सब ही क्लेशकर ही है यह सूचित करते हैं । इसी विषय को दृढार्थ पुनश्चतुर्थाध्याय में कहा है " एतद्धस्मै " इत्यादि । इस पूर्वोक्त वर्णन से यह सिद्ध हुआ कि सर्व कर्मत्यागरूप जो संन्यासाश्रम है, वही अमृतत्व की ओर लेजाने में समर्थ है । अन्य आश्रम नहीं और इसी विषय को सूचित करने को "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" कहा है ।

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं " संन्यास कर्म्म " सर्वश्रेष्ठ है यहां ओम् (स्वीकार) कहते हैं । परन्तु " सर्व कर्म्मों के परित्याग का नाम ही संन्यास है " इसको कहां कौन कहते हैं । इस को तो किन्हीं अनभिज्ञ और अलस पुरुषों ने कहा है । देखो, महर्षि ऐतरेयको यावज्जीवन कर्म्म करते हुए देखते हैं । इन्द्र महर्षि को

इन्द्रस्यैकविंशतिवर्षाणि ब्रह्मचर्यं साधयतः कालोऽभ्यगमत् । एतत् परिमितमेव प्रायोजीवनं मनुष्यस्य । नारदः खलु सम्पूर्णं आयुषि विद्यान्वेषण एवकालमजीगमत् । अश्वपत्यजातशत्रु जनकादीनामपि एवमेवव्यवस्था दृश्यते । तैत्तिरीयब्राह्मणे भरद्वाजस्य सम्पूर्णजीवनं विद्याध्ययनव्रतं पश्यामः । तथाहि । भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास । तꣳ ह जीर्णिꣳ स्थविरꣳ शयानं इन्द्र उपव्रज्योवाच । भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम्, किमेनेन कुर्या इति । ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच । तꣳ ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार तेषाꣳ हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे । स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः, एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः, अथ त इतरदननूक्तमेव (तै० ब्रा० ३ । १० । ११ । ३ । ४ ।) इत्येवं विधानि पुरातनग्रन्थेषु भूयांस्युदाहरणानि लभामहे । तत्कथं भवन्तो ब्रुवन्ति । सर्व-कर्म-परित्याग-रूपमेव संन्यस्तम् । ईदृशान् विरक्तान् भरद्वाजादीन् संन्यासिनः कथयितुं किं न शक्नुमः । श्रीकृष्णोऽपि—"त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥ निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

---

१०१ वर्ष ब्रह्मचर्य्य करते हुए काल व्यतीत हुआ प्रायः मनुष्य का भी इतना ही जीवन है । श्री नारदजी ने प्रायः सम्पूर्ण आयु में विद्या के अन्वेषण करते हुए ही काल को विताया । अश्वपति, अजातशत्रु और जनकादिकों की भी प्रायः यही व्यवस्था देखते हैं पुनः तैत्तिरीय ब्राह्मण में महर्षि भरद्वाज का सम्पूर्ण जीवन ही विद्याध्ययनव्रत देखते हैं यथा (भरद्वाजः+ह) प्रसिद्ध भरद्वाज महर्षि (त्रिभिः+आयुभिः) तीन आयुर्दा से अर्थात् बाल्य, यौवन, वार्धक्य इन तीनों अवस्थाओं से (ब्रह्मचर्य्यम्+उवास) ब्रह्मचर्य्य ही करते रहे (तम्) उस (जीर्णिम्+स्थविरं+शयानम्) जरावस्था प्राप्त अत्यन्त वृद्ध भरद्वाज से (इन्द्रः+उपव्रज्य+उवाच) इन्द्र नाम के आचार्य्य समीप आ बोले (भरद्वाज !) हे भरद्वाज ! (यत्ते०) यदि तुम को मैं चतुर्थ आयु दे सकूं तो (किम्०) उस आयु से तुम क्या करोगे ? इस प्रश्न के उत्तर में (ब्रह्मचर्य्यम्०) ब्रह्मचर्य्य ही मैं करूंगा ऐसा ही भरद्वाज ने कहा (तम्०) उस भरद्वाज को तब आचार्य्य ने पर्वत समान अविज्ञात तीन विद्याएं और दिखलाईं । और दिखला कर कहा कि (अनन्ता वै वेदाः) हे भरद्वाज ! ज्ञान वा विद्याएं अनन्त हैं (यहां वेद शब्द ज्ञान वा विद्यावाचक है) अभी तक तुमने इतनी विद्या सीखी है (अथ+ते+इतरत्०) ये सब तो तुम से अभी कही भी नहीं गई हैं । इत्यादि अनेक उदाहरण पुरातन ग्रन्थों में पाते हैं । तब आप कैसे कहते हैं कि सर्वकर्म्मपरित्याग ही संन्यस्त है क्या ऐसे विरक्त भरद्वाज आदि को संन्यासी नहीं कह सकते हैं । श्रीकृष्ण भी कहते हैं यथा—

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥ यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणोनोपपद्यते । मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥ गीता० । अ० १८ ॥ यज्ञदान तपसां कर्म्मणां मोहात् यः खलु परित्यागं करोति स तामसी आसुरीयोनिगामी भवतीति ध्वनयति । अतएव—"नहि कश्चित् चणमपि जातुतिष्ठत्यकर्म्मकृत् । कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" इति कर्मत्यागानर्हत्वं दर्शितम् । अतएव च "अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः" । गीता० ५ । १ । अयज्ञं निष्क्रियं संन्यासिनं निन्दति । अतः श्रीकृष्णवाक्येनापि संन्यासिनामपि यज्ञोदानं तप इत्येवं

(त्याज्यम्०) कोई मनीषी कहते हैं कि दोषवत् सर्वकर्म्म त्याज्य हैं । और कोई आचार्य्य कहते हैं कि यज्ञ दान और तपस्यारूप कर्म्म कदापि त्याज्य नहीं । ३ । (निश्चयम्०) हे भरतसत्तम अर्जुन ! इन दोनों पक्षों में जो निश्चय है सो सुनो । त्याग भी तीन प्रकार के होते हैं । ४ । (यज्ञदान०) हे अर्जुन ! यज्ञ, दान और तप ये तीनों कर्म्म कदापि त्याज्य नहीं । क्योंकि मनीषियों (ज्ञानियों) के पवित्र करनेवाले यज्ञ दान और तप कर्म्म हैं । ५ । (एतानि०) इन तीनों कर्म्मों का अनुष्ठान सदा करे, परंतु इन में न आसक्ति रक्खे और न उन कर्म्मों के फलों की इच्छा करे । हे अर्जुन ! यही मेरा मत है और यह मेरा मत सर्वोत्तम है । ६ । (नियतस्य०) हे अर्जुन ! नियत कर्म्म का त्याग कहीं नहीं कहा है मोहवश जो उन कर्म्मों को त्यागता है । वह तामस त्याग है अर्थात् उन कर्म्मों का त्यागी तामसी है । ७ । इससे श्रीकृष्ण महाराज यह सूचित करते हैं कि जो कोई इन कर्म्मों का त्याग करते हैं वे वास्तव में अज्ञानी हैं और वे आसुरीयोनि में जाते हैं । इस हेतु (नहि कश्चित्०) इस श्लोक के द्वारा कर्म को कोई भी त्याग नहीं सकता यह दिखलाया है । उसका अर्थ यह है । कोई भी चणमात्र भी अकर्म्मा नहीं ठहर सक्ता । सब मनुष्य प्रकृति के वश हैं और प्राकृतिक गुण स्वभावतः उनसे कर्म्म करवा रहे हैं और भी "अनाश्रितः" इस श्लोक के द्वारा अयज्ञ, निष्क्रिय संन्यासी की निन्दा भी करते हैं । उस का अर्थ यह है । जो मनुष्य कर्म्मफल के अनाश्रित हो कर्त्तव्यकर्म्म को करते हैं वेही संन्यासी हैं । परन्तु निरग्नि (जो यज्ञ न करे) और अक्रिय संन्यासी नहीं कहलाते इस हेतु श्रीकृष्णजी के वाक्य से भी संन्यासियों को यज्ञ, दान, तप, एवंविध कर्म

विधानि कर्माणि सदानुष्ठेयान्येव सिद्ध्यन्ति । धर्मविदां वरिष्ठेन श्रीभगवता मनुनापि "चतुर्भिरपिचैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्" ॥ ९२ ॥ अ० ६ ॥ एवं जातीयकैः श्लोकैश्चतुर्भिराश्रमिभिर्विद्यादीनां सेवनं विहितम् । अतः कर्मत्यागो न कर्त्तव्यः श्री शङ्कराचार्यादीनां मतं वेदविरोधात् सर्वथैव हेयमित्यादि । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ॥ यजु० अ० ४० ॥ इतिवेदमन्त्रवर्णः अन्यच्च-"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" । "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" । इति ब्राह्मणम् ॥

पुनः संशेरते–ननु "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" अन्यच्च "तमेवधीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" । वृ० ४ । ४ । २१ । अन्यच्च "तदेतदृचाभ्युक्तमेष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा, नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित् । तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति ।

सदा अनुष्ठेय हैं यह सिद्ध होता है । धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् मनु ने भी वैसा ही कहा है । यथा (चतुर्भिः) चारों आश्रमियों को सर्वदा दश लक्षण वाला धर्म प्रयत्नपूर्वक सेवनीय है । ९१ । (धृतिः) धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य, अक्रोध ये दश धर्म के लक्षण हैं । ९२ । इत्यादि श्लोक से सब आश्रमियों को विद्यादि सेवन विहित है । इस हेतु कर्म कदापि त्याज्य नहीं । श्रीशङ्कराचार्यादियों ने कर्म त्यागरूप ही संन्यास को जो माना है वो वेदादि विरुद्ध होने से त्याज्य है (कुर्वन्नेवेह०) यह वेदमन्त्र यावज्जीवन कर्म्म करने को आज्ञा देता है । और भी ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है कि (यावज्जीवम्०) सम्पूर्ण जीवन अग्निहोत्र करे । सम्पूर्ण जीवन दर्श पूर्णमास से यजन करे ।

पुनः शङ्का करते हैं (न कर्म्मणा०) न कर्म्म से न प्रजा से न धन से किन्तु एक त्याग से ही पूर्व के महर्षि लोग अमृतत्व को प्राप्त हुए । पुनः (तमेव०) धीर को उचित है कि उसी को जान विज्ञान को करे बहुत शब्दों को चिन्तन न करे क्योंकि अन्य सब केवल श्रमकारकमात्र हैं । और भी सुनो (तदेतदृचा०) ब्रह्मण की यही महिमा नित्य है और सब अनित्य है (यहां पूर्वप्रसङ्ग से ब्रह्मज्ञान लेना चाहिये) क्यों यही महिमा नित्य है सो आगे कहते हैं (न+कर्म्मणा०) वह महिमा न शुभाशुभ कर्म्म से बढ़ती और न घटती है (तस्यैव०) उसी का पदवित् होना चाहिये । क्योंकि (तम्+विदित्वा०) उसी को जान (न लिप्यते०) शुभाशुभ धर्म्माधर्म्म कर्म से लिप्त नहीं होता (तस्मात्०) इस

तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति । सर्वमात्मानंपश्यति नैनं पाप्मा तरति । सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मातपति । सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽहं भगवते वैदेहान् ददामि माञ्चापि सह दास्यायेति" ॥ २३ ॥ बृ० । ४ । ४ ॥ इत्येवं जातीयकानि वचनानि " न कर्मणाऽमृतं प्राप्नोति । आत्मन्येवात्मानं पश्येत् । न तु यज्ञादिषु समयं यापयेत् । एवंविदमेव न पापानि कर्म्माणि पुण्यानि वा तरन्ति। स एव पाप्मानं तरति । नह्येवंविदो ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदुः किमपिकर्मणा वर्धते। न च किमपि कनीयो भवति। नोपचीयते न च क्षीयते " इत्येवमर्थमनुपदिशन्ति किं ज्ञापयन्ति । अहो निश्चयं कर्मत्यागं ब्रह्मसंस्थत्वञ्च दर्शयन्ति ।

इत्याशङ्कायांब्रूमः । उपनिषत्तत्त्वानभिज्ञैर्मन्दमतिभिराशु शास्त्रार्थः प्रतिपत्तुं नहि शक्यते । अतस्तेषामाकुलानि वाक्यानि प्रतीयन्ते । किं कर्मतावत् ? किं ब्रह्मवित्पुरुषः । न गच्छेत् । नाश्नीयत् । न पिबेत् । न शयीत । नाऽऽशौचं विदध्यात् । न किमपि

हेतु शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित हो ब्राह्मण लोग आत्मा में ही आत्मा को देखते हैं (सर्वम्+आत्मानं पश्यति) सब को आत्मा ही देखते हैं (न+एनं+पाप्मा+तरति) ऐसे पुरुष को पाप व्याप्त नहीं होता (सर्वम्+पाप्मानम्+तरति) वह सब पाप को आक्रान्त कर लेता है अर्थात् सब पाप को दबा देता है । (न+एनं+पाप्मा+तपति) इसको पाप तपा नहीं सकता किन्तु (सर्वम्+पाप्मानम्+तपति) वह उपासक सब पाप को भस्म कर देता है। वैसा (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (विपापः०) पाप रहित काम रहित और संशय रहित हो जाता है । याज्ञवल्क्य महाराज जनक जी से कहते हैं कि हे सम्राट् यही ब्रह्मलोक है । इत्यादि वचन "कर्म्म से ब्रह्म को नहीं पाता है । आत्मा में ही आत्मा को देखे । यज्ञादि में समय न वितावे । ऐसे ही विद्वान् को पुण्य वा पाप कर्म व्याप्त नहीं होता। किन्तु वह स्वयं उन्हें दबा लेता है । ऐसे ही ब्रह्मविद् का पाप पुण्य से न कुछ बढ़ता और न कुछ घटता है" इत्यादि उपदेश देते हुए क्या ज्ञापित करते हैं । निश्चय, कर्म्मत्यागरूप ब्रह्मसंस्थत्व को प्रतिपादन कर रहे हैं ।

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं । उपनिषद् तत्त्व के अनभिज्ञ मन्दमतिजन शीघ्र शास्त्रार्थ समझने में समर्थ नहीं होते हैं । अतः उनको उपनिषद् वाक्य आकुल व्याकुल प्रतीत होते हैं । अब विचार करो कि कर्म्म क्या वस्तु है । क्या ब्रह्मवित् पुरुष न चले, न खाय, न पीवे, न सोवे, न आशौच करे, न किसी से कुछ कहे ।

कश्चित् ब्रूयात्। नेतस्ततः किमपि पश्येत्। यदीदृशानि कर्म्माणि सदानुष्ठेयान्येवसन्ति। तर्हि "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्"। "कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतꣳ समाः" एवं प्रकारकाणि वाक्यानि कथन्नाम व्याकुलीकुर्य्यात्। समये समये सर्वाण्यप्यनुष्ठेयानि। एवञ्च पूर्वोक्तानि वाक्यानि आसक्तिमात्रां केवल कर्मपरायणतां प्रतिषेधयन्ति। इदानीमप्यनेके मन्दबुद्धयोर्थज्ञानरहिताः सदा द्रव्यमयान्येव कर्माणि सम्पादयन्तोन्यस्मात्सर्वस्मात् श्रेष्ठतमात् कर्मण उपरतास्तिष्ठन्ति। ज्ञानस्यश्रैष्ठ्यं वयमपि स्वीकुर्मः। न तु कर्मराहित्येन। उदिते हि ज्ञाने द्रव्यमयेभ्योऽन्यानि निदिध्यासनादीनि श्रेयांसि कर्म्माणि उपासते। सन्ध्यादीनां तु न क्वापि हानिर्विधीयत अलमतिविस्तरेण॥

अभितपति (११)

यत्र यत्र सृष्टिप्रकरणं विद्यते तत्र तत्र छान्दोग्ये प्रायोऽभितपतेः प्रयोगो दृश्यते। तथाहि (१) "एतमृग्वेदमभ्यतपन्"। ३। १। ३॥ (२) "यजुर्वेदमभ्यतपन्। ३। २। २॥ (३) सामवेदमभ्यतपन्"। ३। ३। २॥ (४) "एतदितिहासपुराणमभ्यतपन्"। ३। ४। २। तृतीयप्रपाठके बहुशः प्रयुक्तं पदमिदम्॥ चतुर्थेऽपि-(१) "प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहत्" १। (२) "स एतास्तिस्रो

न इधर उधर देखे। यदि ईदृश कर्म्म सदा अनुष्ठेय हैं। तब "प्रतिदिन सन्ध्या करे" "यावज्जीवन अग्निहोत्र करे" "कर्म का अनुष्ठान करता ही शतवर्ष जीने की इच्छा करे" इस प्रकार के वचन को क्योंकर व्याकुल करेगा। समय समय पर सब ही अनुष्ठेय हैं। एवम्। पूर्वोक्त वाक्य आसक्तिमात्र केवल कर्मपरायणता के निषेधक हैं, वास्तव में नहीं। आज भी अनेक मन्दबुद्धिजन तात्पर्य रहित हो सदा केवल द्रव्यमय कर्मों को करते हुए अन्य श्रेयस्कर कर्म्म से रहित दीखते हैं, सो नहीं चाहिये। ज्ञान की श्रेष्ठता को हम लोग भी स्वीकार करते हैं। कर्म्मराहित्य ज्ञान की श्रेष्ठता को नहीं। ज्ञानोदय होने पर अन्य निदिध्यासनादि श्रेष्ठकर्म्म की उपासना करे। सन्ध्यादिक नित्यकर्म्म का तो त्याग कदापि न करे। अलमतिविस्तरेण॥ १०॥

भाषा—जहां २ सृष्टिप्रकरण छान्दोग्योपनिषद् में आया है वहां वहां प्रायः अभिपूर्वक तप धातु का प्रयोग है। जिसके उदाहरण पते के साथ संस्कृतभाष्य में दिये गये हैं वहां इसके अर्थ देखना। केवल षष्ठ प्रपाठक के सृष्टि प्रकरण में सृज्धातु का प्रयोग हुआ है। यह आश्चर्य प्रतीत होता है। इस के भी उदाहरण संस्कृत में दिये हुए हैं परन्तु

देवता अभ्यतपत्" । २ । (३) "स एतां त्रयीं विद्यामभ्यनपत्" । ३ । छा० ४ । १७ ॥ केवलं षष्ठे । तत्तेजोऽसृजत । तदपोसृऽजत । २ । ३ । ता अन्नमसृजत् । २ । ४ । इत्येते सृजः प्रयोगा दृश्यन्ते । षष्ठं प्रपाठकं विहाय छान्दोग्ये ब्रह्मसृष्टिप्रकरणे न कापि सृजेः प्रयोगो विद्यते । बृहदारण्यके तु यत्र यत्र सृष्टिप्रकरणं तत्र तत्र प्रायः सृजेरेव प्रयोगः । तथाहि "तेनात्मनेदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च । ऋचः । यजूंषि । सामानि । छन्दांसि । यज्ञान् । प्रजाः पशून्" इत्यादि बृ० १ । २ । ५ ॥ एवमेव । यदिदं किञ्च । मिथुनम् । आपिपीलिकाभ्यः । तत्सर्वमसृजत । बृ० १ । ४ । ४ ॥ सोऽवेदहं वाऽवसृष्टिरस्म्यहं हीदं सर्वमसृक्षि । बृ० १ । ४ । ५ ॥ अन्यास्वप्युपनिषत्सु प्रायः सृजेः प्रयोगो विद्यते । अतोऽनुमीयतेऽत्राभि तपतिः सृज्यर्थं द्योतयति ज्ञानपूर्विका या सृष्टिः साभितप्तासृष्टिः कथ्यते । यतः । यस्य ज्ञानमयं तप इत्युपदिशति । अतोस्माभिरभितपतेः । सृज्यर्थोभिहितः अन्यस्यामपि अभितपतेः प्रयोगोऽस्ति । तमभ्यतपत् । सोऽयोऽभ्यतपत् । इत्यैतरेय्याम् ॥ ११ ॥

त्रयीविद्या (१२)

चिरन्तना ऋषयो भूरि भूरि त्रयीविद्या शब्दं प्रयुञ्जन्ति । तथाहि:—

(१) "तेनेयं त्रयीविद्या वर्त्तते" । १ । १ । ९ ॥ (२) "देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्" । १ । ४ । २ ॥ (३) "त्रयीविद्या हिङ्कारः" । २ । २१ । १ ॥ (४) "तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयीविद्या सम्प्रास्रवत् । २ । २३ । ३ ॥ (५) " स एतां त्रयीं

बृहदारण्यक में सर्वत्र ही सृष्टि प्रकरण में प्रायः सृज् धातु के ही प्रयोग आये हैं जिस के कई उदाहरण संस्कृतभाष्य में दिये गये हैं । अन्य उपनिषदों में भी सृष्टि प्रकरण में सृज् के प्रयोग आये हैं । अतः अनुमान होता है कि अभि+तप् धातु सृज् धातु का अर्थ द्योतित करता है । ज्ञानपूर्वक जो सृष्टि है वह अभितप्त सृष्टि कहलाती है । क्योंकि कहा गया है (यस्यज्ञानमयंतपः) उस ब्रह्म का ज्ञानमय ही तप है । इस कारण हम ने भी यहां अभितप् का सृज् अर्थ किया है । अन्य उपनिषद् के भी सृष्टि प्रकरण में अभितप् का प्रयोग देखा जाता है । ऐतरेयी के उदाहरण दिये गये हैं ॥ ११ ॥

चिरन्तन ऋषि त्रयीविद्या शब्द को बहुधा प्रयोग करते हैं सम्पूर्ण छान्दोग्योपनिषद् में यह शब्द प्रायः छः वार प्रयुक्त किया गया है । (१) (तेनेयम्०) उसी ओङ्कार से युक्त त्रयीविद्या है (२) (देवा वै०) विद्वद्गण मृत्यु से डर त्रयीविद्या में प्रविष्ट होगये (३) (त्रयीविद्या०) त्रयीविद्या ही मानो हिङ्कार है (४) (तेभ्यः) उनसे त्रयीविद्या प्रकाशित हुई (५) (स एताम्०) उस ईश्वर ने त्रयीविद्या प्रकाशित की । (६)

विद्यामभ्यतपत्" । ४ । १७ । ३ ॥ (६) "अस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्य्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति" । ४ । १७ । ८ । छा० उ० ॥ सम्पूर्णायामस्यामुपनिषदि प्रायः षट्कृत्वः प्रयुक्तोयं शब्दः । बृहदारण्यकोपनिषदि द्विरयमभ्यस्यते । तद्यथा– (१) "स यावतीयं त्रयीविद्या तावद्धजयति । योऽस्या एतदेवंपदं वेद" । ५ । १४ । २ ॥ (२) "अथ यावतीयं त्रयीविद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात् । सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयात्" । ५ । १४ । ६ ॥ सोऽयं त्रयीविद्या शब्दो वेदवाची । कथं वेदस्य त्रयीत्वमिति । वेदे ऋग्यजुः सामलक्षणा त्रिधा विद्योपलभ्यते । तद्यथाह भगवान् जैमिनिः—

"तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" । २ । १ । ३५ ॥ अस्यभाष्यम्-अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपायत । यमृषयस्त्रयीविदोविदुर्ऋचो यजूंषि सामानीति । कथंलक्षणिका ऋचः····यत्र पादकृता व्यवस्था स ऋङ्नामा मंत्रः । इत्यादि "गीतिषु सामाख्या" । २ । १ । ३६ ॥ अस्यभाष्यम्–अथ साम्नः किं लक्षणं ? विशिष्टाकाचिद् गीतिः सामेत्युच्यते । प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति । सामान्य धीमहि । सामान्यध्यापययामः । इत्यादि "शेषे यजुः शब्दः" । २ । १ । ३७ ॥

(अस्यास्त्रय्याः) इस त्रयीविद्या के बल से यज्ञ की त्रुटि को ब्रह्मा ऋत्विक् संहित (संमिलित) करता है । इत्यादि प्रयोग उपनिषद् में देखो । बृहदारण्यकोपनिषद् में यह दो वार आया हुआ है । यथा–(स यावती०) वह विद्वान् पुरुष जितनी त्रयीविद्या है, उस को प्राप्त करता है सो यह त्रयीविद्या शब्द वेदवाची है । वेद को त्रयी क्यों कहते हैं ? ऋग्, यजु, सामलक्षण वाली तीन प्रकार की विद्या वेद में विद्यमान है अतः वेद को त्रयी कहते हैं । जैसा कि भगवान् जैमिनिजी कहते हैं:–

(तेषामृग्०) हे विद्वानगणो मेरे "अहेर्बुध्निय" मन्त्र की आप लोग रक्षा करें । जिसको त्रयीविद् ऋषिलोग ऋग् यजु साम कहते हैं । अब यहां शङ्का होती है कि ऋग् का लक्षण क्या है ? इस पर जैमिनिजी कहते हैं (तेषामृग्) जहां पादकृत व्यवस्था हो उस मन्त्र को ऋग् कहते हैं । इत्यादि (गीतिषु सामाख्या०) इस का भाष्य । साम का क्या लक्षण है ? विशेष जो कोई गान है उसे साम कहते हैं । जो मन्त्र वाक्य विशेषरूप से गाया जाता है उसी को ऋषि लोग साम कहते हैं जैसे सामों को हम लोग पढ़ें ॥ सामों को पढ़ाते हैं । इत्यादि (शेषेयजुः शब्दः) इसका भाष्य । यजु का लक्षण क्या है ?

भाष्यम्—अथ यजुः किं लक्षणम् ? यजुषोलक्षणं न वक्तव्यम् । ऋगूलक्षणसामलक्षणा-भ्यामेव यजुर्विज्ञायते वैपरीत्येन या न गीतिर्न च पादबद्धं । तत् प्रश्लिष्ट पठितं यजुः । इत्थं मीमांसा वचनेन ऋगूलक्षणा सामलक्षणा यजुर्लक्षणा या विद्या वेदवाणी वर्त्तते सा त्रयी-विद्येत्युच्यते । अयंभावः । गद्यात्मिका । पद्यात्मिका । गानात्मिकाचेति । त्रयीविद्या वेदे वर्त्तते । अतः सा त्रयी । नह्येतस्माल्लक्षणत्रयाद् विभिन्नोथर्ववेदे भवितुमर्हति । अत एतस्य पृथक् लक्षणंनोक्तम् ॥ अन्यच्च—वेदो हि कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमुपासनाकाण्डञ्चोपदिशत्यतोऽ-पि त्रयीविद्यास्यसंज्ञा । यद्वा सम्पूर्णजगदिदं त्रिधाविभक्तमस्ति । एषां त्रयाणां जगतां विद्याविज्ञानमस्मिन् वेदे स्वयंभगवतोपदिष्टमित्यतोपि त्रयीविद्या । एवंविधमन्यदप्यूह्यम् । त्रयो-ऽवयवा अस्या इति त्रयीतिसमासः ॥

अथ चतुर्त्रिंशः खण्डः ॥

अत्रेदं बोद्धव्यम् । योऽयं सचन्द्रतारकः सभूम्यन्तरिक्षः ससूर्योजगदैकांशो दृश्यमानो-स्ति । तत्सौरं जगन्निगद्यते । एतत्सदृशानि भूयांसि सौराणि जगन्ति । यैः सहास्माकं स्वल्पी-यान् सम्बन्धोस्ति । यान्युद्दिश्य न च वयं किमपि "एतत्सदृशान्यन्यान्यप्यनेकानि सौराणि जगति सन्ती"ति जानीमः । तान्यस्माकं दृश्यान्यपि न भवन्ति । जगत्यस्मिन् सूर्यस्य प्रधानत्वादेव सौरं कथ्यते । इदं सम्पूर्णं सौरं जगद्दर्शनसौकर्य्यार्थं बालबुद्धिष्वाशु प्रवेशार्थञ्च त्रिधा विभाज्यते । केचित् पातालमर्त्यस्वर्गनामभिः । केचित् पृथिव्यन्तरिक्ष द्युलोकाभिधानैः । केचित् भूर्भुवःस्वरितिशब्दैः । केचित् अग्निवाय्वादित्यनामधेयैः । केचित् वसुरुद्रादित्य वचनैः ।

यजु के लक्षण को कहने की आवश्यक्ता नहीं ऋग् लक्षण और साम लक्षण से जो भिन्न है वह यजु है । जो न गीति हो और न पादबद्ध हो उसे ही यजु कहते हैं । इस प्रकार मीमांसा के वचन से "ऋगूलक्षणा, सामलक्षणा यजुर्लक्षणा" जो वेद में त्रिविध वाणी है वही त्रयीविधा कहलाती है । अर्थात् गद्यात्मिका, पद्यात्मिका, गानात्मिका इन तीनभेदों से वाणी तीन प्रकार की ही सर्वत्र होती है । अतः वेद का नाम त्रयी है । अथर्ववेद भी इसी के अन्तर्गत आगया इसलिये इसका लक्षण पृथक् नहीं किया गया । और भी कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड ये तीनों वेद में कहे गये हैं । इस कारण भी वेद को त्रयी कहते हैं । और भी यह सम्पूर्ण जगत् तीन हिस्सों में विभक्त हुआ है इन तीनों जगतों की विद्या विज्ञान का जिस में विवरण हो उस को त्रयी कहते हैं । इत्यादि अन्य भाव भी इससे तर्कित करना ॥

इत्येवं विधैरितरैः शब्दैश्चेदं सौरं जगत्त्रिधा विभाजयन्ति । वक्ष्यमाणखण्डे वसुरुद्रादित्यैः पृथिव्यन्तरिक्ष द्युलोका ग्राह्याः सम्प्रतीदं विचार्य्यते । यद्विविधयागैस्त्रिलोकी उपक्रियते । यजमानस्य किं स्यात्तेन । पुनरपि । उपकृतापि (त्रिलोकी यागोपकृता अपि) जड़त्वाद् यजमानाय किं साधयिष्यति । चेतनाः खलु मनुष्य-पशुपक्षिप्रभृतयः फलप्रदाने स्वयमसमर्थाः सन्ति । इत्थं यल्लाभाय स यजते तदेव न प्राप्तुमाशास्ति । तर्हि । अकरणीयो यज्ञ इति सिद्ध्यति । इमां शङ्कां निवारयन् यज्ञस्य सार्थक्यं, यज्ञमानस्य लोकाप्तिञ्च प्रदर्शयंश्चोत्तरखण्डमारभते ॥

भाषा—यहां पर यों समझना चाहिये कि जो यह सचन्द्रतारक सभूम्यन्तरिक्ष और सूर्य सहित जगत् का एक अंश दृश्यमान होरहा है वह सौर जगत् कहलाता है। एतत्सदृश बहुत सौर जगत् हैं। वे हम लोगों के दृश्य भी नहीं होते हैं। इस दृश्यमान जगत् में सूर्य ही प्रधान है अतः इसको सौर जगत् कहते हैं इस सम्पूर्ण सौर जगत् का वर्णन सुकरतार्थ और बालबुद्धि में शीघ्र प्रवेशार्थ तीन हिस्सों में बांटते हैं। कोई पाताल, मर्त्य और स्वर्ग नाम से, कोई पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक नाम से, कोई भूः, भुवः, स्वः नाम से। कोई अग्नि, वायु, आदित्य नाम से। कोई वसु, रुद्र और आदित्य नाम से। इसी प्रकार अन्यान्य नामों से भी इस सौर जगत् को तीन हिस्सों में बांटते हैं। इस कारण वक्ष्यमाण खण्ड में वसु, रुद्र और आदित्य शब्द से क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक का ग्रहण है। और पृथिवी शब्द से पृथिवी और पृथिवी के आश्रित पदार्थों का भी ग्रहण होता है। केवल पृथिवी ही का नहीं। इसी प्रकार अन्तरिक्ष और द्युलोक को समझना। अब यह विचार आरम्भ होता है कि हवन करने से त्रिलोकी का उपकार होता है इसमें संदेह नहीं परन्तु इससे यजमान को क्या फल हुआ। यदि यह कहा जाय कि यह त्रिलोकी यजमान को फल देवेगी सो नहीं हो सकता, क्योंकि यह जड़ होने से यजमान के लिये कुछ भी नहीं कर सकती और जो इसमें चेतन मनुष्य पशु पक्षी आदि हैं वे यज्ञोपकृत होने पर भी फल देने में स्वयं समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार जिस कामना के लिये वह यजन करता है वही उसको नहीं मिलेगा। तब निष्फल होने के कारण यज्ञ अकरणीय है यह सिद्ध होता है इस शङ्का को निवारण करते हुए यज्ञ की सार्थक्य और यजमान की लोकाप्ति दिखलाते हुए उत्तरखण्ड का आरम्भ करते हैं॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनꣳरुद्राणां माध्य-

न्दिनꣳ सवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवादिनः । वदन्ति । यद् । वसूनाम् । प्रातः । सवनम् । रुद्राणाम् । माध्यन्दिनम् । सवनम् । आदित्यानाम् । च । विश्वेषाम् । च । देवानाम् । तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मवादिन इति । ब्रह्मवादिनः । ब्रह्म वेदं वदितुं व्याख्यातुं शीलमेषामिति ब्रह्मवादिनः । ब्रह्मतत्त्ववेत्तारो वेदविद इत्यर्थः । वदन्ति । उपदिशन्ति । यत्प्रसिद्धं प्रातःसवनं प्रातःकालिकं यज्ञरूपं कर्म्म वर्त्तते । तद् वसूनां भवति । वासयंति भूतानि इति वसवः । तेन पृथिवी लक्ष्यते । प्रधानतया पृथिव्या उपकृतिर्जायत इत्यर्थः । यद्यपि "अग्निश्च पृथिवी च । वायुश्चान्तरिक्षञ्चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च । नक्षत्राणि च चैते वसवः । एतेषु हीदꣳवसु सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इति" । बृ० आ० ३ । ९ । ३ ॥ एते अष्टौ वसव उच्यन्ते तथापि अर्थसंकोचादनेकार्थत्वात् यज्ञसम्बन्धाच्च वसुपदेन पृथिवी केवला गृह्यते । यत् । माध्यन्दिनं सवनं वर्त्तते । तद् रुद्राणाम् । अन्तरिक्षस्थवायुमेघविद्युदादिप्रभृतीनामुपकाराय भवति । रुदन्तः शब्दायमाना द्रवन्त्यन्तरिक्षे धावन्तीति रुद्राः यत् तृतीयं सवनं सायंतनं सवनं वर्त्तते । तदादित्यानाम् । द्युस्थपदार्थानामुपकाराय भवतीति बोध्यम् । तथा च । विश्वेषाञ्चसर्वेषाञ्च । देवानाम् । उक्तेभ्यो भिन्नानां प्राणिनां विदुषाञ्चोपकाराय भवति । अत्रेदं बोध्यम् "त्रया वै देवाः । वसवोरुद्रा आदित्याः । तेषां विभक्तानि सवनानि । वसूनामेवप्रातःसवनम् । रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम् । आदित्यानां तृतीयं सवनम्" । शतपथ कां० ४ । "गायत्री वै प्रातःसवनं वहति । त्रिष्टुप् माध्यन्दिनं सवनम् । जगती तृतीयसवनम्" । शतपथ कां० ४ । अ० २ ॥ त्रिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् । तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः । अथैतान्यग्नि भक्तीनि । अयं लोकः । प्रातःसवनम् । वसन्तः । गायत्री त्रिवृत् स्तोमः । रथन्तरं साम । ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमेस्थाने । अग्नायी, पृथिवी, इळा इतिस्त्रिय इत्यादि ॥ ८ ॥ अथैतानीन्द्रभक्तीनि । अन्तरिक्ष लोकः । मध्यन्दिनं सवनम् ग्रीष्मः । त्रिष्टुप् पञ्चदशः स्तोमः । बृहत् साम । ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने । याश्चस्त्रियः । इत्यादि ॥ ९ ॥ अथैतान्यादित्यभक्तीनि । असौलोकः । तृतीय सवनम् । वर्षाः । जगती सप्तदशः स्तोमः । वैरूपं साम । ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने । याश्चस्त्रियः इत्यादि ॥ १० ॥ निरुक्ते

दैवते १ । इत्येवं विधैः प्रमाणैः सवनत्रयं सिद्ध्यति । सर्वेषां सन्निवेशोऽप्येतस्मिन्नेव । एवञ्च । प्रातःसवन मध्यन्दिन तृतीयसवन त्रयेण पृथिव्यन्तरिक्ष द्युलोकत्रयी लक्ष्यते तत्स्थानाः पदार्थाश्चापि ॥ १ ॥

अनुवादः-ब्रह्म (वेद) वादी कहते हैं कि प्रातःसवन वसुओं[3] के उपकारार्थ, माध्यन्दिन सवन रुद्रों[3] के उपकारार्थ और तृतीय सवन आदित्य[3] और विश्वेदेव[3] के उपकारार्थ हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(ब्रह्मवादी) वेदविद् (वदन्ति) कहते हैं कि (यद्) जो (प्रातःसवनम्) प्रातःकालिक यज्ञक्रियाजनित फल है (वसूनाम्) वह पृथिवी और पृथिवीस्थ पदार्थों के उपकारार्थ होता है (माध्यन्दिनम्) जो माध्यन्दिन सम्बन्धी यज्ञक्रिया जनितफल है (रुद्राणाम्) वह अन्तरिक्षस्थ वायु और वायुस्थमेघ जल आदि पदार्थों के उपकारार्थ होता है (तृतीय सवनम्) और जो तृतीय सवन जनित फल है (आदित्यानाञ्च) वह द्युस्थ सूर्य आदि और (विश्वेषाम्+च) पूर्वोक्त से अवशिष्ट सकल (देवानाम्) देवों के उपकारार्थ होता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः-यहां ऐसा जानना चाहिये "त्रयो वा देवाः" तीन ही देव हैं । वसु, रुद्र, आदित्य । उनके सवन विभक्त हैं । वसुओं का प्रातःसवन, रुद्रों का माध्यन्दिनसवन, और आदित्यों का तृतीय सवन है । प्रातःसवन को विशेषतया गायत्रीछन्द, माध्यन्दिन सवन को त्रिष्टुप् छन्द और तृतीयसवन को जगती छन्द निर्वाहित करते हैं (तिस्र एव देवताः) तीन ही देवता होते हैं, यह प्रथम ही कह चुके हैं । अब उनके आश्रितों का वर्णन करते हैं । अग्न्याश्रित ये हैं-यह पृथिवी लोक । प्रातःसवन । वसन्त ऋतु । गायत्री छन्द । त्रिवृत् स्तोम (स्तोत्र विशेष) । रथन्तर साम और जो देवगण प्रथम स्थान में कहे हैं (अर्थात् इस पृथिवी के आश्रित जितने पदार्थ हैं) और अग्नायी, पृथिवी, इळा ये तीन शक्तियां (विशेषकर ऊष्म जन्तूत्पादिका शक्ति का नाम अग्नायी । उद्भिज्ज पदार्थोत्पादिका शक्ति का पृथिवी और इन दोनों को छोड़ सर्व पदार्थोत्पादिका शक्ति का नाम इळा है) वायु से सम्बन्ध रखने वाले-अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्मऋतु, त्रिष्टुप्

---

(१) ब्रह्मवादी=ब्रह्म नाम वेद का भी है, वेद के तत्त्व जानने वाले को ब्रह्मवादी कहते हैं । (२) सवन=यज्ञ । (३) वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेव का अर्थ भाष्याशय में देखो ।

छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहन्नामक साम और जो देवता मध्यम स्थान में कहे गये हैं और तत्काल सम्बन्धिनी शक्तिएं। आदित्य से सम्बन्ध रखने वाले, द्युलोक, तृतीय सवन, वर्षा-ऋतु, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूप नाम के साम और जो देवता द्युलोकस्थान में विशेषतया कहे गये हैं और इन की शक्तिएं। इस प्रकार के प्रमाणों से तृतीय सवन की सिद्धि होती है। इन्हीं सवनों में सबका सन्निवेश भी कहा गया है। इस हेतु तीनों सवनों से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का ग्रहण है और इनके आश्रितों का भी ॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान् कुर्यात् ॥ २ ॥

क्व । तर्हि । यजमानस्य । लोकः । इति । सः । यः । तम् । न । विद्यात् । कथम् । कुर्यात् । अथ । विद्वान् । कुर्यात् ॥ २ ॥

भाष्यम्—क्वेति। पूर्वं वर्णनेन वसु-प्रभृतीनामेवोपकारो दर्शितः। न यजमानस्य। तदेतत् प्रश्नरूपेणाह। तर्हि। ईदृश्यामवस्थायां सत्याम्। वसु-प्रभृतिषु एव। यज्ञेन उपकृतषु सत्सु। यजमानस्य। अनुष्ठानकर्त्तुः। क्व। कस्मिन् लोके। लोकः। यज्ञकर्मजनितफलं। मिलिष्यति तेषु लोकेषु तेषां वसु-प्रभृतीनामधिकारात् कथमन्यान् यज्ञफल-भोक्तुम् समायातान् स्वस्मिन् २ राज्ये निवासयिष्यन्ति। सर्वः स्वार्थं समीहत इति न्यायात् इतिप्रश्नः। अस्योत्तरमग्रे तृतीयस्मान्मन्त्रात् कथयिष्यति। स यो यजमानः। तं लोकं यज्ञ-जनितफलम्। न। नहि। विद्यात्। जानीयात् स कथं। कर्म कुर्यात्। तस्य यज्ञानुष्ठानं न कर्त्तव्यमिति। अथ। यदि च विद्वान्। तं लोकम् जानन् सन् यजमानो विद्यते। तर्हि। कर्म कुर्यात्। अनुतिष्ठेत। अन्यथा न कुर्यादित्यर्थः। कदाचित् कश्चिदनभिज्ञोऽशास्त्रीयबुद्धिः पुरुषः शङ्केत। यदस्यास्त्रिलोक्या अधिष्ठातारस्त्रयश्चेतना देवाः सन्ति। तस्याः सम्राजोऽपि त एव। तर्हि कथमेते इतरान् यज्ञानुष्ठातॄन् स्वेषु साम्राज्येषु स्थातुमनुमस्यन्ते ईदृश्येव व्यवस्थाचेत् तर्हि न यजमानेन कोऽपि लोकः फलत्वेन प्राप्तः स्यात्। कथं तर्हि यजमानो यजेत। अत्र ब्रूमः। यथेह इमां पृथिवीमनुशासन्तं न केचिच्चेतना देवा मनोरथमात्रकल्पिता वज्रहस्ता इतरस्माल्लोकादागत्य घ्नन्ति। अस्मात्स्थानान्निःकाशयितुं प्रयतन्ते वा तथैवेतर-योर्लोकयोरपि व्यवस्थया भवितव्यम्। यथेह पृथिव्यां सर्वे देवा पृथिवी-जलमग्निवृक्षा वनस्पतय इत्येतदादयः सर्वे जड़ाः सन्ति। मयैवोपभोज्या न ममविघ्नमुत्पादयन्ति। न चैतदधिकारिणः। एवमेवान्तरिक्षे द्युलोके च विद्युद्वायुर्मेघः। चन्द्रमाः सूर्यो नक्षत्राणि इत्येवं प्रभृतयः सर्वे पदार्थाः प्रायः जड़ाः सन्ति। ते स्वेच्छया किमपि-

विधातुं न शक्नुवन्ति एवञ्च यथेमे चेतना मनुष्याः पशवः पक्षिणः सरीसृपाश्चेत्यादयः स्व स्व कर्माणि भुञ्जानाः परस्परभिन्नाः सन्ति तथैव तत्रापि भवेयुः । अतो न कुत्रापि कापि चिन्ता । तथापि बालबुद्धिसंतोषार्थं कर्मणि प्रवृत्त्यर्थञ्च प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामारभ्यतेऽयं खण्डः ॥ २ ॥

अनुवादः—तब यजमान को यज्ञ करने का फल कहां मिलेगा ? जो कोई उस को न जाने वह कैसे कर्म करे (अर्थात् अज्ञानी यजमान को कर्म करना उचित नहीं) यदि जानता हो तो कर्म करे ॥ २ ॥

पदार्थः—(तर्हि) तब (यजमानस्य) यज्ञानुष्ठान करने वाले को (क) कहां पर (लोकः) यज्ञजनित फल मिलेगा वा प्राप्त होगा (इति) (सः यः) सो जो कोई यजमान (तम्) उस यज्ञ-कर्म-जनित फल को (न+विद्यात्) न जानता हो तब (कथम्) कैसे (कुर्यात्) कर्म करे अर्थात् जो यजमान अपने यज्ञ के फल को नहीं जानता हो उसे कर्म करना उचित नहीं (अथ) यदि (विद्वान्) अपने यज्ञ-जनित फल को जानता हुआ यजमान हो तो (कुर्यात्) कर्म करे ॥ २ ॥

भाष्याशयः—कदाचित् किसी अनभिज्ञ और अशास्त्रीय बुद्धिवाले पुरुष को शङ्का उत्पन्न हो कि इन तीनों लोकों के अधिष्ठाता तीन देव हैं और वे ही उन के स्वामी भी हैं । तब अपने राज्यों में दूसरों को कैसे रहने देवेंगे । यदि ऐसी अवस्था है तो यजमान को कोई लोक मिलने वाला नहीं । पुनः वह यजन क्यों करे । उत्तर—इसका उत्तर तो सहज है कि यजमान अपने नेत्रों से देखता है कि मैं इस पृथिवी का स्वामी हूं मुझ को कोई भी देवता वा देवी विघ्न नहीं करते हैं वैसी ही अवशिष्ट दोनों लोकों की भी दशा होगी । जैसे इस पृथ्वीपर के सब देव देवी, जल, अग्नि, वृक्ष, वनस्पति आदि सर्वथा जड़ ही हैं वे कुछ भी अधिकार नहीं दिखला सकते । वैसे ही एतद्व्यतिरिक्त लोकों में भी विद्युत्, वायु, मेघ, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र आदि भी जड़ हैं वे कुछ भी किसी को नहीं कर सकते एवं जैसे यहां के चेतन पुरुष, पशु, पक्षी आदि न तो कर्मफल दे सकते हैं और न ले सकते हैं तद्वत् अन्य लोकों के चेतन पुरुष भी उभय कर्म में असमर्थ हैं । अतः ऐसी शङ्का करनी ही निष्फल है । तथापि सर्वसाधारण को सुबोध होने के वास्ते प्रश्न और प्रतिवचन के द्वारा इस विषय को ऋषि विस्पष्ट करते हैं ॥ २ ॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति ॥ ३ ॥

पुरा । प्रातरनुवाकस्य । उपाकरणात् । जघनेन । गार्हपत्यस्य । उदङ्मुखः । उपविश्य । सः । वासवम् । साम । अभिगायति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—पुरेति । अनूच्यन्ते प्रशस्यन्ते ईश्वर विभूतयो येन सोऽनुवाकः । वैदिक स्तोमः । वैदिकस्तोत्रमित्यर्थः । प्रातः । प्रातःकाले पठनीयो योऽनुवाकः "अनु+वच्+घञ् कृत्वम्" समये समये वाचनाय सर्वेभ्यो वेदेभ्यो मन्त्राः समाह्रियन्ते । त एव स्तोम शस्त्रानुवाकादि नामभिर्वेदे कथ्यन्ते । तस्य प्रातरनुवाकस्य त्रयीविद्यातः समाहृतस्य प्रातःकाल पठनीयस्य स्तोमस्य । उपाकरणात् प्रारम्भात् । पुरा पूर्वम् । गार्हपत्यस्य गार्हपत्यनाम्नोऽग्नेः । गार्हपत्याग्निकुण्डस्य । जघनेन । पश्चात् भागेन । उदङ्मुखः । उत्तराभिमुख उपविश्य स यजमानः । वासवम् । वसूनाम् । पृथिव्याः पृथिव्याश्रितानाञ्चेश्वर इति वासवः । ईश्वरेऽर्थे प्रत्ययः । कः-स्विदेतेषामीश्वरः ? ब्रह्म एव । ततः वासवो देवतास्येति वासवं साम । उत्तरमन्त्रे एकवचन-प्रयोगाद् वासवो देवतास्येति वासवम् । न तु वसवो देवता अस्येति समासः कर्तव्यः । अभिगायति । अभितः परितोगायति विचारयति । किं विचारयेत् ? अहो कोऽस्माकं फलदाता । एतेऽचेतना दृश्यन्ते । यस्तु एतेष्ववस्थितश्चेतनः श्रूयते । स न दृग्गोचरः । श्रुतिः खलु तमेव फलदातृत्वेन निर्दिशति । फलं प्राप्स्यामो नवेत्येवंविधमन्यदपि सर्वं मनस्यवधार्य्य ईश्वर एव सर्वेषामधिष्ठाता । स एव फलदाता । स एव प्रभुः । न वसवः केप्यन्तरायकृतोवर्तन्ते । ते सर्वथा जड़ाः सन्ति । इति मनसि निश्चित्येश्वरं मनसाभिगम्य तमेव फलाय गायेत् वक्ष्यमाणेन साम्ना प्रार्थयेच्च ॥ ३ ॥

अनुवादः—प्रातरनुवाक नामक स्तोम के प्रारम्भ के पूर्व ही गार्हपत्याग्निकुण्ड के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान वासव (वस्विश्वर दैवत्य) साम को मन से विचारे ॥ ३ ॥

पदार्थः—(प्रातरनुवाकस्य) प्रातरनुवाक के (उपाकरणात्) प्रारम्भ से (पुरा) पूर्व (गार्हपत्यस्य) गार्हपत्याग्निकुण्ड के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (सः) वह यजमान (वासवम्) वासव (साम) सामको (अभिगायति) सर्वथा विचार करे ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—१—प्रातरनुवाक (प्रातः+अनुवाक) अनुवाक उस को कहते हैं जिसके द्वारा ईश्वर की विभूति प्रशंसित हो । स्तोम, शस्त्र, स्तोत्र, स्तव आदि भी उस के नाम हैं । ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चारों से समय २ के लिये मन्त्र एकत्रित

किये रहते हैं उन्हीं मन्त्रों से यज्ञसम्बन्धी क्रिया हुआ करती है । यह बात प्रसिद्ध ही है । प्रातःकाल में जो अनुवाक (स्तोम=स्तोत्र) पढ़े जाते हैं उन को प्रातरनुवाक कहते हैं । २-गार्हपत्य-गार्हपत्यकुण्ड के समीप जो प्रार्थना होती है वह प्रायः पृथिवीस्थ पदार्थों से सम्बन्ध रखती है । पृथिवीस्थ पदार्थों के अभ्युदय द्विपद चतुष्पद की निरोगिता और शस्यसम्पन्नता आदि की प्रार्थना गृहपति (यजमान) जहां करे उसे ही गार्हपत्य-कुण्ड कहते हैं । तीनों कुण्ड तीनों लोक सम्बन्धी होते हैं । जिस कारण गार्हपत्य कुण्ड एतत्लोक सम्बन्धी है, अतः उस के समीप में प्रार्थना की विधि कही गई है ॥ ३-वासव-पूर्व कह चुके हैं कि वसु नाम पृथिवी और पृथिवी के आश्रित वस्तुओं का है । वसुओं के ईश्वर को वासव कहते हैं और जिस मन्त्र का देवता वासव हो उसे भी वासव कहते हैं । वसुओं का ईश्वर कौन है ?, ब्रह्म ही है । दूसरा नहीं । वह ब्रह्म है देवता जिस का ऐसा जो साम वा कोई मन्त्र उसे वासव साम मन्त्र कहते हैं । यहां वासव पद विशेष कर इस कारण कहा है कि प्रातःकाल के हवन के भागी वसु होते हैं । वसु ही यहां के अधिपति वा अधिष्ठाता समझे जाते हैं परन्तु यथार्थ में ये वसु न कहीं के प्रभु वा ईश हैं क्योंकि ये जड़ पदार्थ हैं । इनका भी स्वामी कोई अन्य है । जो सब का स्वामी है । अतः यहां वसु के ईश्वर वासव से प्रार्थना की विधि कही गई है । उत्तर मन्त्र में एक वचन प्रयोग है इस कारण यहां "वासवो देवता अस्य इति वासवम्" ऐसा ही समास करना न कि "वसवः देवताः अस्येति वासवम् इति" यदि कोई कहे कि वासव देवता किसी मन्त्र का नहीं है । फिर वासवदैवत्य मन्त्र कहां से आवेगा ॥ उ०-वासव रौद्र और आदित्य शब्द यहां ईश्वर पर्य्याय है । ईश्वरकृत पृथिवीस्थ विभूति प्रदर्शक कोई मन्त्र हो वह सब ही वासव कहला सकता है । ४-अभिगायति-इसका यहां विचार से तात्पर्य है केवल चिल्लाने से नहीं ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयंरा ३३३३३ हुं३आ३३ जा३ यो३ आ३१११ इति ॥ ४ ॥

लोकद्वारम् । अपावार्णू । पश्येम । त्वा । वयम् । राज्याय ॥ ४ ॥

भाष्यम्-लोकद्वारमिति । इयं प्रार्थनास्ति । हे भगवन् ! । वसूनामीश्वर ! । सर्वाधिपते ! । लोकद्वारम् । आनन्दमयस्य कर्मजनितफलभूतस्य वा लोकस्य द्वारं । त्वम् । अपावार्णू अपावृणु । अपावृतम् । उद्घाटितम् । कुरु । येनद्वारेण । वयम् । यजमानाः । त्वां । कर्मफलोद्गमस्य । राज्याय । आनन्दराज्याय । पश्येम । अवलोकयेम । प्रार्थ्यसे अहरहोऽ-

स्माभिः कलुषितमानसैरेतदर्थमेव । आप्त्यैखलु लोकस्यानन्दमयस्य सुखस्वरूपस्य । यजामहे । भगवन् ! ऋते भगवदनुग्रहात् नहि कर्हिचिल्लभ्योभवेत् । भगवन् ! आनन्दमये रूपे त्वं प्रतितिष्ठसीति विविधवेदवाक्यबोधितजनितोत्कण्ठा वयमानन्दलोकमन्विष्याम: । तत्रैव कदाचन त्वं दृश्येथा । अङ्काङ्गीति सूचकाः सन्ति । सामवेदस्य स्तोभविधायकादारतन्त्रादि व्याकरणमस्ति । तदनुसारेणाक्षरव्यत्ययादि विज्ञेयम् ॥ १ ॥

अनुवादः–(हे भगवन् आप कृपाकर) लोकद्वार को उद्घाटित करें हम लोग आपको राज्य के लिये देखें ॥ ४ ॥

पदार्थः–(लोकद्वारम्) आनन्दमय वा कर्मजनित फलभूत जो लोक उस के द्वार को (अपावार्णू) खोलदेवें । (वयम्) यज्ञ करने वाले हम लोग (त्वा) तुम को (राज्याय) राज्यार्थ (पश्येम) देखें ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—हे भगवन् ! आनन्दमय सुखस्वरूप लोककी प्राप्ति के लिये ही हम यजन करते हैं । आपके अनुग्रह के विना कहीं भी वह लाभ लभ्य नहीं हो सकता । हे भगवन् ! "आनन्दमयरूप में आप प्रतिष्ठित हैं" इसको विविध वेदवाक्यों के द्वारा जान अति उत्कण्ठित हो आनन्दमय लोक का अन्वेषण करते हैं । वहां पर भी कदाचित् आप दृश्य होवें । इसी हेतु प्रतिदिन कलुषितमानस हम लोगों से आप प्रार्थित होते हैं ॥ ४ ॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

अथ । जुहोति । नमः । अग्नये । पृथिवीक्षिते । लोकक्षिते । लोकम् । मे । यजमानाय । विन्द । एषः । वै । यजमानस्य । लोकः । एतास्मि ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ । आर्थनानन्तरम् । वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण यजमानो गार्हपत्ये जुहोति । मन्त्रार्थः–पृथिव्यां क्षयति निवसतीति पृथिवीक्षित् । तस्मै । पृथिवीक्षिते । लोकक्षिते । पृथिव्यां तिष्ठन्नपि सर्वत्र सोऽस्तीति लोकक्षित इत्याह । लोकेषु । इतरेषु लोकेषु क्षयति निवसतीति । लोकक्षित् । न केवलं पृथिव्यामेव । तस्मै । अग्नये । अङ्गति । सर्वं जगदङ्गीकरोति । अवयवीकरोति । अवयववत्करोतीति यावत् । सोग्निः । यद्वा अङ्गति गच्छति । एककालावच्छेदेनैव सर्वत्र व्याप्नोतीत्यग्निः । सर्वाधिपतिः । तस्मै ब्रह्मणे नमः । पृथिवीपतिः । इतरलोकाधिपतिः । सर्वाधिपतिश्च स एवास्ति । इति क्रमेण मनसा-धारयितुं यजमानः शक्नुयादित्यर्थं विशेषणत्रयं विहितम् । सर्वव्यापक ईश्वरोऽस्तीत्यर्थः ।

तस्मै नमः । प्रह्वीभूता वयम् । तं प्रणामामः । हे भगवन् ! मे मह्यम् । यजमानाय । निमित्तम् लोकम् । आनन्दमयंलोकम् । त्वम् । विन्द । लभस्व । यद्वा । विन्देति अन्तर्भावितरायर्थः । वेदय प्रापय । एष वै । वै एवार्थः । एषएव । यजमानस्य मम लोको भविष्यति । अर्थात् हे भगवन् यं लोकं मदर्थं लप्स्यसे मह्यं त्वं दास्यसि । स एव मम लोको भविष्यति । तत्रैवाहम् । एतास्मि । गन्तास्मि । तमेव लोकंभवत्कृपया प्राप्स्यामि ॥ ५ ॥

अनुवादः–प्रार्थनानन्तर वह यजमान (गार्हपत्याग्नि में) हवन करता है । पृथिवीव्यापक, लोकव्यापक, सर्वव्यापक (ब्रह्म) को नमस्कार है (हे भगवन् !) मुझ यजमान के लिये लोक प्राप्त करो। यही मुझ यजमान का लोक (होगा) जिसको मैं प्राप्त करूंगा ॥ ५ ॥

पदार्थः–(अथ) प्रार्थना के अनन्तर (जुहोति) यजमान गार्हपत्य अग्नि में हवन करता है । आगे हवन करने का मन्त्र कहा गया है (पृथिवीक्षिते) पृथिवीव्यापी (लोकक्षिते) पृथिवीलोक के अतिरिक्त अन्य लोकव्यापी (अग्नये) सर्वव्यापी ब्रह्म को (नमः) मेरा नमस्कार प्राप्त होवे। हे भगवन् ! (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) आनन्दमय लोक को (विन्द) प्राप्त कीजिये। (एषः+वै) यही (यजमानस्य-) यजमान का (लोकः) यज्ञकर्मजनित फलस्वरूप आनन्दमय लोक होगा (एतास्मि) उस को मैं प्राप्त करूंगा । अर्थात् हे भगवन् ! जिस आनन्दमय लोक का प्रदान मेरे लिये आप करेंगे उसी को मैं प्राप्त कर सकूंगा ॥ ५ ॥

भाष्याशयः–पृथिवीक्षित् । क्षित्=निवास करने वाला । पृथिवी पर निवास करने वाले को पृथिवीक्षित् कहते हैं । अर्थात् पृथिवी व्यापक ब्रह्म । क्या वह केवल पृथिवी में ही व्यापक है अन्य लोक में नहीं ? इस शङ्का के निवारण के लिये "लोकक्षिते" कहा गया है । अर्थात् सब लोक में व्यापक है । क्या केवल लोकों में व्यापक है अन्यत्र नहीं ? अतः आगे कहते हैं । अग्नि=वह सर्वव्यापक है । यद्यपि लोकपद से सब का ग्रहण होगया तथापि विस्पष्टार्थ अग्नि विशेषण है (अङ्गति०) जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अवयववत् बनावे उसे अग्नि कहते हैं । यद्वा जो एक ही काल में सर्वत्र व्याप्त हो उसे अग्नि कहते हैं। पृथिवीक्षित, लोकक्षित् और अग्नि ये तीन विशेषण इस कारण हैं कि यजमान को मन से क्रमपूर्वक ध्यान करने में सुगमता हो । प्रथम ईश्वर पृथिवी के अधिपति और व्यापक है इसे ध्यान में लावे और पृथिवी पर ईश्वरीय विभूति देखे । अनन्तर सर्व लोकस्थ ईश्वरीय ऐश्वर्य देखे । तत्पश्चात् बाहर भीतर उसकी महान् महिमा को मन में लावे ॥ इति ॥ ५ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्यु-क्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

अत्र । यजमानः । परस्तात् । आयुषः । स्वाहा । अपजहि । परिघम् । इति । उक्त्वा । उत्तिष्ठति । तस्मै । वसवः । प्रातःसवनम् । संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अत्रेति । आयुषः । जीवनस्य । परस्तात् । ऊर्ध्वम् । मृतःसन्नित्यर्थः । अत्र । अस्मिन् लोके । आनन्दमये लोके । अहं यजमानो निवसेयमित्यध्याहार्यम् । भवत्कृपयेति यावत् । स्वाहा शब्दो होमद्योतकः । अथवा सुष्ठु आह ब्रवीति जनोयस्यां क्रियायामिति स्वाहा । अयमर्थः । येन कर्मानुष्ठानेन इतरोऽपि सर्वो जनः प्रसन्नः सन् सुष्ठु आह ब्रवीति कथयति । अहो साध्विदमनुतिष्ठति । सर्वो हि स्तौति पुरुषमिमम् । इत्येवं विधैरुच्चावचैर्वाक्यैः साधु २ आह कथयति । तत्स्वाहा । आनन्दं प्राप्तुं येन समर्थो भवेयम् तथा भगवानेव आशिषं ददात्विति प्रार्थये । हे भगवन् ! परिघम् । अर्गलम् । आनन्दलोकद्वारनिवारकम् । अविद्यारूपमन्धकारम् । अपजहि । अपनय । दूरीकुरु । इतीश्वरं प्रार्थयेत यजमानः । तत्पश्चात् । इत्युक्त्वा । इत्थमीश्वरं प्रार्थ्य यजमानः । तस्मात्स्थानाद् । उत्तिष्ठति । तस्मै यजमानाय । इत्थं मनसा सम्यग् ध्यातवते । वसवः पृथिवी, पृथिव्याश्रिताः पदार्थाश्च । प्रातःसवनम् । प्रातःसवनजनित-कर्मफलं प्रयच्छन्ति । ददति दर्शयन्ति । ननु वसूनां जड़त्वात् कथं फलदातृत्वं मन्यते । यथा—इदं क्षेत्रं सुखं ददाति । अनेन पुस्तकेन ब्रह्म दर्शितम् । इयं नदी मां सर्वथा ईश्वराभिमुखीनं करोति । इत्येवं विधा भवन्ति खलु अचेतनेष्वपि चेतनवत्प्रयोगाः । तथैवात्रापि विज्ञेयम् । भूयो भूयोमननेन एतैरेव भूमिस्थैः पदार्थैः सहायकैरुपासको विजानाति यदस्तिकोऽप्येतेषामपि अदृश्यश्चालकः । स एव फलदाता । नैतेषु कापि स्वतन्त्रा स्वकीया चेतनाशक्तिरस्ति । या मम प्रतिबन्धिकीभूता विघ्नमाचरेत् ॥ ६ ॥

अनुवादः—आयु के शेष होने के अनन्तर इस (आनन्दमय लोक में) मैं यजमान वास कर सकूं हे भगवन् ! ऐसा आशीर्वाद मुझे दे । परिघ को दूर कर । इस प्रकार प्रार्थना कर यजमान वहां से उठे । पश्चात् यजमान को वसु प्रातःकालिक यज्ञकर्मजनित फल देते हैं ॥ ६ ॥

पदार्थः—(आयुषः) आयुर्दा=जीवन के (परस्तात्) पीछे अर्थात् मरण के अनन्तर (अत्र) इस आनन्दमय लोक में (यजमानः) मैं यजमान वास कर सकूं (स्वाहा)

हे भगवन् ! ऐसा आशीर्वाद दे। हे भगवन् ! (परिघम्) अर्गल अर्थात् आनन्दमय लोक-द्वार का निवारक। आनन्दरूप सुख की निवारिका अविद्या को (अपजहि) दूर करो ताकि तुम को मैं देख सकूं (इत्युक्त्वा) ऐसी प्रार्थना कर (उत्तिष्ठति) यजमान वहां से उठ जाय। तब (वसवः) पृथिवी और पृथिवीस्थ पदार्थ (प्रातःसवनम्) प्रातःकालिकयज्ञजनित फल (तस्मै) उस ध्यानशील और मननशील यजमान को (प्रयच्छन्ति) देते हैं ॥ ६ ॥

भाष्याशयः–स्वाहा–सु+आह शब्द से वेद में स्वाहा बनता है । (सु=सुन्दर शोभन (आह=कहना । जिस क्रिया के करने से सब कोई अच्छा ही कहे कोई भी बुरा न कहे उसे स्वाहा कहते हैं (सर्वोजनः सुष्ठु आह) देखो यह कैसा उत्तम कर्म करता है। सब कोई इसे अच्छा ही कहते हैं। जिस कारण वैदिककर्म सर्वोत्तम है अतः यज्ञकाल में स्वाहा शब्द का प्रयोग करते हैं (तस्मैवसवः) यहां शङ्का होती है कि वसुओं को आप जड़ मानते हैं तब ये वसु "प्रातःकालिक यज्ञकर्मजनित फल दे देते हैं" यह आप कैसे कह सकते हैं। उपनिषद् को भी ऐसा कहना उचित नहीं था। उत्तर–यह खेत मुझ को सुख देता है। इस पुस्तक ने मुझे ब्रह्मदर्शन करवाया। इस ग्रन्थ ने मुझे बड़ा ही आनन्द दिया। यह नदी सर्वदा मुझ को ईश्वराभिमुख करती है इस प्रकार के प्रयोग अचेतन में भी चेतनवत् होते हैं। वैसा ही यहां भी जानना। वारम्वार मनन करने से इन्हीं भूमिस्थ पदार्थों की सहायता से उपासक को विज्ञात होता है कि इनका चालक कोई चेतन विद्यमान है वही फलदाता है। इन में अपनी स्वतन्त्र कोई चेतन शक्ति नहीं है जो हम लोगों की क्रिया की प्रतिबन्धिका होकर विघ्न करे। ऐसा ज्ञान इन ही जड़ पदार्थ की गति स्थिति क्रिया के अवलोकन से होता है अतः वैसा प्रयोग यहां किया गया है ॥ ६ ॥

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥ ७ ॥

पुरा । माध्यन्दिनस्य । सवनस्य । उपाकरणात् । जघनेन । आग्नीध्रीयस्य । उदङ्मुखः । उपविश्य । सः । रौद्रम् । साम । अभिगायति ॥ ७ ॥

भाष्यम्–पुरेति । अहो यदि माध्यन्दिनस्य सवनस्येतरे केऽपि चेतना रुद्रनामानो देवाः फलभोक्तारो भवेयुः । किमर्थं तर्हि यजमानो यजेत । भवेयुर्नाम ते भोक्तारः । फलस्य जिज्ञासा यजमानस्य कर्त्तव्या । भोक्तारोऽपि सन्तो यदि तस्मै यजमानाय फलं दातुं समर्था-

श्चेत्तर्हि कथं व्यग्रेण भवितव्यम् । ननु भोः श्रूयन्ते ते रुद्रा अपि चेतना अन्तरिक्षस्याधिपतयः । कथं नाम स्वेष्वधिकारेषु इतरं निवासयेयुः । अतः संशेमहे । इमां शङ्कामपनेतुमुत्तरोग्रन्थः । माध्यन्दिनस्य सवनस्य यज्ञस्य । उपाकरणात्आरम्भात् । पुरा पूर्वम् । आग्नीध्रीयस्य अग्निमिन्धे यः सोऽग्नीदृत्विग् विशेषः । अग्नीधः स्थानमाग्नीध्रम् । शरणेरन् प्रत्ययः । तत्रस्थितत्वादृत्विगप्याग्नीध्र उच्यते । आग्नीध्रस्यायमग्नि राग्नीध्रीयः । दक्षिणाग्निरन्वाहार्यपचनश्चैतत्पर्यायः । यद्वा । आसमन्ताद्अग्नयोध्रियन्तेऽनेन आग्नीध्र आकाश ऋत्विग् च । आकाशपक्षे अन्तरिक्षस्था विद्युदादयः । ऋत्विक्पक्षे होमीयाग्नयोऽग्निपदेन ग्राह्याः । तस्येदमिति आग्नीध्रीयम् तस्याग्नीध्रीयस्य दक्षिणाग्निकुण्डस्य । जघनेन पश्चात् । उदङ्मुख उत्तराभिमुखः । उपविश्य स्थित्वा । स यजमानः । रौद्रं रुद्राणामीश्वरो रौद्रः । कःस्विदेतेषामीश्वरः ? ब्रह्मएव । रौद्रो देवतास्येति रौद्रम् । ईश्वर दैवत्यमित्यर्थः । साम सामगानम् । अभिगायति अभिध्यायेत् । अभितः सर्वतः सम्यग् विचारयेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

अनुवादः—माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ के पूर्व आग्नीध्रीयकुण्ड के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान रुद्रेश्वरदैवत्य साम का विचार करे ॥ ७ ॥

पदार्थः-(माध्यन्दिनस्य+सवनस्य) माध्यन्दिन यज्ञकर्म के (उपाकरणात्) प्रारम्भ से (पुरा) पूर्व ही (आग्नीध्रीयस्य) दक्षिणाग्नि कुण्ड के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठकर (सः) वह यजमान (रौद्रम्) रौद्र (साम) सामगान को (अभिगायति) अच्छे प्रकार विचारे ॥ ७ ॥

भाष्याशयः—पूर्व शङ्काकी निवृत्ति से ही तत्सदृश सकल शङ्का की निवृत्ति होचुकी तथापि पुनः २ दृढ़ता के लिये इसका आरम्भ होता है । पूर्व में कहा गया है कि माध्यन्दिनसवनकर्मजनितफलभोक्ता रुद्र हैं और उनके ही उपकारार्थ यह सवन है । तब सन्देह होता है कि यदि माध्यन्दिनसवन के फलभोक्ता कोई रुद्रनामधारी इतर चेतन देव हैं तो यजमान क्यों यज्ञ करे । यदि कहो कि यजमान को फल की जिज्ञासा करनी चाहिये न कि फलभोक्ता की यदि फलभोक्ता होने पर भी यजमान को फल देने में वे समर्थ हों तो क्योंकर व्यग्र होना चाहिये । सुना जाता है कि वे रुद्र चेतन देव हैं और अन्तरिक्ष के अधिपति हैं । यदि ऐसी दशा है तो अपने राज्य में अन्य पुरुष को क्यों रहने देवेंगे अतः संशय होता है । इस शङ्का को दूर करने के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ है । यजमान को उचित है कि विचारे कि मेरा कोई साक्षात् प्रतिबन्धक है वा नहीं ? किस प्रकार से विचार करे सो आगे कहते हैं । आग्नीध्रीय—अग्नि को जो ऋत्विक् प्रज्वलित करे उसको

संस्कृत में "अग्नीत्" कहते हैं और "अग्नीत्" के स्थान का नाम आग्नीध्र है और अग्नीत् को भी आग्नीध्र कहते हैं। अर्थात् अग्नीत् और आग्नीध्र ये दोनों एकार्थक भी हैं आग्नीध्र वा अग्नीत् जिस में हवन आदि क्रिया करें उस अग्नि का नाम आग्नीध्रीय होता है इसी को दक्षिणाग्नि और अन्वाहार्यपचन भी कहते हैं। यद्वा अग्नियों को जो अच्छे प्रकार धारण करे उसे आग्नीध्र कहते हैं अर्थात् आकाश और ऋत्विक्। विद्युत् आदि अग्नि आकाश में धृत हैं अतः आकाश और ऋत्विक् होमीय अग्नि को स्थापन करते हैं अतः इन दोनों को आग्नीध्र कह सकते हैं। एतत् सम्बन्धी जो हो वह आग्नीध्रीय। अन्तरिक्षस्थ विज्ञान कौशल विभूति आदि के ज्ञानार्थ जो अध्ययनरूप महायज्ञ है उसका नाम माध्यन्दिनयज्ञ है। इन सबों का यन्त्रागार अध्ययन के पदार्थ जिन में रहें उसे आग्नीध्रीयशाला कहनी चाहिये। रौद्र-अन्तरिक्षस्थ विद्युत् आदि अग्निशक्ति का नाम रुद्र है। रुद्र के अधीश्वर जो ब्रह्म उसे रौद्र कहते हैं। रौद्र जिस मन्त्र का देवता हो उसे भी रौद्र कहते हैं ॥ ७ ॥

लो३कद्वारमपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हुं ३ आ३३ज्या३यो३आ ३२१११ इति ॥ ८ ॥

लोकद्वारम्। अपावार्णू। पश्येम। त्वा। वयम्। वैराज्याय ॥ ८ ॥

भाष्यम्-लोकद्वारमिति। इयं प्रार्थनास्ति। हे भगवन्! रुद्राणामधिपते! सर्वस्वामिन्! लोकद्वारम् आनन्दलोकस्य कर्मजनितफलरूपस्य वा लोकस्य द्वारम्। त्वम्। अपावार्णू। अपावृणु। उद्घाटय। येन द्वारेण। त्वा। त्वां वयं सर्वे यजमाना वैराज्याय। महते आनन्दमयाय राज्याय। पश्येम। अवलोकयेम ॥ ८ ॥

अनुवादः-(हे भगवन्! आप कृपाकर) लोकद्वार को उद्घाटित करें। हम लोग आप को साम्राज्य के लिये देखें ॥ ८ ॥

पदार्थः-हे भगवन्! रुद्राधिपते! हे सर्वस्वामिन्! (लोकद्वारम्) आनन्दमय लोक कर्मजनितफलस्वरूप जो लोक उस के द्वार को (अपावार्णू) खोलदेवें। (वयम्) यज्ञकर्म करने वाले हम यजमान लोग (त्वा) आपको (वैराज्याय) महा आनन्दस्वरूप साम्राज्य की प्राप्ति के हेतु (पश्येम) अनुभव करें ॥ ८ ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

अथ । जुहोति । नमः । वायवे । अन्तरिक्षक्षिते । लोकक्षिते । लोकम् । मे । यजमानाय । विन्द । एषः । वै । यजमानस्य । लोकः । एतास्मि ॥ ६ ॥

भाष्यम्–अथेति । अन्तरिक्षक्षिते । अन्तरिक्षे लोके क्षयति निवसति यः सोऽन्तरिक्षक्षित् । अन्तरिक्षव्यापीत्यर्थः । तस्मै । इतरत्राविद्यमानतायामीश्वरस्य शङ्का माभूदिति लोकक्षित इत्याह । लोकेषु । इतरेष्वपि लोकेषु क्षयति । निवसति यः स लोकक्षित् । सर्वव्यापीत्यर्थः । तस्मै । वायवे । प्राणभूताय । ब्रह्मणे । नमः । प्रह्वीभूता वयं तं प्रणमामइत्यर्थः । हे भगवन् ! मे मह्यं यजमानाय । लोकम् । आनन्दकरम् । निवासस्थानम् । विन्द । लभस्व । देहीति यावत् । एष वै । एषएव । त्वया प्रदत्त एव लोकः मम यजमानस्य भविष्यति । यत्राहमेतास्मि । गन्तास्मि । गमिष्यामि । प्राप्स्यामीत्यर्थः । इति पठित्वा यजमानो जुहोति ॥ ६ ॥

अनुवादः–प्रार्थनानन्तर "यजमान आग्नीध्रीय कुण्ड में" हवन करता है । अन्तरिक्षव्यापी, सर्वलोकव्यापी, प्राणस्वरूप ब्रह्म के प्रति नमस्कार होवे । हे ब्रह्मन् ! मुझ यजमान के लिये आनन्दलोक प्राप्त कीजिये । यही मुझ यजमान का लोक होगा जिसको मैं प्राप्त करूंगा ॥ ६ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (जुहोति) यजमान आग्नीध्रीय कुण्ड में होम करता है । होम का मन्त्र आगे कहते हैं (अन्तरिक्षक्षिते) अन्तरिक्ष में व्यापक (लोकक्षिते) अन्तरिक्ष के अतिरिक्त लोकों में व्यापक (वायवे) प्राणस्वरूप ब्रह्म को (नमः) नमस्कार हो (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) आनन्द लोक वा कर्मजनित लोक (विन्द) हे भगवन् ! आप प्राप्त करें (एष वै) यही अर्थात् आप की कृपा से प्रदत्त (लोकः) लोक (यजमानस्य) मुझ यजमान का होगा (एतास्मि) जिस को आप प्रदान करेंगे । उसी को प्राप्त करूंगा ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—अन्तरिक्षक्षित्–(अन्तरिक्ष+क्षित्) भूलोक और द्युलोक के मध्य भाग को अन्तरिक्ष कहते हैं यह प्राचीन लोगों की परिभाषा है । क्षित्=निवास करनेवाला । अर्थात् अन्तरिक्ष में निवास करनेवाला । अन्यत्र ईश्वर की विद्यमानता में शङ्का न हो इस हेतु कहते हैं कि लोकक्षित्=अन्य लोकलोकान्तर में भी वह निवास करता है । केवल निवास ही नहीं करता है किन्तु (वायु) प्राण को जिलाने वाला वही है । आगे प्रार्थना है कि हे भगवन् ! यद्यपि आपकी आज्ञारूप वेद के उपदेश के अनुसार वैदिक क्रिया करता हूं तथापि भवत्कृपा विना कुछ नहीं हो सकता है । अतः आप कृपा करके मेरे हेतु आनन्दलोक प्राप्त कीजिये । इत्यादि ॥ ६ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ सम्प्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

अत्र। यजमानः। परस्तात्। आयुषः। स्वाहा। अपजहि। परिघम्। इति। उक्त्वा। उत्तिष्ठति। तस्मै। रुद्राः। माध्यन्दिनम्। सवनम्। संप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

भाष्यम्--अत्रेति। आयुषः। जीवनस्य परस्तात्। पश्चात्। मरणानन्तरमित्यर्थः। स यजमानोऽहं। अत्र त्वया प्रदत्तेऽस्मिंल्लोके सुखेन निवसेयमिति। स्वाहा। आशीर्वादं त्वं देहि। हे भगवन्! परिघम्। अर्गलम्। आवरणम् अविद्यारूपम् अपजहि। अपनय। दूरीकुरु। अयमाशयः। माध्यन्दिनस्य सवनस्य फलं रुद्राः प्राप्नुवन्ति त एव चान्तरिक्षस्य स्वामिनः। एते चेतना देवता मम विघ्नमाचरिष्यन्ति। तस्मात्स्थानान्निःसारयिष्यन्ति इत्येवंविधां शङ्कां सर्वथा उच्छिन्धि। भगवतो वै सर्वत्राधिपत्यं भगवान् वाव चेतनः। सर्वेषां फलदाता त्वमेवेदृग् बोधो येन ममान्तःकरणे समुत्पद्येत तत्कुरु। इति प्रार्थयेत तत्पश्चात्। इतिपूर्वोक्तम्वाक्यम्। उक्त्वा। उत्तिष्ठति। उत्तिष्ठेत्। तस्मै। एवंविदे यजमानाय। रुद्राः। अन्तरिक्षस्था वायुविद्युदादयः पदार्थाः। माध्यन्दिनसवनम् माध्यन्दिनस्य सवनस्य तत्त्वं संप्रयच्छन्ति दर्शयन्ति। एवंकृतनिदिध्यासनो यजमानो माध्यन्दिन सवनस्य तात्पर्यं वेदितुं शक्नोतीत्यर्थः। रुद्रा इत्यत्र क्षेत्रं मे सुखं ददाति। इदं पुस्तकं मा ब्रह्म दर्शयति इत्यादिवदचेतनेष्वपि चेतनवत् प्रयोगा भवन्तीति पूर्ववद्विज्ञेयम् ॥ १० ॥

अनुवादः--आयु शेष के अनन्तर इस आनन्दमय लोक में मैं निवास कर सकूं हे भगवन्! ऐसा आशीर्वाद दे (अविद्यारूप) अर्गल को दूर कर। इस प्रकार प्रार्थना कर यजमान वहां से उठ जाय। उस यजमान को रुद्र माध्यन्दिन के फल को दे देते हैं ॥१०॥

पदार्थः--(आयुषः) आयुर्दा के (परस्तात्) शेष होने के अनन्तर (यजमानः) यज्ञकर्त्ता मैं यजमान (अत्र) आप से प्रदत्त इस आनन्दमय लोक में निवास कर सकूं (स्वाहा) ऐसा आशीर्वाद दे। हे भगवन्! (परिघम्) अविद्यारूप अर्गल को (अपजहि) दूर करो (इति) इस प्रकार (उक्त्वा) प्रार्थना करके (उत्तिष्ठति) यजमान वहां से उठ जाय (तस्मै) इस प्रकार मनन निदिध्यासन करने वाले यजमान को (रुद्राः) अन्तरिक्षस्थ वायु विद्युदादि पदार्थ (माध्यन्दिनम्+सवनम्) माध्यन्दिनसवन का फल (संप्रयच्छन्ति) दे देते हैं ॥ १० ॥

भाष्याशयः-स्वाहा शब्दार्थ षष्ठ मन्त्र में देखो । परिघ=कपाट की अर्गला (रोकने वाला दण्डविशेष) को परिघ कहते हैं । इसका भाव है कि माध्यन्दिनसवन के फल को रुद्र प्राप्त करते हैं वे ही अन्तरिक्ष के स्वामी हैं । ये देवता मेरा विघ्न करेंगे । उस स्थान से मुझ को निकाल देवेंगे हे परमेश्वर ! इस प्रकार की सकल शङ्काओं को मेरे अन्तःकरण से दूर करो । आप का ही सर्वत्र आधिपत्य है । आप ही एक चेतन देवता हैं। आप ही सब के फलों के दाता हैं । इदृग् बोध हमको जिस प्रकार हो सो करो । मनुष्यों के अन्तःकरण में विविध शङ्काएं होती हैं " संशयात्मा विनश्यति" संशयात्मा पुरुष शीघ्र नष्ट हो जाता है । क्योंकि किसी विषय में चित्त स्थिर न होने के कारण किसी कर्म में प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती । और यहां जो अविद्या सहित संशय है उसी का नाम इस प्रकरण में परिघ है। रुद्र । जैसे यह क्षेत्र मुझे सुख देता है । यह पुस्तक मुझ को ब्रह्म दिखलाता है इत्यादि अचेतन विषय में भी चेतनवत् प्रयोग देखते हैं तद्वत् अचेतन रुद्र में भी चेतनवत् प्रयोग जानना ॥ १० ॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाऽऽहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥ ११ ॥

पुरा । तृतीयसवनस्य । उपाकरणात् । जघनेन । आहवनीयस्य । उदङ्मुखः । उपविश्य । सः । आदित्यम् । सः । वैश्वदेवम् । साम । अभिगायति ॥ ११ ॥

भाष्यम्-पुरेति । तृतीयसवनस्य । सायन्तनस्य यज्ञस्य उपाकरणात् । प्रारम्भात् । पुरा । पूर्वम् । आहवनीयस्याग्नेः । तदग्निकुण्डस्य । जघनेन । पश्चात् । उदङ्मुखः । उत्तराभिमुखः । उपविश्य । स यजमानः । आदित्यम् । आदित्या द्युस्थाः पदार्थाः । आदित्यानामीश्वरोपि आदित्यः । आदित्यानामीश्वरः कश्चिद्भिन्नः सर्वेश्वरादाहोस्वित् स एव । स एव । न कश्चिद्भिन्नः । आदित्य आदित्येश्वरो देवता अस्येति आदित्यम् । पुनः । वैश्वदेवम् । विश्वान् देवान् व्याप्नोतीति वैश्वदेवः । ब्रह्म । वैश्वदेवो देवता अस्येति वैश्वदेवम् । ईश्वरदैवत्यमित्यर्थः । साम । सामगानं । सः । यजमानः । अभिगायति । सम्यग्विचारयेदित्यर्थः । तृतीय आहवनीयः कुण्डो भवति । तस्य ह द्युलोकस्थैः पदार्थैः सह सम्बन्धोस्ति । द्युलोकस्य सर्वाणि मानचित्राणि मानपटाः, सूर्यादीनां परिमाणम्, तत्सम्बन्धि ग्रन्थादयश्च, तत्सम्बन्धि विविध यन्त्राणि च तस्मिन्नेवागारे स्थाप्यन्ते । अतस्तद्गत्वा सर्वाणि समवेतानि वस्तूनि

अवलोक्याधीत्य चादित्यलोकस्य तत्त्वानि सर्वाण्यनुसन्धेयानि । अत एवाहवनीयकुण्डस्य सामीप्यगमनम् । तत्र मननम्, प्रार्थनं, स्तुतिराहुतिश्च विधीयते । अथ यज्ञोऽनुष्ठेयः । यदि सर्वाणि तत्त्वानि नावबुध्येरन् । तर्हि न कदाचन सवनं प्रवर्त्तयितव्यमिति पूर्वमेव ध्वनितमिदं स इति द्विरभ्यासो दृढार्थः ॥ ११ ॥

अनुवादः-तृतीय सवन के प्रारम्भ के पूर्व ही आहवनीयकुण्ड के पश्चात् भाग में उत्तराभिमुख बैठ कर वह यजमान आदित्य और वैश्वदेव साम को अच्छे प्रकार विचारे ॥ ११ ॥

पदार्थः-(तृतीय सवनस्य) तृतीय सवन के (उपाकरणात्) आरम्भ से (पुरा) पूर्व ही (आहवनीयस्य) आहवनीय कुण्ड के (जघनेन) पीछे (उदङ्मुखः) उत्तराभिमुख (उपविश्य) बैठ कर (सः) वह यजमान (आदित्यम्) आदित्येश्वरदैवत्य और (सः) पुनः वह यजमान (वैश्वदेवम्) वैश्वदेव (साम) साम गान को (अभिगायति) अच्छे प्रकार मन से विचारे ॥ ११ ॥

भाष्याशयः-आदित्य-सूर्य आदि जो द्युस्थ पदार्थ उसे यहां आदित्य कहते हैं आदित्य के ईश्वर अर्थात् चालक को भी आदित्य कहते हैं क्योंकि व्याकरण के अनुसार आदित्य शब्द से ईश्वर अर्थ में प्रत्यय होने पर "आदित्य" ही बना रहेगा । और आदित्य है देवता जिस सामगान का वह साम भी "आदित्य" कहलाता है व्युत्पत्ति सं० भा० में देखो । वैश्वदेव-विश्व=सकल, देवों में जो व्यापक हो उसे वैश्वदेव कहते हैं । अन्य सब आदित्यवत् जानना । आहवनीय-आहवनीय तृतीय कुण्ड है । उसका द्युलोकस्थ पदार्थों के साथ सम्बन्ध है । द्युलोक के सम्पूर्ण मानचित्र, मानपट, सूर्य का परिमाण तत्सम्बन्धी ग्रन्थादि, तत्सम्बन्धी विविध यन्त्रादि इसी आगार में स्थापित रहता है । इसलिये इस आगार में जाकर सम्पूर्ण समवेत वस्तुओं को देख और पढ़ आदित्य लोक के सम्पूर्ण तत्त्वों का अनुसन्धान करे । इसी कारण आहवनीयकुण्ड के समीप गमन, मनन, प्रार्थना, स्तुति और आहुति का विधान है । तब यज्ञ का अनुष्ठान करे । यदि सम्पूर्ण तत्त्वों को न जान सके तो कदापि भी सवन का आरम्भ न करे । यह विषय पूर्व में ही दिखलाया गया है ॥ ११ ॥

लो३क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ स्वारा ३३३३३ हुं ३ आ३३ जा ३ यो३ आ ३२१११ इति ॥ १२ ॥

लोकद्वारम् । अपावार्णू । पश्येम । त्वा । वयम् । स्वाराज्याय । इति ॥१२॥

भाष्यम्–लोकद्वारमिति । हे प्रकाशमय देव ! । लोकद्वारम् । अपावार्णू । अपावृणु । अपनय । येन । वयम् । सर्वे यजमानाः । त्वा । त्वाम् । स्वाराज्याय । सुखमयलोकाय पश्येम ॥ १२ ॥

अनुवादः–(हे प्रकाशमय देव) लोकद्वार को उद्घाटित करें । हम (यजमान) आप को स्वाराज्यार्थ देखें ॥ १२ ॥

पदार्थः–(लोकद्वारम्) आनन्दमय वा कर्मजनितफलभूत लोक के द्वार को (अपावार्णू) उद्घाटित प्रकाशित करो (वयम्) यज्ञ करने वाले हम यजमान (त्वा) आपको (स्वाराज्याय) परमसुखमय राज्यप्राप्ति के लिये (पश्येम) देखें ॥ १२ ॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपा३ा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ साम्रा ३३३३३ हुं ३३ जा ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १३ ॥

आदित्यम् । अथ । वैश्वदेवम् । लोकद्वारम् । अपावार्णू । पश्येम । त्वा । वयम् । साम्राज्याय ॥ १३ ॥

भाष्यम्–आदित्यमिति । हे भगवन् ! लोकद्वारम् । सर्वेषाम् । लोकानाम् । द्वारम् । अपावार्णू । अपावृणु । उद्घाट्य । अयं भावोस्ति । सर्वेषु दृश्यादृश्यलोकेषु या तव विस्तीर्णा महती कीर्तिरस्ति । तामहं सम्यङ् न पश्यामि न जानामि अतस्त्वां प्रार्थये सार्वलौकिकीं विद्यां देहि ममान्तःकरणपटलादविद्याजालमपनय । येन अपावृतेन । आदित्यम् । आसमन्तात् सर्वतो द्योतमानम् । अथपुनः । वैश्वदेवम् । विश्वान् सर्वान् देवान् । सूर्यादीन् व्याप्नोतीति वैश्वदेवः । तम् । ईदृशम् । त्वाम् । साम्राज्याय । परमसुखाय । पश्येम । अवलोकयेम ॥१३॥

अनुवादः–हे भगवन् ! सम्पूर्ण लोक के द्वार को उद्घाटित करो । जिस से सर्वत्र द्योतमान और सब देवों में व्यापक आप को हम यजमान साम्राज्य की प्राप्ति के हेतु देख सकें ॥ १३ ॥

पदार्थः–हे भगवन् ! आप कृपा कर (लोकद्वारम्) सम्पूर्ण लोक लोकान्तर के द्वार को (अपावार्णू) उद्घाटित करो अर्थात् खोल दो जिस से (आदित्यम्) सर्वत्र द्योतमान भासमान (अथ) और (वैश्वदेवम्) सब देवों के देव वा सब देवों में व्यापक (त्वा) आप को (वयम्) हम (पश्येम) साक्षात् कर सकें ॥ १३ ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥ १४ ॥

अथ । जुहोति । नमः । आदित्येभ्यः । च । विश्वेभ्यः । च । देवेभ्यः । दिविक्षिद्भ्यः । लोकक्षिद्भ्यः । लोकम् । मे । यजमानाय । विन्दत ॥ १४ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथ । प्रार्थनानन्तरम् । वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण । यजमानः । जुहोति । मन्त्रार्थः । आदित्येभ्यः । आसमन्ताद् द्योतमानेभ्यः सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः । इति सामान्योक्तिः । नमः । हुतानि द्रव्याणि प्राप्नुवन्तु । यद्वा । आदित्येभ्यो द्वादशभ्यो मासेभ्यो नमः सम्वत्सरस्यैत आदित्याः । अस्याप्ययंभावः ममहुतद्रव्यानुप्रवेशेन सर्वमासस्था व्रीहि-यव-गोधूम-लताद्या पुष्टिं लभेरन् । जंगमाश्चनीरूजो भवेयुः । अस्य यज्ञस्य प्रभाव एकवर्षान्न्यूनो न कदापि भूयादिति आशास्महे । विश्वेभ्यश्च देवेभ्यः सकलेभ्यो विद्वद्भ्यो नमः । मया प्रदत्तानि अन्न-द्रव्यादीनि वस्तूनि प्राप्नुवन्तु । इत्यपि सामान्योक्तिः । अथ विशेषोक्तिः । दिविक्षिद्भ्यः । द्युलोकस्थेभ्यः । लोक क्षिद्भ्य इतरलोकस्थेभ्यः । सर्वेभ्यो नमः । मया प्रदत्तानि अन्नानि प्राप्नुवन्तु । मे । मह्यम् । यजमानाय । दानं दत्तवते । लोकम् । सुखलोकम् । विन्दत । लभध्वम् । सर्वेषामनुग्रहेण । अहम् । सुखी भवेयम् । इत्याशासे ॥ १४ ॥

अनुवाद:- प्रार्थना के अनन्तर यजमान हवन करे । आदित्य, विश्वेदेव, दिविक्षित् और लोकक्षित् पदार्थों को मेरे दिये हुए सुगन्धादि पदार्थ प्राप्त हों । मुझ यजमान के लिये आप लोग आनन्दलोक की प्राप्ति करें ॥ १४ ॥

पदार्थः-(अथ) प्रार्थना के अनन्तर (जुहोति) यजमान हवन करता है (आदित्येभ्यः+च) आदित्यों को (नमः) अग्नि में दिये हुए द्रव्य प्राप्त होवे (विश्वेभ्यः+च+देवेभ्यः) सम्पूर्ण देवों को (दिविक्षिद्भ्यः) द्युलोकस्थ जीवों को (लोकक्षिद्भ्यः) द्युलोक के अतिरिक्त लोकनिवासियों को (नमः) यज्ञभाग प्राप्त होवे (मे) मुझ (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) आनन्दमय वा यज्ञकर्मजनितफलस्वरूप लोक को (विन्दत) प्राप्त कीजिये ॥ १४ ॥

भाष्याशयः-आदित्य-प्राचीन भाषा में सम्पूर्ण पदार्थ का नाम आदित्य है । देव शब्द जैसे अनेक अर्थ का और कभी २ सम्पूर्ण पदार्थ का द्योतक होता है तद्वत् । यद्वा वर्ष के द्वादशमासों का एक नाम आदित्य है । इस का भी यहां अभिप्राय यह है कि मुझ से आहुत द्रव्य के अनुप्रवेश से सकल मासस्थ व्रीहि, यव, गोधूम, लता आदि पदार्थ पुष्टि

को प्राप्त होवें अर्थात् इस यज्ञ का प्रभाव एक वर्ष से न्यून कदापि न रहे यह आशा करते हैं। विश्वेदेव-आदित्य पद स्थावर का और विश्वेदेव जंगम का यहां द्योतक है। इन दोनों शब्दों के द्वारा सामान्य रीति से वर्णन हुआ। दिविक्षित्-द्युलोकस्थ। यह प्रसङ्ग विशेष कर द्युलोक के लिये है। अतः दिविक्षित् कहा गया। लोकक्षित्। परन्तु केवल दिविक्षित् ही नहीं किन्तु इसके अतिरिक्त अन्यलोकनिवासी भी यज्ञ के फल प्राप्त करें। यह विशेषोक्ति है (नमः) इस का अर्थ यहां अन्न है। अर्थात् हुतद्रव्य सर्वों को प्राप्त होवें ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्यलोक एताऽस्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

एषः। वै। यजमानस्य। लोकः। एतास्मि। अत्र। यजमानः। परस्तात्। आयुषः। स्वाहा। अपहत। परिघम्। इति। उक्त्वा। उत्तिष्ठति ॥१५॥

भाष्यम्-एष इति। यजमानस्य मम। एष वै। एष एव। लोकः। मदर्थं यूयं यं लोकं लप्स्यध्वे स एव लोको मम भविष्यति। अत्र अस्मिन्। युष्माभिः प्रदत्ते लोके। एतास्मि। गन्तास्मि। प्राप्स्यामि। कदा। आयुषः। जीवनस्य। परस्तात्पश्चात् मृतःसन्नित्यर्थः। स्वाहा। अयं शब्दो होमक्रियाद्योतकः। यद्वा। भगवन्! मह्यं शोभनामाशिषं ब्रूहि देहि इति प्रार्थये। यूयम्। परिघम्। अर्गलम्। आगमिष्यन्तं विघ्नम् अपहत। अपनयत। इत्युक्त्वा यजमानः उत्तिष्ठति। अनयोर्द्वयोर्मन्त्रयोर्बहुवचनान्तक्रियया ईश्वरे च तदप्राप्तया। अन्ये देवाः प्रार्थ्यन्त इत्याशङ्का समुदेति। अचेतनत्वाद्देवानां कथं संगच्छते भवन्नये। अत्र चेतनत्वाचेतनत्वाविशेषेण कीर्तनाद् यथा संभवं योजनीयम्। प्रार्थनापरकयोरव्यवहितयोः पूर्वयोः श्लोकयोरेकवचनस्यैवसद्भावात्। इमौ न प्रार्थनापरकौ। केवलौ स्तुतिविधायकौ ॥ १५ ॥

अनुवादः-यही आनन्दमय लोक मुझ यजमान का होगा जिसको मैं प्राप्त करूंगा। इस आनन्दमय लोक में आयुष के शेष होने के अनन्तर आप की कृपा से मैं यजमान वास कर सकूं। यह आशीर्वाद मुझ को आप देवें। परिघ को दूर कीजिये। यह प्रार्थना कर यजमान वहां से उठजाय ॥ १५ ॥

पदार्थः-(यजमानस्य) मुझ यजमान का (एषः) यह (लोकः) आनन्दमय लोक (वै) निश्चितरूप से होगा जिस को आप लोगों की कृपा से (एतास्मि) प्राप्त करूंगा। हे भगवन्! तथा हे सकल विद्वानो! (यजमानः) मैं यजमान (आयुषः) आयुर्दा

के (परस्तात्) पीछे अर्थात् मरण के अनन्तर (अत्र) इस आनन्दमय लोक में निवास कर सकूं (स्वाहा) ऐसा शोभन आशीर्वाद करो (परिघम्) अविद्यारूप अर्गल को (अपहत) दूर करो (इति) यह (उक्त्वा) प्रार्थना कर (उत्तिष्ठति) यजमान वहां से उठ जाय ॥ १५ ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयसवनꣳ सम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥१६॥

तस्मै । आदित्याः । च । विश्वे । च । देवाः । तृतीयसवनम् । संप्रयच्छन्ति । एषः । ह । वै । यज्ञस्य । मात्राम् । वेद । यः । एवम् । वेद । यः । एवम् । वेद ॥ १६ ॥

भाष्यम्-तस्मा इति । तस्मै । यजमानाय । आदित्याश्च । विश्वे च देवाः । तृतीयसवनम् । संप्रयच्छन्ति । तस्यतत्त्वं दर्शयन्ति । अयंभावः । तत् पदार्थमननेन विदुषाञ्च संगत्या तृतीयसवनस्याभिप्रायं जानाति । एष ह वै । एष एव किल । यज्ञस्यमात्रां यज्ञयाथात्म्यम् । वेद । जानाति । यो यजमानः । एवम् । पूर्वोक्तरीत्या वेद । जानाति । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था ॥ १६ ॥ इति चतुर्विंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

इति श्रीकाव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये द्वितीयप्रपाठकस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-उस यजमान को आदित्य और विश्वेदेव तृतीय सवन का फल देते हैं। यही (यजमान) यज्ञ के यथार्थता को जानता है । जो ऐसा जानता है जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

पदार्थः-(तस्मै) उस यजमान को (आदित्याः+च) आदित्य (विश्वे+च+देवाः) और सम्पूर्ण विद्वान् (तृतीयसवनम्) तृतीय सवनजनित कर्मफल को (संप्रयच्छन्ति) देते हैं अर्थात् उन आदित्यगत पदार्थों के मनन से और विद्वान् की सत्संगति से तृतीय सवन का मुख्य तात्पर्य विदित होजाता है (एषः+ह+वै) निश्चय यही यजमान (यज्ञस्य) यज्ञ के (मात्राम्) तत्त्व को (वेद) जानता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (यः+एवं+वेद) वास्तव में जो इस प्रकार जानता है ॥ १६ ॥ इति चतुर्विंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २४ ॥

इति श्रीकाव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये द्वितीयप्रपाठकस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

* ओ३म् *

अथ तृतीयः प्रपाठकः प्रारभ्यते ॥

असौ वा आदित्यो देवमधु । तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

असौ । वै । आदित्यः । देवमधु । तस्य । द्यौः । एव । तिरश्चीनवंशः । अन्तरिक्षम् । अपूपः । मरीचयः । पुत्राः ॥ १ ॥

भाष्यम्—असाविति । आदित्यः । आदित्योब्रह्म । कथम् ? आसमन्ताद्द्योतत इति वा । आदौ तनोतीति वा । यस्य दितिः खण्डो न विद्यत इति वा । आ सर्वत्र इत्यःस्तुत्यः पूज्यो वा । तुगागमश्च । वक्ष्यमाणव्याख्यायामीश्वरलिङ्गादादित्यशब्दोऽत्र ब्रह्मवचनः । असाविति । "इदमः प्रत्यक्षगतम् । समीपवर्तिचैतदोरूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्" । इतिविप्रकृष्टेऽदः प्रयोगःस्मर्य्यते । सर्वत्रसद्भाववदप्यज्ञानिभ्यः सुदूरमपसृतं तद्ब्रह्म । तद्यथा—"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्यबाह्यतः" । ईशे । सूक्ष्मतमत्वादज्ञेयत्वात् सर्वेषां विप्रकृष्टमेव । अतोऽदः शब्दप्रयुक्तिः (असौ वै) एष वै (आदित्यः) परमेश्वरः (देवमधु) देवानांमुक्तात्मनां मधु मदयते तर्पयति यत्तन्मधु । मधुवदानन्दप्रदः (तस्य) मधुनः (द्यौः) ब्रह्माण्डम् । सम्पूर्णं समष्टिरूपं दृश्यमानं जगदिदं द्यौरुच्यते । दीव्यति व्यवहरति ब्रह्म जीवो वाऽनयेति वा दीव्यति क्रीडति ब्रह्मास्यामिति वा । द्योत्यते प्रकाश्यतेब्रह्मानयेतिवेतिद्यौः (तिरश्चीनवंशः) तिरश्चीनश्चासौ वंशः । सम्पूर्णाद्यौः (ब्रह्माण्डम्) तिर्य्यग्गता वर्तते । मधुनः कोप्याधारो भवति । अस्यमधुनस्तिरश्चीनं ब्रह्माण्डमेव वंश इवाधारोऽस्ति । मधुमक्षिकाच्छत्रमाह (अन्तरिक्षम्) अन्तर्मध्ये ईक्ष्यते दृश्यते यत्तदन्तरिक्षम् । तदन्तरिक्षम् (अपूपः) मधुमक्षिकाच्छत्रम् । यतोऽन्तरिक्षं मधुच्छत्रमिवावलम्बितं दृश्यते । अतस्तस्यापूपत्वम् । अधिकारिण आह (मरीचयः पुत्राः) मरीचयो म्रियन्ते ये ते मरीचयः मृकणिभ्यामीचिः । उणा० ४ । ७० ॥ इति मृ+ईचिः । मर्त्या मनुष्या इत्यर्थः । पुत्रः । पुरु बहु त्रायन्ते रक्षन्तीतिपुत्राः पुनन्ति पवित्रयन्ति गृहमिति पुत्राः । पूरणेन

त्रायन्त इति पुत्राः। पुतः क्लेशात्त्रायन्त इति वा। वस्तुतः इहेश्वरतत्त्वं मनुष्या एव रक्षन्त्यतः पुत्रत्वम्। अमृतस्यपुत्रा इतिवेदेऽपि। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानितस्थुः। यजु० ११। ५। अमृतस्य ब्रह्मणः पुत्राः मनुष्या एव सन्ति। पुत्रा अधिकारिणः पातार इत्यर्थः। अस्य मधुनोऽधिकारिणो मनुष्या एव सन्ति। त एव ज्ञानेन देवत्वं प्राप्य तदमृतस्य मधुरूपस्याशिनोभवन्ति ॥ १ ॥

अनुवादः—निश्चय यह ब्रह्म ही मुक्तजीवों का मधु है। उसका ब्रह्माण्ड ही तिरश्चीन (टेढ़ा) वंश है। अन्तरिक्ष ही मधुमक्षिका का छत्र है और मरीचि (मनुष्य) लोग ही अधिकारी हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(वै) निश्चय (असौ) यह (आदित्यः) ब्रह्म (देवमधु) मुक्त जीवों का मधु है (तस्य) उस मधु ब्रह्म का (द्यौः+एव) ब्रह्माण्ड ही (तिरश्चीनवंशः) टेढ़ा वंश (मधु का आधाररूप वंश) है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष ही (अपूपः) मधुमक्षिका का छत्र है (मरीचयः) मर्त्य=मरणशील मनुष्य ही (पुत्राः) इसके अधिकारी हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः—असौ—प्रत्यक्ष अर्थ में "इदम्" समीपवर्ती अर्थ में "एतत्" विप्रकृष्ट (दूरस्थ) अर्थ में "अदस्" और परोक्षार्थ में "तत्" शब्द प्रयुक्त होता हैं। इस नियम के अनुसार अदस् शब्द विप्रकृष्ट अर्थ में आता है। ईश्वर बहुत ही सूक्ष्म है अतः अज्ञेय है। अतएव सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी अज्ञानियों से वह ब्रह्म बहुत दूर है। अतः "अदस्" शब्द का ब्रह्म में भी प्रयोग होना अनुचित नहीं। वेद भी कहता है (तदेजति०) इससे उसका दूर और समीप रहना दोनों ही सिद्ध होते हैं। यह प्रसिद्ध है। आदित्य—यह नाम ब्रह्म का है क्योंकि (आसमन्ताद्द्योतते) जो चारों तरफ भासित है वह आदित्य। यद्वा (आदौ तनोतीति) सृष्टि की आदि में नामरूप से सृष्टि का विस्तार जो करता है वह आदित्य। यद्वा (यस्य दितिः खण्डो न विद्यते) जिसका खण्ड न हो वह आदित्य। यद्वा (आसमन्ताद् इत्यः स्तुत्यः पूज्यः) जो सर्वत्र पूज्य है वह आदित्य। ये सब गुण ईश्वर में ही घटते हैं। और वक्ष्यमाण वर्णन में भी ईश्वर लिङ्ग कथन से आदित्य नाम ईश्वर का है। देवमधु—देवनाम यहां मुक्तपुरुषों का है। इनका मधुवत् प्रिय ईश्वर ही है। द्यौः—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नाम द्यौः है। क्योंकि (दीव्यति व्यवहरति अनया०) इसी ब्रह्माण्ड के द्वारा ही ईश्वर वा जीव सब अपना व्यवहार करता है। यद्वा (दीव्यति क्रीड़ति अस्याम्) इस जगत् को रच इसी में वह क्रीड़ा करता है। यद्वा (द्योत्यते०) जिसके द्वारा उसका प्रकाश हो। सृष्टि के द्वारा ही उसका प्रकाश होता है। इन कारणों से

सृष्टि का नाम द्यौः है यही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मधु का वंशाधारवत् एक प्रकार आधार है। मरीचयः—मृ धातु से मरीचि शब्द की सिद्धि है अतः मर्त्य और मरीचि एकार्थक हैं, मनुष्यमात्र का नाम यहां मरीचि है । पुत्र—बहुत जो रक्षा करे उसे पुत्र कहते हैं (पुनन्ति०) जो गृह को पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं । (पुतः क्लेशात्त्रायते) क्लेश से रक्षा करे उसे पुत्र कहते हैं । इत्यादि पुत्र शब्द का अर्थ है । यहां पुत्र शब्द से अधिकारी का ग्रहण है । जैसे माता पिता के धन का अधिकारी पुत्र होता है वैसे ही विज्ञानी पुरुष ईश्वरीय तत्त्व के अधिकारी हैं वेद भी कहता है (शृण्वन्तु विश्वे) (अमृतस्यपुत्राः) हे अमृतस्वरूप ब्रह्म के पुत्र अधिकारियो (विश्वे) सब कोई तुम लोग (शृण्वन्तु) सुनो कौन सब ? सो आगे कहते हैं (ये) जो मुक्त जीव लोग (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्थानों को (आतस्थुः) प्राप्त किये हुए हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य ईश्वर के पुत्र गिने-गये हैं । मुक्ति के अधिकारी ये ही हैं । अपूपः—यह अन्तरिक्ष लटका हुआसा प्रतीत होता है अतः मधुमक्षिकाछत्र के साथ इसकी उपमा दीगई है । इति ॥ १ ॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ऋचएव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥

तस्य । ये । प्राञ्चः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । प्राच्यः । मधुनाड्यः । ऋचः । एव । मधुकृतः । ऋग्वेदः । एव । पुष्पम् । ताः । अमृताः । आपः । ताः । वै । एताः । ऋचः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तस्येति । तस्यादित्यस्य ब्रह्मणः । ये प्राञ्चोरश्मयः । प्रकर्षेण अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति सर्वत्र । ये ते प्राञ्चः। रश्मयः अश्नुवन्ति व्याप्नुवन्तीतिरश्मयः। तेजांसि ज्ञानानि वा । सूर्य्यकिरणवद् विस्तृता ब्रह्मणोयेरश्मयो ज्ञानानि सन्ति। ता एव। विधेयप्राधान्यात्स्त्रीत्वम् । ते रश्मय एव अस्य मधुनः । प्राच्यो व्यापिन्यः पूर्वदिग्स्था वा । मधुनाड्यो मधुनोनाड्य इव नाड्यश्छुद्रगृहा इवविद्यन्ते । तेजोसि तेजोमयिधेहि इति वेदाः । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । ज्योतिर्मयो हि शुभ्रः । इत्यादीनिप्रमाणानि ब्रह्मणो ज्योतिष्मत्वं विज्ञापयन्ति। सति ज्योतिष्मत्त्वे रश्मिप्रभृतीन्यपि संभवन्ति। यद्यपि सूर्यादिवन्नेदं ब्रह्म ज्योतिष्मत्। तथापि तस्यैव ज्योतिषा सर्वं ज्योतिष्मद्

यस्तु प्रकाशत इति श्रुतिशतैः सिद्धे किमपि विलक्षणोमविज्ञेयं स्वानुरूपं स्वानुगम्यं तेजोऽस्तीति विज्ञायते। अतोरूपकत्वेन तस्मिन् रश्मि-प्रभृतीनां वर्णनापि संगच्छते। ऋचो मधुकृतः भ्रमर्यः। कथमृचां मधुकृत्त्वम्। मधुरूपितस्य स्वयंभुवो ब्रह्मणः करणासंभवात्। सत्यम्। यद्यृचो नाभविष्यन्। ईश्वरस्य ज्ञानमपि नाभविष्यत्। सति चेश्वरे ऋचां सद्भाव इत्यन्योन्याश्रये दोषेपि पुरा ऋचां द्वारैवेश्वरास्तित्वनिर्णये सिद्धे ऋचां सत्त्वे ब्रह्मप्रकाशः। अन्यथा ब्रह्मणोऽप्रकाशःस्यात्। अतः खलु ऋचएवेश्वरं कुर्वन्ति प्रकाशयन्तीत्यर्थः संगच्छते। ऋग्वेद एव पुष्पम्। ऋचां वेदो ज्ञानमेव पुष्पम् ऋचांवेद ऋग्वेदो नतु ऋगेववेदः ऋग्वेदः इति समासः। ता अमृता आपः। विधेयप्राधान्यात् स्त्रीत्वम्। तादृग्वेदरूपंपुष्पम्। अमृता आपः मधुनिर्वृत्यर्थमक्षयजलरसपरिपूर्णम्। ऋचां ज्ञानान्येवामृतानि। नहि सुरलोके मोक्षदशायां कल्पितान्यमृतानि कानिचिद् विद्यन्त इत्यर्थः। ता वा एता ऋचः एतमृग्वेदमभ्यतपन् इति उत्तरेण सम्बन्धः॥ २॥

अनुवादः-उस (आदित्य=ब्रह्म) के दिग्व्यापी वा पूर्वदिशागामी जो किरण समान ज्योति वा ज्ञान हैं वे ही इस मधु की प्राची मधुनाड़िएं हैं। ऋचाएं ही मधुकृत् (मधुबनानेवाली) भ्रमरिएं हैं। ऋचाओं का ज्ञान ही पुष्प है। वे अमृतजल हैं। निश्चय, वे ऋचाएं जब ऋग्वेद को मथती हैं॥ २॥

पदार्थः-(तस्य) उस ब्रह्मरूप मधु के (ये+प्राञ्चः+रश्मयः) जो सर्वत्र व्यापी वा पूर्व दिगुस्थ किरणवत् तेज वा ज्ञान हैं (ता एव) वे ही (अस्य) इस मधु की (प्राच्यः) प्राची=पूर्व दिगुस्थ (मधुनाड्यः) मधुनाड़िएं हैं (ऋचः+एव) ऋचाएं ही (मधुकृतः) ब्रह्मरूप मधु की बनाने वाली भ्रमरिएं हैं (ऋग्वेदः+एव) ऋचाओं का ज्ञान ही (पुष्पम्) पुष्प है (ताः+अमृताः+आपः) वे पुष्प अमृत जल हैं। अर्थात् वे अमृत रस पूर्ण हैं (ताः+वै+एताः+ऋचः) निश्चय उन ऋचाओं ने (एतम्) इस ऋचाओं के ज्ञानका मथन किया यह उत्तर प्रवाक से सम्बन्ध रखता है॥ २॥

भाष्याशयः-प्राञ्चः-(प्र अञ्चु गतिपूजनयोः) प्र अञ्चु धातु से प्राङ् शब्द बनता है। जिसका गमन प्रकृष्ट हो। अर्थात् जो सर्व पदार्थ सम्बन्धी हो उसे प्राङ् कहते हैं। पूर्व दिशा और पूर्व दिगुस्थ को भी प्राङ् कह सकते हैं। यहां आलङ्कारिक वर्णन है। रश्मयः-व्याप्त्यर्थ अशू धातु से रश्मि बनता है। यहां रश्मि नाम तेज और ज्ञान का है। तेजःस्वरूप ईश्वर का तेज वा ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है। इस कारण सर्वत्र गमन करने वाला वा पूर्व दिगुस्थ जो ईश्वरीय तेज वा ज्ञान है उसे प्राङ् रश्मि कहा है। पूर्व दिशा में व्याप्त किरण को भी प्राङ् रश्मि कहते हैं (तेजोसि०) हे ईश्वर तुम तेज हो मुझ-

में तेज धरो । यह वेद का प्रमाण है । वह शुभ्र और ज्योतियों का ज्योति है । भासित होते हुए उसी के पीछे सब भासित होता है । वह ज्योतिर्मयशुभ्र है । इत्यादि अनेक प्रमाण "ब्रह्म ज्योतिष्मान्" है यह सूचित करते हैं । ज्योतिष्मत्त्व सिद्ध होने पर किरण-प्रभृतियों का होना भी सम्भवित हैं । यद्यपि सूर्यादि समान यह ब्रह्म ज्योतिष्मान् नहीं तथापि उसी की ज्योति से सब ज्योतिष्मान् वस्तु प्रकाशित होती यह अनेक श्रुतियों से सिद्ध है । अतः उस में कुछ विलक्षण, अविज्ञेय, स्वानुरूप और स्वानुगम्य तेज है यह मालूम पड़ता है । इसलिये रूपक के द्वारा उस में किरण प्रभृति की वर्णना घटती है ।

ऋचः मधुकृतः–शङ्का–यहां ईश्वररूप ही मधु है । अन्य मक्षिकोत्पन्न मधु नहीं । तब ऋचाएं मधु बनाने वाली हैं । यह विषय कैसे हो सकता क्योंकि ईश्वर का बनाने वाला कोई नहीं है । वह स्वयम्भू कहलाता है । उत्तर–यदि सृष्टि की आदि में ऋग्वेदादि न दिये जाते तो ईश्वर का ज्ञान कैसे होता । ऋग्वेदादि के ही कारण ईश्वर का ज्ञान मनुष्य को हुआ है अतः ऋचाएं ईश्वर का प्रकाशक समझी जाती हैं नकि यथार्थ बनाने वालीं । यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ही नहीं रहता तो वेद ही कहां से आता । ठीक है । यहां अन्योन्याश्रय दोष आता है । अर्थात् प्रथम ईश्वर हो तब उससे वेद और वेद जब हो तब ही ईश्वरज्ञान हो सकता है अर्थात् वेद विना ईश्वर का ज्ञान नहीं और ईश्वर विना वेद का प्रकाश नहीं । इसमें कौन किसके प्रकाश करने वाला कहा जा सकता है ? इस में सन्देह नहीं कि ईश्वर ने वेद दिया वा प्रकाश किया । अतः वेद का कर्त्ता अवश्य ईश्वर कहलावेगा । ईश्वर का कर्त्ता वेद नहीं हो सकता । परन्तु इस अंश में ईश्वर का प्रकाशक वेद हो सकता है यदि वेद प्रथम नहीं रहता तो ईश्वर का बोध भी नहीं होता । ईश्वर का बोध वेद ने करवाया अतः ईश्वर का प्रकाशक वेद है । यहां (कृ) धातु का अर्थ गौण लेना चाहिये । अर्थात् वेद का यदि अभाव होता तो ईश्वर का प्रकाश ही असंभव था । महर्षि व्यासदेव ने योगशास्त्र के भाष्य में इस विषय को विस्पष्ट रूप से कहा है । यथाः—

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिकः । उत्कर्षः–स किं सनिमित्तः ? आहोस्विन्निर्निमित्तः ? इति । तस्य शास्त्रं शास्त्रं पुनः किं निमित्तं ? एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः ॥

इस का भाव–कोई आशङ्का करता है (योऽसौ०) जो यह पूर्वोक्त ईश्वर में विशुद्धसत्त्वमय चित्त के ग्रहण द्वारा सर्वोत्कृष्टता निरूपण की है (स किं सनिमित्तः) सो यह उत्कृ-

एता सन्निमित्त सप्रमाणक (आहोस्वित्) अथवा (निर्निमित्तः) निष्प्रमाणक है। यदि सप्रमाणक है तो वह प्रमाण कौन है और यदि प्रमाण रहित है तो माननीय कैसे ? (तस्यशास्त्रम्, शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम्) यदि कहा जाय कि श्रुतिस्मृति आदि शास्त्र ही ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण है तो यह सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष वा अनुमान से अनुभव किये हुए पदार्थ का प्रतिपादक जो वाक्यविशेष सोई शास्त्र कहा जाता है और ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता किसी को प्रत्यक्ष नहीं है। अतः शास्त्र भी प्रमाण नहीं हो सकता है, यदि यह कहो कि भ्रमप्रमादादि पुरुष निष्ठ दोष विरहित सर्वज्ञ ईश्वर का प्रत्यक्षभूत वेद ही ईश्वर की सर्वज्ञता में प्रमाण है तो यह भी अन्योन्याश्रय दोषग्रस्त होने से असमञ्जस ही है, क्योंकि प्रथम वेदरूप प्रमाण से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होय तो ईश्वरप्रणीत वेद प्रमाण होय। और वेद में प्रामाण्य ज्ञान होय तो उस प्रमाण द्वारा ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होय। समाधान-(एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः ईश्वर सत्त्वे वर्त्तमानयोः अनादिः सम्बन्धः) यद्यपि अन्य कोई शास्त्र ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण नहीं हो सकता तथापि सर्वज्ञ ईश्वर प्रणीत वेद को उस में प्रमाण मानने में कोई बाधक नहीं। क्योंकि अन्य प्रमाण द्वारा ईश्वर को निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ सिद्ध होने से ईश्वर प्रणीत वेद की प्रमाणता स्वतःसिद्ध है। सो यह पूर्वोक्त सर्वज्ञादि रूप धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ये दोनों ही ईश्वर के विशुद्ध सत्त्व गुणमय चित्त में विद्यमान हैं और अनादि ही इन दोनों का परस्पर नित्य नैमित्तिक भाव सम्बन्ध है।

ऋग्वेदः-यहां वेद शब्द का अर्थ केवल ज्ञान है। ऋचाओं के अर्थों के वास्तविक और आन्तरिक तत्त्व का बोध होना ऋग्वेद कहलाता है (ऋचां वेदो ज्ञानं न तु ऋगेववेदः ऋग्वेद इति) ऐसा ही समास करना चाहिये। वेद के ज्ञानरूप पुष्प से ही ईश्वररूप मधु की रचना हृदयरूप वंश के ऊपर बनती है ॥ २ ॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेजइन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

एतम्। ऋग्वेदम्। अभ्यतपन्। तस्य। अभितप्तस्य। यशः। तेजः। इन्द्रियम्। वीर्यम्। अन्नाद्यम्। रसः। अजायत ॥ ३ ॥

भाष्यम्-एतमिति। पूर्वस्मिन् प्रवाके ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पमित्युक्तम्। सम्प्रति तस्य पुष्पस्य रसमाह। पूर्वस्मात्प्रवाकाच्चावा एता ऋच इति अध्याहृत्य। ता एता ऋच एव भ्रमर्यः। वै निश्चयेन। ऋग्वेदम् ऋचां वेदं ज्ञानमेव पुष्पम्। अभ्यतपन् अभि-

तपन्ति । अभितः सर्वतोरसयन्ति तस्माद्रसमुद्धरन्तीत्यर्थः । यदार्चः स्वज्ञानं जिज्ञासुभ्यः प्रकाशयन्ति तदा तस्याभितप्तस्य ऋग्वेदस्य पुष्पस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियमैश्वर्यम् । वीर्यम् अन्नाद्यम् । खाद्यमन्नप्रभृति च । रस अजायत जायते । अत्रसम्बन्धविवक्षया पञ्चम्यर्थे षष्ठी । कुसुमानांरसास्तु मधुत्वेन परिणमन्ति ऋग्वेदपुष्पानांरसास्तु जिज्ञासुभ्यो यशस्तेज आदित्वेन परिणता भवन्ति । अयंभावो यत् । यदा मुमुक्षुर्ऋचः सर्वाः सार्थका अधीत्य तासां परमार्थं ज्ञानं लभते । तदा तज्ज्ञानप्रभावात् स यशस्वीतेजस्व्यैश्वर्यवान् वीर्यवान् अन्नादिवाँश्च भवति । अपवर्गे ईश्वरीयज्ञानामृतमेव आनन्दरसमिव रसयन्तो योगिनस्तिष्ठन्ति । नान्यदप्याकाङ्क्षन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः–निश्चय, जब ऋचारूप भ्रमरिएं ऋग् सम्बन्धी ज्ञानरूप पुष्प को चारों तरफ से मन्थन करती हैं तब उस मथित ज्ञानरूप पुष्प से यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्य और खाद्यपदार्थादिरूप रस उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः–(एतम्+ऋग्वेदम्) इस ऋग् सम्बन्धी ज्ञानरूप पुष्प को जब (अभ्यतपन्) ये ऋचारूप भ्रमरिएं मन्थन करती हैं (तस्य+अभितप्तस्य) तब उस अभितप्त निर्मथित ऋग्ज्ञानरूप पुष्प से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य (वीर्य्यम्) पराक्रम (अन्नाद्यम्) खाद्य अन्न आदि रूप (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न होते हैं ॥३॥

भाष्याशयः–यहां ऋचाएं भ्रमरिएं मानी गई हैं और ऋग्ज्ञान पुष्प समान कहे गये हैं "ऋचारूप भ्रमरिएं ऋग्वेद ज्ञानरूप पुष्प को संतप्त करती हैं" इसका भाव यह है जब जिज्ञासु ऋचारूप साधन के साथ ऋग् ज्ञानरूप पुष्प के रस को अच्छी तरह से पान करते हैं तब ही मधुस्वरूप ब्रह्म को तत्त्वतः जानते हैं । फूलों के रस से जैसे मधु बनते हैं वैसे ही ऋग्वेदरूप पुष्प के रस, तेज, आदि जिज्ञासुओं के लिये होते हैं । मोक्षदशा में आनन्दरस समान ईश्वरीय ज्ञानामृत का आस्वादन करते हुए योगी रहते हैं और अन्य वस्तु की आकाङ्क्षा नहीं करते ॥ ३ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ॥ ४ ॥

तद् । व्यक्षरत् । तत् । आदित्यम् । अभितः । अश्रयत् । तद् । वै । एतद् । यद् । एतद् । आदित्यस्य । रोहितम् । रूपम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्–तदिति । सर्वेषां वस्तूनामन्ते ब्रह्मण्येवालयः । मधूपमस्यादित्यस्य किं महिमेति च दर्शयति । मुक्तात्मनो यशस्तेजआदिवस्तु व्यक्षरत् विशेषेण अक्षरत् । अगमत् ।

सर्वत्रव्याप्तोदित्यर्थः । व्याप्य चादित्यं ब्रह्मैवाभितः परितः । अश्रयत् । आश्रितवत् । सर्वेषां यशस्तेजआदीनां ब्रह्मणि एवान्ते पर्य्यवसानम् । अथ महिमानं दर्शयति । मुमुक्षुभिरिदमपि विज्ञेयम् । तद्वै एतत्तदेव वक्ष्यमाणम् । ब्रह्मणो मधूपमस्य रूपमस्ति महिमास्तीत्यर्थः नान्यद्-वयवादिदम् विज्ञेयम् । यच्चैतद्रूपं रोहितं रोपितं प्रकृतिषु संलग्नं विस्पष्टं दृश्यते । प्रकृतिषु यद्विभाति तदेव ब्रह्मविद्धि ॥ ४ ॥ इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यम् ॥ १ ॥

अनुवादः–मुक्त आत्मा की वह (यश तेज आदि वस्तु) सर्वत्र व्याप्त होती है । पुनः व्याप्त होकर उसी आदित्य के चारों तरफ आश्रित होती है । निश्चय ब्रह्म का वही यह रूप (महिमा) है जो प्रकृति में भी संलग्न विस्पष्ट अनुभव होता हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः–(तद्) वह (यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य आदि रस) (व्यक्षरद्) विशेषता के साथ सर्वत्र व्याप्त होता है पश्चात् व्याप्त होकर (आदित्यम्+अभितः) ब्रह्म के ही चारों तरफ (अश्रयत्) आश्रित होता है । अर्थात् अन्त में यश, तेज, आदि की ब्रह्म में ही परिसमाप्ति होती है और मुमुक्षुओं को यह भी जानना चाहिये कि (तद्वै+एतद्) वही यह (आदित्यस्य) ब्रह्म की (रूपम्) महिमा है (यत्+एतत्+रोहितम्) जो यह प्रकृति में रोहित अर्थात् स्पष्ट रीति से भासित होता है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः–पूर्व मन्त्र में यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य्य, अन्नादि वस्तु ऋग्वेदरूप पुष्प का रस कहा गया है और यही आदित्यरूप मधु का रस है । इस हेतु आदित्यरूप मधु का अन्यरूप नहीं यह भी जानना चाहिये कि यह एक अंश का वर्णन है । रोहित–यह शब्द यहां रंगवाचक नहीं किन्तु रोहितनाम रोपित, आरोपित, संलग्न आदि का है, यद्यपि इस प्रकरण में रोहित, शुक्ल, कृष्ण आदि शब्द रंगवाचक प्रतीत होता है परन्तु यह सब रंगवाचक नहीं, किन्तु गुणवाचक हैं । इनके अर्थ यथास्थान में देखना ॥ ४ ॥ इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अथ । ये । अस्य । दक्षिणाः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । दक्षिणाः । मधुनाड्यः । यजूंषि । एव । मधुकृतः । यजुर्वेदः । एव । पुष्पम् । ताः । अमृताः । आपः ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति । आदित्यवाच्यस्य ब्रह्मणः । ये दक्षिणा रश्मयः । ये दक्षिणा दक्षाः प्रवृद्धा दक्षिणादिग्भवा वा रश्मयः तेजांसि व्याप्तयो वा सन्ति । ता एव । अस्यमधुनः । दक्षिणा मधुनाड्यः । मधुच्छत्रे ये सच्छिद्रा गृहाइववदृश्यन्ते ता एवात्रमधुनाड्यो निगद्यन्ते । यजूंषि मधुकृतो भ्रमराः । यथा भ्रमरा मधु जनयन्ति तथैव यजूंषि ब्रह्माख्यं मधु प्रकाशयन्ति । यदि यजूंषि न स्युः । ईश्वरस्य ज्ञानमपि न स्यात् । मधुकुर्वन्तीति मधुकृतः । यजुर्वेद एव पुष्पम् । यजुषां यजुर्गणानां वेदो ज्ञानमिति यजुर्वेदः । नतु यजूंष्येववेदः । अत्र वेदोज्ञानार्थकः । यजुर्ज्ञानपुष्पादेव यजूंषि भ्रमरा इव ब्रह्म मधुप्रकाशयन्ति । ता अमृता आपः । विधेयप्राधान्यात् स्त्रीत्वम् तद्यजुर्वेदज्ञानमेव अमृतं जलमक्षयरसपूर्णमित्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवाद:–अनन्तर इस आदित्यवाच्य ब्रह्म के जो प्रवृद्ध वा दक्षिण दिगस्थ रश्मि (तेज वा व्याप्ति) हैं वे ही इस मधु की दक्षिण मधुनाड़िएं हैं । यजुर्गण ही मधुकृत् (भ्रमर=मधु बनाने वाले) हैं और यजुर्वेद ज्ञान ही पुष्प है, वह (यजुर्वेद ज्ञान) अमृत जल है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) और (अस्य) इस आदित्यवाच्य ब्रह्म के (ये) जो (दक्षिणाः) प्रवृद्ध वा दक्षिण दिशा में व्याप्त (रश्मयः) रश्मि अर्थात् तेज वा व्याप्ति हैं (ताः+एव) वे ही तेज वा व्याप्तिएं (अस्य) इस ब्रह्मरूप मधु की (दक्षिणाः+मधुनाड्यः) दक्षिण दिशा वाली मधुनाड़िएं हैं (यजूंषि+एव) यजुर्गण ही (मधुकृतः) भ्रमर अर्थात् मधु बनाने वाले हैं (यजुर्वेद एव) यजुर्गणों का ज्ञान ही (पुष्पम्) फूल है (ताः+अमृताः+आपः) वे फूल अमृत जलस्वरूप हैं ॥ १ ॥

भाष्याशय:–दक्षिणाः–दक्ष शब्द से दक्षिण शब्द बनता है । निपुण, चतुर, पटु आदि इसके पर्य्याय हैं बढ़े हुए का नाम दक्ष है और दक्षिण दिशा में जो होवे वह भी दक्षिण कहलाता है । रश्मि–नाम व्याप्ति वा तेज का है क्योंकि "अशू व्याप्तौ संघाते च" इस धातु से रश्मि सिद्ध होता है । मधुनाड्यः–मधु छत्र में जो सच्छिद्र गृह सदृश प्रतीत होते हैं वे मधुनाड़िएं हैं । यजूंषिमधुकृतः–जैसे मधुकर मधु को बनाते हैं वैसे ही यजुर्गण भक्तों के हृदय में ईश्वर का प्रकाश करते हैं अतः यजुर्गण भ्रमर समान हैं । यजुर्वेद–यजुर्गणों का वेद–ज्ञान ही पुष्प है और वही अमृत है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

तानि । वै । एतानि । यजूंषि । एतम् । यजुर्वेदम् । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियम् । वीर्यम् । अन्नाद्यम् । रसः । अजायत ॥ २ ॥

भाष्यम्—तानीति । तानि वै एतानि यजूंषि । यजुर्गणा भ्रमरा इव । एतं यजुर्वेदम् । यजुर्ज्ञानं पुष्पमिव । अभ्यतपन् । अभितपन्ति । अभितो रसयन्ति । अयंभावोस्ति । यदा साधकः । यजूंषि यजुर्ज्ञानेन समं संयोजयति । तदा तस्याभितप्तस्य निर्मथितस्य यजुर्वेदस्य सकाशाद् यशः । तेजः । इन्द्रियमैश्वर्यम् । वीर्य्यपराक्रमः । अन्नाद्यम् । अन्नं च तदद्यमन्नाद्यम् । भक्ष्यपदार्थः । रसः । अजायत जायते ॥ २ ॥

अनुवादः—निश्चय, जब वे ये यजुर्गणरूप भ्रमर इस यजुर्वेद के ज्ञानरूप पुष्प का आस्वादन करते हैं तब उस (यजुर्वेद ज्ञान) से यश, तेज, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः—(वै) निश्चय (तानि+एतानि) वे ये (यजूंषि) यजुर्गणरूप भ्रमर (एतम्+यजुर्वेदम्) इस यजुर्वेद के ज्ञानरूप पुष्प को (अभ्यतपन्) जब आस्वादन करते हैं तब (तस्य+अभितप्तस्य) उस आस्वादित यजुर्वेद के ज्ञान से (यशः) यश (तेजः) तेज (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य (वीर्यम्) वीर्य्य और (अन्नाद्यम्) खाद्य अन्न=भोग्य पदार्थरूप (रसः) रस (अजायत) उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भाष्याशयः–यहां "यजुर्वेद मन्त्र यजुर्वेद के ज्ञान को (अभितपन्ति) सब तरह से तप्त करते हैं" इसका भाव यह है कि जब साधक वा मुमुक्षु यजुर्वेद सम्बन्धी मन्त्रों को मथन करता है अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन आदि व्यापाररूप मथन पुनः २ करता रहता है तब उस साधक को यश आदि की प्राप्ति होती है । यहां ब्रह्म को मधु कहा गया है यह वर्णन पूर्व हो चुका है । वेद ही भ्रमर हैं और वेद के ज्ञान ही पुष्प हैं और इसी पुष्प के रस से ब्रह्मरूप मधुकी रचना होती है । क्योंकि वेद ज्ञान ही ईश्वर का प्रकाशक है । जैसे भ्रमर पुष्प के रस से एक २ विन्दु लेलेकर मधुछत्र पूर्ण रीति से बनाता है इसी प्रकार वेदविद्रूप भौंरे वेदज्ञानरूप एक २ पुष्प से ब्रह्म की पूर्णता की पूर्त्ति करते हैं । भाव यह है कि वेद के एक २ मन्त्र मानो एक २ पुष्प हैं । जब साधक एक २ मन्त्ररूप पुष्प को लेकर विचारते हैं तो ब्रह्मरूप मधु का एक २ अङ्ग हृदयरूप वंशाधार के ऊपर बनता जाता है जैसे एक मन्त्र से ईश्वर की सत्यता, दूसरे से अजरत्व, तीसरे से अमरत्व, चौथे से सर्वव्यापकत्व, पञ्चम से न्यायकारित्व इत्यादि बोध होते २ एक दिन ईश्वर का सम्पूर्णतया बोध हो जाता है । यही बोध होना मानो ईश्वर की रचना है ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

तद् । व्यक्षरत् । तद् । आदित्यम् । अभितः । अश्रयत् । तद् । वै । एतद् । यद् । एतद् । आदित्यस्य । शुक्लम् । रूपम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्–तदिति । तद्यशआद्यन्नाद्यरसान्तम् व्यक्षरत् । विशेषेणाक्षरद्गमद् व्याप्नोद्व्याप्नोतीत्यर्थः । व्याप्य च सर्वत्रावसान आदित्यम् । आदित्यवाच्यं ब्रह्म । अभितः परितोऽश्रयत् श्रयति आश्रयति । ब्रह्मण आगत्य तदेव सर्वं प्रविशतीत्यर्थः । तथा च महिमानमाह । तद्वै । तदेवैतदादित्यस्याखण्डानन्दस्य ब्रह्मणो रूपं महिमास्ति । यदेतत् प्रकृतिषु शुक्लं शुक्लवत् शुभ्रम् भासमानं तेजोदृश्यते सर्वत्र ॥ ३ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवादः–वह यश आदि वस्तु विशेषरूप से सर्वत्र व्याप्त होता है । व्याप्त होकर (अन्त में) उसी आदित्य के चारों तरफ आश्रित रहता है । वही यह ब्रह्म का रूप (महिमा) सर्वत्र है जो प्रकृति में शुक्लवत् भासमान हो रहा है ॥ ३ ॥

पदार्थः–साधक का (तद्) वह (यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य्य, अन्नाद्यरस) (व्यक्षरत्) सर्वत्र व्याप्त हो जाता है । व्याप्त होकर अन्त में (तत्) वह सब (आदित्यम्) ब्रह्म के ही (अभितः) चारों तरफ (अश्रयत्) आश्रित होता है (आगे ब्रह्म की महिमा कहते हैं) (तद्+वै) वही (एतद्) यह (आदित्यस्य) अखण्डस्वरूप ब्रह्म की (रूपम्) महिमा है (यत्+एतद्) जो यह (शुक्लम्) शुक्ल शुभ्र परमसौन्दर्य सर्वत्र प्रकृतिमध्य भासमान है ॥ ३ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अथ । ये । अस्य । प्रत्यञ्चः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । प्रतीच्यः । मधुनाड्यः । सामानि । एव । मधुकृतः । सामवेदः । एव । पुष्पम् । ताः । अमृताः । आपः ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति। अथान्यच्च। अस्यादित्यवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणः। ये प्रत्यञ्चो रश्मयः। प्रति। सर्वं प्रत्यञ्चन्ति गच्छन्ति ये ते प्रत्यञ्चः। पश्चिमदिग् व्यापिनो वा। रश्मयो व्याप्तयस्तेजांसि वा सन्ति। ता एवास्य। ब्रह्मरूपस्यास्यप्रसिद्धस्य मधुनः। प्रतीच्यो मधुनाड्यः। सामान्येव। साम गणा एव। मधुकृतो भ्रमराः। ब्रह्मणः प्रकाशकत्वात् साम्नां मधुकृत्त्वम्। सामवेद एव पुष्पम्। साम्नां ज्ञानमेव पुष्पम्। वेदशब्दो ज्ञानार्थकः। ता अमृता आपः। तज्ज्ञानममृतमित्यर्थः॥ १॥

अनुवादः–इस (आदित्यवाच्य ब्रह्म) के जो प्रत्येक व्यक्तिगत वा पश्चिम दिग्गत तेज वा व्याप्तिएं हैं वे ही ब्रह्मरूप मधु की प्रतीची मधुनाड़िएं हैं। साम ही मधुकृत् (भ्रमर) हैं सामज्ञान ही पुष्प है। वह अमृत जल है॥ १॥

पदार्थः–(अथ) और (अस्य) इस आदित्यवाच्य ब्रह्म के (ये) जो (प्रत्यञ्चः) सब पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले वा पश्चिम दिशा व्यापी (रश्मयः) रश्मि अर्थात् तेज वा व्याप्तिएं हैं (ताः+एव+अस्य) वे ही इस ब्रह्मरूप मधु की (प्रतीच्यः+मधुनाड्यः) प्रतीची मधुनाड़िएं (धारा) हैं (सामान्येव) सामगण ही (मधुकृतः) भ्रमर हैं (सामवेदः+एव+पुष्पम्) साम ज्ञान ही पुष्प है (ताः+अमृताः+आपः) वह अमृतस्वरूप जल है॥ १॥

तानि वा एतानि सामान्येतꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

तानि। वै। एतानि। सामानि। एतम्। सामवेदम्। अभ्यतपन्। तस्य। अभितप्तस्य। यशः। तेजः। इन्द्रियम्। वीर्यम्। अन्नाद्यम्। रसः। अजायत॥ २॥

भाष्यम्–तानीति। तानि वै एतानि सामानि सामगणा भ्रमरा इव। एतं सामवेदम्। साम्नां वेदो ज्ञानम्। तम्। नतु सामैववेदः। सामवेदंपुष्पमिव अभ्यतपन् अभितपन्ति। अभिसंतपन्ति। रसयन्तीत्यर्थः। तस्याभितप्तस्यास्वादितस्य यशस्तेजः। इन्द्रियमैश्वर्यम्। वीर्यम् अन्नाद्यंरसः। अजायत जायते॥ २॥

अनुवादः–निश्चय वे ये सामगणरूप भ्रमर इस सामज्ञानरूप पुष्प का जब आस्वादन करते हैं। तब उस आस्वादित (सामज्ञान) से यश तेज इन्द्रिय (ऐश्वर्य) वीर्य और अन्नादिरूप रस उत्पन्न होते हैं॥ २॥

पदार्थः-(वै) निश्चय (तानि+एतानि) वे ये (सामानि) सामगणरूप भ्रमर (एतम्+सामवेदम्) इस सामज्ञानरूप पुष्प का (अभ्यतपन्) जब आस्वादन करते हैं (तस्य) तब (अभितप्तस्य) उस अभितप्त (सामज्ञान) से (यशः+तेजः+इन्द्रियम्०) यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्य, अन्नाद्यरूप सब रस (अजायत) उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

तद् । व्यक्षरत् । तद् । आदित्यम् । अभितः । अश्रयत् । तद् । वै । एतद् । यद् । एतद् । आदित्यस्य । कृष्णम् । रूपम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्-तदिति । तद्यश आद्यन्नाद्यःसान्तं व्यक्षरन् । विशेषेणाक्षरद्गमत् व्याप्नोत् । व्याप्नोतीत्यर्थः । व्याप्य च सर्वत्रावसान आदित्यम् । आदित्यवाच्यं ब्रह्म । अभितः परितः । अश्रयत् श्रयति आश्रयति । ब्रह्मण आगत्य तदेव सर्वं प्रविशतीत्यर्थः । तथाच । तद्वै । तदेव । एतदादित्यस्याखण्डानन्दस्य ब्रह्मणो रूपम् । यदेतत् प्रकृतिषु कृष्णमाकर्षकं रूपम् । भासमानम् । दृश्यते ॥ ३ ॥

अनुवादः—(उस साधक की) वह यश आदि वस्तु विशेषरूप से सर्वत्र व्याप्त होती है । व्याप्त होकर (अन्त में) उसी आदित्य के चारों तरफ आश्रित रहती है । वही यह ब्रह्म की महिमा है जो प्रकृति में आकर्षक रूप भासमान हो रही है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(तद्) वह (यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य्य, अन्नाद्यरस) (व्यक्षरत्) सर्वत्र व्याप्त होता है । व्याप्त होकर अन्त में (तत्) वह सब (आदित्यम्) ब्रह्म के ही (अभितः) चारों तरफ (अश्रयत्) आश्रित होता है (आगे ब्रह्म की महिमा कहते हैं) (तद्+वै) वही (एतद्) यह (आदित्यस्य) ब्रह्म की (रूपम्) महिमा है (यद्+एतद्) जो यह (कृष्णम्) सब के मन का आकर्षण करने वाला सुन्दर रूप सर्वत्र प्रकृति मध्य भासमान है ॥ ३ ॥

इति तृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अथ । ये । अस्य । उदञ्चः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । उदीच्यः । मधुनाड्यः । अथर्वाङ्गिरसः । एव । मधुकृतः । इतिहासपुराणम् । पुष्पम् । ताः । अमृताः । आपः ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथान्यच्च । अस्यादित्यवाच्यस्य ब्रह्मणः । ये । उदञ्चोरश्मयः । उद् उत्कृष्टा अञ्चोगमनानि येषां ते उदञ्चः । उत्तरदिग्गताश्च । रश्मयोव्याप्तयस्तेजांसि वा सन्ति । ता एवास्य ब्रह्मरूपस्य मधुनः । उदीच्योमधुनाड्यः । अथर्वाङ्गिरसः । अथर्ववेद मन्त्रगणाः । मधुकृतोभ्रमराः । इतिहासपुराणं पुष्पम् । ता अमृता आपः । अक्षयजलपूर्णम् ॥ १ ॥

अनुवादः—और जो इस (आदित्यवाच्य ब्रह्म) की उत्कृष्ट गमन वाली वा उत्तर-दिग्गत तेज वा व्याप्तिएं हैं वे ही इस (ब्रह्मरूप) मधुकी उदीची मधुनाड़िएं हैं । अथर्ववेद मन्त्रगण ही मधुकृत् (भ्रमर) हैं, इतिहासपुराण ही पुष्प हैं, वह अमृतरूप जल है ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) और (ये) जो (अस्य) इस आदित्यवाच्य ब्रह्म के (उदञ्चः) उत्कृष्ट गमन वाले वा उत्तर दिशा व्यापी (रश्मयः) रश्मि अर्थात् तेज वा व्याप्तिएं हैं (ताः+एव) वे ही (अस्य) इस ब्रह्मरूप मधु की (उदीच्यः+मधुनाड्यः) उदीची मधुनाड़िएं (धारा) हैं (अथर्वाङ्गिरसः+एव) अथर्ववेद ही (मधुकृतः) मधु बनानेवाले भ्रमर हैं (इतिहासपुराणम्) इतिहास पुराण ही (पुष्पम्) पुष्प हैं (ता+अमृताः+आपः) वह अक्षय जल है ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥ २ ॥

ते । वै । एते । अथर्वाङ्गिरसः । एतद् । इतिहासपुराणम् । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियम् । वीर्य्यम् । अन्नाद्यम् । रसः । अजायत ॥ २ ॥

भाष्यम्—ते वा इति । वै इति निश्चितमत्र न सन्देहः कर्तव्येत्यर्थः । त एते । अथर्वाङ्गिरसोऽथर्ववेद मन्त्रगणा भ्रमराइव । एतद् । इतिहासपुराणम् । पुष्पम् । अभ्यतपन् । अभितपन्ति निर्मथ्नन्ति रसयन्ति । तस्माद्यशः प्रभृतीरसोऽजायतेत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

अनुवादः–इसमें सन्देह नहीं कि वे अथर्ववेद मन्त्रगणरूप भ्रमर इतिहास पुराणरूप पुष्प का मन्थन करते हैं उस मथित इतिहासपुराणरूप पुष्प से यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्य, अन्नाद्य ये सब रस उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–(वै) इस में सन्देह नहीं (ते एते) वे ये (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद मन्त्रगण (एतद्+इतिहासपुराणम्) इस इतिहासपुराण का (अभ्यतपन्) जब मन्थन करते हैं तब (यशः) यश आदि उत्पन्न होते हैं । अन्य पद सुगम हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

तद् । व्यक्षरत् । तद् । आदित्यम् । अभितः । अश्रयत् । तद् । वै । एतद् । यद् । एतद् । आदित्यस्य । परम् । कृष्णम् । रूपम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्–तद्यश आद्यन्नाद्यरसान्तं व्यक्षरत् । विशेषेणाक्षरदगमत् व्याप्नोत् । व्याप्नोतीत्यर्थः । व्याप्य च सर्वत्रावसान आदित्यम् । आदित्यवाच्यं ब्रह्म । अभितः परितः । अश्रयत् श्रयति आश्रयति । ब्रह्मण आगत्य तदेव सर्वं प्रविशतीत्यर्थः । तथाच तद्वै । तदेव तदादित्यस्याखण्डानन्दस्य ब्रह्मणोरूपम् । यदेतत् प्रकृतिषु परं कृष्णम् । अत्यन्तमाकर्षणरूपं भासमानं दृश्यते ॥ ३ ॥ इति चतुर्थखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अनुवादः–वह यश आदि वस्तु विशेषरूप से सर्वत्र व्याप्त होती है । व्याप्त होकर (अन्त में) उसी आदित्य के चारों तरफ आश्रित होती है । वही यह ब्रह्म का रूप (महिमा) है जो प्रकृति में अत्यन्त आकर्षकरूप से भासमान हो रही है ॥ ३ ॥

पदार्थः–(तद्) वह (यश, तेज इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्यरस) (व्यक्षरत्) सर्वत्र व्याप्त हो जाता है । व्याप्त होकर अन्त में (तत्) वह सब (आदित्यम्) ब्रह्म के ही (अभितः) चारों तरफ (अश्रयत्) आश्रित होता है (आगे ब्रह्म की महिमा कहते हैं) (तद्+वै) वही (एतद्) यह (आदित्यस्य) ब्रह्म की (रूपम्) महिमा है (यत्+एतद्) जो यह (परम्) अत्यन्त (कृष्णम्) सबों के मनका आकर्षण करने वाला परम सुन्दररूप सर्वत्र प्रकृतिमध्य भासमान है ॥ ३ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवाऽऽदेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

अथ । ये । अस्य । ऊर्ध्वाः । रश्मयः । ताः । एव । अस्य । ऊर्ध्वाः । मधुनाड्यः । गुह्याः । एव । आदेशाः । मधुकृतः । ब्रह्म । एव । पुष्पम् । ताः । अमृताः । आपः ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति । अथान्यच्च । अस्य समन्ताद्द्योतमानस्य ब्रह्मणः । ये । ऊर्ध्वा रश्मयः ऊर्ध्वगा रश्मयस्तेजांसि व्याप्तयो वा सन्ति । ता एवास्य ब्रह्मरूपस्यमधुनः । ऊर्ध्वा मधुनाड्यः । गुह्या गूढाः । अकृतात्मभिरशुश्रूषुभिरब्रह्मचारिभिरविजितेन्द्रियैरमनस्कैश्चञ्चलैः पुरुषैर्दुर्बोधा अग्राह्याः । केवलं शान्तैर्विवेकादिगुणैरेवावगम्याः । आदेशा वैदिकशिक्षा एव । मधुकृतोभ्रमराः । ब्रह्मैव । वेदवाची ब्रह्मशब्दोऽत्र । वेदचतुष्टयमेव पुष्पम् । कुसुमम् । ता अमृता आपः । पूर्वं सर्वे वेदाः पृथक् पृथगुक्ताः । अत्र सामान्येन सर्वएकत्रैव विहिताः । ब्रह्मशब्देन सर्वेषां वेदानां संग्रहः ॥ १ ॥

अनुवादः–और इस सर्वत्र द्योतमान ब्रह्म के ऊर्ध्वगामी जो तेज वा व्याप्तिएं हैं वे ही इस (ब्रह्मरूपमधु) की ऊर्ध्व मधुनाड़िएं (धारा) हैं । गुह्य आदेश (वैदिक शिक्षाएं) ही मधुकृत (भ्रमर) हैं । ब्रह्म (चारोंवेद) ही पुष्प हैं वे अमृतस्वरूप जल हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) और (अस्य) सर्वत्र प्रकाशमान इस ब्रह्म के (ये) जो (ऊर्ध्वाः) ऊपर जाने वाले (रश्मयः) रश्मि अर्थात् तेज वा व्याप्तिएं हैं (ताः+एव) वे ही (अस्य) ब्रह्मरूप मधु की (ऊर्ध्वाः+मधुनाड्यः) ऊर्ध्वगामिनी मधुनाड़िएं (धारा) हैं (गुह्याः) गूढ़=दुर्बोध (आदेशाः) वैदिक शिक्षाएं (एव) ही (मधुकृतः) भ्रमर हैं (ब्रह्म+एव) सम्पूर्ण चारों वेद ही (पुष्पम्) पुष्प हैं (ताः+अमृताः+आपः) वे अमृतरूप जल हैं ॥ १ ॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

ते । वै । एते । गुह्याः । आदेशाः । एतद् । ब्रह्म । अभ्यतपन् । तस्य । अभितप्तस्य । यशः । तेजः । इन्द्रियम् । वीर्यम् । अन्नाद्यम् । रसः । अजायत ॥२॥

भाष्यम्–ते वा इति । वै इति निश्चितमत्र न सन्देहोऽस्ति वक्ष्यमाणविषये । त एते गुह्या आदेशा भ्रमरा इव । एतद्ब्रह्म सम्पूर्णं वेदचतुष्टयं पुष्पमिवाभ्यतपन् । अभितपन्ति रसयन्ति । तदा तस्याभितप्तस्य सकाशाद्यशः प्रभृतीरसोऽजायतेत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवादः–इस में सन्देह नहीं कि वे ये गुह्य आदेशरूप भ्रमर जब इस सम्पूर्ण वेद-रूप पुष्प का आस्वादन करते हैं तब उस अभितप्त (वेद) से यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्य्य अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–(वै) यह निश्चित है इस में सन्देह नहीं कि (ते+एते) वे ये (गुह्याः+आदेशाः) गूढ़ वैदिक शिक्षाएं (एतद्+ब्रह्म) इन चारों वेदों को (अभ्यतपन्) मथन करते हैं (तस्य+अभितप्तस्य) तब उस संतप्त (मथित) वेद से (यशः०) यश तेज आदि सब उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

तद् । व्यक्षरत् । तद् । आदित्यम् । अभितः । अश्रयत् । तद् । वै । एतद् । यद् । एतद् । आदित्यस्य । मध्ये । क्षोभते । इव ॥ ३ ॥

भाष्यम्–तद्व्यक्षरदिति । तद्यश आदि । व्यक्षरद् । विशेषेणाक्षरत् । व्याप्नोतीत्यर्थः । व्याप्य चान्त आदित्यं ब्रह्मैवाश्रयत् । आश्रयति । सर्वेषामन्ते ब्रह्मणिपर्य्यवसानमित्यर्थः । कोऽसावादित्यः । किं रूपम् । किं लक्षणञ्चेत्याह । तद्वै । तदेवैतद् । आदित्यस्य सर्वतोविद्योतमानस्य ब्रह्मणोरूपम् । रूपमिति पूर्वस्मादध्याहार्यम् । यदेतन्मध्ये । प्रकृतीनां मध्ये क्षोभत इव । शोभत इव । शस्यस्थाने क्ष इति पाठः । प्रकृतेर्यद्रूपं तदेव ब्रह्मणो न वास्तविकं रूपं विद्यत इतीवेनञ्चन्यते । सचेव शब्दः सर्वत्र पूर्वत्र योज्यः ॥ ३ ॥

अनुवादः–वह (यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरस) विशेष रूप से सर्वत्र व्याप्त होता है । सर्वत्र व्याप्त होकर अन्ततोगत्वा ब्रह्म के चारों तरफ आश्रित होता है । वही यह ब्रह्म की महिमा है । जो यह प्रकृति के मध्य मानो शोभित हो रही है ॥ ३ ॥

पदार्थः–(तद्) वह यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्य और अन्नाद्यरस (व्यक्षरत्) प्रथम सर्वत्र व्याप्त होता है और व्याप्त होकर अन्त में (आदित्यम्) आदित्य=सर्वत्र

विद्योतमान ब्रह्म के (अभितः) चारों तरफ (अश्रयत्) आश्रित होता है (तद्वै) वही (एतद्) यह (आदित्यस्य) ब्रह्म की (रूपम्) महिमा है (यद्+एतद्) जो यह (मध्ये) प्रकृति के बीच (क्षोभत+इव) मानो शोभित होरही है यहां शोभते के स्थान में क्षोभते जानना ॥ ३ ॥

ते वा एते रसानाꣳ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

ते । वै । एते । रसानाम् । रसाः । वेदाः । हि । रसाः । तेषाम् । एते । रसाः । तानि । वै । एतानि । अमृतानाम् । अमृतानि । वेदाः । हि । अमृताः । तेषाम् । एतानि । अमृतानि ॥ ४ ॥

भाष्यम्-ते वा इति । पूर्वेषु प्रकरणेषु यशस्तेज आदीनां रसत्वं वेदज्ञानेभ्यः संभवत्वञ्च दर्शितम् । तदेवोपसंहरति । वै इति निश्चितमत्र न संशयितव्यम् । यत् । ते । एते यशस्तेज इन्द्रिय वीर्य्यान्नाद्यादयो रसाः । रसानामपि इतरेषां लोकेषु प्रसिद्धानां घृतमध्वादीनां रसानां मध्ये रसाः श्रेष्ठा रसाः सन्ति । कथमिति । हि यतः । पूर्वं तावद् वेदाएवरसा मध्वादिवदानन्दप्रदाः । तेषां वेदानाम् । एते यश आद्यो रसाः सन्ति । वेदवतां पुरुषाणां यशस्तेज आद्यो रसा भवन्ति । नावेदवताम् । अतो यश आदीन् प्रति वेदस्यैवकारणत्वम् । अत उक्तं तेषामेतेरसा इति । पुनस्तानि वै । तान्येवैतानि यशस्तेज आदीन्यमृतानाममृतानि । न मृतं मरणं विनाशो विद्यत एषामिति अमृतानि कल्पान्तस्थायीनि । कथमेतेषाममृतत्वमिति कथयति । हि यतः । पूर्वं तावद् वेदा अमृताः । अविनश्वराः स्वरूपतः । आनन्दप्रदाश्च । तेषां वेदानाम् एतानि यश आदीनि अमृतानि । यदा पुरुषाः वेदविदो भवन्ति । तदालोके यश आदीनि अमृतानि लभन्ते लब्ध्वाच अमृता भवन्ति ॥ ४ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः-निश्चय वे ये रसों के रस हैं । क्योंकि वेद रस हैं । उनके ये रस हैं । वे ये अमृतों के अमृत हैं । क्योंकि वेद ही अमृत हैं । उन के ये अमृत हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः-(वै) यह निश्चय है कि (ते एते) वे ये यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य्य, अन्नाद्यरूप रस (रसानाम्) घृत मधु आदिक रसों के (रसाः) रस हैं अर्थात् सब रसों में ये रस सर्वश्रेष्ठ हैं (हि) क्योंकि (वेदाः+रसाः) प्रथम वेद ही मधु आदि रसवत् आनन्दप्रद हैं । उस में भी (तेषाम्+एते+रसाः) उन वेदों के ये यश आदि रस हैं

(तानि+वै) निश्चय वे यश आदि (अमृतानाम्) अमृतों के (अमृतानि) अमृत अर्थात् कल्पान्तस्थायी हैं (हि) क्योंकि प्रथम (वेदाः+अमृताः) वेद अमृत हैं और (तेषाम्) उन वेदों के (एतानि+अमृतानि) ये अमृत हैं ॥ ४ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

षष्ठखण्ड की अवतरणिका । (४)

पूर्व गत पांच खण्डों में मधुविद्या का वर्णन किया गया है । इस के भाव को ध्यान में प्रथम रख आगे के प्रकरण को विचारे रूपक के द्वारा दिखलाया गया है कि ब्रह्म मधु है और ब्रह्म के तेज पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, जहां तक व्याप्त हैं वहां तक वे तेज ही इस मधुकी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर की नाड़िएं हैं । अब विचार करो कि ब्रह्म के तेज पूर्वदिशा में कहां तक व्याप्त हैं । निस्सन्देह उन तेजों की सीमा नहीं, अतः यह सिद्ध हुआ कि उन मधुनाड़ियों की भी पूर्वदिशादिकों में सीमा नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि ये मधु और नाड़िएं असीम और अनवधिक हैं । यह भी वर्णन हो चुका हैं कि ऋग्, यजु, साम, अथर्ववेद ही अमर हैं और इनके ज्ञान ही अमृतजलपूर्ण पुष्प हैं और इसी अमृत जल से मानो यह मधु बना हुआ है । इस हेतु यह मधु अमृतस्वरूप ही है । अमृत नाम मोक्ष का है अतः यह मधु मोक्षस्वरूप अर्थात् परमानन्द धाम और निखिल दुःख रहित है । अब आगे दिखलाया जायगा कि अमृतरूप मधु के अधिकारी कौन हैं ? निस्सन्देह इस के अधिकारी देव अर्थात् मुक्तपुरुष हैं । मुक्तपुरुष कौन होते हैं ?, जो वेदवित् हैं । उन में भी कोई एक वेद के, कोई दो के, कोई तीनों के, कोई चारों के ज्ञाता होते हैं। उनमें भी अधिकारी भेद से न्यूनाधिक्यतया अनेक प्रकार के ज्ञानी होंगे जैसे इस लोक में निज ज्ञानानुकूल ही सुख दुःख के भागी होते हैं वैसे ही इस शरीर के त्यागने पर भी निजज्ञानानुकूल ही परमानन्द के भोगने में समर्थ होते हैं । मुक्त पुरुषों के भोगकालादि में भी न्यूनाधिक तारतम्यादि हुआ करते हैं । इसको स्वयं उपनिषद् आगे दिखलावेगी । अब जिस कारण रूपक के द्वारा यह वर्णन किया गया है कि मानो पूर्व मधु की बनाने वाली ऋचाएं हैं और दक्षिण के यजुर्गण इत्यादि। इसी कारण प्रथम अमृत से वसु जीते हैं द्वितीय से रुद्र जीते हैं इत्यादि वर्णन भी रूपकमात्र ही हैं । जिस कारण केवल ऋग्वेद के साङ्गोपाङ्ग के पढ़ने वाले वसु नाम से कहे गये हैं और ऋग्वेद पूर्व दिक्स्थ प्रथम अमृत का बनाने वाला माना गया है । अतः वसु प्रथम अमृत से जीते हैं । रुद्र द्वितीय अमृत से जीते हैं इत्यादि संगति भी जाननी ॥

साधक के हृदय में ईश्वर का ज्ञान वेद के मन्त्र द्वारा होता है। जितने ही मन्त्र वह विचारेगा उतना ही ईश्वर का ज्ञान होगा। ऋग्वेद में जैसा ईश्वर का वर्णन है वैसा उसे ज्ञात होगा और तदनुकूल ही साधक के विचारादिक भी होंगे इस नियम के अनुसार जो २ जिस वेद को जानता है तदनुकूल ही मुक्तावस्था में वासनाएं बनी रहती हैं और यह वासना मुक्तावस्था में साधन होती हैं इसी हेतु आगे के प्रकरण में दिखलाया जायगा कि ऋग्वेद-कृत मधु से ऋग्वेदी, यजुर्वेदकृत मधु से यजुर्वेदी इत्यादि जीते हैं॥

अथ षष्ठः खण्डः॥

तद्यत्प्रथममममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

तद्। यत्। प्रथमम्। अमृतम्। तद्। वसवः। उपजीवन्ति। अग्निना। मुखेन। न। वै। देवाः। अश्नन्ति। न। पिबन्ति। एतद्। एव। अमृतम्। दृष्ट्वा। तृप्यन्ति॥ १॥

भाष्यम्—तदिति। अमृतमिति। ऋग्वेदकृतमत्र प्रथमममृतमुक्तम्। तत्राप्यृग्वेदप्रतिपाद्यं यद् ब्रह्मास्ति तदिहामृतमभिप्रेयते। ऋचां मध्ये यादृशं ब्रह्मणः स्वरूपमुक्तं तस्यग्रहणम्। एवञ्च प्रार्थनमुपासनं स्तवनं कीर्तिरैश्वर्यं सृष्टिक्रम उत्पत्तिःस्थितिः संहृतिरित्यादि यद्वस्तु विधीयते तत्सर्वममृतपदेन संगृह्यावसाने ब्रह्मैव समन्वेतव्यम्। वसवः। ये ब्रह्मचारिणो गुरौ वसन्तश्चतुर्विंशतिं वर्षाणि साङ्गवेदमधीयते ततः समावर्तन्ते ते वसव उच्यन्ते। पाठक्रमोऽयं वर्तते। ऋग्यजुः सामाथर्वाणः क्रमेणाध्येतव्याः। तत्र ये केचन चतुर्विंशतिं वर्षाण्येव ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति ते प्रथमं साङ्गं सब्राह्मणं सोपनिषत्कं सयज्ञं सरहस्यमृग्वेदमेवाध्येतुं शक्नुवन्ति। त एव साङ्गर्ग्वेदपाठिनश्चतुर्विंशतिवर्षेषु गुरुकुलनिवासिनश्छात्रा वसवो निगद्यन्ते। अतो वसूनामृग्वेदएव जीवनमिह परलोकेच। यजुरादिष्वप्रवृत्तेर्यजुरादयोवेदास्तेषां जीवनं न भवन्ति। प्रेत्यापि ते "वसव" इत्येव पदवीं लभन्ते। तस्मिन् काले वीर्यस्याऽस्कन्दनेन तदाधिक्याच्चेषां मुखं तेजसा जाज्वल्यमानमग्निवत्प्रतिभाति। अतोऽग्निमुखा वा एते ब्रह्मचारिणः। तस्मादयमर्थोऽस्यजातः। तद्। तत्रामृतानांमध्ये यत्प्रथमममृतम्। यत्प्रथममृग्वेदप्रतिपादितम्। अमृतं मधुशब्दितम्। मोक्षाख्यं ब्रह्म वर्तते। तदमृतं प्राप्य। अग्निनामुखेन। अग्निवद्देदीप्यमानेन-मुखेनोपलक्षिता भासमानाः। वसवः। कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यव्रता ब्रह्मचारिणः। उपजीवन्ति

मोक्षधाम्नि सुखेन दिनानि गमयन्ति । अत्र केचित्संशेरते । यथान्नं दुग्धं वा प्राप्य तस्य भक्षणेन पानेन वा मनुष्या उपजीवन्ति । एवमेव किं तदमृतं प्राप्य तस्मादन्नादेरिव किञ्चित्किञ्चिदुद्धृत्य प्रत्यहं ते वसवोऽश्नन्ति पिबन्ति । तेनोपजीवन्ति नाम जीविकां निर्वाहयन्ति । उतान्यः कोप्याशयस्तस्येत्यत आह । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति । ते वै देवाश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यव्रतप्रतापेन देवपदवी प्राप्तेर्देवशब्दवाच्या वसवः । न च तदमृतमश्नन्ति न च पिबन्ति किन्त्वेतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति । अयमाशयः। अमृतपदेनात्रब्रह्मोक्तम् । नहि तन्मध्वादिवत्पेयं भक्ष्यम्वा मूर्त्तम्वस्त्वस्ति यदश्नीयात् पिबेद्वा । किन्तु तदेवामृतं ब्रह्मरूपं दृष्ट्वा मुक्तावस्थायां साक्षात् कृत्य तृप्यन्ति आनन्दन्ति प्रसीदन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—उन अमृतों में से जो प्रथम अमृत है उस अमृत को पाकर अग्नि समान मुख से शोभायमान होते हुए वसुगण जीते हैं । निश्चय, न तो (वे) देव खाते हैं और न पीते हैं किन्तु इसी अमृत का साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(तद्) उन अमृतों में से (यत्+प्रथमम्) जो प्रथम (अमृतम्) ऋग्वेदकृत मधुवाच्य अमृतस्वरूप ब्रह्म है (तद्) उसको पाकर (अग्निना+मुखेन) अग्निवद् देदीप्यमान मुख से युक्त अर्थात् शोभायमान होते हुए (वसवः) चतुर्विंशतिवर्षाध्यायी वसुनामधारी ब्रह्मचारी (उपजीवन्ति) उस ब्रह्म की समीपता का अनुभव करतेहुए सुखपूर्वक मोक्षधाम में दिन बिताते हैं । यहां पर कोई शङ्का करते हैं कि जैसे अन्न वा दुग्ध पाकर उसके भक्षण वा पान से मनुष्य जीते हैं क्या वैसे ही उस अमृत को पा अन्नादि के समान उससे किञ्चित् २ लेकर प्रतिदिन वे वसु खाते पीते हैं ? और उससे अपनी जीविका का निर्वाह करते हैं ? अथवा इसका कोई अन्य आशय है, अतः आगे कहते हैं (न+वै+देवाः+अश्नन्ति) २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने से देवपदवी की प्राप्ति के कारण देवशब्दवाच्य वे वसुगण न तो खाते हैं और (न पिबन्ति) न पीते हैं किन्तु (एतदेवामृतम्+दृष्ट्वा) इसी अमृत को साक्षात् करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः–अमृत–यहां प्रथम अमृत ऋग्वेदरूप भ्रमरकृत कहा है । उसमें भी ऋग्वेद के ज्ञान से ज्ञेय जो ब्रह्म उसका यहां अमृतपद से अभिप्राय है । अर्थात् ऋचाओं के मध्य जैसा ब्रह्म का स्वरूप, प्रार्थना, उपासना, स्तवन, कीर्त्ति, ऐश्वर्य, सृष्टिक्रम, उत्पत्ति, स्थिति, संहार, आदि वस्तु विहित हैं उन सब का अमृतपद से ग्रहण है । तत्पश्चात् अन्त में केवल ब्रह्म से ही तात्पर्य्य है । अर्थात् ऋग्वेद का जो साङ्ग ज्ञान उससे विज्ञेय जो

ब्रह्म वह यहां प्रथम अमृत है। वसवः—जो ब्रह्मचारी गुरुकुल में वास करते हुए २४ वर्ष तक अङ्ग उपाङ्ग सहित ऋग्वेद को प्रधानतया पढ़ते पश्चात् समावर्त्तन करते हैं वे यहां वसु कहलाते हैं। पाठ का क्रम यह है कि ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद क्रम से पढ़ने चाहिये। जो कोई चौवीस वर्ष पर्य्यन्त ही ब्रह्मचर्य्य गुरुकुल में रखना चाहते हैं। वे प्रथम साङ्ग, सोपाङ्ग, सब्राह्मण, सोपनिषत्क, सयज्ञ, सरहस्य ऋग्वेद का ही अध्ययन कर सकते हैं और येही चतुर्विंशति वर्षाध्यायी ब्रह्मचारी वसुपदवी से भूषित होते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि वसुओं का जीवन ऋग्वेद ही है अर्थात् ऋग्वेद कथित ब्रह्म ही इनका इहलोक परलोक में जीवन है क्योंकि अपने जीवन में उन्होंने ऋग्वेद ही पढ़ा यजुर्वेदादि में अप्रवृत्ति होने से वह उनका उपजीवन नहीं होता है। मरने के अनन्तर भी वसु ही कहलाते हैं। अग्निनामुखेन—२४ वर्ष ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने से और स्वप्नादि में भी वीर्य्य के अधःपतन न होने से उसकी अधिकता से उस काल में उन ब्रह्मचारियों के मुख अग्निवत् तेज से जाज्वल्यमान भासित होते हैं। अतः वे ब्रह्मचारी अग्निमुख ही कहलाते हैं। अन्य विषय पदार्थ के बीच में कहा गया है सो वहां ही देखना ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

ते। एतद्। एव। रूपम्। अभिसंविशन्ति। एतस्माद्। रूपाद्। उद्यन्ति ॥२॥

भाष्यम्—त एतदिति। ते वसवः। एतदेवरूपम्। एतदमृताख्यं ब्रह्मैव। अभिसंविशन्ति। अभितः सर्वतः प्रविशन्ति ब्रह्मैवानुभवन्ति। ब्रह्मानन्दमेव सर्वतः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यद्यपि ब्रह्म सर्वत्रैव विद्यते अतः सर्वे ब्रह्मण्येव निविष्टाः सन्ति। तथापि सत्यज्ञाने ब्रह्मण्ये-वाहमस्मिब्रह्मविभूतयो मां परि यन्ति। चरणंचरणमानन्दामृतंमयि वर्षतीत्यादि नानुभवतिस-म्यग्। तथाच-। एतस्मादेवरूपात् कारणात् तस्यैव रूपस्योपासनाद्धेतोरुद्यन्ति। सर्वेषु लोके-षूदयं प्राप्नुवन्ति। सर्वत्र कामचारा भवन्तीत्यर्थः। तस्माद्रूपादित्यत्र हेतौ पञ्चमी। यद्वा। तस्मिन्नेव समुद्रे नद्यइव विलीयन्त इव पुनरपि तस्य ब्रह्मणः सकाशादुद्यन्तीवोद्गच्छन्तीव जलान्तर्वर्तिनः मत्स्या इव ॥ २ ॥

अनुवादः—वे (वसु) इसी अमृताख्य ब्रह्म को चारों तरफ अनुभव करते हैं और उसी रूप की उपासना के कारण वे सर्वत्र उदित (सर्वत्र कामचारी) होते हैं। यद्वा मानो उसी रूप में लीन हो जाते और पुनः उसी रूप से ऊपर को उठते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–(ते) वे वसु (एतद्+एव) इसी (रूपम्) अमृताख्य ब्रह्मस्वरूप को (अभिसंविशन्ति) चारों तरफ अनुभव करते हैं और (एतस्माद्+रूपात्) इसी ब्रह्म की उपासना के प्रभाव के हेतु (उद्यन्ति) सर्वत्र उदित होते हैं अर्थात् सर्व लोक लोकान्तरों में वे अहतगति और कामचारी होते हैं। यद्वा (ते) वे वसु (एतद्+एव रूपम्) उसी अमृताख्य ब्रह्म की महिमा में (अभिसंविशन्ति) चारोंतरफ से मानो प्रविष्ट होते हैं और पुनः (तस्माद्रूपात्+उद्यन्ति) उसी की कृपा से उर्ध्वचेष्टा करते हैं ॥ २ ॥

भाष्याशयः–जैसे नदियां समुद्र में चारोंतरफ से प्रविष्ट होकर उसी में लीन हो जाती हैं तद्वत् मुक्त जीव मानो ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। और जैसे जलान्तर्वर्ती मत्स्य जल के भीतर से ऊपर को उठते हैं मानो उसी तरह वे वसु उस ब्रह्मानन्द से ऊपर को उठते हैं अर्थात् मत्स्य के समान ब्रह्मानन्दरूप अगाध समुद्र में गोते खा खाकर मानो पुनः पुनः ऊपर को उठते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभि संविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

सः । यः । एतद् । एवम् । अमृतम् । वेदः । वसूनाम् । एव । एकः । भूत्वा । अग्निना । एव । मुखेन । एतद् । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यति । सः । एतद् । एव । रूपम् । अभिसंविशति । एतस्माद् । रूपात् । उदेति ॥ ३ ॥

भाष्यम्–स य इति । न केवलं वसव एव एतदमृतमुपजीवन्ति तदभिसंविशन्ति तस्मादुद्यन्ति च किन्तु यः कश्चित्केनापि प्रकारेणैतदमृतं सम्यग् वेत्ति सोऽपि वसुवत् सर्वमर्हति । एतदेवाग्रे वक्ष्यते । यो विज्ञानी । एतदेवामृतम् । एतदेवामृताख्यंब्रह्म । वेद । सम्यग् विजानाति । सोऽपि । वसूनां पूर्वोक्तव्रतिनां मध्य एवैकोऽन्यतमोभूत्वा । अग्निनामुखेनैवोपलक्षितः सन् । एतदेवामृतम् । अमृतप्रदं ब्रह्म । दृष्ट्वा मुक्तावस्थायामवलोक्य साक्षात्कृत्य वा । तृप्यति । आनन्दति । य एतदेवामृतंवेद । स एतदेवरूपम् । अमृताख्यं रूपम् । अभिसंविशति । परितोऽनुभवति । एतस्माद्रूपात् । एतस्यरूपस्योपासनाद्धेतोः । उद्यतिच्च सर्वत्रोदयं लभते । सर्वत्र कामचारोभवतीत्यर्थः । यद्वा । तस्मिन्नेव विलीयते तस्मादेवोद्गच्छति मत्स्य इवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः–सो जो कोई इसी अमृत (अमृतरूपब्रह्म) को अच्छी तरह जानता है। वह भी वसुओं में एक होकर अग्निवत् देदीप्यमान मुख से शोभायमान होता हुआ

इसी अमृत को अनुभव कर तृप्त होता है और पुन: जो उस अमृत को जानता है वह भी इसी महिमा को चारों तरफ अनुभव करता है । और उसी महिमा की उपासना अर्थात् विचार के कारण सर्वत्र वह उदित होता है । यद्वा मत्स्यवत् उसी में डूबता उगता रहता है ॥ ३ ॥

पदार्थः–(यः) जो कोई (एतद्+एव+अमृतम्) इसी अमृत को (वेद) जानता है (सः) वह (वसूनां) वसुओं में (एकः) एक (भूत्वा) होकर (अग्निना+एव+मुखेन) अग्निवत् मुख से शोभायमान होता हुआ (एतद्+एव+अमृतम्) इसी अमृत को (दृष्ट्वा) अनुभव कर (तृप्यति) तृप्त रहता है (यः) और जो कोई उस अमृत को जानता है वह (एतद्+एव+रूपम्) इसी अमृताख्य महिमा को (अभिसंविशति) चारोंतरफ अनुभव करता है (एतस्माद्+रूपात्) और इसी महिमा के विचार के प्रभाव से (उदेति) सर्वत्र उदित होता है अथवा उसी के आश्रय उठता है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—न केवल वसुगण ही उस अमृत से जीते और उस में लीन होते और उस से ऊपर उठते किन्तु जो कोई किसी प्रकार इस अमृत को अच्छी तरह जानता है वह भी वसुवत् सर्व भोग्य के योग्य होता है यह विषय आगे के प्रकरण में दिखलाया जाता है ॥३॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेतावसूनामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

सः । यावत् । आदित्यः । पुरस्तात् । उदेता । पश्चात् । अस्तम् । एता । वसूनाम् । एव । तावत् । आधिपत्यम् । स्वाराज्यम् । पर्य्येता ॥ ४ ॥

भाष्यम्—स इति । कियन्तं कालं स विद्वांस्तदमृतमुपजीवतीत्युच्यते । आदित्यः सूर्य्यो यावत्कालं पुरस्तात् प्राच्यां दिशि । उदेता । उदेष्यति । पुनः पश्चात् प्रतीच्यां दिशि । अस्तमेता गन्ता गमिष्यति । अयंभावो यावन्तंकालं सूर्य्यः प्राच्यां प्रतीच्याञ्चोदयमस्तञ्चगच्छन् स्थास्यति । तावत् । तावन्तं कालं स विद्वान् वसूनामेवैकोभूत्वा वसूनामेवमध्ये वा । स्वाराज्यं सुखकरं राज्यमेवाधिपत्यं प्राप्य । पर्य्येता । परितः एता । एति । परितोगच्छति । तस्मिन्राज्य अहतगतिर्भूत्वा सोऽपि सदा कामचारोभवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति षष्ठखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवाद:–जबतक सूर्य पूर्वदिशा में उदित और पश्चिमदिशा में अस्त होता रहेगा तबतक वह (विद्वान्) वसुओं में एक होकर वा वसुओं के बीच स्वाराज्याधिपत्य को पा सब ओर स्वच्छन्द विचरण करता रहेगा ॥ ४ ॥

पदार्थः–(आदित्यः) सूर्य (यावत्) जब तक (पुरस्तात्) पूर्वदिशा में (उदेता) उदित होता रहेगा और (पश्चात्) पश्चिमदिशा में (अस्तम्+एता) अस्त होता रहेगा (तावत्) तब तक (वसूनामेव) वसुओं के ही बीच में (स्वाराज्यम्) सुखमय-राज्यरूप (आधिपत्यम्) अधिकार को पा (सः) वह विद्वान् (पर्य्येता) चारोंतरफ़ अहतगति और सदा कामचार हो विचरण करता रहेगा ॥ ४ ॥

इति षष्ठखण्डस्यभाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अथ । यद् । द्वितीयम् । अमृतम् । तद् । रुद्राः । उपजीवन्ति । इन्द्रेण । मुखेन । न । वै । देवाः । अश्नन्ति । न । पिबन्ति । एतत् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । द्वितीयममृतमिति । यजुर्वेदव्यपदिष्टं यजुषांगणैर्विज्ञेयं यद्रूपं यद्गुणं यद्विभूति यत्कर्म्म यत्स्वभावञ्च ब्रह्म विद्यते । तदिह द्वितीयामृतेन लक्ष्यते । रुद्रा-इति । ये ब्रह्मचारिणो गुरौ निवसन्तश्चतुश्चत्वारिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरन्तो यथाशक्ति यथाकालं पूर्वं साङ्गोपाङ्गादिसहितमृग्वेदं सामवेदमथर्ववेदञ्चाधीत्य विशेषेण सर्वाङ्गस्य यजुर्वेदस्याध्ययने नैरन्तर्य्येण परिश्राम्यन्ति तमेव सविशेषमभ्यस्यंति मन्यंते पर्य्यालोचयन्ते विजिज्ञासन्त आवर्तयंति तदाकारवृत्तिं विदधति तमेवस्मरन्त्यधीय अध्यापयंति शृण्वन्ति श्रावयन्ति। इत्येवमादीस्तद्विषयिका एव क्रियाः कुर्वन्ति । त इह रुद्रा उच्यन्ते । एवं च चतुश्चत्वारिंशतं वर्षाणि वेदाध्ययनेन तदनुष्ठानायत्र अस्खलितवीर्य्या ऊर्ध्वरेतसस्ते विद्युत एव प्रकाशन्ते । अतस्त इन्द्रमुखा वै ब्रह्मचारिण उच्यन्ते । इन्द्रशब्दोविद्युद्वाच्यत्र । अथ मन्त्रार्थं व्याख्यास्यामः। अथ । यद्द्वितीयममृतम् । यजुर्वेदव्यपदिष्टं यदमृताख्यं ब्रह्मास्ति । तदमृतं ब्रह्म लब्ध्वा । इन्द्रेण मुखेन । विद्युत्समेन देदीप्यमानेन मुखेनोपलक्षितास्ते रुद्राः । चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाध्यायिनो

(१) सुखमय राज्यरूप आधिपत्य । स्वः=सुख । राज्य=आधिपत्य ।

ब्रह्मचारिण उपजीवन्ति । मनसा तत्समीपतां प्राप्यानन्देन जीवनं गमयन्ति । अत्र केचन शङ्कन्ते । श्रूयते ह अमृतंनाम रसः स्वर्गे स्थापितं तदमृतं देवाः पायं पायं यथा जीवन्ति तथैव किमेतदप्यमृतं वर्त्तते ? रसवत् पिबन्ति तेनोपजीवन्ति उतेदममृतं किमप्यन्यदेव । इति शङ्कां निरस्यन्नाह । देवा ब्रह्मचर्येण देवपदवीं प्राप्ता अतो देवपदवाच्यास्ते रुद्राख्या ब्रह्मचारिणोऽपवर्गे न वै तदमृतम् । ओदनादिवदश्नन्ति न च जलादिवत् पिबन्ति । किन्त्वेतदेवामृतम् । एतदेवामृतस्वरूपं मोक्षप्रदंब्रह्म । दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य तृप्यन्ति आनन्दन्ति । नह्येतदमृताख्यं ब्रह्म किमप्यशनीयं पानीयं वा वस्त्वस्ति यदश्नीयात्पिबेद्वा तस्यदर्शनमेवाशनंपिपासां निवारयति । यल्लब्ध्वा अपिपास एव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर जो द्वितीय अमृत अर्थात् यजुर्वेद प्रतिपादित ब्रह्मरूप अमृत है उसको पाकर विद्युत्सममुख से युक्त रुद्र संज्ञक ब्रह्मचारी आनन्दपूर्वक ब्रह्म की समीपता का अनुभव करते हुए जीते हैं । वे देव, निश्चय, न तो खाते और न पीते हैं किन्तु अमृत को साक्षात्कार कर मन में तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (यत्) जो (द्वितीयम्+अमृतम्) द्वितीय अमृत अर्थात् जो यजुर्वेदोपदिष्ट अमृताख्य ब्रह्म है (तद्) उस ब्रह्म को पाकर (इन्द्रेण मुखेन) प्रकाशवान् मुख से शोभायमान होते हुए (रुद्राः) चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाध्यायी रुद्राख्य ब्रह्मचारी (उपजीवन्ति) उस ब्रह्म की उपासना का अनुभव करते हुए मोक्षदशा में सुखपूर्वक अपने दिन को बिताते हैं (न+वै+देवाः—अश्नन्ति) देवपदवाच्य वे रुद्राख्य ब्रह्मचारी न तो खाते और (न पिबन्ति) न पीते हैं किन्तु (एतद्—एव—अमृतम्) इसी अमृत को (दृष्ट्वा) इस अमृताख्य ब्रह्म को साक्षात्कार कर (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः—क्रम प्राप्त द्वितीय अमृत यहां कहा गया है यजुर्वेदरूप अमरकृत द्वितीय अमृत यहां अभीष्ट है अर्थात् यजुर्वेद के द्वारा उसकी महिमा, गुण, विभूति, कर्म और सृष्टि आदि के वर्णन से जैसा महान् ब्रह्म विदित होता है वह यहां द्वितीय अमृत से लक्षित होता है । पाठ क्रमानुसार जो ब्रह्मचारी गुरुकुल में बसते चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य करते हुए यथाशक्ति और यथाकाल पहले अङ्गोपाङ्गादि सहित ऋग्वेद पढ़ पश्चात् विशेषता से सर्वाङ्ग यजुर्वेद के अध्ययन में निरन्तर परिश्रम करते उसी का विशेष अभ्यास, मनन, पर्यालोचना, विजिज्ञासा और आवृत्ति करते रहते हैं एवं तदाकार वृत्ति को धारण करते हैं उसी को स्मरण करते पढ़ते पढ़ाते, सुनते सुनाते इत्यादि तत्सम्बन्धी क्रियाएं करते हैं । वे यहां रुद्र कहलाते हैं । और इस प्रकार चवालीस वर्ष वेदाध्ययन और उसके

अनुष्ठान के हेतु अस्खलितवीर्य्य ऊर्ध्वरेता वे ब्रह्मचारी विद्युत् समान ऐश्वर्य्यवान् होते हैं इस कारण वे इन्द्रमुख कहलाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

ते । एतत् । एव । रूपम् । अभिसंविशन्ति । एतस्माद् । रूपात् । उद्यन्ति ॥ २ ॥

भाष्यम्—त इति । ते रुद्राः । एतदेवरूपम् । एतदमृताख्यं ब्रह्मैव अभिसंविशन्ति । अभितः सर्वतः प्रविशन्ति ब्रह्मैवानुभवन्ति । ब्रह्मानन्दमेव सर्वतः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्म सर्वत्रैव विद्यत अतः सर्वे ब्रह्मण्येव निविष्टाः सन्ति । तथापि सत्यज्ञाने ब्रह्मण्येवाहमस्मि ब्रह्मविभूतयो मां परियन्ति । चतुर्दशमानन्दामृतं मयि वर्षतीत्यादि नानुभवतिसम्यग् । तथा च । एतस्मादेवरूपात्कारणादेतस्यैवरूपस्योपासनाद्धेतोरुद्यन्ति । सर्वेषुलोकेषूदयं प्राप्नुवन्ति । सर्वत्रकामचारा भवन्तीत्यर्थः । तस्माद्रूपादित्यत्र हेतौ पञ्चमी ॥ २ ॥

अनुवादः—वे (रुद्र) इसी अमृताख्य ब्रह्म को चारोंतरफ अनुभव करते हैं और उसी की महिमा के विचार से वे सर्वत्र उदित सर्वत्र कामचारी होते हैं । यद्वा मानो उसी महिमा में लीन हो होकर उसी महिमा के विचार से ऊपर को उठते रहते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः—(ते) वे रुद्र (एतद्+एव) इसी (रूपम्) अमृताख्य ब्रह्मस्वरूप को (अभिसंविशन्ति) चारोंतरफ अनुभव करते हैं और (एतस्माद्+रूपात्) इसी महिमा की उपासना के प्रभाव के हेतु (उद्यन्ति) सर्वत्र उदित होते हैं अर्थात् सर्व स्थानों में वे अहतगति और कामचारी होते हैं । यद्वा (ते) वे रुद्र (एतद्+एव+रूपम्) उसी अमृताख्य ब्रह्म में (अभिसंविशन्ति) चारोंतरफ से प्रविष्ट होते हैं । और (तस्माद्रूपादुद्यन्ति) उसी से ऊपर को उठते हैं ॥ २ ॥

भाष्याशयः—जैसे नदियां समुद्र में चारोंतरफ से प्रविष्ट होकर उसी में लीन हो जाती हैं तद्वत् मुक्त जीव मानो ब्रह्म में लीन हो जाते हैं । और जैसे जलान्तर्वर्त्ती मत्स्य जल के भीतर से ऊपर को उठते हैं मानो उसी तरह वे रुद्र उस ब्रह्मानन्द से ऊपर को उठते हैं अर्थात् मत्स्य के समान ब्रह्मानन्दरूप अगाध समुद्र में गोते खा खाकरे मानो पुनः पुनः ऊपर को उठते रहते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

सः । यः । एतद् । एवम् । अमृतम् । वेद । रुद्राणाम् । एव । एकः । भूत्वा । इन्द्रेण । एव । मुखेन । एतद् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यति । सः । एतद् । एव । रूपम् । अभिसंविशति । एतस्मात् । रूपात् । उदेति ॥ ३ ॥

भाष्यम्--स य इति । स यो विज्ञानी । एतदेवममृतम् । एतदेवममृताख्यंब्रह्म । वेद सम्यग् विजानाति । सोऽपिरुद्राणाम् । कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्ष ब्रह्मचर्यव्रतानां रुद्राख्यानां ब्रह्मचारिणां मध्य एवैकः । अन्यतमोभूत्वा । प्रधानोवाभूत्वा । इन्द्रेणैवमुखेन विद्युत्समेन मुखेनोपलक्षितः शोभमानः सन् । एतदेवामृतम् । अमृतप्रदं ब्रह्म । दृष्ट्वा मुक्तावस्थायामवलोक्य साक्षात्कृत्य । तृप्यति । आनन्दति । स एतदेवरूपम् । अमृताख्यंरूपम् । अभिसंविशति । परितोऽनुभवति । एतस्माद्रूपाद् । एतस्यरूपस्योपासनाद्धेतोः । उद्यति च । सर्वत्रोदयं लभते । सर्वत्र कामचारो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः--सो जो कोई इसी अमृत (अमृतरूपब्रह्म) को अच्छी तरह जानता है वह रुद्रों में एक होकर विद्युद्वत् शीघ्रकारी होता हुआ इसी अमृत को अनुभव कर तृप्त होता है और वह इसी महिमा का चारोंतरफ अनुभव करता है । और उसी महिमा के विचार के कारण सर्वत्र उदित होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः+यः) सो जो कोई (एतद्+एवम्+अमृतम्) उसी अमृत को (वेद) जानता है वह (रुद्राणामेव) रुद्रों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (इन्द्रेण+एव+मुखेन) विद्युत्समसुखसे प्रकाशमान होता हुआ (एतद्+एव+अमृतम्) इसी अमृत को (दृष्ट्वा) अनुभव करके (तृप्यति) तृप्त रहता है (सः) वह (एतद्+एव+रूपम्) इसी अमृताख्य महिमा का (अभिसंविशति) चारोंतरफ अनुभव करता है (एतस्माद्+रूपात्) और इसी महिमा की उपासना के प्रभाव से (उदेति) सर्वत्र उदित होता है अर्थात् सर्वत्र स्वेच्छाचारी होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेवतावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

सः । यावत् । आदित्यः । पुरस्तात् । उदेता । पश्चात् । अस्तम् । एता । द्विस्तावत् । दक्षिणतः । उदेता । उत्तरतः । अस्तम् । एता । रुद्राणाम् । एव । तावत् । आधिपत्यम् । स्वाराज्यम् । पर्य्येता ॥ ४ ॥

भाष्यम्—स यावदिति । वसूनां भोगकालाद्रुद्राणांद्विगुणस्तोत्तीतिदर्शयितुं प्रवर्तते । तद्यथा । आदित्यः सूर्यः । पुरस्तात्प्राच्यांदिशि यावद् यावन्तं कालमुदेता उदेष्यति । पश्चात्प्रतीच्यां-दिशि अस्तमेता अस्तमेष्यति अस्तं गमिष्यतीत्यर्थः । द्विस्तावत् ततो द्विगुणं कालं दक्षिणत उदेता उत्तरतोऽस्तमेता तावत् तावन्तं कालं स विद्वान् रुद्राणामेवैकोभूत्वा स्वाराज्यमाधि-पत्यं प्राप्य पर्य्येता परितः कामचारो भविष्यति ॥ ४ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—जबतक सूर्य पूर्वदिशा में उदित होता रहेगा और पश्चिम में अस्त होता रहेगा । उस से द्विगुणकाल दक्षिणदिशा में उदित होता रहेगा और उत्तरदिशा में अस्त होता रहेगा उतने काल वह विद्वान् रुद्रों के बीच सुखमय राज्याधिपत्य पाकर कामचारी होगा ॥ ४ ॥

पदार्थः-(यावत्) जितने काल (आदित्यः) सूर्य (पुरस्तात्) पूर्वदिशा में (उदेता) उदित होता रहेगा (पश्चात्) पश्चिमदिशा में (अस्तमेता) अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उस से द्विगुण काल (दक्षिणतः+उदेता) दक्षिण दिशा में उदित होता रहेगा (उत्तरतः+अस्तमेता) उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा (तावत्) उतना काल (सः) वह विद्वान् (रुद्राणामेव) रुद्रों के बीच में ही (स्वाराज्यम्) सुखमय राज्य-रूप (आधिपत्यम्) अधिकार पाकर (पर्य्येता) चारोंतरफ स्वच्छन्दचारी रहेगा ॥ ४ ॥

इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ।

अथाऽष्टमः खण्डः ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अथ । यत् । तृतीयम् । अमृतम् । तत् । आदित्याः । उपजीवन्ति । वरुणेन । मुखेन । न । वै । देवाः । अश्नन्ति । न । पिबन्ति । एतत् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । तृतीयममृतमिति सामवेदोपदिष्टं ब्रह्म तृतीयामृतेन लक्ष्यते । आदित्या इति । ये गुरौ निवसन्तोऽष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यव्रतमाचरन्तः साङ्गमृग्वेदं यजुर्वेदमथर्वणञ्च यथाकालं यथाशक्ति पठित्वा विशेषेण सामवेद एव सम्पूर्णं समयं गम-यन्ति । ते आदित्यसंज्ञां लभन्ते । तेषां प्राधान्येन सामैवोपजीवनञ्च भवति । अथ मन्त्रार्थः ।

अथ यत्तृतीयममृतं सामोपदिष्टं यद्रूपं यद्विभूति यद्गुणमित्येवं प्रतिपादितममृताख्यं ब्रह्मवर्त्तते। तल्लब्ध्वा वरुणेन मुखेनोपलक्षिता वरणीयेन कमनीयेन विद्याभ्यासजनितसौन्दर्य्ययुक्तेन मुखेन विराजमाना आदित्या अष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यव्रतचारिण आदित्याख्या ब्रह्मचारिण उपजीवन्ति। ब्रह्मसमीपतामनुभवन्तो मोक्षदशायां सुखेन दिनं गमयन्ति। शेषं पूर्ववत् ॥ १ ॥

अनुवादः-अनन्तर जो तृतीय अमृत अर्थात् सामवेदोपदिष्ट अमृताख्य ब्रह्म है उसे पाकर वरणीय मुख से सुशोभित आदित्यसंज्ञक ब्रह्मचारी ब्रह्म की समीपता को अनुभव करते हुए जीवन विताते हैं। देव (दिव्यगुण सम्पन्न) वे आदित्य न तो खाते हैं न पीते हैं किन्तु उसी अमृत को अनुभव कर तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (यत्) जो (तृतीयम्) तृतीय (अमृतम्) अमृत अर्थात् सामवेद प्रतिपादित जो ब्रह्म है (तत्) उस को पाकर (आदित्याः) ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत करनेवाले आदित्यसंज्ञक ब्रह्मचारी (वरुणेन+मुखेन) विद्याभ्यासजनित रमणीयताकमनीयतायुक्त मुखच्छवि सहित हो (उपजीवन्ति) ब्रह्म की समीपता अनुभव करते हुए मोक्षदशा में आनन्दपूर्वक जीवन विताते हैं (देवाः) देवपदवी प्राप्त वे आदित्य संज्ञक ब्रह्मचारी (न+वै+अश्नन्ति) न तो खाते हैं (न+पिबन्ति) और न पीते हैं किन्तु (एतत्+एव) इसी (अमृतम्) अमृतप्रद ब्रह्म को (दृष्ट्वा) मोक्षदशा में साक्षात्कार कर (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

ते। एतद्। एव। रूपम्। अभिसंविशन्ति। एतस्माद्। रूपात्। उद्यन्ति॥ २॥

भाष्यम्-त इति। ते आदित्याः। एतदेवरूपम्। एतदमृताख्यं ब्रह्मैव अभिसंविशन्ति। अभितः सर्वतो ब्रह्मैवानुभवन्ति। ब्रह्मानन्दमेव सर्वतः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यद्यपि ब्रह्म सर्वत्रैव विद्यते अतः सर्वे ब्रह्मण्येव निविष्टाः सन्ति। तथापि सत्यज्ञाने ब्रह्मण्येवाहमस्मि ब्रह्मविभूतयो मां परियन्ति। क्षणं क्षणमानन्दामृतं मयिवर्षतीत्यादि नानुभवति सम्यग्। तथाच। एतस्मादेवरूपात्कारणात् तस्यैवरूपस्य उपासनाद्धेतोरुद्यन्ति। सर्वेषु लोकेषूदयं प्राप्नुवन्ति। सर्वत्र कामचाराभवन्तीत्यर्थः। तस्माद्रूपादित्यत्र हेतौ पञ्चमी ॥ २ ॥

अनुवादः-वे इसी अमृताख्य महिमा को चारोंतरफ अनुभव करते हैं और उसी महिमा की उपासना के कारण वे सर्वत्र उदित (सर्वत्र कामचारी) होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः-(ते) वे आदित्य (एतद्+एव) इसी (रूपम्) अमृताख्य ब्रह्मस्वरूप को (अभिसंविशन्ति) चारों तरफ अनुभव करते हैं और (एतस्माद्+रूपात्) इसी महिमा के कारण अर्थात् उसी की उपासना के प्रभाव के हेतु (उद्यन्ति) सर्वत्र उदित होते हैं अर्थात् सर्व लोकलोकान्तरों में वे अहतगति और कामचारी होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्ये-तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

सः । यः । एतद् । एवम् । अमृतम् । वेद । आदित्यानाम् । एव । एकः । भूत्वा । वरुणेन । एव । मुखेन । एतद् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यति । सः । एतद् । एव । रूपम् । अभिसंविशति । एतस्माद् । रूपाद् । उदेति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-स य इति । स यो मुमुक्षुः । एतदेवममृतं एतदेवममृताख्यं ब्रह्म । वेद सम्यग्विजानाति । सः । आदित्यानाम् कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यव्रतानामादित्याख्यानां ब्रह्मचारिणां मध्ये । एवएकः । अन्यतमोभूत्वा प्रधानो वा भूत्वा । वरुणेनैवमुखेन । वरणीयेन कान्तेन मुखेनोपलक्षितः शोभमानः सन् । एतदेवामृतम् । अमृतप्रदं ब्रह्म । दृष्ट्वा मुक्तावस्थायामवलोक्य साक्षात्कृत्य । तृप्यति । आनन्दति । स एतदेवरूपम् । अमृताख्यं रूपमभिसंविशति परितोऽनुभवति । एतस्माद्रूपाद् एतस्यरूपस्योपासनाद्धेतोः । उद्यति च । सर्वत्रोदयं लभते । सर्वत्र कामचारो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः-सो जो कोई इसी अमृत (अमृतरूप ब्रह्म) को अच्छी तरह जानता है वह आदित्यों में एक होकर वरुणवत् देदीप्यमानमुख से शोभायमान होता हुआ इसी अमृत को अनुभवकर तृप्त होता है और वह इसी महिमा का चारोंतरफ अनुभव करता है । और उसी रूप की उपासना के कारण सर्वत्र वह उदित होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः+यः) सो जो कोई (एतत्+एवम्+अमृतम्) उसी अमृत को (वेद) जानता है वह (आदित्यानाम्+एव) आदित्यों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (वरुणेनैवमुखेन) वरणीय मुख से शोभायमान होता हुआ (एतद्+एव+अमृतम्+दृष्ट्वा) इसी अमृताख्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यति) तृप्त रहता है और (सः) वह विद्वान् (एतदेवरूपम्) इसी महिमा में (अभिसंविशति) समभावसे प्रविष्ट रहता है (एतस्माद्रूपात्) और इसी महिमा की उपासना के प्रभाव से (उदेति) सर्वत्र उदित अर्थात् कामचारी होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

सः । यावत् । आदित्यः । दक्षिणतः । उदेता । उत्तरतः । अस्तम् । एता । द्विस्तावत् । पश्चात् । उदेता । पुरस्तात् । अस्तम् । एता । आदित्यानाम् । एव । तावत् । आधिपत्यम् । स्वाराज्यम् । पर्य्येता ॥ ४ ॥

भाष्यम्-स यावदिति । सम्प्रति रुद्राणां भोगकालादादित्यानां तद्विज्ञानवतां च द्विगुणः कालोस्तीतिदर्शयितुं प्रवर्तते । तद्यथा । आदित्यः सूर्यः यावद्यावन्तंकालम् । दक्षिणतः दक्षिणस्यांदिशि । उदेता उदयं प्राप्स्यति । उत्तरतः उत्तरस्यां दिशि । अस्तमेता अस्तं प्राप्स्यति । द्विस्तावत् ततोद्विगुणं कालम् । पश्चात् प्रतीच्यामुदेता पुरस्तात् प्राच्यां अस्तमेता । तावत् तावन्तं कालमादित्यानामेव मध्ये स्वाराज्यमाधिपत्यं स विद्वान् पर्य्येता ॥ ४ ॥ इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-जब तक सूर्य दक्षिण दिशा में उदित होता रहेगा और उत्तर में अस्त होता रहेगा उस से द्विगुणकाल पश्चिम दिशा में उदित होता रहेगा और पूर्व में अस्त होता रहेगा उतने काल तक वह विद्वान् आदित्यों के मध्य सुखमय राज्याधिपत्य पाकर कामचारी होगा ॥ ४ ॥

पदार्थः-(यावत्) जितने काल (आदित्यः) सूर्य (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में (उदेता) उदित होता रहेगा (उत्तरतः) उत्तर दिशा में (अस्तम्+एता) अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उससे द्विगुणकाल (पश्चात्+उदेता) पश्चिम दिशा में उदित होता रहेगा (पुरस्तात्+अस्तमेता) पूर्व दिशा में अस्त होता रहेगा (तावत्) उतने काल (सः) वह विद्वान् (आदित्यानामेव) आदित्यों के बीच में ही (स्वाराज्यम्) सुखमय राज्यरूप (आधिपत्यम्) अधिकार पाकर (पर्य्येता) चारों तरफ स्वच्छन्दचारी रहेगा ॥ ४ ॥ इत्यष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अथ । यत् । चतुर्थम् । अमृतम् । तत् । मरुतः । उपजीवन्ति । सोमेन । मुखेन । न । वै । देवाः । अश्नन्ति । न । पिबन्ति । एतद् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति । चतुर्थामृतेन चतुर्थवेदादथर्वाख्याद्विहितं ब्रह्म लक्ष्यते । ये च वेदत्रयं साङ्गमधीत्य प्राधान्येनाथर्वणिपरिश्राम्यन्तोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं कालं ब्रह्मचर्यमाचरन्तो गुरौ निवसन्ति ते मरुत्पदवीं लभन्ते तेषां चाथर्ववेद एवोपजीवनं भवति । बहुकाल ब्रह्मचर्य्य-व्रतेन तदीयं मुखं चन्द्रवत् सर्वेषामाह्लादकरं भवति । अतः सोममुखा हि वै ते ब्रह्मचारिणः । मन्त्रार्थस्तु ऋजुः पूर्ववच्च ॥ १ ॥

अनुवादः–अनन्तर जो चतुर्थ अमृत है उसे पा मरुत्पदवीप्राप्त ब्रह्मचारी चन्द्रवत् मुख से शोभमान होते हुए उपजीवन करते हैं । देवशब्दवाच्य वे मरुदादि ब्रह्मचारी न तो खाते हैं न पीते हैं किन्तु इसी अमृतप्रद ब्रह्म का साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (यत्+चतुर्थम्+अमृतम्) जो चौथा अमृत है अर्थात् अथर्वाख्य चतुर्थवेद के द्वारा विदित जो ब्रह्म सो यहां चतुर्थ अमृत कहलाता है (तत्) उस अमृतप्रद ब्रह्म से (मरुतः) ४८ वर्ष से अधिक काल ब्रह्मचर्य के कारण वे ब्रह्मचारी मरुत्पदवी को प्राप्त होते हैं । वे लोग मरुत् नाम से पुकारे जाते हैं वे मरुत् संज्ञक ब्रह्मचारी मुक्तावस्था में (सोमेन+मुखेन) चन्द्रवत् मुख से शोभमान होते हुए (उपजीवन्ति) उपजीवन करते हैं (न+वै+देवाः+अश्नन्ति) न तो वे देवपदवाच्य मरुदादि ब्रह्मचारी मुक्ति में खाते हैं और (न पिबन्ति) न पीते हैं किन्तु (एतदेवामृतम्+दृष्ट्वा) इसी अमृतप्रद ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त रहते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

ते । एतद् । एव । रूपम् । अभिसंविशन्ति । एतस्माद् । रूपाद् । उद्यन्ति ॥ २ ॥

भाष्यम्–त इति । ते मरुदाख्या ब्रह्मचारिण एतदेवरूपं एतदेवामृताख्यंरूपं ब्रह्मैव अभिसंविशन्ति । अभितः सर्वतो ब्रह्मैवानुभवन्ति । ब्रह्मानन्दमेव सर्वतः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्म सर्वत्रैव विद्यते अतः सर्वेब्रह्मण्येव निविष्टाः सन्ति । तथापि सत्यज्ञाने ब्रह्मण्येवाहमस्मि ब्रह्मविभूतयो मां परियन्ति । क्षणंक्षणमानन्दामृतं मयिवर्षतीत्यादि नानुभवन्ति सम्यग् । तत्तत्र । एतस्मादेवरूपात्कारणात् तस्यैवरूपस्य उपासनाद्धेतो रुद्यन्ति । सर्वेषु लोकेषूदयं प्राप्नुवन्ति सर्वत्र कामचारा भवन्तीत्यर्थः ।–तस्माद्रूपादित्यत्रहेतौ पञ्चमी ॥ २ ॥

अनुवादः-वे इसी अमृताख्य रूप को चारोंतरफ अनुभव करते हैं और इसी महिमा की उपासना के कारण वे सर्वत्र उदित (सर्वत्र कामचारी) होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः-(ते) वे मरुद्गण (एतद्+एव) इसी (रूपम्) अमृताख्य ब्रह्मस्वरूप को (अभिसंविशन्ति) चारोंतरफ अनुभव करते हैं और (एतस्माद्+रूपात्) इसी सत्ता की उपासना के प्रभाव के हेतु (उद्यन्ति) सर्वत्र उदित होते हैं अर्थात् सर्व लोक लोकान्तरों में वे अहतगति और कामचारी होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्ये-तस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

सः । यः । एतद् । एवम् । अमृतम् । वेद । मरुताम् । एव । एकः । भूत्वा । सोमेन । एव । मुखेन । एतद् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यति । सः । एतद् । एव । रूपम् । अभिसंविशति । एतस्माद् । रूपात् । उदेति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-स य इति । स योऽन्योपि मुमुक्षुः । एतदेवममृतम् । एतदेवममृताख्यं ब्रह्मवेद । सम्यग् विजानाति स मरुताम् । कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षाधिक ब्रह्मचर्यव्रतानां मरुतां ब्रह्मचारिणां मध्ये एव एकः अन्यतमोभूत्वा प्रधानो वा भूत्वा । सोमेनैवमुखेन । कान्तेनैवमुखेनोपलक्षितः शोभमानः सन् । एतदेवामृतममृतप्रदं ब्रह्म दृष्ट्वा मुक्तावस्थायामवलोक्यसाक्षात्कृत्य । तृप्यति । आनन्दति । स च पुनः एतदेवरूपम् । अमृताख्यंरूपम् । अभिसंविशति । परितोऽनुभवति । एतस्माद्रूपाद् । एतस्यरूपस्योपासानद्धेतोः । उद्यति च सर्वत्रोदयं लभते । सर्वत्र कामचारो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः-सो जो कोई इस अमृत (अमृतरूप ब्रह्म) को इस प्रकार अच्छी तरह जानता है वह मरुतों में ही एक होकर सोमवत् देदीप्यमान मुख से शोभायमान होता हुआ इसी अमृत को अनुभव कर तृप्त होता है और वह इसी सत्ता वा महिमा का चारों तरफ अनुभव करता है । और उसी महिमा की उपासना के कारण सर्वत्र वह उदित होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः+यः) सो जो कोई (एतत्+एवम्+अमृतम्) इस अमृत को इस प्रकार (वेद) जानता है वह (मरुताम्+एव) मरुतों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (सोमेनैवमुखेन) कान्त मुख से शोभमान होता हुआ (एतद्+एव+अमृतम्+दृष्ट्वा) इसी अमृताख्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यति) तृप्त रहता है और (सः) वह विद्वान् (एतदेव

रूपम्) इसी महिमा में (अभिसंविशति) सर्व भाव से प्रतिष्ठित रहता है (एतस्मा- द्रूपात्) और इसी महिमा की उपासना के प्रभाव से (उदेति) सर्वत्र उदित अर्थात् कामचारी होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

सः । यावत् । आदित्यः । पश्चात् । उदेता । पुरस्तात् । अस्तम् । एता । द्विस्तावत् । उत्तरतः । उदेता । दक्षिणतः । अस्तम् । एता । मरुताम् । एव । तावत् । आधिपत्यम् । स्वाराज्यम् । पर्य्येता ॥ ४ ॥

भाष्यम्—स यावदिति । सम्प्रति आदित्यानां भोगकालान्मरुतां तद्विज्ञानवतां च द्विगुणः कालोस्तीति दर्शयितुं प्रवर्तते । तद्यथा । आदित्यः सूर्यः यावद् यावन्तं कालं पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि उदेता उदयं प्राप्स्यति । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि । अस्तमेता अस्तं प्राप्स्यति । द्विस्तावत् ततो द्विगुणं कालम् । उत्तरतः उदेता दक्षिणतः अस्तमेता । तावत् तावन्तं कालं मरुतानामेवमध्ये स्वाराज्यमाधिपत्यं स विद्वान्पर्य्येता ॥ ४ ॥ इति नवमखण्डस्य संस्कृतभाष्यम्

अनुवादः—जबतक सूर्य पश्चिमदिशा में उदित होता रहेगा और पूर्व में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुणकाल उत्तर में उदित होता रहेगा और दक्षिण में अस्त होता रहेगा उतने काल तक वह विद्वान् मरुतों के बीच में सुखमय राज्याधिपत्य पाकर कामचारी होगा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यावत्) जितने काल (आदित्यः) सूर्य (पश्चात्) पश्चिमदिशा में (उदेता) उदित होता रहेगा (पुरस्तात्) पूर्वदिशा में (अस्तमेता) अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उससे द्विगुणकाल (उत्तरतः+उदेता) उत्तर दिशा में उदित होता रहेगा (दक्षिणतः+अस्तमेता) दक्षिणदिशा में अस्त होता रहेगा (तावत्) उतने काल (सः) वह विद्वान् (मरुतामेव) मरुतों के बीच में ही (स्वाराज्यम्) सुखमय राज्यरूप (आधिपत्यम्) अधिकार पाकर (पर्य्येता) चारोंतरफ स्वच्छन्दचारी रहेगा ॥ ४ ॥

इति नवमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अथ। यत्। पञ्चमम्। अमृतम्। तत्। साध्याः। उपजीवन्ति। ब्रह्मणा। मुखेन। न। वै। देवाः। अश्नन्ति। न। पिबन्ति। एतत्। एव। अमृतम्। दृष्ट्वा। तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्-अथेति। चत्वारः खल्वाम्नायाः सन्ति ब्रह्मविवरणपराः। ते च प्रतिपादकाः। ब्रह्म च प्रतिपाद्यम्। एकैकस्मा द्वेदादमृतप्रदाद् विदितंब्रह्म। एकैकममृतमुच्यते। ऋचांप्राथम्यात् तदुपदिष्टं ब्रह्म प्रथमममृतमुच्यते। एवमेव यजुः सामाथर्वभ्यो विज्ञातं ब्रह्म क्रमेण द्वितीयंतृतीयंचतुर्थममृतं कथ्यते। चतुर्णाञ्चवेदानां ये गुह्या आदेशाः सन्ति तेभ्यः साक्षात्कृतं यद्ब्रह्मास्ति तत्पञ्चममृतमभिधीयते। ये च चतुरोवेदान् अङ्गादि सहितान् समदृष्ट्याऽधीयते तेषां गुह्यानादेशांश्च जानन्ति। ते साध्याः साधयन्ति चतुरोवेदांस्तदादेशांश्च ये ते साध्याः। ब्रह्मतेजसा मुखेन ते प्रकाशन्ते। ब्रह्ममुखा हि वै ते ब्रह्मचारिणः। तेषां चत्वारो वेदा गुह्या आदेशाश्च उपजीवनं भवति। अन्यत्सर्वमृज्वर्थम् ॥ १ ॥

अनुवादः-अनन्तर जो पञ्चम अमृत है उसे पा ब्रह्मतेजयुक्त मुख से शोभमान होते हुए साध्यपदवी प्राप्त ब्रह्मचारी इसकी समीपता का अनुभव करते हुए जीवन विताते हैं। न तो वे देव खाते हैं और न पीते हैं किन्तु इसी अमृत का साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं ॥१॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (यत्) जो (पञ्चमम्) पञ्चम (अमृतम्) अमृत है अर्थात् चारों वेदों के गुह्य जो आदेश उनसे साक्षात् कृत जो ब्रह्म उसे यहां पञ्चम अमृत कहते हैं (तत्) उसको पाकर (ब्रह्मणामुखेन) ब्रह्मतेजोयुक्त मुख से उपलक्षित (साध्याः) साध्यपदवी प्राप्त ब्रह्मचारी (उपजीवन्ति) मुक्तावस्था में ईश्वर की समीपता में जीवन निर्वाह करते हैं (न+वै+देवाः) दिव्यगुण सम्पन्न वे साध्यादिनाम ब्रह्मचारी (न+अश्नन्ति) उस अवस्था में न तो खाते हैं (न+पिबन्ति) और न पीते हैं किन्तु (एतत्+एव+अमृतम्+दृष्ट्वा) इसी अमृतपद ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यन्ति) तृप्त होते हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः-निश्चय, चारों वेद ब्रह्मविचार में ही मुख्यतया प्रवृत्त हैं। वे प्रतिपादक हैं और ब्रह्मप्रतिपाद्य है एक २ अमृतप्रद वेद से विज्ञात जो ब्रह्म वह एक २ अमृत कहलाता है। ऋग्वेद के प्रथम होने से ऋग्वेदप्रतिपादित ब्रह्म प्रथम अमृत, वैसा ही यजु, साम और अथर्ववेद से विदित ब्रह्म क्रम से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अमृत कहलाता है परन्तु सम्पूर्ण चारों वेदों के द्वारा और तद्गुह्य आदेश के द्वारा विदित जो ब्रह्म वह पञ्चमामृत नाम से कहलाता है। साध्य-जो ब्रह्मचारी अङ्गादि सहित चारों

वेदों को समदृष्टि से अध्ययन करते हैं, वे साध्य कहलाते हैं। क्योंकि वे चारों वेदों को अच्छे प्रकार साधते हैं और उनका मुख ब्रह्मतेज से युक्त हो सुशोभित होता है। साध्यों के चारों वेद उपजीवन हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

ते । एतत् । एव । रूपम् । अभिसंविशन्ति । एतस्माद् । रूपात् । उद्यन्ति ॥ २ ॥

भाष्यम्—त इति । ते साध्या ब्रह्मचारिण एतदेवरूपमेतदेवामृताख्यंरूपं ब्रह्मैव अभिसंविशन्ति । अभितः सर्वतो ब्रह्मैवानुभवन्ति । सर्वानन्दमेवसर्वतः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मसर्वत्रैव विद्यते अतः सर्वे ब्रह्मण्येव निविष्टाः सन्ति । तथापि सत्यज्ञाने ब्रह्मण्येवाहमस्मि ब्रह्मविभूतयो मां परियन्ति । क्षणंक्षणमानन्दामृतं मयि वर्षतीत्यादि नानुभवन्ति सम्यग् । तथाच । एतस्मादेवरूपात्कारणात् तस्यैव रूपस्य उपासनाद्धेतोरुद्यन्ति सर्वेषु लोकेषूदयं प्राप्नुवन्ति सर्वत्र कामचारा भवन्तीत्यर्थः । तस्माद्रूपादित्यत्र हेतौ पञ्चमी ॥ २ ॥

अनुवादः—वे इसी अमृताख्य सत्ता को चारोंतरफ अनुभव करते हैं और उसी सत्ता की उपासना के कारण वे सर्वत्र उदित (सर्वत्र कामचारी) होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः—(ते) वे साध्य (एतद्+एव) इसी (रूपम्) अमृताख्य ब्रह्मस्वरूप को (अभिसंविशन्ति) चारोंतरफ अनुभव करते हैं और (एतस्माद्+रूपात्) इसी महिमा के कारण अर्थात् उसी महिमा की उपासना के प्रभाव के हेतु (उद्यन्ति) सर्वत्र उदित होते हैं अर्थात् सर्वलोकलोकान्तरों में वे अहतगति और कामचारी होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

सः । यः । एतद् । एवम् । अमृतम् । वेद । साध्यानाम् । एव । एकः । भूत्वा । ब्रह्मणा । एव । मुखेन । एतद् । एव । अमृतम् । दृष्ट्वा । तृप्यति । सः । एतद् । एव । रूपम् । अभिसंविशति । एतस्माद् । रूपात् । उदेति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स य इति । स योऽन्यो मुमुक्षुः एतदेवममृतम् । एतदेवममृताख्यं ब्रह्म वेद । सम्यग् विजानाति स साध्यानाम् । कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षाधिकब्रह्मचर्यव्रतानां साध्यानां ब्रह्मचारिणां मध्ये एव एकः अन्यतमोभूत्वा प्रधानो वा भूत्वा । ब्रह्मणैव मुखेन । एतदेवामृतम् ।

अमृतपदं ब्रह्म दृष्ट्वा मुक्तावस्थायामवलोक्य साक्षात्कृत्य । तृप्यति । आनन्दति । स एतदेवरूपम् । अमृताख्यं रूपम् । अभिसंविशति परितोऽनुभवति । एतस्माद्रूपात् । एतस्यरूपस्योपासनाद्धेतोः । उद्यति च सर्वत्रोदयं लभते । सर्वत्रकामचारो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः-सो जो कोई इस अमृत (अमृतरूपब्रह्म) को इस प्रकार अच्छी तरह जानता है वह साध्यों में एक होकर ब्रह्मवत् देदीप्यमान मुख से शोभायमान होता हुआ इसी अमृत को अनुभव कर तृप्त होता है और वह इसी महिमा का चारों तरफ अनुभव करता है और उसी महिमा की उपासना के कारण वह सर्वत्र उदित होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः यः) सो जो कोई (एतदेवम्+अमृतम्) इस अमृत को इस प्रकार (वेद) जानता है वह (साध्यानाम्+एव) साध्यों में ही (एकः) एक (भूत्वा) होकर (ब्रह्मणैवमुखेन) ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव को धारण किये हुए ब्रह्मवत् अर्थात् पवित्र और शान्त हो (एतद्+एव+अमृतम्+दृष्ट्वा) इसी अमृताख्य ब्रह्म का साक्षात्कार करके (तृप्यति) तृप्त रहता है और (सः) वह विद्वान् (एतदेवरूपम्) इसी सत्ता में (अभिसंविशति) सर्वभाव से प्रतिष्ठित रहता है (एतस्माद्रूपात्) और इसी सत्ता की उपासना के प्रभाव से (उदेति) सर्वत्र उदित अर्थात् कामचारी होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेताऽर्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

सः । यावत् । आदित्यः । उत्तरतः । उदेता । दक्षिणतः । अस्तम् । एता । द्विस्तावत् । ऊर्ध्वम् । उदेता । अर्वाक् । अस्तम् । एता । साध्यानाम् । एव । तावत् । आधिपत्यम् । स्वाराज्यम् । पर्य्येता ॥ ४ ॥

भाष्यम्-स यावदिति । सम्प्रति मरुतांभोगकालात्साध्यानां तद्विज्ञानवतांच द्विगुणः कालोऽस्तीतिदर्शयितुं प्रवर्त्तते । तद्यथा । आदित्यः सूर्यः यावद्यावन्तंकालम् उत्तरतः उत्तरस्यांदिशि उदेता उदयं प्राप्स्यति । दक्षिणतः दक्षिणस्यांदिशि अस्तमेता अस्तंप्राप्स्यति । द्विस्तावत् ततो द्विगुणंकालम् । ऊर्ध्वमुदेता अर्वागस्तमेता । तावत् तावन्तंकालं साध्यानामेवमध्ये स्वाराज्यमाधिपत्यं स विद्वान् पर्य्येता ॥ ४ ॥

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-जबतक सूर्य उत्तरदिशा में उदित होता रहेगा और दक्षिण में अस्त होता रहेगा उससे द्विगुणकाल ऊर्ध्व देश में उदित होता रहेगा और अधःस्थित देश में

अस्त होता रहेगा । उतने काल तक वह विद्वान् साध्यों के बीच में सुखमय राज्याधिपत्य पाकर कामचारी होगा ॥ ४ ॥

पदार्थः–(यावत्) जितने काल (आदित्यः) सूर्य (उत्तरतः) उत्तर दिशा में (उदेता) उदित होता रहेगा और (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में (अस्तमेता) अस्त होता रहेगा (द्विस्तावत्) उससे द्विगुण काल (ऊर्ध्वम्=उदेता) ऊर्ध्व देश में उदित होता रहेगा (अर्वागस्तमेता) अधःस्थित देश में अस्त होता रहेगा (तावत्) उतने काल (सः) वह विद्वान् (साध्यानामेव) साध्यों के बीच में ही (स्वाराज्यम्) सुखमय राज्यरूप (आधिपत्यम्) अधिकार पाकर (पर्य्येता) चारोंतरफ स्वच्छन्दचारी रहेगा ॥ ४ ॥

इति दशमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १० ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

अथ । ततः । ऊर्ध्वः । उदेत्य । न । एव । उदेता । न । अस्तम् । एता । एकलः । एव । मध्ये । स्थाता । तत् । एषः । श्लोकः ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति । उक्तं हि पूर्वमेकवेदज्ञो यावन्तं कालं मोक्षे तिष्ठति ततो द्विगुणं कालं द्विवेदज्ञः । ततो द्विगुणं कालं त्रिवेदज्ञः । इत्थमेव चतुर्वेदज्ञादिः । एते च समये २ अस्तमुदयञ्च यन्ति । अस्तं नाम गर्भनिवासः । उदयो नाम गर्भादाविर्भावः । यः खलु अधीतसर्वविद्यः । विदितपरब्रह्मा । साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वः । वशीकृतप्रकृतिव्यापारः । गोचरीकृतप्रधानविभूतिः । स्वस्मैप्रकृतिः स्वात्मानं दर्शयित्वा यस्मान्निवृत्ता अतः कृतकृत्य ईदृक् पुरुषः प्रेत्य बहुषु कल्पेषु ब्रह्मयोगेन वर्त्तमानः स्वसंवेद्यमानन्दब्रह्मनुभवँस्तिष्ठति । न तं कर्माण्याकृष्य योनिषु प्रक्षिपन्ति । न तं दृष्टादृष्टे विचालयतः । न तं कामना अवसादयन्ति । न तमिन्द्रियाणि समनस्कानि प्रभवन्ति । न च तं किमपि पातयितुमर्हति स आत्मनिरमते । आत्मनि क्रीडति । आत्मनि चलति । आत्मन्येव संतुष्यति । सर्वं तस्यात्मैवास्ति । उपनिषत्खण्ड ईदृशं पुरुषं स्तोतुमुपक्रमते । अथानन्तरं । स विद्वान् । तत ऊर्ध्व उदेत्य । यत्र मुक्ता देशविदो गच्छन्ति । तस्मादपि ऊर्ध्वे विज्ञाने उदेत्य उद्गम्य । नैवपुनरपि उदेता । नचास्तमेता । न जन्ममरणं प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्रदेशकृतमुद्गमनंग्राह्यम् । किन्तु विज्ञानम्प्रति ऊर्ध्वगमनं निर्दिश्यते । यस्तु परमं विज्ञानं गतः स नैव प्रायं प्रायमुत्पद्यत इत्यर्थः । तर्हि किमालम्बनः

किमाधारः क्व स तिष्ठतीत्याह । स एकलएव । एकाक्येव । मध्ये ब्रह्मणो मध्ये स्थाता । स्थास्यति । ततत्र तस्मिन् पूर्वोक्तविषये । एष श्लोकः प्रमाणं वर्त्तते ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर उससे ऊर्ध्व गमनकर (वह विद्वान्) न तो उदित होता और न अस्त होता है । वह एकाकी ही ईश्वर के मध्य स्थित रहता है । उस विषय में यह श्लोक है ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ततः) उससे (ऊर्ध्वः) ऊपर (की दशा में) (उदेत्य) जाकर वह विद्वान् (नैव+उदेता) पुनः न तो उदित होता (न) और न (अस्तम्+एता) अस्त होता है किन्तु (एकलः+एव) एक ही (मध्ये) ब्रह्म के मध्य में ही (स्थाता) स्थिति करता है (तत्) उस विषय में (एषः+श्लोकः) यह श्लोक है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—पूर्व में कहा गया है कि एक वेदज्ञ जितने काल मोक्ष में रहते हैं उससे द्विगुणकाल द्विवेदज्ञ, उससे द्विगुणकाल त्रिवेदज्ञ, उससे द्विगुणकाल चतुर्वेदज्ञ, उससे द्विगुणकाल गुह्य आदेशज्ञ मोक्ष में ठहरते हैं । ये लोग समय आने पर उदय और अस्त को प्राप्त होते हैं । अस्तनाम गर्भ में निवास का है और गर्भ से आविर्भाव होने का नाम उदय है । परन्तु जिसने सम्पूर्ण विद्याएं पढ़ी हैं । परब्रह्म जाना है । तत्त्व साक्षात्कृत किया है । प्रकृति के व्यापार वश किये हैं । प्रधान की विभूति प्रत्यक्ष की है । स्वयं प्रकृति अपने आत्मा को दिखला जिससे निवृत्त होगई है । अतः जो कृतकृत्य है । ऐसा पुरुष मर कर बहुत कल्प तक ब्रह्मयोग के साथ वर्त्तता हुआ स्वसंवेद्य आनन्द को अनुभव करता हुआ रहता है ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

न । वै । तत्र । न । निम्लोच । न । उदियाय । कदाचन । देवाः । तेन । अहम् । सत्येन । मा । विराधिषि । ब्रह्मणा । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—न वा इति । तत्र मुक्तावस्थायाम् । न वै द्वन्द्वमिति शेषः । न किमपि तत्र दुःखं वर्त्तते इत्यर्थः । पुनः सूर्यस्तत्र कदाचन कस्मिंश्चिदपि काले न वै निम्लोच नास्तं गच्छति । न उदियाय । न चोदयं प्राप्नोति । उदयास्तमयविवर्जिता सा दशास्तीत्यर्थः । कश्चिदपि प्रमाणयतीदम् । तद्यथा । हे देवा हे साक्षिणो विद्वांसः । इदं मयोक्तं सत्यं वचः शृणुत । अहं तेन सत्यवचनेन । ब्रह्मणा ब्रह्मस्वरूपेण । माविराधिषि माविरुद्धेयम् अपाप्तिब्रह्मणोमाभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

(१) निम्लोचेत्यस्मिन्नर्थे छान्दसः प्रयोगः ।

अनुवादः—निश्चय ही वहां द्वन्द्व नहीं है । सूर्य वहां कदापि भी न अस्त और न उदित होता है । हे विद्वानो ! मैं उस सत्य के द्वारा ब्रह्म से विरोधी न बनूं ॥ २ ॥

पदार्थः-(तत्र) उस मुक्तावस्था में (न वै) कोई सुख दुःख द्वन्द्व नहीं है और वहां सूर्य (न निम्लोच) अस्त नहीं होता और (कदाचन) कभी भी (न उदियाय) न उदित होता है कोई ऋषि इसको प्रमाणित करते हैं (देवाः) हे विद्वानो ! (तेन सत्येन) उस सत्य वचन से (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्म से (मा विराधिषि) मत विरोधी होऊं । इति ॥ २ ॥

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

न । ह । वै । अस्मै । उदेति । न । निम्लोचति । सकृद् । दिवा । ह । एव । अस्मै । भवति । यः । एताम् । एवम् । ब्रह्मोपनिषदम् । वेद ॥ ३ ॥

भाष्यम्—न ह वा इति । यो विद्वान् । एताम् । इमाम् । ब्रह्मोपनिषदम् । ब्रह्मविज्ञानप्रदामुपनिषदम् । एवममुना प्रकारेण वेद जानाति । तस्मै । ब्रह्मोपनिषद्विदे विदुषे । सूर्यः । न ह वै । न कदाचन । उदेति । उदयं प्राप्नोति । न निम्लोचति नचास्तमेति । वै इतिनिश्चितम् । सूर्यस्योदयास्तमयाविति सुखदुःखादिद्वन्द्वं लक्षयतः । न तस्मै द्वन्द्वमायातीत्यर्थः । अस्मै ब्रह्मविदे पुरुषाय सकृद्दिवाहेत । सर्वदा दिवैवदिनमेव ह भवति ॥ ३ ॥

अनुवादः-जो इस ब्रह्मोपनिषद् को इस प्रकार जानता है इसके लिये कदापि भी न तो (सूर्य) उदित होता है और न अस्त होता है । निश्चय, इसके लिये सर्वदा दिन ही रहता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(यः) जो ब्रह्मविद् पुरुष (एताम्) इस (ब्रह्मोपनिषदम्) ब्रह्मविज्ञानप्रद उपनिषद्को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (अस्मै) इस ब्रह्मविज्ञाननिपुण पुरुष के लिये (न+ह+वै) कदापि न तो (उदेति) सूर्य उदय होता और (न+निम्लोचति) न अस्त होता है (अस्मै) इस ब्रह्मविद् के लिये (सकृद्) सर्वदा (दिवा+ह एव) दिन ही (भवति) रहता है ॥ ३ ॥

(१) कोई ब्रह्मलोक से आये हुए ऋषि अपने मित्रों से वहां की दशा वर्णन करते हैं । यहां श्री शङ्कराचार्य को भी मुक्ति से लौटना मानना पड़ा है, उनका शब्द यह है- "यतोऽहं ब्रह्मलोकादागतः=जिस हेतु मैं ब्रह्मलोक से आया हूं" इत्यादि शाङ्करभाष्य देखो ।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायाऽऽरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

तद् । ह । एतद् । ब्रह्मा । प्रजापतये । उवाच । प्रजापतिः । मनवे । मनुः । प्रजाभ्यः । तद् । ह । एतद् । उद्दालकाय । आरुणये । ज्येष्ठाय । पुत्राय । पिता । ब्रह्म । प्रोवाच ॥ ४ ॥

भाष्यम्-तदिति । तद्धैतद् ब्रह्मविज्ञानम् । ब्रह्मा । ब्रह्मनामा कश्चिदृषिः । प्रजापतये । कश्यपनाम्ने प्रजारक्षकाय राज्ञे । उवाच । उपदिदेश । स प्रजापतिः । मनवे स्वपुत्रायोवाच । मनुः खलु इतराभ्यः प्रजाभ्य इदमुवाच । तथाच तद्धैतत् । तदेतत्प्रसिद्धं परम्परागतं ब्रह्म । ब्रह्मविज्ञानम् । पिता उद्दालकपिता । ज्येष्ठाय पुत्राय आरुणये उद्दालकाय नामतः प्रोवाच ॥ ४ ॥

अनुवादः-यह प्रसिद्ध है कि उस इस ब्रह्मविज्ञान को ब्रह्मा ऋषि ने प्रजापति से कहा और प्रजापति ने मनु से (कहा) और मनु ने प्रजाओं से (कहा) इसी ब्रह्म विज्ञान को पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र आरुणि उद्दालक से उपदेश दिया ॥ ४ ॥

पदार्थः-(ह) यह विषय इतिहास में प्रसिद्ध है कि (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामक किसी ऋषि ने (तद्+एतद्) उस इस ब्रह्मज्ञान का (प्रजापतये) प्रजापति कश्यप को (उवाच) उपदेश दिया (प्रजापतिः+मनवे) प्रजापति ने अपने पुत्र मनु को (मनुः प्रजाभ्यः) और मनु ने प्रजाओं को इस ब्रह्म-विज्ञान का उपदेश दिया और (पिता) उद्दालक के पिता ने (आरुणये) आरुणि (उद्दालकाय) उद्दालक नाम के (ज्येष्ठाय+पुत्राय) ज्येष्ठ पुत्र को (तद्+ह+एतद्+ब्रह्म) इस प्रसिद्ध ब्रह्म-विज्ञान का (प्रोवाच) उपदेश किया ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

इदम् । वाव । तत् । ज्येष्ठाय । पुत्राय । पिता । ब्रह्म । प्रब्रूयात् । प्राणाय्याय । वा । अन्तेवासिने ॥ ५ ॥

भाष्यम्-इदमिति । पिता । इदं तद् ब्रह्म । इदं तद् ब्रह्मविज्ञानपरं महच्छास्त्रम् । वाव निश्चितम् । ज्येष्ठाय पुत्राय । प्राणाय्याय वा प्राणसम्मिताय वा । अन्तेवासिने शिष्याय प्रब्रूयादुपदिशेत् ॥ ५ ॥

अनुवादः–पिता को उचित है कि अपने ज्येष्ठ पुत्र अथवा प्राणतुल्य शिष्य से उस इस ब्रह्मविज्ञान का उपदेश करे ॥ ५ ॥

पदार्थः–(पिता) पिता (ज्येष्ठाय पुत्राय) अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र से (वा) अथवा (प्राणाय्याय) प्राणतुल्य (अन्तेवासिने) शिष्य से (तद्+इदम्) उस इस (ब्रह्म) ब्रह्मविज्ञान का (प्रब्रूयात्) उपदेश देवें ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन । यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

न । अन्यस्मै । कस्मैचन । यद्यपि । अस्मै । इमाम् । अद्भिः । परिगृहीताम् । धनस्य । पूर्णाम् । दद्यात् । एतद् । एव । ततः । भूयः । इति । एतद् । एव । ततः । भूयः । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्–नेति । अन्यस्मै कस्मैचन । अश्रद्दधानाय शठाय नास्तिकाय पुरुषाय ईदृशाय कस्मैचिदपि पुत्रशिष्याद्भिन्नाय अपराय न ब्रूयादितिपूर्वस्मादध्याहार्य्यम् । यद्यपि । कोऽपिपुरुषः । अद्भिः परिगृहीताम् । अद्भिः समुद्रैः परिवेष्टितां समस्तामपि । धनस्य पूर्णाम् । धनैः प्रपूर्णां सम्पन्नाम् । इमां पृथिवीमितिशेषः । दद्यात् । समर्पयेत् । तथापि । अश्रद्दधानाय तस्मा आचार्य्यो न ब्रूयात् । यतः । एतदेव । एतद्ब्रह्मविज्ञानदानमेव ततो भूयः । तस्याः पृथिव्या धनपूर्णायाः समुद्रवेष्टितायाा दानात् । भूयः । अधिकतरम् । द्विरभ्यास आदरार्थः ॥ ६ ॥ इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–अन्य किसी को (इस ब्रह्मविद्या का उपदेश आचार्य न करे) यद्यपि समुद्र परिवेष्टित और धन परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी कोई इस आचार्य को देवे तथापि (किसी से इसका उपदेश न करे) क्योंकि उस दान से यही दान अधिकतर है । उस दान से यही दान अधिकतर है ॥ ६ ॥

पदार्थः–(यद्यपि) यद्यपि (अद्भिः) समुद्रों से (परिगृहीताम्) परिवेष्टित । अर्थात् सम्पूर्ण (धनस्यपूर्णाम्) और धनों से पूर्ण (इमाम्) इस पृथिवी का दान (अस्मै) इस ब्रह्मविद् आचार्य्य को (दद्यात्) दे देवे तथापि (अन्यस्मै+कस्मैचन) अन्य किसी से भी (न+ब्रूयात्) न कहै क्योंकि (ततः) उस पृथिवी के दान से (एतत्+एव भूय) यही ब्रह्मविद्या का दान (भूयः इति) अधिकतर है (एतदेवततोभू-

यइति) यही दान उस दान से अधिकतर दान है * ॥ ६ ॥ इत्येकादशखण्डस्यभाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

आदित्य शब्द (१३)

जब बहुत अर्थों में एक शब्द प्रयुक्त होता है, जब अलङ्कारों से अभीप्सित अर्थ को आचार्य लोग वर्णन करते हैं, जब विविध भावों को द्योतनार्थ एक ही समर्थ शब्द का प्रयोग करते हैं जब व्याख्यात पदार्थ एक से अनेक अर्थों में घट सकते हैं और जब देश में बहुत देवता पूज्य और उपासकों के उपासनीय माने जाते हैं और जब जड़ चेतन का विवेक सर्वथा नष्ट होजाता है तब शब्दमय जगत् में एक महान् कोलाहल उत्पन्न होता है। मनुष्य संशय को प्राप्त और शास्त्रार्थ विचार से विरत हो बैठ रहते हैं। विचक्षणगण भी शास्त्रार्थ को शीघ्र समझने में असमर्थ होजाते हैं। ऐसी दशा उपस्थित होने पर लोकोत्तरप्रतिभावान् कोई आप्त समीक्षक मनुष्यों पर करुणा कर सब की संगति, सन्देहों को दूर और आचार्यों के आशय को विस्पष्ट करने को ग्रन्थ रचते हैं। जिससे मन्दबुद्धि भी विगत सन्देह हो प्रायः प्रशंसा करने की इच्छा करने लगते हैं। इस हेतु इन उपनिषदों के वर्णन में जब लोग सन्देहापन्न हो अच्छे प्रकार विवेक करने में असमर्थ हुए तो परम कारुणिक कृष्णद्वैपायन ने चतुरध्यायी बनाई। वह चतुरध्यायी आजकल वेदान्तसंज्ञा से सर्वत्र परिचित है वह प्रधानतया उपनिषदों के ग्रन्थों के सूत्ररूप से व्याख्यान करती हुई निखिल सन्देहों को विदूरित करती है। उस से जो कतिपय उपयोगी वस्तुएं सर्वथा स्मरणीय हैं। उपनिषदर्थ बोधार्थ यहां उन्हें दिखलाते हैं:—

"प्रकरणाच्च" वे० सू० १। २। १० ॥ "प्रकरणात्" वे० सू० १। ३। ६ ॥ प्रथम प्रकरण। परन्तु प्रकरण में भी कदाचित् सन्देह होने की सम्भावना रहती है। अतः "धर्मोपपत्तेश्च" वे० सू० १। ३। ९ ॥ किस के गुण स्वभाव पाये जाते हैं। ये सब गुण मुख्यतया किस में सब प्रकार से घट जा सकते हैं और उसमें क्या २ हेतु हो सकते हैं "लिङ्गात्" वे० सू० १। १। १२ ॥ जैसा अग्नि का चिन्ह उष्णता है वैसा ही प्रत्येक पदार्थ का एक २ चिन्ह होता है वह चिन्ह किस में घटता है "प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इन युक्तियों वा उपपत्तियों में श्रुति स्मृति प्रभृतियों के भी प्रमाण हैं वा नहीं ॥

* इसका अभिप्राय यह है कि लोभवश होकर ब्रह्मविद्या का दान न करे किन्तु सदैव अधिकारी को पा कुछ न लेकर भी सदा उपदेश किया करे।

"उपक्रमोपसंहारौ, अभ्यासोऽपूर्वता फलम्, अर्थवादोपपत्तीच, लिङ्गषट्कमिदं मतम्" इस के अतिरिक्त ये छ लिङ्ग उपनिषद् वाक्यों के निर्णायक होते हैं (उपक्रम) प्रारम्भ (उपसंहार) अन्त इन दोनों की एकवाक्यता हो। प्रारम्भ में जो विषय कथित हुए हैं अन्त भी इन्हीं का प्रतिपादन किया है वा प्रारम्भ से लेकर अन्त में किसी एक विषय पर घटाया कि नहीं? यह प्रथम लिङ्ग है ॥ १ ॥ (अभ्यास) एक ही विषय को साधारण बुद्धि पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये पुनः पुनः कहना, समझाना, उपदेश देना जिस-से यह अभीष्टार्थ श्रोता के मन में संलग्न हो जाय, यह द्वितीय लिङ्ग है ॥ २ ॥ (अपूर्वता) अन्य अन्य वस्तु के लक्षण से भिन्नता अर्थात् प्रायः प्रत्येक वस्तु में एक एक अपूर्वता है। जो प्रत्येक पदार्थ को एक से दूसरे को भिन्न कर दिखला देती है। अथवा जिसमें श्रुति स्मृति भिन्न अन्य प्रमाण की विषयता न हो अर्थात् श्रुति स्मृति से तो सिद्ध नहीं होता है परन्तु अन्य प्रमाण से सिद्ध है ऐसा नहीं, किन्तु श्रुति स्मृति प्रमाण से भी अवश्य सिद्ध हो अन्य प्रमाण से हो वा नहीं उसे अपूर्वता कहते हैं यह तृतीय लिङ्ग है ॥ ३ ॥ (फल) इसके जानने, सुनने, अनुष्ठान करने से क्या फल होता है। यह चतुर्थ लिङ्ग है ॥ ४ ॥ (अर्थवाद) प्रशंसा और निन्दा जिस में पाईजाय उसे अर्थवाद कहते हैं। अर्थात् इसके करने से तो यह फल मिला और अन्य पुरुषों को भी यह फल मिला है जिन्होंने नहीं किया उनको दुःख प्राप्त हुआ वा होता है इत्यादि वर्णन जिस में हो उसे अर्थवाद कहते हैं। यह पञ्चम लिङ्ग है ॥ ५ ॥ (उपपत्ति) विविध हेतुओं से भी यह प्रतिपादित विषय सिद्ध होता है वा नहीं यह षष्ठ लिङ्ग है ॥ ६ ॥ इन सब साधनों से वेदान्त[1] वाक्यों के तात्पर्य्य विदित होते हैं ॥

अब गत प्रकरण में मीमांसा कीजिये। यहां आदित्य रश्मि (किरण), पूर्व, पश्चिमादि दिशाओं के नाम और एकादश खण्ड के वर्णन से सन्देह होता है कि यह ब्रह्म प्रकरण नहीं है। और एकादशखण्ड में (तत ऊर्ध्व उदेत्य०) उससे ऊपर उदित होकर न कभी उदित होता है न कभी अस्त होता है। इतने वर्णन से पूर्वोक्त दश खण्ड किसी अन्यविषय के प्रतिपादक हैं यह अर्थ विस्पष्ट होता है उसी हेतु यहां सन्देह है। परन्तु सम्पूर्ण प्रकरण पर ध्यान देने से यह सन्देह दूर होजाता है अब यहां पूर्वोक्त नियम के अनुसार विचारना चाहिये कि इस में गुण किस के पाये जाते हैं। यह लिङ्ग (चिन्ह) किस का हो सकता है इत्यादि। यहां हम देखते हैं कि आदित्य को देवमधु कहा है और इस देवमधु के प्रकाशक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और परमगुह्य आदेश है

(१) वेदान्त नाम उपनिषदों का है।

और इस मधु से जीने वाले वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य हैं । ये लिङ्ग किसके हो सकते हैं । वेद मुख्यतया ब्रह्म के प्रकाशक हैं सूर्य के नहीं, अतः यह ब्रह्म लिङ्ग है । पुनः वसु, रुद्र, आदित्य आदि देव ब्रह्म के आश्रित से जीते हैं । सूर्य के आश्रित नहीं । अतः यह भी ब्रह्म लिङ्ग है । पुनः । ऋग्वेदादि से ब्रह्मचारियों के यश, तेज, ऐश्वर्य, वीर्य आदि उत्पन्न हो अन्त में परमेश्वर के ही आश्रित होते हैं, सूर्य्य के नहीं । अतः यह ब्रह्म लिङ्ग है पुनः सम्पूर्ण कर्म का फल ईश्वर देने वाला है सूर्य्य कदापि नहीं क्योंकि सूर्य्य एक जड़ पदार्थ है । वह फल नहीं देसकता इस कर्म्मफल का दाता भी ईश्वर है अतः वह प्रकरण ब्रह्म-परक है । भौतिक सूर्य्य विषयक नहीं। श्री शङ्कराचार्य्य कहते हैं:-

"सर्वं यज्ञानाञ्च कार्य्यनिवृत्तिरूपः सविता महत्याश्रिया दीप्यते । स एष सर्वप्राणि कर्म्मफलभूतप्रत्यक्षं सर्वैरुपजीव्यते। अतोयज्ञस्य व्यपदेशानन्तरं तत्कार्य्यभूत सवितृविषयमुपासनम्" इत्यादि छा० भा० ३ । १ । १ ॥

अर्थ-यह सूर्य सब यज्ञों के कार्य्य की सिद्धिस्वरूप हो परम शोभा से प्रदीप्त हो रहा है । यही सर्व प्राणियों के कर्मों का फल है इसी को प्रत्यक्षतया सेवते हैं । इस हेतु यज्ञों के उपदेश के अनन्तर यज्ञों का कार्य्यस्वरूप जो सूर्य उस की उपासना कही जाती है ।

पुनः-अमुष्मिन्नादित्ये सञ्चितं कर्म्मफलाख्यं मधुभोक्ष्यामहे । इत्येवं हि यश आदि लक्षण प्राप्तये कर्म्माणि क्रियन्ते मनुष्यैः केदारनिष्पादनमिव कर्षकैः । छा० भा० ३ । १ । ४ ॥

अर्थ-इस सूर्य में सञ्चित जो हमारे यज्ञकर्म्मों का फलरूप मधु है उस को हम भोग करेंगे। इस आशा से यश आदि फल प्राप्त्यर्थ मनुष्य कर्म करते हैं। जैसे गृहस्थ लोग क्यारियों को निष्पादन करते हैं । इत्यादि । भाव यह है कि लोग जो यज्ञकर्म्म करते हैं, उन को जो फल प्राप्त होते हैं वे फल यहां से जाकर सूर्य्य में इकट्ठे होते हैं। मरने के अनन्तर कर्म्म करने वाले लोग उसी सूर्य्य में जाकर अपने २ कर्म को भोगते हैं। और शङ्कराचार्य्य ने यह भी वर्णन किया है कि सूर्य्य में जो रोहित (रक्त), शुक्ल, कृष्ण, सूक्ष्म कृष्ण रंग हैं वे कर्मके फल उस २ रूप को धारण किये हुए है । इन्हीं प्रत्यक्ष फलों को देख मनुष्यगण कर्म्म करते हैं । इत्यादि । उक्त रूपकथन सर्वथा अनर्गल है । सूर्य्य में जाकर कोई कर्म्मफल सञ्चित नहीं होता और न कोई सूर्य्य स्थान में जा मधु को पान करता है । परन्तु शङ्कराचार्य्य ने ऐसी बातें कैसे कहीं ? मालूम नहीं । एवमस्तु, यदि यह

वर्णन सूर्य्य का होता तो अष्टमखण्ड में (अथयत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति०) "जो तृतीय अमृत है उससे आदित्यगण जीते हैं" यह कथन है सो कैसे घट सकेगा क्योंकि आदित्य से आदित्य जीते हैं यह कथन बालवत् हो जायगा । अतः मधुरूप आदित्य से जीनेवाले आदित्य भिन्न हैं इसमें सन्देह नहीं । मधुरूप आदित्य ब्रह्म हैं । जीने वाले आदित्य त्रिवेदाध्यायी मनुष्य हैं ऐसे ही अर्थ करने से सङ्गति बैठती है । इस हेतु यह प्रकरण सूर्य्य का नहीं हो सकता । पुनः द्वितीय प्रपाठक दशम खण्ड के अति-मृत्यु प्रकरण में दिखलाया गया है कि सामतत्त्ववेत्ता सूर्य से परे जो ज्योति है उसे पाते हैं अर्थात् सौरी (सूर्यसम्बन्धी) दशा को लांघ परमज्योतिःस्वरूप ब्रह्म को पाते हैं । यथा— "परम्+आदित्यात्+जयति+तत्+नाकम्+तत्+विशोकम्" २ । १० । ५ । वह उपासक आदित्य (सूर्य) से पर ज्योति को पाता है । जो सुख रूप है जिस में किसी प्रकार का शोक नहीं है । सामतत्त्ववेत्ता सूर्य से पर ज्योति प्राप्त करते हैं इस विषय को ऋषि स्वयं कहते हैं तो पुनः कब संभव है कि तृतीय प्रपाठक में दोनों गत खण्डों के उपासकों के लिये सूर्यरूप यज्ञकर्म फल कहा जाय । उस हेतु भी शङ्कराचार्य्य का कथन सर्वथा त्याज्य है । पुनः जहां तीनमार्गों का वर्णन है वहां पर भी किसी कर्म के फल का आश्रय सूर्य नहीं कहा गया अर्थात् वहां यह वर्णन नहीं है कि कार्म्मिक लोग यहां से सूर्यलोक को जाकर वहां ही मधु पीते हुए वा देखते हुए दिन बिताते हैं । इस से भी शङ्कराचार्य्य का सिद्धान्त सर्वथा हेय है । इस प्रकार लिङ्गादि विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि यह प्रकरण ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है ॥

यदि यह कहा जाय कि तब रश्मि, दिशा आदि का वर्णन क्यों किया गया । विस्पष्ट-रूप से वर्णन कर देते जिस से लोगों को सन्देह ही नहीं रहता । उत्तर—यह कहना ठीक है परन्तु ब्रह्म का वर्णन ऋषियों ने अनेक उपमा, अनेक अलङ्कार, अनेक रूपकों से किया है । क्योंकि मन्दजनों की प्रवृत्ति ऐसे सूक्ष्म विषय में नहीं होती है । परन्तु यह विषय सब को जानना उचित है इस हेतु विविध शैलियों को ले ब्रह्मवित् ब्रह्मतत्त्व को दर्शाते हैं । स्वयं वेद भी अनेक उपमाओं के द्वारा ब्रह्म का वर्णन करता है । कहीं वृक्ष वा गृहाधार स्तम्भ मानकर ब्रह्म का वर्णन देखाजाता है । जैसे विहगगण वृक्ष की एक २ शाखा के आश्रित में रहते हैं । अथवा जैसे स्तम्भ के आधार पर सम्पूर्ण गृह रहता है । वैसे ही ब्रह्म के अङ्गवत् अङ्ग में मानो यह विश्व वसता है । यद्यपि ब्रह्म को अङ्ग नहीं परन्तु रूपक के द्वारा ब्रह्म को स्कम्भ (स्तम्भ) कह कर उस के अङ्ग में सब ही निवास करते हैं ऐसा वर्णन किया गया है इस से यह सिद्ध नहीं होता है कि ब्रह्म कोई सावयव पुरुष

वृक्ष समान है। जिसके एक एक अङ्ग पर सब लोकलोकान्तर रहते हैं यह वर्णन रूपकमात्र है। इसमें ये सब मन्त्र हैं—"कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्। कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः" अथर्व० १० । ७ । ३ ॥ (अस्य) इस ब्रह्म के (कस्मिन्+अङ्गे) किस अंग में (भूमिः) पृथिवी (तिष्ठति) स्थित है (कस्मिन्+अङ्गे) किस अङ्ग में (अन्तरिक्षम्+तिष्ठति) अन्तरिक्षस्थित है (कस्मिन्+अङ्गे) किस अङ्ग में (आहिता+द्यौः) समन्तात् प्रकाशित द्युलोक (तिष्ठति) स्थित है अर्थात् दृश्यमान यह सम्पूर्ण विश्व किसके आश्रय से स्थित है और (कस्मिन्+अङ्गे) किस अङ्ग में (दिवः+उत्तरम्) द्युलोक से भी जो पर अदृश्य लोक हैं वह किस के अधीन है। इस प्रकार प्रश्न कर पुनः स्वयं उत्तर देते हैं॥

"यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान् सर्वां अधारयत्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। ७। यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता। यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः॥ १२॥ यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। यो वै तान्विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदितास्यात्" १० । ७ । २४। (यस्मिन्) जिस में स्थित होकर (प्रजापतिः) ऋतु परिवर्तन उष्णप्रदानादि से प्रजाओं का पालक सूर्य (सर्वान्+लोकान्) निज परितःस्थित पृथिव्यादि लोकों को अपनी आकर्षण शक्ति से (स्तब्ध्वा) दृढ़पूर्वक मानो बांधकर (अधारयत) धारण किया हुआ स्थित है (कतमः+स्वित्+सः) वह कौन है (स्कम्भम्+तम्+ब्रूहि) उसे जगदाधार ब्रह्म कहो उस सूर्य को भी धारण किया हुआ एक ब्रह्म है (यस्मिन्) जिस में (भूमिः०) भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक स्थित हैं और जिस में अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, वायु ओत प्रोत भाव से स्थित हैं वह स्कम्भ जगदाधार है (यत्र) जहां (ब्रह्मविद्+देवाः) ब्रह्मवेत्ता विद्वद्गण (ज्येष्ठं ब्रह्म) ज्येष्ठ ब्रह्म की (उपासते) उपासना करते हैं (यो वै) जो कोई (तान्+वै) उनको निश्चितरूप से (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्षतया (विद्यात्) जाने (स ब्रह्मा) वह ब्रह्मा नाम ऋत्विक् (वेदिता+स्यात्) ज्ञानी है। यह सब वर्णन अथर्ववेद दशमकाण्ड सप्तम सूक्त में आया है। यह ज्येष्ठ स्कम्भ सूक्त कहलाता है यह प्रकरण अवश्य देखने योग्य है। यहां परब्रह्म को स्कम्भ अलङ्काररूप से वर्णन कहा गया है। एवं कहीं पर ब्रह्म को सूत्र कहा गया है। जैसेः—

"यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ ३७॥ वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो

यद्‌ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥ पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥ अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू+रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्" ॥ ४४ ॥ अथर्व १० । ८ । (यः) जो विद्वान् पुरुष (विततम्) सर्वत्र विस्तृत (सूत्रम्) सूत्र को जानता है (यस्मिन्+इमाः+प्रजाः+ओताः) जिस सूत्र में ये प्रजाएं ग्रथित हैं और (सूत्रस्य+सूत्रम्) सूत्र=संसाररूप सूत्र के सूत्र को (यो विद्यात्) जो जानता है वही (ब्राह्मणम्+महत्) ब्रह्मसम्बन्धी महत्त्व को (विद्यात्) जान सकता है । इस प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शिष्यादि से प्रश्न कर उत्तर देवें कि (वेदाहम्) हे शिष्यो मैं उस सूत्र को जानता हूं, मैं ब्रह्म के महत्त्व को भी जानता हूं मुझ से ब्रह्मज्ञान सीखो । हे शिष्यो ! (पुण्डरीकम्) हृदयकमल जो (नवद्वारम्) नौ द्वारों से युक्त है और (त्रिभिः+गुणेभिः) जो तीन गुणों से (आवृतम्) आवृत है (यस्मिन्) जिस पुण्डरीक के ऊपर (यद्+यक्षम्) जो परम पूजनीय ब्रह्म है वह (आत्मन्वत्) आत्मा के साथ निवास करता है (तद्वै) निश्चय उसी को (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता (विदुः) जानते हैं वह ब्रह्म जो हृदय में व्याप्त है वह कैसा है (अकामः) सकल कामना रहित (धीरः) परम विद्वान् (अमृतः) मोक्षस्वरूप (स्वयम्भूः) स्वयं प्रकाश (रसेन तृप्तः) सर्वदा आनन्दमय (नकुतश्चनोनः) और जो सर्वत्र व्यापक है (तमेव०) उसी अजर अमर सदा एकरस ब्रह्म को जान ब्रह्मवादी (मृत्योः न विभाय) मृत्यु से नहीं डरते । इत्यादि वर्णन से यह विदित होता है कि यहां सूत्र ब्रह्म को कहा है । उसी को पाकर मृत्युभय अपगत होजाता है । जैसे सूत्र में मणि वा पुष्प ग्रथित रहते हैं तद्वत् मानो उस ब्रह्म में सर्व लोकलोकान्तर ओत प्रोत हैं । इसी हेतु यह सूत्र कहलाता है । बृहदारण्यकोपनिषद् में भी ब्रह्म को सूत्र कहा है जैसे "तच्चेत्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांꣳस्तञ्चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवी रुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति । वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तञ्चान्तर्यामिणमिति ....। स होवाच वायुर्वैगौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायञ्च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति ॥ २ ॥" बृ० ३ । ७ ॥ कहीं पर ब्रह्म को पुरुष सदृश वर्णन कर उस के हस्त पाद चक्षु कर्ण नासिका मुखादिका वर्णन किया गया है इस प्रकार विविधवाक्य विविध प्रकार से ब्रह्म के गुणों को गाते दीखते हैं । इन सब वाक्यों के अर्थ के ब्रह्मसूत्रादिक शास्त्र के मनन से तत्त्व जानने के लिये प्रयत्न करने चाहिये । ब्रह्म में अनन्त गुण हैं अतः अनन्त प्रकार से उसका गान होता है । जैसे सूत्रों से गृह सुदृढ़ बद्ध रहते हैं वैसा ही यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप सूत्र से ग्रथित हो स्थिरता-

पूर्वक वर्त्तमान है । उस हेतु ब्रह्म को सूत्र; विहग वृक्ष की नाईं ब्रह्म में यह सब सावकाश निवास करता है अतः वृक्षवत् । जैसे रात्रि में पक्षिगण अपने २ नीड़ में सुख से समय काटते हैं वैसे ही प्रलयकाल में सब जीव उसी के आश्रय में आनन्द से रहते हैं । अतः नीड़ कहते हैं । इस प्रकार ब्रह्म के विषय में अनेक उपमाएं होती हैं ॥

यहां जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र फैली हुई पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे प्रायः सर्वत्र दीख पड़ती हैं और उन्हीं के आश्रित पृथिवी आदि अनेक ग्रहों की स्थिति होती है । वैसे ही मानो ब्रह्म की विभूतिरूप किरण प्रकाश करनेवाली सर्वत्र फैली हुई है । मुक्त जीव पुरुष उसी विभूति वा कीर्त्ति को देख देखकर सदा आनन्द में रहते हैं । जैसे सूर्य पदार्थों का प्रकाशक है और ज्योतिःस्वरूप है तद्वत् ब्रह्म को भी जानो । यहां सूर्य से उपमा इस हेतु विशेषरूप से दिया गया है कि जैसे सूर्य सदा प्रकाशमय है वैसे ही ब्रह्म के आश्रय में भी मुक्त जीव उसके प्रकाश से सदा प्रकाशित रहते हैं । उन के ऊपर अज्ञान अन्धकार कभी नहीं छाता । मुक्त पुरुषों की यहां गति वक्तव्य है । आदित्य की उपमाद्वारा ऋषियों ने इस पवित्र गाथा को गाया है । यह प्रकरण ब्रह्म का ही है । यह पूर्व ही निर्णय कर चुके हैं । यहां पर इतना अधिक जानो कि साक्षात् आदित्य शब्द भी ब्रह्मवाचक है । जैसेः—

"यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति । तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदुनात्येति किंचन ॥ १६ ॥ ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितोवदन्ति । आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् । १० ।" अथर्व० १७ । ८ । (यतः सूर्यः०) जहां से सूर्य उदित होता है और जहां अस्त को प्राप्त होता है उसी को मैं ज्येष्ठ मानता हूं । उसको कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ १६ ॥ इस प्रकार वर्णन कर वह कौन है सो आगे कहते हैं । (आदित्यमेव०) आदित्य को ही सब कोई कहते हैं अर्थात् वह आदित्य है जिसमें सूर्य आदि सब देव उदित अस्त होते रहते हैं इस प्रकरण में विस्पष्टतया आदित्य शब्द ब्रह्मवाचक होता है । पुनः छान्दोग्य उपनिषद् में भी "आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति" । १ । ११ । ७ ॥ उषस्ति चाक्रायण से उद्गाता ने पूछा है कि उद्गीथ कर्म में कौन देवता अनुगत है इसके उत्तर में उषस्ति ने यह कहा है (आदित्य इति०) हे उद्गाता ! उद्गीथ कर्म से आदित्य ही सम्बन्ध रखता है क्योंकि (सर्वाणि+ह+वा+इमानि+भूतानि) सब ही ये प्राणी (आदित्यम्) आदित्य को (उच्चैः सन्तम्) जो सब के ऊर्ध्व वर्त्तमान है (गायन्ति) गाते हैं । यहां

पर भी आदित्य शब्द का ब्रह्म अर्थ है । उपनिषदों के अनेक स्थलों में आदित्य आदि देवताओं को अपने में संहार करने वाला ब्रह्म कहा गया है, यथा—"स होवाच महात्मनश्चतुरोदेव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय ! नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन् ! बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति । छा० ४ । ३ । ६ । (स होवाच) वह बोले (एकः कः देवः) एक सुखस्वरूप देव सर्वत्र विद्यमान है (सः) वह (महात्मनः चतुरः) बड़े चार (अग्नि, सूर्य, वायु और जल) देवों को (जगार) खा जाता है (भुवनस्य गोपाः) वह सम्पूर्ण संसार का रक्षक है (कापेय अभिप्रतारिन्) हे कापेय अभिप्रतारिन् ! (मर्त्याः) मनुष्य लोग (तं न अभि पश्यन्ति) उसको नहीं देखते हैं (बहुधावसन्तम्) वह सब जगह वास कर रहा है । जब उपनिषद् इस प्रकार विस्पष्ट रूप से ब्रह्म के महत्त्व और सूर्यादि देवों के तदपेक्षया अतिनिकृष्टत्व सिद्ध करती है तब कब सम्भव है कि उपनिषद् मुक्त पुरुषों का आश्रय भौतिक सूर्य्य बतलावे । इतिदिक् ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च । वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतम् । गायति च त्रायते च ॥ १ ॥

गायत्री । वै । इदम् । सर्वम् । भूतम् । यद् । इदम् । किञ्च । वाग् । वै । गायत्री । वाग् । वै । इदम् । सर्वम् । भूतम् । गायति । च । त्रायते । च ॥ १ ॥

भाष्यम्—गायत्रीति । वेदेषु । गायत्री । उष्णिक् । अनुष्टुप् । बृहती । पङ्क्तिः । त्रिष्टुप् । जगती इत्येतानि छन्दांसि सन्ति । तेषां गायत्रीछन्दसः प्रधानत्वम् । तच्च सुगेयं सरलं सुमधुरं लघीयश्च वर्त्तते । अनेनैव गायत्रीछन्दसा वेदेषु ब्रह्म बहुधा स्तुतम् । यं मन्त्रं प्रत्यहं जना आवर्त्तयन्ति तदपि गायत्रीछन्दः । अतो ब्रह्मसाधनप्राधान्यात् । गायत्री छन्दसो माहात्म्यमनुकीर्तयति । यद्वा गायत्रीशब्दः समस्तब्रह्मवाणीवाची । एकेनैतच्छब्देन सर्वा ब्राह्मी वाणी संगृह्येतातः गायत्रीवाच्यां ब्रह्मवाणीं वेदात्मिकामुपासनापरमोपयोगितया प्रशंसितुमुपक्रमते । पञ्चममन्त्रे चतुष्पदेति विशेषणाद् गायत्रीशब्द ऋङ्मात्रवाचकः प्रतीयते । त्रिपदा हि गायत्री । तथाच "टाबृचि" ४ । १ । ६ । ऋचिवाच्यायां पादन्ताट्टाप् स्यात् इत्यनेन टाप् सम्भवः । गायत्रीति (वै) वै शब्दोवधारणार्थः । (इदं सर्वं भूतम्) पदार्थजातम् । यद्वा शब्दजातम् । (गायत्री वै) गायत्र्येव (यदिदं किञ्च) यदिदं किञ्च स्थावरं जङ्गमञ्च वस्तु । तत् सर्वं गायत्री एव । अत्र भूतशब्दः पदार्थमात्र

द्योतकः । वस्तुतस्तु । गायत्रीविज्ञानेन बुद्धिवृद्धिः । तयास्थावरजङ्गमपदार्थावगमनम् । ततः प्रकृतेरवबोधः । ततो ब्रह्मणः । तदित्थं गायत्रीभूतविज्ञाने द्वारमेव । नहि स्थावरजङ्गमात्मिका गायत्री भवितुमर्हति । छन्दस्त्वात् । गायत्र्यैव वेदवाचैव । आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त बोधनिर्धारणात् तदुक्तिर्विज्ञेया । स्वयमुपनिषदपि विस्पष्टयति (वाग्वै गायत्री) वागेव वाण्येव वेदात्मिका ब्रह्मवागेवसर्वा गायत्री पदवाच्या । या या भुवने वाक् कापि वर्त्तते सा सापि सर्वा गायत्री एव । कथमिदम् । उभयोः समत्वं घटयति (वाग्वै) वाण्येव (इदं सर्वं भूतम्) इदं सर्वं भूतं प्राणिजातं शब्दसमूहञ्च (गायति च त्रायते च) यस्मात् शब्दरूपा वागेव सर्वेषां स्थावराणां जङ्गमानाञ्च नामानि कीर्तयति । अयमश्वः । अयंगजः । अयं वटः । इयं पृथिवी । इदं वनम् । इत्यादि । यशांसि च गायति । अस्यश्वस्येदृशोगुणाः । अस्मिन् मनुष्ये सर्वे गुणा एव । इत्येवमादि । कथं त्रायते च । वाचेव मनुष्यास्त्रायन्ते । भयं मा कुरु । कथं बिभेषि । अहं त्वां रक्षिष्यामि । धर्म्मं कुरु । सत्यं वद । ब्रह्म विजानीहि । तव कल्याणं ध्रुवं भविष्यति । इत्येवं विधाभिर्वाग्भिराश्वासिता जना अभयं प्राप्नुवन्ति । अतो वाग् गायति त्रायते च । गायत्री शब्दस्याप्ययमर्थोस्ति । ब्रह्मजीवप्रकृतिगुणान् या गायति । तेन गानेन या च त्रायते सा गायत्री । गायन्तं पुरुषं त्रायते वा गायत्री । यया ब्रह्मजीवप्रकृतयो गीयन्ते पदार्थाश्च त्रायन्ते सा वा गायत्री । यतो गायत्री शब्दोपि वाण्यर्थमेव प्रद्योतयति । अतो वाग्वै गायत्री गायत्री वा इदं सर्वम् । ब्राह्मी वेदात्मिका वागपि निखिलानां त्रिभुवनोत्थानां पदार्थानां गुणान् गायति मनुष्यांश्च तान् बोधयति । पदार्थविज्ञानेन विहिताऽविहितविवेकिनोभूत्वा विहिते प्रवर्त्तन्ते । अविहितान्निवर्त्तन्ते तेन कल्याणैकपात्रतां भजन्ते । इदमेव जीवानां रक्षणं ब्रह्मवाण्या भवति अतस्त्रायत इत्युक्तम् ॥ १ ॥

अनुवादः—गायत्री ही यह सब भूत है । जो कुछ यह स्थावर जङ्गम दीखता है वह गायत्री है । वाणी ही गायत्री है क्योंकि वाणी ही इन सब भूतों को गाती है और रक्षा करती है ॥ १ ॥

पदार्थः–(गायत्री) गायत्री छन्द वा वाणी वा ब्रह्म वाणी (वै) ही (इदम्+सर्वम्+भूतम्) ये सब भूत हैं (यद्+इदम्+किञ्च) जो कुछ ये स्थावर जङ्गम पदार्थ हैं वह सब गायत्री है (वाग्+वै) वाणी ही (गायत्री) गायत्री है क्योंकि (वाग्+वै) वाणी ही (इदम्+सर्वम्+भूतम्) इस सब प्राणिसमूह को (गायति च) गाती है (त्रायते च) और रक्षा करती है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—चारों वेदों में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द हैं। उन में गायत्री छन्द की प्रधानता है, क्योंकि वह सुगेय, सरल, सुमधुर और सब की अपेक्षा लघु है, इसी गायत्री छन्द से वेदों में ब्रह्म की बहुत स्तुति की गई है। जिस मन्त्र को मनुष्य प्रतिदिन पढ़ते वा जपते हैं वह भी गायत्री छन्द है। इस हेतु ब्रह्मसाधनों में प्रधान होने के कारण गायत्री छन्द के माहात्म्य का कीर्त्तन होता है। यद्वा गायत्री शब्द समस्त ब्रह्मवाणी वाचक है। एक ही इस शब्द से सम्पूर्ण ब्रह्मवाणी का संग्रह हो जाय अतः गायत्री वाच्या वेदात्मिका ब्रह्म वाणी की उपासना के लिये परमोपयोगिनी होने के कारण प्रशंसा की जाती है। गायत्री ही यह सब भूत है। वस्तुतः गायत्री के ज्ञान से बुद्धि की वृद्धि होती है उससे स्थावर जङ्गम पदार्थों का बोध होता है। उससे प्रकृति का बोध और उससे ब्रह्म का बोध होता है। इस प्रकार गायत्री पदार्थ विज्ञान में द्वारमात्र है। स्थावर जङ्गमात्मक गायत्री नहीं हो सकती। क्योंकि यह छन्दोमात्र है यद्वा गायत्री (वेद वाणी) से ही आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त पदार्थों के बोध का निर्धारण होने से वैसा कहा गया है। और इसी भाव को उपनिषद् भी विस्पष्ट करती है। जैसा वाणी ही गायत्री है भुवन में जो २ वाणिएं हैं वे २ सब गायत्री कहला सकती हैं। क्योंकि इन दोनों में समान धर्म है। शब्दरूप वाणी ही सब स्थावर और जङ्गमों के नामों को गाती हैं। यथा—यह अश्व, यह गज, यह वट, यह पृथिवी, यह वन। इत्यादि इत्यादि व्यवहार वाणी के अधीन है और इन के यश वा गुणों का गान भी वाणी के द्वारा ही होता है इस घोड़े के ऐसे गुण हैं। इस मनुष्य में सब गुण ही हैं इत्यादि। वाणी रक्षा कैसे करती है ? सो अब कहते हैं। वाणी से ही मनुष्यों की प्रथम रक्षा होती है। भय मत करो। क्यों डरते हो। मैं तेरी रक्षा करूंगा। धर्म्म करो। सत्य बोलो। ब्रह्म को जानो। तेरा कल्याण अवश्य होगा। इस प्रकार की वाणियों से आश्वासित होकर मनुष्य अभय को प्राप्त होता है। अतः वाणी गाती भी है और रक्षा भी करती है। गायत्री शब्द का भी यही अर्थ है। ब्रह्म, जीव, प्रकृति के गुणों को जो गाती है और उस गान से जो रक्षा करती है वह गायत्री कहलाती है। यद्वा गाते हुए पुरुष को जो रक्षा करती है वह गायत्री कहलाती है। जिससे ब्रह्मजीव प्रकृति का गान हो और पदार्थों की रक्षा हो वह गायत्री है। जिस हेतु गायत्री शब्द भी वाणी के अर्थ को द्योतित करता है। अतः वाणी ही गायत्री है और गायत्री ही यह सब है इत्यादि वर्णन होता है। गायत्री शब्द का वाणी अर्थ है और वाणी से मुख्यतया वेदवाणी का ग्रहण है और वह ब्राह्मी वाणी त्रिभुवनस्थ निखिल पदार्थों के गुणों को गाती है अर्थात् मनुष्यों को बोधित करती है। पदार्थ विज्ञान

से विहित अविहित कर्म के विवेकी होकर विहित कर्म में प्रवृत्त और अविहित से निवृत्त होते हैं इससे कल्याणभागी होते हैं वेदवाणी के द्वारा यही जीवों का रक्षण है इस हेतु "त्रायते" कहा गया है ॥ १ ॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याᳩं हीदᳩं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

या । वै । सा । गायत्री । इयम् । वाव । सा । या । इयम् । पृथिवी । अस्याम् । हि । इदम् । सर्वम् । भूतम् । प्रतिष्ठितम् । एताम् । एव । न । अतिशीयते ॥ २ ॥

भाष्यम्–येति । पुनरपि गायत्रीं विशिनष्टि । या वै सा । पूर्वोक्तलक्षणा सर्वभूतरूपा गायत्री वर्त्तते । सा इयं वाव । इयमेव । वावशब्द एवार्थः । येयं पृथिवी निगद्यते । साऽस्ति । अयंभावः । सेयं गायत्री पृथिवी । पृथिवीवविज्ञेया । हि यतः । अस्यां पृथिव्याम् । इदं सर्वं भूतम् । पदार्थजातम् प्रतिष्ठितम् । एतामेव एतां पृथिवीमेव इदं सर्वं भूतम् । नातिशीयते नातिवर्त्तते । इमां पृथिवीमतिक्रम्य वस्तुजातं न स्थातुमर्हति । पृथिव्यत्र पृथिवीजातिर्ग्राह्या । यत्र यत्र वस्तुजातस्यस्थितिस्तत्रतत्रावश्यमेव पृथिवीत्वम् । यथेयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा । तथैव गायत्री छन्दसां प्रतिष्ठा । गायत्र्याश्रितानि प्रायेण सर्वाणि छन्दांसि भवन्ति । मनुष्या अपि गायत्रीमाश्रित्यैव प्रतितिष्ठन्ति । यद्वा गायत्र्यैव मनुष्या ब्रह्मणि प्रतितिष्ठन्ति ॥ २ ॥

अनुवादः–जो वह गायत्री है वह यही है । जो यह पृथिवी है क्योंकि इसी के ऊपर यह सब पदार्थ समूह प्रतिष्ठित है इसी (पृथिवी) को यह सब पदार्थ अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ २ ॥

पदार्थः–(या+वै) जो ही (सा गायत्री) वह गायत्री है अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण सर्वभूतरूपा गायत्री है (सा) वह (इयम्+वाव) यही है (या+इयम्+पृथिवी) जो यह पृथिवी है (हि) क्योंकि (अस्याम्) इसी पृथिवी पर (इदम्+सर्वम्+भूतम्) यह सब पदार्थ (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (एताम्+एव) इसी पृथिवी को (नातिशीयते) कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ २ ॥

भाष्याशयः–यह गायत्री पृथिवीसदृश है जैसे सब पदार्थों की प्रतिष्ठा पृथिवी है इसी पृथिवी को छोड़ अन्यत्र जीवों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती यहां पर पृथिवी शब्द

जातिपरक है । जहां जहां पदार्थ है वहां वहां अवश्य ही पृथिवीत्व है । गायत्री भी सब छन्दों की प्रतिष्ठा है । प्रायः सब ही छन्द गायत्री छन्द के अधीन हैं मनुष्य भी गायत्री को आश्रय बना कर जगत् में प्रतिष्ठित होते हैं । यद्वा गायत्री के द्वारा ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित होते हैं । इस को त्याग ज्ञानी क्षणमात्र नहीं रह सकता अतः पृथिवी और गायत्री का समत्व है ॥ २ ॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

या । वै । सा । पृथिवी । इयम् । वाव । सा । यद् । इदम् । अस्मिन् । पुरुषे । शरीरम् । अस्मिन् । हि । इमे । प्राणाः । प्रतिष्ठिताः । एतद् । एव । न । अतिशीयन्ते ॥ ३ ॥

भाष्यम्–येति । या वै सा पृथिवी । या पूर्वोक्ता सर्वभूतप्रतिष्ठोक्ता । सा पृथिवी। इयं वाव । इयमेव । का सा ? । इदमेव । यदिदम् । विधेयप्राधान्यान्नपुंसकत्वम् । अमुष्मिन्पुरुषे । अस्य पुरुषस्य शरीरं वर्त्तते । पुरुषस्य यच्छरीरमस्ति । सा पृथिव्येव । शरीरस्य पार्थिवत्वात् । कथं शरीरस्य पृथिवीत्वमित्युच्यते । हि यतः । अस्मिन् शरीरे इमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । एतदेव शरीरम् । इमे प्राणाः। नातिशीयन्ते । नातिक्रम्य प्रतितिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः–जो वह पृथिवी गायत्रीवत् है वह यही है सो यह इस पुरुष में (इस पुरुष का) शरीर है । क्योंकि इस में ये प्राण प्रतिष्ठित हैं । इसी का ये प्राण अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः–(या वै) जो ही (सा) वह (पृथिवी) अर्थात् सर्व प्रतिष्ठा पृथिवीरूपा जो गायत्री है (सा+इयम्+वाव) वह यही है । कौन है सो आगे कहते हैं (अस्मिन्पुरुषे) इस पुरुष में अर्थात् इस पुरुष का (यद्+इदम्+शरीरम्) जो यह शरीर है (हि) क्योंकि (अस्मिन्+पुरुषे) इस शरीर में (इमे प्राणाः) ये प्राण (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं (एतद्+एव) इसी शरीर का प्राण (न+अतिशीयन्ते) अतिक्रमण नहीं कर सकते, इस शरीर को छोड़ ये प्राण नहीं रह सकते ॥ ३ ॥

भाष्याशयः–भाव यह है कि यह गायत्री पृथिवीसमान है यह पृथिवी इस जीवात्मा का शरीर है । जैसे इस शरीर में प्राण प्रतिष्ठित हैं वैसे ही इस गायत्री में धर्म्म प्रतिष्ठित हैं । अतः गायत्री अब शरीरवत् हुई ॥ ३ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

यद् । वै । तत् । पुरुषे । शरीरम् । इदम् । वाव । तद् । यद् । इदम् । अस्मिन् । अन्तःपुरुषे । हृदयम् । अस्मिन् । हि । इमे । प्राणाः । प्रतिष्ठिताः । एतद् । एव । न । अतिशीयन्ते ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यदिति । पुनर्गायत्रीं विशिनष्टि । अस्मिन्पुरुषे । यद्वै । यदेव । तच्छरीरमस्ति । तदिदंवाव । तदिदमेव । किं तदित्याह । अस्मिन् अन्तःपुरुषे । यदिदम् । हृदयम् । पुण्डरीकाख्यम् । सा वै गायत्री । कथमित्याह । अस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । अतः शरीरवद्गायत्री हृदयम् । एतदेव हृदयं प्राणा नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

अनुवादः—पुरुष का जो वह शरीर है वह यही है । जो यह इस अन्तःपुरुष में हृदय है । क्योंकि इस में प्राण प्रतिष्ठित हैं । इसी को प्राण नहीं त्याग सकते ॥ ४ ॥

पदार्थः—(पुरुषे) पुरुष का (यद्+वै+एतद्+शरीरम्) जो ही यह शरीर है (तद्) वह (इदम्+वाव) यही है । वह कौन है सो कहते हैं (अस्मिन्) इस (अन्तः-पुरुषे) अन्तः पुरुष में (यद्+इदम्) जो यह (हृदयम्) पुण्डरीकाख्य है (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इसी में (इमे+प्राणाः) ये प्राण (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठित हैं (एतदेव) इसी हृदय को (न+अतिशीयन्ते) छोड़ प्राण नहीं रह सकते ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—यह शरीर ही हृदय है । अतः शरीरवद् गायत्री हृदयरूपा है ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधागायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

सा । एषा । चतुष्पदा । षड्विधा । गायत्री । तद् । एतद् । ऋचा । अभ्यनूक्तम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सैषेति । सैषा चतुष्पदा षडक्षरपादा छन्दोरूपा गायत्री षड्विधाभवति । वाग्,

(१) यद्वा गायत्री ऋङ्मात्राभिधायिनी । अतएव । दावृचि ४ । १ । ६ । ऋचि-वाच्यायां पादन्ताट्टाप्स्यादित्यनेनटाप् । तेन चतुष्पदेति उपलक्षणमात्रम् । एकपदा द्विपदा त्रिपदा चतुष्पदेत्यादि सर्वं विज्ञेयम् । ऋक्पदेन सर्वावेदवाणी । अतएव "गौरीर्मिमाय सलिलानितक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी, अष्टापदी नवपदी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्" इति मन्त्रो वर्णयति । बृहदारण्यकेपि । गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि ॥ ५ । १४ । ७ । अपदिति पाद यद्व्यतिरिक्तापि वाणी संगृह्यते ।

भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, प्राण, रूपा सती षड्विधाभवति । अनया गायत्र्या । एतद् ब्रह्मापि प्रकाश्यते । अतो गायत्र्यनुगतं ब्रह्मास्ति । वयं हि वैदिकाञ्छन्दान् विना ब्रह्म विज्ञातुं न शक्नुमः । मन्त्राएव यादृशं ब्रह्म प्रकाशयन्ति तादृशमेव ब्रह्म विजानीमः । अतो मन्त्रा ब्रह्मप्राप्तिद्वारम् । तत्रापि गायत्रीमन्त्रः सम्यग् ब्रह्म दर्शयति । अतो गायत्रीद्वारकं ब्रह्मास्ति । ऋचापि तदेतदेव गायत्र्याख्यं ब्रह्म । अभ्यनूक्तम् । प्रकाशितम् ॥ ५ ॥

अनुवादः–सो यह चतुष्पदा गायत्री छः प्रकार की है सो यह ब्रह्म उसके द्वारा प्रकाशित होता है । ऋङ्मन्त्र द्वारा भी यह विषय कहा गया है ॥ ५ ॥

पदार्थः–(सा+एषा) वह यह (चतुष्पदा) चार चरणवाली (गायत्री) गायत्री (षड्विधा) छः प्रकार की है (तदेतत्) वह यह विषय (ऋचा) ऋङ् मन्त्र द्वारा (अभ्यनूक्तम्) प्रकाशित हुआ है ॥ ५ ॥

भाष्याशयः–गायत्री २४ अक्षरों की होती है । छः छः अक्षरों का एक २ पाद होगा । वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण इन भेदों से गायत्री छः प्रकार की है । इस गायत्री से यह ब्रह्म प्रकाशित होता है । अतः गायत्री के अनुगत ब्रह्म है ऐसा कह सकते हैं क्योंकि हम लोग वैदिक शब्दों के विना ब्रह्म को नहीं जान सकते हैं । मन्त्र ही जैसा ब्रह्म का प्रकाश करता है हम लोग वैसा ही ब्रह्म जानते हैं । इस हेतु मन्त्र ब्रह्मप्राप्ति का द्वार है उसमें भी गायत्री मन्त्र अच्छे प्रकार ब्रह्म का प्रकाश करता है । अतः ब्रह्म की बोधक गायत्री है ॥ ५ ॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ ६ ॥

तावान् । अस्य । महिमा । ततः । ज्यायान् । च । पूरुषः । पादः । अस्य । सर्वा । भूतानि । त्रिपाद् । अस्य । अमृतम् । दिवि । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्–तावानिति । तावानित्यृक् प्रदर्श्यते । "एतावान्" "तावान्" इत्युभयपाठो वेदे दृश्यते । अस्य गायत्री प्रदर्शितस्य पुरुषस्य ब्रह्मणः । भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति । तावानस्यमहिमा । महत्त्वं विद्यते । तावानेवास्य महिमाचेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेतिगम्यते । अत्रब्रूते । ततो ज्यायांश्च पूरुषः । ततः । तस्माद्दृश्यमानात् प्रकृतिविकाराद् जगतोऽपि । पुरुषः । ज्यायान् । महत्तरः । चाच्छ्रेष्ठः पूजनीयः स एवेति गम्यते । यतः सर्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यादीनि पञ्चमहाभूतानि । सर्वाणिवस्तूनि वा अस्य पुरुषस्य पादः । एकः पादः । एकपाद परिमितानि । लघ्वैकदेशपरिमितानीत्यर्थः । अत्र

शङ्का भवति । यत्र २ संसारोऽस्ति तत्रतत्रैव स स्थातुं शक्नोति संसाराद् बहिः कथं निरवलम्बस्तिष्ठेत् । यद्यस्य पादैकपरिमितमेवेदं ब्रह्माण्डम् । तर्हि । अवशिष्टं पादत्रयं निरवलम्बं निराधारं क्व तिष्ठेत् । इमां शङ्कां निवारयितुं त्रिपादस्यामृतं दिवीति । त्रयाणां पादानां समाहारस्त्रिपाद् । पादत्रयमित्यर्थः । अस्य ब्रह्मणः । अवशिष्टं पादत्रयम् । दिवि । द्योतनवति स्वात्मनि स्वमहिम्नि । अवस्थितमित्यर्थः । स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि इति श्रुतिनिर्धारणात् । कथंभूतं त्रिपाद् । अमृतम् । मोक्षस्वरूपम् ॥ ६ ॥

अनुवादः-इस (पुरुष) की जितनी महिमा है । उस से भी यह पुरुष महत्तर और पूज्यतम है । समस्त भूत इसके एक अंश परिमित हैं । इसका अमृतस्वरूप पादत्रय देदीप्यमान निज महिमा में विद्यमान है ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अस्य) गायत्री प्रदर्शित इस व्यापक पुरुष (ब्रह्म) का (महिमा) महत्त्व (तावान्) उतना है जितना भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानस्थ यह समस्त संसार है उतनी इसकी महिमा है । अब शङ्का होती है कि यदि इसकी उतनी ही महिमा है तो उसकी महिमा का परिच्छेद हो जायगा । इस कारण "ततो ज्यायान् च पूरुषः" इत्यादि कहते हैं यह जो दृश्यमान वा अदृश्यमान संसार है (ततः) उस से भी (पूरुषः) यह ब्रह्मरूप पुरुष (ज्यायान्) बहुत बड़ा है (च) और सर्वश्रेष्ठ सर्वपूज्यतम है । क्योंकि (सर्वा) सब (भूतानि) भूत अर्थात् भूतोपलक्षित ये समस्त भुवन (अस्य) इस ब्रह्म का (पादः) एकपाद परिमित है । एक पाद के बराबर है अर्थात् उसके एक अंश के तुल्य है । अब पुनः शङ्का होती है । जहां जहां संसार है वहां वहां ही वह पुरुष रह सकता है । संसार से बाहर निरवलम्ब निराधार वह कैसे रह सकता है । यदि उसके एकपाद परिमित ही यह समस्त संसार है तो उसका अवशिष्ट पादत्रय निराधार कहां जाता है । इस शङ्का की निवृत्ति के लिये आगे कहा जाता है (अस्य) इसके (त्रिपाद्) तीनपाद (दिवि) देदीप्यमान निज महिमा में स्थित है । अर्थात् निज महिमा ही उसका आधार है । अस्मदादिवत् अन्य आधार की अपेक्षा वह नहीं रखता है । क्योंकि सप्तम प्रपाठक में कहा गया है कि वह अपनी महिमा में ही रहता है । वह त्रिपाद कैसा है (अमृतम्) मोक्षस्वरूप है ॥ ६ ॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥

यद् । वै । तद् । ब्रह्म । इति । इदम् । वाव । तद् । यः । अयम् । बहिर्धा । पुरुषाद् । आकाशः । यः । वै । सः । बहिर्धा । पुरुषाद् । आकाशः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—यदिति । यद्वै । यदेव । उक्तगायत्री मुखेन प्रकाशितम् तद् ब्रह्मेति । तदेव ब्रह्म । निरञ्जनं निष्कलं शुद्धमपापविद्धम् । इदम्वाव । इदमेव तत् । योऽयं । पुरुषाद् । बहिर्धा । बाह्यः । आकाशः । यो वै स बहिर्धा । पुरुषादाकाशः । उक्तयर्चा यद्विवृतं तत्किं गायत्रीछन्दसो व्याख्यानमुत ब्रह्मणः । प्रकृतत्वाद् गायत्र्या एव तद्भवितुमर्हति । तदत्रोच्यते । शब्दमयी नियतवर्णसंख्याविशिष्टा गायत्री कथं स्वरूपत एकांशेन त्रिभुवनमध्यासितुं शक्नोति । अतस्तद्ब्रह्मण एवेति विस्फोरयितुमुत्तरोग्रन्थः । यद्वै । यदेव । यद्वा । उक्तयर्चा प्रकाशितम् । तद्ब्रह्मेति । नान्यदित्यर्थः । पुनरपि । अन्तर्बहिश्च ब्रह्मतत्त्वं दर्शयत्युपासनार्थम् । इदं तदस्ति योऽयं पुरुषात् । शरीरपिण्डात् बहिर्धा । बाह्यः । आकाशः । प्रकाशः । प्रकाशवानित्यर्थः । एवं यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः । अयं वाव स इत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ ७ ॥

अनुवादः—जो ही (पूर्वोक्त ऋचा के द्वारा वर्णित हुआ है) वह ब्रह्म है । यही वह है । जो यह पुरुष के बाहर आकाश (प्रकाशवान्) है । जो ही वह पुरुष के बाहर आकाश है (यही वह है) ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यद्वै) जो ही ब्रह्म पूर्वोक्त ऋचा के द्वारा वर्णित हुआ है (तद्+ब्रह्म+इति) वही ब्रह्म है । दूसरा नहीं (इदम्+वाव) यही (तद्) वह है (यः+अयम्) जो यह (पुरुषाद्) पुरुष से (बहिर्धा) बाहर (आकाशः) प्रकाश अर्थात् प्रकाशवान् है (यः+वै) जो ही (सः) वह (पुरुषाद्+बहिर्धा+आकाशः) पुरुष से बाहरी आकाश है (अयम्+वाव+सः) यही वह है इतना उत्तर प्रवाक से सम्बन्ध रखता है ॥ ७ ॥

भाष्याशयः—उक्त ऋचा से जो प्रकाशित हुआ है वह गायत्री छन्द का वर्णन है अथवा ब्रह्म का ? पूर्व प्रकरण से गायत्री का ही वर्णन होरहा है अतः यह भी उसी का व्याख्यान होना चाहिये । इस हेतु यहां कहा जाता है कि शब्दमय, नियतवर्ण संख्याविशिष्ट गायत्री कैसे स्वरूप से एक अंश द्वारा त्रिभुवन को व्याप्त कर सकती है । इस हेतु वह व्याख्यान ब्रह्म का है । इसे विस्पष्ट करने के लिये उत्तर ग्रन्थ है । आगे के वर्णन से ईश्वर की बाहर भीतर व्यापकता दिखलाई जाती है ॥ ७ ॥

अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः ॥ ८ ॥

अयम् । वाव । सः । यः । अयम् । अन्तःपुरुषे । आकाशः । यः । वै । सः । अन्तःपुरुषे । आकाशः ॥ ८ ॥

भाष्यम्–अयमिति । अयं वाव । अयमेव । सोऽस्ति । योऽयम् । अन्तःपुरुषे । पुरुषस्याभ्यन्तरे शरीराभ्यन्तरे । आकाशः । प्रकाशवानस्ति । यो वै सः । य एव सः । अन्तःपुरुषे । आकाशः । अयं वावसः । इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ८ ॥

अनुवादः–यही वह है। जो इस पुरुष (शरीर) के अभ्यन्तर आकाश (प्रकाशवान्) है जो ही वह शरीर के अभ्यन्तर प्रकाशवान् है (यही वह है) ॥ ८ ॥

पदार्थः–(अयं+वाव+सः) यही वह है (यः+अयम्) जो यह (अन्तःपुरुषे) शरीर के अभ्यन्तर में (आकाशः) प्रकाश अर्थात् (प्रकाशवान्) है (यो वै सः) जो ही वह (अन्तःपुरुषे) शरीर के अभ्यन्तर (आकाशः) प्रकाशवान् है (अयं+वाव+सः) यही वह है। इतना उत्तर पद से सम्बन्ध है ॥ ८ ॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

अयम् । वाव । सः । यः । अयम् । अन्तर्हृदये । आकाशः । तद् । एतत् । पूर्णम् । अप्रवर्ति । पूर्णाम् । अप्रवर्तिनीम् । श्रियम् । लभते । यः । एवम् । वेद ॥ ९ ॥

भाष्यम्–अयमिति । अयंवाव अयमेवसोऽस्ति । योऽयमन्तर्हृदये । हृदयाभ्यन्तरे । आकाशः । प्रकाशः । प्रकाशवान् । तदेतद्धृदयान्तर्वर्ति आकाशाख्यं ब्रह्मास्ति । तत्पूर्णम् । सर्वगतम् । न हृदयमात्रपरिच्छिन्नमिति मन्तव्यम् । पुनः कथंभूतम् ? अप्रवर्ति । अचलम् । सदैकभावम् । फलं कथयति । यो विद्वान् एवं वेद । सोऽपि । पूर्णं ब्रह्म लभते । अन्ते । इहचाप्रवर्तिनीं श्रियम् । धनधान्यसम्पत्तिं लभते ॥ ९ ॥

इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अनुवादः–यही सो है जो यह हृदय के मध्य आकाश है। वह यह (ब्रह्म) पूर्ण और अप्रवर्ति है। जो ऐसा जानता है वह पूर्ण (ब्रह्म) को और अप्रवर्तिनी लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) को पाता है।

पदार्थः–(अयम्+वाव) यही (सः) वह है (यः+अयम्) जो यह (अन्तर्हृदये (हृदयाभ्यन्तर (आकाशः) अर्थात् प्रकाशवान् ब्रह्म है (तदेतत्) वह यह हृदया-

काशस्थ ब्रह्म (पूर्णम्) सर्वत्र विद्यमान हैं। पुनः (अप्रवर्ति) परिवर्त्तन रहित है। आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है। वह (पूर्णम्) पूर्णब्रह्म को (लभते) पाता है और (अप्रवर्तिनी) सदा स्थिर रहने वाली (पूर्णाम्) पूर्ण (श्रियम्) सम्पत्ति (लभते) पाता है ॥ ९ ॥

इति द्वादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

गायत्री शब्द (१४)

गायत्री शब्द के ऊपर संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती है। क्योंकि बहुधा साधारण लोग "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि एक मन्त्र को ही केवल गायत्री समझते हैं और इसको स्त्रीरूप मानकर शाक्तलोग परमसुन्दरी परमैश्वर्यशालिनी एक विशेष रमणी के उचित विशेषण जितने होने चाहियें। उन विशेषणों से उन्हें भूषितकर ध्यान करते हैं जो कि सत्य नहीं हैं। वेदों में प्रायः सात छन्दों के प्रयोग आये हैं। वे ये हैं। गायत्री, उष्णिग्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती। अथर्ववेद में इन सातों छन्दों के नाम एकही स्थान में आगये हैं यथाः—

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै। अथर्व० का० १९। अनु० ३। सू० २१। मं० १ ॥

और इनमें से प्रत्येक गायत्री आदि छन्द के आठ आठ भेद हैं। वे ये हैं–आर्षी १ दैवी २ आसुरी ३ प्राजापत्या ४ याजुषी ५ साम्नी ६ आर्ची ७ और ब्राह्मी ८। इस प्रकार सब छन्द मिलाकर ७×८=५६ प्रकार के होते हैं। पुनः इन के अनन्त भेद हैं जिन का वर्णन पिङ्गल आदि छन्दग्रन्थों में विस्तारपूर्वक है। मुख्य ये सात और प्रत्येक के आठ भेद हैं। गायत्री (चतुर्विंशति) २४ अक्षरों की होती है और क्रमशः उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द में चार ४ अक्षरों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है अर्थात् गायत्री=२४ उष्णिक्=२४+४=२८ अनुष्टुप्=२८+४=३२ बृहती=३२+४=३६ पङ्क्ति=३६+४=४० त्रिष्टुप्=४०+४=४४ जगती=४४+४=४८ मुख्य ये ही हैं और इनके नाम आर्षीगायत्री, आर्षी उष्णिक् आर्षी अनुष्टुप् आदि हैं और अन्य सात भेदों के ये नाम हैं। दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी। इस में पिङ्गल का प्रमाण। "गायत्री २। २। दैव्येकम् २। ३। आसुरी पञ्चदश २। ४" इत्यादि सूत्र से प्राग् यजुषामार्ष्य इति २। १६ ॥ इस सूत्र पर्यन्त देखो। पुनः–

गायत्र्यावसवः ३ । ३ । गायत्री का एकपाद वसु=८ अक्षरों का होता है । यह भी विदित होना चाहिये कि गायत्री छन्द तीन ही पाद का होता है । इस हेतु ८×३=२४ अक्षरों की गायत्री होती है इसी प्रकार "जगत्या आदित्याः ३ । ४ ।" जगती छन्द का एक पाद आदित्य=१२ अक्षरों का होता है । अतः चारों पाद १२×४=४८ अक्षरों के होते हैं । इत्यादि वर्णन पिङ्गल के तृतीयाध्याय में है । इस से यह सिद्ध हुआ कि गायत्री एक छन्द का केवल नाम है जो २४ अक्षरों का होता है । अतएव

अग्निमीळे पुरोहितम् ॥ १ ॥ यज्ञस्य देवमृत्विजम् ॥ २ ॥ होतारं रत्नधातमम् ॥ ३ ॥

ऋग्वेद का यह प्रथम मन्त्र गायत्री छन्द है केवल यही नहीं । किन्तु अनेक सूक्त तक केवल गायत्री ही छन्द है । पुनः—

अग्न आयाहि वीतये ॥ १ ॥ गृणानो हव्यदातये ॥ २ ॥ निहोता सत्सि बर्हिषि ॥ ३ ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र भी गायत्री ही छन्द है । यह भी देखते हैं कि इन में तीन चरण और २४ अक्षर हैं । २४ अक्षरों की गायत्री होती है इस में उपनिषदों का प्रमाण यथा—"चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनम्" छा० उ० ३ । १७ । १ ॥ २४ अक्षरों की गायत्री होती है, प्रातःसवन में मुख्यतया गायत्री ही छन्द का प्रयोग होता है । पुनः "अष्टाक्षरꣳह वा एकं गायत्र्यैपदम्" बृह० उ० ५ । १४ । १ । गायत्री छन्द में आठ अक्षरों का एक पद (पाद) होता है । अतः तीनों पाद मिलकर २४ अक्षरों के हुए ।

यहां पर यह शङ्का होती है कि जब गायत्री एक छन्दोमात्र का नाम है और वेदों में सैकड़ों गायत्री छन्द के मन्त्र हैं तब क्योंकर "तत्सवितुर्वरेण्यम्" यही एक मन्त्र गायत्री नाम से प्रसिद्ध हुआ अन्य नहीं ? जब हम किसी से पूछते हैं कि तुम गायत्री जानते हो तो कहो तब इस के उत्तर में ज्ञाता पुरुष "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इसी को पढ़कर सुनाता है । अन्य "अग्निमीळे" आदि मन्त्र को नहीं । इसका क्या कारण । उत्तर—इस मन्त्र की इतनी प्रसिद्धि इस कारण हुई है कि माणवक (बालक) का जब उपनयनसंस्कार होता है तब सब से प्रथम यही (तत्सवितु०) मन्त्र आचार्य सुनाते हैं और यह भी एक नियम है कि ऋषि, देवता, छन्द, स्वर भी प्रत्येक मन्त्र के साथ साथ जानने चाहियें अतः नियमपूर्वक बालक को कह दिया जाता है कि इस मन्त्र का छन्द गायत्री है । अब

आप जानते हैं कि एक तो बालक अभ्यास करने के लिये उसे गायत्री नाम से ही पुकारने लगता है। और लोग भी उसी के अनुसार गायत्री मन्त्र कहो २ उस बालक से पूछा करते हैं क्योंकि यह आवश्यक है कि प्रथम उसको यह मन्त्र कण्ठस्थ हो जाना चाहिये। इस हेतु उसकी प्रसिद्धि हुई। पुनः शङ्का होती है कि चारों वेदों के प्रथम मन्त्र को छोड़ बालक को सब से प्रथम यही मन्त्र क्यों पढ़ाया जाता है। उचित तो यह है कि किसी वेद का प्रथम मंत्र ही प्रथम पढ़ाना चाहिये फिर (तत्सवितुर्वरेण्यम्) यही क्यों ? । उ०–यद्यपि वेद के सब ही मन्त्र एक से एक उत्तम हैं (जिसकी उत्तमता को सर्वथा हम लोग नहीं समझ सकते हैं) तथापि बालक को सब से प्रथम बुद्धि की आवश्यक्ता है। क्योंकि इसके विना कोई भी संसार का काम नहीं हो सकता। इस मन्त्र में बुद्धिवृद्धि के लिये प्रार्थना है। अतः यह प्रथम पढ़ाया जाता है। यदि कोई यह कहे कि अन्य भी तो ऐसे अनेक मंत्र हैं। जिनमें बुद्धि के लिये प्रार्थना है फिर उनमें से कोई क्यों नहीं कहा जाता है। उत्तर उसमें भी आप यह शङ्का कर सकते थे कि यही मन्त्र प्रथम क्यों दिया जाता है। प्रथम तो कोई एक ही मन्त्र कहा जाता। उसमें यह शङ्का तुल्य ही थी। यदि यह कहा जाय कि तब ईश्वर ने प्रथम इसी मन्त्र का उपदेश क्यों नहीं किया ? उ०–ईश्वर ने महाज्ञानी, सूक्ष्मदर्शी, सिद्ध महापुरुष चार ऋषियों को वेद दिये। अब यह ज्ञानी मनुष्य का कर्त्तव्य है किस मन्त्र से क्या काम लेना चाहिये। जैसे जीवों के वास्ते यह सृष्टि दी है ज्ञानी पुरुष बुद्ध्यनुसार तत्तत् पदार्थ से काम लेते हैं। वैसा ही वेद के मन्त्र से तत्तत् काम लेते हैं। इस सृष्टि में सब से प्रधान आग्नेय पदार्थ है। उसके विना क्षणमात्र भी सृष्टि नहीं रह सकती है। अतः आग्नेय पदार्थ के वर्णन से वेद का आरम्भ होता है। ईश्वर अग्नियों का भी अग्नि है। जिस महा अद्भुत अग्नि के विना कुछ हो ही नहीं सकता। अतः यथार्थ में ईश्वरवाचक अग्नि शब्द से वेद आरम्भ होता है। जिस के दो दो अर्थ होते हैं। ईश्वर ने भी गायत्री छन्द के द्वारा ही वेद का आरम्भ किया है। अतः गायत्री छन्द परमप्रसिद्ध हुआ है और (तत्सवितुः) यह मन्त्र प्रथम पढ़ाने के कारण ही परम प्रसिद्ध होगया है। इस के ऊपर अनेक व्याख्यान भी हैं ॥

सावित्री—सावित्री भी नाम गायत्री का है (सविता जगतः प्रसविता जनयितेश्वरो देवता अस्या इति सावित्री) सविता अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले ईश्वर देवता हैं जिसके उसे सवित्री कहते हैं। इस गायत्रीमन्त्र का देवता सविता है

अतः सावित्री इसका नाम है । मनुजी कहते हैं–"त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।। तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः । २ । ७७ ॥....। त्रिपदाचैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम् । २ । ८१ ॥....। एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परंतपः । सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते" ॥ २ । ८३ ॥

इन श्लोकों में सावित्रीपद से गायत्री का ग्रहण होता है । इस में पुनः बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रमाण—"स यामेवामूꣳसावित्रीमन्वाह एषैव । ५ । १४ । ४ ॥ तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतत् वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्य्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्" । बृ० उ० ५ । १४ । ५ ॥ भाव इसका यह है कि आचार्य लोग उपनीत माणवक को जो सावित्री कहते हैं यह गायत्री ही है । कोई आचार्य कहते हैं कि अनुष्टुप् छन्दोऽन्वित सवितृदेवतात्मक अन्य सावित्रीमन्त्र माणवक को देते हैं इस का भी अभिप्राय यही है क्योंकि अनुष्टुप् शब्द का यहां वाग् अर्थ है । सावित्री पद से यहां गायत्री का ही अभिप्राय है । अतः गायत्री ही माणवक को देनी चाहिये । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सावित्री नाम भी गायत्री का ही है । प्रश्न–गायत्री को लोग स्त्रीरूपा क्यों मानने लगे ? उ०–संस्कृतभाषा में गायत्री शब्द स्त्री लिङ्ग है । शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण अज्ञानी लोग इसको भी स्त्रीरूपा मानने लगे । प्र०–क्या ऐसे और भी उदाहरण हैं ? । उ०–हां ऐसे हजारों उदाहरण हैं । यथा गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं । अतः जल के प्रवाह को भी स्त्रीरूपा मानते हैं । देश में गङ्गा आदि की जब मूर्त्ति बनाते हैं तो स्त्रीरूपा ही बनाते हैं । गङ्गा नदी न तो स्त्री न पुरुष है । मूर्खता से उसे स्त्री मानरक्खा है । इसी प्रकार रात्री, द्यौ, शची, इन्द्राणी, रुद्राणी आदि भी जानना । प्र०–बड़े २ पण्डित लोग भी तो गायत्री को स्त्रीरूपा ही मानते हैं सो क्यों ? उ०–वे लोग पूर्ण पण्डित नहीं हैं । जिन्हें पूर्ण विचार न हो वे पण्डित नहीं उन्हें नामधारी पण्डित कहना चाहिये ये लोग "अन्धगोलाङ्गूलन्याय" के अनुसरण करने वाले हैं । गायत्री मन्त्र के द्वारा परब्रह्म का ध्यान वा प्रार्थना होती है किसी स्त्रीविशेष की नहीं । इस मन्त्र का देवता भी सविता है जो पुलिङ्ग हैं फिर इसको स्त्रीरूपा मानना सूचित करता है कि जगद्व्यामोहिनी और धर्म-कर्म-विलोपिनी अविद्या देश में फैली हुई है । इतिदिग् ॥

गायत्री और सोम–"सोमो वै राजाऽमुष्मिन् लोक आसीत् । तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् । कथमयमस्मान्त्सोमो राजा गच्छेदिति ? । तेऽब्रुवन् छन्दांसि । यूयं न इमं

सोमं राजानमाहरेति । तथेति । ते सुपर्णाभूत्वोदपतन् । ते यत् सुपर्णाभूत्वोदपतंस्तदेतत् सौपर्णमित्याख्यानविद आचक्षते इत्यादि । ऐतरेय ब्रा० तृतीय पञ्चिका ॥ २ । १ ॥

अनुवादः—परलोक में सोमराजा रहते थे । देव (विद्वद्गण) और ऋषियों ने उनका स्मरण किया । कैसे ये सोम राजा हम लोगों के निकट आवेंगे (ऐसा विचार कर) उन्होंने सब वैदिक छन्दों को कहा कि आप लोग इन सोमराज को हम लोगों के निकट ले आवें । उन्होंने तथास्तु कहा । वे " सुपर्ण " होकर ऊपर को चले । जिस कारण वे " सुपर्ण " होकर ऊपर को उड़े अतः इस प्रसङ्ग को आख्यानवित् पुरुष "सौपर्ण" कहते हैं । इसके अनन्तर यह वहां कहा गया है कि जगती, त्रिष्टुप् आदि छन्द सोमराज के लाने में असमर्थ हुए तब "ते देवा अब्रुवन् गायत्रीं त्वं न इमं सोमं राजानमाहरेति सा तथेत्यब्रवीत् । तां वै मा सर्वेण स्वस्त्ययनेनानुमन्त्रयध्वमिति । तथेति । सोदपतत् । तां देवाः सर्वेण स्वस्त्ययनेनान्वमन्त्रयन्त । प्रेति चेतिचेत्येतद्वै सर्वं स्वस्त्ययनं यत् प्रेति चेतिचेति" ।.... "सा पतित्वा सोमपालान् भीषयित्वा पद्भ्यां च मुखेन च सोमं राजानं समगृभ्णात् इत्यादि" । .... । ऐतरेय ब्रा० । ३ । ३ । २ ॥

अनुवादः—तब वे देव और ऋषि गायत्री छन्द से कहने लगे कि आप सोमराज को हम लोगों के निकट ले आवें । गायत्री एवमस्तु कहकर बोलीं कि आप लोग मुझ को सब स्वस्त्ययन से अनुमन्त्रण करें । इन्होंने वैसा ही स्वीकार किया । वे ऊपर को उड़ चलीं । देव और ऋषि उनको सब स्वस्त्ययन से अनुमन्त्रण करने लगे "प्र" "च" "च" "प्र" "च" "च" ये ही सर्वोत्तम स्वस्त्ययन हैं (प्र=प्रकर्ष, च=पुनः) पुनः पुनः उत्कट इच्छा से ईश्वर के स्मरण करने का नाम "प्र, च, "च" है । उनने जाकर सोमपालकों को भय दिखलाकर चरणों और मुख से सोमराज को पकड़ लिया । तदनन्तर उनको लाकर देव और ऋषियों को समर्पण किया । इत्यादि आख्यान ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में हैं ।

आशय । इसका अभिप्राय यह है सोमराजा यहां ईश्वर का नाम है । वह यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तथापि उसको कोई देख नहीं सकता अतः कहा जाता है कि वह परलोक में रहता है (अमुष्मिन्) पद मूल में है । दूरस्थ में अदस् शब्द का प्रयोग होता है वह हम अज्ञानियों के लिये दूरस्थ है इसमें सन्देह नहीं । उस ईश्वर की प्राप्ति के लिये देव और ऋषि सब कोई प्रयत्न करने लगे । परन्तु वह मिला नहीं । अतः ये लोग छन्दोमय वेद के निकट आये और कहा कि हमको ईश्वर दिखलाओ (यह आलङ्कारिक वर्णन है) सब मिलकर छन्दों को गाने लगे । उनकी गाने के समय छान्दोमयी वाणी

ऊपर को चली। अर्थात् ईश्वर की ओर चली। तथापि। केवल गाने से ही ईश्वर को न पाकर ईश्वर की प्राप्ति के लिये गायत्री (वेदवाणी) के द्वारा स्वस्त्ययन करने लगे तब ईश्वर की प्राप्ति हुई। गायत्री नाम सम्पूर्ण वेदवाणी का है। "वाग् वै गायत्री"। छा० उ० ३। १२। १॥ वाणी ही गायत्री है। अर्थात् जब सब प्रकार से अखिल वेदवाणी का मनन कर पाये तब ही ईश्वर की प्राप्ति हुई। केवल दो चार मन्त्रों के मनन से नहीं। यही इसका भाव है। ऐसे २ स्थानों में गायत्री शब्द का अर्थ समस्त वेदवाणी ग्रहण करनी चाहिये। इति दिग्

व्युत्पत्ति—"इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च" छा० उ० ३। १२। १॥ जो सब प्राणी को गाती है और रक्षा करती है उसे गायत्री कहते हैं। "प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यत् गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम"॥ बृह० उ० ५। १४। ४। गायत्री शब्द में "गाय+त्री" ये दो शब्द हैं। गाय शब्द गय से बना है। गय नाम प्राणों (सर्वेन्द्रियों) का है। त्रै धातु से स्त्रीलिङ्ग में त्री बनता है तब यह अर्थ हुआ कि सब इन्द्रियों की रक्षा जो करती है उसे गायत्री कहते हैं। बुद्धि प्राप्त होने से निःसन्देह-इन्द्रियों का इन्द्रियत्व प्राप्त होता है यही इन्द्रियों की रक्षा है। और कोई २ आचार्य "गायन्तं त्रायत इति गायत्री" ऐसी भी व्युत्पत्ति करते हैं। इति गायत्री समीक्षा॥

अथ त्रयोदशः खण्डः॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत। तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ १॥

तस्य। ह। वै। एतस्य। हृदयस्य। पञ्च। देवसुषयः। सः। यः। अस्य। प्राङ्। सुषिः। सः। प्राणः। तत्। चक्षुः। सः। आदित्यः। तद्। एतद्। तेजः। अन्नाद्यम्। इति। उपासीत। तेजस्वी। अन्नादः। भवति। यः। एवम्। वेद॥१॥

भाष्यम्—तस्य हेति। लोके गुणज्ञाः प्रसादानुग्राह्या दौवारिका यथा प्रभुमभिरक्षन्ति। अन्ते कदाचिद्राज्यप्राप्तिसाधना अपि जायन्ते। तथैवेदं हृदयं पञ्चद्वारपाः सदा सन्निहिताः पान्ति। तानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि सन्ति। इमानि सम्यग् विज्ञाय विविधप्रसादैः स्ववशं नयेत। वशीभूतानीमानि सर्वाभ्य आपद्भ्यः पदेपदे त्रायन्त इत्यर्थमेवोत्तरखण्डमारभते। तस्य प्रकृतस्यैतस्य हृदयस्य। ह वै। निश्चितम्। पञ्च। पञ्चसङ्ख्याकाः। देवसुषयः। देवानामि-

न्द्रियाणां सुषयश्छिद्राणीति देवसुषयः । कल्याणसाधनद्वारच्छिद्राणीत्यर्थः । अस्य कल्याणभवनस्यहृदयस्य स यः प्राङ्सुषिः प्रकर्षं गतः पटुः स्वविषयग्रहणं प्रति निपुणः । सुषिः । पूर्वाभिमुखस्य तस्य प्राग्गतं वा सच्छिद्रं द्वारमस्ति । सः प्राण उच्यते । तेनैव द्वारेण स वायुविशेषः प्राणः सञ्चरति । प्र=प्राग्+अनिति संचरतीति व्युत्पत्तेः । चक्षुष्येवतस्य प्राङ्सुषिर्द्वारम् । अतस्तच्चक्षुरुच्यते चक्षुःसंज्ञकं ज्ञानेन्द्रियमित्यर्थः । स आदित्यः । स एव सुषिरादित्योऽपिकथ्यते । कथम् । आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । इति प्रश्नवचनात् । आदित्यतेजसाऽऽप्यायमानं तदेवरूपं विषेतुमर्हतीति। अतः स आदित्यो निगद्यते । कार्य्यकारणयोरभेदविवक्षात्रास्ति । चक्षुर्निमित्तकारणमादित्यः । अतएव । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् इत्यैतरेयीश्रुतिः संगता । अन्यच्च । पञ्चमप्रपाठके । प्राणे तृप्यति । चक्षुस्तृप्यति । चक्षुषि तृप्यति । आदित्यस्तृप्यति । आदित्ये तृप्यति । द्यौस्तृप्यति । इदमपिसङ्गच्छते । अन्यच्च । स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषाति । कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति । रूपेष्विति । चक्षुषाहि रूपाणि पश्यति । कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति । । हृदय इति होवाच । हृदयेन रूपाणि जानाति । हृदिह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य । बृ० ३ । ६ । २० ॥ इत्येष शाकल्य याज्ञवल्क्य सम्वादः सर्वं विस्पष्टयति । एतस्योपासनविज्ञानमाह तदेतदिति । तदेतत् "तेजः"। "अन्नाद्यञ्चेति" अन्नमत्तीत्यन्नादः । तस्यभावोऽन्नाद्यम्। अन्नभोक्तृत्वमिति । द्वाभ्यां गुणाभ्यामुपासीत सम्यक् शास्त्रविद्यया विचारयेत । अयं सुषिः तेजस्वी । अन्नादश्चेति शास्त्रविज्ञानेन विजानीयात् । फलमाह । य एवं वेद सोऽपितेजस्वी । अन्नादश्चभवति ॥ १ ॥

अनुवाद:–इस हृदय के, निश्चय, पञ्चदेव सुषि हैं । इस (हृदय) का वह जो पूर्वसुषि (छिद्र) है वह प्राण, वह चक्षु, वह आदित्य कहलाता है । इसको "तेज" और "अन्नाद्य" जान विचार करे । जो ऐसा जानता है वह तेजस्वी और अन्नाद होता है ॥१॥

पदार्थः–(तस्य) उस (एतस्य) इस (हृदयस्य) हृदय के (ह वै) निश्चय, (पञ्च) पांच (देवसुषयः) देव=इन्द्रियसम्बन्धी । सुषि=छिद्र हैं । अर्थात् इन्द्रियों के द्वार हैं (अस्य) इस हृदय भवन का (सः+यः) सो जो (प्राङ्) पूर्वगत (सुषिः) छिद्र=द्वार है । अर्थात् पूर्वाभिमुख होने से जो पूर्वद्वार (नयनद्वार) प्रतीत होता है (सः प्राणः) वह प्राण कहलाता है क्योंकि इसी द्वार से प्राणवायु चलता है (तत्+चक्षुः) वही चक्षु नयन और (सः+आदित्यः) वही आदित्य भी कहलाता है ।

आगे इसकी उपासना कही जाती है (तद्+एतत्) उस इस द्वार को (तेजः) तेज और (अन्नाद्यम्) अन्नभोक्तृत्व (जिस में अन्न का भोक्तापन है) (इति) इन दो गुणों से (उपासीत) प्राकृतविद्याद्वारा विचारे । विचार का साधन प्राकृतविद्या है आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है वह (तेजस्वी+अन्नादः+भवति) तेजस्वी और अन्नभोक्ता होता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः-जैसे लोक में गुणग्राही और कृपापात्र द्वारपाल प्रभुकी सब प्रकार से रक्षा करते हैं । अन्त में वैसे द्वारपाल राज्यप्राप्ति के भी कभी कारण होते हैं वैसे ही इस हृदय को पञ्च द्वारपाल सदा निरुद्वेग होकर पालते हैं । और अन्त में कल्याण के साधक भी होते हैं । वे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय हैं । इनको अच्छे प्रकार जान विविध अनुग्रहों से प्रयत्न कर निजवश में लावे । वशीभूत होने से ये ही सर्व आपत्तियों से पद पद में रक्षा करते हैं । इसी को दिखलाने के लिये यह उत्तरखण्ड प्रारम्भ होता है । प्राण=प्र+अन् धातु से प्राण सिद्ध होता है । प्र=प्राग्=पूर्व । पूर्वद्वार से जिसका संचार हो उसे प्राण कहते हैं (सः+आदित्यः) वह आदित्य सूर्य इस हेतु कहलाता है कि (आदित्यः) सूर्य ही; निश्चय, बाह्यप्राणरूप से उदित होता है । यही चक्षुगतप्राण के ऊपर अनुग्रह करता है । यह प्रश्नोपनिषद् का वचन है अर्थात् सूर्य के तेज से पुष्ट होनेपर चक्षु अपने रूप का ग्रहण करता है । अतः वह आदित्य कहलाता है । यहां कार्य कारण की अभेद विवक्षा है । चक्षु का निमित्तकारण आदित्य है । अर्थात् सूर्य के विना नयन कुछ कर ही नहीं सकता । इसी हेतु ऐतरेय श्रुति की भी संगति होती है (आदित्यश्चक्षु०) आदित्य नयन होकर नयनों में प्रविष्ट हुआ (इति) (प्राणे०) और इसी हेतु छा० उ० पञ्चम प्रपाठक में कहा गया है प्राण की तृप्ति से चक्षु तृप्त होता है । चक्षु की तृप्ति से आदित्य तृप्त होता है । आदित्य की तृप्ति से द्युस्थ पदार्थ तृप्त होता है इत्यादि । और भी बृहदारण्यक उ० में कहा गया है (स आदित्यः) वह आदित्य किस में प्रतिष्ठित (स्थित) है ? चक्षु में इति । चक्षु किस में प्रतिष्ठित है ? रूपों में इति । क्योंकि चक्षु से ही रूपों को देखता है । रूप किस में प्रतिष्ठित है ? हृदय में इति । हृदय से ही रूपों को जानता है । क्योंकि हृदय में ही सब रूप प्रतिष्ठित हैं । यह शाकल्य और याज्ञवल्क्य सम्वाद है इससे विस्पष्ट होता है कि हृदय में ही सब प्रतिष्ठित है । चक्षु आदि केवल द्वारपालवत् इस के रक्षक हैं । अन्नाद्य=अन्न के भोक्ता को अन्नाद (अन्न+आद) उस के भाव को अन्नाद्य कहते हैं ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत । श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

अथ । यः । अस्य । दक्षिणः । सुषिः । सः । व्यानः । तत् । श्रोत्रम् । सः । चन्द्रमाः । तद् । एतत् । श्रीः । च । यशः । च । इति । उपासीत । श्रीमान् । यशस्वी । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ प्राणोपास्त्यनन्तरं व्यानोपास्तिरुच्यते । अस्य हृदयस्य । यो दक्षिणःपटुः । दक्षिणदिक्स्थो वा सुषिश्छिद्रम् । द्वारम् । स व्यानः । वायुविशेषः । तेनैव द्वारेण स वायुः सञ्चरति अतः सः व्यानः । तत्स्थत्वसाहचर्य्यात् । तत् श्रोत्रम् । सः सुषिः श्रोत्रमुच्यते । श्रोत्रनामकं ज्ञानेन्द्रियमित्यर्थः । स चन्द्रमाः कथ्यते । शब्दं श्रुत्वैव जनश्चन्दति आह्लादयति । शब्देन जना परिचीयन्ते । अतएव च "व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति। चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति" । इत्यादि। छा० उ० ५ । २० । २ ॥ अतएव । दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ऐ० उ० २ । ४ ॥ इति संगच्छते । तदुपास्तिविज्ञानमुच्यते । तदेतत् । सैषा "श्रीश्च यशश्च" इति द्वाभ्यां गुणाभ्यां भूतविद्ययोपासीत विचारयेत । य एवं वेद सोऽपि । श्रीमान् यशस्वी भवति । श्रोत्रगएव शब्दोगृह्यते । वेदात्मकं तदनुसारि विद्वत्प्रणीतशास्त्रात्मकं वा शब्दं विज्ञाय लोके सम्पत्तिमान् यशस्वी च भवति। अतः परम्परया श्रोत्रमेव श्रियो यशसश्चकारणम् । स एव व्यानः ॥ २ ॥

अनुवादः—अनन्तर इस का जो दक्षिण सुषि है वह व्यान (नामक द्वार) है । वह श्रोत्र और वह चन्द्रमा कहलाता है । इस को "श्री" और+"यश" जान विचारें । जो ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) प्राणोपासना के अनन्तर व्यान की उपासना कही जाती है (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (दक्षिणः) दक्षिण=पटुः—अपने विषय ग्रहण करने में निपुण (सुषिः) छिद्र द्वार है (सः+व्यानः) वह व्यान है । क्योंकि इसी छिद्र से व्यान का संचार होता है (तत्+श्रोत्रम्) वह श्रोत्र नामक ज्ञानेन्द्रिय कहलाता है और (सः+चन्द्रमाः) उसे चन्द्रमा भी कहते हैं । आगे इस का विज्ञान कहते हैं । (तत्+एतत्) इस श्रोत्रात्मक ज्ञानेन्द्रिय को (श्रीः+च) शोभा सम्पत्ति और (यशः+च) कीर्तिमान्

(उपासीत) प्राकृत विज्ञानशास्त्रद्वारा विचार करे आगे फल कहते हैं । (यः+एवं+वेद) जो साधक ऐसा जानता है वह (श्रीमान्+यशस्वी+भवति) श्रीमान् और यशस्वी होता है ॥ २ ॥

भाष्याशयः-(स चन्द्रमाः । चदि आह्लादे) आह्लाद आनन्द अर्थ में चदि धातु है । इसी से चन्द्रमा सिद्ध होता है । कोई २ दो धातुओं से भी इसे सिद्ध करते हैं । शब्द सुन के ही मनुष्य किसी को आह्लादित करता है । शब्द से ही जन परिचित होते हैं । और कर्ण से ही शब्द सुनता है । अतः कर्णेन्द्रिय को चन्द्र वा चन्द्रमा कहते हैं । अतएव (व्याने०) व्यान की तृप्ति से श्रोत्र तृप्त होता है श्रोत्र की तृप्ति से चन्द्रमा तृप्त होता है चन्द्रमा की तृप्ति से दिशाएं तृप्त होती हैं इत्यादि वचनों की संगति होती है और इसी कारण (दिशः०) दिशाएं श्रोत्र होकर कर्णों में प्रविष्ट हुईं कहागया है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत । ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथ । यः । अस्य । प्रत्यङ् । सुषिः । सः । अपानः । सा । वाग् । सः । अग्निः । तद् । एतद् । ब्रह्मवर्चसम् । अन्नाद्यम् । इति । उपासीत । ब्रह्मवर्चसी । अन्नादः । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथानन्तरम् । अस्य हृदयस्य । यः । प्रत्यङ् । सर्वं प्रति अञ्चति । गच्छति प्राप्नोतीति प्रत्यङ् । प्रत्यग्भवश्चवा । सुषिरिछद्रमस्ति । सोऽपानः । सा वाग् । तद्वाङ्नामकं ज्ञानेन्द्रियम् । सोऽग्निरप्युच्यते । अग्निनैववागप्यायते । अत उक्तम् । तेजोमयी वागिति । छा० ६ । ५ । ४ ॥ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् । ऐ० २ । ४ ॥ इति च । अन्यच्च-"अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचितृप्यन्ताम् अग्निस्तृप्यति । अग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति" छा० ५ । २१२ ॥ इति छान्दोग्यश्रुतिः सङ्गता । उपास्तिविज्ञानमुच्यते । तदेतज्ज्ञानेन्द्रियमिदं "ब्रह्मवर्चसम्" "अन्नाद्यम्" अन्नभोक्तृत्वमिति च विदित्वा मत्वा वा । उपासीत । भूतविद्यया भावयेत । विजानीत । फलमाह । य एवं वेद । स ब्रह्मवर्चसी अन्नादो भवति ॥ ३ ॥

अनुवादः-अनन्तर जो इसका प्रत्यङ् सुषि है वह अपान कहलाता है । वह वाग् और वह अग्नि कहलाता है । उस को "ब्रह्मवर्चस और अन्नाद्य" मान उपासना करे । जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मवर्चसी और अन्नभोक्ता होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (प्रत्यङ्) प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली वा पश्चिमदिक्स्थ (सुषिः) छिद्र है (सः+अपानः) वह अपान है क्योंकि मुख में ही इस वायु का संचार है (सा:+वाग्) वह वाणी कहलाती है । अर्थात् वह वागात्मक ज्ञानेन्द्रिय है (स+अग्निः) उसे अग्नि भी कहते हैं । क्योंकि वागिन्द्रिय का निमित्तकारण अग्नि है । आगे उपासना सम्बन्धी विज्ञान कहा जाता है (तत्+एतत्) इस वाक् ज्ञानेन्द्रिय को (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मसाधक तेज और (अन्नाद्यम्) अन्नभोक्तृत्व मान (उपासीत) प्राकृतविद्या द्वारा जाने । आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है वह भी ब्रह्मवर्चसी होता है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाष्याशयः-(सः+अग्निः) अग्नि इसको इस हेतु कहा है क्योंकि आग्नेय शक्ति ही वाणी का कारण है । अतएव कहा गया है (तेजोमयी०) तेजोमयी वाणी है पुनः (अग्निः) अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुई । पुनः (अपाने०) अपानकी तृप्ति से वाग् तृप्त होती है वाणी की तृप्ति से अग्नि तृप्त होती है । अग्नि की तृप्ति से पृथिवी तृप्त होती है । इत्यादि वाक्य की संगति होती है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्त्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अथ । यः । अस्य । उदङ् । सुषिः । सः । समानः । तत् । मनः । सः । पर्जन्यः । तद् । एतद् । कीर्त्तिः । च । व्युष्टिः । च । इति । उपासीत । कीर्त्तिमान् । व्युष्टिमान् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

भाष्यम्-अथेति । समानविज्ञानमारभते । अस्य हृदयस्य । यः । उदङ् । ऊर्ध्वमञ्चति । ऊर्ध्वगमनशील उत्तरदिग्गतोवा । सुषिश्छिद्रमस्ति । स समानः । तदेव मन इन्द्रियम् । स पर्जन्योऽपि च कथ्यते । परितः सर्वतः सर्वेन्द्रियेषु जायत इति पर्जन्यः । सर्वेन्द्रियसंयोगीत्यर्थः । अत उक्तम् । "समाने तृप्यतिमनस्तृप्यति मनसितृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत् तृप्यति" । छा० ५ । २२ । २ ॥ एतद् विज्ञानमाह । तदेतन्मनः "कीर्तिः । व्युष्टिः । विशेषकान्तिः" । इतिमत्वा । उपासीत । प्राकृतशास्त्रेण विजानीयात् । फलमाह कीर्त्तिमानित्यादिना ॥ ४ ॥

अनुवादः-अनन्तर । इसका जो उदङ् सुषि है । वह समान है । वह मन और वह पर्जन्य कहलाता है । उस इसको " कीर्ति" और "व्युष्टि" मान विचारे । जो ऐसा जानता है । वह भी कीर्त्तिमान् और व्युष्टिमान् होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (उदङ्) ऊर्ध्व-गमनशील (सुषिः) छिद्र द्वार है (सः+समानः) वह समान कहलाता है (तत्+मनः) वह मन इन्द्रिय है । (सः+पर्जन्यः) उसे पर्जन्य भी कहते हैं । इसका विज्ञान कहा जाता है । (तद्+एतत्) उस इस मन इन्द्रिय को (कीर्तिः+च) कीर्त्ति और (व्युष्टिः+च) विशेषकान्ति (इति) मान (उपासीत) प्राकृत शास्त्र के द्वारा जाने । आगे फल कहा जाता है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है वह (कीर्त्तिमान्) कीर्त्तिमान् और (व्युष्टिमान्) विशेष कान्तिमान् (भवति) होता है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-(पर्जन्यः) परि+जन् धातु से यह सिद्ध होता है । परि=सर्वतः । सब इन्द्रियों में जो जन्मे । अर्थात् जिसका सम्बन्ध सब इन्द्रियों के साथ हो उसे यहां पर्जन्य कहते हैं । जिस हेतु मन सर्वेन्द्रिय संयोगी है । अतः मनको पर्जन्य कहा है । इसी हेतु यह भी कहा गया है कि (समाने०) समान की तृप्ति से मन तृप्त होता है । मन की तृप्ति से पर्जन्य तृप्त होता है पर्जन्य की तृप्ति से विद्युत् तृप्त होती है । इत्यादि ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाश-स्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

अथ । यः । अस्य । ऊर्ध्वः । सुषिः । सः । उदानः । सः । वायुः । सः । आकाशः । तद् । एतद् । ओजः । च । महः । च । इति । उपासीत । ओज-स्वी । महस्वान् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथानन्तरम् । अस्य हृदयस्य । यः । ऊर्ध्वः । ऊर्ध्वस्थ उपरिस्थ इत्यर्थः । सुषिश्छिद्रमस्ति । सः । उदानः । आपादतलादारभ्योर्ध्वमुत्क्रमणादुत्कर्षार्थञ्च कर्म्म कुर्वन्नित्युदानः । स वायुरपि कथ्यते । सततंनाडीभिरूर्ध्वं वाति गच्छतीत्युदानः । स आकाशः । प्रकाशवान् वर्त्तते । तस्योदानस्य वाय्वाकाशौ द्वे नाम्नीस्त इत्यर्थः । अतउक्तम् । "उदाने तृप्यति वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यति" । छा० उ० प्रपा० ५ । २३ । २ ॥ उदानोपास्तिविज्ञानमाह । तदेतद् "ओजश्चमहश्चेति" मत्वा प्राकृतविज्ञानेन । उपासीत । विजानीयात् । फलमाह । य एवं वेद । सोऽपि तेजस्वीमहस्वांश्च भवति ॥ ५ ॥

अनुवादः–अनन्तर इसका जो ऊर्ध्व सुषि है वह उदान, वह वायु, वह आकाश कहलाता है । उस इसको "तेज" और "मह" मान विचारे । जो ऐसा जानता है । वह ओजस्वी और महस्वान् होता है ॥ ५ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (अस्य) इस हृदय का (यः) जो (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व (सुषिः) छिद्र है (सः) वह (उदानः) उदान (सः+वायुः) वह वायु (सः+आकाशः) वह आकाश कहलाता है । आगे इसका विज्ञान कहा जाता है (तत्+एतत्) उस इसको (ओजः) बल और (महः) महान् वा तेज मान (उपासीत) प्राकृत विज्ञान द्वारा विचारे । फल कहते हैं । (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है । (ओजस्वी+महस्वान्+भवति) ओजस्वी और तेजस्वी होता है ॥ ५ ॥

भाष्याशयः–उदान–पाद तल से ऊर्ध्व को इसका उत्क्रमण होता है अतः इसका नाम उदान है उद्+अन् धातु । यह उदान वायु और आकाश नाम से परिचित है । अतएव कहा गया है कि (उदाने०) उदान की तृप्ति से वायु तृप्त होता है । वायु की तृप्ति से आकाश तृप्त होता है ॥ ५ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥ ६ ॥

ते । वै । एते । पञ्च । ब्रह्मपुरुषाः । स्वर्गस्य । लोकस्य । द्वारपाः । सः । यः । एतान् । एवम् । पञ्च । ब्रह्मपुरुषान् । स्वर्गस्य । लोकस्य । द्वारपान् । वेद । अस्य । कुले । वीरः । जायते । प्रतिपद्यते । स्वर्गम् । लोकम् । यः । एतान् । एवम् । पञ्च । ब्रह्मपुरुषान् । स्वर्गस्य । लोकस्य । द्वारपान् । वेद ॥ ६ ॥

भाष्यम्–ते वा इति । ते वै । प्रस्तुता वै ते पूर्वोक्ताः । एते । चक्षुरादयः । पञ्च पञ्चसंख्याकाः । स्वर्गस्य लोकस्य । कल्याणभवनस्य हृदयरूपस्य लोकस्य द्वारपाः । द्वारपालकाः सन्ति । कथंभूतास्ते । ब्रह्मपुरुषाः । हृदयस्थस्य ब्रह्मणः पुरुषाः । ब्रह्मप्राप्तिसाधनाः । विज्ञानफलमाह । स यो विद्वान् । एतान् पञ्चब्रह्मपुरुषान् । एवम् । एवंगुणसहितान् । स्वर्गस्य लोकस्य । हृदयलोकस्य द्वारपान् । वेद । जानाति । तस्येदं फलम् । अस्य विदुषः । कुले ।

वीरोजायते। स्वर्गलोकम्। पुरयंलोकम्। प्रतिपद्यते। प्राप्नोति। विज्ञानभक्त्यर्थं पुनरभ्यस्यति। य एतानेवमित्यादि॥ ६॥

अनुवादः–निश्चय, वे ये पांचों ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। सो जो कोई इन पञ्चब्रह्मपुरुषों को ऐसे स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है। इस के कुल में वीरपुरुष होता है। और सुखस्थान को प्राप्त होता है। जो इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को ऐसे स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है॥ ६॥

पदार्थः–(वै) निश्चित है कि (ते+एते) वे ये (पञ्च+ब्रह्मपुरुषाः) पांचों ब्रह्मपुरुष (स्वर्गस्य+लोकस्य) सुखभवन हृदयरूप लोक के (द्वारपाः) द्वारपालक हैं (सः+यः) सो जो कोई विद्वान् (एतान्+पञ्च+ब्रह्मपुरुषान्) इन पांचों ब्रह्मपुरुषों को (एवम्) पूर्वोक्तगुण सहित (स्वर्गस्य+लोकस्य+द्वारपान्) आनन्द भवन हृदयरूप लोक के द्वारपाल (वेद) जानता है (अस्य+कुले) इस विद्वान् के कुल में (वीरः+जायते) वीर लोग उत्पन्न होता है। (स्वर्गम्+लोकम्) सुखलोक को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है। इस विज्ञान में दृढ़ विश्वासार्थ पुनः इसी विषय को कहते हैं (य एतान् पञ्चब्रह्मपुरुषान्) जो इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को (एवम्) ऐसे (स्वर्गस्यलोकस्य) आनन्द भवन हृदयरूपलोक के (द्वारपान्) द्वारपाल (वेद) जानता है॥ ६॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः (क *)॥ ७॥

अथ। यद्। अतः। परः। दिवः। ज्योतिः। दीप्यते। विश्वतः। पृष्ठेषु। सर्वतः। पृष्ठेषु। अनुत्तमेषु। उत्तमेषु। लोकेषु। इदम्। वाव। तद्। यद्। इदम्। अस्मिन्। अन्तःपुरुषे। ज्योतिः। तस्य। एषा। दृष्टिः॥ ७॥

भाष्यम्–अथेति। पञ्चब्रह्मपुरुषा उक्ताः। ये हृदयस्वर्गस्यपालकाः सन्ति। अथ हृदयस्थमात्मानं दर्शयति। जीवात्मनिश्चयेनैव ब्रह्मप्राप्तिप्रयत्नः सम्भवति। यदितिक्रियाविशेषणम्। अतोऽस्याः। दिवः। हृदयात्मिकायाः दिवः। दिव्यस्थानात्। उपरि। परः। परम्। लिङ्गव्यत्ययः। ज्योतिः। जीवात्मस्वरूपं यज्ज्योतिरस्ति। तदिहविज्ञातव्यम्। दिवः पर इति कथनेन विज्ञायते तज्ज्योतिः कुत्रचिदन्यत्रास्ति। तत्कथं विज्ञानंस्यादित्याह। तत्। पूर्वोक्तं ज्योतिः। इदंवाव। इदमेव। किं तत्?। अस्मिन्नन्तःपुरुषे। शरीराभ्यन्तरे (पुरुष शब्दोऽत्र-

* किन्हीं पुस्तकों में सप्तम, अष्टम, प्रवाक को एक ही माना है।

केवलं शरीरमाह पुरुषः पूरितियावत्) यदिदं ज्योतिः । आत्मस्वरूपः प्रकाशोऽस्ति । इदमेवतज्ज्योतिः । नानयोर्भेदः । किमस्मिन्नेवशरीरे जीवात्मरूपं ज्योतिरस्ति ? । अत्र ब्रूते विश्वतः पृष्ठेषु । अस्यवाक्यस्यार्थं स्वयमाह । सर्वतः पृष्ठेष्विति । सर्वेषां दृश्यमानानां पृष्ठेषु । उपरितनभागेषु । पुनरपि विस्पष्टयति । अस्माकं दृष्ट्या ये उत्तमाः । लोकाः सन्ति । तेषु । येच । अनुत्तमा अनुत्कृष्टा लोकास्तेष्वपि । इदमेव ज्योतिरस्ति । यद्वा । न विद्यत उत्तमो येभ्यस्तेऽनुत्तमाः । सर्वोत्कृष्टा इत्यर्थः । सर्वत्रेशसृष्टिः । यत्र यत्र सृष्टिः । तत्रतत्रेदमेव जीवात्मज्योतिरस्ति । यज्ज्योतिर्मनुष्यशरीराभ्यन्तरे वर्त्तते । तद्विना सृष्टयपूर्णत्वाद् ईदृशोज्योतिषः केनोपायेन दर्शनंस्यादित्याह । तस्यैषादृष्टिः । तस्य ज्योतिषः । एषा दृष्टिः । एतद्दर्शनम् । वक्ष्यमाण प्रकारेण तस्य प्रत्यक्षता ॥ ७ ॥

अनुवादः–अनन्तर इस हृदयस्वरूप द्युलोक के पर जो ज्योति प्रकाशित हो रहा है । यह वही है । जो यह ज्योति इस शरीर के अभ्यन्तर है । और जो सर्वों के ऊपर है । और जो उत्तम अनुत्तम सब लोक में प्रकाशित हो रहा है (वह यही है जो इस मनुष्य-शरीर के अभ्यन्तर है) उसका यह दर्शन है ॥ ७ ॥

पदार्थः–(अथ) पञ्च ब्रह्मपुरुष कहेगये । जो इस हृदयरूप भवन के रक्षक हैं । अब जो इस हृदयस्थ आत्मा है उस का वर्णन करते हैं । क्योंकि जीवात्म निश्चय होने से ही उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न की संभावना है । अतः पञ्चब्रह्मपुरुषों के वर्णन के अनन्तर आत्मविज्ञान का आरम्भ होता है । (अतः) इस (दिवः) हृदयरूप दिव्यस्थान से ऊपर (परः) उत्कृष्ट (यत्+ज्योतिः) जो जीवात्मस्वरूप ज्योति (दीप्यते) देदीप्यमान होरहा है । वह ज्योति अवश्य ज्ञातव्य है । शङ्का–इस हृदयरूप दिव्यस्थान के ऊपर कहने से प्रतीत होता है कि यह कहीं अन्यत्र है । अतः–आगे कहते हैं (इदम्+वाव+तत्) यही वह है । कौन वह है ? (अस्मिन्+अन्तःपुरुषे) इस शरीर के अभ्यन्तर में (यद्+इदम्+ज्योतिः) जो यह ज्योति । आत्मस्वरूप प्रकाश है । शङ्का–क्या यह केवल इसी शरीर के अनन्तर है अन्यत्र नहीं ?, अतः आगे कहते हैं (विश्वतः पृष्ठेषु=सर्वतः पृष्ठेषु) सर्वों के ऊपर भी है । यह दृश्यमान जगत् जितना दीखता है । उसके ऊपर भी जीवात्मा है इसी को पुनः विस्पष्ट करते हैं (अनुत्तमेषु+उत्तमेषु) हम लोगों की दृष्टि से उत्तम वा अनुत्तम (लोकेषु) सब लोकलोकान्तरों में (इदम्+वाव) यही आत्मा है । जो आत्मा इस मनुष्य शरीर के अभ्यन्तर में है । अर्थात् ईश्वर की सृष्टि जहां २ है वहां २ सर्वत्र यही जीवात्मा है आत्मभेद कहीं नहीं है । और यदि सर्वत्र

जो जीवात्म सृष्टि न हो तो ईश्वर की सृष्टि भी पूर्ण नहीं होती। अतः यही आत्मा सर्वत्र विद्यमान है। क्या इस आत्मज्योति के दर्शन का भी कोई उपाय है ? (तस्य+एषा+दृष्टिः) उस ज्योति का यह दर्शन है अर्थात् वक्ष्यमाण रीति से उस की प्रत्यक्षता होती है ॥ ७ ॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति । तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपि गृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत। चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

यत्र । एतद् । अस्मिन् । शरीरे । संस्पर्शेन । उष्णिमानम् । विजानाति । तस्य । एषा । श्रुतिः । यत्र । एतत् । कर्णौ । अपिगृह्य । निनदम् । इव । नदथुः । इव । अग्नेः । इव । ज्वलतः । उपशृणोति । तद् । एतद् । दृष्टम् । च । श्रुतम् । च । इति । उपासीत । चक्षुष्यः । श्रुतः । भवति । यः । एवम् । वेद । यः । एवम् । वेद ॥ ८ ॥

भाष्यम्—यत्रेति । तस्यैषा दृष्टिरिति यदुक्तं तदिह दर्शयति । एतदिति क्रियाविशेषणम् । यत्र यस्मिन् काले । अस्मिन् शरीरे । संस्पर्शेन । हस्तेनगृहीत्वास्पर्शकरणेन । मनुष्यः । उष्णिमानम् । उष्णत्वं यद्विजानाति । तदेतदुष्णत्वविज्ञानं जीवात्मनः सत्तायामग्नेर्धूम इव । प्रत्यक्षलिङ्गम् । नहि सात्मानं शरीरं कदाप्युष्णिमा व्यभिचरति । उष्णएव जीविष्यन् । शीतोमरिष्यन्निति विज्ञायते । अत उक्तम् "अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते । मनः प्राणे । प्राणस्तेजसि । तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति" छा० उ० ६ । १५ । २ ॥ एतेन शरीरस्य तेजः परस्यां देवतायां विलीयत इति विज्ञायते । इति दर्शनमुक्तम् । अथास्य श्रवणमुच्यते । तस्यैषा श्रुतिरित्यादिना । तस्य जीवात्मज्योतिषः । एषाश्रुतिः । एतच्छ्रवणम् । न केवलमस्य दर्शनमेव श्रवणमपि भवति । तद्यथा । एतदिति क्रियाविशेषणम् । यत्र यस्मिन्काले कर्णौ अपिगृह्य । अपिधाय । अङ्गुलिभ्यां सम्यग् ढौकयित्वा । तस्मिन्काले । निनदमिव रथस्यघोषो यथा भवति तमिवघोषम् । उपशृणोति । तथा नदथुरिव । वृषभादीनां गर्जनं यथा भवति । तमिव । उपशृणोति । तथाच । ज्वलतोऽग्नेः शब्दमिव । उपशृणोतिचेतियत् । तदेतत् । तस्य ज्योतिषः । साक्षादिव श्रवणम् । विज्ञानमाह । तदेतज्ज्योतिः । "दृष्टञ्चश्रुतञ्चेति" मत्वा । उपासीत । विजानीयात् । इदं ज्योतिः प्रत्यक्षं दृष्टंचादनुमानेन ज्ञातञ्च ।

प्रत्यक्षं श्रुतम् । चादनुमानेन विज्ञातञ्चेतिमत्वा विश्वस्यच विविधोपपत्तिभिरन्वेषणीयम् । फलमाह । य एवं वेद । स चक्षुष्यो दर्शनीयः । श्रुतः । लोकेषु विश्रुतो भवति । द्विरभ्यासस्तूपास्तिसमाप्त्यर्थः ॥ ८ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अनुवाद:—जहां इस शरीर में स्पर्श से जो उष्णत्व जानता है (वह इसका दर्शन है) और इसका यह श्रवण है । जहां दोनों कानों को अङ्गुलियों से ढांक कर (रथके) घोष के समान (वृषभादियों के) नाद के समान और जलते हुए अग्नि के शब्द के समान जो शब्द सुनाता है (वह इसका दर्शन है) उस इस को "दृष्ट" और "श्रुत" मान सम्यक् प्रकार जाने । वह दर्शनीय और विश्रुत होता है । जो ऐसा जानता है जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

पदार्थः—उस का यह दर्शन है ऐसा पूर्व में जो कहा गया है उसी को अब दिखलाते हैं (यत्र) जिस काल में (अस्मिन्+शरीरे) इस शरीर के बीच (संस्पर्शेन) हाथ लगाने से स्पर्श ज्ञान के द्वारा (उष्णिमानम्) उष्णत्व (गरमी) (विजानाति) जानता है। वह (एतत्) यह जीवात्मरूप ज्योति का दर्शन है । आगे इस का श्रवण कहते हैं (तस्य+एषा+श्रुतिः) उस का केवल दर्शन ही नहीं होता किन्तु उस का इस प्रकार यह श्रवण भी होता है जैसे (यत्र) जिसकाल में (कर्णौ) दोनों कानों को अङ्गुलि आदि से (अपिगृह्य) अच्छे प्रकार ढांक कर (निनदमिव) रथादि का जैसा शब्द होता है वैसे शब्द को (उपशृणोति) सुनता है और (नदथुः+इव) वृषभादियों का जैसा शब्द होता है तद्वत् जो शब्द सुनता है और (ज्वलतः+अग्नेः+इव) जलते हुए अग्नि के शब्द के समान जो शब्द सुनता है (एतत्) यही इस ज्योति का श्रवण है । आगे विज्ञान कहते हैं (तद्+एतत्) उस इस ज्योति को (दृष्टञ्च) प्रत्यक्ष देखागया और अनुमान के द्वारा ज्ञात भी हुआ और (श्रुतञ्च) प्रत्यक्षतया सुनागया और अन्य प्रमाण से विज्ञात भी हुआ (इति) ऐसा विविध उपपत्तियों के द्वारा (उपासीत) विचारे । फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है (चक्षुष्यः) मनुष्यों में दर्शनीय होता है और (श्रुतः) सर्वत्र विश्रुत प्रख्यात होता है । यहां (य एवं वेद) जो दो वार कहा गया है सो उपासना समाप्तिसूचक है ॥ ८ ॥

भाष्याशयः—उष्णिमा=उष्णत्व शरीर की गरमी । जबतक मनुष्य जीता रहता है तबतक उष्णत्व सर्वदा बना रहता है । उष्णत्व ही जीवित का और शीतत्व ही मृत का लक्षण है । जैसे धूम अग्नि के विना नहीं होता । अतएव इसी उपनिषद् में

कहागया है (अथ यदास्य०) जब इसकी वाणी मन में प्राप्त होती है । मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता में तब वह नहीं जानता है । इससे विदित होता है कि शरीर का तेज परदेवता में लीन होता है ॥ ८ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥ १ ॥ (क)

सर्वम् । खलु । इदम् । ब्रह्म । तज्जलान् । इति । शान्तः । उपासीत ॥ १ ॥

भाष्यम्—सर्वमिति । आत्मदर्शनश्रवणानन्तरं ब्रह्मोपासनविधानं सर्वथोचितमेव । तदिहानेन खण्डेन ब्रह्मण उपासनं लक्षणञ्चारभते सर्वमित्यादिना । खल्विति वाक्यालङ्कारार्थो-निपातः । तत्सृष्टवस्तुजातद्वारया । सर्वत्र भासमानम् "इदं ब्रह्म" प्रत्यक्षं दृश्यमानमिदं ब्रह्म । सर्वम् । सर्वानन्दघनम् । सर्वशक्तिसमन्वितम् । सर्वकर्म्म । सर्वकामम् । सर्वगन्धम् । सर्वरसम् । इत्येवंविधैर्वक्ष्यमाणैरन्यैर्विशेषणैश्च सहस्रैर्युक्तमित्यर्थः । यथागुणवन्तं रक्षणपोषणादिषु यथाशक्ति तत्परं ग्रामण्यमुद्दिश्य "अस्मिन् ग्राम अयमेव सर्वः" इति सर्वेषां जनानां वचांस्युच्चरन्ति तथैव कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सर्वथा समर्थमीश्वरमवलोक्य "इदं ब्रह्मैव सर्व"-मितीदृशानि वाक्यानि तस्मिन् प्रक्रमन्ते । इति सामान्यलक्षणमभिधायोपासनमाह । तद्ब्रह्म "तज्जलान्" इतिशान्त उपासीत । स्वयमुपासकः शान्तोभूत्वा तद्ब्रह्म तज्जलान् इत्युपासीत । तस्यैतस्य व्याख्यानमिदम् । तस्माद्ब्रह्मणः सकाशाद् जायते विश्वमिदमिति । तज्जम् । तस्मिन्नेवावसाने लीयते विश्वमिदमिति तल्लम् । तस्मिन्नेव स्थितिकाले अनिति । प्रविश्य चेष्टतइति । तदन् । "तस्माज्जायते" तस्मिन् लीयते अनिति चेति । तज्जलान् । तत्पूर्वकेभ्यस्त्रिभ्यो धातुभ्यस्तज्जलानिति पदसिद्धिः । इदमेव ब्रह्मणो लक्षणं प्रधानतया सर्वत्रगीयते । यथाः—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥ ऐ० । ३१ ॥ सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । छा० १ । ६ । १ ॥ सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमुज्जिहते" । छा० १ । ११ । ५ ॥ अतएव महर्षिणा कृष्णद्वैपायनेनापि "जन्माद्यस्ययत"इत्येवमेव ब्रह्मलक्षणपरकं सूत्रं सूत्रितम् ॥ १ ॥

अनुवादः–यह ब्रह्म सब है । यद्वा यह ब्रह्म सब में ही है । स्वयं शान्त हो (इस ब्रह्म की) "तज्जलान्" मानकर उपासना करे ॥ १ ॥

पदार्थः–(इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म (सर्वम्+खलु) सब ही है * (शान्तः) स्वयं उपासक शान्त होकर उस ब्रह्म की (तज्जलान्+इति) तज्ज=इसी से सम्पूर्ण यह विश्व होता है । तल्ल=अन्त में उसी में लीन और तदन्=उसी में प्राण धारण करता है । इन तीन विशेषणों से वह युक्त है ऐसा मानकर (उपासीत) उपासना करे ॥ १ ॥

भाष्याशयः–जीवात्मदर्शन श्रवण के अनन्तर ब्रह्मोपासन विधान सर्वथा उचित है । इस प्रकरण में इस हेतु ब्रह्म की उपासना और लक्षण कहा जाता है (सर्वम्+खलु) यह ब्रह्म परिपूर्ण है । सर्वकर्म, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरस का आधार वही है । इत्यादि वर्णन स्वयं उपनिषद् आगे करेगी । जैसे गुणवान् और रक्षण पोषण आदि व्यापार में यथाशक्ति तत्पर ग्रामनायक को देख उस के बारे में इस ग्राम में "यही सब कुछ है" ऐसे सब मनुष्यों के मुख से वचन निकलते हैं वैसे ही करने न करने अन्यथा करने में सर्वथा समर्थ ईश्वर को देख यह ब्रह्म ही सब है । ईदृश वाक्य इसके विषय में प्रयुक्त होते हैं । अतः "यह ब्रह्म सब है ऐसा कहा गया है जिसको भाषा में यह ब्रह्म परिपूर्ण है कहते हैं (तज्जलान्) "तत्+ज+ल+अन्" इन चार पदों से "तज्जलान्" यह बनता है । तत्+वह । जन्=उत्पन्न होना इससे ज । ली=लीन होना इस से ल । अन्=चेष्टा करना इससे अन् बनता है । यह सम्पूर्ण विश्व जिससे (जायते) उत्पन्न होता है उसे तज्ज । जिस में (लीयते) लीन होता है । उसे तल्ल और स्थितिकाल में जिस में (अनिति=चेष्टते) चेष्टा करता है उसे तदन् कहते अर्थात् तज्ज, तल्ल और तदन् ये तीनों उसके विशेषण हैं । इस विश्व का उसी से जन्म उसी से स्थिति और उसी से संहार होता है अतः उसको "तज्जलान्" कहते हैं इन गुणों से भूषित ईश्वर को मान उपासना करे । ब्रह्म का यही

* हमने ऐसा अर्थ क्यों किया ? इसलिये कि जिस पदार्थ वा सत्ता की अत्यन्त व्यापकता दर्शानी होती है वहां इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है । जैसे किसी बरतन में पानी और नमक घुला हुआ हो तो नमक की अधिकता वा विशेषता दिखाने के लिये कहा जाता है कि यह तो सब नमक है कहने वाले का प्रयोजन उससे जल के खंडन से नहीं होता परन्तु नमक की अधिकता दर्शाने से होता है इसी प्रकार संस्कृत में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" प्रयोग हुआ है जिस के अर्थ ब्रह्म की प्रत्येक वस्तु में व्यापकता दर्शाने से है" ॥

प्रधानलक्षण है। इसी को प्रायः सब गाते हैं यथा (यतो वै०) जिसी से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। जिसके द्वारा उत्पन्न होकर जीते हैं और अन्त में जहां जाते हैं और जिस में लीन होते हैं उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है। तैत्तिरीयोपनि० भृगुवल्ली १। पुनः (सर्वाणि०) उसी ब्रह्म से ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और अस्त भी उसी में होते हैं। इत्यादि छान्दोग्य के प्रमाण हैं। अतएव महर्षि कृष्णद्वैपायनने भी "जिससे इस विश्व का जन्मादि होता है वह ब्रह्म है" ऐसा ही ब्रह्मलक्षणविधायक सूत्र रचा है अतः एतत्त्रिगुणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करे यह भाव है ॥ १ ॥ (क)

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषोयथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥ (ख *)

अथ। खलु। क्रतुमयः। पुरुषः। यथाक्रतुः। अस्मिन्। लोके। पुरुषः। भवति। तथा। इतः। प्रेत्य। भवति। सः। क्रतुम्। कुर्वीत ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति। ब्रह्मलक्षणं सामान्येनोक्त्वा तदुपासनार्थमग्रेकथयति। अथ ब्रह्मलक्षणज्ञानानन्तरं तदुपासनार्थउपदेश आरभ्यते। स उपासकः सर्वो मनुष्योवा क्रतुं कुर्वीत। क्रतुः कर्म। यज्ञो वा। क्रतुरिति सर्व वैदिक कर्मपरः। क्रतुरिति कर्म्मनामसु पठितम्। यथा—"अपः। अप्नः। दंसः। वेषः। वेपः। विष्ट्वी। व्रतम्। कर्वरम्। करणम्। शक्मम्। क्रतुः। करणानि। करांसि" इत्यादीनि षट्विंशतिः कर्मनामानि। निघं० २। १ ॥ प्रज्ञानामसु च। तद्यथा— "केतुः। केतः। चेतः। चित्तम्। क्रतुः। असुः। धीः। शची। माया। वयुनम्। अभिख्या। इत्येकादश प्रज्ञानामानि" ३। ९ ॥ तेन क्रतुं कर्म्म वैदिककर्म्म कुर्वीत। यद्वा। क्रतुः। प्रज्ञा। अध्यवसायोऽयमेवनान्ययेति अविचल प्रत्ययः प्रज्ञानम्। तं कुर्वीत। इत्यर्थद्वयमपि संघटते। इह हि ब्रह्मज्ञानसाधनोपयोगि कर्म्म कुर्वीत। यद्वा। ब्रह्मज्ञानरूपं कर्म्म कुर्वीत उपासीत। इत्येवमभिप्रायो विज्ञायते। कथं कर्म कुर्वीत। इत्यत आह। क्रतुमयः खलु पुरुषः। अयं पुरुषः क्रतुमयः। कर्ममयः। प्रचुराः क्रतवः कर्माणि अस्येति क्रतुमयः। विविध वैदिककर्मकरण-

* शतपथ कां० १० अ० ६। ब्रा० ३ मं० १ में इस प्रकार पाठ है। सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत। अथखलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः। स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रेत्येवंक्रतुर्हामुंलोकं प्रेत्याभिसंभवति। "सर्वं खलु...उपासीत" इसकी जगह में "सत्यं ब्रह्मत्युपासीत" इतना भेद है। प्रथम प्रवाक को भाष्य की सुगमतार्थ दो भाग में बांट दिया है।

यैवास्य सृष्टिः। अतो ब्रह्मज्ञानरूपं कर्मावश्यमेव विधातव्यमस्य। तदाह गीता—"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्" ३० । १० ॥ इत्यादि। यद्वा। क्रतुः प्रज्ञा अविचलः प्रत्ययः। प्रचुरा प्रज्ञा अस्येतिक्रतुमयः। यतः स पुरुषः कर्ममयः प्रज्ञामयो वास्तीति तत्सार्थक्याय क्रतुं कुर्वीत। किंस्यात्क्रत्वनुष्ठानेनेत्याह। अस्मिँल्लोके यथाक्रतुः पुरुषोभवति। यथा यादृशः क्रतुः कर्माध्यवसायो वास्येति बहुव्रीहिः। स यथाक्रतुः। यथाकर्मा यथानिश्चयो वा पुरुषोऽस्मिँल्लोके भवति। तथा। तथैव। तादृश एव। इतः प्रेत्य। अस्मात्स्थानात् प्रेत्य गत्वा मृत्वा भवति। जन्मान्तरेऽपि तथैव भवति। अतः स क्रतुं कुर्वीत। तदुक्तमन्यत्र "कर्म्म हैव तत् प्रशशंसतुः। "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति" । बृ० उ० ३ । २ । १३ ॥ अन्यच्च—"यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति। पापकारी पापोभवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति। पापः पापेन" । बृ० उ० ४ ४ ५ ॥ अन्यच्च—"तद्य इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्। ब्राह्मणयोनिम्वा क्षत्रिययोनिम्वा वैश्ययोनिम्वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्। श्वयोनिम्वा शूकरयोनिम्वा चाण्डालयोनिम्वा" । छा० उ० ५ । १० । ७ ॥ अपरञ्च—"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः" । इत्येवंविधैः शास्त्रप्रमाणैः यथाकर्मा पुरुषस्तथैव प्रेत्यापि भवतीति विज्ञायते। अतः स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥ (ख)

अनुवादः—अब वह कर्म करे। यद्वा। निश्चयात्मक बुद्धि की भावना करे। क्योंकि यह पुरुष कर्ममय वा अध्यवसायमय है। इस लोक में जैसा कर्म्मवाला पुरुष होता है वैसा ही यहां से मरकर के भी होता (अतः उसको कर्म वा निश्चयात्मबुद्धि करनी चाहिये)॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अब (सः) वह पुरुष (क्रतुम्) कर्म्म को। यद्वा। निश्चयात्मक बुद्धि को (कुर्वीत) करे। ब्रह्म में निश्चयात्मिका बुद्धि की स्थिरता करे। क्यों कर्म करे सो कहते हैं (पुरुषः) यह जीवात्मा (क्रतुमयः खलु) निश्चय कर्ममय वा अध्यवसायमय है अतः कर्म्म करना चाहिये। कर्म करने से क्या होता है सो कहते हैं (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (पुरुषः) यह जीवात्मा (यथाक्रतुः) यादृक्कर्म्म। जैसा कर्म्म करनेवाला (भवति) होता है (तथा) वैसा ही (इतः) यहां से (प्रेत्य) जाकर अर्थात् मरकर (भवति) होता है अतः कर्म्म करना उचित है ॥ १ ॥

भाष्याशयः-अथ-सामान्यतः ब्रह्म के लक्षण को कह उस की उपासना के लिये जिज्ञासु को उपदेश दिया जाता है। ब्रह्म के लक्षण के अनन्तर उसकी उपासनार्थ उपदेश देना बहुत ही उचित है। १ क्रतु-क्रतुनाम कर्म्म का है। निघण्टु में कर्म्म के नामान्तर्गत क्रतुशब्द का पाठ है। जैसे-अप। अप्न। दंस। वेष। वेप। विष्ट्वी। व्रत। कर्वर। करण। शक्म। क्रतु। करण। करः इत्यादि २६ नाम कर्म के कहे गये हैं। क्रतुनाम प्रज्ञा (बुद्धि) का भी जैसे निघण्टु में ही। केतु। केत। चेत। चित्त। क्रतु। असु। धी। शची। माया। वयुन। अभिख्या ये ११ एकादश नाम प्रज्ञा के हैं। अतः यह अर्थ हुआ कि वेदविहित जितने कर्म हैं सो करे। अथवा क्रतुनाम प्रज्ञा का है अविचल ज्ञान का नाम प्रज्ञा है। जिस को अध्यवसाय निश्चय असन्देह कहते हैं। ब्रह्म में निश्चयात्मक बुद्धि करे। यह भाव है। यहां पर ब्रह्मज्ञानसाधनीय कर्म्म करे वा ब्रह्मज्ञानरूप कर्म्म की उपासना करे यह उपनिषद् का अभिप्राय प्रतीत होता है। २ क्रतुमयः-मनुष्य की सृष्टि क्रतु करने के लिये ही हुई है अतएव गीता में कहा गया है (सहयज्ञाः०) कर्म्म के साथ ही प्रजाओं की सृष्टि हुई है। जब यह जीवात्मा अध्यवसायमय है तब यदि वह कर्म्म न करेगा तो उस का अध्यवसाय व्यर्थ होजायगा। अतः उस की सार्थकतार्थ कर्म अवश्य करे। ३ यथाक्रतु-जैसा कर्म यहां करता है तदनुसार ही फल जन्मान्तर में पाता है इस हेतु भी कर्म करना चाहिये। कहा गया है (कर्म्म हैव) पुण्य कर्म से आदमी पुण्यात्मा और पाप कर्म से पापात्मा होता है। पुनरपि (यथाकारी०) जैसा कर्म का आचरण करने वाला यहां पर होता वैसा ही जन्मान्तर में भी होता है। साधु कर्म्म करने वाला साधु। पाप कर्म करने वाला पापी होता है। पुण्य कर्म से पुण्यात्मा पाप कर्म से पापी होता है। और भी (तद्य०) पवित्रशोभन कर्म करने वाले शीघ्र ही रमणीय योनि को प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण योनि वा क्षत्रिय योनि वा वैश्य योनि को प्राप्त होते हैं। और कुत्सित आचरण वाले कुत्सित योनि श्वा योनि वा शूकर योनि वा चाण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं। और भी कहा गया है (यं यं०) अन्तकाल में जिस २ का स्मरण करता हुआ प्राण त्यागता है उसी को वह प्राप्त होता है इत्यादि शास्त्र प्रमाण रीति से कर्म अवश्य कर्त्तव्य है॥ १॥ (ख)

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥ *

मनोमयः । प्राणशरीरः । भारूपः । सत्यसङ्कल्पः । आकाशात्मा । सर्वकर्मा । सर्वकामः । सर्वगन्धः । सर्वरसः । सर्वम् । इदम् । अभ्यात्तः । अवाकी । अनादरः ॥ २ ॥

भाष्यम्—मनोमय इति । (इतः परमुत्तरशाखैर्ब्रह्म विशिनष्टि । मनोमयः । मनुतेऽनेनेतिमनः । तत्स्ववृत्या विषयेषु प्रवृत्तं भवति । तेन मनसा तन्मयः । तथा प्रवृत्त इव तत्प्रायो निवृत्त इव च) यद्वा । मननं मनः । मननशक्तिः । प्रचुरंमनोऽस्मिन्निति मनोमयः । "तत्प्रकृतेर्वचनमयट्" । इति मयट् । पुनः प्राणशरीरः । प्राणः प्रज्ञाज्ञानं शरीरं यस्य स प्राणशरीरः । यो वै प्राणः । सा प्रज्ञा । या वा प्रज्ञा स प्राणः । इति प्राणः प्रज्ञायाः संज्ञा । अत उक्तम् । प्रज्ञानं ब्रह्म । ऐ० उ० ५ । ३ । पुनश्च विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । बृ० उ० ३ । ९ । २८ ॥ अनयोरर्थः प्रकृष्टं ज्ञानं यस्य तत्प्रज्ञानम् । विशिष्टं ज्ञानं यस्य तद्विज्ञानं । आनन्दोस्यास्तीत्यानन्दम् । पुनः भारूपः । भा दीप्तिश्चैतन्यस्वरूप प्रकाशः रूपं यस्य स भारूपः । ज्योतिषांज्योतिः । ⋯तदेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥ मु० २ । २ । १० ॥ पुनः सत्यसङ्कल्पः । सत्या अवितथाः सङ्कल्पाः यस्य स सत्यसङ्कल्पः । न तथा संसारिण इवानैकान्तिक फलः सङ्कल्प ईश्वरस्येत्यर्थः । अनृतेन मिथ्या फलत्वहेतुना प्रत्यूढत्वात् संकल्पस्य मिथ्याफलत्वं च वक्ष्यति अनृतेन प्रत्यूढा इति । छा० उ० ८ । ३ । २ ॥ एवमेवान्यत्रोक्तं सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इत्यादि ॥ छा० ८ । ७ । १ ॥ पुनः आकाशात्मा । आकाश इवात्मा स्वरूपं यस्य स आकाशात्मा । सर्वगतत्वं सूक्ष्मत्वं रूपादिहीनत्वञ्चाकाश तुल्यता ईश्वरस्य । मनोमय इत्यारभ्य आकाशात्मेत्यन्तानि पञ्चपदानि भवन्ति इमानि अन्यत्राप्येवमेवोक्तानि तद्यथा—"मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मेति" मैत्र्युपनि० । २ ।

छान्दोग्यस्येतत्सम्पूर्ण प्रकरणस्य विषयं संक्षिप्य बृहदारण्यकोपनिषदा इयद्भिः शब्दैरुक्तम् । तद्यथा—मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा । स एष सर्वस्येशानः । सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥ बृ० उ० ५ । ६ । १ ॥

* स आत्मानमुपासीत । मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणम् । मनोजवसं सत्यसंकल्पश्च सत्यधृतिश्च सर्वगन्धश्च सर्वरसश्च सर्वा अनुदिशः प्रभूतश्च सर्वमिदमभ्यात्तमवाक्मनादरम् ॥ शत० कां० १० अ० ६० ब्रा० ३ मं० २ ॥

"मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्नेहृदयं सन्निधाय । तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" मुण्ड० । २ । २ । ७ ॥ सर्वकर्मा । ब्रह्मणैव विश्वमिदं क्रियत इति सर्वसिद्धान्तः । अतोऽस्मिन् जगति यत्किमपि कर्मास्ति तत्सर्वं कर्म तस्यैव । सर्वं कर्म यस्येतिसमासः । स हि सर्वस्यकर्त्ता । सर्वकामः । सर्वे कामा दोषरहिताः कामा यस्य सः । न सदोषाः कामा ब्रह्मणि तिष्ठन्ति । अत उक्तं गीतायाम्—"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि" । इति । सर्वगन्धः । सर्वेगन्धाः सुखकरा यस्य स सर्वगन्धः । अत उक्तम् "पुण्योगन्धः पृथिव्यामिति" सर्वरसः । सर्वे रसाः पवित्ररसा अस्य स सर्वरसः । अपुण्यगन्धरसग्रहणस्य पाप्मसम्बन्धनिमित्तत्वश्रवणात् । तद्यथा—"तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मनाह्येष विद्धः" सर्वमिदम्+अभ्यात्तः । सर्वमिदं जगद् अभ्यात्तः । अभिव्यासः । अततेर्व्याप्त्यर्थस्यकर्तरिनिष्ठा । अवाकि । उच्यतेऽनयेति वाग् वागेव वाकः । यद्वा वचेर्घञन्तस्य करणे वाकः । वाको विद्यतेऽस्य स वाकी न वाकी इति अवाकी । वाक् प्रतिषेधश्चात्रोपलक्षणार्थः । अयं भावोस्ति । गन्धरसादि श्रवणात् गन्धादि ग्रहणायेश्वरस्यापि प्राणादीनि करणानि जीवात्मन इवं सन्तीति अनुमीयन्ते । तदनिष्टमुपनिषदाम् । अतोवाक् प्रतिषेधेन तान्यपि करणानि प्रतिषिध्यन्त अत अवागिति सर्वेन्द्रियप्रतिषेधपरकं पदमितित्रोद्धव्यम् "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादि मन्त्रवर्णात् । अनादरः । न आदरः संभ्रमोयस्मिन् सोऽनादरः । अप्राप्तप्राप्तौ हि संभ्रमः स्यादनाप्तकामस्य । नत्वाप्तकामत्वान्नित्यतृप्तेश्वरस्य संभ्रमोस्ति कचित् ॥ २ ॥

अनुवादः—मनोमय, प्राणस्वरूप, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस इस सर्वजगत् में अभिव्याप्त, अवाकी और अनादर (वह परमात्मा) है ॥ २ ॥

* पदार्थ और भाष्याशयः *

(१) मनोमय—परमात्मा के अनेक विशेषण यहां से आरम्भ होते हैं जिससे मनन किया जाय उसे मन कहते हैं । वह निजवृत्तियों के अनुसार विषयों में प्रवृत्त होता है और जिसकी जैसी वृत्ति होती है तदनुकूल ही मन की प्रवृत्ति होती है । ईश्वर की वृत्ति सदा स्थिर नित्य निश्चय अविकारिणी है उस मन से युक्त को मनोमय कहते हैं । (२) प्राणशरीरः—प्राण, प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान इत्यादि एकार्थकवाचक हैं । इस में प्रमाण (यो वै०) जो प्राण है । वही प्रज्ञा है । जो प्रज्ञा है । वही प्राण है । प्राण=प्रज्ञान ही है शरीरस्वरूप जिसका उसको प्राणशरीर कहते हैं । अतः कहा गया है (प्रज्ञानं ब्रह्म) प्रकृष्ट

ज्ञानवान् ब्रह्म है । पुनः (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) विशेष ज्ञानवान् और आनन्दमय ब्रह्म है इत्यादि प्रमाणों से ज्ञानमय ही ईश्वर समझा जाता है (३) भारूपः–भा=दीप्ति=चैतन्यस्वरूप प्रकाश ही है रूप जिसका उसे भारूप कहते हैं । अतएव कहा गया है (ज्योतिषाम्०) समस्त ज्योतियों का वह ज्योति है (तमेव०) उसके भासित होने के पीछे यह सर्व जगत् भासित होता है । उसीकी दीप्ति से यह सम्पूर्ण जगत् दीप्तिमान् होता है (४) सत्यसङ्कल्पः–सत्य, कदापि मिथ्या नहीं होने वाले सङ्कल्प हैं जिसके उसे सत्यसङ्कल्प कहते हैं । जीवात्मा के सदृश अनिश्चित फलवाले ईश्वर के सङ्कल्प नहीं होते हैं । क्योंकि जीवात्मा के सङ्कल्प मिथ्या फलवाले होने से मिथ्या हैं । कहा भी है (अनृतेन०) ये प्रजाएं अनृत=मिथ्या से ढकी हुई हैं । आगे भी ऐसा ही कहा है (सत्यकामः) वह सत्य काम और सत्य सङ्कल्प है । इत्यादि (५) आकाशात्मा–आकाश सदृश स्वरूप है जिसका उसे आकाशात्मा कहते हैं । ईश्वर के सर्वगतत्व, सूक्ष्मत्व और रूपादिहीनत्व गुण आकाशतुल्य हैं (६) मनोमय १ प्राणशरीर २ भारूप ३ सत्यसङ्कल्प ४ और आकाशात्मा ५ ये पांच पद होते हैं । वैसा ही मैत्र्युपनिषद् में कहा गया है । मनोमय इत्यादि ।

छान्दोग्य के इस सम्पूर्ण प्रकरणस्थ विषय को संक्षेप करके बृहदारण्यक उपनिषद् ने इतने शब्दों से कहा है । यथा (मनोमयः०) यह पुरुष=ब्रह्म मनोमय सम्पूर्ण विश्व को दीप्ति देने वाला और सत्य है । वह इस अन्तर्हृदय में व्रीहि से यव से भी अणु होकर व्याप्त है । वह यह ब्रह्म सबों का ईश्वर सबों का अधिपति है । जो कुछ है उस सब का वही शासन करता है । मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है (मनोमयः) कि वह मनोमय और ज्ञानरूपी शरीर का नेता सर्वत्र और स्वमहिमा में सन्निहित विज्ञान के द्वारा ही देखता है । जो (ब्रह्म) आनन्दरूप और अमृतरूप होकर सर्वत्र भासित हो रहा है । सर्वकर्म्मा–ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण विश्व का कर्त्ता है । यह सर्व सिद्धान्त है । इस जगत् में जो कुछ कर्म है वह सब कर्म उसी के आश्रित है अतः वह सर्वकर्म्मा कहलाता है । सर्वकामः–सर्वदोष रहित काम हैं जिसके, उसे सर्वकाम कहते हैं । सदोष काम ब्रह्म में नहीं है अतः कहा गया है कि प्राणियों के धर्माविरुद्ध काम मैं हूं । सर्वगन्धः–सब सुखकर गन्ध हैं जिस में, अतएव पृथिवी में पुरुष गन्ध मेरे आश्रित है कहा गया है । सर्वरसः–सब पवित्र रस हैं जिस में, जीवात्मा का संसर्ग दुर्गन्ध और अपवित्र रस से है, ईश्वर का नहीं । अतः कहा गया है (तस्मात्तेन०) उससे वह दोनों सूंघता है सुगन्धि और दुर्गन्धि । वह पाप से सम्बद्ध है इत्यादि (सर्वम्+इदम्+अभ्यात्तम्) वह सम्पूर्ण जगत्

में व्याप्त है। अवाकी–वह वचन रहित है। यह अवाकी पद उपलक्षणार्थ है भाव इस का यह है कि इस प्रकरण में सर्वरस सर्वगन्ध कहा गया है। इस से तो यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा के सदृश ईश्वर को भी गन्धादि ग्रहणार्थ इन्द्रिय हैं। परन्तु उपनिषदों का यह अभिप्राय नहीं। अतः वचन के प्रतिषेध से अन्य इन्द्रियों का भी प्रतिषेध है। ऐसा "अवाकी" पद से जानना। अतएव कहा गया है (अपाणिपादः) वह हाथ पैर से रहित है। वह वेगवान् है, वह ग्रहीता है, वह विना नेत्र, कर्ण के देखता, सुनता है ॥२॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः * ॥ ३ ॥

एषः। मे। आत्मा। अन्तर्हृदये। अणीयान्। व्रीहेः। वा। यवाद्। वा। सर्षपाद्। वा। श्यामाकाद्। वा। श्यामाकतण्डुलाद्। वा। एषः। मे। आत्मा। अन्तर्हृदये। ज्यायान्। पृथिव्याः। ज्यायान्। अन्तरिक्षात्। ज्यायान्। दिवः। ज्यायान्। एभ्यः। लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

भाष्यम्–एष इति। शाण्डिल्योमहर्षिः पुनरपि परमात्मानं विशिंषन्नाह। मे मम। अन्तर्हृदये। हृदयपुण्डरीकस्यमध्ये। एष आत्मा एष परमात्मा वर्तते। कथंभूत आत्मा। व्रीहेर्वाऽणीयान्। श्यामाकतण्डुलाद्वाऽणीयानित्याद्यन्वयः। अणीयानिति प्रत्येकं सम्बध्नाति। व्रीहिर्धान्यमात्रम्। यवः सितशूकः। सर्षपः। तन्तुभः। श्यामाकः तृणधान्यभेदः। श्यामाकतण्डुलः। श्यामाकस्य तण्डुलः। यवसर्षप-श्यामाका धान्यविशेषा लोके सुप्रसिद्धाः। अयमनयोरतिशयेनाणुरणीयान्। "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ। अ० ५।३।५७। इत्यणोरीयसुन्। अतिशय सूक्ष्मप्रदर्शनार्थं व्रीहेर्वेत्यादि वचनम्। अणीयानिति ब्रह्मणोऽणुतर परिमाणत्वोपपादनेन परिच्छिन्नत्वदोषापत्तिर्माभूदित्यत आह ज्यायान् पृथिव्या इत्यादि। मे मम। अन्तर्हृदयेऽवस्थित एष आत्मा पृथिव्याज्ज्यायान्। अन्तरिक्षाज्ज्यायान्। दिवोज्या-

* यथा व्रीहिर्वा यवोवा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वै व मयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूममेवं ज्यायान् दिवोज्यायानाकाशात् ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्यायान्सर्वेभ्योभूतेभ्यः। शतपथ कां० १०। अ० ६। ब्रा० ३। मं० २॥

यान् । अस्ति । भवतु तावदेकैकस्माज्ज्यायानात्मा । नहि सर्वेभ्यः संहितेभ्यस्तेभ्योज्यायस्त्वम् । एतावतापि परिच्छिन्नत्वमेवास्य समायाति । अत आह । ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । एकीभूतेभ्य एतेभ्यो लोकेभ्योऽपि स ज्यायानस्ति । वृद्धस्य च । अ० ५ । ३ । ६२ ॥ वृद्धस्य-स्थाने ज्यादेशः स्यादजाद्योः । इतीयसि वृद्धस्य ज्यादेशेन ज्यायानितिपदम् ॥ ३ ॥

अनुवादः-मेरे हृदय के अभ्यन्तर यह परमात्मा है । यह व्रीहि से, यव से, सर्षप से, श्यामाक से और श्यामाकतण्डुल से भी अणुतर है । मेरे हृदय के अभ्यन्तर यह परमात्मा है यह पृथिवी से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, द्युलोक से बड़ा और इन सब लोकों से बड़ा है ॥३॥

पदार्थः-(मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय के अन्तः=मध्य में अर्थात् हृदयपुण्डरीक के मध्य में (एषः) यह (आत्मा) परमात्मा विराजमान है । वह कैसा है सो आगे कहते हैं (व्रीहेः+वा) धान्यमात्र का नाम व्रीहि है । इस से भी (अणीयान्) वह आत्मा अतिशय अणु सूक्ष्म है (यवाद्+वा) जौ से भी वह अणु है (सर्षपाद्+वा) सरसों से भी वह अणुतर है (श्यामाकाद्+वा) श्यामाक नाम धान्य से भी अणुतर है (श्यामाकतण्डुलाद्+वा) श्यामाकतण्डुल (चावल) उस से भी वह अणुतर है । शङ्का-अणीयान् कहने से वह अणुतर प्रतीत होता है । परन्तु अणुतर पदार्थ परिच्छिन्न होता है तो क्या ईश्वर भी परिच्छिन्न है ?, अतः आगे कहते हैं (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय पुण्डरीक के मध्य में (एषः+आत्मा) यह आत्मा है । वह कैसा है सो कहते हैं (पृथिव्याः+ज्यायान्) पृथिवी से भी बहुत बड़ा (अन्तरिक्षात्+ज्यायान्) अन्तरिक्ष (आकाश) से भी अतिशय बृहत् (दिवः+ज्यायान्) द्युलोकसे भी अतिशय बृहत् वह ब्रह्म है । शङ्का-एक एक लोक से भले ही वह बड़ा हो परन्तु एकीभूत इन सबों से तो वह बड़ा नहीं । इस हेतु आगे कहते हैं (एभ्यः+लोकेभ्यः) एकीभूत इन सब लोकलोकान्तरों से भी (ज्यायान्) वही बहुत बड़ा है ॥ ३ ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

सर्वकर्मा । सर्वकामः । सर्वगन्धः । सर्वरसः । सर्वम् । इदम् । अभ्यात्तः । अवाकी । अनादरः । एषः । मे । आत्मा । अन्तर्हृदये । एतद् । ब्रह्म । एतम् । इतः । प्रेत्य । अभिसम्भवितास्मि । इति । यस्य । स्यात् । अद्धा । न । विचिकित्सा । अस्ति । इति । ह । स्म । आह । शाण्डिल्यः । शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

भाष्यम्-सर्वकर्मेति । उपासनासौकर्य्यार्थं मन्दमतीनां सुबोधाय च पुनः पुनरुपपादितमेवाभ्यस्यति । सर्वकर्माद्यनादरान्तो ग्रन्थः पूर्वत्र व्याख्यातो विस्तरेण तत्रैवार्थो द्रष्टव्यः । एष एव पूर्वोक्तमनोमयादिविशेषणसंघटित आत्मा परमात्मा । मे मम । अन्तर्हृदये । हृदयाभ्यन्तरे । वर्त्तते । एतद्ब्रह्म तदेवब्रह्मास्ति । पुनः शाण्डिल्यो महर्षिर्ब्रवीति । अहम् । इतोऽस्मात्स्थानात् । प्रेत्य मृत्वा । एतमात्मानमेव । अभिसंभवितास्मि । प्राप्तास्मि । अभिगन्तास्मि । इति । यस्यविदुषः । अद्धा । श्रद्धा विश्वासोवास्ति । न च विचिकित्सा । नच संशयोऽस्ति । तस्य नच संशयोस्ति । सोऽपि इतो मृत्वा एतमात्मानमभिगन्ता । इति ह शाण्डिल्यो महर्षिराहस्म । स्वान्तेवासिनो ब्रवीतिस्म । द्विरभ्यास आदरार्थः ॥ ४ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अनुवादः-सर्वकर्म्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सम्पूर्ण जगत् में अभिव्याप्त, अवाकी और असंभ्रम यह आत्मा मेरे हृदयाभ्यन्तर में है । यह ब्रह्म है । यहां से मरकर इसी को मैं प्राप्त होनेवाला हूं जिस की ऐसी श्रद्धा है और विचिकित्सा (संशय) नहीं है (वह भी उसी को प्राप्त होगा) ऐसा शाण्डिल्य कहा करते थे, ऐसा शाण्डिल्य कहा करते थे ॥ ४ ॥

पदार्थः-(सर्वकर्म्मा) वह परमात्मा कौन है सो कहते हैं । जगत् की उत्पत्ति स्थिति संहाररूप सब कर्म उसी का है। अतः वह सर्वकर्मा कहलाता है (सर्वकामः) समस्त शुभइच्छा से वह युक्त है (सर्वगन्धः) समस्त पुण्यसुगन्धि उसी से सर्वत्र व्याप्त है (सर्वरसः) समस्त पवित्र रस की राशि है (सर्वम्+इदम्+अभ्यात्तः) इस सम्पूर्ण विश्व में अणु अणु में व्याप्त है (अवाकी) वाणी रहित है (अनादरः) संभ्रम रहित है । आदर की इच्छा जिस में न हो । शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं (एषः) यह पूर्वोक्त गुणविशिष्ट (आत्मा) परमात्मा (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय के अभ्यन्तर है (एतद्+ब्रह्म) यही ब्रह्म है (इतः) यहां से (प्रेत्य) मरकर (एतम्) इसी परमात्मा को (अभिसंभवितास्मि) प्राप्त होनेवाला हूं (इति) (यस्य) जिस विद्वान् पुरुष की (अद्धा+स्यात्) ऐसी श्रद्धा हो और (न+विचिकित्सा+अस्ति) उसे संशय न हो वह भी इसी ब्रह्म को प्राप्त होगा (इति+ह) इसी विषय को (शाण्डिल्यः) महर्षि शाण्डिल्य

(आह+स्म) अपने शिष्य और अन्यपुरुषों से कहा करते थे (शाण्डिल्य *) आदरार्थ यह शब्द दोवार आया है ॥ ४ ॥ इति चतुर्दशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं विलꣳ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम् ॥ १ ॥

अन्तरिक्षोदरः । कोशः । भूमिबुध्नः । न । जीर्यति । दिशः । हि । अस्य । स्रक्तयः । द्यौः । अस्य । उत्तरम् । विलम् । सः । एषः । कोशः । वसुधानः । तस्मिन् । विश्वम् । इदम् । श्रितम् ॥ १ ॥

भाष्यम्–अन्तरिक्षोदर इति । अन्तरिक्षमाकाशमुदरमिवास्य सः । पुनः भूमिबुध्नः । भूमिः पृथिवी बुध्नोमूलं पादस्थानं वास्य स भूमिबुध्नः । अस्य हि । दिशः । प्राच्यादय एव स्रक्तयः कोणाइव । द्यौरेवास्य । उत्तरम् । उच्चतरम् । ऊर्ध्वमुखम् । विलम् । छिद्रम् । ईदृक् कोशोस्ति । स न कदापि जीर्य्यति । क्षीयते । रिक्तो भवति । स एषकोषः । वसुधानः । वसूनि धीयन्तेऽस्मिन् वसुधानः । तस्मिन् पूर्वोक्तगुणविशिष्टे कोशे । इदं विश्वं सम्पूर्णं जगत् । धनं वा । श्रितम् । आश्रितम् । प्रोतम् । कोनु स कोशः । तत् कोशाभिधं ब्रह्मैव । ब्रह्मण्येव विश्वमिदं । श्रितमोतप्रोतभावेनाश्रितमस्ति । स कोशो विज्ञातव्यः । स एवाश्रयणीयस्तस्मिन्नेव सर्वाणि वसूनि निहितानि सन्ति ॥ १ ॥

अनुवादः–इसका अन्तरिक्ष (आकाश) उदरसमान । पृथिवी पादस्थानीय । इसके दिशाएं कोण सदृश और द्युलोक ऊर्ध्वमुख विल है । ऐसा यह कोश है । वह कभी क्षीण नहीं होता, वह यह कोश वसुधान (धनपूर्ण) है उसी में यह सब जगत् वा धन आश्रित है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अन्तरिक्षोदरः) इस का आकाश उदर समान है (भूमिबुध्नः) पृथिवी है पादस्थान जिसका वह भूमिबुध्न कहलाता है (अस्य+हि) इस के (दिशः) दिशाएं (स्रक्तयः) कोने हैं (अस्य) इस का (द्यौः) द्युलोक (उत्तरम्) उच्चतर ऊर्ध्वमुख (विलम्) विल=छिद्र है । ऐसा एक (कोशः) कोश है (न जीर्यति) वह कभी क्षीण नहीं होता

* समान एवञ्चाभेदात् । वे० सू० ३ । ३ । १६ ॥ इत्यादि सूत्र देखो यह शाण्डिल्यविद्या कहलाती है ।

(सः+एषः+कोशः) वह यह कोश (वसुधानः) वसु=धनों से पूर्ण है (तस्मिन्) उस कोश में (इदम्+विश्वम्) यह सम्पूर्ण धन वा जगत् (श्रितम्) आश्रित है। वह कोश कौन है? वह कोश नामक ब्रह्म है। ब्रह्म में ही यह सब आश्रित है अर्थात् ओतप्रोतभाव से आश्रित है। वही कोश विज्ञातव्य और आश्रयणीय है क्योंकि इसी में सब वस्तु स्थापित है॥ १॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूतानामोदीची। तासां वायुर्वत्सः स य एत-मेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति। सोऽहमेत-मेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मापुत्ररोदꣳ रुदम्॥ २॥

तस्य। प्राची। दिग्। जुहूः। नाम। सहमाना। नाम। दक्षिणा। राज्ञी। नाम। प्रतीची। सुभूता। नाम। उदीची। तासाम्। वायुः। वत्सः। सः। यः। एतम्। एवम्। वायुम्। दिशाम्। वत्सम्। वेद। न। पुत्ररोदम्। रोदिति। सः। अहम्। एतम्। एवम्। वायुम्। दिशाम्। वत्सम्। वेद। मा। पुत्र-रोदम्। रुदम्॥ २॥

भाष्यम्–तस्येति। तस्य कोशस्य। प्राचीदिग्। पूर्वादिग् पूर्वभागः। जुहूर्नाम। याम-भिलक्ष्य कर्म्मिणो जुह्वति। प्रातर्होमं विदधति। सा जुहूः। यद्वा यस्यै हूयन्ते दीयन्ते वैदिकस्तोत्राणि कर्म्मिभिः। सा जुहूः। दक्षिणदिग् दक्षिणभागः। सहमानानामास्ति। यया दिशा जनाः पापकर्मफलानि सहन्ते। स एव पापकर्मफलदातृत्वाद् यमरुद्रादिनामभिरुच्यते। सा सहमाना नाम दिग्। प्रतीची। पश्चिमभागः। राज्ञी। सम्यग् विराजमाना अतिशयदी-प्यमाना। उदीचीदिक् सुभूतानाम। उत्तरभागः यस्यां सुशोभनानि भवन्ति भूतानि सा सुभूता। यद्वा। सुशोभन्ते यथा तथा स्थितानि भूतानि यस्यां सा सुभूता। ईदृशास्तस्य कोशस्य भागाः सन्ति। तासां दिशां वायुर्वत्सः। यथा मातरमाश्रित्य वत्सः स्वच्छन्दतया विहरति क्रीडति च। तथैव वायुरपि दिशः समाश्रित्य सम्यङ् निरवरोधं प्रवाति। अतोदिशां वत्स इव वायुरस्ति। वायुविज्ञानमाह। स यो विद्वान् दिशां वत्समेतं वायुं वेद जानाति। स न कदापि पुत्ररोदं रोदिति। पुत्रनिमित्तं रोदनं न करोति। कोऽपि महर्षिः स्वानुभवं ब्रवीति। सोऽहम्। दिग्वत्सवायुविदहम्। एतं वायुम्। दिशां वत्सम्। एवम्। एवं गुणसमन्वितं वेद। जानामि।

अतः । पुत्ररोदम् । पुत्रनिमित्तं रोदनम् । मारुदम् । माकार्षम् । मम पुत्ररोदनं माभूत् । पुत्रसन्तत्याममकोपलब्धिरस्तीति परत्रवक्ष्यते । विकृते हि वायौ नानाशाखिनो बहुरूपा व्याधयः समुत्पद्यन्ते । अयमेवाशु देशाद्देशं व्याधीन्नयति च । क्षणेनैव व्यङ्गान् विशोषितावयवान्निः-सहायान् जीवान् विदधति वातव्याधय इति केन विदन्ति । येतु वायुतत्त्वाधीतिनः सन्ति । ते प्रागेव तत्प्रतीकारारम्भेण सुखिनः शेरते । नहि कदापि पुत्रपौत्रसन्तत्यादिरुजमनुभवन्ति । अत उक्तं न पुत्ररोदं रोदितीति । सर्वाः खलु प्रदिशोनुदिशोभिव्याप्यस्थितत्वादवयवीकृता इव बहु निरूप्यन्ते मन्त्रैः । अवयवी भूतत्वादेव जुहू सहमानादि गुणवचनैरुक्ताः प्राच्यादिदिशः ॥२॥

अनुवादः–उस कोश की प्राचीदिशा का नाम "जुहू" दक्षिणदिशा का नाम "सहमाना" प्रतीचीदिशा का नाम "राज्ञी" उदीचीदिशा का नाम "सुभूता" है । उनका वायु वत्स है । सो जो कोई इस दिशाओं के वत्स वायु को ऐसा जानता है । वह रोदन नहीं करता । सो मैं दिशाओं के वत्स इस वायु को ऐसा जानता हूं । अतः पुत्ररोदन मुझे नहीं होता ॥ २ ॥

पदार्थः–(तस्य) उस कोश की (प्राची दिग्) पूर्वदिशा अर्थात् पूर्वदिशा का भाग (जुहूः+नाम) जुहू नामवाली है क्योंकि कर्म करने वाले विद्वद्गण प्राचीदिशा में सूर्योदय देख (जुह्वति) प्रातर्होम देना आरम्भ करते हैं । हु धातु (जिसका होम करना अर्थ है) से जुहू शब्द बनता है । यद्वा । अलङ्कारत्वेन यहां ईश्वर के अङ्ग का ही यह सब वर्णन है । अतः जिस को (हूयन्ते दीयन्ते) विविध वैदिकस्तोत्र दिये जाते हैं उसे भी जुहू कह सकते हैं । दानार्थ में भी "हु" धातु है (दक्षिणा) दक्षिणदिशा का भाग (सहमानानाम) सहमान नामक है । क्योंकि जिस दिशा द्वारा ये जीव पापकर्म के फलों को (सहन्ते) भोगते हैं उसे सहमाना कहते हैं (सह धातु=सहना) इससे सहमाना बनता है वही ईश्वर पापकर्मों के फल के देने से यमरुद्रादिनाम से कहा गया है (प्रतीचीनाम) पश्चिम भाग (राज्ञी) सुदीप्तिमती नाम्नी है । और (उदीची) उत्तरदिशा (सुभूतानाम) सुभूतानाम्नी है क्योंकि जिस दिशा में अच्छे प्रकार प्राणीस्थित हो उसे सुभूता कहते हैं (तासाम्) उन दिशाओं का (वायुः) वायु (वत्सः) वत्स है । जैसे माता के आश्रय में वत्स स्वच्छन्दता से विहार और क्रीड़ा करता है । वैसा ही दिशाओं के आश्रय में यह वायु भी निरवरोध वहता है । अतः इन दिशाओं का वत्स वायु है । आगे वायुविज्ञान कहते हैं (सः+यः) सो जो कोई विद्वान् (दिशाम्+वत्सम्+एतम्+वायुम्) दिशाओं के वत्स इस वायु को (एवम्) ऐसा जानता है. वह (पुत्ररोदम्) पुत्रनिमित्तरोदन (न रोदिति) नहीं करता है । आगे कोई ऋषि स्वानुभूत इस वार्त्ता को प्रकट करते हैं (सः+अहम्) वह मैं

(दिशाओं के वत्स वायु को जानने वाला) (दिशाम्) दिशाओं के (वत्सम्) वत्स=पुत्र (एतम्+वायुम्) इस वायु को (वेद) जानता हूं। अतः (पुत्ररोदम्) पुत्रमरणनिमित्त रोदन (मारुदम्) नहीं करता हूं और पुत्रों के द्वारा मुझे क्या क्या उपलब्धि होती है सो आगे कहेंगे॥ २॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना। स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना॥ ३॥

अरिष्टम्। कोशम्। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना। प्राणम्। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना। भूः। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना। भुवः। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना। स्वः। प्रपद्ये। अमुना। अमुना। अमुना॥ ३॥

भाष्यम्—अरिष्टमिति। अमुना पुत्रेण। अमुना पौत्रेण। अमुना प्रपौत्रेण। अहं। अरिष्टम्। अक्षयम्। कोशम्। अन्तरिक्षोदरत्वादि-गुणविशिष्टं ब्रह्माख्यं कोशम्। प्रपद्ये। प्राप्नोमि। "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्यमोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥ ३५॥ अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्यधर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत्॥ ३६॥ अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथासुतान्। अनिष्ट्वाचैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥ ३७॥ गृहस्थस्तु यदापश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥" मनुः० अ० ६॥ एवं जातीयकैः प्रमाणैः पुत्रपौत्रादिजननात्परं मोक्षसेवनोपदेशम्। तदकृतौ सत्यामधःपतनविभीषिकां निरूपयन्तो मन्वादिमहर्षयोऽपत्योत्पादन-संरक्षण-विनयाधान-वेदविद्याप्रदानाद्यनुष्ठान-कर्त्तव्यतां सूचयन्ति। तेन वायुविज्ञानेन पुत्रसन्तति-संरक्षा। तया तेषां दीर्घायुष्ट्वम्। ततः पुत्रपौत्रेषु निखिलानि वैदिकानि पुरश्चरणानि संसारिकान् व्यवहारांश्च निक्षिप्य मनसा मोक्षनिवेशनेन अरिष्टकोशादि प्राप्तिसंभवः। अत आह महर्षिररिष्टंकोशं प्रपद्येऽमुनेत्यादि॥

अमुना। अमुना। अमुना। कोशं प्रपद्ये। प्राप्नोमि।
अमुना। अमुना। अमुना। प्राणं प्रपद्ये। प्राप्नोमि।
अमुना। अमुना। अमुना। भूः प्रपद्ये। प्राप्नोमि।

अमुना । अमुना । अमुना । भुवः प्रपद्ये । प्राप्नोमि ।

अमुना । अमुना । अमुना । स्वः प्रपद्ये । प्राप्नोमि ।

प्राण-भूर्भुवः स्वश्चतुःशब्दानामभिप्रायं स्वयमुत्तरत्र व्याख्यास्यति ॥ ३ ॥

अनुवादः–अमुक से । अमुक से । अमुक से मैं अरिष्टकोश को प्राप्त होता हूं ।

अमुक से । अमुक से । अमुक से । मैं प्राण को प्राप्त होता हूं ।

अमुक से । अमुक से । अमुक से । मैं भू को प्राप्त होता हूं ।

अमुक से । अमुक से । अमुक से । मैं भुवः को प्राप्त होता हूं ।

अमुक से । अमुक से । अमुक से । मैं स्वः को प्राप्त होता हूं ॥ ३ ॥

पदार्थः–(अमुना) अमुक पुत्र से (अमुना) अमुक पौत्र से (अमुना) अमुक प्रपौत्र से (अरिष्टम्) अक्षय (कोशम्) अन्तरिक्षोदरादि ब्रह्माख्यकोश को (प्रपद्ये) मैं प्राप्त होता हूं । इसी प्रकार (अमुना ३) तीनों "अमुना" पदों से सर्वत्र पुत्र पौत्र प्रपौत्र समझने चाहिये (अमुना० ३) अमुक से ३ (प्राणम्) प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं (अमुना० ३) अमुक से ३ (भूः प्रपद्ये) भू को पाता हूं (अमुना० ३) अमुक से ३ (भुवः प्रपद्ये) भुवः को पाता हूं (अमुना० ३) अमुक से ३ (स्वः प्रपद्ये) स्वः को पाता हूं । प्राण भू भुवः स्वः इन चारों शब्दों के अभिप्राय आगे स्वयं कहेंगे ॥ ३ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव तत्प्रापत्सि ॥ ४ ॥

सः । यद् । अवोचम् । प्राणम् । प्रपद्ये । इति । प्राणः । वै । इदम् । सर्वम् । भूतम् । यद् । इदम् । किञ्च । तम् । एव । तत् । प्रापत्सि ॥ ४ ॥

भाष्यम्–स इति । प्राणादीनां चतुर्णां व्याख्यानार्थम् । स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इत्यादि प्रारभते । सोऽहं प्राणं प्रपद्य इति । पूर्वत्र यदवोचम् । तदिदवोचम् । तस्याभिप्रायोयम् । वैएवार्थः । इदं सर्वभूतम् । प्राणिजातम् । यदिदं पृथिव्याम् । किञ्चकिञ्चन दृश्यते । सः प्राणो वै प्राणएव । तत्सर्वं प्राणपदेन व्यवह्रियते । प्राणोस्यास्तीति प्राणः । प्राणाश्रयत्वाद् प्राणी प्राण उच्यते । तमेव प्राणं प्रापत्सि प्रापम् । प्राप्तवानित्यर्थः । प्रापत्सि लुङिरूपम् । ईदृगभिप्रायसूचकं प्राणं प्रपद्य इत्यभिप्रायः । पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-सन्ततिनैरोग्यवृद्धया तत्प्रयत्नेन जगति ये गवादयश्चतुष्पदाः । वर्तन्ते । तत्सर्वं मया प्राप्तमित्यर्थः । एतेन विविधधनसंचयः प्रदर्शितः । तत्साहाय्येन स्वपरिश्रमेण च त्रिलोकस्थ-पदार्थ-परिज्ञानमपि सौकर्य्येण भवितु-

मर्हतीत्युत्तरत्रवक्ष्यति। अत्रप्राणशब्दः सकलचतुष्पद प्राणिवाची ॥ ४ ॥

अनुवादः-सो मैंने "प्राण को प्राप्त होता हूं" ऐसा जो कहा था वह यह कहा था, यह सब प्राणी जगत् में जो कुछ दीखता है। वह सब प्राण है इसी को मैंने पाया। इति ॥ ४ ॥

पदार्थः-अब प्राण आदि चारों शब्दों के अर्थों को दिखलाने के लिये आगे कहते हैं (सः) सो मैं (प्राणम्+प्रपद्ये) प्राण को प्राप्त होता हूं (इति) ऐसा (यद्) जो पूर्व में (अवोचम्) कहा था (तत्) वह यह कहा था। उस का यह भाव है सो आगे कहते हैं (इदम्+सर्वम्+भूतम्) यह सब प्राणी (यद्+इदम्+किञ्च) जो कुछ यह। इस पृथिवी के ऊपर जो कुछ दीख पड़ता है। (प्राणः+वै) वह सब प्राण ही है (तमेव) उसी प्राण को (प्रापत्सि) प्राप्त किया है ऐसा अभिप्राय है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-(प्राणः) (प्राणः अस्य अस्ति इति प्राणः) प्राण जिस को वा जिस में हो उसे भी प्राण कहते हैं। प्राणी की जगह में प्राण का प्रयोग हुआ है प्राण के आश्रय से प्राणी प्राण कहलाता है। जैसे गृह के आश्रय से गृहिणी स्त्री गृह कहलाती है। अतः पुत्र पौत्र प्रपौत्र की सन्तति की नैरोग्य वृद्धि से उनके यत्न द्वारा जगत् में जितने चतुष्पद गवादि पशु हैं वे सब मुझे प्रायः प्राप्त हैं यहां प्राणशब्द सकल प्राणियों का वाचक है। इस से यह सिद्ध हुआ कि नीरोगिता के कारण विविध धन का संचय हो सकता है। और उस की सहायता से और निज परिश्रम से त्रिलोकस्थ पदार्थों का परिज्ञान भी सहजतया हो सकता है इसे आगे दिखलावेंगे ॥ ४ ॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥ ५ ॥

अथ। यद्। अवोचम्। भूः। प्रपद्ये। इति। पृथिवीम्। प्रपद्ये। अन्तरिक्षम्। प्रपद्ये। दिवम्। प्रपद्ये। इति। एव। तद्। अवोचम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति। प्राणं व्याख्याय भूविवरणमारभते। भूः प्रपद्य इति पूर्वत्र यदवोचम्। तस्यायमभिप्रायः। पृथिवीं प्रपद्ये। अन्तरिक्षं प्रपद्ये। दिवं प्रपद्ये। इत्येवाशयपरकं तत्पदमवोचम्। तेन पृथिव्यन्तरिक्षद्युत्रिलोकवाची भूशब्दोयमितिवेदितव्यम्। तत् साहाय्येन तत्तत्स्थविद्याजाने। त्रिलोकस्थ-पदार्थपरिज्ञानेनैव यज्ञादिकान् विधीन् निवर्त्तयितुं शक्नुयादित्युत्तरत्र वक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अनुवादः–अनन्तर "भू को प्राप्त होता हूं" ऐसा जो मैंने कहा था वह यही कहा था कि, पृथिवी को प्राप्त करता हूं। अन्तरिक्ष को प्राप्त करता हूं। द्युलोक को प्राप्त करता हूं॥ ५ ॥

पदार्थः–(अथ) प्राण की व्याख्या के अनन्तर भू का व्याख्यान आरम्भ करते हैं (भूः प्रपद्ये) भू को प्राप्त करता हूं (इति) ऐसा (यद्+अवोचम्) जो मैंने कहा था उसका अभिप्राय यह है (पृथिवीम्+प्रपद्ये) पृथिवी को प्राप्त करता हूं (अन्तरिक्षम्) आकाश को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूं (दिवम्+प्रपद्ये) द्युलोक को प्राप्त करता हूं (इति+एव+तद्+अवोचम्) इसी आशय से इस पद को कहा था ॥ ५ ॥

भाष्याशयः–भूः–पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोकवाची भू शब्द है ऐसा जानना चाहिये। पुत्रादि की सहायता से त्रिलोकविद्या को मैं जानता हूं और त्रिलोकस्थ पदार्थ के परिज्ञान से ही यज्ञादिक विधियों को निर्वाह कर सकता है सो आगे कहेंगे ॥ ५ ॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥

अथ । यद् । अवोचम् । भुवः । प्रपद्ये इति । अग्निम् । प्रपद्ये । वायुम् । प्रपद्ये । आदित्यम् । प्रपद्ये । इति । एव । तद् । अवोचम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्–अथेति । अथानन्तरं भुवः प्रपद्य इति यदवोचम् । तस्याशयोयम् । अग्निं प्रपद्ये । वायुं प्रपद्ये । आदित्यं प्रपद्ये । इत्येवार्थद्योतक तत्पदमवोचमिति वादतव्यम् तेन-भुवःशब्दोग्निवाय्वादित्यत्रिदेवार्थपरः । एते च त्रयः शब्दा लक्षणया निखिलान् । वैदिकान् विधीन् आहुः । आस्वेव तिसृषु देवतासु इतराः सर्वा देवता अन्तर्हिताभवन्ति । "तिस्र-एव देवता इतिनैरुक्ताः । अग्निः पृथिवी स्थानः । वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः । सूर्योद्युस्थानः तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । आपवा कर्म पृथक्त्वात् । यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतोपि वा पृथगेवस्युः । इत्यादि निरुक्त द० १ । ५ ॥ निरो-ग्यतया एकाग्रेण मनसा एतासां तिसृणां देवतानामपि विज्ञानं मया प्राप्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवादः–अनन्तर " भुवः को मैं प्राप्त करता हूं" ऐसा मैंने जो कहा था वह यही कहा था, कि अग्नि को मैं प्राप्त करता हूं। वायु को मैं प्राप्त करता हूं। आदित्य को मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (भुवः+प्रपद्ये) भुवः को प्राप्त करता हूं (इति) ऐसा (यद्+अवोचम्) जो कहाथा उसका यह भाव है (अग्निम्+प्रपद्ये) अग्नि को

प्राप्त करता हूं (वायुम्+प्रपद्ये) वायु को मैं प्राप्त करता हूं (आदित्यम्+प्रपद्ये) आदित्य को प्राप्त करता हूं (इति+एव) ऐसा ही (तद्) वह वचन (अवोचम्) कहा था ॥ ६ ॥

भाष्याशयः-(भुवः) यहां भुवः शब्द अग्नि, सूर्य और आदित्यवाचक है। नीरोग होने के कारण एकाग्र मन के द्वारा इन तीनों देवताओं का विज्ञान मैंने प्राप्त किया यह भाव है ॥ ६ ॥

अथ यदवोचꣳस्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥ ७ ॥

अथ । यद् । अवोचम् । स्वः । प्रपद्ये । इति । ऋग्वेदम् । प्रपद्ये । यजुर्वेदम् । प्रपद्ये । सामवेदम् । प्रपद्ये । इति । एव । तद् । अवोचम् । तद् । अवोचम् ॥७॥

भाष्यम्-अथेति । अथानन्तरम् । स्वः प्रपद्य इति पूर्वत्र यदवोचम् । तस्यायंभावः । ऋग्वेदं प्रपद्ये । यजुर्वेदं प्रपद्ये । सामवेदं प्रपद्ये । इत्येवभावप्रद्योतकं तत्पदमवोचमिति ज्ञातव्यम् । तेन । ऋग्यजुःसाम त्रिलक्षणविशिष्टवेदवचनोऽयं स्वः शब्दः । वायु-विज्ञानेन । पुत्रादि नैरोग्यम् । तेनास्यान्तःकरणस्य एकतानता । तथावेदवाणी-प्राप्तिः । यद्वा पुत्रादिसाहाय्येन निखिलपशुप्राप्त्या धनसंचयः । स्वपरिश्रमार्जितेन धनसाहाय्येन त्रिलोकस्थ-पदार्थ-परिज्ञानं सुकरं जातम् । ततो निखिल-यज्ञारम्भोद्गमलाभः । ततस्तदुपयोगितया त्रय्याः सुपरिचयः स्यात् च । अन्तेनापवर्गः फलम् । एतेन ऋगाद्यस्यापाकृतिरपि प्रदर्शिता भवति ॥ ७ ॥

इति पञ्चदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १५ ॥

अनुवाद।-अनन्तर "स्वः को प्राप्त करता हूं" ऐसा जो मैंने कहा था वह यही कहा था कि ऋग्वेद को प्राप्त करता हूं। यजुर्वेद को प्राप्त करता हूं और सामवेद को प्राप्त करता हूं ॥ ७ ॥

पदार्थ।-(अथ) अनन्तर (स्वः+प्रपद्ये) स्वः को प्राप्त करता हूं (इति+यद्+अवोचम्) यह जो मैंने कहा था इसका भाव ऐसा जानना (ऋग्वेदम्+प्रपद्ये) ऋग्वेद को प्राप्त करता हूं (यजुर्वेदम्+प्रपद्ये) यजुर्वेद को प्राप्त करता हूं (सामवेदम्+प्रपद्ये) सामवेद को प्राप्त करता हूं। (इत्येव) इसी अभिप्राय का (तद्+अवोचम्) वह पद कहा था (तद्+अवोचम्) इसी अभिप्राय का वह पद कहा था ॥ ७ ॥

भाष्याशयः-(स्वः) यह स्वः शब्द ऋग् यजुः और साम लक्षणयुक्त जो वेद इनका वाचक है। वायु के विज्ञान से मन की एकाग्रता। तब उससे वेदवाणी की

प्राप्ति जो निःश्रेयसकारिणी है। यद्वा इस प्रकरण का भाव यह लगाना चाहिये। पुत्रादि की सहायता से निखिल पशुओं की प्राप्ति। उससे धन संग्रह। तब धन की सहायता और निज परिश्रम से त्रिलोकस्थ पदार्थ परिज्ञान तब उससे संपूर्ण यज्ञों के आरम्भोदयरूप लाभ। तब उस से उन के परमोपयोगी होने के कारण त्रयीविद्या का सुपरिचय और रक्षा। तब अन्त में अपवर्ग रूप फल की प्राप्ति। इस से तीनों ऋणों की भी अपाकृति (शोधन) दिखलाई गई ॥ ७ ॥ इति पञ्चदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अवतरणिका (५) ॥

यज्ञे प्रातःसवनम्। माध्यन्दिनं सवनम्। तृतीयसवनञ्चेति त्रीणि सवनानि भवन्ति। वसवः। रुद्राः। आदित्याश्चेति क्रमेण तेषां देवताः। तेषु गायत्री। त्रिष्टुप्। जगती चेति क्रमेण प्रधानतया छन्दांसि ॥

तथाहि—"ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद् वसूनां प्रातःसवनं। रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्। आदित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम्" । छा० २ । २४ । १ ॥ "त्रया वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्याः। तेषां विभक्तानि सवनानि। वसूनामेव प्रातःसवनम्। रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्। आदित्यानां तृतीयसवनम्। तद्वा अमिश्रमेव वसूनां प्रातःसवनम्। अमिश्रं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्। मिश्रमादित्यानां तृतीयसवनम्" । शतपथब्रा० ४ । ३ । ५ । १०१ ॥ "वसवः प्रातःसवनेनागुः। रुद्रा माध्यन्दिनसवनेन। आदित्यास्तृतीयसवनेन। शतपथब्रा० १२ । ३ । ४ । १ ॥

भाषाः—यज्ञ में प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन, ये तीन सवन होते हैं। वसु, रुद्र और आदित्य ये क्रम से उनके देवता और इन में गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती क्रम से प्रधानतया छन्द होते हैं, जैसेः—

(ब्रह्म०) ब्रह्मवादी उपदेश देते हैं कि प्रातःसवन वसुओं का, माध्यन्दिन सवन रुद्रों का और तृतीय सवन आदित्य और विश्वेदेवों का है। यह छान्दोग्य का वचन है। पुनः (त्रयावैदेवाः०) तीन देवता ये हैं। वसु, रुद्र, आदित्य। उनके पृथक् २ सवन हैं। वसुओं का ही प्रातःसवन रुद्रों का ही माध्यन्दिनसवन और आदित्यों का ही तृतीयसवन। वसुओं का प्रातःसवन अमिश्र ही होता है। रुद्रों का माध्यन्दिन सवन अमिश्र ही है। आदित्यों का तृतीय सवन मिश्र है। (वसवः) प्रातःसवन द्वारा वसु, माध्यन्दिन सवन द्वारा रुद्र और तृतीय सवन द्वारा आदित्य प्राप्त होते हैं।

एवंविधप्रमाणेन सवनत्रयविधिरुपपद्यते । गायत्र्या वसवः (३ । ३) जगत्या आदित्याः (३ । ४) त्रिष्टुभो रुद्राः (३ । ६) पिङ्गलसू० । अनेन नियमेन चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपदा । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् । अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती छन्दो भवति । "गायत्री वै प्रातःसवनं वहति । त्रिष्टुम्माध्यन्दिनं सवनम् । जगती तृतीयसवनम्" शतपथब्रा० ४ । २ । २० । एतेषां त्रयाणां छन्दसामक्षरसंख्याः २४+४४+४८ मिलित्वा एकं शतं (११६) षोडश च भवन्ति । सामान्येनायुषो वर्षसंख्या अप्येतावत्योगृह्यन्ताम् । गायत्र्यादि वर्णसंख्यानुसारेणायुषस्त्रीन् भागान् कुरु । तेन चतुर्विंशतिवर्षः प्रथमोभागः । चतुश्चत्वारिंशद्द्वितीयः । अष्टाचत्वारिंशत्कस्तृतीयः । संप्रति आयुषः प्रथमोभागः प्रातःसवनवत् । द्वितीयो माध्यन्दिनसवनवत् । तृतीयस्तृतीय सवनवद् विज्ञेयः । यथेदं सवनत्रयमवहितैर्ऋत्विग्भिः सदाऽनुष्ठीयते । अनवधानतयाऽनुष्ठीयमानेनानेन हि न यजमानोऽभीष्टफलभाग् भवति । तथैवायुरपि सावधानैरस्माभिः सत्सु कार्येषु नियोज्यवाऽनुष्ठेयम् । विद्याध्ययनपरोपकारादि सत्कर्मसाधनमेवास्यायुष अनुष्ठानम् । अस्मान्महाभाग्येन प्राप्तात् पुरुषायुषान्न प्रमदितव्यम् । अस्मात्प्रमादेन महती विनष्टिर्भवति । यथोक्तम्-"इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति ।

इस प्रकार के प्रमाण से सवनत्रय की विधि विदित होती है (गायत्री वै) गायत्री ही प्रातःसवन को, त्रिष्टुप् माध्यन्दिन सवन और जगती तृतीय सवन को धारण करती है (गायत्र्यावसवः०) पिङ्गल सूत्र के नियम से । त्रिपदा गायत्री २४ । त्रिष्टुप् ४४ । जगती छन्द ४८ अक्षरों का होता है। इन तीनों छन्दों की अक्षर संख्याएं २४+४४+४८ मिलकर एकसौ सोलह होती हैं सामान्य रीति से आयु की वर्षसंख्या भी इतनी ही तबतक रखलेवें । गायत्र्यादि छन्दों के वर्णों की संख्यानुसार आयुके भी तीन भाग करो । उससे २४ वर्षों का एकभाग । ४४ वर्षों का द्वितीयभाग और ४८ वर्षों का तृतीयभाग होगा । अब आयु के प्रथमभाग को प्रथम सवन समान, द्वितीय भाग माध्यन्दिन सवन समान और तृतीयभाग तृतीयसवन समान जानें । जैसे ऋत्विक् लोग इन तीनों सवनों का अनुष्ठान बड़ी सावधानी से करते हैं क्योंकि अनवधानता के साथ अनुष्ठीयमान यज्ञ से यजमान फलभागी कदापि नहीं होता । वैसे ही बड़ी सावधानता से इस आयुरूप यज्ञ का सत्कार्य में लगाकर सेवन करना चाहिये । विद्याध्ययन परोपकारादि सत्कार्य साधन ही आयु का अनुष्ठान है । बड़े भाग्य से प्राप्त इस मानुषायुष से कभी प्रमाद करना नहीं चाहिये । इसके प्रमाद से बड़ा विनाश होता है । जैसा कहा है-(इह चेद०) यदि यहां

न चेदिहावेदीन् महती विनिष्टिः केनो० २ । ५ ॥ इहैव सन्तोऽथविद्मस्तद्वयम् । न चेद-वेदिर्महती विनष्टिः । बृ० उ० ४ । ४ । १४ ॥" अतोऽनेनायुषा सत्कर्माचरणीयं विमो-क्षायैवासत्कर्मणां मध्ये सर्वमूलं ब्रह्मचर्यमेव प्रथमागामि भवति । तदुपदेशायायं खण्डः प्रारभ्यते ।

ही इसे जान लिया तब तो ठीक है नहीं तो बड़ा भारी विनाश होगा । (इहैव०) यहां ही रहते हुए हम लोग उसे जानें अन्यथा बड़ा विनाश होगा । अतः इस आयु से मोक्षार्थ सत्कर्म करना चाहिये । सत्कर्मों में सर्व मूल ब्रह्मचर्य्य ही प्रथम है । अतः उसके उपदेशार्थ इस खण्ड का आरम्भ होता है ॥

अथ षोडशः खण्डः ॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत्प्रातः-सवनं चतुर्विंꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वास-यन्ति ॥ १ ॥

पुरुषः । वाव । यज्ञः । तस्य । यानि । चतुर्विंशतिः । वर्षाणि । तत् । प्रातः-सवनम् । चतुर्विंशत्यक्षरा । गायत्री । गायत्रम् । प्रातःसवनम् । तद् । अस्य । वसवः । अन्वायत्ताः । प्राणाः । वाव । वसवः । एते । हि । इदम् । सर्वम् । वासयन्ति ॥१॥

भाष्यम्—पुरुष इति । पुरि शरीरे शेते तिष्ठतीति पुरुषो जीवात्मा । वाव शब्दोऽवधारणार्थः । यज्ञो यजनीयः पूजनीयः सत्करणीयः । क्लेशैकसारात्संसारात् समुद्धरणीयः । यतो जीवात्मा स्वेनैव मानुषशरीरेण समुद्धरणीय एवास्ति येन केन सतोपायेन । अत आह गीतायाम् "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः" । ६ । ५ ॥ अन्यथा महती विनष्टिः । यद्वा यथा वैदिकयज्ञः श्रद्धयाऽनुष्ठेयस्तथैवाय-मात्माप्यनुष्ठेयः । विमोक्षाय योग्यतासम्पादनमेवात्मन अनुष्ठानम् । अतः पुरुषो जीवात्मा यज्ञो निगद्यते । अतस्तस्यायमुपायः । तथाहि । पुरुषाख्यस्य जीवात्मनो मनुष्यशरीरसम्बन्धिनः आयुषः । यानि चतुर्विंशति वर्षाणि सन्ति । तत्प्रातःसवनम् । प्रातःसवनतुल्यानि तानि वर्षाणि । कथं तत्प्रातःसवनमित्याह ? । प्रातःसवनम् । गायत्रम् । गायत्री छन्दोऽन्वितं भवतीतिब्राह्मण-ग्रन्थादिषु विधीयते । सा च गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति । अत आयुषश्चतुर्विंशति वर्षाणि प्रातःसवनं विज्ञेयम् । एतस्मिन् प्रथमसवने प्रथमं ब्रह्मचर्यं गुरौ निवसद्भिरन्तेवासिभि-

रनुष्ठेयम्। अस्य पुरुषस्य। तत्प्रातःसवनम्। कर्म। वसवः। अन्वायत्ताः। अनुगताः। यज्ञे तु वसवो देवता भवन्ति। जीवात्मरूपे यज्ञे के वसवइत्याह। प्राणा वाव वसवः। प्राणा एव वसवः। कथं प्राणानां वसुत्वमित्याह। हि यतः एतेप्राणाः। इदं सर्वं प्राणिजातं वासयन्ति। निवासयन्ति। स्थितियोग्यतां सम्पादयन्ति। अत्र प्राणा मनः षष्ठेन्द्रियवाचिनः। तथाहि "न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसि इत्याचक्षते। प्राणा इत्येव चक्षते प्राणाह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति" ॥ छा० ५। १। १५ ॥ त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्। तस्मादेते एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। बृ० उ० १। ५। २१ ॥ प्राणाः=मनः षष्ठानीन्द्रियाणि अस्मिन् प्रातःसवने बलवन्ति भवन्ति ॥ १ ॥

अनुवादः-जीवात्मा सत्करणीय ही है। यद्वा जीवात्मा ही यज्ञ है। उस जीवात्मा के (पुरुष शरीर सम्बन्धी आयुष के) जो २४ वर्ष हैं वह प्रातःसवन समान है। क्योंकि प्रातःसवन गायत्री छन्दोन्वित होता है। और वह गायत्री २४ अक्षरों की होती है। इस पुरुषरूप यज्ञ के उस प्रातःसवन के अनुगत देवता वसु हैं। यहां प्राण ही वसु हैं क्योंकि ये ही इस सब प्राणिसमूह को बसाते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(पुरुषः) जीवात्मा (यज्ञः+वाव) अवश्य ही उद्धरणीय है। यद्वा (पुरुषः+वाव+यज्ञः) पुरुष=जीवात्मा ही यज्ञ है (तस्य) उस पुरुष के मनुष्य-शरीर-सम्बन्धी आयुष (यानि) जो (चतुर्विंशति वर्षाणि) २४ वर्ष हैं (तत्+प्रातःसवनम्) वह प्रातःसवन समान है। क्योंकि (गायत्रम्+प्रातःसवनम्) प्रातःसवन में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है और वह (गायत्री+चतुर्विंशत्यक्षरा) गायत्री २४ अक्षरों की होती है। जिस हेतु २४ अक्षरवाली गायत्री का प्रयोग प्रातःसवन में होता है। अतः मनुष्य को प्रथम २४ वर्ष प्रातःसवन समान है (अस्य) इस पुरुष यज्ञ के (तत्) उस प्रातःसवन में (वसवः+अन्वायत्ताः) वसु अनुगत हैं। प्रातःसवन में तो वसु देवता होते हैं यहां पुरुषरूप यज्ञ में वसु कौन हैं? सो कहते हैं (प्राणाः+वाव) मन सहित सब इन्द्रिय ही (वसवः) वसु हैं। क्यों प्राण वसु कहलाते हैं सो कहते हैं (हि) क्योंकि (एते) मन सहित सब ज्ञानेन्द्रिय ही (इदम्+सर्वम्) इस सब प्राणिसमूह को (वासयन्ति) बसाते हैं। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा ही प्राणीमात्र की स्थिति होती है। ज्ञानेन्द्रिय न हो तो कोई नहीं ठहरसकता। ज्ञानेन्द्रिय का नाम प्राण है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—(पुरुषः) पुरि=शरीर में (शेते) जो रहे उसे पुरुष कहते हैं। जीवात्मा (यज्ञः) यजनीय पूजनीय सत्करणीय आदि इसका अर्थ है अर्थात् यह जीवात्मा अपने से ही मनुष्य शरीर के द्वारा जिस किसी सदुपाय से उद्धरणीय है (उद्धार के योग्य है)

गीता में श्रीकृष्णजी कहते हैं (उद्धरे०) आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिये। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है। आत्मा ही आत्मा का रिपु है। अतः आत्मा उद्धरणीय है। अन्यथा महान् विनाश हो जायगा। यद्वा जैसे वैदिक यज्ञ श्रद्धा से अनुष्ठेय हैं वैसा ही यह आत्मा भी अनुष्ठेय है। आत्माको मोक्ष का योग्य बनाना ही आत्मा का अनुष्ठान है। अतः जीवात्मा को यज्ञ कहागया है। (प्राणाः) यहां प्राण शब्द मन सहित इन्द्रिय वाचक है। इस में प्रमाण (नवैवाचो०) छान्दोग्य के प्राण सम्वाद में यह आया है कि न वाणी को वाणी न श्रोत्र को श्रोत्र न मन को मन कहते हैं। इस सब को प्राण ही कहते हैं। क्योंकि ये सब मिलकर एक प्राण ही हो जाते हैं। पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् में भी (त एतस्यैव) वे वाणी चक्षु श्रोत्रादिइन्द्रिय प्राण के ही रूप हो जाते हैं। अतः इसी प्राण के नाम से पुकारे जाते हैं। अर्थात् प्राणा इति प्राण ही ये सब कहलाते हैं। (प्रातःसवन) इस प्रातःसवन में गुरु के निकट वास करते हुए ब्रह्मचारी आयु के प्रथम भाग को प्रथम ब्रह्मचर्य में प्रयत्नपूर्वक लगावे। इस से मन सहित इन्द्रियों की प्रबलता होगी जिससे संसार में लोगों को विद्याद्वारा बस और बसा सकेगा ॥ १ ॥

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनथं सवनमनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

तम्। चेद्। एतस्मिन्। वयसि। किंचित्। उपतपेत्। सः। ब्रूयात्। प्राणाः। वसवः। इदम्। मे। प्रातःसवनम्। माध्यन्दिनम्। सवनम्। अनुसन्तनुत। इति। मा। अहम्। प्राणानाम्। वसूनाम्। मध्ये। यज्ञः। विलोप्सीय। इति। उद्। ह। एव। ततः। एति। अगदः। ह। भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्—तमिति। एतस्मिन्। चतुर्विंशतिवर्षपरिमिते वयसि आयुषि। तञ्चेत्। प्रथमं ब्रह्मचर्यमनुतिष्ठन्तम्। ब्रह्मचारिणम्। चेद्यदि। किञ्चिदुपतपेत्। पित्रादीनां बन्धुमित्रादीनां वा किञ्चिदसदाचरणम्। उपतपेत्। प्रथमब्रह्मचर्यानुष्ठानसिद्धौ धिनुयात्। दुःखिनं कुर्यात्। व्यर्थं तवाध्ययनं मा पाठीः। किं स्याचेन। एवंविधैर्वचनैस्तं संतापयेत्। तर्हि स ब्रह्मचारी ब्रूयात्। हे प्राणा वसवः! हे प्राणवत्प्रियाहृद्या! हे वसुपदवीसुभूषिता मम पितरश्च! इदं मे प्रातःसवनं वर्त्तते। इदं प्रातःसवनमहमनुतिष्ठामि। सम्प्रति

माविघ्नं यूयं समाचारिष्ट। युष्मत्सकाशादिदमहन्त्वाशासे। मदर्थं माध्यन्दिनं सवनं सन्तनुत। विस्तारयत। येन मम माध्यन्दिनं सवनमपि निरुपद्रवं पूर्येत। तथायूयंमदर्थमुपायं सन्तनुतेत्याशां करोमि। किमुतर्हि विविधोपायैर्मां प्रथम एव ब्रह्मचर्य्येतपथ। इत्येवं प्रार्थयेत्। पुनर्दृढतया कथयेच्च। प्राणानां प्राणवत्प्रियाणां मित्राणां तथा वसूनाम्। वसु-संज्ञकानां पितॄणां युष्माकं मध्ये। यज्ञोऽहं। वेदाभ्यासेन यजनीयो लब्धात्मगौरवः। मा विलोप्सीय। ब्रह्मचर्यपरित्यागेन विलुप्तो न भवेयम्। हास्यतां न गच्छेयम्। अयं भीत्या वा दुखेन वा ब्रह्मचर्यव्रतमत्याक्षीदितिपरिवादरूपं मरणं मा लभेय। अतोऽहं प्रातःसवनं तु न कदापि हास्यामि। माध्यन्दिनसवनन्तु भवतु न वेति न जाने "प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति। नीतौ" सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। गीतायाम्। अतो मां मातास। ततोह। उद्+एति। व्यवहितेन सम्बन्धः। तया प्रार्थनया तेन विनयेन वा स उदेति। सर्वत्रोदयं प्राप्नोति। अगदो ह भवति। त्रिविधदुःखाच्छारीरात्त्रिविधया विमुक्तो भवति। तस्य विनयादि गुणेन वशीभूता जना पुनरपि तन्न कदापि दुन्वन्ति। तेन स सर्वदा सुखी समवस्थाय प्रातःसवनं व्रतं सम्यङ् निवर्तयति। एतद् व्रताचरणेन प्राणा अपि बलवन्तो भूत्वा शारीरान् रोगान् सुदूरादपसारयन्ति। इत्थं ब्रह्मचारी सर्वथाऽगद एव तिष्ठति ॥ २ ॥

अनुवादः—इस वयोवस्था में उस (ब्रह्मचारी) को यदि कोई संतप्त करे तो वह इस प्रकार कहे कि प्राणवत् प्रियमित्रो! तथा वसुसंज्ञक पितरगणो! यह मेरा प्रातःसवन है (मेरे लिये) माध्यन्दिन सवन को विस्तृत करें (यह मेरी प्रार्थना है) आप प्राणप्रिय सुहृदों तथा वसुसंज्ञक पितरलोगों के बीच यज्ञ (ब्रह्मचर्यरूप यज्ञ के सम्पादन करने वाला) मैं विलुप्त न होऊं। इस प्रकार वह उदित होता है और नीरोग रहता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(एतस्मिन्+वयसि) इस चतुर्विंशतिवर्ष परिमित आयुष के समय में (तम्) प्रथम ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हुए उस ब्रह्मचारी से (चेद्) यदि (किञ्चित्) निज बन्धु मित्रों अथवा निज पिता माता आदि के कुछ असद् आचरण (उपतपेत्) दुःख दे। अर्थात् प्रथम ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान की सिद्धि की प्राप्ति में उसे दुःखी करे। व्यर्थ तू पढ़ता है। मत पढ़ो। उस से क्या लाभ है। इस प्रकार के वचनों से यदि कोई उसे संताप पहुंचावे तो (सः+ब्रूयात्) वह ब्रह्मचारी उन लोगों से कहे कि (प्राणाः+वसवः) हे प्राणप्रिय मित्रो! हे बन्धुबान्धव पितरो! (इदम्+मे+प्रातःसवनम्) यह मेरा प्रथम प्रातःसवन समान ब्रह्मचर्यकाल है। मैं सम्प्रति प्रातःसवन का अनुष्ठान कर रहा हूं सम्प्रति आप लोग मुझे विघ्न न करें मैं तो आप लोगों से यह निवेदन करता हूं कि मेरे लिये

(माध्यन्दिनम्+सवनम्) माध्यन्दिन सवन को (संतनुत) विस्तृत करें अर्थात् जिससे मेरा माध्यन्दिन सवन भी अच्छे प्रकार पूर्ण हो वैसा उपाय आप लोग मेरे लिये करो, ऐसी मैं आशा करता हूं । तब क्योंकर मुझको विविध प्रकार से संतप्त करते हैं । इस प्रकार प्रार्थना कर अपना विनय दिखलावे और पुनः दृढ़तापूर्वक यह कहे कि (प्राणाःनां+वसूनाम्) आप प्राणवत् प्रियमित्रों तथा पितरों के (मध्ये) मध्य (यज्ञ+अहम्) लब्धात्मगौरव विद्याभ्यास से सर्वथा प्रतिष्ठा को प्राप्त होने से यज्ञ सत्करणीय जो मैं हूं सो मैं (मा) नहीं (विलोप्सीय) विलुप्त होजाऊं । अतः मैं प्रातःसवन को तो नहीं त्याग करूंगा हां माध्यन्दिनसवन होगा वा नहीं इसे नहीं जानता । क्योंकि कहागया है उत्तम जन अनेक विघ्नों से प्रतिहत होने पर भी आरब्ध कार्य का त्याग नहीं करते और गीता में कहा गया है (संभावितस्य०) अच्छे मनुष्य की अकीर्त्ति ही मरण से भी अधिक है । अतः आप लोग मुझे मत संतप्त करें (ततः+ह) उस विनय प्रार्थना से (उद्+एति) वह सर्वत्र उदय को प्राप्त होता है । और वह (अगद+ह+भवति) चित्त शान्त होने से त्रिविध दुःख से विमुक्त होता है । उस ब्रह्मचारी के विनयादि गुण से वशीभूत जन पुनः उसे किसी प्रकार दुःख नहीं देते । उस से सर्वथा सुखी हो प्रातःसवनरूप व्रत को अच्छे प्रकार निर्वाह करता है । और इस व्रत के आचरण से प्राण उस के बलवन्त होकर शारीरिक सब रोगों को दूर से ही निकाल भगाता है । इस प्रकार ब्रह्मचारी सर्वथा नीरोग रहता है ॥ २ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ३ ॥

अथ । यानि । चतुश्चत्वारिंशद् । वर्षाणि । तत् । माध्यन्दिनम् । सवनम् । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा । त्रिष्टुप् । त्रैष्टुभम् । माध्यन्दिनम् । सवनम् । तत् । अस्य । रुद्राः । अन्वायत्ताः । प्राणाः । वाव । रुद्राः । एते । हि । इदम् । सर्वम् । रोदयन्ति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथेति । प्रातःसवनानन्तरं माध्यन्दिनसवनं क्रमप्राप्तमाह । चतुर्विंशति वर्षेभ्य ऊर्ध्वं जीवात्मनो मनुष्यशरीर सम्बन्धि आयुषो यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि सन्ति । तन्माध्यन्दिनंसवनं । माध्यन्दिनसवनवत् । तदायुषोभागं श्रद्धयानिष्कामतया अवि-

चिकित्सया च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानेषु संनियोज्य सततमात्मानमुद्धर्तुं यतेत। यद्वा ब्रह्मचारिणो गुरौ निवसतो यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि सन्ति। तन्माध्यन्दिन सवनवन्मध्यमब्रह्मचर्यम्। तत्सवनवत्तदायुर्भागमध्ययने समर्प्य सर्वाणि व्रतानि सम्यगाचरितव्यानि। कथं माध्यन्दिनसवनत्वं ? तेषामित्याह। त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं भवति। माध्यन्दिनसवने प्रायेण त्रैष्टुप्छन्दः प्रयुज्यते "गायत्री वै प्रातःसवनं वहति त्रैष्टुम्माध्यन्दिनं सवनं जगती तृतीयसवनम्" शतपथ ब्रा० ४। २। २०॥ इति प्रामाण्यात्। साच त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा भवति। तदक्षरसंख्यासंमितानि आयुषश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि माध्यन्दिनं सवनम्। अस्यजीवात्मनस्तत्सवनम्। रुद्राः अन्वायत्ताः। यज्ञे तु रुद्रा देवता भवन्ति। अत्र के रुद्रा इत्यत आह। प्राणा वाव रुद्राः। प्राणाः समनस्कानीन्द्रियाण्येव रुद्राः। रुद्रपदेनाभिधेयाः। कथमेवम्। हि यतः। एते प्राणा एव। इदं प्राणिजातमुत्क्रमणकाले रोदयन्ति। मध्यमब्रह्मचर्येण जनाः शत्रूणामन्तःस्थानां कामक्रोधादीनां बाह्यानामाततायिनां च रोदयितारो भवन्ति। साधुनामास्तिकानां जगदुपकारिणाञ्च पालयितारश्च। अत इदं ब्रह्मचर्यमपि पालयितव्यमितिनिश्चीयते॥ ३॥

अनुवादः–अनन्तर (आयुके) जो ४४ वर्ष हैं वह माध्यन्दिनसवन है। माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है। और वह त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का होता है। इस जीवात्मा के उस माध्यन्दिन सवन में रुद्र अनुगत हैं। प्राण ही रुद्र हैं। क्योंकि ये ही (उत्क्रमणकाल) में इस सबको रुलाते हैं॥ ३॥

पदार्थः–(अथ) प्रातःसवन के अनन्तर क्रम प्राप्त माध्यन्दिन सवन को कहते हैं (यानि+चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि) २४ वर्षों के ऊर्ध्व जीवात्मा के मनुष्य-शरीरसम्बन्धी आयु के जो ४४ वर्ष हैं (तत्+माध्यन्दिनम्+सवनम्) वह माध्यन्दिन सवन है। अर्थात् माध्यन्दिन सवनसदृश। उन ४४ वर्षों के आयु के भाग को श्रद्धा, निष्काम और असंशय से तपश्चरण स्वाध्याय और परमगुरु की सेवा में लगाकर आत्मा को उद्धृत करने के लिये सतत यत्न करता रहे। यद्वा गुरुकुल निवासी ब्रह्मचारी के जो ये ४४ वर्ष हैं वह माध्यन्दिन सवनवत् मध्यम ब्रह्मचर्य है। तत्सवन समान उस आयु के भाग को अध्ययन में लगाकर सब व्रत का प्रतिपालन करे। इसको माध्यन्दिन सवन क्यों कहते हैं ? सो कहते हैं। (त्रैष्टुभम्+माध्यन्दिनम्+सवनम्) माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुप् छन्दोन्वित होता है। प्रायः माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप् छन्दोंका ही प्रयोग होता है। शतपथ भी कहता है (गायत्री वै०) गायत्री छन्द प्रातःसवन का, त्रिष्टुप् छन्द माध्यन्दिनसवन का और जगती छन्द तृतीय सवनका वहन करता है वह (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् छन्द (चतुश्चत्वारिंशदक्षरा)

४४ अक्षरों का होता है। इस छन्द के अक्षरों की संख्याओं के तुल्य आयु के ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं (अस्य+तत्) इस यज्ञस्वरूप आत्मा के उस माध्यन्दिन सवन में (रुद्राः+अन्वायत्ताः) रुद्र अनुगामी हैं। यज्ञ में तो रुद्र देवता होते हैं। यहां कौन रुद्र हैं? सो कहते हैं। (प्राणाः वाव रुद्राः) मन सहित इन्द्रिय ही यहां रुद्र कहलाते हैं। क्यों ये रुद्र हैं? (हि) क्योंकि (एते) ये ही प्राणसंज्ञक इन्द्रिय उत्क्रमण काल में वा दुष्ट संहरण समय में (इदम्+सर्वम्) इस सब प्राणिसमूह को अथवा दुष्ट जीवों को रोदयन्ति) रुलाते हैं अतः ये रुद्र हैं ॥ ३ ॥

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳसवनं तृतीयसवन मनुसन्तनुतेति माऽहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

तम् । चेत् । एतस्मिन् । वयसि । किञ्चित् । उपतपेत् । सः । ब्रूयात् । प्राणाः । रुद्राः । इदम् । मे । माध्यन्दिनम् । सवनम् । तृतीयसवनम् । अनुसन्तनुत । इति । मा । अहम् । प्राणानाम् । रुद्राणाम् । मध्ये । यज्ञः । विलोप्सीय । इति । उत् । ह । एव । तत् । एति । अगदः । ह । भवति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तमिति । द्वितीयमन्त्रवदस्यापि भाष्यम् । विशेषस्त्वियान् । हे प्राणाः ! प्राणप्रिया सुहृदः ! हे रुद्रा ! रुद्रसंज्ञकाः पितरः ! इदं मे माध्यन्दिनंसवनम् । यूयं मदर्थम् । तृतीयसवनं सन्तनुत विस्तारयत । येन मम तृतीयसवनमपि पूर्य्येत तथैव यूयं यतिष्यध्वे इत्यहमाशासे । प्रत्युत कथं मां पीडयथ । हे प्राणा ! रुद्राश्च युष्माकं प्राणानां प्राणप्रियाणां वयस्यानां तथा रुद्राणां तत्संज्ञकानांपितॄणाम्मध्ये । यज्ञोऽहं । लब्धप्रतिष्ठोऽहं लब्धादरोऽहम् । मा विलोप्सीय मा विलुप्येयम् । मा विलुप्तोभवेयमिति ॥ ४ ॥

अनुवादः—इस वयोवस्था में उस (ब्रह्मचारी) को यदि कोई संतप्तकरे तो वह इस प्रकार कहे। हे प्राणप्रियमित्रो ! तथा रुद्रसंज्ञक पितरो ! यह मेरा माध्यन्दिन सवन है (मेरेलिये) आप लोग तृतीयसवन को विस्तृत करें (यह मेरी प्रार्थना है) आप प्राणप्रिय सुहृदों तथा रुद्रसंज्ञक पितरों के मध्य यज्ञ (लब्धप्रतिष्ठ वा लब्धादर) मैं विलुप्त न होऊं। इस प्रकार वह उदित है और नीरोग रहता है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(एतस्मिन्+वयसि) आयु के इस द्वितीय वयोवस्था में (तम्) मध्यम ब्रह्मचर्यरूप माध्यन्दिन सवन का अनुष्ठान करता हुआ उस ब्रह्मचारी से (चेत्) यदि

(किंचित्) निजबन्धु मित्रों का अथवा पिता माता बन्धु बान्धवों का कुछ असद् व्यवहार (उपतपेत्) दुःख पहुंचावे (सः+ब्रूयात्) तो वह इस प्रकार कहे कि (प्राणाः+रुद्राः) हे प्राणप्रिय मित्रो ! तथा रुद्ररूपधारी पितरगणो ! (मे) मेरा (इदम्+माध्यन्दिनम्+सवनम्) यह माध्यन्दिन सवन मध्यम ब्रह्मचर्य काल है। मैं सम्प्रति मध्यम ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता हूं। सम्प्रति आप लोग मुझे विघ्न न पहुंचावें। मैं तो आप लोगों से यह आशा करता हूं कि मेरे लिये (तृतीयम्+सवनम्) तृतीय सवन को (संतनुत) आप लोग विस्तृत करें अर्थात् जिससे मेरे तृतीय सवन की भी पूर्ति हो ऐसा उपाय आप लोग करें। आप लोगों से ऐसी आशा रखता हूं। तब क्योंकर मुझको विविध प्रकार से संतप्त करते हैं। इस प्रकार प्रार्थना कर निज विनय प्रकट करे और दृढ़तापूर्वक कहे कि (प्राणानाम्+रुद्राणाम्+मध्ये) आप प्राणप्रिय मित्रों तथा रुद्ररूप धारी पितरों के मध्य (यज्ञः) इस ब्रह्मचर्य्यरूप यज्ञ के अनुष्ठान से प्रतिष्ठा वा आदर को प्राप्त (अहम्) मैं (मा) मत (विलोप्सीय) विलुप्त हो जाऊं। मेरा लोप न होवे। इसने भय से वा क्लेश से ब्रह्मचर्यरूप यज्ञ का परित्याग किया है ऐसा अपवादरूप मरण मुझे न प्राप्त हो। अतः प्रारब्ध माध्यन्दिन सवन का त्याग तो नहीं करूंगा, हां तृतीय सवन होगा वा नहीं यह नहीं जानता (ततः+ह) इस विनय प्रार्थनादि व्यवहार से (उद्+एति) सर्वत्र यह उदित होता है और उस से (अगदः+ह) चित्त शान्त होने से विविध दुःख से विमुक्त हो वह ब्रह्मचर्य्य के प्रतिपालन में तत्पर होता है। इत्यादि द्वितीय प्रवाक की व्याख्या देखो ॥ ४ ॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥

अथ। यानि। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि। तत्। तृतीयसवनम्। अष्टाचत्वारिंशदक्षरा। जगती। जागतम्। तृतीयसवनम्। तत्। अस्य। आदित्याः। अन्वायत्ताः। प्राणाः। वाव। आदित्याः। एते। हि। इदम्। सर्वम्। आददते ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति। क्रमप्राप्तं तृतीयसवनमाह। तस्य जीवात्मन आयुषोऽष्टषष्ठि वर्षेभ्य ऊर्ध्वं। यानि। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि सन्ति। तत्तृतीयं सवनम्। तृतीयसवनवत्। तानि वर्षाणि परमगुरौ नियोज्यात्मानमुद्धरेत्। यद्वा गुरौ निवसतो ब्रह्मचारिणो योऽष्टचत्वारिंश-

द्वार्षिको ब्रह्मचर्यकालोऽस्ति । तत्तृतीयसवनम् । कथं तेषां तृतीयसवनत्वमित्याह । जागतं तृतीयसवनम् । जगतीछन्दस्कंतृतीयसवनं भवति । सा च जगती । अष्टाचत्वारिंशदक्षराभवति। तदक्षरसंख्यासाम्येनायुषस्तत्परिमितो भागस्तृतीय सवनम् । अस्य जीवात्मनस्तत् सवनम् । आदित्या अन्वायत्ताः । केऽत्रादित्याः पुरुषयज्ञे ? प्राणावावादित्याः । प्राणा, एवादित्याः । कथमेवम् । एते प्राणाः । इह सर्वं स्वस्वविषय जातम् । आददते । गृह्णन्ति । आददत इत्यादित्या इति व्युत्पत्तेः प्राणानामादित्यत्वम् । प्राणा समनस्कानीन्द्रियाणि । प्रमाणं पूर्वत्र दर्शितम् । अनेन ब्रह्मचर्येण सर्वाणि तत्त्वानि सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराणि बोद्धुं ग्रहीतुञ्च शक्नोति । आदित्यवदपि गृहीत्वा सहस्रकृत्वो जनेषूपकृतिं कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अनुवादः—अनन्तर जो ४८ वर्ष हैं वह तृतीय सवन है । तृतीय सवन में जगती छन्द होता है और वह जगती ४८ अक्षरों की होती है । इस पुरुष के उस यज्ञ में आदित्य अनुगत हैं । प्राण ही आदित्य हैं क्योंकि ये ही इस सब के ग्रहणकर्त्ता हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अथ) माध्यन्दिन सवन के अनन्तर क्रम प्राप्त तृतीय सवन को कहते हैं । जीवात्मा के मनुष्यशरीर सम्बन्धी आयु के ६८ वर्षों के अनन्तर (यानि) जो (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि) ४८ वर्ष हैं (तत्+तृतीयसवनम्) वह तृतीय सवन है । यद्वा गुरुकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारी का ४८ वार्षिक जो ब्रह्मचर्य काल है । वह तृतीय सवनवत् है । इस आयु को परम गुरु परमेश्वर में वा सम्पूर्ण विद्याओं के अन्तिम सिद्धान्त परिज्ञान में लगा आत्मा के उद्धार में प्रयत्न करता रहे । इतने वर्षों की आयु को तृतीय सवन क्यों कहते हैं सो आगे कहाजाता है (जागतम्+तृतीयसवनम्) तृतीय सवन जगती छन्दोन्वित होता है । इस में प्रायः जगती छन्दों का प्रयोग होता है । परन्तु (जगती) जगती छन्द (अष्टाचत्वारिंशदक्षरा) ४८ अक्षरों का होता है । अतः जगती छन्द के वर्णों की संख्या के तुल्य ४८ वर्ष परिमित आयु का भाग तृतीयसवन समान है (अस्य) इस यज्ञरूप पुरुष के (तत्) उस सवन में (आदित्याः+अन्वायत्ताः) आदित्य अनुगत हैं । आदित्यकौन है ? (प्राणाः+वाव+आदित्याः) प्राण ही आदित्य हैं (हि) क्योंकि (एते) ये प्राण (इदम्+सर्वम्) इस सब विषय को (आददते) ग्रहण करते हैं । प्राण नाम यहां समनस्क इन्द्रियों का है । इस ब्रह्मचर्य वा आध्यात्मिक यज्ञानुष्ठान से ब्रह्मचारी सब सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय के ग्रहण करने और आदित्यवत् सहस्र गुण दान देने में समर्थ होता है ॥ ५ ॥

तञ्चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनु सन्तनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

तम् । चेत् । एतस्मिन् । वयसि । किञ्चित् । उपतपेत् । सः । ब्रूयात् । प्राणाः । आदित्याः । इदम् । मे । तृतीयसवनम् । आयुः । अनुसन्तनुत । इति । मा । अहम् । प्राणानाम् । आदित्यानाम् । मध्ये । यज्ञः । विलोप्सीय । इति । उत् । ह । एव । ततः । एति । अगदः । ह । एव । भवति ॥ ६ ॥

भाष्यम्-तञ्चेदिति । व्याख्यानन्तु द्वितीयमन्त्रवद् विज्ञेयम् । विशेषस्त्वयम् । आदित्याः । आदित्यसंज्ञकपितरः सूक्ष्मपदार्थविज्ञातारः । आयुः अनुसन्तनुत । भवत्कृपया आयुर्वृद्धिं प्राप्नुयामिति मदर्थं यत्नं कुरुत । आशिषञ्च दत्त ॥ ६ ॥

अनुवादः-इस वयोवस्था में उस ब्रह्मचारी को कुछ संतप्त करे तो वह इस प्रकार कहे कि हे प्राणप्रिय सुहृदो ! तथा सूक्ष्म पदार्थविज्ञानी आदित्यनामी पितरो ! यह मेरा तृतीयसवन है। आप लोग आयु प्रवृद्ध करें। यही मेरी प्रार्थना है। आप प्राणप्रिय और सूक्ष्म पदार्थविद् आदित्यनाम पितरों में लब्धप्रतिष्ठ मैं विलुप्त न होऊं। इससे वह प्रसिद्धतया (जगत् में) उदित और नीरोग होता है ॥ ६ ॥

पदार्थः-(एतस्मिन्+वयसि) इस वयोवस्था में (तञ्चेत्) उस ब्रह्मचारी वा उपासक को (किञ्चिद्+उपतपेत्) कोई संतप्त करे तो (सः+ब्रूयात्) ! वह कहे (प्राणाः+आदित्याः) हे प्राणप्रियो ! और सूक्ष्म पदार्थविद् आदित्य पितरो ! (इदम्+मे+तृतीयसवनम्) यह मेरा तृतीयसवन है (आयुः+अनुसंतनुत) आप लोग मेरे लिये आयु की वृद्धि के उपाय करें (इति) यह आप लोगों से निवेदन है (प्राणानाम्+आदित्यानाम्+मध्ये) प्राणप्रिय मित्रों तथा सूक्ष्म पदार्थ के ग्रहण करने वाले आदित्य संज्ञक पितरों के मध्ये (यज्ञोऽहम्) लब्धप्रतिष्ठ मैं (मा) मत (विलोप्सीय) विलुप्त होऊं (इति) (ततः) ऐसी प्रार्थना विनयादि व्यवहार से (ह) प्रसिद्ध हो (उद्+एति) सम्पूर्ण जगत् में उदय को प्राप्त होता है और प्रसन्नता के कारण (अगदः+ह+एव+भवति) निश्चय नीरोग होता है ॥ ६ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

एतद् । ह । स्म । वै । तद् । विद्वान् । आह । महीदासः । ऐतरेयः । सः । किम् । मे । एतद् । उपतपसि । यः । अहम् । अनेन । न । प्रेष्यामि । इति । सः । ह । षोडशम् । वर्षशतम् । अजीवत् । प्र । ह । षोडशम् । वर्षशतम् । जीवति । यः । एवम् । वेद ॥ ७ ॥

भाष्यम्–एतदिति । निश्चिता हि विद्या फलाय भवत्येतद्दर्शयन्नुदाहरति । ऐतरेयः । इतरायाः कस्याश्चिन्मुनिभार्य्याया अपत्यम्पुमानित्यैतरेयः । महीदासः । महीदासो नाम ह प्रसिद्धोऽन्यत्रैतरेयब्राह्मणस्वरचिते । तदेतद्यज्ञविज्ञानं विद्वान् जानन् सन् । आह स्म वै । कदाचिदब्रवीत् । उपतपन्तं रोगं वा परिपंथिनम्वा लक्ष्यीकृत्य ऐतरेयो महीदासः प्रसिद्धर्षिः कदाचिदब्रवीदिदम् । हे व्याधे ! हे भ्रातृव्य ! वा स त्वम् । किम् ? कस्मै प्रयोजनाय । मे मम । एतदुपतपनम् । उपतपसि । करोषि । योऽहं अनेन तपोपतपनेन । न कदापि प्रेष्यामि । न मरिष्यामि । इति । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षोब्रह्मचार्यहं तवोपतापेन न कदापि पञ्चत्वं गमिष्यामि । अतोमां लक्ष्यीकृत्य तव प्रयत्नो मुधैवस्यात् । स ह एवंनिश्चयो महीदास ऐतरेयः । षोडशं वर्षशतम् । एकंशतं षोडशवर्षाणि सोऽजीवत् । य एवं वेद । सोऽपि ह । षोडशं वर्षशतं प्रजीवति । प्रेति व्यवधानेन क्रियया सम्बन्धः । छन्दसि परेपि व्यवहिताश्चेति नियमात् । त्रिषु सवनेषु चतुर्विंशतिः । चतुश्चत्वारिंशत् । अष्टाचत्वारिंशच्चवर्षाणि मिलित्वा षोडशैक शतञ्च वर्षाणि भवन्ति । एतत् सवनत्रयानुष्ठानेन षोडशाधिकशतवर्षजीवित्वं प्राप्तिः । अत ऐतरेयस्य महीदासस्येयज्जीवनम् । यश्च ब्रह्मचारी नियमेनाष्टाचत्वारिंशद्वर्षमुत्तमं ब्रह्मचर्यात्मकं सवनमनुतिष्ठति । स इतरयोरपि ब्रह्मचर्य्ययोर्वर्षपरिमितं फलं सहैवाश्नुते । अतस्तस्यापि षोडशाधिकैकशतवर्षान्वितमायुर्भविष्यति ॥ ७ ॥

अनुवादः–परम प्रसिद्ध ऐतरेय महीदास नामक (महर्षि) इस को जानते हुए कहा करते थे । वह तूं मुझको क्योंकर संतप्त करता है । जो मैं इससे नहीं मरूंगा इस प्रकार वे एक सौ सोलह वर्ष जीते रहे । जो कोई ऐसा जानता है वह भी ११६ वर्ष जीता है ॥ ७ ॥

पदार्थः-विद्या जब निश्चित होती है तब ही फल देती है। इस को उदाहरण से विस्पष्ट करते हैं (ऐतरेयः) किसी इतरा नाम्नी मुनिभार्य्या के पुत्र (ह) प्रसिद्ध=स्वरचित ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में अति प्रसिद्ध (महीदासः) महीदास नामक महर्षि (तत्+एतत्) उस इस पूर्वोक्त यज्ञ विज्ञान को (विद्वान्) जानते हुए (आह+स्म) अपने उपतापी रोग से वा अन्य शत्रु से कहा करते थे। क्या कहते थे सो आगे कहते हैं कि हे व्याधे वा हे विघ्नकारि मनुष्य! (सः) वह अर्थात् मेरे ब्रह्मचर्य्य को न जानता हुआ तू (किम्) क्यों (एतत्) इस प्रकार (उपतपसि) तपाते हो। दुःख दे रहे हो (यः+अहम्) जो मैं (अनेन) इस तेरे उपताप प्रदान से (न) नहीं (प्रेष्यामि) मरूंगा। क्योंकि मैंने पूरा ब्रह्मचर्य्य प्रतिपालन किया है (सः+ह) इस प्रकार दृढ़व्रती वे ऐतरेय महीदास (षोडशम्+वर्षशतम्) एकसौ सोलह वर्ष (अजीवत्) जीते रहे। आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो कोई ऐसा जानता है वह भी (षोडशम्+वर्षशतम्) एकसौ सोलह (प्र+जीवति+ह) निश्चय जीता है ॥ ७ ॥

भाष्याशयः-तीनों सवनों में २४+४४+४८ वर्ष मिलकर ११६ वर्ष होते हैं इस सवनत्रय के अनुष्ठान से ११६ वर्ष की आयु की प्राप्ति होती है इसी कारण ऐतरेय महीदास का उतना जीवन हुआ जो कोई ब्रह्मचारी नियम से ४८ वर्ष का उत्तम ब्रह्मचर्य्यात्मक यज्ञानुष्ठान करता है वह उन दोनों का भी वर्ष परिमित फल को पाता है। इस हेतु उस की भी ११६ वर्ष की आयु होती है।

इति षोडशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः खण्डः ॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा ॥ १ ॥

सः। यत्। अशिशिषति। यत्। पिपासति। यत्। न। रमते। ताः। अस्य। दीक्षा ॥ १ ॥

भाष्यम्-स इति। ब्रह्मचर्याश्रमः स्वतो यज्ञस्वरूपोऽस्ति। तत्र दीक्षादिव्रतमाह (सः) ब्रह्मचारी (यत्) यद्वस्तु (अशिशिषति) अशितुं भोक्तुमिच्छति (यत्) यत्पेयंवस्तु (पिपासति) पातुमिच्छति च। किन्तु भोजनपानादिषु (यत्+न+रमते) आसक्तो न भवति। यदृच्छया प्राप्तमशनंपानञ्च गृह्णाति प्रियं प्राप्य न हृष्यति नाप्रियं प्राप्य च

शोचतीत्यर्थः । यदितिक्रियाविशेषणम् रमणादिकं यन्नकरोति (अस्य) ब्रह्मचारिणः (ताः) (दीक्षाः) यज्ञे दीक्षा इव ताः क्रियाः सन्ति । दुःखसामान्यात् ॥ १ ॥

अनुवादः—वह (ब्रह्मचारी) खाना और पीना चाहता है परन्तु उसमें जो रत नहीं होता है इस की ये दीक्षाएं हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—ब्रह्मचर्याश्रम स्वतः एक यज्ञ है । अतः दीक्षादि व्रत यहां कहते हैं (सः) वह ब्रह्मचारी (यत्) जो (अशिशिषति) भोजन की इच्छा करता है और (यत्+पिपासति) जो पीना चाहता है परन्तु (न+रमते) उन में आसक्त नहीं होता है अर्थात् यदृच्छया जो कुछ अशन पान प्राप्त होजाता है उसी को ग्रहण कर लेता है (अस्य) इस ब्रह्मचारी की (ताः+दीक्षाः) वे ही मानो दीक्षाएं हैं ॥ १ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥ २ ॥

अथ । यद् । अश्नाति । यत् । पिबति । यत् । रमते । तद् । उपसदैः । एति ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति । (अथ) अपि च (यत्+अश्नाति) यद्भुक्ते (यत्+पिबति) यत्पानं करोति (यद्+रमते) समये समये अनध्यायादौ अशनपानादिषु यदासज्जते (तत्) तद्रमणादिकं (उपसदैः) उपसदैः समानतां (एति) प्राप्नोति । उपसदाः कार्यकर्त्तार ऋत्विजः । तेषां पयोव्रतादि निमित्तं सुखमस्ति ॥ २ ॥

अनुवादः—और (ब्रह्मचारी) जो खाता है जो पीता है और जो रमित होता है। वह उपसदों के समान है ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) और (यद्+अश्नाति) वह ब्रह्मचारी जो खाता है (यत्+पिबति) जो पीता है (यद्+रमते) और समय समय पर अनध्यायादिक में जो खाने पीने में आसक्त हो जाता है (तत्) वही मानो (उपसदैः+एति) उपसद की समानता को पाता है । उपसद नाम ऋत्विजों का है । पयोव्रतादि निमित्त सुख जैसे ऋत्विजों को प्राप्त होता है । तद्वत् ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

अथ । यद् । हसति । यत् । जक्षति । यत् । मैथुनम् । चरति । स्तुतशस्त्रैः । एव । तत् । एति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-(अथ) अपि च स ब्रह्मचारी (यद्+हसति) यत्स्मितं करोति वेदार्थमननेन हर्षप्राप्त्या यद्धसति (यद्+जक्षति) मनसा यद् ब्रह्म गच्छति प्राप्नोति (यत्+मिथुनम्+चरति) इत्थं ब्रह्मणा सार्धं यद्योगं करोति (तत्) तत् सर्वमाचरणं (स्तुतशस्त्रैः+एव) तुल्यतामित्यध्याहारः । स्तुतशस्त्रैः तुल्यतामेव (एति) प्राप्नोति । याश्च ऋचः सामगैर्गीयन्ते तानि स्तुतानि स्तोत्राणि वा कथ्यन्ते । याश्च ऋचो न गीयन्ते तानि शस्त्राणि उच्यन्ते । स्तुवन्त्येभिरिति स्तोत्राणि शंसन्ति प्रशंसन्त्येभिरिति शस्त्राणि ॥ ३ ॥

अनुवादः-और (वह ब्रह्मचारी) जो हसता है, जो गमन करता है, जो योग करता है वह स्तोत्र और शस्त्र के समान है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अथ) और (यद्+हसति) वह ब्रह्मचारी जो हंसता है अर्थात् वेदार्थ के मनन से जो उस को हर्ष प्राप्त होता है उस आनन्द में जो वह हंसता है (यद्+जक्षति) जो गमन करता है अर्थात् आनन्द-प्राप्ति से मन के द्वारा जो वह ब्रह्म के निकट गमन करता है (यत्+मिथुनम्+चरति) इस प्रकार ब्रह्म के साथ जो योग=संयोग करता है (तत्) वह सब ब्रह्मचारी का आचरण (स्तुतशस्त्रैः+एव) स्तोत्र और शस्त्र की समानता को (एति) प्राप्त करता है । जिन ऋचाओं को सामगाने वाले गाते हैं उन्हें स्तुत वा स्तोत्र कहते हैं जिन को नहीं गाते हैं वे शस्त्र कहलाते हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

अथ । यत् । तपः । दानम् । आर्जवम् । अहिंसा । सत्यवचनम् । इति । ताः । अस्य । दक्षिणाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्-(अथ) अपि च (तपः) अध्ययनरूपं महाव्रतम् (दानम्) सतीर्थ्येभ्यो विद्यायाः प्रदानम् (आर्जवम्) ऋजुता सरलता (अहिंसा) हिंसाराहित्यम् (सत्यवचनम्) सत्यभाषणम् (इति+यद्) एतत्सर्वमाचरणं ब्रह्मचारी यदनुतिष्ठति (ताः) तास्तपोदानादिक्रियाः (अस्य) एतस्य ब्रह्मचारिणः (दक्षिणाः) दक्षिणा इव ॥ ४ ॥

अनुवादः-और जो (ब्रह्मचारी के) तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन आदि आचरण हैं मानो वे इस की दक्षिणाएं हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) और ब्रह्मचारी के (यत्) जो (तपः) विद्याध्ययनरूप महाव्रत (दानम्) अपने सहपाठियों को विद्यादान देना (आर्जवम्) सरलता (अहिंसा)

अहिंसा (सत्यवचनम्) सत्यभाषण (इति) ये सब शुभ आचरण हैं (अस्य) इस की (ताः+दक्षिणाः) वे दक्षिणाएं हैं ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥

तस्मात् । आहुः । सोष्यति । असोष्ट । इति । पुनः । उत्पादनम् । एव । अस्य । तत् । मरणम् । एव । अस्य । अवभृथः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—यज्ञे सर्वेषामृत्विजां कर्माणि विभक्तानि भवन्ति । सोमरससम्पादकोऽप्यकोभवति । अत्रेदं ज्ञातव्यम् । सुधातुर्बहुष्वर्थेषु वर्त्तते । तथाहि । षु प्रसवैश्वर्ययोः । इत्यदादौ । षुञ् अभिषवे । अभिषवः स्नपनं पीडनं स्नानं सुरासंधानञ्चेतिस्वादौ । अत्रार्थद्वयस्य प्रयोजनम् । प्रसवः । अभिषवश्च । इत्थं । सोष्यतीत्यस्यार्थद्वयंभविष्यति । सोमरसं निष्पादयिष्यति पुत्रं जनयिष्यति वा । पूर्वत्र दीक्षाव्रतादिकं ब्रह्मचारिणामुक्तम् सम्प्रति यज्ञस्यसोमाभिषवावभृथाविव ब्रह्मचारिणो जननमरणे दर्शयति । तस्मादिति (तस्मात्) यस्माद्धेतोरयं ब्रह्मचारी परोपकारी वेदरक्षको भवति । तस्मात् कारणात् (आहुः) अन्ये जनाः कथयन्ति । अहो (सोष्यति) इयं जननी परमकल्याणी ब्रह्मचारिणम् जनयिष्यति (असोष्ट) इयमजीजनत् । उत्पादितवती (इति) इत्थम् (अस्य) एतस्य ब्रह्मचारिणः (पुनरुत्पादनम्) पुनर्जन्मैव यज्ञस्य "सोष्यति" "असोष्टेति" यत् क्रिया भवति तयातुल्यम् । अस्यमरणमेव । यज्ञस्य (अवभृथः) अवभृथसमानम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—इस हेतु (लोग) कहते हैं कि (यह माता ब्रह्मचारी को) उत्पन्न करेगी । और (यह माता ब्रह्मचारी को) उत्पन्न कर चुकी है । इस प्रकार ब्रह्मचारी का पुनर्जन्म ही मानो यज्ञ की "सोष्यति" "असोष्ट" इस क्रिया के तुल्य है और मरण ही अवभृथ के समान है ॥ ५ ॥

पदार्थः—प्रथम यहां इतनी बात जाननी चाहिये कि यज्ञ में प्रत्येक ऋत्विक् के कर्म विभक्त होते हैं । उन में एक सोमरस सम्पादक भी होता है । उनका काम सोमरस बनाने का है । संस्कृत " सु " धातु बहुत अर्थ में आया है । प्रसव, ऐश्वर्य, अभिषव आदि । इस हेतु "सोष्यति" इस पद का सोमरस बनावेगा और पुत्र को उत्पन्न करेगा ऐसा अर्थ होना (तस्मात्) जिस हेतु ब्रह्मचारी परोपकारी और वेद के रक्षक होते हैं इस हेतु (आहुः) किसी पतिव्रता कल्याणी सुमंगली स्त्री को देखकर मनुष्य कहते हैं कि यह माता (सोष्यति) सुब्रह्मचारी को उत्पन्न करेगी (असोष्ट) यह

माता ब्रह्मचारी को उत्पन्न कर चुकी है (इति) इस प्रकार (अस्य) इस ब्रह्मचारी का (पुनरुत्पादनम्) पुनर्जन्म ही यज्ञ के "सोष्यति" और "असोष्ट" के समान है। यहां केवल शब्द की समानता है अर्थ की नहीं (अस्य) इस ब्रह्मचारी का (तन्मरणम्+एव) ब्रह्मचर्य व्रत करते हुए ब्रह्मचारी का मरण ही (अवभृथः) यज्ञ के अवभृथ तुल्य है। अन्त में अवभृथ याग होता है ॥ ५ ॥

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

तद्। ह। एतद्। घोरः। आङ्गिरसः। कृष्णाय। देवकीपुत्राय। उक्त्वा। उवाच। अपिपासः। एव। सः। बभूव। सः। अन्तवेलायाम्। एतत्। त्रयम्। प्रतिपद्येत। अक्षितम्। असि। अच्युतम्। असि। प्राणसंशितम्। असि। इति। तत्र। एते। द्वे। ऋचौ। भवतः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तदिति। ब्रह्मचर्यविद्यां स्तोतुमर्थवादमाह (आङ्गिरसः) अङ्गिरोगोत्रः। अङ्गिरोवंशे लब्धजन्मा कोऽपि (घोरः) नामतो घोरः (देवकीपुत्राय) देवक्याः पुत्राय (कृष्णाय) स्वशिष्याय (ह) प्रसिद्धम् (तदेतत्) ब्रह्मचर्ययज्ञशासनम् (उक्त्वा) उपदिश्य पुनरपि (उवाच) सोऽन्तवेलायामित्यादि व्यवहितं वचनम्। अब्रवीत्। यच्छ्रुत्वा (अपिपास एव सः बभूव) पिपासा रहित एव सः जातः। इमां विद्यां श्रुत्वाऽन्यां विद्यां प्रति कृष्णस्य कदापिजिज्ञासा न बभूव। ईदृशीयं विद्येति स्तौति। निःसन्देहं ब्रह्मचर्ययज्ञस्यैवमेवमाहात्म्यम्। कृष्णं प्रति घोरः पुनरपि किमुवाचेत्याह सोऽन्तवेलायामित्यादिना। हे कृष्ण! (सः) उपासकः (अन्तवेलायाम्) मरणकाले (एतत्त्रयम्) एतद् वक्ष्यमाणं त्रिकम् (प्रतिपद्येत) जपेत्। किं प्रतिपद्येतेत्याह (अक्षितमसि) हे भगवन् सर्वशक्तिमन् ब्रह्मन्! त्वम् (अक्षितमसि) अक्षीणमक्षतम्वासि। इत्येकंपदम् (अच्युतमसि) अच्युतमसिइति द्वितीयंपदम् (प्राण संशितमसि) संशितम्। सम्यग् तनूकृतम्। अतिशय सूक्ष्ममित्यर्थः। प्राणयतीतिप्राणम्। प्राणञ्चतत् संशितमिति प्राणसंशितम्। प्राणयितृ तथासूक्ष्मतमं त्वमसि। इत्येतत्त्रयमन्तवेलायां हे कृष्ण सर्वैर्जप्यम्। विशेषस्तुब्रह्मचारिभिस्त्वयापि च हे कृष्ण! एवमेवैतत्त्रयं जपनीयम् (तत्र) अस्मिन्नर्थे (द्वे ऋचौ भवतः) द्वौ ऋङ्मन्त्रौ वर्त्तेते ॥ ६ ॥

अनुवादः—आङ्गिरस घोरऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण से उस उस प्रसिद्ध विद्या का उपदेश दे पुनः बोले हे कृष्ण ! वह उपासक अन्तवेला में इन तीन पदों का जप करे। त्वम् "अक्षितमसि" १ । त्वम् "अच्युतमसि" २ । त्वम्+"प्राणसंशितमसि" ३ इस विद्या को सुन कृष्ण अपिपास हुए । इस अर्थ में दो मंत्र प्रमाण हैं ॥ ६ ॥

पदार्थः—(आङ्गिरसः) अङ्गिरागोत्रोत्पन्न (घोरः) घोर नाम के किसी ऋषि ने (देवकीपुत्राय) देवकी के पुत्र (कृष्णाय) अपने शिष्य कृष्ण से (उक्त्वा) उपदेश दे (उवाच) पुनः बोले कि हे कृष्ण ! (सः) वह पूर्वोक्त ब्रह्मचारी अथवा उपासक (अन्तवेलायाम्) मरणकाल में (एतत्त्रयम्) इन तीनों पदों को (प्रतिपद्येत) जपे। कौन तीन पद सो कहते हैं (अक्षितम्+असि) हे भगवन् आप अक्षीण हैं । आपका क्षय कदापि नहीं होता है (अच्युतम्+असि) आप अविनश्वर हैं (प्राणसंशितम्+असि) आप सर्व जीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं इन तीनों पदों को अन्तकाल में जपे । इस घोर ऋषि के उपदेश को सुन (सः) वह कृष्ण (अपिपासः+एव) अन्य विद्या के प्रति तृष्णारहित ही (बभूव) होगये अर्थात् यह विद्या ऐसी श्रेष्ठ है कि जिसे सुन, अनुष्ठान कर घोर शिष्य कृष्ण भी अवितृष्ण होगये (तत्र) इस विषय में (एते+द्वे) ये दोनों (ऋचौ+भवतः) मन्त्र प्रमाण होते हैं ॥ ६ ॥

"आदित् प्रत्नस्य रेतसः" ॥ १ ॥ "उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳ"स्वः पश्यन्त उत्तरं" देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति" २ ॥ ज्योति रुत्तममिति ॥ ७ ॥

आद् । इत् । प्रत्नस्य । रेतसः । उद् । वयम् । तमसः । परि । ज्योतिः । पश्यन्तः । उत्तरम् । स्वः । पश्यन्तः । उत्तरम् । देवम् । देवत्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्तमम् । इति । ज्योतिः । उत्तमम् । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—आदिति । पूर्वस्मिन् प्रवाके तत्रैते द्वे ऋचे भवत इति यदुक्तम् । ते एव ऋचौ सम्प्रति दर्शयति । एकस्याऋचः "आदित्प्रत्नस्य रेतसः" इति प्रतीकमेवास्ति । सम्पूर्णोऽयम् "आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्तिवासरम् । परो यदिध्यते दिवा ॥ (ऋ० मण्ड० ८ । सू० ६ । ३०) अन्या मूले सम्पूर्णा पठितास्ति । तत्रापिपाठभेदोऽस्ति । टिप्पण्यां स प्रदर्शितः । प्रथमायाः ऋचोर्थः । ब्रह्मचर्यादिनिवृत्तिसाधनेन शुद्धान्तःकरण निवृत्त

चक्षुषो ब्रह्मविद् उपासकाः (प्रत्नस्य) चिरन्तनस्य नित्यस्य (रेतसः) जगत्कारणस्य ब्रह्मणः (वासरम्) अहरहरिव सर्वतो व्याप्तं (ज्योतिः) प्रकाशम् (आद्) आसमन्तात् (इत्) एव समन्तादेव सर्वं प्रकारेणेत्यर्थः (पश्यन्ति) अवलोकयन्ति जानन्तीत्यर्थः । कुत्र तज्ज्योतिरित्याह (परः) परं । अत्र लिङ्गव्यत्ययः । उत्तमं (यद्) यज्ज्योतिः (दिवा) दिवि । द्योतनात्मके परस्मिन् ब्रह्मणि (इध्यते) दीप्यते । वर्तते अर्थात् यज्ज्योतिः परस्मिन् ब्रह्मण्येव वर्त्तमानमस्ति । तज्ज्योतिः केचिद्योगानुष्ठानेन पूतान्तःकरणा योगिनो सर्वत्रैव पश्यन्ति जानन्तीत्यर्थः । येन ज्योतिषा भासितः । सूर्यस्तपति । चन्द्रमाभाति । विद्युद्विद्योतते । तारागणा विभासन्ते । तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । ईदृशं ज्योतिष्मन्तं परमेश्वरं पश्यन्ति योगिनः । तमेव उपासक अन्तवेलायाम् । अक्षितमसीति त्रिकेण जपेदित्यर्थः ॥

द्वितीयस्या ऋचोऽर्थः—* केचिन्मुक्तजीवा ब्रह्मसान्निध्यं प्राप्ताः सन्तः कथयन्ति । (वयम्) वयं मुक्तपुरुषाः (उत्तमम् ज्योतिः) सर्वोत्कृष्टतमं ज्योतिः ब्रह्मेत्यर्थः (अगन्म) अगमाम । गतवन्तः । परमज्योतिष्मतो ब्रह्मणो निकटं वयं प्राप्ता इत्यर्थः । किं कृत्वा (तमसः) अज्ञानलक्षणादन्धकारात् (परि) परं अतिशयितम् (उत्) ऊर्ध्वं गत्वा सम्पूर्णम् ज्ञानं त्यक्त्वा ब्रह्मसामीप्यं प्राप्ता इत्यर्थः । पञ्चम्यापरावध्यर्थम् इति सकारः । किं कुर्वंतः (उत्तरम्) उद्यततरं सर्वत्रव्यासतरम् (ज्योतिः) ब्रह्मणः प्रकाशम् (पश्यन्तः) अवलोकयन्तः सर्वत्रैव तस्यैव ज्योतिर्मार्गयन्त इत्यर्थः । पुनः किं कुर्वंतः (उत्तरम्) उद्गततरम् (स्वः) सुखं सुखकरम् (ज्योतिः) ब्रह्मणः प्रकाशम् (पश्यन्तः) अवलोकयन्तः । उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्म अगन्मेत्यन्वयः । कथंभूतं ज्योतिः (देवम्) सर्व प्रकाशकम् । पुनः कथंभूतम् (देवत्रा) देवेषु सूर्यचन्द्रतारकादिषु "देवमनुष्य०" इति सप्तम्यर्थेत्रा प्रत्ययः (सूर्य्यम्) प्रेरकम् "षू प्रेरणे" इति धातुः । अत्रोत्तमज्योतिः शब्देन ब्रह्म । उत्तरज्योतिः शब्देन सर्वत्र ब्रह्मव्याप्तज्योतिर्गृह्यत इति विवेकः । यदा मनुष्यः सर्वत्रव्याप्तं ब्रह्मणो ज्योतिः पश्यति तदा

---

* यजुर्वेदे । उद्वयंतमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् । २० । २१ ॥ अथर्ववेदे—उद्वयं तमसस्परिरोहन्तोनाकमुत्तमम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥ ५३ । ७ ॥ ऋग्वेदे—उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ऋ० मण्ड० १ । सू० ५० । मं० १० ॥ उपनिषदि—"स्वः पश्यन्त उत्तरम्" इत्यधिकः पाठो दृश्यते । एतेनानुमीयते । "ज्योतिः पश्यन्त उत्तरमि" त्यस्यैव "स्वः पश्यत उत्तरमि"त्यनुवादोस्ति द्वे ऋचौ भवत इति प्रतिज्ञानुरोधेन ऋचावेव वक्तव्येस्तः ॥

ब्रह्मस्वरूपं ज्योतिः प्राप्नोतीत्यर्थः यद्वा (अगन्म) गच्छेम । गमेर्लुङि । मन्त्रघस इति च्लेर्लुक् । ६३ । १७ । ७ ॥ म्वोश्च इति मकारस्य नकारः ॥ ७ ॥ इति सप्तदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अनुवादः–जगत् कारण और अनादि ब्रह्म के दिनसदृश सर्वत्र व्याप्त ज्योति को (योगी लोग) देखते हैं जो ज्योति देदीप्यमान ब्रह्म में प्रदीप्यमान हो रहा है । सर्वत्र ब्रह्म की ज्योति और सुख को देखते हुए हम लोग अज्ञानरूप अन्धकार को अतिक्रमण करके देदीप्यमान सर्व देवप्रेरक उत्तम ज्योति (ब्रह्म) को प्राप्त हुए हैं ॥ ७ ॥

पदार्थः–प्रथम यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्व में जो कहा गया था "इस विषय में दो मन्त्रों के प्रमाण हैं" उन दोनों मन्त्रों में से मूल में एक मन्त्र का केवल थोड़ा प्रतीक दिया हुआ है और द्वितीय मन्त्र सम्पूर्ण है परन्तु उस में भी कुछ पाठभेद है, सो टिप्पणी में दिखलाया गया है वहां ही देखना । अत्र प्रथम ऋचा का यह अर्थ है । (प्रत्नस्य) पुरातन प्राचीन अर्थात् नित्य (रेतसः) विश्व का कारण जो ब्रह्म उस के (वासरम्) दिन के समान सर्वत्र व्याप्त (ज्योतिः) ज्योति को (आद्+इत्) सब प्रकार से (पश्यन्ति) देखते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्यादि साधन से शुद्धान्तःकरण योगावस्थित ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्म की ज्योति को अच्छे प्रकार देखते हैं । वह ज्योति कहां ? सो आगे कहते हैं (परः) उत्कृष्ट (यत्) जो ज्योतिः (दिवा) परमद्योतन ब्रह्म के साथ (इध्यते) वर्त्तमान है । जो प्रकाश ब्रह्म के साथ वर्त्तमान है । उस ज्योति को ज्ञानी पुरुष देखते हैं । हे कृष्ण तुम भी उस ज्योति को देखो ब्रह्मचारी भी अन्त में उसी परमज्योति को देखें ॥

द्वितीय ऋचा का अर्थ–कोई मुक्त पुरुष कहते हैं (वयम्) हम मुक्त पुरुष (उत्तमम् ज्योतिः) उद्गततम परमज्योतिःस्वरूप ब्रह्म को (अगन्म) प्राप्त हुए हैं । क्या करके (तमसः) अज्ञानरूप अन्धकार वा पाप के (परि) बहुत (उद्) ऊपर जाकर अर्थात् सम्पूर्ण अज्ञान वा पाप को त्याग शुद्ध हो ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं । क्या करते हुए ? (उत्तरम्+ज्योतिः+पश्यन्तः) उद्गततर (भासमान) ज्योति को देखते हुए । (इसी का अनुवाद करते हैं) (स्वः+पश्यन्तः+उत्तरम्) अर्थात् सर्वत्र सुखरूप ब्रह्म को देखते हुए । वह ब्रह्म कैसा है ? (देवम्) देव है । पुनः कैसा है (देवत्रा) सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदिक देवों में (सूर्य्यम्) प्रेरक है । यहां (ज्योतिरुत्तमम्) जो यह दो वार कहा गया है सो उपासना की समाप्ति के लिये है ॥ ७ ॥

इति सप्तदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः खण्डः ॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

मनः । ब्रह्म । इति । उपासीत । इति । अध्यात्मम् । अथ । अधिदैवतम् । आकाशः । ब्रह्म । इति । उभयम् । आदिष्टम् । भवति । अध्यात्मम् । च । अधिदैवतम् । च ॥ १ ॥

भाष्यम्—मनोब्रह्मेति । इन्द्रियाणां मध्ये । मन इन्द्रियं ज्यायोऽस्ति । अतिसूक्ष्ममस्ति । अतिव्यापनशीलमस्ति । मनः सर्वाणि वस्तूनि प्रविशति । ब्रह्मप्राप्तिरपि प्रायोऽनेनैव वशीभूतेन भवति । एवञ्च । महाभूतेषु पञ्चसु आकाशोज्यायान् । सर्वगः । सूक्ष्मतमो निर्लेपो निर्विकारः । इत्येवं विधैर्गुणैर्मन आकाशश्चोभयं विशिष्यते । ब्रह्मणोऽपीमे गुणाः सन्तीति आभ्यां मन-आकाशाभ्यां ब्रह्म निर्दिश्यते । मनइति मनुतेऽनेनेतिमनः । उभयात्मकमिन्द्रियम् । ब्रह्मेति । इतरेन्द्रियेषु बृहदस्ति गुणैर्नच स्वरूपेण । इतिमत्वा । उपासीत । विचारयेत । सर्वेन्द्रियेषु मनसः श्रेष्ठत्वात् मनो बृहदिति जानन् मानसिकान् गुणान् बहु चिन्तयेत् । इति । अध्यात्मम् । एतदात्मविषयं दर्शनं वर्णितम् । अथ । अधिदैवतम् । देवताविषयकं दर्शनं वक्ष्यति । आकाशो ब्रह्मेति । भूतेषु आकाशोऽतिशयितोज्यायानस्तीति भावयेत । एतदुभयम् । अध्यात्ममधिदैवतञ्चोपासनम् । आदिष्टमुपदिष्टं पुरातनैर्ऋषिभिर्भवति । उभयत्र ब्रह्मवैभवमवलोकनीयम् ॥ १ ॥

अनुवाद:-मन (सब इन्द्रियों में) (गुणों के द्वारा) अतिशय बड़ा है । ऐसा विचार करे वा जाने, यह अध्यात्म है और अधिदैवत यह है (महाभूतों में) आकाश अतिशय बड़ा है । ऐसा विचार करे । अध्यात्म और अधिदैवत दोनों (दर्शन ऋषि द्वारा) उपदिष्ट होते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(मनः) उभयात्मक इन्द्रिय मन (ब्रह्म) सब इन्द्रियों में अतिशय श्रेष्ठ है (इति+उपासीत) ऐसा जान विचार करे (इति+अध्यात्मम्) यह आत्मविषय विज्ञान है (अथ) इसके अनन्तर (अधिदैवतम्) देवता विषयक दर्शन का वर्णन होता है (आकाशः) महाभूत आकाश (ब्रह्म) महाभूतों में सर्व श्रेष्ठ है यह जान इसके विषय

(१) खण्डान्ते समीक्षा द्रश्यताम् । (२) खण्डान्त में समीक्षा देखो ।

में विचार करे (इति) इस प्रकार (उभयम्) दोनों (अध्यात्मम्) अध्यात्म और (अधिदैवतम्) अधिदैवत उपासन (आदिष्टम्+भवति) ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट होते हैं॥ १॥

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म । वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च॥ २॥

तद् । एतत् । चतुष्पाद् । ब्रह्म । वाक् । पादः । प्राणः । पादः । चक्षुः । पादः । श्रोत्रम् । पादः । इति । अध्यात्मम् । अथ । अधिदैवतम् । अग्निः । पादः । वायुः । पादः । आदित्यः । पादः । दिशः । पादः । इति । उभयम् । एव । आदिष्टम् । भवति । अध्यात्मम् । च । एव । अधिदैवतम् । च॥ २॥

भाष्यम्–तदिति । तदेतत् । ब्रह्म बृहत् । मनः । चतुष्पाद् । चत्वारः पादायस्य तच्चतुष्पाद् । तस्यब्रह्मणः मनसश्चत्वारः पादाः सन्तीत्यर्थः । पादान् गणयति । तद्यथा–वाक् पादः । प्राणः पादः । चक्षुः पादः । श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम् । अथाध्यात्मविज्ञानदर्शनानन्तरम् । अधिदैवतंविज्ञानं । कथ्यते । आकाशस्य ब्रह्मणश्चत्वारः पादाः । तद्यथा । अग्निः पादः । वायुः पादः । आदित्यः पादः । दिशः पादः । इत्युभयमध्यात्ममधिदैवतञ्चोपदिष्टं भवति॥ २॥

अनुवादः–वह यह बृहत् मन चतुष्पाद् है । वाग् पाद, प्राण पाद, चक्षुः पाद और श्रोत्र पाद यह अध्यात्म है । अनन्तर अधिदैवत यह है । वह यह बृहन्नाकाश चतुष्पाद है । अग्नि पाद, वायु पाद, आदित्य पाद और दिशा पाद । ये अध्यात्म और अधिदैवत दोनों ही (ऋषियों के द्वारा) उपदिष्ट होते हैं॥ २॥

पदार्थः–(तत्) वह (एतद्) यह (ब्रह्म) बृहत् मन (चतुष्पाद्) चार पाद (चरण) वाला है वह आगे कहा जाता है (वाग्+पादः) वाणी प्रथमपद है (प्राणः+पादः) प्राण दूसरा पाद है (चक्षुः पादः) नयन तृतीय पाद है (श्रोत्रम्+पादः) श्रोत्र चौथा पाद है (इति+अध्यात्मम्) यह अध्यात्म वर्णन है (अथ) अनन्तर (अधिदैवतम्) अधिदैवत वर्णन किया जाता है । आकाश के ये पाद हैं (अग्निः+पादः) अग्नि प्रथम पाद है (वायुः+पादः) वायु द्वितीय पाद है (आदित्यः+पादः) आदित्य

तृतीयपाद है (दिशः+पादः) दिशाएं चतुर्थपाद है (इति) इस प्रकार (उभयम्+एव) दोनों (अध्यात्मम्+च+एव) अध्यात्म और (अधिदैवतम्+च) अधिदैवत विचार (उपदिष्टम्+भवति) उपदिष्ट होते हैं ॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वाग्। एव। ब्रह्मणः। चतुर्थः। पादः। सः। अग्निना। ज्योतिषा। भाति। च। तपति। च। भाति। च। तपति। च। कीर्त्या। यशसा। ब्रह्मवर्चसेन। यः। एवम्। वेद ॥ ३ ॥

भाष्यम्—वागेवेति। तत्र ब्रह्मणो बृहतोमनसः। वागेव वाण्येव। चतुर्थः पादः। इतरपादत्रयापेक्षयावागेवचतुर्थःपादोऽस्तीति विज्ञेयम्। वाचाहि पादेनैव गवादिवद् वक्तव्यविषयं प्रति मनो गच्छति। अतो मनसः पाद इव वागस्ति। स वाग्रूपः पादः। अग्निना ज्योतिषा भाति। सा वाणी तैलघृतादीनामाग्नेयपदार्थानामशनेन प्रदीप्ता सती भाति शोभते। तथा च। तपति। वदनायोत्साहवती भवति। यद्वा। अग्निरेव वागुत्पत्तिकारणम्*। यदाग्नेयशक्तिरन्तराले तिष्ठति तदैव वाण्याः भाषणं शोभते। तस्य भाषणकर्तुर्मुखञ्च तेन दीप्यते। सम्प्रति विद्वत्फलं ब्रवीति। यो विद्वान् एवं वेद। सोऽपि जगति भाति च शोभते। तपति च। सर्वेषां मध्ये वाण्यैश्वर्येण सूर्यवद्देदीप्यते। पुनः। कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन च स भाति तपति च ॥ ३ ॥

अनुवादः—मनोरूपी ब्रह्म की वाणी ही चतुर्थपाद है। वह (वाणीरूप पाद) अग्निरूप ज्योति से भासित और प्रकाशित होता है। जो विद्वान् ऐसा जानता है, वह भी (जगत् में) सुशोभमान और प्रकाशमान होता है और कीर्त्ति यश और ब्रह्मतेज से शोभमान और प्रकाशमान होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(ब्रह्मणः) मनोरूपी ब्रह्म का (वागेव) वाणी ही (चतुर्थः+पादः) अन्य पादत्रय की अपेक्षा से चतुर्थपाद है। क्योंकि जैसे गौ आदि अपने पादों से चलते हैं वैसे ही यह मन वचनरूप पाद से वक्तव्य विषय के प्रति जाता है (सः) वह वाग्रूप पाद (अग्निना) अग्निरूप (ज्योतिषा) ज्योति से (भाति च) दीप्त होता है (तपति च) और प्रदीप्त होता है अर्थात् तैल घृतादि आग्नेय पदार्थ के भोजन से वह मुख के लिये

* तेजोमयी वागिति। छा० ६। ६। ५॥

उत्साहवती होती है। यद्वा अग्नि ही वाणी की उत्पत्ति का कारण है *। जब आग्नेयशक्ति अन्तःकरण में वर्त्तमान रहती है तब ही वाणी का भाषण शोभता है। आगे विद्वान् होने का फल कहा जाता है (यः) जो विद्वान् (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (कीर्त्या) कीर्त्ति से (यशसा) यश से और (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (भाति च) जगत् में शोभित होता है और (तपति च) सूर्यवत् देदीप्यमान होता है॥ ३॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

प्राणः । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । वायुना । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

भाष्यम्–प्राण इति । मनोरूपस्य ब्रह्मणः । प्राणो घ्राण एव चतुर्थः पादः । इतरपादत्रयापेक्षया चतुर्थःपाद इत्युक्तिः । घ्राणेनैव पादेन मनोगवादिवद् गन्धविषयं प्रति धावति । स प्राणरूपः पादः । वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च । वायुनैव घ्राणेन्द्रियं स्वविषयं प्राप्नोति। एतद्विद्वत्फलं कथयति । यो विद्वान् । एवं वेदेत्यादि । अतिरोहितार्थम् ॥ ४ ॥

अनुवादः–मनोरूपी ब्रह्म का चतुर्थपाद प्राण (घ्राण) ही है। वह वायुरूप ज्योति से भासित और प्रकाशित होता है। जो विद्वान् ऐसा जानता है वह कीर्त्ति यश और ब्रह्मतेज से (जगत् में) भासित और सूर्यवत् देदीप्यमान होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः–(ब्रह्मणः) मनोरूपी ब्रह्म का (प्राणः) घ्राणेन्द्रिय (एव) ही (चतुर्थः+पादः) चतुर्थ पाद है (सः) वह पाद (वायुना+ज्योतिषा) वायुरूप ज्योति से (भाति च) शोभित होता है। वायव्य पदार्थ के सेवन से घ्राणेन्द्रिय की शक्ति की वृद्धि होती है और (तपति च) उससे देदीप्यमान रहता है। आगे विद्वान् होने का फल कहा जाता है (यः+एवम्+वेद) जो कोई ऐसा जानता है वह (कीर्त्या) कीर्त्ति से (यशसा) यश से तथा (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (भाति) जगत् में सुशोभित होता है और (तपति च) सूर्यवत् देदीप्यमान होता है ॥ ४ ॥

* तेजोमयी वाणी । ६ । ६ । ५ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

चक्षुः । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । आदित्येन । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवम् । वेद ॥ ५ ॥

भाष्यम्-चक्षुरिति । मनसो ब्रह्मणः । चक्षुर्नयनमेव चतुर्थः पादः । चक्षुषैव पादेन मनो पश्वादिवद्रूपविषयं प्रति क्रामति । अतो मनसः पाद इव चक्षुरस्ति । अन्यपादत्रयापेक्षयेत्युक्तम् । सचक्षुरूपः पादः । आदित्येन सूर्येण ज्योतिषा भाति च तपति च । आदित्यादेवचक्षुस्तेज आप्नोति । फलन्तु पूर्ववद् विज्ञेयम् ॥ ५ ॥

अनुवादः-मनोरूपी ब्रह्मका नयन ही चतुर्थ पाद है वह आदित्यरूप ज्योति से भासित और देदीप्यमान होता है । जो ऐसा जानता है वह भी कीर्त्ति यश और ब्रह्मतेजसे (जगत् में) शोभमान और सूर्यवत् प्रकाशमान होता है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(ब्रह्मणः) मनोरूपी ब्रह्मका (चक्षुः+एव) नयन ही (चतुर्थः+पादः) चतुर्थपाद है । क्योंकि यह मन गौ आदि पशु के समान नयनरूप चरण से ही रूप विषय के प्रति गमन कर सकता है (सः) वह नयनरूप पाद (आदित्येन+ज्योतिषा) आदित्यरूप ज्योति से (भाति च) भासित होता है । क्योंकि नयन को सूर्य से ही तेज प्राप्त होता है और (तपति च) सूर्य के कारण से ही यह प्रकाशमान भी रहता है । आगे इसको जो जानता है उसका फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो कोई विद्वान् इसको ऐसा जानता है वह भी (कीर्त्या) कीर्त्ति यश और ब्रह्मतेज से जगत् में सुशोभमान और सूर्यवत् प्रकाशमान होता है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद ॥ ६ ॥

श्रोत्रम् । एव । ब्रह्मणः । चतुर्थः । पादः । सः । दिग्भिः । ज्योतिषा । भाति । च । तपति । च । भाति । च । तपति । च । कीर्त्या । यशसा । ब्रह्मवर्चसेन । यः । एवम् । वेद । यः । एवम् । वेद ॥ ६ ॥

भाष्यम्–श्रोत्रमेवेति । मनोरूपस्य ब्रह्मणः श्रोत्रमेव चतुर्थःपादः । इतरपादत्रया पेक्षयाऽयं चतुर्थःपादः । श्रोत्रेणैव पादेन मनो गवादिवच्छब्दविषयं प्रति गच्छति । स श्रोत्ररूपः पादः । दिग्भिर्ज्योतिषाभाति । श्रोत्रं दिग्भिरेवशब्दग्रहणाय योग्यं भवति । अन्यत्सर्वं पूर्ववत् ॥ ६ ॥ इत्यष्टादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अनुवादः–मनोरूपी ब्रह्म का श्रोत्र ही चतुर्थपाद है । यह दिशारूप ज्योति से भासमान और प्रकाशमान होता है । जो कोई इसको जानता है, वह कीर्त्ति से यश से और ब्रह्मतेजसे जगत् में सुशोभमान और सूर्यवत् प्रकाशमान होता है ॥ ६ ॥

पदार्थः–(ब्रह्मणः) मनोरूपी ब्रह्मका (श्रोत्रमेव) कर्ण (चतुर्थः+पादः) चतुर्थपाद है, अन्य तीन पादों की अपेक्षा से यह चतुर्थपाद कहलाता है और गवादिवत् मन ही श्रोत्ररूप चरण से शब्द विषय के प्रति गमन कर सकता है (सः) वह श्रोत्ररूप पाद (दिग्भिः) दिशारूप (ज्योतिषा) ज्योति से (भाति+च+तपति+च) शोभमान और प्रकाशमान होता है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है वह भी (कीर्त्या) कीर्त्ति से (यशसा) यश से और (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (भाति च) जगत् में शोभमान और (तपति च) सूर्यवत् प्रकाशमान होता है "य एवं वेद" जो दो वार कहा गया है सो मानसिक उपासना समाप्त्यर्थ है ॥ ६ ॥ इत्यष्टादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् शब्द की समीक्षा (१५)

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ वे० सू० २ । ३ । ५ ॥

उपनिषदों में यह "ब्रह्मन्" शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और गौण मुख्य भेद से भी बहुधा प्रयोग हुए हैं । अतः कतिपय उदाहरणों से इस विषय को विस्पष्ट करते हैं, क्योंकि शास्त्र निर्णय के लिये ही है, सन्देहार्थ नहीं । परन्तु बहुत मनुष्य वा जिज्ञासुओं को विविध प्रयोगों को देख सन्देह उत्पन्न होजाता है । इस अवस्था में वे यथार्थ जिज्ञासु भी निर्णय करने में असमर्थ हो कर्त्तव्याकर्त्तव्य विमूढधी बन बैठते हैं । यह "ब्रह्मन्" नकारान्त शब्द है । पुल्लिङ्ग में इसी को "ब्रह्मा" और नपुंसक में "ब्रह्म" कहते हैं । आजकल की भाषा में "ब्रह्म" ईश्वर (परमात्मा) और "ब्रह्मा" त्रिदेव में से एक देव का नाम प्रसिद्ध है। और ऋत्विकों में से एक ऋत्विक् का भी नाम "ब्रह्मा" होता है । यह भी आजकल यत्किंचित् प्रसिद्ध ही है । यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्मा वा ब्रह्म दोनों एक बात है केवल लिङ्ग का भेद है । परन्तु हिन्दी भाषा में ब्रह्म वा ब्रह्मा

दोनों ही पुल्लिङ्ग ही हैं । क्योंकि इस में नपुंसकलिङ्ग नहीं होता है । संस्कृत भाषा के नपुंसक "ब्रह्मन्" से "ब्रह्म" और पुल्लिङ्ग "ब्रह्मन्" से "ब्रह्मा" शब्द हिन्दी भाषा में आया हुआ है । अति प्राचीन भाषा के ब्रह्मन् शब्द के प्रयोग में पुल्लिङ्ग नपुंसक का विचार नहीं था । परन्तु वैदिकी भाषातिरिक्त संस्कृत भाषा में इस का एक नियम कर दिया गया कि अमुक २ अर्थ में यह पुल्लिङ्ग और अमुक २ अर्थ में नपुंसक होगा यथा—"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म, ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः । अ० को० ना० ११४ ॥ वेद, तत्त्व ईश्वर और तप अर्थ में ब्रह्मन् शब्द नपुंसक और ब्रह्मा, विप्र और प्रजापति इतने अर्थों में पुल्लिङ्ग होता है । परन्तु यह अति प्राचीन नियम नहीं । उदाहरण से विस्पष्ट होगा ।

ब्रह्मविद् अर्थ में ब्रह्मन् शब्द—यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभेभवत ओदनम् । कठ० १ । २ । २५ ॥ (यस्य) जिस के (ब्रह्म च) ब्रह्मवित् पुरुष और (क्षत्रम्०) महाबलशाली दोनों ही ओदन होते हैं । यहां "ब्रह्मन्" शब्द ब्रह्मविद् अर्थ में नपुंसक है । पुनः—"तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः" । बृ० १ । ४ । १५ ॥ (ब्रह्म) ब्राह्मण=ब्रह्मवित् । (क्षत्रम्) क्षत्रिय=वीर्यशाली । (विट्) वैश्य=विविध व्यापारी । (शूद्रः) असभ्य मूर्ख । यहां पर भी "ब्रह्मन्" शब्द नपुंसक ही है । अनेक स्थानों में यह ब्रह्मन् शब्द ब्राह्मण (वेदवित्) अर्थ में नपुंसक होकर प्रयुक्त हुआ है ॥

वेद अर्थ में ब्रह्मन् शब्द—यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नञ्चजायते" । मुण्ड० १ । १ । ९ ॥ अर्थ—(यः+सर्वज्ञः) जो सर्वज्ञ सर्वविद् है जिसका ज्ञान ही तप है (तस्मात्) उस से (एतद्+ब्रह्म) यह वेद (नामरूपं०) नाम रूप और सकल पदार्थ हुए । वेद अर्थ में यह शब्द वेदों में बहुत आया है । "तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः" यजुः० १८ । ४९ ॥ यहां (ब्रह्मणा) "वेदेन" यह अर्थ श्रीस्वामीजी ने किया है, अन्य भाष्यकारों ने भी ऐसाही किया है । महीधर अर्थ करता है (ब्रह्मणा=त्रयी लक्षणेन वेदेन) ब्रह्मणा=वेद से । अर्थात् वैदिक मन्त्रों से । इसी हेतु "ब्रह्मणस्पतिः" यह शब्द बारम्बार वेद में प्रयुक्त हुआ है (ब्रह्मणः) (पतिः) ब्रह्म जो वेद उसका पति । यह शब्द कभीं ईश्वर अर्थ में भी जैसे—"सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते" । यजुः० ३ । १८ ॥ "त्वांणो ब्रह्मणस्पते" । ३ । १० ॥ (ब्रह्मणस्पते) "सनातनस्य वेदशास्त्रस्य पालकेश्वर" हे सनातन वेदशास्त्र के पालन करनेवाले (आचार्यः *)

* आचार्य पद से यहां श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का ग्रहण है ।

(ब्रह्मणस्पते) जगदीश्वर (आचार्यः) हे ब्रह्मणस्पते=वेदस्यपालक (महीधर) हे वेद-पालक हे ब्रह्मणस्पते=वेदस्यपालक (महीधर) हे वेद के पालक ! इन उदाहरणों में विस्पष्ट ब्रह्मन् शब्द का अर्थ वेद प्रतीत होता है। कभी ऋत्विग् अर्थ में यह ब्रह्मणस्पति शब्द आता है यथा—"प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थम्"। यजुः० ३४ । ५७ ॥ "ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता"। ३४ । ५८ ॥ (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का पालक ज्ञाता (मन्त्रं वदति) मन्त्र को कहता है। यहां पर भी "ब्रह्मणस्पतिः" का ब्रह्म अर्थ हो सकता है। ब्राह्मण वेदवित् अर्थ में भी इसके प्रयोग अनेक हैं। वेद में यथा—"ब्रह्म च क्षत्रं च न विभीतः"। अथर्व० २ । १५ । ४ ॥ "इदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्"। यजुः० ३ । १६ ॥ "ब्रह्मक्षत्रं पवते"। यजुः० १९ । ५ ॥ "स न इदं ब्रह्म च क्षत्रं पातु"। यजुः० १८ । ३८ ॥ "सन इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु"। यजुः० १८ । ३८ । ४० । ४१ । ४२ । ४३ में भी आया है "अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय"। यजुः० १८ । ४४ । इत्यादि स्थल में ब्रह्म क्षत्र शब्द और क्रम से वेदवित् और वीर्यशाली प्रजारक्षक अर्थ में आया है। ऋत्विग् अर्थ में भी पुल्लिङ्ग ब्रह्मन् इस के प्रयोग बहुत हैं। जैसे १—मनसा संस्करोति ब्रह्मा। छा० ४ । १६ । २ ॥ २—ब्रह्मा न्यव वदति। ४ । १६ । ४ ॥ ३—यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति। ४ । १७ । १८ ॥ ४—ब्रह्मर्त्विजा। बृ० ३ । १ । ६ ॥ ५—ब्रह्मा यज्ञं गोपायति। बृ० ३ । १ । ९ ॥ ६—ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति। तै० १ । ८ । १ ॥ इत्यादि स्थलों में ब्रह्मन् शब्द का अर्थ चतुर्वेदवक्ता ऋत्विक् है। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विक् सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। जो चारों वेदों के तत्त्व जानते थे वे ही ब्रह्मा नामक ऋत्विक् होते थे।

ब्रह्मा नामक ऋषि—"तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच। प्रजापतिर्मनवे। मनुः प्रजाभ्यः"। छा० ३ । ११ । ४ ॥ तथा ८ । १५ । १ ॥ अर्थ—(तद्+ह+एतद्) इस प्रसिद्ध विज्ञान को (ब्रह्मा) ब्रह्मा ऋषि ने (प्रजापतये) प्रजापति नाम के राजा से (उवाच) उपदेश किया (प्रजापतिः+मनवे) प्रजापति ने मनु से (मनुः+प्रजाभ्यः) मनु ने प्रजाओं से "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्"। श्वेता० ६ । १८ ॥ जो वेदविद् ब्रह्मा को पूर्व समय में उत्पन्न करता है। "ब्रह्मादेवानां प्रथमः सम्बभूव। विश्वस्यकर्ता भुवनस्यगोप्ता"। मुण्ड० १ । १ ॥ इन सब पूर्वोक्त अर्थों में यह शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है॥

गौण अर्थ में ब्रह्मन् शब्द—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखः। एषोऽश्वत्थ सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते"। कठ० ६ । १ ॥ यह जगत् का वर्णन है। यहां

"ब्रह्मन्" शब्द का अर्थ बड़ा है। विशेषणवत् प्रयुक्त हुआ। अब हम को उचित है कि इस शब्द के मूल अर्थ का अन्वेषण करें किस धातु से निकला है। "बृह बृहि वृद्धौ" वृद्धि अर्थ में बृहि धातु है। बृंहेर्नोऽच्च। उणा० सू० ४। १४६। मनिन् नकारस्याकारः। रत्वञ्च। इस सूत्र के अनुसार बृहिधातु से मनिन् प्रत्यय होने पर यह ब्रह्मन् शब्द सिद्ध होता है। वृद्धि नाम है बढ़ने का। जिसको बृहत् और अतिशय वृद्ध होना कह सकते हैं। १–अब यदि इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टि से विचारा जाय तो सर्व अर्थ अच्छे-प्रकार भासित हो जायेंगे। पूर्वोक्त धातु प्रत्यय से ब्रह्म शब्द का अर्थ बृहत् सिद्ध हुआ है। सब से बड़ा कौन है? निःसन्देह वही ईश्वर सब से बड़ा है। अतः यह ब्रह्मन् शब्द *अपने अर्थ को ईश्वर में ही अच्छे प्रकार प्रकाश कर सकता है अतः ब्रह्मन् ब्रह्मवाचक हुआ।* जो लोक वेद सर्वत्र प्रसिद्ध है। २–विद्या की पुस्तकों में से वेद से बढ़कर विश्व में न कोई पुस्तक है न हुआ और न होगा। क्योंकि यह ईश्वरीय ज्ञान का पुस्तक है। इस हेतु यह वेद विश्व में बड़े ज्ञान का पुस्तक है। इस हेतु इस का भी नाम ब्रह्म हुआ। ३–ईश्वर और वेदों को जो जानता है वह मनुष्य भी सब में बड़ा है। उस हेतु वह वेदवित् मनुष्य भी ब्रह्म कहलाता है। ४–यज्ञों में चार ऋत्विक् होते हैं, वे चारों ही वेदवित् होते हैं। परन्तु ऋग्वेदवित् होता, यजुर्वेदवित् अध्वर्यु, सामवेदवित् उद्गाता और चारों वेदों को जानने वाले ब्रह्मा होते हैं। क्योंकि ब्रह्मा का काम अन्य ऋत्विकों के कार्यों का निरीक्षण है। सब ऋत्विजों के कार्यों का निरीक्षण वही कर सकता है। जो चारों वेदों को जानता हो। इस हेतु ऋत्विकों में इस की श्रेष्ठता महत्त्व होने के कारण वह ऋत्विक् ब्रह्मा कहलाता है। इसी ऋत्विक् का नाम अलङ्कार रीति से चतुर्मुख भी था (चारों वेद हैं मुख में जिस के) ५–एक ब्रह्मा नाम का ऋषि भी ब्रह्मतत्त्ववित् हुआ। वह भी विद्या में बड़ा होने से ही ब्रह्मा कहलाया। ये पांच अर्थ इस के मुख्य हैं यथार्थ में मुख्य अर्थ तो एक ही है। ये सब भी गौणार्थ ही हैं। परन्तु इन अर्थों में रूढ़वत् होगया है।

गौणार्थ में ब्रह्मन् शब्द–इनके अतिरिक्त उपनिषदों में विशेषरूप से गौण प्रयोग बहुत आये हुए हैं यथा–"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" ३। १८। १॥ "आकाशो ब्रह्म" ३। १८। १॥ "आदित्या ब्रह्मेत्यादेशः" ३। १९। १॥ "आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते" ३। १९। ४॥ "यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" ७। १। ५॥ "यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते" ७। २। २॥ "यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते" ७। ३। २॥ "यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते" ७। ४। ३॥ इत्यादि छान्दोग्योपनिषद् के वचन हैं। "येऽन्नं ब्रह्मोपासते। ये प्राणं

ब्रह्मोपासते । अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणो ब्रह्मेति व्य० । मनोब्रह्मेति व्य० । विज्ञानं ब्रह्मेति व्य० । आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादितैत्तिरीयोपनिषद् ॥ इस प्रकार के प्रयोगों में जिज्ञासु पुरुषों को अति संशय हो सकता है इस हेतु कृपालु बादरायण व्यासजी ने इन की संगत्यर्थ अनेक सूत्र रचे हैं । यथा—"स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्" । वे० सू० २ । ३ । ५ ॥ प्रसंगवश महर्षि व्यासजी कहते हैं (एकस्य) एक ही शब्द के गौण और मुख्य भेद से अनेक प्रकार के प्रयोग होते हैं इस में दृष्टान्त देते हैं (ब्रह्मशब्दवत्) जैसे एक ही ब्रह्म शब्द के मुख्य और गौण भेद से बहुधा प्रयोग देखते हैं । मन, आदित्य, आकाश, अन्न, तप, प्राण, वाणी, संकल्प, विज्ञान आदिकों में तो इस का गौण प्रयोग जानना और जगत्कर्त्ता परमात्मा अर्थ में इस प्रयोग को मुख्य जानना । तब (मनो ब्रह्मेत्युपासीत) इत्यादि स्थलों में ब्रह्म शब्द का अर्थ केवल बृहत् लिया जाता है । अर्थात् मन भी इन्द्रियों में बृहत् है यह भी ध्यान देने योग्य है । मानसिक विद्या को भी बड़े गौरव के साथ अध्ययन करना चाहिये । इसी प्रकार अन्न विना प्राणी ठहर नहीं सकता है । इस हेतु जगत् में विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करे । इसी अन्न के लिये समय समय पर बड़े२ ऋषियों को महाकष्ट उपस्थित हुआ । इस हेतु अन्न को छोटा न समझे । इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी सङ्गति करलेनी ।

कतिपय क्लिष्ट पदों की संगति ।

"ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" । बृ० ४ । ४ । ६ ॥ (ब्रह्म+एव+सन्) ब्रह्मविद् होकर ही (ब्रह्म) ब्रह्म परमात्मा को (अप्येति) पाता है । यहां प्रथम ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्रह्मविद् और द्वितीय का परमात्मा है । "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति" । माण्डू० ३ । २ । ९ ॥ (सः+यः+ह+वै) सो जो कोई निश्चितरूप से (तत्) उस (परमम्) परम (ब्रह्म) जगदीश्वर को (वेद) जानता है (ब्रह्मैव+भवति) वह अवश्य ब्रह्मविद् ही होता है । जो ब्रह्म जानता है वह ब्रह्मविद् है यह बात बहुत ठीक है । क्योंकि ब्रह्म का अर्थ ब्रह्मवित् भी है (ब्रह्मवेत्तीति ब्रह्मवित्) (अस्य कुले) इस ब्रह्मवित् पुरुष के कुल में कोई (अब्रह्मवित्+न+भवति) अब्रह्मवित् नहीं होता है । बृहदारण्यक के—"ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" इस वाक्य के समान ही अन्य वाक्य हैं "देवोभूत्वा देवानप्येति" । बृ० ४ । १ । २ ॥ यह २-७

(१) इस का अर्थ यह भी होता है कि (ब्रह्मैव) ब्रह्म को ही (भवति) प्राप्त होता है (भू प्राप्तौ) भू धातु का अर्थ प्राप्ति भी है ।

तक ६ वार आये हैं । इस का भी भाव यही है कि उत्तम होकर उत्तम को पाता है । "अभयं हि वै ब्रह्मभवति य एवं वेद" । बृ० ४ । ४ । २५ ॥ (य एवं वेद) जो ऐसा जानता है वह(अभयम्+ब्रह्म+भवति) निर्भय ब्रह्मविद् होता है । यद्वा अभय ब्रह्म को पाता है (भू प्राप्तौ=भू=पाना) "अयमात्मा ब्रह्म" यह आत्मा जीवात्मा (ब्रह्म) ब्रह्मविद् है "अहं+ब्रह्मास्मि" । बृ० १ । ४ । १० ॥ यह वाक्य एक ही स्थल में दो वार आगया है । एक तो परमात्मा के विषय में है । सो तो विस्पष्ट ही है । दूसरा उपासक के विषय में आया है । उसका अर्थ यह है (अहम्) मैं (ब्रह्मे) ब्रह्म में (अस्मि) हूं अथवा मैं ब्रह्मविद् हूं । अथवा मैं सब कुछ करने में समर्थ हूं क्योंकि उपनिषद् की एक महती शिक्षा यह है कि अपने को किसी कार्य्य के अयोग्य न समझे । छान्दोग्य में कहा गया है यथा—"सर्व-मस्मीति+उपासीत+तद्+व्रतम्+तद्+व्रतम् " । छा० २ । १० । ४ ॥ मैं सब कुछ कर सकता हूं ऐसी ही भावना करे । वही व्रत है वही व्रत है । इस हेतु महान् महतो महान्, अतिशय महान् ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उपासक यदि प्रथम ही अपने को तुच्छ समझेगा तो वह कुछ नहीं कर सकता । इस हेतु अपने को महान् समझे । उदारचित्त होवे । "महा-मनाः स्यात्+तद्+व्रतम्" । छा० २ । ११ । २ ॥ महामनस्वी होवे वह व्रत है । इति दिग् ॥

अथैकोनविंशः खण्डः ॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत् । तदाण्डं निरवर्त्तत । तत्सं-वत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत । ते आण्डकपाले रज-तञ्च सुवर्णञ्चाभवताम् ॥ १ ॥

आदित्यः । ब्रह्म । इति । आदेशः । तस्य । उपव्याख्यानम् । असत् । एव । इदम् । अग्रे । आसीत् । तद् । सद् । आसीत् । तद् । समभवत् । तद् । आण्डम् । निरवर्त्तत । तद् । संवत्सरस्य । मात्राम् । अशयत । तद् । निरभि-द्यत । ते । आण्डकपाले । रजतम् । च । सुवर्णम् । च । अभवताम् ॥ १ ॥

(१) सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेया डाड्या याजालः । अ० ७ । १ । ३९ ॥ इस सूत्र से सप्तमी का लुक् होजाता है ।

भाष्यम्—आदित्य इति । स्थपतिविनिर्मितपदार्थप्रशंसनेन स्थपतेरेव सा प्रशंसा भवतीति न्यायेन सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य आकृत्या गुणैश्च ज्यायसोमहीयसश्चादित्यस्य गुणनिर्देशेन तस्यैव सृष्टिकृतो ब्रह्मणः कौशलं महत्त्वञ्च स्तूयते । सर्वेषां स एव स्रष्टास्ति । अत आदित्यः मन्तूयते । आदित्योभास्करः । ब्रह्म । बृहन्नस्ति । इत्यादेश उपदेशो भवति । पुरातनानामृषीणामीदृशं कथनमुपदेशो वा वर्त्तते । सर्वेभ्यः सृष्टेभ्यो बृहत्तरत्वादादित्योऽपि ब्रह्म निगद्यते । तस्यादित्यस्योपव्याख्यानं भवति । अग्रे । आदित्यसृष्टेः पुरा । इदं सम्पूर्णं जगत् । असदेव अव्यक्तमेव । तमसावृतमेवासीत् । सूर्य्यं विना व्यवहाराभावादसदिदमासीदित्युक्तिः । न याथार्थ्येन । सत एव सज्जायते इति । सर्वतन्त्र सिद्धान्तसिद्धत्वादित्यर्थः । तत् । ततः । सद् आसीत् । आदित्योत्पत्यनन्तरं जगदिदम् । सत् । आलोकसम्पन्नं व्यवहारदशाप्रवर्त्तकमभूत । यद्वा । तदेव विस्पष्टी करोति तत्सदासीदित्यनेन । असदेवेदमग्र आसीदित्यस्यैवानुवादस्तत्सदासीदिति । यद्यपि पुरा तदिदं जगत् सद् । अल्पतरनामरूपव्याकरणेन अङ्कुरीभूतं बीजमिवासीदेवेदं सम्पूर्णं जगत् । परन्तु सूर्यलोकं विना अव्यक्तमव्यवहार्यमलक्षणमासीत् । अत उक्तम् । असदेवेदमग्र आसीदिति । तदिदं जगत् समभवत् । ब्रह्मावेक्षणेन सम्यक् सर्वत उपजातप्रवृत्ति सत्कार्य्याभिमुखमभवत् । तत्ततः । आण्डम् । अण्डम् निरवर्त्तत अभवत् । तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । इतिमनुः । तदण्डं सहस्रांशुसमप्रभं ज्योतिर्मयगोलाकारमभवदित्यर्थः । आण्डमिति दैर्घ्यं छान्दसम् । तत् तदण्डं संवत्सरस्य वर्षस्य प्रसिद्धस्य कालस्य । मात्रां परिमाणं बहुकालमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अशयत । एकस्यामेवावस्थायांशयितमिवस्थितम् । तत्तत् संवत्सरपरिमाणात् कालादूर्ध्वम् । तदण्डं निरभिद्यत खण्डशोऽभवत् । तस्मादेकस्मादण्डात् खण्डानां बहून्यपरिमितानि सहस्राणि अभवन् । तेभ्यः खण्डेभ्यः । ते । आण्डकपाले द्वे अण्डकपाले । रजतञ्च । रजतवच्छुभ्रम् देदीप्यमानमेकं कपालम् । सुवर्णञ्च । सुवर्णवज्जाज्वल्यमानम् । द्वितीयं खण्डम् । अभवताम् ॥ १ ॥

अनुवाद।—आदित्य ब्रह्म (बड़ा) है यह उपदेश है उसका उपव्याख्यान (किया जाता है) आगे यह असत् ही था । तब सत् हुआ तब अण्ड हुआ । वह अण्ड बहुत दिनों तक उसी अवस्था में स्थित रहा । तब वह खण्ड २ होगया । उन में से दो अण्डकपाल एक रजत और दूसरा सुवर्ण हुए ॥ १ ॥

(१) ब्रह्मन् शब्द के ऊपर १८ वें खण्ड के अन्त में समीक्षा देखो ।

पदार्थः-(आदित्यः) सूर्य (ब्रह्म) बड़ा है (इति) यह (आदेशः) उपदेश है। प्राचीन लोगों का यह कथन वा उपदेश है (तस्य) उसका (उपव्याख्यानम्) तात्त्विक व्याख्यान किया जाता है (अग्रे) सूर्य की उत्पत्ति के पूर्व (इदम्) यह दृश्यमान जगत् (असत्+एव) अव्यक्त अव्याकृतनामरूप और तमसावृत ही था (तत्) तब (सद्+आसीत्) यह जगत् व्यक्त हुआ (तत्) तब (समभवत्) सब प्रकार से यह जगत् होना आरम्भ हुआ (तत्) तब (आण्डम्) एक आण्ड गोलाकार सदृश ज्योतिः-समूह (निरवर्त्तत) उत्पन्न हुआ (तत) वह अण्ड (संवत्सरस्य) वर्षों की (मात्राम्) मात्रा परिमाण अर्थात् बहुत दिनों तक (अशयत) उसी अवस्था में शयन करता रहा। अर्थात् उसी अवस्था में वह अण्ड बहुत दिनों तक रहा तब (तत्) वह अण्ड (निरभिद्यत) टुकड़ा २ होगया। उन में से (ते+अण्डकपाले) वे दो अण्ड कपाल (रजतञ्च) चांदी रजतवत् शुभ्र देदीप्यमान एक अण्ड और (सुवर्णञ्च) सुवर्ण सुवर्णवत् जाज्वल्यमान दूसरा (अभवताम्) हुए ॥ १ ॥

---

(१) "असद्+एव+इदम्+अग्र+आसीत्" इसी का अनुवाद "तत्+सद्+आसीत्" यह है। अर्थात् यह जगत् तो (सत्) सदा वर्त्तमान ही था परन्तु सूर्य्य की उत्पत्ति न होने से अन्धकारावृत्त होने से अव्यवहार्य्य अलक्षण था। इस हेतु असत् कहा गया है "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"। छा० ६। २। १॥ हे प्रियपुत्र पूर्व भी यह जगत् अव्यक्तावस्था में वर्त्तमान था। इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय में कहा गया है। यथा-"असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत"। २। ७। १॥ प्रथम यह विश्व अव्यक्त पश्चात् व्यक्त हुआ।

(२) (तदण्ड०) मनुस्मृति १। ६॥ यह अण्ड सहस्र सूर्य्यों की ज्योतिःसमान उत्पन्न हुआ अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व ही यहां अभिप्रेत है इस हेतु ब्रह्माण्ड इसका नाम है पक्षीके अण्ड के समान यह जगत् गोलाकार है (आण्ड) अण्ड और आण्ड दोनों प्रकार के शब्द आते हैं "आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्"। छा० ६। ३। १॥ अण्डज जीवज और उद्भिज्ज ये तीन प्रकार के जीव होते हैं। इस सम्पूर्ण उपनिषद् में प्रायः तीन चार "आण्ड" शब्द आया है दोबार यहां और षष्ठ में एक बार। ऐतरेयी में "मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्" १। ४॥ पक्षी के अण्डसमान मुख प्रस्फुटित हुआ। पुनः। "अण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च"। ५। ३। अण्डज, जारुज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकार के जीव होते हैं।

तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी । यत्सुवर्णꣳ सा द्यौः । यज्जरायु ते पर्व्वता । यदुल्बꣳ समेघो नीहारः । या धमनयस्ता नद्यः । यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः ॥ २ ॥

तद् । यद् । रजतम् । सा । इयम् । पृथिवी । यत् । सुवर्णम् । सा । द्यौः । यद् । जरायु । ते । पर्व्वताः । यद् । उल्वम् । समेघः । नीहारः । याः । धमनयः । ताः । नद्यः । यद् । वास्तेयम् । उदकम् । सः । समुद्रः ॥ २ ॥

भाष्यम्–तदिति । अलङ्कारेण वर्ण्यते । तयोर्द्वयोः कपालयोर्मध्ये । तद्यद्रजतम् । रजतधातुवद्दीप्यमानम् । कपालमासीत् । सा इयं पृथिवी । पृथिव्युपलक्षितमधोऽण्डकपालमित्यर्थः । यत् सुवर्णम् । सुवर्णवज्जाज्वल्यमानं सहस्रसूर्यसमप्रभम् । सा द्यौः । द्युलोकोपलक्षितमूर्द्ध कपालमभूदित्यर्थः । यज्जरायु । जरायुसमम् । अण्डस्य स्थूलवेष्टनमासीत् । ते । पर्व्वताः । पर्व्ववन्तो बभूवुः । यदुल्वम् । यत्सूक्ष्मं गर्भपरिवेष्टनम् । सः । समेघो नीहारः । मेघैः सह समेघः । नीहारः । अवश्यायो बभूव । यत् । वास्तेयम् । वस्तौ वस्तिरूपे । गर्भाशयस्थे जाले भवमितिवास्तेयम् । उदकम् । आसीत् । समुद्रोऽभवत * ॥ २ ॥

अनुवादः–उन दोनों कपालों में से जो रजत कपाल था वह यह पृथिवी है । जो सुवर्णकपाल था वह द्युलोक हुआ जो जरायु था वे पर्व्वत, जो सूक्ष्म गर्भवेष्टन था वह वह मेघ सहित नीहार, जो धमनिएं थीं वे नदिएं, जो वस्ति सम्बन्धी जल था वह समुद्र ॥ २ ॥

पदार्थः–(तत्) उन दोनों कपालों में से (यद्+रजतम्) रजत धातुवत् शुभ्र और देदीप्यमान सहस्र सूर्यसम कपाल था (सा+इयम्+पृथिवी) वह यह पृथिवी है अर्थात् पृथिवी से उपलक्षित अधोभागस्थ अण्डकपाल है और (यत्+सुवर्णम्) जो सुवर्ण कपाल था (सा+द्यौः) द्युलोकोपलक्षित ऊर्ध्वभागस्थ कपाल है (यद्+जरायु) जो जरायुसम अण्ड का स्थूल वेष्टन था (ते+पर्व्वताः) वे पर्व्व वाले पदार्थ हुए (यद् उल्वम्) जो सूक्ष्म गर्भवेष्टन था (नीहारः+समेघः) वह जल को अतिशय हरण करने वाला मेघ हुआ (यः+धमनयः) जो धमनिएं थीं (ताः+नद्यः) वे नदिएं हुईं (यद्+वास्तेयम्+उदकम्) जो वस्ति=गर्भाशयस्थ जाल सम्बन्धी जल था (सः+समुद्रः) वह समुद्र हुआ ॥ २ ॥

* ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्चनिर्ममे । मध्ये व्योमदिशश्चाष्टा वपांस्थानञ्चशाश्वतम् । मनौ १ । १३ । इत्यप्यनुसन्धेयम् ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे (चैव) च कामाः ॥ ३ ॥

अथ । यद् । तत् । अजायत । सः । असौ । आदित्यः । तम् । जायमानम् । घोषाः । उलूलवः । अनूदतिष्ठन् । सर्वाणि । च । भूतानि । सर्वे । च । कामाः । तस्मात् । तस्य । उदयम् । प्रति । प्रत्यायनम् । प्रति । घोषाः । उलूलवः । अनूत्तिष्ठन्ति । सर्वाणि । च । भूतानि । सर्वे । च । कामाः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथेति । बहुकालानन्तरम् । तस्यकपालद्वयस्यान्तराले । यत्तत् । प्रसिद्धं महदद्भुतं गर्भरूपम् । गोलाकारम् । अजायत । उत्पन्नमभूत् । सोऽसावादित्यः । तमादित्यम् । जायमानम् । अवलोक्य । उलूलवः । उरुरवः । विस्तीर्णरवाः । घोषाः । शब्दाः । अनूदतिष्ठन् । उदतिष्ठन्नुत्थितवन्तः । सूर्योत्पत्त्यनन्तरमेव जीवानां संभवः । उत्पन्नेषु जीवेषु । तेषां शब्दोद्भवः । अमुमेवार्थमग्रे सूचयति । तस्मादेवादित्यात् । आदित्यस्य निमित्तादेव सर्वाणि च भूतानि । तेषां सर्वे च कामाः संजाताः । यस्मादेवं तस्माद्धेतोः । इदानीमपि । तस्यसूर्यस्योदयं प्रति प्रत्यायनञ्चप्रति । प्रत्यागमनञ्चप्रति । सर्वदा उलूलवः । उरुरवः । विस्तीर्णरवा घोषाः शब्दाः । अनूत्तिष्ठन्ति । एवं सर्वाणि च भूतानि । सर्वे च कामाः । तन्निमित्तादुत्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः—अनन्तर उन दोनों के मध्य में जो वह (परम प्रसिद्ध तेजोराशि उत्पन्न हुआ सो यह आदित्य है उस आदित्य को जायमान देख जगत् में विस्तीर्णनादमय घोष उत्पन्न हुआ । क्योंकि उसी (आदित्य) से सर्व प्राणी और सब कामनाएं उत्पन्न होते हैं इसी हेतु प्रतिदिन उस के उदय के प्रति और प्रत्यागमन के प्रति विस्तीर्णनादमय घोष होते हैं और सब प्राणी और सब कामनाएं उत्पन्न होते रहते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) इस प्रकार जब दोनों अण्डकपालों से यह जगत् कार्योन्मुख होने लगा तब इन दोनों के मध्य में (यत्+तत्) जो वह एकतेजोराशि (अजायत) उत्पन्न हुआ (सः+असौ+आदित्यः) वह यह आदित्य है (तम्+जायमानम्) उस सूर्य को उत्पन्न हुए देख (उलूलवः) बहुविस्तीर्णनादमय (घोषाः) शब्द (अनूदतिष्ठन्) होने

लगे (तस्मात्) उसी आदित्य के निमित्त से (सर्वाणि+च+भूतानि) सब प्राणी और (सर्वे+च+कामाः) सब कामनाएं होते हैं । जिस हेतु ऐसा होता है अतः (तस्य+उद्-यम्) उस सूर्य के (उदयम्+प्रति) उदय के प्रति अर्थात् सूर्य के उदय के समय और (प्रत्यायनम्+प्रति) सूर्य के प्रत्यागमन के प्रति अर्थात् सूर्यास्त के समय (उलूलवः) बहु विस्तीर्ण नादमय (घोषाः) शब्द (अनूत्तिष्ठन्ति) हुआ करते हैं और (सर्वाणि+च+भूतानि) सब प्राणी और (सर्वे+च+कामाः) सब काम (मनोरथ) उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्यासो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । आदित्यम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अभ्यासः । ह । यत् । एनम् । साधवः । घोषाः । आ । च । गच्छेयुः । उप । च । निम्रेडेरन् । निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

भाष्यम्–स य इति । स यो विद्वान् पुरुषः । एतमादित्यम् । एवम् । पूर्वोक्तगुण-विशिष्टम् । विद्वान् जानन् सन् । आदित्यं ब्रह्मेति सर्वेषु सृष्टपदार्थेषु बृहन्नस्तीति । उपास्ते । पश्यति । तस्येदं फलम् । यदितिक्रियाविशेषणम् । एनमेवंविदं पुरुषम् । अभ्यासो ह । साधवो घोषाः । स्तुतिपरकाः शब्दाः । आचगच्छेयुः । आगच्छेयुश्च । उपच निम्रेडेरन् । उपनिम्रेडेरन् । न केवलमागनमात्रं घोषाणाम् । उपसुखयेयुश्च । उपसुखञ्च कुर्य्युरित्यर्थः । यत् । एनं साधवो घोषाः । आगच्छेयुरुपनिम्रेडेरन्निति । तदस्य विज्ञानप्रतापः । द्विरभ्या-सोऽध्यायसमाप्त्यर्थ आदरार्थश्च ॥ ४ ॥

इत्येकोनविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

इति श्रीकाव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये
तृतीयप्रपाठकस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–जो कोई विद्वान् इस आदित्य को इस प्रकार जानता हुआ (सब सृष्ट पदार्थों में) यह बहुत बड़ा है ऐसा जान विचार करता है, उस विद्वान् को शीघ्र ही प्रशंसापरक शब्द प्राप्त होते हैं । और वे उन्हें सुख देने वाले होते हैं यह इनके पुण्य प्रताप हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः-(सः) सो (यः) जो कोई (एतम्) इस (आदित्यम्) आदित्य को (एवम्) पूर्वोक्त गुण विशिष्ट (विद्वान्) जानता हुआ (ब्रह्मेति) सृष्ट पदार्थों में अतिशय बड़ा है यह जान (उपास्ते) विचार करता है उसको जो फल प्राप्त होता है सो कहते हैं (एनम्) इस विचार करने वाले को (अभ्यासो ह) अतिशीघ्र (साधवः+घोषा) प्रशंसापरक शब्द (आ+च+गच्छेयुः) प्राप्त होते और (उप+च+निम्रेडेरन्) केवल साधु शब्द ही नहीं प्राप्त होते हैं किन्तु वे उन्हें सुख भी पहुंचाते हैं (यत्) अर्थात् जो ये साधु शब्द प्राप्त होते हैं और सुख देते हैं वह सब उन के विज्ञान का प्रताप है ॥ ४ ॥ इत्येकोनविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

इति श्रीकाव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये तृतीय प्रपाठकस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः प्रारभ्यते ॥

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस । स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

जानश्रुतिः । ह । पौत्रायणः । श्रद्धादेयः । बहुदायी । बहुपाक्यः । आस । सः । ह । सर्वतः । आवसथान् । मापयाञ्चक्रे । सर्वतः । एव । मे । अत्स्यन्ति । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्-जानश्रुतिरिति । जनैः श्रुतोजनश्रुतोजनेषु विख्यातः । तस्यापत्यं पुमान् जानश्रुतिः "अत इञ्" इतीञ् प्रत्ययः । पौत्रायणः । पौत्रस्यापत्यंपुमान्पौत्रायणः । "यञिञोश्च" इतिफक् । दीयतेयत् तद्देयं । दातव्यंवस्तु । श्रद्धापुरःसरं देयं यस्य स श्रद्धादेयः । श्रद्धासमन्वितोदाता शौण्ड इत्यर्थः । श्रद्धयादेयमितिश्रुतिप्रमाणक इति भावः । बहु प्रचुरं प्रभूतं दातुं शीलमस्येति बहुदायी । सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये । इतिणिनिः । बहु प्रचुरं पाक्यं पक्तव्यं वस्तु गृहे यस्य स बहुपाक्यः । यस्य गृहे दिने दिने दानार्थं बहुविधाः पाका भवन्ति स बहुपाक्यः । ह शब्द ऐतिह्यार्थः । प्रसिद्धयर्थश्च । तदित्थम् । बहुपाक्योबहुदायी श्रद्धादेयः पौत्रायणोजानश्रुतिर्नाम राजा । आस । आसीदिति । कस्मिंश्चिदितिहासे प्रसिद्धः कदाचित्तव कर्णगोचरोप्यस्तीति शिष्यं प्रति कश्चिदपिराह । ह प्रसिद्ध इतिहासादिषु । स जानश्रुती राजा । सर्वतः । सर्वेषु स्वकीयेषु जनपदेषु । सार्वविभक्तिकस्तसिल् प्रत्य-

यः । आवसथान् । आसमन्तान्नानादिग् देशादागत्यजना निवसन्ति येषु ते आवसथाः । आश्रयगृहाः । धर्म्मशाला प्रभृतयः । तान् । मापयाञ्चक्रे । निर्मापितवान् । कारितवान् । किमर्थम् । सर्वतः । सर्वाभ्योदिग्भ्यो देशेभ्यश्चागत्य सर्वे अन्नाभिलाषिणो बुभुक्षवो जनाः । मे । मम । एव । नेनरस्य नृपस्येत्यर्थः । अन्नम् । तेष्वावसथेषु । अहर्निरात्रौ वा निवसन्तः । अत्स्यन्ति । भक्षयिष्यन्ति । विविध दिग्देशादेत्य जना ममावसथेषु निवसन्तो ममैवान्नमदन्तु इत्यभिरुचिः स राजा सर्वत्र निजविषयेषु बहून् आश्रयगृहान् निर्मापयामासेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—बहुपाक्य (जिस के गृहपर विविध प्रकार के पाक होवें उसे बहुपाक्य कहते हैं) बहुदायी (बहुत देने वाला) श्रद्धादायी (श्रद्धापूर्वक दान देने वाला) पौत्रायण जानश्रुति नामका एक राजा था । यह कथा इतिहास आदि में प्रसिद्ध है । उस प्रसिद्ध राजा ने अपने सम्पूर्ण जनपदों में आवसथ (आवास=धर्म्मशालाएं) बनवाये कि सब दिशाओं और देशों से आकर इन आवसथ (धर्म्मशालाएं) में निवास कर बुभुक्षु जन मेरे ही अन्न को खावेंगे (इस अभिप्राय से) ॥ १ ॥

पदार्थः -(बहुपाक्यः) विविधपाकयुक्त (बहुदायी) बहुत देने वाला (श्रद्धादेयः) श्रद्धापूर्वक दानकर्त्ता ऐसा (पौत्रायणः) पौत्रायण=पौत्र के पुत्र का नाम पौत्रायण होता है । पिता, पितामह, प्रपितामह ये तीनों यदि जीवित हों तो प्रपौत्र को पौत्रायण कहते हैं (जानश्रुतिः) जानश्रुति नाम का (ह) अतिप्रसिद्ध राजा (आस) हुआ (सः+ह) उस प्रसिद्ध राजा ने (सर्वतः) सर्वत्र अपने राज्य में (आवसथान्) धर्म्मशालाएं (मापयाञ्चक्रे) बनवाईं । क्यों ? (सर्वतः) सब ही अन्नार्थी मनुष्य (मे) मेरे (एव) ही (अत्स्यन्ति+इति) अन्न को खावेंगे अर्थात् मेरे राज्य में मेरे ही अन्न को सब अन्नार्थी भोजन करें इस अभिप्राय से उस जानश्रुति राजा ने अपने राज्य भर में धर्म्मशालाएं बनवाईं ॥ १ ॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद हो हो (ऽयि) हि भल्लाक्ष भल्लाक्ष ! जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥ २ ॥

अथ । ह । हंसाः । निशायाम् । अतिपेतुः । तत् । ह । एवम् । हंसः । हंसम् । अभ्युवाद । हो । हो । हि । भल्लाक्ष ॥ भल्लाक्ष । जानश्रुतेः । पौत्रायणस्य । समम् ।

दिवा । ज्योतिः । आततम् । तत् । मा । प्रसाङ्क्षीः । तत् । त्वा । मा । प्रधाक्षीः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–अथेति । सदाधीनाभ्यः प्रजाभ्यो धनमाहृत्य निजप्रतिष्ठार्थं बहु ददन्नपि न कल्याणतरं पन्थानमारोढुमर्हति राजा । जानश्रुतिः खलु केवलेन प्रजादुग्धेन दानेनैव निःश्रेयससाधनं मन्यमानोऽन्यस्मात् कल्याणतरात्कर्मणो विरराम । शुद्धचेतसो निश्चलस्य यथाज्ञानकर्म्मनिष्ठस्य जनस्यात्मा समये समये प्रसन्नो भूत्वा यथार्थकर्त्तव्यतां स्वस्मिन्नुद्भावयति । अयमेवादेशः क्वचिदाकाशवाणीत्युच्यते । विचारं विचारं तमादेशमनुसरञ्जनः सत्यं पन्थानमधिगच्छति । एवमेव मनसि किं कर्त्तव्यम् । कथं ममापवर्गलाभः । अनेन कर्मणा सेत्स्यति मोक्षो न वा । इतःपरमपि कर्त्तव्यमस्ति न वेति बहु विचारयन्नेव कदाचिज्जानश्रुती राजा निदाघरात्रौ शोकार्त्तः प्रासादतल एव निद्रितेऽभूत् । इमं स्वप्नञ्चाद्राक्षीत् । तत्स्वप्नसम्बन्धिन्याख्यायिकाऽलङ्कारेण वर्णयितुमारभ्यते । अथह कदाचित् स्वप्ने । हंसाः पक्षिविशेषाः । अत्र हंस आत्मोच्यते । हंसः । घर्म्मः । यज्ञः । वेनः । इत्यादि भूयांस आत्मपर्य्यायाः सन्ति निरुक्तौ । तत्सम्बन्धि विचारोऽपि हंसः तेन हंसा आत्मविचाराः । निशायां रात्रौ । स्वप्नकाले । अतिपेतुः । तस्योपरि । आजग्मुः । रात्रौ हृदयाकाश आपततान् आत्मविचारहंसान् राजा ददर्शेत्यर्थः । तद्धैवम् । तस्मिन्काले निपततां तेषां हंसानां मध्ये । एकोहंसः पृष्ठतो निपतन् सन् । अग्रतो निपतन्तमुड्डीयमानमन्यं हंसमेवं ह ऐतिह्ये अभ्युवाद । अब्रवीत् । हो हो हि इति । भो भो इति सम्बोध्य । क्वचित् हो हो यि इति पाठः । अस्याप्ययमेवार्थः । भल्लाक्ष भल्लाक्ष इति द्विरुक्तिरादरार्था आदरं दर्शयन् यथा तथा अब्रवीत् । पश्य पश्य भोराश्चर्यमेतत् । इति भावः । पौत्रायणस्य जानश्रुते राज्ञः । ज्योतिः । अन्नदानादिजनितप्रभावजः प्रतापः । दिवा । अन्तरिक्षेण । समम् । साकम् । आततम् । व्याप्तं प्रकीर्णं वर्त्तते । तत् । आकाशव्याप्तं ज्योतिः । मा प्रसाङ्क्षीः । तेन सह प्रसंजनमाकार्षीः । सम्बन्धंमाकुरु इतियावत् । कथम् । तत्प्रसञ्जनेन तज्ज्योतिः । त्वा । उल्लङ्घ्य गमिष्यन्तं त्वां मा प्रधाक्षीः । मादहतु इत्यर्थः । पुरुषव्यत्ययेन प्रधाक्षीरिति विज्ञेयम् । भल्ले मन्दे भद्रेवा अक्षिणी यस्य । तत्सम्बोधने । महात्मापुरुषोनातिक्रमणीयः । सतु अग्रेसरोहंसो महात्मानमतिक्रमितुमिच्छति । अतोभल्लाक्ष इति सम्बोधनपदं तस्मिन् युज्यते ॥ २ ॥

अनुवादः–एक राति में हंस (आकाश मार्ग से) उड़ रहे थे । उस समय एक (पृष्ठगामी) हंस ने (अग्रगामी) हंस से कहा कि हो हो भल्लाक्ष भल्लाक्ष ! देखो

क्या ही आश्चर्य है । पौत्रायण जानश्रुति की ज्योति आकाशमें व्याप्त हो रही है । उस ज्योति से सम्बन्ध मत करो ऐसा न हो कि वह तुमको भस्म कर देवे ॥ २ ॥

पदार्थः-(अथ+ह) अब उस राजा के विषय में इतिहास का आरम्भ होता है । कदाचित् (हंसाः) आत्मविचाररूप हंस (निशायाम्) रात्रि में जब राजा शयन कर रहे थे उस स्वप्नावस्था में (अतिपेतुः) राजा के ऊपर आए अर्थात् मन में उत्थित हुए (तद्+ह) वहां (एवम्) ऐसा (हंसः) एक पृष्ठगामी हंसने (हंसम्) अग्रगामी अन्य हंस को (अभ्युवाद) कहा (हो, हो, हि) हे हे (भल्लाक्ष भल्लाक्ष) मन्द दृष्टि मन्द दृष्टि (पौत्रायणस्य) पौत्रायण (जानश्रुतेः) जानश्रुति का (ज्योतिः) दानादिजनित महाप्रताप (दिवा समम्) द्युलोक के साथ (आततम्) व्याप्त होरहा है । द्युलोक तक इस की ज्योति फैल रही है (तत्) उस ज्योति के (मा प्रसाङ्क्षीः) साथ सम्बन्ध मत करो क्योंकि (तत्) वह ज्योति (त्वा) तुम को (मा+प्रधाक्षीः+इति) दग्ध न कर देवे ॥ २ ॥

भाष्याशयः-सदाधीन प्रजाओं से धन आहरण कर निज प्रतिष्ठार्थ बहुत दान देने वाला भी राजा कल्याणतर मार्ग पर नहीं चढ़ सकता । जानश्रुति केवल प्रजाओं से दुहे हुए दान से ही निःश्रेयस साधन मानते हुए अन्य कल्याणतर कर्म्म से विरत होगये थे । परन्तु शुद्धचेता, निश्छल और अपनी बुद्धि के अनुसार कर्म्म करते हुए जन का आत्मा समय २ पर प्रसन्न होकर यथार्थ-कर्त्तव्यता को अपने में ही प्रकटित करता है । इस आदेश का नाम कहीं २ आकाशवाणी कहते हैं । उस आदेश को विचार जो कोई अनुसरण करता है वह सत्य पथ को पालेता है । सो इस प्रकार क्या कर्त्तव्य है, कैसे मुझ को अपवर्ग मिलेगा, इस कर्म्म से मोक्ष सिद्ध होगा वा नहीं इस से भी कोई उत्तम कर्म्म है वा नहीं इत्यादि मन में जानश्रुति बारम्बार विचारते हुए ग्रीष्म ऋतु में शोक संतप्त हो प्रासाद के ऊपर ही निद्रित होगये । और इस स्वप्न को निद्रा में देखा । आत्मा में अनेक विचार तरंग उठ रही हैं । कभी तो यह विचार होता है कि दान के प्रताप से मेरी कीर्ति बहुत दूर तक फैल गई है । और कभी केवल दान से कुछ नहीं होता ज्ञान लाभ करना चाहिये । मेरे देश में ही कैसे ज्ञानी रैक्व नाम के ऋषि हैं । उन से ज्ञानशिक्षा लेनी चाहिये । मेरी कीर्ति रैक्व की नाईं नहीं है, मुझे मिथ्या अहंकार है । इससे मोक्ष कदापि भी प्राप्त नहीं होगा । इत्यादि इस कथा का तात्पर्य्य है । हंस शब्द का अर्थ आत्मा होता है । यथा- हंस, घर्म्म, यज्ञ, वेन, मेघ, कृमि, भूमि आदि । निरुक्त अ० १४ । ११ ॥ मूल में जो एक दूसरे से कहना आदि वर्णन है । वह केवल परोचनार्थ और अलङ्कारार्थ है अथवा

स्वप्न में राजाने हंसों को देखा और उनके वचन भी मानो सुने इत्यादि वर्णन भी हो सकता है ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्वर एनमेतत्सन्तꣳसयुग्वानमिव रैक्व मात्थेति । यो नु कथꣳसयुग्वा रैक्व इति ॥ ३ ॥

तम् । उ । ह । परः । प्रत्युवाच । कम् । उ । अरे । एनम् । एतत् । सन्तम् । सयुग्वानम् । इव । रैक्वम् । आत्थ । इति । यः । नु । कथम् । सयुग्वा । रैक्वः । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तमुहेति । तमु । तमेव । ह । प्रसिद्धः । परः । अन्यः । प्रत्युवाच । किं प्रत्युवाचेत्याह अरे । अरे मन्ददृष्टे प्रियमित्र ! कमु एनम् । अहो । कमेनं राजानम् । त्वम् सन्तम् । साधुम् । विज्ञानिनम् । सयुग्वानम् । रैक्वमिव उद्दिश्य । एतद्वचनं पूर्वोक्तमदृशम् । आत्थ । प्रशंससि । अप्रशस्यं कथं त्वं प्रशंससीत्यर्थः । इति प्रसिद्धोहंस उपदिशन्तमग्रगामिनं सुहृदं पृच्छति । नु । ननु । योमुनिस्त्वयेत्थं प्रशस्यते । स सयुग्वा रैक्वः । कथम् । कीदृशोस्तीतिमां कथय । इति संक्षेपार्थः । विशेषार्थस्त्वयम् । तं हंसं । राजानं प्रशंसन्तम् । उह एव परः । अग्रगामी हंसः तेनोक्तः सन् प्रत्युवाच किमुवाचेत्याह । कम्वर इति । कम् उ अरे इतिपदच्छेदः । उशब्दः । अप्यर्थः वितर्केवा । अरे निकृष्टार्थः । तदित्थम् । अरे निकृष्टोऽयं राजा-वर्त्तते । कमपि वराकं निकृष्टमेनं जानश्रुतिं राजानमीदृशं प्रति । सन्तं साधुं सयुग्वानम् । युगं वहतीतियुग्योवलीवर्दोऽश्वोवा । सोस्यामस्तीतियुग्या शकटी तयासह वर्त्तत इति सयुग्वायुग्यावानित्यर्थः । वकारोमत्वर्थीयः तं सयुग्वानम् । शकटी सहितं रैक्वं नाम मुनिमिव । यद्वा । युग्वागन्त्री शकटी तयासह वर्त्तत इति सयुग्वान् । एतत्पूर्वोक्तं वचनम् । त्वमत्यादरेण । आत्थ ब्रूषे इति । कम्वर इत्येकं पदम्वा । कंकुत्सितं वृणोति प्रशंसति इति कम्वरः । सम्बोधनपदम् । हे कुत्सित राजप्रशंसक मित्र । अयंभावः । अयं राजा न ब्रह्मिष्ठः । न च ज्ञानी । अज्ञानिनः पुरुषस्य न ज्योतिः क्वचित् प्रसरति । अतोस्य प्रशंसा न कार्य्या । अस्मिन् जगति अद्यतने काले एको रैक्वनामा ब्रह्मिष्ठो ज्योतिष्मानृषिर्वर्त्तते । तस्येदृशी प्रशस्तिर्भवितुमर्हति । तस्यैव ज्योतिर्द्युलोकेन सममाततमस्ति । स ऋषिर्नातिक्रमणीयः । यदि मोहात्तमपि कोप्यतिक्रमेत । स दग्धो भविष्यति । नैतस्य वराकस्य नृपस्याऽतिक्रमणेन किमपि भवितुमर्हति । अतस्त्वं रैक्वस्य समानं प्रशंसनमेतस्यमाकार्षीरिति भावः । स तु रैक्वः सर्वदैव शकटी मध्यास्य पर्यटति इति सयुग्वांल्लोके निगद्यते । सुहृदोक्तं वचनं निशम्य पृष्ठगामी हंसः पृच्छति । यो । रैक्वः त्वयेत्थं प्रशस्यते । स सयुग्वा रैक्वः । कथन्नु इति । केन प्रकारेण सम्प्रति वर्त्तते इति वर्ण्यताम् ॥ ३ ॥

अनुवादः—अग्रगामी दूसरा हंस पृष्ठगामी उसी हंस से बोला कि प्रसिद्ध सयुग्वा रैक्वमुनि की प्रशंसा से समान किस कुत्सित वराक राजा की प्रशंसा तुम कर रहे हो। पृष्ठगामी हंस पूछता है हे मित्र! जिसकी तुम प्रशंसा करते हो वह सयुग्वा रैक कैसा है? ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तम्+उ+ह) उसी से (परः) दूसरा (प्रत्युवाच) बोला कि (अरे) अरे मन्ददृष्टि प्रियमित्र (कम्+उ) अहो किस इस राजा के बारे में (सन्तम्) साधु (सयुग्वानम्) शकट वाले (रयिकम्+इव) रयिक ऋषि के समान (एवम्+एतद्) इस प्रकार इस प्रशंसा वचन को (आत्थ) तुम कह रहे हो। अर्थात् किस राजा की प्रशंसा रैक ऋषि की जैसी होनी चाहिये वैसी कर रहे हो। इतना सुन वह कहता है (यः+नु) जिसकी प्रशंसा आप करते हैं वह (सयुग्वा+रयिकः) सयुग्वा रयिक (कथम्) कैसे हैं (इति) यह मुझे कहो ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—यह राजा न तो ब्रह्मिष्ठ न ज्ञानी है। अज्ञानी पुरुष की ज्योति कहीं भी नहीं फैलती। इस हेतु इसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। हां इस जगत् में आज कल एक रयिक नाम ब्रह्मिष्ठ ज्योतिष्मान् ऋषि है। उसकी ऐसी प्रशस्ति होसकती है उसकी ज्योति द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त है। वह अनतिक्रमणीय अवश्य है। यदि मोहवश कोई उसको भी अतिक्रमण करे तो वह अवश्य दग्ध होजायगा। परन्तु इस वराक नृप के अतिक्रमण करने से कुछ भी नहीं होसकता अतः रयिक समान इसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये।

सयुग्वा—वह रयिक सर्वदा शकटी (गाड़ी) पर चढ़कर चलते थे इस हेतु वह सयुग्वान् लोक में कहलाने लगे। युग्य नाम बैल वा घोड़े का है। बैल वा घोड़ा जिसमें जोता जाय उसे युग्या कहते हैं। अर्थात् शकट वा शकटी, उस युग्य (शकटी) के साथ जो सदा रहे उसे सयुग्वान् कहते हैं ॥ ३ ॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति। यस्तद्वेद यत्सवेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

(१) सयुग्वान्। युग्य नाम बलीवर्द वा अश्व का है बलीवर्द वा अश्व के द्वारा जो शकटी (गाड़ी) चलती है, उसे युग्या शकटी कहते हैं। ऐसी शकटी हो जिस पुरुष को उसको सयुग्वा वा सयुग्वान् कहते हैं जिस कारण रैक्वनामा ऋषि सर्वदा शकटी पर ही यात्रा किया करते थे। अतः लोक में सयुग्वा नाम इनका प्रसिद्ध होगया।

(२) रैक, रैक्व, रयिक, रयिक्व, रैक्क इत्यादि अनेक प्रकार के पाठ देखे जाते हैं।

यथा । कृताय । विजिताय । अधरेयाः । संयन्ति । एवम् । एनम् । सर्वम् । तत् । अभिसमेति । यत् । किञ्च । प्रजाः । साधु । कुर्वन्ति । यः । तत् । वेद । यत् । सः । वेद । सः । मया । एतदुक्तः । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यथाकृतायेति । स रैक्को येन प्रकारेण वर्त्तते तं प्रकारं त्वं शृणु इति भल्लाक्षो ब्रवीति । तत्प्रकारस्य दिदर्शयिषया दृष्टान्तं प्रस्तौति । यथा लोके कृताय । कृतो नाम यो द्यूत क्रीडायां प्रसिद्धश्चतुरङ्कः । तस्मै कृताय । विजिताय । तस्मिन् कृते विजितप्रतीत्यर्थः । इतरे । त्रिद्व्येकाङ्का अधरेयाः । त्रेताद्वापरकलिनामानः संयन्ति । अन्तर्भवन्ति । चतुरङ्के कृताये त्रिद्व्येकाङ्कानां विद्यमानत्वादन्तर्भवंतीत्यर्थः । एवम् । अनेन प्रकारेण । एतत् सदृशमेव । एनं रैक्कं तत्सर्वम् अभिसमेति । अभितः समेति प्राप्नोति । रैक्के सर्वमन्तर्भवतीत्यर्थः । किं तत् सर्वं रैक्कमभिव्याप्य समेतीति अग्रे दर्शयति । प्रजाः । सर्वे मनुष्याः । यत्किञ्च । यत्किञ्चित् साधु मंगलंकर्म्म कुर्वन्ति । तत्सर्वं रैक्कस्य कर्मणि अन्तर्भवति । सर्वासां प्रजानां साधूनि कर्माणि एकस्य रैक्कस्य कर्मणि अन्तर्भवन्ति । ईदृग्व्यापारो रैक्कोस्ति । अन्यं प्रभावं दर्शयति । लोके यः कश्चिदन्यः पुरुषः । यत्किमपि वेद्यं । वेद जानाति तत्सर्वं स रैक्कः वेद । अतः स एवंगुण विशिष्टः । एतदुक्तः । एतत्पूर्वोक्तगुण युक्तोस्तीति मया स उक्तः । प्रशंसित इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुवादः—जैसे विजित कृत में अधरेय अन्तर्गत होजाते हैं वैसे ही प्रजाएं जो कुछ शुभ कर्म्म करती हैं । वे सब कर्म्म इस (रैक) के कर्म में अन्तर्गत होते हैं । और जो कोई जो कुछ जानता । वह (रैक्व) वह सब जानता है मैंने ऐसा कहा है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (विजिताय) जीते हुए (कृताय) कृत नाम द्यूतपात्र में (अधरेयाः) नीचे के सब पात्र (संयन्ति) अन्तर्गत होते हैं (एवम्) वैसे ही (यत्+किञ्च+साधु) जो कुछ शुभ कर्म्म (प्रजाः) प्रजाएं (कुर्वन्ति) करती हैं (तत्+सर्वम्) वह सब ही (एनम्) इस रैक्व में (अभिसमेति) अन्तर्गत होता है । और (यः) जो कोई (यत्) जो कुछ विद्या (वेद) जानता है (सः) वह रैक्व (तद्) उस सब विद्या वा ज्ञान को जानता है (सः) वह ऐसा है (मया) मुझ से (एतदुक्तः) ऐसा कहा गया है । इसका अर्थ यह है कि प्रजाओं के सब शुभकर्म्म एक ओर और एक रैक के शुभ कर्म्म एक ओर । तथापि रैक का ही शुभ कर्म्म इन से बढ़ जायगा । और दूसरी बात यह है कि संसार में जो कोई जो कुछ जानता है सो सब ही

वह रैक्क जानता है । अर्थात् ऐसा तो शुभ कर्म्म करने वाला और ऐसा ज्ञानी वह रैक्क है । इसके तुल्य संसार में कोई नहीं है यह विस्पष्टार्थ है ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव । स ह सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ! 'स सयुग्वानमिव रयिकमात्थेति । यो नु कथꣳ सयुग्वा रयिक' इति ॥ ५ ॥

तत् । उ । ह । जानश्रुतिः । पौत्रायणः । उपशुश्राव । सः । ह । सञ्जिहानः । एव । क्षत्तारम् । उवाच । अङ्ग । अरे । ह । सयुग्वानम् । इव । रयिकम् । आत्थ । इति । यः । नु । कथम् । सयुग्वा । रयिकः । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तदुहेति । ह प्रसिद्धः पौत्रायणः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । तस्य पुत्रः पौत्रायणः । जानश्रुतिर्नाम राजा । तदु । तदेव । हंसवाक्यम् । रैक्कप्रशंसापरकम् । आत्मने निन्दोत्थापकम् । उपशुश्राव । श्रुतवान् । स ह । स प्रसिद्धोनृपः संजिहान एव । शयनं निद्रां वा परित्यजन्नेव "ओहाङ्गतयागे शानच् । आत्मनेपदमार्षम्" । क्षत्तारम् । सारथिम् । प्रति "क्षत्तास्यात्सारथौ-द्वास्थः क्षत्रियायां च शूद्रजः" इत्यमरः । उवाच । अङ्ग हे वत्ससारथे ! "स्युप्याट् पाटङ्ग हे हे भोः" इत्यमरः । सम्बोधनार्थाङ्गशब्दः अरे ह । अरे इति नीच सम्बोधनपदम् । अरे इति महाखेदोक्ति । इत्युक्त्वा राजा सर्वं श्रुतं तैरेव शब्दैस्तेनैवक्रमेण च पुनरुक्तवान् । स युग्वानमित्यारभ्य आषष्ठप्रवाक समाप्तेः ॥ ५ ॥

अनुवादः—उस प्रसिद्ध पौत्रायण जानश्रुति नृप ने उस हंस के वचनों को सुना । शयन से उठता हुआ ही अपने सारथि से बोला कि हे वत्स ! बहुत खेद की बात है कि मेरे बारे में हंसों ने इस प्रकार वार्त्तालाप किया है कि 'इस राजा की प्रशंसा तुम सयुग्वा ऋषि की प्रशंसा के समान करते हो सो ठीक नहीं । तब दूसरे ने पूछा कि वह सयुग्वा रैक्व किस प्रकार का है' । इति ॥ ५ ॥

पदार्थः—(पौत्रायणः) पौत्रायण (जानश्रुतिः) जानश्रुति नाम के राजा ने (तदु ह) उस हंसों के वचन को (उपशुश्राव) सुना (स ह) वह (सञ्जिहानेव) प्रातः-काल उठता ही (क्षत्तारम्) अपने सारथि से (उवाच) बोला कि (अङ्ग) हे मित्र (अरे) बहुत खेद की बात है इतना कह हंस की वार्ता उसी क्रम से सुनाई । "सयुग्वा-नमिवादि" का अर्थ तृतीय प्रवाक में देख लेना चाहिये ॥ ५ ॥

यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ

सर्वँ तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

यथा । कृताय । विजिताय । अधरेयाः । संयन्ति । एवम् । एनम् । सर्वम् । तत् । अभिसमेति । यत् । किञ्च । प्रजाः । साधु । कुर्वन्ति । यः । तत् । वेद । यत् । सः । वेद । सः । मया । एतदुक्तः । इति ॥ ६ ॥

राजाने जैसा हंस ने कहा था वैसा ही सुनाया । चतुर्थप्रवाक ही यह है । अतः व्याख्यानादि कुछ नहीं किये गये । वहां ही देखो ॥ ६ ॥

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय । तँ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥

सः । ह । क्षत्ता । अन्विष्य । न । अविदम् । इति । प्रत्येयाय । तम् । ह । उवाच । यत्र । अरे । ब्राह्मणस्य । अन्वेषणा । तद् । एनम् । अर्च्छ । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—सहेति । तं सयुग्वानं रैक्वं महर्षिं सारथे ! मार्गयेतिनृपेण प्रहितः । स ह प्रसिद्धः । क्षत्ता सारथिः । इतस्ततः । अन्विष्य । मार्गणं कृत्वा । ग्रामद्ग्रामं नगरान्नगरं गत्वा तं न प्राप्नोत् । अहो क्वास्ते स भगवानृषिः । प्रसिद्धः सन् कथं न जनैर्दृष्टः । श्रुतोऽस्ति । कथं न मह्यं तं जना दर्शयन्ति । इति पौनःपुन्येन मार्गयन् पृच्छंश्च स सारथिः । न क्वापि तमविन्दत् । सारथिर्मनसिकृत्यति अहं तं नाविदम् । न व्यज्ञासिषम् । इति । अहं तं भगवन्तं न क्वापि मार्गयित्वाप्यवेदिषम् । किं करोमीत्येवं चिन्तयन् । राजानं प्रत्येयाय । प्रत्याजगाम । प्रत्यागतं तं सारथिं स राजोवाच । अरे यत्र यस्मिन् । निर्जने वने शून्ये समाधियोग्ये कस्मिंश्चिद्गह्वरे उपासनार्हे विजने स्थाने वा कस्मिंश्चिन्नदीपुलिनादिषु वा ईदृशेषु स्थानेषु यत्र यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदः । अन्वेषणा अनुमार्गनं भवति । तत्तत्र तत्र । एनम् । रैक्वम् । अर्च्छ । गच्छ । तस्मिन् २ स्थाने तस्यान्वेषणां त्वं कुरु । इति सम्यग् बोधयित्वा पुनरपि सारथिः प्रेषितः ॥ ७ ॥

अनुवादः—वह प्रसिद्ध सारथि इतस्ततः अन्वेषण करके "मैंने उस ऋषि को न पाया" इस हेतु लौट आया । राजा ने पुनः उस सारथि से कहा कि अरे जहां ब्रह्मविद् की अन्वेषणा होनी चाहिये वहां उनकी अन्वेषणा करो ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे सारथे ! उन सयुग्वा रैक्व महर्षि की अन्वेषणा करो ऐसा कह उस सारथि को राजाने उन के अन्वेषण के लिये बाहर भेजा (स ह) वह (क्षत्ता) सारथि

(अन्विष्य) खोजकर (न+अविदम्) मैंने उन्हें नहीं जाना। मैंने उस ऋषि को नहीं पाया (इति) इस हेतु (प्रत्येयाय) लौटकर चला आया। पुनः (तम्+ह) उस सारथि से राजाने बुझाकर (उवाच) कहा (अरे) बहुत खेद की बात है। हे सारथे! (यत्र) जहां (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मविद् ऋषियों की (अन्वेषणा) अन्वेषणा खोज होती है (तत्र) वहां (एनम्) इस ऋषि के निकट (अर्च्छ) जाओ। वहां उन्हें खोजो॥ ७॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश। तꣳ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहꣳ ह्यरा३इति ह प्रतिजज्ञे। स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय॥ ८॥

सः। अधस्तात्। शकटस्य। पामानम्। कषमाणम्। उपोपविवेश। तम्। ह। अभ्युवाद। त्वम्। नु। भगवः। सयुग्वा। रयिकः। इति। अहम्। हि। अरा३। इति। ह। प्रतिजज्ञे। सः। ह। क्षत्ता। अविदम्। इति। प्रत्येयाय॥ ८॥

भाष्यम्—स इति। स इत्थं संबोध्य प्रेषितः सारथिः। शकटस्य। अधस्तात्। अधोभागे। आसीनम्। पामानम्। विचर्चिकाम्। पामपामे विचर्चिका इत्यमरः॥ कषमाणम्। कण्डूयमानं सयुग्वानं रैक्वं ददर्शेत्यर्थः। दृष्ट्वा च। उपोपविवेश। तस्य उप समीपे। सादरं सविनयञ्चोपविष्टवान्। उपविश्य च। तं ह। रैक्वम्। अभ्युवादोवाच। उक्तवान्। भगवः। हे पूजावन् भगवन्! त्वं नु नु इत्यव्ययम्। पृच्छायाम् "नु पृच्छायां विकल्पे च" इत्यमरः। ननु त्वमेव जगति प्रसिद्धः सयुग्वा रैक्व इति? भगवान् एव खलु कच्चित् सयुग्वा रैक्व उच्यते?। इत्येवं पृष्टोहम् हि। अरा३अरे अबोद्धमनुष्य। अहमेव रैक्व उच्ये इति प्रतिजज्ञे। अभ्युपगतवान्। स्वीकृतवान्। ततः स ह क्षत्ता तं विदित्वा। अहो अद्याहं तं भगवन्तमविदमिति राजानं प्रत्येयाय। प्रत्याजगाम॥ ८॥

इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम्॥

अनुवादः—वह सारथि उस रैक्व ऋषि को शकट के नीचे बैठे हुए और विचर्चिका को आश्वासन करते हुए देख उन के समीप आदर विनय के साथ बैठ गया और पूछा कि हे भगवन्! क्या आप ही सयुग्वा रैक्व हैं? अरे मैं ही हूं। इतनी बात कह स्वीकार किया पश्चात् यह सारथि उन्हें पहचान "मैंने उन्हें पाया" इस हेतु लौट आया॥ ८॥

पदार्थः-(सः) वह सारथि (शकटस्य) शकट (गाड़ी) के (अधस्तात्) नीचे भाग में बैठे हुए और (पामानम्) पामानामक दाद का (कषमाणम्) कण्डूयन करते हुए उन रैक को देखा और देखकर (उपोपविवेश) विनय और आदर से उन के निकट बैठ गया और बैठ कर (तम्+ह+अभ्युवाद) उन से पूछा कि (भगवः) हे भगवन् (नु) क्या (त्वम्) आप ही (सयुग्वा+रैकः+इति) सयुग्वा रैक कहलाते हैं (इति) तब ऋषि ने (अरे) अरे अबोद्धा मनुष्य (अहम्+हि) मैं ही सयुग्वा रैक कहलाता हूं (इति ह) इस प्रकार (प्रतिजज्ञे) स्वीकार किया । तब (सः+ह+क्षत्ता) वह सारथि (अविदम्) मैंने महर्षि को जाना (इति) इस हेतु (प्रत्येयाय) राजा के निकट लौट आया ॥ ८ ॥ इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे । तꣳ हाभ्युवाद ॥ १ ॥

तद् । उ । ह । जानश्रुतिः । पौत्रायणः । षट् । शतानि । गवाम् । निष्कम् । अश्वतरीरथम् । तद् । आदाय । प्रतिचक्रमे । तम् । ह । अभ्युवाद ॥ १ ॥

भाष्यम्-तदुहेति । उ एवार्थः । ह प्रसिद्धार्थः । प्रसिद्धो जानश्रुतीराजा पौत्रायणः । तदु तदैव । रैकस्यान्वेषणानन्तरमेवाविलम्बेनेत्यर्थः । गवां धेनूनां षट् शतानि । निष्कं कण्ठहारमुरोभूषणम्वा "साष्टेशतेसुवर्णानां हेम्न्युरोभूषणे दले । दीनारेपिच निष्कोऽस्त्री" इतिकोशः । अश्वतरीरथम् । अश्वतरीभ्यां लघ्वीभ्यामश्वाभ्यां युक्तं रथम् 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्चतनुत्वे' । ५ । ३ । ९१ ॥ ष्टरच् प्रत्ययः । अत्र काशिका "अश्वेनाश्वायामुत्पन्नोऽश्वः । तस्य तनुत्वमन्यपितृकता" । अश्वायां गर्दभेन जातः पशु विशेषोऽश्वतरः । स्त्रीत्वविवक्षायामश्वतरी । तत्सर्वं धनंगवादि । आदाय गृहीत्वा । प्रतिचक्रमेरैक्वसमीपं प्रतस्थे । तमभ्युपेत्य । तं हं तं प्रसिद्धं रैक्वमृषिम् । अभ्युवाद उवाच । अभिवदेर्लिटि रूपमिदम् "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" । ६ । १ । १७ ॥ इति संप्रसारणम् ॥ १ ॥

अनुवादः-उसी समय वह प्रसिद्ध जानश्रुति पौत्रायण छःसौ धेनु गायें, एक निष्क और एक अश्वतरी युक्त रथ ये सब धन मुनि के लिये लेकर चले और उस प्रसिद्ध रैक्व ऋषि के समीप जा बोले ॥ १ ॥

पदार्थः–(तद्+उ) उसी समय (ह) प्रसिद्ध (जानश्रुतिः+पौत्रायणः) जानश्रुति पौत्रायण राजाने (षट्+शतानि) छःसौ (गवाम्) धेनु गायें (निष्कम्) सुवर्णमणि मुक्तादि अनर्घ्य वस्तु से बने हुए हार (माला) को निष्क कहते हैं। जो कण्ठ में धारण किया जाता है और (अश्वतरीरथम्) छोटी २ घोड़ियों से वा खचरियों से युक्त रथ (तद्) पूर्वोक्त उन गवादिक धनों को (आदाय) लेकर (प्रतिचक्रमे) ऋषि समीप गमनार्थ यात्रा की और वहां जाकर (तम्+ह) उस प्रसिद्ध रैक्व ऋषि से (अभ्युवाद) बोले ॥ १ ॥

भाष्याशयः–निष्क–इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं अमरकोश में लिखा है कि १०८ सुवर्णों (मोहर) का समूह। सुवर्णमात्र, उरोभूषण, एक पल और दीनार इन सब के अर्थ में निष्क शब्द का प्रयोग होता है। पाणिनि सूत्रों में इस की बहुत चर्चा आई है। यथा–"असमासे निष्कादिभ्यः" । ५ । १ । २० ॥ इस सूत्र से विदित होता है कि निष्क एक सिक्काविशेष का नाम था। "द्वि त्रि पूर्वान्निष्कात्" । ५ । १ । ३० ॥ इस से भी पूर्ववत् ही विदित होता है। मालूम होता है कि जिस प्रकार आज कल भी रुपये में छिद्र कर सूत में गांथ उसे कण्ठ में लटका लेते हैं। तद्वत् पूर्व समय में भी निष्क कोई बहुमूल्य सिक्का होता होगा। उसी को कण्ठ में धारण करते होंगे। पीछे वह उरोभूषण होगया हो।

अश्वतरी–अश्वतर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में अश्वतरी बनता है। पाणिनि सूत्र के अनुसार 'तनुरश्वः अश्वतरः' तनु अश्व को अश्वतर कहते हैं। परन्तु पाणिनि सूत्र टीकाकारों का आशय अन्यथा प्रतीत होता है वह अश्व अश्वतर कहलाता है जो अन्य पिता से उत्पन्न हो अर्थात् अश्वा में गर्दभ आदि से जो पशु उत्पन्न हो उसे अश्वतर कहना चाहिये। अर्थात् जिस को भाषा में प्रायः 'खच्चर' कहते हैं। परन्तु हमें अश्वतर शब्द का अर्थ वर्णसङ्कर प्रतीत नहीं होता है क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण में * एक ऋषि का नाम अश्वतर आया है पुनः एक प्रसिद्ध उपनिषद् का नाम श्वेताश्वतर आया है पुनः इसी उपनिषद् में ५–११–१ आश्वतराश्व ऋषि का नाम आया है। अतः प्रतीत होता है कि यह शब्द वर्णसङ्कर अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। कोई कहते हैं कि अश्वतर नाम तो वर्णसंकर वा खचर का ही है। इस में सन्देह नहीं परन्तु आप पूछेंगे कि ऋषि वा उपनिषद् का यह नाम कैसे हुआ? मालूम पड़ता है कि नियोग से जिनकी

* स ह बुलिल आश्वतर आश्वितर वैश्वजितो होता सन्नीक्षां चक्रे । ऐत० ब्रा० पञ्चिका ६ । कण्डिका ३० ॥

उत्पत्ति होती हो उनका नाम अश्वतर रखते हों। अथवा जो अपने कुल से आचार्य कुल में प्रविष्ट हो आचार्यकुल के ही गोत्रवाले हो जाते थे वे प्रायः अश्वतर कहलाते हों। इसी प्रकार जो उपनिषद् दो आचार्यों की सम्मति से सम्बन्ध रखने वाली हो उसे अश्वतरी कहते हों। कोई इस विषय में यह भी कहते हैं कि कृष्ण और श्वेत यजुर्वेद दोनों से सम्बन्ध रखनेवाली उपनिषद् अश्वतरी कहलाती हो। परन्तु यह बात अश्रद्धेय है क्योंकि यजुर्वेद न तो शुक्ल और न कृष्ण है किन्तु साधारण लोग भ्रम से मूलवेद को शुक्ल और काण्व शाखा को कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं। इस पर बहुतसी अविश्वसनीय कथाएं भी बना रक्खी हैं ॥ १ ॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथोऽनु म एतां भगवो ! देवताꣳशाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

रैक्व । इमानि । षट् । शतानि । गवाम् । अयम् । निष्कः । अयम् । अश्वतरीरथः । अनु । मे । एताम् । भगवः । देवताम् । शाधि । याम् । देवताम् । उपास्से । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-रैक्वेति । जानश्रुतिः पौत्रायणो ब्रवीति । हे भगवन् ऋषे रैक्व ! मया । आनीतानि । इमानि सन्निहितानि । गवां धेनूनां षट् शतानि सन्ति । तानि । गृहाण । अयं निष्क उरोभूषणञ्च । इममपि । आदत्स्व । अयमश्वतरीरथश्च आरोहणाय अश्वतरीभ्यां तन्वीभ्यामश्वाभ्यां युक्तोरथः । तमपिगृहाण । अनु पश्चात् । हे भगवः ! हे भगवन् ! 'मतुवसोरु सम्बुद्धौछन्दसि' । ८ । ३ । १ । इति रुः । यां देवतां त्वमुपास्से । तामेतां देवताम् । मे मह्यम् । शाधि । उपदिशेति भगवन्तं त्वां सविनयं प्रार्थये शासु अनुशिष्टौ ॥ २ ॥

अनुवादः-(जानश्रुति पौत्रायण भगवान् रैक्व से निवेदन करते हैं कि) हे ऋषे रैक्व ! ये छःसौ गायें, यह निष्क और यह अश्वतरी रथ (आपके लिये मैंने लाये हैं आप उन्हें ग्रहण करें) तत्पश्चात् हे भगवन् ऋषे ! जिस देवता की आप उपासना करते हैं उस देवता के विषय में मुझको शिक्षा देवें । (यही आप से प्रार्थना) ॥ २ ॥

पदार्थः-(रैक्व) हे ऋषे रैक्व ! (इमानि) ये (गवाम्+षट्+शतानि) छःसौ गायें (अयम्) यह (निष्कः) निष्क=मुहरें (अयमश्वतरीरथः) यह अश्वतरी युक्त रथ (आप के लिये लाये गये हैं । उन्हें आप ग्रहण करें) (अनु) पश्चात् (भगवः) हे

भगवन् (याम्+देवताम्+उपास्से) जिस देवता की उपासना आप करते हैं (एताम्) उस देवता का (मे) मेरे लिये (शाधि) उपदेश देवें इति ॥ २ ॥

भाष्याशयः—ये राजा प्रकृति से ही दानशूर थे । इस हेतु ऋषि के प्रसन्नार्थ अपने मनोरथ के अनुकूल गो प्रभृति धन ले गये । ऋषियों को यज्ञादि में घृत आदिक सामग्रियों की प्रचुरतया आवश्यकता होती थी अतः गौ की संख्या सब से अधिक छःसौ थीं । परन्तु प्राचीन ऋषि, शुश्रूषु, श्रद्धालु, आचारवान्, शान्त, दान्त, ब्रह्मनिष्ठ, अन्तेवासी (ब्रह्मचारी वा शिष्य) को ब्रह्मज्ञान दिया करते थे । धनकी प्रत्याशा से नहीं, परन्तु राजा जिज्ञासु के लक्षणों से युक्त हो ऋषि के निकट नहीं पहुंचे थे । किन्तु राजभाव युक्त और किञ्चिद् राजकीय अहङ्कार सम्मिलित हो ब्रह्मज्ञान–शिक्षार्थ पहुंचे । अतएव महर्षि ने शूद्र शब्द से सम्बोधन किया । जिसका आगे वर्णन होगा ॥ २ ॥

तमुह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र ! तवैव सह गोभिरस्त्विति । तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

तम् । उ । ह । परः । प्रत्युवाच । अह । हारेत्वा । शूद्र । तव । एव । सह । गोभिः । अस्तु । इति । तद् । उ । ह । पुनः । एव । जानश्रुतिः । पौत्रायणः । सहस्रम् । गवाम् । निष्कम् । अश्वतरीरथम् । दुहितरम् । तत् । आदाय । प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तमिति । हेतिप्रसिद्धः । परोऽन्यो सुप्रसिद्धोवा रैक्व ऋषिः । तमु । तं जानश्रुतिं पौत्रायणमेव । प्रत्युवाच । "अहेत्ययं निपातो विनिग्रहार्थी योऽन्यत्रेह त्वनर्थकः एव शब्दस्य प्रयोगात्" इति शङ्करः । हे शूद्र अनभिज्ञ विवेकरहित ! सम्प्रत्यपि विवेकशून्यं शिष्यमवलोक्याचार्य्यः कथयति । अरे गर्दभ अरे वृषभ इत्यादि । अगर्दभोपि बालकोऽज्ञानात्कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचारशून्यत्वाद्वा गर्दभ उच्यते । तथैव अशूद्रोऽपि जानश्रुतिः शोकापन्नत्वात् शूद्रवद् व्यवहाराद्वा शूद्र इत्युच्यते । शुश्रूषयाचार्य्य स्तोषयितव्यो न तु धनैः । धनहरणंहि जानश्रुतेः शूद्रवद् व्यवहारः । हारेत्वा । हारैः विविधैर्माल्यैर्युक्ता सती इत्वा गन्त्री गमनशीला शकटिका । यद्वा हारेण निष्केण युक्ता । इत्वा । गन्त्री शकटिका । गोभिः-सह । गवां षड्भिः शतैः सार्धम् । तवैव अस्तु । इति । एताभिः सामग्रीभिर्ममनास्ति किमपि

प्रयोजनम् । त्वमेवसर्वं गृहाण । इत्यभिप्रायः । हेतिप्रसिद्धः । अथ जानश्रुतिः पौत्रायणो भगवतो रैक्वस्यास्वीकृतिपरकं पूर्वोक्तं वचनं निशम्य । तदु तदैव । पुनरेव गवां सहस्रम् । निष्कम् । अश्वतरीरथम् । एकां दुहितरं निजपुत्रीञ्च तत् सर्वं तदा । आदाय । गृहीत्वा । प्रतिचक्रमे । रैक्वं प्रति गतस्थे ॥ २ ॥

अनुवादः-पूजनीय (भगवान् रैक्व) उससे बोले कि हे शूद्र * विविधहार से युक्त हो गमन करने वाली और गौ सहित यह शकटी (वा रथ) तुम को ही रहे । इसे सुन उसी समय वे जानश्रुति पौत्रायण पुनरपि एक सहस्र गौ, एक निष्क, एक अश्वतरीरथ और एक निज पुत्री को ले तब रैक्व के निकट चले ॥ २ ॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (परः) दूसरा, अन्य अथवा मान्य पूज्य रैक्व (तम्+उ) उसी जानश्रुति से (प्रत्युवाच) बोले (अह) अरे (शूद्र) शूद्र (हारेत्वा) हारों से वा निष्करूपहार से युक्त और (गोभिः+सह) छःसौ गौ सहित रथ (तवैव) तुमको ही (अस्तु) रहै (इति) इसे सुनकर (तदु) उसी समय (ह+जानश्रुतिः+पौत्रायणः) वे प्रसिद्ध जानश्रुति पौत्रायण (पुनरेव) फिर (सहस्रम्+गवाम्) एक सहस्र गौ (निष्कम्) एकनिष्क (अश्वतरीरथम्) अश्वतरी रथ तथा (दुहितरम्) एक निज कन्या (तत्) तब इन सब धनों को (आदाय) साथ ले (प्रतिचक्रमे) रैक मुनि के निकट चले ॥ २ ॥

भाष्याशयः-दुहिता-विद्या ग्रहणार्थ पूर्व समय के राजा आचार्य को सर्वस्व समर्पण करने को भी संकोच नहीं करते थे । रैक्व यद्यपि ब्रह्मज्ञानी थे । परन्तु धनाढ्य नहीं । विवाहार्थी उन्हें जान प्रसन्न करने को राजा ने अपनी निज दुहिता दे दी । इससे अनुमान कर सकते हैं कि पुराकाल में राजा लोग कहांतक विद्याभिलाषी वा ज्ञानभिक्षुक हुआ करते थे । ऐसे २ योग से संसार में बड़े लाभ और आनन्द होते थे । क्योंकि वीरता भी विद्या विना शोभित नहीं । जब विद्यावान्, आचार्य्यवान्, वीर्य्यवान्, शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, पूर्ण ब्रह्मचारी, ब्रह्मज्ञादि पुरुष के संसर्ग से वीर वधूटी में सन्तान भी वैसे ही उत्पन्न होते हैं तो देश में सदा कल्याण ही होता रहता है । निर्बल, दुराचारी, मूर्ख, आलसी, अब्रह्मचारी से जब वैसे २ ही सन्तान होने लगते हैं । तब ही देश की

* शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि । ३४ । क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् । ३५ । इत्यादि वेदान्तसूत्र और इस प्रपाठक के नवमखण्ड की समीक्षा में शूद्रशब्द पर विचार देखो ।

श्री, लक्ष्मी, सम्पत्ति, आरोग्यता, विद्वत्ता, उत्साहसम्पन्नता आदि गुण क्षीण होते २ एक दिन सर्वथा लुप्त ही होजाते हैं । अतः सर्वदा ईदृग् विवाह स्वतन्त्रतापूर्वक होना चाहिये । यह शिक्षा इस आख्यायिका से मिलती है ॥ ३ ॥

तᳫ्हाभ्युवाद-रैक्वेदᳫ् सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः! शाधीति ॥ ४ ॥

तम् । ह । अभ्युवाद । रैक्व । इदम् । सहस्रम् । गवाम् । अयम् । निष्क । अयम् । अश्वतरीरथः । इयम् । जाया । अयम् । ग्रामः । यस्मिन् । आस्से । अनु । एव । मा । भगवः । शाधि । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तमिति । स ह प्रसिद्धो जानश्रुतिः पौत्रायणः । तं रैक्वंप्रति । अभ्युवादोवाच । हे भगवन् रैक्व महर्षे ! इदं गवां । धेनूनां सहस्रम् । सहस्रसंख्याका गाव इत्यर्थः । अयं निष्क उरोभूषणम् । अयम् अश्वतरीरथः तन्वीभ्यामश्वाभ्यांयुक्तोरथः । इयं जाया । इयं मम दुहिता भगवतो जायार्थमानीता । अयंग्रामः । यस्मिन् ग्रामे त्वमास्से तिष्ठसि । एतत्सर्वं हे मुने गृहाण । हे भगवः ! हे भगवन् यां देवतां त्वमुपास्से तामेव देवताम् । मा मांप्रति । अनु पश्चात् शाधि शिक्षस्व इति ॥ ४ ॥

अनुवादः—वे प्रसिद्ध जानश्रुति पौत्रायण इन ऋषि रैक्व से बोले कि हे भगवन् रैक्व ! यह एक सहस्र गायें, यह निष्क (उरोभूषण), यह अश्वतरीरथ, आप की धर्मपत्नी होने के लिये मेरी यह दुहिता और यह ग्राम जिस में आप निवास करते हैं इन सब का आप ग्रहण करें । हे भगवन् ! तत्पश्चात् जिस देवता की आप उपासना करते हैं उसका उपदेश मुझे देवें । इति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(तम्+ह) उस प्रसिद्ध ऋषि से (अभ्युवाद) वे जानश्रुति पौत्रायण बोले कि महर्षे (रैक्व) रैक्व (इदम्) यह (गवाम्+सहस्रम्) एक सहस्र गायें (अयंनिष्कः) यह उरोभूषण निष्क (अयमश्वतरीरथः) यह अश्वतरी युक्त रथ (इयम्+जाया) आप की धर्म्मपत्नी होने के लिये यह मेरी कन्या (अयम्+ग्रामः) यह ग्राम (यस्मिन्) जिस ग्राम में (आस्से) आप वर्त्तमान हैं । ये सब वस्तुएं आप के लिये हैं आप इनका कृपापूर्वक ग्रहण करें (अनु) तत्पश्चात् (भगवः) हे भगवन् (मा) ! मुझ को (शाधि) शिक्षा देवें (एव) निश्चय हे भगवन् ! कृपा कर मुझे अवश्य उस देवता के विषय में उपदेश देवें जिस की उपासना आप करते हैं । यही सविनय आप से निवेदन है ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाऽऽजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा इति । ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास । तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

तस्याः । ह । मुखम् । उपोद्गृह्णन् । उवाच । आजहार । इमाः । शूद्र । अनेन । एव । मुखेन । आलापयिष्यथाः । इति । ते । ह । एते । रैक्वपर्णाः । नाम । महावृषेषु । यत्र । अस्मै । उवास । तस्मै । ह । उवाच ॥ ५ ॥

भाष्यम्-तस्याइति। हेति प्रसिद्धो रैक्वः । तस्या राजदुहितुः । मुखम् । वदनमास्यम् । उपोद्गृह्णन् । कराभ्यां गृहीत्वा निजसमीपमानीय ऊर्ध्वं कुर्वन् मुखं स्पृहयन्नित्यर्थः । जानश्रुतिं प्रति उवाच । यद्वा । राज्ञो दुहितुरेव मुखं विद्यादाने तीर्थम् उपोद्गृह्णन् जानन्नुवाच । हे शूद्र विवेकशून्य ! । यद् । इमाः गोप्रभृतीः सम्पत्तीः । भवान् आजहार आनीतवानस्ति । तत्साधु कृतम् इतिशेषः । किन्तु । अनेन मुखेन । हे राजन् ! त्वं निजदुहितुरनेन । मुखेनैव । माम् आलपयिष्यथा भाषयिष्यथाः।इदं तव दुहितृमुखमेव मां तव शिक्षकं करिष्यति। न अन्यानि धनानि । तत्स्थानस्य कीर्तिमाह । महावृषेषुमहावृषनामसु देशेषु । ते ह एते ग्रामाः । रैक्वपर्णाःनाम रैक्वपर्णनामानः । यत्र येषु ग्रामेषु । स उवास सवासंकृतवान् । अस्मै-रैक्काय तान् । ग्रामान् राजा ददौ इति वाक्यशेषः । तस्मै ग्रामान् दत्तवतेराज्ञेह रैक्व उवाच उपदिदेश ॥ ५ ॥ इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-राजाकी उस पुत्री के मुख को प्यार करते हुए वा राजदुहिता के मुख को ही विद्या दान में द्वार जानते हुए वे रैक्व बोले कि हे शूद्र आपने जो ये गौ प्रभृति धन-सम्पत्तिएं लाई हैं सो आपने अच्छा किया है । परन्तु आप अपनी इस पुत्री के मुख से ही मुझ को बोलवावेंगे । महावृष देश में जो ये रैक्वपर्ण नाम ग्राम हैं जहां रैक्व रहते थे वे ग्राम राजा ने रैक्व को दिये । पश्चात् उस राजा को उपदेश किया ॥ ५ ॥

पदार्थः-(तस्याः+ह) राजा की उस पुत्री के (मुखम्) मुख को (उपोद्गृह्णन्) प्यार करते हुए वा विद्यादान में मुख को ही द्वार जानते हुए (ह) प्रसिद्ध ऋषि रैक्व (उवाच) बोले (शूद्र) हे शूद्र (इमाः) जो ये गो प्रभृति सम्पत्तिएं आप (आजहार) लाये हैं सो अच्छा ही किया है परन्तु (अनेन+एव) इसी (मुखेन) मुख से अर्थात् हे राजन् ! अपनी पुत्री के इस मुख के द्वारा ही आप (आलापयिष्यथाः) मुझ को बोलवावेंगे (इति) तत्पश्चात् (महावृषेषु) महावृष देश में (ते+एव) जो ये ग्राम हैं जो (रैक्वपर्णानाम) रैक्वपर्ण नाम से अब प्रसिद्ध हैं (यत्र+उवास) जहां रैक्व रहते थे

वे ग्राम राजा ने (अस्मै) रैक्व को दिये । तत्पश्चात् (तस्मै) उस राजा से (उवाच) रैक्व बोले (ह) यह बात अन्य इतिहास आदि में प्रसिद्ध है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीय खण्डः ॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति * ॥ १ ॥

वायुः । वाव । संवर्गः । यदा । वै । अग्निः । उद्वायति । वायुम् । एव । अप्येति । यदा । सूर्यः । अस्तम् । एति । वायुम् । एव । अप्येति । यदा । चन्द्रः । अस्तम् । एति । वायुम् । एव । अप्येति ॥ १ ॥

* इस प्रकरण के समान ही वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् प्रथमाध्याय पञ्चम ब्राह्मण २१ वें प्रवाक से लेकर समाप्ति पर्य्यन्त देखो । वहां वायु और प्राण को अधिदैवत और अध्यात्मोपासना में श्रेष्ठ कहा गया है यथा "स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राणः । एवमेतासां देवतानां वायुः । निम्लोचन्ति ह्यन्या देवताः । न वायुः । सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः । २२ । अथैष श्लोको भवति । यतश्चोदेति सूर्य्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति । प्राणाद्वा एष उदेति । प्राणेऽस्तमेति । तं देवाश्चक्रिरे धर्म्मं स एवाद्य स उ श्व इति । यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् । प्राण्याच्चैवापान्याच्च" इत्यादि । अर्थ—(यथा) जैसे (एषाम्+प्राणानाम्) इन इन्द्रियों में (सः+मध्यमः+प्राणः) वह मध्यम प्राण श्रेष्ठ है (एवम्) वैसे ही (एतासाम्+देवतानाम्) अग्नि सूर्य्य चन्द्र आदि देवताओं के मध्य (वायुः) वायु है (हि) क्योंकि (अन्याः+देवताः) अन्य देवता (निम्लोचन्ति) अस्त=विनष्ट होते हैं परन्तु (न+वायुः) वायु अस्त नहीं होता (अथैषः+श्लोकः+भवति) इस विषय में एक श्लोक है (यतः+च+उदेति+सूर्य्यः) सूर्य्य जहां से उदित होता है (अस्तम्+यत्र+च+गच्छति) और जहां अस्त होता है । सूर्य्य कहां से और कहां उदित और अस्त होता है सो कहते हैं (प्राणात्+वै+एषः+उदेति) प्राण से ही यह सूर्य आदि उदित होते हैं (प्राणे+अस्तम्+एति) प्राण में ही अस्त होते हैं (तं+देवाः०) इसी को देव=विद्वद्गण धर्म्म=पूज्य मानते थे । वही आज वही कल रहेगा । इत्यादि प्रकरण देखो । यहां अलङ्कार से वर्णन करते हुए वायु और प्राण नामधारी ईश्वर के ही गुण दिखलाते हैं । प्रदान वदेव तदुक्तम् । वेदान्त सू० ३ । ३ । ४३ । इस सूत्र के ऊपर श्रीशङ्कराचार्य्य का विचार देखो ॥

भाष्यम्--वायुरिति । वावशब्द एवार्थः । वायुर्ब्रह्म । सर्वेषां गतिप्रदम् । संवर्गः संवर्जनात्संग्रहणात्संग्रसनाद्वा संवर्गः । वायुर्वाव । वायुः सर्वगतिप्रद ईश्वरः । वाव एव । संवर्गः । संग्रहकृद् ग्रासयिता भक्षयितेत्यर्थः । कथं तस्य संवर्गत्वमित्याह । यदा यस्मिन् काले । वै निश्चितम् अग्निर्दाहकशक्तिविशेषः पदार्थानाम् । उद्वायति । उद्वासनं प्राप्नोति उपशाम्यतीत्यर्थः । तदा । वायुमेव । ब्रह्मैव अप्येति अप्ययं प्रलयं प्राप्नोति । सृष्ट्यवसाने परमविकरालाग्निज्वाला पदार्थेभ्यः समुत्थाय सर्वाणि वस्तूनि भस्मसात्कृत्वा स्वयमुपशाम्यति । विषयाभावात् । अत्र शङ्का भवति । ननु आधारीभूतपदार्थाभावादुपशान्तोऽग्निः क विलीयते । स्वकारण इति चेत् । किं तस्य कारणमिति । अग्नि परमाणुर्नित्य इतिचेत् । स च प्रमाणुः क तिष्ठति । सर्वत्रगे वियदवलम्बिनि बाह्ये नित्ये वायाविति चेत् । स च किमाधारोस्ति । इति पृष्टे सर्वं ब्रह्मणि वाव पर्यवसाने समास्ते । इत्येवमेव वक्ष्यन्ति सूरयः । अतः सर्वेषामीश्वर एवाधारोस्तीत्यवधार्य्यते । अत उक्तमग्निर्वायुमप्येति वायुरत्र ब्रह्मवाच्येव । प्रकरणाद् वक्ष्यमाणनिर्धारणाच्च । तथैव । यदा सूर्योऽस्तमेति विनश्यति तदा वायुमेवाप्येति ब्रह्मण्येवाप्ययं प्राप्नोति । यदा चन्द्रोऽस्तमेति । वायुमेवाप्येति ब्रह्मण्येवलीयते । द्वितीयोऽर्थः—वायुर्बाह्योवायुर्मरुदित्यर्थः । सर्वे हि पदार्था वायुमाश्रित्य तिष्ठन्ति । यत्र वायुलेशो न विद्यते । तत्र क्षणमपि वह्निज्वाला प्रकाशयितुं न पारयति । अतोग्निर्वा सूर्यो वा चन्द्रो वा यदास्तं विनाशं प्राप्नोत्यवसाने तदा बाह्ये वायावेव प्रविलीयन्ते । प्रत्यहं दृश्यते प्रदीप्तः प्रदीपः क्षणे क्षणे उपशम्योपशम्य क याति । वायुमेव प्रविशत्यसंदिग्धमेतत् । इत्थं सर्वे पदार्था वाय्वाधारा विज्ञेयाः । उत्तरत्राप्येवमूह्यम् ॥ १ ॥

अनुवादः—निश्चय वायु (ब्रह्म) ही संवर्ग है । निश्चय, जब अग्नि उपशान्त होती है तब वायु में ही लीन होती है । निश्चय जब सूर्य विनष्ट होता है तब वायु में ही लीन होता है । निश्चय, जब चन्द्र विनष्ट होता है तब वायु में ही लीन होता है ॥ १ ॥

पदार्थः—(वायुः) सबों का गतिप्रद ईश्वर (वाव) ही (संवर्गः) ग्रसन करने वाला है (यदा) जब (वै) निश्चय (अग्निः) पदार्थों की दाहक शक्ति (उद्वायति) उपशान्ति को प्राप्त होती है । तब (वायुम्+एव) ईश्वर में ही (अप्येति) लीन होती है (यदा) जब (सूर्यः) सूर्य (अस्तम्) विनाश को (एति) प्राप्त होता है तब (वायुम्+एव+अप्येति) ईश्वर में ही प्रलीन होता है (यदा) जब (चन्द्रः+अस्तम्+एति) चन्द्र विनाश को प्राप्त होता है तब (वायुम्+एव+अप्येति) ईश्वर में ही लीन होता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—वायु—ईश्वर और बाह्यमरुत को वायु कहते हैं यहां वायु शब्द केवल ब्रह्मवाचक ही है। क्योंकि प्रकरण और वक्ष्यमाणविशेषणों से वही स्थिर होता है हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह बाह्यवायु (हवा) सबों को गति देता है और सब इसी में लीन होता है। तद्वत् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की गति देने वाला केवल एक ब्रह्म ही है। और अन्त में भी सब पदार्थ उसी में लीन होता है। ऐसा वायु शब्द द्वारा ईश्वर की उपासना करे। संवर्ग—यहां संवर्ग विद्या का आरम्भ हुआ है। जो अपने में सबों का संग्रह करले अथवा जो ग्रसन करे अर्थात् खा जाय अथवा अपने में मिला ले उसे संवर्ग कहते हैं॥ १ ॥

यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति । वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

यदा । आपः । उच्छुष्यन्ति । वायुम् । एव । अपियन्ति । वायुः । हि । एव । एतान् । सर्वान् । संवृङ्क्ते । इति । अधिदैवतम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—यदेति । यदा यस्मिन् काले । आपः जलानि । उच्छुष्यन्ति उच्छोषमाप्नुवन्ति विनश्यन्ति । तदा । वायुमीश्वरमेवापियन्ति प्रविशन्ति । हि यतः । वायुरेव ब्रह्मैव । एतान् अग्निप्रभृतीन् सर्वान् । संवृङ्क्ते संगृह्णाति संहरति स्वस्मिन् । इत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

अनुवादः—जब जल शुष्क होता है तो वायु में ही प्रलीन होता है क्योंकि वायु ही इन सबों का अपने में संहार करता है। इति अधिदैवत ॥ २ ॥

पदार्थः—(यदा) जब (आपः) जल (उच्छुष्यन्ति) सूखता है वा विनष्ट होता है। तब (वायुम्+एव+अपियन्ति) ब्रह्म में ही नाश को प्राप्त होता है (हि) क्योंकि (वायुः+एव) वायु ही ब्रह्म ही (एतान्+सर्वान्) इन सब अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जलका (संवृङ्क्ते) अपने में संहार करता है ॥ २ ॥

अथाध्यात्मं—प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

अथ । अध्यात्मम् । प्राणः । वाव । संवर्गः । सः । यदा । स्वपिति । प्राणम् । एव । वाग् । अप्येति । प्राणम् । चक्षुः । प्राणम् । श्रोत्रम् । प्राणम् । मनः । प्राणः । हि । एव । एतान् । सर्वान् । संवृङ्क्ते । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथेति । अधिदैवतसंवर्गोपासन दर्शनानन्तरम् अध्यात्ममात्मनि संवर्गोपासन दर्शनमिदमुच्यते । अस्मिञ्छरीरे मुख्यः प्राण एव संवर्गः सर्वेषां संग्रहीता ग्रसयिता । तद्यथा । यदा । यस्मिन् काले स पुरुषः । स्वपिति सुषुप्त्यावस्थां प्राप्नोति । तदा वाग् वागिन्द्रिय-विषयः । प्राणमेवाप्येति प्राण एव प्रलयं प्राप्नोति । तथैव । चक्षुः । श्रोत्रम् । मनः । एतानि त्रीण्यपि । प्राणमेवापियन्ति । हि यतः । प्राण एव । एतान् सर्वान् वागादिविषयान् । संवृ-ङ्क्ते संहरति स्वस्मिन् संनिवेशयति । प्राण शब्दोपि द्व्यर्थः । ईश्वरः शरीरान्तःसंचारी वायुश्च । यथास्मिँल्लघौ कलेवरे मुख्ये प्राणे सर्वाणीन्द्रियाणि समासते । तथैव ब्रह्माण्ड-शरीरे स्थिते प्राणवाच्ये ब्रह्मण्येवावसाने जगद्व्यापाराः समासते । अतः प्राणत्वेन ब्रह्मोपासी-तेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः—अब अध्यात्म कहा जाता है । प्राण ही संवर्ग है । जब वह (पुरुष) सोता है । तब वचन प्राण में ही लीन होता है । प्राण में ही चक्षु, प्राण में ही श्रोत्र, प्राण में ही मन, लीन होता है क्योंकि इन सबों का प्राण ही अपने में संहार करता है । इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) अधिदैवत संवर्गोपासन कथन के अनन्तर (अध्यात्मम्) अध्यात्म संवर्गोपासन कहा जाता है (प्राणः) मुख्य प्राण (वाव) ही (संवर्गः) ग्रसन करता है (सः) वह पुरुष (यदा) जब (स्वपिति) सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब (वाग्) वागिन्द्रिय विषय (प्राणम्+एव) प्राण को ही (अप्येति) प्राप्त होता है । इसी प्रकार (चक्षुः) नेत्र विषय (प्राणम्) प्राण को ही (श्रोत्रम्) श्रोत्र विषय (प्राणम्) प्राण को ही (मनः) मन विषय (प्राणम्) प्राण को ही प्राप्त होता है (हि) क्योंकि (प्राणः) प्राण ही (एतान्+सर्वान्) इन सकल इन्द्रिय विषयों को (संवृ-ङ्क्ते) अपने में संहार करता है ॥ इति ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—प्राण शब्द भी यहां दो अर्थों का प्रतिपादक है। एक तो ईश्वर दूसरा शरीरान्तःसंचारी वायु । जैसे सुषुप्त्यवस्था में इस लघु कलेवर में स्थित मुख्य प्राण में ही सब इन्द्रिय व्यापार प्रलीन होते हैं । वैसे ही ब्रह्माण्डरूप शरीरस्थ ब्रह्म में ही सम्पूर्ण जगत् व्यापार ब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं । अतः प्राण शब्द द्वारा ईश्वर की उपासना करनी चाहिये । यह अध्यात्म वर्णन है । और प्राण शब्द वायुवत् ईश्वरवाचक है ऐसा प्रकरण और वक्ष्यमाण विशेषणों से अवधारण करे ॥ ३ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

तौ । वै । एतौ । द्वौ । संवर्गौ । वायुः । एव । देवेषु । प्राणः । प्राणेषु ॥ ४ ॥

भाष्यम्-ताविति । उपसंहरति । तौ वै एतौ द्वौ संवर्गौस्तः । देवेषु सूर्य्यादिषु । वायुर्वायुनाम्ना प्रसिद्धः । प्राणेषु वागादिष्विन्द्रियेषु । प्राणः प्राण नाम्ना विख्यातः । अधिदैवताध्यात्मभेदेन संवर्गस्य द्वैविध्यम् । न तु यथार्थतयाद्विधात्वम् ॥ ४ ॥

अनुवादः-निश्चय, वे ये दो संवर्ग हैं देवों में वायु ही और प्राणों में प्राण ॥ ४ ॥

पदार्थः-(तौ) वे (वै) निश्चय (एतौ) ये (द्वौ) दो (संवर्गौ) संवर्ग हैं (देवेषु) देवों में तो (वायुः+एव) वायु नामसे ही और (प्राणेषु) वाग् आदि इन्द्रियों में (प्राणः) मुख्य प्राण नाम से वह संवर्ग प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-यहां उपसंहार करते हैं । यथार्थ में दो संवर्ग नही हैं किन्तु अधिदैवत और अध्यात्म भेद से संवर्ग दो प्रकार के हैं यथार्थ में नहीं ॥ ४ ॥

अथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे । तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

अथ । ह । शौनकम् । च । कापेयम् । अभिप्रतारिणम् । च । काक्षसेनिम् । परिविष्यमाणौ । ब्रह्मचारी । बिभिक्षे । तस्मै । उ । ह । न । ददतुः ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति । हेतीतिहासार्थः । कदाचित् । कापेयं कपिगोत्रप्रभवम् । शौनकं शुनकस्यापत्यं शौनकस्तंशौनकनामानम् । तथा काक्षसेनिं कक्षसेनस्यापत्यंकाक्षसेनिस्तम् । अभिप्रतारिणमभिप्रतारिनामानञ्च प्रति । कश्चिद् ब्रह्मचारी । बिभिक्षे याचितवान् । कथंभूतौ तौ । परिविष्यमाणौसूपकारैर्भोजनार्थं विविधानि पक्वान्यन्नानि भोज्यमानौ । अर्थात्तौ यदा भोजनायोपविष्टावास्ताम् । तदैव कश्चिद् ब्रह्मचारी तौ बिभिक्ष इत्यर्थः । तस्मै ब्रह्मचारिणे उ ह न ददतुर्भिक्षां न ददतुर्नदत्तवन्तौ । हेति प्रसिद्धमेतत् ॥ ५ ॥

अनुवादः-कदाचित् खाते हुए कापेय शौनक और काक्षसेनि अभिप्रतारी नामवाले किन्हीं राजाओं से एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा मांगी। उस को उन्होंने भिक्षा नहीं दी ॥ ५ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (ह) कदाचित् (परिविष्यमाणौ) जिन को भोजनार्थ विविध अन्नादि सूपकार दे रहे हैं । ऐसे जो (कापेयम्) कपिगोत्रोत्पन्न (शौनकम्+च) शौनक और (काक्षसेनिम्) कक्षसेन का पुत्र (अभिप्रतारिणम्) अभिप्रतारी इन दोनों से (ब्रह्मचारी) किसी ब्रह्मचारी ने (बिभिक्षे) भिक्षा मांगी परन्तु (तस्मै+इह) उस ब्रह्मचारी को (न+ददतुः) उन्होंने भिक्षा नहीं दी ॥ ५ ॥

स होवाच-महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय ! नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६॥

सः । ह । उवाच । महात्मनः । चतुरः । देवः । एकः । कः । सः । जगार । भुवनस्य । गोपाः । तम् । कापेय । न । अभिपश्यन्ति । मर्त्याः । अभिप्रतारिन् । बहुधा । वसन्तम् । यस्मै । वै । एतद् । अन्नम् । तस्मै । एतद् । न । दत्तम् । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्-सहेति । स ह प्रसिद्धो ब्रह्मचारी तावुवाच । एकोमुख्यो देवो द्योतनो जगताम् कः सुखस्वरूपः प्रजापतिरीश्वरो योऽसौ वर्त्तते स वायुनामा च प्राणनामा । चतुरो महात्मनोमहानग्निः सूर्यश्चन्द्र आपश्चेति एतान् महतश्चतुरो देवान् । वाक् चक्षुः श्रोत्रं मनश्चेति महान्ति चत्वारीन्द्रियाणि । जगार ग्रसितवान् । कथंभूतः स देवः । भुवनस्य गोपाः भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं भूरादिः सर्वलोकस्तस्य गोपा गोपायिता रक्षितेत्यर्थः । हे कापेय ! तथा हे अभिप्रतारिन् ! बहुधा बहुषु स्थानेषु वसन्तंविद्यमानम् । तं 'क' नामानं प्रजापतिमीश्वरम् । मर्त्या मरणधर्माणोऽविवेकिनो जना वा । नाभिपश्यन्तिनावलोकयन्ति । पुनः यस्मै ब्रह्मणे कनाम्ने । वै निश्चितम् । एतत्सर्वमन्नं वर्त्तते । जगति सर्वमन्नं ब्रह्मार्थमेवास्ति तस्मै ब्रह्मणे । युवाभ्याम् । एतदन्नम् । न दत्तमिति । नह्यात्मार्थं केवलमहंभिक्षे । किन्त्वहं ब्रह्माधीये । ब्रह्मवचनानि सर्वत्र प्रख्यापयितुं ब्रह्मपठामि तेन ब्रह्मणो रक्षा भवति । यदि मह्यं युवां भिक्षां नदत्थस्तेन युवां ब्रह्महननं कुरुथः । इदमपि जानीतं ब्रह्मणो रक्षणेनैव सर्वमन्नं रक्षितं भवति । अतो वास्तवेन ब्रह्मैव सर्वमन्नं ग्रहीतुमर्हति । अहन्तु तदेवाधीये । अतो मह्यमददानौ युवां ब्रह्मणे न दत्थः । अहोयुवयोरविवेकः ॥ ६ ॥

अनुवादः-उन दोनों से वह ब्रह्मचारी कहने लगा कि जो भुवन का रक्षक एक देव सुखस्वरूप 'क' नामधारी ईश्वर है । वह अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल इन चारों महादेवों को और वाग्, चक्षु, श्रोत्र और मन इन चारों महाइन्द्रियों को खाया करता है । हे कापेय ! तथा हे अभिप्रतारी ! सर्वत्र रहते हुए उस (ब्रह्म) को मर्त्यजन नहीं देखते हैं जिसी के लिये यह अन्न है । उस को यह अन्न तुम दोनों ने नहीं दिया ॥ ६ ॥

पदार्थः-(सः+ह) वह ब्रह्मचारी शौनक और अभिप्रतारी से (उवाच) कहने लगा कि जो (भुवनस्य) संपूर्ण विश्व का (गोपाः) रक्षक (एकः) एक ही (कः)

सुखस्वरूप आनन्दप्रद (देवः) सर्व प्रकाशक ईश्वर है (सः) वह (महात्मनः) बड़े (चतुरः) चारों को अर्थात् अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल इन चारों देवों को वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन इन चारों बड़े इन्द्रियों को (जगार) खाया करता है (कापेय) हे कापेय ! तथा (अभिप्रतारिन्) हे अभिप्रतारिन् ! (मर्त्याः) अज्ञानी जन (बहुधा+-वसन्तम्) सर्वत्र वसते हुए (तम्) उस सुखस्वरूप देव को (न+अभिपश्यन्ति) नहीं देखते हैं । हे राजन् ! (यस्मै) जिसके लिये (वै) निश्चय (एतद्+अन्नम्) यह अन्न है (तस्मै) उस के लिये (एतद्) यह अन्न (न+दत्तम्) नहीं दिया ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—ब्रह्मचारी कहता है कि मैं केवल अपने लिये ही अन्न नहीं मांगता हूं किन्तु मैं वेद का अध्ययन कर रहा हूं । ब्रह्म के वचनों को सर्वत्र प्रख्यात करने के लिये मैं वेद पढ़रहा हूं । उससे वेद की रक्षा होती है जो ईश्वर की वाणी है, इस अवस्था में यदि मुझको आप दोनों भिक्षा नहीं देते हैं तो उससे आप दोनों ब्रह्म का हनन कर रहे हैं । आप यह भी जानें कि यह ब्रह्म की ही रक्षा से सर्व अन्न होते हैं अतः यथार्थ में उसी के लिये अन्न है । मैं उसी का अध्ययन करता हूं तो मुझे अन्न न देना ब्रह्म को अन्न न देने के तुल्य है ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायाऽऽत्मा देवानां जनिता प्रजानाᳬ हिरण्य दᳬष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानोयदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे । दत्तास्मैभिक्षामिति ॥ ७ ॥

तद् । उ । ह । शौनकः । कापेयः । प्रतिमन्वानः । प्रत्येयाय । आत्मा । देवानाम् । जनिता । प्रजानाम् । हिरण्यदंष्ट्रः । बभसः । अनसूरिः । महान्तम् । अस्य । महिमानम् । आहुः । अनद्यमानः । यत् । अनन्नम् । अत्ति । इति । वै । वयम् । ब्रह्मचारिन् । आ । इदम् । उपास्महे । दत्त । अस्मै । भिक्षाम् । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तदिति । ह प्रसिद्धः शौनकः कापेयः । तद्+उतदेव पूर्वोक्तं ब्रह्मचारिवचनं प्रतिमन्वानो मनसा विचारयन् सन् । ब्रह्मचारिणं प्रत्येयायाऽऽजगाम । आगत्य ब्रह्मचारिणमुवाच । हे ब्रह्मचारिन् ! यं त्वमवोचोमहात्मनश्चतुरोदेव इत्यादिना । तं वयन्तु पश्यामः । कथमिति । स 'क' नामा प्रजापतिरात्मास्ति । स्थावराणां जङ्गमानाञ्च स एवात्मा विद्यते ।

"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्चेति प्रमाणमपि। पुनर्देवानांसूर्यचन्द्रादीनां सर्वेषां देवानाम्। जनितोत्पादयिता स एवास्ति। पुनः प्रजानां स्थावरजङ्गमादीनांभक्षणे इतिवाक्यशेषः। हिरण्यदंष्ट्रोऽमृतदंष्ट्रोऽभग्नदन्त इति यावत्। पुनः। बभसोभक्षणशीलः। पुनः। अनसूरिः सूरिर्मेधावीनसूरिरसूरिस्तत्प्रतिषेधेऽनसूरिः सूरिरेवेत्यर्थः। इदृशः सोऽस्ति। तं वयं जानीमः। हे ब्रह्मचारिन्! ब्रह्मविदोजनाः। अस्यब्रह्मणो महान्तं महिमानं विभूतिम्। आहुः कथयन्ति। यद्यस्मात्। अनद्यमानःस्वयमन्यैरभक्ष्यमाणः सन्। अनन्नं नान्नमित्यनन्नमत्तुमयोग्यमप्यग्निवागादिदेवतारूपमन्नम्। अत्ति भुङ्क्ते। इति। ईदृशं ब्रह्मास्तीति वयं जानीमः। हे ब्रह्मचारिन्! वै निश्चितमेव। इदं सर्वत्रभासमानंब्रह्म। वयम्। आ+उपास्महे। आसमन्तात्। सर्वथैवोपास्मह इत्यर्थः इति ब्रह्मचारिणं प्रति कथयित्वा स्वकीयान् किङ्करान् कथयति। हे किङ्कराः! अस्मै ब्रह्मचारिणे भिक्षां यूयं दत्त। इति ब्रह्मचारिन्नेदमित्यत्र ब्रह्मचारिन्+न+इदम् इति पदच्छेदं कृत्वा। इदं ब्रह्म नोपास्महे परमेवब्रह्म वयमुपास्महे। इत्येवं व्याख्यानं कुर्वन्ति केचित् तन्नसमीचीनम्॥ ७॥

अनुवादः—शौनक कापेय ब्रह्मचारी के उसी पूर्वोक्त वचन को मन में विचारते हुए ब्रह्मचारी के निकट आये और बोले कि वह आत्मा है। देवों का उत्पादन करने वाला है। प्रजाओं का अभग्न दन्तवाला भक्षक है। परमज्ञानी है। इसकी महान् महिमा को ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं। जिस कारण स्वयं अनद्यमान हो अनन्न को भी भक्षण करता है। हे ब्रह्मचारिन्! निश्चय, हम लोग इस की उपासना करते हैं। हे किङ्करों। इस ब्रह्मचारी को भिक्षा दो॥ ७॥

पदार्थः—(शौनकः+कापेयः) कापेय शौनक (तद्+उ+ह) ब्रह्मचारी के उस वचन को (प्रतिमन्वानः) मन में पुनः २ विचारते हुए (प्रत्येयाय) ब्रह्मचारी के निकट आये और आकर वक्ष्यमाण रीति से बोले कि हे ब्रह्मचारी! हम लोग उस 'क' नामधारी ब्रह्म को जानते हैं। कैसे! सो आगे दिखलाते हैं। (आत्मा) वह ब्रह्म वायु प्राण इत्यादि नामवाला सकल स्थावर और जङ्गम का आत्मा है और (देवानाम्+जनिता) सूर्य, चन्द्र, अग्नि जलादि देवों का उत्पन्न करने वाला है और (प्रजानाम्) स्थावर जङ्गमादि सकल प्राणियों का (बभसः) भक्षक है। पुनः वह कैसा है। (हिरण्यं दंष्ट्रः) अभग्नदन्त अर्थात् जिसके दांत कभी भी टूटने वाले नहीं हैं अर्थात् अजर है। पुनः (अनसूरिः) परमविज्ञानी है। पुनः (अस्य) इसकी (महान्तम्) महान् (महिमानम्) महिमा विभूति को (आहुः) ब्रह्मविद् लोग कहते हैं (यत्) जिस कारण (अनद्यमानः) स्वयं अभक्ष्यमाण होता हुआ (अनन्नम्) जो अन्न नहीं है अर्थात् अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल आदिक

तथा वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदिकरूप अन्न को (अत्ति) खाता है (इति) ऐसी इसकी महिमा है (ब्रह्मचारिन्) हे ब्रह्मचारिन् ! (वै) निश्चय (वयम्) हम लोग (इदम्) इसकी (आ+उपास्महे) अच्छी तरह उपासना करते हैं इतना ब्रह्मचारी से कह कर शौनक कापेय अपने किङ्करों से कहते हैं कि हे किङ्करो ! (अस्मै) इस ब्रह्मचारी को (भिक्षाम् । भिक्षा (दत्त) दो इति ॥ ७ ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतथ्ठं सैषा विराडन्नादी तयेदथ्ठं सर्वं दृष्टथ्ठं सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

तस्मै । उ । ह । ददुः । ते । वै । एते । पञ्च । अन्ये । पञ्च । अन्ये । दश । सन्तः । तत् । कृतम् । तस्मात् । सर्वासु । दिक्षु । अन्नम् । एव । दशकृतम् । सा । एषा । विराट् । अन्नादी । तया । इदम् । सर्वम् । दृष्टम् । सर्वम् । अस्य । इदम् । दृष्टम् । भवति । अन्नादः । भवति । यः । एवम् । वेद । यः । एवम् । वेद ॥ ८ ॥

भाष्यम्—तस्मा इति । कापेयेन शौनकेनाभिहिताः किङ्कराः । तस्मै उ हं तस्मै ब्रह्मचारिणे भिक्षाम् । ददुर्दत्तवन्तः । इदानीमन्नं प्रशंसन्ति । ते वै एते ये अस्यन्तेऽन्याद्यो यश्चतेषांग्रसितावायुः । एते पञ्च । अन्ये वागादिभ्योऽन्ये । अग्निसूर्य्यचन्द्रापोभोज्याश्चत्वारः । वायुर्भक्षकश्चपञ्चमः । तथाच । अन्ये पञ्च अग्न्यादिभ्योऽन्ये वाक् चक्षुः श्रोत्रं मनश्चभक्ष्याश्चत्वारः पदार्थाः । प्राणोभक्षकश्चपञ्चमः सर्वे मिलित्वा दश भवन्ति । एते दश । सन्तो विद्यमाना सर्वत्रैव । तत्कृतम् । तत्सर्वं कृतमित्यभिधीयते । कृतमुत्कृष्टं द्यूतमिववा । दिशोऽपि दशैवसन्ति । अतोदिग्भिः सार्धमलङ्कारेणोपमापयति तस्मादेव कारणात्सर्वासु दशासु दिक्षु । अन्नमेव प्रथमं जीवनाधारत्वेन प्रशस्यते । यतो हि तदन्नं दशकृतं दशसु दिक्षु कृतं विहितं भवति । सा । विधेय प्रधान्यात्स्त्रीत्वम् । तदन्नमेव विराट् निगद्यते । सर्वत्रैव या विराजते सा विराट् । वेद दशाक्षरा विराड् वृत्तिरपि भवति । सा विराट् अन्नादी अन्नादिनी अपि । तया विराजा अन्नेन द्वारभूतेन । इदं सर्वं दृष्टं भवति । अन्नं विना किमपि न दृश्यत इत्यर्थः । फलं निर्दिशति । यो ब्रह्मविद् । एवं वेद जानाति । अस्यापि ब्रह्मविदः । इदं सर्वं दृष्टं भवति । सोऽपि । अन्नादी भवति । द्विरभ्यास उपासनासमाप्त्यर्थः ॥ ८ ॥

इति तृतीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–उन्होंने उसको भिक्षा दी। वे अन्य पांच (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल और वायु) और अन्य पांच (वाग, चक्षु, श्रोत्र, मन और प्राण) ये मिलकर दश होते हैं। वे कृत सदृश हैं। उस हेतु सब दिशाओं में अन्न ही दशकृत है। वह यह विराट् है। जो अन्नादी भी है। उस से यह सब देखा जाता है। इस को यह सब दृष्ट हो जाता है और यह अन्नाद होता है जो ऐसा जानता है जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

पदार्थः–जब कापेय शौनक ने अपने दासों को भिक्षा प्रदानार्थ आज्ञा दी तब (तस्मै+उ+ह) उस ब्रह्मचारी को (ददुः) उन दासों ने भिक्षा दी आगे अन्न की प्रशंसा करते हैं (ते+वै) वे (एते) ये (अन्ये+पञ्च) वागादि से अन्य पांच अग्नि सूर्य्यादि और (अन्ये+पञ्च) अग्न्यादि से अन्य पांच वागादि (दश+सन्तः) ये सब मिलकर १० होते हैं। ये दश (तत्+कृतम्) उस कृत के समान हैं (तस्मात्) उस हेतु (सर्वासु) सब (दिक्षु) दिशाओं में (अन्नमेव) अन्न ही (दशकृतम्) दश कृत है (सा+एषा) वह यह (विराट्) विराट् कहलाती है (अन्नादी) जो विराट् अन्नादी भी है (तया) विराट्रूप अन्न के द्वारा (इदम्) यह (सर्वम्) सब (दृष्टम्) देखा जाता है। क्योंकि अन्न विना कुछ भी भासित नहीं होता। आगे फल कहते हैं (अस्य) इस उपासक का (इदम्+सर्वम्+दृष्टम्+भवति) यह सर्व दृष्ट होता है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है (य एवं वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भाष्याशय=कृत–प्राचीनकाल में एक प्रकार की क्रीड़ा होती थी जिस में १० पात्र होते थे। चार पात्र ऐसे होते थे जिनके ऊपर (४) चार का अङ्क लिखा रहता था। उन चारों पात्रों का एक नाम "कृत"। तीन पात्रों के ऊपर तीन का (३) अङ्क रहता। उन तीनों का नाम "त्रेता"। दो पात्रों के ऊपर दो का (२) अङ्क रहता था। उन दोनों का नाम "द्वापर" और एक पात्र के ऊपर एक का (१) अङ्क रहता था उस का नाम "कलि" होता था। इस प्रकार ४+३+२+१=१० दश पात्र होते थे। इस क्रीड़ा का नाम भी "कृत" ही था। यहां पांच अध्यात्म और पांच अधिदैवत दश देव हैं। अतः इन देवों की उपमा कृत से दीगई है ॥ इति संक्षेपः। इतितृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति! विवत्स्यामि। किंगोत्रोन्वहमस्मीति ॥ १ ॥

सत्यकामः । ह । जाबालः । जबालाम् । मातरम् । आमन्त्रयाञ्चक्रे । ब्रह्मचर्यम् । भवति । विवत्स्यामि । किंगोत्रः । अनु (नु) । अहम् । अस्मि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—सत्यकामं इति । ऐतिह्ये हकारः प्रसिद्धः । तेन पुरातनी लोकप्रसिद्धाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते न काऽपि नूतनेति हशब्देन ध्वन्यते। जाबालोजबालाया एतन्नाम्न्याःस्त्रिया अपत्यं जाबालः । जनकस्यानुद्देशान्मातृनाम्नैव परिचेय इत्यर्थः । सत्यकामोनाम्ना सत्यकामः । सत्येब्रह्मणि कामो यस्य सः । यद्वा । सत्यः सत्ययुक्तः कामो यस्य सः । एतन्नामकः कश्चित्कुमारः । जबालांजबालानाम्नीं स्वीयां मातरम् । आमन्त्रयाञ्चके आमन्त्रितवान्पृष्टवान् । हे भवति ! हे पूजनीये मातः ! "भवतीति सम्बोधन पदम्" ब्रह्मचर्यस्वाध्यायाभ्यसनाय आचार्य्यकुले ब्रह्मचर्यं विवत्स्यामि करिष्यामि । अनेकार्थत्वादुपसर्गवशाच्च सकर्मकोऽत्र वसधातुर्गृह्यते। यद्वा। भवतीति क्रियापदम् । सत्यकामः पृच्छति । हे मातः ! बालकानां मुखाच्छ्रूयते । गुरुकुले वेदाध्ययनाय ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचर्यनामकं व्रतं भवति । तदर्थं विवत्स्यामि । प्रवासंकरिष्यामि त्वां परित्यज्य गुरुकुलं प्राप्य वासं करिष्यामीत्यर्थः । सोऽहं किंगोत्रोऽस्मि । इति । अनु । अन्वपृच्छदितिवाक्यशेषः । यद्वा । नु इतिप्रश्ने अर्थात् मम किं गोत्रमस्ति। कस्मिन् कुलेऽहमुत्पन्नोऽस्मि इति हे मातर्माकथय । आचार्य्योहि विज्ञातकुलगोत्रं माणवकमुपनीयाध्यापयतिस्मेति सत्यकामस्य किंगोत्रोहमस्मि इति प्रश्नस्य जिज्ञासा। यद्वा । सांप्रतिक व्यवहारवत्पुराप्याचार्य्यः कुलगोत्रादिकं पृच्छतिस्मेति जिज्ञासा । यद्वा । स्वकुलगोत्राऽऽगतविद्यायाः प्रथममध्ययनं कर्त्तव्यम् । तत्कुलादिपरिचयेनैव विधातुं समर्थोभविष्यामि गुरुश्चापि । इत्यतः प्रश्नस्यावकाशः ॥ १ ॥

अनुवादः—सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता जबाला से जिज्ञासा की कि हे भवति[1] पूजनीय माता ! मैं ब्रह्मचर्य के लिये आचार्यकुल में वास करूंगा मेरा गोत्र क्या है? ॥ १ ॥

पदार्थः—(ह) यह शब्द इतिहाससूचक है अर्थात् प्रसिद्ध ही इतिहास यहां कहा जाता है (जाबालः) जबाला नाम की किसी स्त्री के पुत्र (सत्यकामः) सत्य-

१–(भवति) यह सम्बोधन पद है । पुज्य, मान्य, आदरणीय आदि अर्थ होते हैं । "भवान्" (आप) इसी का बनता है । स्त्रीलिङ्ग के सम्बोधन में "भवति" होता है यद्यपि व्याकरण शास्त्र में कहीं २ कहा गया है कि त्यदादिशब्दों का सम्बोधन नहीं होता है परन्तु यह एकदेशी सिद्धान्त है अथवा "भवति" को क्रिया पद मानने से भी अर्थ होसकता है (ब्रह्मचर्य्यं भवति) हे माता ! मैं सुनता हूं कि ब्रह्मचर्य्य नामक एक व्रत होता है (विवत्स्यामि) उसके लिये मैं प्रवास करूंगा इत्यादि योजना करनी ।

काम नामक एक कुमार ने (मातरम्+जबालाम्) माता जबाला से (आमन्त्रयाञ्चक्रे) जिज्ञासा की कि (भवति) हे परमपूजनीय माता ! (ब्रह्मचर्यम्) वेदाध्ययनार्थ ब्रह्मचारी सम्बन्धी व्रत को (विवत्स्यामि) करूंगा । सो हे जननि ! (किं गोत्रः) किस गोत्र वाला (अहम्) मैं (अस्मि) हूं (अनु+इति) इस बात को तू कह । अथवा ऐसा उसने पूछा । किसी की सम्मति से यहां 'नु' शब्द का प्रयोग है जो प्रश्न बाधक है और किन्हीं पुस्तकों में "नु" वा "अनु" नहीं है ॥ १ ॥

भाष्याशयः–जाबाल–पूर्व समय में प्रायः माता के नाम से पुत्र प्रसिद्ध हुआ करता था । सत्यकाम के पिता का पता भी नहीं था इस कारण भी सत्यकाम अपनी माता के नाम से ही पुकारा जाता था । जबाला उसकी माता का नाम है । संस्कृत में जबाला के पुत्र को जाबाल कहते हैं । गोत्र–आचार्य्य लोग माणवक के प्रथम कुल, गोत्र, शीलस्वभाव जान पश्चात् अध्ययन करवाया करते थे । इसी कारण सत्यकाम को निज गोत्र पूछना पड़ा । यद्वा । जैसे आजकल स्कूल में नाम जाति गोत्र आदि बालकों के पूछे जाते हैं तद्वत् पुरातन समय में भी कुलगोत्रादि का परिचय पूछते होंगे, अतः गोत्र की जिज्ञासा हुई हो । यद्वा । निज गोत्र में प्रचलित विद्या का अध्ययन प्रथम करना चाहिये सो गोत्र जाने विना न तो मैं उसे पढ़ सकता हूं न आचार्य्यजी ही पढ़ा सकते हैं इस हेतु सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता से गोत्र की जिज्ञासा की हो ॥ १ ॥

साहैनमुवाच–नाऽहमेतद्वेद तात ! यद्गोत्रस्त्वमसि । बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साऽहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जाबालो ब्र (ब्रु) वीथा इति ॥ २ ॥

सा । ह । एनम् । उवाच । न । अहम् । एतद् । वेद । तात । यद्गोत्रः । त्वम् । असि । बहु । अहं । चरन्ती । परिचारिणी । यौवने । त्वाम् । अलभे । सा । अहम् । एतत् । न । वेद । यद्गोत्रः । त्वम् । असि । जबाला । तु । नाम । अहम् । अस्मि । सत्यकामः । नाम । त्वम् । असि । सः । सत्यकामः । एव । जाबालः । ब्रवीथाः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–साहेति । हेतिहासेषु प्रसिद्धा सा जबाला । एनं निजपुत्रं सत्यकामं प्रति ।

उवाच। हे तात! प्रियपुत्र! यद्गोत्रो यद् गोत्रं यस्य स यद्गोत्रः। त्वमसि। एतदहं न वेद न जानामि। कस्मान्नवेत्सीति प्रत्युक्ताग्रे कथयति। बहु यथा तथा भर्तृगृहे आतिथेयं चरन्ती कुर्वन्ती। परिचारिणी परिचरणशीला सेवातत्परैवाहमासम्। अतः परिचरणचित्ततया गोत्रादिस्मरणे मम चेतो नाऽभूत्। प्राप्ते च यौवने त्वामलभे लब्धवत्यस्मि। तदैव ते पिता पञ्चत्वमगमत्। अहन्त्वनाथा संवृत्ता। शोकार्त्ता साहं गोत्रादिकं कमपि न पृष्टवती। यद्वा। परिचारिणी सेवाकारिणी सती। अहं बहु। बहून् पुरुषान् इति यावत्। सामान्ये नपुंसकमेकवचनञ्चेति। चरन्ती सेवमाना। यौवने त्वामलभे त्वां जनितवत्यस्मि। साहं बहुपुरुषसंसर्गतया। एतत्तव गोत्रं न वेद यद्गोत्रस्त्वमसीति। तर्हि त्वं किमपि जानासि न वेति। एतदेवाहं जानामि। अहं तु जबाला नामास्मि जगति प्रसिद्धा त्वमसि सत्यकामो नाम। यदि तवाचार्य्यः कोऽपि पृच्छेत्त्वां नामगोत्रादिकम्। तर्हीदं वाच्यम्। अहं नामतः सत्यकामो जाबाल एवास्मि अर्थात् परमप्रसिद्धाया जबालयाः पुत्रोऽस्मि अतोनाहमप्रसिद्धोस्मि एतेनैव मम परिचयोज्ञातव्यः किं गोत्रादिजिज्ञासयेतिभावः। अनेन प्रकारेणाचार्य्यं प्रति स त्वं ब्रवीथा ब्रूहि ॥ २ ॥

अनुवादः–वह उससे बोली कि हे तात! मैं यह नहीं जानती हूं कि किस गोत्र वाला तू है। मैं सेवकी होकर बहुत सेवा में लगी हुई थी। यौवन में मैंने तुझको प्राप्त किया। यद्वा। मैं सेवकी होकर बहुत (पुरुषों) की सेवा करती हुई यौवन में तुझको जनी। सो मैं यह नहीं जानती हूं कि किस गोत्र वाला तू है। हे तात! मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है (यदि कोई आचार्य्य तेरे गोत्र आदि पूछे तो) तू यह कहना कि मैं निश्चय सत्यकाम जाबाल हूं ॥ २ ॥

पदार्थः–(ह) इतिहासमें प्रसिद्धा (सा) वह जबाला (एनम्) इस अपने पुत्र से (उवाच) बोली (न+अहम्+एतत्+वेद) मैं इसको नहीं जानती हूं (तात) हे प्रिय पुत्र! (यद्गोत्रः) जिस गोत्र वाला अर्थात् जिस गोत्र का (त्वमसि) तू है। क्योंकि (बहु) स्वामी के गृह पर अनेक प्रकार की सेवा को (चरन्ती) करती हुई (परिचारिणी+अहम्) परिचारिणी सेवकी मैं थी (यौवने) यौवन अवस्था में (त्वाम्+अलभे) तुझको मैंने पाया। यद्वा (बहु) बहुत पुरुषों की (चरन्ती) सेवा करती हुई (परिचारिणी) सेवकी (अहम्) मैं (यौवने) यौवनावस्था में (त्वाम्) तुझको (अलभे) जनी। अतः (सा+अहम्) वह सेवा करने वाली मैं (एतत्) यह (न+वेद) नहीं जानती हूं (यद्गोत्रस्त्वमसि) जिस गोत्र वाला तू है (तु) परन्तु (जबाला+नाम+अहमस्मि) जबाला नाम्नी मैं जगत् में प्रसिद्धा हूं और (सत्यकामः+नाम+त्वमसि) सत्यकाम नामी

तू है (सः) वह तू (सत्यकामः+एव+जाबालः) सत्यकाम जाबाल मैं हूं ऐसा ही पूछे जाने पर (ब्रवीथाः+इति) कहना (इति) अर्थात् परम प्रसिद्ध जबाला का मैं पुत्र हूं इस हेतु मैं अप्रसिद्ध नहीं हूं इसी से मेरा परिचय जानें । गोत्रादि की जिज्ञासा से क्या इसी भाव से जाबाल शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥

सः । ह । हारिद्रुमतम् । गौतमम् । एत्य । उवाच । ब्रह्मचर्यम् । भगवति । वत्स्यामि । उपेयाम । भगवन्तम् । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-सहेति । स ह सत्यकामो जाबालः । हारिद्रुमतं हारिद्रुमतोऽपत्यं हारिद्रुमतम् । गौतमं गौतमगोत्रोत्पन्नं कञ्चिदपि महर्षिम् । एत्य प्राप्य । इण् गतौ । उवाच । हे भगवन् ! भगवति पूजावति त्वयि । अहं ब्रह्मचर्यं वत्स्यामि । भगवतो निकटे स्वाध्यायाय ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि । इति हेतोः । भगवन्तं पूजावन्तं श्रीमन्तं त्वां शिष्यतया उपेयामुपगच्छेयं प्राप्तोऽस्मीति ॥ ३ ॥

अनुवादः-वह प्रसिद्ध (सत्यकाम जाबाल) गौतम हारिद्रुमत ऋषिके निकट जा बोला कि आप के निकट मैं स्वाध्यायार्थ ब्रह्मचर्य धारण करूंगा इसी अभिप्राय से आप की सेवा में मैं आया हूं। इति ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः+ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम जाबाल (गौतमम्) गौतम गोत्रोत्पन्न (हारिद्रुमतम्) हारिद्रुमान् नाम के ऋषि के पुत्र हारिद्रुमत से (एत्य) निकट जा (उवाच) बोला कि हे भगवन् ! (भगवति) परमपूजनीय आप के समीप (ब्रह्मचर्यम्+वत्स्यामि) स्वाध्यायार्थ ब्रह्मचर्य को धारण करूंगा इसी हेतु (भगवन्तम्) आपके समीप (उपेयाम्) प्राप्त हुआ हूं (इति) यही आप से प्रार्थना है ॥ ३ ॥

तꣳहोवाच-किंगोत्रो नु सोम्यासीति । स होवाच-नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳसा मा प्रत्यब्रवीद् "बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्नवेद

यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति" सोऽहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

तम् । ह । उवाच । किंगोत्रः । नु । सोम्य । असि । इति । सः । ह । उवाच । न । अहम् । एतद् । वेद । भोः । यद्गोत्रः । अहम् । अस्मि । अपृच्छम् । मातरम् । सा । मा । प्रत्यब्रवीद् । बहु । अहम् । चरन्ती । परिचारिणी । यौवने । त्वाम् । अलभे । सा । अहम् । एतत् । न । वेद । यद्गोत्रः । त्वम् । असि । जबाला । तु । नाम । अहम् । अस्मि । सत्यकामः । नाम । त्वम् । असि । इति । सः । अहम् । सत्यकामः । जाबालः । अस्मि । भोः । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तमिति । तमित्थमुक्तवन्तं सत्यकामं ह प्रति । स हारिद्रुमत उवाच । सोम्य ! हे प्रियतात ! त्वं किंगोत्रो नु । नु इति प्रश्ने । इत्याचार्येणाभिहितः स सत्यकामो होवाच । हे भगवन् ! यद्गोत्रोऽहमस्मि एतदहं न वेद । स्वकीयं गोत्रं न जानामि । यदि त्वं न जानासि तर्हि मातरं पितरं स्वबन्धुम्वा कथं नाप्राक्षीः । गोत्रमज्ञात्वा कथमहं त्वामुपनेष्ये । इत्याशयेन पुनः स कथयति । स्वगोत्रं मातरमपृच्छम् । सा मम माता । मा मां प्रति । अब्रवीत् । तथाहि । बहु अधिकं यथा स्यात्तथा । परिचारिणी स्वभावतः सेवापरायणाऽहम् । तव पितरं चरन्ती सेवमाना । यौवने । त्वामलभे प्रसूतवती । सेवातत्परतया गोत्रादिजिज्ञासा मया न कदापि कृता । अतः साहं 'यद्गोत्रस्त्वमसी' ति एतन्नवेद । तु परन्तु । जबालाऽहमस्मि । नाम प्रसिद्धम् । जगति जबाला नामधेयेनैव सर्वत्राऽहं प्रसिद्धास्मि । यद्वा । नाहमप्रसिद्धास्मि । प्रायः सर्वोऽपि जनो मां सम्यग् वेत्ति । यत्र यत्र मम नामधेयं त्वं कथयिष्यसि तत्र२ मां नाम्नैव ज्ञास्यति । गुरुं प्रति मम नाम वाच्यम् । तेनैव तव कार्य्यं सेत्स्यति । किंगोत्रादिजिज्ञासयेति भावः प्रतीयते । अतः सत्यकामो मातृनामैव कीर्तयति "सोऽहं जाबालोऽस्मि" परम प्रसिद्धाया जबालाया अहं पुत्रोऽस्मि मम मातुर्नाम तवापि कर्णगोचरीभूतं स्यात् कदाचित् । इति॥४॥

अनुवादः—(महर्षि हारिद्रुमत ने) उस से पूछा कि हे प्रियतात ! तेरा गोत्र क्या है ? पश्चात् वह सत्यकाम बोला हे भगवन् ! मैं यह नहीं जानता हूं कि किस गोत्र का हूं । मैंने अपनी माता से पूछा था उस ने मुझ को कहा कि 'बहुत सेवा करती हुई सेवकी मैंने यौवन में तुझ को प्राप्त किया सो मैं नहीं जानती हूं कि किस गोत्र का तू है । जबाला नाम वाली मैं हूं और सत्यकाम नामक तू है' । हे भगवन् ! सो मैं सत्यकाम जाबाल हूं ॥४॥

पदार्थः-(तम्+ह) उस सत्यकाम जाबाल से (उवाच) ऋषिने पूछा कि (सोम्य) हे प्रियतात ! (किंगोत्रः+नु) तेरा गोत्र क्या है ? (इति) इस के बाद (सः+ह+उवाच) वह बोला (भो) हे भगवन् ! (न+अहम्+एतद्+वेद) मैं इस को नहीं जानता हूं (यद्गोत्रः+अहम्+अस्मि) जिस गोत्र का हूं (मातरम्) माता से (अपृच्छम्) मैंने पूछा (सा+मा+प्रत्यब्रवीत्) उसने मुझ से कहा कि (बहु) बहुत (चरन्ती) सेवा करती हुई (परिचारिणी) सेवा परायणा (अहम्) मैंने (यौवने) यौवनावस्था में (त्वाम्+अलभे) तुझ को प्राप्त किया (सा+अहम्) सो मैं (एतत्+न+वेद) यह नहीं जानती हूं (यद्गोत्रः+त्वम्+असि) जिस गोत्र वाला तू है (जबाला+तु) परन्तु जबाला(नामाहमस्मि) नामवाली मैं हूं (सत्यकामः+नाम त्वमसि) सत्यकाम नामा तू है (इति) (भोः) हे भगवन् ! (सः+अहम्) सो मैं (सत्यकामः) सत्यकाम (जाबालः+अस्मि) जाबाल हूं (इति) ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-१-जबाला-यहां 'जबाला' और 'नाम' शब्द के प्रयोग से यह भी भाव प्रतीत होता है कि मेरा "जबाला" यह नाम जगत् में सर्वत्र सुप्रसिद्ध है । मैं जगत् में अप्रसिद्ध नहीं हूं । सब कोई प्रायः मुझ को जानते हैं । जहां २ मेरा नाम कहोगे । वहां २ मेरे नाम से ही तुम को सब कोई जान जायंगे इस हेतु केवल मेरा नाम ही अपने गुरु से कहना । इसी से तुम्हारा कार्य्य होजायगा । गोत्रादि की जिज्ञासा से क्या । इसी हेतु सत्यकाम माता के नाम का ही कीर्त्तन करता है अर्थात् जगत् सुप्रसिद्धा जबाला का पुत्र हूं । मेरी माताजी का नाम प्रायः आप लोगों को भी कर्णगोचर हुआ होगा । २-बहु+चरन्ती-अपने पति की सेवा विशेषरूप से करती हुई । यद्वा । बहुतों की सेवा करती हुई ये दोनों अर्थ घट सकते हैं परन्तु गोत्र की अज्ञानता सूचित करती है कि द्वितीय अर्थ ही ठीक है । क्योंकि कौन ऐसी होगी कि जो अपने स्वामी श्वशुर आदिक के नाम न जानती हो ॥ ४ ॥

तꣳ होवाच-नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति । समिधꣳ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये । न सत्यादगा इति । तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति । ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच-नासहस्रेणाऽऽवर्तेयेति । स ह वर्षगणं प्रोवास । ता यदा सहस्रꣳ सम्पेदुः ॥ ५ ॥

तम् । ह । उवाच । न । एतत् । अब्राह्मणः । विवक्तुम् । अर्हति । समिधम् । सोम्य । आहर । उप । त्वा । नेष्ये । न । सत्यात् । अगाः । इति । तम् । उपनीय । कृशानाम् । अबलानाम् । चतुःशताः । गाः । निराकृत्य । उवाच । इमाः । सोम्य । अनुसंव्रज । इति । ताः । अभिप्रस्थापयन् । उवाच । न । असहस्रेण । आवर्त्तेय । इति । सः । ह । वर्षगणम् । प्रोवास । ताः । यदा । सहस्रम् । सम्पेदुः ॥ ५ ॥

भाष्यम्–तंहेति । तं सत्यकामं जाबालं प्रति । ह प्रसिद्धः स महर्षिरुवाच । हे सोम्य प्रियतात ! अब्राह्मणो ब्राह्मणभिन्नोऽन्यः कश्चित् । एतन्निजदोषोद्घाटकं पूर्वोक्तसमं वचनम् । विवक्तुं प्रकाशयितुम् । नार्हति । ब्रह्मस्वभावः पुरुषआर्जवात् सत्यपरायणत्वान्निजदोषमपि न कदापि संगूहति । द्वितीयपापभयात् । एकं त्वाचरितमेव । तद्गोपनायान्यदनृतं कथंकारं वक्तव्यम् । योऽन्यथा कर्त्तुमिच्छति । स द्विगुणं पापमाचरति । अतः स्वभाव एव ब्राह्मणस्यस्वदोषं न कदापि गोपायतीति । यस्मिन् स्वभावत एव सत्यता विद्यते स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । अतस्त्वं हे सोम्य ! ब्राह्मणोऽसि । यतस्त्वम् । सत्यात् सत्यधर्मात् । न अगाः । नागमः । नापेतवानसि । न रहितोऽसि सत्यान्न दूरं गतोसीत्यर्थः । अतः । हे सोम्य ! उपनयनसंस्कारार्थं समिधं होमकाष्ठम् । आहर । आनय । त्वा । त्वाम् । उपनेष्ये । उपनीतं करिष्ये । व्यवहितेनोपेन सम्बन्धः । इति तं सत्यकामं जाबालमुपनीय उपनीतं कृत्वा । कृशानां क्षीणानाम् । दुर्बलानामबलानां गवां मध्ये । चतुःशताः चत्वारि शतानि प्रमाणमासाम् । ताः । गाः । निराकृत्य निष्काश्य । तं नवोपनीतं शिष्यमुवाच । हे सोम्य ! इमाश्चतुःशतपरिमिता गाः । अनुसंव्रज । चारयितुमनुगच्छ । इत्याचार्य्येणोक्तः । ता गाः । गोष्ठाद् अभिप्रस्थापयन् वनं गमयन् सन् स सत्यकाम आचार्य्यमुवाच । असहस्रेण गवां सहस्रेण विना न आवर्तेय इति । यावत् सहस्रमेकं गवां न भविष्यति तावन्नाहमावर्तिष्ये न निवर्तिष्ये इति । स ह सत्यकामो गाश्चारयन् । वर्षगणं बहूनि वर्षाणि । प्रोवास प्रवासं कृतवान् । ता गावो यदा यस्मिन् काले सहस्रमेकसहस्रसङ्ख्याकाः । सम्पेदुः सम्पन्ना बभूवुः । तदाहैनमृषभोऽभ्युवाद इत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ ५ ॥

अनुवादः–उस (सत्यकामजाबाल) से वे ऋषि बोले कि अब्राह्मण इसको प्रकाश नहीं कर सकता । हे सोम्य ! तू सत्य से पृथक् नहीं हुआ है । अतः हे सोम्य उपनयन की सामग्री समिध लाओ तेरा उपनयन मैं करूंगा इति । उसका उपनयन कर कृश और दुर्बल चारसौ गायें निकाल ऋषि उससे बोले कि हे सोम्य ! इन गौओं के पीछे २ जा । उसने इन गौओं को वन को प्रस्थापित करता हुआ अपने गुरु से कहा कि जब

तक ये गायें एक सहस्र न होजावेंगी तबतक मैं नहीं लौटूंगा । वह बहुत वर्षों प्रवास में रहा । जब वे गायें सहस्र हुईं तब ऋषभ उनसे बोला । इसका उत्तरखण्ड से सम्बन्ध है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(तम्+ह) उस प्रसिद्ध सत्यकाम से (उवाच) ऋषि बोले कि (एतत्) इस विषय को (अब्राह्मणः) अब्राह्मण (विवक्तुम्) प्रकाशित करने को (न+अर्हति) समर्थ नहीं होसकता । अतः (सोम्य) प्रिय ! (समिधम्) होम सामग्री समिधा (आहर) ले आओ (त्वा) तुझको (उप+नेष्ये) उपनीत करूंगा क्योंकि (सत्यात्) सत्यरूप धर्म से (न+अगाः+इति) पृथक् नहीं हुए हो । इतना कह (तम्+उपनीय) उसको उपनीत बना (कृशानाम्) क्षीण (अबलानाम्) दुर्बल गौओं के मध्य से (चतुःशताः+गाः) चारसौ गौ (निराकृत्य) गोष्ठ से निकास कर (उवाच) सत्यकाम से बोले कि (सोम्य) हे प्रियशिष्य ! (इमाः) इन गौओं के (अनुसंव्रज) चराने को पीछे २ जाओ । तत्पश्चात् (ताः) उन गौओं को (अभिप्रस्थापयन्) वन को प्रस्थापित करता हुआ सत्यकाम (उवाच) बोला कि (असहस्रेण) सहस्र गौओं के विना (न+आवर्त्तेय+इति) मैं नहीं लौट कर आऊंगा (सः+ह) वह (वर्षगणम्) अनेक वर्ष (प्रोवास) वन में रहा (ताः) वे गौएं (यदा) जब (सहस्रम्) सहस्र (सम्पेदुः) हुईं * ॥ ५ ॥ इति चतुर्थखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः खण्ड ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद-सत्यकाम ३ इति भगव ! इति ह प्रति शुश्राव । प्राप्ताः सोम्य ! सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

अथ । ह । एनम् । ऋषभः । अभ्युवाद । सत्यकाम । इति । भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव । प्राप्ताः । सोम्य । सहस्रम् । स्मः । प्रापय । नः । आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

भाष्यम्-अथेति । सन्त्युपदेशका जगति सर्व एव पदार्थाः । तेषामाचार्य्यस्तु प्रथमोऽस्ति । योऽक्षरशोऽध्यापयति । स्फटिकहृदयो विमलमानसोऽन्तर्मुखीनो धीरः कश्चित् सर्वेषु चेतनाचेतनाविशेषेषु प्रकीर्णा महती मैशीर्विद्याः प्रत्यक्षवदवलोकयति । सर्वस्मात्सर्व-

*संस्कारपरामर्शात्तदभिलापाच्च । ३६ ॥ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ३७ । (१ । ३) इत्यादि वेदान्तसूत्र और नवमखण्ड की अन्तिम समीक्षा देखो ॥

स्मात्तामनुभवेनावलोकनेन विवेकेन च विदित्वाऽऽदाय हृदि निधाय च मुनिर्भवति । मननादेव मुनिः । एतादृक् पुरुषो यत्रैव गच्छति तत्रैव ब्राह्मीं शक्तिं विस्पष्टामनुभवैकगम्यां पश्यति । सत्यकामो गाश्चारयन्नपि तत्संचारानुचारोपवेशनगोष्ठीबन्धनप्रमोदामोदादिदर्शनेन ताभ्यां अपि सुशिक्षामग्रहीत् । इमामेव शिक्षां कोमलमतीनामुपकाराय परस्परसम्वादरूपेणोपदिशति । अथ हैनमित्यादिना । अथानन्तरम् । ऋषभो गवां स्वामी बलीवर्दः ' भो सत्यकाम ३ ' इत्येनं सत्यकाममभ्युवादोवाच । ह ऐतिह्यार्थः । अथ सत्यकामः हे भगवः किमस्तीति प्रतिशुश्रावोत्तरं दत्तवान् । तत ऋषभः कथयति । हे सोम्य सुन्दरमूर्त्ते सत्यकाम ! वयं सर्वे सहस्रं सहस्रसंख्याताम् प्राप्तागताः । यद्वा । सहस्रसंख्याका वयं सम्प्रति जाताः । इयमेव तवापि प्रतीज्ञासीत्साचेदानीं पूर्णा । अतः नोऽस्मान् । आचार्य्यकुलमाचार्य्यस्थानम् । प्रापय नय ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर ऋषभ (बलीवर्द) हे सत्यकाम ३ ऐसा पुकारकर इस (सत्यकाम) से बोल उठा । तत्पश्चात् हे भगवन् ! (क्या है) ऐसा प्रतिवचन सत्यकाम ने दिया । तब पुनः बलीवर्द बोला कि सोम्य सत्यकाम ! हम लोग एक सहस्र हो गये । अतः हम लोगों को आचार्य्यकुल ले चलो ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ऋषभः) बैल (बलीवर्द) (एनम्) इस सत्यकाम से (अभ्युवाद) बोला कि (सत्यकाम ३) हे सत्यकाम अर्थात् सत्यकाम को इसके नाम से जोर से वह बलीवर्द पुकार उठा । तब (भगवः) हे भगवन् (क्या है ?) (इति) ऐसा (प्रतिशुश्राव) सत्यकाम ने प्रत्युत्तर दिया । तब पुनः वह ऋषभ बोला कि (सोम्य) हे सुन्दर मूर्त्ति सत्यकाम ! हम लोग (सहस्रम्) एक सहस्र (प्राप्ताः+स्मः) हो गये । इस हेतु (नः) हम लोगों को आचार्य्यकुल को (प्रापय) ले चलो (इति) (ह) यह शब्द इतिहाससूचक है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—जगत् में प्रायः सब ही पदार्थ उपदेशक हैं । उन में आचार्य प्रथम हैं जो अक्षरशः ब्रह्मचारियों को पढ़ाते हैं । जिनका हृदय स्फटिकवत् है, मन स्वच्छ विमल है । सदा अन्तर्मुखीन रहते हैं । ऐसे कोई २ पुरुष चेतन अचेतन सब पदार्थों में विस्तीर्ण महती ईश्वरीय विद्या को प्रत्यक्षवत् देखते हैं । उन २ पदार्थों से अनुभव अवलोकन और विवेक के द्वारा उस विद्या को देख जान हृदय में रख वे मुनि हो जाते हैं क्योंकि मुनि मनन से ही होते हैं ऐसे पुरुष जहां २ जाते हैं वहां उसी ब्राह्मी शक्ति को जो केवल अनुभव गम्य है देखते हैं सत्यकाम गायों को चराते हुए इनके संचार, अनुचार, उपवेशन, गोष्ठीबन्धन, प्रमोद, आमोद आदिक भावों को देख उनसे भी शिक्षा ग्रहण

किया करते थे इसी शिक्षा को कोमल बुद्धिवाले के उपकार के लिये सम्वादरूप से आगे दिखलाते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच-प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैषवै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

ब्रह्मणः । च । ते । पादम् । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । प्राची । दिग् । कला । प्रतीची । दिग् । कला । दक्षिणा । दिग् । कला । उदीची । दिग् । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । प्रकाशवान् । नाम ॥ २ ॥

भाष्यम्-ब्रह्मण इति । पुनरपि ऋषभो ब्रवीति । च किञ्च । ते तुभ्यम् । ब्रह्मणः परेशस्य । पादं स्थानम् । ब्रवाणि यदितवोत्कटेच्छास्यात्तर्ह्यहं ब्रह्मस्थानं तुभ्यमुपदिशेयम् । इत्यृषभेणोक्तः सत्यकामः कथयति । भगवान् ब्रह्मणः पादं मां प्रति ब्रवीतु उपदिशत्विति । इत्युक्तवते तस्मै सत्यकामाय ह । स ऋषभ उवाच । तस्य पादस्य । प्राचीदिक् पूर्वादिग् । एकाकला भागोस्ति । प्रतीची पश्चिमादिग् । द्वितीया कलास्ति । दक्षिणादिक् तृतीया कलास्ति । उदीची उत्तरादिग् । चतुर्थीकलास्ति । हे सोम्य ! ब्रह्मणः । एषचतुष्कलः चतस्रः कला यस्य स चतुष्कलः । पादः । प्रकाशवान् नाम वर्त्तते । प्रशस्तः प्रकाशोऽस्यास्तीतिप्रकाशवान् । अयमभिप्रायोस्ति । प्राची प्रभृतयश्चतस्रोदिशो ब्रह्मणः स्थानमस्ति । अस्य प्रकाशवानिति नामधेयमस्ति । चतुर्दिक्षु ब्रह्मणो प्रकाशव्याप्तिरिति दर्शयति ॥ २ ॥

अनुवादः-(हे सोम्य सत्यकाम ! यदि तेरी कांक्षा हो तो) तुझ से मैं ब्रह्म के एक पाद का वर्णन करूं (यह सुन सत्यकाम कहता है कि) भगवान् (कृपाकर) मुझे उपदेश देवें । यह सुन वह उस को उपदेश देने लगे (हे सोम्य ! ब्रह्म के पाद की) एक कला प्राची (पूर्व) दिशा है । द्वितीया कला प्रतीची (पश्चिम) दिशा है । तृतीया कला दक्षिण दिशा है चतुर्थी कला उदीची (उत्तर) दिशा है । हे सोम्य ! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

पदार्थः-सत्यकाम से ऋषभ कहता है कि हे सोम्य (ते) तुझ को (ब्रह्मणः+च) ब्रह्म की महिमारूपी (पादम्+ब्रवाणि) पाद का उपदेश करूं । अर्थात् यदि तेरी

इच्छा श्रवणार्थ हो और श्रद्धापूर्वक यदि तुम सुनना मनन करना चाहते हो तो तुम से मैं कहूं क्योंकि श्रद्धावान् को ही विद्या देनी चाहिये (इति) ऋषभ के वाक्य समाप्त होने पर वे बोले कि (भगवान्) आप कृपया (मे) मुझ जिज्ञासु शिष्य को (ब्रवीतु) उपदेश देवें (इति) यह सुन (तस्मै+ह+उवाच) उस को उपदेश देने लगे कि सोम्य ! ब्रह्म के पादकी एक (कला) कला (प्राचीदिग्) पूर्वदिशा है । द्वितीया (कला) कला (प्रतीचीदिग्) पश्चिमदिशा है । तृतीया (कला) कला (दक्षिणा+दिग्) दक्षिण दिशा है । चतुर्थी (कला) कला (उदीची+दिग्) उत्तरदिशा है (सोम्य) हे सोम्य ! (*ब्रह्मणः+एषः+चतुष्कलः+पादः*) *ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद* (*प्रकाशवान्+नाम*) प्रकाशवान् नाम से प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते । प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति । प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । प्रकाशवान् । इति । उपास्ते । प्रकाशवान् । अस्मिन् । लोके । भवति । प्रकाशवतः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । प्रकाशवान् । इति । उपास्ते ॥ ३ ॥

भाष्यम्-स य इति । स यः पुरुषो ब्रह्मणश्चतुष्कलं पादम् । एवं पूर्वोक्तगुणविशिष्टम् । विद्वान् जानन् सन् । प्रकाशवान् इति मत्वा उपास्ते विचारयति । सोऽस्मिँल्लोके प्रकाशवान् भवति । पुनः प्रकाशवतो लोकाञ्जयति । ये ये प्रकाशवन्तस्तादृशो लोकाः सन्ति तान् तद्विद्यया जानन्ति । अनेकार्थत्वादवबोधनार्थको जयतिरत्रगृह्यते । आदरार्था द्विरुक्तिः ॥ ३ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-जो कोई पुरुष ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को इस प्रकार जानता हुआ 'प्रकाशवान्' समझ विचारता है वह इस लोक में प्रकाशवान् होता है । और इस विद्या के प्रभाव से अन्य प्रकाशवान् लोक लोकान्तरों को भी जान लेता है जो इस ब्रह्म के चतुष्कल पाद को ऐसा जानता हुआ 'प्रकाशवान्' समझ विचारता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः+यः) सो जो कोई (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एतम्+चतुष्कलम्+पादम्) इस चतुष्कल पाद को (एवम्+विद्वान्) ईदृग्गुण सहित जानता हुआ (प्रकाशवान्+

इति) और प्रकाशवान् मान (उपास्ते) उपासना करता है वह विद्वान् (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (प्रकाशवान्) प्रकाशवान् होता है और (प्रकाशवतः+ह+लोकान्) प्रकाशवान् लोकों का (जयति) विजयी वा ज्ञानी होता है (य एतमेव०) पूर्ववत्। वारम्वार अभ्यासार्थ "य एवम्" इत्यादि दो वार कहागया है ॥ ३ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः खण्डः ॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

अग्निः । ते । पादम् । वक्ता । इति । सः । ह । श्वोभूते । गाः । अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ताः । यत्र । अभि । सायम् । बभूवुः । तत्र । अग्निम् । उपसमाधाय । गाः । उपरुध्य । समिधम् । आधाय । पश्चात् । अग्नेः । प्राङ् । उपोपविवेश ॥ १ ॥

भाष्यम्—अग्निरिति । सत्यकाम ! । ते तुभ्यम् । अग्निः । ब्रह्मणः एकं पादम् । वक्ता वक्ष्यति प्रकाशयिष्यति । इत्यृषभःसत्यकाममुवाचेति पूर्वखण्डेन सम्बन्धः । तद् वचनमाकर्ण्य । स ह श्वोभूते प्रस्फुटिते प्रातःकाले । गाः । अभिप्रस्थापयाञ्चकार । तस्मात्स्थानात् सर्वागाश्चालयामास । गुरोराश्रमंप्रतीतिशेषः । ताश्च गावो यदृच्छयाऽरण्ये विचरन्त्य आचार्य्यकुलाभिमुख्यः प्रस्थिताः । यत्र । यस्मिन् देशे काले वा । ता गावोऽभिसायं रात्रौ । बभूवुः । रात्रिमध्ये वर्त्तमाना बभूवुः । यद्वा । यत्राभिसायंसन्ध्यां बभूवुः । प्रादुः । भू प्राप्तावपि । यद्वा सायमभिलक्षीकृत्य बभूवुः । तत्र तस्मिन् स्थाने । स सत्यकामः । अग्निमाहवनीयाग्निम् । उपसमाधाय आयोज्य । गा उपरुध्य कस्यांचिद्गोष्ठायां बध्वा निवार्य्य स्थापयित्वा वा । समिधं होमसामग्रीभूतानिकाष्ठानि । आधायाग्नौ संयोज्य । अग्नेः पश्चात् । प्राङ्प्राङ्मुखःसन् । उपोपविवेश अग्नेः समीपमुपविवेशेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—"सत्यकाम से ऋषभ ने कहा कि हे सत्यकाम!" ब्रह्म के (द्वितीय) पाद का उपदेश तुम से अग्नि करेंगे (इतना वचन कह ऋषभ वहां से चले गये) अनन्तर वह प्रसिद्ध सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल गौवों को (आचार्य्यकुल की ओर) ले चला।

जहां उन गौओं को सन्ध्याकाल प्राप्त हुआ वहां वह सत्यकाम गौओं को (किसी गोष्ठी में) बन्द कर वा बांध, अग्नि प्रज्वलित कर उसमें समिधायें दे अग्नि के पीछे उसके समीप पूर्वाभिमुख हो बैठ गये ॥ १ ॥

पदार्थः-(अग्निः) अग्नि (ते) तुम से (पादम्) ब्रह्म के अन्य पाद का अर्थात् द्वितीयपाद का (वक्ता इति) उपदेश वा व्याख्यान करेंगे। इतना कह ऋषभ वहां से चले गये। इतनी बात पूर्व खण्ड से सम्बन्ध रखती है (सः+ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (श्वोभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल (गाः) गौवों को (अभिप्रस्थापयाञ्चकार) आचार्यकुल की ओर ले चले (ताः) उन गौवों ने (यत्र) जिस समय वा स्थान में (अभिसायम्) सन्ध्या को (बभूवुः) प्राप्त किया अर्थात् जहां गौवों को सन्ध्या होगई (तत्र) वहां वह सत्यकाम (अग्निम्+उपसमाधाय) अग्नि को प्रज्वलित कर (गाः+उपरुध्य) किसी गोष्ठी में गौओं को बन्द वा छेककर (समिधम्+आधाय) हवन सामग्री का अग्नि में आधान कर (अग्नेः+पश्चात्) अग्नि के पीछे (प्राङ्) प्राचीन मुख हो (उपोपविवेश) अग्नि के समीप ही बैठगये ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद—सत्यकाम३ इति । भगव ! इति प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

तम् । अग्निः । अभ्युवाद । सत्यकाम३ । इति । भगवः । इति । प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भाष्यम्—तमिति । अग्निः । तं सत्यकामं जाबालम् । अभ्युवादाऽऽह्वयामासोवाच । भोः सत्यकाम३इति । दूरात्सम्बोधनमेतत् । अग्निवचनं श्रुत्वा सत्यकामः । हे भगवो भगवन् पूज्य ! किमस्ति । इति ह प्रति शुश्राव प्रत्युत्तरं दत्तवान् ॥ २ ॥

अनुवादः-सत्यकाम२ सत्यकाम२ कहकर अग्नि ने सत्यकाम को दूर से ही पुकारा (अग्नि के वचन सुनकर सत्यकाम ने) हे भगवन् ! क्या है ऐसा प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

पदार्थः-(अग्निः) अग्नि (तम्) उस सत्यकाम को (सत्यकाम३) हे सत्यकाम २ कहकर दूर से ही (अभ्युवाद) पुकार उठे । अग्नि के इस वचन को सुन सत्यकाम ने (भगवः+इति) हे भगवन् ! पूज्य माननीय ! क्या है । ऐसा (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया यह विषय सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच-पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः

कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥३॥

ब्रह्मणः । सोम्य । ते । पादम् । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । पृथिवी । कला । अन्तरिक्षम् । कला । द्यौः । कला । समुद्रः । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । अनन्तवान् । नाम ॥ ३ ॥

भाष्यम्-ब्रह्मण इति । हे सोम्य प्रियपात्र सत्यकाम ! ते तुभ्यम् । ब्रह्मणः परमेशस्य । पादमुक्तादन्यत्स्थानम् । ब्रवाणि कच्चित् ? यदि तवाभिलाषः स्यात्तर्हि कथयेयमिति सत्यकाममग्निरुवाच । ततः सत्यकामोब्रूते । भगवान् । मेमह्यम् । ब्रवीत्तूपदिशतु । इत्यहं प्रार्थये । अनन्तरम् । सोऽग्निः । तस्मै ह सत्यकामाय । उवाचोपदिदेश । किमुपदिदेशेति काङ्क्षायां पृथिव्यादि प्रारभ्यते । ब्रह्मण एका कला स्थानं पृथिवी । द्वितीया कलाऽन्तरिक्षं पृथिव्या ऊर्ध्वं द्युलोकादधोवर्तिस्थानम् । तृतीया कलाद्यौर्गतिद्युलोकम् । चतुर्थीकलासमुद्र एव । हे सोम्य ! ब्रह्मण एषचतुष्कलः । चतस्रः कला यस्मिन् यस्यवा स चतुष्कलः । पादः । अनन्तवानितिनामधेयम् । अस्य पादस्यानन्तवानितिनामधेयं वर्त्तत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः-अग्नि कहते हैं कि हे सोम्य ! मैं तुम से ब्रह्म के अन्यपाद का उपदेश करूं (अर्थात् यदि उपदेश सुनने की तुम्हारी कामना हो तो मैं उपदेश करूं) (इस वचन को सुन सत्यकाम जाबाल ने उत्तर दिया) भगवान् कृपाकर मुझे उपदेश देवें । तब अग्नि उससे बोले कि सोम्य ! उस ब्रह्म की एक कला (पाद) पृथिवी, द्वितीया कला अन्तरिक्ष, तृतीया कला द्युलोक और चतुर्थी कला समुद्र है । हे सोम्य ! निश्चय कर ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद का नाम अनन्तवान् है ॥ ३ ॥

पदार्थः-अग्नि सत्यकाम से कहते हैं (सोम्य) हे सोम्य ! (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (पादम्) स्थान का (ते) तुझ से (ब्रवाणि+इति) व्याख्यान करूं यदि ब्रह्मज्ञान श्रवणार्थ तुम्हें उत्कट इच्छा हो तो मैं उपदेश दूं यह सुन सत्यकाम कहता है (भगवान्) भगवान् पूजनीय आप (मे) मुझ से (ब्रवीतु+इति) उस का उपदेश कृपाकर देवें (तस्मै+ह) उस सत्यकाम को (उवाच) वे अग्नि उपदेश देने लगे कि (कला+पृथिवी) उस ब्रह्म की प्रथम कला पृथिवी है (कला+अन्तरिक्षम्) द्वितीया कला अन्तरिक्ष है (द्यौः+कला) तृतीया कला द्युलोक है (कला+समुद्रः) चतुर्थी कला समुद्र है (सोम्य) हे भव्यमूर्त्ते सत्यकाम ! (वै) निस्सन्देह (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एषः) यह (चतुष्कलः)

चतुष्कला सम्पन्न (पादः) स्थान (अनन्तवान् नाम) अनन्तवान् नाम का है जिस का अन्त नहीं और जो सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति । य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । अनन्तवान् । इति । उपास्ते । अनन्तवान् । अस्मिन् । लोके । भवति । अनन्तवतः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । अनन्तवान् । इति । उपास्ते ॥ ४ ॥

भाष्यम्—सय इति । स यो ब्रह्मवित् पुरुषः ब्रह्मणः । एतं सर्वत्र दृश्यमानम् । चतुष्कलम् । पृथिव्यन्तरिक्षद्युसमुद्रा इति चतस्रः कलायस्मिन् सः । तं चतुष्कलम् । पादं स्थानम् । एवं पूर्वोक्त गुणसहितं विद्वान् जानन् सन् अनन्तवानिति विदित्वा । उपास्ते सम्यग् विचारयति। स उपासकोऽपि अस्मिन् मर्त्यलोके । अनन्तवान् भवति जायते । पुनः । अनन्तवतो लोकान्जयति जानाति य एवमित्यादि द्विरुक्तिर्गौरवार्था ॥ ४ ॥

इति षष्ठखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—जो कोई ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को पूर्वोक्तगुण सहित जानता हुआ "अनन्तवान्" ऐसा जान विचारता है वह इस लोक में अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकों का विजय करता है जो कोई ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को ऐसा जानता हुआ "अनन्तवान्" समझ विचारता है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(सः+यः) सो जो कोई ब्रह्मविद् पुरुष (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एतम्) इस (चतुष्कलम्) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्ररूप चार कला वाले (पादम्) पाद को (एवम्+विद्वान्) पूर्वरूप जानता हुआ (अनन्तवान्+इति) अनन्तवान् समझ कर (उपास्ते) विचारता है वह (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (अनन्तवान्+भवति) अनन्तवान् होता है (अनन्तवान् होने से अभिप्राय ईश्वर की अनन्त महिमा जानने से है) और (अनन्तवतः+लोकान्+ह) अनन्तवान् लोकों का (जयति) जय करता है अर्थात् मोक्ष पाता है (यः+एतमेवम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

इति षष्ठखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

हꣳसस्ते पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

हंसः । ते । पादम् । वक्ता । इति । सः । ह । श्वोभूते । गाः । अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ताः । यत्र । अभि । सायम् । बभूवुः । तत्र । अग्निम् । उपसमाधाय । गाः । उपरुध्य । समिधम् । आधाय । पश्चात् । अग्नेः । प्राङ् । उपोपविवेश ॥ १ ॥

भाष्यम्-हंस इति । हे सोम्य सत्यकाम जाबाल ! अतः परम् । ते तुभ्यम् । हंसः । ब्रह्मणस्तृतीयं पादं वक्तेति वक्ष्यति उपदेक्ष्यतीति अग्निः सत्यकाममुवाचेति पूर्वखण्डेन सम्बन्धः । कथयित्वा चाग्निस्तस्मात् प्रतस्थे । अनन्तरम् । स ह श्वोभूते गा इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । सर्वाणि पदानि व्याख्यातानि ॥ १ ॥

अनुवादः-हे सत्यकाम अत्र इसके पीछे हंस तुम से ब्रह्म के एक पाद का वर्णन करेंगे इतना वचन कह अग्नि वहां से चले गये । पश्चात् अन्य दिवस प्रातःकाल वे प्रसिद्ध सत्यकाम गौवों को (आचार्यकुल की ओर) ले चले जहां पर गौवों को सन्ध्या होगई वहां वे सत्यकाम उन गौवों को किसी गोष्ठी में अवरुद्ध कर अग्नि की आयोजनाकर समिधाएं उसमें दे अग्नि के पीछे और उसी के समीप पूर्वाभिमुख हो बैठ गये ॥ १ ॥

पदार्थः-(हंसः) हंस (ते) तुझ से (पादम्) ब्रह्म के एक पाद का (वक्ता) उपदेश करेंगे (इति) इतना वचन कह अग्नि वहां से चले गये । यह पूर्वखण्ड से सम्बन्ध रखता है । पश्चात् (सः+ह) वह प्रसिद्ध सत्यकाम (श्वोभूते) दूसरे दिन प्रातःकाल (गाः) गौवों को (अभिप्रस्थापयाञ्चकार) आचार्यकुल की ओर ले चले (ताः) उन गौवों ने (यत्र) जहां (अभिसायम्) सन्ध्या को (बभूवुः) प्राप्त किया । अर्थात् जहां उन गौवों को सन्ध्या प्राप्त हुई (तत्र) वहां वह सत्यकाम जाबाल (अग्निम्+उपसमाधाय) अग्नि को समीप में जला (गाः+उपरुध्य) गौवों को छेक (समिधम्+आधाय) समिधाएं अग्नि में डाल (पश्चात्) तदनन्तर (प्राङ्) पूर्वाभिमुख हो (अग्नेः) अग्नि के (उपोपविवेश) अति समीप बैठ गये ॥ १ ॥

तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद–सत्यकाम३इति । भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

तम् । हंसः । उपनिपत्य । अभ्युवाद । सत्यकाम३ । इति । भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भाष्यम्–तमिति । हंसः । उपनिपत्य । सत्यकामस्य समीपमागत्य । सत्यकाम३ इति सम्बोध्य तं सत्यकामम् । अभ्युवाद । आजुहाव । सोऽपि । हे भगवो भगवन् ! किमस्ति । इति । ह । प्रतिशुश्राव । प्रत्युत्तरं ददौ ॥ २ ॥

अनुवादः–हंस उसके समीप आ हे सत्यकाम ! हे सत्यकाम ! ऐसे उसको पुकारने लगे । तदनन्तर हे भगवन् ! क्या आज्ञा होती है ऐसा उसने उत्तर दिया ॥ २ ॥

पदार्थः–(हंसः) हंस (उपनिपत्य) सत्यकाम के समीप आकर (सत्यकाम३) हे सत्यकाम ! इस प्रकार सम्बोधन कर (तम्) उसको (अभ्युवाद) पुकारने लगे । पश्चात् (भगवः+इति) हे भगवन् ! क्या है क्या आज्ञा होती है ऐसा (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर उसने दिया ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्य्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

ब्रह्मणः । सोम्य । ते । पादम् । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । अग्निः । कला । सूर्यः । कला । चन्द्रः । कला । विद्युत् । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कला । पादः । ब्रह्मणः । ज्योतिष्मान् । नाम ॥ ३ ॥

भाष्यम्–ब्रह्मण इति । हे सोम्य सत्यकाम ! ते तुभ्यम् । अहम् । ब्रह्मणः । महेशानस्य । तृतीयं पादम् । स्थानम् । ब्रवाणि कथयेयम् । उपदिशेयमिति यावत् । यदि तवाभिलाषःस्यात् । इति वचनमाकर्ण्य । "भगवान् मे ब्रवीतु" इति सत्यकामः प्रत्युवाच । पश्चात् । तस्मै ह प्रसिद्धाय सत्यकामाय हंस उवाच । यत् । ब्रह्मणः पादस्य । एका कला अग्निरस्ति । द्वितीया कला सूर्यः । तृतीया कला चन्द्रः । चतुर्थी कला विद्युत् । हे सोम्य ! वै निश्चितम् । ब्रह्मण एष चतुष्कलः । अग्निसूर्यचन्द्रविद्युतश्चतस्रः कला अंशाभागा यस्मिन् । स चतुष्कलः पादः । नाम । नाम्ना । ज्योतिष्मान् इति । प्रशस्तानि ज्योतींषि अस्येति । ज्योतिष्मानिति । नामेति प्रसिद्धं वा ॥ ३ ॥

अनुवादः–हे सोम्य ! सत्यकाम ! मैं तुम से ब्रह्म के तृतीयपाद का उपदेश करूं (यदि तेरी इच्छा हो) इसे सुन सत्यकाम कहते हैं कि कृपया मुझको भगवान् उपदेश देवें । तब हंस उसे उपदेश देने लगे कि हे सोम्य ! ब्रह्म के पाद की एक कला अग्नि, द्वितीया कला सूर्य, तृतीया कला चन्द्रमा और चतुर्थीकला विद्युत् है। हे सोम्य ! ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद का नाम ज्योतिष्मान् है ॥ ३ ॥

पदार्थः–(सोम्य) हे सोम्य सुन्दर सत्यकाम (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (पादम्) रहने की जगह का (ते) तुझ से मैं (ब्रवाणि) उपदेश करूं यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुमसे ब्रह्म के स्थान का उपदेश करूं (इति) इस वचन को सुन सत्यकाम कहते हैं कि (भगवान्) परमपूजनीय आप (मे+ब्रवीतु+इति) मुझसे ब्रह्म के पाद का उपदेश कृपया करें। तत्पश्चात् (तस्मै) उस सत्यकामार्थ (ह+उवाच) वह प्रसिद्ध हंस बोले वा उपदेश करने लगे कि हे सत्यकाम ! (अग्निः+कला) ब्रह्म के पाद की एक कला अग्नि है (सूर्यः+कला) द्वितीया कला सूर्य है (चन्द्रः+कला) तृतीया कला चन्द्रमा है (विद्युत्+कला) चतुर्थी कला विद्युत् है (सोम्य) हे सोम्य (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (एषः) यह (चतुष्कलः) चतुष्कल (पादः) स्थान (ज्योतिष्मान्+नाम) ज्योतिष्मान् नाम का है अथवा ज्योतिष्मान् नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिꣳल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । ज्योतिष्मान् । इति । उपास्ते । ज्योतिष्मान् । अस्मिन् । लोके । भवति । ज्योतिष्मतः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । ज्योतिष्मान् । इति । उपास्ते ॥ ४ ॥

भाष्यम्–स य इति । ब्रह्मणो ज्योतिष्मतः पादस्य तत्त्ववेत्तापि ज्योतिष्मान् भवति । तथा ज्योतिष्मतो लोकान् सम्यग् विदित्वा तेषामखिलगुणग्रामावबोधेन विजयी भवतीत्युपचर्यते । पदानि सर्वाणि व्याख्यातप्रायाण्येव सन्ति ॥ ४ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः- जो कोई ब्रह्मविद् ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को पूर्वोक्त प्रकार से जानता हुआ "ज्योतिष्मान्" समझ कर विचारता है । वह इस लोक में ज्योतिष्मान् होता है और निश्चय ज्योतिष्मान् लोगों का विजयी होता है । जो कोई इस को ऐसा जानता हुआ ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को ज्योतिष्मान् जान विचारता है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(सः) सो (यः) जो कोई ब्रह्मविद् पुरुष (ब्रह्मणः+एतम्+चतुष्कलम्+पादम्) ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को (एवम्+विद्वान्) ऐसा जानता हुआ (ज्योतिष्मान्+इति) ज्योतिष्मान् समझ (उपास्ते) विचारता है (अस्मिन्+लोके+ज्योतिष्मान्+भवति) वह इस लोक में ज्योतिष्मान् होता है तथा (ज्योतिष्मतः+ह+लोकान्+जयति) ज्योतिष्मान् लोकों का विजयी होता है (यः) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥

मद्गुः । ते । पादम् । वक्ता । इति । सः । ह । श्वोभूते । गाः । अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ताः । यत्र । अभि । सायम् । बभूवुः । तत्र । अग्निम् । उपसमाधाय । गाः । उपरुध्य । समिधम् । आधाय । पश्चात् । अग्नेः । प्राङ् । उपोपविवेश ॥ १ ॥

भाष्यम्-मद्गुरिति । हे सोम्य सत्यकाम ! अतः परमेकं पादं ब्रह्मणः । ते तुभ्यम् । मद्गुर्जलचरपक्षिविशेषः । वक्ता । वक्ष्यति । उपदेक्ष्यति । इति कथयित्वा हंसोऽगमत् । अन्यानि सर्वाणि पदानि पूर्ववद् वर्तन्ते । अतो न व्याख्यायन्ते ॥ १ ॥

अनुवादः-हे सोम्य सत्यकाम ! तुम से ब्रह्म के एक पाद का उपदेश मद्गु करेंगे । यह कह हंस वहां से चले गये । तदनन्तर वह सत्यकाम दूसरे दिन प्रातःकाल गौवों को आचार्यकुल की ओर ले चले । जहां इन को सन्ध्या होगई वहां वह सत्यकाम अग्नि को प्रज्वलितकर गौवों को गोष्ठी में छेक अग्नि में समिधाएं दे पश्चात् पूर्वाभिमुख हो अग्नि और उन गौवों के समीप ही बैठ गये ॥ १ ॥

पदार्थः-(मद्गुः) एक प्रकार के जलचर पक्षी और सब पद पूर्ववत् हैं । इस लिये पदार्थ नहीं कहे गये ॥ १ ॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद–सत्यकाम३इति । भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

तम् । मद्गुः । उपनिपत्य । अभ्युवाद । सत्यकाम ३ । इति । भगवः । इति । प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भाष्यम्–तमिति । पूर्ववत् ।

अनुवादः–मद्गु उस के निकट आ हे सत्यकाम ! ऐसा सम्बोधन कर बोले । अनन्तर हे भगवन् क्या है । इस प्रकार सत्यकाम ने उत्तर दिया ॥ २ ॥

पदार्थः–पूर्ववत् जानना मद्गु=जलचर पक्षी ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच–प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

ब्रह्मणः । सोम्य । ते । पादम् । ब्रवाणि । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच । प्राणः । कला । चक्षुः । कला । श्रोत्रम् । कला । मनः । कला । एषः । वै । सोम्य । चतुष्कलः । पादः । ब्रह्मणः । आयतनवान् । नाम ॥ ३ ॥

भाष्यम्–ब्रह्मण इति । हे सोम्य प्रियतात सत्यकाम ! ते । तुभ्यम् । अहम् । ब्रह्मणः । एकम् । पादम् । ब्रवाणि । उपदिशेयम् । यदि तवाभिकाङ्क्षा स्यात् । इति मद्गुः सत्यकाममुवाच । सोऽपि तच्छ्रुत्वा । भगवान् । पूजावान् भवान् । मे । मह्यम् । ब्रवीतु । कृपया ब्रह्मणः पादमुपदिशतु । ततः । तस्मै । सत्यकामाय । सहोवाच । यत् ब्रह्मणः । एका कला प्राणोस्ति । द्वितीया कला चक्षुरस्ति । तृतीया कला श्रोत्रमस्ति । चतुर्थी कला मनोस्ति । हे सोम्य ! ब्रह्मणश्चतुष्कलः एष पाद आयतनवान् नाम । वै इति निश्चयेन ज्ञातव्यम् । आयतनम् नाम स्थानम् । अत्र सर्व करणोपहृतानां भोगानां मन एव आयतनं भवति । अतोत्र आयतनपदेन मनो गृह्यते । आयतनम् । मनो विद्यतेस्मिन्नित्यायतनवान् ॥ ३ ॥

अनुवादः–हे सोम्य सत्यकाम यदि तेरी आकांक्षा हो तो मैं तुम से ब्रह्म के एक पाद का उपदेश करूं । यह सुन सत्यकाम ने कहा कि भगवान् कृपाकर मुझ को ब्रह्म के उस पाद का उपदेश देवें । तब वह उस को उपदेश देने लगे कि ब्रह्म की एक कला प्राण

है । द्वितीया कला चक्षु है । तृतीया कला श्रोत्र है । चतुर्थी कला मन है । हे सोम्य ! ब्रह्म के इस चतुष्कलपाद का नाम आयतनवान् है ॥ ३ ॥

पदार्थः-मद्गु कहते हैं कि (सोम्य) हे सोम्य प्रिय सत्यकाम ! (ते) तुझ को मैं (ब्रह्मणः पादम्) ब्रह्म के एक पाद का (ब्रवाणि) उपदेश करूं । यदि तेरी इच्छा हो । यह सुन सत्यकाम ने कहा कि हे भगवन् (भगवान्) परम पूजनीय आप (मे+ ब्रवीतु इति) ब्रह्म के एकपाद का उपदेश मुझ को कृपया देवें । यह प्रार्थना करता हूं । तदनन्तर वह (तस्मै) उस को (ह+उवाच) उपदेश देने लगे (प्राणः+कला) ब्रह्म के पाद की एक कला प्राण है (चक्षुः+कला) द्वितीया कला चक्षु है (श्रोत्रम्+कला) तृतीया कला श्रोत्र है (मनः+कला) चतुर्थी कला मन है (सोम्य) हे सोम्य (ब्रह्मणः+ एषः+चतुष्कलः+पादः) ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद (आयतनवान्+नाम) आयतनवान् नामक है (वै) ऐसा निश्चय कर मानो ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । आयतनवान् । इति । उपास्ते । आयतनवान् । अस्मिन् । लोके । भवति । आयतनवतः । ह । लोकान् । जयति । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । चतुष्कलम् । पादम् । ब्रह्मणः । आयतनवान् । इति । उपास्ते ॥ ४ ॥

भाष्यम्-ऋज्वर्थं सर्वं प्रायः सर्वे पदार्था व्याख्याता एव ॥ ४ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अनुवादः-जो कोई ब्रह्मविद् ब्रह्म के इस चतुष्कलपाद को ऐसा जानता हुआ उसे "आयतनवान्" मानकर उस की भावना वा पुनः २ विचार करता है वह इस लोक में आयतनवान् होता है । और आयतनवान् लोक लोकान्तरों को निश्चय रूप से विजयी वा विज्ञाता होता है । जो ब्रह्मविद् ब्रह्म के इस चतुष्कल पाद को ऐसा जानता हुआ आयतनवान् मान उपासता है ॥ ४ ॥

पदार्थः-इस के सब पद पूर्व व्याख्यात हो चुके हैं अतः पदों का अर्थ यहां नहीं लिखा जाता ॥ ४ ॥ इत्यष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

प्रापहाचार्यं कुलम् । तमाचार्योऽभ्युवाद-सत्यकाम ३ इति । भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

प्राप । ह । आचार्यकुलम् । तम् । आचार्यः । अभ्युवाद । सत्यकाम ३ । इति । भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

भाष्यम्-प्रापेति । ह प्रसिद्धः । स सत्यकामो गवां सहस्रेणसाकम् । आचार्यकुलम् । गुरुकुलंगुरुवासभूमिम् । प्रापाजगाम । ततः । सत्यकाममवलोक्य । आचार्यः । दूरादेव । सत्यकाम ३ इत्युच्चैस्तरां सम्बोध्य सोत्कण्ठमभ्युवाद प्रेम्णा आजुहाव । सोऽपि । आचार्य्यवचनं श्रुत्वा । भगवो हे भगवन् ! अयमहमस्मि । भवत्कृपया भगवत्पादमूलं प्राप्तोस्मीति विनयेन प्रतिशुश्राव प्रत्युवाच ॥ १ ॥

अनुवादः-(वह सत्यकाम) आचार्य कुल में लौट आये । आचार्य ने (बड़े प्रेम से) हे सत्यकाम ३ कह कर दूर से ही उसे पुकारा (सत्यकाम ने) हे भगवन् (यह मैं हूं आप की कृपा से आप के चरणमूल में प्राप्त हुआ हूं क्या आज्ञा होती है) इस नम्रता से उत्तर दिया ॥ १ ॥

पदार्थः-(ह) वह प्रसिद्धसत्यकाम (आचार्यकुलम्) आचार्यकुलको (प्राप) लौट आया (आचार्य्यः) आचार्य्य (सत्यकाम ३) दूर से ही सत्यकाम सत्यकाम कह कर (तम्) उस को (अभ्युवाद) पुकारने लगे । उस ने भी नम्रता से (भगवः) हे भगवन् क्या आज्ञा होती है (इति ह) इस तरह (प्रतिशुश्राव) प्रत्युत्तर दिया ॥ २ ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे । भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

ब्रह्मविद् । इव । वै । सोम्य । भासि । कः । नु । त्वा । अनुशशास । इति । अन्ये । मनुष्येभ्यः । इति । ह । प्रतिजज्ञे । भगवान् । तु । एव । मे । कामे । ब्रूयात् ॥ २ ॥

भाष्यम्-ब्रह्मविदिति । स्मिताननं प्रफुल्लितगात्रं प्रसन्नचेतसमानन्दोल्लासितमात्मक्रीडमिवात्मरतिमिव निःशोकमिव लब्धात्मप्रसादमिव स्वशिष्यं सत्यकामं निरीक्ष्याचार्य्योऽप्राक्षीत् ।

हे सोम्य ! वै निश्चितम् । त्वम् । ब्रह्मविदिवब्रह्मज्ञ इव । भासि शोभसे । नु । ननु । को ब्रह्मविद् । मदन्यः । त्वा त्वाम् । अनुशशास । अनुशिष्टवान् । उपदिष्टवानित्यर्थः । मत्तोऽनधीतविद्योऽपि सविद्य इव त्वं मुखेन चेष्टया च लक्ष्यसे अतस्त्वमुपदिष्टोऽसि केनापि कारुणिकेनात्मविदा । स कोऽस्तीदृक्कारुणिकः पुरुषः । सत्यकाम आचार्यवचनं श्रुत्वोत्तरति । मनुष्येभ्य अन्य आचार्य्याइति । मह्यमनुशिष्टवन्त इति वाक्य शेषः । एते दृश्यमानाः प्राकृताः पदार्था एव मम आचार्य्या अभूवन् न केऽपि मनुष्या इति ह प्रतिजज्ञे प्रतिज्ञातवान्प्रत्युक्तवानित्यर्थः । तथापि हे भगवन् ! नाहमात्मविद् । नाचार्य्यः सम्वृत्तोस्मि न च तावतैवानुशासनेनाहं सन्तुष्टः । न वा भवदीयां शिष्यतामपहाय समावर्तिष्ये । किन्तु भगवानेव । मे मह्यम् । कामे । इच्छायांसत्याम् । ब्रूयादुपदिशतु हे भगवन् ! अहं । तानुपदेशान् नार्थतो गणयामि । भगवदुपदेश एव मामुपकारिणं ब्रह्मविदञ्चविधास्यति । अतोऽवश्यं भगवान् मह्यमुपदिशतु ॥ २ ॥

अनुवादः–(आचार्य ने पूछा) कि हे सोम्य ! तुम ब्रह्मवित् समान, निश्चय, सुशोभित होरहे हो । तुम्हे किसने अनुशासन किया है। यह सुन सत्यकाम ने प्रतिज्ञा की कि हे भगवन् ! मनुष्यों से अन्य । परन्तु भगवान् ही मुझ को स्वेच्छानुसार उपदेश देवें ॥ २ ॥

पदार्थः–(सोम्य) हे सोम्य सुशील सुन्दर प्रकृते सत्यकाम ! (वै) निश्चय । तुम (ब्रह्मविद्+इव) ब्रह्मविद् पुरुष की नाईं (भासि) सुशोभित होरहे हो । हे सोम्य ! (कः) किसने (त्वा) तुझ को (अनुशशास) अनुशासन किया (नु) मैं तर्क करता हूं कि अवश्य तुझ को किसी ने उपदेश किया है । जिससे तुम ऐसे भासित होरहे हो (इति) आचार्य्य ने ऐसा पूछा यह सुन सत्यकाम ने (प्रतिजज्ञे) प्रतिज्ञा की । अर्थात् उत्तर दिया कि (अन्ये+मनुष्येभ्यः+इति) हे भगवन् ! मनुष्यों से अन्य अर्थात् मनुष्यों से अन्यों ने मुझे उपदेश दिया है (तु) परन्तु (भगवान्+एव) आप ही (मे) मुझ को (कामे) अपनी इच्छानुसार जब जब आप की इच्छा हो तब २ (ब्रूयात्) उपदेश देवें ॥ २ ॥

भाष्याशयः–स्मितानन, प्रफुल्लितगात्र, प्रसन्नचेता, आनन्दोल्लासित, आत्मक्रीड़ की नाईं आत्मरत के समान निःशोकसा, लब्धात्मप्रसादसा उस सत्यकाम को देख आचार्य्य ने समझा कि यह ब्रह्मवित्सा प्रतीत होता है । क्योंकि ब्रह्मवित् पुरुष के लक्षण ही कुछ अन्य होते हैं । विद्वान् लोग मुख की कान्ति और चेष्टा से समझ लेते हैं सत्यकामं

की चेष्टा से आचार्य्य ने समझा कि यह अवश्य मुनि हो आया है अतः उससे पूछा कि तुम को किस ने शिक्षा दी इत्यादि ॥ २ ॥

श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति। तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

श्रुतम्। हि। एव। मे। भगवद्दृशेभ्यः। आचार्य्याद्। ह। एव। विद्या। विदिता। साधिष्ठम्। प्रापयति। इति। तस्मै। ह। एतत्। एव। उवाच। अत्र। ह। न। किञ्चन। वीयाय। इति। वीयाय। इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—श्रुतमिति। सत्यकामोब्रूते। भगवन् गुरो! लब्धा विद्या प्रकृतितः। प्रसादोऽपि प्राप्तः। आत्मरतिरपि स्वल्पीयसी समुपरूढा। तथाप्याचार्योपदेशपीयूषलवपानमन्तरा न तत्सर्वं साधीय इति। कथम्? भगवद्दृशेभ्योभगवत्समानेभ्य आचार्येभ्यःसकाशात्। मे मम। श्रुतं श्रवणम्। हि निश्चयेनैव विद्यते। किमस्ति श्रुतमित्याकाङ्क्षायाम्। आचार्य्याद्धैव। आचार्य्यादेव गुरोः सकाशादेव। विदिताऽधीता विज्ञाता सती विद्या। साधिष्ठं साधुतमत्वं कल्याणतमत्वमित्यर्थः। प्रापयति साधकं नयतीति। अतोयदृच्छयामेभगवानेव ब्रह्मानुशास्तु तत इदं सत्यकामवचनं श्रुत्वाऽऽआचार्योह। सुशीलाय, ऋजवे, शुश्रूषवे, ब्रह्मनिष्ठाय तस्मै सत्यकामाय। एतदेव। प्राकृतपदार्थेभ्यो यज्ज्ञानं पूर्वमुपलब्धम्। तदेतदेवविज्ञानमुवाचोपदिदेश। हे सोम्य! अत्रास्यां प्रकृतिलब्धायां विद्यायाम्। किंचन किञ्चिदपिन्यूनत्वम्। न ह वीयाय न विद्यते। पूर्णमेतज्ज्ञानं त्वयोपलब्धम्। तदेव मननादि व्यापारेण निदिध्यास्यतां नातः परं किमपितत्त्वमवशिष्यते। द्विरावृत्तिर्विद्यापरिसमाप्त्यर्था ॥ ३ ॥ इति नवमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—क्योंकि पूजनीय आप के समान आचार्यों से मुझ को सुना हुआ ही है कि आचार्य से ही विदित विद्या कल्याणकर वस्तुकी ओर ले जाती है (अतः मैं आप से प्रार्थना करता हूं कि आप ही मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश देवें) यह सुन आचार्य ने उसी विज्ञान का उसको उपदेश किया और कहा कि इस में कोई न्यूनता नहीं रह गई है। इस में कोई न्यूनता नहीं रह गई है। इति ॥ ३ ॥

पदार्थः—(हि) क्योंकि (भगवद् दृशेभ्यः) भगवान् आप के समान अचार्य्यों से (मे) मुझ को (श्रुतम्+एव) सुना हुआ ही है कि (आचार्य्याद्+ह+एव) आचार्य्य से ही (विदिता) (विद्या) विदितविद्या (साधिष्ठम्) साधुतम मार्ग को (प्रापयति-)

ले जाती है (इति) इस हेतु हे भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश देवें । अनन्तर (तस्मै) उस को (ह) प्रसिद्ध आचार्य्य ने (एतत्+एव) इसी ब्रह्म ज्ञान का (उवाच) उपदेश दिया और कहा कि (अत्र ह) इस विद्या में (न किंचन) कुछ नहीं (वीयाय) छूटा हुआ है (वीयाय) यह दो वार पाठ विद्या समाप्त्यर्थ है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—यद्यपि प्राकृत पदार्थों से मनन द्वारा विद्या पाई है । प्रसाद भी उपलब्ध हुआ है । कुछ आत्मरति भी होती जाती है जैसा कि आप ने मेरी चेष्टा और मुखादिक छवियों से अनुमान किया है । परन्तु प्राकृत पदार्थ जड़ होने के कारण मेरी सम्पूर्ण शङ्का को दूर नहीं कर सकते । अतः आप आचार्य से शिक्षा की पूर्णता करनी आवश्यक है । शङ्कारहित आप से विदित हुई हुई विद्या ही मुझ को कल्याणमार्ग की ओर ले जायगी । अतः आप मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश देवें ॥ ३ ॥

इति नवमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास । तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳ ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

उपकोसलः । ह । वै । कामलायनः । सत्यकामे । जाबाले । ब्रह्मचर्यम् । उवास । तस्य । ह । द्वादश । वर्षाणि । अग्नीन् । परिचचार । सः । ह । स्म । अन्यान् । अन्तेवासिनः । समावर्तयन् । तम् । ह । स्म । एव । न । समावर्तयति ॥ १ ॥

भाष्यम्—उपकोसल इति । हेतिहासद्योतकः । कदाचित् । कामलायनः कमलस्यर्षेरपत्यं पुमान् कामलायनः । उपकोसलः । उपकोसलनामा कश्चिदृषिकुमारः । सत्यकामे जाबाले । वै एवार्थकः । सत्यकामस्य जाबालस्य पादमूले । ब्रह्मचर्यं सम्पादयितुमिति वाक्यशेषः । उवासोषितवान् । तस्य ह ब्रह्मचर्यव्रतमाचरत उपकोसलस्य । द्वादश वर्षाणि । व्यतीतानीतिशेषः । यद्वा । तस्यहाचार्य्यस्य । अग्नीन् । अग्न्युपलक्षितान् । यज्ञान् । द्वादशवर्षाणि परिचचारेत्यन्वयः । अर्थात् अग्नीन् विविधान् ब्रह्मचारिणामुपयोगिनो यज्ञान् व्रतानि परिचचार । आचारितवान् साधितवान् । न केवलं सोऽध्ययन व्रती एव । किन्तु तत्कालोचितसत्यक्षमाऽहरहःसन्ध्योपासनगुरुशुश्रूषणादि यज्ञान् अपि अनुतिष्ठन्नासीत् । तथापि स ह सत्यकामो जाबाल आचार्यः । अन्यान् । तदतिरिक्तान् । अन्तेवासिनः । ब्रह्मचा-

स्थिाः । समावर्तयन् । विद्यां ग्राहयित्वा समापय्यच स्वं स्वं गृहं तांस्तान् परावर्तयन् स्म सन् । तं हैव । तमेव । उपकोसलम् । न । समावर्तयति स्म । समावर्तनयोग्यमपि तं न समावर्तयतिस्म ॥ १ ॥

अनुवादः-यह विषय प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध है कि कामलायन उपकोसल नाम के कुमार ने ऋषि सत्यकाम जाबाल के चरण के समीप ब्रह्मचर्य व्रत के लिये वास किया और उसको १२ द्वादश वर्ष बीत गये । इसने तत्कालोचित विविध यज्ञ भी किये । अथवा उन के यज्ञों को द्वादशवर्ष तक करते रहे । तथापि वे सत्यकाम आचार्य्य अन्य अन्तेवासियों का समावर्तन कर दिया करते थे परन्तु इसका समावर्तन नहीं करते थे ॥ १ ॥

पदार्थः-(ह) ह शब्द ऐसे स्थानों में प्रायः इतिहाससूचक होता है (कामलायनः) कमल ऋषि का पुत्र (उपकोसलः) उपकोसल ने (जाबाले+सत्यकामे+वै) जाबाल सत्यकाम के निकट में ही (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रत के हेतु (उवास) वास किया (ह) यह प्रसिद्ध है कि (तस्य) उस उपकोसल के (द्वादश+वर्षाणि) द्वादश वर्ष व्यतीत होगये और (अग्नीन्) सत्य, क्षमा, अहरहः सन्ध्योपासन, गुरुशुश्रूषा आदि विविध यज्ञों (जो उस संयम के उपयोगी थे) का (परिचचार) सेवन भी किया । परन्तु (सः+ह) वे प्रसिद्ध सत्यकाम (अन्यान्) दूसरे दूसरे (अन्तेवासिनः) ब्रह्मचारियों को (समावर्तयन्+स्म) समावर्तित करते हुए (तम्+ह+एव) केवल उसी उपकोसल को (न+समावर्तयति+स्म) समावर्तित नहीं किया करते थे । अर्थात् अन्य अन्तेवासियों का समावर्तन तो आचार्य ने कर दिया जो उनके सहपाठी थे । परन्तु आचार्य ने अपने मन में कुछ विचार कर उपकोसल का समावर्तन संस्कार योग्य होने पर भी नहीं किया ॥ १ ॥

तं जायोवाच-तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन् प्रब्रूह्यस्मा इति । तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

तम् । जाया । उवाच । तप्तः । ब्रह्मचारी । कुशलम् । अग्नीन् । परिचचारीत् । मा । त्वा । अग्नयः । परिप्रवोचन् । प्रब्रूहि । अस्मै । इति । तस्मै । ह । अप्रोच्य । एव । प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

भाष्यम्–तमिति । प्रियं व्रतिनं विद्यास्नातं व्रतस्नातञ्च शिष्यमसमावर्तयन्तं निजस्वामिनं दृष्ट्वा तं प्रति जाया निजधर्मपत्नी । उवाच । हे पते ! अयं ब्रह्मचारी । तप्तोऽस्ति । विद्याभ्यसनादिव्रतं सम्यगनुष्ठितवानस्ति । पुनः । अग्नीन् । एतत् कालोचितान् यज्ञानपि । कुशलं सम्यक् परिचचारीत् । परिचरितवान् । आर्षोऽयं प्रयोगः । ईदृशमन्तेवासिनं त्वं कथं न समावर्तयसि । हे स्वामिन् ! उचितकार्यमननुतिष्ठन्तम् । त्वा । त्वाम् । अग्नयोव्रतानि । मा परिप्रवोचन् मा त्यजन्तु । त्वयाकृतानि तानि व्रतानि मा विनष्टानि भवन्त्वित्यर्थः । पक्षपातिनो जनान् सर्वाणि व्रतानि धर्माश्चत्यजन्ति इत्यलङ्कारवर्णना । तस्माद्धेतोः । अस्मै अन्तेवासिने । प्रब्रूहि । यत्किमप्यध्याप्यमवशिष्यते । तदध्यापय । अध्याप्य च । समावर्तय । इत्यहं प्रार्थये । सहाचार्य्यः पत्न्योक्तोऽपि तस्मै ब्रह्मचारिणे । अप्रोच्यैव । अनुक्त्वैव । अनध्याप्यैव असमावर्त्यैव च प्रवासाञ्चक्रे । प्रवासाय प्रतस्थे ॥ २ ॥

अनुवादः–आचार्यपत्नी ने अपने स्वामी से प्रार्थना की कि यह ब्रह्मचारी अच्छे प्रकार तपयुक्त हुआ है और व्रत भी अच्छे प्रकार किये हैं (पुनः आप इसका समावर्त्तन क्यों नहीं करते ?) ऐसा न हो कि आपको व्रतादिक धर्म त्याग चले जायं । अथवा आपको व्रतादि धर्म न त्यागे । अतः इस ब्रह्मचारी को उपदेश दे समावर्त्तन कीजिये यह आप से प्रार्थना करती हूं । परन्तु आचार्य उपदेश न देकर ही विदेश को चले गये ॥ २ ॥

पदार्थः–(जाया) आचार्यपत्नी ने अपने (तम्) उस पति से (उवाच) प्रार्थना की कि (ब्रह्मचारी) यह उपकोसल ब्रह्मचारी (तप्तः) विद्या और तप में तप्त हुआ है अर्थात् विद्याभ्यासादि व्रत अच्छी तरह से निवाहे (कुशलम्) सब तरह से (अग्नीन्) ब्रह्मचर्यकालोचित यज्ञ भी (परिचचारीत्) सेवन किये । अतः अन्य ब्रह्मचारीवत् इसका भी समावर्त्तन करें । हे स्वामिन् ! (अग्नयः) सत्यादिव्रत- (त्वा) आपको (मा) मत (परि प्रवोचन्) त्यागें । ऐसा न हो कि पक्षपाती आपको देख सकल धर्म्मकर्म्म आप से दूर होजावें । अतः (अस्मै) इस ब्रह्मचारी को (प्रब्रूहि) जो कुछ उपदेश वा पढ़ाना हो सो पढ़ाकर समावर्तित कीजिये (इति) यह मैं प्रार्थना करती हूं । अनन्तर यह आचार्य (तस्मै) उस ब्रह्मचारी को (अप्रोच्यैव) उपदेश वा व्याख्यान न देकर ही (प्रवासाञ्चक्रे) विदेश को चले गये ॥ २ ॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे । तमाचार्य जायोवाच- ब्रह्मचारिन्नशान किन्नु नाश्नासीति । स होवाच–बहव

इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

सः। ह। व्याधिना। अनशितुम्। दध्रे। तम्। आचार्यजाया। उवाच। ब्रह्मचारिन्। अशान। किम्। नु। न। अश्नासि। इति। सः। ह। उवाच। बहवः। इमे। अस्मिन्। पुरुषे। कामाः। नानात्ययाः। व्याधिभिः। प्रतिपूर्णः। अस्मि। न। अशिष्यामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्-स इति। स ह प्रसिद्धो ब्रह्मचारी व्याधिना मानसेन दुःखेन कारणेन। अनशितुम्। अभोक्तुम् अभोजनव्रतमित्यर्थः। दध्रे। धृतवान्। तम्। ईदृशीमवस्थामापन्नं तं ब्रह्मचारिणं प्रति। आचार्यजाया। उवाच। हे ब्रह्मचारिन्! अशान। भुंक्ष्व। किन्नु। कथम्। न। नहि। अश्नासि। अत्सि। इति। सहाचार्यजायामुवाच। अस्मिन् भाग्यरहिते अकृतकृत्ये अकृपार्हे मयि पुरुषे। इमे बहवः कामाः। कर्त्तव्यतां प्रति मनसि पुनः पुनरुत्तिष्ठन्तोऽनेके कामा आकांक्षा वर्तन्ते। इतोगत्वेदंसाधयिष्यामि। इत्थमाचरिष्यामि। अथवा। जगति इमानि। कर्त्तव्यानि मम+सन्ति। इत्यादयोऽनेकेमनोरथा मम मनसि हे मातः! समुत्तिष्ठन्ति। असमावर्त्तनान्नाहं किमप्यनुष्ठातुमर्हामि। अतोऽनशनेन मरणमेव वरम्। अतो नानात्ययाः। विविध गतय आधयो मम चेतसि वर्तन्ते। तैर्व्याधिभिः। अहं प्रतिपूर्णोस्मि। अतो नाशिष्यामि। न भोक्ष्ये ॥ ३ ॥

अनुवाद:-वह प्रसिद्ध उपकोसल ब्रह्मचारी मानसिक व्यथा के कारण अनशन व्रत करने लगा। उससे तब आचार्य पत्नी बोली हे ब्रह्मचारिन्! भोजन करो। क्यों नहीं खाते हो। उसने निवेदन किया कि इस पुरुष में अनेक कामनाएं हैं और मानसिक दुःख अनेक गति वाले हैं। इन व्याधियों से मैं परिपूर्ण होरहा हूं। हे मातः! अतः मैं नहीं खाऊंगा ॥३॥

पदार्थ:-(सः+ह) उस प्रसिद्ध उपकोशल ब्रह्मचारी ने (व्याधिना) मानसिक विविध व्यथाओं के कारण (अनशितुम्) अनशन (दध्रे) धारण किया (तम्) उस अनशन व्रतारम्भी ब्रह्मचारी से (आचार्यजाया) आचार्य पत्नी (उवाच) बोली। (ब्रह्मचारिन्) हे ब्रह्मचारिन्! (अशान्) खाओ भोजन करो (किन्नु+न) क्यों नहीं (अश्नासि) खाते हो (इति) इस वचन को सुन (सः+ह) वह बोला (अस्मिन्) भाग्यहीन (पुरुषे) मुझ पुरुष में (नानात्ययाः) नाना मार्गवाले (इमे बहवः कामाः) ये अनेक इच्छाएं विद्यमान हैं (व्याधिभिः) उन मानसिक व्याधियों से (प्रतिपूर्णोऽस्मि) परिपूर्ण हूं। अतः (न+अशिष्यामि) मैं भोजन नहीं करूंगा ॥ इति ॥ ३ ॥

अथ हाग्नयः समुदिरे—तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥ ४ ॥

अथ । ह । अग्नयः । समुदिरे । तप्तः । ब्रह्मचारी । कुशलम् । नः । पर्य्यचारीत् । हन्त । अस्मै । प्रब्रवाम । इति । तस्मै । ह । ऊचुः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ ह उपकोसलस्यानशनव्रतधारणादनन्तरम् । अग्नयः । विविधयज्ञाः । समुदिरे । उपकोसलाय । प्रकाशिता बभूवुः । तप्तः । विद्याभ्यसनव्रतादिषु कृतातिपरिश्रमः । एष ब्रह्मचारी । नः । अस्मान् । कुशलं सम्यग् पर्य्यचारीत् । सेवितवान् । अतः हन्त दुःखिताय श्रद्दधानाय तपस्विने करुणापात्राय । अस्मै । सर्वे मिलित्वा वयं प्रब्रवाम । ब्रह्मविद्यामनुशासाम । इति सर्वेऽग्नयो मनसि विचार्य्य तस्मै ह वक्ष्यमाणां ब्रह्मविद्यामूचुः । उपदिदिशुः ॥ ४ ॥

अनुवादः—अनन्तर उसको आग्नेय शक्तिएं भासित होने लगीं । मानो वे शक्तिएं परस्पर बोल रही हैं कि तप्त ब्रह्मचारी ने सम्यक्तया हम लोगों की सेवा की आओ इस तपस्वी ब्रह्मचारीको ब्रह्मविद्या प्रदान करें मानो उसको वक्ष्यमाण विद्या उन शक्तियों ने ही दी ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (अग्नयः) अग्नि शक्तियां (समुदिरे) उपकोसल को भासित होने लगीं । मानों वे अग्निशक्तियां परस्पर कह रहीं हैं और उपकोसल श्रवण कर रहे हैं वे अग्नि-शक्तियां कहती हैं यथा (तप्तः+ब्रह्मचारी) उपकोसल ब्रह्मचारी अच्छे प्रकार अपने व्रतों में तप्त हुआ अर्थात् विद्याध्ययनार्थ जिन जिन गुरु शुश्रूषा आदि तपश्चरणों की आवश्यकता है उन २ सम्पूर्ण तपों को इस ब्रह्मचारीने किया और (कुशलम्) निपुणता के साथ (नः+पर्य्यचारीत्) हम लोगों की सेवा की अर्थात् ब्रह्मचर्य्याश्रम में जितने यज्ञानुष्ठान करने चाहिये वे भी किये इस हेतु (हन्त) यदि सबों की सम्मति हो तो (अस्मै) इस शुश्रूषु ब्रह्मचारीको (प्रब्रवाम) सब कोई मिल कर उपदेश देवें (इति) इस प्रकार सबों की सम्मति स्थित हुई कि इस को उपदेश देना चाहिये । तत्पश्चात् (तस्मै+ह+उवाच) उस ब्रह्मचारी को वक्ष्यमाण रीति पर उपदेश देने लगे ॥ ४ ॥

प्राणो ब्रह्म । कं ब्रह्म । खं ब्रह्मेति । स होवाच—विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म । कञ्च तु खञ्च न वि-

जानामीति । ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खम् । यदेव खं तदेव कमिति । प्राणञ्चहास्मै तदाकाशञ्चोचुः ॥ ५ ॥

प्राणः । ब्रह्म । कम् । ब्रह्म । खम् । ब्रह्म । इति । सः । ह । उवाच । विजानामि । अहम् । यत् । प्राणः । ब्रह्म । कम् । च । तु । खम् । च । न । विजानामि । इति । ते । ह । ऊचुः । यद् । वाव । कम् । तद् । एव । खम् । यत् । एव । खम् । तत् । एव । कम् । इति । प्राणम् । च । ह । अस्मै । तद् । आकाशम् । च । ऊचुः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—प्राण इति । तेषामग्नीनामुपदेशः कथयति । हे उपकोसल ! प्राणो ब्रह्मास्ति । सर्वस्यास्यब्रह्माण्डस्य ब्रह्मैव । प्राणयितृ जीवयितृस्ति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः । सित्येव ब्रह्मणि सृष्टिस्थितिः । यदि ब्रह्म नाभविष्यत्तर्हीयं विसृष्टिरपि नाभविष्यत् । अतः प्राणो ब्रह्मेति । तथाच । कं ब्रह्म । न केवलं तद्ब्रह्म प्राणएव ।सर्वेषां सुखदात्रपि तदेव । कशब्दः सुखार्थः । तत्प्राणयितृ सुखयितृ च ब्रह्म कस्तीति जिज्ञासायामाह । खं ब्रह्म । तद्ब्रह्म सर्वत्रैव व्यापकं वर्त्तते । ख शब्द आकाशवाची । आकाशवत् सूक्ष्मं नीरूपं निर्विकारं निर्लेपं निरञ्जनं सर्वत्र स्थितञ्चेत्यादि ब्रह्मास्तीति ख शब्देन विज्ञेयम् । इति ब्रह्मणस्त्रीन् गुणाञ्छ्रुत्वा सहोपकोसल उवाच । हे अग्नयः ! विजानाम्यहं वेद्म्यहं यत्प्राणो ब्रह्म । प्राणो ब्रह्मास्तीति वेद्मि । परन्तु ब्रह्म कञ्च खञ्चास्तीति न जानामि । अतः केन प्रकारेण तद्ब्रह्म कञ्च खञ्चास्तीति मां बोधयन्तु । इत्थं विज्ञसास्तेहाग्नय ऊचुः । हे उपकोसल ! यद्वाव । यदेव । कम् । तदेव खम् । यदेव खं तदेव कमपि । नास्त्येतयोर्भेदः । इति कथयित्वा पुनरपि । तस्मै उपकोसलाय । प्राणञ्च प्राणस्वरूपं ब्रह्म च । तदाकाशञ्च । आकाशस्वरूपञ्च तद् ब्रह्म । ऊचुः बोधयामासुः ॥ ५ ॥

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—प्राण ब्रह्म है । क ब्रह्म है । ख ब्रह्म है । यह सुन उसने कहा कि 'प्राण ब्रह्म है' इस को तो मैं जानता हूं परन्तु क और ख ब्रह्म है इसको मैं नहीं जानता हूं । इति ! तब वे बोले कि जो ही 'क' है वही 'ख' है । जो ही 'ख' है वही 'क' है (इतना कह) उन्होंने पुनः उपकोसल से प्राणस्वरूप और आकाशस्वरूप उस ब्रह्म के विषय में उपदेश दिया ॥ ५ ॥

पदार्थः—आगे उन अग्नियों का उपदेश कहते हैं (प्राणः+ब्रह्म) हे उपकोसल वह ब्रह्म प्राणस्वरूप है उसी की स्थिति से सृष्टि की स्थिति है यदि ब्रह्म न हो तो वह

विचित्र सृष्टि कदापि नहीं रह सकती । अतः ब्रह्म प्राणस्वरूप है और (कम्+ब्रह्म) वह ब्रह्म केवल प्राण ही नहीं है किन्तु सुखस्वरूप भी है । अब शंका होती है कि वह प्राणस्वरूप और सुखस्वरूप ब्रह्म है तो कहां है ? अतः आगे कहते हैं कि (खम्+ब्रह्म+इति) ख शब्द आकाशवाची है । वह ब्रह्म आकाशवत् सूक्ष्म नीरूप निराकार निर्विकल्प निर्लेप निरञ्जन और सर्वत्र स्थित है कोई परमाणु मात्र भी स्थान नहीं जहां वह न हो । इतना सुन (सः+ह+उवाच) वह उपकोसल कहता है कि हे अग्नियो ! (अहम्+जानामि) मैं जानता हूं (यत्) कि (प्राणः+ब्रह्म) प्राण ब्रह्म है । अर्थात् ब्रह्म प्राणस्वरूप है इसको मैं जानता हूं (तु) परन्तु (कम्+च+खम्+च) वह ब्रह्म सुखस्वरूप और आकाश स्वरूप है (न+विजानामि) इसको नहीं जानता हूं (इति) यह उपकोसल का वचन सुन (ते+ह+ऊचुः) वे अग्नि बोले उपकोसल ! (यद्+वाव) जोही (कम्) क=आनन्दस्वरूप है (तद्+एव) वहीं (खम्) सर्वत्र स्थित भी है और (यदेव+खम्) जो ही सर्वत्र स्थित है (तदेव+कम्+इति) वही आनन्दस्वरूप भी है । इन दोनों में भेद नहीं । इस प्रकार 'क' और 'ख' के विषय में कह वे अग्नि (अस्मै) इस उपकोसल से (प्राणञ्च) प्राणस्वरूप और (आकाशञ्च) आकाशस्वरूप (तत्) उस ब्रह्म के विषय में (ऊचुः) कहने लगे ॥ ५ ॥ इति दशमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १० ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति । य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अथ । ह । एनम् । गार्हपत्यः । अनुशशास । पृथिवी । अग्निः । अन्नम् । आदित्यः । इति । यः । एषः । आदित्ये । पुरुषः । दृश्यते । सः । अहम् । अस्मि । सः । एव । अहम् । अस्मि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथ हैनमिति । सम्भूय सर्वेषामग्नीनां कथनादनन्तरम् । हेति प्रसिद्धम् । एनं ब्रह्मचारिणम् । गार्हपत्योऽग्निः । अनुशशास अनुशिष्टवानिव । किमनुशशासेत्याह । पृथिवी । अग्निः । अन्नम् । आदित्यश्च एते मम दीपकाः । अहञ्च तेषाम् । इत्युक्त्वा पुनराह गार्हपत्योऽग्निः । य एषः । आदित्ये सूर्ये । पुरुषः पुरि सूर्यमण्डलस्वरूपे शरीरे शेते वर्त्तत इति पुरुषः शक्तिविशेषो दृश्यते । हे ब्रह्मचारिन् ! सोहमस्मि । अहं गार्हपत्योग्निः

सूर्य्यशक्तेर्न विभिन्नोऽस्मि । या शक्तिः सूर्ये । सैव मय्यपि । पुनर्दृढीकरणाय कथयति । स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अनुवादः-अनन्तर गार्हपत्याग्नि ने इस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा दी । पृथिवी, अग्नि, अन्न और सूर्य (ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं उनका पोषक हूं) हे ब्रह्मचारी! जो यह सूर्य में शक्तिविशेष है वह मैं हूं, वही मैं हूं ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (गार्हपत्यः) गार्हपत्य अग्नि ने (अनुशशास) शिक्षा दी । क्या शिक्षा दी सो आगे कहते हैं (पृथिवी+अग्निः+अन्नम्+आदित्यः) पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं उनका पोषक हूं (इति) इतना कह पुनः गार्हपत्य अग्नि मानो कहते हैं । हे ब्रह्मचारिन् ! (यः+एषः) जो यह (आदित्ये) सूर्यमण्डल में (पुरुषः) शक्तिविशेष (दृश्यते) दीखता है (सः+अहम्+अस्मि) वह मैं हूं (स+एव+अहम्+अस्मि) वही मैं हूं (इति) ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

सः । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । उपास्ते । अपहते । पापकृत्याम् । लोकी । भवति । सर्वम् । आयुः । एति । ज्योक् । जीवति । न । अस्य । अवर-पुरुषाः । क्षीयन्ते । उप । वयम् । तम् । भुञ्जामः । अस्मिन् । च । लोके । अमुष्मिन् । च । यः । एतम् । एवम् । विद्वान् । उपास्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्-स य इति । स यः कश्चिदुपासकः । एतम् । गार्हपत्यमग्निम् । एवं यथोक्तगुणयुक्तम् चतुर्धाप्रविभक्तम् । विद्वान् । जानन् सन् । उपास्ते भावयति । सः । पापकृत्यां पापं कर्म । अपहते विनाशयति । पुनः सः । लोकी लोकवान् भवति । पुनः । सर्वमायुः । वर्षशतमायुः । एति प्राप्नोति । ज्योगुज्ज्वलं यथा तथा जीवति । प्रख्यातोभवतीत्यर्थः । अस्य विदुषः । अवरपुरुषा अवराश्च ते पुरुषा अवरपुरुषाः । परसन्ततिजाः पुरुषा न क्षीयन्ते । सन्तत्युच्छेदो न भवतीत्यर्थः । हे ब्रह्मचारिन् ! तं विद्वांसम् । अस्मिँलोके अमुष्मिंश्चलोके । वयमग्नयः । उपभुञ्जामः पालयामः । यः एतमेवं विद्वानुपास्ते । तस्यैतत्फलमित्यर्थः ॥ २ ॥

इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अनुवादः—जो कोई उपासक इस गार्हपत्य अग्नि को ऐसा जानता हुआ विचारता है, वह पापकर्म को नाश करता है। लोकवान् होता है। सम्पूर्ण आयु को पाता है। उज्ज्वल जीवन जीता है। इस के अवर पुरुष क्षीण नहीं होते। इस लोक और उस लोक में हम लोग उस की रक्षा करते हैं। जो कोई इस को ऐसा जानता हुआ विचारता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः) सो (यः) जो कोई उपासक (एतम्) इस गार्हपत्य अग्नि को (एवम्+विद्वान्) पूर्वोक्त रीति से जानता हुआ (उपास्ते) विचारता है वा जानता है। वह (पापकृत्याम्) पापकर्म को (अपहते) नाश करता है (लोकी+भवति) लोकवान् होता है (सर्वम्+आयुः+एति) सम्पूर्ण शतवर्ष आयु को प्राप्त होता है (ज्योक्) उज्ज्वल (जीवति) जीवन धारण करता है अर्थात् परमपवित्र होकर इस संसार में जीवन धारण करता है और (अस्य) इस विद्वान् के (अवरपुरुषाः) पुत्र पौत्रादि परसन्ततिज पुरुष (न+क्षीयन्ते) क्षय को प्राप्त नहीं होते अर्थात् इस की कुलपरम्परा का क्षय नहीं होता और हे ब्रह्मचारिन्! (अस्मिन्+च) इस और (अमुष्मिन्+च) उस (लोके) लोक में (तम्) उस विद्वान् की (उपभुञ्जामः) रक्षा हम लोग करते हैं (यः) जो (एतम्) इस गार्हपत्य अग्नि को (एवम्) ऐसा (विद्वान्) जानता हुआ (उपास्ते) उपासता है। इति ॥ २ ॥

इत्येकादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति । य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अथ । ह । एनम् । अन्वाहार्यपचनः । अनुशशास । आपः । दिशः । नक्षत्राणि । चन्द्रमाः । इति । यः । एषः । चन्द्रमसि । पुरुषः । दृश्यते । सः । अहम् । अस्मि । सः । एव । अहम् । अस्मि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथ हैनमिति । अथानन्तरम् । हेति प्रसिद्धम् । एनं ब्रह्मचारिणम् । अन्वाहार्य पचनो दक्षिणोग्निः । अनुशशासानुशिष्टवान् शिक्षितवान् । किमित्याह । आपः । दिशः । नक्षत्राणि । चन्द्रमाः । एते मम पोषकाः । अहञ्च तेषाम् । इत्युक्त्वा पुनरपि ब्रवीति । हे ब्रह्मचारिन्! चन्द्रमसि चन्द्रे । य एष पुरुषः य एवं शक्तिविशेषो दृश्यते

जनैः। सोऽहमस्मि। चन्द्रमसः सत्केर्नाहं विभिन्नोऽस्मि। या शक्तिस्तस्मिन् सैव मय्यपि वर्त्तते। सर्वत्रैवैकाशक्तिरस्तीति विज्ञेयम्। पुनर्दृढीकरणाय कथयति स एवाहमस्मीति। इति ॥ १ ॥

अनुवादः-अनन्तर उस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी को अन्वाहार्य्यपचन अग्नि ने शिक्षा दी। हे ब्रह्मचारिन्! आप, (जल) दिशाएं, नक्षत्र और चन्द्रमा (ये मेरे पोषक हैं और मैं उनका पोषक हूं) हे ब्रह्मचारिन्! चन्द्रमा में जो यह शक्तिविशेष दीखता है वह मैं हूं, वही मैं हूं। इति ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (अन्वाहार्य पचनः) दक्षिणाग्नि ने (अनुशशास) शिक्षा दी। सो आगे कहते हैं (आपः) जल (दिशः) दिशाएं (नक्षत्राणि) नक्षत्र और (चन्द्रमाः) चन्द्र ये चारों मेरे पोषक हैं। और मैं उन का पोषक हूं (इति) इतना कह पुनः अन्वाहार्यपचन अग्नि मानो शिक्षा देते हैं कि हे ब्रह्मचारिन्! (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (यः+एषः+पुरुषः) जो यह शक्तिविशेष (दृश्यते) दीखता है (सः+अहम्+अस्मि) वह मैं हूं अर्थात् चन्द्रमा में जो शक्ति है वही मुझ में भी है। दृढ करने के लिये पुनः कहते हैं कि (सः+एव+अहं+अस्मि) वही मैं हूं। अथवा जल दिशा और नक्षत्रों में जो शक्ति है वही मैं हूं ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

एकादशखण्ड के द्वितीय प्रवाकवत् ही इस का भाष्यादि जानना ॥ २ ॥

इति द्वादशखण्डस्यसंस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास-प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति। य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अथ । ह । एनम् । आहवनीयः । अनुशशास । प्राणः । आकाशः । द्यौः । विद्युत् । इति । यः । एषः । विद्युति । पुरुषः । दृश्यते । सः । अहम् । अस्मि । सः । एव । अहम् । अस्मि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथहैनमिति । अथानन्तरं ह प्रसिद्धमेनं ब्रह्मचारिणम् । आहवनीयोऽग्निः । अनुशशासोपदिदेश । किमित्याह । प्राणः । आकाशः । द्यौः । विद्युत् । एते चत्वारो मम पोषकाः । अहञ्चैतेषाम् । इत्युक्त्वा पुनरपि ब्रवीति । हे ब्रह्मचारिन् ! विद्युति य एष पुरुषो दृश्यते । यैषा शक्तिर्विद्युति दृश्यते विवेकिभिः । सोऽहमस्मि । सैवशक्तिर्मय्यपि वर्त्तते । पुनर्दृढीकरणायकथयति । स एवाहमस्मीति । यद्वा विद्युता सहैक्यं पूर्ववाक्येन प्रदर्श्य उत्तरेण वाक्येन प्राणाकाशद्युभिः सार्धमप्येकतां दर्शयति । प्राणादिषु या शिक्तिरस्ति । सैव मयीति-विज्ञेयम् ॥ १ ॥

अनुवादः–अनन्तर इस प्रसिद्ध ब्रह्मचारी को आहवनीय अग्नि ने उपदेश दिया । हे ब्रह्मचारिन् ! प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् (ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं उन का पोषक हूं) विद्युत् में जो यह शक्तिविशेष दीखता है वह मैं हूं, वही मैं हूं ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (आहवनीयः) आहवनीय अग्नि ने (अनुशशास) उपदेश दिया । क्या उपदेश दिया सो कहते हैं (प्राणः) प्राण (आकाशः) आकाश (द्युः) द्युलोक और (विद्युत्) विद्युत् ये चारों मेरे पोषक हैं और मैं उनका पोषक हूं (इति) इतना कह पुनः वह मानो उपदेश देते हैं कि हे ब्रह्मचारिन् ! (विद्युति) विद्युत् में (यः+एषः) जो यह (पुरुषः) शक्तिविशेष (दृश्यते) दीखता है (सः+अहम्+अस्मि) वह मैं हूं । पुनः दृढ़ करने के लिये कहते हैं कि (सः+एव+अहम्+अस्मि) वही मैं हूं अर्थात् विद्युत् में जो शक्ति है वही शक्ति मुझ में भी है एवं अन्य प्राण आकाश और द्युलोक में व्यापिनी जो शक्ति है वही शक्ति मुझ में है इसमें सन्देह नहीं ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिᳫंश्च लोकेऽमुष्मिᳫंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

सर्वं पूर्ववत् ॥ एकादश खण्ड के द्वितीय प्रवाकवत् ही इसका भाष्यादि जानना ॥ ३ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

ते होचुरुपकोसलैषासोम्य ! तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्याचाऽऽचार्यस्तु तेगतिं वक्तेत्याऽऽजगाम हास्याऽऽचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल३इति ॥ १ ॥

ते । ह । ऊचुः । उपकोसल । एषा । सोम्य । ते । अस्मद्विद्या । आत्मविद्या । च । आचार्य्यः । तु । ते । गतिम् । वक्ता । इति । आजगाम । ह । अस्य । आचार्य्यः । तम् । आचार्य्यः । अभ्युवाद । उपकोसल३ । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–त इति । ते ह सर्वे सम्भूय । ऊचुरुक्तवन्तः । हे सोम्य उपकोसल ! ते तुभ्यम् । या विद्यास्माभिरुपदिष्टा । साऽस्मद्विद्या । अस्माकमग्नीनां सम्बन्धिनीविद्या । आग्नेयीत्यर्थः । इयञ्चात्मविद्याऽपि निगद्यते । ब्रह्मप्राप्तिसाधकतयाऽऽत्मविद्योच्यते । तु परन्तु । ते तव । आचार्यः । गतिं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानम् । वक्ता तुभ्यं वक्ष्यति । इति । कथयित्वा । ते सर्वे । उपरेमुः । गच्छत्सु कालेषु । अस्योपकोसलस्याचार्योऽपि । आजगाम आगतवान् । आगत्य च । उपकोसल३इति । दूरादेवप्रियशिष्यत्वात्सर्वप्रथममेव । तमेव । अभ्युवाद आजुहाव ॥१॥

अनुवादः–वे सब अग्नि मिलकर मानो बोले[1] कि हे सोम्य उपकोसल ! यह तुम को दीहुई विद्या अस्मद्विद्या (आग्नेय विद्या) है और यह आत्मविद्या भी कहलाती है और आचार्य्य तुझको गति का उपदेश करेंगे । उसके बाद उसके आचार्य्य आये । आचार्य्य उपकोसल नाम लेकर दूर से ही उसको बुलाने लगे ॥ १ ॥

पदार्थः–(ते) वे (ह) प्रसिद्ध अग्नि (ऊचुः) बोले कि (सोम्य+उपकोसल) हे प्रिय उपकोसल ! (ते) तुझको जो विद्या दीगई है वह (एषा) यह (अस्मद्विद्या) हम अग्नियों की विद्या है । तेरे लिये हम लोगों की यह विद्या है (च) और यह (आत्मविद्या) आत्मविद्या कहलाती है (तु) परन्तु (आचार्य्यः) आचार्य्य (ते) तुझको (गतिम्) ब्रह्मज्ञान (वक्ता+इति) उपदेश करेंगे इतना कह वे मानो चुप हो गये । (अस्य+आचार्य्यः) इस उपकोसल के आचार्य्य (आजगाम) कुछ दिनों के पश्चात् अपने गृह पर आये

(१) वास्तव में अग्नि ने उसको कुछ नहीं कहा किन्तु यह अलंकार वर्णन करने की अनोखी शैली है ऐसी ही शैली फारसी में भी है, यथा ।

قلم گوید کہ من شاہ جہانم ۔ قلم کش را بدولت میرسانم

इत्यादि

(आचार्य्यः) वह आचार्य (उपकोसल३) उपकोसल३ कह कर दूर से ही प्रिय शिष्य होने के कारण (तम्) उसको (अभ्युवाद) पुकारने लगे ॥ १ ॥

भाष्याशय:-आत्मविद्या "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इस पदसे विदित होता है कि अग्नियों के द्वारा उपकोसल को जो शिक्षा वा ज्ञान प्राप्त हुआ वह यथार्थ में ब्रह्मज्ञान केवल नहीं है। क्योंकि यदि ब्रह्मज्ञान उपदिष्ट हो गया रहता तो "ब्रह्म की गति का उपदेश तुझको आचार्य्य देवेंगे" ऐसा नहीं कहा जाता। इस अवस्था में यह आग्नेयविद्या आत्मविद्या क्योंकर कहला सकती है। सत्य है। इसमें ब्रह्मकी द्वादश ही कलाओं का उपदेश हुआ है। जैसे गार्हपत्य से पृथिवी १ अग्नि २ अन्न ३ आदित्य ४। अन्वाहार्य पचन से जल १ दिशा २ नक्षत्र ३ चन्द्रमा ४। आहवनीय से प्राण १ आकाश २ द्यौ ३ और विद्युत् ४। अब चार कलाएं इस विद्या में अवशेष रहीं। जिन को जड़ अग्नियों से लेने में उपकोसल असमर्थ थे। क्योंकि अपनी बुद्ध्यनुसार ही प्राकृत पदार्थ से कोई विचारकर शिक्षा लाभ करसक्ता है। परन्तु इन अवशिष्ट चार कलाओं के जाने विना ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का होना अतिदुष्कर है। इस हेतु इस में न्यूनता देख "आचार्य ब्रह्मज्ञान की गति का उपदेश करेंगे" यह कहा गया। परन्तु अग्नि-प्रदत्त विद्या भी ब्रह्मसाधक है। अतः ब्रह्मसाधक होने से यह विद्या आत्मविद्या भी कहलाती है ॥ १ ॥

भगव ! इति ह प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविद इव सोम्य ! ते मुखं भाति । को नु त्वाऽनुशशासेति ? को नु माऽनुशिष्याद्भो इति हापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे । किं नु सोम्य ! किल तेऽवोचन्निति ? ॥ २ ॥

भगवः । इति । ह । प्रतिशुश्राव । ब्रह्मविदः । इव । सोम्य । ते । मुखम् । भाति । कः । नु । त्वा । अनुशशास । इति । कः । नु । मा । अनुशिष्यात् । भोः । इति । ह । अप । इव । निह्नुते । इमे नूनम् । ईदृशाः । अन्यादृशाः । इति । ह । अग्नीन् । अभ्यूदे । किम् । नु । सोम्य । किल । ते । अवोचन् । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-भगव इति । भो भगवः । भगवन् ! अयमहमस्मि किमाज्ञापयसि । इति ह सविनयं प्रतिशुश्रावोपकोसलः । इति श्रुत्वाचार्यः पृच्छति । हे सोम्य प्रियशिष्य ! ते तव ।

मुखमास्यम्। ब्रह्मविदो ब्रह्मज्ञस्येव। प्रसन्नं, प्रशान्तं, प्रहसितं, विद्याप्रद्योतकं विमलमित्येवमादि भाति सुशोभते। कोनु कः खलु कारुणिक आचार्य्यः। त्वा त्वाम्। अनुशशासानुशिष्टवान्। ब्रह्मज्ञानमुपदिष्टवानित्यर्थः। इत्याचार्यवचनं श्रुत्वा। भो भगवन्! को नु कः खलु। मा माम्। अनुशिष्यात् अनुब्रूयात्। भवतोन्यः कोऽस्ति कारुणिक आचार्य्यः। यो मामनुगृह्योपदिशेन्नाम। इति केनापि कारणेन। अपनिह्नुते इव। अग्निभ्यो लब्धामात्मविद्यां संगूहतीवोपकोसलो लक्ष्यते। अत्र लज्जा वा आर्जवता वा अपह्नवे कारणमनुमीयते। लज्जालुः कुमारो नोद्घाटयति स्वीयां विद्यां गुरोरन्तिके। किन्तु अपह्नवे प्रत्यवायोस्तीति मनसि संप्रधार्य्य पुनर्निवेदयति गुरवे। भो भगवन्! अन्यादृशा मनुष्येभ्योऽन्यसदृशा मनुष्येभ्यो भिन्ना इत्यर्थः। ईदृशाः पुरोवर्त्तिनो गार्हपत्यादि समाना इमे अग्नय एव। नूनं निश्चितम्। मामनुशिष्टवन्त इति कथयित्वा। अग्नीन् स्वीयान् आचार्य्यान् इह गुरोरन्तिके। अभ्यूदे प्रतिज्ञातवान्। अग्नय एव मे गुरव इति स्वीकृतवान्। इति शिष्यस्य वचनं श्रुत्वा। आचार्यः पुनः पृच्छति। हे सोम्य! ते किलाग्नयः। किन्तु ते अग्नयः। किंवस्तु। ते तुभ्यम्। अवोचन्नन्वशिषन्। इति कथय ॥ २ ॥

अनुवादः-हे भगवन्! (यह मैं हूं क्या आज्ञा होती है) ऐसा (उपकोसल ने) उत्तर दिया। हे प्रिय शिष्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता के मुख की नाईं सुशोभित होरहा है। किसने तुझ को उपदेश दिया है? (इसे सुन उपकोसल कहता है) हे भगवन्! मुझ को कौन शिक्षा देगा। मानो छिपा रहा है। हे गुरो! अन्यादृश (मनुष्यों से भिन्न) ईदृश इन (अग्नियों ने) मुझे उपदेश दिये थे यह कह अग्नियों को अपने गुरु स्वीकार किये (पुनः आचार्य पूछते हैं) हे सोम्य उन्होंने तुझ को क्या सिखलाया ॥ २ ॥

पदार्थः-गुरु की पूर्वोक्त वाणी सुन (भगव इति ह) हे भगवन्! यह मैं हूं क्या आज्ञा होती है ऐसा (प्रतिशुश्राव) उस उपकोसल ने उत्तर दिया। आचार्य पुनः पूछते हैं (सोम्य) हे सोम्य! (ते+मुखम्) तेरा मुख (ब्रह्मविदः+इव) ब्रह्मवेत्ता के मुख के समान प्रसन्न, प्रफुल्लित, प्रहसित, प्रशान्त, विद्याप्रद्योतक, विमल आदि (भाति) शोभता है (कः+नु+त्वा) किसने तुझ को (अनुशशास) उपदेश दिया है? (इति) यह सुन पुनः वह कहता है हे भगवन्! (कः+नु+मा+अनुशिष्यात्+भोः) हे गुरो! कौन मुझ को अनुशासन करेगा (इति+ह) इस प्रकार (अप+निह्नुते+इव) मानो अग्नियों से उपलब्ध विद्या को वह छिपासा रहा है। परन्तु उसने मन में विचार अपह्नव को पाप जान गुरु के पूछे विना ही वह पुनः स्वयं बोल उठा, हे भगवन्! (अन्यादृशाः) अन्य समान अर्थात् मनुष्य के समान नहीं मनुष्य से भिन्न (ईदृशाः) ऐसे जो (इमे) ये

अग्नि हैं इन्होंने ही मुझ अधन्य पुरुष को उपदेश दिये हैं (इति+ह) इतना कह (अग्नीन्) अग्नियों को निज गुरु (अभ्यूदे) स्वीकार किया अर्थात् हे गुरो ! ये ही अग्नि मेरे गुरु हैं इन से ही मैंने आत्मविद्या उपलब्ध की है । यह सुन पुनः गुरु पूछते हैं (सोम्य) सोम्य (ते+किल) उन्होंने (किन्तु) कौनसी विद्या वा कौनसी वस्तु (ते) तुझ को (अवोचन्) सिखलाई है सो कहो * ॥ २ ॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे । लोकान्वाव किल सोम्य ! तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि—यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति । ब्रवीतु मे भगवानिति । तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

इदम् । इति । ह । प्रतिजज्ञे । लोकान् । वाव । किल । सोम्य । ते । अवोचन् । अहम् । तु । ते । तत् । वक्ष्यामि । यथा । पुष्करपलाशे । आपः । न । श्लिष्यन्ते । एवम् । एवंविदि । पापम् । कर्म्म । श्लिष्यते । इति । ब्रवीतु । मे । भगवान् । इति । तस्मै । ह । उवाच ॥ ३ ॥

भाष्यम्—इदमितीति । आचार्येणाभिहित उपकोसलः । इदमिति । इदमग्निभ्योब्रह्मविज्ञानं मया प्राप्तम् । इति ह प्रतिजज्ञे आचार्य्याय श्रावयामास । आचार्यस्तु तां विद्यां श्रुत्वा । हे सोम्य ! तेऽग्नयस्ते । तुभ्यम् । लोकान्वाव लौकिकीरेव विद्याः । अवोचन् अनूक्तवन्तः । न तात्त्विकीं ब्रह्मविद्यामित्यर्थः । हे प्रिय शिष्याहं तु । ते तुभ्यम् । तत् प्रसिद्धं ब्रह्मविज्ञानम् । वक्ष्यामि उपदेक्ष्यामि । यद्विज्ञाय न कदापि साधकः पापेन निबध्यते । दृष्टान्तेन तदेवाह । ब्रह्मविद्याया माहात्म्यं शिष्यप्ररोचनार्थं ब्रवीति । पुष्करपलाशे । पुष्कराणां कमलानां पलाशे पत्रे यथा येन प्रकारेण । आपो जलानि । न श्लिष्यन्ते न सम्बध्यन्ते । न निबध्यन्ते । एवममुना प्रकारेणैव । एवं विदि मयोपदिश्यमानस्य ब्रह्मणोविज्ञातरि । पापं पापजनकम् । कर्म्म । न श्लिष्यते । न निबद्ध्यते । इति गुरोर्वचनं श्रुत्वा हे भगवन् ! भगवान् तद्विज्ञानं मे मह्यम् ब्रवीतु । इयि प्रार्थये । इति प्रार्थित आचार्य्यः । तस्मै प्रियाय शिष्याय । वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥ ३ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १४ ॥

---

* जो पुरुष विद्या पढ़कर फिर मनन करता है तो जड़ पदार्थ जिनका उसको पहले साधारण बोध होता है मनन तथा अनुसन्धान दशा में अपने स्वरूप और विद्या को ऐसे प्रकट करने लग जाते हैं मानो कहा जाता है कि वे जड़ पदार्थ उपदेश देरहे हैं, यह सब कथा पठन के अनन्तर मनन की महिमा प्रगट कर रही है ॥

अनुवादः-आचार्य से पूछे जाने पर यह (विद्या) है ऐसा उसने गुरु को सुनाया (यह सुन आचार्य कहते हैं) हे सोम्य! उन्होंने लौकिक विज्ञान ही तुझे सिखालाये हैं। परन्तु मैं तुझको उस विज्ञान के विषय में उपदेश दूंगा। हे सोम्य! जैसे कमल के पत्र में जलका आन्तरिक स्पर्श नहीं होता है। वैसे ही इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता में पापकर्म्म स्पर्श नहीं करता है। यह सुन उपकोसल कहता है कि हे भगवन्! आप मुझको उपदेश देवें। तब उसको आचार्य ने यह उपदेश दिया ॥ ३ ॥

पदार्थः-आचार्य्य के पूछने पर (इदम्) अग्नियों से यह यह विद्या मैंने हे भगवन्! सीखी है (इति+ह) यह कह (प्रतिजज्ञे) स्वीकार कर सुनाई। आचार्य्य शिष्य के व-चन सुन बोले कि हे (सोम्य) सुशीलवान् (लोकान्+वाव) लोक ही अर्थात् लौकिक विद्याओं का ही (किल) निश्चय (ते) तुझको (अवोचन्) उपदेश दिया है (अहम्+तु) परन्तु मैं (ते) तुझको (तत्) उस प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञान का (वक्ष्यामि) उपदेश करूंगा। जिस के विज्ञान से मनुष्य भविष्यत् पाप से बच जाता है। आगे शिष्य के प्र-रोचनार्थ ब्रह्मज्ञान का माहात्म्य वर्णन करते हैं (यथा) जैसे (पुष्करपलाशे) कमल के पत्र पर (आपः+न+श्लिष्यन्ते) जल श्लिष्ट नहीं होते हैं (एवम्) वैसे ही (एवम्+-विदि) ऐसे ब्रह्म के जानने वाले में (पापकर्म्म) पापकर्म्म (न+श्लिष्यते) श्लिष्ट नहीं होता है (इति) यह सुन वह शिष्य बोला हे भगवन्! (भगवान्+मे+ब्रवीतु) आप मुझको उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश देवें (इति) यह सुन (तस्मै+ह+उवाच) उसको यह उपदेश आचार्य्य ने दिया ॥ ३ ॥ इति चतुर्दशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतद-मृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

यः। एषः। अक्षिणि। पुरुषः। दृश्यते। एषः। आत्मा। इति। ह। उवाच। एतद्। अमृतम्। अभयम्। एतद्। ब्रह्म। इति। तद्। यद्यपि। अ-स्मिन्। सर्पिः। वा। उदकम्। वा। सिञ्चन्ति। वर्त्मनी। एव। गच्छति॥ २॥

भाष्यम्—य एष इति । ईदृशेषु स्थानेषु प्रयुक्ता अक्षिप्रभृतय शब्दाः केवलमुपलक्षका एव । न निर्धारणवाचिनः । एतैरुदाहरणैः शिष्याणां शीघ्रबोधः सम्पद्यते । अतः । पुनः पुनरिमान्येवोपमादीयन्ते । यद्यपि सर्वत्रैव ब्रह्मविभूति प्रकाश-विकाशः स्फुटतर एव दृश्यते । तथापि नयने भूयांस्तस्य महिमा । यो हि शिशुभिरपि आचार्य्यैर्बोध्यमानैरनायासेन गृह्यते । लघीयसा नयनेन क्षणेन बृहतो वटादि महीरुहस्याखिलामाकृतिमन्तःकरणमन्तरीकरोति । अतिदूरस्थं भास्करं क्षणेनेक्षितुं शक्नोति । सत्य सम्बाधेऽत्यन्त दूरस्थाः पदार्था अपि नयनेन दृश्यन्ते । नहीदृशीपरेषामिन्द्रियाणां गतिरस्ति । रसना सत्येव स्पर्शे रसं रसयति । त्वचोऽपि सैव व्यवस्था । घ्राणमपि स्पृष्टानामणूनां संयोगेनैव गन्धं जिघ्रति । कर्णावपि वायुनाऽऽघ्रातितौ सन्तौ शब्दमनुभवतः । नयनन्तु असंयुक्तमेव विषय विषिणोति । असम्बद्धमपि सम्बद्धमिव लक्ष्यते । अनेककोटियोजनस्थितेन नक्षत्रगणेन समं नयनसंयोगचर्चा का भवितुमर्हति । यथा नयनेन ब्रह्माण्डे रविशशि-तारकादिषु ज्योतिष्षु, समुद्र-नदी-पल्वल-कासार-प्रभृतिषु जलाशयेषु, कमल-कुमुद-चम्पक वासन्त्यादिषु, पुष्पेषु पशुपक्षि-सरीसृपान्तेषु जीवेषु विविधरूपां विस्तीर्णामैशीं छवि-मनुभवितुमयमात्मा शक्नोति न तथान्यैरिन्द्रियैः । अतो ज्ञानेन्द्रियेषु नयनस्य प्रधानत्वादेवास्योपादानम् । ज्ञानेनैव ईश्वरो लभ्यत इत्यपि सूचयितुं नेत्रविषये ब्रह्मोपदेशः । यद्वाऽक्षिशब्दः प्रकृतिवाची । अक्षिशब्दस्य समीक्षा दृश्यताम् । छान्दो० उ० भा० पृष्ठ १५५ । अत्र यथा इति पदमध्याहार्यम् । तेनात्रलुप्तोपमालङ्कारः । हे शिष्य ! यथा अस्मिन् अक्षिणि नेत्रे य एष पुरुषः कनीनिकास्वरूपः पुरुषः प्रत्यक्षो दृश्यते । तथैव पुरुषः सर्व शरीरस्थः । एष आत्मा प्रत्यक्षः । अक्षिणी सर्वस्मिन् वस्तुनि प्रकृतौ वा भासते । इति ह सत्यकाम उपकोसलमुवाच । हे सोम्य ! एतत्सर्वत्र भासमानमात्मस्वरूपं वस्तु । अमृतं मरणरहितम् । अभयं न विद्यते भयं यस्य तदभयम् मृत्युरहितत्वात् । एतद् ब्रह्म । बृहद्गुणैर्महदस्ति । अतो महत्तरं नास्ति किञ्चत । एवम् । यथा । यद्यपि । अस्मिन् नयनस्थे पुरुषे तद्विघाताय सर्पिर्वाघृतं वा उदकं वा जलं वा । मनुष्यास्सिञ्चन्ति । तत् सर्पिरुदकं वा वर्त्मनी पक्षे एव गच्छति प्राप्नोति न नयनस्थे पुरुषे सम्बन्ध्यते । तथैव । किमपि वस्तु एतस्यात्मनो विघातायोद्देशेन प्रक्षिप्तन्तु नाम जनास्तदात्मानं न गच्छति । अर्थादात्मानं निहन्तुं न शक्नोति किन्तु वर्त्मनी सुख दुःखत्वे एव गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मपक्षेपि । अक्षिणि पुरुष इव सर्वस्मिन् वस्तुनि ब्रह्म विभासते । तथाच । यथास्मिन् सिक्तं घृतं वा जलं वा नेत्रस्थेन छायापुरुषेण न सम्बध्यते तथैव सम्पूर्णजगत्क्रिया ब्रह्मणा न सम्बध्यत इति बोध्यम् ॥ १ ॥

अनुवाद:-जैसा नयन में यह पुरुष प्रत्यक्ष दीखता है वैसा ही यह आत्मा इस संसार में वा सकल वस्तु में प्रत्यक्ष भासित होता है । हे उपकोसल ! यह (आत्मा) अमृत और अभय है । यह गुणों से महान् है और जैसे नेत्र की कनीनिका को स्पर्श करने के लिये यद्यपि कोई घृत वा जल सींचता है परन्तु वह किनारे में चला आता है अर्थात् उस पुरुष को उस व्यापार से कुछ भी क्षति नहीं पहुंचती न स्पर्श होता वैसा ही यह आत्मा सर्वथा निर्लेप है ॥ १ ॥

पदार्थ:-(यः+एषः+पुरुषः) जो यह पुरुष (अक्षिणि) नयन में जैसा प्रत्यक्ष (दृश्यते) दीखता है वैसा ही (एष+आत्मा) यह देहस्थ आत्मा (अक्षिणि) सम्पूर्ण वस्तु में दीखता है (इति+ह+उवाच) सत्यकाम ने अपने शिष्य उपकोसल से ऐसी शिक्षा दी । हे शिष्य ! (एतद्+अमृतम्) यह आत्मस्वरूप वस्तु अमृत है । (अभयम्) अभय है (एतद्+ब्रह्म) यह गुणों से महान् है । आगे यह दिखलाया जाता है कि इस आत्मा को जगद्व्यापार नष्ट नहीं कर सकता (तत्) और इस कारण (यद्यपि) यद्यपि (अस्मिन्) इस नेत्रगत पुरुष में अर्थात् नेत्रगत पुरुष को स्पर्श करने के हेतु वा विनाश करने को (सर्पिः+वा+उदकम्+वा) घृत वा जल (सिञ्चन्ति) सींचते हैं परन्तु (वर्त्मनी+एव) वह घृत वा जल दोनों किनारों को ही (गच्छति) चला आता है अर्थात् आंखों में जल सींचने पर वह उस पुरुष में नहीं सटता वा नहीं स्पर्श करता किन्तु वहां से नीचे चला आता है । वैसा ही जीवात्मा के विनाश के हेतु यदि कोई चेष्टा की जाय तो वह व्यर्थ ही होगी (ब्रह्मपक्ष में भी) जैसा (अक्षिणि) नेत्र में (यः+एषः) जो यह (पुरुषः) छायापुरुष वा कनीनिका पुतली (दृश्यते) सब को प्रत्यक्ष दीखता है । वैसा ही (एषः+आत्मा) यह ब्रह्म योगियों को सर्वत्र (दृश्यते) दीखता है (तत्०) और जैसे सिक्त जल वा घृत नेत्रस्थ पुरुष से स्पर्श नहीं कर सकता है । वैसा ही सम्पूर्ण जगत्क्रिया ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं रखती है । इत्यादि योजना करनी ॥ १ ॥

भाष्याशयः-यहां यह दृष्टान्त साधारण है आंख में यदि कोई जल सींचे तो निःसन्देह किनारे से बहकर नीचे चला आता है परन्तु यदि अधिक जल अधिक ज़ोर से कोई आंख में मारे तो क्या नेत्रगत कनीनिका को क्षति नहीं पहुंचेगी ? आंख में चोट लगने से ही उस पुरुष को हानि पहुंचती है इस में सन्देह नहीं । पुनः काणा वा अन्धे की कनीनिका नहीं दीखती इससे मालूम होता है कि कनीनिका को आदमी शीघ्र क्षति पहुंचा सकता

है। ठीक है परन्तु यहां उपमा सर्वांश में नहीं लीगई है। जल वा घृत साधारण रीतिसे धीरे २ मृदुहाथ से नेत्र में जब सींचा जाता है तो वह बह जाता है। उस पुरुष में नहीं सटता। वा इस की बनावट ऐसी है कि वहां से जल ढघर आता है। नेत्रगत पुरुष को क्षति नहीं पहुंचाता। तद्वत् इस आत्मा को विनष्ट करने के लिये यदि कोई चेष्टा करे तो वह व्यर्थ हो जायगी इतने ही अंश में यह उपमा है।

आक्षि:-ऐसे स्थानों में प्रयुक्त अक्षि प्रभृति शब्द केवल उपलक्षकमात्र होते हैं। निर्धारणवाची नहीं। इन उदाहरणों से शिष्यों को शीघ्र बोध उपजता है इस कारण पुनः पुनः इनका ग्रहण किया गया है। और द्वितीय कारण यह है कि यद्यपि सर्वत्र ही ब्रह्मविभूति प्रकाश विकाश स्फुटतर भासित होता है तथापि नयन में उस की महिमा अधिक है जिसको बालक भी आचार्य से बोधित होने पर विना परिश्रम समझने में समर्थ होता है। देखो अत्यन्त लघु नयनरूप यन्त्र से बहुत बड़े वट आदि वृक्ष की आकृति को अन्तःकरण अपने में धारण करलेता है। अति दूरस्थ सूर्य को क्षणमात्र में देख सकता है। जिस क्षण आकाश में नयन को प्रेरित करे इसी विपल में सूर्य को झट ग्रहण कर लेता है। यदि कोई बाधा नहीं तो अतिदूरस्थ पदार्थ को नयन शीघ्र ग्रहण करले सकता है। ऐसी गति अन्य इन्द्रियों की नहीं है। स्पर्श होने पर ही रसना रस ले सकती है। त्वचा की भी यही दशा है। घ्राण भी अपने में स्पृष्ट परमाणुओं के संयोग से ही गन्ध का ग्रहण करता है। कान भी वायु से ताड़ित होने पर ही शब्द का अनुभव करता है। परन्तु नयन असंयुक्त विषय को ही ग्रहण कर लेता है। यही इस में विचित्रता है। नयन किसी के साथ सम्बद्ध नहीं होता है परन्तु सम्बद्धसा प्रतीत होता है। अनेक कोटि योजनस्थ नक्षत्र के साथ नयन के संयोग की चर्चा नहीं हो सकती। इस हेतु अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा नयन श्रेष्ठ है। इस ब्रह्माण्ड के रवि, शशि, तारकादि ज्योतिर्मय पदार्थों में; समुद्र, नदी, पल्वल, तड़ागादि जलाशयों में, कमल, कुमुद, चम्पक, वसन्ती प्रभृति पुष्पों में; पशुपक्षी सरीसृपादि जीवों में; विस्तीर्ण विविध रूपवाली ईश्वरीय छवि को जैसे नयनरूप साधन से यह आत्मा अनुभव करता है। अन्य इन्द्रियों से वैसा नहीं। अतः ज्ञानेन्द्रियों में प्रधान होने से नयन का ग्रहण होता है ज्ञान से ही ईश्वर की भी प्राप्ति होती है इसको विशेष रूप से सूचित करने को नेत्र विषय ब्रह्म का उपदेश किया है। यदि यह कहा जाय कि नयन तो केवल दिन का स्वामी है। रात होते ही अन्ध हो जाता है। परन्तु अन्य इन्द्रिय रात दिन एकसे ही रहते हैं पुनः यदि व्यवधान होगा तो नेत्र कुछ नहीं कर सकता परन्तु अन्य इन्द्रिय किञ्चिद्

व्यवधान रहने पर भी विषयी होते हैं विशेष कर अति समीपी वस्तु को यह नयन नहीं देखता। अतः नेत्र की श्रेष्ठता माननी युक्तियुक्त नहीं। यह कथन आप का ठीक है। परन्तु पूर्वोक्त ब्राह्मछवि के दर्शन में इस की विशेष शक्ति होने और पदार्थों के साथ असम्बद्ध होने से इस की श्रेष्ठता है जैसे यह किसी अन्य पदार्थ से सम्बद्ध न होकर पदार्थों को अपनी ओर आकर्षण कर लेता है। तद्वत् ब्रह्म भी सब पदार्थों को अपनी ओर आकर्षण किये हुए है जैसे आंख में महान् से महान् पदार्थ के प्रतिबिम्ब समाजाते हैं। तद्वत् इस छोटीसी उपमा के द्वारा जानना चाहिये कि इस ब्रह्म में सम्पूर्ण पदार्थ अन्तर्निविष्ट हैं यह ज्योतिर्मय पदार्थ है। तद्वत् ब्रह्म भी ज्योतिःस्वरूप है इत्यादि विषय को सूचित करणार्थ इस की श्रेष्ठता मानी हुई है अथवा अक्षि शब्द प्रकृतिवाचक भी है। इस शब्द के ऊपर समीक्षा देखो। छान्दो० उ० भा० पृष्ठ १५५॥ १॥

एतꣳसंयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳहि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद॥ २॥

एतम्। संयद्वामः। इति। आचक्षते। एतम्। हि। सर्वाणि। वामानि। अभिसंयन्ति। सर्वाणि। एनम्। वामानि। अभिसंयन्ति। यः। एवम्। वेद॥ २॥

भाष्यम्–एतमिति। ब्रह्मविदः पुरुषाः। एतम्। शारीरमात्मानम्। संयद्वामः। इत्याचक्षते कथयन्ति। संयन्ति संयान्ति संयातानि सम्यक्गच्छन्ति। वामानि वमनीयानि सर्वाणि शोभनानि वस्तूनि यं यस्य वा स संयद्वामः। प्राप्ताखिलसौभाग्य इत्यर्थः। आप्तकामो वा। स्वयमेवोपनिषद् व्युत्पादयति। हि यतः। एतम्। आत्मानम्। सर्वाणि वामानि वननीयानि संभजनीयानि शोभनानि वस्तूनि। अभिसंयन्ति। अभितः परितः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। एवंविदः फलं दर्शयति। यो ब्रह्मजिज्ञासुः। आत्मानम्। एवं संयद्वामं वेद जानाति। एनं संयद्वाम विदम्। सर्वाणि वामानि शोभनानि वस्तूनि अभिसंयन्ति। अभिसंगच्छन्ति॥ २॥

अनुवादः–"ब्रह्मविद पुरुष" इस आत्मा को "संयद्वाम" कहते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण शोभन वस्तुएं इसी को प्राप्त हो रही हैं। जो ब्रह्मविद् इसको ऐसा जानते हैं उनको भी अखिल सुन्दर वस्तुएं सम्प्राप्त होती हैं॥ २॥

पदार्थः–(एतम्) इस आत्मा को (संयद्वाम इति) "संयद्वाम" ऐसा (आचक्षते) ब्रह्मविद् पुरुष कहते हैं (हि) क्योंकि (सर्वाणि) सब (वामानि) शोभन सुन्दर मधुर वस्तुएं (एतम्) इस आत्मा को (अभिसंयन्ति) चारों ओर से प्राप्त हो रहे हैं और (यः+एवम्+वेद) जो जिज्ञासु इस आत्मा को ऐसा जानता है (एनम्) इस जिज्ञासु को भी (सर्वाणि) (वामानि) सम्पूर्ण शोभन वस्तुएं (अभिसंयन्ति) चारों ओर से प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

भाष्याशयः–संयद्वाम–"संयद्+वाम" इन दो शब्दों से यह बन हुआ है । संयद् प्राप्त हो रहे हैं । वाम=शोभन वस्तु । जिस को प्रतिक्षण चारों तरफ से शोभन वस्तु प्राप्त होरही है हे उपकोसल ! उसको तू आत्मा जान । हे उपकोसल ! इस आत्मा में चारों तरफ से आनन्द की वृष्टि हो रही है । परन्तु कोई २ उसको धारण करता है । यह आत्मा चेतन है इस में सन्देह नहीं परन्तु इसको पुनः २ चेताने से ही चेतना बनी रहती है अन्यथा जड़वत् हो जाता है । देखो अरण्य में वनकी एक अद्भुत शोभा, विमल वायु, विविध वन, विहँग कलरव, मधुर मनोहर गुंजन, मधुर कुसुम सुगन्ध ये सब पदार्थ इस आत्मा की ओर दौड़ते हैं और अपनी २ सत्ता को इस में समर्पित करदेते हैं । परन्तु क्या सब आत्मा उनकी कृतज्ञता को स्वीकार कर लेते हैं ? नहीं २ । कोई २ आत्मा इसका अच्छी तरह से अनुभव करते हैं । विरले ही इसके योग्य होते हैं । परन्तु तत्तत् पदार्थ तो अपने शरीर को उस में समर्पित करते ही रहते हैं । वह ग्रहण करे वा न करे । विहँग कलरव, गुणी अगुणी दोनों के कर्ण कुहरगत होगा । परन्तु भेद इतना होगा कि गुणी तो इसकी कृतज्ञता प्रकाशित करेगा और अगुणी चुप हो बैठेगा । इसहेतु यह आत्मा तो स्वभावतः संयद्वाम है और इसको ऐसे मानने वाले भी सुखी रहेंगे । अतः हे उपकोसल ! उसे तू संयद्वाम मान । तू सुखी रहेगा ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति । सर्वाणि वामानि नयति । य । एवं वेद ॥ ३ ॥

एषः । उ । एव । वामनीः । एषः । हि । सर्वाणि । वामानि । नयति । सर्वाणि । वामानि । नयति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

भाष्यम्–एष इति । हे उपकोसल ! न केवलोयं संयद्वाम एव । किन्तु सर्वाणि वामानि अस्मिन् तिष्ठन्ति । बाह्यपदार्थसंयोगेन तान्येव लीनानि आत्म न एव वर्षासु भूमेरङ्कुराणीव समुद्भवन्ति एवं न केवलमन्येभ्यः शोभनानि आदातुमेव समर्थः किन्तु दातुमपि ।

एतदेव दर्शयति । एष एव । अयमात्मैव खलु । वामनीः । वामानि शोभनानि वस्तूनि-नयतीति वामनीः । उपनिषत् स्वयमेवोपपादयति तच्छब्दम् । हि यतः । एष आत्मा सर्वाणि वामानि नयति प्रापयति यः सः । यो जिज्ञासुरेवमात्मानं वामन्यं वेद जानाति सोऽपि सर्वाणि वामानि नयति नेतुं शक्नोति ॥ ३ ॥

अनुवादः-हे उपकोसल ! यही आत्मा वामनी है । क्योंकि सम्पूर्ण शोभन वस्तुओं का यह नेता है । जो इसको वैसा जानता है वह भी सम्पूर्ण शोभन वस्तुओं का नेता होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(एष+उ+एव) यही आत्मा (वामनीः) वामनी है (हि) क्योंकि (सर्वाणि+वामानि) सकल शोभन वस्तुओं को (एषः+नयति) यह पहुंचाता है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है वह भी (सर्वाणि+वामानि) सब शोभन वस्तुओं को (नयति) पहुंचाने वाला होता है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः-वामनी-"वाम+नी" ये दो पद हैं । वाम=शोभनसुन्दर सुख । नी=पहुंचाने वाला । नेता । नायक । प्रापक । अर्थात् सुख वा शोभन वस्तुओं का नेता । यह आत्मा केवल अन्य पदार्थों से सुख ग्रहण करने वाला ही नहीं है किन्तु सुख देने वाला भी है । एक आत्मा दूसरे को सुख भी पहुंचा सकता है । यह प्रत्यक्ष विषय है ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

एषः । उ । एव । भामनीः । एषः । हि । सर्वेषु । लोकेषु । भाति । सर्वेषु । लोकेषु । भाति । यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

भाष्यम्-एष इति । हे उपकोसल ! एष तवात्मा । भामनीः । भामानि भासानि नयतीति भामनीः । भाः प्रापकः । यदात्माशरीरमागच्छति तदैव तच्छरीरं भास्वरं भवति । आत्मविरहितं निस्तेजस्कमेव । अत आत्मैव तेजोनेतास्तीति विज्ञायते । व्युत्पादयति । एष हि आत्मा । सर्वेषु लोकेषु । भाति । शोभते । यो जिज्ञासुरेवं वेद जानाति सोऽपि सर्वेषु लोकेषु प्राणिषु मध्ये भाति ॥ ४ ॥

अनुवादः-यही (आत्मा) भामनी है क्योंकि संपूर्ण लोकों में भासित होता है । जो इसको ऐसा जानता है वह भी सब लोकों में भासित होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः–(एषः+उ+एव) यही आत्मा (भामनीः) सम्पूर्ण ज्योतियों को पहुंचाने वाला है । हि) क्योंकि (सर्वेषु+लोकेषु) सब लोक में (एषः+भाति) यह भासित हो रहा है (यः+एवम्+वेद) जो ज्ञानी ऐसा जानता है वह भी (सर्वेषु+लोकेषु) सब लोकों में (भाति) भासित होता है ॥ ४ ॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाᳬस्तान्मासेभ्यः संवत्सरᳬ संवत्सरादादित्यादादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः ॥ ५ ॥

अथ । यद् । उ । च । एव । अस्मिन् । शव्यत् । कुर्वन्ति । यदि । च । न । अर्चिषम् । एव । अभिसंभवन्ति । अर्चिषः । अह्नः । अह्नः । आपूर्यमाणपक्षम् । आपूर्यमाणपक्षात् । यान् । षड् । उदङ् । एति । मासान् । तान् । मासेभ्यः । संवत्सरम् । संवत्सरात् । अ दित्यम् । आदित्यात् । चन्द्रमसम् । चन्द्रमसः । विद्युतम् । तत्पुरुषः । अमानवः ॥ ४ ॥

भाष्यम्–अथेति । अधुना एवंविदो योगिनो गतिमाह । अथ यदु च । अस्मिन् । एवंविदि योगिनि । इमं ब्रह्मविदमुद्दिश्येत्यर्थः । जनाः । शव्यं दाहादिकम् शवसम्बन्धिकर्म्म कुर्वन्ति । कुर्वन्तु नाम । यदि च न । यदि वा न कुर्वन्तु शवकर्म । तथापि । एवंविदः पुरुषाः ब्रह्म प्राप्नुवन्ति इति । ब्रह्मविदः शवकर्म न विधेयमित्यनेन न ज्ञातव्यम् । अत्र शवकर्मणि अनादरं दर्शयन्ती विद्यां स्तौति । भवतु तावद् विद्यावतां शवकर्म विनापि सद्गतिः । अन्येषान्तु विधातव्यमेव इत्यनेनानुमीयते । अविधीयमाने शवकर्मणि इतरेषां कर्मणां फलारम्भे भविष्यति कश्चित् प्रतिबन्ध इति विद्यावतां विकल्पविधानेनानुमीयते । यद्येवंस्यात्तर्हि । शास्त्रमर्यादा व्याकुप्येत । अतिप्रसक्तिश्च । अन्यकृतेन कर्मणान्यस्य बन्धो वा मुक्तिर्वा यदि स्यात्तर्हि कः खलु मुक्तो बद्धो वा स्यात् । एकस्य पापीयसः पाप कर्मबाहुल्येन सर्वे बद्धा भवन्तु । अथवा एकस्य मुक्तस्य कर्मणा सर्वे मुक्तास्तिष्ठन्तु । इत्थमीश्वरराज्ये अव्यवस्था स्यात् । ननु आत्मजरूपे स्वयमुत्पन्नेन कृतस्य स्वकर्मणःफलभोगेन स्वकृतस्यैव कर्मणः फलभोक्तेति न पूर्वदोषः समायति । आत्मा वै जायते पुत्रः । इत्यादि प्रमाणविद्यमानत्वात् । यथा योगिनो बहून् कायान् विरचय्य तैः संचितानि फलानि भोगेन क्षपयित्वा आशु विमुक्ता भवन्ति । तथैव

तदपि भवितुमर्हति। अत्र का हानिः शास्त्रमर्यादायाः। सत्यम्। किन्तु विचार्यतान्तावत्। किं पितृशरीरे य आत्मास्ति। स एवात्मा पुत्रशरीरेप्यायाति। एवं चेत्तर्हि तत्काल एव पिता म्रियेत। अथवा। किं पितुरात्मनो भागः कोप्यात्मजदेहमधितिष्ठति। इदमपि भवितुनार्हति। आत्मनो निरवयवत्वान्निर्विकारत्वाच्च। अथवा। किमात्मा अन्यमात्मानं सृष्ट्वाऽऽत्मजकलेवरे प्रवेशयति। नित्यत्वात्तु न स्रष्टुं शक्यते। तर्हि आत्मा वै जायते पुत्र इत्यस्याभिप्रायो वाच्यः। अत्रात्मशब्दः शरीरवचनः। शरीरवाच्यात्मशब्दो यथा—आत्मा यत्नोधृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च इत्यमरः। मातृतः पितृतस्त्वङ् मज्जमांसास्थिप्रभृतीनि शरीरसाधनानि भवन्ति। आत्मा तु अजरोऽमरो नित्यो निर्विकारः। स्वेन स्वेन कर्मणा तत्तच्छरीरं नवतरं कल्याणममङ्गलं वा दधाति। अतः पितृपुत्रयोर्भिन्नावात्मानौ। अतः पुत्रेण क्रियमाणेन कर्मणा पितुर्नैव बन्धो न वा मुक्तिः। या तु योगिनः समकालेनानेकदेहधारणेति गाथास्ति सापि स्तुतिरेव तेषाम्। कथमेकमात्मानं बहून् विधातुं योगी समर्थः स्यात्। भवतु तावत्। कथं तर्हीयं श्रुतिः शवस्य विद्यावन्तं प्रति अनादरं दर्शयति। एतेनानुमीयत अविद्यावतोहि भवति कोऽपि प्रतिबन्धः फलारम्भे। सत्यम्। अन्त्येष्टौ शवदाहाय चिताग्नौ कतिपया आहुतयो हूयंते यमगाथाश्च गीयन्ते वियुक्तस्य सद्गत्यै वैदिकैर्मन्त्रैर्ब्रह्म प्रार्थ्यते पुत्रादिभिः। एतदखिलक्रियाभिः प्रेतस्य कोप्युपकारो भवतीति अबोध्याः प्रजा मा जानन्त्विति शवपदोपादानम्। प्रसंगदर्चिरादि गमनं दाहक्रियां विना कथं संभवितेति शङ्कां व्युदासितुञ्च तदुक्तिः। मरणानन्तरं विद्यावतो जीवस्य का कीदृशी च दशा भवतीतिविचार्य्यते। अर्चिषमिति। अर्चिरग्निर्ज्वाला। साधारणीं लघ्वीमूर्ध्वगमनशीलां लघुदेशव्यापिनीम् अग्नेर्ज्वालामिवदशां तेजो वा अभिसंभवन्ति प्राप्नुवन्ति विद्वांसो ब्रह्मविदो जनाः। मरणानन्तरं किञ्चिदानन्दसंयुक्तां प्रकाशसहितां दशां प्रथमं प्राप्नुवन्ति। ततः। अर्चिषः। अर्चीरूपाया दशायाः सकाशात्। अहो दिनम्। अभिसंभवन्ति। यथा अर्चिषो दिनं भूय इव बहुव्यापकमिव अधिकप्रकाशनमिवत्र लक्ष्यते तथैव तस्या दशायाः सकाशादधिकानन्दप्रदामधिकदेशव्याप्तज्योतिषं दशां प्राप्नुवन्ति। अह्न सकाशात्। आपूर्यमाणपक्षम्। दिवसादेकस्मात् केवलादापूर्यमाणपक्षः सर्वथा भूयान् मिलित्वाधिकानन्दनश्चास्ति। अतो दैनिकदशा तुलितायाः सकाशात् शुक्लपक्षपरिमितामिवाधिकतरानन्दामधिकतरदेशव्यापिनीं कामपि दशां प्राप्नुवन्ति। आपूर्य्यमाणपक्षात् सकाशात्। उदङ् उत्तरांदिशमञ्चति गच्छतीति उदङ्। उत्तरदिशाप्रस्थितः सूर्यः। यान् षण् मासान् एति प्राप्नोति। तानिव कामपि विस्तीर्णानन्दां दशां प्राप्नुवन्ति।

मासेभ्यः संवत्सरम् । षण्मासेभ्यो भूयानेव वर्षो भवति । तस्य द्वादशमासात्मकत्वात् । तस्माद् द्विगुणतरामानन्ददशां प्राप्नुवन्ति । संवत्सरादादित्यम् । आदित्येनैव संवत्सरः प्रादुर्भवति । यो यस्माद् भवति स तस्माल्लघुतरः । मृत्तिकाद् घट इव । अतः तस्मादधिकतरानन्ददायिनीं दशां गच्छन्ति । तस्मात् चन्द्रमसं चान्द्रमसदशां सर्वथा आह्लादकरीमानन्दरसपूर्णां गच्छन्ति । ततो विद्युतम् । यथा विद्युदतितीक्ष्णा अतितीव्रज्वाला बहुदेशव्यापिनी प्रकाशाप्रकाशरूपेणसर्वत्र स्थिता । अर्थात् बहुदेशव्यापिनीं विद्युतमिव दशां प्राप्नुवन्ति । इमां दशां प्राप्य तेषामानन्दस्य सीमा अतिविस्तीर्णाभवति । तत्पुरुषः अमानवः । तस्या विद्युदुपमदशायाः पुरुषः व्यापकः कर्मविशेषः । अमानवः । मानमस्यास्तीति मानवः । न मानवः । अमानवः । असीम इत्यर्थः । अत्र स एवायाति यस्य शुभकर्मविशेषोऽसीमो भवति ।

ननु अर्चिः शब्दोऽग्निज्वाले प्रसिद्धः भवतां मते प्रथमा आर्चिषी दशाभवति । अत्र संदिह्यते कीदृशी अर्चिर्गृह्यते । महद्वनं दहतो दहनस्य शिखेव । उत । श्रद्धावतासम्राजा विविधसामग्रीभिः राजोचिताभिः सप्तदशभिर्होत्राभिः समं हूयमानस्य हव्यवाहनस्य कीलेव उत प्रलयकाले सम्पूर्णं विश्वं ग्रसतः सर्वतः जाज्वल्यमानस्य महाद्भुतस्य वैश्वानरस्य अचिन्तनीया महती हेतिरिव । उत तृणैकं भस्मसात् कुर्वतः कृशानोर्ज्वालेव सादृशास्ति । कीदृशी दशासास्ति इति शास्त्रं न निश्चिनोति । संदिग्धमेतत् प्रतिभाति । कथमित्थं शास्त्रमुपदिशेत् । संदेहस्य निवृत्यै प्रवृत्तं शास्त्रं संदेहाब्धौ जिज्ञासून् कथं निमज्जयेत । नहि कदाचिच्छास्त्रं संशयं नयति । तद्विव्याख्यानेन विस्फुटति । आर्चिषी १ आह्निकी २ पाक्षिकी ३ औत्तरायिणी वा षाण्मासिकी ४ वार्षिकी ५ सौरी ६ चान्द्रमसी ७ वैद्युती ८ ब्राह्मी च ९ एताश्च नवधा दशाः सन्ति । प्रत्यक्षपूर्वकेनानुमानेनैताश्च विज्ञायन्ते । जननादिर्मरणान्ता मानवस्यैवमवस्थाः सूक्ष्मदृष्ट्या विभाव्यताम् अन्यत्रैतद्व्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

अनुवादः—ऐसे ब्रह्मविद् के लिये यदि शव सम्बन्धी कर्म करें वा न करें । तथापि ये प्रथम आर्चिष दशा को प्राप्त होते हैं । आर्चिष दशा से आह्निक दशा, आह्निक दशा से आपूर्य्यमाण दशा, आपूर्यमाण दशा से षाण्मासिक औत्तरायण दशा, औत्तरायण दशा से साम्वत्सरिक दशा, साम्वत्सरिक दशा से सौरीदशा, सौरीदशा से चान्द्रमसी दशा, चान्द्रमसी दशा से वैद्युतदशा को ये ब्रह्मविद् पुरुष प्राप्त होते हैं । वैद्युत दशा के प्राप्त करने वालों के शुभकर्म्म विशेष असीम होते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः-(अथ) अब वैसे ब्रह्मविद् पुरुषों की कौन और कैसी दशा वा गति होती जाती है सो कहा जाता है (यद्+उ+च+एव) यदि निश्चय कर (अस्मिन्) इस ब्रह्मविद् के उद्देश से (शव्यम्) दाहकर्म (कुर्वन्ति) करे (यदि+च+न) अथवा दाहकर्म न करे तथापि ये ब्रह्मविद् पुरुष (अर्चिषम्) अर्चिष (ज्वाला) समान दशा को (अभिसम्भवन्ति) पाते हैं (अर्चिषः) अर्चिष से (अहः) आह्निकवत् दशा को (अह्नः) आह्निक दशा से (आपूर्य्यमाणपक्षम्) आपूर्य्यमाण पक्ष समान दशा को (आपूर्य्यमाणात्) आपूर्य्यमाण दशा से (उदङ्) उत्तर दिशा प्रस्थित सूर्य्य (यान्+षट्+मासान्) जिन छः मासों को (एति) प्राप्त होता है (तान्) उस षाण्मासिक औत्तरायण समान दशा को (मासेभ्यः+संवत्सरम्) उनसे सांवत्सरिक समान दशा को (संवत्सराद्+आदित्यम्) सांवत्सरिकसे सौरी दशा को (आदित्याद्) सौरी समान दशा से (चन्द्रमसम्) चान्द्रमसी समान दशा को (चन्द्रमसः) चान्द्रमसी दशा से (विद्युतम्) वैद्युती दशा को प्राप्त होते हैं (तत्पुरुषः) इस वैद्युत दशा को प्राप्त पुरुष के (पुरुषः) कर्मफल (अमानवः) अमान=सीमा रहित होते हैं ॥ ५ ॥

भाष्याशयः-(शव्य) शव (मुर्दा) सम्बन्धी कर्म का नाम शव्य है यहां ब्रह्मवित् पुरुषों का शव्य कर्म न करना चाहिये यह तात्पर्य नहीं है किन्तु शव्य कर्म में अनादर को दिखलाती हुई विद्या की स्तुति करती है । यहां पर शङ्का होती है कि विद्यावान् पुरुषों को शव्यकर्म विना भी सद्गति हो परन्तु दूसरों का शव्यकर्म अवश्य होना चाहिये यह इससे अनुमान होता है । और शवकर्म यदि न किया जाय तो अविद्यावान् पुरुषों को कर्मफल भोगने में कोई प्रतिबन्धक होगा । यह विद्यावानों के विकल्पविधानसे सूचित होता है । यदि ऐसा हो तो शास्त्रमर्यादा का व्याकोप होगा और अति प्रसक्ति दोष होगा क्योंकि अन्यकृत कर्म से अन्य को यदि बन्ध वा मुक्ति हो तो कौन मुक्त वा बद्ध होसकता । एक पापिष्ठ पुरुष के कर्म बाहुल्य से सब ही बद्ध होजायँ अथवा एक मुक्त पुरुष के कर्म से सब ही मुक्त होजायँ । तब इस प्रकार ईश्वर के राज्य में अव्यवस्था होगी । परन्तु शव्य पद से उपनिषद् का तात्पर्य भासित होता है कि शव्यकर्म विना पुरुष अपने कर्म फल भोग में कोई प्रतिबन्धक होता है वह शव्यकर्म करने से मिटता है और शव्यकर्म कोई दूसरा ही करेगा इस हेतु अन्य के कर्म का फल अन्य को प्राप्त होगा यह सूचित होता है । इस हेतु ज्ञानी जो आप्त काम हैं उन्हें शव्यकर्म की अपेक्षा नहीं किन्तु अन्य को आवश्यकता सूचित होती है परन्तु ऐसा करने से पूर्वोक्त दोष होते हैं ।

यदि यह कहाजाय कि आत्मज (पुत्र) रूप होकर स्वयं उत्पन्न पुत्र से किये हुए कर्म के फलभोग से अपने ही किये हुए कर्म के फल का भोक्ता होता है अन्य का नहीं इस प्रकार पूर्व दोष नहीं होगा क्योंकि (आत्मा वै जायते पुत्रः) अपने ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है इत्यादि प्रमाण विद्यमान हैं और जैसे योगी बहुत शरीरों को रच उनसे संचित कर्म-फलों को भोगने से क्षीण कर शीघ्र विमुक्त होते हैं। वैसा ही वह भी हो सकता है इस में शास्त्रमर्यादा की क्या हानि है। क्योंकि पुत्र अपने से भिन्न नहीं है इसलिये पुत्रकृत कर्म के फल प्राप्ति करना मानो अपने कृत कर्म फल की प्राप्ति है। उ०—यह कहना ठीक नहीं क्योंकि विचार करो कि पितृ-शरीर में जो आत्मा है क्या वही आत्मा पुत्र-शरीर में आया हुआ है ? यदि ऐसा हो तो पिता उसी काल में मरजाय। अथवा क्या पिता के आत्मा का कोई भाग पुत्र के शरीर में आता है ? यह भी नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा निर्विकार और अविकारी है। अथवा क्या आत्मा ही अपने सदृश अन्य आत्मा को रच के पुत्र के शरीर में रख देता है ? यह भी नहीं होसकता, क्योंकि नित्य आत्मा को कोई बना नहीं सकता।

इस हेतु पिता से भिन्न पुत्र पदार्थ है। अतः पुत्रकृत कर्मफल पिता को प्राप्त नहीं हो सकता। पुत्र के कर्म से पिता को न बन्ध न मुक्ति हो सकती है और योगी लोग एक काल में अनेक देह धारण कर कर्मफल भोगते हैं यह जो गाथा है वह सत्य नहीं है। क्योंकि योगी लोग एक आत्मा को बहुत बनाने में समर्थ कैसे होसकते। प्र०—तो "आत्मा वै जायते पुत्रः" इसकी संगति कैसे होगी ?। उ०—यहांपर आत्मशब्द का अर्थ शरीरमात्र है। माता पिता से त्वक् मज्जा मांस प्रभृति पुत्र का बनता है। आत्मा तो अजर अमर नित्य निर्विकार है अपने २ कर्म के अनुसार कल्याण वा अमंगल तत्तद् शरीर को धारण कर कर्मफल भोगता है। इस हेतु पिता पुत्र के आत्मा भिन्न हैं। एवमस्तु तव कैसे यह वाक्य विद्यावानों के प्रति शव्यकर्म का अनादर दिखलाती है इस से तो अवि-द्यावानों को फलारम्भ में कोई प्रतिबन्धक होता है यह सूचित किया जाता है। सत्य है इसका उत्तर सुनो—अन्त्येष्टि संस्कार में शव दाहके लिये चिताग्नि में कतिपय आहुतियां होमी जाती हैं और यम गाथाएं गाई जाती हैं और मृत पुरुषों की सद्गति के लिये वैदिकमन्त्रों के द्वारा पुत्रादिक लोग ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। इन सकल क्रियाओं से प्रेत को कोई उपकार होता है ऐसा अबोद्धा प्रजाएं न जानलें इसलिये शव पद का ग्रहण किया गया है और प्रसंग से यह भी दिखलाया गया है कि दाहक्रिया विना अर्चिरादिगमन कैसे हो सकता है इस शङ्का के निवारणार्थ वैसा कहा गया है।

(२) अर्चिः—आर्चिषी १ आह्निकी २ पाक्षिकी ३ औत्तरायिणी वा पाण्मासिकी ४ वार्षिकी ५ सौरी ६ चान्द्रमसी वैद्युती ८ और ब्राह्मी ९ ये नौ दशाएं मनुष्यों की होती हैं। यहां इतना जानना चाहिये । आर्चिषी—साधारणी, लघु, ऊर्ध्वगमनशीला और लघुदेश व्यापिनी अग्नि-ज्वाला का नाम अर्चि है । ज्ञानी पुरुष को मरने के अनन्तर तत्काल ही किञ्चिदानन्द संयुक्त अग्नि ज्वालावत् प्रकाश सहित कोई दशा प्रथम प्राप्त होती है इसी का नाम आर्चिषी दशा है । आह्निकी—जैसे अग्निज्वाला से दिन बहुत बड़ा बहुव्यापक और अति प्रकाशवान् देख पड़ता है वैसा ही आर्चिषी दशा के अनन्तर अधिकानन्दप्रद अधिक देशव्यापी सर्वत्र भासमान एकदशा प्राप्त होती है । पाक्षिकी—जैसे एक दिन की अपेक्षा शुक्ल पक्ष के १५ दिन बहुत ही बड़े और बहुत आनन्दप्रद होते हैं वैसे ही आह्निकी दशा से कोई अधिकानन्दप्रदायिनी दशा प्राप्त होती है इसी का नाम पाक्षिकी दशा है । औत्तरायिणी—एक पक्ष से जैसे षण्मास उत्तरायण बहुत बड़ा है इसी प्रकार पाक्षिकी दशा की अपेक्षा औत्तरायिणी दशा अधिकानन्दप्रदायिनी प्राप्त होती है । इसी का नाम औत्तरायिणी है । वार्षिकी—षण्मास की अपेक्षा वर्ष अधिक होता है तद्वत् पाण्मासिकी दशा की अपेक्षा यह वार्षिकी दशा अधिक आनन्दप्रदायिनी होती है इसलिये इस का नाम वार्षिकी है । सौरी—वर्ष सूर्य के कारण होता है इसलिये सूर्य्य, वर्ष का कर्ता होने से महान् है इसलिये इस दशा का नाम सौरी है । चान्द्रमसी—सौरी दशा के अनन्तर ज्ञानी पुरुष उस दशा को प्राप्त करता है जिसमें केवल आनन्द ही आनन्द है । आनन्द ही का मान जिस में हो अन्य का नहीं । क्योंकि चन्द्रमा शब्द का यही अर्थ है । अथवा जैसे चन्द्रमा सर्वथा ही आह्लाद कर है । किसी अवस्था में किसी को दुःखदायी नहीं होता । सूर्य तो कभी २ दुःखदायी सा प्रतीत होता है इस हेतु इस का नाम चान्द्रमसी दशा है । वैद्युती—जैसे विद्युत् वस्तुमात्र में प्रकाशाप्रकाशस्वरूप से स्थित है अर्थात् असीम है । इसी प्रकार योगियों को इस दशा में असीम आनन्द का अनुभव होता है । इसलिये इस को वैद्युती दशा कहते हैं । इस दशा में वही प्राप्त होता है जिस के कर्मफल असीम होते हैं । ब्राह्मी—तदनन्तर असीम आनन्द की प्राप्ति होती है इस हेतु इसे ब्राह्मी दशा कहते हैं । क्योंकि ब्रह्मके परम ऐश्वर्य के अवलोकन से चारों तरफ ब्रह्मानन्द ही को भोगता रहता है । (३) तत्पुरुष—यहां पुरुष शब्द का अर्थ कर्मफल है । अमानवः—मान जिस को हो वह मानव कहलाता है नहीं जो मानव वह अमानव अर्थात् मान परिमाण रहित (४) पुनः शङ्का होती है कि अर्चिष शब्द अग्नि के ज्वाला अर्थ में प्रसिद्ध है और आप के मत में पहिली आर्चिषी दशा है । यहां पर शङ्का होती है कि कैसी अर्चि (ज्वाला) का यहां ग्रहण है क्या महान् वन को

जलाते हुए अग्नि की शिखा के समान अथवा श्रद्धावान् समृद्ध के यागोचित विविध सामग्रियोंसे १७ ऋत्विकों के द्वारा हूयमान अग्नि ज्वाला की नाईं है? अथवा प्रलयकाल में सम्पूर्ण विश्व को चारों तरफ से जलाते हुए महा अद्भुत अग्नि की अचिन्तनीय महती ज्वाला के समान अथवा एक तृण को जलाते हुए अग्नि की ज्वाला के सदृश यह अर्चि कैसी है? इसमें सन्देह होता है । शास्त्र ऐसी संदिग्ध बात को कैसे उपदेश करेगा । सन्देहनिवृत्ति के लिये प्रवृत्त शास्त्र संदेह समुद्र में जिज्ञासुओं को कैसे डुबावेगा । शास्त्र कभी संशय की ओर नहीं ले जाता । उत्तर—सत्य है । यह विषय व्याख्यान से विस्फुट होगा । पञ्चमप्रपाठक दशमखण्ड देखो ॥ ५ ॥

स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥ (१)

सः । एनान् । ब्रह्म । गमयति । एषः । देवपथः । ब्रह्मपथः । एतेन । प्रतिपद्यमानाः । इमम् । मानवम् । आवर्तम् । न । आवर्तन्ते । न । आवर्तन्ते ॥६॥

भाष्यम्—स इति । सः । असीनः शुभकर्मविशेषः । एनान् । ब्रह्मविदो ब्रह्मगमयति । महानन्दघनं ब्रह्म प्रापयति । एष देवपथः । देवानां ब्रह्मविदुषां पन्थाः । दीव्यतीति देवः । प्रकाशवान् । देवश्चासौ पन्थाः देवपथो वा । एष एव ब्रह्मपथोऽपि निगद्यते । ब्रह्मणः प्राप्तिपथः । एतेन पथा प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो जना इमं मानवं मानसुहितं ससीममित्यर्थः । आवर्त । आवर्तः । आवर्तनम् । जननमरणवक्राकारगमनादि न आवर्तन्ते न प्राप्नुवन्ति । यद्वा मानवम् । मनोरयं मानवः मनोरीश्वरस्यायम् । आवर्तन्ते जननमरणप्रबन्धचक्रारूढा जना वर्तीयन्त्यस्मिन् इति आवर्तः । आवर्तः संसार अर्थात् जनन-मरणगुण-विशिष्टं इमं आवर्तम् । संसारम् । नावर्तन्ते । न प्राप्नुवन्ति द्विरुक्तिः सकलाया विद्याया परिसमाप्तिप्रदर्शनार्था ॥ ६ ॥

इति पञ्चदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—वह इन्हें ब्रह्मको प्राप्त करवाता है यही देवपथ अथवा ब्रह्मपथ कहलाता है इस पथ से चलते हुए पुरुष इस मानव आवर्त को नहीं पाते हैं नहीं पाते हैं ॥ ६ ॥

(१) तान् वैद्युतान् पुरुषोमानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ बृ० ६ । २ । १५ ॥ छा० ५। १० द्रष्टव्याम् ।

पदार्थः-(सः) वह असीम शुभकर्म विशेष (एनान्) इन ब्रह्मवादियों को (ब्रह्म+गमयति) ब्रह्मके निकट ले जाता है (एषः+देवपथः) यह देवपथ है अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुषों का मार्ग है। अथवा प्रकाशवान् मार्ग है (ब्रह्मपथः) इसी का नाम ब्रह्मपथ भी है (एतेन) इस मार्ग से (प्रतिपद्यमानाः) जाते हुए (इमम्+मानवम्) इस मनुष्यसम्बन्धी अर्थात् जननमरणादि बहुदुःखसम्पन्न (आवर्तम्) संसार को (न आवर्तन्ते) नहीं पाते हैं (न आवर्तन्ते) नहीं पाते हैं ॥ ६ ॥

भाष्याशयः-मानव-मनु=मनुष्य मनुसम्बन्धी को मानव कहते हैं अथवा मनु=ईश्वर तत्सम्बन्धी मानव अर्थात् ईश्वरीय जननमरणादि दुःख सहित जो यह संसार उसका नाम मानव-आवर्त है । अथवा मान सहित आवर्त को मानव-आवर्त कहते हैं । इत्यादि अनुसंधान करलेना ॥ ६ ॥ इति पञ्चदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १५ ॥

अथ षोडशः खण्डः ॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति । यदेष यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्त्तनी ॥ १ ॥ *

एषः । ह । वै । यज्ञः । यः । अयम् । पवते । एषः । ह । यन् । इदम् । सर्वम् । पुनाति । यद् । एषः । यन् । इदम् । सर्वम् । पुनाति । तस्मात् । एषः । एव । यज्ञः । तस्य । मनः । च । वाक् । च । वर्त्तनी ॥ १ ॥

---

* प्रजापतिर्यज्ञमतनुत । स ऋचैव हौत्रमकरोत् । यजुषाऽऽध्वर्य्यवम् । साम्नौद्गात्रम् । अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम् । ......स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते । मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति । अयमु वै यः पवते स यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनिः मनसा चैवहि वाचाच यज्ञो वहति अतएव मन इयमेव वाक् । गोपथ प्रपाठक ३ । २ ॥

तदाहु ब्रह्मवदाद ३ । यदृचैव होत्रं क्रियते यजुषाऽऽध्वर्य्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति । अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति ? त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात् । अयं वै यज्ञो योऽयं पवते । तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ । वाचा च हि मनसा च यज्ञोऽवर्तत । इयं वै वाग् अदो मनः । तद्वाचा त्रय्याविद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति । ऐतरेय ब्रा० पञ्चम पञ्चिका ३३ ॥

भाष्यम्—एष इति । (ह वै) इति निपातौ प्रसिद्धार्थविद्योतकौ । ह वै । प्रसिद्धः । एषः । सर्वत्र विद्यमानः । वायुरित्यध्याहार्यम् (यज्ञः) यज्ञकारणमस्ति । वायुं विना यज्ञस्य किञ्चिन्मात्रमपि हुतद्रव्याणामितस्ततः नेतृत्वविरहाच्च तयोः प्रधानकारणीभूतत्वेन यज्ञो-ऽयमुच्यते (योऽयम्) य एष वायुः (पवते) सुगन्धित मधुरपुष्ट होमीयपदार्थैः संमि-लितः यथागति प्रतिस्थानं प्रकृत्यैव गत्वं गत्वं सर्वान् स्थावरान् जङ्गमान् वा पदार्थान् यथा-गतं (पवते) नयति प्रापयति (ह) प्रसिद्ध (एषः) वायुरेव (यन्) सर्वत्र यथा गति गच्छन् (इदम्) सर्वं जगत् (पुनाति) शोधयति । हुतद्रव्याणां रोगादि-विनाशकानामि-तस्ततो नयनेन इतस्ततः स्थितानां जलादिषु चान्तर्निविष्टानां च व्याधीनां विनाशनेन चित्ताह्ला-दकरणेन सर्वं प्राणिजातं पवित्रीकरोति (यत्) यस्मात् कारणात् (एषः) अयं वायुः (यन्) गच्छन् । (इदम्) सर्वं (पुनाति) पवित्रीकरोति । तस्मात् (एषः+एव) अयं वायुरेव (यज्ञः) यज्ञकारणम् (तस्य) यज्ञस्य (मनश्च) मननगुणविशिष्टमिन्द्रियाणाम-धिष्ठातृभूतमन्तरिन्द्रियं यथा भूतार्थविज्ञाने प्रवर्तितम् । मनः । तथा (वाक् च) पूता संस्कृता मन्त्रोच्चारणे व्यापृता वाणी । ते एते । वाङ्मनसे (वर्तनी) मार्गौ, याभ्यां यज्ञ-स्तायमानः प्रवर्तते ते वर्तनी ॥ १ ॥

अनुवाद—यह प्रसिद्ध वायु ही यज्ञ (यज्ञ का कारण) है । यह प्रसिद्ध वायु इ-तस्ततः गमन करता हुआ इस सब जगत् को पवित्र करता है जिस कारण यह (वायु) इतस्ततः गमन करने से इस सब जगत् को पवित्र करता है अतः यही यज्ञ है । उस के मन और वाणी मार्ग हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(ह+वै) ह और वै शब्द प्रसिद्ध वाचक है अर्थात् अति प्रसिद्ध (एषः) यह वायु इस शब्द का यहां अध्याहार किया गया है (यज्ञः) यज्ञ है अर्थात् यज्ञ का कारण है (यः+अयम्) जो यह वायु (पवते) पहुंचाता है अर्थात् सुगन्धित हुत और सुरभ होमीय सामग्रियों से मिलकर अपनी गति के अनुसार स्वभावतः प्रतिस्थान में जा जाकर उन द्रव्यों को सब पदार्थों के निकट पहुंचाता है (एषः+ह) जो यह प्रसिद्ध वायु (यन्) इतस्ततः गमन करता हुआ (इदम्+सर्वम्) इस सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् को (पुनाति) पवित्र करता है (यद्+एषः+यन्+इदम्+सर्वम्+पुनाति) जिस कारण इतस्ततः गमन करता हुआ यह वायु इस सम्पूर्ण को पवित्र करता है (तस्माद्+एषः+एव+यज्ञः) इस हेतु यही यज्ञ है (तस्य) उस यज्ञ के (मनः) कर्म करते हुए ऋत्विजों के कर्तव्या-कर्तव्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हुआ जो मन और (वाक् च) मन्त्रोच्चारण में प्रवृत्त जो पवित्र संस्कृत वाणी ये दोनों (वर्तनी) मार्ग हैं जिन के द्वारा यज्ञ विस्तारित होकर प्रवृत्त होता है उसे वर्तनी कहते हैं ॥ १ ॥

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा। वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराꣳ स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति॥ २॥ (१)

तयोः। अन्यतराम्। मनसा। संस्करोति। ब्रह्मा। वाचा। होता। अध्वर्युः। उद्गाता। अन्यतराम्। सः। यत्र। उपाकृते। प्रातरनुवाके। पुरा। परिधानीयायाः। ब्रह्मा। व्यववदति॥ २॥

भाष्यम्—तयोरिति (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामार्त्विक् (तयोः) वर्तन्योः। अन्यतराम्। एकां वर्तनिम् (मनसा) इतरेषामृत्विजां कर्तव्या-कर्तव्य-निरीक्षणे प्रवृत्तेन ध्यानावस्थितेन मनसा (संस्करोति) संस्कृतां विदधाति। तथाच (होता, अध्वर्युः, उद्गाता) एते त्रय ऋत्विजः (अन्यतराम्) एकाम् (वाचा) मन्त्रोच्चारणे शुद्धाऽशुद्ध-विवेकेन प्रवर्त्तितया पूतया वाण्या (संस्कुर्वन्ति) इत्थं यज्ञस्य व्यवस्था भवति। इदानीं ब्रह्मणः कर्तव्यतां दृढीकर्तुं तस्य दोषं निदर्शयति। ब्रह्मणा कर्त्तव्याया मनोवर्त्तन्याः संस्काराभावे सति प्रत्यवायञ्च सूचयति (यत्र) यस्मिन् काले (प्रातरनुवाके) एतन्नामके शस्त्रे अप्रगीते ऋङ्मन्त्रगणे (उपाकृते) आरब्धे सति (परिधानीयायाः) ऋचः (पुरा) पूर्वम्। एतस्मिन्नन्तरे-काले ऋत्विक् प्रातरनुवाकमारभ्य परिधानीयाभिर्ऋग्भिः कर्त्तव्य-कर्म-पर्यन्तं यदि (ब्रह्मा) ऋत्विक् (व्यववदति) मौनं परित्यजति। अर्थात् यदि मध्ये किमपि ब्रूयात् तदा वक्ष्यमाणो दोषः समायाति॥ २॥

अनुवादः—ब्रह्मा नाम ऋत्विक् इन दोनों में से एक (वर्तनि) को मन से संस्कृत करता है और दूसरी वर्तनि को होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी से संस्कृत करते हैं जिस काल में प्रातरनुवाक नाम के शस्त्र के प्रारम्भ होने पर और परिधानीया ऋचा के

(१) मनसैव ब्रह्मा संस्करोति। ते हैके ब्रह्माण उपाकृते प्रातरनुवाके स्तोमभागान् जपित्वा भाषमाणा उपासते। तद्धैनदुवाच ब्राह्मण उपाकृते प्रातरनुवाके ब्रह्माणं भाषमाणं दृष्ट्वाऽर्धमस्य यज्ञस्यान्तरगुरिति॥ ऐ० ब्रा० पञ्चिका ५।५।३३॥
ऐसा ही गोपथब्राह्मण में भी है यथा—"स यद्वदन्नस्तिविचादर्धमेऽस्य यज्ञस्यान्तरगाद्विति"। तृतीय प्रपाठक।

(२) जो ऋङ्मन्त्र गाये नहीं जाते हों केवल शान्तिपूर्वक पठित होते हैं उन्हें शस्त्र कहते हैं (शंस=प्रशंसा करना) इस धातु से शस्त्र बनता है और जो ऋङ्मंत्र गाये

पूर्व ब्रह्मा मौन को परित्याग करता (उसी समय यज्ञ में दोष आता है) यह आगे कहा जायगा ॥ २ ॥

पदार्थः-(ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम ऋत्विक् (तयोः) उन मन और वाणीरूप वर्तनियों में से (अन्यतराम्) एक वर्तनि को (मनसा) उभयात्मक शुद्ध मन से (संस्करोति) संस्कृत करता है और (होता, अध्वर्युः, उद्गाता) होता अध्वर्यु उद्गाता ये तीनों ऋत्विक् (अन्यतराम्) दूसरी वर्तनि को शुद्ध करते हैं । आगे यज्ञ अच्छे प्रकार संपन्न हो इस हेतु ऋत्विकों के दोष दिखलाये जाते हैं (यत्र) जिस यज्ञ में (प्रातरनुवाके) प्रातरनुवाक के (उपाकृते) प्रारम्भ होने पर (परिधानीयायाः) परिधानीया ऋचा के (पुरा) पूर्व (सः+ब्रह्मा) वह ब्रह्मा नाम ऋत्विक् (व्यववदति) यदि मौन व्रत को त्याग करता है तो यह दोष होगा जो अगले वाक्य में कहा जायगा ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनिꣳ सꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा । स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्त्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति । यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति । स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३ ॥ (२)

जाते हैं उन्हें स्तोत्र कहते हैं । ये शस्त्र और स्तोत्र भिन्न २ समय के लिये निकाले हुए हैं जो प्रातःकाल स्वस्तिवाचन शान्तिपाठ आदि पढ़ते हैं उन्हें प्रातरनुवाक नाम शस्त्र कहते हैं (प्रातः=प्रातःकाल । अनुवाक=अनुवाचन) ॥

(१) जिन ऋचाओं को पढ़कर अग्निकुण्ड में समिधा डालते हैं उसको परिधानीया ऋक् कहते हैं इसी को सामिधेनी भी कहते हैं ॥

(२)तद्यथा-एकपात्पुरुषो यन्नेकतश्चक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति । एवमेव स यज्ञोभ्रेषं न्येति । यज्ञस्य भ्रेषमनु यजमानोभ्रेषं न्येति । तस्माद् ब्रह्मा राकृते प्रातरनुवाके वाचंयमः स्यादोपांश्वंतर्यामयो र्होमादुपाकृतेषु पवमानेष्वोदृचोऽथ यानि स्तोत्राणि स शस्त्राण्या तेषां वषट्कारात् वाचंयम एव स्यात् ॥ ऐ० ब्रा० ५ । ५ । ३३ ॥

तद्यथा-एकपात्पुरुषो यन्नेकचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषंन्येति । एवमेवास्य यज्ञोभ्रेषं न्येति । यज्ञस्य भ्रेषमनु यजमानो भ्रेषं न्येति । यजमानस्य भ्रेषमनृत्विजो भ्रेषं नियन्ति । ऋत्विजां भ्रेषमनु दक्षिणा भ्रेषं नियन्ति । दक्षिणानां भ्रेषमनु जयमानः पुत्र-पशुभिर्भ्रेषं न्येति, पुत्र-पशूनां भ्रेषमनु यजमानःस्वर्गेण लोकेन भ्रेषं न्येति । स्वर्गस्य लोकस्य भ्रेषमनु

अन्यतराम्। एव। वर्तनीम्। संस्करोति। हीयते। अन्यतरा। सः। यथा। एकपाद्। व्रजन्। रथः। वा। एकेन। चक्रेण। वर्तमानः। रिष्यति। एवम्। अस्य। यज्ञः। रिष्यति। यज्ञम्। रिष्यन्तम्। यजमानः। अनु। रिष्यति। सः। इष्ट्वा। पापीयान्। भवति॥ ३॥

भाष्यम्–अन्यतरामिति। यदि तस्मिन्नन्तरे काले ब्रह्मा निजमौनं परित्यज्य मध्ये ब्रवीति तर्हि। (अन्यतरामेव वर्तनिम्) वाग्रूपां वर्तनिमेव ब्रह्माऽपि (संस्करोति) (अन्यतरा) मनोरूपा वर्तनिर्ब्रह्मणा प्रतिपालनीया सा (हीयते) विनश्यति। (छिद्रीभवति। इत्थम्। स यज्ञो वाग्रूपया एकयैव वर्तिन्या (वर्तमानः) सन् (रिष्यति) सच्छिद्रोभूत्वा विनश्यति। उपमया संघटयति (यथा+एकपाद्) एकःपादो यस्य स एकपात्पुरुषो दूरमार्गं (व्रजन्) गच्छन् स्थगितः सन् (रिष्यति) (वा) यद्वा। यथा (एकेन+चक्रेण) एकेन चक्रेण वर्तमानो रथो विनश्यति। तथैव अस्य यजमानस्य यज्ञोरिष्यति। यज्ञं रिष्यन्तमनुपश्चात्। यजमानोरिष्यति ब्रह्मणाहेतुना। स यजमानस्तं रिष्यन्तं यज्ञम्। इष्ट्वा। पापीयान्। पापतरोभवति॥ ३॥

अनुवादः–(तब वह ब्रह्मा) एक ही वर्तनि को संस्कृत करता है। दूसरी वर्तनि हीन हो जाती है। तब जैसे एकपाद् मनुष्य चलता हुआ वा जैसे एक ही चक्र के सहित रथ जाता हुआ विनष्ट हो जाता है वैसे ही इस यजमान का वह यज्ञ विनष्ट हो जाता है। यज्ञ के विनष्ट होने पर वह यजमान हीन हो जाता है और वैसा यज्ञ करके वह दोषभागी होता है॥ ३॥

पदार्थः–इसके मध्य में यदि ब्रह्मा अपने मौन को परित्याग करता है तो (अन्यंतरामेव+वर्त्तनिम्) एक ही वाक्रूप वर्तनि को (संस्करोति) संस्कृत शुद्ध करता है (अन्यतरा) दूसरी मनोरूपा वर्त्तनि (हीयते) नष्ट हो जाती है ऐसे होने से यह दोष होता है सो दृष्टान्त के द्वारा कहते हैं (यथा) जैसे (सः) कोई पुरुष (एकपाद्) एक पैर वाला (व्रजन्) चलता हुआ (वा) अथवा (एकेन+चक्रेण+वर्तमानः) एक चक्र के साथ वर्तमान (रथः) रथ (रिष्यति) नष्ट हो जाता है (एवम्) वैसे ही (अस्य) इस यजमान का (यज्ञः) वाग्रूपा एकवर्तनि के साथ वर्तमान यज्ञ (रिष्यति) नष्ट हो जाता है (यज्ञम्+रिष्यन्तम्+अनु) यज्ञ के नष्ट होते हुए के पीछे (यजमानः+रिष्यति)

तस्यार्धस्य योगक्षेमो व्येपं न्येति। यस्मिन्नर्धे यजन्त इति ब्राह्मणम्.२। गोपथ तृतीय प्रपाठक देखो। अन्य अन्य ब्राह्मण में भी यही बात कही गई है।

यजमान नष्ट हो जाता है (सः+इष्ट्वा) वह यजमान ऐसे यज्ञ को करके (पापीयान्+भवति) पापिष्ठ होता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥

अथ । यत्र । उपाकृते । प्रातरनुवाके । न । पुरा । परिधानीयायाः । ब्रह्मा । व्यववदति । उभे । एव । वर्तनी । संस्कुर्वन्ति । न । हीयते । अन्यतरा ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ यदि । यत्र । यस्मिन् यज्ञकर्मणि । प्रातरनुवाके नाम शस्त्रे । उपाकृते प्रारब्धे सति । परिधानीयाया ऋचः पुरा पूर्वम् । ब्रह्मा । न । व्यववदति । मौनं न परित्यजति स्वकर्मपालनं मनसा करोति । तत्र उभे । मनोरूपा वाग्रूपा च । द्वे अपि वर्तनी मार्गौ । संस्कुर्वन्ति । सर्वे मिलित्वा पूरयन्ति । एवं कृतेसति । अन्यतरा । नैकापि तयोर्मध्ये हीयते । हीना सच्छिद्रा भवति ॥ ४ ॥

अनुवादः—और जिस यज्ञ में प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होने पर और परिधानीया ऋचा के पूर्व ब्रह्मा अपने मौन को परित्याग नहीं करता है वहां दोनों वर्तनियों को सब संस्कृत करते हैं उन में से एक भी हीन नहीं होती है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अथ) और (यत्र) जिस यज्ञ में (प्रातरनुवाके) प्रातःकाल पठनीय शास्त्र=अप्रगीत ऋङ्मन्त्र के (उपाकृते) प्रारम्भ होने पर (परिधानीयायाः पुरा) परिधानीया ऋचा के पूर्व (ब्रह्मा+न+व्यववदति) ब्रह्मा नाम ऋत्विक् अपने मौन को नहीं त्यागता है वहां (उभे+एव+वर्तनी) दोनों ही वाग्रूपा मनोरूपा वर्तनियों को (संस्कुर्वन्ति) सब ऋत्विक् मिलकर संस्कृत करते हैं (अन्यतरा+न+हीयते) उन में से कोई हीन नहीं होती ॥ ४ ॥

स यथोभय पादूव्रजन्‌यो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति । यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनु प्रतितिष्ठति । स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥ ५ ॥ *

* तद्यथा—उभयतः पात्पुरुषो यन्नुभयतश्चक्रो वा रथो वर्तमानो न रिष्यति । एवमेव स यज्ञो न रिष्यति यज्ञस्याऽरिष्टिमनु यजमानो न रिष्यति ॥ ऐ० ब्रा० ५ । ५ । ३३ ॥

सः। यथा। उभयपाद्। व्रजन्। रथः। वा। उभाभ्याम्। चक्राभ्याम्। वर्तमानः। प्रतितिष्ठति। एवम्। अस्य। यज्ञः। प्रतितिष्ठति। यज्ञम्। प्रतितिष्ठन्तम्। यजमानः। अनु। प्रतितिष्ठति। सः। इष्ट्वा। श्रेयान्। भवति॥ ५॥

भाष्यम्-स इति। उभयपाद्। उभौपादौ यस्य स उभयपाद्। अखञ्जइत्यर्थः। यथा येन प्रकारेणोभयपादवान् पुरुषः। व्रजन् दूरमप्यध्वानं गच्छन्प्रतितिष्ठति समर्थोभवति। यथा वा। उभाभ्यां चक्राभ्यां सह वर्तमानो युक्तो रथः। प्रतितिष्ठति स्वेनात्मना अविनश्यन् वर्तत इत्यर्थः। एवमेव स यज्ञः। उभाभ्यां वर्त्तनिभ्यां वर्तमानः प्रतिष्ठति न रिष्यतीत्यर्थः यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं सन्तम्। अनु। पश्चात्। यजमानः प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठां प्राप्नोति। ईदृशं यज्ञमिष्ट्वा संपाद्य श्रेयांश्च श्रेष्ठो भवति॥ ५॥ इति षोडशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम्॥

अनुवादः-जैसे उभय चरणसंयुक्त मनुष्य अथवा उभय चक्र सम्मिलित रथ चलता हुआ प्रतिष्ठित होता है वैसे ही इस यजमान का वह यज्ञ प्रतिष्ठित होता है यज्ञ के प्रतिष्ठित होने के पीछे यजमान प्रतिष्ठित होता है और वह ऐसे यज्ञ को कर के श्रेष्ठ होता है॥ ५॥

पदार्थः-(यथा) जैसे (सः) सो जो कोई पुरुष (उभयपाद्) दोनों चरणों से वर्तमान (व्रजन्) चलता हुआ (वा) अथवा (उभाभ्याम्+चक्राभ्याम्) दोनों चक्रों के साथ (वर्तमानः) वर्तमान (रथः) रथ (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है (एवं+अस्य+यज्ञः+प्रतितिष्ठति) वैसे ही इस यजमान का यज्ञ प्रतिष्ठित होता है (यज्ञम्+प्रतितिष्ठन्तम्+अनु) यज्ञ के प्रतिष्ठित होते हुए के पीछे (यजमानः+प्रतितिष्ठति) यजमान प्रतिष्ठित होता है (स+इष्ट्वा+श्रेयान्+भवति) वह यजमान वैसा यज्ञ कर के श्रेष्ठ होता है॥ ५॥

इति षोडशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम्॥ १६॥

अथ सप्तदशः खण्डः॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳ रसान् प्राबृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः॥ १॥ *

* प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वेमांल्लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। तांल्लोकानभ्यतपत् तेभ्योभितप्तेभ्यस्त्रीणिज्योतींष्यजायन्त। अग्निरेवपृथिव्या। अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवः॥ ऐ॰ब्रा॰ ५। ५। ३२॥

प्रजापतिः । लोकान् । अभ्यतपत् । तेषाम् । तप्यमानानाम् । रसान् । प्राबृहद् । अग्निम् । पृथिव्याः । वायुम् । अन्तरिक्षात् । आदित्यम् । दिवः ॥ १ ॥

भाष्यम्—प्रजापतिरिति । ऋत्विजो ब्रह्मणः प्रमादादुत्पन्नेषु यज्ञच्छिद्रेषु तच्छान्त्यै प्रायश्चित्तमाचरणीयम् । महाव्याहृतिभिर्गार्हपत्याद्यग्निषु होमकरणमेवतत्प्रायश्चित्तम् । तत्र व्याहृतीनामुत्पत्ति—प्रदर्शनायोपक्रमं निबध्नाति । तदर्थं संक्षेपतस्तच्छ्रेष्ठतां दर्शयिष्यल्ँलोकादि-सृष्टिपूर्वकं तत्सृष्टिं वक्ष्यति । जगत्सिसृक्षुः प्रजापतिः । लोकान् अव्यक्तदशाया व्यक्तदशां प्राप्यालोक्यन्ते दृश्यन्ते प्रकाश्यन्ते ये ते लोकाः । तान् । सर्वाणि भुवनानि । अभ्यतपत् मनसिविज्ञानं विधायोत्पादयामासेत्यर्थः । विज्ञानपूर्वक-सृष्टि-करणमत्राभितपनशब्देन व्यवह्रियते । तेषां तप्यमानानां विज्ञानेन सृज्यमानानां सृष्टानामित्यर्थः । तेषां भुवनानां मध्ये प्रजापतिः । रसान् स्वोपदेशै रसयन्ति आनन्दयन्ति ये ते रसाः । आनन्दस्वरूपाः । तांस्त्रीन् सिद्ध-पुरुषान् आनन्द रूपान् प्राबृहदवीवृधत् जनयामासेत्यर्थः । परमकारुणिकेनेश्वरेण जीवान् उद्दीधीर्षि-ष्यन् प्राक्तनकल्पसिद्धान् त्रीन् पुरुषान् वेदान् जिग्राहयिषया समजीजनत् । तथाहि । पृथिव्याः । अत्र त्रिष्वपि विभक्तयो विपरिणमयितव्याः । यद्वा ल्यप् लोपे पञ्चमी । तेन पृथिव्याः पृथिवी सम्बन्धिनम् । अग्निम् अग्निनामानम् महर्षिम् । जनयामास । विशेषतः पार्थिवान् गुणान् विज्ञातु विज्ञापयितुञ्च अग्निर्ऋषिः सृष्टः । ऋचां पार्थिव-तत्त्वप्रकाशने प्रधानता हि । अन्त-रिक्षात् । अन्तरिक्षस्यसम्बन्धिनम् । वायुम् । वायुमृषिं जनयामास । अन्तरिक्षस्थानां पदा-र्थानां तत्त्वं निर्णेतुं निर्णाययितुञ्च । वायुर्नामर्षिरुत्पादितः । यज्ञो हि वायुपरतन्त्रः । वायु-श्चान्तरिक्षगः । यजूंषि प्रधानत्वेन यज्ञान् विदधति । दिवो द्युलोकस्य सम्बन्धिनमादित्यम् । आदित्यनामानम् महर्षिमुत्पादयामास । सर्वत्र व्यापकमपि ब्रह्म सर्वेषां लोकानामुपरितनेभागे विद्यत इति तस्य स्तुतिर्भवति । ब्रह्माण्डे न किमप्यूर्ध्वं न चाधोऽधः । सर्वं सर्वं प्रति ऊर्ध्व-मधश्च भवितुमर्हति । तथापि सूर्यो लक्ष्यत ऊर्ध्वस्थः । पृथिवी अधस्था । इति लौकिकव्यव-स्थया सर्वोपरिभागोद्युलोकपदेन व्यवहृतः । कः खलु सर्वोपरिस्थः । ईश्वर एव । सामानि तु विशेषतया तदेव ब्रह्म गायन्ति । आदित्यः सूर्योऽपि ऊर्ध्वस्थितः सन् उद्ब्रह्मैव गायति । द्युलोकस्य ब्रह्मणस्तत्त्वं विभूतिं गातुं गापयितुञ्च आदित्यो महर्षिः सृष्टः । यद्वा ल्यप् लोपे

(१) २ । २३ । ३ । दृश्यताम् ॥

पञ्चमी । तेन पृथिव्यां पृथिवीमुद्दिश्य । पृथिवीस्थानां गुणानां प्रकाशनायेत्यर्थः । इतरयोरपि ईदृशी व्याख्या द्रष्टव्या ॥ १ ॥

अनुवादः—प्रजापति ने सम्पूर्ण भुवनों को प्रथम मन में विचार विज्ञानपूर्वक उन की सृष्टि की । इन विज्ञानपूर्वक सृष्ट जगतों में तीन आनन्दमय सिद्ध पुरुषों को उत्पन्न किया । पृथिवी सम्बन्धी अग्नि ऋषि को, अन्तरिक्ष सम्बन्धी वायु ऋषि को और द्युलोक सम्बन्धी आदित्य ऋषि को । यद्वा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के विज्ञानों के प्रकाश करने के उद्देश से अग्नि, वायु और आदित्य इन तीन पुरुषों को उत्पन्न किया*॥ १ ॥

पदार्थः—(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक प्रतिपालक ब्रह्म ने (लोकान्) सम्पूर्ण पदार्थों को (अभ्यतपत्) ज्ञानपूर्वक उत्पन्न किया (तेषाम्) (तप्यमानाम्) ज्ञानपूर्वक इन सबों की सृष्टि होने पर (रसान्) आनन्दस्वरूप अपने वचनों से सब को रसयुक्त करनेवाले अग्नि, वायु, आदित्य इन महर्षियों को (प्राबृहत्) प्रवृद्ध किया (बढ़ाया) अर्थात् उत्पन्न किया । किस हेतु ये तीनों उत्पन्न किये गये (पृथिव्याः) पार्थिव पदार्थों के गुण प्रकाशार्थ (अग्निम्) अग्नि नाम महर्षि को (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष पदार्थों के गुण प्रकाशार्थ (वायुम्) वायु नाम महर्षि को (दिवः) द्युलोकस्थ पदार्थों के द्योतनार्थ (आदित्यम्) आदित्य नाम महर्षि को (प्राबृहत्) प्रवृद्ध समुन्नत किया ॥ १ ॥

भाष्याशयः—(लोक) जो पदार्थ दृष्टिगोचर होसके उसे लोक कहते हैं यावत् पदार्थों का द्योतक "लोक" शब्द होता है अर्थात् अव्यक्तावस्था से जो व्यक्तावस्था में संप्राप्त हो वह लोक है (अभ्यतपत्) अभिपूर्वक तप् धातु का अर्थ सृजन करना है छान्दोग्योपनिषद्के सृष्टि प्रकरण में प्रायः यही शब्द आया है । ज्ञानपूर्वक सृष्टि का नाम अभितपन है । क्योंकि (यस्यज्ञानमयं तपः) ईश्वर का ज्ञानपूर्वक सृष्टिकरण ही तप है (रसान्) पदार्थों के सारभूत वस्तुओं का नाम रस है । जिस हेतु वे तीनों वा चारों ऋषि जगत् के सारभूत थे अतः वे रस कहे गये हैं क्योंकि जैसे अन्नादिरस जीवों को आनन्दप्रद होता है वैसे ही वे चारों ऋषि भी वेद वाणी ज्ञानरूप रसों से सब को आनन्द किया करते थे । पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीनों शब्द विशेषवाचक नहीं किन्तु सामान्य बोधक हैं ।

* यहां पर सृष्टि प्रकरण का विशेषरूप से वर्णन नहीं है । यहां केवल महाव्याहृतियों का माहात्म्य दिखलाया है । इस हेतु चतुर्थ ऋषि की उत्पत्ति नहीं कही गई है परन्तु यहां अङ्गिरा ऋषि की उत्पत्ति समझ लेनी ।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन पदार्थों से संयुक्त है । स्थूल पदार्थ का नाम पृथिवी, सूक्ष्म पदार्थ का नाम अन्तरिक्ष और इन दोनों का संयोजक तीसरा पदार्थ है । जिस को द्यु कहते हैं । अर्थात् दिव्य शक्ति, दिव्यगुण आदि इस का नाम होता है । अर्थात् प्रत्येक पदार्थ दो प्रकार के हैं । नित्य और अनित्य । व्यक्तावस्था (कार्य्यरूप) में जितने पदार्थ हैं वे तो अनित्य और अव्यक्तवस्था (परमाणुरूप) में जो हैं वा होते हैं वे नित्य हैं और तीसरा एक द्युपदार्थ है वह यह है जो एक परमाणु का दूसरे परमाणु से योग करवाता है । इन्हीं तीनों के नामान्तर तम, रज और सत्त्व हैं । अथवा स्थूल, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म बोधक क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक है क्योंकि पृथु (स्थूल) से पृथिवी (अन्तर्मध्ये ईक्ष्यते) जो मध्य में देख पड़े अर्थात् पृथिवीवत् नहीं दीखता किन्तु पदार्थों के मध्य (अन्तर) में सूक्ष्म दृष्टि से दीखता है । उसे अन्तरिक्ष अर्थात् सूक्ष्म । द्यु=जिस में दिव्यगुण हो दिव्यशक्ति द्वारा ही भासित हो दृष्टिगोचर नहीं अर्थात् अतिसूक्ष्म (अग्नि०) इन ही तीन पदार्थों के गुण प्रकाशार्थ ईश्वर ने तीन ऋषियों को उत्पन्न किया । लोक में पार्थिव पदार्थाश्रित अग्नि विदित होती है और यह पार्थिव पदार्थ के विशेष गुण प्रतीत होता है अतः परमेश्वर ने इस गुण के प्रकाश करने के लिये जिस को उत्पन्न किया वह अग्नि नाम से प्रसिद्ध हुआ । लोक में अन्तरिक्षस्थ वायु प्रतीत होता है अतः अन्तरिक्ष का विशेषगुण वायु है अतः वायवी विद्या प्रकाशार्थ जो ऋषि उत्पन्न हुए वे वायुनाम से प्रसिद्ध हुए । एवं द्युलोकस्थ आदित्य (सूर्य्य) भासमान होता है । अतस्तद्‌गुणवेत्ता ऋषि भी आदित्यनाम से प्रख्यात किये गये । यद्यपि ऊर्ध्व और अधः की कोई भी गणना नहीं हो सकती है । अनन्त ब्रह्माण्ड में कौन ऊपर और नीचे सो निर्णय नहीं हो सकता । जब वेद के अनुसार सूर्य भी सहस्रों हैं । तब एक सूर्य को लेकर हम कुछ गणना नहीं कर सकते अपनी दृष्टि से ऊपर नीचे की गणना होती है । हां दूरता की गणना हो सकती है । परन्तु लोक-दृष्टि में सूर्य ऊपर पृथिवी नीचे और अन्तरिक्ष मध्य । जैसे लोक-दृष्टि के अनुसार पूर्वपश्चिमादि की गणना करते हैं तद्वत् यहां भी जानना । अनन्त आकाश में कपड़े में छींट के समान शतशः सहस्रशः लक्षशः लोक लोकान्तर भ्रमण कर रहे हैं परन्तु यह जीव जहां पर रहेगा वहां ही तीन दशाएं उसे भासित होंगी । अतः ये तीन लोक कहलाते हैं और उन के गुण-प्रकाशक तीन ऋषि हुए । चतुर्थऋषि अध्यात्म-विद्या प्रचारक हुए हैं अतः उन का नाम अङ्गिरा सम्पूर्ण अङ्ग के वर्णन करनेवाले । अथवा

प्रधान अङ्गी जो ब्रह्म उस को जो लेकर प्रजाको देवे उसे अङ्गिरा कहते हैं (अङ्गिनम्+ईश्वरम्+रातिददाति+इति+अङ्गिराः) ॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳ रसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात्*॥ २॥

सः। एताः। तिस्रः। देवताः। अभ्यतपत्। तासाम्। तप्यमानानाम्। रसान्। प्रावृहद्। अग्नेः। ऋचः। वायोः। यजूंषि। सामानि। आदित्यात्॥ २॥

भाष्यम्–स इति। स प्रजापतिर्ब्रह्म। इत्थम्। एताअग्निवाय्वादित्यरूपाः। तिस्रस्त्रिसंख्याका देवताः। देवएव देवताः। ताः। अभ्यतपदीक्षणक्रमेण सृष्टवान्। तप्यमानानां सृष्टानां तासां तिसृणां देवतानां हृदये रसान् आनन्दप्रदान् ऋगादिलक्षणान् वेदान्। प्रावृहत् वर्धयामास प्रकाशितवान्। एतदेवाग्रे दर्शयति। ऋचः ऋक्लक्षणवेदम्। अग्नेरग्निनाम्नो महर्षेः सकाशात्। यजूंषि यजुर्लक्षणं वेदम्। वायोर्वायुनाम्नो महर्षेः सामानि सामलक्षणं वेदम्। आदित्यादादित्यनाम्नो महर्षेः सकाशात्। प्रावृहज्जनितवान् ॥ २ ॥

अनुवादः–उसने (इस प्रकार) इन तीन अग्नि, वायु, आदित्य दिव्यगुण वाले महर्षियों को उत्पन्न किया इनकी उत्पत्ति के अनन्तर अग्नि नामा ऋषि के द्वारा ऋग्वेदरूप रस, वायु ऋषि के द्वारा यजुर्वेदरूप रस, आदित्य ऋषि के द्वारा सामवेदरूप रस प्रकाशित किये ॥ २ ॥

पदार्थः–(सः) उस प्रजापति ने इस प्रकार (एताः) ये (तिस्रः) तीन (देवताः) अग्नि, वायु और आदित्य नाम के दिव्यगुण वाले महर्षि (अभ्यतपत्) उत्पन्न किये (तेषाम्+तप्यमानानाम्) इनके उत्पन्न होने के अनन्तर (रसान्) आनन्दप्रद ऋग्, यजु और सामरूप रस (प्रावृहत्) प्रकाशित किये। किसके द्वारा किस वेद को प्रकाशित किया सो आगे कहते हैं (अग्नेः) अग्नि नामक ऋषि के द्वारा (ऋचः) ऋग्वेद (वायोः) वायु नामक ऋषि के द्वारा (यजूंषि) यजुर्वेद (आदित्यात्) आदित्य ऋषि के द्वारा (सामानि) सामवेद प्रकाशित किये ॥ २ ॥

* तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्॥ ऐ० ब्रा० ५।५।३२॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्राबृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः * ॥ ३ ॥

सः । एताम् । त्रयीम् । विद्याम् । अभ्यतपत् । तस्याः । तप्यमानायाः । रसान् । प्राबृहद् । भूः । इति । ऋग्भ्यः । भुवः । इति । यजुर्भ्यः । स्वः । इति । सामभ्यः ॥ ३ ॥

भाष्यम्–स इति । स प्रजापतिः । इत्थम् । त्रयींविद्याम् । ऋग्यजुःसामलक्षणां त्रिसंख्याकां विद्याम् । अभ्यतपत् । तप्यमानायास्तस्यास्त्रयाःसकाशात् । रसान् ब्रह्मपथप्रदर्शकान् आनन्दप्रदान् भूरित्यादीन् रसान् । प्राबृहज्जनितवान् । तथाहि । ऋग्भ्य ऋक्लक्षणाद् वेदाद् "भूः" इति महाव्याहृतिम् । यजुर्भ्यः "भुवः" इति महाव्याहृतिम् । सामभ्यः "स्वः" इति महाव्याहृतिम् । प्राबृहत् । अयमभिप्रायोस्ति । भूरिति भूलोकः । भुवरिति अन्तरिक्षलोकः । स्वरितिद्युलोकः । एतेन शब्दत्रयेण त्रयाणां लोकानां संग्रहो भवति । ऋग्यजुःसामवेदैः क्रमात्पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकतत्त्वविज्ञानमुपदिष्टं वेदितव्यम् ॥ ३ ॥

अनुवादः–उस ने (इस प्रकार) त्रयी विद्या प्रकाशित की । त्रयी विद्या की उत्पत्ति के अनन्तर ऋग्वेद से भूरूप रस, यजुर्वेद से भुवरूप रस और सामवेद से स्वरूप रस उत्पन्न किये ॥ ३ ॥

पदार्थः–(सः) उस ने इस प्रकार (त्रयीम्+विद्याम्+अभ्यतपत्) त्रयी विद्या उत्पन्न की (तस्याः+तप्यमानायाः) उस की उत्पत्ति के अनन्तर (रसान्) आनन्दप्रद भूर्भुवःस्वः स्वरूप रस (प्राबृहद्) प्रकाशित किये गये (ऋग्भ्यः) ऋग्वेद से (भूः+इति) भूः (यजुर्भ्यः) यजुर्वेद से (भुवः+इति) भुवः (सामभ्यः) साम से (स्वः+इति) स्वः प्रकाशित किये । भूः भुवः स्वः ये तीन महाव्याहृतिएं कहलाती हैं ये अनेक भावों के द्योतक होती हैं ॥ ३ ॥

तद्यदृक्तो रिष्येद्भूःस्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति ॥ ४ ॥ †

---

* तान्वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त । भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात् ॥ ऐ० ब्रा० ५ । ५ । ३२ ।

† तस्माद्यदि यज्ञ ऋक्त आर्तिर्भवति भूरिति ब्रह्मा गार्हपत्ये जुहुयात् ॥ ऐ०ब्रा०५।५।३४॥

तद् । यदि । ऋक्तः । रिष्येत् । भूः । स्वाहा । इति । गार्हपत्ये । जुहुयाद् । ऋचाम् । एव । तद् । रसेन । ऋचाम् । वीर्येण । यज्ञस्य । विरिष्टम् । सन्दधाति ॥ ४ ॥

भाष्यम्–तदिति । अधुना प्रायश्चित्तस्य विधानं विवृणोति । तदिति अव्ययम् । तस्मिन् यज्ञे यदि ऋक्त ऋग्भ्यः । तसिल् प्रत्ययः । ऋक्सम्बन्धात् । ऋङ् निमित्तमित्यर्थः । यज्ञोरिष्येत् रिष्टिं क्षतं प्राप्नुयात् । तर्हि । गार्हपत्येग्नौ "भूः स्वाहा" इतिमन्त्रेण । जुहुयाद्धोमं कुर्यात् । इयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः । कत्याहुतीर्जुहुयादित्यनिश्चयात् त्रिर्जुहुयात् । अनिश्चितस्थले तिस्रः संख्या उपतिष्ठन्ते वैदिक संकेतात् । कथं भूः स्वाहेत्यनेनैव न भुवः स्वाहेत्यादिना । अत्र कारणं दर्शयति । तदिति क्रिया-विशेषणम् । यदृचां यज्ञस्य विरिष्टम् । क्षतिं छिद्रमुत्पन्नम् । सन्दधाति प्रतिसन्धत्ते पूरयति । तत् । ऋचामेव रसेन । भूरिति ऋचां रसोऽस्तीति पूर्वमुक्तम् । भूरूपेण ऋचांरसेनैव । पुनः । ऋचां वीर्य्येण प्रभावेनैव विरिष्टिसन्धानं भवति ॥ ४ ॥

अनुवादः–जिस यज्ञ में ऋङ् निमित्त यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो गार्हपत्याग्नि कुंड में भूः स्वाहा इतना पढ़कर होम करे । जो ऋङ् मन्त्र सम्पाद्य यज्ञ के क्षत को प्रतिसन्धान करता है वह ऋग्वेद के ही रस से और ऋग्वेद के ही प्रभाव से (यह क्षत पूर्ण होता है) ॥ ४ ॥

पदार्थः–(तत्) उस यज्ञ में (यदि) यदि (ऋक्तः) ऋग्वेद निमित्त (रिष्येत्) यज्ञ क्षत को प्राप्त हो तो उसका यह प्रायश्चित्त करना (गार्हपत्ये) गार्हपत्याग्नि कुण्ड में (भूः स्वाहा इति) भूः स्वाहा इतना बोलकर (जुहुयात्) होम करे । भूः स्वाहा

(१) मूल में रिष्येत् पद है । रिष् नाम=क्षत । जैसे अस्त्र शस्त्र से मनुष्यों को क्षत (छिद्र घात वा घाव) होजाता है । वैसे ही ऋत्विग् के प्रमाद से मानो यज्ञ में भी क्षत होजाता है ।

(२) मूल में (तद्) पद है । तत् और यत् का नित्य सम्बन्ध रहता है । तत् क्रियाविशेषण है अर्थात् यज्ञ के क्षत को जो प्रतिसन्धान करता है वह ब्रह्मा वा अन्य ऋत्विक् का प्रभाव नहीं किन्तु यह ऋग्वेद का प्रभाव है कि वह क्षत पुनः पुष्ट होजाता है जैसे औषध करके घाव की पुष्टि होजाती है ।

(३) सन्दधाति । पुष्टि कर औषध से जैसे मनुष्य का घाव दिन २ भरता आता है । अन्त में नीरोग होजाता है वैसे जिस क्रिया से यज्ञ का क्षत पुष्ट होता है वह सन्धान कहलाता है ।

से ही इसकी प्रायश्चित्ति होती अन्य से क्यों नहीं ? इसका कारण कहते हैं । जो (ऋचाम्) ऋग्वेद के मन्त्रों से करणीय (यज्ञस्य) यज्ञ के (विरिष्टम्) क्षत (घाव) को (सन्दधाति) सन्धान करता है (तत्) वह (ऋचाम्+एव+रसेन) ऋग्वेद के ही रस से अर्थात् भूः यह शब्द ऋग्वेद का रस है । ऋग्वेदकृत दोष ऋग्वेद के रस से ही उपशमित होता है और (ऋचाम्) ऋग्वेद के ही (वीर्य्येण) प्रभाव से अर्थात् यह उसी वेद की शक्ति है कि उस क्षत की पुष्टि होती है नहीं तो उसकी पुष्टि करने की किसकी शक्ति होसकती है ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳसन्दधाति * ॥ ५ ॥

अथ । यदि । यजुष्टः । रिष्येद् । भुवः । स्वाहा । इति । दक्षिणाग्नौ । जुहुयाद् । यजुषाम् । एव । तद् । रसेन । यजुषाम् । वीर्येण । यजुषाम् । यज्ञस्य । विरिष्टम् । सन्दधाति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ यदि । यजुष्टो यजुर्भ्यः । तसिल् । यजुःसम्बन्धात् । यजुर्निमित्तम् । कश्चिद्यज्ञः । रिष्येत् विरिष्टं क्षतिं प्राप्नुयात् । तर्हि दक्षिणाग्नौ "भुवः स्वाहा" इति मन्त्रेण जुहुयाद्धोमं कुर्य्यात् । अस्येयमेव प्रायश्चित्तिः । अत्र हेतुरुपन्यस्यते । यद्यजुषां यज्ञस्य यजुर्मन्त्रगणसम्पादितस्य यज्ञस्य यज्ञावयवस्य । विरिष्टं क्षतं सन्दधाति । प्रतिसन्धत्ते । पूरयति । तत् । यजुषामेव रसेन भुवरात्मकेन । यजुषां वीर्येण प्रभावेणैव सन्दधाति अन्यथाविरिष्टं पूरयितुं को नाम ब्रह्मा शक्नुयात् ॥ ५ ॥

अनुवादः—यदि यजुर्वेद निमित्त यज्ञ छिद्र को प्राप्त हुआ हो तो "भुवः स्वाहा" इस मन्त्रको पढ़कर दक्षिणाग्नि में होम करे । जो यजुर्वेद मन्त्र सम्पादित यज्ञ की विरिष्टि (क्षत) को प्रतिसन्धान (पूरण) करता है वह यजुर्वेद के ही रस से और यजुर्वेद के ही वीर्य्य से (वह क्षत पूरण होता है) ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अथ+यदि) यदि (यजुष्टः) यजुर्वेद निमित्त (रिष्येत्) यज्ञ क्षत वा छिद्र को प्राप्त हो तो (दक्षिणाग्नौ) दक्षिणाग्निकुण्ड में (भुवः स्वाहा इति) भुवः स्वाहा इतना बोलकर (जुहुयात्) होम करे यही इसका प्रायश्चित्त है । भुवः स्वाहा ही क्यों कहे इसका कारण आगे कहा जाता है । जो (यजुषाम्+यज्ञस्य) यजुर्वेद सम्पाद्य

* यदि यजुष्टोभुव इत्याग्नीध्रीयेऽन्वाहार्यपचने वा हविर्यज्ञेषु ॥ ऐ० ब्रा० ५।५।३४ ॥

यज्ञ की (विरिष्टम्) क्षत को (सन्दधाति) संधान करता है। अर्थात् पूर्ण करता (तत्) वह (यजुषाम्+एव+रसेन) यजुर्वेद के ही रस से अर्थात् यजुर्वेद के रस भुवरात्मक से ही और (यजुषाम्+वीर्य्येण) यजुर्वेद के प्रभाव से ही उस क्षत का पूर्ण होता है अर्थात् यह यजुर्वेद का ही प्रभाव है कि इस छिद्र की पूर्त्ति होती है नहीं तो कौन ब्रह्मा इस क्षत को सन्धान करने में समर्थ होसकता है ॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति * ॥ ६ ॥

अथ। यदि। सामतः। रिष्येत्। स्वः। स्वाहा। इति। आहवनीये। जुहुयात्। साम्नाम्। एव। तत्। रसेन। साम्नाम्। वीर्येण। साम्नाम्। यज्ञस्य। विरिष्टम्। सन्दधाति ॥ ६ ॥

भाष्यम्-अथेति। अथ यदि सामतः सामवेदनिमित्तादुद्गातृकृतदोषादित्यर्थः। यज्ञः। रिष्येत् क्षतिं प्राप्नुयात्। तर्हि आहवनीये आहवनीयसंज्ञके तृतीयाग्निकुण्डे "स्वः स्वाहा" मन्त्रेण त्रिर्जुहुयात्। इदमेव तस्य प्रायश्चित्तम्। कथं स्वःस्वाहेत्यनेनैव जुहुयादित्याह। ब्रह्मा साम्नाम् सामगेय पदार्थैः सम्पादितस्य यज्ञस्य यागस्य। विरिष्टं क्षतम्। यत् सन्दधाति सहितं कुरुते। भिषगिव मनुष्यक्षतम्। तत्सन्धानम् साम्नां रसेन साम्नां स्वरूपेण रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां शक्त्या एव कर्त्तुं शक्नुयात् अन्यथा कः कर्त्तुं समर्थो भवेदित्यर्थः। ब्रह्म नामकर्त्विकृकर्तृकरेषे सम्प्राप्ते त्रिष्वग्निषु तिसृभिः व्याहृतिभिर्जुहुयात्। कथम्। त्रय्या हि विद्याया स रेपोऽस्ति। कथम्। अथ केन ब्रह्मत्वमित्यनयैव त्रय्या विद्ययेतिश्रुतेः ॥ ६ ॥

अनुवादः-और यदि यज्ञ सामवेद निमित्त क्षत को प्राप्त हुआ हो तो आहवनीय कुण्ड में "स्वः स्वाहा" इतना पढ़कर होम करे (ब्रह्मा नाम ऋत्विक्) साम सम्पाद्य यज्ञ की क्षति को जो पूर्ण करता है वह सामवेद के ही उस (स्वः स्वरूप) रस से और सामवेद के ही प्रभाव से ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अथ) और (यदि) यदि (सामतः) सामवेद निमित्त अर्थात् उद्गाता के गान में त्रुटि के कारण (रिष्येत्) यज्ञ क्षत हुआ हो तो इसका प्रायश्चित्त क्या होना

* यदि सामतः स्वरित्याहवनीये यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा भूर्भुवःस्वरिति सर्वा अनुद्रुत्याहवनीय एव जुहुयात् ॥ ऐ० ब्रा० ५। ५। ३४ ॥

चाहिये सो कहते हैं (आहवनीये) आहवनीय कुण्ड में (स्वः+स्वाहा) "स्वः स्वाहा" इतना पढ़कर (जुहुयात्) होम करे । इस प्रकार (साम्नाम्) सामवेद सम्पाद्य (यज्ञस्य) यज्ञकी (विरिष्टम्) त्रुटि को (सन्दधाति) ब्रह्मा पूर्ण करता है । यह सन्धान (साम्नाम्) सामवेद के (एव) ही (तद्+रसेन) उस स्व स्वरूप रस से और (साम्नाम्+वीर्य्येण) सामवेद के ही प्रताप से होता है । अन्यथा कौन कर सकता है ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ सन्दध्यात् सुवर्णेन रजतꣳरजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

तद् । यथा । लवणेन । सुवर्णम् । सन्दध्यात् । सुवर्णेन । रजतम् । रजतेन । त्रपु । त्रपुणा । सीसम् । सीसेन । लोहम् । लोहेन । दारु । दारु । चर्मणा ॥ ७ ॥

भाष्यम्–तदिति । पूर्वोक्त विषये निदर्शनानि दर्शयति तद्यथा तत्तस्मिन् विषये ज्ञातव्यमिदम् यथा येन प्रकारेण लवणेन क्षारेण टङ्कणादिना वस्तुना । सुवर्णं काञ्चनम् । सन्दध्यात् सन्दधाति स्वर्णकारः । पुनः सुवर्णेन काञ्चनेन रजतं सन्दध्यात् । रजतेन त्रपु सन्दध्यात् त्रपुणा सीसम् सन्दध्यात् । सीसेन लोहं सन्दध्यात् लोहेन दारु सन्दध्यात् दारु चर्मणा सन्दध्यात् । एवमेवैषां लोकानामित्यादिरुत्तरेण सम्बन्धः ॥ ७ ॥

अनुवादः–सो जैसे लवण से सुवर्ण को, सुवर्ण से रजत को, रजत से त्रपु को, त्रपु से सीस को, सीस से लोह को, लोह से दारु को, चर्म से भी दारु को बांधता वा जोड़ता है । तद्वत् (यह आगे से सम्बन्ध रखता है) ॥ ७ ॥

पदार्थः–(तत्) उस विषय में अनेक दृष्टान्त दिखलाये जाते हैं (यथा) (सुवर्णम्) सोने को (लवणेन) लवण से (सन्दध्यात्) सुवर्णकार मृदु बनालेते हैं अर्थात् यहां लवण नाम क्षार पदार्थ टंकण आदिकों का है उस टंकण पदार्थ को सुवर्ण में देने से कठोर सोना भी गलकर कोमल होजाता है । वा सोने के जितने दोष रहते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं । तद्वत् । इसी प्रकार (सुवर्णेन) सुवर्ण के द्वारा (रजतम्) रजत नाम धातु को (रजतेन) रजत से (त्रपु) त्रपुनाम धातु को (त्रपुणा) त्रपु से (सीसम्) सीसा नामक धातु को (सीसेन+लोहम्) सीसे से लोह नामक धातु को शुद्ध करता है और (लोहेन चर्मणा) लोह और चर्म से (दारु) दारु काष्ठ को बांधता है । तद्वत् ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳसन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

एवम् । एषाम् । लोकानाम् । आसाम् । देवतानाम् । अस्याः । त्रय्याः । विद्यायाः । वीर्येण । यज्ञस्य । विरिष्टम् । सन्दधाति । भेषजकृतः । ह । वै । एषः । यज्ञः । यत्र । एवंविद् । ब्रह्मा । भवति ॥ ८ ॥

भाष्यम्--एवमिति । एवं यथा लवणेन सुवर्णं सुवर्णेन रजतं संदध्यादित्यादीनि निदर्शनानि प्रदर्शितानि एवमनेनप्रकारेण । एषां लोकानां दृश्यमानानां सम्पूर्णानां भुवनानाम् । आसां-देवतानामग्निवाय्वादित्यसंज्ञकानांपुराणानामृषीणाम् । अस्याः त्रय्या विद्यायाः । ऋग्यजुःसा-मलक्षणायास्त्रिसंख्याकाया विद्यायाः । वीर्येण रसाख्येनौजसा भूर्भुवः स्वरूपेण । ब्रह्मर्त्विक् यज्ञस्य विरिष्टं यज्ञस्य क्षतिम् । सन्दधाति संहितं करोति पूरयति । यत्र यस्मिन् यज्ञे एवं-विद् यथोक्तव्याहृतिप्रायश्चित्तविद् । ब्रह्मा । कृताकृतावेक्षको ब्रह्मनामर्त्विक् भवति । स एष यज्ञः । एषयागः । भेषजकृतः भेषजेन प्रायश्चित्तरूपेणौषधेनकृतः संस्कृतः संहितः । यथा रोगार्तपुरुषं सुशिक्षितश्चिकित्सक औषधेन नीरोगीकरोति (ह वै) निश्चयार्थद्योतकौ निपातौ । अवश्यमेव स यज्ञः पूर्त्तिमेतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अनुवादः--वैसे । इन लोकों इन देवों और इस त्रयीविद्या के वीर्य से यज्ञ की त्रुटि को जोड़ता है । निश्चय यह यज्ञ औषधसे संस्कृत होता है । जहां ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा होता है ॥ ८ ॥

पदार्थः--(एवम्) वैसेही (जैसा पूर्व में कहा है) (एषाम्+लोकानाम्) इन लोकों के (आसाम्+देवतानाम्) इन अग्नि, वायु और आदित्य नाम के महर्षियों के (त्रय्याः+विद्यायाः) त्रयी विद्या के (वीर्येण) भूर्भुवः स्वः रूप रसाख्य प्रतापसे (यज्ञस्य) यज्ञ की (विरिष्टम्) क्षति त्रुटि को (सन्दधाति) संहित करता है जोड़ता है (ह+वै) निश्चय ही (एषः+यज्ञः) यह यज्ञ प्रायश्चित्तरूप औषध से सुसंस्कृत होता है (यत्र) जिस यज्ञ में (एवम्+विद्) इस महाव्याहृति के प्रायश्चित्त के जानने वाला (ब्रह्मा) कर्तव्याकर्तव्य कर्म के देखने वाला ब्रह्मा नाम ऋत्विक् (भवति) होता है ॥ ८ ॥

एष ह वा उदक् प्रवणो यज्ञो यत्रैवं विद्ब्रह्मा भवत्येवं

विद०ं ह वा एषा ब्रह्माणमनुगाथा यतो यत आवर्त्तते तत्तद् गच्छति ॥ ६ ॥

एषः । ह । वै । उदक्प्रवणः । यज्ञः । यत्र । एवंविद् । ब्रह्मा । भवति । एवंविदम् । ह । वै । एषा । ब्रह्माणम् । अनुगाथा । यतः+यतः । आवर्त्तते । तत्+तत् । गच्छति ॥ ६ ॥

भाष्यम्–एष इति । पुनरपि यज्ञं प्रशंसति । एष ह वै एष वै प्रसिद्धः । यज्ञो यागः । उदक्प्रवणः उत्तराभिगामी उत्तरोत्तरफलप्रद इत्यर्थः । यत्र यस्मिन् यज्ञे । एवंवित् पूर्वोक्तव्याहृतिप्रायश्चित्तविद् । ब्रह्मा ब्रह्मनामा कृताकृतकर्मावेक्षकः भवति । तथा च । एवंविदं ह वा एवंविदमेव ब्रह्माणं ब्रह्माणमृत्विजं प्रति । एषा इयं वक्ष्यमाणा । अनुगाथा ब्रह्मणः स्तुतिपरानुगीतिः । सामवेदविहितगीत्यतिरिक्ता प्रशंसापरकान्या कापि गीतिरित्यर्थः । सा कानुगाथेत्यत आह । "यतो यत आवर्त्तते तत्तद् गच्छति" इत्येवं विधा । अत्रानुगाथायाः प्रतीक एवोद्धृतः । यतोयतः यस्माद्यस्मात्कर्मप्रदेशाद् आवर्त्तते । ऋत्विजां कर्म विवृणोति । अत्रेदमशुद्धं जातम् । इहेत्थं विधातव्यम् । अत्र स्वरस्य त्रुटिर्जाता । इत्थमिमां संधेहि । इत्थमुच्चारणीयम् । एवंजातीयानि ऋत्विजामशुद्धानि दर्शयति । तत्तत् तत्तत्कर्मविरिष्टं गच्छति संधानं प्राप्नोति ॥ ६ ॥

अनुवादः–ये ही यज्ञ उत्तरोत्तर फलप्रद होता है । जहां ब्रह्मा ऐसा जाननेवाला है और ऐसे ही विद्वान् ब्रह्मा के विषय में यह अनुगाथा (गाई जाती है) जहां जहां से यह (ब्रह्मा) आवृत्ति करता है वह वह पूर्त्ति को पाता है ॥ ६ ॥

पदार्थः–(एषः+ह+वै+यज्ञे) ये ही प्रसिद्ध यज्ञ (उदक्प्रवणः) उत्तरोत्तर फलप्रद होता है (यत्र) जिस में (ब्रह्मा) ब्रह्मा नाम ऋत्विक् (एवंविद्) पूर्वोक्त व्याहृति के द्वारा प्रायश्चित्त को जाननेवाला (भवति) होता है और (एवंविदम्+ह+वै) ऐसे जानने वाले ही (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा के विषय में (एषा+अनुगाथा) यह वक्ष्यमाण अनुगाथा (गीति विशेष) कही जाती है । वह गाथा यह है (यतः+यतः) ऋत्विजों के कर्मों की त्रुटियों की जहां २ से (आवर्त्तते) आवृत्ति करता है अर्थात् ब्रह्मा नाम ऋत्विक् का कर्त्तव्य यह है कि प्रत्येक ऋत्विक् के कर्त्तव्याकर्त्तव्य को देखता रहे कि यहां इस प्रकार उच्चारण होना चाहिये यहां यह त्रुटि हुई है इस को इस प्रकार करो इत्यादि । इस प्रकार ब्रह्मा जहां २ से ऋत्विकों को (आवर्त्तते) पुनः उस कर्म को दुहराने के लिये कहता है (तत्+तत्) वह २ कर्म वहां २ से (गच्छति) संधि को पाता है अर्थात् वह त्रुटि पुनः जुट जाती है ॥ ६ ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाऽभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति । तस्मादेवंविद-मेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

मानवः । ब्रह्मा । एव । एकः । ऋत्विक् । कुरून् । अश्वा । अभिरक्षति । एवंविद् । ह । वै । ब्रह्मा । यज्ञम् । यजमानम् । सर्वान् । च । ऋत्विजः । अभि-रक्षति । तस्मात् । एवंविदम् । एव । ब्रह्माणम् । कुर्वीत । न । अनेवंविदम् । न । अनेवंविदम् ॥ १० ॥

भाष्यम्–मानव इति । मानवो मननशीलः मानं कर्मपरिमाणमस्यास्तीति मानवो वा मतुवर्थेवप् प्रत्ययः । यद्वा । मानेन मौनाचरणेन लब्धयज्ञकर्मप्रकर्षोब्रह्मैवैक ऋत्विक् एको-ब्रह्मनामैक ऋत्विक् । अन्यानृत्विज इतिशेषः । अभिरक्षति अभितः परितोरक्षति प्रतिपाल-यति इतरर्त्विक्कर्तृक दोषानपहरतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह । अश्वा कुरून् अत्र लुप्तोपमा-लंकारः । यथा अश्वा आरूढ़ा वडवा कुरून् कुरुवंश्यान् योद्धृन् यद्वा युद्धकर्तृन् । अभिरक्षति प्रतिपालयति तद्वत् । प्रकरणार्थमुपसंहरस्यग्रे एवंविद् ह वै एवं विदेव ब्रह्मा ब्रह्मनामधेय ऋत्विक् । यज्ञं यागम् । यजमानं यज्ञस्वामिनम् । सर्वानृत्विज इतरानखिलानृत्वि-जस्तत्तद्दोषापहरणेन अभिरक्षति प्रतिपालयति । तस्माद्धेतोः । एवं विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत अनेवंविदं न कुर्वीत । एवं वेत्तीति एवंवित् । न एवंवित् इत्यनेवंवित् । तम् । अनभिज्ञमि-त्यर्थः । अनभिज्ञं ब्रह्माणं न कदापि वृणीतेत्यर्थः । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १० ॥

इति सप्तदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–जैसे अश्वा कुरुओं की रक्षा करती है वैसे एक ही मानव ब्रह्मा नामक ऋत्विक् अन्य ऋत्विकों की रक्षा करता है और एवंविद् ही ब्रह्मा, यज्ञ, यजमान और सब ऋत्विकों की रक्षा करता है इस हेतु एवंविद् को ही ब्रह्मा बनाना चाहिये । जो ऐसा नहीं जानता हो जो ऐसा नहीं जानता उस को नहीं ॥ १० ॥

पदार्थः–(अश्वा+कुरून्) जैसे आरूढ़ अश्वा घोटकी (कुरून्) कुरुवंशीय योद्धाओं की वा युद्ध करनेवालों की (अभिरक्षति) सब प्रकार से रक्षा करती है वैसे ही (मानवः) मननशील, यज्ञ के मानों को जानने वाला (एक एव) एक ही (ब्रह्मा ऋत्विक्) ब्रह्मा ऋत्विक् (अभिरक्षति) ऋत्विकों की रक्षा करता है । अर्थात् ऋत्विकों की त्रुटियों को पूरा किया करता है । आगे पूर्वोक्त ही विषय को संक्षेप से वर्णन करते हैं (एवं-

विद्+ह+वै+ब्रह्मा) ऐसा जानने वाला ही ब्रह्मा (यज्ञम्) यज्ञ की (यजमानम्) यजमान की (सर्वान्+ऋत्विजः) सब ऋत्विजों की (अभिरक्षति) सब प्रकार से रक्षा करता है (तस्मात्) इस हेतु (एवंविदम्+एव) ऐसे जानने वाले को ही (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा (कुर्वीत) बनाना चाहिये (न+अनेवंविदम्) जो ऐसा नहीं जानता है उस को ब्रह्मा नहीं बनाना चाहिये । दो वार अध्यायसमाप्ति के लिये कहा गया है ॥ १० ॥ इति सप्तदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

इतिश्री-काव्यतीर्थ-शिवशङ्कर-शर्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये
चतुर्थप्रपाठकस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥

अथ पञ्चमः प्रपाठकः प्रारभ्यते ।

योह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति । प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च (१) ॥ १ ॥

यः । ह । वै । ज्येष्ठम् । च । श्रेष्ठम् । च । वेद । ज्येष्ठः । च । ह । वै । श्रेष्ठः । च । भवति । प्राणः । वाव । ज्येष्ठः । च । श्रेष्ठः । च ॥ १ ॥

भाष्यम्—यो हेति । हेतिहासे । वै निश्चयार्थो निपातः । अथाध्यात्मिक इतिहास आरभ्यते । यो वै य उपासकः । ज्येष्ठञ्च वयसा प्रशस्यतमम् । श्रेष्ठञ्च गुणैःप्रशस्यतमञ्च । प्रकृत्येकत्वात्प्रत्ययैकत्वाच्चोभौ ज्येष्ठश्रेष्ठशब्दावेकार्थकौ । तथापि लोकप्रयोगाद्भिन्नार्थप्रत्यायकौ । रामो वयसा भ्रातृणां ज्येष्ठोगुणैस्तु सर्वेषां मध्ये श्रेष्ठ इत्येवंविध बहुप्रयोगनिदर्शनात् । द्वौ चौ ज्येष्ठस्य श्रेष्ठस्य सर्वे गुणास्तत्त्वतो वेदितव्या इति सूचयतः । इत्थं ज्येष्ठं श्रेष्ठञ्च यो वेद जानाति । स उपासकोऽपि ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति । ह वै अवश्येऽर्थे । अवश्यमेव स ज्येष्ठः श्रेष्ठो भवति । उपासकस्य वयसा सर्वेभ्यो ज्येष्ठत्वासंभवाद्गुणैरेव ज्येष्ठत्वं बेद्यम् । ज्येष्ठः श्रेष्ठः कोऽस्तीति ब्रवीति । प्राणो वाव भौतिकः प्राणः शरीरान्तः संचारी विश्वकलेवराभ्यन्तरसततप्रवाही च वायुरेवात्र ज्येष्ठः श्रेष्ठः । ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-शब्दवाच्यः । "गर्भस्थेहि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वागादिभ्यः पूर्वं लब्धात्मिका भवति । यथा गर्भो विवर्धते चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्यां पश्चाद् वागादीनां वृत्तिलाभ इति प्राणो ज्येष्ठो वयसा भवति । श्रेष्ठत्वन्तु प्रतिपादयिष्यति सुहय इत्यादि निदर्शनेन । अतः प्राण एव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्चास्मिन् कार्य्य-कारण-संघाते" इति शङ्कराचार्य्यः ॥ १ ॥

अनुवादः—एक इतिहास कहा जाता है । जो (उपासक) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को

---

(१) यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति । प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ बृ० ६ । १ ॥

(२) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ यद्यपि ये दोनों शब्द एक ही शब्द और एक ही प्रत्यय से बनते हैं (प्रशस्य+इष्ठ=श्रेष्ठ । प्रशस्य+इष्ठ=ज्येष्ठ) तथापि इन दोनों के अर्थ में भेद है । वयोवस्था से ज्येष्ठ और गुणों से श्रेष्ठ कहलाता है । भाइयों में वयोवस्था से ज्येष्ठ और गुणों से सब में श्रेष्ठ राम हैं । ऐसा लौकिक प्रयोग बहुत होता है ।

जानता है वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । निश्चय, प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

पदार्थः—(ह) यह शब्द इतिहाससूचक है अर्थात् एक आध्यात्मिक इतिहास यहां कहा जाता है (यः) जो (वै) ही उपासक (ज्येष्ठम्+च) ज्येष्ठ को (श्रेष्ठम्+च) और श्रेष्ठ को (वेद) जानता है वह उपासक (ज्येष्ठ+च) ज्येष्ठ (श्रेष्ठश्च) और श्रेष्ठ (ह+वै) निश्चय ही अवश्यमेव (भवति) होता है । आगे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कौन है सो कहा जाता है (प्राणः) प्राण अर्थात् भौतिक शरीरान्तःसंचारी और विश्व-कलेवराभ्यन्तर में सतत प्रवाहशील वायु (वाव) ही (ज्येष्ठश्च) ज्येष्ठ (श्रेष्ठश्च) और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—वागादिक इन्द्रियों में प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कैसे है ? जब पुरुष गर्भस्थ रहता है तब वागादिकों से पूर्व प्राण की ही वृत्ति प्रथम होती है जिससे गर्भ की वृद्धि होती रहती है परन्तु नेत्र आदिक स्थानावयव की सम्पन्नता होने के पश्चात् चक्षु आदि इन्द्रिय अपनी वृत्ति लाभ करती हैं । अतः प्राण ही वयःक्रम से ज्येष्ठ है और प्राण की श्रेष्ठता सुहय आदि उदाहरणों से आगे दिखलाई जायगी । अतः इस कार्य्यकारण संघातरूप शरीर में प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति । वाग्वाव वसिष्ठः (२) ॥ २ ॥

यः । ह । वै । वसिष्ठम् । वेद । वसिष्ठः । ह । स्वानाम् । भवति । वाक् । वाव । वसिष्ठः ॥ २ ॥

भाष्यम्—योहेति । यो ह वै । य एव उपासकः । वसिष्ठं वेद जानाति । वसिष्ठो वसितृतम आच्छादयितृतमो वसुमत्तमो वा । यः सर्वेषामाच्छादयितृतमं पदार्थं जानाति । स विज्ञातापि स्वानां ज्ञातीनां बन्धूनांमध्ये वसिष्ठो वसुमत्तमो भवति । ह निश्चितम् । निश्चित-मेव स ज्ञातीनां मध्ये वसुमत्तमो भवतीत्यर्थः । कस्तर्हि वसिष्ठ इत्याह । वाग्वाव वागेव वसिष्ठः । वसिष्ठ शब्दवाच्या । वाग्मिनो हि पुरुषाः स्वकीयैर्भाषणैर्लोके पूज्यतमा भूत्वा सुखेन निवस-न्ति । अन्यान् वसुमत्तमान् पुरुषांश्चाभि भवन्ति । अतः वागेव वसिष्ठः ॥ २ ॥

(१) ज्येष्ठ=उपासक को वयः कृत ज्येष्ठ होना असंभव है । अतः यहां गुणों ही से ज्येष्ठ लेना चाहिये ।

(२) यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति । वाग्वै वसिष्ठा । वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ बृ० ६ । २ ॥

अनुवादः-जो उपासक निश्चयरूप से वसिष्ठ को जानता है वह अपने ज्ञातियों में भी वसिष्ठ होता है। वाणी ही वसिष्ठ है ॥ २ ॥

पदार्थः-(यः+ह+वै) जो उपासक निश्चयरूप से (वसिष्ठम्) वसिष्ठको (वेद) जानता है। वह उपासक (ह) निश्चय ही (स्वानाम्) अपने बन्धुबान्धवों के मध्य (वसिष्ठः) वसिष्ठ (भवति) होता है (वाग्+वाव) वाणी ही (वसिष्ठः) वसिष्ठ है ॥ २ ॥

भाष्याशयः-वसिष्ठ=आच्छादक वा बहुत धनाढ्य को वसिष्ठ कहते हैं। जिस कारण वाग्मी (मधुरसत्यभाषी) जन अपने भाषण से लोक में पूज्यतम होकर सुखपूर्वक जगत् में निवास करते हैं और अन्य धनाढ्य को भी अपने वश में कर लेते हैं अतः वाणी ही यथार्थ में वसिष्ठ है ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च । चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा (२) ॥ ३ ॥

यः । ह । वै । प्रतिष्ठाम् । वेद । प्रति । ह । तिष्ठति । अस्मिन्+च । लोके । अमुष्मिन् । च । चक्षुः । वाव । प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

भाष्यम्-यो ह वै इति। यो ह वै य एव उपासको निश्चितम्। प्रतिष्ठाम्। प्रतितिष्ठति मर्य्यादां प्राप्नोति यया सा प्रतिष्ठा। ताम्। वेद जानाति। स उपासकः। ह प्रसिद्धम्। अस्मिंश्च प्रसिद्धवद्दृश्यमानेऽस्मिँल्लोके मर्त्यलोके। अमुष्मिंश्चलोके दूरस्थे परलोके च। प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठामाश्रयं मर्य्यादाम्वा प्राप्नोति। तर्हि का प्रतिष्ठेत्याह। चक्षुर्वाव चक्षुर्नेत्रमेव प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाशब्दवाच्यम्। चक्षुषा हि पश्यन् समे च दुर्गे च स्थले प्रतितिष्ठति यस्मादतः प्रतिष्ठाचक्षुः ॥ ३ ॥

अनुवादः-जो ही उपासक, निश्चय, प्रतिष्ठा को जानता है। वह इस और उस लोक में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः-(यः+ह+वै) जो ही उपासक (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (वेद) जानता है वह उपासक (अस्मिंश्च) इस और (अमुष्मिंश्च) उस (लोके) लोक में (प्रतितिष्ठति+ह) अवश्य ही प्रतिष्ठित होता है आश्रय को पाता है। प्रतिष्ठा किस को कहते

(१) वसितृ वा वसुमत् वा वशिन् आदि शब्द से वसिष्ठ वा वसिशिष्ठ बनता है।

(२) यो ह वै प्रतिष्ठां वेद। प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति। प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ बृ० ६। ३ ॥

हैं। सो आगे कहते हैं (चक्षुः) नेत्र (वाव) ही (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा है क्योंकि नेत्र से देखता हुआ पुरुष सम वा दुर्गस्थान में प्रतिष्ठित होता है अतः नेत्र को प्रतिष्ठा कहते हैं ॥ ३ ॥

यो ह सम्पदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च । श्रोत्रं वाव सम्पत् (१) ॥ ४ ॥

यः । ह । वै । सम्पदम् । वेद । सम् । ह । अस्मै । कामः । पद्यन्ते । दैवाः । च । मानुषाः । च । श्रोत्रम् । वाव । सम्पत् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—योहेति । यो ह वै । य एव उपासको निश्चितम् । सम्पदम् । वेद । अस्मै । तस्मै अस्मै उपासकाय । देवाश्च दिव्याश्च अनुत्तमाः । मानुषाश्च मनुष्यसम्बन्धिनश्च कामा मनोरथाः । सम्पद्यन्ते ह । अवश्यमेव कल्पन्ते । प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । का सम्पत्तत्राह । श्रोत्रं वाव श्रोत्रमेवसम्पद् । यस्माच्छ्रोत्रेण वेदा गृह्यन्ते तदर्थविज्ञानञ्च । ततः कर्माणि क्रियन्ते । ततः पूर्णा ऐहिक्य आमुष्मिक्यश्च सम्पदो लभ्यन्ते । कामसम्पद्धेतुत्वाच्छ्रोत्रं सम्पन्निगद्यते ॥३॥

अनुवादः—जो उपासक निश्चयरूप से ही सम्पद् को जानता है उस इस उपासक को निश्चय ही दैव और मानुष काम सम्प्राप्त होते हैं श्रोत्र ही सम्पद् है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यः+ह+वै) जो उपासक (सम्पदम्) सम्पद् नामक पदार्थ को (वेद) जानता है उसी (अस्मै) इस उपासक के लिये (दैवाः+च) दिव्य अर्थात् सर्वोत्तम और (मानुषाः) मनुष्य सम्बन्धी (कामाः) सकल मनोरथ (ह) अवश्य ही (सम्पद्यन्ते) उपस्थित होते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं। आगे सम्पद् कौन है सो कहते हैं (श्रोत्रम्) श्रोत्र कान (वाव) ही (सम्पद्) सम्पद् है। क्योंकि श्रोत्र से ही वेदों और उसके अर्थों का ग्रहण होता है। तब कर्म किये जाते हैं। तब सकल सम्पद् प्राप्त होती है। सम्पत्ति का कारण श्रोत्र है अतः श्रोत्र को सम्पद् कहा गया है ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति । मनो ह वा आयतनम् (२) ॥ ५ ॥

(१) यो ह वै सम्पदं वेद । सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते । श्रोत्रं वै सम्पत् श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः । सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ बृ० ॥४॥

(२) यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनोवा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ बृ० ६ । १ । ५ ॥

यः । ह । वै । आयतनम् । वेद । आयतनम् । ह । स्वानाम् । भवति । मनः । ह । वै । आयतनम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्-यो हेति । यो ह य उपासकः । वै निश्चितम् । आयतनम् । वेद जानाति । स उपासकः । ह निश्चितमेव । स्वानां ज्ञातीनाम् । आयतनमाश्रयो भवति । तर्हि किमायतनमित्याह । मनो ह वै । मन एव आयतनम् । इन्द्रियोपहृतानां विषयाणां प्रत्ययरूपाणां मन आयतनमाश्रयः । अतो मनो ह वा आयतनमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः-जो उपासक निश्चितरूप से ही आयतन को जानता है । वह निश्चय ही ज्ञातियों का भी आयतन (आश्रय) होता है । मन ही आयतन है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(यः+ह+वै) जो उपासक (आयतनम्) आयतन संज्ञक पदार्थ को (वेद) जानता है वह उपासक (ह) निश्चय ही (स्वानाम्) ज्ञाति बन्धु बान्धवों का (आयतनम्) आश्रय (भवति) होता है। आगे आयतन कौन सो कहते हैं (मनः+ह+वै) मन ही (आयतनम्) आश्रय है क्योंकि भोग के लिये इन्द्रियों से आहृत विषयों का आश्रय यथार्थ में मन ही होता है अतः मन को आयतन कहा गया है ॥ ५ ॥

अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳश्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

अथ । ह । प्राणाः । अहंश्रेयासि । व्यूदिरे । अहम् । श्रेयान् । अस्मि । अहम् । श्रेयान् । अस्मि । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्-अथ हेति । अथ प्राणस्येन्द्रियाणाञ्च विशेषान्वर्थनामविवरणानन्तरं कतमच्छ्रेष्ठमेतेषामित्यध्यात्मिकाख्यायिकया साधकानां सुखबोधायोत्तरग्रन्थमारभत ऋषिः । हेति शब्द प्रसिद्धार्थः । प्राणाः प्राणवागादय इन्द्रियव्यापाराः । अहं श्रेयानस्मि । सर्वेष्वहमेव श्रेष्ठोस्मि । अहंश्रेयानस्मि सर्वेषां मध्ये अहमेव मान्यः श्रेष्ठोस्मि । इत्यमहमहमिकया अहं श्रेयसिकल्याणनिमित्ते श्रेष्ठतायां विषये अहमहमेव श्रेष्ठ इति परस्परं व्यूदिरे नाना विरुद्धं चोदिरे परस्परमुक्तवन्त इत्यर्थः । अहं श्रेष्ठोऽहं श्रेष्ठ इति सर्व इन्द्रियव्यापाराः परस्परं युयुधिर इत्यर्थः । इति ह प्रसिद्धमेतदितिहासेषु ॥ ६ ॥

अनुवादः-अब श्रेष्ठताके निमित्त "मैं श्रेष्ठ हूं मैं ही श्रेष्ठ हूं" इस प्रकार प्राण और वागीन्द्रियों के व्यापार परस्पर विवाद करने लगे यह बात प्रसिद्ध है ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अथ+ह) अनन्तर अर्थात् प्राण और वागिन्द्रियादियों के विशेष और अन्वर्थ नाम के विवरण के अनन्तर अब इन सबों में कौन श्रेष्ठ है। इस विषय को दिखलाने

के लिये आख्यायिका के द्वारा उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं (प्राणाः) प्राण और वागिन्द्रिय आदिक वा इन के व्यापार (अहं श्रेयसि) अहं कल्याण के निमित्त अर्थात् अपनी २ श्रेष्ठता के हेतु (अहम्) मैं (श्रेयान्) श्रेष्ठ (अस्मि) हूं (अहम्+श्रेयान्+अस्मि) मैं श्रेष्ठ हूं (इति) इस प्रकार (अहम्) " अहम् " " अहम् " कहते हुए (व्यूदिरे) परस्पर विवाद करने लगे ॥ ६ ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् ! को नः श्रेष्ठ इति ? तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति * ॥ ७ ॥

ते । ह । प्राणाः । प्रजापतिम् । पितरम् । एत्य । ऊचुः । भगवन् । कः । नः । श्रेष्ठः । इति । तान् । ह । उवाच । यस्मिन् । वः । उत्क्रान्ते । शरीरम् । पापिष्ठतरम् । इव । दृश्येत । सः । वः । श्रेष्ठः । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्-ते हेति । ते ह प्रसिद्धास्ते प्राणाः प्राणेन्द्रियव्यापाराः । प्रजापतिं पितरं पितृभूतं पालकं जीवात्मानम् । एत्य प्राप्य । ऊचुरब्रुवन् । किमब्रुवन्नित्याह । भगवन् हे पूज्यतम ! नोऽस्माकं मध्ये । कः श्रेष्ठ इति प्रजापतिं ते पृष्टवन्तः । ततस्तान् प्राणान् प्रति । ह प्रसिद्धः । प्रजापतिरात्मोवाच । वो युष्माकं मध्ये । यस्मिन् उत्क्रान्ते उद्गते सति । शरीरं कलेवरं यस्मिन् यूयं निवसथ तच्छरीरम् । पापिष्ठतरमिव पापिष्ठमिव । दृश्येत लक्ष्येत । स वो युष्माकं श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

अनुवादः-वे प्रसिद्ध प्राण (प्राण और इन्द्रिय व्यापार) प्रजापति पितर के निकट जा बोले कि हे भगवन् ! हम लोगों में श्रेष्ठ कौन है ? इति । प्रजापति उनसे बोले कि तुम लोगों में से जिसके चले जाने पर शरीर पापिष्ठसा देख पड़े वह ही तुममें श्रेष्ठ है । इति ॥ ७ ॥

पदार्थः-(ते+ह+प्राणाः) वे प्रसिद्ध इन्द्रियव्यापार (प्रजापतिम्+पितरम्) प्रजापालक पितृरूप जीवात्मा के (एत्य) निकट आकार (ऊचुः) बोले भगवन् ! हे पूज्य पिता (नः) हम लोगों में से (कः+श्रेष्ठ+इति) कौन श्रेष्ठ है (तान्+होवाच)

* ते हेमे प्राणा अहꣳ श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को+नो वसिष्ठइति तद्धोवाच यस्मिन् व उत्क्रान्त इदꣳशरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ । इति ॥ बृ० ६ । १ । ७ ॥

इतनी बात सुन प्रजापति उनसे बोले (वः) तुम लोगों में से (यस्मिन्+उत्क्रान्ते) जिसके चले जाने पर (शरीरम्) यह शरीर (पापिष्ठतरम्+इव+दृश्येत) महापापीसा देख पड़े (सः) वही (वः+श्रेष्ठः+इति) तुम लोगों में श्रेष्ठ है। यहां प्रजापति शब्द का अर्थ जीवात्मा है इसी की स्थिति से प्राण सहित इन्द्रियों की स्थिति है इस हेतु प्राणेन्द्रियों का जीवात्मा पिता कहलाता है॥ ७॥

सा ह वागुच्चक्राम। सा संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच—कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति? यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक्* ॥ ८॥

सा। ह। वाक्। उच्चक्राम। सा। संवत्सरम्। प्रोष्य। पर्य्येत्य। उवाच। कथम्। अशक्त। ऋते। मत्। जीवितुम्। इति। यथा। कलाः। अवदन्तः। प्राणन्तः। प्राणेन। पश्यन्तः। चक्षुषा। शृण्वन्तः। श्रोत्रेण। ध्यायन्तः। मनसा। एवम्। इति। प्रविवेश। ह। वाक्॥ ८॥

भाष्यम्—स हेति। प्रजापतिना पित्रा एवमुक्तेषु प्राणेषु सत्सु। ह प्रसिद्धा सा वाक् वाणी उच्चक्राम। उत्क्रान्तवती क्वचिदन्यत्र गतवतीत्यर्थः सा वाणी संवत्सरं वर्षैकं प्रोष्य प्रवासं कृत्वा स्वव्यापारान्निवृत्ता भूत्वेत्यर्थः। पुनरपि पर्य्येत्य निवृत्य। उवाच। इतरान्प्राणान्प्रत्यब्रवीत् मदृते मां विना। कथं केन प्रकारेण जीवितुं प्राणान्धारयितुं यूयमशक्त यूयं समर्था अभूत इति पृष्टवती। तया पृष्टाः सन्तस्त ऊचुः। यथा येनप्रकारेण कला मूकाजनाः। अवदन्तः। वाण्या भाषणमकुर्वन्तः। प्राणेन। मुख्यप्राणेन प्राणन्तः प्राणान्धारयन्तः। चक्षुषा नयनेन पश्यन्तोऽवलोकयन्तः श्रोत्रेण कर्णेन शृण्वन्त आकर्णयन्तः। मनसा चित्तेन। ध्यायन्तः सर्वकरणचेष्टांकुर्वन्तः सन्तः। जीवन्ति इति लोके प्रत्यक्षम्। एवमेव वयमपि अजीविष्मेति शेषः। त्वद्विनापि जीवितवन्तः। इत्यनेन प्रकारेण प्राणेषु मध्ये आत्मनोऽश्रेष्ठतां बुध्वा वाग् ह सा प्रसिद्धा वाणी प्रविवेश स्वव्यापारे प्रवृत्ता बभूवेत्यर्थः॥ ८॥

* वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति?। ते होचुर्यथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति। प्रविवेश ह वाक्॥ बृ० ६। १। ८॥

अनुवादः—उस प्रसिद्ध वाणी ने प्रथम उत्क्रमण (गमन) किया वह एकवर्ष प्रवास में रहकर पुनः पीछे आके कहने लगी कि मेरे विना तुम लोग कैसे जीवन को धारण कर सके ? जैसे मूक पुरुष न बोलते हुए, प्राण से जीवन को धारण करते हुए, नेत्रसे देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, मन से ध्यावते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं । ऐसे ही हम लोग भी जीते रहे । इसे जान वह वाणी पुनः प्रविष्ट हो गई ॥ ८ ॥

पदार्थः—(सा) वह (ह) प्रसिद्ध (वाक्) वाणी (उच्चक्राम) मानो अपने आश्रय शरीर से बाहर को निकल गई (सा) वह वाणी (संवत्सरम्) एकवर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (पर्य्येत्य) पुनरपि आकर (उवाच) अन्य प्राणों से बोली कि (मत्) मेरे (ऋते) विना (कथम्) कैसे (जीवितुम्) प्राणधारण करने को (अशकत) तुम लोग समर्थ हुए (इति) इस विषय को उसने पूछा । इसका उत्तर आगे कहा जाता है (यथा) जैसे (कलाः) मूक अर्थात् गूंगे (अवदन्तः) वचन से न बोलते हुए परन्तु (प्राणेन) मुख्य प्राण से (प्राणन्तः) प्राणको धारण करते हुए (चक्षुषा) नेत्रसे (पश्यन्तः) देखते हुए (श्रोत्रेण) श्रोत्रसे (शृण्वन्तः) सुनते हुए (मनसा) मनसे (ध्यायन्तः) पदार्थों को विचारते हुए जीवन धारण में समर्थ होते हैं (एवम्) वैसे ही हम लोग भी जीते जागते रहे (इति) इस प्रकार (वाग्+ह) वाणी अपनी अश्रेष्ठता को जान (प्रविवेश) शरीर में पैठगई अर्थात् अपने व्यापार में प्रवृत्त हुई ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति । प्रविवेश ह चक्षुः * ॥ ६ ॥

चक्षुः । ह । उच्चक्राम । तत् । संवत्सरम् । प्रोष्य । पर्य्येत्य । उवाच । कथम् । अशकत । ऋते । मत । जीवितुम् । इति । यथा । अन्धाः । अपश्यन्तः । प्राणन्तः । प्राणेन । वदन्तः । वाचा । शृण्वन्तः । श्रोत्रेण । ध्यायन्तः । मनसा । एवम् । इति । प्रविवेश । ह । चक्षुः ॥ २ ॥

* चक्षुर्होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच-कथमशकतमद्दते जीवितुमिति ? । ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह चक्षुः ॥ बृ० ६ । १ । ६ ॥

भाष्यम्-चक्षुरिति। अनन्तरं ह प्रसिद्धं चक्षुर्नयनम्। उच्चक्राम उत्क्रान्तवत्। तच्चक्षुः। संवत्सरं वर्षैकं प्रोष्य प्रवासं कृत्वा पर्य्येत्य पुनरप्यागत्य इतरान् प्राणानुवाच। मदृते मां विना। यूयं जीवितुं कथमशकत केन प्रकारेण समर्था अभूतेति। ते होचुः। यथान्धा नेत्रविहीना जना नेत्रेण अपश्यन्तः। परन्तु प्राणेन प्राणन्तः। वाचा वदन्तः। श्रोत्रेण शृण्वन्तः। मनसा ध्यायन्तः। जीवन्ति। तथैव वयमपि त्वां विना अजीविष्मेति। अनेन प्रकारेण चक्षुः स्वकीयामश्रेष्ठतां विदित्वा शरीरं प्रविवेश ह स्वव्यापारवदभवदित्यर्थः॥ ९॥

अनुवादः-पश्चात् नयन ने शरीर को त्याग गमन किया। वह एक वर्ष प्रवास में रह पुनः पीछे आ बोला कि मेरे विना आप लोग कैसे जीने को समर्थ हुए? (वे बोले) जैसे अंध पुरुष न देखते हुए, परन्तु प्राण से जीवन को धारण करते हुए, वाणी से बोलते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, मन से ध्यान करते हुए जीते रहते हैं वैसे ही हम लोग जीते रहे। इसे सुन वह नयन अपने व्यापार में प्रवृत्त होगया॥ ९॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (चक्षुः) नयन (उच्चक्राम) मानो देह को त्याग ऊपर को चला अर्थात् अपने व्यापार से निवृत्त होगया (तत्) वह नयन (संवत्सरम्) एक वर्ष (प्रोष्य) प्रवास में रहकर (पर्य्येत्य) पुनः लौट (उवाच) बोला कि (मत्) मेरे (ऋते) विना (जीवितुम्) जीवन धारण करने को (कथम्) कैसे (अशकत) आप लोग समर्थ हुए (इति) उसके उत्तर में अन्य प्राण बोले (यथा) जैसे (अन्धाः) नेत्रविहीन मनुष्य (अपश्यन्तः) न देखते हुए (प्राणेन+प्राणन्तः) प्राण से प्राण को धारण करते हुए (वाचा) वाणी से (वदन्तः) बोलते हुए (श्रोत्रेण) कान से (शृण्वन्तः) सुनते हुए (मनसा) मन से (ध्यायन्तः) सकल विषयों को ध्यान करते हुए जैसे जीते हैं (एवम्) वैसे ही हम लोग भी जीते रहे (इति) (चक्षुर्ह) नयनेन्द्रिय इस बात को सुनकर अपनी अश्रेष्ठता जान (प्रविवेश) अपने व्यापार में प्रवृत्त हो गया॥ ९॥

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच-कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति? यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः

प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति । प्रविवेश ह श्रोत्रम् * ॥ १० ॥

श्रोत्रम् । ह । उच्चक्राम । तत् । संवत्सरम् । प्रोष्य । पर्य्येत्य । उवाच । कथम् । अशकत । ऋते । मत् । जीवितुम् । इति । यथा । बधिराः । अशृण्वन्तः । प्राणन्तः । प्राणेन । वदन्तः । वाचा । पश्यन्तः । चक्षुषा । ध्यायन्तः । मनसा । एवम् । इति । प्रविवेश । ह । श्रोत्रम् ॥ १० ॥

भाष्यम्–श्रोत्रमिति । अनन्तरं श्रोत्रं करणं होच्चक्रामेत्यादि पूर्ववद् विज्ञेयम् ॥ १० ॥

अनुवादः–अनन्तर श्रोत्र देह को त्याग चला वह एक वर्ष प्रवास में रह पुनरपि लौट आ बोला कि मेरे विना आप लोग जीवन कैसे धारण कर सके ? उन लोगों ने यह उत्तर दिया कि जैसे बधिर मनुष्य कान से न सुनते हुए, परन्तु प्राण से जीवन को धारण करते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, मन से ध्यान करते हुए जीते हैं वैसे हम लोग भी जीते रहे । इसे सुन अपनी अश्रेष्ठता जान श्रोत्र भी शरीर में पैठगया ॥ १० ॥

पदार्थः–(ह) प्रसिद्ध (श्रोत्रम्) कर्ण (उच्चक्राम) देह से निकल चला (बधिराः) बहरा जो कानों से न सुने इत्यादि अर्थ सुगम है ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्य्येत्योवाच–कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति ? यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति । प्रविवेश ह मनः † ॥ ११ ॥

मनः । ह । उच्चक्राम । तत् । संवत्सरम् । प्रोष्य । पर्य्येत्य । उवाच । कथम् । अशकत । ऋते । मत् । जीवितुम् । इति । यथा । बालाः । अमनसः ।

---

* श्रोत्रꣳ होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—कथमशकत मदृतेजीवितुमिति ? ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ बृ० ६ । १ । १० ॥

† मनो होच्चक्राम । तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच–कथमशकत मदृते जीवितुमिति ? ते होचुर्यथामुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तोवाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति । प्रविवेश ह मनः ॥ बृ० ६ । १ । ११ ॥

प्राणन्तः । प्राणेन । वदन्तः । वाचा । पश्यन्तः । चक्षुषा । शृण्वन्तः । श्रोत्रेण । एवम् । इति । प्रविवेश । ह । मनः ॥ ११ ॥

भाष्यम्-मनोहेति । अनन्तरं मनो ह उच्चक्राम शरीरं विहाय उज्जगाम । बाला मुग्धा अविद्वांसः । अमनसो मनोवृत्तिरहिताः । शेषं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

अनुवादः-अनन्तर मन देह त्यागचला । वह एक वर्ष प्रवास में रह फिर लौट आकर बोला कि मेरे विना आप लोग कैसे जीवित रहे ? उन लोगों ने यह उत्तर दिया कि जैसे बालक मन के विना प्राण से जीवन धारण करते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए जीते हैं वैसे हम लोग भी जीते रहे । इसे सुन अपनी अश्रेष्ठता जान मन भी शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥ ११ ॥

पदार्थः-(ह) प्रसिद्ध (मनः) मन (उच्चक्राम) देह से निकल चला । (बालाः) मुग्ध, पागल, अविद्वान् (अमनसः) मनोवृत्ति रहित । आगे पूर्ववत् जानना ॥ ११ ॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा सुहयः पड्वीश-शंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्तᳪहाभि समेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति * ॥ १२ ॥

अथ । ह । प्राणः । उच्चिक्रमिष्यन् । सः । यथा । सुहयः । पड्वीशशंकून् । संखिदेत् । एवम् । इतरान् । प्राणान् । समखिदत् । तम् । ह । अभिसमेत्य । ऊचुः । भगवन् । एधि । त्वम् । नः । श्रेष्ठः । असि । मा । उत्क्रमीः । इति ॥ १२ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथ वागादीनां परीक्षायां सत्याम् । ह प्रसिद्धः । स प्राणोमुख्यः पञ्चावयवः शरीरान्तः संचारी प्राणः । उच्चिक्रमिष्यन् । उत्क्रान्तुं देहं परित्यज्य उत्पतितुमिच्छन् सन् । इतरान् अन्यान् वागादिनामकान् स्वल्पसारान् प्राणान् । समखिदत् । समुदखिदत् समुद्धृतवान् । उत्पाटितवानित्यर्थः । कःकानिव । यथा येन प्रकारेण । सुहयः शोभनो बलिष्ठोऽश्वः । पड्वीशशंकून् । पादबन्धनकीलान् । परीक्षणायाऽऽरूढेन कशया

* अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्त्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्त्संववर्ह । ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति । तस्यो मे बलिं कुरुतेति । तथेति ॥ बृ० ६ । १ । १३ ॥

हतः सन् । संखिदेत् समुत्खनेत् । समुत्पाटयेत् । एवम् अनेन प्रकारेणेत्यर्थः । जिगमिषति मुख्ये प्राणे सर्वे इतरे प्राणा अपि विचलन्ति । स्वं स्वं स्थानं रक्षितुमसमर्था भवन्ति । इति तु प्रत्यक्षविषयः । तमेवाग्रे प्रदर्शयति । वागादिसंज्ञका इतरे प्राणाः । तं ह मुख्यं प्राणम् । अभिसमेत्य । ऊचुः । उक्तवन्तः । हे भगवन् पूज्यतम प्राण ! एधि । अस्माकं मध्ये त्वमेव स्वामी भव । त्वम् । नोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठोऽसि । मा । नहि । उत्क्रमीः । अस्मान् विहाय उत्क्रमणं मा कार्षीः । इति । वयं सर्वे त्वद्दासास्त्वां प्रार्थयामहे ॥ १२ ॥

अनुवादः–अनन्तर जैसे वलिष्ठ घोड़ा अपने वन्धन कीलों को उखाड़ डालता है । वैसेही उत्क्रमण करने की इच्छा करता हुआ उस मुख्य प्राण ने इतर प्राणों को (अपने २ स्थान से) उखाड़ दिया "तत्पश्चात्" इस प्रसिद्ध मुख्य प्राण के समीप आकर वे सब वोले कि हे भगवन् ! आप "हम लोगों के स्वामी" होवें । आप हम लोगों में श्रेष्ठ हैं । मत उत्क्रमण कीजिये ॥ १२ ॥

पदार्थः–(अथ) वागादि इन्द्रियों की श्रेष्ठता की परीक्षा होने के अनन्तर (उच्चिक्रमिष्यन्) शरीर को त्यागकर चलने की इच्छावाला होता हुआ (सः) उस (ह) प्रसिद्ध (प्राणः) प्राण ने (इतरान्+प्राणान्) अन्य वागादि नामधारी प्राणों को (समखिदत्) अपने अपने स्थान से चलायमान कर दिया (यथा) जैसे (सुहयः) शोभन घोटक=वलिष्ठ घोड़ा परीक्षा के लिये कशा से घातित होने पर (पड्वीशशङ्कून्) बांधने की कीलों को (संखिदेत्) उखाड़ डाले (एवम्) वैसे ही अर्थात् वैसे ही मुख्य प्राण ने इतर वागादि प्राणों को उखाड़ डाला तव सव प्राण चलायमान होने लगे तव (तम्+ह) उस मुख्य प्राण के (अभिसमेत्य) चारों तरफ समीप आकर (ऊचुः) अन्य प्राण सव वोले (भगवन्) हे भगवन् ! (एधि) हम लोगों के स्वामी आप ही होवें (नः) हम लोगों के मध्य (त्वम्) आपही (श्रेष्ठः+असि) श्रेष्ठ हैं (मा+उत्क्रमीः) इस शरीर से हम लोगों को परित्याग कर अन्यत्र कहीं न जावें (इति) यह हम लोगों की प्रार्थना है ॥ १२ ॥

अथ हैनं वागुवाच–यदहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच–यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति * ॥ १३ ॥

* सा ह वागुवाच । यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति । यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुः ॥ बृ० ६ । १ । १४ ॥

अथ। ह। एनम्। वाक्। उवाच। यद्। अहम्। वसिष्ठा। अस्मि। त्वम्। तद्। वसिष्ठः। असि। इति। अथ। ह। एनम्। चक्षुः। उवाच। यद्। अहम्। प्रतिष्ठा। अस्मि। त्वम्। तत्। प्रतिष्ठः। असि। इति॥ १३॥

भाष्यम्-अथेति। सम्प्रति प्रत्येकमिन्द्रियं तं मुख्यं प्राणं श्रेष्ठत्वेन स्तोतुं प्रारभते। अथ ह। एनम्। प्राणम्। वागुवाच। यद्। यदिति क्रियाविशेषणम्। हे प्राण! अहंवाग् यद् वसिष्ठास्मि। वसुमत्तमास्मि। तत् त्वत्कृपयैवाहमीदृशी संवृत्तासि। तत्त्वतस्त्वमेव खलु वसिष्ठोऽसि। अन्यथा कुतो मम वसिष्ठगुणत्वं संभवेत्। इति। एवं वाग् तं तुष्टाव। अथ ह। वाक्स्तुत्यनन्तरम्। एनम्। प्राणम्। चक्षुर्नेत्रमुवाच। अहं यत्प्रतिष्ठास्मि। इतरेषां स्वकीय-व्यापारेण गमनागमने यत् यथास्थानं स्थापयितृ वर्ते। तत् तव कृपयैव। वस्तुतस्त्वमेव प्रति-ष्ठोऽसि॥ १३॥

अनुवादः-अनन्तर वाणी बोली कि जो मैं वसिष्ठा हूं सो आप की ही कृपा है यथार्थ में आप ही वसिष्ठ हैं। तब नेत्र उस से बोला कि जो मैं प्रतिष्ठा हूं सो आपका ही अनुग्रह है। यथार्थ में आप ही प्रतिष्ठ हैं॥ १३॥

पदार्थः-(अथ) अब प्रत्येक इन्द्रिय प्राण की स्तुति को प्रारम्भ करती है (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस मुख्य प्राण से (वाग्) वाणी (उवाच) बोली कि (अहम्) मैं (यत्) जो (वसिष्ठा+अस्मि) अतिशय धनाढ्य नामवाली वा सर्वों को आच्छादन करने वाली अर्थात् अपने गुणों से अन्य इन्द्रियजन्य दोषों को छिपाने वाली हूं (तत्) वह आप की ही कृपा से। जिस कारण आप ही (वसिष्ठः+असि) अतिशय धनाढ्य वा आच्छादक हैं। इसी कारण आप के सहयोग से मैं भी वैसी हूं (इति) वाक्कृत प्रार्थना की समाप्तिसूचक है (अथ) इस के अनन्तर (चक्षुः) नेत्र (उवाच) बोला (अहम्) हे प्राण! मैं (यत्) जो (प्रतिष्ठा+अस्मि) अन्य इन्द्रियों को अपने व्यापार से गमनागमन की सहायता में प्रतिष्ठा आश्रय देनेवाला हूं अर्थात् यथास्थान में स्थापन करने वाला हूं (तत्) वह आप की ही कृपा से। जिस कारण (त्वम्+प्रतिष्ठः) आप ही प्रतिष्ठ हैं आप की ही प्रतिष्ठा से मैं प्रतिष्ठा देनेवाला हूं (इति॥ १३॥

अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच-यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनं मन उवाच-यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति*॥ १४॥

* यद्वा अहꣳसम्पदस्मि त्वंतत्सम्पदसीति श्रोत्रम्। यद्वा अहमायतनमस्मि त्वंतदायतनमसीति मनः॥ बृ० ६। १। १४॥

अथ । ह । एनम् । श्रोत्रम् उवाच । यद् । अहम् । सम्पद् । अस्मि । त्वम् । तत् । सम्पद् । असि । इति । अथ । ह । एनम् । मनः । उवाच । यद् । अहम् । आयतनम् । अस्मि । त्वम् । तद् । आयतनम् । असि । इति ॥ १४ ॥

भाष्यम्–अथेति–अथ चक्षुःस्तुत्यनन्तरम् । एनं मुख्यं प्राणं श्रोत्रमुवाच हे भगवन् ! अहं सम्पदस्मि यत् तत्तवैव महिमा । यदिति क्रियाविशेषणम् । मयियत् सम्पत्त्वमस्ति तत्सम्पत्त्वं त्वद्विना भवितुं नार्हति । अतस्त्वं त्वमेव सम्पदसि मम सम्पदः कारणं त्वमेव । अथहानन्तरं मन उभयात्मकमिन्द्रियम् । एनं मुख्यं प्राणमुवाच । हे भगवन् ! अहमायतनमस्मि आश्रयोऽस्मि । यत्तत्तवैव महिमा । यथार्थतया हे भगवन् ! त्वमेव आयतनमसीति । मयि यदायतनत्वं वर्त्तते तत्त्वत्कृपयाविना भवितुं नार्हति । यत्तदिति क्रियाविशेषणम् ॥ १४ ॥

अनुवादः–अनन्तर उससे श्रोत्र बोला कि मैं जो सम्पत् हूं सो तेरी ही कृपा है यथार्थ में तू ही सम्पत् है । अनन्तर मन उससे बोला कि मैं जो आयतन हूं सो तेरी ही कृपा है यथार्थ में तू ही आयतन है ॥ १४ ॥

पदार्थः–(अथ) वाक् और चक्षु कर्तृक स्तुति के अनन्तर (ह+एनम्) इस मुख्य प्राण से । श्रोत्रम्+उवाच) श्रोत्र बोला कि हे भगवन् ! (अहम्) मैं (यत्) जो (सम्पत्+अस्मि) सम्पत हूं (तत्) वह तेरी ही कृपा है यथार्थ में (त्वम्+सम्पत्+असि) तू ही सम्पत् है । अर्थात् मेरी सम्पत्ति का कारण तू ही है (इति) इस प्रकार श्रोत्र ने स्तुति की (अथ) अनन्तर (ह+एनम्) इस मुख्य प्राण से (मनः+उवाच) मन बोला हे भगवन् प्राण ! (अहम्) मैं (यत्) जो (आयतनम्+अस्मि) आश्रय हूं (तत्) वह तेरी ही कृपा है । यथार्थ में (त्वम्+आयतनम्+असि) तू ही आश्रय है अर्थात् मुझ में जो आयतनत्व है उस का कारण तू ही है ॥ १४ ॥

भाष्याशयः–श्रोत्र सम्पत् इसलिये कहलाता है कि वेद के श्रवण से ही सर्वार्थसिद्धि होती है इस हेतु श्रोत्र सम्पत् अर्थात् धन कहलाता है इसी प्रकार मन आयतन आश्रय इसलिये है कि इसके विना कोई इन्द्रिय अपने व्यापार को नहीं कर सकता परन्तु मन भी प्राण विना तुच्छ अकिञ्चित्कर है इस हेतु मन का भी आश्रय प्राण माना गया है ॥ १४ ॥

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते । प्राणा इत्येवाचक्षते । प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

न । वै । वाचः । न । चक्षूंषि । न श्रोत्राणि न । मनांसि । इति । आचक्षते । प्राणाः । इति । एव । आचक्षते । प्राणः । हि । एव । एतानि । सर्वाणि । भवति ॥ १५ ॥

भाष्यम्—नवा इति। वागादीनि करणानि तत्त्वतो मुख्यतया प्राणशब्देनाहूयन्ते लौकिकैः परीक्षकैश्च न तु स्वस्वनामधेयेन प्राणायत्तत्वात् । इदमेवाग्रे दर्शयति । लोके । न वै न कदाचन । वाचो वाण्यः । न चक्षूंषि नयनानि । न श्रोत्राणि । न मनांसि । इतिवागादीनि करणानि । आचक्षते कथयन्ति । यदि वागादीनि करणानि वागादिस्वनामभिर्नोच्यन्ते तर्हि कैर्नामभिरित्याह । तानि । प्राणा इत्येवाचक्षते । तान्यपि करणानि प्राणा इत्येव कथयन्ति। कथमित्याह । हि यतः । प्राणएव । एतानि वागादीनि सर्वाणि करणानि भवति । प्राण एव तत्तस्थानं प्राप्य तत्तत् करणमुपजीवयति । अतः प्राण संज्ञैवैतेषामिन्द्रियाणामेकास्ति ॥१५॥

इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—इन वागादि इन्द्रियों को न वाणी, न चक्षु, न श्रोत्र, न मन कहते हैं किन्तु इन सबों को प्राण ही कहते हैं क्योंकि प्राण ही यह सब होता है ॥ १५ ॥

पदार्थः—वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदिक इन्द्रियों को लौकिक और परीक्षक जन प्राण नाम से ही पुकारते हैं अपने २ नाम से नहीं क्योंकि ये सब इन्द्रिय प्राण के ही अधीन हैं इस हेतु इन सब का एक नाम प्राण होता है इसी विषय को यहां दिखलाते हैं (वै) कदापि भी (वाचः+इति+न+वाचक्षते) वचन को वचन नहीं कहते इसी प्रकार (न+चक्षूंषि) नेत्र को नेत्र नहीं कहते (न+श्रोत्रम्) श्रोत्र को श्रोत्र नहीं कहते (न+मनांसि) मन को मन नहीं कहते किन्तु (प्राणाः+इत्येवाचक्षते) इन सबों को प्राण ही कहते हैं (हि) क्योंकि (प्राणः) मुख्य प्राण ही (एतानि+सर्वाणि) इन सब इन्द्रियों का रूप (भवति) होता है अर्थात् प्राण ही तत्तद् इन्द्रिय के निकट पहुंचकर तत्तद्रूप धारण करता है इस हेतु सब इन्द्रियों की एक प्राण संज्ञा होती है ॥ १५ ॥

इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

प्राणसंवाद समीक्षा ॥ (१६)

इस खण्ड के सदृश ही बृहदारण्यकोपनिषद् में भी जो प्राण संवाद आया है वह यथास्थान टिप्पणी में दर्शाया गया है । ऐसा ही संवाद प्रश्नोपनिषद् द्वितीय प्रश्न में आया है, यहां भार्गव वैदर्भि नाम के विद्वान् ने पिप्पलाद से पूछा है "भगवन् ! कत्येव देवा

प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति" हे भगवन् ! कितने देव इस शरीर में प्रजा को धारण किये हुए हैं और कौन इस शरीर को प्रकाशित कर रहे हैं और इन में कौन श्रेष्ठ है ? तदनन्तर पिप्पलाद ने यह कहा कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र ये सब मिलकर इस शरीर को धारण किये हुए हैं इन में वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र आपस में कहने लगे कि मैं ही इस शरीर का धारण करने वाला हूं तब "तां वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोह मापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतत् बाण-मवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः" प्रश्न० २ । ३ ॥ उनसे मुख्य प्राण ने कहा कि तुम मोह मत करो मैं ही अपने आत्मा को पञ्च प्रकार से विभाग करके इस शरीर को रोक कर धारण करता हूं परन्तु प्राण के इस वचन पर उन वागिन्द्रिय आदिकों को विश्वास नहीं हुआ तब "सोऽभिमाना दूर्ध्वमुत्क्रमत इव । तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकर–राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षु श्रोत्रं च ते प्रीता प्राणंस्तुवन्ति" प्रश्न० २ । ४ ॥ वह मुख्य प्राण मानो शरीर को त्याग ऊपर को चला उसके उत्क्रमण से वागादि इन्द्रिय भी उत्क्रमण करने लगे और उस मुख्य प्राण के प्रतिष्ठित होने से वे सब भी प्रतिष्ठित हुए अर्थात् प्राण विना वागिन्द्रियादि शरीर के धारण करने में समर्थ नहीं हुए सो जैसे मधुकरराज (भौंरा) के उड़ने पर सब मक्षिकाएं उसके पीछे लगती हैं और उसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होती हैं तद्वत् मुख्य प्राण के भी अनुगामी सब इंद्रिय इस प्रकार अपने को असमर्थ समझ वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगे जैसे:—

"एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चा-मृतञ्चयत् ॥ ५ ॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ५ ॥ प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥ देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥ इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता । त्वमन्तरिक्षेचरसि सूर्यत्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥ यथा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः । आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नंभविष्यतीतिं ॥ १० ॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥ याते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥ प्राणस्येदं

कोपनिषद् का प्रकरण सम्पूर्ण पढ़ना चाहिये उस प्रकरण के दो एक विषय ये हैं—एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादुबृहस्पतिः ॥ २० ॥ एष उ एव ब्रह्मणस्पति-र्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥ एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा अमश्चेति.....॥ २२ ॥ एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धं वागेव-गीथोच्चगीथाचेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥ अर्थात् (एष उ एव) यह प्राणही बृहस्पति है क्योंकि बृहती नाम वाणी का है और वाणी का पति यह प्राण है इसलिये बृहस्पति कहलाता है ॥ २० ॥ (एष उ एव) वह प्राण ही ब्रह्मणस्पति है क्योंकि वाणी का नाम ब्रह्म है उस का यह प्राण पति है इस हेतु प्राण ब्रह्मणस्पति कहलाता है ॥ २१ ॥ (एष उ एव साम) वाणी ही साम है क्योंकि साम नाम भी वाणी का है ॥ २२ ॥ (एष उ वा उद्गीथः) यह प्राण ही उद्गीथ है क्योंकि उत् जो प्राण उस से सब प्राणी उत्थित होते हैं ॥ २३ ॥ इत्यादि प्राण की यहां स्तुति है। पुनः "प्राणो वा आशायाभूयान् यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वꣳसमर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः" (प्राणो वा) प्राण ही आशा से बढ़ा है जैसे रथ के नाभि में अराएं बद्ध रहती हैं तद्वत् इस प्राण में ही सब समर्पित है (प्राणः प्राणेन) प्राण के द्वारा प्राण जाता है प्राण प्राण को देता है प्राण ही पिता प्राण ही माता प्राण ही भ्राता प्राण ही बहिन प्राण ही आचार्य और प्राण ही ब्राह्मण है इत्यादि छान्दोग्यो-पनिषद् सप्तम प्रपाठक पञ्चदश खण्ड में प्राण की स्तुति की गई है ॥

इसी प्रकार "जीवति वागपेतो मूकान् हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् हि पश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान् हि पश्यामो जीवति मनोपेतो बालान् हि पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न" इत्यादि कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि ३ । ३ ॥ (वागपेतः) वचन रहित जीव (जीवति) जीता है (मूकान् हि पश्यामः) क्योंकि गूंगों को देखते हैं (चक्षुरपेतः) चक्षुरहित नयन विहीन (जीवति) जीता है (अन्धान् हि पश्यामः) क्योंकि अन्धों को देखते हैं (श्रोत्रापेतः०) श्रोत्र रहित जीता है क्योंकि बधिरों को देखते हैं (मनोऽपेतः) मनरहित जीता है क्योंकि बालकों को देखते हैं इसी प्रकार बाहुच्छिन्न उरुच्छिन्न आदिक पुरुष भी जीता है। परन्तु प्राणरहित नहीं जीता अतः प्राण श्रेष्ठ है " अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति तस्मादेतदेवो-क्थमुपासीतेति सैषा प्राणे सर्वाप्तिर्यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणांस्तस्यैषैव

दृष्टिरेतद्विज्ञानं यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति । अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदेनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति । चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति । श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति । मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति । स यदा प्रति बुध्यते । यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वादिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्योदेवा देवेभ्योलोका स एष प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति तस्मादेत देवोक्थमुपासीत" कौ० ब्रा० उ० ३ । ३ ॥ इस का भाव यह है कि प्राण ही प्रज्ञात्मा अर्थात् क्रियोत्पादक ज्ञानशक्त्युत्पादक अथवा तत्तत् इन्द्रिय विषय उत्पादक है । येही प्राण इस शरीर को सँभालकर उठाये हुए हैं इस हेतु इस प्राण को उक्थ जान विचार करे क्योंकि उक्थ शब्द का अर्थ ही उठाने वाला है (सैषा प्राणे) प्राण में ही सब वस्तुओं की उपलब्धि होती है जो प्राण है वही प्रज्ञा है जो प्रज्ञा है वही प्राण है अर्थात् ज्ञान और क्रिया शक्ति का नाम प्राण है उस प्राण का यह दर्शन है (यत्रैतत्पुरुषः) जब यह जीवात्मा सो जाता है और किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब इसी प्राण में सब इन्द्रिय व्यापार एक हो जाता है अर्थात् वाणी सब नामों के साथ इसी में लीन होती है नेत्र सब रूपों के साथ इसी में लीन होता । श्रोत्र सब शब्दों के साथ इसी में लीन होता है । मन सब ध्यानों के साथ इस में लीन होता है और जब यह प्राण जागता है तब जैसे प्रज्वलित अग्नि से विस्फुलिङ्ग छोटी २ चिनगारियां चारों तरफ़ फैलती हैं तद्वत् इसी मुख्य प्राणात्मा से अन्य वागादि इन्द्रिय अपने २ विषय की ओर जाने में समर्थ होते हैं इस हेतु प्राण ही क्रिया और ज्ञानशक्ति का कर्त्ता है इत्यादि । इस प्रकार कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् की शिक्षा देखो ।

ब्रह्मवाचक प्राणशब्द–उपनिषदों में प्राण शब्द अनेक अर्थों में आया है कतिपय उदाहरण यहां दर्शाये जाते हैं "प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" छा० १ । ११ । ५ ॥ उपस्ति चाक्रायण से प्रस्तोता ने पूछा कि प्रस्ताव सम्बन्धी कौन देवता है उस पर उषस्ति चाक्रायण कहते हैं (प्राण इति) प्रस्ताव का देवता प्राण है क्योंकि सम्पूर्ण ये प्राणी प्राण में ही प्रविष्ट होते हैं और प्राण ही को लक्षित कर के उत्पन्न होते हैं सो वह प्राण देवता प्रस्ताव में अनुगत है पुनः "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म" छा० ४ । १० । ५ ॥ (प्राणो ब्रह्म) यहां साक्षात् ही प्राण को ब्रह्म कहा है इन्हीं उदाहरणों को लेकर "अतएव प्राणः" वेदान्त १ । १ । २३ ॥ सूत्र में प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है यह सिद्ध किया गया है । कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के तृतीय

अध्याय प्रतर्दन दैवोदासि और इन्द्र इन दोनों के संवाद में प्राणवाच्य ब्रह्म है यह विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ है। इसी आख्यायिका के उपलक्ष्य में "प्राणस्तथानुगमात्" वेदा० १। १। २८ ॥ इस सूत्र को वादरायण व्यास ने लिखा है जहां पर ब्रह्म का लिङ्ग (चिन्ह) पाया जाय वहां २ प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म जानना ॥

पंचप्राण।

"प्राणो व्यानो पान उदानः समानः" तैत्तिरीय उ० १। ७। १ ॥ प्राण व्यान अपान उदान समान ये पांच प्रकार के प्राण हैं "एषोनुरात्माचेतसावेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा" इस वाक्य में "पञ्चधा" शब्द के प्रयोग से पांच प्रकार के प्राण हैं यह मालूम होता है। परन्तु "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः. समिधः सप्तहोमाः। सप्त इमेलोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त" मुण्डको० २। १। ८ ॥ यहां सप्त प्राणाः इस शब्द के प्रयोग से सात प्रकार के प्राण प्रतीत होते हैं। "कतमेरुद्रा इति दश इमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। बृ० उ० ३। ९। ४। यहां "दशइमे पुरुषे प्राणाः" इस शब्द के प्रयोग से दश प्रकार के प्राण ज्ञात होते हैं। पांच प्रकार के प्राण के नाम और कई स्थानों में आये हैं यथा "प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति। व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति। अपानाय स्वाहेत्यपादस्तृप्यति। सामानाय स्वाहेत्य समानस्तृप्यति। उदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति"। छा० प्र० ५ ॥ छान्दोग्योपनिषद् तृतीय प्रपाठक त्रयोदश खण्ड में इन पांचों प्राणों का विशेष वर्णन आया है। वहां ये पांच ब्रह्म पुरुष कहे गये हैं ॥

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि प्रजाकामो वै प्रजापति सः तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते" १। ४ ॥ अर्थात् प्रजाकाम प्रजापति ईश्वर के द्वारा दो पदार्थ को उत्पन्न किया "रयि और प्राण" "आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः" आदित्य ही प्राण है और चन्द्रमा ही रयि है यहां आदित्य को प्राण कहा है। पुनः "अहरेव प्राणो रात्रिरेव रयि प्राणं वा एते प्रस्कंदन्ति" यहां दिन को प्राण कहा है। इत्यादि अनेक प्रकार के प्रयोग यहां देखो। उपनिषदों में प्राण शब्द के जितने प्रयोग आये हैं प्रायः किसी शब्द के इतने प्रयोग नहीं आये हैं तत्तत्स्थान में प्राण शब्दका विवरण देखना ॥ इति ॥

॥ अथ द्वितीयः खण्डः।

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य

आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नामप्रत्यक्षम् । न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति * ॥ १ ॥

सः । ह । उवाच । किम् । मे । अन्नम् । भविष्यति । इति । यत् । किञ्चित् । इदम् । आश्वभ्यः । आशकुनिभ्यः । इति । ह । ऊचुः । तत् । वै । एतद् । अनस्य । अन्नम् । अनः । ह । वै । नाम । प्रत्यक्षम् । न । ह । वै । एवंविदि । किञ्चन । अनन्नम् । भवति । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—स होवाचेति । अधुनासंवादरूपेण व्याख्यायते । प्राणः प्रष्टास्ति । वागादयः प्रतिवक्तारः । स ह स प्रसिद्धः प्राणः । उवाच । अब्रवीत् हे वागादयोमदधीना देवताः ! मे मम । किम् किमात्मकं वस्तु । अन्नम् । खाद्यम् । भविष्यति । इति मम युष्मान् प्रति प्रश्नः । ते होचुः । हे प्राण ! आश्वभ्यः शुन आरभ्य । आशकुनिभ्यः । आविहगान्ताः प्राणिनः । यत् किञ्चिदिदं यत्किञ्चित्प्रसिद्धमदिह संसारे अन्नमदन्ति । तदेव तवाप्यन्नम् । वै निश्चितम् भविष्यतीत्युत्तरम् तत्पूर्वोक्तम् । एतत्प्राणिभिः खाद्यमानमन्नम् । अनस्य । प्राणस्य अन्नम् । अयमर्थः । अयमेव प्राणः सर्वेषु जीवेषु तिष्ठतीत्यत्र न संदेहः । सिंहादि शरीरे तिष्ठन् मांसम्, शुकादिषु फलमेव, वृक्षादिषु जलमेव, वायुमेव वा । इत्थं प्राणस्य निखिल वस्त्वाहारोऽस्तीति दर्शयति। अन इति प्राणनामधेयम् । तदेव स्वयं विस्फुटयति। हेति प्रसिद्धं। प्राणस्य । "अनः" इति । प्रत्यक्षं नाम नामधेयं । प्रसिद्धम् । "श्वस प्राणने" इति पठित्वा "अन च" इति पठति पाणिनिः । तेन अनधातुरपि प्राणने वर्तत इति ज्ञायते । प्रोपसर्गपूर्वकादनितेः प्राणशब्दसिद्धिः । सर्वप्रकारचेष्टाव्याप्तिगुणप्रदर्शनार्थं प्रसिद्धतरं प्राणशब्दं विहाय तत्स्थाने "अन" इति प्रयुङ्क्ते "अन" इत्यस्मादेवोपसर्गवशात् प्राणः, अपानः, समानः, उदानः, व्यानः इत्येवं नामधेयानि सिद्धयन्ति । स एव अनो विविधोपसर्गानादाय पञ्चविधो भवति । अतः प्राणस्य "अन" इत्येव नामेति सुष्ठूक्तम् । प्राणविदं प्रशंसति । एवंविदि । अनेन प्रकारेण प्राण विषयस्य तत्त्वस्य ज्ञातरि। किञ्चन किञ्चिदपि वस्तु। अनन्नं न भवति। न अन्नमनन्नम् । अनद्यं न भवति । किन्तु सर्वं वस्तु तस्यान्नमेव भवतीत्यर्थः । किं भोः !

* तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदन्नस्यान्नं वेद तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥

एवंवित्पुरुषः प्रतिषिद्धं विहितञ्च सर्वं भक्षयतु एवं तस्य न कोऽपि दोषो भविष्यतीत्येवं विधं प्रशास्ति ? नह्येतत् प्रशास्ति । किं तर्हि । एवं वित्पुरुषो जानाति नानायोनिषु हिंस्राहिंस्रेषु वासं कृत्वा मनुष्ययोनिंप्राप्तोऽस्मि । यद्यप्येतस्य प्राणस्य तत्तद्योनिषु सर्वं वस्तु भक्ष्यं जातम् । परन्तु सम्प्रति सर्वमभक्ष्यं मनुष्य योनौ ताज्यमित्याशयेनोक्तम् ॥ १ ॥

अनुवादः—वह प्रसिद्ध प्राण बोला कि मेरा अन्न क्या होगा ? श्वान सहित और विहंग समेत प्राणियों का जो कुछ यह प्रसिद्ध अन्न है । वा वे जो कुछ खाते हैं (वही आपका भी अन्न होगा) ऐसा उन्होंने कहा । इस कारण वही यह अन=का अन्न है । निश्चय, प्राण का अन ही प्रत्यक्ष नाम है । निश्चय एवंविद् पुरुष को कोई वस्तु अनन्न नहीं होता ॥ १ ॥

पदार्थः—(सः+ह+उवाच) वह मुख्य प्राण बोला कि (किम्) क्या (मे) मेरा (अन्नम्) अन्न (भविष्यति) होगा (इति) (आश्वभ्यः) श्वान सहित वा श्वान से लेकर (आशकुनिभ्यः) विहंग सहित वा विहंग पर्य्यन्त जीव (यत्+किञ्चित्) जो कुछ (इदम्) इस चराचर वस्तु को खाते हैं वही आप का भी अन्न होगा (इति+ह+ऊचुः) ऐसा उत्तर उन्होंने दिया (तत्) इस कारण (वै) निश्चय (एतद्) यह प्रसिद्ध सम्पूर्ण वस्तु (अनस्य) अन अर्थात् प्राणका (अन्नम्) अन्न है और प्राण का (अनः) अन (वै) ही (प्रत्यन्नम्) विस्फुट (नाम) नाम (ह) प्रसिद्ध है (एवम्+विदि) इस प्रकार प्राणको जानने वाले पुरुष के निमित्त (किञ्चन) कुछ भी (न+वै) नहीं (अनन्नम्) अनन्न (भवति) होता है अर्थात् ऐसे पुरुष को सब अन्न=खाद्य ही होता है (इति) ॥ १ ॥

भाष्याशयः—यहां प्रश्न और उत्तर रूप से आगे वर्णन करते हैं । मुख्य प्राण पूछने वाला और वाणी आदि इन्द्रिय उत्तर देने वाले हैं । पूर्व खण्ड में दरसाया गया है कि मुख्य प्राण सर्वश्रेष्ठ है । सब इन्द्रिय इस की स्तुति करते हैं । अब इसी प्राण के अधीन अन्य इन्द्रियों का भी जीवन है प्राण की पुष्टि से इन्द्रियों की पुष्टि प्राण की दुर्बलता से अन्य इन्द्रियों की दुर्बलता होती है और भोजन के ऊपर ही यह निर्भर है अतः प्राण भोजनार्थ प्रथम जिज्ञासा करता है प्राण पूछता है कि मेरा भोजन क्या होगा ? वाणी आदि सब इन्द्रिय मिल कर उत्तर देते हैं कि कुत्ते से लेकर पक्षी पर्य्यन्त जीवों का जो अन्न है वही अन्न हे प्राण ! आप का भी होगा । कुत्ता समान नीच जन्तु कोई नहीं है क्योंकि यह अपने वमन (कै) किये हुए पदार्थ को भी खा जाता है इसी हेतु इसे "वान्ताशी" कहते हैं यहां खाद्य पदार्थ के विचार से कुत्ता नीच माना गया है परन्तु बहुत से गुण कुत्ते

में अच्छे भी हैं और बहुतसे पक्षी केवल शुद्ध फल के आहार से ही निर्वाह करते हैं इस हेतु कुत्ता और पक्षी का नाम लिया गया है कि कुत्ते के समान वान्ताशी जीव से लेकर और पक्षी सदृश शुद्धाशी जीव पर्य्यन्त का जो कुछ खाद्य पदार्थ है वही आपका भी भोजन है। इसका विस्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो प्राण मनुष्य-शरीर में हैं वही सिंह, व्याघ्र, गृध्र, सर्प, व्याल, कीट, पतङ्गादिक में भी है। अब आप विचारो कि वही प्राण, सिंह शरीर से हिंसाकर मांस को, सर्प शरीर से अपने बच्चों को, केंकरा शरीर से अपनी माता को, शूकर शरीर से अभक्ष्य पदार्थ को, श्वानरूप से वमन को, अजारूप से केवल घास को इसी प्रकार अनन्त योनि में प्राप्त होकर अनन्त पदार्थों को खाता है। इस प्रकार यावत् पदार्थ ही प्राण का भोजन है इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं। अतः कहागया है कि प्राण का सब ही भोजन है। यहां यह भी जानना चाहिये कि जीवात्मा के साथ सदा सर्वदा यह प्राण लगा रहता है। यही शास्त्र-सिद्धान्त है।

अन--प्र+अन=प्राण। अप+अन=अपान। सम्+आ+अन=समान। उद्+आ+अन=उदान। वि+आ+अन=व्यान। इस प्रकार देखते हैं कि उपसर्ग में ही "अन" जोड़ने से प्राण आदिक शब्द बनते हैं। इस हेतु यथार्थ में प्राण का नाम अन ही है। उपसर्ग वश होकर प्राण आदिक पांच प्रकार के होते हैं। यहां अन इस शब्द का प्रयोग इस हेतु कि यही नाम शास्त्रीय है और इससे सकल प्राणियों में इस के द्वारा चेष्टा वा क्रिया का बोध हो अर्थात् सब में स्थित होकर सबको जीवित कर रहा है इस को सूचित करने के लिये सर्वत्र अन शब्द का प्रयोग होता है।

फल में कहा गया है कि प्राण विज्ञानवित् पुरुषों को सब अन्न ही होता है इस वाक्य में सन्देह होता है कि क्या प्राणविद् पुरुष भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करें यदि ऐसा हो तो शास्त्र मर्य्यादा बिलकुल भ्रष्ट होजायगी। सुनो इस का अभिप्राय यह है कि जो पुरुष प्राणवित् है वह जानता है कि अनन्त योनियों में नाना भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों को खाकर यह प्राण जीवात्मा के साथ अब इस विवेकी मनुष्य शरीर में संप्राप्त हुआ है। इस हेतु यद्यपि प्राण का अभक्ष्य कोई भी पदार्थ नहीं तथापि विवेक से और ईश्वर की आज्ञा से यदि इस शरीर में आकर खाद्याखाद्य के विचार से इस को शुद्ध करलें तो अच्छा है। इस अभिप्राय से प्राणवित् की प्रशंसामात्र की गई है, यथार्थ में सकल पदार्थ के भक्षण की विधि नहीं कही गई है अन्यत्र इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे, इति ॥ १ ॥

स होवाच—किं मे वासो भविष्यतीत्यापइति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासोभवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

सः । ह । उवाच । किम् । मे । वासः । भविष्यति । इति । आपः । इति । ह । ऊचुः । तस्माद् । वा । एतद् । अशिष्यन्तः । पुरस्तात् । च । उपरिष्टात् । च । अद्भिः । परिदधति । लम्भुकः । ह । वासः । भवति । अनग्नः । ह । भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्—सहेति । पुनरपि स ह मुख्यः प्राणस्तान् । उवाच । पप्रच्छ । मे । मम । किम् । किमात्मकं वस्तु । वासः वसनम् । आच्छादकम् । अङ्गावरणमित्यर्थः । भविष्यति । इति मम जिज्ञासा । अग्रे समाधानं ब्रूते । आप इति । जलमेव तव वासो भविष्यति । इति तं ते वागादय ऊचुः । तस्माद्वै यस्मात् कारणात् आपः प्राणस्य वासोस्ति । तस्माद्धेतोः । अशिष्यन्तः । भोक्ष्यमाणः । भुक्तवन्तश्चविद्वांसोजनाः । पुरस्ताच्च अशनात्पूर्वम् । उपरिष्टाच्च । भोजनादूर्ध्वं च । अद्भिः । जलैः । परिदधति । आत्मानमाच्छादयन्ति । आचामन्तीत्यर्थः । इदमेवाचमनविधानं मुख्यस्य प्राणस्य । लम्भुकः । लम्भनशीलो वासो भवति । वस्त्रं भवति । तेनैव वस्त्रेण । अनग्नो ह । न नग्नोऽनग्नः । भवति । वस्त्रवान् भवतीत्यर्थः । एतेनैव प्राणस्यानग्नता भवति । अन्यत्राप्युक्तम् । षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः । काममपः पिब । आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति । आपो वा अन्नाद् भूयस्यः । तस्माद्यदा सुवृष्टिर्नभवति । व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीति । अथ यदा सुवृष्टिर्भवति । आनन्दिनः प्राणा भवन्ति । अन्नं बहु भविष्यतीति । एतेन प्राणस्य जलमेवोज्जीवनश्रितिं ज्ञायत इति ॥ २ ॥

अनुवादः—वह मुख्य प्राण बोला कि मेरा वस्त्र क्या होगा ? । इति । जल (आपका वस्त्र होगा) यह उन्होंने कहा । इसी कारण अन्न को खाने की इच्छा करने वाले वा भुक्तवान् विद्वान् लोग पूर्व और पश्चात् जलों से परिधान (वस्त्रपरिधानवत् आचमन) करते हैं, और वही मुख्य प्राण का लम्भनशील वस्त्र होता है । और (उससे) वह अनग्न होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः) वह (ह) प्रसिद्ध मुख्य प्राण (उवाच) वागादि इन्द्रियों से बोला कि (किम्) क्या (मे) मेरा (वासः) वस्त्र (भविष्यति) होगा (इति) प्राण ने वागादिकों से ऐसी जिज्ञासा की । तत्पश्चात् (ह+ऊचुः) उन्होंने उसे यह उत्तर दिया कि (आपः+इति) जल ही आपका वस्त्र होवेगा (तस्माद्वै) इसी कारण (एतद्)

इस अन्नको (अशिष्यन्तः) खाने की इच्छा करने वाले (पुरस्ताच्च) भोजन के पूर्व (उपरिष्ठाच्च) और भोजन के पश्चात् (अद्भिः) जल से (परिदधति) परिधान अर्थात् आचमन करते हैं और वही (लम्भुकः) लम्भनशील प्राप्त होने योग्य पदार्थ (ह) ही (वासः+भवति) मुख्य प्राण का वस्त्र होता है। और उसकी प्राप्ति से (अनग्नो ह) अनग्न ही (भवति) होता है अर्थात् वह प्राण वस्त्र वाला होता है यही उसका आच्छादक है। अन्यत्र कहा गया है कि जलमय ही प्राण है सुवृष्टि होने से इन्द्रिय सहित प्राण प्रसन्न होता है। ग्रीष्म ऋतु में जल विना प्राण को कितना कष्ट होता है। विशेषकर मरुभूमि में जल विना प्राण नष्ट होजाते हैं इससे प्राण का आच्छादक जल है यह सिद्ध होता है। आचमन की चर्चा उपलक्षणमात्र है॥ २॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच-यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति* ॥ ३ ॥

तद्। ह। एतद्। सत्यकामः। जाबालः। गोश्रुतये। वैयाघ्रपद्याय। उक्त्वा। उवाच। यद्यपि। एनत्। शुष्काय। स्थाणवे। ब्रूयात्। जायेरन्। एव। अस्मिन्। शाखाः। प्ररोहेयुः। पलाशानि। इति॥ ३॥

* तद्धैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि। य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ७॥
एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि। य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ८॥
एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि। य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ९॥
एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि। य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ १०॥
एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालयान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि। य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ११॥
एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि। य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति। तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्॥ १२॥ बृह० उ० ६। ३॥

भाष्यम्–तद्धेति । सत्यकामः सत्ये ब्रह्मणिकामोऽभिलाषोऽस्य । सत्यः कामोऽस्येति वा । सत्योऽवितथः । जाबालो जबालाया अपत्यं पुमान् । ह परमप्रसिद्ध उपनिषत्तत्त्वविदृषिश्चतुर्थप्रपाठकोक्तः । तदेतत् प्राण विज्ञानं नाम शास्त्रम् । स्वशिष्याय वैयाघ्रपद्याय व्याघ्रस्यपदाविव पदौ यस्य स व्याघ्रयत् । व्याघ्रपदोऽपत्यं वैयाघ्रपद्यः । तस्मै । गोश्रुतये गवि पृथिव्यां श्रुतिः श्रवणं यशः श्रवणं यस्य सः । तस्मै गोश्रुतिनाम्ने । उक्त्वोपदिश्य । उवाच । वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् । हे गोश्रुते ! एनदेतत्प्राणविज्ञानं शुष्काय निर्जीवाय । स्थाणवे वृक्षाय । यद्यपि ब्रूयादुपदिशेत् । तर्हि । अस्मिन्नुपदिष्टे स्थाणावपि । शाखा जायेरन् एव । अवश्यमेव शाखा उत्पद्येरन् पलाशानि पत्राणि प्ररोहेयुस्तस्मात् प्रवर्धेरन् । इति । आलङ्कारिक उपदेशः । एतत्प्राणविज्ञानेन प्राप्तोपदेशा मन्दा अपि जिज्ञासवस्तीव्रा भवितुमर्हन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः–सत्यकाम जाबाल वैयाघ्रपद्य गोश्रुति नाम शिष्य को उस इस प्राण विज्ञान शास्त्र का उपदेश कर बोले कि शुष्क स्थाणु को भी यद्यपि यह उपदेश दिया जाय तो इस में अवश्य ही शाखाएं उत्पन्न होजायं और पत्र बढ़ने लगें ॥ ३ ॥

पदार्थः–(सत्यकामः जाबालः) उपनिषत्तत्त्ववित् परमप्रसिद्ध प्राचीन ऋषि सत्यकाम जाबाल (वैयाघ्रपद्याय) व्याघ्रपद नाम के ऋषि के पुत्र (गोश्रुतये) गोश्रुति नामक अपने शिष्य को (ह) प्रसिद्ध (तत्) उस (एतत्) इस प्राण विज्ञान नामक शास्त्र का (उक्त्वा) उपदेश देकर (उवाच) वक्ष्यमाण वचन बोले (एतत्) यह प्राण विज्ञान (शुष्काय) सूखे हुए (स्थाणवे) वृक्ष को (ब्रूयात्) उपदेश दिया जाय तो (अस्मिन्) इस शुष्क निर्जीव वृक्ष में भी (शाखाः) शाखाएं (जायेरन् एव) अवश्य ही उत्पन्न हों और (पलाशानि) पत्र (प्ररोहेयुः) उन शाखाओं में प्रवृद्ध होवें (इति) ऐसा उपदेश दिया ॥ ३ ॥

---

(१) सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका चतुर्थ प्रपाठक चतुर्थ खण्ड से देखो "अब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो ब्रह्मेति" । बृ० उ० ४ । १ । ६ । पुनः इस प्रवाक की टिप्पणी देखो ॥

(२) यह बात केवल प्राण-विद्या की महिमा दर्शाने के लिये लिखी गई है इस को केवल अलंकार ही समझो जैसा कि पीछे प्राण का संवाद अलंकाररूप से वर्णन किया गया था वैसा ही यह है ॥

प्रथमं प्राणविज्ञानमुक्तम् । अचेतनः खल्वयं प्राणः । तादृशोऽपिसन् सम्पूर्णं शरीरं स एव दधाति । अस्मिँल्लघुनि शरीरे यथा पाञ्चभौतिकः प्राणः ज्येष्ठः श्रेष्ठः । तथैव सम्पूर्णे ब्रह्माण्डेपि अयमेव प्राणो विधारयिता । प्राणस्य यन्महत्त्वं वर्तते तदपि तस्यैव ब्राह्मणः । यदास्मिन्न-चेतने प्राणे इदृग्गुणोस्ति तदा तन्निर्मातरि तत्प्रकाश कर्तरि ब्रह्मणि कियानीदृग् गुणः स्यात् । इति जिज्ञासाऽपि स्वभावत उत्पद्यते । न केवलं तदीयायां विभूतावेवासज्य तत्तस्मादुत्पाद-कात् विरज्येत । अतः पूर्वं तदीयां विभूतिं प्रदर्श्य तत् समीपां साक्षान्नेतुं यतते ॥

प्रथम प्राण विज्ञान कहा है । यद्यपि यह प्राण अचेतन है । तथापि सम्पूर्ण शरीर को वही धारण करता है इस लघु शरीर में जैसे यह पाञ्चभौतिक प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । वैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी यही धारण करने वाला है । परन्तु प्राण का जो महत्त्व है वह ब्रह्म का ही है । अब यह विचारे कि जब इस अचेतन प्राण में इतना गुण है तो उसके रचयिता और प्रकाशक ब्रह्म में कितना गुण हो सकता है । यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है केवल उसकी विभूति में ही आसक्त हो उस उत्पादक से जिज्ञासु विरक्त न हो जाय अतः विभूति दरसा उसके साक्षात् निकट ले जाने को प्रयत्न करते हुए अतः इस प्रवाक से आरम्भ करते हैं ॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावस्यायां दीक्षित्वापौर्णमा-स्याꣳरात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रे-ष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् * ॥ ४ ॥

अथ । यदि । महत् । जिगमिषेद् । अमावस्यायाम् । दीक्षित्वा । पौर्णमास्याम् ।

---

* स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्य्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुप-सद्व्रती भूत्वा औदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति सम्भृत्य परिसमूह्य परिलि-प्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्य्याऽऽवृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳसन्नीय जुहो-ति यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्य्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहो-मि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति ॥ तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा ॥ १ ॥ ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्य-ग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ।

रात्रौ । सर्वौषधस्य । मन्थम् । दधिमधुनोः । उपमथ्य । ज्येष्ठाय । श्रेष्ठाय । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातम् । अवनयेत् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति । क्रियाकलापादृतेऽन्तःकरणस्याशुद्धितया कलुषिता वहुशाखावलम्बिनी बुद्धिर्ब्रह्मदर्शने न क्रमते । अतो विशुद्धेश्वरपरा क्रिया प्राणविज्ञानजिज्ञासुभिःकर्तव्येत्युपदिशति । अथानन्तरं यदि कश्चिज्जिज्ञासुः । महत् महतां महत् ब्रह्म । जिगमिषेत् । गन्तुं प्राप्तुमिच्छेत् । तर्हि स विधास्यमानं कर्म कुर्यात् । अमावस्यायां तिथौ दीक्षित्वा । अद्यारम्य व्रतं चरिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । ब्रह्मणि मनः समाधास्यामि । नानृतमात्मानं करिष्यामि । इत्येवंविधान् नियमान्कृत्वा चतुर्दश वा पञ्चदश दिनानि एतैरेव नियमैः संयमैश्च शान्तं दृढं निश्चितं यापयित्वा । आगामिन्यां पौर्णमास्यां तिथौ रात्रौ । सर्वौषधस्य सर्वेषामौषधानांसमाहारः । सर्वौषधं तस्य । शास्त्र दृष्टानां पुष्टिनीरोगशान्तिकराणां निखिलानां यथाशक्ति समाहृतामौषधानाम् । ओषधीनां मन्थम् । सारम् । मथ्यते । मन्थनव्यापारेण ओषधीभ्यो निःसार्य्यते इति मन्थ ओषधीनां सारः । तम् । दधिमधुनोर्दधिमधुभ्यां सार्धम् । उपमथ्य मिश्रितं कृत्वा । कस्मिंश्चित्पात्रे निधाय । अग्नौ आवसथ्येऽग्नौ । 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेति' पदमुच्चार्य । आज्यस्य आज्यं घृतं मिश्रितम् । हुत्वा । स्रुवसंलग्नमवशेषम् । मन्थे मन्थननामके पात्रे । संपातम् । संस्रवम् । अवनयेत् । अधःपातयेत् । यद्यपि प्रकरणानुरोधेन ज्येष्ठ श्रेष्ठ वसिष्ठ प्रतिष्ठा सम्प्रदायतन शब्दैः प्राणवागादीनां ग्रहणमुपलभ्यते तथापि अर्थवशात् तैः शब्दैर्ब्रह्मैवग्राह्यम् । वयसा गुणैश्च मुख्यतया ब्रह्मण एव ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वञ्च सम्भवति ॥ ४ ॥

अनुवादः—अनन्तर यदि (प्राणवित् पुरुष को) महत् (ब्रह्म) की प्राप्ति की इच्छा हो तो (वक्ष्यमाण कर्म करे) अमावस्या तिथि में दीक्षित हो पूर्णिमा तिथि की रात्रि में सर्वौषध के मन्थ (सार) को दधि मधु से संयुक्त कर उसे किसी पात्र में रख "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" इसे उच्चारण कर घृत को अग्नि में होमे । शेष भाग को मन्थ नाम पात्र में रक्खे ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (यदि) यदि (महत) महान् अर्थात सब से महान् ब्रह्मको (जिगमिषेत्) प्राप्त करने की इच्छा करे तो (अमावस्यायाम्) अमावस्या तिथि को (दीक्षित्वा) दीक्षित होकर (पौर्णमास्याम्) उसी मास की पौर्णमासी तिथि को (रात्रौ) रात्रि में (सर्वौषधस्य) सब प्रकार के शास्त्रविहित ओषधियों के (मन्थम्) सारभाग को (दधिमधुनोः) दधि और मधु के साथ (मन्थम्) मन्थ (उपमथ्य) मिलाकर (ज्येष्ठाय+श्रेष्ठाय+स्वाहा) "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" इतना पढ़कर (अग्नौ)

अग्नि में (आज्यस्य+हुत्वा) घृत का हवन करके (सम्पातम्) स्रुवा लगा हुआ द्रव्य (मन्थे) मन्थ नामक पात्र विशेष में (अवनयेत्) रख देवे ॥ ४ ॥

भाष्याशय:-क्रिया कलाप के विना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती और अशुद्धि के कारण बुद्धि कलुषित और बहुशाखावलम्बिनी हो ब्रह्म-दर्शन में असमर्था हो जाती है । अतः विशुद्ध ब्रह्मपरक क्रिया अवश्य जिज्ञासुओं को करनी चाहिये । (१) महत् शब्द से यहां ईश्वर का ग्रहण है (२) अमावस्या—इस तिथि से लेकर पूर्णिमा पर्य्यन्त अर्थात् १४, १५ दिन यम नियम पालन करते हुए अपने को अखिल असत्य कार्य्य से पृथक् रक्खे (३) सर्वौषध-"दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति । व्रिहियवाः, तिलमाषाः, अणुप्रियङ्गवः, गोधूमाश्च, मसूराश्च, खल्वाश्च, खलकुलाश्च । तान् पिष्टान् दधिनि मधुनि घृत उपसिञ्चाज्यस्य जुहोति । बृ० उ० ६ । ३ । १३ ॥ होम में ये दश प्रकार के ग्राम्य अन्न होते हैं जैसे-व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु, गोधूम, मसूर, खल्व, खलकुल । इन सबों को पीसकर दधिमधु घृत मिला कर होम करे इस के अतिरिक्त अन्य २ रोगविनाशक आदि द्रव्य भी मिश्रित करे ॥ ४ ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । सम्पदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । आयतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् * ॥ ५ ॥

* प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । श्रोत्राय स्वाहा यतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । मनसे स्वाहा प्राजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ २ ॥ अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ

वसिष्ठाय । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातम् । अवनयेत् । प्रतिष्ठायै । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातम् । अवनयेत् । सम्पदे । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातम् । अवनयेत् । आयतनाय । स्वाहा । इति । अग्नौ । आज्यस्य । हुत्वा । मन्थे । सम्पातम् । अवनयेत् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—वसिष्ठायेति । वसिष्ठाय । ब्रह्मैव । सर्वेषामाच्छादकत्वाद् वसिष्ठम् । आधारहेतोः प्रतिष्ठा । परमसुखकारणात् सम्पद् । आश्रयत्वात् आयतनं ब्रह्मैवास्ति । अन्यत् सर्वं समानम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—"वशिष्ठाय स्वाहा" इसे पढ़ अग्नि में घृत की आहुति दे और मन्थ में अवशेष को रक्खे "प्रतिष्ठायै स्वाहा" इसे पढ़ अग्नि में घृत की आहुति दे और मन्थ में अवशेष को रक्खे । "सम्पदे स्वाहा" इसे पढ़ अग्नि में घृत की आहुति देवे और मन्थ में अवशेष को रक्खे "अयतनाय स्वाहा" इसे पढ़ अग्नि में घृत की आहुति देवे और मन्थ में अवशेष को रक्खे ॥ ५ ॥

पदार्थः—इसके सब पद पूर्ववत् ही हैं अतः पदार्थ नहीं लिखे गये ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति * ॥ ६ ॥

हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । भविष्यति स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति । प्रजापत्ये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥ ३ ॥ अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथमसि उद्गीथमानमसि श्रावितमसि पत्याश्रावितमस्यार्द्रे सन्दीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥

* अथैननुद्यच्छत्यामꣳस्यामꣳ हि ते महि सहि राजे शानोऽधिपतिः स माꣳराजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥ ५ ॥

अथ । प्रतिसृप्य । अञ्जलौ । मन्थम् । आधाय । जपति । अमः । नाम । असि । अमा । हि । ते । सर्वम् । इदम् । सः । हि । ज्येष्ठः । श्रेष्ठः । राजा । अधिपतिः । सः । मा । ज्यैष्ठ्यम् । श्रैष्ठ्यम् । राज्यम् । आधिपत्यम् । गमयतु । अहम् । एव । इदम् । सर्वम् । असानि । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्–अथेति । होमसमाप्त्यनन्तरम् । प्रतिसृप्य । अग्निकुण्डात् प्रतिसृप्य किञ्चिद्दूरं निःसृत्य । अञ्जलौ । बद्धकरे । मन्थम् । तं सारं सर्वौषधस्य । आधाय । स्थापयित्वा । ततः प्राणविज्ञानवित् । जपति मनसा भावयेत् । किं जपेदित्याह । हे भगवन् ! त्वम् । अमोनामासि । अतति सातत्येन गच्छति ब्राह्मशक्त्या सततं गमनशीलो भवति यः । सः । अः । अतेर्डः । अः संसारः । ब्रह्माण्डम् । "अ" इति ब्रह्माण्डसंज्ञा । अम् । ब्रह्माण्डम् । माति । निर्मोति । यःसोऽमः । यद्वा मुष्ट्या ब्रह्माण्डं मातीव मानयतीव । यः । सोऽमः । यः खलु सम्पूर्णं ब्रह्माण्डं करामलकवत् परिच्छेदयति सः । नामेति प्रसिद्धम् । ब्रह्माण्डपरिच्छेदकस्त्वमसीति प्रसिद्धमेतच्छास्त्रेषु । हि । यतः । ते तव अमा मानं मा । अस्य ब्रह्माण्डस्य मा इत्यमा । ब्रह्माण्ड परिच्छेदः । ब्रह्माण्डमानम्वा ब्रह्माण्डनिर्माणशक्तिर्वा । अमस्य शक्तिः अमावा । इदं सर्वं विश्वं ते तव अमाशक्तिर्वा कृतिर्वास्ति । स हि अम–नामा पुरुषः । ईश्वरः । ज्येष्ठः । श्रेष्ठः । राजा । अधिपतिश्च । वर्त्तते । हे भगवन् ! यस्त्वं सर्वज्येष्ठत्वादिगुणविशिष्टोऽसि । स भवान् । मा । मामपि ज्यैष्ठ्यम् । ज्येष्ठताम् । श्रैष्ठ्यम् । श्रेष्ठताम् । राज्यम् । आधिपत्यम् । अधीश्वरत्वञ्च । गमयतु । प्रापयतु । अहमेव अहमपि । इदं सर्वम् । असानि । भवानि प्राप्नवानि वा । अयमर्थः । अहमपिज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिश्च एष सर्वो भवानि । ईदृशीमाशिषं मे देहि ॥ ६ ॥

अनुवादः–अनन्तर (अग्निकुण्ड से) कुछ हटकर अञ्जलि में मन्थ को ले यह जपे (ईश्वर से मन में ही प्रार्थना करे) हे भगवन् ! तुम्हारा "अम" नाम है क्योंकि तेरी यह सब अमा शक्ति है । क्योंकि तुम ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा, अधिपति हो । सो तुम मुझको भी ज्येष्ठता श्रेष्ठता राज्य और आधिपत्य की ओर लेचलो (आप की कृपा से) मैं भी वह सब होऊं अर्थात् ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा, अधिपति आदि होऊं ॥ ६ ॥

पदार्थः–अब होम की समाप्ति के अनन्तर (अञ्जलौ) अञ्जलि में (मन्थम्) ओषधि के सार भाग को (आधाय) रखकर (जपति) मन में ही ईश्वर से प्रार्थना, स्तुति, उपासना, ध्यान करे । क्या प्रार्थना करे सो आगे कहते हैं (अमः+नाम+असि) तुम "अम" नाम वाले हो (ही) क्योंकि (इदम्+सर्वम्) यह सब (ते) तेरी (अमा)

जगत् निर्माण अर्थात् निर्माणशक्ति है (हि) क्योंकि (सः) वह तुम ही (ज्येष्ठः+श्रेष्ठः) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो (राजा+अधिपतिः) राजा और अधिपति हो (सः) वह तुम (मा) मुझ को भी (ज्यैष्ठ्यम्) ज्येष्ठता (श्रैष्ठ्यम्) श्रेष्ठता (राज्यम्) राज्य (आधिपत्यम्) आधिपत्य (गमय) दो (अहम्+एव) मैं भी आप की कृपा से (इदम्+सर्वम्) यह सब (असानि) होऊं वा इनको पाऊं अर्थात् मैं भी ज्येष्ठ श्रेष्ठ राजा और अधिपति बनूं (इति) यह आप से प्रार्थना है ॥ ६ ॥

भाष्याशयः-अम-जो चलता रहे अर्थात् ईश्वरीय शक्ति के द्वारा जो प्रतिक्षण गमनशील हो उसे "अ" कहते हैं अर्थात् यह सम्पूर्ण संसार । संसार शब्द का भी यही अर्थ है क्या पृथिवी क्या सूर्य्य क्या चन्द्र क्या नक्षत्र सब पदार्थ ही चल रहे हैं क्योंकि आकाश में निरवलम्ब कोई पदार्थ स्थिर नहीं रह सकता एक दूसरे के आश्रय से पदार्थ चलता हुआ वा घूमता हुआ वा परिक्रमा करता हुआ वरतता है । कोई स्थिर नहीं अतः ब्रह्माण्ड का नाम "अ" है (अतधातु) और "म" कहते हैं निर्माता=निर्माण करने वाले को अर्थात् "अ" जो संसार उस को "म" निर्माण करने वाला जगत् रचयिता० । यद्वा "म" का अर्थ माप करनेवाला भी है जैसे कोई वस्तु को हाथ में रख मुष्टि से नाप करे तद्वत् इस संसार को मानो ईश्वर अपनी मुष्टि से नाप करते हैं । अर्थात् जिसकी एक मुट्ठी भर भी संसार नही है अतः ईश्वर अम है । (अमा) जगन्निर्माण की शक्ति को अमा कहते हैं । अथवा अम की शक्ति को "अमा" स्त्रीलिङ्ग में कहते हैं इत्यादि ॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति "तत्सवितुर्वृणीमह" इत्याचामति । "वयं देवस्य भोजन"मित्याचामति "श्रेष्ठꣳ सर्वधातम"मित्याचामति । "तुरं भगस्य धीमही"ति सर्वं पिबति ॥ * ॥ ७ ॥

---

*अथैनमाचामति । तत्सवितुर्वरेण्यं मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहा । भर्गो देवस्य धीमहि मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधुद्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा । धियो यो नः प्रचोदयान्मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ अस्तु सूर्य्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य ॥

अथ । खलु । एतया । ऋचा । पच्छः । आचामति । तत् । सवितुः । वृणीमहे । इति । आचामति । वयम् । देवस्य । भोजनम् । इति । आचामति । श्रेष्ठम् । सर्वधातमम् । इति । आचामति । तुरम् । भगस्य । धीमहि । इति । सर्वम् । पिबति ॥ ७ ॥

भाष्यम्-अथेति । पूर्वप्रार्थनानन्तरम् । एतया वक्ष्यमाणयाऋचा मन्त्रेण । पच्छः पादश एकैकेन पादेन आचामति । एकैकंपादं पठित्वा । तं मन्थमाचामेत् । का सा ऋक् । कतमः स पादश्चेत्याह । "तत्सवितुर्वृणीमहे" इति पठित्वाचामति । प्रथमम् । आचामेत् "वयं देवस्य भोजनम्" इति पठित्वा द्वितीयमाचमनमाचामति "श्रेष्ठं सर्वधातमम्" इति पठित्वा तृतीयमाचमनमाचामति "तुरं भगस्य धीमहि" इति पठित्वा सर्वं । मन्थं । पिबति । सम्पूर्णोय-मृग्ः—

तत्सवितुर्वृणीमहे । वयंदेवस्य भोजनम् ॥
श्रेष्ठं सर्वधातमम् । तुरं भगस्य धीमहि ॥ ऋ० ५ । ८२ ॥ १ ॥

अस्या ऋचोऽर्थः । वयं मनुष्याः । सवितुर्ब्रह्माण्डस्य प्रसवितुर्जनयितुः । देवस्य जगद्-द्योतनस्य ब्रह्मणः सकाशात् । तद् भोजनमन्नम् । वृणीमहे याचेमहि प्रार्थयेमहि । किंतद् भोजनम् । श्रेष्ठमत्युत्तमम् । पुनः कीदृशम् । सर्वधातमम् । सर्वं दधातीति सर्वधा अतिशयितं सर्वधा इति सर्वधातमम् । सर्वधनसम्पन्नम् । तन्न केवलं वयं भोजनमेव वृणीमहे किन्तु । भगस्यभजनीयस्य सेवनीयस्य तस्य ब्रह्मणः । तुरम् तूर्णम् । सर्वथा व्यापकं तेजइति वाक्यशेषः । धीमहि । ध्यायेम । कथंभूतं तुरं । श्रेष्ठम् । पुनः सर्वधातमम् । एतद्विशेषणद्वयमुभयत्र संयोज्यम् ॥ ७ ॥

अनुवादः-अनन्तर इस ऋचा के एक एक पाद से आचमन करे "तत्सवितुर्वृणीमहे" इस पाद से प्रथम आचमन करे "वयं देवस्य भोजनम्" इस से द्वितीय आचमन करे "श्रेष्ठं-सर्वधातमम्" इससे तृतीय आचमन करे "तुरं भगस्य धीमहि" इससे सब पीवे ॥ ७ ॥

पदार्थः-(अथ) प्रार्थना के अनन्तर (एतया) इस वक्ष्यमाण (ऋचा) मन्त्र से (खलु) विधिपूर्वक (पच्छः) एक एक पाद से अर्थात् मन्त्र के एक एक चरण को पढ़ कर और उसके द्वारा ईश्वर से प्रार्थना करता हुआ (आचामति) आचमन करे आगे सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ लिखते हैं । सम्पूर्ण मन्त्र का पाठ भाष्य में लिखा है (वयम्) हम उपासक मनुष्यगण (सवितुः) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के उत्पादक (देवस्य) और प्रकाशक महादेव ब्रह्म से (तत्+भोजनम्) उस अन्न को (वृणीमहे) मांगें । ईश्वर से अन्न के

लिये प्रार्थना करें । कैसा है अन्न सो आगे कहते हैं (श्रेष्ठम्) सर्वोत्तम । फिर वह अन्न कैसा है (सर्वधातमम्) सब सुवर्ण, रजत, ब्रीहि, पशु, पुत्र, कलत्रादि सम्पत्तियों सहित जो अन्न उसे मांगें । केवल अन्न ही नहीं मांगें किन्तु (तुरम्) सर्वत्र व्यापनशील उसके तेज का भी (धीमहि) ध्यान करें श्रेष्ठ और सर्वधातम ये दोनों विशेषण "तुर" का भी हो सकता है अर्थ पूर्ववत् ही होगा । सम्पूर्ण सुख के धारण करने वाले को सर्वधातम कहते हैं ॥ ७ ॥

निर्णिज्यकꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा । वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात् * ॥ ८ ॥

निर्णिज्य । कंसम् । चमसम् । वा । पश्चात् । अग्नेः । संविशति । चर्मणि । वा । स्थण्डिले । वा । वाचंयमः । अप्रसाहः । सः । यदि । स्त्रियम् । पश्येत् । समृद्धम् । कर्म । इति । विद्यात् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—निर्णिज्येति । सर्वौषधमन्थपानानन्तरम् । कंसं कंसनामकं कंसाकारं वा । चमसं चमसनामकं चमसाकारम्वा औदुम्बरं पात्रम् । येन पात्रेण मन्थोपीतस्तत्पात्रमिति यावत् "चतुरौदुम्बरो भवति । औदुम्बरः स्रुवः । औदुम्बरश्चमसः । औदुम्बरइध्मः । औदुम्बर्य्यौ उपमन्थन्यौ" इति बृहदारण्यकप्रामाण्यादौदुम्बरं पात्रं ग्राह्यम् । निर्णिज्य जलादिभिः प्रक्षाल्य । शुद्ध्यर्थमिदमुक्तम् । अन्यान्यपि उच्छिष्टानि पात्राणि प्रक्षाल्य । वाचंयमः वाचं वाणीं यच्छति नियच्छति मौनमवलम्बते यः स वाचंयमः । वाग्यतः सः । अप्रसाहः । न प्रसह्यते नाभिभूयते स्त्र्यादिप्रलोभनैर्यः सोऽप्रसाहः संयतचित्तो वशीकृतेन्द्रियश्चेत्यर्थः । ईदृग्भूत्वा । अग्नेरग्निकुण्डस्य पश्चात् । चर्मणि मृगादीनां चर्मणि वा । स्थण्डिले वा केवलायां भूमौ वा । सम्यग् विधिवदुपविश्य । संविशति सम्यक् प्रविशति । कुत्र ? । ब्रह्म प्रविशति । समनस्कैः सर्वैरिन्द्रियैर्ब्रह्मप्रविशेदित्यर्थः । संविशति शेते । इति प्रामादिकोऽर्थो न ग्राह्यः । सर्वाणीन्द्रियाणि वशीकृत्य अग्निकुण्डस्य समीपे आसने वा भूमौ वोपविश्य ब्रह्म चिन्तयेदित्यर्थः । ब्रह्म प्रविष्टः सन् स उपासकः । यदि स्त्रियं पश्येत् । ब्रह्मशक्तिम् । ब्रह्मविभूतिम् । पश्येत् विजानीयात् । ब्रह्मविभूतिं । विज्ञातुं यदि शक्नुयात् । तर्हि । कर्म्म । यत्कर्म्म पूर्वमाचरितम् । तत् समृद्धम् । सफलीभूतमिति विद्यात् । जानीयात् । यदि ब्रह्मशक्तिं

* जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति ॥ ६ ॥

विज्ञातुमसमर्थःस्यात्तर्हि तत्कर्मापि निष्फलीभूतमिति विज्ञेयम् । कर्म्मण इदमेव फलं यदन्तः-करणशुद्धिस्तत ईश्वरविभूत्यवलोकनम् । तन्न जातं चेदलं कर्म्मणा । स्त्रीशब्देन ब्रह्मशक्तिरेव ग्राह्या न लौकिकी स्त्री ॥ ८ ॥

अनुवादः—कंस वा चमस नामक वा कंसाकार और चमसाकार पात्र को धोय, अग्नि के पश्चिम भाग में चर्म वा स्थण्डिलपर बैठ, वाचंयमी (मौनव्रतधारी) और अप्रसाह (कामादियों से अजेय वशीकृतेन्द्रिय) हो सब प्रकार से ब्रह्म में प्रवेश करे । अनन्तर यदि ब्रह्मशक्ति (ब्रह्मविभूति) को अनुभव करसके तो कर्म्म सफल हुआ ऐसा जाने ॥ ८ ॥

पदार्थः—(कंसम्) कंस नामक पात्रको वा कंसाकार पात्र को (वा) अथवा (चमसम्) चमस नामक पात्रको वा चमसाकार पात्र को अर्थात् जिस पात्र से मन्थ को पिया हो उस पात्रको । यह केवल शुद्धि के लिये कहा गया है अन्य भी अशुद्धपात्र हों तो उन्हें भी (निर्णिज्य) धोकर (अग्नेः) अग्निके (पश्चात्) पश्चिम भाग में (चर्म्मणि) शुद्ध मृग चर्मपर (वा) अथवा (स्थण्डिले) केवल पृथिवी पर ही विधिपूर्वक बैठकर (वाचंयमः) वाणी को संयम करता हुआ और (अप्रसाहः) काम क्रोधादिकों से अभिभूत न होता हुआ (संविशति) सब प्रकार से अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को मनके सहित वशकर उनके साथ ब्रह्म में प्रवेश करे । तत्पश्चात् (यदि) यदि (स्त्रियम्) ईश्वर-शक्ति को अर्थात् ईश्वर की परमविभूति को (पश्येत्) विचार से जान सके तो (कर्म्म) पूर्वोक्त कर्म को (समृद्धम्) सफलीभूत (इति) हुआ ऐसा (विद्यात्) जाने । यदि ब्रह्म में प्रवेश करने पर भी ईश्वर विभूति समझने में न आवे तो कर्म को निष्फल ही समझे क्योंकि कर्म्म के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि । उससे ब्रह्मदर्शन । सो यदि न हो सका तो कर्म्म करना व्यर्थ ही है यहां स्त्री शब्द का अर्थ ब्रह्मशक्ति है । लौकिकी स्त्री नहीं ॥ ८ ॥

तदेषश्लोको—यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्न निदर्शने । तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ ९ ॥

तत् । एषः । श्लोकः । यदा । कर्मसु । काम्येषु । स्त्रियम् । स्वप्नेषु । पश्यति । समृद्धिम् । तत्र । जानीयात् । तस्मिन् । स्वप्ननिदर्शने । तस्मिन् । स्वप्ननिदर्शने ॥ ९ ॥

भाष्यम्-तदिति । तत् । तस्मिन्नर्थे । एषः अयम् । श्लोको वर्तते । यथा । यदा । काम्येषु । इच्छायुक्तेषु अनेन कर्मणाममेदं फलं भवतु इत्येवंविधमनोरथयुक्तेषु कर्मसु विधिवदनुष्ठितेषु सत्सु । स्वप्नेषु सुदृढतर=ध्यानावस्थासु । स्वप्नधीगम्य इत्यादिनिर्देशात् स्वप्नोऽत्र ध्यानावस्था । नतु शयनम् । स्त्रियं ब्रह्मशक्तिम् । ब्रह्मपरमविभूतिम् । पश्यति । विजानाति । विजानीयाद् । तर्हि । तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने समाधिविज्ञानदर्शने तत्र समृद्धिं प्रवृद्धिं । उत्तरोत्तरं समुन्नतिं जानीयात् । द्विरुक्तिः कर्मसमाप्त्यर्था ॥ ८ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवादः-इस विषय में यह एक श्लोक है काम्य कर्म्मों के अच्छे प्रकार अनुष्ठित होजाने पर सुदृढतर ध्यानावस्था में यदि ब्रह्मशक्ति को जाने तब उन कर्मों से उस ध्यानावस्था के द्वारा समृद्धि होगी ऐसा समझें ॥ ८ ॥

पदार्थः-(तत्) पूर्व कथित विषय में (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक है (यदा) जब (काम्येषु) इस कर्म से यह मनोरथ सिद्ध हो इस प्रकार के काम=मनोरथों से युक्त (कर्मसु) कर्म्मों के अच्छे प्रकार अनुष्ठान के पीछे (स्वप्नेषु) सुदृढतर समाधि की अवस्था में यदि (स्त्रियम्) ब्रह्मशक्ति अर्थात् ब्रह्म की परमविभूति को (पश्यति) जाने वा जानसके तो (तत्र) उस कर्म में (तस्मिन्+स्वप्ननिदर्शने) उस समाधिनिमित्त (समृद्धिम्) समृद्धि को (जानीयात्) समझे "तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने" इसका दोवार पाठ उपासना वा कर्म की समाप्तिका सूचक है यहां स्वप्न शब्द समाधिवाचक है । क्योंकि " स्वप्नधीगम्य " इत्यादि प्रयोग में स्वप्नका अर्थ समाधि ही होता है ॥ ८ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाᳬसमितिमेयाय । तᳬह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव ! इति * ॥ १ ॥

* "श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम । स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणम् । तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार ३ इति सभोः ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच" । बृ० ६ । २ । १ ॥ अर्थात् (ह) एक समय (आरुणेयः+श्वेतकेतुः) आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु (पञ्चालानाम्+परिषदम्+आजगाम) पञ्चाल देश की सभा में आया । वहां से (परिचारयमाणम्) भृत्यादिकों से सेव्यमान पञ्चालाधिपति

श्वेतकेतुः । ह । आरुणेयः । पञ्चालानाम् । समितिम् । एयाय । तम् । ह । प्रवाहणः जैवलिः । उवाच । कुमार । अनु । त्वा । अशिषत् । पिता । इति । अनु । हि । भगवः । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–श्वेतकेतुरिति अरुणस्यापत्यमारुणिः । आरुणेरपत्यमारुणेयः । आरुणेः कस्यचिद्दषेः पुत्र इति यावत् । यद्यप्यरुणोऽनेकार्थः । तथापि बाहुल्येनैपदृक्ते प्रसिद्धः । पुरा ईपदृक्तो-वंशोऽरुण इति नाम्ना विख्यात आसीत् । सम्प्रति तस्य वंशस्य नाम न श्रूयते । श्वेतकेतुः । श्वेत उज्ज्वलः केतुर्ज्ञानं यस्य सः । विमलबोध इत्यर्थः । अत्र श्वेतकेतुरितिकस्यचिन्नामविशेषः । हेतिपुरावृत्तसूचकः । पञ्चालानां पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । तेषाम् । पञ्चालजनपदानामित्यर्थः । समितिंसभाम् । सम्यक् परितोजना यन्ति यां सा समितिः । यद्वा । इतिर्गमनम् । सम्यक् सम्यवेपेण इतिर्गमनं यत्र सा । यद्वा । मितिर्मानम् । तुलया वस्तूनामुत्तोलनं मानम् । तेनात्र न्यायः परीक्षाचगम्यते । मित्यामानेन न्यायेन परीक्षायाच्च सह विद्यते या सा समितिः । यत्र सर्वेषां परीक्षा भवतीत्यर्थः । यद्वा । मितिर्मानं संमानम् । यत्र सर्वे सम्मानमर्हन्ति सा । यद्वा । इति समाप्तिः । तेन सम्यक् साधुतया सर्वेषां व्यवहाराणां निर्णयेण इति समाप्तिर्भवति यत्र सा समितिः । ईदृशीं पञ्चालानां सभां स श्वेतकेतुः । एयाय । आजगाम । ततस्तमागतं वीक्ष्य जैवलिः । जीवतीति जीव आत्मा । जीवाय कर्मफलं लाति ददातीति जीवलः ईश्वरः । अत्र कस्यचिन्नृपस्य नामधेयम् । जीवलस्यापत्यं जैवलिः । प्रवाहणः । वहन्तीति वाहना अश्वादयः । प्रकृष्टा वाहना यस्य स प्रवाहणः । यद्वा । वहन्ति ज्ञानं प्रापयन्तीति वाहनानि ज्ञानेन्द्रियाणि । श्रुतिपरिशीलनेन प्रकृष्टानि जातानि वाहनानि ज्ञानेन्द्रियाणि यस्य स प्रवाहणः । ज्ञानवानित्यर्थः । हेतीतिहासादिषु प्रसिद्धः । स जैवलिः प्रवाहणो राजा । त श्वेतकेतुमुवाचापृच्छत् । हे कुमार ! क्रीडाशील ! इदानीं त्वं कुमार

(जैवलिम्+प्रवाहणम्) जैवलि प्रवाहण नाम के राजा के निकट (सः+आजगाम) वह श्वेतकेतु आया (तम्+उद्वीक्ष्य) उसको देख राजा ने (कुमार३+इति) ऐ कुमार! कहकर (अभ्युवाद) पुकारा (सः) तब श्वेतकेतु ने (भोः+इति) जी क्या है (इति+प्रति+शुश्राव) ऐसा उत्तर दिया। तब राजा ने पूछा कि हे कुमार! (पित्रा) पिता से (अनुशिष्टः+अन्वसि) शिक्षित हुए हो? पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है (इति) तब श्वेतकेतु ने (ओम्+इति+ह+उवाच) जी, मुझे पिता ने शिक्षा दी है। ऐसा उत्तर दिया।

एवासि न ब्रह्मवित्संवृत्तः । तव मनसि ब्रह्मवित्त्वाभिमानस्त्वभिमान एव । इति कुमार सम्बोधनेन ध्वन्यते । कच्चित् हे कुमार ! त्वा त्वाम् । पिता अन्वशिषत् । अनुशिष्टवान् उपदिष्टवानस्ति । इति नृपस्य प्रश्नः । ततः हे भगवः । भगवन् राजन् ! हि निश्चयेन मम पिता । माम् । अनु+अशिषत् । अन्वशिषत् । अशिषत् । पदमध्याहार्यम् । इति कुमारस्य प्रतिवचनम् । पित्राऽहमनुशिष्टोऽस्मि । यदि भवतः किमपि प्रष्टव्यमस्ति तर्हि पृच्छयतामिति ॥ १ ॥

अनुवादः—एक समय आरुणेय श्वेतकेतु कोई (ऋषिकुमार) पञ्चालदेशीय सभा में आये । जैवलि प्रवाहण राजा ने इसे पूछा कि हे कुमार ! पिता ने आप को सिखलाया है ? हां हे भगवन् राजन् ! पिता ने मुझे शिक्षा दी है (कुमार ने ऐसा उत्तर दिया ॥ १ ॥

पदार्थः–(ह) यह शब्द इतिहाससूचक है अर्थात् यहां इतिहास कहा जाता है । (आरुणेयः) आरुणि ऋषि का पुत्र (श्वेतकेतुः) श्वेतकेतु नामक ऋषि कुमार (पञ्चालानाम्) पञ्चाल देश की (समितिम्) सभा में (एयाय) आए । तब (तम्) उस आये हुए कुमार से (जैवलिः प्रवाहणः) जैवलि प्रवाहण राजा ने (उवाच) पूछा (कुमार) हे कुमार ! (त्वा) आप को (पिता) पिता ने (अनु+अशिषत्) अनुशासन दिया है अर्थात् आप को पिता ने कुछ शिक्षा दी है (इति) इस प्रश्न की समाप्ति होने पर वह कुमार बोला (भगवः) हे भगवन् राजन् ! (अनु+हि) पिता ने मुझ को शिक्षा दी है । इति ॥ १ ॥

भाष्याशयः–(१) आरुणेय–अरुणिका सन्तान आरुणि । आरुणि का अपत्य (पुत्र) आरुणेय । संस्कृत भाषा में अरुण शब्द अनेकार्थक है । परन्तु ईषद्रक्तका नाम अरुण प्रसिद्ध है । प्राचीनकाल में जिन भारतवासियों का शरीर ईषद्रक्त किञ्चिद्लाल वर्ण हुआ करता था वह अरुणवंश नाम से प्रसिद्ध था । आजकल इस वंश का पता नहीं है । (२) श्वेतकेतु–श्वेतनाम=उज्ज्वल, सफेद, साफ, निर्मल । केतु नाम=ज्ञान, बोध आदि जिसका बोध निर्मल हो उसे श्वेतकेतु कहते हैं । केतु शब्द का अर्थ ध्वजा भी होता है । जिसका ध्वजा (ध्वजापताका) श्वेत (उज्ज्वल) हो उसे भी श्वेतकेतु कहते हैं परन्तु यहां यह अर्थ करना ठीक नहीं । (३) समिति–सभा । समिति शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है (सम्यग् यन्ति याम्) जिस स्थान में चारों ओर से मनुष्य आकर बैठें उसे समिति कहना चाहिये । यद्वा (सम्यक् साधु वेषेण इतिर्गमनं यस्यां सा) जिस स्थान में साधु वेष बनाकर जाता हो । आज कल भी लोग सजधज के ही सभा में

जाया करते हैं । यद्वा (स+मिति । मिति=मान=तोलन) जो स्थान जांच के लिये हो अर्थात् (मित्या सह वर्तते) न्याय से सकल पदार्थों की परीक्षा होती है जिस स्थान में वह समिति । यद्वा (सम्+इति) इति नाम है समाप्ति का । जहां राजकीय धार्म्मिक पुरुष बैठकर सकल व्यवहारों की न्याय के द्वारा समाप्ति करते हों । यद्वा जो सम्मान का स्थान हो । जहां पर सबों को सम्मान मिले । इत्यादि अनेक अर्थ समिति शब्द से निकलते हैं । इस शब्द से विशेष कर हम लोगों की एक प्राचीन रीति मालूम होती है कि पुराकाल में एक सभा बनी रहती थी जहां पर विद्वानों की परीक्षा वा सम्मान हुआ करता था । उसमें अच्छे२ लोग इकट्ठे हुआ करते थे इत्यादि । (४) प्रवाहण (प्र=उत्कृष्ट) (वाहन=हय, गज आदि) जिसके अच्छे वाहन हों । यद्वा विषयों के लानेवाले जो ज्ञानेन्द्रिय वे ही यहां वाहन हैं, शास्त्र के अभ्यासादि क्रिया से जिनके वाहनरूप ज्ञानेन्द्रिय प्रकृष्ट होगये हैं उन्हें भी प्रवाहण कहना चाहिये । जिस कारण यह राजा यथार्थ में ज्ञानी था इसकी चर्चा पूर्व में भी आई है । जिस प्रसंग से विदित होता है कि सुबोधवान् था । अतः प्रवाहण इसका नाम अन्वर्थ ही है । (५) जैवलि । जीवल के अपत्य का नाम संस्कृत में जैवलि होता है और जीवल उसे कहते हैं जो कर्म के अनुसार सकल जीवों को कर्म फल देवे अर्थात् ईश्वर । परन्तु यहां एक राजा का नाम है । यद्वा जीव जो प्राणीमात्र में है । जीवों के भरण पोषण में ही जो अपने जीवन के सम्पूर्ण भाग को लय (नाश) करता हो । अर्थात् प्रजा का पोषण जिसके जीवन का मुख्य उद्देश हो उसे जीवल कहना चाहिये । (६) कुमार-श्वेतकेतु को अपनी विद्या का बड़ा अहङ्कार था, परन्तु यथार्थ में वह उतना विद्वान् नहीं था । राजा ने उसके गर्व को दूर करने के वास्ते प्रथम कुमारपद से सम्बोधन किया । अर्थात् जैसे मानो वह अभी बालक ही हो परिपक्व विद्वान् न हुआ हो (कुमार क्रीड़ायाम् । कुमार=खेलना) उस वयःक्रम तक बालक को कुमार कहना चाहिये जबतक उसके शरीर वा मन से निरर्थक क्रीड़ाशीलता न गई हो । कुमार का अन्य अर्थ भी लोग करते हैं कुत्सिता मारो कामो यस्य इत्यादि जब तक विवाहसंस्कार नहीं होता है तब तक लड़के को प्रायः कुमार वा कुँवारा कहते हैं ऐसा व्यवहार अभी तक है । इत्यादि अनुसन्धान करना ॥

वेत्थ यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति ? (१) न भगव ! इति । वेत्थ यथा पुनरावर्त्तन्ता३इति ? (२) न भगव ! इति ।

वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्त्तना३ इति ? (३) न भगव ! इति* ॥ २ ॥

वेत्थ । यद् । इतः । अधि । प्रजाः । प्रयन्ति । इति । न । भगवः । इति । वेत्थ । यथा । पुनः । आवर्त्तन्ते । इति । न । भगवः । इति । वेत्थ । पथोः । देवयानस्य । पितृयाणस्य । च । व्यावर्त्तना । इति । न । भगवः । इति ॥ २ ॥

* वेत्थो यथेमाः प्रजाः प्रयन्त्यो विप्रतिपद्यन्ता३ इति ? (१) नेति होवाच । वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति ? (२) नेति होवाच । (वेत्थो यथेमं लोकं पुनः सम्पद्यन्ता ३ इति ? नेति होवाच) वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न सम्पूर्यता३ इति ? (३) नेति होवाच । वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याᳪहुतायामापः पुरुषवाचोभूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति ? (४) नेति होवाच । वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम् । द्वे सृती अशृणवम् पितृणामहं देवानामुतमर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्चेति नाहमतएकञ्चन वेदेति होवाच ॥ बृ० उ० ६ । २ । २ ॥

अर्थः—राजा पूछता है (वेत्थ+उ) क्या तुम जानते हो कि (यथा) जैसे (इमाः+प्रजाः) ये प्रजाएं (प्रयन्त्यः) एक ही मार्ग से जाती हुई (विप्रति पद्यन्ता३ इति) पृथक् २ हो जाती हैं ? (१) (नेति+होवाच) श्वेतकेतु—मैं नहीं जानता हूं ! राजा (वेत्थ+उ) जानते हो कि (यथा + इमम् + लोकम्) जैसे इस लोक को (पुनः + आपद्यन्ता३ इति) पुनः लौट आ जाती हैं ? (२) (न+इति+ह+उवाच) श्वेतकेतु—नहीं । "वेत्थो यथेमं लोकं पुनः सम्पद्यन्ता३इति" इतना वाक्य किसी २ पुस्तक में नहीं है । और जहां है भी वहां द्वितीय प्रश्न का ही अनुवाद समझा जाता भिन्न प्रश्न नहीं । क्योंकि द्वितीय प्रश्न के अर्थ के समान ही इसका भी अर्थ है और यदि यह भिन्न प्रश्न मानाजाय तो छः प्रश्न होजावेंगे परन्तु पांच ही होने चाहियें । राजा-(वेत्थ+उ) क्या जानते हो कि (एवम्+बहुभिः+पुनः पुनः प्रयद्भिः) मरने के अनन्तर पुनः पुनः इस प्रकार जाते हुए जीवों से (यथा) जैसे (असौ+लोकः) वह लोक (न+सम्पूर्यता३ इति) नहीं पूर्ण होता है ? (३) श्वेतकतु—(नेति०) नहीं । राजा-(वेत्थ+उ) क्या जानते हो (यतिथ्याम्+आहुत्याम्+हुतायाम्) जिस आहुति के होम ने पर (आपः) जल (पुरुषवाचः) पुरुष नामधारी (भूत्वा) होकर (समुत्थाय) और उठकर (वदन्ती३इति) भाषण करता है ? (४) श्वेतकेतु—(नेति०) नहीं "विप्रपद्यन्ता३" इत्यादि में प्लुतविधान विचार के लिये है । राजा—(वेत्थ+उ) क्या जानते हो ? (देवयानस्य+वा) देवयान

भाष्यम्—वेत्थेति । हे कुमार ! यदि त्वं पित्रानुशिष्टोऽसि। अधीतञ्चसमर्थ्यते । तर्हीमान् मयोच्यमानान् प्रश्नान् कदाचित्त्वं समाधास्यसि । अतस्त्वां कतिपयान् प्रश्नान् विपृच्छिषामि । प्रथमः प्रश्नः । इतोऽस्मात् स्थानान्मरणादनन्तरमित्यर्थः । अधि । ऊर्ध्वोर्ध्वं । इमाः प्रजा यत्रयत्रस्थानम्वा । प्रयन्ति गच्छन्ति । यत्स्थानं प्राप्नुवन्ति तत्स्थानं कच्चित्त्वं वेत्थ जानीषे । तर्हि वद । इति राजोक्तं श्रुत्वा श्वेतकेतुराह । भगवः । भगवन् राजन् ! यत्त्वं पृच्छसि । तदहं न जाने इति । पुनः राजा द्वितीयं प्रश्नं पृच्छति । हे कुमार ! यथा येन प्रकारेण इमाः प्रजाः पुनः आवर्त्तन्ते तस्मात्स्थानात् पुनः निवर्त्तन्ते । कर्म्मफलं भुक्त्वा क्षीणे तस्मिन् पुनरत्रैवागच्छन्ति इति त्वं वेत्थ जानीषे कच्चित् । तर्हि वद । श्वेतकेतुराह भगवः । भगवन् ! नाहं तज्जानामि । पुनाराजाह तृतीयं प्रश्नम् । देवयानस्य च पितृयाणस्य । पथोर्मार्गयोः । व्यावर्त्तना । व्यावर्त्तनं । सह गच्छतां जनानाम् इतरेतरवियोगस्थानं यदस्ति तत् किं त्वं वेत्थ जानीषे । प्रथमं समानेन मार्गेणैतो गच्छन्ति पश्चात् मार्गद्वयं भवति । पुण्यवतामन्यः । पापिनामन्यः । यस्मात्स्थानान्मार्गभिन्नता भवति किं तत्त्वं जानीषे इति प्रश्नः । श्वेतकेतुराह । हे भगवः ! भगवन् नाहं वेद्मि ॥ २ ॥

अनुवादः—हे कुमार ! यहां से प्रजाएं ऊपर जहाँ जाती हैं उसे क्या आप जानते हैं ? हे भगवन् राजन् ! (मैं नहीं जानता) (ये प्रजाएं) जैसे पुनः लौट आती हैं सो

और (पितृयाणस्य+वा) पितृयाण के (प्रतिपदम्) मार्ग को (यत्+कृत्वा) जिस कर्म को करके (देवयानम्+पन्थानम्+पितृयाणम्+वा) देवयान वा पितृयाण मार्ग को (प्रतिपद्यन्ते) पाते हैं । यह पञ्चम प्रश्न है । (५) आगे देवयान और पितृयाण के विषय में वेद का प्रमाण देते हैं हे कुमार ! (अपि) क्या तुमने (ऋषेः) वेद वा ईश के (वचः) वचन को (न+श्रुतम्+हि) नहीं सुना है । ५६ वेद का मन्त्र कौन है सो कहते हैं । "द्वे सृती" इत्यादि (अहम्) मैंने (पितॄणाम्) पितरों (उत) और (देवानाम्) देवों के (द्वे+सृती) दो मार्ग (अशृणवम्) सुने हैं जो दोनों मार्ग (मर्त्यानाम्) मनुष्यसम्बन्धी हैं अर्थात् जिन दोनों मार्गों से (इदम्+विश्वम्) यह सम्पूर्ण विश्वस्थ प्राणी (एजत्) चलता हुआ (समेति) अच्छे प्रकार इकट्ठा होता है (यत्) जो दोनों मार्ग (पितरम्) द्युलोक और (मातरम्) पृथिवी (अन्तरा) मध्य में है अर्थात् ये दोनों मार्ग कहीं दूर नहीं हैं किन्तु इसी लोक में है । दोनों उपनिषदों के प्रश्न में भेद नहीं है किन्तु प्रश्न के क्रममें अवश्य भेद है इति ॥

आप जानते हैं । हे भगवन् ! (राजन्) नहीं । देवयान और पितृयाण मार्गों का वियोग स्थान जानते हैं । हे भगवन् ! (न) मैं नहीं जानता ॥ २ ॥

पदार्थः—जब श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि मुझको पिताने शिक्षा दी है तब राजाने कहा कि यदि आपको पिताने शिक्षा दी है और यदि आप को वे स्मरण भी हैं तो मेरे प्रश्नों का समाधान आप अवश्य करेंगे । इस हेतु आपसे कतिपय प्रश्न पूछना चाहता हूं आप कृपया समाधान करें । (इतः) इस लोक से अर्थात् मरण के अनन्तर (प्रजाः) ये सब जीव (अधि) ऊपर २ (यत्) जिस स्थान को (प्रयन्ति) जाते हैं (इतिवेत्थ) इसको आप जानते हैं ? श्वेतकेतु कहते हैं कि (भगवः) हे प्रशंसनीय राजन् (न+इति) नहीं जानता हूं । हे राजन् जो प्रश्न आप पूछते हैं मैं उसका उत्तर नहीं जानता हूं । पुनः राजा पूछते हैं (यथा) जैसे जिस प्रकार कर्म फल की समाप्ति होने से वे प्रजाएं (पुनः) फिर (आवर्त्तन्ते) लौट आती हैं (इति+वेत्थ) क्या आप इसको जानते हैं । श्वेतकेतु—(न+भगवः+इति) हे प्रशंसनीय राजन् ! मैं आपके इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं जानता हूं । पुनः राजा तृतीय प्रश्न पूछते हैं (देवयानस्य+पितृयाणस्य च) देवयान और पितृयाण (पथोः) मर्गों के (व्यावर्त्तना) व्यावर्त्तन अर्थात् यहां से मरकर मनुष्य कुछ दूर तक एक ही मार्ग से जाते हैं पश्चात् दो मार्ग हो जाते हैं । देवयान का अन्य और पितृयाण का दूसरा मार्ग होजाता है । सो राजा पूछते हैं कि किस स्थान से इन दोनों मार्गों की पृथक्ता होती है । इसका भी तात्पर्य यह है कि मरने के पीछे कुछ काल सब जीवों की एकसी अवस्था हो जाती है पश्चात् कर्म्मानुसार पृथक् पृथक् स्थान वा योनि में जाते हैं इस प्रश्न के उत्तर में भी (भगवः+इति) हे भगवन् ! मैं नहीं जानता हूं ऐसा उत्तर श्वेतकेतु देते हैं । २ ॥

वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यता३इति ? (४) न भगव ! इति । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति ? (५) नैवभगव ! इति ॥ ३ ॥

वेत्थ । यथा । असौ । लोकः । न । सम्पूर्य्यते । इति । न । भगवः । इति । वेत्थ । यथा । पञ्चम्याम् । आहुतौ । आपः । पुरुषवचसः । भवन्ति । इति । न । एव । भगवः । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—राजा पुनश्चतुर्थं प्रश्नं पृच्छति । असौ लोकः । यं लोकं मृत्वा प्रजाः गच्छन्ति । स लोकः । यथा येनप्रकारेण न सम्पूर्यते । तत्र गतैरनन्तजीवैर्न पूर्णो

भवति इति त्वं कच्चिज्जानीषे । श्वेतकेतुराह न भगव इति । नाहं वेद्मि राजन् ! पुनरपि राजा जिज्ञासते । यथा येन कारणेन पञ्चम्यामाहुतौ । पञ्चमे होमे । आपो जलानि । पुरुषवचसः । पुरुषवाचिन्यो भवन्ति । इति कच्चित्त्वं वेत्थ जानीषे । श्वेतकेतुराह न भगव इति ॥ ३ ॥

अनुवाद:—जिस कारण यह लोक नहीं भरजाता है क्या इसको आप जानते हैं ? हे भगवन् ! नहीं । जिस कारण पांचवीं आहुति में जल पुरुषवाची होता है क्या इसे आप जानते हैं ?, हे भगवन् ! (मैं नहीं जानता) ॥ ३ ॥

पदार्थ:–राजा पुनः चतुर्थ प्रश्न पूछते हैं कि हे कुमार ! (यथा) जिस हेतु से (असौ लोकः) यह लोक अर्थात् मर करके जीव जहां जाते हैं वह लोक (न+सम्पूर्यते) नहीं भर जाता है (इति+वेत्थ) इसको क्या जानते हैं । सम्पूर्ण विश्व के लोक मरकर जहां जाते हैं उसको उन जीवों से भरजाना चाहिये परन्तु भरता नहीं इसका क्या कारण ? (न भगव इति) श्वेतकेतु कहते हैं कि हे भगवन् ! मैं नहीं जानता हूं । राजा अब पञ्चम प्रश्न पूछते हैं (यथा) जिस हेतु वा जिस प्रकार (पञ्चम्याम्) पांचवीं (आहुतौ) आहुति में (आपः) जल (पुरुषवचसः) पुरुषवाचक अर्थात् जीववाचक (भवन्ति) होते हैं अर्थात् जलही पुरुष कहलाने लगता है। (इति वेत्थ) इसको क्या आप जानते हैं (न+भगव इति) श्वेतकेतु कहते हैं कि भगवन् मैं नहीं जानता ॥ ३ ॥

भाष्याशय:–राजा के पांचों प्रश्न ये हैं । (१) यहां से प्रजा कहां जाती है ?, (२) वहां से पुनः कैसे लौट आती है ?, (३) देवयान और पितृयाण का भेद कहां होता है ?, (४) वह लोक क्यों नहीं भर जाता है ?, (५) पांचवीं आहुति में जल जीववाचक कैसे होजाता है ? । इनमें १, २, ५ प्रश्न बहुत ही आवश्यक हैं । मनुष्यजीवन में इसकी जिज्ञासा सबों को होती है । मैं कहां से आया । कहां जाऊंगा । मेरी अस्तित्व कैसे बनी है । क्या बारम्बार गतागत लगा ही रहता वा इसकी समाप्ति भी कभी होती । इत्यादि प्रश्न प्रायः सब ही विचारशील पुरुष के अन्तःकरण में समुत्थित होते हैं । अन्य दो प्रश्न तृतीय और चतुर्थ भी विलक्षण हैं । ये आत्मा की दशा का वर्णन करते हैं । परन्तु ये पांच प्रश्न अदृष्ट वस्तु के विषय में हैं और अदृष्ट विषयक वस्तु शङ्काक्रान्त अनेक शाखावलम्बी प्रायः हुआ करती है । अदृष्ट विषय ही संसार में नाना आन्दोलन कर मनुष्य के जीवन को महादुखी व सुखी बनाता है । इसमें साधारण विद्याहीन लोगों की लीला बहुत चलती है । क्योंकि एक गोलोक, दूसरा कैलास, तीसरा सातवां आसमान, चौथा

विहिस्त मुहम्मद साहिब के समीप, पांचवां क्राइस्ट के समीप इत्यादि अपने मनमाने लोक बताते हैं। इसमें कौन सत्य कौन असत्य कहसकता। इसलिये जिसमें बुद्धि काम नहीं करती ऐसी अदृष्ट वस्तु के ऊपर अधिक विचार अनुचित मान ऋषि लोग इस विद्या की की ओर अधिक ध्यान नहीं देते होंगे। इस कारण श्वेतकेतु न कह सका हो। इस में सन्देह नहीं कि इस प्रश्न की ओर मनुष्य बहुत ही दौड़ते हैं। मूर्ख से मूर्ख आदमी यह जिज्ञासा रखता है कि मैं मरकर कहां जाऊंगा। मेरी आगे क्या दशा होगी। क्या मैं सदा ऐसाही दुःख भोगता रहूंगा। इत्यादि। परन्तु उन प्रश्नों पर इतनी चिन्ता न करके अपने कर्मों को सुधारना चाहिये। यदि कर्म अच्छे होंगे तो अच्छी गति अवश्य मिलेगी ॥ ३ ॥

अथ नु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात् कथꣳ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति। स हाऽऽयस्तः पितुरर्द्धमेयाय। तꣳहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति* ॥ ४ ॥

अथ। नु। किम्। अनुशिष्टः। अवोचथाः। यः। हि। इमानि। न। विद्यात्। कथम्। सः। अनुशिष्टः। ब्रुवीत। इति। सः। ह। आयस्तः। पितुः। अर्द्धम्। एयाय। तम्। ह। उवाच। अननुशिष्य। वाव। किल। मा। भगवान्। अब्रवीत्। अनु। त्वा। अशिषम्। इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति। प्रवाहणो जैवलिः श्वेतकेतुं पञ्चानां प्रश्नानामेकमप्यसमादधानमवलोक्याह। हे कुमार! किन्तु कस्माद्धेतोः पित्राहमनुशिष्टोऽस्मि शिक्षितोऽस्मीति त्वं मम

* अथैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रे। नादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरम्। सꣳहोवाचेति वाव किल नो भवान् पुरानुशिष्टानवोचदिति। कथं सुमेध इति ॥ बृ० ६। २। ३॥

अर्थ–राजा ने श्वेतकेतु से अपने यहां रहने के लिये कहा। परन्तु वह श्वेतकेतु कुमार उस वास का आदर न करके भाग गया और पिता के निकट आया। आकर पिता से बोला कि हे पिता पुरा समावर्तन काल में आपने कहा था कि "तुम लोगों को शिक्षा दी" सो कैसे आपने कहा। यह वचन सुन आरुणि कहते हैं कि हे सुमेधा प्रियपुत्र कैसे तुम यह वचन कह रहे हो इसका कारण क्या?।

समीपे अवोचथा उक्तवानसि । "अनुशिष्टोसित्वमहमनुशिष्टोस्मी"ति तव पूर्वकथनमनुचितमेवास्ति । हि यतः । यः पुरुषः । इमानि । मया पृष्टानि प्रश्नरूपाणि वचनानि । न विद्यात् न जानीयात् । सोऽज्ञाता पुरुषो विदुषां मध्ये । कथं ब्रुवीत ब्रूयात् "अनुशिष्टोस्मि" इति । अतः । ऋषिकुमारेण त्वया पुनरपि पृष्टेन नैवेत्थं वक्तव्यमन्यत्र । इति राजवचनं श्रुत्वा स कुमारः । आयस्तस्तेन राज्ञा आश्रमित आयासितः क्लेशं प्रापितः सन् पितुरर्द्धं पितृस्थानम् । एयाय आजगाम । आगत्य च तं ह पितरमुवाच । हे पितः ! मां भगवान् ! अनुशिष्यवाव अननुशिष्यैव अनुपदिश्यैव शिक्षामकृत्वैव समावर्तनकाले अब्रवीत्किल माम् । अहम् । अनु+अशिषम् अन्वशिषमिति । अहन्तु कमपि प्रश्नं समाधातुं न शक्नोमि तर्हि । किं मां भगवानन्वशिषत् कथं च समावर्तनकाले त्वामहमन्वशिषमिति मां भगवानब्रवीत् इति मम हृदये महती शंकोत्पद्यते ॥ ४ ॥

अनुवादः–मैं शिक्षित हुआ हूं ऐसा वचन आप क्यों कहते हैं क्योंकि जो इन वचनों को नहीं जानता है वह कैसे कह सकता है कि मैं अनुशिष्ट हुआ हूं इस प्रकार वह परास्त हो वहां से पिता के स्थान को चला आया । और उनसे कहने लगा कि (हे पिता !) मुझे आपने शिक्षित न करके ही कहा कि तुझको मैं सिखला चुका ॥ ४ ॥

पदार्थः–(अथ) यद्यपि आप अशिक्षित हैं । तथापि मैं (अनुशिष्टः) शिक्षित हूं (किन्तु) क्यों (अवोचथाः) कहा था अर्थात् यद्यपि पित्रादिकों ने आपको शिक्षा नहीं दी है तथापि आप कहते फिरते हैं कि मैं शिक्षित हूं ऐसा क्यों करते हैं ऐसा वचन आपको नहीं कहना चाहिये (हि) क्योंकि (यः) जो (इमानि) इन को अर्थात् मेरे पूछे हुए प्रश्नों को (न विद्यात्) नहीं जानता है (सः) वह पुरुष (कथम्) कैसे (ब्रुवीत) बोल सकता है कि (अनुशिष्ट+इति) मैं शिक्षित हूं । तत्पश्चात् (सह) वह प्रसिद्ध श्वेतकेतु (आयस्तः) परास्त होकर (पितुः+अर्धम्) पिता के स्थान को (एयाय) चले आये (तम्+ह+उवाच) आकर अपने पिता से बोले कि हे पिता (अननुशिष्य) विन सिखलाये (वाव) ही (मा) मुझसे समावर्तनकाल में (भगवान्) आपने (अब्रवीत्) कहा कि (त्वा) तुझ को (अनु+अशिषम्+किल+इति) मैंने सिखलाया है अब तुम समावर्त्तन के योग्य होगये हो अर्थात् हे पिता ! आपने मेरा विना पूर्ण शिक्षा के ही समावर्त्तन कर दिया और समावर्त्तन के समय आपने मुझ से कहा था कि मैंने तुझ को पूर्ण शिक्षा देदी सो आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि मुझे शिक्षा मिली रहती तो क्या एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति । स ह्येवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकञ्चन वेद यद्यहमिमान वेदिष्यं कथं तेनावक्ष्यमिति ॥५॥

पञ्च । मा । राजन्यबन्धुः । प्रश्नान् । अप्राक्षीत् । तेषाम् । न । एकञ्चन । अशकम् । विवक्तुम् । इति । सः । ह । उवाच । यथा । मा । त्वम् । तदा । एतान् । अवदः । यथा । अहम् । एषाम् । न । एकञ्चन । वेद । यदि । अहम् । इमान् । अवेदिष्यम् । कथम् । ते । अवक्ष्यम् । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—पञ्चेति । अथ वृत्तं पित्रे श्रावयति । राजन्यबन्धुः । राजन्यानां क्षत्रियाणां बन्धुः सहायकः राजन्या बन्धवोऽस्येति वा । प्रवाहणो जैवलिः । मा माम् । पञ्च पञ्च संख्याकान् प्रश्नान् अप्राक्षीत् पृष्टवान् । अहं तेषां प्रश्नानां मध्ये एकञ्चन एकमपि प्रश्नं "असाकल्ये तु चिच्चन" इत्यमरः । विवक्तुं विशेषेणवक्तुं निर्णेतुम् । नाशकम् शक्तोनाभूवम् । एकमपि प्रश्नं नोक्तवानस्मि । अतोऽहं त्वया नानुशिष्टोस्मीति मन्ये इति पुत्रवचनं श्रुत्वा । स ह पिता उवाच । हे सोम्य तात ! त्वं मां प्रति । तदा तस्मिन् काले आगमनकाले एव । यथा येन प्रकारेण । एतान् राजपृष्टान् प्रश्नान् । अवदः अवादीः । कथितवानसि । तान् सर्वान् प्रश्नान् श्रुत्वा एषां प्रश्नानां मध्ये । एकञ्चन यथा न वेद । न जानाति । हे सोम्य तथा मामपि जानीहि । अहमपीमान् प्रश्नान् विवक्तुं न शक्नोमि यथा त्वमिमान् प्रश्नान् समाधातुमसमर्थोऽसि तथैवाहमपि । हे तात ! यदि अहं इमान् प्रश्नान् । अवेदिष्यमज्ञासिष्यम् । कथं तर्हि ते त्वां प्रति । नावक्ष्यम् नोपादेक्ष्यम् यथा त्वमिमान् प्रश्नान् समाधातुमसमर्थोऽसि तथैवाहमपि यत् किमपि विज्ञानमहमवेदिषं तत्सर्वं त्वामन्वशिष्यम् । अतः पुरा "त्वामन्वशिषम्" इत्युक्तवान् किन्तु एतेषां प्रश्नानां महमेवाज्ञातास्मि तर्हि कथं त्वामपाठयम् । अतोनास्ति मम दोषः निजाज्ञानलिङ्गे नैवत्वया ज्ञातव्यं मम पितापि न जानाति । अत्र न क्रोधः कर्तव्यो नाहं च मिथ्यावादी । एते प्रश्ना एव नवीना दृश्यन्ते ॥ ५ ॥

* पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्च न वेदेति । कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार३ । सहोवाच तथा नस्त्वं तात जानीथाः यथा यदहं किञ्चन वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति ।

अनुवादः-हे भगवन् पिता ! उस राजन्यबन्धु ने मुझ से पांच प्रश्न पूछे । उनमें से एक के भी निर्णय करने में मैं समर्थ नहीं हुआ । यह सुन गौतम बोले कि हे तात ! जबही तू ने मुझ से ये प्रश्न जैसे हैं कह सुनाये (तबही मुझे मालूम हुआ कि) मैं भी इनको नहीं जानता हूं । यदि मैं जानता रहता तो तुझ से क्यों नहीं कहता ॥ ५ ॥

पदार्थः-अब श्वेतकेतु अपने पिता से गत वृत्तान्त सुनाता है । हे भगवन् ! (राजन्यबन्धुः) उस राजन्यबन्धु (क्षत्रियाधम वा क्षत्रियपालक) जैवलि प्रवाहण ने (मा) मुझ से (पञ्च+प्रश्नान्) पांच प्रश्न (अप्राक्षीत्) पूछे । परन्तु (तेषाम्+एकञ्चन) उन में से एक प्रश्न के भी (विवक्तुम्) उत्तर देने में वा निर्णय करने में (न+अशकम्) समर्थ न हुआ (इति) (स होवाच) पुत्र के वचन को सुन पिता आरुणि बोले कि (तदा) तुमने तब ही अर्थात् अपने आने के समय ही (मा) मुझ से (यथा) जैसे वे प्रश्न थे (एतान्) वैसे ही इन प्रश्नों को (अवदः) सुनाया (यथा) जिस प्रकार उनका उत्तर है (अहम्) मैंने भी (एषाम्+एकञ्चन) उनमें से एक भी (न+वेद) न समझा अर्थात् मैं भी उन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता । हे पुत्र ! (यदि+अहम्) यदि मैं (इमान्) इन को (अवेदिष्यम्) जानता तो (ते) तुम से (कथम्) क्यों (न) नहीं (अवक्ष्यम्) कहता ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाय । तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार । स ह प्रातः सभाग उदेयाय । तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन् ! गौतम ! वित्तस्य वरं वृणीथा इति । स होवाच तवैव राजन् ! मानुषं वित्तम् । यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति * ॥ ६ ॥

* बृहदारण्यकोपनिषद् में इस प्रकार संवाद है "स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास । तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयाञ्चकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार । तꣳ होवाच वरं भवते गौतमाय दद्म इति । ४ । स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यान्तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति । ५ । स होवाच दैवेषु वै गौतमो तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति । स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिदानस्य मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्य्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति ॥ इत्यादि ॥

सः । ह । गौतमः । राज्ञः । अर्द्धम् । एयाय । तस्मै । ह । प्राप्ताय । अर्हाम् । चकार । सः । ह । प्रातः । सभागे । उदेयाय । तम् । ह । उवाच । मानुषस्य । भगवन् । गौतम । वित्तस्य । वरम् । वृणीथाः । इति । सः । ह । उवाच । तव । एव । राजन् । मानुषम् । वित्तम् । याम् । एव । कुमारस्य । अन्ते । वाचम् । अभाषथाः । ताम् । एव । मे । ब्रूहि । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—स हेति । पुत्रस्य वचनं श्रुत्वा स ह प्रसिद्धो गौतम आरुणिः । राज्ञो नृपस्य । अर्धं स्थानम् । एयाय आजगाम । ततः । प्राप्ताय आगताय । तस्मै ह गौतमाय । राजा अर्हामर्हणां पूजाम् । चकार कृतवान् । पूजयित्वा वासनिमित्तायामन्त्रयांचकार । ततः कदाचित् । प्रातः प्रातःकाले । सभागः । भजनं भागःपूजा सेवा । सह भागेन पूजया सह वर्त्तमानः सभागः । पूज्यमान इत्यर्थः । स ह गौतमः । सभागे सभांगच्छतीति सभागः सभागतः । राज्यकार्यं साधयितुं सभां प्राप्तः । तस्मिन् सभागे सभागते अर्थात् सभागतस्य राज्ञः समीपम् । अत्र सभाग इति पदं प्रथमान्तं सप्तम्यन्तञ्च । देहलीदीपकन्यायेनोभाभ्यां सम्बध्यते । उदेयाय । उद्गतवान् । गतवान् इत्यर्थः । तमागतं गौतमं राजोवाच । हे भगवन् ! गौतम ! मानुषस्य मनुष्य-सम्बन्धिनः । वित्तस्य धनस्य ग्रामादेः । वरं वृणीथाः कामं वृणीथाः । ब्रूहि । मनुष्य सम्बन्धिधनं यदीच्छसि तर्हि याचस्व । इति नृपवचनं श्रुत्वा । स ह गौतम उवाच । हे राजन् ! मानुषं वित्तं तवैव तिष्ठतु नाहं मानुषं वित्तं वाञ्छामि तत्तु तवैवोपकारम् । अस्माकं तपश्चिन्तनान्तु तपोविघ्नकरमेव । अथवा तत्सर्वं ममाप्यस्तीति भवानपि जानाति ।

वे गौतम आरुणि प्रवाहण जैवलि के निकट आये । राजा ने आये हुए उनको आसन दे जल मंगवाया और उससे उनकी पूजा की । तत्पश्चात् राजाने कहा कि आप के लिये वर देता हूं । गौतम ने कहा कि हे राजन् ! आप वरदानार्थ प्रतिज्ञा कर चुके । इस प्रतिज्ञा में दृढ़ रहो । मेरा वर यह है कि जो वचन आपने मेरे कुमार से कहा था उसी को मुझे देवें ।५। राजा—हे गौतम ! वह देवनिमित्त वर है । मनुष्यसम्बन्धी वर आप मांगे । गौतम—हे राजन् ! आप को भी ज्ञात है कि मुझे हिरण्य गौ, अश्व, दासी, परिवार, वस्त्र आदि मनुष्य सम्बन्धी धन प्राप्त है । उस में न्यूनता नहीं है जो आप से मांगूं । परन्तु वह सब धन विनश्वर है । आप से मैं वह धन मांगता हूं जिस का विनाश नहीं । आप प्रतिज्ञा कर चुके हैं । आप दानशूर होकर मेरी प्रत्याशा भंग न करें । इत्यादि संवाद अत्युत्तम और अतिमनोहर है । वहां सब संवाद देखो ॥

किन्तु यां वाचम् । कुमारस्यान्ते मम पुत्रस्यान्ते । त्वमभाषथाः । तामेव वाचं । मे मह्यम् । ब्रूहि । इत्येव वरं प्रार्थये ॥ ६ ॥

अनुवाद:–वे प्रसिद्ध गौतम ऋषि राजा के स्थान पर आये । आये हुए उनका सत्कार राजाने किया । तत्पश्चात् प्रातःकाल वे भाग्यवान् ऋषि, सभागत राजा के निकट जा पहुंचे राजाने उनसे कहा कि हे भगवन् ! गौतम ! मनुष्यसम्बन्धी धन का वर मांगिये । तब वे गौतम बोले कि हे राजन् ! आपको ही मानुष्य वित्त रहै । कुमार के समीप आपने जो वाणी पूछी थी वही मुझे कहें ॥ ६ ॥

पदार्थः–(सः+ह+गौतमः) वे प्रसिद्ध गौतम (राज्ञः) राजाके (अर्धम्) स्थान को (एयाय) आये (प्राप्ताय) आये हुए (तस्मै) उस गौतम ऋषि का (अर्हाम्+चकार) सत्कार विधिपूर्वक राजाने किया (प्रातः) प्रातःकाल (सभागः) भाग्यवान् (सः+ह) वे गौतम (सभागे) सभामें प्राप्त राजा के समीप (उदेयाय) आये (तम्+ह+उवाच) उन से राजा बोले (भगवन् गौतम !) हे परमपूजनीय गौतम ऋषि ! (मानुषस्य+वित्तस्य) मनुष्यसम्बन्धी वित्त का (वरम्) वर (वृणीथाः) मांगिये । अर्थात् मनुष्यसम्बन्धी धन आप मुझसे मांगे (सः+ह+उवाच) वे गौतम ऋषि बोले (राजन्) हे राजन् ! (मानुषम्+वित्तम्) मनुष्यसम्बन्धी वित्त (तव+एव) आप को ही रहे । हे राजन् ! इन धनों से हम तपस्वियों को क्या करना है । ये सब तो आपको ही शोभित होते हैं । हे राजन् ! (कुमारस्य+अन्ते) कुमार के समीप (याम्+एव+वाचम्) जिसी वचन को (अभाषथाः) आपने कहा था (ताम्+एव) उसी को (मे+ब्रूहि+इति) मुझसे कहो यही प्रार्थना है ॥ ६ ॥

स ह कृच्छ्रीबभूव । तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार । तꣳहोवाच यथा मा त्वं गौतमाऽवदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति । तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति । तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

सः । ह । कृच्छ्रीबभूव । तम् । ह । चिरम् । वस । इति । आज्ञापयाञ्चकार । तम् । ह । उवाच । यथा । मा । त्वम् । गौतम । अवदः । यथा । इयम् । न । प्राक् । त्वत्तः । पुरा । विद्या । ब्राह्मणान् । गच्छति । तस्माद् । उ । सर्वेषु । लोकेषु । क्षत्रस्य । एव । प्रशासनम् । अभूत् । इति । तस्मै । ह । उवाच ॥ ७ ॥

भाष्यम्–स हेति । गौतमस्य पूर्वोक्तां वाणीं श्रुत्वा स ह राजा कृच्छ्रीबभूव । अकृच्छ्रः कृच्छ्रः संपेदे इति कृच्छ्रीबभूव । दुःखी बभूव । कृच्छ्रीभूतोपि राजा ब्राह्मणप्रत्याख्येयं मन्वानो न्यायेनावश्यं प्रार्थिने विद्या वक्तव्या न गोपनीया सा कस्माच्चिदपि इति विचार्य च हे मुने गौतम ! चिरं चिरकालं ममान्तिकम् । वस निवसान्तेवासिवन्निवासं कुरु इति तं ह आज्ञापयाञ्चकार । आज्ञां ददावित्यर्थः । पूर्वन्तु स राजा तद्विज्ञानं दातुं सङ्कुचित इवाभूत् । पश्चात् चिरंवसेत्याज्ञापयाञ्चकार इत्यर्थद्वयेन कदाचिद्ब्राह्मणो मह्यं कुप्येदिति विचार्य्य राजा क्षमापयति हेतुकथनेन । तद्यथा । तं ह उवाच । हे गौतम ! त्वं सर्वविद्यो ब्राह्मणोऽसि । तथापि यथा येनप्रकारेण मा मामवदोऽवोच इदानीमेव । किम् ? तामेव-वाचं विद्यालक्षणां मे ब्रूहि राजन्निति यदुक्तं यच्च तद्दानेऽहं दुःखित इवाभूवम् । तस्येदं कारणं त्वं विजानीहि । यथा येनप्रकारेण । इयं विद्या त्वत्तः प्राक् । ब्राह्मणान् । पुरा पूर्वस्मिन् काले । नगच्छति नागच्छत् । न गतवती । न च अनया विद्यया ब्राह्मणा अनुशासितवन्तः । तथेतत् प्रसिद्धं लोके । यस्मात् कारणात् । पुरा सर्वेषु लोकेषु । क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेव अनया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूत् क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमागता । अतस्तद्दाने दुःखितोऽभूवम् । परन्तु अहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि । त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति । अतो मया यदुक्तं तत् क्षन्तुमर्हसि इति तं प्रार्थ्य राजा तस्मै तां विद्यामुवाच ॥ ७ ॥

इति तृतीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–वह दुःखित हुआ (पश्चात्) राजा ने ऋषि गौतम को चिरकाल निवास के लिये आज्ञा दी और पुनः उनसे कहा कि हे गौतम ! आपने मुझ से जैसा कहा था कि आप उस विद्या का ही मुझे उपदेश देवें तथापि मैंने एक प्रकार से निषेध किया और कहा कि आप निवास करें इन सबों का कारण यह है । सुनिये, आप से पहले यह विद्या ब्राह्मणों में नहीं आई थी । क्योंकि सम्पूर्ण लोक में शिष्यों के प्रति इस विद्या का प्रशासन क्षत्रियों का ही होता आया । इस हेतु मुझे दुःखित होना पड़ा है इत्यादि । यह कह कर वह राजा उनसे उस विद्या का उपदेश करने लगा ॥ ७ ॥

पदार्थः–(सः+ह+कृच्छ्रीबभूव) गौतम आरुणि के पूर्वोक्त वचन सुन वह राजा दुःखित हुआ । दुःखित होने पर भी ऐसे विद्वान् ब्राह्मणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये । न्यायपूर्वक सबको विद्या देनी चाहिये राजा का यही धर्म्म है इत्यादि विचार तत्पश्चात् (तम्+ह) उस गौतम को (चिरम्+वस) चिरकाल वास कीजिये ऐसी (आज्ञापयाञ्चकार) आज्ञा दी । पुनः (तम्+ह+उवाच) उस प्रसिद्ध गौतम ऋषि से वह राजा बोला कि हे (गौतम)

गौतम ! (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) आपने (मा) मुझ को (अवदः) कहा था। क्या कहा था सो वाक्य पूर्व से सम्बन्ध रखता है वह यह है कि "कुमार के समीप जो विद्याएं आपने जिज्ञासा की हैं वही विद्या मुझ से कहें यही मेरा वर है इति" परन्तु मैं आपके इस वचन को सुन प्रथम तो दुःखित हुआ फिर मैंने यह विचारा कि बहुत अन्याय की बात है कि जिज्ञासु को विद्या न दीजाय, जब मैं स्वयं न्याय करने वाला हूं तो न्याय के अनुसार सब ही जिज्ञासु उसके अधिकारी हो सकते हैं विशेषकर जब एक तपस्वी ब्राह्मण इसको जांचता है तो उसको अवश्य ही देनी चाहिये। यह सब विचार मैंने पीछे आपको "चिरकाल आप वास करें" ऐसी आज्ञा दी परन्तु हे गौतम ! इन बातों की आप कुछ चिन्ता न करें मेरे दोषों को क्षमा करें, कारण इसमें यह है हे गौतम ! (त्वत्तःप्राक्) आप से पूर्व (इयम्+विद्या) यह विद्या (यथा) जिस प्रकार (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों को (न+गच्छति) प्राप्त नहीं हुई थी और अब से ब्राह्मणों को भी आपके द्वारा यह विद्या प्राप्त होगी इस कारण मैंने आपसे वैसा कहा (यस्माद्+उ) जिस कारण (सर्वेषु लोकेषु) सम्पूर्ण लोकों में (क्षत्रस्यैव) क्षत्रिय जाति का ही (प्रशासनम्) इस विद्या का अधिकार (अभूत्) था (इति) इस प्रकार राजा ने गौतम को समझा तत्पश्चात् (तस्मै+ह) उस गौतम को (उवाच) विद्याका उपदेश दिया ॥ ७ ॥

इति तृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः* ॥१॥

असौ। वाव। लोकः। गौतम। अग्निः। तस्य। आदित्यः। एव। समिद्। रश्मयः। धूमः। अहः। अर्चिः। चन्द्रमाः। अङ्गाराः। नक्षत्राणि। विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भाष्यम्-असाविति। सम्प्रति राजा प्रश्नान् समाधत्ते। असाविति। गौतम। हे गौतमवंशोत्पन्न महर्षे ! असौ। वाव। ऊर्ध्वं दृश्यमाना द्यौरेवेत्यर्थः। अग्निर्वर्त्तते। यथा गृहेऽग्निहोत्राय मनुष्यैर्गृह्योऽग्निः संस्थाप्यते। तथैव जगतो रचयित्रा महाविलासिना भूयांसोऽ-

* असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ बृ० उ० ६। २। ६ ॥ इसमें इतना ही भेद है कि दिशाओं को अङ्गार और अवान्तर दिशाओं को विस्फुलिङ्ग माना है।

ग्नय इतस्ततो जगन्निर्वाहायादावेव संस्थापिताः । प्रकृत्यैव तत्र प्रतिक्षणमक्षया आहुतयो हूयन्ते । सर्वाश्च सामग्र्यः पूर्वत एवोत्पादिताः । एतान् खलु ब्रह्मानग्नीन् गौतम ! प्रथमं विजानीहि । तेषां प्रथमो द्युलोक एवैको महानग्निः । तस्य समिधमाह तस्य द्युलोकरूपस्याग्नेः । आदित्यः । सूर्यएव । समित् सम्यगिन्धे प्रज्वलति या सा समित् । होमकाष्ठम् । धूममाह । रश्मयः सूर्य-किरणा एव धूमः । ज्वालामाह । अहर्दिनं दिवस एव । अर्चिरग्निज्वाला । एताश्चोपमा न व्याख्यानमर्हन्ति । प्रसिद्धत्वात् सरलत्वाच्च । अङ्गारानाह चन्द्रमाः । आल्हादकरश्चन्द्रः । अङ्गाराः । यथा ते प्रथमं प्रज्वल्य उपशमनेन कृष्णाः शीताश्च जायन्ते । तथैव चन्द्रोपि सूर्य-रश्मिभिः प्रज्वलन्निवभूत्वा कृष्णः शीतश्च भवति । विस्फुलिङ्गानाह । नक्षत्राणि । ताराः । विस्फुलिङ्गाः । अग्नेः सकाशादुत्पतन्तः अग्निसूक्ष्मकणा विस्फुलिङ्गाः । दर्शने सर्वाणि नक्ष-त्राणि सूर्योद्भवाः सूक्ष्माः कणा इव दृश्यन्ते । अत उपमा ॥ १ ॥

अनुवाद—हे गौतम ! यही(द्युलोक) अग्नि है । आदित्य ही उसकी समिधा है । सूर्य की किरणें ही धूम हैं । दिन ही अग्नि ज्वाला है । चन्द्रमा ही अङ्गार हैं । नक्षत्र ही विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—अब राजा अपने प्रश्नों का उत्तर गौतम से सुनाते हैं (गौतम) हे गौतम-गोत्रोत्पन्नमहर्षे ! (असौ) यह अर्थात् प्रसिद्धवत् दृश्यमान ऊर्द्धस्थित (लोकः) द्युलोक (वाव) ही (अग्निः) अग्निकुण्ड है (तस्य) उस द्युलोकसम्बन्धी अग्नि की (समित्) समिधा (आदित्यः+एव) सूर्य ही है (धूमः) उसका धूम (रश्मयः) सूर्य की किरणें हैं (अर्चिः) उसकी ज्वाला (अहः) दिवस है (अङ्गाराः) अङ्गार (चन्द्रमाः) चन्द्र है (विस्फुलिङ्गाः) सूक्ष्म अग्निकण (नक्षत्राणि) ताराएं हैं ॥ १ ॥

भाष्याशय—जैसे गृहमें अग्निहोत्र के लिये मनुष्य गृह्य अग्नि स्थापित करते हैं । वैसे ही जगत् के रचयिता परमविलासी ईश्वरने अनेक अग्नि जगन्निर्वाहार्थ सृष्टि की आदिमें ही इधर उधर स्थापित किये । इन अग्नियों में प्रकृति ही प्रतिक्षण अक्षय आहुतिएं देरही है । सब सामग्री पूर्व ही ईश्वर से उत्पादित हो चुकी है । हे गौतम प्रथम इन ब्राह्म अग्नियों को आप जानें । उन में प्रथम द्युलोक महा अग्निकुण्ड हैं इत्यादि । समित् संस्कृत में समिधा । सम्+इन्ध से समित् बनता है । "सम्यग्+इन्धे दीप्यते" जो अच्छी तरह से देदीप्यमान होकर जले उसे समित् कहते हैं । चन्द्रमा को अङ्गार इस कारण कहा गया है कि जैसे वे अङ्गार प्रथम जलकर पश्चात् कृष्ण शीतल होते हैं तद्वत् चन्द्रमा भी सूर्य-किरणों से जलता हुआ सा हो २ कर कृष्ण और शीतल होता है ॥

नक्षत्र अति दूरस्थ होने के कारण सूर्यादिवत् छोटे २ कण समान दीखते हैं । अतः यह उपमा दी गई है । अन्य उपमाएं बहुत ही सरल और प्रसिद्ध हैं अतः उनकी व्याख्या नहीं की गई है ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति * ॥ २ ॥

तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । श्रद्धाम् । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । सोमः । राजा । सम्भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्-तस्मिन्निति । देवा दीव्यन्ति सर्वत्र गच्छन्तीति देवाः सूर्यकिरणा ब्रह्मशक्तयो वा । तस्मिन् पूर्वोक्ते । एतस्मिन् प्रसिद्धवद् दृश्यमाने । अग्नौ द्युलोकाख्ये महाग्नौ । श्रद्धां श्रदविनाशिवस्तु । तद्धाति या सा श्रद्धा । अत्र जलीयपरमाणु श्रद्धापदेन गृह्यते । जलीयपरमाणुभृतं शक्तिम् । जुह्वति । प्रक्षिपन्ति । स्थापयंतीत्यर्थः । तस्या आहुतेः सकाशात् । राजा राजते दीप्यते अभ्यक्तेर्व्यक्तीभवति यः स राजा । सोमो जलीय वाष्पं भवति उत्पद्यते ॥ २ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-देव, उस इस प्रसिद्ध (द्युलोकरूप) अग्नि में श्रद्धा को होमते हैं । उस आहुति से राजा सोम उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पदार्थः-(देवाः) सूर्यकिरणें (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध पूर्वोक्त (एतस्मिन्) इस (अग्नौ) द्युलोकरूप अग्नि में (श्रद्धाम्) जलीय परमाणुओं को धारण करने वाली शक्ति † को (जुह्वति) होमते हैं । अर्थात् स्थापित करते हैं (तस्याः+आहुतेः) उस आहुति से (राजा) प्रदीप्त, व्यक्तता को प्राप्त (सोमः) जलीयवाष्प (संभवति) उत्पन्न होता है ॥ २ ॥ इति चतुर्थखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो

---

* एतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥ बृ० उ० ॥ अर्थ-इस अग्नि में श्रद्धा की आहुति देते हैं । उससे सोमराजा उत्पन्न होता है ॥

† प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्नताएव ह्युपपत्तेः ॥ वे० सू० ३ । १ । ५ ॥ यद्यपि श्रद्धा नाम उत्कट विश्वास भक्ति आदि का है । परन्तु इस वेदान्तसूत्र से श्रद्धा शब्द यहां जलवाचक सिद्ध किया गया है । शंकरभाष्य देखो ॥

विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः * ॥ १ ॥

पर्जन्यः। वाव । गौतम । अग्निः । तस्य । वायुः । एव । समित् । अभ्रम् । धूमः । विद्युत् । अर्चिः। अशनिः । अङ्गाराः । ह्रादुनयः । विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—पर्जन्य इति । हे गौतम ! द्वितीयमग्निं विजानीहि। पर्जन्यः । परितो जन्यमानः पर्जन्यो मेघ इत्यर्थः । वाव । एव । अग्निः । अग्निकुण्डः । तस्य पर्जन्यरूपस्याग्नेः । वायुरेव वातीति वायुर्मरुदेव । समिद्धोमीयकाष्ठम् । वायुना हि पर्जन्योऽग्निः समिध्यते । अभ्रम् । अपो जलानि बिभर्तीति । यद्वा । अपो धृत्वा भ्रमतीति । यद्वा । अपो राति ददातीति । यद्वा । आपो भ्रियन्ते यस्मिन्नधिकरणे प्रत्ययः । धूमो धूमवत् । लक्ष्यमाणत्वात् विद्युत् । विद्योतत इति विद्युच्चपला । अर्चिर्ज्वाला। प्रकाशसामान्यात् । अशनिः । अङ्गाराः । काठिन्यात् । ह्रादुनयो मेघगर्जनशब्दाः । विस्फुलिङ्गाः । मेघानां विप्रकीर्णत्वसामान्यात् ॥१॥

अनुवादः—हे गौतम ! पर्जन्य ही अग्नि, वायु ही उसकी समिधा, अभ्र ही धूम, विद्युत् ही ज्वाला, अशनि ही अङ्गारे और मेघगर्जित शब्द ही विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—अब द्वितीय अग्नि कहते हैं (गौतम) हे गौतम महर्षे (पर्जन्यः) मेघ (वाव) ही (अग्निः) द्वितीय अग्निकुंड है (वायुः) वायु ही उसकी (समित्) समिधा है (अभ्रम्) एक प्रकार का मेघ ही (धूमः) धूम है (विद्युत्) विजुली ही (अर्चिः) ज्वाला है (अशनिः) वज्र ही (अङ्गाराः) अङ्गार हैं (ह्रादुनयः) गर्जित शब्द ही (विस्फुलिङ्गाः) अग्नि सूक्ष्मकण हैं ॥ पर्जन्यः=यद्यपि पर्जन्य और अभ्र दोनों शब्द मेघवाचक हैं तथापि इन दोनों के अर्थ में बहुत भेद है । पर्जन्य उस मेघ का नाम है जो प्रथम सूर्य्यकिरण शक्ति द्वारा जल परमाणु एकत्रित होना आरम्भ होते हैं । और अभ्र (अपोजलानिबिभर्त्ति) जिस में प्रत्यक्षरूप से जल आगया हो । जो मेघाकार हो गया हो अर्थात् जो जल को धारण करे उसे अभ्र कहते हैं । यद्वा जल को साथ ले जो भ्रमण करे इत्यादि । प्रायः ऐसे स्थलों में ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं । "पर्जन्यादन्नसंभवः" इस गीता वाक्य में पर्जन्य ही शब्द प्रयुक्त हुआ है इत्यादि अनुसन्धान करना ॥ १ ॥

* पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चि रशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिंगाः ॥ बृ० उ० ६ । २ । १० ॥ हे गौतम ! पर्जन्य द्वितीय अग्नि है उस की समिधा संवत्सर, धूम अभ्र, अर्चि विद्युत् अङ्गार अशनि (वज्र) और विस्फुलिङ्ग वज्र शब्द है । यहां संवत्सर को समिधा माना है इतना ही भेद है ।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षꣳसम्भवति * ॥ २ ॥

तस्मिन्। एतस्मिन्। अग्नौ। देवाः। सोमम्। राजानम्। जुह्वति। तस्याः। आहुतेः। वर्षम्। सम्भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्-तस्मिन्निति। देवाः सूर्यकिरणाः प्राकृतनियमा वा। तस्मिन्प्रसिद्धे पूर्वोक्ते। एतस्मिन्नग्नौ पर्जन्यरूपे महाग्नौ। राजानं सोमम्। प्रथमाहुति-जातं जलीयवाष्पम्। जुह्वति स्थापयन्ति। तस्या आहुतेर्वर्षं वृष्टिः। सम्भवति उत्पद्यते। श्रद्धाख्या जलीय-परमाणु-मृच्छक्तिः सोमाकारपरिणता सती द्वितीयपर्याये पर्जन्याग्निं प्राप्य वृष्टित्वेन परिणमते ॥ २ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः-सूर्यकिरण उस प्रसिद्ध इस अग्नि में सोम राजा को स्थापित करते हैं। उस आहुति से वृष्टि होती है ॥ २ ॥

पदार्थः-(देवाः) सूर्यकिरणों को यहां देव कहा गया है वे देव (तस्मिन्) उस पूर्वोक्त (एतस्मिन्) इस (अग्नौ) पर्जन्यरूप महा अग्नि में (सोमम्+राजानम्) प्रथम आहुतिजन्य जलीय वाष्प को (जुह्वति) स्थापित करते हैं (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुती से (वर्षम्) वृष्टि (सम्भवति) उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः खण्डः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः † ॥ १ ॥

पृथिवी। वाव। गौतम। अग्निः। तस्याः। संवत्सरः। एव। समित्। आकाशः। धूमः। रात्रिः। अर्चिः। दिशः। अङ्गाराः। अवान्तरदिशः। विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भाष्यम्-पृथिवीति। हे गौतम! तृतीयमग्निं विजानीहि। इयं पृथिवी भूमिः। वाव एव। अग्निः तृतीयोऽग्निकुण्डः। तस्याः पृथिव्या अग्नेः। संवत्सरं एव समिद्धोमीयकाष्ठम्।

*तस्मिंन्नतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳराजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः सम्भवति ॥ बृ० ६।२।११॥
† अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम! तस्या पृथिव्येव समिदग्निर्धूमोरात्रिरर्चिश्चन्द्रमाऽङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥

संवत्सरेण हि कालेन समिद्धा पृथिवी व्रीह्यादिनिष्पत्तये भवति । आकाशो धूमः । पृथिव्या इवोत्थित आकाशो दृश्यते । यथाग्नेर्धूमः । रात्रिर्नरूगर्चिः ज्वाला । दिशोऽङ्गाराः । अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः । क्षुद्रत्व सामान्यात् ॥ १ ॥

अनुवादः–हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है । संवत्सर ही इसकी समिधा है । आकाश ही धूम है । रात्रि ही ज्वाला है । दिशाएं अङ्गार हैं । अवान्तरदिशाएं विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(गौतम) हे गौतम महर्षे ! (पृथिवी+वाव) पृथिवी ही (अग्निः) अग्नि है । अर्थात् तृतीय अग्निकुण्ड है (संवत्सरः) वर्ष, साल (एव) ही (तस्याः) उस पृथिवीरूप महा अग्नि की (समित्) समिधा है (आकाशः) आकाश ही (धूमः) धूम है (रात्रिः) रात ही (अर्चिः) ज्वाला (दिशः) दिशाएं (अङ्गाराः) अङ्गार हैं (अवान्तरदिशः) अवान्तर दिशाएं (विस्फुलिङ्गाः) विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति । तस्या आहुतेरन्नꣳसम्भवति* ॥ २ ॥

तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । वर्षम् । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । अन्नम् । सम्भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्–तस्मिन्निति । देवाः प्राकृतनियमाः । तस्मिन् पूर्वोक्ते । एतस्मिन्नग्नौ वर्षं द्वितीयाहुतिजन्यं वर्षं वृष्टिम् । जुह्वति । स्थापयन्ति । तस्या आहुतेः सकाशात् । अन्नं व्रीहियवधान्यादिकं संभवति ॥ २ ॥ इति षष्ठखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अनुवादः–प्राकृतनियम उस प्रसिद्ध इस (पृथिवीरूप) महा अग्नि में वृष्टि को स्थापित करते हैं । उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पदार्थः–(देवाः) प्राकृत नियम (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध (एतस्मिन्) इस (अग्नौ) पृथिवीरूप महा अग्नि में (वर्षम्) वृष्टि को (जुह्वति) होमते हैं स्थापित करते हैं (तस्याः) उस (आहुतेः) आहुति से (अन्नम्) अन्न यव, गोधूम, शाली आदि अन्न (संभवति) उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति षष्ठखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

* तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः वृष्टिं जुह्वति । तस्या आहुत्या अन्नꣳ सम्भवति ॥ बृ० उ० ६।२।११ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः * ॥ १ ॥

पुरुषः । वाव । गौतम । अग्निः । तस्य । वाक् । एव । समित् । प्राणः । धूमः । जिह्वा । अर्चिः । चक्षुः । अङ्गाराः । श्रोत्रम् । विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भाष्यम्-पुरुष इति । हे गौतम महर्षे ! चतुर्थमग्निं विजानीहि । पुरुषोवाव । पुमानेव । अग्निश्चतुर्थोऽग्निकुण्डः । तस्य पुरुषस्याग्नेः । वागेव वाण्येव । समित् । पुरुषो हि वाग्भिः सहितः समिन्धे दीप्यते । नमूकः । प्राणो धूमः । प्राणो हि धूमवन्मुखान्निर्गच्छति । जिह्वारसना अर्चिर्ज्वाला । लोहितत्वात् । चक्षुर्नेत्रमङ्गाराः । तैजसत्वात् । श्रोत्रम् । विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

अनुवादः-हे गौतम महर्षे ! पुरुष ही अग्नि है । वाणी ही इसकी समिधा है । प्राण ही धूम है । जिह्वा ही ज्वाला है । चक्षु ही अङ्गार है । श्रोत्र ही विस्फुलिङ्ग है ॥ १ ॥

पदार्थः-(गौतम) हे गौतम महर्षे ! (पुरुषः+वाव) पुरुष ही (अग्निः) चतुर्थ अग्निकुण्ड है (वाग्+एव) वाणी ही (तस्य) उस पुरुषरूप अग्नि की (समित्) समिधा है (प्राणः) प्राण (धूमः) धूम है (जिह्वा) जिह्वा (अर्चिः) ज्वाला है (चक्षुः) नेत्र ही (अङ्गाराः) अङ्गार है (श्रोत्रम्) श्रोत्र ही (विस्फुलिङ्गाः) विस्फुलिङ्ग है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति । तस्या आहुते रेतः सम्भवति † ॥ २ ॥

तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । अन्नम् । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । रेतः । सम्भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्-तस्मिन्निति । देवाः प्राकृतनियमाः । तस्मिन् पूर्वोक्ते । एतस्मिन् पुरुषरूपाग्नौ । अन्नं जुह्वति स्थापयन्ति । तस्या आहुतेः सकाशात् । रेतो वीर्य्यं संभवति ॥ २ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

---

* पुरुषो वाऽग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ बृ० ६ । २ । १२ ॥

† तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः सम्भवति ॥ बृ० ६ । २ । १२ ॥

अनुवादः—प्राकृत नियम उस इस अग्नि में अन्न की आहुति देते हैं उस आहुति से रेत उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(देवाः) प्राकृतिक नियम (तस्मिन्+एतस्मिन्) उस इस पुरुषरूप महाग्नि में (अन्नम्+जुह्वति) अन्न की आहुति देते हैं (तस्याः+आहुतेः) उस आहुति से (रेतः+संभवति) वीर्य्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः * ॥ १ ॥

योषा । वाव । गौतम । अग्निः । तस्याः । उपस्थः । एव । समित् । यद् । उपमन्त्रयते । सः । धूमः । योनिः । अर्चिः । यद् । अन्तः । करोति । ते । अङ्गाराः । अभिनन्दाः । विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—योषेति । हे गौतम ! पञ्चममग्निं विजानीहि । योषावाव स्त्रीजातिरेव पञ्चमोऽग्निः । अन्यद्दृज्वर्थम् ॥ १ ॥

अनुवादः—स्त्रीजाति ही पञ्चम अग्नि है । ....॥ १ ॥

पदार्थः—(योषा) स्त्रीजाति पञ्चम अग्नि है और सब पद सुगम हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति † ॥ २ ॥

तस्मिन् । एतस्मिन् । अग्नौ । देवाः । रेतः । जुह्वति । तस्याः । आहुतेः । गर्भः । सम्भवति ॥ २ ॥

---

* योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तःकरोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ बृ० ६ । २ । १३ ॥

† तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति । स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥ बृ० ६ । २ । १३ ॥

भाष्यम्–तस्मिन्निति । तस्मिन्नेतस्मिन् स्त्रीजातिस्वरूपेऽग्नौ देवाः प्राकृतनियमाः । यद्वा । नियमप्रेरिताः पुरुषजातयः । रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेः । गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अनुवादः–उस इस अग्नि में देव रेत की आहुति देते हैं । उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पदार्थः–(तस्मिन्+एतस्मिन्) उस इस स्त्रीजाति रूप (अग्नौ) आग में (देवाः) प्राकृत नियम वा नियम प्रेरित पुरुषजाति (रेतः) वीर्य्य की आहुति करती है (तस्याः+आहुतेः) उस आहुति से (गर्भः) गर्भ (सम्भवति) उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति । स उल्वाऽऽवृतो गर्भो दश वा (नव वा) मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ १ ॥

इति । तु । पञ्चम्याम् । आहुतौ । आपः । पुरुषवचसः । भवन्ति । इति । सः । उल्वावृतः । गर्भः । दश । वा । नव । वा । मासान् । अन्तः । शयित्वा । यावत् । वा । अथ । जायते ॥ १ ॥

भाष्यम्–इतीति । इति तु एवंत्वनेन प्रकारेण । हे गौतम ! पञ्चम्यामाहुतौ । योषायामग्नौ । हुते रेतसि । आपः श्रद्धाख्या आपः । पुरुषवचसः । पुरुषवाचिन्यो भवन्ति । इति । हे गौतम ! पञ्चानां प्रश्नानां मध्ये । एकः प्रश्नो व्याख्यातः । अन्येषां समाधानं शृणु । यदुक्तम् । "वेत्थ यदितोऽधिप्रजाः प्रयन्तीति" तत्प्रश्नसमाधानोपक्रमस्यायमारम्भः । स पूर्वोक्तो गर्भ अपां पञ्चमो परिणामविशेष उल्वावृत उल्वेन जरायुणा आवृतो वेष्टित इत्युल्वावृतः सन् । दश वा नव वा मासान् । अन्तर्मातुः कुक्षौ । शयित्वा स्थित्वा । अथवा । यावद्यावन्तं कालं स्व-स्व-योनि-नियमित-कालपर्य्यन्तं मातृकुक्षौ वाऽण्डे वा शयित्वा । अथानन्तरं जायत उत्पद्यते ॥ १ ॥

अनुवादः–इस प्रकार पञ्चमी आहुति में जल पुरुषवाची होता है । वह गर्भ उल्वावृत होकर दश वा नव वा उससे न्यून वा अधिक मास मातृकुक्षि में निवास कर उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

पदार्थः–(इति) इस प्रकार (तु) निश्चय (पञ्चम्याम्) पञ्चमी (आहुतौ) आहुति में (आपः) जल (पुरुषवचसः) पुरुषवाची (भवति) होता है (इति) यहां एक प्रश्न के उत्तर की समाप्ति होगई । अतः यहां इति शब्द समाप्तिसूचक है । अब यहां से "प्रजा ऊपर को कहां जाती है" इसके उत्तर का आरम्भ करते हैं (सः) वह (गर्भः) जल का पञ्चम परिणाम विशेष (उल्वावृतः) जिस चर्म से वेष्टित होकर बालक मातृ उदर में रहता है उसे उल्व कहते हैं । उस उल्व से आवृत होकर (दश+वा+नव+वा+मासान्) दश वा नव मास अथवा (यावद्+वा) उससे न्यून वा अधिक काल पूर्ति पर्य्यन्त जिस योनि का जैसा नियम है उतने काल (अन्तः) माता के उदर में (शयित्वा) निवास करके (अथ) अनन्तर (जायते) उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

स जातो यावदायुषं जीवति । तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति । यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति * ॥ २ ॥

सः । जातः । यावत् । आयुषम् । जीवति । तम् । प्रेतम् । दिष्टम् । इतः । अग्नयः । एव । हरन्ति । यतः । एव । इतः । यतः । सम्भूतः । भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्–स इति । स श्रद्धाद्यभिधानेनजलेन सहानुगामी जीवः पञ्चम्यामाहुतौ प्राप्त पुरुषसंज्ञः । जात उत्पन्नः सन् । यावदायुषम् । प्राक्तनजननोपार्जितेन दृष्टेन यावदायुः स्थिरीकृतम् । तावदायुर्जीवति । प्राणान् धारयति । पश्चाद्दिष्टं कर्म्मणानिर्दिष्टं यद्वा कर्म्मफलं प्रति । प्रेतं मृतं तं । पुरुषवचनं जीवम् । इतोऽस्मात् स्थानादग्नय आग्नेय शक्तयः सूर्य्य

* अथैनमग्नये हरन्तितस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति ॥ बृ० ६ । २ । १४ ॥

अर्थ–(अथ) अनन्तर (एनम्) इस मृत पुरुष को (अग्नये+हरन्ति) अग्निसंस्कार के लिये बन्धु बान्धव लोग ले जाते हैं (तस्यः+अग्निः+एव+अग्निः) उस मृतपुरुष के लिये प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि होती है अर्थात् पूर्ववत् अग्न्यादि की कल्पना की आवश्यकता नहीं (समित्०) समिधा समिधा, धूम धूम, ज्वाला ज्वाला, अङ्गार अङ्गार और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं (तस्मिन्०) उस इस अग्नि में बन्धु बान्धव लोग इस पुरुष की आहुति करते हैं उस आहुति से वह पुरुष भास्वर वर्ण होता है ॥

किरणाएव । नान्येयमदूतादयः । हरन्ति नयन्ति । कुत्र नयन्तीत्याह । यत इति । यतः सकाशात् । इतो गतो भवति । यस्मात्स्थानात् सजीवोनिर्गच्छति । तत्स्थानं प्रत्येव पुनः कर्म्मगतयोनयन्ति । "यत एवेतः" इत्यस्यैव "यतः सम्भूतो भवति" इत्यनुवादोस्ति यस्मात्स्थानात् सम्भूत उत्पन्नो भवति । यस्मात्स्थानाद्येन क्रमेण आगच्छति तेनैव क्रमेण तत्रपुनः । आग्नेयाः शक्तयः । प्रापयन्तीत्यर्थः । अग्नय इति प्रथमा बहुवचनम् । सर्वाश्च संचारक शक्तयोग्निपदेनोच्यन्ते । यथेह ता एव पदार्थान् इतस्ततो नयन्ति तथैव सर्वत्र ता एव वाहिकाः । यद्वा अग्नये इति चतुर्थ्यन्तं पदम् । अग्निसंस्काराय दाहाय । बन्धु-बान्धवादयस्तंमृतं पुरुषम् । हरन्ति नयन्ति । यत एव इतः अग्नेः सकाशाच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण आगतः । यतश्च पञ्चम्योऽग्निभ्यः संभूत उत्पन्नो भवति तस्मै अग्नये हरन्ति । स्वामेव योनिमग्निमापादयन्ति ॥२॥ इति न० सं० समाप्तम् ॥

अनुवादः—वह उत्पन्न होकर यावत् आयु जीता है तब कर्मनिर्दिष्ट और मृत उस पुरुष को यहां से अग्निशक्तियां ही ले जाती हैं जहां से वह गत अर्थात् उत्पन्न हुआ यद्वा कर्मानुसार मरे हुए उस पुरुष को यहां से अग्निसंस्कार के लिये बन्धु बान्धव ले जाते हैं । जहां आता और जहां से उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः) वह (जातः) उत्पन्न पुरुष (यावदायुषम्) प्राक्तन जन्मोपार्जित कर्मके अनुसार जितनी आयु स्थिर हुई है उतनी आयुपर्य्यन्त (जीवति) जीता रहता है । तत्पश्चात् (दिष्टम्) कर्मानुकूल निर्दिष्ट अर्थात् अब इस की आयु का शेष होगया अब इस शरीर में वह जीव नहीं रह सकता अन्य शरीर में प्रवेश करने का इसका समय है इस प्रकार से नियुक्त=दिखलाया गया हुआ (प्रेतम्) मृत (तम्) उस पुरुष को (अग्नयः) अग्निशक्तियां वा किरणें (एव) ही (हरन्ति) ले जाती हैं । वे अग्निशक्तियां कहां ले जाती हैं सो कहते हैं (यतः+एव) जहां से ही (इतः) गत (भवति) निकलता है अर्थात् (यतः) जहां से (सम्भूतः) उत्पन्न होता है । अर्थात् यह जीव जहां से और जिस क्रम से आता है वहां ही और उसी क्रम से उस जीव को अग्निशक्तिएं ले जाती हैं यद्वा (अग्नये) यह चतुर्थ्यन्तपद है तब अर्थ यह हुआ कि कर्मानुसार मरे हुए उस पुरुष को (इतः) मरणस्थान से (अग्नये+एव) अग्निसंस्कार अर्थात् दाहादि क्रिया करने के लिये ही (हरन्ति) बन्धु बान्धव पुत्रादि ले जाते हैं । क्यों जलाने को ले जाते हैं उस का कारण आगे कहा जाता है (यतः+एव) जिस अग्नि शक्ति से (इतः) निकला था और (यतः+सम्भूतः+भवति) और जिस पञ्चाग्नि-

विद्या के क्रम से उत्पन्न होता है वहां ही लेजाते हैं और वहां लेजाना उचित ही है क्योंकि अग्नि की आहुतियों से जीवों की उत्पत्ति कही गई है इस हेतु पुनः इस भौतिक शरीर को अग्नि में डालना सर्वथा उचित है ॥ २ ॥

भाष्याशयः-श्रद्धा, सोम, वर्ष, अन्न रेत नामधारी जल के साथ २ गमन करने वाला यह जीव पञ्चमी आहुति में पुरुष संज्ञा को प्राप्त होकर अपनी आयु भर जीकर पुनः इस शरीर को परित्यागता है । तत्पश्चात् आग्नेयशक्ति अथवा प्राकृत नियम उसको पुनः उस जगह पहुंचाते हैं जहां से वह प्रथम जन्म के लिये फेंकागया थ और क्रमशः मातृकुक्षिस्थ किया गया था वही सर्वव्यापक शक्ति पुनः वहां पहुंचाया करती है ॥ २ ॥

इति नवमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षान्यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्* ॥ १ ॥

तत् । ये । इत्थम् । विदुः । ये । च । इमे । अरण्ये । श्रद्धा । तपः । इति । उपासते । ते । अर्चिषम् । अभिसम्भवन्ति । अर्चिषः । अहः । अह्नः । आपूर्यमाणपक्षम् । आपूर्यमाणपक्षात् । यान् । षट् । उदङ् । एति । मासान् । तान् ॥ १ ॥

भाष्यम्-तदिति । तत् । तत्र । जीवानांमध्ये । ये विद्वांसः । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चाग्निविद्यायास्तत्त्वं । सम्यग् विदुर्जानन्ति । ये च इमे । प्रसिद्धाः परिव्राजः । अरण्ये

* ते य एवमेतद्विदुः ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षड्मास उदङ्ङादित्य एति ॥ बृ० ६ । २ । १५ ॥ अर्थ-(ते) वे (ये+एतत्+एवम्+विदुः) जो इस पञ्चाग्निविज्ञान को इस प्रकार जानते हैं (च) और (ये+अमी+अरण्ये) एकान्त स्थल में (श्रद्धाम्+सत्यम्+उपासते) श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं (ते+अर्चिः+अभिसम्भवन्ति) वे आर्चिषी दशा को प्राप्त होते हैं (अर्चिषः+अहः) अर्चिष दशा से आह्निक दशाको (अह्नः+आपूर्यमाणपक्षम्) आह्निक दशा से पाक्षिक दशा को (आपूर्यमाणपक्षात्) पाक्षिक दशा से (यान्+षट्मासान्) जिन ६ मासों में (उदङ्+आदित्यः) उत्तराभिगामी सूर्य (एति) उत्तर की ओर जाता है तत्सदृश दशा को अर्थात् औत्तरायिणी दशा को प्राप्त होता है ॥

वने एकान्तस्थाने । श्रद्धा ईश्वरे प्रतीतिः । तपः प्रत्यहं मननिदिध्यासनादिव्यापारः । इत्युपासते । कुर्वन्ति । अयमभिप्रायः । ये श्रद्धया सत्य-शम-दममननिदिध्यासनादितपश्चरणेन च ब्रह्मोपासते । ते पञ्चाग्निविद्याविदः श्रद्धावन्तस्तपस्विनः परिव्राजश्च । अर्चिषम् । अर्चिरित्यग्निज्वाला । साधारणां लघ्वीमुद्गमनशीलां लघुदेशव्यापिनीमग्नेर्ज्वालामिव कामपि ज्योतिष्मतीं दशाम् आग्नेयशक्तिम्वा । अभिसंभवन्ति प्राप्नुवन्ति । मरणानन्तरं किञ्चिदानन्दसंयुक्तां प्रकाशसहितां दशां प्रथमं जीवः प्राप्नोति । ततः । अर्चिषः । अर्चीरूपाया दशायाः सकाशात् । अहर्दिनम् । अभिसंभवन्ति । यथा । अर्चिषो दिनं भूय इव बहुव्यापकमिव अधिकप्रकाशमिव लक्ष्यते । तथैव तस्यादशायाः सकाशादधिकानन्दप्रदामधिकदेशव्यासज्योतिषं दशां प्राप्नुवन्ति । अह्नः सकाशादापूर्यमाणपक्षम् । दिवसादेकस्मात् केवलाद् आपूर्यमाणपक्षः सर्वथा भूयान् मिलित्वाधिकानन्दघनश्चास्ति । अतो दैनिकदशा तुलितायाः सकाशात् शुक्लपक्षपरिमितामिव अधिकतरानन्दाम् अधिकतरदेशव्यापिनीं कामपिदशां प्राप्नुवन्ति । आपूर्यमाणपक्षात् सकाशात् । उदङ् । उत्तरांदिशमञ्चति गच्छतीत्युदङ् । उत्तरदिशामस्थितः सूर्यः । यान् षण्मासन् । एति प्राप्नोति । तानिव । कामपि विस्तीर्णानन्दां दशां प्राप्नुवन्ति ॥ १ ॥

अनुवादः-वहां (जीवों के बीच) जो ऐसे जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं । वे आर्चिषी दशा को प्राप्त होते हैं आर्चिषी दशा से आह्निकी दशा को, आह्निकी दशा से पाक्षिकी दशा को, पाक्षिकी दशा से औत्तरायणी षाण्मासिकी दशा को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(तत्) उन मनुष्यों के बीच (ये) जो (इत्थम्) इस पूर्वोक्त प्रकार से (विदुः) पञ्चाग्नि विद्या के तत्त्वोंको जानते हैं (च) और (ये+इमे) जो ये सन्न्यासी (अरण्ये) वन में (श्रद्धा) ईश्वर में परमप्रीति और (तपः) प्रतिदिन मनन निदिध्यासनादि व्यापार (इति) इनकी ही (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से पञ्चाग्नि विद्या के जानने वाले तथा अरण्यस्थ होकर श्रद्धा और तपश्चरण से ब्रह्म के उपासकगण (अर्चिषम्) आर्चिषी दशा को (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः) आर्चिषी दशा से (अहः) दैनिक दशाको प्राप्त होते हैं (अह्नः) आह्निक दशा से (आपूर्यमाणपक्षम्) शुक्लपक्ष अर्थात् पाक्षिकी दशा को प्राप्त होते हैं (आपूर्यमाणपक्षात्) पाक्षिकी दशा से (उदङ्) उत्तरायण को जाते हुए सूर्य (यान्) जिन (षट्+मासान्) छः मासों को (एति) प्राप्त होते हैं (तान्) उस षाण्मासिकी औत्तरायणी दशा को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति* ॥ २ ॥

मासेभ्यः । संवत्सरम् । संवत्सरात् । आदित्यम् । आदित्यात् । चन्द्रमसम् । चन्द्रमसः । विद्युतम् । तत्पुरुषः । अमानवः । सः । एनान् । ब्रह्म । गमयति । एषः । देवयानः । पन्थाः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—मासेभ्य इति । मासेभ्यः संवत्सरम् । षण्मासेभ्यो भूयानेव वर्षोभवति । तस्य द्वादशमासात्मकत्वात् । तस्माद्द्विगुणतरामानन्ददशां प्राप्नुवन्ति । संवत्सरादादित्यम् । आदित्येनैव संवत्सरः प्रादुर्भवति । यो यस्माद् भवति स तस्माल्लघुतरः । मृत्तिकाद् घट इव । अतः तस्मादधिकतरानन्ददायिनीं दशां गच्छन्ति । आदित्याच्चन्द्रमसं चान्द्रमसीं दशां सर्वथा आह्लादकरीमानन्दरसपूर्णां गच्छन्ति । ततो विद्युतम् । यथा विद्युदतितीक्ष्णा अतितीव्रज्वाला तथा बहुदेशव्यापिनीं विद्युतमिव दशां प्राप्नुवन्ति । इमांदशां प्राप्य तेषामानन्दस्य सीमा अतिविस्तीर्णा भवति । अत आह तत्पुरुष अमानव इति । तस्या विद्युदुपमदशायाः । पुरुषः व्यापकः कर्मविशेषः । अमानवः । मानमस्यास्ति इति मानवः । न मानवः अमानवः असीम इत्यर्थः । अत्र स एवायाति यस्य शुभकर्मविशेषोऽसीमो भवति । सोऽमानवः पुरुषः । एनान् विदुषः । ब्रह्म ब्राह्मीं दशाम् । गमयति प्रापयति । हे गौतम ! एष एव देवयानः पन्थाः ॥ २ ॥

---

* छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ४ खण्ड १५ प्रवाक ५-६ देखो । मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ बृ० ६ । २ । १५ ॥

अर्थ-(मासेभ्यः) पाण्मासिक दशा से (देवलोकम्) दैविक दशा को (देवलोकात्) दैविक दशा से (आदित्यम्) सौरी दशा को (आदित्यात्+वैद्युतम्) सौरी दशा से वैद्युत दशा को (तान्+वैद्युतान्) उन वैद्युत दशा प्राप्त पुरुषों को (मानसः+पुरुषः) मनन श्रवणादि कर्मजनित फल विशेष (एत्य) आकर (ब्रह्मलोकान्+गमयति) ब्रह्म की ओर ले जाता है (तेषु+ब्रह्मलोकेषु) उन ब्रह्मानन्दों में (पराः) उत्कृष्ट होते हुए (परावतः+वसन्ति) अनेक कल्प निवास करते हैं (तेषाम्+न+पुनरावृत्तिः) उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥

अनुवादः—षाण्मासिक दशा से सांवत्सरी दशा को, सांवत्सरी दशासे सौरी दशा को, सौरी दशासे चान्द्रमसी दशाको, चान्द्रमसी दशा से वैद्युती दशाको प्राप्त होते हैं। वैद्युती दशा को प्राप्त करने वाले ज्ञानी का शुभकर्म-विशेष असीम होता है। वह (शुभ-कर्म विशेष) इन (ज्ञानियों) को ब्रह्म का योग करा देता है। इसीका नाम देवयानपथ है॥ २॥

पदार्थः—(मासेभ्यः) षाण्मासिक दशा से (सँव्वत्सरम्) सँव्वत्सर (वर्ष) समान दशा को प्राप्त होते हैं (सँव्वत्सरात्) सांवत्सरी दशा से (आदित्यम्) आदित्य समान दशाको प्राप्त होते हैं (आदित्यात्) आदित्य समान दशा से (चन्द्रमसम्) चन्द्र समान दशा को प्राप्त होते हैं (चन्द्रमसः) चान्द्रमसी दशा से (विद्युतम्) विद्युत् समान दशा को प्राप्त होते हैं (तत्पुरुषः) विद्युत् दशा को प्राप्त ज्ञानी का शुभकर्म विशेष (अमानवः) मानरहित=असीम होता है (सः) वह असीम कर्मफल (एतान्) इन ब्रह्मज्ञानियों को (ब्रह्म) ब्रह्म की (गमयति) प्राप्ति कराता है (एषः+देवयानः+पन्थाः) यह देवयान मार्ग है॥ २॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति *॥ ३॥

अथ। ये इमे। ग्रामे। इष्टापूर्ते। दत्तम्। इति। उपासते। ते। धूमम्। अभिसंभवन्ति। धूमाद्। रात्रिम्। रात्रेः। अपरपक्षम्। अपरपक्षात्। यान्। षड्। दक्षिणा। एति। मासान्। तान्। न। एते। संवत्सरम्। अभिप्राप्नुवन्ति॥३॥

भाष्यम्—अथेति। अथ शब्द आरम्भार्थः। पितृयाणपथस्य वर्णनमारभ्यते। ये इमे प्रसिद्धा गृहस्थाः। ग्रामे ग्रहणाद्वा ग्रसनाद्वा गमनेन यत्र रमणाद्वा ग्रामः। तस्मिन् भोग्यस्थाने

---

* अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति॥ बृ० ६।२।१६॥

अर्थ—(अथ) अब पितृयाण कहते हैं (ये) जो मनुष्य (यज्ञेन+दानेन+तपसा) यज्ञ, दान और तप से (लोकान्+जयति) लोकों को प्राप्त करते हैं (ते+धूमम्+अभिसंभवन्ति०) वे धौम दशा को प्राप्त होते हैं उससे रात्रि दशा को, उससे अपक्षीयमाण दशा को उससे षाण्मासिक दक्षिणदशा को प्राप्त होते हैं॥

एव । न तपश्चरण प्रदेशे इत्यर्थः । इष्टापूर्ते इष्टञ्चापूर्तञ्च । इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा ईश्वरमातृपितृ बुधगण प्रभृतयो येन । इज्यन्ते विविध होमीय द्रव्याणि दीयन्ते प्रक्षिप्यन्ते येन च । तदिष्टम् । यजनम् । अग्निष्टोमादिवैदिकं कर्म । आपूर्तम् । पूरणम् । आपूर्यन्ते समन्ताद्भ्रियन्ते पोष्यन्ते द्विपदश्चतुष्पदाः सर्वे जीवा येन तदापूर्तम् । आपूर्त वापीकूपतड़ागारामादिकरणम् । दत्तम् दानम् । देशकालपात्रविवेकेन यथाशक्ति द्रव्याणामुत्सर्गः । इति शब्दः प्रकारार्थः । एवं विधानि दयापरोपकारे रक्षणं अहिंसनमित्यादीनि अन्यान्यपि आचरणानि उपासते । श्रद्धयानुरागेण प्रीत्या च कुर्वन्ति । ते इष्टापूर्तदत्तोपासकाः धूमो धूमनात् कम्पनाद् धूमः । आशुपुनरावृत्ति कारणाद् धूमत्वम् । नातिप्रकाशः नात्यन्धकारोऽधूमशब्दवाच्यः धूमसदृशां अभिसंभवन्ति प्राप्नुवन्ति । धूमाद् । रात्रिम् । विश्रामस्य रानाद्दानाद्वा चन्द्रेण रञ्जनाद्वा रमणाद्वा । जनस्य त्राणाद्वा रात्रिः । क्षयशीलामापातरमणीयां दशाम् । अभिसंभवन्तीत्यर्थः । रात्रेः सकाशाद् । अपरपक्षम् । अपरे अनुत्कृष्टा मध्यमा जनाः पचन्ति आनन्दं भक्षयन्ति अनुभवन्ति यत्र सोऽपरपक्षः । रात्र्यपेक्षया अधिकानन्दप्रदां दशाम् । मासस्य अपरपक्षवत् रात्रेर्विस्तीर्णतरामिव दशाम्वा । अपरपक्षात् । यान् षण्मासान् दक्षिणा दक्षिणाम् । दिशम् । सूर्य इति शेषः । एतिगच्छति । तान् मासान् । अभिसंभवन्ति । एते उपासकाः । संवत्सरं न नैव अभिप्राप्नुवन्ति । मासः । माननाद्वा । मानस्य आसनाद्वा । मामुपासकमासयति उपवेशयति इति प्रत्याशनाद्वा मासः । अपरपक्षादधिकविस्तीर्णामिव दशामित्यर्थः । अत्र संवत्सरः पूर्णतासूचकः । न पूर्णानन्दं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः—अब जो ये "ग्राम निवासी" ग्राम में इष्ट, आपूर्त और दान अनुराग श्रद्धा और प्रीति से करते हैं । वे धूमवत् दशा को प्राप्त करते हैं धूम से रात्रिवत् दशा को, रात्रिसे अपरपक्षवत् दशा को, अपरपक्ष से षट्दक्षिणायणमासवत् दशा को प्राप्त होते हैं ये संवत्सर को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) अथ शब्द यहां प्रारम्भार्थक है अब देवयान के अनन्तर पितृयाण का वर्णन आरम्भ होता है (ये) जो (इमे) ये ग्राम निवासी जन (ग्रामे) ग्राम में (इष्टापूर्ते) ज्योतिष्टोमादिवैदिक कर्म को 'इष्ट' वापी कूप तड़ाग वाटिकादि रचना को आपूर्त कहते हैं (दत्तम्) दान (इति) इष्ट आपूर्त और दान समान दया, परोपकार, रक्षण, अहिंसा आदिकों का आचरण (उपासते) प्रीति अनुराग और श्रद्धापूर्वक करते हैं (ते) वे इष्टापूर्तदानादि उपासक (धूमम्) धौमदशा को (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (धूमात्) धौमदशा से (रात्रिम्) रात्रिदशा को (रात्रेः) रात्रिदशा से (अपरपक्षम्)

अपरपक्ष दशा को (अपरपक्षात्) अपरपक्ष से (यान्) जिन (षट्) छः (मासान्) मासों में (दक्षिणा) दक्षिण दिशाओं को (एति) सूर्य जाते हैं (तान्) उन मासों को अर्थात् षाण्मासिक दाक्षिणायणी दशा को प्राप्त होता है (एते) ये ग्राम में इष्टापूर्त और दान के उपासक (संवत्सरम्) सांवत्सरिक दशा को (न) नहीं (अभिप्राप्नुवन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—अब पितृयाण का वर्णन करते हैं। ग्राम—ग्राम शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है जैसे जो अपने में ग्रहण वा ग्रसन करे अथवा जहां पर जाने से मन रमित हो अर्थात् भोग्यस्थान का नाम ग्राम है अरण्य का प्रतिकूल स्थान से यहां तात्पर्य्य है। इष्टापूर्त्त—ईश्वर माता पिता विद्वान्गण आदिकों का जिस कर्म के द्वारा सत्कार हो यद्वा विविध होमीय द्रव्य अग्नि में जिस कर्म द्वारा होमे जायं उसे इष्ट, याग, यजन, यज्ञ, अध्वर आदि शब्दों से कहते हैं और जिस कर्म के द्वारा द्विपद चतुष्पद आदि प्राणिमात्र पोषित पालित हों उन्हें आपूर्त्त कहते हैं जिस हेतु वापी, कूप, तड़ाग, वाटिका आदियों से प्राणीमात्र का उपकार है इस हेतु इन सब कर्मों का नाम आपूर्त्त है। धूम—कम्पनार्थक धूञ् धातु से धूम शब्द सिद्ध होता है जो लोग देवयान को न जानकर पितृयाण को प्राप्त होते हैं उन्हें सर्वदा गिरने का कम्पन अर्थात् भय बना रहता है इस हेतु प्रथम धौम दशा को इष्टापूर्त्त आदि से भी प्राप्त होते हैं। रात्रि—विश्राम देने के कारण अथवा चंद्रमा के साथ जो सुशोभित और सुखमय हो। यद्वा शयन करने ही से जहां त्राण मिले उसे रात्रि कहते हैं जैसे रात्रि अन्धकार और ज्योति दोनों से युक्त होती है तद्वत् धौम दशा के अनन्तर प्रकाशाऽप्रकाश युक्त दशा को पाता है। अपरपक्ष—अपर पर न हो अर्थात् अनुत्कृष्ट मध्यम जन जहां आनन्द प्राप्त करें उसे अपरपक्ष कहते हैं यह लौकिक अपरपक्ष भी राज्यपेक्षा अधिकानन्दप्रद होता है इस हेतु रात्रि दशा से अपरपक्ष समान दशा को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार इससे किञ्चिद्बृहदानन्दप्रद दक्षिण दशा को प्राप्त होते हैं ये सांवत्सरिक दशा को प्राप्त नहीं होते। यहां सँव्वत्सर पूर्णता सूचक है अर्थात् पितृपथगामी पूर्णानन्द को प्राप्त नहीं करते। यहां ही देवयान और पितृयाण मार्ग का भेद होता है। यथार्थ में तो प्रथम से ही भेद है क्योंकि देवयानगामी अर्चि आदिक को और पितृयाण गामी धूम आदिक को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमस-

मेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति * ॥ ४ ॥

मासेभ्यः । पितृलोकम् । पितृलोकात् । आकाशम् । आकाशात् । चन्द्रमसम् । एषः । सोमः । राजा । तत् । देवानाम् । अन्नम् । तम् । देवाः । भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

भाष्यम्–मासेभ्य इति । मासेभ्यो दक्षिणायणात् पितृलोकम् । पितृलोकमभिसंभवन्तीत्यध्याहारः । पितृलोक इत्यानन्ददशा विशेषस्यसंज्ञा । पितेवलोकः पितृलोकः । नतु पितुः पितृणाम्वा लोकः । इह पित्रादिशब्दो दशासूचकः । सर्वत्रेहेत्थं ज्ञेयम् । पितरः पालकाः पितृवत्पालकत्वद्

---

* मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तात्पर्य्य वैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान् प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ बृ० ६ । २ । १६ ॥

अर्थ–(मासेभ्यः) षाण्मासिक दाक्षिण दशा से (पितृलोकम्) पैत्रिक दशा को उससे चान्द्रमसी दशा को प्राप्त होते हैं यहां प्राप्त होकर अन्नवत् हो जाते हैं अर्थात् ये जीव सूर्य की किरण द्वारा प्रथम आहुति में श्रद्धा नाम जल के साथ होमे जाते हैं इसी विषय को आगे दिखलाते हैं (तान्+तत्र) उन अन्नभूत जीवों को (देवाः) प्राकृत नियम वा सूर्यकिरण (यथासोमं राजानम्) जैसे यज्ञ में सोमलतादि रस को (आप्यायस्व अपक्षीयस्व) बढ़ते घटते रहो इतना कह (भक्षयन्ति) खालेते हैं वैसे ही उनको भी खालेते हैं अर्थात् प्रथम आहुति में डालते हैं (तेषाम्) उन कर्म करने वाले जीवों के (यदा) जब (तत्) वह यज्ञ दानादि लक्षण कर्म (पर्य्यवैति) क्षीण हो जाते हैं (अथ) तब (इममेवाकाशम्) फिर इसी आकाश में (अभिनिष्पद्यन्ते) प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रथम द्युलोकाग्नि में होमे जाते हैं तब (आकाशाद्वायुम्) आकाश से वायु को वृष्टि को वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते पृथिवी प्राप्त कर अन्न होते हैं । वे पुनः पुरुषरूप अग्नि में होमे जाते हैं । तत्पश्चात् स्त्रीजातिरूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् पुरुषवाची कहलाते हैं । यदि पुनः पूर्ववत् ही इनके कर्म रहे तो इसी प्रकार से इनकी पुनरावृत्ति होती रहती है (अथ) और जो इन दोनों में से किसी मार्ग को नहीं जानते (ते कीटाः पतङ्गाः०) वे कीट पतङ्ग आदिक क्षुद्र जन्तु होते रहते हैं॥

आनन्दिता लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवा यत्र स पितृलोकः । तम् । पितृलोकाद् । आकाशम् । अभिसंभवन्ति । नायमाकाशः पञ्चभूतानामन्यतमः । तस्य सर्वत्र सद्भावात् । प्राप्त्युपदेशवैयर्थ्याच्च । अतो दशविशेषस्य संज्ञा ग्राह्या । आकाशाच्चन्द्रमसम् । चन्द्रवत् मा मानं यस्य आनन्दस्य स चन्द्रमाः । तम् । चन्द्रप्रकाशाप्रकाशवत् सुखदुःखमिश्रितामानन्ददशामभिसंभवति । एष सोमो राजा निगद्यते । एष चन्द्रमाः । सोमः प्रियः सोमरसवत् सर्वेषामाह्लादकरः । राजाराजते शोभत इति राजा । यदा जीवश्चान्द्रमसीं दशां प्राप्नोति । तदा आह्लादस्वरूपो दिव्यमूर्त्तिश्च भवति इमां दशां प्राप्य जीवस्य कर्म्मणां क्षयो भवति । कर्म्मक्षये पुनरपि स्थूलशरीरं प्रापणीयमतोऽग्रेऽन्नंभवतीति दर्शयति । पुनरपि प्रथमाग्नौ हूयते ततः क्रमेणस्त्रीरूपाग्नौ हुतः सन् पुरुषवाची भवतीत्येव चक्रवत्परिभ्राम्यति । तथाहि । तद्देवानामन्नम् । विधेयप्राधान्यात् तदितिनपुंसकम् । स चन्द्रगतो पुरुषः । देवानां सूर्य्यकिरणानां प्राकृतनियमानाम्वा अन्नमन्नमिव भक्ष्यम् । तं देवा भक्षयन्ति प्रथमाग्नौ क्षिपन्ति । इहहि जात्यैकवचनम् । चान्द्रमसीं दशां प्राप्य सर्वेजीवा सोमवद् राजमानास्तिष्ठन्ति । प्रथमायामाहुत्यां श्रद्धा हूयते । ततः सोमो राजा संभवतीत्युक्तं पुरस्तात् । अत आगत्य कर्म्मक्षयेसति सर्वोजीवः सोमसंज्ञां लभते । यद्यपि सोम इति जलस्य संज्ञा तथापि तज्जलसंसर्गात् सैव संज्ञा जीवस्यापि भवति ॥ ४ ॥

अनुवाद–मासिक दशा से पैतृक, पैतृक दशा से आकाशीय दशा, आकाशीय दशा से चान्द्रमसी दशा को प्राप्त होता है । यहां प्राप्त जीव सोमवत् विराजमान होते हैं । वे अन्नवत् सूर्य्यकिरणों के भक्ष्य होते हैं अतः सूर्य्यकिरणें वा प्राकृत नियम उन्हें खाजाते हैं अर्थात् द्युलोकरूप प्रथमाग्नि में उनकी आहुति देते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः–(मासेभ्यः) दक्षिणायन षाण्मासिक दशा से (पितृलोकम्) पैतृक दशा को प्राप्त करते हैं (पितृलोकात्) पैतृक दशा से (आकाशम्) आकाशीय दशा को प्राप्त होते हैं (आकाशात्) आकाशीय दशा से (चन्द्रमसम्) चन्द्रमसी दशा को प्राप्त होते हैं (एषः+सोमो+राजा) इस दशा को प्राप्त हुए ये जीव सोमरसवत् विराजमान होते हैं (तत्+देवानाम्+अन्नम्) वे जीव सूर्य्यकिरणों के अन्नवत् होते हैं इस दशा को प्राप्त हो जीव के कर्म्मों का क्षय होता है । कर्म्मक्षय होने पर पुनः स्थूल शरीर प्राप्त करता है । अतः यह जीव अन्न होजाता है यह आगे कहेंगे । पुनः इस जीव की प्रथमाग्नि में आहुति होती है । तत्क्रम से स्त्रीरूप अग्नि में होमित होकर पुनः पुरुषवाची होता है इस प्रकार जीव चक्रवत् परिभ्रमण करता रहता है । अतः (तं+देवा+भक्षयन्ति) उनको अन्नवत् सूर्य्यकिरणें खा जाती हैं । अर्थात् प्रथम अग्नि में उसको डालती हैं ॥ ४ ॥

तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते । यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥ ५ ॥

तस्मिन् । यावत् । सम्पादम् । उषित्वा । अथ । एतम् । एव । अध्वानम् । पुनः । निवर्त्तन्ते । यथा । इतम् । आकाशम् । आकाशाद् । वायुम् । वायुः । भूत्वा । धूमः । भवति । धूमः । भूत्वा । अभ्रम् । भवति । ॥ ५ ॥

भाष्यम्-तस्मिन्निति । तस्मिंश्चन्द्रलोके तस्यां चान्द्रमस्यां दशायामित्यर्थः । ग्रामे इष्टापूर्त्तदत्तोपासकाः । यावत्संपातं सम्पतन्त्यधः पतन्त्युपासका येन कर्मक्षयेण स सम्पातः कर्मणां क्षयः । यावत् कर्मणां क्षयो न भवति तावत्कालम् उषित्वा वासं कृत्वा । अथानन्तरम् एतमेवाध्वानम् । येनमार्गेण जनानां पुनः पुनरेतमागतमागमनं भवति । तमेवाध्युषितं मार्गं लक्षीकृत्य पुनर्निवर्तन्ते । पुनरपि जलवदवरोहन्ति । कोऽयं मार्गोयं प्रतिनिवर्त्तन्तइति विस्पष्टयति । यथेतं यथागतं निवर्त्तन्ते । ननुमासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमिति गमनक्रम उक्तो न तथा निवृत्तिः । किं तर्हि । आकाशाद्वायुमित्यादि । कथं यथेतमित्युच्यते नैषदोषः । आकाश प्राप्तेस्तुल्यत्वात् पृथिवी प्राप्तेश्च । न चात्र यथेतमिति नियमोऽनैवं विधमपि निवर्त्तन्ते । पुनर्निवर्त्तन्त इति तु नियमः । अत उक्तलक्षणार्थमेतद् यथेतमिति । अतो भौतिकमाकाशं तावत् प्रतिपद्यन्ते आकाशात् । वायुनर्भिसंभवन्ति । वायुस्थोभवतीत्यर्थः । वायुर्भूत्वाधूमो भवति । धौमींदशां प्राप्नोति । धूमोभूत्वा । धौमींदशां प्राप्य । अभ्रं भवति । आभ्रीं दशां प्राप्नोति ॥ ५ ॥

अनुवादः-वहां कर्म्मों का जब तक क्षय नहीं हुआ है तब तक निवासकर अनन्तर जिस मार्ग से आगमन होता है और जिससे गये थे उसी मार्ग के प्रति पुनः लौटते हैं आकाश को आते हैं । आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं । वायु में से होकर धूम में आते हैं धूम से होकर पर्जन्य में आते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः-(तस्मिन्) उस चन्द्रलोक में अर्थात् चान्द्रमसी दशा में (यावत्+सम्पातम्) सम्पात नाम कर्म्मों के क्षय का है अर्थात् कर्मक्षय पर्य्यन्त (उषित्वा) निवास कर (अथ) अनन्तर (यथा+एतम्) जिससे आगमन होता है और (यथा+इतम्) जिस मार्ग से पूर्व गमन हुआ था उसी (अध्वानम्) मार्ग के प्रति (पुनर्निवर्त्तन्ते) लौटते हैं । प्रथम (आकाशम्) आकाश को प्राप्त होते हैं (आकाशात्) आकाश से (वायुम्) वायवीय दशा को पाते हैं (वायुः+भूत्वा) वायु में से होकर (धूमः+भवति) धूम को प्राप्त होता है

(धूमः+भूत्वा) धूम को प्राप्त होकर (अभ्रम्+भवति) अभ्र को प्राप्त करता है अर्थात् आभ्रीय दशा को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

अभ्रम् । भूत्वा । मेघः । भवति । मेघः । भूत्वा । प्रवर्षति । ते । इह । व्रीहियवाः । ओषधिवनस्पतयः । तिलमाषाः । इति । जायन्ते । अतः । वै । खलु । दुर्निष्प्रपतरम् । यः । यः । हि । अन्नम् । अत्ति । यः । रेतः । सिञ्चति । तद्भूयः । एव । भवति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अभ्रमिति । अभ्रं भूत्वा मेघो भवति सेचनसमर्थो मेघो भवति मेघो भूत्वा विविधप्रदेशेषु प्रवर्षति । वर्षधारारूपेण पततीत्यर्थः । त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इत्येवम्प्रकाराः क्षीणकर्म्माणो जायन्ते । क्षीणकर्मणा मनेकत्वाद्बहुवचननिर्देशः । मेघादिषु पूर्व्वेष्वेकरूपत्वादेकवचननिर्देशः । यस्माद्गिरि-तट-दुर्ग-नदी-समुद्रारण्य मरुदेशादिसन्निवेशसहस्राणि वर्षधाराभिः पतितानां । अतस्तस्माद्धेतोर्वै खलु दुर्निष्पतरं दुर्निष्क्रमणं दुर्निःसरणम् । यतो गिरितटादुदकस्रोतसोह्यमाना नदीः प्राप्नुवन्ति ततः समुद्राम्भोभिर्जलचरैराकृष्टाः पुनर्वर्षधाराभिर्मरुदेशे शिलातटे वाऽगम्ये स्थाने पतितास्तिष्ठन्ति । कदाचिद्व्यालमृगादिपीता भक्षिताश्चान्यैः । तेऽप्यन्यैरित्येवम्प्रकाराः परिवर्त्तेरन् । कदाचिदभक्ष्येषु जातास्तत्रैव शुष्येरन् । भक्ष्येष्वपि स्थावरेषु प्रजातानां रेतः सिग्देहसम्बन्धो दुर्लभ एव । बहुत्वात् स्थावराणामिति । अतो दुर्निष्क्रमणत्वम् । अथवा ऽतोऽस्माद्व्रीहियवादिभावाद्दुर्निष्पतरं दुर्निर्गमनं दुर्निष्प्रपतरमिति तकार एको लुप्तो द्रष्टव्यः । व्रीहियवादिभावाद्दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्प्रपततरन्तस्मादपि दुर्निष्प्रपततराद्रेतः । सिग्देहसम्बन्धो दुर्निष्प्रपततर इत्यर्थः । यस्मादूर्ध्वं रेतोभिर्बालैः पुंस्त्वरहितैः स्थविरैर्वा भक्षिता अन्तराले शीर्य्यन्त अनेकत्वादन्नादानाम् । कदाचित्काकतालीयन्यायेन रेतःसिग्भिर्भक्ष्यन्ते यदा तदा रेतः सिग्भावं गतानां कर्मणो वृत्तिलाभः । कथं यो यो ह्यन्नमत्ति अनुशयिभिः संश्लिष्टं रेतः सिक् यश्च रेतः सिञ्चत्यृतुकाले योषिति । तद्भूय एव तदाकृतिरेव भवति । रेतो रूपेणान्तदवयव आकृतिभूयस्त्वं भूय इत्युच्यते । रेतोरूपेण योषिति रेतसो रेतःसिगाकृतिभावितत्वात् । सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमिति हि श्रुत्यन्तरात् । अतो रेतः

सिगाकृतिरेव भवतीत्यर्थः । तथाहि । पुरुषात्पुरुषो जायते गोर्गवाकृतिरेव न जात्यन्तराकृतिस्तस्माद्युक्तं तद्भूय एव भवतीति शङ्कराचार्य्यः ॥ ६ ॥

अनुवादः—अभ्र में से होकर मेघ को प्राप्त होता है मेघ होकर जब बरसता है । वे जीव ब्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष इत्यादि उपजते हैं इस हेतु निश्चय उनसे निष्क्रमण होना दुष्कर है क्योंकि जो जो अन्न खाता है और जो जो (स्त्रियों में) रेत सिञ्चन करता है तत्स्वरूप ही होता है ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अभ्रम्+भूत्वा) अभ्र को प्राप्त होकर (मेघः+भवति) मेघ को प्राप्त होता है (मेघः+भूत्वा) मेघ को प्राप्त होकर (प्रवर्षति) जहां तहां बरसता है । (ते) वे जीव (ब्रीहियवाः) धान्यादि और यव (ओषधिवनस्पतयः) सोमलतादि ओषधि और दूर्वादलादि वनस्पति (तिलमाषाः) तिल और माष (उड़द) (इति) इस प्रकार के अन्य घास आदि भी (जायन्ते) उपजते हैं (अतः) इस कारण (खलु+वै) निश्चय जानो कि (दुर्निष्प्रपतरम्) उन ब्रीहि यव ओषधि प्रभृतियों से निकलना अत्यन्त कठिन है (हि) क्योंकि (यः+यः) जो जो (अन्नम्+अत्ति) अन्न के खानेवाला है (यः) जो २ (रेतः+सिञ्चति) स्त्रियों में वीर्य्यसेचन करने वाला है (तद्भूयः+एव) उसी उसी आकृतिवाला (भवति) होता है ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—दुर्निष्प्रपतर यहां एक "त" का लोप हो गया है । दुर्निष्प्रपततर ऐसा शब्द होना चाहिये । दुर्+निष्+पत+तर । यहां तीन उपसर्ग हैं तब "पत" शब्द है और तब "पत" शब्द से "तरप्" प्रत्यय है सब मिलकर "दुर्निष्प्रपततर" होना चाहिये सो एक तकारका लोप होने से दुर्निष्प्रपतर है । दुःख से निकलना इसका अर्थ है । यहां शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि मेघ धारा के साथ गिरने वालों की जगह हज़ारों हैं। पर्वत, वन, नदी, समुद्र, महारण्य, मरुदेश इत्यादि । कहां कौन गिरेगा इसका यद्यपि शास्त्र में निर्णय है क्योंकि कर्मानुसार ही जीव मरने के समय में गन्तव्य मार्ग स्थान योनि आदिक की स्थिरता करलेता है और उसी के अनुसार देश योनि आदिक में पतित होता है तथापि यहां वैराग्य दर्शाने के अभिप्राय से ऐसा वर्णन होता है । शङ्कराचार्य आगे कहते हैं कि देखो कैसी दुःखकी दशा होती है यदि कोई पर्वत के शिखर के ऊपर गिरा तो वहां से बहकर नीचे को आवेगा । वहां से किसी नदी में जायगा नदी के द्वारा समुद्र में । वहां मकरादिक भयङ्कर पशु खालेते हैं उन पशुओंको भी कोई दूसरा पशु खालेता है इस प्रकार उस भक्षक मकर के साथ ही समुद्र में मिल जाता है पश्चात् मेघ समुद्र से उनको ऊपर खींचता है पुनः वर्षा की धारा के साथ क्या मरुदेश क्या शिलातट क्या किसी अगम्य स्थान में जाकर

गिरता है । वहां कदाचित् व्याल मृगादिक ने उन्हें पीलिया या किसी ने खालिया उसे भी किसी अन्य जन्तु ने खालिया । इस प्रकार महादुःख से आवागमन होता रहता है । कदाचित् अभक्ष्य स्थावरों में यदि मेघधारा के साथ उत्पन्न हुए तो वहां ही शुष्क होगये । कदाचित् भक्ष्य स्थावरों में उत्पन्न होनेपर भी रेत सींचने वाले देहधारियों के साथ सम्बन्ध होना दुर्लभ ही है क्योंकि स्थावरों की संख्या अधिक है और खानेवाले कम हैं । इस हेतु तत्तत् योनि से निकलना अत्यन्त कठिन है । अथवा व्रीहि,यव, ओषधि, वनस्पति, तिल, प्राप्त होने पर भी उन से निकलना दुर्लभ ही है क्योंकि यदि उनको ऊर्ध्वरेता, बालक, पुंस्त्व रहित और स्थविर खायं तो बीच में ही शुष्क हो जायेंगे कदाचित् काकतालीन्याय से रेत सींचने वाले यदि उनको खायं तव रेत के सींचने वाले में प्राप्त होकर अपनी वृत्ति लाभ कर सकते हैं क्योंकि जो २ अन्न खाते हैं और ऋतुकाल में रेत सिंचन करते हैं उसी के अनुसार उनकी आकृति बनती है उस रेत में अनुशायी जो जीव वे रेत सींचने वालों के अङ्गों से निकलकर उसी की आकृति के समान होते हैं । जैसे पुरुष से पुरुष गाय से गाय आकृति वाले होते हैं इस प्रकार ज्ञानयोनि का प्राप्त करना ही प्रथम कठिन है यदि कर्मवश प्राप्त किया भी तो ज्ञान प्राप्त कर ईश्वर का पहिचानना अत्यन्त दुर्लभ है इस हेतु चक्रवत् यह जीव सदा भ्रमण करता रहता है ॥ ६ ॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

तत् । ये । इह । रमणीयचरणाः । अभ्याशः । ह । यत् । ते । रमणीयाम् । योनिम् । आपद्येरन् । ब्राह्मणयोनिम् । वा । क्षत्रिययोनिम् । वा । वैश्ययोनिम् । वा । अथ । ये । इह । कपूयचरणाः । अभ्याशः । ह । यत् । ते । कपूयाम् । योनिम् । आपद्येरन् । श्वयोनिम् । वा । शूकरयोनिम् । वा । चण्डालयोनिम् । वा ॥७॥

भाष्यम्—तदिति । तत्तत्र तेषु व्रीहियवादिषु ये अनुशायिनो जीवाः सन्ति ते यदि रमणीयचरणाः स्युः । रमणीयं शोभनं चरणं शीलं येषाम् ते रमणीयचरणा भवन्ति । रमणीय-

चरणोपलक्षितः शोभनोऽनुशयः पुण्यं कर्म येषाम् । ते रमणीयचरणा उच्यन्ते । ते जीवा अभ्याशो ह क्षिप्रमेव यद्विति क्रियाविशेषणम् । रमणीयां शोभनां कौर्यानृतमायादिवर्जितां योनिम् आपद्येरन् लभेरन् । कां रमणीयां योनिमित्याह । ब्राह्मणयोनिम्वा ब्राह्मणानां वेदविदुषां योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा ईदृशीं योनिं प्राप्नुवन्ति । अथ ये जीवा इह लोके कपूयचरणाः कपूयमशोभनं कौर्यादिसहितं चरणं शीलं येषां ते कपूयचरणा एतादृशा ये जीवाः सन्ति । ते अभ्याशो ह क्षिप्रमेव कपूयामशोभनां दुष्टां योनिमापद्येरन् लभेरन् अर्थात् धर्म-सम्बन्ध-वर्जितां जुगुप्सितां योनिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कां कपूयां योनिमापद्येरन् इत्याह । श्वयोनिं सारमेय-योनिं । शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा आपद्येरन् ॥ ७ ॥

अनुवादः—उनके मध्य जो जीव यहां रमणीयशील वाले हैं वे शीघ्र ही रमणीय योनि को प्राप्त होते हैं । ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को (प्राप्त होते हैं) और जो जीव यहां निन्दित कर्म वाले हैं वे जीव निन्दितयोनि को प्राप्त होते हैं । कूकरयोनि को वा शूकरयोनि को वा चण्डालयोनि को (प्राप्त होते हैं) ॥ ७ ॥

पदार्थः—(तत्र) उन व्रीहि यव आदियों में अनुशायी जीवों के मध्य (ये) जो जीव (इह) इस लोक में (रमणीयचरणाः) रमणीय=शोभन । चरण=शील है जिनका वे रमणीयचरण कहलाते हैं अर्थात् सुन्दर आचरणवाले (ते) वे जीव (अभ्याशः) शीघ्र (ह) ही (रमणीयाम्) सुन्दर (योनिम्) योनि को (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं । किस सुन्दर योनि को प्राप्त होते हैं सो आगे कहा जाता है (ब्राह्मणयोनिम्वा) ब्राह्मण योनि अथवा (क्षत्रिययोनिम्वा) क्षत्रिययोनि वा (वैश्ययोनिम्वा) वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं (अथ) और (ये) जो जीव (इह) यहां (कपूयचरणाः) कपूय=निन्दित । चरण=आचरणशील है जिनका अर्थात् जिन का आचरण वा शील निन्दित है उन्हें कपूयचरण कहते हैं (ते) वे (अभ्याशः+ह) शीघ्र ही (कपूयाम्+योनिम्) निन्दित योनि को (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं । किस निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं सो आगे कहा जाता है (श्वयोनिम्वा) कूकर योनि को अथवा (शूकरयोनिम्वा) शूकरयोनि को अथवा (चण्डालयोनिम्वा) चाण्डालयोनि को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानं

तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः॥ ८॥

अथ। एतयोः। पथोः। न। कतरेणचन। तानि। इमानि। क्षुद्राणि। असकृदावर्तीनि। भूतानि। भवन्ति। जायस्व। म्रियस्व। इति। एतत्। तृतीयम्। स्थानम्। तेन। असौ। लोकः। न। सम्पूर्यते। तस्मात्। जुगुप्सेत। तत्। एषः। श्लोकः॥ ८॥

भाष्यम्—अथेति। यदा तु न विद्यासेविनो नापीष्टापूर्त्तादिकर्म्म सेवन्ते तदाऽथैतयोः पथोर्यथोक्तयोरर्चिर्धूमादि लक्षणयोर्न कतरेणचनान्यतरेणचनापि न यन्ति। तानीमानि भूतानि क्षुद्राणि दंश-मशक-कीटादीन्यसकृदावर्त्तीनि भवन्त्यत उभयमार्ग-परिभ्रष्टा ह्यसकृज्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः। तेषां जननमरण सन्ततेरनुकरणमिदमुच्यते जायस्व म्रियस्वेति। ईश्वरनिमित्तचेष्टोच्यते। जननमरणलक्षणेनैव कालयापनं भवति। न तु क्रियासुशोभनेषु भोगेषु वा कालोस्तीत्यर्थः। एतत्क्षुद्रजन्तु-लक्षणं तृतीयं पूर्वोक्तौ पन्थानावपेक्ष्य स्थानं संसरताम्। येनैवं दक्षिणमार्गगा अपि पुनरागच्छन्ति। अनधिकृतानां ज्ञानकर्मणोरगमनमेव दक्षिणेन पथेति। तेनासौ लोको न सम्पूर्यते। पञ्चमस्तु प्रश्नः पञ्चाग्निविद्यायां व्याख्यातः। प्रथमो दक्षिणोत्तरमार्गाभ्यामपाकृतो दक्षिणोत्तरयोः पथोर्व्यावर्त्तनापिमृतानामग्नौ प्रक्षेपः समानः। ततो व्यावर्त्तनान्यर्चिरादिना यन्त्यन्ये धूमादिना। पुनरुत्तरदक्षिणायने परमासान् प्राप्नुवन्तः संयुज्य पुनर्व्यावर्त्तन्ते। अन्ये संवत्सरमन्ये मासेभ्यः पितृलोकमिति व्याख्याता। पुनरावृत्तिरपि क्षीणानुशयानां चन्द्रमण्डलादाकाशादि क्रमेणोक्ता। अमुष्यलोकस्यापूरणं स्वशब्देनैवोक्तम्। तेनासौ लोको न सम्पूर्य्यत इति। यस्मादेवं कष्टा संसारगतिस्तस्माज्जुगुप्सेत। यस्माच्च जन्म-मरण-जनितवेदनानुभव कृतक्षणाः क्षुद्रजन्तवो ध्वान्ते घोरे दुस्तरे प्रवेशिताः सागर इवागाधे अप्लवे निराशाश्चोत्तरणं प्रतितस्माच्चैवं विधां संसारगतिं जुगुप्सेत बीभत्सेत घृणीभवेत् माभूदेवंविधे संसारे महोदधौ घोरे पात इति। तदेतस्मिन्नर्थे एषश्लोकः पञ्चाग्निविद्यास्तुतये॥ ८॥

अनुवादः—और जो इन दोनों मार्गों में से किसी एकमार्ग से भी नहीं जाते हैं वे ये बारम्बार आवृत्तिवाले क्षुद्रजन्तु होते हैं यह "जायस्व" और "म्रियस्व" नामक तृतीय स्थान अर्थात् तृतीय मार्ग है इस कारण यह लोक पूर्ण नहीं होता इस हेतु उससे घृणा करे इस विषय में यह श्लोक है॥ ८॥

पदार्थः—(अथ) और (एतयोः) इन (पथोः) मार्गों में से (कतरेणचन)

अर्थात् इन दोनों मार्गों में से किसी एकमार्ग से भी (न) नहीं जाते हैं (तानि+इमानि) वे ये अज्ञानी (क्षुद्राणि) अत्यन्त लघु (असकृदावर्तीनि) पुनः २ बारम्बार आवर्त्तनशील अर्थात् शीघ्र २ मरने जीने वाले (भूतानि) प्राणी जीव (भवन्ति) होते हैं । आगे इस मार्ग को क्या कहते हैं सो कहा जाता है (जायस्व) उत्पन्न होवो (म्रियस्व) मरो इति अर्थात् जायस्व म्रियस्व नामक (एतत्) यह (तृतीयम्+स्थानम्) तृतीय मार्ग है (तेन) इस कारण (असौ+लोकः) यह लोक (न+सम्पूर्यते) नहीं पूर्ण होता है (तस्मात्) इस कारण (जुगुप्सेत) इसको निन्दित समझे उससे घृणा करे (तत्) उस विषय में (एषः+श्लोकः) यह श्लोक प्रमाण है ॥ ८ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरꣳस्तैरिति ॥ ९ ॥

स्तेनः । हिरण्यस्य । सुराम् । पिबन् । च । गुरोः । तल्पम् । आवसन् । ब्रह्महा । च । एते । पतन्ति । चत्वारः । पञ्चमः । च । आचरन् । तैः । इति ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स्तेन इति । स्तेनयति चोरयतीति स्तेनश्चौरः । हिरण्यस्य सुवर्णस्य स्तेनश्चौरोऽपहर्त्ता । सुरां मादकद्रव्यम् । यथामनुः—गौड़ी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधासुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ११ । ९४ ॥ इत्यादिवचनाद् गौड़ी पैष्टी प्रभृति सुराभेदाः सन्ति । तां सुरां पिबंश्च तस्याः सुरायाः पाता इत्यर्थः । गुरोराचार्यस्य तल्पं पर्यङ्कमावसन् । गुरुपत्न्या सहवासीत्यर्थः । ब्रह्महा च ब्रह्मणो वेद विदुषो ब्रह्मतत्त्वज्ञान् वा हतवान् हिंसितवानिति ब्रह्महा । "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषुक्विप् ॥ ३ । २ । ८७ ॥ इत्यनेन हन्तेर्भूते-क्विप्" एतेचत्वारः । पञ्चमश्च तैश्चतुर्भिः पतितैः सार्धमाचरन् एतेपञ्च पतन्ति पतिता भवन्ति मनुरपि इममेवानुवदति । ब्रह्महत्या-सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ११ । ५४ । इत्येवंविधानि कर्माणि कुर्वन्तो जनास्तृतीयं पन्थानमभिसंभवन्तीत्याशयः ॥ ९ ॥

अनुवादः—१ सुवर्णस्तेयी २ सुरापायी ३ गुरुतल्पगामी और ४ ब्रह्मघाती ये चारों और पञ्चम इन चारों के साथ संसर्ग करने वाला ये पाचों पतित हो जाते हैं ॥ ९ ॥

पदार्थः—(हिरण्यस्य) सोने का (स्तेनः) चोरी करने वाला (च) और (सुराम्) मद्य को (पिबन्) पीता हुआ अर्थात् मद्य पीनेवाला और (गुरोः) गुरु की (तल्पम्) खाट पर (आवसन्) वास करने वाला अर्थात् गुरुपत्नी के साथ सहवास करने वाला

(ब्रह्महा) वेदवेत्ताओं अथवा ब्रह्मज्ञानियों को हनन करने वाला (एते+चत्वारः) ये चारों (च) और (पञ्चमः) पञ्चम (तैः) उन चारों के साथ (आचरन्) आचरण अर्थात् संसर्ग करने वाला ये पाचों (पतन्ति) पतित हो जाते हैं इस हेतु ऐसे २ कर्मों को करते हुए जीव तृतीय मार्ग को प्राप्त होते हैं यह आशय है (इति) ॥ ९ ॥

भाष्याशयः-सुरा—मनुजी कहते हैं कि गौडी पैष्ठी और माध्वी ये तीन प्रकार की सुराएं होती है सब ही तुल्य हैं आर्य्यों को मद्यपीना उचित नहीं मद्यपायियों के लिये मरना ही प्रायश्चित्त है । महापातक—मनुस्मृति के अनुसार सुवर्णचोरी, सुरापान, गुरुतल्पगमन और ब्रह्महनन ये चार और इन चारों का संसर्ग ये पांचों महापातक कहलाते हैं । इसी उपनिषद् के श्लोक का भाव का अनुवादमात्र किया है ॥ ९ ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यश्लोकोभवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

अथ । ह । यः । एतान् । एवम् । पञ्च । अग्नीन् । वेद । न । सः । ह । तैः । अपि । आचरन् । पाप्मना । लिप्यते । शुद्धः । पूतः । पुण्यश्लोकः । भवति । यः । एवम् । वेद । यः । एवम् । वेद ॥ १० ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ पञ्चाग्निविदो किंफलंभवतीति वर्णयितुमुत्तरप्रकरणमारभते । हेति प्रसिद्धो यो विद्वान् । एतान् पूर्वोक्तान् पञ्चाग्नीन् द्युलोकादीन् पञ्चसंख्याकान् अग्नीन् एवममुना प्रकारेण वेद जानाति । सह पञ्चाग्निविद् । तैरपि आचरन् । स्तेनसुरापगुरुतल्पगब्रह्महभिः सार्धमपि । आचरन् सहवास—सहोप्रवेशनादि व्यवहारान् कुर्वन्नपि तज्जनितेन पाप्मना पापेन न लिप्यते । न सम्बध्यते । प्रत्युत स तानपि उत्कृष्टैः स्वैः सहवासादिभिर्झटिति धार्मिकान् विदधाति । पुनश्च स तद्विद्यया शुद्धः । विशुद्धान्तःकरणो भवति पूतः पापाचारनिवृत्ततया पवित्रस्वभावः । पुण्यश्लोकः । पुण्या लोकाः स्त्रीपुत्रादिलक्षणा जना यस्य सः । तत् संसर्गेण तदीयाः सर्वे जना अपि प्रायः पवित्रीभवन्ति । कः खल्वीदृग् भवतीत्याह पुनरपि य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—पञ्चाग्निविद्या वाले को क्या फल होता है । सो आगे दिखलाया जाता है । जो इन पाचों अग्नियों को ऐसे जानता है वह उनके साथ आचरण करता हुआ भी

पाप से लिप्त नहीं होता है । पुनः वह शुद्ध पूत और पुण्यलोक होता है । जो ऐसा जानता है । जो ऐसा जानता है ॥ १० ॥

पदार्थः–(अथ+ह) अब ज्ञानीजन का फल कहा जाता है । (यः) जो ज्ञानी पुरुष (एतान्+पञ्च+अग्नीन्) इन पञ्च अग्नियों को (एवम्+वेद) ईदृग् गुणविशिष्ट जानते हैं । (सः+ह) वह (तैः) (अपि) उन पूर्वोक्त महापापियों के साथ भी (आचरन्) निवासादि संसर्ग करता हुआ भी (पाप्मना+न+लिप्यते) पापसे लिप्त नहीं होता अर्थात् उस ज्ञानी पुरुष को संसर्गजनित दोष नहीं लगता । क्योंकि वह अपने उत्कृष्ट संसर्ग उपदेशादिक से उन पापियों को उस पाप से हटा सुमार्ग पर ले आता । (शुद्धः+पूतः+पुण्यलोकः) और वह ज्ञानी शुद्ध पवित्र और पवित्र पुत्रादि वाला (भवति) होता है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है "य एवं वेद" यह द्विरुक्तिखण्ड समाप्त्यर्थ है ॥ १० ॥

जीवोत्क्रमण ॥

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्० ॥ ३ । १ । १ ॥ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे । येनेदमन्नं पच्यते । यदिदमद्यते । तस्यैष घोषोभवति । यमेतत्कर्णावपिधायशृणोति । स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳशृणोति ॥ बृ० उ० ५ । ९ । १ ॥ तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायात् । एवमेवायꣳशारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना-

उपनिषदों में जीव का उत्क्रमण अर्थात् शरीर को त्याग एक देह से दूसरे देह में जाने आने की कथा बहुतसी आई है । संक्षेप से उसकी समालोचना की जाती है । (अयं वैश्वानरः अग्निः) यह वैश्वानर अग्नि (यः+अयम्+अन्तःपुरुषे) जो यह अग्नि पुरुष के शरीर के अभ्यन्तर विराजमान है (येन इदं अन्नं पच्यते) जिस अग्नि के द्वारा यह अन्न पक्व होता है (यदिदं अद्यते) जिसको खाते हैं (तस्यैष घोषो भवति) उसी वैश्वानर अग्नि का शरीर के अभ्यन्तर शब्द होता है (यम्+एतत्कर्णौ+अपिधाय) जिस को कान बंद कर सुनते हैं (स+यदा+उत्क्रमिष्यन्+भवति) वह आत्मा जब इस शरीर से निष्क्रमणार्थ प्रवृत्त होता है (नं एनं घोषंशृणोति) तब कान को हस्तादि से ढांकने पर भी उस शब्द को जीवात्मा नहीं सुनता ॥ १ ॥ (यत्र एतत् ऊर्ध्वोच्छ्वासीभवति) जिस समय यह मुमूर्षु जन, ऊर्ध्वश्वासी होता है अर्थात् जब ऊर्ध्वश्वास चलने लगता है उस समय यह जानना चाहिये कि (तद्यथा) जैसे (सुसमाहितम्+अनः) विविधभारं भाण्ड उलूखल मूसल सूर्प पिठरादि सामग्री संयुक्त शकट, सुयोग्य शकट चालकाधिष्ठित हो

न्वारूढमुत्सर्जन् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासीभवति ॥ ३५ ॥ बृ० ४ । ३ । स यत्रायमणिमानंन्येति जरया वोपतपतो वाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरंवा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यते एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥ तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳहैवंविदꣳसर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

(उत्सर्जत्) घटनाक्रम से दुर्वह भारपीड़ित होकर कर्णक्लेशकर शब्द करता हुआ (यायात्) राह काटे (एवमेव) इसी दृष्टान्त सदृश (अयं शारीर आत्मा) यह लिङ्गशरीर सहित जीवात्मा (प्रज्ञेन आत्मना अन्वारूढः) प्राज्ञ परमात्मा अधिष्ठित होने पर भी निज कर्म फलानुसार शोक रोग जरादिक दुःखों से अतिशय पीड़ित होकर (उत्सर्जन्) दुःखार्त शब्द करता हुआ (याति) शरीरान्तर में जाता है ॥ ३५ ॥ (सः+यत्र) जिस समय यह प्राकृत हस्तपादादि सहित शरीरपिण्ड (अणिमानंन्येति) विविध शारीरिक क्लेशों से क्षीण होता है (जरया वा उपतपता वा अणिमानं निगच्छति) अथवा जरावस्था से अथवा आधिव्याधि से यह शरीरपिण्ड कृशता को प्राप्त करता है उस समय ऐसा जानना चाहिये (तद्यथा आम्रं०) जैसे आम्र, उदुम्बर वा पिप्पल का फल पककर अथवा वायु के झोके से वा अन्य किसी कारण से (बन्धात्+प्रमुच्यते) बन्धन से गिर पड़ता है (एवमेव अयंपुरुषः) इसी दृष्टान्त समान यह जीवात्मा क्षीण जीर्ण उपद्रव युक्त हो (एभ्यः+अङ्गेभ्यः) इन अनुपयुक्त अङ्गसमूहों से निकल कर (पुनः) फिर (प्रतिन्यायं प्रतियोनि) यथाविधि यथायोग्य योनि २ के प्रति (प्राणायैव) प्राण के लिये ही (आद्रवति दौड़ता है ॥ ३६ ॥ (तद्यथा) और जैसे (आयान्तम्+राजानम्) निज देश दर्शनार्थ आते हुए राजा के लिये (उग्राः प्रत्येनसः सूत ग्रामण्यः) सेनानायक विचारक यानाध्यक्ष और नगरपालकगण आगमन के पूर्व ही उस राजा के निमित्त (अन्नैः०) अन्नपान स्थानादिक का प्रबन्ध करते हैं और (अयं आयाति अयं आगच्छति) यह राजा आता है यह राजा आता है इस प्रकार उस के लिये प्रतीक्षा करते हैं (एवम्) इसी प्रकार ब्रह्मवित्पुरुष के लिये सकल चक्षुरादि भूतादिक विविध आनन्द की कल्पना करते हैं (इदं ब्रह्म आयाति०) यह ब्रह्मानन्द भोग करने के लिये आता है ॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवममात्मानमन्त-काले सर्वे प्राणा अभि समायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥ बृ० उ० ४ । ३ । स यत्रायमात्माऽबल्यं नेत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्य्यावर्त्तते तथाऽरूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

एकी भवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरे-कीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति नस्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेनप्रद्योतते नैष

जैसे अपने राज्य में परिभ्रमणार्थ इच्छुक राजा के लिये निज शरीररक्षक विचारक रथचालक ग्रामाध्यक्ष आदि उसके साथ २ अनुगमन करते हैं तद्वत् वागिन्द्रियादि समस्त प्राणवृत्तिएं भी शरीर-त्यागार्थ प्रवृत्त जीवात्मा के अनुसरण करती हैं जिस समय इस शरीर से ऊर्ध्व श्वास चलना आरम्भ होता है ॥ ३८ ॥ (स यत्रायम्) जिस समय शरीर का तेजोबल क्षीण हो जाता है तब यह जीव अपने को अतिशय दुर्बल समझने लगता है। दुर्बल प्राप्त होने पर ही संमोह प्राप्त होता है तदनन्तर प्राणाश्रित वागादि इन्द्रियसमूह आत्मा के अनुसरणार्थ प्रवृत्त होते हैं। आत्मा, उन शरणागत तेजोमात्रात्मक इन्द्रियसमूह को लेकर हृदयाकाश में आश्रय लेता है अर्थात् उस समय हृदयमात्र में जीवनक्रिया विद्यमान रहती है उस समय चक्षुरिन्द्रियशक्ति लोप हो जाता है इस हेतु वह देख नहीं सकता ॥ १ ॥

जब चक्षुरिन्द्रिय, इस स्थूल शरीर को त्याग आत्माश्रित सूक्ष्मशरीर के आश्रय में प्राप्त होता है। तब चारों तरफ बैठे लोग कहते हैं कि यह मुमूर्षु नहीं देखता। इसी प्रकार जब घ्राणेन्द्रिय लिङ्गशरीर के साथ मिलता है तो लोग कहते हैं कि इस को अब घ्राणशक्ति नहीं रही तत्पश्चात् जब रसनेन्द्रिय उस में सम्मिलित होता है तो लोग कहते हैं कि "यह स्वाद नहीं पाता" तत् पश्चात् जब वागिन्द्रिय सूक्ष्मशरीर के साथ सम्मिलित होता है तो लोग कहते हैं कि "यह बोल नहीं सकता" तत्पश्चात् जब श्रोत्रे-न्द्रिय उससे मिलता है तो लोग कहते हैं कि यह सुनता नहीं तत् पश्चात् जब मन इन्द्रिय उससे मिलता है तब लोग कहते हैं कि "यह अब बूझता नहीं" तत्पश्चात् जब स्पर्शेन्द्रिय उसके साथ एकत्रित होता है तो लोक कहते हैं कि इसे स्पर्शज्ञान नहीं। इस समय लोक कहते हैं कि इसका सम्पूर्ण ज्ञान विलुप्त होगया। इस समय इसका हृदय कम्पायमान

आत्मा निष्क्रामति । चक्षुषो वा मूर्द्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानोभवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च ॥ २ ॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳशरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥ तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥ बृ० ४ । ४ ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

होता है । इसी समय आत्मा निष्क्रमण करता है । क्या नेत्रमार्ग से क्या मूर्धद्वारा क्या किसी अन्य मार्ग द्वारा यह आत्मा शरीर से निकलता है। आत्मा के पीछे प्राण चलता है। प्राण के पीछे वागादिइन्द्रियदेव चलते हैं । इस समय वह आत्मा सविज्ञान होता है अर्थात् वासनासहित होकर वासना के अनुकूल गन्तव्य प्रदेश को स्थिर करता है अर्थात् यहां से अब कहां जाना होगा इसकी उपस्थिति वासना के द्वारा स्थिर करता है । इस आत्मा के साथ विद्या, कर्म्म और पूर्व प्रज्ञा साथ २ जाती है । सुविद्या, सत्कर्म्म और सुवासना यदि पूर्वोपार्जित रहती हैं तो साधु प्रदेश लाभ करता है । तद्विपरीत होने से विपरीत दशाको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

जैसे तृण जलायुका जब एक तृण के अन्तभाग में प्राप्त होता है तब जब तक अन्य तृण का आश्रय नहीं लेता तब तक पूर्व तृण को नहीं त्याग करता । इसी दृष्टान्त के अनुसार यह आत्मा इस शरीर को त्याग अविद्या को छोड़ अन्य शरीर को स्थिर कर यहां से गमन करता है। (३) जैसे सुवर्णकार सुवर्ण की मात्रा को ले लेकर नवीन नवीन सुन्दर २ वस्तु बनाया करता है वैसे यह आत्मा इस शरीर को त्याग अविद्या को छोड़ अन्य कल्याणतररूप को धारण करता है पित्र्य वा गान्धर्व वा देव वा प्राजापत्य वा ब्राह्म वा अन्य किसी प्राणी सम्बन्धी रूप को पाता है ॥ ४ ॥ इस शरीर मार्ग के अभ्यन्तर एक हृदय पुण्डरीक का वर्णन बहुधा आया है। उस हृदय से सम्बद्ध अनेक नाड़ियें इस शरीर में व्याप्त हैं । उन में से कोई नाड़ी पिङ्गलरस से, कोई शुक्लरस से, कोई नील रस से, कोई

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छतीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते । ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते । तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥ तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ३ ॥ अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥ अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा होद्वा मीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥ तदेष

पीतरस से, कोई लोहित रस से पूर्ण है । परन्तु इन विविध रंगों का कारण सूर्य्य ही है क्योंकि सूर्य्य ही पिङ्गल शुक्ल नील पीत और लोहित है आज कल के विज्ञानशास्त्र के अनुसार भी सूर्य्य ही रंग का कारण माना गया है ॥ १ ॥ जैसे कोई अतिविस्तीर्ण महापथ निकटस्थ और दूरस्थ दोनों ग्रामों से सम्बन्ध रखता है । इसी प्रकार ये आदित्यकिरणें दोनों लोकों से सम्बद्ध हैं इस अदित्यमण्डल से जो रश्मि सर्वत्र व्याप्त होते हैं । वे ही इन नाड़ियों में भी प्रविष्ट होते हैं इस प्रकार इस निकटस्थ द्युलोक अन्य दूरस्थ अर्थात् निज परितःस्थ पृथिवी अन्तरिक्षादि लोक लोकान्तर से ये ही सूर्य्यरश्मि सम्बन्ध जोड़े हुए हैं ॥ २ ॥ जब यह आत्मा अतिशय प्रगाढ़ निद्रा को प्राप्त करता है उस समय किञ्चित् स्वप्न नहीं देखता क्योंकि उस समय इसी हृदयपुण्डरीक सम्बद्ध नाड़ियों में प्रविष्ट होकर स्थित रहता है । उस सुषुप्ति काल में जीवात्मा को कोई पाप (दुःख) स्पर्श नहीं करता । क्योंकि उस समय निज तेज से परिपूर्ण रहता है ॥ ३ ॥ जब इस जीवात्मा को शरीर से तेज बल वीर्य्य क्षीण होकर अतिदुर्बलता प्राप्त होती है और मरणापन्न होता है तो उस समय चारों तरफ बैठे पुत्र पौत्र कलत्र बन्धु बान्धव मित्रादिक लोग इस मुमूर्षु से पूछते हैं कि क्या मुझको पहिचानते हो मुझको पहिचानते हो । वह जीव इस शरीर से जब तक उत्क्रमण नहीं करता है तब तक उन सबों को पहिचान सकता है ॥ ४ ॥ जब इस शरीर के किसी छिद्र से यह आत्मा निकलता है तब इस आत्मा को ये ही आदित्यकिरणें ऊपर को ले जाती हैं । यदि वह मुमूर्षु विद्वान् और साधनसम्पन्न साधुशील रहता है तब "ओम्" का ध्यान कर गमन करता है । वह क्षणमात्र में आदित्य अर्थात् सौरीदशा को प्राप्त हो जाता है । यही आदित्य ब्रह्मपथ का द्वार है । साधनसम्पन्न विद्वान्गण

श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

ही इस मार्ग से जाते हैं अविद्वान् इस मार्ग से नहीं जा सकता ॥ ५ ॥ इस विषय में एक प्राचीन श्लोक है। हृदय की एकाधिक एकशत नाड़ियें हैं। उन में से एक नाड़ी मस्तक के अन्तग त्वचा पर्य्यन्त व्याप्त है। इस नाड़ी मार्ग से जीव के उत्क्रमण होने से अमृतत्त्व प्राप्त होता है। और अन्य २ नाड़ी से उत्क्रमण होने से आवागमन सदा बना रहता है इसका विस्पष्ट भाव जहां का यह वचन है वहां का भाष्य देखो ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त लेख से यह तो विस्पष्ट ही है कि उपनिषद्कार जीवात्मा का उत्क्रमण मानते हैं और निज कर्म्मानुसार यह जीवात्मा विविध योनि में प्राप्त होता है। परन्तु यहां एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि सूर्य्यरश्मि (किरण) ही इस जीवात्मा को ऊपर ले जाता है ऐसा वर्णन देखते हैं सूर्य्यरश्मि तो एक जड़ वस्तु है वह कैसे आत्मा को इतस्ततः लेजासकता है और जो रात्रि को मरेंगे उन्हें कैसे रश्मि लेजा सकेगा। उ०—इसके विषय में वेदान्तशास्त्र निर्णय करता है वह यह है। "रश्म्यनुसारी"। ४। २। १८ ॥ ये जीव रश्मि=किरण के ही अनुसारी होते हैं। इतना कह कर पुनः कहते हैं "निशिनेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् दर्शयतिच" यदि कहो कि रश्मि-सम्बन्ध तो दिन में रहता है रात्रि में नहीं जो रात्रि में मरेंगे उनकी क्या गति होगी इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहते हैं रश्मिका सम्बन्ध तो देह की स्थिति पर्यंत रहता है और ऐसा ही कहा भी गया है। इसका भाव यह है कि सूर्य्य ही समस्त तेजप्रद है। भगवान् ने उसे ऐसा ही बनाया है। यदि सूर्य्य की उष्णता न रहे तो क्षणमात्र में वायुकी गति बन्द हो जाय और सब प्राणी तत्काल ही मर जायं। इस हेतु सूर्य्य की किरण के विना कुछ भी गमनागमन नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवात्मा के गमन में सूर्य्यकिरण सहायक है इसी भाव से कहा गया है कि सूर्य्यकिरणें ही जीवात्मा को इतस्ततः लेजाती हैं पूर्व समय में इसी सूर्य्यकिरण का नाम "अप्सरा" था वेद और निरुक्त आदि ग्रन्थ देखो। तत्पश्चात् ये "अप्सरा" स्वर्गीय वेश्या बन गईं और पौराणिक लोग समझते हैं कि पुण्यात्मा पुरुष जब स्वर्ग को जाता है तो इसकी अगुआई करने को ये स्त्रीरूपा अप्सराएं आती हैं परन्तु यह मिथ्या है। मूल में कहा गया है कि विद्वान् साधनसम्पन्न ब्रह्मज्ञानी मरणानन्तर क्रम से अर्चि, दिन, आपूर्यमाणपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् होते हैं। और

पूर्व कहा गया है कि वह विद्वान् जीव सूर्यकिरणानुसारी होता है इन दोनों में शङ्का होती है कि ये दो मार्ग हैं या एक ही। उ०—वे दोनों एक ही हैं सूर्यकिरण का सम्बन्ध देवयान और पितृयाण दोनों में बराबर ही रहता है इसलिये सूर्य-किरणानुसारी तो सब ही होंगे। शं०—यहां पुनः शङ्का होती है कि विद्वान्, अर्चि से दिन और दिनसे आपूर्यमाणपक्ष होता है इत्यादि कथन का क्या अभिप्राय है। जहां २ सूर्य वहां २ दिन जब सूर्य का मण्डल लाखों कोश का है तो उस के किरण द्वारा कई कोटि कोश दिन बनता होगा तो क्या वह जीव उतने कोश तक विस्तीर्ण लंबा चौड़ा हो जायगा यह अभिप्राय है। अथवा एक ग्राम वा एक देश वा एक द्वीप वा एक लोक का जितना बड़ा दिन होता है उतना बड़ा वह होगा अथवा जिस दिन वह मरता है और जहां रहता है वहां के दिन की जितनी लंबाई चौड़ाई है उतना लंबा चौड़ा वह होता है। इसी प्रकार पक्ष मास संवत्सर में भी शङ्का हो सकती है। ज्वाला के विषय में भी शङ्का हो सकती है कि वह पुरुष किस प्रकार की ज्वाला होता है क्या उस के चिता से जैसी ज्वाला निकलती है तत्सदृश होता है। अथवा अनेक ग्राम वा महावन को जलाते हुए अथवा प्रलयकाल के महाअग्नि की जैसी ज्वाला होती है तत्सदृश होता है। पुनः आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् इन में भी शङ्का हो सकती है अर्थात् ये तीनों जड़ पदार्थ हैं पृथिवी, जल, वायु आदिवत्। जैसे कोई कहे कि पृथिवी को वह प्राप्त हुआ तो इस का अभिप्राय यह होगा कि पृथिवी के किसी एक भाग को उसने प्राप्त किया। क्या इस दृष्टान्त के अनुसार सूर्य चन्द्र के किसी भाग को वह प्राप्त करता है अथवा सूर्य चन्द्रमा जितना बड़ा है उतना बड़ा वह हो जाता है। पुनः विद्युत् तो सर्वत्र सब पदार्थ में पाई जाती है तो क्या वह जीव विद्युत्वत् सर्वव्यापक हो जाता है यह अभिप्राय है अथवा अर्चि, दिन, आपूर्यमाणपक्ष आदिकों के कोई अधिष्ठात्री भिन्न २ देवता हैं जिनको यह जीव प्राप्त करता है यह अभिप्राय है पुनः सूर्य से चन्द्र को प्राप्त होता है इस में अनेक शङ्काएं उपस्थित होती हैं क्या सूर्य से ऊपर चन्द्रमा है ? यदि ऐसा मानो तो ये वक्ष्यमाण दोष होंगे। १—बृहदारण्यक और छान्दोग्य दोनों उपनिषद् के पितृयाण मार्ग के मध्य आदित्य का कहीं वर्णन नहीं आया यदि सूर्य के ऊपर चन्द्र है तो पितृयाण मार्गगामी मनुष्य को सूर्य अवश्य मिलना चाहिये। क्योंकि पितृपथगामी जीव को चन्द्र ही गन्तव्य प्रदेश है यह सर्व सिद्धान्त है परन्तु इस मार्ग में सूर्य का उल्लेख नहीं है। २—उपनिषद् के सिद्धान्त से यह सिद्ध है कि कर्मकाण्डी लोग जिस स्थान को जाते हैं उससे ऊर्ध्व ज्ञानी लोग जाते हैं। यह सिद्धान्त सर्ववादि सम्मत है इस अवस्था में यदि आदित्यलोक के ऊपर चन्द्रलोक मानोगे तो इस सिद्धान्त का व्याघात होगा क्योंकि कार्मिक

लोग चन्द्रतक पहुंचे हैं। ३-वेद और निघण्टु आदिक का यह सिद्धान्त है कि चन्द्रमा का स्थान अन्तरिक्ष और सूर्य का द्युलोक स्थान कहागया है और अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक है यह सर्वशास्त्र सिद्धान्त है यदि चन्द्र सूर्य से ऊपर समझा तो इस वैदिक सिद्धान्त की रक्षा कैसे कर सकते हो। ४-ज्योतिःशास्त्र के प्रसिद्ध सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में चन्द्र की स्थिति सूर्य से नीचे मानी गई है इस सिद्धान्त की भी हानि होगी तब सूर्य से चन्द्रको प्राप्त होता है इस का अभिप्राय क्या है? पुनः जब ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तो उन के लिये देवयानका वर्णन करना भी सत्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है। ब्रह्मानन्द भी सर्वत्र तुल्य है। इस अवस्था में विद्युत्लोक से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है यह वर्णन ब्रह्म की सर्वव्यापकता को विघात करता है इस की रक्षा कैसे करोगे। पुनः जब जल ही पुरुषवाची होजाता है तो आत्मा कोई वस्तु पृथक् सिद्ध नहीं होसकता। और द्युलोकरूप अग्नि में प्रथम सब को पड़ना चाहिये सो पितृयानगामी वहां तक पहुंचते ही नहीं इत्यादि अनेक संदेहग्रस्त यह प्रकरण दीखता है इसी प्रकार पितृयान के विषय में भी अनेक शङ्काएं उपस्थित होती हैं। इससे देवयान और पितृयान का वर्णन तो सर्वथा असंगतसा प्रतीत होता है। उ०-सुनो यहां अर्चि, अहः, आपूर्यमाणपक्ष आदि का ज्वाला, दिन आदि अर्थ नहीं है यह सब एक२ दशा का नाम है आर्चिषी, आह्निकी, पाक्षिकी, वार्षिकी, सौरी, चान्द्रमसी, वैद्युती और ब्राह्मी ये नौ प्रकार की मरणानन्तर दशा प्राप्त होती है छान्दोग्योपनिषद् प्र० ४। खं० १५। प्रवा० ५-६ के भाष्यादि देखो। यहां इतना और विशेष जानलो कि धर्मात्मा शुभाचारी जब जन्म लेते हैं तब उनका आनन्द बाल्यावस्था से वृद्धावस्था पर्य्यन्त दिन २ बढ़ता ही रहता है देखो बाल्यावस्था में जितना आनन्द रहता है उससे अधिक आनन्द पठनावस्था में प्राप्त होता है उससे अधिक मननावस्था में उससे अधिक समाध्यवस्था में उस से अधिक ब्रह्म साक्षात् करने में इस प्रकार उत्तरोत्तर आनन्द वृद्धि होती जाती है इसी दृष्टान्त के अनुसार शरीर परित्यागानन्तर भी ज्ञानी लोगों को उत्तरोत्तर आनन्दवृद्धि प्राप्त होती रहती है इसी का नाम अर्चि, अहः इत्यादि है। जो लोग अर्चि, अहः आदि शब्दों का अर्थ ज्वाला दिन आदि करते हैं अथवा उस उसके अधिष्ठात्री देवता अर्थ करते हैं उन लोगों के प्रति पूर्वोक्त सब दोष आ सकते हैं मेरे अर्थानुसार कोई दोष नहीं इस हेतु मैंने उपनिषदों की ठीक संगति लगाने के लिये ही वैसा अर्थ किया है और वक्ष्यमाण लेखसे यह प्रतीत होगा कि ब्रह्मज्ञानियों का प्राण गमन नहीं करता। यथाः—

अथा कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ बृ० ४ । ४ । ६ । यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते । बृ० ३ । २ । ११ ॥

संवत्सरोवै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणञ्चोत्तरञ्च तद्ये हवै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते । ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा

(अथ) अब (यः+अकामयमानः) जो कुछ कामना नहीं करता (अकामः) कामनाशून्य (निष्कामः) सम्पूर्ण कामनाशून्य (आप्तकामः) जिसने सम्पूर्ण काम को प्राप्त किया है (आत्मकामः) परन्तु केवल एक परमात्मा की प्राप्ति में ही जिसकी इच्छा है ऐसे निष्कामत्वादिगुणविशिष्ट पुरुष के (प्राणाः+न+उत्क्रामन्ति) वागिन्द्रियादि सहित प्राण ऊर्ध्व गमन नहीं करता किन्तु (ब्रह्मैवसन्) ब्रह्मवित् होकर (ब्रह्म+अप्येति) ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुष का गमनागमन नहीं होता गमनागमन तो उस पुरुष का हो सकता है जिसको नाना योनि में प्राप्त होना है । हां ब्रह्मवित् पुरुष की इच्छाधीन इतस्ततः गमन होता है वह यथार्थ में गमन नहीं कहलाता क्योंकि उसके लिये कोई आवश्यकीय प्रेरणा नहीं कि अमुक स्थान से अमुक स्थान को वह अवश्य जाय । इसी हेतु कहागया है कि उस ब्रह्मज्ञानी का प्राण उत्क्रमण नहीं करता । ६ । आर्त्तभाग नामक ऋषि याज्ञवल्क्य महर्षि से पूछते हैं कि जिस समय इस ब्रह्मवित् पुरुष का मृत्यु होता है इस म्रियमाण ब्रह्मवित् पुरुष के शरीर से प्राणवागादिग्रह, नामादिक अतिग्रह, वासनारूप अन्तःस्थ प्रयोजक इन सब के सहित जीवात्मा का ऊर्ध्व गमन होता है या नहीं इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं उत्क्रमण नहीं होता ब्रह्मवित् पुरुष के प्राण (अत्रैव) यहां ही ब्रह्म में लीन होता है । ब्रह्मवित् पुरुष के जीवित काल में जिस शरीर के द्वारा श्वास प्रश्वासादिक क्रिया होती है उसी स्थूल शरीर का परिवर्त्तन होता है । और इसी हेतु कहाजाता है कि यह ब्रह्मज्ञानी मरगया । इन प्रमाणों से सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञानी लोगों के जीवात्मा का उत्क्रमण नहीं होता इससे यह भी सिद्ध हुआ कि ब्रह्मप्राप्ति के लिये उसको लोकलोकान्तर में भी जाना नहीं पड़ता । यहां "अत्रैव" इस पद से ऋषि विस्पष्ट कर देते हैं कि ब्रह्मज्ञानी का उत्क्रमण नहीं होता है । इत्यादि जानना ।

अर्थः—संवत्सर ही प्रजापति है । दक्षिण और उत्तर उसके दो अयन हैं । सो जो कोई इस इष्टापूर्त और कृत की उपासना करते हैं । वे चान्द्रमस लोक (चान्द्रमसी

दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ६ ॥ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येषनिरोधस्तदेषश्लोकः ॥ १० ॥ प्रश्ने प्रथमः प्रश्नः ॥ सहोवाच ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते तानपरपक्षेण प्रजनयत्येतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यः प्रत्याह तमतिसृजतेऽथ यो न प्रत्याह तमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति स इह कीटो वा पतङ्गो वा मत्स्यो वा शकुनिर्वा सिंहो वा वराहो वा परश्वान् वा शार्दूलो वा पुरुषो वान्यो वा तेषु तेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम् ॥ २ ॥ स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि लोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स

दशा) को प्राप्त होते हैं । वे पुनः वहां से लौट आते हैं । इस हेतु ये प्रजेच्छुक ऋषि दक्षिणायन को पाते हैं । यही रयी (धन खाद्य) कहलाता है । जो पितृयाण के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ६ ॥ और जो तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मा का अन्वेषण करते हैं । वे उत्तर मार्ग से आदित्य=सौरी दशा को प्राप्त होते हैं । यही प्राणों का आयतन अमृत अभय और परायण है इस मार्ग से गमन करने वाले नहीं लौटते । यही निरोध है कौशीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में भी पञ्चाग्निविद्या की कथा आई है यह उपनिषद् इसी आख्यायिका से प्रारम्भ होती है। विशेषता इतनी है कि यहां जैवलि प्रवाहणराजा नहीं हैं किन्तु गाङ्ग्यायनि चित्रनामक कोई राजा हैं । इस राजा के याग करवाने के लिये श्वेतकेतु आए थे राजा ने "मुझ को किस लोक में स्थापित करोगे ?" श्वेतकेतु से प्रश्न पूछा है । वह उत्तर न देकर अपने पिता के निकट चला गया । पश्चात् उस के पिता आरुणि, राजा गाङ्ग्यायनि चित्र के निकट पहुंचे हैं । इन दोनों में पश्चात् संवाद हुआ । निरूपण करने की शैली भिन्न और संक्षिप्त है । किसी विषय का निरूपण बहुत विस्तार से है । गाङ्ग्यायनि कहता है वे कार्म्मिक लोक जब यहां से प्रस्थान करते हैं तो वे चन्द्रमस=चान्द्रमसी ही दशा को प्राप्त होते हैं । उन के प्राण पूर्व पक्ष में वृद्धि को प्राप्त होते हैं. तब उन को कृष्णपक्ष में उत्पन्न करते हैं । यही स्वर्ग लोक का द्वार है जो चान्द्रमसी दशा है जो ज्ञानीपुरुष चान्द्रमसी दशा को निरादर करते हैं अर्थात् तप श्रद्धा विद्या द्वारा परमात्मा को जानते हैं । वे सौरी दशा को प्राप्त होते हैं । और जो चान्द्रमसी दशा को प्रिय और अभीष्ट मानते हैं वे वृष्टि होकर बरसते हैं वे यहां कीट वा पतङ्ग वा मत्स्य वा शकुनि वा सिंह वा वराह वा दन्तशूक वा शार्दूल वा पुरुष वा अन्य कोई जन्तु होते हैं ।

प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् ॥ ३ ॥ कौषीतकि० उ० अ० १ ॥ यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ॥ तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥ तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ २५ ॥ गीता अ० ८ ॥

उन उन स्थानों और योनियों में जा जा कर होते रहते हैं। जैसा कर्म्म और जैसा ज्ञान होता है *।

परन्तु ज्ञानी लोक देवयान पथ को प्राप्त करके अग्निलोक=आग्नेयदशा को पाते हैं। उससे वायवीय दशा को, उससे वारुण दशा को, उससे ऐन्द्रदशा को, उससे प्राजापत्य दशा को, उससे ब्राह्म दशा को क्रमशः प्राप्त करते हैं। इत्यादि।

गीता—श्रीकृष्णजी अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! जिस काल में देहत्याग करने से योगी लोग अनावृत्ति और आवृत्ति को प्राप्त करते हैं। वह काल सुनो ॥ २३ ॥ अग्नि, ज्योति, अहः (दिन) शुक्लपक्ष, छः मास उत्तरायण इनमें से होकर जो ब्रह्मवित्पुरुष प्रयाण करते हैं वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष छः मास दक्षिणायन इनसे होकर जो योगी प्रस्थान करते हैं। वे चान्द्रमसी दशा को प्राप्त हो पुनः लौटते हैं। उनका आवागमन लगा रहता है ॥ २५ ॥ वेदान्तशास्त्र तृतीयाध्याय प्रथम पाद और चतुर्थाऽध्याय के द्वितीय तृतीय और चतुर्थ पाद देखो। बहुत विस्तार से वहां इन विषयों का निरूपण है बहुत लोग जो यह मानते हैं कि उत्तरायण में मरने से सद्गति और दक्षिणायन में मरने से दुर्गति होती है यह सब कल्पित बात है। क्योंकि शुभाशुभफल कर्म्म के ऊपर निर्भर है। सूर्य्य के दक्षिणायण वा उत्तरायण से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है। कभी मरो तुम्हारी अच्छी गति होगी। यदि तुम्हारे शुभ कर्म्म हैं। यदि अशुभ कर्म्म हैं तो उत्तरायण सूर्य्य में भी मरने से दुःख ही दुःख भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार न कोई तिथि न कोई देश न कोई काल न कोई मरणकाल के गङ्गाजलादि मनुष्य का उपकार वा अपकार कर सकता है। किन्तु शुभाशुभ कर्म्म ही सद्गति और दुर्गति के कारण हैं अतश्चायनेऽपि दक्षिणे। वे० सू० ४। २। २० देखो। इति संक्षेपतः।

* परस्पर वर्णन में जो यत्किञ्चिद् भेदसा प्रतीत होता है उन सब का समाधान वेदान्त सूत्रों में किया गया है इस विषय की विस्तारपूर्वक वेदान्त में मीमांसा कीहुई है वेदान्त के तृतीय चतुर्थ अध्याय को देखो।

अथैकादशः खण्डः ॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसाञ्चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ? * ॥ १ ॥

प्राचीनशालः । औपमन्यवः । सत्ययज्ञः । पौलुषिः । इन्द्रद्युम्नः । भाल्लवेयः । जनः । शार्कराक्ष्यः । बुडिलः । आश्वतराश्विः । ते । ह । एते । महाशालाः । महाश्रोत्रियाः । समेत्य । मीमांसाञ्चक्रुः । कः । नु (नः) । आत्मा । किम् । ब्रह्म । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—प्राचीनशाल इति । उपमन्योरपत्यमौपमन्यव उपमन्युपुत्रः । प्राचीनशालः प्राचीना पुराणीशाला विद्याशाला यस्य सोत्रेदं कस्यचिदृषेर्नामधेयम् । पौलुषिः । पुलषस्यापत्यं पौलुषिः । सत्ययज्ञो नामतः सत्ययज्ञः । भाल्लवेयो भल्लवेरपत्यं भाल्लविर्भाल्लवेरपत्यं भाल्लवेयः । इन्द्रद्युम्नो नाम्नेन्द्रद्युम्नः । शार्कराक्ष्यः शर्कराक्षस्यापत्यं शार्कराक्षः । जनो जननामा । आश्वतराश्विः । अश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्विः । बुडिलो बुडिल नामा । महाशालः महत्यः शाला येषां ते महाशाला महाविद्यालयाः । महाश्रोत्रिया महान्तः श्रोत्रियाः श्रुताध्ययनवृत्तिसम्पन्ना इत्यर्थः । ईदृशास्ते हैते । हेतिहासादिषु प्रसिद्धाः । ते प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनबुडिला एते विद्वांसः समेत्य । अकस्मात् कस्मिंश्चित्स्थाने समये च संभूय । मीमांसाञ्चक्रुर्विचारयामासुः । का सा मीमांसेत्याह । "को न आत्मा किं ब्रह्मेति । बहुषु पुस्तकेषु

* अथ हैनेऽरुणो । औपवेशौ समाजग्मुः सत्ययज्ञः पौलुषिर्महाशालो जाबालो बुडिल आश्वतराश्विरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यस्ते ह वैश्वानरे समासत तेषाꣳह वैश्वानरे न सगियाय ॥ १ ॥ शत० प्रपा० १० । अ० ६ । ब्रा० १ । अर्थ—एक समय सत्ययज्ञ पौलुषि १ महाशाल जाबाल २ बुडिल आश्वतराश्वि ३ इन्द्रद्युम्नभाल्लवेय ४ जनशार्कराक्ष्य ५ ये पांचों मिलकर औपवेश अरुण नामक ऋषि के निकट आये और सब कोई मिलकर वैश्वानर सम्बन्धी विज्ञान के विचार के लिये बैठे । परन्तु उन में से कोई भी इस विज्ञान के निर्णय को समर्थ नहीं हुए ॥ १ ॥ यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है उपनिषद् के समान ही इस के सब विषय हैं राजा भी यहां वही कैकय अश्वपति है जिज्ञासुओं में कई एक नाम का भेद है परन्तु जैसे उपनिषद् में उद्दालक लगाकर छः जिज्ञासु हैं वैसे ही यहां पर भी छः जिज्ञासु हैं और प्रश्नोत्तर में भी कुछ क्रम भेद है । उपनिषद् के क्रम के अनुसार टिप्पणी में शतपथ से उद्धृत करेंगे और जो कुछ भेद है सो भी देखना ।

नु इत्यस्य पाठोस्ति कतिपयेषु तु न इत्यस्य पाठोस्ति । प्रथमपक्षे—नु प्रच्छायां विकल्पे च इत्येके । नु प्रश्नेऽनुनयेऽतीतार्थे विकल्पवितर्कयोरित्यपरे । आत्मशब्दोत्र ब्रह्मवचनः । ततः नु प्रश्ने ननु क आत्मा" सर्वव्यापक आत्मा कोस्ति किं स्वरूपोस्ति ? । क आत्मा इत्यस्यैव शब्दान्तरेणानुवादः किं ब्रह्मेति ब्रह्म किं लक्षणमस्ति । द्वितीयपक्षे—उपास्य इत्यध्याहृत्य नोऽस्माकमुपास्यः क आत्मा अर्थात् किं ब्रह्म किं लक्षणकं ब्रह्म वर्त्तते इति वयमपरोक्षतया न विजानीमो न निश्चिनुमः । अतः कोपि तादृग् ब्रह्मविदाचार्य्योऽन्वेषणीयः । अथवा । नोऽस्माकं क आत्मा जीवोस्ति तथा किं ब्रह्म । जीवात्मपरमात्मनोरुभयोः किं लक्षणमित्यर्थ इति ॥ १ ॥

अनुवादः—उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन, अश्वतराश्वि के पुत्र बुडिल, ये सब प्रसिद्ध विद्वान् किसी काल में हुए । वे ये लोग महाशाल और महाश्रोत्रिय और परम प्रसिद्ध थे वे कभी एकत्रित वा सम्मलित हो मीमांसा करने लगे कि आत्मा कौन है ? अर्थात् ब्रह्म कौन है यद्वा हमारा उपास्य कौन आत्मा है अर्थात् हमारा उपास्यब्रह्म कौन (किंस्वरूप है) अथवा आत्मा और ब्रह्म कौन है * ॥ १ ॥

पदार्थः—(औपमन्यवः) उपमन्यु के पुत्र (प्राचीनशालः) प्राचीनशाल नामक विद्वान् (पौलुषिः) पुलुष के पुत्र (सत्ययज्ञः) सत्ययज्ञ नाम के विद्वान् (भाल्लवेयः) भाल्लवि के पुत्र (इन्द्रद्युम्नः) इन्द्रद्युम्न नामक विद्वान् (शार्कराक्ष्यः) शर्कराक्ष के पुत्र (बुडिलः) बुडिल नाम के ऋषि (ते+ह+एते) वे प्रसिद्ध ये सब (महाशाला) महाशाल (जिनके विद्यालय बहुत बड़े हैं) थे (महाश्रोत्रियाः) महाश्रोत्रिय थे ये लोग एक स्थान में (समेत्य) इकट्ठे हो (मीमांसाञ्चक्रुः) विचार करने लगे कि (नु) यह प्रश्नवाचक है अर्थात् परस्पर प्रश्न करते हैं कि (कः) किं स्वरूप (आत्मा) ब्रह्म है । आगे इसी को अन्य पदों से वर्णन करते हैं (किं ब्रह्म) किं स्वरूप वा किं लक्षण विशिष्ट ब्रह्म है । किसी २ पुस्तक में "नु" के स्थान में "नः" का पाठ है । तब ऐसा अर्थ करना हम लोगों का उपास्य ब्रह्म किं लक्षणविशिष्ट है और "कोनु आत्मा किं ब्रह्म" ये दो प्रश्न भी हो सकते हैं अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा कौन है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल ये पांचों विद्वान् कभी किसी स्थान में मिल कर "ब्रह्म कौन है" इस विषय में विचार करते हुए स्वयं

* एतत्समान ही बृहदारण्यकोपनिषद् द्वितीयाध्याय में दृप्तबालाकि और अजातशत्रु की आख्यायिका देखो ॥

महाशाल महाश्रोत्रिय होने पर भी निश्चय नहीं कर सके। इससे ब्रह्म विषय अत्यन्त दुरवगाह है यह सूचित करता है (कोनु आत्मा किं ब्रह्मेति) यहां पर आत्मा कौन है और ब्रह्म कौन है ऐसे दो प्रश्न नहीं हैं किन्तु आत्मशब्द यहां ब्रह्मवाचक होने से दोनों पद का एक ही अर्थ है अर्थात् प्रथम प्रश्न को उत्तर वाक्यों से अनुवादमात्र किया है । अर्थात् " आत्मा कौन है वा ब्रह्म कौन है" ऐसा भाव है किसी के मत से ये दो प्रश्न हैं। (नु) बहुत पुस्तकों में "नु" और बहुतों में "नः" का पाठ है नु शब्द का अर्थ प्रश्न अनुनय, विकल्प, वितर्क आदि है और नः का अर्थ हम लोगों को है ॥ १ ॥

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति । तꣳ हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

ते । ह । सम्पादयाञ्चक्रुः । उद्दालकः । वै । भगवन्तः । अयम् । आरुणिः । सम्प्रति । इमम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । अध्येति । तम् । हन्त । अभ्याग-च्छाम । इति । तम् । ह । अभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तेहेति । ते ह । प्रसिद्धास्ते प्राचीनशालादयः पूर्वे विद्वांसः परस्परं 'को न आत्मा किं ब्रह्मेति' मीमांसमाना अपि पुनः पुनर्विचारयन्तोऽपि निश्चयमलभमानाः सन्तः । सम्पादयाञ्चक्रुर्गुरुमुपदेष्टारं संपादितवन्तः । मनसा सर्वे विचार्य्योपदेष्टारमाचार्य्यं स्थिरीचक्रुः । कं सम्पादयाञ्चक्रुरित्याह । ते परस्परमूचुः । हे भगवन्तः पूजावन्तः पूजनीयाः । सुहृदः सम्प्रतीदानीम् । अयम् । प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षवद्भासमानः । आरुणिः । अरुणेर्महर्षेरपत्यम् । वै प्रसिद्ध उद्दालको नामतः । इमम् । आत्मानम् । व्यापकम् । आप्नोति सर्वमित्यात्मा सर्वव्यापक इत्यर्थः । अत्रात्मनमितिविशेषणम् । वैश्वानरं वैश्वानरवाच्यं ब्रह्म । अध्येति स्मरति । यद्वा सम्यग् विजानाति । हन्तेदानीं तमुद्दालकम् । वयमभ्यागच्छाम तदन्तिकं व्रजाम । इति निश्चित्य ते सर्वे तं हाभ्याजग्मुः । आजग्मुः ॥ २ ॥

अनुवादः—उन प्रसिद्ध विद्वानों ने निश्चय किया और निश्चय कर परस्पर यह बोले कि हे पूजनीय मित्रो ! सम्प्रति यह आरुणि उद्दालक इस आत्मा (व्यापक) वैश्वानर को सम्यक् प्रकार से स्मरण करते वा जानते हैं सो अब हम सब उन के निकट चलें इसे निश्चय कर वे सब ही उन के निकट आ पहुंचे ॥ २ ॥

पदार्थः–(ते+ह) मीमांसा करने पर भी आत्मा और ब्रह्म का जब पता न लगा

तब उन प्रसिद्ध विद्वानों ने (सम्पादयाञ्चक्रुः) निश्चय किया कि (अयम्) यह (आरुणिः)अरुणवंशीय (उद्दालकः) उद्दालक नाम के ऋषि (वै) निश्चय करके (सम्प्रति) आजकल अच्छी तरह से (इमम्) इस (आत्मानम्) सर्वव्यापक (वैश्वानरम्) वैश्वानर नामधारी ब्रह्म का (अध्येति) स्मरण करते हैं अथवा अच्छे प्रकार जानते हैं अतः (भगवन्तः) हे भगवन् ! माननीय मित्रो (हन्त) अब (तम्) उनके (अभ्यागच्छामः) निकट हम लोग चलें यह विचार (तम्+ह) उस प्रसिद्ध उद्दालक के निकट (अभ्याजग्मुः) वे सब मिलकर आये ॥ २ ॥

स ह सम्पादयाञ्चकार—प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशालाः महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये । हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

सः । ह । सम्पादयाञ्चकार । प्रक्ष्यन्ति । माम् । इमे । महाशालाः । महाश्रोत्रियाः । तेभ्यः । न । सर्वम् । इव । प्रतिपत्स्ये । हन्त । अहम् । अन्यम् । अभ्यनुशासानि । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स हेति । स ह प्रसिद्ध आत्मवैश्वानरविदपि उद्दालकस्तान् महाशालान् महाश्रोत्रियान् जिज्ञासून् विज्ञाय इत्थं सम्पादयाञ्चकार विचारयामास । यदि मे ममालयं सम्प्राप्यागता महाशाला महाश्रोत्रियाः विद्वांसो मां प्रति प्रश्नान् । प्रक्ष्यन्ति । अहं तेभ्यः प्राचीनशालादिभ्यो विद्वद्भ्यः । सर्वमिव सर्वं पृष्टं न प्रतिपत्स्ये । समाधातुं नैवशक्ष्यामि । अतः किं कर्तव्यमित्याह । हन्तेदानीमहम् । अन्यमुपदेष्टारम् । अनुशासानि ब्रवाणि वक्ष्यामि । एतेषां महाश्रोत्रियाणां सर्वान् प्रश्नान् समाधातुं नाहं शक्ष्यामि । अतोऽहं तेभ्योऽन्यमुपदेष्टारं दर्शयेयमिति ॥ ३ ॥

अनुवादः—उस प्रसिद्ध उद्दालक ऋषि ने यह विचार किया कि ये महाशाल महाश्रोत्रिय मुझ से पूछेंगे । परन्तु उनके लिये सब प्रश्न के उत्तर देने में मैं समर्थ नहीं होऊंगा । इस कारण उनको अब अन्य (उपदेष्टा) मैं बतलाऊं ॥ ३ ॥

पदार्थः—(सः+ह) वह प्रसिद्ध उद्दालक (आये हुए उन लोगों को देख और महाशाल महाश्रोत्रिय और जिज्ञासु जान) (सम्पादयाञ्चकार) विचार करने लगे कि (इमे) ये (महाशालाः) महाविद्यालय वाले (महाश्रोत्रियाः) और महावेदाध्यायी (माम्) मुझ से (प्रक्ष्यन्ति) प्रश्न पूछेंगे परन्तु (तेभ्यः) उनके लिये (सर्वमिव) सब प्रकार से सब प्रश्नों के उत्तर देने में (न+प्रतिपत्स्ये) समर्थ नहीं होऊंगा । इस कारण

(हन्त) इस समय (अहम्) मैं (अन्यम्) अन्य उपदेष्टा को (अभ्यनुशासानि) उन लोगों से बतलाऊं (इति) इस प्रकार उन्होंने निश्चय किया ॥ ३ ॥

भाष्याशयः–जिस कारण ये मेरे गृह पर आयेहुए प्राचीनशाल आदि पांचों विद्वान् स्वयं महाशाल और महाश्रोत्रिय हैं अतः उनके सब प्रश्नों का उत्तर मैं नहीं देसकूंगा इस हेतु इनको अन्य आचार्य बतला देना ही उचित समझता हूं ॥ ३ ॥

तान् होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति । तꣳ हाभ्याजग्मुः * ॥ ४ ॥

तान् । ह । उवाच । अश्वपतिः । वै । भगवन्तः । अयम् । कैकेयः । सम्प्रति । इमम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । अध्येति । तम् । हन्त । अभ्यागच्छाम । इति । तम् । ह । अभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

भाष्यम्–तानिति । तान् प्राचीनशालादीन् प्रति होद्दालक उवाच । हे भगवन्तः पूजावन्तः ! अयं कैकेयः केकयस्यापत्यम् । वै प्रसिद्धोऽश्वपतिर्नाम सम्राट् । सम्प्रति । इमं वैश्वानरमात्मानमध्येति । स्मरति । सम्यग् विजानाति । हन्तेदानीं तं कैकेयं सम्राजं प्रति वयमभ्यागच्छाम । प्रव्रजाम । इत्युद्दालकेन सह ते सर्वे निश्चित्य तं ह अभ्याजग्मुरागतवन्तः ॥ ४ ॥

अनुवादः–उन प्रसिद्ध ऋषियों से वह (उद्दालक) बोले कि हे भगवन् ! ये प्रसिद्ध कैकेय अश्वपति सम्प्रति इस आत्मा वैश्वानर को अच्छे प्रकार स्मरण करते हैं अतः हम लोग अब उनके ही निकट चलें । ऐसा विचार कर वे निकट आये ॥ ४ ॥

* ते होचुः । अश्वपतिर्वाऽअयं कैकेयः सम्प्रति वैश्वानरं वेद तं गच्छामेति ते हाश्वपतिं कैकेयमाजग्मुस्तेभ्यो ह पृथगावसथान्पृथगपचिताः पृथक्साहस्रान्त्सोमान्प्रोवाच ते ह प्रात रसं विद्राना एव समित्पाणयः प्रतिचक्रमिरउप त्वायामेति ॥ शत० १० । ६ । १ । २ ॥

अर्थ–वे सत्ययज्ञादि जिज्ञासु जब वैश्वानर विज्ञान को परस्पर स्थित न कर सके तब विचार किया कि यह कैकेय अश्वपति राजा आजकल वैश्वानर को जानता है उन के निकट हम लोग चलें । यह विचार वे सब कैकेय अश्वपति के निकट आये । उन को राजा ने पृथक् २ निवासस्थान दिया पृथक् २ पूजा करवाई और कहा कि आप में से सब को एक २ हज़ार गोदान दूंगा जब मैं सोमयाग करूंगा वे लोग राजा से अपने आशय को न प्रकट करके ही अध्ययनार्थ उसके निकट आ बोले कि हम लोग आप के निकट वैश्वानर विज्ञानार्थ आये हुए हैं ॥ २ ॥

पदार्थः-(तान्+ह) पूर्वोक्त प्रकार से स्थिर कर उन प्रसिद्ध विद्वानों से (उवाच) वह उद्दालक बोले कि (भगवन्तः) पूजनीयो मित्रो (अयम्) यह (कैकेयः) केकय के पुत्र (अश्वपतिः) अश्वपति नाम के महाराज (वै) निश्चय कर अच्छे प्रकार (सम्प्रति) आजकल (इमम्) इस (आत्मानम्) सर्वव्यापक (वैश्वानरम्) वैश्वानरवाच्य ब्रह्म को (अध्येति) स्मरण करते हैं अथवा जानते हैं इसलिये (हन्त) अब (तम्) उनके (अभ्यागच्छाम) निकट हम सब चलें (इति) इसे स्थिर कर (तम्+ह) उनके ही अभ्याजग्मुः) निकट वे लोग आये ॥ ४ ॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार। स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति ॥ ५ ॥

तेभ्यः । ह । प्राप्तेभ्यः । पृथक् । अर्हाणि । कारयाञ्चकार । सः । ह । प्रातः । सञ्जिहानः । उवाच । न । मे । स्तेनः । जनपदे । न । कदर्यः । न । मद्यपः । न । अनाहिताग्निः । न । अविद्वान् । न । स्वैरी । स्वैरिणी । कुतः । यक्ष्यमाणः । वै । भगवन्तः । अहम् । अस्मि । यावत् । एकैकस्मै । ऋत्विजे । धनम् । दास्यामि । तावत् । भगवद्भ्यः । दास्यामि । वसन्तु । मे । भगवन्तः । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्-तेभ्योहेति । प्राप्तेभ्य आगतेभ्यः । हेति प्रसिद्धेभ्यस्तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो विद्वद्भ्यः । स राजा स्वकीयैः पुरोहितैर्भृत्यैश्च । पृथक् पृथक् । अर्हाणि अर्हणानि सत्कारान् कारयाञ्चकार कारितवान् । ततः सह प्रसिद्धो राजाश्वपतिः । अन्येद्युः । प्रातः । प्रातःकाले संजिहान आसनं त्यजन् सन् । ओहाक्त्यागे आत्मनेपदमार्षम् । यद्वा ओहाङ्गतौ । उपसर्गेणत्यागार्थः । विनयेन तानुपगम्य वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हे भगवन्तः ! मे मम । जनपदे । जनानां पदे स्थाने राज्य इत्यर्थः स्तेनश्चोरो न विद्यते । कदर्यः कृपणोऽदाता न विद्यते मद्यपो मद्यं सुरां पिबतीति मद्यपः । स नास्ति । अनाहिताग्निः आहितः स्थापितोऽग्निर्येन स आहिताग्निः ।

न आहिताग्निरनाहिताग्निः सर्वो देवयज्ञ परायण इत्यर्थः अविद्वान् । शास्त्रानभिज्ञोपि न विद्यते । स्वैरी परदारेषु गन्ता नास्ति । अतएव स्वैरिणी व्यभिचारिणी कुतः संभवेत् । न संभवतीत्यर्थः । हे भगवन्तः ! हे पूजावन्तो महर्षयः ! वै निश्चयेन स्वल्पैरेवाहोमिः । अहं यक्ष्यमाणो यज्ञं करिष्यमाणोस्मि । किं तर्हि ? । एकैकस्मै । ऋत्विजे । अध्वर्युप्रभृतये यावद्धनं गोहिरण्यादिकं दास्यामि । भगवद्भ्यो भवद्भ्यः प्रत्येकं तावद्धनं तत् परिमाणं धनं दास्यामि । समर्पयिष्यामि । अतो यज्ञसम्पादनार्थं भगवन्तो माननीया ममालये कंचित्कालं वसन्तु वासं कुर्वन्तु । निष्पापत्वान्निवासार्हं ममगृहमस्ति । अतोनिवसन्तु । इति प्रार्थये ॥५॥

अनुवादः—उस राजा अश्वपति ने आये हुए उन प्रसिद्ध ऋषियों की पूजा पृथक् पृथक् करवाई । और प्रातःकाल उठते ही विनयपूर्वक उनके निकट आ बोले कि हे पूजनीय महर्षियो ! मेरे जनपद में न चोर, न कदर्य्य, न मद्यपायी, न अनग्निहोत्री, न अविद्वान्, न व्यभिचारी हैं और व्यभिचारिणी कहां से ?, निश्चय मैं यज्ञ करनेवाला हूं । एक २ ऋत्विक् को जितना धन दूंगा उतना धन पूजनीय आप लोगों में से प्रत्येक को प्रदान करूंगा आप लोग कृपया यहां वास करें । यह मेरी प्रार्थना है ॥ ५ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (प्राप्तेभ्यः) प्राप्त आगत (तेभ्यः) उन लोगों की (पृथक्) पृथक् २ (अर्हाणि) पूजाएं (कारयाञ्चकार) करवाईं (सः+ह) वह प्रसिद्ध राजा (प्रातः) प्रातःकाल (संजिहानः) उठता हुआ, अर्थात् उठकर उन आगत ज्ञानियों के समीप आकर (उवाच) बोले हे ऋषियो ! (मे) मेरे (जनपदे) देश में (न) नहीं (स्तेनः) चोर हैं (न+कदर्य्यः) न कृपण (न+मद्यपः) न मद्यपीने वाला (न+अनाहिताग्निः) न अनग्निहोत्री (न+अविद्वान्) न मूर्ख हैं (न+स्वैरी) और न व्यभिचारी हैं (कुतः+स्वैरिणी) जब व्यभिचारी पुरुष नहीं तो व्यभिचारिणी स्त्रियां कहां से हो सकती हैं (भगवन्तः) हे पूजनीय विद्वानो ! (वै) निश्चय (अहम्) मैं (यक्ष्यमाणः+अस्मि) यज्ञ करनेवाला हूं (यावत्) जितना (एकैकस्मै) एक २ (ऋत्विजे) ऋत्विक् को (धनम्+दास्यामि) धन दूंगा (तावत्) उतना धन (भगवद्भ्यः) माननीय आप लोगों को (दास्यामि) दूंगा (भगवन्तः) आप लोग कृपया (वसन्तु) मेरे घर पर निवास करें और मेरे यज्ञ को देखें (इति) यह प्रार्थना करता हूं जिस कारण मेरा देश पवित्र है इस हेतु आप महात्माओं के निवास योग्य है ॥ ५ ॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳ हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳसम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

ते । ह । ऊचुः । येन । ह । एव । अर्थेन । पुरुषः । चरेत् । तम् । ह । एव । वदेत् । आत्मानम् । एव । इमम् । वैश्वानरम् । सम्प्रति । अध्येषि । तम् । ह । एव । नः । ब्रूहि । इति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तेहेति । तेहाश्वपतिं प्रत्यूचुः । येनैवहार्थेन येनैव प्रयोजनेन । यं प्रति पुरुषः । चरेद् गच्छेत् । तमेवार्थं वदेद् ब्रूयात् । तर्हि कस्मै प्रयोजनाय भगवन्तः प्राप्तास्त-देव कथयन्तु यथाशक्यं तदेव दास्यामीत्याह । त्वं खलु । इमं वैश्वानरमात्मानमध्येषि स्मरसि । तमेव वैश्वानरमात्मानम् । नोऽस्मान् ब्रूहि कथयोपदिश । एतदर्थमेव वयमागताः । वयं सम्प्रति वैश्वानरविज्ञानप्रार्थिनः सन्तस्त्वां सम्प्राप्ताः स्मः ॥ ६ ॥

अनुवादः—वे प्रसिद्ध विद्वान् बोले "हे सम्राट्" जिसी प्रयोजन के लिये जिसके निकट पुरुष प्राप्त हो उसी को उसी से कहे । सम्प्रति आप इस आत्माव्यापक वैश्वानर का ही अच्छी तरह से स्मरण करते हैं उसी को हम लोगों से आप कहें ॥ ६ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (ते) वे विद्वान् लोग (ऊचुः) बोले (येन+अर्थेन+ह+एव) जिसी प्रयोजन के लिये (चरेत्) किसी के निकट जाय (तम्+ह+एव) उसी प्रयोजन को उससे (वदेत्) कहें तो किस प्रयोजन के लिये आप लोग आए हैं सोही कहें यथाशक्ति उसीको दूंगा (इमम्) इस (आत्मानम्) व्यापक (वैश्वानरम्+एव) वैश्वानर का ही (सम्प्रति+अध्येषि) अच्छे प्रकार से आप स्मरण करते हैं अथवा जानते हैं (तमेव) उसी आत्मा वैश्वानर को (नः) हम लोगों से (ब्रूहि) कहें उपदेश देवें (इति) यह हम लोगों की प्रार्थना आप से है ॥ ६ ॥

तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति । ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे । तान् हानुपनीयैवैतदुवाच * ॥ ७ ॥

* स होवाच । यन्नु भगवन्तोऽनूचाना अनूचानपुत्राः किमिदमिति ते होचुर्वैश्वानरछ ह भगवान्त्सम्प्रति वेद तं नो ब्रूहीति स होवाच सम्प्रति खल्वा अहं वैश्वानरं वेदाभ्या-धत्त समिध उपेतास्थेति ॥ शत० १० । ६ । १ । २ ॥ अर्थ—वह राजा बोला कि हे महामान्यो ! आप लोग स्वयं अनूचान अर्थात् साङ्गवेद के पढ़ने वाले और अनूचान के पुत्र हैं तब फिर यह क्या है ? उन लोगों ने कहा कि ये सब बात ठीक है परन्तु वैश्वानर के ज्ञाता आजकल आप ही हैं वही विज्ञान हम लोगों को देवें । तो उसने कहा कि हां ये बात ठीक है कि मैं वैश्वानर को जानता हूं । आप लोग समिधाएं लावें ॥ २ ॥

तान् । ह । उवाच । प्रातः । वः । प्रतिवक्तास्मि । इति । ते । ह । समित्पाणयः । पूर्वाह्णे । प्रतिचक्रमिरे । तान् । ह । अनुपनीय । एव । एतद् । उवाच ॥ ७ ॥

भाष्यम्-तानिति । तानृषीन् प्रति । स राजा होवाच । प्रातरन्येद्युः प्रातःकाले वो युष्मान् । प्रतिवक्तास्मि । प्रतिवाक्यंदातास्मि । इति राज्ञोक्तास्ते ह राजाभिप्रायज्ञाः । समित्पाणयः । समित् पाणिषु येषां ते । समिद्भारहस्ताः । पूर्वाह्णे राजानं प्रतिचक्रमिरे गतवन्तः । स सम्राडश्वपतिः । तान् ह । अनुपनीयैव उपनयनमकृत्वैव । शिष्यभावमकृत्वैवेत्यर्थः । एतद्वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥ ७ ॥

इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अनुवादः-उनसे वे राजा बोले कि मैं प्रातःकाल आप लोगों को उत्तर दूंगा । वे ऋषि भी हाथों में समिधाएं ले पूर्वाह्ण समय राजा के निकट गये । उन लोगों को उपनयन किये विना ही वे अश्वपति यह बोले ॥ ७ ॥

पदार्थः-(तान्) उन आये हुए प्राचीनशाल आदि ऋषियों से (ह) वे प्रसिद्ध राजा (उवाच) बोले (प्रातः) प्रातःकाल (वः) आप लोगों को (प्रतिवक्तास्मि) प्रत्युत्तर दूंगा (इति) (ते) वे (ह) प्रसिद्ध वे लोग भी (समित्पाणयः) समिधाओं को हाथों में लेकर (पूर्वाह्णे) पूर्वाह्ण समय में (प्रतिचक्रमिरे) राजा के निकट गये । राजा भी (अनुपनीय+एव) उपनयन न करके ही शिष्यभाव न कर के ही (तान्) उन से (एतत्) यह वक्ष्यमाण वचन (उवाच) बोले ॥ ७ ॥

इत्येकादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

तत्त्वविदो योगिनो यत्र यत्रैव प्रकृतिषु दृशं प्रेरयन्ति तत्र तत्रैव ब्रह्मणो मोहिनीं शक्तिं प्रेक्ष्य मुह्यन्ति । सर्वाणि वस्तूनि एकैक-विलक्षणगुणवन्ति, इतरेतर-सहकारीणि अन्योन्य रुचिप्रदानि, परस्पर-सहगामीनि दृश्यन्ते । यथा मेढ्यामेकया वरत्रया सर्वे वृषभा निबद्धाः सन्तः कार्यनिष्पादका यथा वा एकेन सूत्रेण प्रोतामणयः परस्पर शोभारञ्जकास्तथैवैकेनापि अदृश्येन, अचिन्तेन, आद्यन्तविहीनेन, गुणेन संप्रोतमिदं जगत्परस्परं रमणीयकतां समेधयत् सूक्ष्मदृष्टीन् प्रकृति-परिच्छेद सन्निवेशिमानसान् योगिनः पदे पदे आनन्दयति विमोहयति विस्मापयति हासयति रोदयति मूकी करोति इत्येवं बहुविधविकारद्योतकं भवति अहो तत्त्वविदां सूक्ष्मतरः परामर्शः ॥

कोपि ज्ञानी एकमेव पदार्थं दर्शंदर्शन्तदन्तर्गत-गुणान् भावंभावंतस्मान्नविरमति इतरस्मिन् मनश्चापि न संनिवेशयति । तदेवस्तौति । तदेव प्रशंसति । अन्य एकदेशस्थं परस्परसंबद्धं सूत्रेमणिमिव पदार्थं दृष्ट्वा तत्रैव संसक्तस्तद्गुण-मोहितस्तस्मादात्मानं मोचयितुं न शक्नोति । अपरः समष्टिरूपायां सृष्टौ समानतया तदीयां शक्तिं पश्यन् सर्वत्रैव रमते । समंपश्यति समंस्तौति सममेवविजानाति । सर्व एते ज्ञानिनः । तेषु तु समत्वदर्शी श्रेष्ठः । इममेव विषयं दर्शयितुं प्रकरणस्यारम्भः ॥

अश्वपतिः खल्वागतांस्तान् मुखकान्त्यादिभिर्विज्ञानिनोवबोध्यात्मविदोप्येते भविष्यन्तीति आत्मपदेन ब्रह्म-विषयिकां जिज्ञासां प्रत्येकं करोति तद्विषये च यावत्पर्य्यन्तं त विजानन्ति तत ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति शिष्यभूतानपि तान् प्रति प्रश्नावकाशः । किन्तु ब्रह्मणि कियज्जानासि किं स्वरूपं तन्मन्यसे किं लक्षणकं वाध्येषि इत्येवं विधे प्रश्ने प्रष्टव्ये कमात्मानमुपास्से इति पृच्छतो राज्ञः प्रश्न एव तावत्संदेहं जनयति । ब्रह्मण एकत्वात्स प्रश्न एव तस्मिन् न संघटते यतो बहूनामात्मनांमध्ये कमात्मानमुपास्से इति प्रश्नस्य भावो विज्ञायते । अतः किंशब्दो लक्षणपरकत्वेन व्याख्येयः । यद्वा । जीवात्मपरकः । जीवात्मा कथमुपास्यत्वमितिचेदुपास्तेस्तत्त्वमननार्थं ग्रहणात् । स्वरूपादेकत्वेपि संख्यायां तस्य बहुत्वे सति प्रश्नावकाशः । यद्वा । शक्तिपरकः । आत्मशब्देन शक्तिः । तथैव समाधानदर्शनात् । तद्यथा । कमात्मानमुपास्स इति प्रश्ने १ दिवमेव २ आदित्यमेव ३ वायुमेव ४ आकाशमेव ५ अप एव ६ पृथिवीमेव उपास इति षण्णाम् समाधानात् । द्युलोकादीनां स्वरूपत आत्मत्वां भावात्तेष्वात्मशब्द प्रयोगात्तु शक्तिपरकोऽयमात्मशब्दः । एता ब्रह्माण्डस्य एकैका शक्तिरेव । यद्वा । राज्ञस्तु ब्रह्मपरक एव प्रश्नः । औपमन्यवादीनां समाधानं तु स्वस्वानुमितार्थपरकं यतः प्रश्नस्तु सर्वविधःस्यात् समाधानं तु तदेव भवति यदेव स जानाति ॥

औपमन्यव ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति । दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते * ॥ १ ॥

* अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्यम् । सायवस ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति दिवमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वाऽअतिष्ठा वैश्वानर एतꣳ हि वै त्वमतिष्ठां वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वꣳ समानानतितिष्ठसि यो वाऽएतमतिष्ठां वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेतिमूर्धा त्वाऽएष वैश्वानरस्य मूर्धात्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति मूर्धा तेऽविदि-

औपमन्यव। कम्। त्वम्। आत्मानम्। उपास्से। इति। दिवम्। एव। भगवः। राजन्। इति। ह। उवाच। एषः। वै। सुतेजाः। आत्मा। वैश्वानरः। यम्। त्वम्। आत्मानम्। उपास्से। तस्मात्। तव। सुतम्। प्रसुतम्। आसुतम्। कुले। दृश्यते॥ १॥

भाष्यम्-औपमन्यव इति। राजा तेषां भ्रान्तिनिरासार्थं तान् प्रत्येकं पृच्छति। तद्यथा। औपमन्यव! हे प्राचीनशाल औपमन्यव! त्वं कमात्मानं किं लक्षणविशिष्टं ब्रह्मोपास्से। यद्वा कां शक्तिं किं स्वरूपम्वा। उपास्से ध्यायसि अभ्यस्यसि अध्येषि। प्रकृति मध्ये तव कस्मिन् वस्तुनि परमाप्रीतिस्तद्गुणरसज्ञता च वर्त्तत इत्यर्थः। अत्र गौणेर्थे आत्मशब्दो दृष्टव्यः। आप्नोति व्याप्नोति। सर्वावच्छेदेनेत्यात्मा शक्तिः स्वरूपम्वा। उपास्तिरपि गौणः। द्युप्रभृतीनामनुपास्यत्वात्। इत्यश्वपतिप्रश्नं श्रुत्वा औपमन्यवः। हे भगवः पूजावन् राजन् सम्राट्! दिवमेव द्युलोकमेव। अहमुपासे। इति होवाच प्रत्युवाच। पुना राजा ब्रवीति। एषः। विधेयानुरोधेन पुल्लिङ्गः। वै निश्चितम्। सुतेजाः। सुष्ठु शोभनं तेजो यत्र। स सुतेजाः। तेजोराशिसम्पन्नः सुतेजोनामा। वैश्वानरः। वैश्वानरस्यायं वैश्वानरसम्बन्धीत्यर्थः। आत्मा अंशः। अंश इवांशः। ब्रह्मणोंऽशासम्भवात्। अयमभिप्रायोस्ति। अयं द्युलोकाख्यः सुतेजा इत्यन्वर्थसंज्ञोस्ति। तथा वैश्वानरस्यांश इवांश एकोस्ति। यमात्मानं सम्प्रति त्वमुपास्से। अयं सुतेजा आत्मा वैश्वानरोस्ति। नेदं ब्रह्म यस्मात् त्वं सुतेज समात्मानं स प्रति उपास्से। तस्मात् कारणात् तव कुले वंशे। सुतमभिषुतम्। प्रसुतम्। अभिषुतं आसुतं सोमरूपं वस्तु अग्निहोत्राय दृश्यते। सर्वे तव सन्ताना अग्निहोत्रिणः सन्तीत्यर्थः॥ १॥

अनुवादः-राजा पूछता है-हे औपमन्यव! आप किंलक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं। यद्वा इस प्रकृति में किस स्वरूप को यद्वा किस शक्ति को अधिकतर प्यार करते हैं। औपमन्यव क०-हे भगवन्! सर्वैश्वर्यसम्पन्न राजन्! द्युलोक को (राजा)

तांऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा॥ शत० १०। ६। १। ६॥

अर्थ-अब राजा जन शार्कराक्ष्य से पूछते हैं कि हे सायवस आप किसको वैश्वानर समझते हैं? जन-हे राजन् द्युलोक को ही। राजा ओम् ठीक है यह प्रतिष्ठा वैश्वानर है जिस हेतु आप इस प्रतिष्ठा वैश्वानर को जानते हैं इस हेतु अपने ज्ञानियों को अतिक्रमण करके वर्त्तमान हैं जो इस प्रतिष्ठा वैश्वानर को जानता है वह मृत्यु का जय और पूर्ण आयु को पाता है। परन्तु वैश्वानर का यह मूर्धा है आपका गिर जाता अथवा वैश्वानर का मूर्धा आप को नहीं मालूम होता यदि आप मेरे निकट नहीं आते॥ ६॥

यह निश्चय सुतेजा नामक वैश्वानर का एक अंश समान है। जिस शक्ति को आप बहुत प्यार कर रहे हैं इसी कारण आप के कुल में अभिषुत प्रसुत आसुत सोम पदार्थ देख पड़ता है ॥ १ ॥

पदार्थः–(औपमन्यव) राजा अश्वपति प्रत्येक विद्वानों से उपास्य देव के विषय में जिज्ञासा करते हैं। प्रथम औपमन्यव से पूछते हैं हे प्राचीनशाल औपमन्यव ! (त्वम्) आप (कम्+आत्मानम्) किस लक्षणविशिष्ट ब्रह्म की यद्वा किस आत्मा की यद्वा किस शक्ति की (उपास्से) उपासना करते हैं। यद्वा अध्ययन वा विचार करते हैं यद्वा आपकी किस प्राकृतिक शक्ति में अत्यन्त प्रीति है। औपमन्यव उत्तर देते हैं (भगवः) हे पूजनीय (राजन्) राजन् ! (दिवमेव) द्युलोक की ही मैं उपासना=विचार करता हूं (इति+ह+उवाच) यह उत्तर उसने दिया। राजा (एषः) यह (वै) निश्चय (सुतेजाः) शोभन तेजवाला तेजोराशि सम्पन्न (वैश्वानरः) वैश्वानर का (आत्मा) एक अंश समान है (यम्) जिस (आत्मानम्) आत्मा=अंश को (त्वम्+उपास्से) आप उपासते हैं (तस्मात्) उस कारण (तव) आप के (कुले) कुल में (सुतम्) अच्छे प्रकार बनाया हुआ (प्रसुतम्) प्रकृष्ट रस संयुक्त (आसुतम्) सब प्रकार से प्रस्तुत सोमरस (दृश्यते) देखपड़ते हैं ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। मूर्द्धात्वेष आत्मन इति होवाच। मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अत्सि। अन्नम्। पश्यसि। प्रियम्। अत्ति। अन्नम्। पश्यति। प्रियम्। भवति। अस्य। ब्रह्मवर्चसम्। कुले। यः। एतम्। एव। आत्मानम्। वैश्वानरम्। उपास्ते। मूर्द्धा। तु। एषः। आत्मनः। इति। ह। उवाच। मूर्द्धा। ते। व्यपतिष्यत्। यत्। माम्। न। आगमिष्यः। इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—औपमन्यव इति। औपमन्यव ! यतस्त्वं सुतेजसमात्मानमुपास्से अतस्त्वमन्नम्। अद्यते भूतैरित्यन्नं भोग्यं वस्तु। अत्सि भुंक्षे। अन्नमित्यनेन भोग्यस्य पदार्थस्य ग्रहणम्। जगति यावद् भोग्यं तावत् सर्वं त्वं प्राप्नोषि पुनः प्रियं प्रियंकरवस्तु पश्यसि अवलोकयसि। अन्योपि यः कश्चिदेतमात्मानं वैश्वानरम्। एवमेतद्गुणविशिष्टं विदि-

त्वोपास्ते सोऽपि । अन्नं प्रचुरभोग्यमत्ति प्रियञ्चपश्यति । अस्य च कुले ब्रह्मवर्चसं सर्वं वस्तुभवति । हे औपमन्यव ! एष द्युलोकरूप आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैवास्ति त्वं खलु मूर्द्धानमेव जानासि न समग्रं वैश्वानरमित्यर्थः । अतो विपरीत-ग्राहिनस्ते मूर्द्धा व्यपतिष्यद् विपतितोऽभविष्यत् ज्ञानशून्योऽभविष्यत् । यदि त्वं मां नागमिष्य इति । त्वया साधुकृतं यन्मांतिकं समागतम् । कः खल्वाशय एतस्य ? । मूर्खा अपि अन्नमदन्ति । आरण्यका मनुष्याः स्वस्थाः सन्तः कलत्रं पुत्रं बन्धुं सुहृदं सर्वं प्रियमेव पश्यन्ति । दृश्यते लोके कश्चित् सर्वथा बालिशो यथाजात एव वर्तते । स तु स्वच्छन्दचारी वृषभ इव सर्वं लौकिकं भोग्यं प्राप्य भुंक्ते बहून् पुत्रान् जनयति इतरान् धनबलेन वशीकृत्य तैरात्मानं सेवयन्ति प्रतिक्षणं सानन्दं तिष्ठति । एतद्विपरीतं ज्ञानिषु दृश्यते । तेन अन्नादनं प्रियावलोकनञ्च किन्नामकं लक्षणं भविष्यति ज्ञानिनः । इत्येवमाक्षेपे प्राप्ते ब्रूमः । अज्ञानिनां भोग्यं परिच्छिन्नं स्वल्पीयोऽस्ति । तद्विपरीतं विदुषाम् । कथमिव ज्ञानिभोग्यस्यानन्तता विद्यते ? । सृष्टौ यत्किमपि उपलभ्यते तत्सर्वं भोग्यत्वेनैवतें आददते । अरण्यमितरेषां शून्यं नीरसं निरानन्दं भवति तदेव ज्ञानिनामाह्लादजनकम् । तत्रस्वच्छन्दतया परिवर्धितानि सुपुष्पितानि विविधरूपाणि विविधभावग्राहकाणि विचित्रितानि बहुविध-रङ्गरञ्जितानि वस्तूनि ज्ञानिनमेवाह्लादयन्ति । इत्थं ज्ञानिनामानन्दस्य सीमा न भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥ इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अनुवादः--आप भोग्य वस्तु भोगते हैं प्रिय देखते हैं । सो जो कोई इसी वैश्वानर सम्बन्धी अंश समान अंश को उपासता है अर्थात् अध्ययन करता है वह भी भोग्य भोगता है प्रिय देखता है उस के कुल में ब्रह्मतेज प्राप्त होता है । परन्तु यह व्यापक वैश्वानर का (मूर्द्धा) शिर है इस प्रकार राजा ने कहा और यह भी कहा कि आप का शिर गिर जाता यदि आप मेरे निकट नहीं आते ॥ २ ॥

पदार्थः--(अन्नम्) भोग्यवस्तु (अत्सि) आप भोगते हैं (प्रियम्+पश्यसि) प्रिय देखते हैं (यः) जो कोई (एतम्+एव) इसी (वैश्वानरम्) वैश्वानर सम्बन्धी (आत्मानम्) अंश समान अंश को (उपास्ते) उपासता है अर्थात् अध्ययन करता है वह भी (अन्नम्+अत्ति) भोग्य भोगता है (प्रियम्+पश्यति) प्रिय देखता है (अस्य कुले) इस के कुल में (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज (भवति) होता है (तु) परन्तु (आत्मनः) व्यापक वैश्वानर स्वरूप का (एषः) यह (मूर्द्धा) शिर है (इति+ह+उवाच) इस प्रकार उपदेश देकर फिर बोले (ते मूर्द्धा) आप का शिर (व्यपतिष्यत्) गिरजाता (यत्)-

यदि (माम्) मेरे निकट (न+आगमिष्यः) नहीं आप आते (इति) ॥ २ ॥

इति द्वादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ होवाच—सत्ययज्ञं पौलुषिम् । प्राचीनयोग्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते * ॥ १ ॥

अथ । ह । उवाच । सत्ययज्ञम् । पौलुषिम् । प्राचीनयोग्य । कम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । इति । आदित्यम् । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । विश्वरूपः । आत्मा । वैश्वानरः । यम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । तस्मात् । तव । बहु विश्वरूपम् । कुले । दृश्यते ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरम् । सोऽश्वपतिः । हेति प्रसिद्धो वैश्वानरविद् । पौलुषिं पुलुषस्यापत्यं सत्ययज्ञं प्रत्युवाच । हे प्राचीनयोग्य ! त्वम् । कमात्मानं किंलक्षणकं ब्रह्मोपास्से । यद्वा । कां शक्तिम् । उपास्से प्रीत्या प्रीणयसि ? इति राजोक्तः सः । हे भगवो भगवन् राजन् ! आदित्यं सूर्य्यमेवाहमुपास्से इति ह तं राजानं प्रत्युवाच । पुना राजा ब्रवीति । हे प्राचीनयोग्य ! एष वै विश्वरूपः । विश्वानि विविधानि सप्त प्रकाराणि रूपाणि यस्मिन् स विश्वरूपः । यद्वा । विश्वानि सर्वाणि रूपाणि शुक्लपीतादीनि यस्मात् सः । आदित्यत एव जगति शुक्ल पीतादीनि रूपाणि दृश्यन्ते । यद्वा । विश्वमात्मानं परितः सर्वं भूम्यन्तरिक्षाद्यं जगद्रूपयति अदृश्यावस्थातो रूपवद्दृश्याकारं करोतीति विश्वरूपः सूर्य्यः । स एव स्वाकर्षणेन प्रथमं स्वपरितः स्थितं जगत् ईदृशेरूपे पर्य्यणमयत् । अतोऽपि विश्वरूप इत्याचक्षत आत्मेत्यादि पूर्ववत् । तस्मात्द्धेतो । तव कुले । बहु । अनेकम् । विश्वरूपम् । विविधरूपं हवनोपकरणं दृश्यते ॥ १ ॥

---

* अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम् । वैयाघ्रपद्य ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्यादित्यमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै सुततेजा वैश्वानर एतद्ध हि वै त्वद्ध सुततेजसं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्तवैष सुतोऽध्यमानः पच्यमानोऽक्षीयमाणो गृहेषु तिष्ठति यो वा एतद्ध सुततेजसं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति चक्षुस्त्वाऽएतद्वैश्वानरस्य चक्षुस्त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इति चक्षुस्तेऽविदितमभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥ शत० १० । ६ । १ । ८ ॥

अनुवादः-अनन्तर वे प्रसिद्ध राजा पौलुपि सत्ययज्ञ नाम विद्वान् से बोले कि हे प्राचीनयोग्य ! आप किंलक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं यद्वा किस शक्ति वा आत्मा का अध्ययन करते हैं । उन्हों ने उत्तर दिया कि हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! मैं आदित्य का ही अध्ययन करता हूं । (राजा) निश्चय यह वैश्वानर सम्बन्धी विश्वरूप नामक अंश-समान अंश वा शक्ति है जिस अंश को आप अध्ययन कर रहे हैं । इस कारण आप के कुल में बहुत विश्वरूप होमापकरण दीख पड़ते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) तदनन्तर (ह) सुप्रसिद्ध वे राजा (पौलुषिम्) पुलुष ऋषि के पुत्र (सत्ययज्ञम्) सत्ययज्ञ नाम विद्वान् से (उवाच) बोले कि (प्राचीनं योग्य) हे प्राचीनयोग्य ! (त्वम्) आप (कम्) किस (आत्मानम्) लक्षण वाले ब्रह्म की वा शक्ति की (उपास्से) उपासना वा अध्ययन करते हैं (इति) (ह+उवाच) राजोक्त प्रश्न सुन वे प्रसिद्ध विद्वान् बोले कि (भगवः) हे पूज्य ऐश्वर्यसम्पन्न (राजन्) राजन् ! (आदित्यम्+एव) आदित्य का ही मैं अध्ययन करता हूं (इति) यह सुन पुनरपि राजा बोले कि हे प्राचीनयोग्य ! (वै) निश्चय (वैश्वानरः) वैश्वानर सम्बन्धी अर्थात् वैश्वानर का (एषः) यह आदित्य (विश्वरूपः) विश्वरूप नामक एक (आत्मा) अंश वा शक्ति सदृश है (त्वम्) आप (यम्) जिस (आत्मानम्) अंश वा शक्तिसमान स्वरूप का (उपास्से) अध्ययन करते हैं (तस्मात्) उस कारण (तव) तेरे (कुले) कुल में (बहु) बहुत (विश्वरूपम्) विविध प्रकार का उपकरण (दृश्यते) देख पड़ता है जिस कारण आप विश्वरूप का अध्ययन करते हैं इस हेतु आप के कुल में विविधरूप सामग्री दीखती है परन्तु यह ब्रह्म नहीं ॥ १ ॥

भाष्याशयः-विश्वरूप-यहां आदित्यपद से सूर्य का ग्रहण है इसी का विशेषण विश्वरूप है । जिस में विश्व=विविध अर्थात् सात प्रकार के रूप हों यद्वा विश्व, अर्थात् सम्पूर्ण शुक्ल पीतादि सप्त प्रकार के रूप हों जिससे । सूर्य से ही जगत् में सब रूपों की उत्पत्ति है इस हेतु सूर्य को विश्वरूप कहते हैं । यद्वा अपने चारों तरफ स्थित जो जगत् उस में वा उसको अदृश्यावस्था से दृश्यावस्था में रूपित करते हैं यद्वा अपने आकर्षण से प्रथम अपने परितःस्थित जगत् को इस रूप में जो लावे । इन सब कारणों से सूर्य को विश्वरूप कहते हैं । वेदों के अनेक स्थलों में सूर्य को सप्तरूप, सप्तकिरण, सप्तार्चि कहा गया है । आजकल भी सप्ताश्व इसी हेतु कहते हैं कि इस में सात प्रकार के किरण हैं । अश्वनाम किरण का है । आत्मा-आत्मा शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं यहां अंश अर्थ में आत्मा

शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् सूर्यादि यह जगत् ब्रह्म के अंश अर्थात् अंश सदृश है । इत्यादि अर्थभावना सर्वत्र कर लेनी ॥ १ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

प्रवृत्तः । अश्वतरीरथः । दासीनिष्कः । अत्सि । अन्नम् । पश्यसि । प्रियम् । अत्ति । अन्नम् । पश्यति । प्रियम् । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसम् । कुले । यः । एतम् । एवम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । उपास्ते । चक्षुः । तु । एतत् । आत्मनः । इति । ह । उवाच । अन्धः । अभविष्यत् । यत् । माम् । न । आगमिष्यः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—प्रवृत्तइति । हे प्राचीनयोग्य ! तस्मादेव कारणात् । अश्वतरीभ्यां युक्तो रथः । दासीनिष्को दासीभिर्युक्तो निष्को हार इति दासीनिष्कश्च । तव प्रवृत्तः । त्वामनुगतो भवति । त्वया सार्द्धं वर्तत इत्यर्थः । अतएवान्नं भोग्यं वस्तु । अत्सि भुङ्क्षे । प्रियं पश्यसीत्यादि पूर्ववत् । हे प्राचीनयोग्य ! आत्मनो व्यापकस्य वैश्वानरस्य एतदादित्यरूपं वस्तु । चक्षुष्टु चक्षुस्तेव नयनसमानमेव यतोऽनेनैव सूर्यतेजसाऽऽप्यायिताभ्यां नेत्राभ्यां जीवाः पश्यन्ति । अतश्चक्षुस्त्वमादित्यस्य । यद्यदि मां नागमिष्यो मत्समीपं नागमिष्यस्त्वञ्चेत्तर्हि अन्धोऽभविष्यत् त्वमभविष्योऽभविष्यदित्यार्षः प्रयोगः । यद्वा वैश्वानरस्य चक्षुषोऽज्ञानेन नेत्रमविदितमभविष्यत् । यन्मांनागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अनुवादः—(इसी कारण) आप के निकट अश्वतरीयुक्त रथ और दासी सहित माला विद्यमान हैं और भोग्य भोगते हैं प्रिय देखते हैं । सो जो कोई वैश्वानर सम्बन्धी इसी अंश वा शक्तिस्वरूप का अध्ययन करता है वह भी भोग्य भोगता है प्रिय देखता है इस के कुल में ब्रह्मतेज होता है । परन्तु यह व्यापक वैश्वानर का नेत्र समान है । इतना कह वे फिर बोले कि यदि मेरे निकट आप न आते तो आप अन्धे हो जाते ॥ २ ॥

पदार्थः—हे प्राचीन योग्य ! इसी कारण (अश्वतरीरथः) अश्वतरी युक्त रथ (दासीनिष्कः) दासीसहित निष्क अर्थात् हार (प्रवृत्तः) आप के निकट विद्यमान हैं और

(अन्नम्+अत्सि) आप अन्न खाते हैं अर्थात् भोग्य वस्तुओं को भोगते हैं (प्रियम्+पश्यसि) प्रिय देखते हैं (यः) जो कोई इत्यादि पूर्ववत् जानना । (तु) परन्तु हे प्राचीनयोग्य ! (एतत्) यह आदित्य (आत्मनः) व्यापक वैश्वानर का (चक्षुः) नेत्र समान है क्योंकि सूर्य के तेज से संयुक्त नेत्र के द्वारा जीव देखता है (इति+ह+उवाच) इतना कह कर फिर राजा कहने लगे (यत्) यदि (माम्) मेरे निकट (न+आगमिष्यः) आप नहीं आते तो (अन्धः+अभविष्यत्) अन्ध हो जाते अर्थात् वैश्वानर के नेत्र के अज्ञान के कारण उस विषय में आप भी अज्ञानी रहते ॥ २ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयम् । वैयाघ्रपद्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति ? वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथ श्रेणयोऽनुयन्ति * ॥ १ ॥

अथ । ह । उवाच । इन्द्रद्युम्नम् । भाल्लवेयम् । वैयाघ्रपद्य । कम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । इति । वायुम् । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । पृथग्वर्त्मा । आत्मा । वैश्वानरः । यम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । तस्मात् । त्वाम् । पृथग्बलयः । आयन्ति । पृथग्रथश्रेणयः । अनुयन्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरं भाल्लवेयमिन्द्रद्युम्नं प्रति । अश्वपतिर्ह राजोवाच । हे वैयाघ्रपद्य ! त्वं कमात्मानं किंलक्षणकंब्रह्मोपास्से । यद्वा । कां शक्ति स्वरूपं वा उपास्से अधीषे । इति । इति शब्दः प्रश्नसमाप्त्यर्थः । राज्ञा पृष्टो भाल्लवेयो होवाच । हे भगवो राजन् ! वायुमेवाहमुपासे । वायावेव मम परमा प्रीतिरस्ति । इतिश्रुत्वा राजा तद्गुणं

* अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति वायुमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर एतद्ध हि वै त्वं पृथग्वर्त्मानं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वां पृथग्रथश्रेणयोऽनुयान्ति योऽस्य एतं पृथग्वर्त्मानं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति प्राणस्त्वाऽएष वैश्वानरस्य प्राणस्त्वाद्धास्यद्यदि ह नागमिष्य इति प्राणस्तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥ ७ ॥ शत० १० । ६ । १ ॥

प्रस्तौति । एष वै । पृथग्वर्त्मा । पृथक् नाना वर्त्मानि पन्थानो यस्य स पृथग्वर्त्मा । स आत्मा स्वभावो यस्य स पृथग्वर्त्मात्मा । आत्मेतिपृथक् पदं वा । वैश्वानरः । वैश्वानरस्यैकांशो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्माद् वैश्वानरस्योपासनात् पृथग्वलयः । पृथग्नानाविधा वलयो-वस्त्रान्नादिलक्षणानि दानानि भोग्यानि वा । त्वाम् । आयन्ति आगच्छन्ति । पृथग् रथश्रेण्यो विविधरथपंक्तयोपि । त्वामनुयन्ति । अनुसरन्ति ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर उस प्रसिद्ध राजा ने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न विद्वान् से जिज्ञासा की कि हे वैयाघ्रपद्य ! आप किंलक्षणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करते हैं । वा किस शक्ति-स्वरूप का अध्ययन करते हैं । इन्द्रद्युम्न ने उत्तर दिया कि हे भगवन् राजन् ! वायु का हीं अध्ययन मैं करता हूं (राजा) निश्चय यह पृथग्वर्त्मात्मा नामक वैश्वानरसम्बन्धी एक अंश समान वा शक्ति सदृश है जिस अंश वा शक्ति का अध्ययन आप करते हैं उस हेतु नानावलि (भोग्यपदार्थ) आप को प्राप्त होती है और नाना रथ-पंक्ति आप के पीछे चलती है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (ह) उस प्रसिद्ध राजा ने (भाल्लवेयम्) भाल्लवि ऋषि के पुत्र (इन्द्रद्युम्नम्) इन्द्रद्युम्न से (उवाच) जिज्ञासा की (वैयाघ्रपद्य) हे वैयाघ्र पद्य ! (त्वम्) आप (कम्) किं लक्षणविशिष्ट=किस लक्षण वाले (आत्मानम्) ब्रह्म की (उपास्से) उपासना करते हैं । यद्वा । (कम्+आत्मानम्) किस शक्तिस्वरूप का (उपास्से) अध्ययन करते हैं । इन्द्रद्युम्न (ह+उवाच) बोले कि (भगवः) हे पूजा-वान् (राजन् !) राजन् (वायुमेव) वायु का ही मैं अध्ययन करता हूं (राजा क०) (एषवै) यह निश्चय (पृथग्वर्त्मा) विविध प्रकार से गमनस्वभाववाला (वैश्वानरः) वैश्वानर का (आत्मा) आत्मा एक अंश समान है (यम्+त्वम्०) जिस अंश का आप अध्ययन करते हैं (तस्मात्) उस कारण (त्वाम्) आपको (पृथग्वलयः) पृथक्=नाना । वलयः=वलिएं । अर्थात् भोग-सामग्रियां (आयन्ति) आती हैं । और (पृथग्र-थश्रेण्यः) विविध रथ-पंक्तियां (अनुयन्ति) आपके पीछे चलती हैं ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । प्राण-स्त्वेष आत्मन इति होवाच । प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नाग-मिष्य इति ॥ २ ॥

अत्सि । अन्नम् । पश्यसि । प्रियम् । अत्ति । अन्नम् । पश्यति । प्रियम् । भवति ।

अस्य । ब्रह्मवर्चसम् । कुले । यः । एतम् । एवम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । उपास्ते । प्राणाः । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । प्राणः । ते । उदक्रमिष्यद् । यत् । माम् । न । आगमिष्यः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-अत्सीति । तस्मात्त्वमन्नमत्सि प्रियं पश्यसीत्यादि पूर्वं समानम् । प्राणस्त्वेष आत्मनः । व्यापकस्य वैश्वानरस्य । एष वायुः प्राणः प्राणसमः । यन्मां नागमिष्यः । ते प्राणः । उदक्रमिष्यद् उत्क्रान्तोऽभविष्यत् तव प्राणोऽविदितोऽभविष्यद्वा ॥ २ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—इसी कारण आप भोग्य भोगते हैं प्रिय देखते हैं । सो जो कोई वैश्वानर सम्बन्धी इसी अंश का अध्ययन करता है वह ही भोग्य भोगता है प्रिय देखता है इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है । परन्तु व्यापक वैश्वानर का यह (वायुरूप) एक अंश है । इतना कह फिर राजा बोले कि यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का प्राण उत्क्रान्त हो (निकल) जाता ॥ २ ॥

पदार्थः-(अन्नमत्सि) आप अन्न खाते हैं अर्थात् भोग्य भोगते हैं इत्यादि अर्थ पूर्ववत् जानना (प्राणः०) परन्तु सर्वव्यापी वैश्वानर का यह वायु (प्राणः) प्राण समान है (ते+प्राणः) आप का प्राण (उदक्रमिष्यत्) निकल जाता (यन्माम्०) यदि आप मेरे निकट नहीं आते अर्थात् वैश्वानर के प्राण के अज्ञान से आप प्राणविज्ञान से रहित होजाते ॥ २ ॥ इति चतुर्दशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ होवाच-जनꣳशार्कराक्ष्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च* ॥ १ ॥

* अथ होवाच महाशालं जाबालम् । औपमन्यव ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्याकाशमेव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै बहुलो वैश्वानरं यतश्च हि वै त्वं बहुलं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं बहुः प्रजया पशुभिरसि यो वाऽएतं बहुलं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेत्यात्मा त्वाऽएष वैश्वानरस्यात्मा त्वाहास्यद्यदि ह नागमिष्य इत्यात्मा तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥ ६ ॥ शत० १० । ६ । १ ॥ अर्थ—अथ महाशाल

अथ । ह । उवाच । जनम् । शार्कराक्ष्य । कम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । इति । आकाशम् । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । बहुलः । आत्मा । वैश्वानरः । यम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । तस्मात् । त्वम् । बहुलः । असि । प्रजया । च । धनेन । च ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथ हेति । अथानन्तरं राजा होवाच । जनं विद्वांसं प्रति । हे शार्कराक्ष्य ! त्वं कमात्मानं किं लक्षणकं ब्रह्मोपास्से । यद्वा । कां शक्तिमध्येषि इति । हे भगवो भगवन् राजन् आकाशमेवाध्येमीति जनो होवाच । पुनाराजा कथयति एष वै बहुलो बहुव्यापकः । वैश्वानरो वैश्वानरस्यायं वैश्वानरः । आत्मांशः अंश इव यावत् वर्तते । यमात्मानं त्वमुपास्से । तस्मात्त्वं प्रजया च पुत्रपौत्रादिलक्षणया सन्तत्या च धनेन च गोहिरण्यादि लक्षणेन बहुलोसि बहुसंख्याविशिष्टोसि ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर उस प्रसिद्ध राजा ने जन नाम विद्वन् से जिज्ञासा की कि हे शार्कराक्ष्य ! आप किंलक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं । यद्वा । किस शक्तिस्वरूप का अध्ययन करते हैं । जन नाम विद्वान् ने उत्तर दिया कि हे भगवन् राजन् मैं आकाश का ही अध्ययन करताहूं (राजा कहते हैं) निश्चय यह बहुल नामधारी वैश्वानर का एक अंश समान है जिस अंश को आप अध्ययन करते हैं । उस कारण आप प्रजा और धन से बहुल अर्थात् बहु युक्त हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (ह) वह प्रसिद्धराजा (जनम्) जन नाम विद्वान् से (उवाच) जिज्ञासा की (शार्कराक्ष्य) हे शार्कराक्ष्य ! (त्वम्) आप (कम्+आत्मानम्) किस लक्षण वाले ब्रह्म की (उपास्से) उपासना करते हैं । यद्वा । किस शक्तिस्वरूप का अध्ययन करते हैं (इति) (ह+उवाच) वह जन नाम विद्वान् बोले कि (भगवो राजन्) हे भगवन् राजन् (आकाशमेव) आकाश का ही मैं अध्ययन करता हूं फिर राजा बोले (एष वै) निश्चय यह (बहुलः) बहुव्यापक महान् (वैश्वानरः) वैश्वानर सम्बन्धी (आत्मा) अंश समान अंश है । अथवा शक्ति समान है (यं त्वमात्मानमुपास्से) जिस अंश का अध्ययन आप करते हैं (तस्मात्) उस कारण (त्वम्) आप (प्रजया च) पुत्र पौत्रादि प्रजा से और (धनेन च) गो हिरण्यादि धन से (बहुलोऽसि) बहु व्यापक हैं ॥ १ ॥

जाबाल से पूछते हैं कि हे औपमन्यव ! आप किस को वैश्वानर जानते हो । जाबाल हे राजन् ! आकाश को ही । राजा—ओम् ठीक है । यह बहुल वैश्वानर है इत्यादि उपनिषद् समान ही इसका अभिप्राय है ॥ ६ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते । सन्देहस्त्वेष आत्मन इति होवाच । सन्देहस्ते व्यशीर्य्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अत्सि । अन्नम् । पश्यसि । प्रियम् । अत्ति । अन्नम् । पश्यति । प्रियम् । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसम् । कुले । यः । एतम् । एवम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । उपास्ते । सन्देहः । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । सन्देहः । ते । व्यशीर्यत् । यत् । माम् । न । आगमिष्यः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-अत्सीति । अत एव हे शार्कराक्ष्य । त्वमन्नमत्सि प्रियं पश्यसीत्यादि समानम् । आत्मनः वैश्वानरस्यात्मन एषः सन्देहः मध्यकायः मध्यं हि पूर्वा परांश साधारणत्वात् कुत्रानुप्रविष्टमिति सन्दिह्यते अतः सन्देहो मध्यकायः । यन्मां नागमिष्यस्त्वञ्चेत्तर्हि ते सन्देहो मध्यकायो व्यशीर्यत् शीर्णो विच्छिन्नोऽभविष्यदिति ॥ २ ॥

इति पञ्चदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १५ ॥

अनुवादः-(इसी कारण) आप भोग्य वस्तु भोगते हैं प्रिय देखते हैं और जो कोई वैश्वानर सम्बन्धी इसी अंश को वा शक्ति को उपासता है वह भी भोग्य भोगता है प्रिय देखता है और इस के कुल में ब्रह्मतेज होता है । परन्तु सर्वव्यापक वैश्वानर का यह मध्यम अंश समान है । इतना कह राजा फिर बोले कि यदि आप मेरे पास न आते तो आप का मध्यशरीर विच्छिन्न होजाता ॥ २ ॥

पदार्थः-(अन्नमत्सि) आप अन्न खाते हैं अर्थात् भोग्य वस्तु भोगते हैं इत्यादि अर्थ पूर्ववत् जानना । (सन्देहः) सन्देह नाम मध्यशरीर का है । यह आकाश व्यापक वैश्वानर का मध्य अंश समान है (ते+सन्देहः) आप का मध्य शरीर (व्यशीर्यत्) छिन्न-भिन्न हो जाता (यन्माम्०) यदि मेरे पास आप न आते ॥ २ ॥

इति पञ्चदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १५ ॥

अथ षोडशः खण्डः ॥

अथ होवाच-बुडिलमाश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा

वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से । तस्मात्त्वꣳरयिमान् पुष्टिमानसि * ॥ १ ॥

अथ । ह । उवाच । बुडिलम् । आश्वतराश्विम् । वैयाघ्रपद्य । कम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । इति । अपः । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । रयिः । आत्मा । वैश्वानरः । यम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । तस्मात् । त्वम् । रयिमान् । पुष्टिमान् । असि ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरं राजा होवाचाश्वतराश्विं बुडिलं विद्वांसं प्रति । हे वैयाघ्रपद्य ! त्वं कमात्मानमुपास्से । किं लक्षणकं ब्रह्मोपास्से । यद्वा । कां शक्तिमधीषे ? इति राजपृष्टो बुडिलोहोवाच । भगवो भगवन् राजन् ! अप एव जलमेवाहमधीये । इति श्रुत्वा राजा होवाच । एष वै रयिः । वेगवत्त्वाद्रयीवेगवानित्यर्थः । रयोहिवेगः । इकारान्तत्वं छान्दसम् । रयिरूपधनप्राप्तिहेतुत्वाद् वा रयिः । रयिनामको वैश्वानरो वैश्वानरस्यायं वैश्वानरः । आत्मा अंश समानः शक्तिस्वरूपो वा वर्त्तते । यं त्वमात्मानमुपास्से । नेदं ब्रह्मास्ति यदिदं त्वमुपास्से । तथापि तस्मादेवकारणात्त्वं रयिमान् धनवान् पुष्टिमानसि उपचयवानसीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर उस प्रसिद्ध राजाने आश्वतराश्वि बुडिलनामक विद्वान् से जिज्ञासा की कि हे वैयाघ्रपद्य ! आप किंलक्षणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करते हैं । यद्वा

---

* अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम् । प्राचीनयोग्य ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेत्यप एव राजन्निति होवाचोमिति होवाचैष वै रयिर्वैश्वानर एतꣳ हि वै त्वꣳ रयिं वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वꣳ रयिमान्पुष्टिमानसि यो वा एतꣳ रयिं वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमयुरेति वस्तिस्त्वाऽएष वैश्वानरस्य वस्तिस्त्वाह्वास्यद्यदि ह नागमिष्य इति वस्तिस्तेऽविदितोऽभविष्यद्यदि ह नागमिष्य इति वा ॥ शत० १० । ६ । १ । ५ ॥

अर्थ—तदन्तर राजा सत्ययज्ञ पौलुषि से पूछते हैं कि आप किसको वैश्वानर समझते हैं ? सत्ययज्ञ—हे राजन् ! जल को ही । राजा—ओम् अर्थात् ठीक है परन्तु यह रयि नामक वैश्वानर है जिस हेतु आप इस रयि नाम वैश्वानर को जानते हैं इस हेतु आप रयिमान्=धनवान् और पुष्टिमान् हैं । जो कोई इस रयि वैश्वानर को जानता है वह मृत्यु का जय करता है और सम्पूर्ण आयु को पाता है परन्तु वैश्वानर का यह वस्तिमात्र है आप की वस्ति गिर पड़ती यदि आप नहीं आते । यद्वा । आप को वैश्वानर की वस्ति का ज्ञान नहीं होता यदि मेरे निकट नहीं आते ॥ ५ ॥

किस शक्तिस्वरूप का अध्ययन करते हैं । वुडिल ने उत्तर दिया कि हे भगवन् राजन् ! जल का ही मैं अध्ययन करता हूं । (राजा क०) यह निश्चय वैश्वानर का रयि नामक एक अंश है जिस अंश का आप अध्ययन करते हैं । उस कारण आप रयिमान् और पुष्टिमान् हैं ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (आश्वतराश्विम्+वुडिलम्) आश्वतराश्वि वुडिल नामक विद्वान् से (ह+उवाच) वे प्रसिद्ध राजा बोले (वैयाघ्रपद्य) हे वैयाघ्रपद्य ! (त्वम्) आप (कम्) किस लक्षणवाले (आत्मानम्) ब्रह्म की (उपास्से) उपासना करते हैं। यद्वा । किस शक्तिस्वरूप का अध्ययन करते हैं । राजा से पूछेजाने पर (ह+उवाच) ये वुडिल विद्वान् बोले (भगवः+राजन्) हे भगवन् राजन् ! (अपः+एव) जल का ही मैं अध्ययन करता हूं (राजक०) (एषः+वै) यह निश्चय (रयिः) वेगवान् वा धन-वान् (वैश्वानरः) वैश्वानर का (आत्मा) अंश समान है वा शक्ति सदृश है । (यम्+त्वम्०) जिस अंश का अध्ययन आप करते हैं किन्तु यह ब्रह्म नहीं है । यह तो विराट् जगत् का एक अंशमात्र है । परन्तु तथापि इसी हेतु (तस्मात्) उस कारण (त्वम्) आप (रयिमान्) धनवान् और (पुष्टिमान्) वृद्धिमान् हैं ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच । बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अत्सि । अन्नम् । पश्यसि । प्रियम् । अत्ति । अन्नम् । पश्यति । प्रियम् । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसम् । कुले । यः । एतम् । एवम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । उपास्ते । वस्तिः । तु । एषः । आत्मनः । इति । ह । उवाच । वस्तिः । ते । व्य-भेत्स्यत् । यत् । माम् । न । आगमिष्यः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—अत्सीति । तस्मात्त्वमन्नमत्सीत्यादि समानम् । वस्तिस्त्वेष आत्मन इति व्यापकस्य वैश्वानरस्य । एष रयिनामा अप्स्वरूपः । वस्तिर्जलसंग्रहस्थानम् । ते तव वस्तिर्ज-लसंग्रहस्थानम् । व्यभेत्स्यत् भिन्नोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

इति षोडशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अनुवादः-इसी कारण आप भोग्य भोगते हैं प्रिय देखते हैं सो जो कोई वैश्वानर सम्बन्धी इसी अंश को उपासता है वह भी भोग्य भोगता है प्रिय देखता है इस के कुल

में ब्रह्मतेज होता है परन्तु व्यापक वैश्वानर का यह वस्ति समान अंश है । इतना कह फिर राजा बोले कि यदि मेरे पास आप न आते तो आपकी वस्ति भिन्न होजाती ॥ २ ॥

पदार्थः-(अन्नमत्सि) आप भोग्य भोगते हैं (प्रियम्+पश्यसि) प्रिय देखते हैं इत्यादि अर्थ पूर्व समान है । (वस्तिः) जलसंग्रह स्थान अर्थात् व्यापक वैश्वानर का यह जलस्वरूप अंश जलसंग्रह स्थानीय है (ते+वस्तिः) आपका जलसंग्रह स्थान (व्यभेत्स्यत्) छिन्न भिन्न हो जाता (यन्माम्०) यदि मेरे निकट आप नहीं आते अथवा आप को यह अंश अविदित ही रहता ॥ २ ॥

इति षोडशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः खण्डः ॥

अथ होवाचोद्दालक मारुणिं गौतम ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च * ॥ १ ॥

अथ । ह । उवाच । उद्दालकम् । आरुणिम् । गौतम । कम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । इति । पृथिवीम् । एव । भगवः । राजन् । इति । ह । उवाच । एषः । वै । प्रतिष्ठा । आत्मा । वैश्वानरः । यम् । त्वम् । आत्मानम् । उपास्से । तस्मात् । त्वम् । प्रतिष्ठितः । असि । प्रजया । च । पशुभिः । च ॥ १ ॥

* स होवाचारुणमौपवेशिम् । गौतम ! कं त्वं वैश्वानरं वेत्थेति पृथिवीमेव राजन्निति होवाचेमिति होवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर एतद्धि वै त्वं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेत्थ तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितः प्रजया पशुभिरसि यो वा एतं प्रतिष्ठां वैश्वानरं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति पादौ त्वाऽएतौ वैश्वानरस्य पादौ तेऽम्लास्यतां यदि ह नागमिष्य इति पादौ तेऽविदितावभविष्यतां यदि ह नागमिष्य इति वा ॥ ४ ॥ शत० १० । ६ । १ ॥

अर्थ—वह राजा औपवेश अरुण से पूछता है कि हे गौतमवंशोत्पन्न ! आप किस को वैश्वानर जानते हैं ?, अरुण—हे राजन् पृथिवी को ही । राजा—हां ठीक है परन्तु यह प्रतिष्ठा वैश्वानर है इस प्रतिष्ठा वैश्वानर को जिस हेतु आप जानते हैं इस हेतु आप प्रजा और पशु से प्रतिष्ठित हैं । जो कोई इसको प्रतिष्ठा वैश्वानर जानता है वह मृत्यु का जय करता है और सर्व आयु को पाता है परन्तु वैश्वानर का यह पाद समान है आप के पाद मलीन होजाते यदि मेरे निकट नहीं आते । यद्वा आप को पाद विदित नहीं होते यदि मेरे निकट नहीं आते ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरमारुणिमरुणेरपत्यमुद्दालकम् । अश्वपतिर्होवाच । गौतम ! त्वं कमात्मानमुपास्से । "गां पृथिवीं ताम्यति काङ्क्षति कामयते यः स गोतमः । तस्याऽपत्यं गौतमः । तव पूर्वेऽपि पृथिव्याः सभाजयितार आसन् । त्वमपि कदाचित् तादृगेव भवसीति सम्बोधनेन ध्वन्यते" । त्वम् । कमात्मानम् । कां शक्तिम् । उपास्से । उपसमीपं गत्वा तदन्तः प्रविश्येव सम्यगधीषे । इति प्रश्नसमाप्त्यर्थः । राज्ञा पृष्टो गौतमो होवाच । हे भगवो भगवन् राजन् ! पृथिवीमेवाहमुपासे इति । पृथिवीमेव अधीये । हे गौतम ! एष वै प्रतिष्ठा पादावेव वैश्वानरस्य । नेदंब्रह्मास्ति यदिदं त्वमुपास्से । अन्यत् सर्वं सुगमम् ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर (उस अश्वपति राजा ने) आरुणि उद्दालक से जिज्ञासा की । हे गौतम ! आप किस शक्ति वा स्वरूप का अध्ययन करते हैं ? (गौतम) हे भगवन् राजन् ! पृथिवी का ही (मैं अध्ययन करता हूं) (अश्वपति) यह निश्चय वैश्वानर की प्रतिष्ठा=पादस्वरूप है । जिस स्वरूप का आप अध्ययन करते हैं । उस कारण आप प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध उस राजा ने (आरुणिम्) अरुणपुत्र (उद्दालकम्) उद्दालक से (उवाच) जिज्ञासा की (गौतम) हे गौतमवंशीय ! (त्वम्) आप (कम्+आत्मानम्) किस स्वरूप को (उपास्से) अच्छे प्रकार प्रीतिपूर्वक अध्ययन करते वा किस विषय में भावना मनन आदि क्रिया करते हैं (इति) (गौतम कहते हैं) (भगवः+राजन्) हे ऐश्वर्य सम्पन्न वा पूजावान् राजन् ! (पृथिवीम्+एव) पृथिवी को ही उपासता हूं अर्थात् पृथिवी के विषय में ही आजकल मनन श्रवणादि क्रिया को करता हूं (इति) राजा कहते हैं (एषः) यह (वै) निश्चय (वैश्वानरः) वैश्वानर सम्बन्धी (प्रतिष्ठा) पाद (आत्मा) स्वरूप है (यम्+त्वम्+आत्मानम्+उपास्से) आप जिस स्वरूप को उपासते हैं किन्तु यह ब्रह्म नहीं । तथापि (तस्मात्) उस कारण से ही (प्रजया+च) प्रजाओं से (पशुभिः+च) और पशुओं से (त्वम्+प्रतिष्ठितः+असि) आप प्रतिष्ठित हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः—गौतम—(गां पृथिवीं ताम्यति) जो पृथिवी की आकांक्षा करे उसे "गोतम" कहते हैं । पृथिवीस्थ पदार्थों वा गुणों को जानने की इच्छावाला पुरुष गोतम अर्थात् पृथिवी में ईश्वरीय विलक्षणता क्या क्या है । ईश्वरीय गुण क्या २ पाये जाते हैं इत्यादि विषय के अध्ययन में रत जो पुरुष उसे गोतम कहते हैं । और गौतम-वंशीय को

गौतम कहते हैं । गौतम सम्बोधन से राजा का अभिप्राय यह है कि आपके पूर्वज भी पृथिवीस्थ गुणग्राही तद्गुणपाठी थे । प्रायः आप भी वैसे ही कदाचित् होवेंगे । आत्मा–यहां स्वरूपवाचक वा आकाशवाचक वा शक्तिवाचक आत्मा शब्द जानना । उपास–उप+आस समीप में जाकर मानो उस पदार्थ के भीतर प्रवेशकर उसके गुणों के अध्ययन करने वा तत्त्वतः जानने का नाम यहां उपासना है । यहां गौण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यों भी उपासना शब्द का अर्थ समीप बैठना है पृथिवी आदि के समीप में बैठने से क्या तात्पर्य हो सकता है कि तत्स्थ पदार्थ में ईश्वरीय विलक्षणता का अवलोकन और तत्स्थ गुणों को वस्तुगत्या जानना समझना आदि ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौत्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अत्सि । अन्नम् । पश्यासि । प्रियम् । अत्ति । अन्नम् । पश्यति । प्रियम् । भवति । अस्य । ब्रह्मवर्चसम् । कुले । यः । एतम् । एवम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । उपास्ते । पादौ । तु । एतम् । आत्मनः । इति । ह । उवाच । पादौ । ते । व्यम्लास्येताम् । यत् । माम् । न । आगमिष्यः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–अत्सीति । तस्मात्त्वमन्नमत्सि । भुङ्क्षे । प्रियं पश्यसि । य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सोप्यन्नमत्ति । प्रियं पश्यति । अस्य कुले ब्रह्मवर्चसं भवति । ब्रह्मणोवर्चस्तेजः । "ब्रह्म हस्तिभ्यां वर्चस इत्यच्" आत्मनः । वैश्वानरस्यात्मनः । एतौ पादौ एव पृथिवी वर्तत इति । ते पादौ व्यम्लास्येताम् । विम्लानावभविष्यताम् । शिथिलीभूतावभविष्यताम् यन्मांनागमिष्यः । इति ॥ २ ॥ इति सप्तदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अनुवादः–आप भोग्य भोगते हैं प्रिय देखते हैं । जो कोई इसी वैश्वानरीय स्वरूप को उपासता है वह भी भोग्य भोगता है प्रिय देखता है । इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है किन्तु वैश्वानर स्वरूप का यह पाद ही है । आप के पाद शिथिल होजाते यदि आप मेरे पास नहीं आते ॥ २ ॥

पदार्थः–(अन्नम्) भोग्य वस्तु को (अत्सि) आप खाते हैं भोगते हैं (प्रियम्+पश्यसि) प्रिय देखते हैं (यः) जो (एतम्+एव) इसी (वैश्वानरम्) वैश्वानर

सम्बन्धी (आत्मानम्) स्वरूप को (उपास्ते) अच्छे प्रकार अभ्यास वा अध्ययनादि करता है वह भी (अत्ति+अन्नम्) भोग्य भोगता है (प्रियम्+पश्यति) प्रिय देखता है (तु) परन्तु (आत्मनः) वैश्वानरीयस्वरूप का (एतौ+पादौ) ये पाद समान है अर्थात् पृथिवी पादस्थानीय है (इति+ह+उवाच) इस प्रकार राजा उन्हें उपदेश देकर पुनरपि बोले कि (ते) आप के (पादौ) चरण (व्यम्लास्येताम्) शिथिल हो जाते (यत्) यदि (माम्) मेरे निकट (न+आगमिष्यः) आप नहीं आये हुए रहते (इति) ॥ २ ॥

इति सप्तदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः खण्डः ॥

तान् होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वांसोऽन्नमत्थ। यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति * ॥ १ ॥

तान् । ह । उवाच । एते । वै । खलु । यूयम् । पृथक् । इव । इमम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । विद्वांसः । अन्नम् । अत्थ । यः । तु । एतम् । एवम् । प्रादेशमात्रम् । अभिविमानम् । आत्मानम् । वैश्वानरम् । उपास्ते । सः । सर्वेषु । लोकेषु । सर्वेषु । भूतेषु । सर्वेषु । आत्मसु । अन्नम् । अत्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्—तानिति । इदानीम् । तान् सर्वान् ह प्रसिद्धान् ज्ञानिनः प्रति सार्धमेवाहूयोवाच । एते यूयम् । इममात्मानं वैश्वानरं पृथगिव । उपाध्वे । वैश्वानरस्यैकैकमंशमेव यूयं जानीथ । न पूर्णफलमित्यर्थः वैश्वानरः=विश्वान् सर्वान् नरान् जीवान् पापपुण्यरूपाङ्गतिं नयति यः स वैश्वानरः । विश्वेच सर्वेच ते नरा इति विश्वनराः तान् प्राप्नोति व्याप्नोतीति वैश्वानरः । यद्वा । विश्वं सर्वमानयति व्यक्तावस्थां प्रापयतीति विश्वानरः । स एव वैश्वानरः । ईश्वरनामधेयमेतत् । सर्वमाप्नोतीत्यात्मा । सर्वव्यापकः । इह आत्मानमितिपदं विशेषणम् । वैश्वानर इति विशेष्यं विपरीतञ्च भवितुमर्हति । सर्वव्यापको वैश्वानर इत्यर्थः । यः खलु सर्वव्यापकः स कथमेकस्मिन्नेव स्थाने उपास्येत । वा यस्य सर्वत्र समाना परमाविभूतिः सर्वत्रैव एकरूपास्ति स

* तान् होवाच । एते वै यूयं पृथग्वैश्वानरान् विद्वांसः पृथगन्नमघस्त प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति ॥ १० ॥ शत० १० । ६ । १ ॥

कथमिवैकत्रैव ज्ञानिभिर्द्दश्येत ध्यायेत वा । कथं वा विद्वान् विज्ञानी भूत्वापि एकस्मिन्नेवैशीं शक्तिं दर्श २ स्निह्येन प्रीयेत वा । अन्यत्र तां नावलोकेत । कथं नाम मेधावी सर्वत्र भिन्नां २ शक्तिं पश्येत् । अहो विद्वांसः! एकैव महती जगद्व्यापिनी शक्तिर्दिवि पृथिव्यां च व्याप्तास्ति न खलु दिविव्यापिन्याः शक्तेर्भिन्ना पृथिव्यनुगता कापिशक्तिर्विद्यते । या दिवि कार्य्यं साधयति सैव पृथिव्यामपि । नातोभिन्नदृष्टिभिर्भवितव्यम् । जात्यन्धा गजस्पर्शने यथा भिन्नदृष्टयः सन्तो जनैरुपहास्यन्ते तथा विभिन्नविज्ञानविज्ञानिनोपि तत्त्वविद्भिरुपहास्यन्ते । अतो यूयं विद्वांसोपि भूत्वा यत् पृथगिव इममात्मानं वैश्वानरं पश्यथ भिन्नो भिन्न इति विजानीथ । अतो न यूयं तत्त्वतो वैश्वानरविदः । तथापि । ईदृशमपि वैश्वानरं विद्वांसो विजानन्तो यूयम् । अन्नं भोग्यं अत्थ भुंध्वे । अन्यथा तदपि दुर्लभं भवेत् । य उपासकः । एतमात्मानं वैश्वानरम् । एवमनेन प्रकारेण । प्रादेशमात्रम् । प्रादेशैर्मूर्धादिभिः पृथिवी पादान्तैः स्थानैर्मीयते विज्ञायते यः स प्रादेशमात्रः । प्र प्रकृष्टा आसमन्तात् स्थिता देशा इति प्रादेशाः । प्रादेशेषु मीयते ज्ञायते यः स प्रादेशमात्रः । इति समासः । य ईश्वर वैश्वानरसंज्ञको द्युप्रभृतिभिः पृथिव्यन्तैः प्रदेशैरेव स एतावान्यस्य द्यौर्मूर्धानं पृथिवीपाद इति ज्ञायते । यद्वा । यस्यास्तित्वं द्युपृथिव्यादय एव प्रमाणी कुर्वन्ति । पुनः कीदृशम् । अभिविमानम् । अभितः परितो विमानम् । मीयते परिमीयते परिच्छिद्यते येन तन्मानं परिच्छेदः । यस्य ब्रह्मणो विज्ञानाय सर्वत्रैव विमानं परिच्छेदो विद्यते इति यावत् । तम् । यद्वा । आभिमुख्येनापरोक्षतया विश्वं विमिमीते जानातीत्यभिविमानः तं सर्वज्ञम् । यद्वा । अभितो विशेषेण च माति निर्माति जगदिदं यः सः । यद्वा विगतं मानं परिमाणम् यस्य स विमानः । अभिसर्वथा विमान इत्यभिविमानः । यद्वा विराकाशः । शून्यप्रदेशः । वौ शून्यपदेशे यो विश्वमिदमभिमाति निर्माति । शून्ये स्थाने जगद्वर्तते । इत्येवं विविधभाव प्रद्योतकोभिविमानशब्दः । ईदृशं वैश्वानरं य उपास्ते । स सर्वेषु लोकेषु द्युलोकादिषु सर्वेषु भूतेषु चराचरेषु । सर्वेषु आत्मसु शरीरेन्द्रिय मनोबुद्धिषु अन्नमत्ति । सर्वत्रैव आनन्दं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः–वे प्रसिद्ध अश्वपति राजा उन सबों से बोले कि आप लोग इस वैश्वानर को पृथक्वत् जानते हुए भोग्य भोगते हैं किन्तु जो इस आत्मा वैश्वानर को इस प्रकार "प्रादेशमात्र" और "अभिविमान" मानकर उपासना करते हैं वे सर्व लोकों में, सर्वभूतों में एवं सर्व आत्माओं में भोग्य भोगते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(तान्+ह+उवाच) उन सबों से वे राजा बोले कि (एते+वै+खलु+

यूयम्) ये आप लोग (पृथक्+इव) भिन्न भिन्न रूपसे (इमम्) इस (आत्मानम्) सर्व-व्यापक (वैश्वानरम्) ब्रह्म को (विद्वांसः) जानते हुए (अन्नम्+अत्थ) भोग्य भोगते हैं (यः+तु) परन्तु जो (एतम्) इस ब्रह्म को (प्रादेशमात्रम् द्युलोकादि पृथिवी पर्य्यन्त जो विशेष २ स्थान हैं उनके द्वारा जिस ब्रह्म का अस्तित्व का बोध होता है वा द्युलोकादि पृथिवी पर्य्यन्त प्रदेश के द्वारा जिनकी उपमा दी जाती है वैसा और (अभिविमानम्) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रत्यक्षवत् जानने वाला (आत्मानम्) व्यापक (वैश्वानरम्) ब्रह्म को (उपास्ते) उपासता है (सः) वह (सर्वेषु+लोकेषु) सम्पूर्ण भूरादि लोकों में (सर्वेषु+भूतेषु) सम्पूर्ण चराचर प्राणियों में (सर्वेषु+आत्मसु) सम्पूर्ण शरीर मन बुद्ध्यादियों में (अन्नम्+अत्ति) आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

भाष्याशयः–वैश्वानरः–विश्व=समस्त अखिल, सकल, सम्पूर्ण, सब, बिलकुल आदि । नर=मनुष्य । (विश्वान्+नरान्+प्राप्नोति) जो सब नरों में प्राप्त हो उसे वैश्वानर कहते हैं । यद्वा । नर=प्रापक, नायक, वाहक, लेजानेवाला, ढोने वाला आदि "नृ नये" इस धातु से वा "णीञ् प्रापणे" इससे नर बनता है । तब यह हुआ कि जो विश्व का नायक वा वाहक वा जो सम्पूर्ण जगत् को अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्था में ले आवे । यह ब्रह्म का नाम है (१) आत्मा–यह शब्द यहां विशेषणवत् प्रयुक्त हुआ है और वैश्वानर विशेष्यवत् । इसके विपरीत भी होसकता है व्यापक जो ब्रह्म उसे आत्म वैश्वानर कहते हैं । भाव यह है कि जो व्यापक है वह एक ही स्थान में उपास्य कैसे हो सकता है । यद्वा । जिसकी समान विभूति सर्वत्र है उसे एक ही स्थान में ज्ञानी लोग कैसे देखेंगे वा ध्यान करेंगे । ज्ञानी होकर के भी विद्वान् लोग एक ही स्थान में उसकी सुन्दर छवि देख २ कैसे आसक्त हो जायंगे । और दूसरी जगह न देखें हे विद्वानो ! एकही महती जगद्-व्यापिनी शक्ति, द्युलोक और पृथिवीलोक में व्याप्त है । द्युलोकव्यापिनी शक्ति से पृथिव्यनुगत शक्ति भिन्न २ नहीं है । जो शक्ति वहां कार्य कर रही है वही यहां पर भी । इस हेतु हे विद्वानो ! आप लोगों को विभिन्न दृष्टि नहीं होना चाहिये तब आप लोग विद्वान् होकर भी इस "वैश्वानर" को पृथक् २ क्यों देखते हैं । तब इस को कैसा देखना चाहिये सो कहते हैं । प्रादेशमात्रऽप्र+आ+देश+मात्र । प्र–उत्तम, उत्कृष्ट आदि आ=ना-

(१) वैश्वानर साधारण शब्दविशेषात् ॥ २४ ॥ स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥ वेदान्त । १ । २ । इत्यादि सूत्रों से वैश्वानर ब्रह्म का नाम है यह सिद्ध किया गया है ।

रोंतरफ । देश=पृथिवी अन्तरिक्ष आदि स्थान । मात्र=ज्ञेयमान् (जो जानाजाय) अर्थात् सूर्य्यादि जो उत्तम २ देशस्थान हैं उनके द्वारा जिस ब्रह्म की विभूति चारों तरफ विदित होती है । इन्हीं पदार्थों के द्वारा ब्रह्म सुविज्ञेय होता है इत्यादि अर्थ इस का जानना । अभिविमान—पुनः ब्रह्म को कैसा जाने सो कहते हैं । विशेष मान का नाम है विमान । जिससे तौल जोख हो वा पदार्थ मापाजाय उसे "मान "कहते हैं । जिस ब्रह्मज्ञान के लिये अभि=चारोंतरफ, मान=पदार्थ मापकवस्तु विद्यमान हो उसे अभिविमान कहते हैं । यद्वा अभि=प्रत्यक्षात् (विमिमीते) इस विश्व को जो जाने । यद्वा यहां करामलवत् जो इस विश्व को । विमाति मापनेवाला हो । यद्वा जो इसको निर्माण करे यद्वा वि=विगत । मान=परिमाण परिच्छेद, अवधि, सीमा, हद्द । जिसका मान=अवधि=हद्द नहीं वह विमान है जो सब प्रकार से विमान=अवधिरहित हो वह अभिविमान । यद्वा वि=आकाशशून्य । शून्य स्थान में जो रचना करे वह अभि+वि+मान् । यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शून्यस्थान में रचित होकर भ्रमण कर रहा है । इत्यादि अनेक भाव अभिविमान शब्द के हैं । यहां विशेषतया " अभिविमान " का अर्थ अवधिरहित करना समुचित है । क्योंकि वे विद्वान् सूर्य चन्द्र आदि एक एक पदार्थ में उस शक्तिका अवलोकन करते थे जो अवधि सहित है । परन्तु ईश्वरकी अवधि नहीं । निरवधिक की ओर लेजाना ही राजाका अभिप्राय है अतः सीमारहित अर्थ करना ठीक है । इत्यादि अनेक भाव इससे विनिसृत हो सकता । ऋषिप्रयुक्तशब्दों के वास्तविक अर्थ तक पहुंचना अतिशय परिश्रमाधीन है ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचन आस्यमाहवनीयः * ॥ २ ॥

* स होवाच । मूर्द्धानमुपदिशन्नेष वाऽअतिष्ठा वैश्वानर इति चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुततेजा वैश्वानर इति नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर इति मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर-

तस्य । ह । वै । एतस्य । आत्मनः । वैश्वानरस्य । मूर्धा । एव । सुतेजाः । चक्षुः । विश्वरूपः । प्राणः । पृथग्वर्त्मात्मा । सन्देहः । बहुलः । बस्तिः । एव । रयिः । पृथिवी । एव । पादौ । उरः । एव । वेदिः । लोमानि । बर्हिः । हृदयम् । गार्हपत्यः । मनः । अन्वाहार्यपचनः । आस्यम् । आहवनीयः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तस्येति । ह वै परमप्रसिद्धस्य तस्य आत्मनो वैश्वानरस्य । सुतेजाः शोभनं तेजो विद्यते यत्र स सुतेजाः । द्युलोकः । मूर्धा एव । मूर्धेवनिरूपितोस्ति (१) विश्वरूपः विश्वानि सर्वाणि रूपाणि यस्मात् स विश्वरूपः सूर्यः । चक्षुरेव नेत्रमिव निरूपितम् (२) पृथग्वर्त्मात्मा पृथग् नानाविधानि वर्त्मानि पन्थानोयस्य स पृथग्वर्त्मा । स आत्मारूपं यस्य स पृथग्वर्त्मात्मा वायुः । प्राणः । प्राण इव रूपितः (३) बहुलः । भूयान् । बहुल इति आकाश संज्ञात्र । सन्देहः । सन्देह एवास्ति सन्देहो मध्यकाय इव निरूपितः (४) रयिः । धनम् । आप इत्यर्थः । बस्तिरेव । मूत्रस्य संग्रहस्थानमिव विद्यते (५) पृथिवी एव पादौ पादाविवास्ति (६) प्रधानविद्या मुक्तातदङ्गप्राणाग्निहोत्रं दर्शयितुकामो भूमिकां करोति । तस्य वैश्वानरस्य । वेदिर्यज्ञवेदिरेव । उरो वक्षस्थलमिव विद्यते । बर्हिः कुशो यज्ञकुशमुष्टिः । लोमानि । रोमाणिइव निरूपितानि । गार्हपत्यो गार्हपत्याग्निः । हृदयमिव अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः । मनः मन इव । आहवनीय आस्यं मुखमिव निरूपितम् ॥ २ ॥ इत्यष्टादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अनुवादः—उस परम प्रसिद्ध इस आत्मा (व्यापक) वैश्वानर का सुतेजा (द्युलोक) ही मानो मूर्धा है विश्वरूप (सूर्य) ही मानो नेत्र है । पृथग्वर्त्मात्मा (वायु) मानो प्राण है । बहुल (आकाश) ही मानो मध्य शरीर है । रयि (जल) ही मानो वस्ति है । पृथिवी ही पाद है । वेदि ही मानो वक्षस्थल है । कुश ही मानो लोम है । गार्हपत्य ही मानो हृदय है । अन्वाहार्यपचन ही मानो मन है । आहवनीय ही मानो आस्य=मुख है ॥ २ ॥

पदार्थः—(तस्य) उस (ह+वै) अति प्रसिद्ध (एतस्य) इस (आत्मनः) व्यापक (वैश्वानरस्य) वैश्वानर संज्ञक ईश्वर का (सुतेजाः) शोभन तेजोराशि सम्पन्न द्युलोक ही (मूर्धा+एव) मूर्धा समान माना गया है अलङ्कारदृष्टि से द्युलोक को ब्रह्म का मूर्धा माना है । आगे भी इसी प्रकार जानना (विश्वरूपः) जिससे सम्पूर्ण रूप हो अर्थात्

इति क्षुभुकमुपदिशन्तु वाचैव वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति न हास्य क्षुधायां चन वैश्वानरो हिनस्ति ॥ ११ ॥ शत० १० । ६ । १ ॥

सूर्य ही (चक्षुः) नेत्र समान (पृथग्वर्त्मात्मा) नाना पथगामी वायु ही (प्राणः) प्राण समान (रयिः+एव) धन अर्थात् जल ही (बस्तिः) मूत्रसंग्रह स्थान समान है (पृथिवी+एव) पृथिवी ही (पादौ) पाद समान (वेदिः+एव) यज्ञवेदि ही (उरः) वक्षस्थल समान (बर्हिः) यज्ञकुश ही (लोमानि) लोम समान (गार्हपत्यः) गार्हपत्याग्नि ही (हृदयम्) हृदय समान (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्नि ही (मनः) मन समान (आहवनीयः) आहवनीय ही (आस्यम्) मुख समान है * ॥ २ ॥

इत्यष्टादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशः खण्डः ॥

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

तत् । यत् । भक्तम् । प्रथमम् । आगच्छेत् । तद् । होमीयम् । सः । याम् । प्रथमाम् । आहुतिम् । जुहुयात् । ताम् । जुहुयात् । प्राणाय । स्वाहा । इति । प्राणः । तृप्यति ॥ १ ॥

भाष्यम्—तथेति । इदानीं कर्मकाण्डमारभते । सन्तितु बहूनीदृशानि वैदिकानि कर्म्माणि येषामाशयो न विज्ञायतेऽबुधजनानाम् । न युक्तयोनोपपत्तयो न प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि तादृशानां कर्मणां भावं सुकुमारमतीन् अनधीतवेदतत्त्वान् जनान् ग्राहयितुं शक्नुवन्ति । बहवो वै पुरुषाः स्वल्पविवेकाः कनीयोहेतवस्तत्प्रयोजनमाशु धारयितुं यदि न समर्थयन्ते तदा झटिति तानि विहाय निन्दितुं तिरस्कर्तुम्वा यतन्ते । इतरांश्च तेभ्यो विचाल्योत्पथं निनीषन्ति । अनेकेच तज्जाले निपत्य ऐहिकादामुष्मिकाच्च कल्याणादात्मानं प्रमाद्य सुचिरं दुःखशतानि भुंजते । नास्तिका वा भूत्वा घोरं घोरतरञ्च कर्म कुर्वन्तो लोकमुद्वेजयन्ति । अविस्पष्टार्थं यन्न सुज्ञेयमस्ति । तत्र प्रथमं तत्त्वविदः प्रति जिज्ञासा कर्त्तव्या । तदपि यदि तन्न विज्ञायेत तर्हि हेया । तच्छब्दोहेत्वर्थः । कर्म विनाऽन्तःकरणं न विशुद्ध्यति । चेतश्च न प्रसीदति । अप्रसन्ने चेतसि ब्रह्मतत्त्वं न प्रतिभाति । तस्मात् कारणात् कर्माऽऽरम्भणीयम् । तथाहि । प्रथमं प्रथितं शास्त्रान्तरे विधानात् प्रसिद्धम् । भक्तं तत्त्वदर्शिभिर्ऋषिभिः सेवितम् । इदं वस्तुहोतव्यमिदन्नेतिस्वीकृतम् । होमीयद्रव्यम् । होमीयम् । होमोपयोगि हितकरमागच्छेत् । आसमन्ताज्जानीयात् गतिरवबोधो

* इसी वैश्वानर विद्या का विस्तारपूर्वक "वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्" १ । २ । २४ ॥ इत्यादि वेदान्त सूत्रों में वर्णन किया गया है वहां शाङ्करभाष्य देखो ॥

ज्ञानम् । विजानीयात् । अथ हवनविधिं ब्रवीति । स साधकः । यां प्रथमाम् । आहुतिं जुहुयात् । तां कथं जुहुयादित्याह । "प्राणाय स्वाहा" इति । तया आहुत्या प्राणस्तृप्यति । प्राणशब्देन बाह्यआभ्यन्तरश्च वायुर्गृह्यते । प्रत्यक्षोयं विषयः । प्रथममग्निर्वायुमेव तर्पयति वायुसहकारेण यथाऽग्निः प्रज्वलति । तथा २ हुतकणा वायौ प्रसरन्ति । कणानां वायौ प्रसरणमेव वायु-तृप्तिः । अन्तःकरणेऽपि इयमेव व्यवस्था ॥ १ ॥

अनुवादः-इस कारण (साधक) प्रसिद्ध और (ऋषियों) से स्वीकृत जिस होमीय द्रव्य को प्राप्त करे उसे होमीय द्रव्य समझे । तत्पश्चात् वह (साधक) जिस प्रथम आहुति को होमे उसे "प्राणाय स्वाहा" इतना कह कर होमे उससे प्राण तृप्त होता है ॥१॥

पदार्थः-(तत्) इस कारण (प्रथमम्) प्रथित अन्य शास्त्र में प्रसिद्ध (भक्तम्) सेवित अर्थात् यह वस्तु होतव्य है यह नहीं इस प्रकार ऋषियों से स्वीकृत (यत्) जो होमीय द्रव्य (प्राप्नुयात्) साधक प्राप्त करे (तत्+होमीयम्) उसे होमीय द्रव्य समझे। उससे क्या करे सो कहते हैं (सः) वह साधक (याम्) जिस (प्रथमाम्) पहिली (आहुतिम्) आहुति को (जुहुयात्) अग्नि में सविधि सपरिमाण प्रक्षिप्त करे उसे किस प्रकार करे सो कहते हैं (ताम्) उस प्रथमा आहुति को (प्राणाय स्वाहा) इतना पढ़ कर अग्नि में प्रक्षिप्त करे (इति) इस आहुति से (प्राणः+तृप्यति) बाहरी और भीतरी वायु तृप्त होता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः-(तत्-इस कारण) जिस कारण कर्म विना अन्तःकरण विशुद्ध नहीं होता अशुद्ध अन्तःकरण के कारण चित्त अप्रसन्न रहता । अप्रसन्न चित्त में ब्रह्मतत्त्व भासित नहीं होता अतः शुभ कर्म अवश्य करना चाहिये । प्रथम-यहां प्रसिद्ध अर्थ में है प्रत्येक पदार्थ से हवन करने की विधि नहीं । किन २ पदार्थों से हवन करना चाहिये यह बात अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित है । भक्तम्-इस का अर्थ कोई २ "भात" करते हैं सो यहां असंगत है । भज+क्त=भक्त =सेवित अर्थात् तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने जिन सामग्रियों को सेवन अर्थात् स्वीकार किया हो उन्हें ही लेना चाहिये । अथवा भक्त उपलक्षणमात्र है भक्त पद से सम्पूर्ण हवन की सामग्री का ग्रहण करना चाहिये । प्राणाय स्वाहा-प्रथमाहुति में "प्राणाय स्वाहा" क्यों कहना चाहिये इस का कारण यह है कि प्राण शब्द ईश्वर और बाहरी वायु का बोधक है । प्रत्येक उत्तम कार्य्य में प्रथम ईश्वर का स्मरण होना चाहिये और यह प्रत्यक्ष विषय है कि अग्नि प्रथम वायु को तृप्त करता है । वायु की सहायता से ज्यों ज्यों अग्नि प्रज्व-

लित होता है त्यों त्यों होमे हुए कण वायु में फैलते हैं वायु में कणों का प्रसरण होना ही वायु की तृप्ति कहलाती है । अतः स्वभावतः प्रथम वायु की तृप्ति होती है । इसी कारण भीतर प्रविष्ट होने से प्रथम अन्तःकरणस्थ वायु की ही तृप्ति होती है इन कारणों से "प्राणाय स्वाहा प्राणस्तृप्यन्ति" कहा गया है ॥

वैदिक कर्म बहुत से ऐसे हैं कि जिन का आशय अबुधजनों को झट विज्ञात नहीं होता । न युक्तिएं, न उपपत्तिएं, न प्रत्यक्षादि प्रमाण वैसे कर्मों के भावों को अनधीत वेद-तत्त्व सुकुमारमति जनों को ग्रहण करवा सकते हैं । स्वल्पविवेकी और स्वल्पहेतु वाले बहुत से पुरुष उन कर्मों के प्रयोजन के शीघ्र जब धारण करने में समर्थ नहीं होते हैं । तब झट से उन्हें परित्याग निन्दा वा तिरस्कार करने को यत्न करते हैं और अन्यों को भी वहां से हटाकर उत्पथ में ले जाने की इच्छा करते हैं । अनेक आदमी उन के जाल में गिरकर ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण से अपने को प्रमादित कर बहुत दिनों अनेकों दुःखों को भोगते रहते हैं । अथवा नास्तिक होय घोर वा घोरतर कर्म को करते हुए लोक में उद्वेग पैदा करते हैं जिस से देश में महा अशान्ति फैलकर दुःखदायिनी हो जाती है । जो वैदिक कर्म अविस्पष्टार्थ हो और सुज्ञेय न हो तो प्रथम तत्त्ववित् पुरुषों से उस के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिये ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

प्राणे । तृप्यति । चक्षुः । तृप्यति । चक्षुषि । तृप्यति । आदित्यः । तृप्यति । आदित्ये । तृप्यति । द्यौः । तृप्यति । दिवि । तृप्यन्त्याम् । यत् । किञ्च । द्यौः । च । आदित्यः । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिम् । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—प्राणइति । पूर्वोक्तं यत्प्रथमं प्राणस्तृप्यति । प्राणे बाह्यवायौ तृप्यति सन्तुष्टे सति । चक्षुर्दर्शनेन्द्रियं तृप्यति तृप्तं भवति । वायुना सार्द्धं प्रथमं नयनस्य सम्बन्धो भवति । अतः प्राणमनुचक्षुषस्तृप्तिः । चक्षुषि तृप्यति सति आदित्यस्तृप्यति ।

अत्रादित्य शब्दः चक्षुश्शक्तिविशेषवाची। यद्वा। आदित्यनेत्रयोः नित्यः सम्बन्धोस्ति यत्र आदित्यतेजः प्राप्तुं न शक्नोति तत्र कदापि नयनेन्द्रियं न भवति इत्यादित्यविज्ञानम्। आदित्ये तृप्यति सति द्यौः चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठितं स्थानमिह द्यौरुच्यते सा तृप्यति। दिवितृप्यन्त्यां यत्किञ्च यत्किञ्चित्स्थानं द्यौश्च आदित्यश्च अधितिष्ठत आश्रित्य वर्तेते तत्सर्वं तृप्यति तस्य तृप्तिं अनु पश्चात् स उपासकोपि प्रजयापशुभिः अन्नाद्येन भोग्यपदार्थेन तेजसा ब्रह्मवर्चसेन च तृप्यति॥ २॥

इत्येकोनविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम्॥

अनुवादः-प्राण के तृप्त होने पर चक्षु तृप्त होता है। चक्षु के तृप्त होने पर आदित्य तृप्त होता है। आदित्य के तृप्त होने पर द्युलोक तृप्त होता है। द्युलोक के तृप्त होने पर द्युलोक और आदित्य ये दोनों जिसको अधिकृत करते हैं अर्थात् इन दोनों के आश्रित जो २ पदार्थ हैं वे तृप्त होते हैं उसकी तृप्ति के पीछे (उपासक) प्रजा से पशुओं से अन्नाद्य से तेज से और ब्रह्म प्रताप से तृप्त होता है॥ २॥

पदार्थः-(प्राणे+तृप्यति) प्राण के तृप्त होने पर (चक्षुः+तृप्यति) नेत्र तृप्त होता है (चक्षुषि+तृप्यति) नेत्र के तृप्त होने पर (आदित्यः+तृप्यति) आदित्य तृप्त होता है (आदित्ये+तृप्यति) आदित्य के तृप्त होने पर (द्यौः+तृप्यति) द्युलोक तृप्त होता है (दिवि+तृप्यन्त्याम्) द्युलोक के तृप्त होने पर (यत्किञ्च) जिस किसी पदार्थ को (द्यौः+च) द्युलोक (आदित्यः+च) और आदित्य (अधितिष्ठतः) ये दोनों अपने अधिकार में रखते हैं (तत्+तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य+अनु+तृप्तिम्) इस सब की तृप्ति के पीछे उपासक (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (अन्नाद्येन) विविध भोग्य पदार्थों से (तेजसा) सामान्य तेज से (ब्रह्मवर्चसेन) और ब्रह्मतेज से अथवा ब्रह्मप्रताप से (तृप्यति) तृप्त होता है॥ २॥

भाष्याशयः-प्रथम कहा गया है कि प्राण अर्थात् बाह्यवायु तृप्त होता है बाह्यवायु की तृप्ति से नेत्र की तृप्ति प्रथम इसलिये कही है कि बाह्यवायु से और हवनादि उपकरणों से प्रथम नेत्र ही का सम्बन्ध होता है। और यहां आदित्य शब्द नेत्रशक्तिविशेष का नाम है और चक्षुगोलक जितने स्थान में है उसका नाम द्यौः अर्थात् द्युलोक है और नेत्रेन्द्रिय शरीर में जहां तक सम्बन्ध है वह सब ही आदित्य द्युलोकाधिष्ठित स्थान समझा जाता है। यहां अलङ्काररूप से कहा गया है कि नेत्र से लेकर नेत्र के देवता सूर्य पर्यन्त हवन से तृप्त होता है। जहां सूर्य का तेज किसी प्रकार से प्राप्त न हो सके वहां नयने-

न्द्रिय कदापि भी नहीं बन सकता इस हेतु नयनेन्द्रिय का मुख्य कारण सूर्य ही है इसी हेतु नयन का देवता द्योतक प्रकाशक सूर्य कहा गया है ॥ २ ॥

इत्येकोनविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १९ ॥

अथ विंशः खण्डः ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अथ । याम् । द्वितीयाम् । जुहुयात् । ताम् । जुहुयात् । व्यानाय । स्वाहा । इति । व्यानः । तृप्यति ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति । साधको यां द्वितीयामाहुतिं जुहुयादग्नौप्रक्षिपेत् तां कथं जुहुयादित्याह "व्यानाय स्वाहा" इति पठित्वा द्वितीयामाहुतिं जुहुयात् । तयाऽऽहुत्या व्यानस्तृप्यति । अत्र व्यानशब्देन श्रोत्रेन्द्रियस्य ग्रहणम् । अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय व्याप्तस्य वायोर्ग्रहणमित्यर्थः । यद्यपि प्राणव्यानादयः पञ्च वायवः सन्ति तथापि प्रकरणानुरोधेन प्राणादि पञ्चकेन चक्षुरिन्द्रियादि–पञ्चक–व्याप्तवायुर्गृह्यते ॥ २ ॥

अनुवादः—अनन्तर जिस द्वितीया आहुति को होमे उसे "व्यानाय स्वाहा" इतना पढ़कर होमे । उससे व्यान तृप्त होता है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (याम्) जिस (द्वितीयाम्) द्वितीया आहुतिको (जुहुयात्) साधक अग्नि में हवन करे (ताम्) उस आहुति को (व्यानाय स्वाहा) व्यानाय स्वाहा इतना पढ़कर (जुहुयात्) हवन करे (इति) इससे (व्यानः) व्यान (तृप्यति) तृप्त होता है। यहां व्यान शब्द से श्रोत्रेन्द्रिय का ग्रहण है अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय व्याप्त जो वायु उसका ग्रहण है । यद्यपि प्राण व्यान आदि पांच वायु प्रसिद्ध हैं तथापि प्रकरण के अनुरोध से प्राण व्यानादि पांचो प्राण से चक्षुरिन्द्रियादि पांच ज्ञानेन्द्रियाधिष्ठित वायु का ग्रहण यहां है ॥ १ ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

व्याने । तृप्यति । श्रोत्रम् । तृप्यति । श्रोत्रे । तृप्यति । चन्द्रमाः । तृप्यति । चन्द्रमसि । तृप्यति । दिशः । तृप्यन्ति । दिक्षु । तृप्यन्तीषु । यत् । किञ्च । दिशः । च । चन्द्रमाः । च । अधितिष्ठन्ति । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिम् । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–व्यान इति । व्यानस्तृप्यतीति पूर्वमुक्तम् । व्याने तृप्यति सति । श्रोत्रं तृप्यति । श्रोत्रस्थवायौ तृप्यति सति श्रोत्रेन्द्रियतृप्तिः सर्वथैवोचितास्ति । श्रोत्रे तृप्यति सति । चन्द्रमास्तृप्यति । श्रोत्रेन्द्रियशक्तिविशेषश्चन्द्रमाः । आह्लादकत्वात् । चन्द्रमसि तृप्यति सति । दिशस्तृप्यन्ति । दिक्षु तृप्यन्तीषु । यत्किञ्च यत्किञ्चित्स्थानम् । चन्द्रमाश्च दिशश्च । अधितिष्ठन्ति । अधिष्ठाय वर्तन्ते । तत् सर्वं स्थानं तृप्यति । तस्य तृप्तिमनु । स उपासकोऽपि । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन अन्नञ्च तदद्यमित्यन्नाद्यम् । भोग्यंवस्तु । तेन । एवम् । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन तृप्यति ॥ २ ॥

इति विंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २० ॥

अनुवादः—व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्र तृप्त होता है । श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है । चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं । दिशाओं के तृप्त होने पर जो कुछ दिशाएं और चन्द्रमा अधिकृत करते हैं वह सब तृप्त होता है । उसकी तृप्ति के पश्चात् वह साधक प्रजा से, पशुओं से, भोग्यादि पदार्थों से, तेज से और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥ २ ॥

पदार्थः–(व्याने+तृप्यति) यहां व्यान नाम श्रोत्रेन्द्रियस्थ वायु का है । व्यान के तृप्त होने पर (श्रोत्रम्+तृप्यति) कर्णेन्द्रिय तृप्त होता है (श्रोत्रे+तृप्यति) श्रोत्रेन्द्रिय के तृप्त होने पर (चन्द्रमाः+तृप्यति) चन्द्रमा तृप्त होता है (चन्द्रमसि+तृप्यति) चन्द्रमा के तृप्त होने पर (दिशः+तृप्यन्ति) दिशाएं तृप्त होती हैं (दिक्षु+तृप्यन्तीषु) दिशाओं के तृप्त होने पर (यत्+किञ्च) जिस किसी पदार्थ को (दिशः+च) दिशाएं (चन्द्रमाः+च) और चन्द्रमा (अधितिष्ठन्ति) ये दोनों अपने अधिकार में रखते हैं (तत्+तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्यानुतृप्तिम्) उस सब की तृप्ति के पश्चात् उपासक (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (अन्नाद्येन) खाद्य पदार्थों से (तेजसा) सामान्य तेज से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (तृप्यति) तृप्त होता है (इति) प्रथम कहा गया है कि व्यान तृप्त होता है । यहां व्यान नाम श्रोत्रेन्द्रियाधिष्ठित वायु विशेष का है उस वायु के तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय की तृप्ति सर्वथोचित ही है । यहां चन्द्रमा शब्द से श्रोत्रेन्द्रिय शक्तिविशेष का ग्रहण है ।

क्योंकि श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्द के सुनने से आनन्द की प्राप्ति होती है। "चदि आह्लादे" धातु से चन्द्रमा सिद्ध होता है। दिशाओं के सम्बन्ध से ही श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द आता है। अतः दिशा की तृप्ति का कथन भी ठीक ही है। इत्यादि अनुसन्धान करना ॥ २ ॥

इति विंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २० ॥

अथैकविंशः खण्डः ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अथ । याम् । तृतीयाम् । जुहुयात् । ताम् । जुहुयात् । अपानाय । स्वाहा । इति । अपानः । तृप्यति ॥ १ ॥

भाष्यम्—यां तृतीयाम् । आहुतिं जुहुयात् तां कथं जुहुयादित्याह । "अपानाय स्वाहा" इति पठित्वा तृतीयामाहुतिं जुहुयात् । इति तया । अपानस्तृप्यति । अत्रापानेन वाक्स्थानाधिष्ठितवायोर्ग्रहणम् ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर जिस तृतीया आहुति को होमे उसे "अपानाय स्वाहा" इतना पढ़ कर तृतीयाहुति को अग्नि में देवे। उससे अपान तृप्त होता है ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (याम्) जिस (तृतीयाम्) तीसरी आहुति को (जुहुयात्) होम करना हो (ताम्) उस आहुति को (अपानाय स्वाहा) अपानाय स्वाहा इतना पढ़कर (जुहुयात्) होमे (इति+अपानः+तृप्यति) इस आहुति से अपान वायु तृप्त होता है यहां अपान शब्द से वागिन्द्रियस्थानाधिष्ठित वायु का ग्रहण है ॥ १ ॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

अपाने । तृप्यति । वाक् । तृप्यति । वाचि । तृप्यन्त्याम् । अग्निः । तृप्यति । अग्नौ । तृप्यति । पृथिवी । तृप्यति । पृथिव्याम् । तृप्यन्त्याम् । यत् । किञ्च । पृथिवी । च । अग्निः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनुतृप्तिम् । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्--अपान इति। अपानस्तृप्यतीति पूर्वमुक्तम्। अपाने तृप्यति सति। वाक् तृप्यति। वाचि तृप्यन्त्यां सत्याम्। अग्निस्तृप्यति। अग्निसाहाय्येन वागुत्पत्तिः। यत्राग्निशक्तिर्नास्ति। तत्र वागुत्पत्तिरपि न भवितुमर्हति। अतोवाचो देवताग्निरितिकथ्यते। अग्नौ तृप्यति सति। पृथिवी तृप्यति। अत्र वाक्स्थानमेव पृथिवी। अन्यद्दज्वर्थम्॥ २॥

इत्येकविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम्॥ २१॥

अनुवादः-अपान के तृप्त होने पर वाणी तृप्त होती है वाणी के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होता है अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है पृथिवी के तृप्त होने पर जिस किसी पदार्थ को पृथिवी और अग्नि ये दोनों अपने अधिकार में रखते हैं वह सब तृप्त होता है। उस सब की तृप्तिके पीछे उपासक प्रजा से पशुओं से खाद्य पदार्थों से तेज से और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है॥ २॥

पदार्थः-(अपाने+तृप्यति) अपान के तृप्त होने पर (वाक्+तृप्यति) वाणी तृप्त होती है (वाचि+तृप्यन्त्याम्) वाणी के तृप्त होने पर (अग्निः+तृप्यति) अग्नि तृप्त होता है (अग्नौ+तृप्यति) अग्नि के तृप्त होने पर (पृथिवी+तृप्यति) पृथिवी तृप्त होती है (पृथिव्याम्+तृप्यन्त्याम्) पृथिवी के तृप्त होने पर (यत्+किञ्च) जिस किसी पदार्थ को (पृथिवी+च) पृथिवी (अग्निः+च) और अग्नि (अधितिष्ठतः) ये दोनों अपने अधिकार में रखते हैं (तत्+तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य+अनु+तृप्तिम्) उस सब की तृप्ति के पीछे उपासक (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (अन्नाद्येन) खाद्य पदार्थों से (तेजसा) सामान्य तेज से (ब्रह्मवर्चसेन) और ब्रह्म तेज से (तृप्यति) तृप्त होता है॥ २॥

भाष्याशयः-अग्नि-आग्नेय शक्ति की सहायता से ही वाणी का उच्चारण होता है। जहां अग्नि शक्ति न हो वहां कदापि भी वाणी का उच्चारण नहीं हो सकता। इसी हेतु वाणी का देवता अग्नि माना गया है। पृथिवी शब्द से यहां केवल वाणी के स्थान का ग्रहण है। आगे पूर्ववत् अनुसन्धान करना॥ २॥

इत्येकविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम्॥ २१॥

अथ द्वाविंशः खण्डः॥

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात् समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति॥ १॥

अथ । याम् । चतुर्थीम् । जुहुयात् । ताम् । जुहुयात् । समानाय । स्वाहा । इति । समानः । तृप्यति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । यां चतुर्थीमाहुतिं जुहुयात् तां समानायस्वाहेति पठित्वा जुहुयात् । इति तथाऽऽहुत्या समानस्तृप्यति समानतया यो वायुः सर्वशरीरगोऽस्ति स समानवायुः यथा मनः सर्वेन्द्रियसंयोगि वर्तते । तथैव समानोऽपि ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर जिस चतुर्थी आहुति को होमना हो उसे "समानाय स्वाहा" इतना पढ़कर होमे उससे समान की तृप्ति होती है ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (याम्) जिस (चतुर्थीम्) चतुर्थी आहुति को (जुहुयात्) होम करना हो (ताम्) उस आहुति को (समानाय+स्वाहा) समानाय स्वाहा इतना पढ़कर (जुहुयात्) होमे (इति+समानः+तृप्यति) उससे समान की तृप्ति होती है ॥ १ ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

समाने । तृप्यति । मनः । तृप्यति । मनसि । तृप्यति पर्जन्यः । तृप्यति । पर्जन्ये । तृप्यति । विद्युत् । तृप्यति । विद्युति । तृप्यन्त्याम् । यत् । किञ्च । विद्युत् । च । पर्जन्यः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिम् । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—समान इति । समानस्तृप्यतीति पूर्वमुक्तम् । समभावेन सर्वेन्द्रियसंयोगिनि समाने तृप्यति सति मनस्तृप्यति । मनसि तृप्यति सति पर्जन्यस्तृप्यति । परितो जन्यमानः पर्जन्यः । मनसः शक्तिविशेषः । पर्जन्ये तृप्यति सति । विद्युत् तृप्यति । विद्युद्वन्मनसोगतिरस्ति । यथा पर्जन्यः सर्वतः समभावेन वर्षति । तस्मिन्नेव विद्युदपि विद्योतते । तथैव समत्वेन मन इन्द्रियं सर्वाणीन्द्रियाणि सम्बध्नाति । क्षणेनैव विद्युदिव नमः सर्वेन्द्रियाणि गत्वः प्रकाशयति । एवं विश्रो विविधोभावोऽनुसन्धेयः । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ २ ॥

इति द्वाविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २२ ॥

अनुवादः–समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है मन के तृप्त होने पर पर्जन्य तृप्त होता है पर्जन्य के तृप्त होने पर बिजुली तृप्त होती है बिजुली के तृप्त होने पर जिस किसी पदार्थ को विद्युत् और पर्जन्य ये दोनों अपने अधिकार में रखते हैं वह सब तृप्त होता है । इस सब के तृप्त होने के पश्चात् उपासक प्रजा से, पशुओं से, खाद्य पदार्थों से, तेज से और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥ २ ॥

पदार्थः–(समाने+तृप्यति) समान के तृप्त होने पर (मनः+तृप्यति) मन तृप्त होता है (मनसि+तृप्यति) मन के तृप्त होने पर (पर्जन्यः+तृप्यति) पर्जन्य तृप्त होता है (पर्जन्ये+तृप्यति) पर्जन्य के तृप्त होने पर (विद्युत्+तृप्यति) बिजुली तृप्त होती है (विद्युति+तृप्यन्त्याम्) बिजुली के तृप्त होने पर (यत्+किञ्च) जिस किसी पदार्थ को (विद्युत्+च) बिजुली (पर्जन्यः+च) और पर्जन्य (अधितिष्ठतः) ये दोनों अपने अधिकार में रखते हैं (तत्+तृप्यति) वह सब तृप्त होता है (तस्य+अनु+तृप्तिम्) उस सब की तृप्ति के पश्चात् उपासक (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (अन्नाद्येन) खाद्य पदार्थों से (तेजसा) सामान्य तेज से (ब्रह्मवर्चसेन) और ब्रह्मतेजसे (तृप्यति) तृप्त होता है ॥ २ ॥ इति द्वाविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अथ । याम् । पञ्चमीम् । जुहुयात् । ताम् । जुहुयात् । उदानाय । स्वाहा । इति । उदानः । तृप्यति ॥ १ ॥

भाष्यम्–अथेति । यां पञ्चमीमाहुतिं जुहुयात् तां "उदानाय स्वाहेति" पठित्वा जुहुयात् । इति तयाऽऽहुत्या उदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अनुवादः–अनन्तर जिस पांचवीं आहुति को होमना हो उसे "उदानाय स्वाहा" इतना पढ़कर होमे उससे उदान की तृप्ति होती है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अथ) अनन्तर (याम्) जिस (पञ्चमीम्) पांचवीं आहुति को (जुहुयात्) होमना हो (ताम्) उसको (उदानाय+स्वाहा) इतना पढ़कर (जुहुयात्) होमे (इति+उदानः+तृप्यति) उससे उदान की तृप्ति होती है । त्वगिन्द्रिय स्थानाधिष्ठित वायु का नाम उदान है ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंञ्च वायुश्चाऽऽकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

उदाने । तृप्यति । त्वक् । तृप्यति । त्वचि । तृप्यन्त्याम् । वायुः । तृप्यति । वायौ । तृप्यति । आकाशः । तृप्यति । आकाशे । तृप्यति । यत् । किञ्च । वायुः । च । आकाशः । च । अधितिष्ठतः । तत् । तृप्यति । तस्य । अनु । तृप्तिम् । तृप्यति । प्रजया । पशुभिः । अन्नाद्येन । तेजसा । ब्रह्मवर्चसेन । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—उदान इति । उदानस्तृप्यतीति । पूर्वमुक्तम् । उदानेतृप्यति सति । त्वक् त्वगिन्द्रियं तृप्यति पुष्टिं लभते त्वचितृप्यन्त्यांसत्याम् । वायुस्तृप्यति वायुरत्र स्पर्शेन्द्रियशक्तिविशेषः । वायौतृप्यति सति आकाशस्तृप्यति । आकाशं विना वायुः किमपि कर्त्तुं न शक्नोति । अतः वायौतृप्यति आकाशस्तृप्यतीत्युक्तम् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति त्रयोविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २३ ॥

अनुवादः—उदान की तृप्ति से त्वगिन्द्रिय तृप्त होता है त्वचा की तृप्ति के अनन्तर वायु तृप्त होता है वायु के तृप्त होने पर आकाश तृप्त होता है । आकाश की तृप्ति के पीछे वायु और आकाश जितने स्थान को आश्रित करके वर्तमान हैं वह सब तृप्त होता है । उसके पश्चात् उपासक भी प्रजा, पशु, भोग्यपदार्थ, तेज और ब्रह्मवर्च इन सब से तृप्त होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(उदाने+तृप्यति) सम्पूर्ण त्वगिन्द्रिय से सम्बन्ध रखनेवाले वायु का नाम उदान है उदान की तृप्ति से (त्वक्+तृप्यति) त्वगिन्द्रिय तृप्त होता है (त्वचितृप्यन्त्याम्) त्वगिन्द्रिय की तृप्ति के पीछे (वायुस्तृप्यति) वायु=त्वगिन्द्रिय शक्तिविशेष तृप्त होता है (वायौ+तृप्यति) वायु की तृप्ति के पीछे (आकाशस्तृप्यति) आकाश अर्थात् वायु को इतस्ततः लेजाने वाली शक्तिविशेष सो तृप्त होती है (आकाशे+तृप्यति) आकाश की तृप्ति के पश्चात् (वायुश्च+आकाशश्च) वायु और आकाश (यत्किञ्च+अधितिष्ठतः) जितने स्थान को आश्रित करके वर्तमान हैं (तत्+तृप्यति) वह सब स्थान तृप्त होता है (तस्य+तृप्तिम्+अनु) उसकी तृप्ति के पीछे वह उपासक भी (प्रजया+पशुभिः) प्रजा

और पशुओं से (अन्नाद्येन) भोग्य वस्तुओं से (तेजसा+ब्रह्मवर्चसेन) तेज और ब्रह्मप्रताप से (तृप्यति) तृप्त होता है ॥ २ ॥

इति त्रयोविंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशः खण्डः ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥

सः। यः। इदम्। अविद्वान्। अग्निहोत्रम्। जुहोति। यथा। अङ्गारान्। अपोह्य भस्मनि। जुहुयात्। तादृक्। तत्। स्यात् ॥ १ ॥

भाष्यम्–स य इति। स यः साधकः। इदं पूर्वोक्तं वैश्वानर सम्बन्धि विज्ञानम्। अविद्वान् अजानन् सन्। अग्निहोत्रम्। प्रसिद्धमग्निहोत्रन्नाम कर्म जुहोति सम्पादयति। तस्याग्निहोत्रं कीदृशं भवतीत्याह। यथा कश्चित्। अङ्गारान् आहुतियोग्यान् अग्न्यङ्गारान्। अपोह्य अपसार्य दूरीकृत्य। भस्मनि जुहुयात्। तदग्निहोत्रम्। तादृगेव तत्तुल्यमेव तस्य स्यात्। वैश्वानरदर्शनं विना तदग्निहोत्रं सर्वथा निष्फलमेव स्यात् ॥ १ ॥

अनुवादः–जो कोई (साधक) इसको न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है। उसका वह अग्निहोत्र जैसे (कोई) अङ्गारों को हटाकर भस्म में हवन करे तत्सदृश है ॥ १ ॥

पदार्थः–(सः) सो (यः) जो कोई (इदम्) पूर्वोक्त वैश्वानर विज्ञान शास्त्र को और किस मंत्र को पढ़कर किस प्रकार हवन करना चाहिये और उससे किस की तृप्ति होती है इत्यादि (अविद्वान्) न जानता हुआ (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र कर्म को (जुहोति) करता है (तत्) उस अविद्वान् पुरुष का वह अग्निहोत्र (यथा) जैसे कोई (अङ्गारान्) अग्निहोत्र योग्य अङ्गारों को (अपोह्य) हटाकर (भस्मनि) भस्म में (जुहुयात्) होमे (तादृग्+स्यात्) तत्सदृश हैं पूर्वोक्त पञ्चाहुति विज्ञान के विना भस्म में हवन के समान वह अग्निहोत्र है इस हेतु पञ्चाहुति ज्ञान करना आवश्यक है ॥ १ ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

अथ । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । अग्निहोत्रम् । जुहोति । तस्य । सर्वेषु । लोकेषु । सर्वेषु । भूतेषु । सर्वेषु । आत्मसु । हुतम् । भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ । यः कश्चित्साधकः । एतद्वैश्वानर विज्ञानम् । एवं विद्वान् एवं जानन् । अग्निहोत्रं प्रसिद्धमेतत्कर्म । जुहोति । करोति । तस्य वैश्वानर विज्ञानपूर्वकमग्निहोत्रं कुर्वतः पुरुषस्य । सर्वेषु लोकेषु द्युप्रभृतिषु सर्वेषु भूतेषु चराचरेषु जीवेषु । सर्वेषु आत्मसु । शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिषु हुतमग्निहोत्रं भवति ॥ २ ॥

अनुवादः—अनन्तर जो कोई इस वैश्वानर विज्ञान को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है उसका सर्व लोकों में सर्व प्राणियों में सर्व आत्माओं में अग्निहोत्र होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (यः) जो कोई (एतत्) इस वैश्वानर विज्ञान को (एवम्) ऐसे (विद्वान्) जानता हुआ (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र को (जुहोति) करता है (तस्य) उसका (सर्वेषु+लोकेषु) सर्व द्युलोक प्रभृति लोक लोकान्तर में (सर्वेषु+भूतेषु) सब प्राणियों में (सर्वेषु) सर्व (आत्मसु) शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धियों में (हुतम्) अग्निहोत्र (भवति) होता है ॥ २ ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

तद् । यथा । ईषिकातूलम् । अग्नौ । प्रोतम् । प्रदूयेत । एवम् । ह । अस्य । सर्वे । पाप्मानः । प्रदूयन्ते । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । अग्निहोत्रम् । जुहोति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदिति । अन्यच्च । तस्मात्कारणात् । यथा येन प्रकारेण । अग्नौवह्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं सत् । ईषिकातूलम् । ईषिकाया मुञ्जायास्तूलम् । प्रदूयेत । झटित्येव प्रदह्येत । एवं ह तथैव । अस्य विदुषः । वैश्वानर विज्ञानविदः पुरुषस्य । सर्वेपाप्मानः । सर्वाणि पापानि सर्वाश्च दुष्कृत वासनाः प्रदूयन्ते प्रदह्यन्ते । कस्य विदुष इत्याह । यः पुरुषः । एतद्वैश्वानर शास्त्रम् । एवं विद्वान् । एवं जानन् । अग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

अनुवादः—इस कारण जैसे मुञ्ज की रुई अग्नि में प्रक्षिप्त होने पर अतिशीघ्र जल जाती है वैसे ही इस वैश्वानर तत्त्ववित् पुरुष के सम्पूर्ण पाप वासनाएं विनष्ट हो जाती हैं जो इस वैश्वानर विज्ञान को जानते हुए अग्निहोत्र संपादन करते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तत्) इस कारण (यथा) जैसे (ईषिकातूलम्) मुञ्जकी रुई (अग्नौ) अग्नि में (प्रोतम्) प्रक्षिप्त होनेपर (प्रदूयेत) अतिशीघ्र जलकर भस्म होजाती

है (एवम्) वैसे ही (ह) प्रसिद्ध (अस्य) इस वैश्वानरात्म विज्ञानी पुरुष के (सर्वे) सब (पाप्मानः) पाप वासनाएं (प्रदूयन्ते) विनष्ट हो जाते हैं (यः) जो वैश्वानरोपासक (एतत्) इस विज्ञान को (एवम्) इस प्रकार विद्वान् जानते हुए (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र को (जुहोति) करते हैं ॥ ३ ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालयोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥

तस्माद् । उ । ह । एवंविद् । यद्यपि । चण्डालाय । उच्छिष्टम् । प्रयच्छेत् । आत्मनि । ह । एव । अस्य । तद् । वैश्वानरे । हुतम् । स्यात् । इति । तत् । एषः । श्लोकः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तस्मादिति । उह शब्दौ वितर्कप्रसिद्धार्थौ । एवंविद् वैश्वानरविज्ञानस्य पूर्वोक्त रीत्या ज्ञातोपासकः । तस्मात् । तदुपासनहेतोः । यद्यपि । उच्छिष्टम् शास्त्रनिषिद्धमुच्छिष्टमन्नमपि चण्डालाय दुष्टकर्मणेपुरुषायापि प्रयच्छेत् दद्यात् तद्दानमस्य वैश्वानरविदः पुरुषस्य आत्मनि व्यापके वैश्वानरे ब्रह्मणि एव हुतम् स्यादिति । तत्तत्र तस्मिन्विषये एष वक्ष्यमाणः श्लोको विद्यते ॥ ४ ॥

अनुवादः—उस हेतु निश्चय यही वैश्वानर विद् विज्ञानीचण्डाल को उच्छिष्ट भी देवे तो मानो वह उसका प्रदान व्यापक परब्रह्म में ही होमित होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(तस्माद्) वैश्वानर की उपासना के प्रभाव के हेतु (उ+ह) निश्चय ही (एवंविद्) वैश्वानर को इस प्रकार जानने वाले महायोगी (चण्डालाय) चण्डाल को (उचिष्टम्) उच्छिष्ट (प्रयच्छेत्) देवे तो भी (अस्य) इस उपासक का (तद्) वह प्रदान (आत्मनि) व्यापक (वैश्वानरे) ब्रह्म में (ह+एव) ही (हुतम्) होमित (स्यात्) होता है (तत्) इस विषय में (एषः+श्लोकः) यह श्लोक है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—परम विज्ञानी पुरुष का प्रतिक्षण ईश्वर के साथ योग रहता है । चलने फिरने बैठने उठने आदि क्रिया के समय में ही उसी आत्मा से वे योगी सम्बद्ध रहते हैं इस कारण विशेष २ व्यापार से वे निवृत्त होकर सामान्यरूप से प्रतिक्षण मानसिक क्रिया में लगे रहते हैं बाह्य क्रिया की उन्हें चिन्ता नहीं रहती । इस कारण (उच्छिष्ट) शास्त्रनिषिद्ध (उच्छिष्ट किसी को नहीं देना चाहिये ऐसा शास्त्र कहता है) उच्छिष्ट अति निकृष्ट चण्डाल को भी प्रदान करे तो इससे भी कुछ मंगल ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासत एवꣳसर्वाणिभूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

यथा । इह । क्षुधिताः । बालाः । मातरम् । पर्य्युपासते । एवम् । सर्वाणि । भूतानि । अग्निहोत्रम् । उपासते । इति । अग्निहोत्रम् । उपासते । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—यथेति । इहास्मिन् संसारे यथा क्षुधिता बुभुक्षिता बालाः शिशवो मातरं निजजननीं पर्य्युपासते । कदा मे माता दुग्धमन्नं पानीयं प्रातरशनं मध्याह्नभोजनं च दास्यति । मातर्देहि मे पयः । देहि मे वस्त्रम् । इदं मे देहि । सान्यकार्य्याऽऽसक्तास्ति । मह्यं न ददाति । इत्येवंविधैर्व्यापारैर्यथा बाला मातरं याचमनास्तिष्ठन्ति । एवमेव सर्वाणि भूतानि चराचराः सर्वे पदार्थाः । अग्निहोत्रमग्निहोत्रं विद्यतेऽस्येत्यग्निहोत्रस्तम् । अर्श आदिभ्योऽच्। अग्निशब्दोत्र ब्रह्मवाची । होत्रशब्दो व्यापारपरकः । तेन अग्नौ परमे ब्रह्मणि आत्मनि वैश्वानरे एव सर्वथा मनो योगेनहोत्रं सर्वव्यापारो भवत्यस्य । ईदृशं वैश्वानरात्मनि होत्र कर्मकृतमुपासते । अयं नो भगवान् तत्त्वदर्शी कल्याणतरं पन्थानं दर्शयतीत्याशया सर्वे तं सेवन्ते ॥ ५ ॥

इति चतुर्विंशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—जैसे यहां क्षुधित बालक अपनी माता का राह देखते रहते हैं । वैसे ही सर्वभूत (सर्वपदार्थ) अग्निहोत्री की उपासना में लगे रहते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (इह) इस संसार में वा लोकव्यवहार में (क्षुधिताः) क्षुधा से पीड़ित (बालाः) छोटे बच्चे (मातरम्) अपनी २ माता का (पर्य्युपासते) राह देखते हैं अर्थात् कब मुझको दूध, अन्न, पानी, प्रातभोजन, मध्याह्नभोजन माता देगी। माताजी मुझे दूध दो, वस्त्र दो, वह अन्य कार्य्य में आसक्त है मुझे नहीं देती । इत्यादि बालोचित व्यापारों से जैसे माता को याचना करते हुए बालक रहते हैं (एवम्) वैसेही (सर्वाणि) सकल (भूतानि) चराचर पदार्थ (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्री पुरुष की (उपासते) उपासना में रहते हैं ॥ ५ ॥

भाष्याशयः—(अग्निहोत्र) यद्यपि भाषा में (अग्निहोत्र) कर्मवाचक है । परन्तु संस्कृत में तद्वान् अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । अर्थात् अग्निहोत्र शब्द का अर्थ अग्निहोत्री हो जाता है । यहां प्रकरणानुसार अग्नि=परब्रह्म=व्यापक वैश्वानरवाचक है और होत्र=व्यापारवाचक है अर्थात् जिस ज्ञानी का (अग्नौ) वैश्वानरवाच्य परब्रह्म में ही सर्वथा

मनोयोग से (होत्रम्) सर्व व्यापार होते रहते हैं । उसे यहां "अग्निहोत्री" कहा है । ऐसे वैश्वानरात्मक परब्रह्म में ही सकल कर्मकृत योगी की सेवा में "यह भगवान् तत्त्वदर्शी कल्याणतरपथ हम लोगों को दिखलाते हैं" इस आशय से सब कोई उपस्थित रहते हैं । ऐसे आत्मदर्शी ऋषियों का जो कुछ कर्म होता है वह सब ही आन्तरिक प्रेम और ईश्वर बुद्धि से होने के कारण मंगल-विधायक ही होता है । वह चाण्डाल को उच्छिष्ट यदि देते हैं तो तब भी उसके कल्याण के लिये ही देते हैं । वह यह जानते हैं कि मेरे आत्मा से उस आत्मा के स्वरूप में भेद नहीं । इसलिये इनका सर्व कर्म आत्मयोग से ही होता है । इति ॥ ५ ॥

इति चतुर्विंशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २४ ॥

इति श्री काव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये

पञ्चमप्रपाठकस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥



अथ षष्ठः प्रपाठकः ॥

ओ३म् श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस तᳬ ह पितोवाच—श्वेतकेतो ! वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सोम्याऽस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

श्वेतकेतुः । ह । आरुणेयः । आस । तम् । ह । पिता । उवाच । श्वेतकेतो । वस । ब्रह्मचर्य्यम् । न । वै । सोम्य । अस्मत्कुलीनः । अननूच्य । ब्रह्मबन्धुः । इव । भवति । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—श्वेतकेतुरिति । हशब्द ऐतिह्ये प्रसिद्धः । अथ पितापुत्राख्यायिका प्रारभ्यते । आरुणेयः अरुणस्यापत्यमारुणिः । "अतइञ् ४ । ९५ ॥ इतीञ् प्रत्ययः" । आरुणेरपत्यमारुणेयः । "शुभ्रादिभ्यश्च ४ । १ । १२३ ॥ इत्यनेन ढक्" । अरुणस्य पौत्र इत्यर्थः । श्वेतकेतुः श्वेतः शुभ्रः केतुर्ध्वजोयस्य स श्वेतकेतुः केतुर्ज्ञानं वा यथा केतः । केतुः । चेतः चित्तम् । क्रतुः । असुः । धीः । शची । माया । वयुनम् । अभिख्या । इत्येकादशप्रज्ञानामानि। निघण्टुः ३ । ९ ॥ श्वेतो निर्म्मलः शास्त्राध्ययनेन परिबोधितः केतुर्ज्ञानं यस्य स श्वेतकेतुः। श्वेत इति सात्विकगुणोपलक्षकः तेन सात्विक-ज्ञान-सम्पन्न इत्यर्थः । अत्र श्वेतकेतुरिति नामधेयम् । आस बभूव आसेति आर्ष प्रयोगः । तं श्वेतकेतुं प्रति पितोवाच । पाति रक्षतीति पिता जनकः । किमुवाचेत्याह । हे श्वेतकेतो ! ब्रह्मचर्यं यथा भवति तथा वस । गुरुकुलं गत्वा ब्रह्मचर्य्यं कुरु इत्यर्थः । ब्रह्मचर्य्यमिति ब्रह्मणे वेदाय चर्यमाचरणीयं व्रतं ब्रह्मचर्य्यं वेदाध्ययनार्थमाश्रमविशेषो ब्रह्मचर्य्यं निगद्यते । चर्यं पुनः । "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ३ । १ । १०० ॥ इत्यनेन चरतेर्यत् प्रत्ययः" । ब्रह्मचर्यलक्षणं यथा—स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्तिमनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् । हे सोम्य ! सोमश्चन्द्रः स इव प्रियः सोम्यः । सोमो रसो वा सोमरसवदार्यैर्ग्रहीतुं योग्यो वा सोम्यः प्रिय इत्यर्थः। सोममर्हतीति सोम्यः । अधुना सोम्यस्थाने सौम्य इति प्रयुज्यते। प्रज्ञादिभ्योऽण् इति स्वार्थे अणिकृते सौम्यः सिद्धयति। हे मनोज्ञ प्रियपुत्र ! अस्मत्कुलीनः अस्माकं कुलम् अस्मत्कुलम्। अस्मत्कुले भवः अस्मत्कुलीनः। "कुलात्खः

४ । १ । १३९ ॥ इति खम्तदन्तादपि" । अननूच्य । वेदाननधीत्य वेदानव्याख्यायेत्यर्थः । ब्रह्मबन्धुरिव ब्रह्माणो ब्राह्मणा वेदविदो बन्धवो ज्ञातयो यस्य स ब्रह्मबन्धुः । बन्धव एव ब्राह्मणा न तु स्वयं ब्राह्मणस्संवृत्तः । मम कुले ब्राह्मणा वर्त्तन्ते इति यो व्यपदिशति स ब्रह्मबन्धुर्निगद्यते । यद्वा । ब्रह्मणो बन्धुरिव ब्रह्मबन्धुः निन्दितब्राह्मणः अग्राह्य नामको ब्राह्मणो भवतीति। अस्मत्कुले अननूचानो न भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—(यहां पिता पुत्र के इतिहास का वर्णन आगे कहा जाता है) । अरुण के पौत्र श्वेतकेतु नामक कुमार किसी काल में हुए । उनसे उन के पिता बोले कि हे श्वेतकेतो ! ब्रह्मचर्य के लिये गुरुकुल में वास करो क्योंकि हे सौम्य प्रियपुत्र ! यह बात निश्चित है कि हम लोगों के कुल में वेदों को न अध्ययन कर ब्रह्मबन्धु समान कोई नहीं होता है । इति ॥ १ ॥

पदार्थः-(ह) यह शब्द इतिहाससूचक है अर्थात् ब्रह्मज्ञान उपदेशार्थ पिता पुत्र के सम्वादरूप आख्यायिका यहां कही जाती है (आरुणेयः) अरुण नामक किसी ऋषियों के पौत्र (श्वेतकेतुः) श्वेतकेतु नामक एक कुमार (आस) किसी काल में हुए (तम्) उस से (ह) यह हकार प्रसिद्ध अर्थ में है अर्थात् अति प्रसिद्ध (पिता) श्वेतकेतु के पिता (उवाच) बोले (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो ! (ब्रह्मचर्यम्) वेदाध्ययनार्थ आश्रम-विशेष के लिये (वस) गुरुकुल में जाकर वास करो क्योंकि (सोम्य) प्रियपुत्र ! (वै) यह बात निश्चित है कि (अस्मत्कुलीनः) हमारे कुल के (अननूच्य) वेदों का अध्ययन नहीं करके (ब्रह्मबन्धुरिव) ब्रह्मबन्धु के समान (न+भवति) कोई नहीं होता है (इति) ॥ १ ॥

भाष्याशयः-श्वेतकेतु । श्वेत=उज्ज्वल, सुफेद, निर्म्मल । केतु=ध्वज, पताका । निर्म्मल पताकावाला । यद्वा केतु नाम ज्ञान का है । यथा-केत, केतु, चेत, चित्त, क्रतु, असु, धी, शची, माया, वयुन और अभिख्या ये एकादश नाम प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान के हैं । निघण्टु अ० ३ । खं० ११ ॥ और श्वेत शब्द सात्विक-गुण का उपलक्षक है । तब यह अर्थ हुआ कि सात्विक ज्ञान-सम्पन्न को श्वेतकेतु कहना चाहिये । यहां पर श्वेतकेतु एक कुमार का नाम है । आरुणेयः-संस्कृत में अरुण के पुत्र को आरुणि और आरुणि के पुत्र को आरुणेय कहते हैं अर्थात् अरुण का पौत्र । ब्रह्मचर्य-यहां ब्रह्मनाम वेद का है । चर्य=आचरण । अर्थात् वेदाध्ययन के लिये जिस आश्रम का प्रतिपादन किया जाय उसे ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं । ब्रह्मचर्य का यह लक्षण है-"स्त्रियों का स्मरण करना । उस के

नाम का कीर्त्तन । उस के साथ क्रीड़ा । उसे प्रेमदृष्टि से देखना । उस के साथ रहस्य वार्त्तालाप करना । उस के बारे में सङ्कल्प विकल्प मन में करना । और स्त्रियों के साथ व्यवहार रखना । और क्रियानिवृत्ति ये आठ मैथुन के अङ्ग हैं" । इन के विपरीत अष्ट लक्षण वाले को ब्रह्मचर्य कहते हैं । सोम्य–सोम=चन्द्र चन्द्रवत् प्रिय को सोम्य कहते हैं । यद्वा सोम=सोमरस । सोमरसवत् आर्य्यों के ग्रहण करने योग्य जो हो उसे सोम्य कहते हैं । आजकल सोम्य के स्थान में सौम्य का प्रयोग होता है । ब्रह्मबन्धु–ब्रह्मबन्धु उसे कहते हैं जो यथार्थ में गुण कर्म स्वभावानुसार स्वयं ब्राह्मण तो न हो परन्तु लोगों से बतलावे कि मेरे सम्बन्धिक ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता हैं । अर्थात् ब्राह्मणों में अधम निकृष्ट ब्रह्मबन्धु कहलाता है। बहुधा निन्दा अर्थ में ही इसका प्रयोग होता है ॥ १ ॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंꣳशतिवर्षः सर्व्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳह पितोवाच–श्वेतकेतो ! यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः * । येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ? ॥ २ ॥

सः । ह । द्वादशवर्षः । उपेत्य । चतुर्विंशतिवर्षः । सर्व्वान् । वेदान् । अधीत्य । महामनाः । अनूचानमानी । स्तब्धः । एयाय । तम् । ह । पिता । उवाच । श्वेतकेतो । यत् । नु । सोम्य । इदम् । महामनाः । अनूचानमानी । स्तब्धः । असि । उत । तम् । आदेशम् । अप्राक्ष्यः । येन । अश्रुतम् । श्रुतम् । भवति । अमतम् । मतम् । अविज्ञातम् । विज्ञातम् । इति । कथम् । नु । भगवः । सः । आदेशः । भवति । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–स हेति । एवं पित्रोक्तः स श्वेतकेतुः । द्वादशवर्षः द्वादशवार्षिकः सन् । उपेत्य । पितुरन्यं कमप्याचार्य्यं प्राप्य चतुर्विंशतिवर्षः सन् सर्वान् वेदान् चतुरोवेदानधीत्य तदर्थं च ज्ञात्वा '। महामना महद्गभीरं मनो यस्य स महामना गभीरचेता अहंकारवानित्यर्थः । अनूचानमानी । वेदस्यानुवचनं कृतवानित्यनूचानः । अनुपूर्वात् वचेः कर्त्तरिकानच् । अनुवचनं सार्थवेदाध्ययनम् । "उपेयिवा ननाश्वाननूचानश्च"

* अप्राक्ष्य इत्यार्ष प्रयोगः ॥

३ । २ । १०९ । अनेन अनूचान इति निपात्यते" । अनूचानोऽधीतवेद इत्यर्थः 'आत्मानमनूचानं मन्यत इत्यनूचानमानी । अनूचानमन्यः अनूचानमानी एव ननु तत्त्वतो वेदवित् । "आत्ममानेखश्च ३ । २ । ८३ । णिनिः" । अतएव स्तब्धः अप्रणतस्वभावः । जड़ीकृतस्वभावः । ईदृशः सन्नेव । एयाय । स्वगृहमाजगाम । इणोलिटि रूपम् । ईदृशं पुत्रमवलोक्य धार्मिकं विनीतञ्च विधातुमिच्छया तं ह पितोवाच । यदिदमिति क्रियाविशेषणम् । न्विति पृच्छायाम् । नु ननु हे सोम्य ! श्वेतकेतो यत्त्वं महामनाः अनूचानमानी स्तब्धश्चासि । इदं कथमिति । महामनस्त्वम् अनूचानमानित्वं स्तब्धत्वञ्च । कस्मादायातं अधीत्य खलु जनोविनीतो भवति । तद्विपरीतस्त्वमसि । कथमेतत् । उत किमुत किम् । त्वं तमादेशमप्राक्ष्यः । आदिश्यते उपदिश्यते इत्यादेशः । केवल शास्त्राचार्योपदेशगम्यो विषय इत्यर्थः । यद्वा । आदिश्यते परमं ब्रह्मोपदिश्यते येनासावादेशः । अनुशासनम् । अप्राक्ष्यः । अप्राक्षीः । पृष्टवानसि । अप्राक्ष्य इत्यार्षम् । तमादेशं विशिनष्टि । येनादेशेन श्रुतेन । अश्रुतम् । अश्रुतमपि अन्यद्वस्तु । श्रुतम् । भवति । येनादेशेन तर्कितेन । अन्यत्सर्वममतमतर्कितमपि । अतर्कितममतम् । मतं तर्कितमेव भवति । येनादेशेन ज्ञातेन । अज्ञातम् । अन्यदज्ञातमपि सर्वम् । ज्ञातं निश्चितं भवति । ईदृशमादेशं कच्चित्वं कदाचिदाचार्य्यमप्राक्षीर्नवा । इतिप्रश्नसमाप्त्यर्थः । कथमन्यविज्ञानेन अन्यस्य तदसम्बद्धस्य विज्ञानं भवितुमर्हति । नहि जलविज्ञानेन कदाचिद् वह्नेर्ज्ञानं दृष्टम् । तत्कथमिवेदं मां प्रति पिता जिज्ञासते । अतः पितृप्रश्नमद्भुतमसंगतमप्रसिद्धं ज्ञात्वा पृच्छति । हे भगवो भगवन् ! भगव इति वैदिकम् । कथन्नु केनप्रकारेण । स आदेशो भवति । इति मामुपदिश ॥ २ ॥

अनुवादः—द्वादशवर्ष वयस्थ वह श्वेतकेतु आचार्य के निकट जा आचतुर्विंशतिवर्ष वयोवस्था तक सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर महामना अनूचानमानी और स्तब्ध होकर गृह लौट आया । उससे उसके पिता बोले हे सोम्य श्वेतकेतो ! तुम जो महामना अनूचानमानी और स्तब्ध हो रहे हो सो यह अवगुण कहां से आया । क्या तुमने उस आदेश को अपने आचार्य से कभी पूछा था ? जिससे अश्रुत श्रुत होता है । अमत मत होता है । अज्ञात ज्ञात होता है । (श्वेतकेतु) हे भगवन् ! वह आदेश कैसे होता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(द्वादशवर्षः) बारहवर्ष का (सः+ह) वह श्वेतकेतु नामक कुमार (उपेत्य) पिता की आज्ञासे आचार्यकुल को जाकर (चतुर्विंशतिवर्षः) चौवीशवर्ष का हुआ और उतने दिनों में (सर्वान्) समग्र (वेदान्) वेदों को (अधीत्य) पढ़ (एयाय) अपने घर लौट आया । आगे श्वेतकेतु का विशेषण कहते हैं । वह कैसा था (महामनाः) बड़ा मनवाला । अर्थात् विद्या के अहंकार से मन तो बहुत बड़ा था परन्तु यथार्थ

में वह महामनस्वी नहीं था । पुनः (अनूचानमानी) अपने आत्माको अनूचान=वेद तत्त्व-वेत्ता माननेवाला । पुनः (स्तब्धः) अनम्र स्वभाव । विद्या पढ़ने से जो स्वभाव नम्र होता है सो उसका उलटा गुण इस में था । तत्पश्चात् अपने पुत्रकी यह दशा देख (तम्) उस श्वेतकेतु से (ह) वह प्रसिद्ध (पिता) श्वेतकेतु के पिता आरुणि (उवाच) बोले कि (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतो ! (सोम्य) हे सौम्य प्रियपुत्र ! (नु) यह पूछने प्रश्न में जिज्ञासा आदि अर्थ में आता है अर्थात् मैं यह जिज्ञासा करता हूं कि (यद्) जो (इदम्) यह तुम (महामनाः) महामनस्वी (अनूचानमानी) अपने को वेदवक्ता समझनेवाला और (स्तब्धः) अनम्रस्वभाव (असि) है । सो ऐसा क्यों ? इसका क्या कारण (उत) क्या तुमने (तम्+आदेशम्) उस अनुशासन वा उपदेश को अपने आचार्य्य से (अप्राक्ष्यः) पूछा था (येन) जिस आदेश (अनुशासन=उपदेश) के सुनने से (अश्रुतम्) अश्रुत नहीं सुना हुआ (श्रुतम्+भवति) श्रुत होता है । और जिस आदेश के तर्क द्वारा विचारने पर (अमतम्) अतर्कित वस्तु (मतम्) तर्कित होता है । और जिस आदेश को जानने से (अविज्ञातम्) अविज्ञात अविज्ञेय वस्तु भी (विज्ञातम्) विदित हो जाता है । इतना सुन वह श्वेतकेतु बोला (भगवः) हे पूज्यपाद पिता ! (कथन्नु) कैसे (सः) वह (आदेशः) आदेश (भवति+इति) होता है ॥ २ ॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

यथा । सोम्य । एकेन । मृत्पिण्डेन । सर्वम् । मृन्मयम् । विज्ञातम् । स्यात् । वाचारम्भणम् । विकारः । नामधेयम् । मृत्तिका । इति । एव । सत्यम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—यथेति । कथन्नु भगवः स आदेशो भवतीति स्वपुत्रेणपृष्टः पिताऽनेकैर्दृष्टान्तैस्तमादेशं व्याख्यातुमुपक्रमते । सोम्य प्रियपुत्र ! सोममर्हति यः स सोम्यः "सोममर्हति यः । ४ । ४ । १३७ ॥ इति य प्रत्ययः" यथा एकेन मृत्पिण्डेन मृदोमृत्तिकायाः पिण्डेन घटशरावादीनां कार्य्याणां कारणेन मृत्तिका नामधेयेन वस्तुना सुविज्ञातेन सता । सर्वं मृण्मयम् । निखिलं मृत्तिकाविकारजातं मृत्तिकाविरचितं सर्वं कुम्भशरावादि पदार्थव्यूहं विज्ञातं स्यात् । विशेषेण ज्ञातं विदितं भवति । कथं विज्ञातं भवतीत्याह । यतो विकारो नामधेयम् । प्रकृतेः सकाशात् विविधघटशरावादि-

रूपेण विकृतिं प्राप्त पदार्थः । नामधेयम् । नामैवकेवलम् । नाममात्रं नहि वस्त्वन्तरम् । अयं भावः विकारस्य नामैव भिन्नं २ भवति । यथार्थतः स्वकीयायाः प्रकृतेः अभिन्न एव स विकारः । नहि प्रकृति-विकारयोः परमार्थतः कोपि भेदोस्तीत्यर्थः । कथंभूतं नामधेयं वाचारम्भणम् । वाचानां वाणीनां शब्दानामारम्भणमारम्भकं विस्तारकम् । नूतन नूतनशब्दानामेवारम्भणं जनकम् । वाचामेववृद्धिर्भवति । नहि पदार्थस्येत्यर्थः । यद्वा विकारार्थे मयट् विधानेन कोऽसौ विकार इत्याकाङ्क्षायां लक्षयन्नाह । वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति । वाचानां वाणीनामारम्भणं आलम्भनं प्रवर्द्धनं विस्तारो विकारो नामधेयम् । विकारो नाम । प्रकृत व्याख्याने उदाहरणमाह—मृत्तिकेत्येव सत्यम् । मृदेवमृत्तिका—मृत्तिकाभ्यो विरचिता घटशरावादिभ्यो ये ये विकारा लोके दृश्यन्ते । सा सर्वा मृत्तिका एव एकं सत्यं सद्रूपं वस्तु । अन्यत् सर्वं नामैवकेवलम् । अयं घटः । इयं भित्तिः । इयमिष्टिका । इयं हण्डिका । एष दीपः । असौ कपालः । इत्यादीनि बहूनि मृत्तिकाजातानि वस्तूनि दृश्यन्ते । तत्र २ प्रथमं का विशेषता वर्त्तते ? एकैवमृत्तिका अधुना बहुनाम्नी संवृता सैवमृत्तिका क्वचिद् घट उच्यते । क्वचिदिष्टिका कथ्यते । तेन शब्दानामेव वृद्धिर्भवति । मृण्मयम्—मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४ । ३ । १४३ ॥ विकारे मयट् । वाचारम्भणम् । वष्टि भागुरिरल्लोप इत्यनेन नियमेन आवन्तो वाचा शब्दो ग्राह्यः आरम्भगतीति आरम्भणम् । कृत्यल्युटोबहुलम् ३ । ३ । ११३ ॥ ल्युटिकृते । रभेरशब्लिटोः ७ । १ । ६३ ॥ नुम् । वाचावाणीरेव आरम्भयति उत्पादयति विस्तारयति । नहि प्रकृतेर्भिन्नं किमपिवस्तु । नामधेयम् । स्वार्थे धेयट् । मृत्तिका—मृदस्तिकन् ५ । ४ । ३९ ॥ इतितिकन् ॥ ३ ॥

अनुवादः—हे सोम्य ! (प्रियपुत्र) जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सबही मृत्तिका से बना हुआ पदार्थ विज्ञात हो जाता है क्योंकि विकार (घट आदि) वाणी का विस्तार करनेवाला केवल नाममात्र का है । मृत्तिका ही एक सत्य है । यद्वा वाणीका आरम्भण (वर्द्धन=वृद्धि) ही विकार नामक वस्तु है । मृत्तिका ही सत्य है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे चन्द्रवत् प्रियपुत्र श्वेतकेतो ! (यथा) जैसे (एकेन) एक (मृत्पिण्डेन) मृत्पिण्ड से=मिट्टी से (सर्वम्) सब (मृन्मयम्) मृत्तिका के घट शरावादि विकार (विज्ञातम्) विदित (स्यात्) हो जाता है क्योंकि (वाचाऽऽरम्भणम्) वचनों का आरम्भण वर्धन=विस्तार (विकारः) विकार (नामधेयम्) नामवाला वस्तु है परन्तु (मृत्तिका+इति+एव) केवल मृत्तिका ही (सत्यम्) सत्य है यद्वा (विकारः+ नामधेयम्) विकार वस्तु केवल नाममात्र है । नाम ही केवल उसका पृथक् है । वस्तुभिन्न

नहीं । नाम कैसा है सो कहते हैं (वाचारम्भणम्) वचनों शब्दों अर्थात् नवीन २ शब्दों का आरम्भक जनक उत्पन्न करनेवाला है यथा मिट्टी एक वस्तु है उससे जितने पदार्थ बनते हैं उनके नाम भिन्न २ होते जाते हैं जैसे घड़ा, सकोरा, मृतवान इत्यादि ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—जब पुत्र ने पूछा कि वह आदेश कौन है तब पिता ने अनेक दृष्टान्तों से उस विषय को समझाने के लिये आरम्भ किया । वाचारम्भणम्–संसार में एक वस्तु से अनेक वस्तु बनजाती हैं यह प्रत्यक्ष विषय है और जितनी वस्तु बनती जाती हैं उन के नाम भी पृथक् २ होते जाते हैं जैसे एक सुवर्ण से नाना भूषण बनने पर नाना नामधारी बन जाता है परन्तु यथार्थ में वह सुवर्ण ही है इससे यह सिद्ध हुआ कि वचन के बढ़ाने वाला ही विकार होता है यथार्थ में वह विकार अपने कारण से भिन्न नहीं इसी अभिप्राय से वाचारम्भण पद मूल में कहा गया है ॥ ३ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥४॥

यथा । सोम्य । एकेन । लोहमणिना । सर्व्वम् । लोहमयम् । विज्ञातम् । स्यात् । वाचारम्भणम् । विकारः । नामधेयम् । लोहम् । इति । एव । सत्यम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यथेति । अन्यन्निदर्शनं श्वेतकेतुपिता व्याचष्टे । हे सोम्य ! यथैकेन लोहमणिना सुवर्णपिण्डेन विज्ञातेन सता । सर्व्वमखिलम् । लोहमयम् । सुवर्णजातं वस्तुविज्ञातं सुविदितं स्यात् । एक सुवर्ण-सुपरिचयेन सुवर्णजाताः कटक-मुकुट-केयूरवलयादयोपि । इदं सुवर्णस्यकटकम् । इदं सुवर्णस्य मुकुटमित्येवं विज्ञायेरन् । यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् । यतो वाणीनामारम्भणमालम्बनं वर्धनमेव विकारोनाम निगद्यते । शब्दानामेव वर्धको विकार उच्यते न ह्यस्माद्भिन्नः कोऽपि विकारो नाम स्वकारणात् । तत्र तत्र कटकादौ परमार्थतो लोहमित्येव सत्यम् । अन्यन्नाममात्रमेव न तथ्यम् । भिन्नेषु नामधेयेषु सत्स्वपि सर्वसुवर्णविरचितं कटकादि सुवर्णमेव परमार्थतः ॥ ४ ॥

अनुवादः—हे सोम्य ! जैसे एक सुवर्ण के पिण्ड के विज्ञान से सुवर्ण से बना हुआ सब पदार्थ विज्ञात हो जावे (क्योंकि) वचन का आश्रय (वर्धन) विकार नाम वस्तु है सुवर्ण ही सत्य है यद्वा वचन का बढ़ानेवाला विकार एक नाममात्र है (कोई भिन्न वस्तु नहीं) ॥ ४ ॥

पदार्थः-(सोम्य) हे प्रियपुत्र ! (यथा) जैसे (एकेन) एक (लोहमणिना) सुवर्णस्वरूप के ज्ञान से (सर्वम्+लोहमयम्) सब सुवर्णविकार (विज्ञातम्+स्यात्) विदित हो जाता है क्योंकि (विकारः) विकारस्वरूप वस्तु (नामधेयम्) केवल नाममात्र है और (वाचाऽऽरम्भणम्) वचन अर्थात् शब्दों का उत्पादक ही है (लोहम्+इति+एव+सत्यम्) उन २ सुवर्ण विकारों में सुवर्ण ही एक सत्य वस्तु है ॥ ४ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य ! स आदेशो भवतीति ॥ ५ ॥

यथा। सोम्य। एकेन। नखनिकृन्तनेन। सर्वम्। कार्ष्णायसम्। विज्ञातम्। स्यात्। वाचाऽऽरम्भणम्। विकारः। नामधेयम्। कृष्णायसम्। इति। एव। सत्यम्। एवम्। सोम्य। सः। आदेशः। भवति। इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—दृष्टान्तरमाह । सोम्य हे प्रियपुत्र ! एकेन नखनिकृन्तनेन । नखानां निकृन्तनं छेदनं नखनिकृन्तनं । निकृत्यते छिद्यते यत् तत् कृन्तनम् । नखानां यो हि भागः कृत्यते तत् निकृन्तनमिहोच्यते । कृती छेदने करणे ल्युट् । नखानां स एव भागो निकृत्यते यः कृष्णो भवति अथच निर्जीवः स्यात् । अतो नखनिकृन्तनेन पदेन उपलक्षणयात्र कृष्णायसपिण्डं गृह्यते । इत्थञ्च । एकेन । कटाहदर्वीप्रभृतीनां कार्य्याणां कारणेन कृष्णायसपिण्डेन विज्ञातेन सता । कार्ष्णायसम् । कृष्णायसविकारजातं कटाहाद्यं सर्वं वस्तुजातं । विज्ञातं भवति । यतो वाचारम्भणम् । वाचानां वाणीनामारम्भणम् आलम्बनं प्रवृद्धिरेव विकारो नामधेयम् । विकारपदवाच्यं स्यात् । तत्र २ कृष्णायस जातेषु पदार्थेषु कृष्णायसमित्येव सत्यम् । हे सोम्य ! एवमेव । स पूर्वोक्त आदेशो भवति । तमादेशं कदाचित्त्वमाचार्य्यमप्राक्षीर्नवेत्ति मम जिज्ञासा । तव यदि स आदेशो विदितः स्यात्तर्हि ईदृग्महामना अनूचानमानी स्तब्धो न स्याः । अनेकदृष्टान्तोपादनं दार्ष्टिकान्तानेकभेदानुगमार्थं । दृढप्रतीत्यर्थञ्च ॥ ५ ॥

अनुवादः—हे सोम्य ! जैसे एक कृष्ण लोह के पिण्ड के विज्ञान से कृष्णलोह से बनी हुई सब वस्तु विदित होजाती है । क्योंकि वाणी का आलम्बनमात्र विकार नाम वस्तु है । यद्वा वचनों का बढ़ाने वाला विकार एक नाममात्र है लोह ऐसाही सत्य है । हे सोम्य ! ऐसे वह आदेश होता है ॥ ५ ॥

पदार्थः–(सोम्य) हे चन्द्रवत् प्रियपुत्र ! (यथा) जैसे (एकेन) एक (नखनिकृन्तनेन) कृष्णलोहपिण्ड विदित होने से (कार्ष्णायसम्) कृष्ण लोह के विकारों से बनी हुई (सर्वम्) सब वस्तु (विज्ञातम्) विदित (स्यात्) हो जाती है । क्योंकि (वाचारम्भणम्) वचनों का आश्रय (विकारः+नामधेयम्) विकार कहा जाता है (कृष्णायसम्) कृष्णलोह (इति+एव) ही (सत्यम्) सत्य है । इतना कह कर फिर वह बोले कि (सोम्य) हे सोम्य ! (एवम्) ऐसे (सः) वह (आदेशः) आदेश उपदेश अनुमान (भवति+इति) होता है (इति) ॥ ५ ॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति । भगवाँस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ६ ॥

न । वै । नूनम् । भगवन्तः । ते । एतद् । अवेदिषुः । यत् । हि । एतद् । अवेदिष्यन् । कथम् । मे । न । अवक्ष्यन् । इति । भगवान् । तु । एव । मे । तद् । ब्रवीतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ॥ ६ ॥

भाष्यम्–न वा इति । एवं कथितवति तूष्णींभूते च पितरि श्वेतकेतुरुवाच । ते प्रसिद्धाः । भगवन्तः । पूजावन्तः । पूजनीयाः । ममाचार्य्याः । एतद् । भवदुक्तं वस्तु । नावेदिषुः । नाज्ञासिषुः । न विदितवन्तः । वै नूनम् । इति निश्चितमेवास्ति । कथं त्वं जानासि ना वेदिषुस्त इत्याह । हि । यतः । यद् । यदि । एतद्भवदुक्तमनुशासनमवेदिष्यन् । विदितवन्तस्तर्हि कथम् । मे मह्यम् । गुणवते शुश्रूषवे भक्ताय नावक्ष्यन् नोक्तवन्तः । यतो मह्यं नोक्तवन्तोऽतोऽनुमीयते एतदनुशासनं नावेदिषुः । तर्हि किं कर्त्तव्यम् । पुनरपि कुत्रचिद् आचार्योऽन्यः कर्तव्यः तदर्थं पुनरपि ब्रह्मचर्यं सेवनीयमिति पितुराशयं विदित्वा पुनरपि आचार्य्यकुलगमनभयात् श्वेतकेतुर्ब्रवीति । तु किन्तु । परंत्विदानीम् । एतद्वस्तु । भगवान् एव मे ब्रवीतु । अस्मिन्विषये भगवानेव ममाचार्य्यो भवतु । इति पुत्रेण विज्ञप्तः पिता तथास्त्विति वक्ष्यमाणं होवाच ॥ ६ ॥

इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–परमपूजनीय वे (मेरे आचार्य्य) इस को नहीं जानते थे यह निश्चय ही है क्योंकि यदि इसको जानते रहते तो मुझको क्यों नहीं कहते । परन्तु अब आपही मुझ से इसका व्याख्यान कहें । हे सोम्य ! एवमस्तु (मैं ही उसका उपदेश करूंगा) इतना कह श्वेतकेतु के पिता बोले ॥ ६ ॥

पदार्थः-श्वेतकेतु के पिता जब इतना कह चुप हो गये तब वे श्वेतकेतु बोले (ते) वे (भगवन्तः) पूजनीय मेरे आचार्य्य (नूनम्) निश्चय (एतद्) आप से उपदिष्ट इस अनुशासन को (न+वै+अवेदिषुः) नहीं जानते थे (हि) क्योंकि (यत्) यदि (एतद्) इस अनुशासन को (अवेदिष्यन्) जानते होते तो (मे) मुझ से (कथम्) क्यों (न+अवक्ष्यन्) नहीं कहते (तु) परन्तु अब (भगवान्+एव) पूजनीय आप ही (एतत्) इस उपदेश को (ब्रवीतु) कहें (इति) पुत्र के वचन सुन आरुणि बोले कि (सोम्य) हे सोम्य ! (तथा) तथास्तु (इति+ह+उवाच) इतना कह वक्ष्यमाण प्रकार से उपदेश देने लगे ॥ ६ ॥

इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत ॥ १ ॥

सद् । एव । सोम्य । इदम् । अग्रे । आसीत् । एकम् । एव । अद्वितीयम् । तद् । ह । एके । आहुः । असद् । एव । इदम् । अग्रे । आसीत् । एकम् । एव । अद्वितीयम् । तस्माद् । असतः । सत् । जायेत ॥ १ ॥

भाष्यम्-सदिति । हे सोम्य सौम्य ! अग्रे प्राक् सृष्टेः । इदं एकरूपेण सर्वत्र सर्वेषु कालेषु भासमानम् । सदेव ब्रह्मैव आसीदविद्यत । सदिति ब्रह्मनामधेयम् । सद् विशिनष्टि । कीदृशसद् । एकमेव । असहायकमेव । पुनःकीदृशम् । अद्वितीयम् । स्वजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्यम् । स्वाभिमतं सिद्धान्तमुक्त्वा सिद्धान्तान्तरं प्रत्याचिख्यासिषुः पूर्वं तन्मतमुपन्यस्यति । तत्तत्र । सृष्टिविषये । ह प्रसिद्धा एके अन्ये नास्तिका आहुर्ब्रुवन्ति । किं ब्रुवन्तीत्याकांक्षायामाह-अग्रे प्राक् सृष्टेः । इदं सम्प्रति व्याकृतनामरूपं दृश्यमानं जगत् । असदेव आसीत् । न विद्यते सद् ब्रह्म यस्मिन् तदसद् । कारण ब्रह्मशून्यम् । ब्रह्मरहितमव्यक्तं किमप्यासीत् । यद्वा सच्छब्देन भावः प्रतीयते । न सन् । असन् । अभावः । प्राक् सृष्टेरभाव एवासीत् । न किञ्चनासीदित्यर्थः । असद्विशिनष्टि । एकमेवाद्वितीयम् । इदं विशेषणं दृढीकरणार्थम् । असदेवैकमासीद् । न द्वितीयं न तृतीयं न चतुर्थम् । इत्येवं जातीयं किमप्यनासीत् । तर्हि

कथमियं सृष्टिरित्याह। तस्मादसतः सज्जायेत । तस्माद् ब्रह्मशून्यादव्यक्तात् सदव्यक्तं नामरूपवदिदं जगज्जायते इति संभाव्यते ॥ १ ॥

अनुवादः-हे सोम्य ! (सृष्टि के) पूर्व एकही अद्वितीय यह सद् (ब्रह्म) ही था । इस विषय में कोई कहते हैं कि आगे एक ही अद्वितीय असत् ही था उसी असत् से सत् उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

पदार्थः-(सोम्य) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतो ! (अग्रे) आगे सृष्टि के पूर्व (इदम्) यह अर्थात् त्रिकाल में एकरूप सर्वत्र भासमान (सद्+एव) ब्रह्म ही (आसीद्) था । सत् नाम यहां ब्रह्म का है । आगे सत् के विशेषण कहते हैं । वह सत् कैसा है ? (एकम्+एव) असहाय न कोई दूसरा उसे सहायता देने वाला । पुनः वह सत् कैसा है ? (अद्वितीयम्) स्वजातीय विजातीय और स्वगत भेदशून्य । इतने से अपने स्वाभिमत सिद्धान्त को वर्णन कर मतान्तर के प्रत्याख्यान=खण्डन करने की इच्छा से उस मत का प्रथम उपन्यास करते हैं । (तत्) उस सृष्टि विषय में (ह+एके) कोई २ नास्तिक लोग (आहुः) कहते हैं कि (अग्रे) आगे सृष्टि के पूर्व (असद्+एव) कारण ब्रह्म रहित कोई अव्यक्त पदार्थ । यद्वा अभाव ही (आसीत्) था । आगे असत् के विशेषण कहे जाते हैं (एकम्+एव) (अद्वितीयम्) इन दो विशेषणों से केवल अपने पक्ष को दृढ़ करते हैं । केवल एक असत् ही था दूसरी तीसरी आदि कोई वस्तु नहीं थी । तब सृष्टि कैसे हुई सो कहते हैं (तस्माद्) उस (असतः) असत् (ब्रह्म रहित अव्यक्त से वा अभाव) से (सद्) सत (जायेत) होसकता है ॥ १ ॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच-कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

कुतः । तु । खलु । सोम्य । एवम् । स्यात् । इति । ह । उवाच । कथम् । असतः । सत् । जायेत । इति । सत् । तु । एव । सोम्य । इदम् । अग्रे । आसीत् । एकम् । एव । अद्वितीयम् ॥ २ ॥

भाष्यम्-कुत इति । हे सोम्य ! कुतः कस्मात्तुखलु प्रमाणात् । एवं स्यात् । असतः सज्जायेतेत्येवं स्यात् । नहि तत्र किमपि प्रमाणं विद्यते । अतो न कदापि असतः सदुत्पत्तिर्भवितुमर्हति । पुनः स्वपक्षं द्रढयति । हे सोम्य ! तु किन्तु । अग्रे एकमेवाद्वितीयमिदं सदेव ब्रह्मैव आसीदितिहारुणिः पुत्रमुवाच ॥ २ ॥

अनुवादः—हे सौम्य ! कहां से यह हो सकता है । असत् से सत् कैसे हो सकता है । हे सोम्य ! किन्तु आगे एक ही अद्वितीय यह सद् (ब्रह्म) ही था । इस प्रकार आरुणि अपने पुत्र से बोले ॥ २ ॥

पदार्थः—(सौम्य) हे सौम्य ! (तु) किन्तु (कुतः+खलु) कहां से (एवम्+स्यात्) ऐसा हो सकता है अर्थात् (कथम्) कैसे (असतः) असत् से (सत्+जायेत) सत् हो सकता है । असत् से सत् का होना सर्वथा असंभव है । पुनः अपने पक्ष का उपसंहार करते हैं (सोम्य) हे सोम्य ! (तु) परन्तु (अग्रे) आगे (एकम्) एक ही (अद्वितीयम्) अद्वितीय (इदम्) यह प्रत्यक्षवद्भासमान (सद्+एव) ब्रह्म ही (आसीत्) था (इति+ह+उवाच) आरुणि यह बोले ॥ २ ॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत—बहु स्यां प्रजायेयेति । तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

तद् । ऐक्षत । बहु । स्याम् । प्रजायेय । इति । तद् । तेजः । असृजत । तत् । तेजः । ऐक्षत । बहु । स्याम् । प्रजायेय । इति । तद् । अपः । असृजत । तस्मात् । यत्र । क्व । च । शोचति । स्वेदते । वा । पुरुषः । तेजसः । एव । तद् । अधि । आपः । जायन्ते ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदिति । तत् सत्तत्सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म । ऐक्षत अपश्यत् । ईक्षणं चकार । ईक्षणंनाम ज्ञानपूर्वकं संकल्पः । यद्यपि न त्रिकालज्ञे ब्रह्मणि ईक्षणादिक्रिया संभवति तथापि एकरूपेण विद्यमाना एव ईक्षणादिव्यापाराः सृष्टादिव्यवहारदशायां प्रादुर्भूता इव लौकिकभाषया निगद्यन्ते यथा पृथिव्यामन्तर्हितान्येव बीजानि वर्षायां प्रजायन्ते तद्वत् । किमैक्षतेत्याह । बहु स्यामित्यादि । बहुस्यां स्यामिति लडर्थे लिङ् । अहं बहु अस्मि । भूमास्मीत्यर्थः । सर्वं कर्तुं समर्थमस्मि । वहति सम्पूर्णं जगदिदंधारयतीति बहु । अस्मादेव भूमेति पदं सिद्ध्यति तदीश्वरस्य नामधेयं भवति "भूमानं भगवो विजिज्ञास" इत्युपक्रम्य "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति । नान्यद्विजानाति स भूमा" (छा० ७ । २४ । १) इदमेव वाक्यमाश्रित्य भगवान् सूत्रकारः सूत्रयति "भूमासम्प्रसादादध्युपदेशादिति" ॥ वे० १ । ३ । ८ । एतेन भूमेति ब्रह्मनामधेयं सिध्यति । बहु शब्दात् पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (५ । १ । १२५) अनेनेमनिचि कृते "बहोर्लोपो भूचबहोरिति" (६ । ४ । १५८) भूरादेशेन भूमासिद्ध्यति ।

बहोर्निष्पन्नो भूमेति ब्रह्मवाचकस्तर्हि बहु इति तद्वाचकः कथन्नस्यात् । बहु इति गुणवाचि नामास्ति । प्रजायेय अन्तर्भावितण्यर्थः तस्मात् प्रजनयेयं जगदुत्पादयेयमित्यर्थः विज्ञानरूपं संकल्पं कृतवत् । यतोऽहं सर्वसमर्थोऽस्मि अतः जगदुत्पादयेयम् । अथसृष्टिक्रमः । ईक्षणा-नन्तरम् । तत्सत् । तेज असृजत । अजनयत् । ततः । तत्तेज ऐक्षत । अयं तेजःशब्दो ब्रह्मवच-नः । तेजःकारणात्तेजो ब्रह्माभिधीयते "तेजोऽसि" तेजोमयिधेहीति प्रमाणात् यद्वा । तेजःशब्देन तद्वद्व्याख्येयम् । तथाहि । तेजस्तेजस्वि यतस्तद्ब्रह्म तेजस्वि अतस्तेजोऽसृजत । इदमपिवो-ध्यम् । तेजः पर्य्यायाः प्रायो ब्रह्मवाचिनो दृश्यन्ते । यथा अग्निः । सूर्यः । वैश्वानर इत्यादि । ईदृशेषु स्थलेषु गुणशब्देन गुणवतो ग्रहणम् । यथ । श्वेतो धावति । अर्थात् श्वेतवान् अश्वो धावतीत्यर्थः । इत्येवमादि । पुनः प्रकाशस्वरूपं तत्सत् । ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति पूर्ववद् ज्ञानरूपं संकल्पं कृतवत् । ततः । तत् सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म । अपो जलम् । असृजत अजनयत् । तस्मादितियस्मात्तेजसः कार्य्यभूता आपस्तस्माद्धेतोः । पुरुषः प्राणी । यत्र क च यस्मिन् देशे काले वा शोचति संतप्यते । वा अथवा स्वेदते । प्रस्वेदते । तेजस एव तेजसः सकाशा-देव । तदापस्तज्जलम् । अधिजायन्ते । उत्पद्यन्ते । तदिति आर्षत्वाद् क्लीवत्वमेकवचनं च । यद्वा । तत्तत्रेति व्याख्येयम् । यत्र शोचति स्वेदते वा तत्र आप अधिजायन्त इत्यन्वयः । अध्यापो जायन्त इति लोकेऽव्यवहिता उपसर्गा न प्रयुज्यन्ते । किन्तु छन्दांसि परेऽपि १ । ४ । ८१ ॥ व्यवहिताश्च १ । ४ । ८२ ॥ इत्यनेन नियमेन अधिरार्षत्वाद् व्यवहितः प्रयुक्तः ॥ ३ ॥

अनुवादः—उस सत् (ब्रह्म) ने ज्ञानरूप संकल्प किया कि मैं सर्व समर्थ हूं अतः मैं जगत् को सृजन करूं (ऐसा संकल्प कर) उसने तेज का सृजन किया । पुनः उस तेजस्वी (ब्रह्म) ने ज्ञानरूप संकल्प किया कि मैं सर्व समर्थ हूं । अतः जगत् का सृजन करूं (ऐसा संकल्प कर) उसने जल का सृजन किया । उस कारण जिस किसी स्थान वा काल में प्राणी संतप्त वा स्वेदित होता है वहां तेज से ही जल उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तत्) वह सत् अर्थात् सत् शब्दवाच्य उस ब्रह्म ने (ऐक्षत) ज्ञानरूप संकल्प किया (बहु) भूमा सब से सब प्रकार महान् अर्थात् सर्व सामर्थी (स्याम्) मैं हूं अतः (प्रजायेय) मैं जगत् का सृजन करूं (इति) ऐसा संकल्प कर (तत्) उस सत् ने (तेजः) तेजको (असृजत) सिरजा (इति) (तत्+तेजः) उस तेजस्वी सत्=ब्रह्म ने

(ऐक्षत) ज्ञानरूप संकल्प किया कि (बहु+स्याम्) मैं सर्वसामर्थी हूं इस कारण (प्रजायेय) मैं जगत् का सृजन करूं (इति) यह संकल्प कर (तत्) उस सत्=ब्रह्म ने (अपः) जलका (असृजत) सृजन किया (तस्मात्) उस कारण (पुरुषः) प्राणी (यत्र+क्व+च) जिस किसी स्थान वा काल में (शोचति) आतप से संतप्त होता है (वा) अथवा (स्वेदते) पसीने से प्रस्वेदित होता है (तत्) वहां (तेजसः+एव) तेज से ही (आपः) जल (अधि+जायन्ते) उत्पन्न होता है * ॥ ३ ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्न-

* प्रजायेय—मैं उत्पन्न होऊं ऐसा अर्थ लोगों ने किया है सो ठीक नहीं । क्योंकि यदि इसका अर्थ ऐसा ही हो तो "तत्तेजोऽसृजत" उसने तेजका सृजन किया । "तद् अपोऽसृजत" उसने जल का सृजन किया इत्यादि स्थलों में "तत्तेजोऽजायत" वह तेज हुआ "ता आपोऽजायन्त" वह जल हुआ ऐसा कहना उचित था परन्तु ऐसा नहीं कहा। इस हेतु "प्रजायेय" इस शब्द का अर्थ "मैं उत्पन्न करूं" ऐसा करना चाहिये । समीक्षा में इसका विस्तार देखना । तेजः—इस प्रकरण में तेज, अप, शब्द ईश्वरवाचक है क्योंकि वह ईश्वर तेज और अप=जल का कारण है इस हेतु कार्य कारण के अभेद विवक्षा से तेज और अप भी ब्रह्म कहलाता है । अथवा तेज और अप शब्द से तेजस्वी अप्वान का ग्रहण है अर्थात् गुण से गुणी का ग्रहण है संस्कृत में ऐसे प्रयोग बहुधा आते हैं जैसे "श्वेतो धावति" श्वेत दौड़ता है अर्थात् श्वेतवान् घोड़ा दौड़ता है इत्यादि अनुसन्धान करलेना ।

बहु+स्याम्—इस पद का अर्थ कोई २ "मैं बहुत होजाऊं" ऐसा करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं । बहु शब्द यहां ब्रह्म का गुणवाचक नाम है । सर्व समर्थ इसका अर्थ है । (वहतीति बहु) जो सम्पूर्ण जगत् का धारण पोषण सृजन करे उसे "बहु" कहते हैं (इसी बहु शब्द से भूमा शब्द बनता है जो ब्रह्मवाचक होता है । छा० ७ । २४ । १ । देखो इस का नाम ही भूमा प्रकरण है । वेदव्यास भी कहते हैं "भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ वे० ३ । ८॥" यहां सिद्ध किया गया है कि भूमा नाम ब्रह्म का है यह भूमा शब्द बहु शब्द ही से सिद्ध होता है संस्कृतभाष्य में साधनिका दिखलाई गई है । अतः "बहु स्याम्" इस पद का अर्थ "मैं सब कुछ कर सकता हूं" यही अर्थ है और "मैं बहुत होऊं" यह अर्थ कदापि नहीं ।

मसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

ताः। आपः। ऐक्षन्त। बह्व्यः। स्याम। प्रजायेमहि। इति। ताः। अन्नम्। असृजन्त। तस्मात्। यत्र। क्व। च। वर्षति। तत्। एव। भूयिष्ठम्। अन्नम्। भवति। अद्भ्यः।। एव। तत्। अधि। अन्नाद्यम्। जायते ॥ ४ ॥

भाष्यम्—ता आप इति। अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः स्त्रीलिङ्गश्च। आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वत्र या ता आपो जलम्। यद्वा आपः अप्तत्त्वं जलतत्त्वमित्यर्थः। संस्कृते वाचकेषु लिङ्गादिव्यत्ययेन वाच्येषु न व्यत्ययशङ्का कर्तव्या अन्यथा पुस्कलत्रादिशब्दानामनेकदोषः स्यात्। क्वचिदेकस्मिन्नेवार्थे नपुंसकशब्देन यथा ब्रह्म अक्षरमित्यादि। क्वचित् पुंलिङ्गशब्देन यथा परमात्मा ईश्वर इत्यादि। क्वचिदव्ययशब्देन ओमिति। क्वचित्स्त्रीलिङ्गवान् लिङ्गशब्देन अतो भूमिरित्यादि अभिधीयते। एतावता नैव दोषः समायाति संस्कृतभाषायाम्। यद्वद् वस्तु स्थितम्। तत्रात्र ईश्वरस्य तत्कार्यस्य वाचकशब्दोऽपि तत्त्वविद्भिर्ऋषिभिः प्रयुक्त इति वेदितव्यम्। तथाहि। पूर्वस्मिन्खण्डे तेजसः सृष्टौ "तेजः" इति क्लीबान्तमेवैकं प्रयुक्तम्। अत्राहि अपां सृष्टौ "आपः" इति स्त्रीवाचकः प्रयुक्तः। अथ प्रकृतार्थः। बह्व्यः स्याम सर्वसमर्थोऽस्मि। अहं सर्वसमर्थोऽस्मीत्यथ यतोऽहं सर्वं कर्तुं समर्थोऽस्मि। अतः प्रजायेमहि। प्रजनयेम। उत्पादयेमेति। ता आपः अप्। शब्दवाच्यं तद्ब्रह्म। ऐक्षन्त ज्ञानवत्त्वं संकल्पं ज्ञानस्य इत्यर्थः। इत्यमीक्षित्वा। अन्नमसृजन्त। पृथिवीं उत्पादितवत्। पार्थिवमन्नम्। अन्नशब्देनात्र पृथिवी उच्यते। तस्मादिति। यस्मादप्कार्यमन्नं विद्यते। तस्माद्धेतोः। यत्र क्व च यस्मिन् देशे वर्षति वृष्टिर्भवति। तत्रैव। भूयिष्ठं बहुतरमन्नं भवति। अद्भ्य एव तदुत्पद्यते। अन्नस्य तदुत्पन्नमिति। विशेषेण व्रीहियवाद्या उत्पद्यन्ते। अधिजायते। अस्मिन् सृष्टिक्रमे सर्वत्र ईक्षणादिकैः प्रयोगात्। ज्ञानपूर्विकैव सृष्टिः। नाकस्मिकी। न स्वतःप्रवृत्ता। न च केवलजडप्रकृतिजन्या। न परमाणुजन्या। नास्यां सृष्टौ कोऽप्यनियमः। इत्येवमर्थो भावो बोध्यते ॥ ४ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवाद—उस सर्व सामग्री प्राप्त ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं सर्वसामर्थ्ययुक्त हूं। मैं सृष्टि को उत्पन्न करूं, उसने अन्न (पृथिवी) को किया। उस कारण जिस किसी (देश) में बरसता है। वहां ही बहुत अन्न होता है। जल से ही अन्न और खाद्य होते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः—(ताः) उस (आपः) सर्व सामग्री प्राप्त ब्रह्म ने (ऐक्षन्त) ज्ञानरूप संकल्प किया कि (बह्व्यः+स्याम) मैं सर्व सामर्थी हूं अतः (प्रजायेमहि+इति) मैं जगत् का सृजन करूं ऐसा ईक्षण कर (ताः) उस ब्रह्म ने (अन्नम्*) पृथिवी को (असृजन्त) उत्पन्न किया (तस्मात्) इस हेतु (यत्र+क्व+च) जहां कहीं (वर्षति) वृष्टि होती (तद्+एव) वहां ही (भूयिष्ठम्+अन्नम्) बहुत अन्न (भवति) होता है (अद्भ्यः+एव) जल से ही (तत्+अन्नाद्यम्) वह अन्न और अद्य खाने के योग्य सब पदार्थ (अधि+जायते) उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—(आपः) अप् शब्द नित्य बहुवचनान्त स्त्रीलिङ्ग है जो सर्वत्र व्याप्त हो उसे आप् कहते हैं अथवा सब सामग्री को जो प्राप्त करता है उसे "आप्" कहते हैं अथवा आप् शब्द से आपवान् अर्थ है । संस्कृत में वाचकों में लिङ्गादि व्यत्यय देख वाच्य में लिङ्गादि व्यत्यय की शङ्का करनी नहीं चाहिये । क्योंकि संस्कृत में दार कलत्रादि शब्द पुंल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग होने पर भी स्त्रीवाचक हैं । कहीं एक ईश्वर नपुंसक शब्द से जैसे ब्रह्म, अक्षर इत्यादि, कहीं पुंलिङ्ग शब्द से यथा परमात्मा, ईश्वर इत्यादि, कहीं अव्यय शब्द से जैसे ओम् इत्यादि, कहीं स्त्रीलिङ्ग शब्द से जैसे आप भूमि पृथिवी आदि कहा जाता है और शब्द के अनुसार ही वचन होते हैं जैसे नित्य बहुवचनान्त दार शब्द है, परन्तु एक व्यक्त्यर्थ में इसका प्रयोग होता है । संस्कृत में इससे कुछ क्षति नहीं होती । तत्त्ववित् ऋषियों ने तत्तद् पदार्थ के सृष्टि प्रकरण में ब्रह्म का वाचक शब्द भी वैसा ही प्रयोग किया है । जैसे तेज की सृष्टि प्रकरण में ब्रह्म का "तेज" नाम का प्रयोग किया था वैसा ही यहां "आप्" (जल) सृष्टिप्रकरण में ब्रह्म का "आप्" नाम का प्रयोग किया है ॥ ४ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

तेषाम् । खलु । एषाम् । भूतानाम् । त्रीणि । एव । बीजानि । भवन्ति । आण्डजम् । उद्भिज्जम् । इति ॥

* अन्न शब्द का अर्थ लक्षणा से पृथिवी का ग्रहण है । क्योंकि पृथिवी से अन्न उत्पन्न होता है और जल इसका निमित्तकारण है ।

भाष्यम्–तेषामिति । तेषां प्रसिद्धानाम् । एषां प्रत्यक्षवद्दृश्यमानानाम् । भूतानां भवन्ति जायन्त उत्पद्यन्त इति भूतानि प्राणिनः । तेषाम् । मनुष्यपशुपक्ष्यादीनां सर्वेषांप्राणिनाम् त्रीण्येव बीजानि कारणानि भवन्ति । कानितानीत्युच्यंते । आण्डजम् । जीवजम् । उद्भिज्जम् । कोऽप्यण्डाज्जायते कोऽपि मातृगर्भे नव वा दश वा मासान् स्थित्वा तस्मान्निस्सरति । कोऽपि पृथिव्याः सकाशादुत्पद्यते । इत्थमिमानि त्रीणि कारणानि आपामराणां सर्वेषां प्रत्यक्षाणि सन्ति । अत्र श्रीशङ्कराचार्य्य आह । तेषां जीवाविष्टानां खल्वेषां पक्ष्यादिभूतानामेषामिति प्रत्यक्षनिर्देशान्नतु तेजः प्रभृतीनां तेषां त्रीवृत्करणस्य वक्ष्यमाणत्वादसति त्रिवृत्करणे प्रत्यक्षनिर्देशानुपपत्तिः । देवताशब्दप्रयोगाच्च तेजः प्रभृतिषु इमास्तिस्रोदेवता इति । तस्माचेषां खल्वेषां भूतानां पशुपक्षिस्थावरादीनां त्रीण्येव नातिरिक्तानि बीजानि कारणानि भवन्ति । कानि तानीत्युच्यन्ते । आण्डमण्डाज्जातं अण्डजमेवाण्डजं पक्ष्यादि । पक्षिसर्पादिभ्यो हि पक्षिसर्पादयो जायमाना दृश्यन्ते । तेन पक्षी पक्षिणां बीजम् । सर्पः सर्पाणां बीजम् । तथाऽन्यदप्यण्डाज्जातं तज्जातीयानां बीजमित्यर्थः । नन्वण्डाज्जातमण्डजमुच्यतेऽतोऽण्डमेव बीजमिति युक्तं कथमण्डजं बीजमुच्यते । सत्यमेवं स्याद्यदि त्वदिच्छातन्त्रा श्रुतिःस्यात्स्वतन्त्रा श्रुतिर्यत आण्डजाद्येव बीजं नाण्डादीति । दृश्यते चाण्डजाद्यभावे तज्जातीयसन्तत्यभावो नाण्डाद्यभावे अतोऽण्डजादीन्येव बीजान्यण्डजादीनाम् । तथा जीवाज्जातं जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि । उद्भिज्जं उद्भित्स्थावरं ततो जातमुद्भिज्जं धाना वोद्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्जं स्थावरबीजं स्थावराणां बीजमित्यर्थः । स्वेदजसंशोकजयोराण्डजोद्भिज्जयोरेव यथा सम्भवमन्तर्भावः । एवं ह्यवधारणं त्रीण्येव बीजानीत्युपपन्नं भवति ॥ १ ॥

अनुवादः—प्रसिद्ध इन भूतों के तीन ही बीज होते हैं । १–आण्डज २–पिण्डज और ३–उद्भिज्ज ॥ १ ॥

पदार्थः—(तेषाम्) जीवों से आविष्ट उन (एषाम्) इन (खलु) प्रसिद्ध (भूतानाम्) पशु पक्षी आदि पक्षियों के (त्रीणि+एव) तीन ही (बीजानि) बीज (भवन्ति) होते हैं वे तीनों कौन हैं सो आगे कहते हैं (आण्डजम्) आण्डज अण्ड से जिसकी उत्पत्ति हो जैसे पक्षी आदि (जीवजम्) जीवसे शरीर से जो उत्पन्न हो जैसे मनुष्य पशु आदि (उद्भिज्जम्) पृथिवी को फोड़कर निकलने वाले वृक्ष वनस्पति आदि उद्भित् कहलाते हैं । उन से जो उत्पन्न हो उसे उद्भिज्ज कहते हैं इति ॥ १ ॥

भाष्याशयः–भूत–यहां भूत शब्द से तेज, जल, पृथिवी आदि का ग्रहण नहीं है क्योंकि (एषाम्) एतत् शब्द प्रत्यक्ष निर्देश करता है अर्थात् प्रत्यक्ष जो पशु पक्षी

आदि हैं उनका ही ग्रहण है। शङ्का-तेज आदि भी तो प्रत्यक्ष हैं उनका ग्रहण क्यों नहीं। उ०-इन भूतों का त्रिवृत् करण आगे कहा जायगा। जबतक त्रिवृत् करण नहीं हुआ है तबतक प्रत्यक्ष निर्देश इन भूतों में घटित नहीं हो सकता। और इन तेज आदि भूतों में देवता शब्द का भी प्रयोग किया गया है जैसे (इमास्तिस्रो देवता इति) इस कारण भूतपद से पशुपक्षी स्थावर आदि का ही ग्रहण है त्रीणि एव-एव शब्द संस्कृत में अवधारण=निश्चय करता है कि तीन ही (न अधिक न न्यून किन्तु तीन ही बीज कारण अण्डज-अण्ड+ज। अण्डों से जो उत्पन्न हो वह। पक्षी सर्प आदि से भी पक्षी सर्पादि उत्पन्न होते हैं। इस कारण पक्षी पक्षियों का बीज कारण और सर्प सर्पों का कारण जानना इत्यदि ॥ १ ॥

सेयं देवतैक्षत-हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

सा। इयम्। देवता। ऐक्षत। हन्त। अहम्। इमाः। तिस्रः। देवता। अनेन। जीवेन। आत्मना। अनुप्रविश्य। नामरूपे। व्याकरवाणि। इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-सेति। सा सद्वाच्या। ब्रह्मनाम्नी। देवता परमा देवता। ऐक्षत ज्ञानरूपं सङ्कल्पं। कृतवती। किमैक्षतेत्याह। हन्तेदानीम्। अहम्। सर्वं कर्तुं समर्थ ईश्वरोऽहं अनेन जीवेन आत्मना मम सन्निहितेन स्वकर्मणा प्रेरितेन सन्निकटस्थेनोपस्थितेन पुरुषवाच्येन जीवात्मना सार्धम्। इमास्तिस्रोदेवतास्तेजोऽप्पृथिव्याख्यास्त्रिसंख्याका दीप्यमाना वा देवताः। अनुप्रविश्य। अनुप्रविश्येव। नामरूपे नाम च रूपञ्च नामरूपे। व्याकरवाणि विस्तृते। करवाणि। विविधानि नामानि रूपाणि च सर्वतः प्रकाशयेयम्। अयंभावः। तेजस अपां पृथिव्याश्च आसां तिसृणां देवतानां तत् कार्य्याणामसंख्येयानां मध्ये प्रथमं पुरुषाख्यं जीवं संयोज्य। पश्चादहमपि ताः प्रविशन्निव भूत्वा नाम च रूपञ्च करवाणीत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवादः—सो यह सद्वाच्या ब्रह्मनाम्नी देवता ज्ञानरूप संकल्प करने लगी कि इन (तेज, जल और अन्नोपलक्षित पृथिवी) तीनों देवताओं में इस जीव-आत्मा (जीवात्मा) के साथ स्वयं मानो पश्चात् प्रवेशकर उन के नाम और रूप को विस्पष्ट करूं ॥ २ ॥

पदार्थः-(सा) वह (इयम्) यह (देवता) परमदेवता ईश्वर (ऐक्षत) ज्ञानरूप सङ्कल्प को करने लगा कि (हन्त) अब (अहम्) मैं (इमाः) इन (तिस्रः) तेज जल और पृथिवी तीनों (देवताः) देदीप्यमान भूतों में (अनेन) (जीवेन) इस

जीवात्मा के साथ (आत्मना) अपने ताईं स्वयं मैं भी (अनुप्रविश्य) पश्चात् मानो प्रविष्ट हो (नामरूपे) इन तेज जल और पृथिवी के कार्य्यों के नाम और रूप को (व्याकरवाणि (विस्तारपूर्वक प्रकाशित करूं ॥ २ ॥

भाष्याशयः—जीवेन आत्मना=जीवात्मा नाम जीव का है यहां जीव और आत्मा शब्द के पृथक् २ प्रयोग से कोई जीव और आत्मा को पृथक् न समझे जैसे जीवात्मा से केवल जीव का ग्रहण होता है । तद्वत् यहां भी जानना ॥ २ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

तासाम् । त्रिवृतम् । त्रिवृतम् । एकैकाम् । करवाणि । इति । सा । इयम् । देवता । इमाः । तिस्रः । देवताः । अनेन । एव । जीवेन । आत्मना । अनुप्रविश्य । नामरूपे । व्याकरोत् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तासामिति । पूर्वोक्तानां तासाम् । तेजोजलपृथिवीनां तिसृणां देवतानां मध्ये । एकैकां तेज आदि देवतामेकैकाम् । त्रिवृतम् २ त्रिगुणां २ करवाणि । इति सेयं देवता परमैक्षत इत्यन्वयः । अत्र एकैकां तेज आदि देवतां प्रथमं द्विधा द्विधा विभज्य पुनरेकैकं भागं द्विधा २ कृत्वा तदितरभागयोर्निक्षिप्य त्रिवृत्करणं विवक्षितम् । इत्थमीक्षित्वा सेयं परमा सद्वाच्या ब्रह्मनाम्नी देवता । इमास्तिस्रोदेवतास्तेजोप्पृथिवी स्वरूपास्त्रिसंख्याकाः देवताः । अनेन संनिकटेन जीवेन आत्मना जीवात्मनैव समम् अनुप्रविश्य स्वयमपि पश्चात् ताः प्रविश्येव तासां नामरूपे व्याकरोत् । अस्य पदार्थस्येदन्नामेदंरूपमिति प्रकाशितवती ॥ ३ ॥

अनुवादः—उन तीनों के मध्य एक एक को त्रिवृत् २ (त्रिगुण २) करूं (ऐसा ज्ञानरूप सङ्कल्प उस परमा देवता ने किया और इस प्रकार से संकल्प करके) सो वह परमा देवता इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा के साथ पश्चात् स्वयम् भी मानों प्रविष्ट हो उन के नाम और रूप को विस्पष्टरूप से प्रकाशित करने लगा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तासाम्) उन तेज, जल और पृथिवीरूप तीनों देवताओं के मध्य (एकैकाम्) एक एक को (त्रिवृतम्+त्रिवृतम्) तीन २ गुणा (करवाणि) करूं ईदृग् ज्ञानरूप ईक्षण उस परमा देवता ने किया इतना सम्बन्ध पूर्व से ही है । (इति) इस प्रकार ईक्षण

कर (सा+इयम्+देवता) सो यह देवता ब्रह्मनाम्नी परमा देवता (इमाः) इन (तिस्रः) तेज, जल और पृथिवीरूप तीनों (देवताः) देवताओं में (अनेनैव जीवेन+आत्मना) इस जीवात्मा के साथ (अनुप्रविश्य) स्वयं भी मानों पश्चात् प्रवेश कर (नामरूपे) इन तीनों के असंख्येय कार्य्यों के नाम और रूप को (व्याकरोत्) विस्पष्ट रूप से प्रकाशित करने लगा इस का यह नाम है और यह इस का रूप है इस रीति से सकल पदार्थों के नाम और रूप के बनाने वाला केवल एक ईश्वर ही है अन्य नहीं ॥३॥

भाष्याशयः–इसका भाव यह है कि प्रथम एक २ तेज आदि को दो २ भाग करो इस प्रकार छः भाग होवेंगे। पुनः एक २ भाग ज्यों का त्यों बना हुआ पृथक् रहे। परन्तु एक २ भाग को लेकर दो दो करो इस प्रकार प्रत्येक के तीन २ भाग हुए। एक एक लघुभाग को अन्य २ में मिलादेवे। तब सब भूतों के तीन २ अंश निजके रहे और एक२ अंश दूसरे २ का आया। यथा तेज के क और ख दो भाग किये पुनः क के दो भाग क और ग। इस प्रकार तेज के क+ख+ग भाग हुए। परन्तु क और ग भाग ख भागका आधा आधा है। तेजके क भाग को निकालकर पृथिवी के भागों में रक्खो। और पृथिवी के भागको निकालकर तेज के भाग में मिलाओ पुनः तेज के भागों को जल के भाग में मिला और जल के ग भाग को तेज के भागों में मिलाओ। इसी प्रकार जानो। इसी का नाम त्रिवृत् करण है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चार अंशों में दो दो अंश अपने हैं और एक २ अंश दूसरे २ का है। पञ्चीकरण का भी प्रकार ऐसा ही है ॥ ३ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमा-स्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥४॥

तासाम् । त्रिवृतम् । त्रिवृतम् । एकैकाम् । अकरोत् । यथा । नु । खलु । सोम्य । इमाः । तिस्रः । देवताः । त्रिवृत् । त्रिवृत् । एकैका । भवति । तत् । मे । विजानीहि । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्–तासामिति । तासां तेजोप्पृथिवीरूपाणां देवतानां मध्ये । एकैकां देवताम् । त्रिवृतं त्रिवृतं त्रिगुणां २ अकरोदिति पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । हे सोम्य ! सौम्य । यथानुखलु ।

इमास्तिस्रो देवता एकैका त्रिवृत् त्रिवृत् भवति । तद्विज्ञानं मे मम निगदतो विजानीहि । विस्पष्टमवधारयेति ॥ ४ ॥

इति तृतीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अनुवादः—उन तीनों के मध्य एक २ को त्रिवृत् २ त्रिगुणा २ (उस परमदेवता ने) किया । हे सोम्य ! ये तीनों प्रसिद्ध देवताएं एक २ त्रिवृत् २ त्रिगुण २ जैसे होती हैं सो विज्ञान मुझसे विस्पष्टतया सीखो ॥ ४ ॥

पदार्थः-(तासाम्) उन तीनों के मध्य (एकैकाम्) एक २ को (त्रिवृतम्+त्रिवृतम्) तीन २ गुणा (अकरोत) उस परमा देवता ने किया । यह वर्णन पूर्वका ही प्रपञ्चमात्र है (सोम्य) हे सौम्य ! (खलु+नु) सुप्रसिद्ध (इमाः+तिस्रः+देवताः) ये तीन देवता (एकैका) एक २ (त्रिवृत्+त्रिवृत्+भवति) तीन गुणा (यथा) जैसे होता है (तत्) उस त्रिवृत करण विज्ञान को (मे) मुझ से (विजानीहि) विस्पष्टतया अवधारण करो ॥ ४ ॥ इति तृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

यद् । अग्नेः । रोहितम् । रूपम् । तेजसः । तत् । रूपम् । यत् । शुक्लम् । तत् । अपाम् । यत् । कृष्णम् । तत् । अन्नस्य । अपागात् । अग्नेः । अग्नित्वम् । वाचाऽऽरम्भणम् । विकारः । नामधेयम् । त्रीणि । रूपाणि । इति । एव । सत्यम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—यदिति । तत्तद्देवतानां त्रिवृत्करणमुक्तं सम्प्रति तस्यैवोदाहरणमुच्यते । उदाहरणं नामैकदेशप्रसिद्धया शेषप्रसिद्ध्यर्थं यदुदाह्रियते तत् । तदेतदाह । यदग्नेरिति । त्रिवृत्कृतस्य । अग्नेर्भौतिकस्य । वह्निस्तत्त्वस्य । यद्रोहितंलोहितंरूपं लोके दृश्यते । तदत्रिवृत्कृतस्यतेजसो रूपमस्ति । इति हे सोम्य विद्धि । तथा च । अग्नेर्यच्छुक्लं रूपं तद् । अपां तत्त्वस्य रूपं विद्यत इति जानीहि । तथा च । अग्नेर्यत्कृष्णं श्यामं रूपमस्ति । तदन्नस्य अन्नोपलक्षितायाः अत्रिवृत्कृतायाः पृथिव्या रूपं विजानीहि । एतेन किं सिद्धं सोम्य ! सम्मिलितरूपत्रयव्यतिरेकेण नाग्निर्नाम कोऽपिभिन्नः पदार्थोऽस्तीतिसिद्धम् । अतो यत्त्वंभिन्नमग्निं रूपत्रयाद् इयन्तं कालं अमंस्थाः । तदिदानीमग्नेरग्नित्वम् । सर्वथा । अपागात् । अपगतं व्यतीतम् । हे सोम्य ! अतो वाचारम्भणम् । वाग्वर्धनमेव विकारोनामधेयम् । विकारो नाम नाममात्रम् । नहिविकारस्य

परमार्थत्वमितियावत्। अतोऽग्निबुद्धिर्मृषैव। तर्हि किं तत्र तथ्यमित्याह त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। परमार्थवस्तु। नाणुमात्रमपि रूपत्रय-व्यतिरेकेण सत्यमस्तीत्यवधारणार्थ एवकारः॥ १॥

अनुवाद—अग्नि में जो रोहित रूप है वह तेज का रूप है। (अग्नि में) जो शुक्लरूप है वह जल का रूप है। और जो (अग्नि में) कृष्णरूप है वह अन्न अर्थात् पृथिवी का रूप है (हे सौम्य!) अब अग्नि से अग्नित्व जाता रहा क्योंकि केवल वाणीवर्धक विकार नाममात्र है। तीन ही रूप सत्य हैं॥ १॥

पदार्थः—(अग्नेः) त्रिवृत्कृत अग्नि में (यत्) जो (रोहितम्) रक्तरूप है (तत्) वह (तेजसः) तेज का (रूपम्) रूप है (यत्+शुक्लम्) अग्नि में जो शुक्ल रूप है (तत्+अपाम्) वह जल का रूप है। (यत्+कृष्णम्) अग्नि में जो कृष्णरूप है (तद्+अन्नस्य) वह अन्न अर्थात् पृथिवी का रूप है। हे सौम्य! इस प्रकार अब (अग्नेः) अग्नि से (अग्नित्वम्) अग्निपना (अपागात्) व्यतीत हो गया क्योंकि (वाचारम्भणम्) वाणी का वर्धक (विकारः) अग्निरूप विकार (नामधेयम्) नाममात्र है (त्रीणि+रूपाणि+इति+एव) तीन ही ये रोहित, शुक्ल, कृष्णरूप (सत्यम्) सत्य हैं॥ १॥

यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम्॥ २॥

यद्। आदित्यस्य। रोहितम्। रूपम्। तेजसः। तत्। रूपम्। यत्। शुक्लम्। तद्। अपाम्। यत्। कृष्णम्। तद्। अन्नस्य। अपागात्। आदित्यात्। आदित्यत्वम्। वाचाऽऽरम्भणम्। विकारः। नामधेयम्। त्रीणि। रूपाणि। इति। एव। सत्यम्॥ २॥

भाष्यम्—यदिति। त्रिवृत्कृतस्य आदित्यस्य यद्रोहितं रक्तं रूपं तदत्रिवृत्कृतस्य तेजसोरूपं वर्त्तते। यच्छुक्लमादित्यस्य स्वरूपं दृश्यते तदत्रिवृतकृतानामपां रूपमस्ति यत कृष्णं रूपमादित्यस्य दृश्यते तदन्नस्यात्रिवृत्कृतायाः पृथिव्या रूपम्। हे सोम्य! वाचारम्भणम् वाचया वाणया हेतुभूतयाऽरम्भणमालम्भनंमास्पर्शनं विकारोनामधेयम्। न विकारस्य पारमार्थ्यम-

स्तीतिविज्ञेयम् । तर्हि किं सत्यमस्तीत्याह त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यमस्तीत्यवधारय न नाममात्रमपि रूपत्रयाद्भिन्नं किमपि सत्यमस्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुवादः–त्रिवृत्कृत् आदित्य (सूर्य) में जो रक्तरूप है वह अत्रिवृत्कृत तेज का रूप है । जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्णरूप है वह पृथिवी का है । इस कारण सूर्य से सूर्यत्व जाता रहा । क्योंकि वाणीवर्धक विकार नाममात्र है तीन ही रूप सत्य हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–(आदित्यस्य) त्रिवृत् कृत सूर्य में (यत्+रोहितम्+रूपम्) जो रक्तरूप दीखता है (तत्+तेजसः+रूपम्) वह अत्रिवृत्कृत् तेजका रूप है (यत्+शुक्लम्) और जो सूर्य में शुक्ल रूप है (तद्+अपाम्) वह अत्रिवृत्कृत् जल का रूप है (यत्+कृष्णम्) जो सूर्य में कृष्ण रूप है (तत्+अन्नस्य) वह अन्न अर्थात् अत्रिवृत्कृत् पृथिवी का रूप है । इस कारण हे सौम्य अभी तक तुम ने सूर्य को जो एक भिन्न पदार्थ समझा था वह (आदित्यात्) सूर्य से (आदित्यत्वम्) आदित्यपना (अपागात्) जाता रहा क्योंकि आदित्य इन तीन रूपों से भिन्न पदार्थ नहीं । क्योंकि (विकारोनामधेयम्) विकार वस्तु केवल नाममात्र है यथार्थ वस्तु नहीं फिर कैसा है (वाचाऽऽरम्भणम्) वचन का जनक है । अर्थात् विकार वस्तु केवल एक नाम और रूप को ही बढ़ाती है । उसकी यथार्थता नहीं होती ॥ २ ॥

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येवसत्यम् ॥ ३ ॥

यत् । चन्द्रमसः । रोहितम् । रूपम् । तेजसः । तत् । रूपम् । यत् । शुक्लम् । तद् । अपाम् । यत् । कृष्णम् । तद् । अन्नस्य । अपागात् । चन्द्रात् । चन्द्रत्वम् । वाचाऽऽरम्भणम् । विकारः । नामधेयम् । त्रीणि । रूपाणि । इति । एव । सत्यम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्–यदिति । त्रिवृत्कृतस्य चन्द्रमसो यद्रोहितं रक्तं रूपं तत्तेजसो रूपं विद्धि । यच्छुक्लं रूपं चन्द्रमसः तदपां रूपं विद्धि । यच्चन्द्रमसः कृष्णं रूपं तदन्नस्य पृथिव्यां रूपं विद्धि । अतः सोम्य ! चिरकालादयत्त्वं चन्द्रमसमेतद्रूपत्रयव्यतिरेकेणावेदीस्तदिदानीं चन्द्राच्चन्द्रत्वमपागात् व्यपगतम् । नहि रूपत्रयाद्भिन्नश्चन्द्रो नाम पदार्थः यतः वाचारम्भणं वागालम्भनं विकारोनामधेयम् । तर्हि किं तत्र सत्यमित्याह त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

अनुवादः–त्रिवृत्कृत चन्द्र में जो रक्तरूप है वह तेज का रूप है, जो उस में शुक्लरूप है वह जल का, जो उसमें कृष्णरूप है वह अन्न अर्थात् पृथिवी का, इसलिये हे सौम्य! अभी तक इन तीनों रूपों से भिन्न चन्द्रमा को तुमने जो समझ रक्खा था वह चन्द्र से चन्द्रत्व जाता रहा। तीन ही ये रूप सत्य हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः–(चन्द्रमसः) त्रिवृत्कृत चन्द्रमा में (यत्+रोहितम्+रूपम्) जो रक्त रूप दीखता है (तत्+तेजसः+रूपम्) वह अत्रिवृत्कृत तेज का रूप है (यत्+शुक्लम्) जो चन्द्रमा में शुक्ल रूप है (तत्+अपाम्) वह अत्रिवृत्कृत जल का रूप है (यत्+कृष्णम्) जो चन्द्रमा में कृष्णरूप है (तत्+अन्नस्य) वह अन्न अर्थात् अत्रिवृत्कृत पृथिवी का रूप है। इस हेतु हे सौम्य! (चन्द्रात्+चन्द्रत्वम्) चन्द्र से चन्द्रत्व (चन्द्रपना) (अपागात्) जातारहा क्योंकि (वाचाऽऽरम्भणम्) वाणी का बढ़ाने वाला (विकारः+नामधेयम्) विकार नाममात्र है। तब सत्य क्या है सो आगे कहते हैं (त्रीणि+रूपाणि) तीन रूप (इत्येवसत्यम्) ये ही सत्य हैं ॥ ६ ॥

यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वंवाचाऽऽरम्भणं विकारोनामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

यत्। विद्युतः। रोहितम्। रूपम्। तेजसः। तत्। रूपम्। यत्। शुक्लम्। तद्। अपाम्। यत्। कृष्णम्। तद्। अन्नस्य। अपागात्। विद्युतः। विद्युत्त्वम्। वाचाऽऽरम्भणम्। विकारः। नामधेयम्। त्रीणि। रूपाणि। इति। एव। सत्यम् ॥४॥

भाष्यम्–यदिति। त्रिवृत्कृताया विद्युतो यद्रोहितं रक्तं रूपं विद्यते तदत्रिवृत्कृतस्य तेजसो रूपं विद्धीत्यादि समानम् ॥ ४ ॥

अनुवादः—त्रिवृत्कृत विद्युत् में जो रक्त रूप है वह अत्रिवृत्कृत तेजका रूप है। जो उस में शुक्ल रूप है वह जल का रूप। जो उस में कृष्ण रूप है वह अन्न अर्थात् पृथिवी का रूप है इस हेतु हे सोम्य! विद्युत् से विद्युत्त्व अर्थात् बिजलीपना जाता रहा। क्योंकि वाणी का वर्धक विकार नाममात्र है। तीन ही ये रूप सत्य हैं ॥ ४ ॥

पदार्थः–(विद्युतः) विद्युत् में (यत+रोहितम्+रूपम्) जो रक्त रूप दीखता है (तत्+तेजसः+रूपम्) वह तेजका रूप है (यत+शुक्लम्) जो विद्युत् में शुक्ल रूप है (तदपाम्) वह जल का रूप है (यत+कृष्णम्) जो विजुली में कृष्णरूप है (तत्+

अन्नस्य) वह अन्न अर्थात् पृथिवी का रूप है । इस हेतु हे सोम्य ! इतने काल तक तुमने जो विद्युत् की अस्तित्व को यथार्थ समझ रक्खा था वह (विद्युतः+विद्युत्त्वम्) विद्युत् से विद्युत्त्व (अपागात्) जाता रहा क्योंकि (विकारः+नामधेयम्) विकार नाममात्र है । फिर कैसा है ? । (वाचाऽऽरम्भणम्) वाणीमात्र का बढ़ानेवाला है (त्रीणि+रूपाणि+इति+एव+सत्यम्) हे सोम्य ! तीन ही रूप सत्य हैं ॥ ४ ॥

एतद्धस्म वै तद्विद्वाᳬंस आहुः पूर्वे माहाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

एतद् । ह । स्म । वै । तद्विद्वांसः । आहुः । पूर्वे । महाशालाः । महाश्रोत्रियाः । न । नः । अद्य । कश्चन । अश्रुतम् । अमतम् । अविज्ञातम् । उदाहरिष्यति । इति । हि । एभ्यः । विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—एतदिति । ते प्रसिद्धा विद्वांसस्तद्विद्वांसः । यद्वा । तदेतत् प्रसिद्धं पूर्वोक्तमेतत् । त्रिवृत्करणशास्त्रम् । विद्वांसो विजानन्तः सन्तः । विदेः शतुर्वसुः । ७ । १ । ३६ ॥ इति शतुर्वस्वादेशेनसिद्धम् । पूर्वे पुरातनाः । महाशाला महाविद्यालयाः । महत्यः शालाः पाठशाला येषां ते । महाश्रोत्रियाः । छन्दोधीयते । ये ते श्रोत्रियाश्छान्दसाः । महान्तश्चामी श्रोत्रिया इति महाश्रोत्रियाः । श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते । ५ । २ । ८४ ॥ इत्यनेन साधुः । यद्वा । श्रूयते धर्माधर्मावनेन इति श्रोत्रोवेदः श्रोत्रं विन्दति ये ते श्रोत्रियाः । वैदिकाः । इमे महाशाला महाश्रोत्रिया आहुर्ब्रुवन्ति स्म ह वै किल । किमाहुरित्याह । नोऽस्मान् । अद्य । इदानीम् । कश्चन् कश्चित् पुरुषः । अश्रुतम् । अमतमतर्कितम् । अविज्ञातञ्च वस्तु । नोदाहरिष्यति न कथयिष्यसि । वयं सर्वं जानीम इत्यर्थः । यद्वा । नोऽस्माकं कुले कश्चन वंश्यः पुरुषः । अश्रुतममतमविज्ञातञ्ज नोदाहरिष्यति इति न । किन्तु सर्वो जनोस्मत्कुलीन अश्रुतमपि अमतमपि अविज्ञातमपि वस्तु अवश्यं उदाहरिष्यति । व्याख्यास्यति इदमीदृगिति सम्यग्विज्ञास्यति । अस्माकं कुलीनानां सर्वं विज्ञातमेवास्तीत्यर्थः । यतो वयं सद् विजानन्तः सर्वान् वंश्यान् सर्वदैव शिक्षमाणा एव वर्तामहे । ते पुनः कथं सर्वं विज्ञातवन्त इत्याह । हि निश्चितम् । एभ्यो रोहितादिरूपेभ्यस्त्रिवृत्कृतेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यच्छिष्टम् । एवमेवेति विदाञ्चक्रुः । विदितवन्तः । अथवा । एभ्योऽग्न्यादिभ्यो दृष्टांतेभ्यो विज्ञातेभ्यः सर्वमन्यद्विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

अनुवादः—इस विज्ञान को जानते हुए पूर्व=प्राचीन महाशाल और महाश्रोत्रिय लोग कहा करते थे कि हम लोगों में से अभी कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है। जो अश्रुत अमत और अविज्ञात वस्तु को न कह सकेगा। निश्चय उन्होंने (पूर्वले विद्वानों ने) इन से ही (इन दृष्टान्तों से वा रोहितादि रूपों के विज्ञानशास्त्र से) जाना था॥ ५॥

पदार्थः–(तत्+एतत्+ह+वै) उस इसी उत्तम विज्ञान को (विद्वांसः) जानते हुए (पूर्वे) अति प्राचीन (महाशालाः) महाशाला वाले (महाश्रोत्रियाः) महावैदिक (आहुः+स्म) कहा करते थे कि (नः) हम लोगों से (अद्य) सम्प्रति (कश्चन) कोई पुरुष (अश्रुतम्) अश्रुत (अमतम्) अतर्कित (अविज्ञातम्) अविज्ञात वस्तु को (न+उदाहरिष्यति) नहीं कहेगा (हि) क्योंकि वे लोग (एभ्यः) इन दृष्टान्तों से (विदाञ्चक्रुः) सब कुछ जाना करते थे अर्थात् हम लोगों को कोई वस्तु ऐसी नहीं जो न विदित हो इस हेतु हम लोगों से कोई मनुष्य नवीन वस्तु नहीं कह सकेगा॥ ५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः॥ ६॥

यद्। उ। रोहितम्। इव। अभूत्। इति। तेजसः। तद्। रूपम्। तद्। विदाञ्चक्रुः। यद्। उ। शुक्लम्। इव। अभूत्। इति। अपाम्। रूपम्। इति। तद्। विदाञ्चक्रुः। यद्। उ। कृष्णम्। इव। अभूत्। इति। अन्नस्य। रूपम्। इति। तद्। विदाञ्चक्रुः॥ ६॥

भाष्यम्–यद्विति। कथं ते विदाञ्चक्रुरित्येवमर्थं विस्पष्टयति। उशब्दो वितर्के। यत्किमपिवस्तु रोहितमिवाभूत्। रोहितो रक्तोवर्णः। सोऽस्यास्तीति रोहितम्। रक्तगुणविशिष्टमिवाभूत्। तेषां समीपे रोहितं वस्तु यदाऽदृश्यत। तदा ते तद्विदाञ्चक्रुः। किं विदाञ्चक्रुरित्याह। तद्रूपं तेजसोस्ति। तद्रोहित-गुणविशिष्टं वस्तु तेजसएव वर्त्तत इतिविदाञ्चक्रुः। एवमेव यत्किमपि शुक्लमिवाभूत्। शुक्लगुणविशिष्टमिवादृश्यत। तदपांरूपमिति ते विज्ञातवन्तः। यद्वस्तु कृष्णमिव कृष्णवर्णमिवाभूत्। तदन्नस्य पृथिव्या रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः। विदितवन्तो विज्ञातवन्त इत्यर्थः॥ ६॥

अनुवादः–उन पूर्वविद्वानों ने जो (वस्तु) रक्तवर्णसी थी उसे तेज का रूप जाना। जो वस्तु शुक्लवर्णसी थी उसे जल का रूप जाना और जो कृष्णवर्णसी थी उसे पृथिवी का रूप जाना॥ ६॥

पदार्थः-(यद्+उ) जो कुछ (रोहितमिव+अभूत्+इति) रक्तसा प्रतीत हुआ (तत्+तेजसः+रूपम्+इति) वह तेज (अग्नि) का रूप है ऐसा (तत्+विदाञ्चक्रुः) उसको उन ऋषियों ने जाना (यत्+उ) जो कुछ (शुक्लम्+इव+अभूत्) शुक्ल रूप सा प्रतीत हुआ (अपाम्+रूपम्) वह जल का रूप है ऐसा (तत्+विदाञ्चक्रुः) उसको उन्होंने जाना (यत्+उ+कृष्णम्+इव+अभूत्) जो कुछ कृष्णवर्णसा प्रतीत हुआ (तत्+अन्नस्य+रूपम्) वह पृथिवी का रूप है ऐसा (तत्+विदाञ्चक्रुः) उन्होंने उसको जाना ॥ ६ ॥

यद्वविज्ञातमेवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳसमास इति तद्विदाञ्चक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

यद् । उ । अविज्ञातम् । इव । अभूत् । एतासाम् । एव । देवतानाम् । समासः । इति । तत् । विदाञ्चक्रुः । यथा । नु । खलु । सोम्य । इमाः । तिस्रः । देवताः । पुरुषम् । प्राप्य । त्रिवृत् । त्रिवृत् । एकैका । भवति । तत् । मे । विजानीहि । इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—यद्वविज्ञातमिति । तेषां महाशालानां महाश्रोत्रियाणां पूर्वेषां विदुषाम् । यद्उ । यदपि अत्यन्तदुर्लक्षतया अविज्ञातमिव अविदितमिव । अभूत् । यदपि सम्यग् ज्ञातुमशक्यमिव जातम् । तदपि एतासामेवरोहितशुक्लकृष्णानां तिसृणां देवतानां समासः समुदायोस्तीति ते विदाञ्चक्रुः । एतेभ्यस्त्रिभ्यो रूपेभ्योऽतिरिक्तस्य रूपस्याभावाद् । एतेषामेव रूपाणां सम्मिलितानां किञ्चिन्नवीनमिव रूपमभूदितिसम्यग् विज्ञातुमधुना न शक्नुमः । किन्तु नह्येतेभ्योभिन्नं किमपि । एवं तावद्बाह्यं वस्तु अग्न्यादिवद् विज्ञातम् ।

तथेदानीं यथा नु खलु । येनैवप्रकारेण इमास्तिस्रो देवताः । पुरुषम् । जीवात्मानं प्राप्य लब्ध्वा एकैकादेवता त्रिवृत् त्रिवृत् भवति । तद्विज्ञानशास्त्रं त्वं हे सोम्य ! विजानीहि इति ॥ ७ ॥ इति चतुर्थखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अनुवादः—जो कुछ (उन लोगों को) अविज्ञातसा प्रतीत हुआ वह भी इन्हीं रोहित कृष्ण शुक्लवर्ण रूप देवताओं का समुदाय है ऐसा उसको जाना । हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता पुरुष को पाकर एक २ तीन २ होते हैं । उस विज्ञान को हम से जानो ॥ ७ ॥

पदार्थः–(यत्+उ) जो कुछ उन ऋषियों को (अविज्ञातम्+इव+अभूत्) अविज्ञातसा प्रतीत हुआ वह भी (एतासामेव+देवतानाम्) इन्हीं रोहित कृष्ण शुक्लरूप देवताओं का (समासः) समुदाय है (इति+तत्+विदाञ्चक्रुः) ऐसा उस को उन ऋषियों ने जाना इस प्रकार अविज्ञात वस्तु को भी ऋषि लोग अनुमान के द्वारा जान लिया करते थे। अब आगे इन तीनों में से एक २ तीन २ प्रकार कैसे होता है सो कहेंगे। उसके लिये भूमिका बांधते हैं (सोम्य) हे सोम्य ! (यथा नु खलु) जिस प्रकार (इमाः+तिस्रः+देवताः) ये तीनों देव (पुरुषम्+प्राप्य) जीवात्मा से मिल (एकैका) उनमें से एक २ (त्रिवृत्+त्रिवृत्+भवति) तीन २ प्रकार का होता है (तत्) उस विज्ञान को (मे+विजानीहि+इति) मुझ से अध्ययन करो ॥ ७ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

अन्नम्। अशितम्। त्रेधा। विधीयते। तस्य। यः। स्थविष्ठः। धातुः। तत्। पुरीषम्। भवति। यः। मध्यमः। तत्। मांसम्। यः। अणिष्ठः। तत्। मनः ॥१॥

भाष्यम्—अन्नमिति। अन्नम्। अशितम्। भुक्तम्। त्रेधाविधीयते। जठराग्निना पच्यमानं त्रिधा विभजते। एतदेवाग्रे ब्रूते तस्यान्नस्य यः स्थविष्ठः स्थूलतमः धातुर्भागः तत् विधेय प्राधान्यान्नपुंसकत्वम्। तत् स्थूलतमं वस्तु पुरीषं भवति। विष्ठा भूत्वा निःसरति। योऽन्नस्य मध्यमः। यो मध्यमोंशो धातुरस्ति। तद् रसादिक्रमेण परिणम्य मांसं भवति। अन्नस्ययोऽणिष्ठः। अणुतमोंशो धातुरस्ति। तत्। उर्द्ध्वं हृदयं प्राप्य सूक्ष्मासु हिताख्यासु नाडीषु अनुप्रविश्य वागादिकरणसंघातस्य स्थितिमुत्पादयन्मनोभवति। मनोरूपेण विपरिणमन् मनस उपचयं करोति ॥ १ ॥

अनुवादः—भुक्त अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है। उस अन्न का जो अतिशय स्थूल भाग है वह पुरीष (विष्ठा) जो मध्यम अंश है वह मांस और जो अत्यन्त अणु अंश है वह मन होता है ॥ १ ॥

पदार्थः–(अन्नम्) अन्न (अशितम्) भुक्त होने पर (त्रेधा+विधीयते) जठराग्नि से पच्यमान होकर तीन प्रकार से विभक्त होता है। सो आगे कहते हैं (तस्य+

यः+स्थविष्ठः+धातुः) उसका जो बहुत स्थूलभाग है (तत्+पुरीषम्) वह पुरीष (विष्ठा) (भवति) होता है (यः+मध्यमः) जो मध्यम भाग है (तत्+मांसम्) वह रसादि क्रम से परिणत होकर मांस होता है (यः+अणिष्ठः) जो अणुतम (अतिसूक्ष्म) भाग है (तत्+मनः) वह मनहोता है । अर्थात् वह अणुतम भाग ऊपर को उठ हृदय को पा हिता नाम अतिसूक्ष्म नाड़ियों में पैठ वचनादि इन्द्रियसमूहों की स्थिरता को उत्पादन करता हुआ मनरूप इन्द्रिय को सहायता करता है ॥ १ ॥

आपःपीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धाधातुस्तन्मूत्रं भवति । यो मध्यमस्तल्लोहितम् । योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

आपः । पीताः । त्रेधा । विधीयन्ते । तासाम् । यः । स्थविष्ठः । धातुः । तत् । मूत्रम् । भवति । यः । मध्यमः । तत् । लोहितम् । यः । अणिष्ठः । सः । प्राणः ॥ २ ॥

भाष्यम्—आप इति । आपः । जलानि । पीताः पुरुषेण पीताः सत्यः । त्रेधाविधीयन्ते जाठरेणाग्निना विपच्यमाना त्रिधाविभजन्ते । तथाहि । तासामपां यः स्थविष्ठो धातुः । यः स्थूलतमोंशोस्ति । तन्मूत्रं भवति । अपां यो मध्यमोंशः । तद्रसादि क्रमेण विपरिणम्य लोहितम् । रक्तं भवति । योऽणिष्ठः । योणुतमोंऽशः । स प्राणो भवति । प्राणस्य सोऽपां भागोविपरिणम्योपचयमात्रं करोति । न सर्वथा स एव प्राणत्वेन विपरिणम्यते ॥ २ ॥

अनुवादः—पीत जल तीन प्रकार से विभक्त होता है । जल का जो स्थूल भाग है । वह मूत्र होता है और जो मध्यम अंश है वह शोणित होता है और जो अतिशय अणुतम भाग है वह प्राण होता है ॥ २ ॥

पदार्थः-(आपः+पीताः) वैसे ही जल पीयेजाने पर (त्रेधा+विधीयन्ते) तीन हिस्सों में विभक्त होता है (तासाम्+यः+स्थविष्ठः+धातुः) उसका जो स्थूलतम अंश है (तत्+मूत्रम्+भवति) वह मूत्र होता है (यः+मध्यमः) जो उसका मध्यम अंश है (तत्+लोहितम्) वह शोणित रुधिर होता है (यः+अणिष्ठः) जो सूक्ष्मतमभाग है (सः+प्राणः) वह प्राण का सहायक होता है ॥ २ ॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठा धातुस्तदस्थि भवति । यो मध्यमः स मज्जा । योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

तेजः । अशितम् । त्रेधा । विधीयते । तस्य । यः । स्थविष्ठः । धातुः । तद् । अस्थि । भवति । यः । मध्यमः । सः । मज्जा । यः । अणिष्ठः । सा । वाक् ॥ ३ ॥

भाष्यम्-तेज इति । तेजः । तैजसं तिलघृतादिकं वस्तु । अशितम् । भक्षितं सत् त्रेधाविधीयते । जाठरेणाग्निना विपच्यमानंसत्त्रिधाविभजते । तस्य तैजसस्य वस्तुनः । यः स्थविष्ठः स्थूलतमोधातुरंशः । तद् अस्थि भवति । योऽणिष्ठः अणुतमोभागः । सा वाग् भवति वाचस्सहायको भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः-घृत तैलादि । तैजसरूप पदार्थ भुक्त होने पर तीन प्रकार से विभक्त होता है । उसका जो स्थूलतम भाग है वह अस्थि (हड्डी) होती है । जो मध्यम अंश है वह मज्जा होता है और जो अणुतम भाग है वह वाणी होती है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तेजः+अशितम्) वैसा ही तैल घृतादि तेजोमय पदार्थ भुक्त होने पर (त्रेधा+विधीयते) त्रिधा विभक्त होता है (तस्य+यः+स्थविष्ठः+धातुः) जो उसका स्थूलभाग है (तत्+अस्थि+भवति) वह अस्थि होता है (यः+मध्यमः) जो मध्यम भाग है (सः+मज्जा) वह मज्जा होता है (यः+अणिष्ठः) जो अणुतम भाग है (सा+वाग्) वह वचन का सहायक होता है ॥ ३ ॥

अन्नमयꣳ हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

अन्नमयम् । हि । सोम्य । मनः । आपोमयः । प्राणः । तेजोमयी । वाग् । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ॥ ४ ॥

भाष्यम्-अन्नमयमिति । पूर्वोक्तमेवोपसंहरति । हे सोम्य ! यतोन्नमेवपरिणामन्मनो भवति । अतः । अन्नमयं हि मनोविज्ञेयम् । यतोऽपामेवऽणिष्ठोंशःप्राणत्वेन विपरिणमते अतः । आपोमयः प्राणो विज्ञेयः । यतश्च तेजसोऽणिष्ठोंऽशो वाणीत्वेन विपरिणमते । अतस्तेजोमयी वाग् वाणी वेदितव्या । इति पितुरुपदेशं श्रुत्वा अतृप्तःसन् पुनरपि श्वेतकेतुः "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु बोधयतु इति" पितरं निवेदयामास तथास्तु सोम्य ! होवाच पितारुणिः ॥ ४ ॥ इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—हे सोम्य ! अन्नमय मन, आपोमय प्राण, तेजोमयी वाणी है । इति । पुनरपि भगवान् मुझको समझावें । पुत्र का वचन सुन आरुणि तथास्तु कह पुनः बोले ॥ ४ ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे प्रियपुत्र ! (हि) क्योंकि (अन्नमयम्+हि+मनः) अन्नप्रधान ही मन है (आपोमयः+प्राणः) जलमय प्राण है (तेजोमयी+वाग्) और तेजोमयी वाणी है (इति) इसे सुन पुनः स्वेतकेतु बोला कि (भगवान्) आप (भूयः+एव) पुनरपि (मा) मुझको (विज्ञापयतु) विज्ञान सिखलावें (इति) पुत्र के इस वचन को सुन (तथा+सोम्य) एवमस्तु प्रियपुत्र ! (इति+ह+उवाच) यह आरुणि बोले ॥ ४ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः खण्डः ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

दध्नः । सोम्य । मथ्यमानस्य । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । तत् । सर्पिः । भवति ॥ १ ॥

भाष्यम्—दधूनइति । हे सोम्य ! मथ्यमानस्य मन्थनदण्डादिना आलोड्यमानस्य दध्नो दुग्धविकारस्य योऽणिमा । अणोर्भावोऽणिमा । अणुभागोस्ति । स ऊर्ध्वः । समुदीषति । संभूयनवनीतभावेनोर्ध्वमागच्छति । तदणुभागाख्यं सर्पिर्घृतं भवति । घृतपदवाच्यं जायते ॥ १ ॥

अनुवादः—हे सोम्य जैसे मथ्यमान दही का जो अणुतम भाग है वह मिलकर ऊपर उठता है वह घृत होता है ॥ १ ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे सौम्य ! (मथ्यमानस्य) मन्थन दण्डादिक पदार्थ से मथ्यमान मथाजाता हुआ (दधुनः) दही का (यः+अणिमा) जो अणु भाग है (सः) वह (ऊर्ध्वः+समुदीषति) नवनीत भाव को प्राप्त हो ऊपर को मिलकर उठता है (तत्+सर्पिः) वह घृत (भवति) होता है ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

एवम् । एव । खलु । सोम्य । अन्नस्य । अश्यमानस्य । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । तत् । मनः । भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्-एवमेवेति। एवमेव। हे सोम्य! यथा पूर्वोक्तदृष्टान्तोऽधुनैव प्रदर्शितः। एवमेव तथैव। अश्यमानस्य भुज्यमानस्य खाद्यमानस्य। अन्नस्य। ओदनादिखाद्यपदार्थस्य योऽणिमा। अणोर्भावोऽणिमा अणुभागः। स ऊर्ध्वः समुदीषति। अयमर्थः। जाठरेणाग्निना वायुसहितेन खजेनैव मथ्यमानस्यान्नस्याणिष्ठो भागः सम्भूय नवनीतवदूर्ध्वमायाति तन्मनो भवति। तन्मनसः प्रवृद्धिकरं भवति खलु। तन्निश्चितमेवनात्र संदेहः॥ २॥

अनुवादः—हे सौम्य! वैसा ही भुज्यमान (खायाजाता हुआ) अन्न का जो अणुतम भाग है वह ऊपर को उठता है। सो मन होता है॥ २॥

पदार्थः-(एवमेव) जैसे पूर्व दृष्टान्त कहागया है वैसे ही (सोम्य) हे सौम्य! इस को भी जानो (अश्यमानस्य) जीवों से खाद्यमान (अन्नस्य) अन्न का (यः+अणिमा) जो अणिमा अर्थात् अणुभाग है (सः+ऊर्ध्वः+समुदीषति) वह मिल कर ऊपर को उठता है (तत्+मनः+भवति) वह मन होता है। अर्थात् मन की प्रवृद्धि करनेवाला होता है॥ २॥

अपाꣳ सोम्य! पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति॥ ३॥

अपाम्। सोम्य। पीयमानानाम्। यः। अणिमा। सः। ऊर्ध्वः। समुदीषति। सः। प्राणः। भवति॥ ३॥

भाष्यम्-अपामिति। हे सोम्य! एवमेव। पीयमानानां जीवैः पीयमानानामपां योऽणिमा अणुभागोऽस्ति। स ऊर्ध्वः समुदीषति। यथा शारीरेण नियमेन जाठरेण वैश्वानरेण पाच्यमानः सन् नवनीतवदूर्ध्वमागच्छति स प्राणो भवति। स प्राणस्योपचायको भवतीत्यर्थः॥ ३॥

अनुवादः—हे सोम्य! (वैसा ही) पीयमान जल का जो अणुभाग है। वह मिल कर ऊपर को उठता है सो प्राण का वृद्धिकारक होता है॥ ३॥

पदार्थः-(सोम्य) हे सौम्य पुत्र! (पीयमानानाम्) पीयमान (अपाम्) जलों का (यः+अणिमा) जो अणुभाग है (सः+ऊर्ध्वः+समुदीषति) वह मिलकर ऊपर को उठता है (सः) वह (प्राणः) प्राण (भवति) होता है अर्थात् प्राण का पोषक वा वर्धक होता है॥ ३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति॥ ४॥

तेजसः । सोम्य । अश्यमानस्य । यः । अणिमा । सः । ऊर्ध्वः । समुदीषति । सा । वाग् । भवति ॥ ४ ॥

भाष्यम्–हे सोम्य ! एवमेव । अश्यमानस्य भुज्यमानस्य तेजसः । तेजोगुणप्रधानस्य घृततैलादेः । योऽणिमाः स ऊर्ध्वः समुदीषति । सा वाग् वाणी भवति ॥ ४ ॥

इति षष्ठखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अनुवादः—हे सौम्य ! भुज्यमान तैजस (घृततैलादि) पदार्थ का जो अणुभाग है वह मिलकर ऊपर को उठता है वह वाणी होती है ॥ ४ ॥

पदार्थः–(सोम्य) हे सौम्य पुत्र ! (अश्यमानस्य) भुज्यमान=खाया जाता हुआ (तेजसः) तेजो गुण प्रधान घृत तैलादि पदार्थ का (यः+अणिमा) जो अणुभाग है (सः+ऊर्ध्वः+समुदीषति) वह ऊपर को उठता है (सा+वाग्+भवति) वह वाणी होती है वाणी का वर्धक होता है ॥ ४ ॥

अन्नमयꣳ हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

भाष्यम्–यह प्रवाक ६ । ५ । ४ प्रवाक के समान है यहां ही अर्थ देखो ॥

इति षष्ठखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबाऽऽपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

षोडशकलः । सोम्य । पुरुषः । पञ्चदश । अहानि । मा । अशीः । कामम् । अपः । पिब । आपोमयः । प्राणः । न । पिबतः । विच्छेत्स्यते । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–षोडश इति । षट्च दशच षोडश । षोडश संख्याका कला यस्य सः । हे सोम्य । पुरुषः । पुरि शेते पुरुषः । जीवात्मापोडशकलोस्ति । हे पुत्र ! एतत्प्रत्यक्षी कर्तुं यदि त्वमिच्छसि तर्हि पञ्चदशाहानि । पञ्चच दशच पञ्चदश । अहानि दिनानि माशीः । मा अशीः । मा वमक्षः । अशनं भक्षणं माकार्षीः । अहानीत्यत्र कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३ । ५ ॥ इति द्वितीया ॥ पञ्चदशदिनानि अनश्नतो मम प्राणः कथं स्थास्यतीत्याह । हे सोम्य ! अपो जलं कामं यथेच्छं पिब । जलं पिबतस्तवप्राणोजीवनवृत्तिः ।

न नैव विच्छेत्स्यते । नैवविच्छेदं वियोगं प्राप्स्यते । यतः । अयं प्राण आपोमयः । अम्मयः । अब्विकार इति । आपोमय इति प्राचीनप्रयोगः ॥ १ ॥

अनुवादः-हे सौम्य ! पुरुष षोडशकल है । पन्द्रह दिन भोजन मत करो (परन्तु) यथेच्छ जल पीओ (जलको) पीते हुए तेरा प्राण शरीर से वियुक्त नहीं होगा (क्योंकि) जलमय प्राण है । इति ॥ १ ॥

पदार्थः-(सोम्य) प्रियपुत्र ! (पुरुषः) यह शरीरी आत्मा (षोडशकलः) षोडशकला युक्त है । यदि इसकी परीक्षा करनी हो तो (पञ्चदश) पन्द्रह (अहानि) दिन (मा+अशीः) मत भोजन करो । पञ्चदश दिन भोजन न करते हुए मेरा प्राण कैसे रहेगा । अतएव आगे कहते हैं (अपः) जलको (कामम्) इच्छानुसार (पिब) पीओ (पिबतः) जल पीते हुए तेरा (प्राणः) प्राण (न+विच्छेत्स्यते) शरीर से वियुक्त नहीं होगा अर्थात् नहीं मरोगे ॥ १ ॥

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद । किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य ! यजूꣳषि सामानीति । स होवाच-न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

सः । ह । पञ्चदश । अहानि । न । आश । अथ । ह । एनम् । उपससाद । किम् । ब्रवीमि । भोः । इति । ऋचः । सोम्य । यजूंषि । सामानि । इति । सः । ह । उवाच । न । वै । मा । प्रति । भान्ति । भोः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-सहेति । स ह पितुराज्ञां स्वीकृत्य मनसोऽन्नमयत्वं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छन्सन् । पञ्चदशाहानि । पञ्चदशसंख्याकानि दिनानि । न आश अशनं न कृतवान् । अथ षोडशे दिने हैनं पितरम् । उपससाद । अभ्याजगाम । पितुरन्तिकमाजगामेत्यर्थः । आगत्य च होवाच । भोः पितः किमहं ब्रवीमि । किमहमधुना ब्रवाणि । इति पुत्रेण पृष्टः पितोवाच । हे सोम्य ! ऋचः ऋङ्मंत्रान् । यजूंषि यजुर्मन्त्रान् । सामानि साममन्त्रान् । ब्रूहि इति शेषः । हे भगवन् ! अधुना ऋगादीनिकानिचिदपि वस्तूनि मम मनसि न वै प्रतिभान्ति । नैव दृश्यंते । न किमपिविस्फूर्य्यते । सर्वं विस्मृतमिव प्रतिभातीत्यर्थः । इत्युवाच पुत्रः ॥ २ ॥

अनुवादः-उस श्वेतकेतु ने पञ्चदश दिन भोजन नहीं किया तत्पश्चात् (अर्थात् सोलहवें दिन) अपने पिता के निकट आया (और आकर बोला) कि हे भगवन् । मैं क्या कहूं (पिता) हे सोम्य ! ऋग् यजुः और सामवेद को कहो । हे भगवन् ! मुझे

कुछ नहीं प्रतिभात होता है । अर्थात् इस समय मुझे ऋगादि कुछ भी नहीं मन में आता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः+ह) उस प्रसिद्ध श्वेतकेतु ने (पञ्चदश+अहानि) पन्द्रह दिन (न+आश) नहीं खाया (अथ) अनन्तर सोलहवें दिन (ह+एनम्) इस अपने पिता के निकट (उपससाद) आया और आ बोला कि (भोः) हे पूज्यपाद पिताजी (किं ब्रवीमि) मैं क्या कहूं । मैं आपके सामने क्या पढ़ूं । इसे सुन उस के पिता बोले कि (ऋचः) ऋग्वेद को (यजूंषि) यजुर्वेद को (सामानि) सामवेद को (इति) इन सब को पढ़ो अनन्तर (स+ह+उवाच) वे श्वेतकेतु बोले कि (भोः) हे पूज्य पिताजी ! (मा) मुझको (न+वै) कुछ नहीं (प्रतिभान्ति) मन में भासित होता है । हे पिताजी इस समय सबही विस्मृतसा प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

तꣳ होवाच यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥ ३ ॥

तम् । ह । उवाच । यथा । सोम्य । महतः । अभ्याहितस्य । एकः । अङ्गारः । खद्योतमात्रः । परिशिष्टः । स्यात् । तेन । ततः । अपि । न । बहु । दहेद् । एवम् । सोम्य । ते । षोडशानाम् । कलानाम् । एका । कला । अतिशिष्टा । स्यात् । तया । एतर्हि । वेदान् । न । अनुभवसि । अशान ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तमिति । न वै मे प्रतिभान्तीति पुत्रवचनमाकर्ण्य येन कारणेन न तुभ्य-मृगादीनि प्रतिभान्ति तच्छृणु इति तं होवाच पिता । हे सोम्य । सोम्य सुन्दर ! यथा महतः । खे आकाशे द्योतत इति खद्योतः । ज्वलदग्निकीटविशेषः । तस्योड्डयनेन रात्रौ किञ्चित्-प्रकाशो भवति । खद्योतः परिमाणमस्येति खद्योतमात्रः । तत्तुल्य इत्यर्थः । परिशिष्टः । अवशिष्टः । एकोऽङ्गारः स्याद्भवेत् । तेन अङ्गारेण । ततोपि तत्परिमाणादीषदपि न बहु दहेत् । अग्निर्बहु दग्धं न शक्नुयात् । हे सोम्य ! एवमेव । ते तव । अन्नोपचितानां षोडशानां मध्ये एकाकला अतिशिष्टा अवशिष्टा स्याद्भवेत् । अतस्त्वमेतर्हि अधुना तया खद्योतमात्राङ्गारतुल्यया अवशिष्टया कलया । वेदान् । नानुभवसि । न सम्यक् स्मरसि । अतस्त्वं गत्वा । अशान भुंक्ष्व ॥ ३ ॥

अनुवादः–उससे (उसके पिता) बोले कि हे सौम्य ! जैसे महान् और वृद्धिको प्राप्त अग्नि का खद्योतमात्र एक ही अङ्गार अवशिष्ट रहजाय तो उस (अङ्गार) से उससे भी लघुतर (वस्तु) को अग्नि नहीं जला सकता। हे सौम्य ! वैसे ही तेरी षोडश कलाओं के बीच एकही कला अवशिष्ट रह गई है इस हेतु अभी उस (अवशिष्टकला) से वेदों का अनुभव नहीं करते हो जाओ भोजन करो ॥ ३ ॥

पदार्थः–(तम्) उस श्वेतकेतु से (ह+उवाच) श्वेतकेतु के पिता आरुणि बोले (सोम्य) हे सौम्य मधुरमूर्ते ! (यथा) जैसे (महतः) बड़े महाज्वाला सम्पन्न और (अभ्याहितस्य) प्रवर्धित अर्थात् इन्धनों से भरे हुए अग्नि का (खद्योतमात्रः) खद्योत (जुगनू) कीट के समान (एकः+अङ्गारः) एक अङ्गार (परिशिष्टः+स्यात्) अवशिष्ट रहजाय तो (तेन) उस खद्योतमात्र अङ्गार से (ततोऽपि) उससे भी (बहु) बहुत छोटे परिमाण वाली वस्तुको अग्नि (न+दहेत्) नहीं जला सकता (एवम्) वैसा ही (सोम्य) हे सौम्य ! (ते) तेरी (षोडशानाम्+कलानाम्) षोडश कलाओं में से (एकाकला) एककला (अतिशिष्टा) अवशिष्ट बाकी.(स्यात्) रह गई है (एतर्हि) इसलिये इस समय (वेदान्) वेदों को (न) नहीं (अनुभवसि) स्मरण करते हो वेद तुम को भासित नहीं होता इस हेतु (अशान) भोजन करो ॥ ३ ॥

अथ मे विज्ञास्यसीति। स हाशाथ हैनमुपससाद। तꣳ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे। तꣳहोवाच ॥ ४ ॥

अथ।मे।विज्ञास्यसि।इति।सः।ह।आश।अथ।ह।एनम्।उपससाद। तम्।ह।यत्।किञ्च।पप्रच्छ।सर्वम्।ह।प्रतिपेदे।तम्।ह।उवाच॥४॥

भाष्यम्—अथेति। अशानेति पूर्वमुक्तम्। तेनायं मन्त्रः संबध्यते। हे सोम्य ! गत्वा भुंक्ष्व। भोजनानन्तरं यदा ममान्तिकमागमिष्यसि अथ मे मम वचनं विज्ञास्यसि। ज्ञातुं समर्थो भविष्यसि। इति पितृ-वचनमवधार्य स ह श्वेतकेतुः आश भक्षयांचकार। अशनं कृतवान्। अथानन्तरम्। एनम् पितरमुपससाद आजगाम। तमागतं श्वेतकेतुं ह पिता यत्किञ्च यत्किमपि पप्रच्छ पृष्टवान्। तत्सर्वं ह स प्रतिपेदे। अनुबभूव। तं श्वेतकेतुं ह प्रति पिता वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ४ ॥

अनुवाद–तब तुम मेरे कथन को जानोगे। उसने भोजन किया। अनन्तर वह अपने पिता के निकट आया। तब उससे पिता ने जो कुछ पूछा उसने उस सब का उत्तर दिया उससे आरुणि बोले ॥ ४ ॥

पदार्थः–(अथ) पूर्व में कहा गया है कि जाओ भोजन करो जब तुम भोजन करके आओगे (अथ) उसके पीछे (मे) मेरे वचन को (विज्ञास्यसि) समझोगे इस समय तेरी एक कला अवशिष्ट है। इस कारण जो कुछ हम पूछते हैं वह तुम्हें नहीं विदित होता है। जब तुम खाकर आओगे मेरी सब समझ सकोगे (इति) (स ह) श्वेतकेतुने (आशा) भोजन किया (अथ) भोजन के अनन्तर (ह+एनम्) अपने पिता के (उपससाद) निकट आया (तम्+ह) आए हुए उससे (यत्+किञ्च) जो कुछ (पप्रच्छ) पिता ने पूछा (सर्वम्+ह) सबों को (प्रतिपेदे) समझसक्का (तम्) पुनः उससे (उवाच) आरुणि बोले ॥ ४ ॥

यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

यथा । सोम्य । महतः । अभ्याहितस्य । एकम् । अङ्गारम् । खद्योतमात्रम् । परिशिष्टम् । तम् । तृणैः । उपसमाधाय । प्राज्वलयेत् । तेन । ततः । अपि । बहु । दहेत् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—यथेति । सोम्य हे सोम्य ! यथा येनप्रकारेण महतः । अभ्याहितस्य । इन्धनैः समृद्धस्य अग्नेः । खद्योतमात्रम् । खद्योत ज्वलदग्निकीटविशेषः । स प्रमाणमस्येति खद्योतमात्रस्तस्य "प्रमाणे द्वयसज् दघ्नञ् मात्रचः । ५ । २ । ३७ ॥ इति मात्रच् प्रत्ययः" परिशिष्टं अवशिष्टम् । तमेकमङ्गारम् । तृणैः शुष्कैरेधोभिः चूर्णितैर्लघुभिर्वनस्पतिभिः । उपसमाधाय संयोज्य। प्राज्वलयेत् प्रदीपयेत् । वर्धयेत् । तर्हि तेन समिद्धेनाङ्गारेण । ततोपि पूर्वपरिमाणात् । बहु । दहेत् । बहुभस्मसात्कुर्यात् ॥ ५ ॥

अनुवादः–हे सौम्य ! जैसे बड़े और वृद्धि को प्राप्त अग्नि के उस खद्योतमात्र परिशिष्ट एक अंगार को तृणों से संयुक्तकर कोई प्रज्वलित करे तो उससे अग्नि उससे भी अधिक को जला सकता है ॥ ५ ॥

पदार्थः–(सोम्य) हे सौम्य ! (यथा) जैसे (महतः) बहुज्वाला संयुक्त और (अभ्याहितस्य) इन्धनों से प्रवर्धित अग्नि का (तम्) उस (खद्योतमात्रम्+परिशिष्टम्) खद्योत समान अवशिष्ट (एकम्+अङ्गारम्) एक अङ्गारको (तृणैः) शुष्कचूर्णित छोटे २ वनस्पतियों से (उपसमाधाय) संयुक्तकर (प्राज्वलयेत्) प्रदीप्त करे तो (तेन)

उस अङ्गार से (ततः+अपि) उस से भी (बहु) बहु परिमाण वाले को (दहेत्) अग्नि जला सकता ॥ ५ ॥

एवꣳ सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳ हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ! तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

एवम् । सोम्य । ते । षोडशानाम् । कलानाम् । एका । कला । अतिशिष्टा । अभूत् । सा । अन्नेन । उपसमाहिता । प्राज्वालीत् । तया । एतर्हि । वेदान् । अनुभवस्यसि । अन्नमयम् । हि । सोम्य । मनः । अपोमयः । प्राणः । तेजोमयी । वाक् । इति । तत् । ह । अस्य । विजज्ञौ । इ ति । विजज्ञौ इ ति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—एवमिति । यथा तृणैर्वर्धितः सोऽवशिष्टोऽङ्गारो बहुदहति । एवमेव हे सोम्य ! ते तव षोडशानां कलानां मध्ये एकाकला । अतिशिष्टा । अवशिष्टा । अभूत् । सा पश्चादन्नेन उपसमाहिता उपचिता वर्धिता सती । प्राज्वालीत् । अग्निवत् प्रज्वलिता उपचितावभूव । तया अन्नेन वर्धितया एकयाऽवशिष्टया कलया । एतर्हि । अधुना । वेदान् अनुभवसि । उपलभसे । एवं व्यावृत्त्यनुवृत्तिभ्यामन्नमयत्वं मनसः सिद्धमित्युपसंहरति । अन्नमयमित्यादि । हे सोम्य. अनेनप्रघट्टकेनेदं सिद्धम् । यन्मनः । अन्नमयम् । अन्नेनैवमनसोवृद्धिः । अन्नाभावे अकिञ्चित्करं तद्भवति । हे सोम्य ! यथा तवैतन्मनसो अन्नमयत्वं सिद्धं तथैव त्वं विजानीहि यत् । प्राण आपोमयोस्ति । जलमयो वर्त्तते जलेन सम्पन्नः सन्प्राणः कार्यसाधकः । एवमेव वाग्वाणी तेजोमयीवर्त्तते । इति । पित्रासम्बोधितः श्वेतकेतुः । विजज्ञौ । मनसोऽन्नमयत्वम् प्राणस्यान्नमयत्वम् । वाचस्तेजोमयत्वं विज्ञातवान् । द्विरभ्यासः प्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अनुवादः—हे सौम्य वैसे ही तेरी षोडश ! कलाओं में से एककला अवशिष्ट रह गई थी । वह अन्न से प्रवर्धित होकर फिर प्रज्वलित हुई । उससे अब वेदों को तुम समझते हो । हे सौम्य ! क्योंकि अन्नमय मनं, जलमय प्राण और तेजोमयी वाणी है । पिता के इस वचन को उसने जाना, उसने जाना ॥ ६ ॥

पदार्थः-(सोम्य) हे सौम्य ! (एवम्) जैसे अग्नि का अवशिष्ट एक अङ्गार तृणों से युक्त होकर प्रज्वलित होता है। वैसे ही (ते) तेरी (षोडशानाम्) षोडश (कलानाम्) कलाओं में से (एकाकला) एककला (अवशिष्टा+अभूत्) अवशिष्ट अर्थात् बाक़ी रह गई थी (सा) वह अवशिष्ट कला (अन्नेन) अन्न से (उपसमाहिता) वर्धित हो (प्राज्वालीत्) पुनः अग्निवत् प्रज्वलित हो गई और (एतर्हि) इस समय (तया) अन्न से प्रवर्द्धित उस कला से (वेदान्) वेदों को (अनुभवति) समझते हो अब इतने वर्णन से क्या विषय निकला सो कहते हैं (हि) क्योंकि (सोम्य) हे सौम्य (मनः+अन्नमयम्) मन अन्नमय है अर्थात् अन्न से ही इसकी वृद्धि होती है। अतः अन्न के विना मन अकिञ्चित्कर हो जाता है हे सौम्य ! जिस प्रकार प्रत्यक्ष उदाहरण से तुमको अन्नमय मन है। यह सिद्ध हुआ वैसा ही यह भी समझो कि (प्राणः+आपोमयः) प्राण जलमय है और (वाग्+तेजोमयी) वाणी तेजोमयी है (अस्य) इस प्रकार समझाते हुए अपने पिता के (तत्+ह) उस वचन को (विजज्ञौ) श्वेतकेतु ने समझा (विजज्ञौ) समझा (इति) ॥ ६ ॥

इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

उद्दालकोहारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳह्यपीतो भवति ॥ १ ॥

उद्दालकः । ह । आरुणिः । श्वेतकेतुम् । पुत्रम् । उवाच । स्वप्नान्तम् । मे । सौम्य । विजानीहि । इति । यत्र । एतत् । पुरुषः । स्वपिति । नाम । सता । सोम्य । तदा । सम्पन्नः । भवति । स्वम् । अपितः भवति । तस्मात् । एनम् । स्वपिति । इति । आचक्षते । स्वम् । हि । अपीतः । भवति ॥ १ ॥

भाष्यम्-उद्दालक इति । हेति किलार्थः। आरुणिरुद्दालकः पुत्रं श्वेतकेतुमुवाच किल । हे सोम्य सौम्य ! मे मम व्याचक्षाणस्य सकाशात् । स्वप्नान्तम् । सुषुप्तम् । विजानीहि । विस्पष्टमवधारय । स्वप्नमन्तयति विनाशयति स स्वप्नान्तः । कदा स्वप्नान्तो भवतीत्युच्यते । यत्र यस्मिन् काले सुषुप्तस्य पुरुषस्य "स्वपिति" एतन्नामभवति । सुषुप्तावस्थां यदा पुरुषः प्राप्नोति तस्य स्वपिति इति नामधेयं भवति । हे सोम्य तदा तस्मिन् काले पुरुष आत्मा

सता सच्छब्दवाच्येन ब्रह्मणा सह सम्पन्नः सङ्गतो भवति। अयंभावः। ब्रह्माऽऽनन्देन सह सम्पन्नो भवति। यद्वा। सुषुप्त्यवस्थायां सता सद्रूपेण विद्यमानेन स्वात्मनासह सम्पन्नो भवति। संपूर्णं दिनं रात्रौ स्वप्नपर्य्यन्तञ्च एष जीवः प्रतिक्षणं मनसा सार्धमितश्चेतश्च बहून् असंख्येयान् विषयान् प्रति धावति। अतोऽतिचञ्चलत्वाद् आनन्दं नानुभवति। यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति। तत् सुषुप्तं यदा आत्मा प्राप्नोति तदा स्वस्थः सन् आनन्दघनं विन्दति। स्वपितिपदं व्युत्पादयति। यत आत्मा "स्वमपीतोभवति" स्वमात्मानम्+अपीतो गत इति स्वमपीतोभवति। सर्वान् व्यापारान् संहृत्य स्वकीयमात्मानं प्राप्नोति। तस्माद्धेतोर्जनाः। एनमात्मानं "स्वपिति" इत्याचक्षते। पुनस्तदेव विस्पष्टयति। स्वं हि अपीतो गतो भवति। अपि पूर्वकाद् इतेर्धातोः क्त प्रत्यये अपीत इति रूपम्। स्वमपीतः स्वापीतः। यदास्वापीतः पुरुषो भवति। तदा तस्य "स्वपिति" इति नाम स्यात्। पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। ६। ३। १०९॥ इति साधुः॥ १॥

अनुवादः—आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से बोले कि हे सौम्य! मुझ से सुषुप्ति की विद्या सीखो जिस अवस्था में (पुरुष का) "स्वपिति" नाम होता है तब पुरुष ब्रह्मानन्द के साथ सम्मिलित होता है। यद्वा। तब पुरुष निज आत्मा से सम्मिलित होता है (अर्थात्) स्वस्थ (अपने में) होकर परमानन्द को प्राप्त होता है जिस हेतु पुरुष अपने को प्राप्त होता है इस हेतु इसको "स्वपिति" विद्वान् लोग कहते हैं क्योंकि वह अपने में ही प्राप्त होता है॥ १॥

पदार्थः—(ह) यह प्रसिद्ध है कि किसी समय (आरुणिः) अरुण के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक नाम मुनि (श्वेतकेतुम्+पुत्रम्) श्वेतकेतु पुत्र से (उवाच) बोले कि (सोम्य) हे सौम्य! (मे) मुझ से (स्वप्नान्तम्) सुषुप्ति अवस्था की विद्या को (विजानीहि+इति) सीखो (यत्र) जिस काल में पुरुष का (एतत्) यह (स्वपिति) स्वपिति (नाम) नाम होता है (तदा) उस काल में (पुरुषः) पुरुष (सता) ब्रह्मके साथ वा ब्रह्मानन्द के साथ वा अपने साथ (सम्पन्नः) सम्मिलित होता है वह स्वपिति नाम वाला क्यों होता है सो आगे दिखलाते हैं। वह पुरुष (स्वम्) अपने को (अपीतः+भवति) प्राप्त होता है (तस्माद्) उस हेतु (एनम्) इस पुरुष को (स्वपिति+इति+आचक्षते) स्वपिति ऐसा कहते हैं। पुनः उसीको विस्पष्ट करते हैं (हि) क्योंकि (स्वम्+अपीतः+भवति) अपने को प्राप्त होता है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित होता है॥ १॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रा-यतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य ! तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राण-बन्धनꣳ हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

सः । यथा । शकुनिः । सूत्रेण । प्रबद्धः । दिशम् । दिशम् । पतित्वा । अन्यत्र । आयतनम् । अलब्ध्वा । बन्धनम् । एव । उपश्रयते । एवम् । एव । खलु । सोम्य । तत् । मनः । दिशम् । दिशम् । पतित्वा । अन्यत्र । आयतनम् । अलब्ध्वा । प्राणम् । एव । उपश्रयते । प्राणबन्धनम् । हि । सोम्य । मनः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । दृष्टान्तेन स्वप्नान्तं स्वपुत्रं बोधयति । यथा स शकुनिः । सुप्रसिद्धः शकु-निर्विहगः । सूत्रेण प्रबद्धः व्याधस्यहस्तगतेनसूत्रेणजालेन पाशितःसन् । दिशंदिशं प्रतिदिशं यथाशक्ति पतित्वा । बन्धनमोक्षार्थमितस्ततो जाले उड्डीय । अन्यत्र सूत्रादन्यत्रायतनमाश्रयम् अलब्ध्वा अप्राप्य । पुनर्बन्धनमेव । उपश्रयते । प्राप्नोति बध्यतेऽनेन बन्धनसूत्रेणेत्यर्थः । हे सोम्य ! एवमेव यथायंदृष्टान्तोऽस्ति । तथैव तन्मनः तत् मनस्थः पुरुषः । मञ्चाक्रोशवन्मनः-शब्देन मनस्थः पुरुषो गृह्यते । स मनस्थः पुरुषः । जागरणस्वप्नावस्थयोः । दिशंदिशं प्रति-दिशं विषयंविषयं पतित्वा । अन्यत्रायतनमाश्रयम् । अलब्ध्वा अप्राप्य । प्राणं स्वसत्तामेव । यद्वा । ब्रह्मानन्दमेव उपश्रयते । प्राप्नोति । हि यतः । मनो मनस्थ आत्मा । प्राणबन्धनं विद्यते । प्राणः स्वसत्ता ब्रह्मानन्दो वा बन्धनं यस्य तत्प्राणबन्धनम् ॥ २ ॥

अनुवादः—जैसे वह पक्षी सूत्र से प्रतिबद्ध हो प्रतिदिशा को गिरकर अन्यत्र आश्रय न पाकर पुनः बन्धन को ही प्राप्त होता है । हे सौम्य ! वैसे ही वह मनस्थ आत्मा प्रति-दिशा में विषय २ के प्रति धावनकर अन्यत्र आश्रय न पाकर फिर स्वसत्ताको ही प्राप्त होता है क्योंकि प्राणबन्धन आत्मा है ॥ २ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (सः+शकुनिः) वह पक्षी (सूत्रेण) व्याधा के हस्तगत जालसे (प्रबद्धः) बद्ध होकर (दिशम्+दिशम्) चारोंतरफ (पतित्वा) गिरकर (अ-न्यत्र) उस सूत्र से अन्यत्र (आयतनम्) आश्रय को (अलब्ध्वा) न पाकर (बन्ध-नमेव) उस बन्धन को ही (उपश्रयते) प्राप्त होता है (एवम्+एव) जैसे यह दृष्टान्त

है वैसे ही (सोम्य) हे सौम्य ! (खलु) निश्चय (तन्मनः) वह मनस्थ पुरुप=आत्मा (दिशम् २) प्रतिदिशाको (पतित्वा) विषय २ के प्रति जाकर (अन्यत्र+आयतनम्+अलब्ध्वा) अन्यत्र विश्राम न पाकर (प्राणम्+एव) अपनी स्वसत्ता को वा प्राण-शब्द-वाच्य उस सत् ब्रह्म को (उपश्रयते) प्राप्त होता है (सोम्य) हे सौम्य ! (हि) क्योंकि (मनः) मनस्थ आत्मा (प्राणबन्धनम्) प्राणबन्धनवाला है। प्राण स्वसत्ता वा ब्रह्मानन्द ही है बन्धन जिसका॥ २॥

अशनापिपासे मे सोम्य ! विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाऽऽप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनाय पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य ! विजानीहि। नेदममूलं भविष्यतीति॥ ३॥

अशनापिपासे। मे। सोम्य। विजानीहि। इति। यत्र। एतत्। पुरुषः। अशिशिषति। नाम। आपः। एव। तद्। अशितम्। नयन्ते। तद्। यथा। गोनायः। अश्वनायः। पुरुषनायः। इति। एवम्। तद्। अपः। आचक्षते। अशनाय। इति। तत्र। एतत्। शुङ्गम्। उत्पतितम्। सोम्य। विजानीहि। न। इदम्। अमूलम्। भविष्यति। इति॥ ३॥

भाष्यम्—अशनेति। अशनापिपासे। अशितुं भोक्तुमिच्छा अशना। पातुमिच्छापिपासा। अशना च पिपासा च अशनापिपासे। हे सोम्य ! सोममर्हति यः स सोम्यः। मे मम निगदतः सकाशाद्। अशनापिपासे अशनापिपासाविद्ये। विजानीहि विशेषेणावधारय। यत्र यस्मिन्काले अशना समये पुरुषस्यैतन्नाम भवति। किंतन्नामेत्याह। "अशिशिषति" इत्येतन्नामजायते। यतोऽशितुं भोक्तुमिच्छति। अतः "अशिशिपति" इतिनाम। पुरुष एव भोक्तुमिच्छति। अतः "अशिशिपति" इति नामान्वर्थकं गौणञ्च भवति। यद्वा। यत्र येन कारणेन। पुरुपः। एतदन्नम्। अशिशिपतिनाम। नामेतिवाक्यालङ्कारार्थे। यतः पुरुपोऽशितुमिच्छति। अतः पुरुषस्याशनादशामवितुमर्हति। अथाऽऽपएव भुक्तंवस्तु यथास्थानं नयन्तीति दर्शयितुं प्रकरणमारभते। हे सोम्य ! तदशितं पुरुषेण भुक्तंवस्तु। आपोजलमेव नयन्ते। नाडीसहायका पीता आप एव सर्वत्र भुक्तमन्नं द्रवीकृत्य रसादिभावेन विपरिणमयन्ते तत्तस्माद्धेतोः। अपो जलम्। अशनायेत्याचक्षते। अशनायेति अशनाय इति अशनाया इति यावत्।

तत्त्वविद् आचक्षते व्याकुर्वते । अयंभावः । यतोऽशनाया नेत्र्य आपो भवन्ति अतस्ता अशनाया उच्यन्ते । अशनमशः । अशंनयन्ति यास्ता अशनायाः । अशनाया इति वक्तव्येऽशनायेति विसर्गलोपेनसन्धिरार्षः । अत्रदृष्टान्तानाह । तद्यथा तत्त्रेमे दृष्टान्ताः । गोनायो गांनयति यः स गोनायो गोपालकः खलु गोनेतृत्वाद् गोनाय इत्युच्यते । अश्वनायः अश्वंनयति यः सोऽश्वनायः । अश्वपालोऽश्वनेतृत्वादश्वनाय इत्युच्यते । पुरुषनायः पुरुषान् मनुष्यान् वीरान्वा नयति यः स पुरुषनायो राजासेनापतिर्वा पुरुषनेतृत्वात् पुरुषनाय इत्युच्यते। इत्येवम् । अमुना प्रकारेण पूर्वोक्तदृष्टान्तवद् । आपोऽशनानेतृत्वादशनाया इत्युच्यन्ते । इत्थं जलेन सार्धं भुक्तं वस्तु जीर्य्यते । जीर्णेऽन्नेमति प्रकृत्या जीवो भोक्तुमिच्छति । अतोऽपि अशिशिषतीति पुरुषस्य गौणं नामधेयम् । तत्रैवंसति । अद्भीरसादिभावेन नीतेनाशितेनान्नेन निष्पादितमेतच्छरीरम् । वटकणिकायामिव शुङ्गः अङ्कुरोत्पतित उद्गतः । तमिमं शुङ्गं कार्य्यं शरीराख्यम् । वटादिशुङ्गवदुत्पतितं विजानीहि किं तत्र विज्ञेयमित्युच्यते । शृणु । शुङ्गवत्कार्य्यत्वाद् इदं शरीरं नामूलम् मूलरहितं न भविष्यति । अवश्यमेवतस्य शरीरस्यापि मूलं भविष्यति तन्मूलं त्वं जानीहि सोम्य ! ॥ ३ ॥

अनुवादः–हे सोम्य ! अशनाविद्या और पिपासाविद्या को मुझ से अच्छे प्रकार सीखो । जहां पुरुष का नाम "अशिशिषति" होता है (क्योंकि पुरुष खाने की इच्छा करता है इस हेतु उसका यह "अशिशिषति" नाम होता है) यद्वा जिस हेतु पुरुष खाने की इच्छा करता है इस हेतु पुरुष की अशना दशा होती है । उसे तुम मुझ से सीखो । पुरुष से अशित (भुक्त) अन्न को जलही ले जाते हैं इस हेतु जैसे (गोपाल को) गोनाय (अश्वपालको) अश्वनाय और (राजा वा सेनानायक को) पुरुषनाय कहते हैं वैसे ही (अपः) जलको विज्ञानी लोग अशनाय कहते हैं। हे सोम्य ! इस उत्पन्न हुए शुङ्ग (देहरूप कार्य्य) को विस्पष्ट रूप से जानो । यह (देहरूप कार्य्य) निर्मूल नहीं होगा ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सोम्य) हे सौम्य ! चन्द्रवत् प्रियपुत्र (अशना+पिपासे) अशना=भूख। पिपासा=प्यास तत्सम्बन्धी विद्या को (मे) मुझ से (विजानीहि) विस्पष्टरूप से जानो (इति) (यत्र) जिस काल में जिस कारण (पुरुषः) पुरुष (अशिशिषति) खाने की इच्छा करता है भूखा होता है इस हेतु उस पुरुष का (नाम) नाम (अशिशिषति) अशिशिषति होता है । अब इस प्रकार इतने अंश की व्याख्या करनी चाहिये कि (यत्र) जिस हेतु (पुरुषः) पुरुष (अशिशिषति+नाम) खाने को इच्छता है

इस हेतु पुरुष की अशना दशा होती है (तदशितम्) पुरुष से भुक्त अन्नको (आपः+एव) पीये हुए जल ही (नयन्ते) द्रव बनाकर रसादिभाव से शरीर के अवयवों में पहुंचाया करते हैं तब वह भुक्त अन्न जीर्ण हो जाता है। अन्न जीर्ण होने से वह पुरुष भूखा होता है। और जिस कारण जल भुक्त अन्न को शरीरावयवों में पहुंचाया करता है (तद्) उस कारण (अपः) जल को (अशनाय+इति) अशनाय ऐसा (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं। यहां दृष्टान्त देते हैं (तद्यथा) जैसे गोपालक को (गोनायः) गोनाय कहते हैं। अश्वपाल को (अश्वनायः) अश्वनाय कहते हैं। राजा वा सेनापति को (पुरुषनायः) पुरुषनाय कहते हैं (इत्येवम्) इसी प्रकार जल को अशनाय कहते हैं ऐसा अन्वय करना। आगे इस अशित अन्न से उत्पन्न शरीर के विषय में कहते हैं (सोम्य) हे सौम्य! (उत्पतितम्) उत्पत्ति को प्राप्त (एतत्) इस (शुङ्गम्) कार्य्य अर्थात् देहरूप कार्य्य को (विजानीहि) विस्पष्टरूप से जानो इति (इदम्) यह देहरूप कार्य्य (अमूलम्) मूलरहित (न+भविष्यति) नहीं होगा इस शरीर का जो मूलकारण है उसे जानो ॥ ३ ॥

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

तस्य। क्व। मूलम्। स्यात्। अन्यत्र। अन्नात्। एवम्। एव। खलु। सोम्य। अन्नेन। शुङ्गेन। अपः। मूलम्। अन्विच्छ। अद्भिः। सोम्य। शुङ्गेन। तेजः। मूलम्। अन्विच्छ। तेजसा। सोम्य। शुङ्गेन। सत्। मूलम्। अन्विच्छ। सन्मूलाः। सोम्य। इमाः। सर्वाः। प्रजाः। सदायतनाः। सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तस्येति। नेदममूलं भविष्यतीति पूर्वमुक्तम्। मूलमिदानीमाह। हे श्वेतकेतो! अन्नात् अन्नोपलक्षितायाः पृथिव्याः अन्यत्र विना तस्य क्व मूलं स्यात्। अन्नमेव तस्य शरीरस्यमूलमित्यर्थः। कथम्। अशितंह्यन्नं जलेन द्रवीकृतं जाठरेणाग्निना पच्यमानं रसादिभावेन परिणमते। रसाच्छोणितात् मांसं मांसान्मेदो मेदसोऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रम्। इत्थं शरीरमिदं अन्नकार्यमिति सिद्ध्यति। एवमेव खलु सोम्य! अन्नेन शुङ्गेण,

अन्नरूपेण कार्य्येण अपोमूलं जलरूपं कारणं जानीहि । अन्नस्य जलकारणत्वात् । हे सोम्य ! अद्भिः शुङ्गेन जलरूपेण कार्य्येण तेजोमूलमन्विच्छ । अपां तेजः कारणत्वात् । तेजसा शुङ्गेन कार्येण सोम्य सन्मूलं मूलांप्रकृतिं जानीहि । सर्वेषां प्रकृति कारणत्वात् । अग्रे सद्वर्णयति । सद्रूपं कारणं कीदृशं वर्तत इत्यत आह । हे सोम्य ! इमाः सर्वा प्रजाः सन्मूलाः सन्ति सतीप्रकृतिः मूलं मूलकारणं यासां ताः सन्मूलाः । पुनस्सदायतनाः । सतीमूलप्रकृति आयतनमाश्रयो यासां ताः । पुनः सत्प्रतिष्ठाः । सत्येव मूलप्रकृतिरेव प्रतिष्ठा स्थितिर्यासां ताः ॥४॥

अनुवादः—अन्न से अन्यत्र उसका मूल कहां होसकता है हे सौम्य ! वैसा ही अन्नरूप पृथिवी कार्य से जलरूप मूलकारण को जानो । हे सौम्य ! कार्यरूप जल से तेजरूप मूलकारण को जानो । हे सौम्य ! तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो प्रकृति उस को जानो यही सद्रूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति वा स्थान है ॥ ४ ॥

पदार्थः–(पूर्व में कहागया है कि इस कार्य शरीर का कोई कारण अवश्य होगा इस हेतु अब कारण दिखलाते हैं (अन्नात्) अन्न अर्थात् पृथिवी से (अन्यत्र) दूसरा (तस्य) उस कार्यशरीर का (मूलम्+क+स्यात्) मूल कहां होगा अर्थात् इस कार्यशरीर का मूलकारण पृथिवी है (एवमेव) वैसे ही (सोम्य) हे सौम्य ! (खलु) निश्चय (अन्नेन) अन्न अर्थात् पृथिवी रूप (शुङ्गेन) कार्य से (अपोमूलम्) जलरूप कारण को (अन्विच्छ) जानो (सोम्य+अद्भिः+शुङ्गेन) हे सोम्य ! जलरूप कार्य्य से (तेजः+मूलम्+अन्विच्छ) तेजरूप मूलकारण को जानो (सोम्य+तेजसः+शुङ्गेन) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतु ! तेजरूप कार्य से (सत्+मूलम्+अन्विच्छ) सत्रूप कारण को जानो सत् नाम यहां प्रकृति का है (सोम्य+इमाः+सर्वाः+प्रजाः) हे सौम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएं (सन्मूलाः) प्रकृति मूलक (सदायतनाः) प्रकृति आश्रयक और (सत्प्रतिष्ठः) प्रकृति में स्थित होनेवाली हैं । अर्थात् इन प्रजाओं का सत् ही मूल है । सत् ही आयतन=घर है और सत् ही प्रतिष्ठा स्थिति स्थान है ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम । तेज एव तत्पीतं नयते । तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति । तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य ! विजानीहि । नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

अथ । यत्र । एतत् । पुरुषः । पिपासति । नाम । तेजः । एव । तत् । पीतम् । नयते । तत् । यथा । गोनायः । अश्वनायः । पुरुषनायः । इति । एवम् । तत् । तेजः । आचष्टे । उदन्य । इति । तत्र । एतद् । एव । शुङ्गम् । उत्पतितम् । सोम्य । विजानीहि । न । इदम् । अमूलम् । भविष्यति । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथेदानीमप्शुङ्गद्वारेण सतोमूलस्यानुगम कार्य इत्यतआह । यत्र यस्मिन् काले पुरुषः पिपासति इत्येतत् नाम बिभर्ति यतः पुरुषः पातुमिच्छति अतस्तस्य पिपासतीतिनामधेयम् । अशिशिषतीतिवद्गौणं तन्नाम वर्तते । तत्पीतं पानीयं तेज एव नयते प्रापयति । तद्यथा लोके गोनेतृत्वात् गोनाय अश्वनेतृत्वादश्वनायः पुरुषनेतृत्वात् पुरुषनायश्च कथ्यते । इत्येवमनेनप्रकारेण तत्तेजः उदन्येति उदन्यमिति उदनि वेति आचष्टे लोकः कथयति । उदकं नयतीति उदनि उदकनायकमित्यर्थः । यथा यो गां नयति स गोनायो निगद्यते तत्रैव यतस्तेजोजलं इतस्ततो नयति अतः उदनि अर्थात् उदकनायमिति निगद्यते । उदन्येति आर्ष प्रयोगः । तत्र तस्मिन् कारणे सति एतदेव एतच्छरीररूपम् । उत्पतितं शुङ्गं कार्यं सोम्य विजानीहि । नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ५ ॥

अनुवाद:–अनन्तर जब यह पुरुष=जीवात्मा पीने की इच्छा करता है तब उसका "पिपासति" ऐसा नाम होता है उस पीत वस्तु को तैजस शक्ति ही शरीर में यथास्थान को ले जाती है। सो जैसे (गोपालक को) गोनाय (अश्वपालक को) अश्वनाय (राजा वा सेनापति को) पुरुषनाय कहते हैं वैसे ही उस तेज को उदन्य अर्थात् उदकनाय कहते हैं इस प्रकार उत्पन्न इस शरीररूप कार्य को जानो निष्कारण यह नहीं होगा ॥ ५ ॥

पदार्थः–(अथ) अब (यत्र) जिस समय (पुरुषः) जीवात्मा (एतत्) इस जलादि वस्तु को (पिपासति) पीना चाहता है उस समय (पिपासति+नाम) पुरुष का पिपासति ऐसा नाम होता है (तत्+पीतम्) उस पीये हुए वस्तु को (तेजः+एव) तैजस शक्ति ही (नयते) शरीर के यथास्थान में पहुंचाती है इस हेतु (तत्तेजः) उस तेज को (उदन्य+इति+आचष्टे) उदन्य अर्थात् उदकनायक कहते हैं क्योंकि जल को इधर उधर यह लेजाता है । इस में दृष्टान्त कहते हैं (तद्यथा) सो जैसे (गोनायः) गायों के नायक अर्थात् इधर उधर लेजाने वाले को गोनाय (अश्वनायः) घोड़े के नेता को अश्वनाय (पुरुषनायः) पुरुषों के नेता को पुरुषनाय कहते हैं (इत्येवम्) वैसे ही तेज़ को उदकनाय कहते हैं (तत्र) इस प्रकार (एतत्+एव+उत्पतितम्+शुङ्गम्) इस उत्पन्न शरीररूप कार्य को (सोम्य+विजानीहि) हे प्रियपुत्र ! जानो (न+इदम्+अमूलम्+भविष्यति+इति) यह निर्मूल नहीं होगा ॥ ५ ॥

तस्य क्व मूलꣳस्यादन्यत्राद्भयोऽद्भिः सोम्य ! शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य ! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते । मनः प्राणे । प्राणस्तेजसि । तेजः परस्यां देवतायाम् । स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥

तस्य । क्व । मूलम् । स्यात् । अन्यत्र । अद्भयः । अद्भिः । सोम्य । शुङ्गेन । तेजः । मूलम् । अन्विच्छ । तेजसा । सोम्य । शुङ्गेन । सत् । मूलम् । अन्विच्छ । सन्मूलाः । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सदायतनाः । सत्प्रतिष्ठाः । यथा । तु । खलु । सोम्य । इमाः । तिस्रः । देवताः । पुरुषम् । प्राप्य । त्रिवृत् । त्रिवृत् । एकैका । भवति । तद् । उक्तम् । पुरस्तात् । एव । भवति । अस्य । सोम्य । पुरुषस्य । प्रयतः । वाक् । मनसि । संपद्यते । मनः । प्राणे । प्राणः । तेजसि । तेजः । परस्याम् । देवतायाम् । सः । यः । एषः अणिमा ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तस्येति । शरीराख्यस्य शुङ्गस्य मूलमाह । सोम्य ! अद्भ्योऽन्यत्र तस्य शरीरस्य क्व मूलं स्यात् । यथा पृथिव्या इदं शरीरं शुङ्गं वर्तते तथैव अपामपि इदं शरीरंशुङ्गमस्ति हे सोम्य ! एवमेव अद्भिः शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छेत्यादि पूर्ववत् । हे सोम्य ! यथा तु खलु येन प्रकारेण इमा तेजोऽबन्नाख्यास्तिस्रोदेवताः पुरुषं प्राप्य एकैका त्रिवृत् त्रिवृत् त्रिगुणा २ भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य अस्य जीवस्य अन्नमसितं त्रेधाभवतीत्यादि । अग्रे उत्क्रान्तिं दर्शयति । अस्य पुरुषस्य हे सोम्य ! प्रयतः म्रियमाणस्य वाक् वाणी मनसि मन इन्द्रिये संपद्यते उपसंह्रियते । अथ तदाहुर्ज्ञातयो न वदतीति । मनः-पूर्वको हि वाग् व्यापारः 'यद्धि मनसाध्यायति तद्वाचावदतीति प्रमाणात् । वाच्युपसंहृतायां मनसि व्यापारेण केवलेन वर्तते । मनोऽपि यदोपसंह्रियते तदा मनः मनइन्द्रियं प्राणे मुख्ये प्राणे संपन्नं भवति । तदा पार्श्वस्था ज्ञातयो न विजानातीत्याहुः । मनसि उपहृते सति प्राणः तेजसि संपद्यते तदाहुर्ज्ञातो न चलतीति । ततस्तेजः प्राणे उपहृते सति प्राणः तेजसि संपद्यते ।

मृतो नेति वा विचिकित्सन्तो देहमालभमाना उष्णञ्चोपलभमाना देह उष्णो जीवतीति यदा तदाप्यौष्ण्यलिङ्गं तेज उपसंह्रियते तदा तत्तेजः परस्यां देवतायां उपशाम्यति तदेवं क्रमेणोपसंह्रियते स्वमूलं प्राप्ते च मनसि तत्स्थो जीवोऽपि सुषुप्तकालवन्निमित्तोपसंहारादुपसंह्रियमाणःसन् सत्याभिसन्धिपूर्वकं चेदुपसंह्रियते सदेव संपद्यते न पुनर्देहान्तराय सुषुप्तादिवोत्तिष्ठति । यथा लोके सभये देशे वर्त्तमाना कथञ्चिदेवाभयं देशं प्राप्तस्तद्वत् । इतरस्त्वनात्मज्ञस्तस्मादेवमूलात् सुषुप्ता दिवोत्थाय मृत्वा पुनर्देहजालमाविशति । यस्मान्मूलादुत्थाय देहमाविशति जीवः । स य एषोऽणिमेति कचित्पुस्तके सप्तमप्रवाकेणसार्धं पठितम् । अणोर्भावोऽणिमा । अत्र अणीयानित्यस्मिन्नर्थे प्रयुक्तोस्ति । यत्र तेजः सम्पद्यते स कोऽस्तीति प्रश्ने एषोऽणिमेत्युत्तरम् । स अणीयान्परमेश्वरोऽस्ति ॥ ६ ॥

अनुवादः—जल के अतिरिक्त उसका मूलकारण कहां होगा ? हेसोम्य ! जलरूप कार्य से तेजरूप कारण जानो । हे सोम्य ! तेजोरूप कार्य से सद्रूप अर्थात् प्रकृतिरूप कारण को जानो । हे सोम्य ! ये सम्पूर्ण प्रजाएं सन्मूल सदायतन सत्प्रतिष्ठावाली हैं । सौम्य ! और जैसे ये तीनों देवता पुरुष को प्राप्त करके एक २ त्रिवृत् २ होते हैं । इस विषय को हमने पहिले ही कहा । हे सोम्य ! मरने के समय पुरुष की वाणी मन में लीन होती है और मन प्राण में और प्राण तेज में और तेज परमदेवता में लीन होता है । सो जो यह अणुतर है ॥ ६ ॥

पदार्थः—पूर्व में कहा है कि इस कार्यरूप शरीर का कोई कारण अवश्य होगा सो कारण आगे कहते हैं (अद्भ्यः+अन्यत्र) जल को छोड़ कर (तस्य+क्व+मूलम्+स्यात्) उसका मूलकारण कहां होगा अर्थात् इस शरीर का जल भी मूलकारण है (सोम्य+अद्भिः+शुङ्गेन) हे सोम्य ! जलरूप कार्य से (तेजः+मूलम्+अन्विच्छ) तेजरूप मूलकारण को जानो (सोम्य+तेजसा+शुङ्गेन) हे सोम्य ! तेजरूप कार्य से (सत्+मूलम्+अन्विच्छ) सत् अर्थात् प्रकृतिरूप कारण को जानो अब आगे प्रकृति का वर्णन करते हैं (सोम्य+इमाः+सर्वाः+प्रजाः) हे सोम्य ये सम्पूर्ण प्रजाएं (सन्मूलाः) प्रकृति मूलवाली हैं (सदायतनाः) सत्—प्रकृति आयतन आश्रय वाली हैं (सत्+प्रतिष्ठाः) प्रकृति में स्थित करनेवाली हैं । आगे इस जीव की गति का वर्णन करते हैं (यथा+तु+खलु+सोम्य) हे सोम्य ! जैसे ही (इमाः+तिस्रः+देवताः) ये तीनों तेज, जल और पृथिवी देवता (पुरुषम्+प्राप्य) जीवात्मा को प्राप्त करके (एकैका) एक २ (त्रिवृत् २+भवति)

त्रिगुणा २ होते हैं (तदुक्तम्+पुरस्तात्+एव) इस विषय को पूर्व ही कह चुके हैं (भवति+अस्य) इस पुरुष का जैसे खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का होता है इत्यादि (सोम्य+प्रयतः+पुरुषस्य) म्रियमाण पुरुष जीव के (मनसि+वाक्+संपद्यते) मन में वाणी लीन हो जाती है (प्राणे+मनः) और प्राण में मन (तेजसि+प्राणः) तेज में प्राण (परस्याम्+देवतायाम्+तेजः) और परमदेवता में तेज लीन होता है जिस में तेज लीन होता है वह देवता कौन है सो आगे कहते हैं (सः+यः) सो जो (एषः+अणिमा) यह अणुभाव है अर्थात् जो अणुतर है उसी में तेज लीन होता है ॥ ६ ॥

ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ! इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

ऐतदात्म्यम् । इदम् । सर्वम् । तत् । सत्यम् । सः । आत्मा । तत्त्वम् । असि । श्वेतकेतो । इति । भूयः । एव । मा । भगवान् । विज्ञापयतु । इति । तथा । सोम्य । इति । ह । उवाच ॥ ७ ॥

भाष्यम्—ऐतदात्म्यमिति । ऐतदात्म्यम् । एषा सदाख्या परा देवता आत्माजीवनं यस्य तदेतदात्म । तस्य भाव ऐतदात्म्यम् । यद्वा । एतदात्मैव ऐतदात्म्यम् । स्वार्थे प्रत्ययः । इदं सर्वं दृश्यादृश्यं जगद् । ऐतदात्म्यं वर्त्तते । एतया परया देवतया दैवजीवनेन संयुक्तमस्ति । तदिति पूर्वपरामर्शकं तत्पूर्वोक्तं जगद्बीजं सदेकरसं सद्वर्तमानं सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म सत्यमस्ति अविनश्वरं वर्त्तते सत्यमिति ब्रह्मनाम । यद्वा । सत्यं सतीच संश्च इति सन्तौ प्रकृत्यात्मानौ । पुमान् स्त्रिया । १ । २ । ६७ ॥ इति पुमान् शिष्यते । सतोर्भवः स्वव्याप्त्यास्थितम् । इति सत्यम् । सदित्यस्य विशेषणम् । सद्भ्यां प्रकृत्यात्मभ्यां हितम् । हितकरम् । इति सत्यम् । हे श्वेतकेतो ! यत्सत्यं वर्तते । स आत्मा आप्नोति व्याप्नोति सर्वम् । स आत्मा । यः सदाख्यः परमेश्वरः । तत् तत्त्वमसि । तत्त्वमस्ति । स एव सर्वव्यापी परमेश्वरः । एकं सेव्यमुपासनीयं तत्त्वं परमार्थं वस्तु विद्यते । तदेव तत्त्वं हे श्वेतकेतो ! विजानीहि । अतः परं नास्ति किमपि तत्त्वमित्येवं बोधितः श्वेतकेतुराह भगवान् पूजनीयो भवान् मा मां प्रति भूय एव पुनरेव विज्ञापयतु बोधयतु । न मम संदेहो निवृत्तोस्ति । इति पुत्रेण विज्ञापित आरुणिः तथास्तु हे सोम्येति होवाच । अत्र केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते । असीत्यस्य मध्यमपुरुषैकवचनत्वात् त्वमिति कर्तृपदं भवितुमर्हति । नहि तत्त्वमिति प्रथमपुरुषैकवचनम् । अत्र ब्रूमः । असीति

असितं स्थाने आर्षः प्रयोगः । शतशः खलु ईदृशा आर्षप्रयोगा दृश्यन्ते । अस्मिन्नेव प्रपाठके तद्यथा ॥ आस–छा० ६ । १ । १ । अप्राद्यः–छा० ६ । १ । १ । भगवः–छा० ६ । १ । १ । अधि+आपः जायन्ते–छा० ६ । २ । ३ । आण्डजम्–छा० ६ । ३ । १ । अशनायेति । ६ । ८ । ३ । उदन्येति । ६ । ८ । ५ ॥ पुरुष व्यत्ययोऽपि तद्यथा । तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति । अत्र प्रथमस्थाने उत्तमः प्रयुक्तोऽस्ति । इत्यादीनि विविधानि आर्षवचनानि दृश्यन्ते । तर्हि कथं न असि स्थाने असीति आर्षः प्रयोगो-मन्तव्यः । अतोमया प्रकरणादर्थवशाच्च विपरिणमितोऽयं प्रयोगः । तत्त्वमित्यत्र पदद्वयं कृत्वा । तत्+त्वम्+असि इति व्याचक्षते केचित् । तन्न । कथम् । तदित्यस्य केन सम्बन्धः नहि ब्रह्मवाचकेन सता सम्बन्धो भवितुमर्हति । कथम् । सतः स्थाने आत्मशब्दः अव्यवहितः पूर्वः प्रयुक्तोऽस्ति । तस्य पुंस्त्वात् । तदिति पुंल्लिङ्गेन भवितव्यम् श्वेतकेतोरपि पुंस्त्वात् विधेयप्राधान्याच्च स त्वमसीति भवितव्यम् । अतः तत्त्वमिति पदद्वयं न व्याख्येयम् । ननु आत्मा तत्त्वमिति कथं वाच्यम् । विधेये न लिङ्गादि व्यत्ययः । वेदाः प्रमाणमित्यादि शतशः प्रयोगा भवन्ति । यद्वा । इत्थं व्याख्येयम् । हे श्वेतकेतो । त्वम् तत् । तत्स्थोऽसि तत्सत्स्थोऽसीत्यर्थः । यथा मञ्चाः क्रोशन्ति इत्यत्रमञ्चशब्देन मञ्चस्थाः पुरुषा गृह्यन्ते यथा च प्राणबंधनं सोम्य मन इत्यत्र (६ । ८ । २) मनः शब्देन मनस्थः पुरुषो गृह्यते ॥ ७ ॥ इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अनुवादः–इस सम्पूर्ण जगत् का वही परमात्मा जीवन है वही ब्रह्म सत्य है वही परमात्मा तत्त्व (परमार्थवस्तु) है हे श्वेतकेतो ! उसी एकतत्त्व को जानो (इतना सुन श्वेतकेतु बोला कि) कृपा कर मुझ को आप पुनः समझावें । आरुणि बोले हे सोम्य ! तथास्तु इतना कह उपदेश देनेलगे ॥ ७ ॥

पदार्थः–(श्वेतकेतो) हे प्रियपुत्र श्वेतकेतु ! (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत् (ऐतदात्म्यम्) ईश्वर जीवन वाला है अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् का जीवन ईश्वर है (तत्+सत्यत्) वही सत्य है (सः+आत्मा) वही आत्मा है (तत्त्वम्+असि) वही परमार्थ वस्तु है (इति) इतना वचन सुन श्वेतकेतु पुनः पिता से बोला कि (भूयः+एव) पुनरपि (मा) मुझ को (भगवान्) आप कृपा करके (विज्ञापयतु) समझावें (इति) यह मेरी प्रार्थना है (तथा+सोम्य+इति+ह+उवाच) हे सोम्य ! तथास्तु इतना कह पिता पुत्र को पुनः उपदेश देने लगे ॥ ७ ॥

भाष्याशयः–ऐतदात्म्य–एतत् और आत्म शब्द से ऐतदात्म्य बनता है । यह सत् नामधारी परा देवता आत्मा जीवन है जिसका वह एतदात्म कहलाता है अर्थात् जिसका

जीवन यह ईश्वर हो उसे एतदात्म कहते हैं यहां आत्म शब्द का अर्थ जीवन है। स्वार्थ में प्रत्यय करने पर एतदात्म से ऐतदात्म्य हो जाता है। अथवा भाव में प्रत्यय करने पर भी ऐतदात्म्य-बनता है। २-सत्यम्-सत्य नाम ब्रह्म का है यह विषय प्रसिद्ध ही है यद्वा सत् नाम जीव और प्रकृति दोनों का है (सती च संश्च इति सन्तौ सतोर्भवःसत्यम्) प्रकृति और जीवात्मा में जिसकी व्याप्ति हो उसे सत्य कहना चाहिये यद्वा (सद्भ्यां प्रकृत्यात्मभ्यां हितमिति सत्यम्) प्रकृति और आत्मा का जो हित करनेवाला है वह सत्य। ३—तत्त्वमसि—इस सम्पूर्ण जगत् का जो जीवन है वही सत्य है, वही व्यापक है। हे श्वेतकेतो! वही "तत्त्वमसि" एक तत्त्व यथार्थ सदास्थिर रहने वाला परमार्थ वस्तु है यह अर्थ "तत्त्वमसि" पद का होता है परन्तु शङ्कराचार्य्यजी "तत्+त्वम्+असि" ऐसा पदच्छेद कर वह तू है ऐसा अर्थ करते हैं सो किसी तरह से ठीक नहीं हो सकता क्योंकि यदि वैसा अर्थ होता तो " स त्वमसि" ऐसा पद होता क्योंकि विधेय की प्रधानता के कारण तत् शब्द यहां पुंलिङ्ग होना चाहिये सो पुंलिङ्ग यहां नहीं है। अतः तत्त्वमसि का अर्थ वह तू है ऐसा अर्थ ठीक नहीं। यहां तत्त्व पद ब्रह्म के लिये आया है वह ब्रह्म ही तत्त्व अर्थात् परमार्थ वस्तु है दूसरा नहीं इसको सूचित करने के लिये तत्त्वपद का प्रयोग किया गया है। यह एक पद है दो नहीं तत्त्व नाम परमात्मा और वस्तुमात्र का है। जैसे सत्त्व, रज, तम ये तीन प्रकार के तत्त्व हैं। तेज, अप, पृथिवी, आत्मा ये चार प्रकार के तत्त्व हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये पांच प्रकार के तत्त्व हैं इत्यादि और भी जैसे तत्त्वज्ञानी तत्त्ववित् तत्त्वज्ञान तत्त्ववेत्ता तत्त्वदर्शी आदि अनेक प्रयोग होते हैं ऐसे स्थलों में परमार्थ वस्तु का नाम तत्त्व होता है जिस कारण ब्रह्म ही एक परमार्थ वस्तु है इस हेतु ब्रह्म के विषय में तत्त्व का प्रयोग हुआ है। शङ्का—यहां यह एक शङ्का होसकती है कि यहां तत्त्व एक पद मानाजाय तो मध्यम पुरुष एक वचन का प्रयोग होना उचित नहीं किन्तु प्रथम पुरुष के एक वचन का प्रयोग होना था। अर्थात् तत्त्वमस्ति ऐसा प्रयोग होना चाहिये। उ०—यहां अस्ति के स्थान में असि का प्रयोग हुआ है यह आर्ष प्रयोग कहलाता है। इस प्रकार के प्रयोग उपनिषदों में सैकड़ों हैं देखो "तावदेवाचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति। ६। १४। २॥" यहां प्रथम-पुरुष "विमोक्ष्यते" की जगह उत्तम पुरुष विमोक्ष्ये और प्रथम पुरुष "सम्पत्स्यते" की जगह "सम्पत्स्ये" ऐसा प्रयोग हुआ है। यहां शङ्कराचार्य भी कहते हैं कि "पुरुष व्यत्ययेन" पुरुष के उलटा से ऐसा प्रयोग हुआ है इसी प्रकार तत्त्वमसि इस वाक्य में भी प्रथम

पुरुष की जगह मध्यम पुरुष होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि शङ्कराचार्यजी ने जैसा अर्थ करदिया उसी का अनुकरण अभीतक लोग करते हैं । इन सब का विस्तार समीक्षा में देखना ॥ ७ ॥ इत्यष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ८॥

अथ नवमः खण्डः ॥

यथा सोम्य ! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति । नानाऽत्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान् समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ॥१॥

यथा । सोम्य । मधु । मधुकृतः । निस्तिष्ठन्ति । नानात्ययानाम् । वृक्षाणाम् । रसान् । समवहारम् । एकताम् । रसम् । गमयन्ति ॥ १ ॥

भाष्यम्–यथेति । हे सोम्य ! यथा मधुकृतः । मधुक्षौद्रं कुर्वन्ति सम्पादयन्ति ये ते । मधुकृतो भ्रमराः । करोतेः क्विप् तुक् च । मधुक्षौद्रम् । निस्तिष्ठन्ति निष्पादयन्ति । कथं निष्पादयन्तीत्याह । नानात्ययानाम् । नानात्ययानां । नाना फलानां वृक्षाणां द्रुमाणां रसान् सारभूतान् पदार्थान् । समवहारम् समवह्रियन्ते पदार्था अस्मिन् कर्मणि इति समवहारम् । समवहारं यथास्यात्तथा । समाहृत्येत्यर्थः । एकतां मधुत्वेनैकभावं प्रापय्य रसं गमयन्ति मधुरूपरसमापादयन्ति । ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते इत्युत्तरेणासम्बन्धः ॥ १ ॥

अनुवादः–हे सौम्य ! जैसे भ्रमर मधु बनाते हैं । अर्थात् नाना वृक्षों के रसों को इकट्ठे करके एक मधु नामक रस बना देते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः–(सोम्य) हे सौम्य ! (यथा) जैसे (मधुकृतः) मधु के बनाने वाले भ्रमर (मधु) मधु को (निस्तिष्ठन्ति) बनाते हैं । कैसे बनाते हैं सो कहते हैं (नानात्ययानाम्) नाना फलवाले (वृक्षाणाम्) वृक्षों के (रसान्) रसों को (समवहारम्) इकट्ठेकर (एकताम्) एक बनाकर (रसम्) मधुस्वरूप रस (गमयन्ति) बनादेते हैं ॥ १ ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

ते । यथा । तत्र । न । विवेकम् । लभन्ते । अमुष्य । अहम् । वृक्षस्य । रसः । अस्मि । अमुष्य । अहम् । वृक्षस्य । रसः । अस्मि । इति । एवम् । एव ।

खलु । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सति । संपद्य । न । विदुः । सति । सम्पाद्यामहे । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-ते यथेति । यथा ते मधुत्वेनैकतां नीतास्ते रसाः तत्र मधुपटले विवेकं परिचयं न लभन्ते । प्राप्नुवन्ति । कीदृग् विवेक इत्याह । अमुष्यवृक्षस्याहं रसोऽस्मि । अस्यवृक्षस्याहं रसोस्मि तस्य वृक्षस्य स रसोस्ति । एतस्य वृक्षस्य त्वं रसोऽसि । इत्येवंप्रकारकं विवेकं ते न प्राप्नुवन्ति । एवमेव एतद्दृष्टान्ततुल्यमेवेदम् । तथाहि । हे सोम्य ! इमाः सर्वाः प्रजाजनाः । सति । सद्वाच्ये परमे ब्रह्मणि । सम्पद्य सम्यग्योगं प्राप्यापि । सति ब्रह्मणि वयं सम्पद्यामहे । अहनि अहनि अस्माकं ब्रह्मणैव सार्धं योगोस्ति इति न विदुः । न जानन्ति । ब्रह्म सर्वस्मिन्काले सर्वत्र वर्तते । जले मत्स्या इव ब्रह्मणि वयं वर्त्तामहे । यथा मत्स्यानां जलमाधारो जीवनं निवासस्थानञ्च वर्त्तते । तद्विहाय जीवितुमपि ते न पारयन्ति तथैव ब्रह्माधारा ब्रह्मजीवना ब्रह्मनिवासा वयमपि वर्तामहे । परन्त्विदं न जानीमहे । अतोमुह्यामः ॥ २ ॥

अनुवादः-जैसे उस में वे विवेक को नहीं प्राप्त करते हैं कि इस वृक्ष का रस मैं हूं इस वृक्ष का रस मैं हूं वैसे ही निश्चय हे सौम्य ! ये सम्पूर्ण जन, सत् (ब्रह्म) में योग प्राप्त करके भी यह नहीं जानते हैं कि हम लोगों का योग ब्रह्म से है ॥ २ ॥

पदार्थः-(यथा) जैसे (तत्र) उस मधुपटल में (ते) वे पूर्वोक्तरस (विवेकम्) विवेक को (न लभन्ते) नहीं पाते हैं । कैसा विवेक सो आगे कहते हैं (अमुष्य) इस (वृक्षस्य) वृक्ष का (अहम्) मैं (रसः+अस्मि) रस हूं (अमुष्य+वृक्षस्य+अहम्+रसः+अस्मि) इस वृक्ष का रस मैं हूं (इति) जैसे वे रस यह नहीं समझते हैं कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूं (एवमेव) वैसे ही (खलु) यह निश्चय है कि (सोम्य) हे सोम्य ! (इमाः+सर्वाः+प्रजाः) ये सम्पूर्ण जन (सति) ब्रह्म में=ब्रह्म के साथ (सम्पद्य) योग प्राप्त करके भी (न+विदुः) नहीं जानते हैं कि (सति+सम्पद्यामहे) ब्रह्म में हम लोग वरतते हैं अर्थात् ब्रह्म के साथ हमारा योग है (इति) ॥ २ ॥

त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥ ३ ॥

ते । इह । व्याघ्रः । वा । सिंहः । वा । वृकः । वा । वराहः । वा । कीटः । वा । पतङ्गः । वा । दंशः । वा । मशकः । वा । यद् । यद् । भवन्ति । तत् । आभवन्ति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—त इहेति । अतोऽज्ञानावृत्तत्वाद् । ते जीवाइह अस्मिन्लोके व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा शूकरो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा । मशको वा यत् यत् पूर्वमिह लोके भवन्ति संबभूवुरित्यर्थः तदेव पुनराभवन्ति युगसहस्रकोटयन्तरितापि संसारिणो जन्तोर्या पुरा भाविता वासना सा न नश्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः—वे प्राणी इस लोक में व्याघ्र वा सिंह वा वृक वा शूकर वा कीट वा पतङ्ग वा दंश वा मशक जैसे २ पूर्व में थे वही पुनः २ होते रहते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः—(ते) वे जीव (इह) इस संसार में (व्याघ्रो वा) व्याघ्र अथवा (सिंहो वा) सिंह (वृको वा) अथवा वृक (वराहो वा) अथवा शूकर (कीटो वा) अथवा कीट (पतङ्गो वा) अथवा पतङ्ग (दंशो वा) अथवा दंश (मशको वा) अथवा मशक (यत्+यत्+भवन्ति) जो २ कुछ पूर्वजन्म में थे (तत्+आभवन्ति) वही २ पुनः होते रहते हैं ॥ ३ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ? इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

सः । यः । एषः । अणिमा । इत्यादि ॥

भाष्यम्—स इति । स यः सद्वाच्यः एषः प्रसिद्धोऽणिमास्ति । अणोर्भावः अणिमा अणुतमोस्तीति यावत् । अणुतम इति वक्तव्ये अणिमेत्यार्षः प्रयोगः परमेश्वरः अणुतमोऽस्ति । इदं सर्वं दृश्यमानं जगत् ऐतदात्म्यम् । एतद्ब्रह्मजीवनमित्यर्थः । तत्सत्यं तदेव सत्यं शाश्वतम् । स आत्मा हे श्वेतकेतो ! तदेव तत्त्वमसि तत्त्वमस्ति । अस्य व्याख्यानमष्टमखण्डस्य सप्तमप्रवाकस्योपरि द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

इति नवमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः—सो जो यह सद्वाच्य ब्रह्म अणुतम है उसी ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है वही सत्य है, वही आत्मा है हे श्वेतकेतो ! वही परमार्थ वस्तु है (श्वेतकेतु) हे भगवान् पूज्यपाद मुझ को पुनरपि यह समझावें (पिता) एवमस्तु सोम्य ! इतना कह समझाने लगे ॥ ४ ॥

पदार्थः-(सः+यः) सो जो (एषः) यह प्रत्यक्षवद्दृश्यमाण ब्रह्म (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म है (इदम्+सर्वम्) यह सम्पूर्ण विश्व (ऐतदात्म्यम्) एतत् ब्रह्मात्मक है अर्थात् वही अणुतम ब्रह्म इस जगत् का जीवनस्वरूप है (तत्सत्यम्) इत्यादि का अर्थ ६ । ८ । ७ । में देखो यहां इतना जानना चाहिये कि " स य एषोऽणिमा " इतना पद ६ । ८ । ७ । के साथ नहीं है किन्तु ६ । ८ । ३ । के साथ है परन्तु यहां पर " ऐतदात्म्य" के साथ ही इसका पाठ दिया है ॥ ४ ॥

इति नवमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

इमाः सोम्य ! नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति । स समुद्र एव भवति । ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

इमाः । सोम्य । नद्यः । पुरस्तात् । प्राच्यः । स्यन्दन्ते । पश्चात् । प्रतीच्यः । ताः । समुद्रात् । समुद्रम् । एव । अपियन्ति । सः । समुद्रः । एव । भवति । ताः । यथा । तत्र । न । विदुः । इयम् । अहम् । अस्मि । इयम् । अहम् । अस्मि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्-इमा इति । अपरं दृष्टान्तं सोम्य ! शृणु । हे सोम्य ! प्राच्यः प्राञ्चन्ति । पूर्वांदिशामञ्चन्ति गच्छन्ति यास्ता प्राच्यः पूर्वदिग्वाहिन्यः । इमा नद्यः । प्रसिद्धा गङ्गाद्या-नद्यः । पुरस्तात् । पूर्वांदिशंप्रति । स्यन्दन्ते स्रवन्ति निःसरन्ति । प्रतीच्यः प्रत्यञ्चन्ति । प्रतीचींदिशमञ्चन्ति गच्छन्ति यास्ताः प्रतीच्यः । पश्चिमदिग्वाहिन्यो नद्यः । सिन्ध्वादयः । पश्चात् पश्चिमां दिशं प्रति स्यन्दन्ते । काश्चिन्नद्यः पूर्ववाहिन्यः । काश्चित् पश्चिमवाहिन्यः । अपरा उत्तरवाहिन्यः अन्या दक्षिणवाहिन्यः । इत्थं समासतश्चतुर्विधा नदी वर्तते । ताः सर्वा-नद्यः । समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति गच्छन्ति । स समुद्र एव भवति विधेयप्रधान्यादेकवचनत्वं पुंल्लिङ्गत्वं च । सर्वा मिलित्वा समुद्रस्वरूपाएव भवन्ति । समुद्रात् सूर्यकिरणा जलानि ऊर्द्ध्वमाकृष्य मेघरूपेण परिणमयन्ति । ते च मेघाजलरूपेण पृथिव्यां पतन्ति । तान्येवसरांसि नदीपल्वलानि इत्येवमादीन् जलाशयान् विदधति । नद्यः खलु प्रायः समुद्रेण संगच्छन्ते । समुद्रात् पुनरपि जलानि सूर्यकिरणैरूर्द्धमारुह्य पूर्ववत् परिभ्रमन्ति । अतः समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति । अथ च । यथा तत्र समुद्रे ता नद्यो न विदुः । न विदन्ति । यत् । इयमहमस्मि । इयमहमस्मि । इति सोम्य । अहं गङ्गास्मि । अहं यमुनास्मि । अहं सरस्वती वर्ते । इति समुद्रं प्राप्य यथानद्य

आत्मपरिचयं न लभन्ते । एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे इति । इत्यादेरुत्तरेण सम्बन्धः ॥ १ ॥

अनुवादः—हे सोम्य ! ये पूर्ववाहिनी नदियें पूर्व दिशा को बहती हैं और पश्चिमवाहिनी नदियें पश्चिम दिशा को बहती हैं वे समुद्र से समुद्र को ही जाती हैं और समुद्रस्वरूप ही हो जाती हैं सो जैसे समुद्र में प्राप्त हुई नदियें नहीं जानती हैं कि यह मैं हूं यह मैं हूं । इति ॥ १ ॥

पदार्थः—(सोम्य) हे सौम्य ! (प्राच्यः) पूर्व दिशा को जानेवाली (इमाः) ये (नद्यः) नदिएं (पुरस्तात्) पूर्व की ओर (स्यन्दन्ते) बहती हैं और (प्रतीच्यः) पश्चिम दिशा को जानेवाली नदियें (पश्चात्स्यन्दन्ते) पश्चिमदिशा को बहती हैं (ताः) वे सब नदियें (समुद्रात्) समुद्र से (समुद्रमेव) समुद्र को ही (अपि यन्ति) जाती हैं (स समुद्र एव भवति) और वहां जाकर समुद्रस्वरूप ही होजाती हैं । हे सौम्य ! (यथा) जैसे (तत्र) उस समुद्र में (ताः) समुद्रत्व को प्राप्त वे नदियें (नविदुः) यह नहीं जानती हैं कि (इयम्+अहम्+अस्मि) यह मैं हूं (इयम्+अहम्+अस्मि) यह मैं हू (इति) ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति । त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ॥ २ ॥

एवम् । एव । खलु । सोम्य । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । सतः । आगम्य । न । विदुः । सतः । आगच्छामहे । इति । ते । इह । व्याघ्रः । वा । सिंहः । वा । वृकः । वा । वराह । वा । कीटः । वा । पतङ्गः । वा । दंशः । वा । मशकः । वा । यद् । यद् । भवन्ति । तद् । आभवन्ति ॥ २ ॥

भाष्यम्—एवमेवेति । एवमेव पूर्वदृष्टान्त इव । हे सोम्य ! इमाः सर्वाः प्रजाः । खलु निश्चितम् । सतः सच्छब्दवाच्याद्ब्रह्मणः सकाशादागम्यागत्य । इह लोकं प्राप्य । न विदुः । नैवजानन्ति । यत् सतो ब्रह्मणः सकाशाद् वयमागच्छामहे । आगच्छामः । अतोऽस्मादज्ञानात् संसारिण एव पुनः पुनस्ते भवन्ति । तद्यथा तइहेत्यादि पूर्वखण्डवत् ॥ २ ॥

अनुवादः—वैसे ही हे सोम्य ! यह तुम निश्चय जानो कि सब प्राणी सत् (ब्रह्म) के समीप से आकर यह नहीं जानते हैं कि हम ब्रह्म के समीप से आये हैं । इस हेतु

वे इस संसार में व्याघ्र वा सिंह, वृक वा शूकर, कीट वा पतङ्ग, दंश व मशक जैसे २ पूर्व में थे वे ही २ पुनः २ होते रहते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः-(एवमेव) वैसे ही (खलु) निश्चय (इमाः+सर्वाः+प्रजाः) ये सब प्राणी (सतः+आगम्य) सत् स्वरूप ब्रह्म के निकट से आकर (न+विदुः) नहीं जानते हैं कि (सतः+आगच्छामहे) सत् से हम लोग आये हैं (इति) इस हेतु (ते) वे जीव (इह) इस संसार में (व्याघ्रो वा सिंहो वा) व्याघ्र अथवा सिंह (वृको वा वराहो वा) वृक वा वराह (कीटो वा पतङ्गो वा) कीट वा पतङ्ग (दंशो वा मशको वा) दंश अथवा मशक (यत्+यत्+भवन्ति) जो २ पूर्व जन्म में थे (तत्+आभवन्ति) वे ही पुनः २ होते रहते हैं ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

यह प्रवाक ६ । ८ । ७ । के समान है इस हेतु भाष्यादि वहां ही देखो ।

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

अस्य सोम्य ! महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्स एष जीवेनाऽऽत्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

अस्य । सोम्य । महतः । वृक्षस्य । यः । मूले । अभ्याहन्यात् । जीवन् । स्रवेत् । यः । मध्ये । अभ्याहन्यात् । जीवन् । स्रवेत् । यः । अग्रे । अभ्याहन्यात् । जीवन् । स्रवेत् । सः । एषः । जीवेन । आत्मना । अनुप्रभूतः । पेपीयमानः । मोदमानः । तिष्ठति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अस्यसोम्येति । पुनरपि दृष्टान्तं शृणु सोम्य ! अङ्गुली निर्देशेन दर्शयन्नाह हे सोम्य ! अस्य पुरतः स्थितस्य । महतो बहुशाखापल्लवसमन्वितस्य । वृक्षस्य । मूले । यः कश्चित्पुरुषः । अभ्याहन्यात्परश्वादिना सकृत्प्रहरेत् । तर्हि सकृत्प्रहारेण न शुष्यति वृक्षः । किन्तु स जीवन्

अशुष्यन् एव तिष्ठति। तदा प्रहारेण तस्य रसः स्रवेत्। निःसरेत्। एवमेव यदि मध्ये। अभ्याहन्यात् प्रहरेत्। जीवन् सन्नेव स स्रवेत्। तथाच। अग्रे वृक्षस्यान्त्येभागे। कोऽपि। अभ्याहन्यात्। तदापि जीवन्नेव स्रवेत्। जीवतस्तस्य रसो निःसरेत्। कथमिदमित्याह। यतः स एष जीवन्नभ्यहन्यमानोवृक्षः। जीवेनात्मना जीवात्मना। अनुप्रभूतः अनुव्याप्त सन्। पेपीयमानः पादैराकृष्यात्यर्थं पृथिव्या रसान् पिबन् सन्। मोदमान आनन्दमनुभवंस्तिष्ठति॥१॥

अनुवादः–हे सोम्य! इस महान् वृक्ष के मूल में जो कोई प्रहार करे तो जीता हुआ वृक्ष स्रवित होगा (उसका रस चूने लगेगा) मध्य में प्रहार करे तो जीता हुआ वह वृक्ष चूने लगेगा। अन्त में यदि कोई प्रहार करे तो वह वृक्ष जीता हुआ चूने लगेगा क्योंकि सो यह वृक्ष जीवात्मा से व्याप्त होकर पुनः २ पीता हुआ सहर्ष खड़ा रहता है॥ १॥

पदार्थः–(सोम्य) हे प्रियपुत्र! अन्य दृष्टान्त भी सुनो। अङ्गुली निर्देश से दिखलाकर कहते हैं (अस्य+महतः+वृक्षस्य) इस महान् वृक्ष की (मूले) जड़ में (यः+अभ्याहन्यात्) यदि कोई कुल्हाड़ी आदि से एकवार प्रहार करे तो (जीवन्+स्रवेत्) प्रहार करने से भी वह वृक्ष न सूखकर जीता ही हुआ स्रवित होगा। उसका दूध गिरता रहेगा परन्तु सूखेगा नहीं। इसी प्रकार (यः+मध्ये+अभ्याहन्यात्) यदि वृक्ष के मध्य में प्रहार करे तो (जीवन्+स्रवेत) जीता हुआ स्रवित होगा इसी प्रकार (यः+अग्रे+अभ्याहन्यात्) वृक्ष के अग्र भाग में कोई प्रहार करे तो (जीवन्+स्रवेत्) जीता हुआ स्रवित होगा क्योंकि (सः+एषः) सो यह वृक्ष (जीवेन+आत्मना) जीवात्मा के साथ (अनुप्रभूतः) अनुव्याप्त होकर (पेपीयमानः) अपनी जड़ों से पृथिवी के अभ्यन्तर से रस को चूसता हुआ (मोदमानः+तिष्ठति) सहर्ष खड़ा रहता है॥ १॥

अस्य यदेकाᳬ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति। तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य! विद्धीति होवाच॥ २॥

अस्य। यद्। एकाम्। शाखाम्। जीवः। जहाति। अथ। सा। शुष्यति। द्वितीयाम्। जहाति। अथ। सा। शुष्यति। तृतीयाम्। जहाति। अथ। सा।

शुष्यति । सर्वम् । जहाति । सर्वः । शुष्यति । एवम् । एव । खलु । सोम्य । विद्धि । इति । ह । उवाच ॥ २ ॥

भाष्यम्—अस्येति । यद्यदा जीवः । तस्यास्य पुरतः स्थितस्य व्याधिग्रस्तस्य हतस्य वा वृक्षस्य । एकां शाखां जहाति त्यजति । अथ तदा सा शाखा । शुष्यति शुष्काभवति । यदि जीवस्तस्यद्वितीयां शाखां जहाति । अथ सा द्वितीया शुष्यति । यदि जीवस्तृतीयां शाखां जहाति । अथ सा शुष्यति । यदि सर्वं वृक्षं जहाति । तदा सर्वो वृक्षः शुष्यति । एवमेव । हे सोम्य ! यथास्मिन् वृक्षे दृष्टान्तो दर्शितः । जीवेन संयुक्तो वृक्षो जीवन् संतिष्ठति जीवापेतश्चेत् शुष्को भवति । एवमेव खलु सोम्य ! वक्ष्यमाणं वचनमपि विद्धि जानीहि । इति होवाचारुणिः पुत्रं प्रति ॥ २ ॥

अनुवादः—जब जीव इस वृक्ष की एक शाखा को त्यागता है तब वह (शाखा) सूख जाती है । दूसरी शाखा को त्यागता है तो वह सूख जाती है । तीसरी को त्यागता है । तो वह सूख जाती है । सम्पूर्ण वृक्ष को त्यागता है तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है । वैसे ही हे सोम्य ! निश्चय कर इसको भी जानो इस प्रकार आरुणिपुत्र से फिर बोले ॥ २ ॥

पदार्थः—(अस्य) इस महान् वृक्ष की (एकाम्+शाखाम्) किसी एक शाखा को (यत्) जब (जीवः+जहाति) जीव त्याग देता है (अथ+सा+शुष्यति) तब वह शाखा सूख जाती है (द्वितीयाम्+जहाति) जब जीव द्वितीय शाखा को त्यागता है (अथ+सा+शुष्यति) तब वह सूख जाती है (तृतीयाम्+जहाति+अथ+सा+शुष्यति) जब जीव तृतीय शाखा को त्यागता है तो वह सूख जाती है (सर्वम्+जहाति+सर्वः+शुष्यति) यदि वह जीव सम्पूर्ण वृक्ष को त्यागदेता है तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है (एवम्+एव+खलु) वैसे ही (सोम्य) हे सोम्य ! (विद्धि+इति) शरीर की दशा जानो । इस को स्वयं आगे कहेंगे (इति+ह+उवाच) इस प्रकार पुत्र को शिक्षा दे पुनः आरुणि बोले ॥२॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

जीवापेतम् । वाव । किल । इदम् । म्रियते । न । जीवः । म्रियते । इति । सः । यः । एषः । अणिमा । इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

भाष्यम्–जीवापेतमिति। पूर्वोक्तमुपसंहरति हे सोम्य ! इदं शरीरं जीवापेतंवाव जीवेन जीवात्मना अपेतं रहितमेव यदा भवति तदा म्रियते। न जीवो म्रियत इति। शरीरी जीवस्तु कदापि न म्रियते इति त्वं वृक्षदृष्टान्तेन विजानीहि स य इत्यारम्य होवाचेति पर्य्यन्तं पूर्वं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥ इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अनुवादः–निश्चय जीव रहित यह शरीर मरता है किन्तु जीव नहीं मरता। सो जो यह अणुतम ब्रह्म है उसी से यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। इत्यादि ६।८।७। के समान जानना ॥ ३ ॥

पदार्थः–(वाव) निश्चय (इदम्) यह शरीर (जीवापेतम्+किल) जीव रहित होने पर (म्रियते) मर जाता अर्थात् निश्चेष्ट हो जाता है। हे सौम्य ! (जीवः+न+म्रियते) जीवात्मा कदापि नहीं मरता। "स य एष से लेकर होवाच पर्य्यन्त ६।८।७। के समान है वहां ही अर्थ देखो" ॥ ३ ॥

इत्येकादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः खण्ड ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव ! इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव ! इति। किमत्रपश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव ! इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव ! इति। किमत्र पश्यसीति। न किञ्चन भगव ! इति ॥ १ ॥

न्यग्रोधफलम्। अतः। आहर। इति। इदम्। भगवः। इति। भिन्धि। इति। भिन्नम्। भगवः। इति। किम्। अत्र। पश्यसि। इति। अण्व्यः। इव। इमाः। धानाः। भगवः। इति। आसाम्। अङ्ग। एकाम्। भिन्धि। इति। भिन्ना। भगवः। इति। किम्। अत्र। पश्यसि। इति। न। किञ्चन। भगवः। इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–न्यग्रोधफलमिति। दृष्टान्तरमाह हे सोम्य ! अतोऽस्मात् पुरतःस्थितान्महतो न्यग्रोधान्न्यग्रोधफलम्। न्यग्रोधस्यैकं फलम्। आहर आनय। इति पित्रोक्तः पुत्रः फलमेकमानीय। भगवोभगवन्निदं फलं मयानीतं गृह्यतामित्युवाच। ततः पिता। हे सोम्य ! इदं भिन्धि। छिन्धि। पुत्रः। हे भगवो भगवन् ! भिन्नमिदंफलम्। इति। पिता। अत्रफले हे सोम्य !

किं पश्यसि । पुत्रः हे भगवो भगवन् ! अण्व्य अणुतरा इव इमा धाना बीजानि सन्ति । ताः पश्यामि । पिता । अङ्ग हे वत्स ! आसामणुतराणां धानानां मध्ये । एकां धानां भिन्धि । पुत्रः । हे भगवो ! मया धाना भिन्ना । पिता । यदि धाना भिन्ना । तर्हि भिन्नायामस्यां धानायां त्वं किं पश्यसि । पुत्रः । हे भगवः ! किञ्चन किञ्चिदपि न पश्यामि ॥ १ ॥

अनुवादः–(पिता) हे सौम्य ! इस से न्यग्रोध का एक फल ले आवो (पुत्र) हे भगवन् । यह है (पिता) तोड़ो (पुत्र) हे भगवन् ! तोड़ा (पिता) इस में क्या देखते हो (पुत्र) बहुत अणु (सूक्ष्म) ये बीज दीखते हैं (पिता) इन में से एक धाना को फिर तोड़ो (पुत्र) हे भगवन् तोड़ा (पिता) इस में क्या देखते हो (पुत्र) हे भगवन् कुछ नहीं ॥ १ ॥

पदार्थः–पिता—(अतः+न्यग्रोधफलमाहर+इति) इस से न्यग्रोध नाम के वृक्ष का फल लाओ । पुत्र– (इदम्+भगवः+इति) हे भगवन् ! यह है । पिता–(भिन्धि+इति) फोड़ो । पुत्र–(भिन्नम्+भगव+इति) हे भगवन् ! यह फोड़ा । पिता–(किमत्र-पश्यसि+इति) इस में क्या देखते हो । पुत्र–(अण्व्यः+इव+इमाः+धानाः+भगव+इति) हे भगवन् ! छोटी २ धानी के समान । पिता–(अङ्ग+आसाम्+एकाम्+भिन्धि+इति) हे पुत्र इन में से एक को फोड़ो (भिन्ना भगव+इति) हे भगवन् ! धाना को फोड़ा । पिता–(किम्+अत्र+पश्यसि+इति) इस में क्या देखते हो । पुत्र–(न+किञ्चन+भगव+इति) हे भगवन् ! कुछ नहीं ॥ १ ॥

तꣳहोवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति॥२॥

तम् । ह । उवाच । यम् । वै । सोम्य । एतम् । अणिमानम् । न । निभालयसे । एतस्य । वै । सोम्य । एषः । अणिम्नः । एवम् । महान्यग्रोधः । तिष्ठति । श्रद्धत्स्व । सोम्य । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–तमिति । तं श्वेतकेतुं पिता आरुणिर्होवाच । हे सोम्य ! न्यग्रोधस्य बीजस्य यमेतम् । अणिमानम् । अणुभावम् । अणुतरमंशं न निभालयसे । न पश्यसि । हे सोम्य ! वै निश्चितमिदं विद्धि यत् । एतस्यैव न्यग्रोधबीजस्य अणिम्नोऽणुतरभागस्य । एवं महान्यग्रोधो वृक्षस्तवाग्रे तिष्ठति । हे सोम्य ! अस्यैवातिसूक्ष्मस्य अदृश्यमानस्य बीजांशस्य कार्यभूतः स्थूलशाखास्कन्ध पलाशवान् भूत्वायं न्यग्रोधवृक्षस्तिष्ठति तथैवातिसूक्ष्मादृश्या-

द्व्यक्तात्सतः सकाशाज्जगदिदं महास्थूलं पृथिव्याद्युपकरणसहितं दृश्यते एतस्मिन्विषये श्रद्धत्स्व सोम्य ॥ २ ॥

अनुवादः-(आरुणि) उस (अपने पुत्र) से पुनरपि बोले कि हे सोम्य ! यह निश्चय जानो कि जिस इस बीज के अणुतम भाग को तुम नहीं देखते हो उसी अणुभाग का (कार्यभूत) ऐसा यह बड़ा न्यग्रोधवृक्ष खड़ा है इस में अणुमात्र सन्देह नहीं हे सोम्य इस में श्रद्धा रक्खो ॥ २ ॥

पदार्थः-(तम्+ह+उवाच) आरुणि फिर अपने उस पुत्र से बोले (सोम्य) हे पुत्र ! (यम्+वै+एतम्+अणिमानम्) जिस इस अणुतम अंश को (न+निभालयसे) तुम नहीं देखते हो (एतस्य+वै+अणिम्नः) इसी अणुतमबीजांश का कार्यभूत (जो अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्यमान है) (एषः+महान्यग्रोधः) यह महान् न्यग्रोध वृक्ष (एवम्) ऐसा स्थूल शाखास्कन्ध फल पलास आदियों से भूषित होकर (तिष्ठति) स्थित है वैसे ही अतिसूक्ष्म अदृश्य अव्यक्त सद्वाच्यब्रह्म से यह महास्थूल पृथिव्यादि उपकरण सहित जगत् दीखता है (श्रद्धत्स्व सोम्येति) हे सोम्य इस बात का विश्वास करो ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

भाष्यम्-सर्वं व्याख्यातमेवास्ति ॥ ३ ॥

पदार्थः-स य इत्यादि ६ । ८ । ७ । के समान है ॥ ३ ॥

इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार । तꣳहोवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग । तदाहरेति । तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

लवणम् । एतद् । उदके । अवधाय । अथ । मा । प्रातः । उपसीदथाः । इति । सः । ह । तथा । चकार । तम् । ह । उवाच । यत् । दोषा । लवणम् । उदके । अवाधाः । अङ्ग । तत् । आहर । इति । तत् । ह । अवमृश्य । न । विवेद ॥ १ ॥

भाष्यम्-लवणमिति । विद्यमानमपिवस्तु क्वचिन्नोपलभ्यते प्रकारान्तरेणतूपलभ्यत एवेतिश्रृणवत्रदृष्टान्तम् । यदि चेवमर्थं प्रत्यक्षीकर्तुमिच्छसि तर्हि हे सोम्य ! इदं कुरु । एतत् पिण्डाकारं लवणं सैन्धवम् । उदके घटादिस्थे जले । अवधाय स्थापयित्वा । अथानन्तरं । प्रातः प्रातःकाले । मा माम् । उपसीदथा उपसीद उपगच्छ । मम समीपं प्रातःकाले त्वयाऽऽगन्तव्यमित्यर्थः । इति पित्राज्ञप्तस्सन् सःश्वेतकेतुस्तथा चकार । पितुराज्ञानुसारेण लवणमुदके प्रक्षिप्तवान् । प्रातःकाले तं ह पितोवाच सोम्य ! दोषारात्रौ यल्लवणमुदकेपानीये । अबाधा निक्षिप्तवानसि । तल्लवणम् । अङ्ग हे प्रियवत्स ! आहर आनय । इति पित्रोक्तः स तल्लवणमुदके अवमृश्य मार्गयित्वा न विजिज्ञौ विवेद न लवणमप्राप्य पितरमुपसद्योवाच। क्वास्ति लवणपिण्डमित्यहंनजाने मार्गयित्वापि न लब्धम् । पुत्रेणोक्तः पिताह। अङ्ग हे वत्स! लवणमिदमुदके तथा विलीनं यथा त्वं न जानासि । किन्तु विलीनमेव लवणं यथा त्वं जानीयास्तथोपायं ब्रवीमि श्रृणु इत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ १ ॥

अनुवादः-हे सौम्य ! इस लवण को जलमें रखकर तदनन्तर प्रातःकाल मेरे निकट तुम उपस्थित होना । उसने वैसा ही किया (आरुणि) उससे बोले कि हे पुत्र रात्रि में जिस लवण को तुमने पानी में रक्खाथा उसको लाओ (श्वेतकेतु) उसको लाने की इच्छासे उस पानी में उसे अन्वेषण करके भी नहीं जाना ॥ १ ॥

पदार्थः-(एतत्) इस (लवणम्) लवणपिण्ड को (उदके) जलमें (अवधाय) रखकर (अथ) तदनन्तर (प्रातः) प्रातःकाल (मा) मेरे (उपसीदथाः) समीप आओ (इति) इस प्रकार पिता से आज्ञप्त होकर (स ह) उस श्वेतकेतु ने (तथा+चकार) वैसाही किया (तम्+ह+उवाच) उस श्वेतकेतु से उसके पिता ने प्रातःकाल कहा कि (दोषा) रात्रि में (यत्) जो (लवणम्) लवण (उदके) जल में (अबाधाः) रक्खाथा (अङ्ग) हे वत्स ! (तद्+आहर) उस लवण को ले आओ (इति) उस लवण को लाने की इच्छा से (तत्+ह) उसे (अवमृश्य) खोजकर (न+विवेद) न जाना अर्थात् नहीं पाया । अनन्तर पिता के निकट आकर निवेदन किया कि हे भगवन् ! मुझे वह लवणपिण्ड नहीं मिलता ॥ १ ॥

यथा विलीनमेवाङ्गस्यान्तादाचामेति । कथमिति । लवणमिति । मध्यादाचामेति । कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति । कथमिति । लवणमित्यभिप्राश्यैनदथमोपसीदथा इति । तद्ध

तथा चकार । तच्छश्वत्संवर्त्तते तᳬं होवाचात्र वाव किल तत्सोम्य ! न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

यथा । विलीनम् । एव । अङ्ग । अस्य । अन्तात् । आचाम । इति । कथम् । इति । लवणम् । इति । मध्याद् । आचाम । इति कथम् । इति । लवणम् । इति । अन्ताद् । आचाम । इति । कथम् । इति । लवणम् । इति । अभिप्राश्य । एनत् । अथ । मा । उपसीदथाः । इति । तत् । ह । तथा । चकार । तत् । शश्वत् । संवर्त्तते । तम् । ह । उवाच । अत्र । वाव । किल । तत् । सोम्य । न । निभालयसे । अत्र । एव । किल । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–अथेति । उपायान्तरेणोदके विलीनं लवणं वेदयितुं प्रकरणमिदमारभते । हे सोम्य ! जले विलीनमेव लवणं यथात्वं ज्ञास्यसि तमुपायं शृणु । अस्य लवणसंयुक्तस्य जलस्य । अन्तादुपरिष्टात्त्वमाचाम आचमनं कुरु । इति । (श्वेतकेतुः) आचमीत् । (पिता पृच्छति) कथमिति । इदं जलं कीदृशं वर्तते ? (पुत्रः कथयति) लवणमिति । लवणसंयुक्तमस्ति (पिता पृ०) तथा अस्योदकस्य मध्यादुदकं गृहीत्वाऽऽचाम (श्वे०) आचमीत् (पिता पृ०) कथमिति (पुत्रः क०) लवणमिति (पिता०) अस्योदकस्यान्तादधोभागाज्जलं गृहीत्वा हे सोम्य ! पुनरप्याचाम । पित्रोक्तः स आचमीत् । (पिता) कथमिति (पुत्रः) लवणमिति अनन्तरमारुणिः पुनरुवाच । हे सोम्य ! एनल्लवणमभिप्राश्याचम्य अवशिष्टं परित्यज्य च । अथानन्तरं मा मामुपसीदथा उपगच्छेः । इति । श्वेतकेतुरपि तद्ध पितुस्तद्वचनं तथैव चकार । उवाच च हे भगवन् ! तल्लवणं तस्मिन्नुदके शश्वत् सर्वदैव संवर्तते सम्यग्विद्यते । इत्येवमुक्तवन्तं श्वेतकेतुं पिता होवाच । यथेदं लवणं दर्शनस्पर्शनाभ्यां पूर्वमगृहीतं पुनरुदके विलीनं ताभ्यामगृह्यमाणमपि विद्यतएव । उपायान्तरेण जिह्वयोपलभ्यमानत्वात् एवमेवात्रैवास्मिन्नेव तेजोबन्नादिकार्य्ये शुङ्गे देहे । वावकिलेत्याचार्य्योपदेश स्मरणप्रदर्शनार्थौ । तेजोबन्नादि शुङ्गकारणं सत् वटबीजाणिमवत् विद्यमानमेवेन्द्रियैर्न निभालयसे न पश्यसि हे सोम्य ! यथात्रैवोदके दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलभ्यमानं लवणं विद्यमानमेव जिह्वयोपलब्धवानसि एवमेवात्रैवकिल विद्यमानं सज्जगन्मूलमुपायान्तरेण लवणमिव तदुपलप्स्यसे । इति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

अनुवादः–इस जल में विलीन लवण को जैसे जानोगे सो सुनो (पिता) इस जल के ऊपर से आचमन करो । श्वेतकेतु ने वैसा ही किया (पिता) यह कैसा है ? (पुत्र)

लवणयुक्त है (पिता) इस जल के मध्यसे जल लेकर आचमन करो । उसने वैसा ही किया (पिता) यह कैसा है ? (पुत्र) लवणयुक्त है (पिता) इस जलके नीचे से आचमन करो । उसने वैसा ही किया (पिता) यह कैसा है ? (पुत्र) लवणयुक्त है (पिता) इसे आचमनकर अनन्तर मेरे पास आओ । पिता के वचन को सुन वैसा ही किया और पिता से निवेदन किया कि हे भगवन् ! यह लवण इस जल में सर्वदा सब प्रकार से वर्त्तमान है इस वचन को सुन पुत्र से पिता बोला कि हे सोम्य ! जैसे इस जल में रहते हुए ही लवण को (दर्शन स्पर्शन से) जैसे तुमने नहीं जाना (परन्तु उपायान्तर से जिह्वा के द्वारा वह जानागया) वैसे ही हे सोम्य ! यहां ही विद्यमान उस सद्वाच्य ब्रह्म को तुम नहीं देखते हो । उपायान्तर से उसको तुम साक्षात् कर सकते हो ॥ २ ॥

पदार्थः—(अङ्ग) हे पुत्र ! (विलीनम्+एव) जल में विलीन ही लवण को (यथा) जिस प्रकार जान सकोगे वह उपाय दिखलाते हैं । पिता—(अस्य+अन्तात्+आचाम+इति) लवणयुक्त इस जल के ऊपर से आचमन करो । श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । पिता—(कथमिति) हे सोम्य ! यह जल कैसा है ? पुत्र—(लवणमिति) लवणयुक्त है । पिता—(मध्यात्+आचाम+इति) जल के मध्य से आचमन करो । श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । पिता—(कथमिति) हे पुत्र ! यह जल कैसा ? पुत्र—(लवणमिति) लवणयुक्त है । पिता—(अन्तात्+आचाम+इति) इसके नीचे से आचमन करो । उसने वैसा ही किया पिता—(कथमिति) हे पुत्र ! यह जल कैसा है ? पुत्र—(लवणमिति) लवणयुक्त है । पिता—(एतत्) इस लवण को (अभिप्राश्य) आचमन करके (अथ) पश्चात् (मा+उपसीदथाः) मेरे निकट आओ (इति) (तत्+ह+तथा+चकार) श्वेतकेतु ने वैसा ही किया और पिता के निकट आकर बोला हे भगवन् ! (तत्+ह) वह लवण (शश्वत्) सर्वदा (संवर्तते) जल में विद्यमान है । यह वचन कहते हुए (तम्+ह+उवाच) उससे उसका पिता कहने लगा (सोम्य+तत्+अत्र+वाव+किल) वह लवण इसी जल में विद्यमान ही है परन्तु (न+निभालयसे) नहीं देखते हो कि (अत्रैव+किल+इति) यहां ही है । हे सोम्य ! जिस लवण को तुमने प्रथम दर्शन स्पर्शन से ग्रहण किया था परन्तु जल में डाल देने से उसी लवण का दर्शन स्पर्शन से तुमने ग्रहण नहीं किया परन्तु अन्य उपाय से अर्थात् उसी जल के पान करने से और जिह्वा के संयोग से उसका बोध हुआ कि यह लवण इसी जल में है इसी प्रकार वह सद्वाच्य सर्वत्र विद्यमान ही है परन्तु इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है । किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि उपायों से उसका बोध होता है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ? इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

यह प्रवाक ६। ८। ७ के समान जानना ॥ ३ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

यथा। सोम्य। पुरुषम्। गन्धारेभ्यः। अभिनद्धाक्षम्। आनीय। तम्। ततः। अतिजने। विसृजेत्। सः। यथा। तत्र। प्राङ्। वा। उदङ्। वा। अधराङ्। वा। प्रत्यङ्। वा। प्रध्मायीत। अभिनद्धाक्षः। आनीतः। अभिनद्धाक्षः। विसृष्टः॥ १॥

भाष्यम्—यथेति। हे सोम्य! यथा कश्चित् तस्करः। कमपि पुरुषं गन्धारेभ्यो गन्धारनामकेभ्यो जनपदेभ्यः। अभिनद्धाक्षम्। अभिनद्धं बद्धमक्षिनयनं यस्य सोऽभिनद्धाक्षस्तम् अभिनद्धाक्षम्। बद्धनेत्रमित्यर्थः। आनीय। आहृत्य तमानीतं पुरुषम् ततः। अतिजने अत्यन्तविगतजनं निर्जनइत्यर्थः। विसृजेत् परित्यजेत्। ततः सोतिसृष्टः पुरुष तत्र तस्मिन्निर्जनेवने। प्राङ्वा प्रागञ्चनः पूर्वाभिमुखो भूत्वा वा तथोदङ् वा उदङ्मुखो वा अधराङ्वा अधोमुखो वा प्रत्यङ् वा पश्चिमाभिमुखो वा भूत्वा। प्रध्मायीत। उच्चैराक्रोशं कुर्य्यात्। किं प्रध्मायीतेत्याह। हे समीपोपस्थिताजना! अहं केनापि चौरेण अभिनद्धाक्षएवात्रानीतोस्मि अभिनद्धाक्ष एव विसृष्टस्त्यक्तोस्मि। अतो यूयं मां विमोचयत रक्षत ॥ १ ॥

अनुवादः—हे सौम्य! जैसे गन्धार देश से किसी पुरुष को कोई नेत्र बांध, ले आकर उसको तब निर्जन वन में छोड़ दे। तब वह जैसे वहां पूर्वमुख वा उत्तरमुख वा अधोमुख वा पश्चिममुख हो ज़ोर से चिल्लाय कि मैं बद्धनेत्र यहां लायागया हूं और बद्धनेत्र ही छोड़ा गया हूं ॥ १ ॥

पदार्थः-(सोम्य) हे सोम्य ! (यथा) जैसे (गन्धारेभ्यः) गन्धारदेश से (पुरुषम्) किसी पुरुष को कोई चोर (अभिनद्धाक्षम्) आंखें बांध (आनीय) लाकर (तम्) उसको (ततः) तब (अतिजने) अतिनिर्जन वन में (विसृजेत्) छोड़दे तब (सः) वह (यथा) जैसे (तत्र) उस निर्जन वनमें (प्राङ् वा) पूर्वाभिमुख अथवा (उदङ् वा) उत्तराभिमुख अथवा (अधराङ् वा) नीचे को मुखकर (प्रत्यङ् वा) अथवा पश्चिम मुख होकर (प्रध्मायीत) ज़ोर से चिल्ला उठे कि मैं (अभिनद्धाक्षः) बद्धनेत्र (आनीतः) लाया गयाहूं (अभिनद्धाक्षः विसृष्टः) और बद्धनेत्र ही छोड़ा गया हूं इसलिये हे समीपस्थ जनो ! मेरी रक्षा करो मेरी आंखें खोलदो ॥ १ ॥

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। सग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् परिडतो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ॥ २ ॥

तस्य । यथा । अभिनहनम् । प्रमुच्य । प्रब्रूयात् । एताम् । दिशम् । गन्धाराः । एताम् । दिशम् । व्रज । इति । सः । ग्रामात् । ग्रामम् । पृच्छन् । पण्डितः । मेधावी । गन्धारान् एव । उपसम्पद्येत । एवम् । एव । इह । आचार्यवान् । पुरुषः । वेद । तस्य । तावत् । एव । चिरम् । यावत् । न । विमोक्ष्ये । अथ । सम्पत्स्ये । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-तस्येति । एवं विक्रोशतस्तस्य । यथाभिनहनं यथा वनधनं प्रमुच्य मुक्त्वा कारुणिकः कश्चिदेतां दिशमुत्तरतो गन्धारा एतां दिशं व्रजेति प्रब्रूयात् । स एवं कारुणिकेन बन्धनान्मोक्षितो ग्रामाद्ग्रामान्तरं पृच्छन्पण्डित उपदेशवान्मेधावी परोपदिष्टग्रामप्रवेशमार्गावधारणसमर्थः सन् गन्धारानेवोपसम्पद्येत नेतरो मूढमतिर्देशान्तरदर्शनतृड्वा । यथाऽयं दृष्टान्तो वर्णितः स्वविषयेभ्यो गन्धारेभ्यः पुरुषस्तस्करैरभिनद्धाक्षोऽविवेको दिङ्मूढोऽशनायापिपासादिमान् व्याघ्रतस्कराद्यनेकभयानर्थव्रातयुतगरण्यं प्रवेशितो दुःखार्त्तो विक्रोशन् बन्धनेभ्यो मुमुक्षुस्तिष्ठति स कथञ्चिदिव कारुणिकेन केनचिन्मोक्षितः स्वदेशान् गन्धारानेवापन्नो निर्वृतः सुख्यभूत्तथा । एवमेवसतो जगदात्मस्वरूपात्तेजोवन्नादिमयं देहारण्यं वातपित्तकफरुधिरमेदोमांसास्थिमज्जाशुक्रकृमिमूत्रपुरीषवच्छीतोष्णाद्यनेकद्वन्द्वदुःखवच्चेदं मोहपटाभिनद्धाक्षो भार्यापुत्र पशुबन्ध्वादि दृष्टादृष्टानेकविषये तृष्णापाशितः पुण्यापुण्यादि

कर्म तस्करैः प्रवेशितोऽहममुष्य पुत्रोममैते बान्धवाः सुख्यहं दुःखी मूढः पण्डितो धार्मिको बन्धुमान् जातो मृतो जीर्णः पापी पुत्रो मे मृतो धनं मे नष्टं हा हतोस्मि कथं जीविष्यामि का मे गतिः किं मेत्राणमित्येवमनेकशत सहस्रानर्थजालवानिव क्रोशन् कथञ्चिदिव पुण्यातिशयात्परमकारुणिकं कञ्चित्सद्ब्रह्मात्मविदं विमुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदाऽऽसादयति तेन च ब्रह्मविदा कारुण्याद्दर्शितसंसारविषय दोषदर्शनमार्गो विरक्तः संसारविषयेभ्यः नासि त्वं संसार्य्यमुष्य पुत्रत्वादिधर्म्मवान् किन्तर्हि सद्यत्तत्त्वमसीत्यविद्यामोहपटाभिनहनान्मोक्षितो गन्धारपुरुषवच्च स्वंसदात्मानमुपसम्पद्यसुखी निर्वृतः स्यादित्येतमेवार्थमहाचार्य्यवान् पुरुषो वेदेति तस्यास्यैवमाचार्य्यवतो मुक्ताविद्याभिनहनस्य तावदेव तावानेव कालश्चिरं क्षेपः सदात्मस्वरूपसम्पत्तेरिति वाक्यशेषः । कियान् कालश्चिरमित्युच्यते यावन्नविमोक्ष्ये न विमोक्ष्यते इत्येतत्पुरुषव्यत्ययेन । सामर्थ्यात् । येन कर्मणा शरीरमारब्धं तस्योपभोगेन क्षयाद्देहपातो यावदित्यर्थः । अथ तदैव सत्सम्पत्स्ये सम्पत्स्यते । इति शङ्कराचार्यः ॥ २ ॥

अनुवादः-जैसे (कोई कारुणिक) पुरुष उसके बन्धन को खोल उससे कहे कि इस दिशा की ओर गंधार देश है इस दिशा को जाओ । यदि वह पण्डित मेधावी है तो गांव २ पूछता हुआ गन्धार को ही प्राप्त होगा वैसे ही यहां आचार्य्यवान् पुरुष जानता है उसका तब ही तक कालक्षेप होता है जबतक उसने देह को नहीं त्यागा है अनन्तर सद्वाच्य परमेश्वर को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

पदार्थः-(यथा) जैसे (तस्य) उस पुरुष के (अभिनहनम्) बन्धन को (प्रमुच्य) खोलकर (प्रब्रूयात्) कहे कि (एताम्+दिशम्) इस दिशा की ओर (गन्धाराः) गन्धार देश है (एतां दिशम्) इस दिशा को (व्रज) जाओ (इति) (सः) वह (पण्डितः+मेधावी) वह यदि पण्डित और मेधावी है तो (ग्रामात्+ग्रामम्+पृच्छन्) लोगों से एक गांव से दूसरे गांव को पूछता हुआ (गन्धारान्+एव) गन्धारदेश को ही (उपसम्पद्येत) प्राप्त होय (एवमेव) वैसे ही (इह) इस लोक में (आचार्य्यवान्) आचार्य्यवान् (पुरुषो वेद) पुरुष जानता है (तस्य) उस आचार्य्यवान् पुरुष का (तावदेव) तबही तक (चिरम्) देर है अर्थात् तब ही तक कालक्षेप होता है (यावत्+न+विमोक्ष्ये) जबतक इस शरीर से छुटकारा नहीं पाता (अथ) शरीर त्यागानन्तर (सम्पत्स्ये) ब्रह्म को प्राप्त होता है (इति) ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा

तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापय-त्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

यह प्रवाक ६ । ८ । ७ के समान जानना ॥ ३ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य भाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्य्युपासते-जानासि मां जानासि मामिति । तस्य यावन्न वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

पुरुषम् । सोम्य । उत । उपतापिनम् । ज्ञातयः । पर्य्युपासते । जानासि । माम् । जानासि । माम् । इति । तस्य । यावत् । न । वाक् । मनसि । सम्पद्यते । मनः । प्राणे । प्राणः । तेजसि । तेजः । परस्याम् । देवतायाम् । तावत् । जानाति ॥ १ ॥

भाष्यम्-पुरुषमिति । हे सोम्य ! उत अन्यं दृष्टान्तं शृणु । ज्ञातयः परिवाराः । उपतापिनं ज्वरादिव्याधिसंतप्तं मुमूर्षुं पुरुषं पर्य्युपासते परितो वेष्टयित्वा तदन्तिके उपविशन्ति । उपविश्यच तेषां मध्ये कोपि तं मुमूर्षुं ब्रूते हे मित्र ! त्वं मां जानासि । हे पुत्र त्वं मां जानासि । हे पुत्र ! इयं ते माता अयं पिता इदं मित्रम् । एते तव सर्वे ज्ञातयस्त्वांपरित आसीनाः सन्ति कमपि त्वं जानासि इति ते पुनः पुनस्तं पृच्छन्ति । तस्य मुमूर्षोरुपतापिनोः पुरुषस्य वाक् वाणी यावत्कालपर्य्यन्तं मनसि न सम्पद्यते न विलीयते तथा मनश्च प्राणे मुख्ये प्राणे न सम्पद्यते । प्राणश्च तेजसि आत्माख्ये तेजसि न सम्पद्यते । आत्माख्यं तेजश्च परस्यां देवतायां परमेब्रह्मणि न सम्पद्यते । तावत्कालपर्य्यन्तं सर्वं जानाति ॥ १ ॥

अनुवादः-हे सोम्य ! बान्धव लोग रोग सन्तप्त पुरुष के चारों तरफ बैठते हैं (और बैठकर उससे पूछते हैं) मुझको जानते हो, मुझको जानते हो जबतक उसकी वाणी मन में, मन प्राण में प्राण तेज में और तेज परा देवता में लीन नहीं होता तबतक वह जानता है ॥ १ ॥

पदार्थः-(सोम्य) हे सोम्य ! (उत) और अन्य दृष्टान्त कहा जाता है (ज्ञातयः) बन्धु, बान्धव, इष्ट, मित्र, पिता, मातादि (उपतापिनम्) ज्वरादि व्याधि से पीड़ित

(पुरुषम्) मुमूर्षु पुरुष के (पर्युपासते) समीप चारों तरफ़ घेर के बैठते हैं । उनमें से लोग पूछना आरम्भ करते हैं (माम्+जानासि) हे मित्र ! तू मुझको जानता है (माम्+जानासि) हे पुत्र ! तू मुझको जानता है । हे पुत्र ! यह तेरे पिता माता भ्राता ज्ञाति सब कोई यहां तेरे चारों तरफ बैठे हुए हैं इन में से किसी को जानता है इस प्रकार सब कोई उस मुमूर्षु पुरुष से अपना २ अभीष्ट प्रश्न पूछते हैं (तस्य) उस मुमूर्षु पुरुष की (वाक्) वाणी (मनसि) मन में और (मनः प्राणे) मन प्राण में, (प्राणः तेजसि) प्राण आत्माख्य तेज में (तेजः) और आत्माख्य तेज (परस्याम्+देवतायाम्) परादेवता अर्थात् परब्रह्म में (न सम्पद्यते) नहीं लीन होता है (तावत्+जानाति) तबतक वह जानता है ॥ १ ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

अथ । यदा । अस्य । वाक् । मनसि । सम्पद्यते । मनः । प्राणे । प्राणः । तेजसि । तेजः । परस्याम् । देवतायाम् । अथ । न । जानाति ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ यदा यस्मिन् काले अस्य मुमूर्षोः पुरुषस्य वाक् मनसि, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां सम्पद्यते विलीयते । अथ तदा न जानाति ॥ २ ॥

अनुवादः—जब उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण आत्माख्य तेज में और तेज परादेवता में लीन हो जाता है तब वह नहीं जानता ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (यदा) जब (अस्य) इस मुमूर्षु पुरुष की (वाग्) वाणी (मनसि) मन में (मनः+प्राणे) मन प्राण में (प्राणः+तेजसि) प्राण आत्माख्य तेज में (तेजः) आत्माख्य तेज (परस्यां देवतायाम्) परब्रह्म में (सम्पद्यते) सम्पन्न अर्थात् लीन होता है (अथ) तब (न+जानाति) नहीं जानता ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

यह प्रवाक ६ । ८ । ७ के समान है ॥ ३ ॥

इति पञ्चदशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १५ ॥

अथ षोडशः खण्डः ॥

पुरुषꣳ सोम्योतहस्तगृहीत मानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति । स यदि तस्यकर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते । सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति । स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥

पुरुषम् । सोम्य । उत । हस्तगृहीतम् । आनयन्ति । अपहार्षीत् । स्तेयम् । अकार्षीत् । परशुम् । अस्मै । तपत । इति । सः । यदि । तस्य । कर्ता । भवति । तत । एव । अनृतम् । आत्मानम् । कुरुते । सः । अनृताभिसंधः । अनृतेन । आत्मानम् । अन्तर्धाय । परशुम् । तप्तम् । प्रतिगृह्णाति । सः । दह्यते । अथ । हन्यते ॥ १ ॥

भाष्यम्—पुरुषमिति । सोम्य प्रिय पुत्र ! दृष्टान्तान्तरं शृणु चौर्यकर्मणि संदिह्यमानं उतापि परीक्षणाय च पुरुषं चौरं राजदूता हस्तगृहीतं बद्धहस्तं आनयन्ति । प्राड्विवाकसमक्षे प्रापयन्ति किं कृतवानयमिति पृष्टास्ते ब्रुवन्ति । अयमानीतः पुरुषः अपहार्षीत् अस्य पुरुषस्य धनमपाहार्षीत् । अपहृतवानित्यर्थः । ते धर्माधिकारिणः कथयन्ति किमपहरणमात्रेण बन्धनमर्हत्यसौ । अन्यथा दत्तेपिधने बन्धनप्रसंगात् । इत्युक्ता पुनस्तेदूतास्तेयमकार्षीत् चौर्येण धनमपाहार्षीत् । इत्येतेषु राजपुरुषेषु वदत्सु स चौरः स्वकर्मापह्नुते नाहंतत्कर्तेति । तदा धर्माधिकारिणः कथयन्ति अस्मै चौराय चौरनिमित्ताय परशुं परशुनामकं यन्त्रविशेषं तपत अग्नौ प्रतप्तं कुरुत् यूयम् । स यदि तस्य चौर्यस्य कर्ता कारको भवति परन्तु बाह्यतया अपह्नुते तर्हि तत एव तेनैन अपह्नवेन मिथ्याभाषणेन वा आत्मानमनृतं कुरुते । मिथ्यात्वयुक्तं करोति सः अनृताभिसंधः अनृत प्रतिज्ञः अनृतेन असत्येन आत्मानमन्तर्धाय आत्मानमाच्छाद्य तप्तं परशुं प्रतिगृह्णाति तदा स दह्यते अथानन्तरं राजपुरुषैः स्वकृतेनानृताभिसंधिदोषेण हन्यते ॥ १ ॥

अनुवादः—हे सोम्य ! (राजपुरुष) (चोर) पुरुष को हाथ बांधकर ले आते हैं । इसने अपहरण किया है । इस ने चोरी की है । इसके लिये परशु तप्त करो । वह यदि उस चोरी का कर्ता होता है (परन्तु) बाह्यरीति से अस्वीकार करता है तो उसके द्वारा वह अपने आत्मा को असत्य युक्त करता है । वह मिथ्याप्रतिज्ञ पुरुष

मिथ्यात्व से अपने को छिपा तप्त परशु को ग्रहण करता है। वह दग्ध हो जाता है। तत्पश्चात् मारदिया जाता है (१)॥ १॥

पदार्थः-(सोम्य) हे प्रिय पुत्र! (पुरुषम्) संदिग्ध चोर पुरुष को (हस्तगृहीतम्) बद्धहस्त अर्थात् हाथ बांधकर (आनयन्ति) राजपुरुष लोग धर्माधिकारियों के निकट ले आते हैं और आनकर कहते हैं कि (अपहार्षीत्) इसने इसके धनका अपहरण किया है। केवल अपहरण ही नहीं किया किन्तु (स्तेयम्+अकार्षीत्) चोरी करके लेगया राजपुरुष के इतने कहने पर वह चोर पुरुष अपनी चोरी को छिपाता है कि मैंने चोरी नहीं की है तदनन्तर धर्माध्यक्ष लोग उसकी परीक्षा के लिये यह उपाय करते हैं (अस्मै) इसके लिये (परशुम्) परशुनाम यन्त्र को (तपत) तपाओ (इति) इसके अनन्तर उस तप्त परशु को पकड़ने के लिये उस चोर से कहते हैं (सः+यदि+तस्य+कर्ता+भवति) वह पुरुष यदि चोरी करने वाला रहता है और बाहर से छिपाता है तो (तत एव) उस छिपाने से (आत्मानम्) अपने को (अनृतम्) मिथ्या युक्त (कुरुते) करता है (सः+अनृताभिसंधः) वह अनृतभाषी पुरुष (अनृतेन) असत्यता से (आत्मानम्+अन्तर्धाय) आत्मा को छिपा (तप्तम्+परशुम्+प्रतिगृह्णाति) तप्त परशु यन्त्र को पकड़ता है (सः+दह्यते) तब उससे वह जल जाता है (अथ) अनन्तर (हन्यते) राजपुरुषलोग उसे मार देते हैं॥ १॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याऽभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते॥ २॥

अथ। यदि। तस्य। अकर्ता। भवति। ततः। एव। सत्यम्। आत्मानम्। कुरुते। सः। सत्याभिसंधः। सत्येन। आत्मानम्। अन्तर्धाय। परशुम्। तप्तम्। प्रतिगृह्णाति। सः। न। दह्यते। अथ। मुच्यते॥ २॥

भाष्यम्-अथेति। यदि च स संदिह्यमानः पुरुषः तस्यस्तेयस्याकर्ताऽनपहर्ता भवति तर्हि तत एव तेनैव सत्यभाषणेन आत्मानं सत्यं सत्ययुक्तं कुरुते। स सत्याभिसंधः। सत्यमभिसन्दधाति वदतीति सत्याभिसंधः सत्यवादीत्यर्थः। सत्येनात्मानमन्तर्धाय तप्तं परशुं प्रतिगृह्णाति स न दह्यते। अथ धर्माध्यक्षैर्मुच्यते त्यज्यतेऽयं पुरुषः॥ २॥

अनुवादः-और यदि वह संदिग्ध पुरुष चोरी का अकर्ता रहता है तो उसीसे अपने आत्मा को सत्ययुक्त करता है। वह सत्यवादी पुरुष उस सत्य से अपने आत्मा

(१) भूमिका में इसका वर्णन देखो।

को ढांक तप्त परशु को ग्रहण करता है वह नहीं दग्ध होता अनन्तर वह छोड़ दिया जाता है (१) ॥ २ ॥

पदार्थः–(अथ) और (यदि) यदि वह संदिग्ध चोर पुरुष जिसको राजपुरुष लोग पकड़ कर ले आये हैं (तस्य+अकर्ता+भवति) उस चौर्यवृत्ति का नहीं करनेवाला रहता है तो (ततः+एव) उस अपनी सत्यता से ही (आत्मानम्+सत्यम्+कुरुते) अपने को सत्ययुक्त करता है (सः+सत्याभिसंधः) वह सत्यप्रतिज्ञ (सत्येन+आत्मानम्+अन्तर्धाय) सत्यता से अपने को ढांक (तप्तम्+परशुम्+प्रतिगृह्णाति) तप्त परशु को पकड़ता है (सः+न+दह्यते) वह नहीं दग्ध होता है (अथ+मुच्यते) तत्पश्चात् धर्माध्यक्ष लोग उसे छोड़देते हैं ॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा "तत्त्वमसि" श्वेतकेतो ! इति । तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

भाष्यम्–हे सोम्य ! स सत्याभिसन्धः पुरुषः । तत्र परीक्षायां तप्तेन परशुना यथा न अदाह्यत न दग्धोऽभूत् । एवमेव सत्याभिसंधः पुरुषः परलोकेऽपि दुःखैर्न दह्यत ऐतदात्म्यमित्यादि समानम् । इत्थम् अस्य स्वपितुस्तज्विज्ञानं स श्वेतकेतुर्विजिज्ञौ विज्ञातवान् । विजिज्ञाविति द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति षोडशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

अनुवादः–सो जैसे वहां वह दग्ध नहीं हुआ । हे श्वेतकेतु यह सम्पूर्ण जगत् इसी आत्मा से परिपूर्ण है । इत्यादि । इस प्रकार इस पिता के विज्ञान को उसने जाना । और सब पद ६ । ८ । ७ के समान हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः–(यथा) जैसे (सः) वह सत्याभिसन्ध पुरुष (तत्र) उस परीक्षा में (न+अदाह्येत) वह दग्ध नहीं हुआ । इत्यादि । (अस्य) श्वेतकेतु ने इस अपने पिता के (तत्+ह) उस प्रसिद्ध विज्ञान को (विजिज्ञौ+इति) जाना (विजिज्ञौ+इति) जाना । प्रपाठक समाप्ति के लिये "विजिज्ञौ" इसका दोवार पाठ है और सब पूर्ववत् जानना ॥ ३ ॥ इति षोडशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १६ ॥

इति श्री शिवशङ्करशर्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये षष्ठप्रपाठकस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ ६ ॥

---

(१) भूमिका में इस का वर्णन देखो ।

अथ सप्तमः प्रपाठकः प्रारभ्यते ।

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त उर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥

अधीहि । भगवः । इति । ह । उपससाद । सनत्कुमारम् । नारदः । तम् । ह । उवाच । यत् । वेत्थ । तेन । मा । उपसीद । ततः । ते । उर्ध्वम् । वक्ष्यामि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अधीहीति । उपसन्नेनान्तेवासिना आचार्यसामीप्ये स्वविद्या नोद्घाटनीया । गुरवो हि स्वयं तदीयां विद्यायोग्यतां विदित्वा तदनुरूपां कल्याणीं शिक्षां ददति चेत्यनुद्धतो नारदो न किञ्चित्स्वप्राप्तगतं विज्ञानं व्यवृणोत् । अतोधीहीत्यनेनारभते । भगवः । हे भगवन् । पूजनीय प्रभो ! अधीहि । अधीष्व अध्यापय । स्मारय वा । अधिगमय वा । मां तत्त्वं शाधीत्यर्थः । अधीहि भगव इति प्राचीनौ प्रयोगौ । सम्प्रति न प्रयुज्येते । "अधीहि-अधिपूर्वकात् इङ् अध्ययने इत्यस्माद्धातोर्लोटो मध्यम पुरुषस्यैकवचनान्तम् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । तत्रापि अन्तर्भावितण्यर्थो मन्तव्यः । अन्यथा अर्थ कदर्थनापत्तिः । अध्येतुमागतो नारद अध्यापय इत्यस्मिन् स्थाने अधीहीति कथं प्रयुञ्जीत । अतोयमार्षः प्रयोगः । यद्वा इङ् अध्ययने अध्यापने च धातुः पृषोदरादित्यनुमीयते । तैत्तिरीयोपनिषद्यपि । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । बहुशः प्रयुक्ताः । यद्वा । इक् स्मरणे । इत्यस्मात् साध्यम् । यद्वा । इण् गतौ इत्यस्मात् प्रक्रिया ज्ञेया । उभयत्रापि अन्तर्भावितण्यर्थः । भगवः । मतुवसोरुः सम्बुद्धौ छन्दसि । इत्यनेन रुः । कश्चिच्छान्दसान् प्रयोगान् प्रयुञ्जानस्य लोकस्यापि न दोषः " । इति पूर्वोक्तं वचनमभिधाय । नारदः । प्रसिद्धो देवर्षिः । सनत्कुमारं योगीश्वरं ब्रह्मनिष्ठम् । उपससाद उपविवेश । तत्त्वज्ञानोपलब्धये अधीतनिखिलविद्योऽपि कृतकृत्योऽपि नारदः सर्वतोभावेन सनत्कुमारशरणमावव्राज । हेति । इतिहाससूचकः । इदमियच्चवेद्मि । इदमधिजिगांसे इति नारदेनानुक्तत्वात् किं कियच्च जानासि । किमधिजिगांससेत्याकांक्षायां समुत्थितायां भगवान् सनत्कुमारो यद्वेत्थेत्यादिना अधीताधिगतवस्तु पृच्छति । तम् । विधिना शरणागतं नारदं प्रति । ह । किल । उवाच । यत् हे नारद ! यत् किञ्चित् तत्त्वं । वेत्थ जानासि ।

त्वं वेत्सि । तेन । आत्मविज्ञानेन माम् । उपसीद । इदमहं जाने इति मां प्रथमं श्रावयित्वा । मत्समीपमुपविश मच्छरणं व्रजेतियावत् । ततोऽहम् । त्वदीयविज्ञानादूर्द्धम् । अग्रे । ते । तुभ्यम् । वक्ष्यामि । उपदेक्ष्यामि । इति । यद्वेत्थेत्यादि प्रश्नेनायमपि ध्वनिरायाति यत् परचित्तविषयी-भूत-वस्तु-विज्ञानसमर्थो न कोऽपि भवाति । कतिपयाधुनिक प्रबन्धेषु चिरन्तनानृषीन् परचित्तविदः प्रकाश्य तत्तन्नामधेयैस्तदनर्हान् बहून् प्रबन्धान्विरचय्य जगन्मोहयन्त्यतत्त्वविदः । ते च कपोल-कल्पिता जगदहिता इत्यनादर्त्तव्याः । योगिवरिष्ठो ब्रह्मिष्ठः सनत्कुमारो यन्नाभ्यजानात् तत् कथमपरो विजानीयात् ॥ १ ॥

अनुवादः–हे भगवन् ! (कृपया मुझे) सिखलावें । यह (कहकर) नारद सनत्कुमार की शरण में प्राप्त हुए । यह बात प्रसिद्ध है । उस प्रसिद्ध नारद से वे बोले कि जो कुछ तुम जानते हो उससे मुझे प्राप्त होवो (अर्थात् उसको प्रथम मुझे सुनाओ) तब उसके आगे मैं तुमसे कहूंगा इति ॥ १ ॥

पदार्थः–(भगवः) हे भगवन् ! (अधीहि) मुझे शिक्षा दीजिये पढ़ावें (इति) यह कहकर (नारदः) नारद ऋषि (सनत्कुमारम्) योगिराज सनत्कुमार के (उपससाद) निकट बैठ गये (ह) यह शब्द इतिहाससूचक है । अर्थात् यह ऐतिहासिक बात है कि नारद शिक्षा के लिये सनत्कुमार के निकट गये थे (ह) प्रसिद्ध (तम्) उस नारद से (उवाच) सनत्कुमार बोले (यत्) जो कुछ (वेत्थ) आप जानते हैं (तेन) उससे (माम्) मुझको (उपसीद) प्राप्त होवो । जो कुछ आप जानते हैं उसको प्रथम मुझे सुना देवें (ततः) तब उससे (ऊर्द्धम्) आगे (ते) आपको (वक्ष्यामि+इति) उपदेश दूंगा इति ॥ १ ॥

भाष्याशयः–जिस जिज्ञासु ने सम्पूर्ण भाव से अपने को आचार्य में समर्पित कर दिया है उसे अपनी अधीत विद्या का उद्घाटन करने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि गुरु स्वयं उसकी विद्या योग्यता जान तत्सदृश कल्याणी शिक्षा दिया करते हैं इस हेतु नारद ने निज बोध के विषय में कुछ भी निवेदन नहीं किया । अतः "मुझे शिक्षा देवें" इतना ही कह कर चुप होगये । परन्तु योग्यता, मुखकान्ति से विदित होजाती है । अतः नारद को अधीतविद्य और सुयोग्य जान भगवान् सनत्कुमार को पूछना पड़ा कि हे नारद ! आप क्या और कितना जानते हैं सो मुझे प्रथम सुनावें । सनत्कुमार के प्रश्न से यह भी स्पष्ट होता है कि हृदयगत वस्तु को कोई भी अन्य पुरुष नहीं जान सकता है क्योंकि परमयोगी सनत्कुमार जब नारद के हृदयगत बोध को बिन पूछे न जान सके तो अन्य की

चर्चा ही क्या । आधुनिक कतिपय ग्रन्थों में प्राचीन ऋषियों को परचित्त विषय विज्ञानी कह उनके नाम पर तुच्छ २ विषय दिखलाये गये हैं। वे सब कपोलकल्पित मानने चाहियें ॥

अधीहि (अधि+इङ्=अध्ययन करना) इस शब्द का अर्थ (पढ़ो) होता है परन्तु यहां इसका अर्थ "पढ़ाओ" ऐसा किया जाता है । यदि यह अर्थ न किया जाय तो अर्थ की संगति नहीं होगी । क्योंकि नारद पढ़ने के लिये आये हैं न कि पढ़ाने के लिये । इस हेतु "अधीहि" को अन्तर्भावितण्यन्तमानकर "अध्यापय" अर्थ करना ही ठीक है । (अधीहि) प्रयोग बहुत प्राचीन है । आजकल इस के स्थल में "अधीष्व" होता है । अतः शङ्कराचार्य "अधीष्व" अर्थ किया है । परन्तु "अधीष्व" को भी "अध्यापय" समझना चाहिये । क्योंकि "अधीष्व" का भी अर्थ (पढ़ो) होगा। यद्वा (अधि+इक्=स्मरण करना) इस धातु का रूप समझना चाहिये । तब इस का अर्थ "स्मरण करवावें" होगा । यद्वा (अधि+इण्=गमन करना) इसका रूप मानना चाहिये । तब "अधीहि" अधि गच्छ "अधिगमय" अर्थात् बोध करवावें यह अर्थ होता इन दोनों धातुओं से यदि "अधीहि" सिद्ध मानें तो प्राचीन प्रयोग मानने की आवश्यकता न होगी । क्योंकि इन दो धातुओं से आजकल भी "अधीहि" ऐसा ही रूप होता है परन्तु अन्तर्भावितण्यर्थ सर्वत्र ही मानना होगा । भगवः-यह भी प्राचीन प्रयोग है आजकल भगवन् होता है ॥ १ ॥

स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

सः । ह । उवाच । ऋग्वेदम् । भगवः । अध्येमि । यजुर्वेदम् । सामवेदम् । आथर्वणम् । चतुर्थम् । इतिहासपुराणम् । पञ्चमम् । वेदानाम् । वेदम् । पित्र्यम् । राशिम् । देवम् । निधिम् । वाकोवाक्यम् । एकायनम् । देवविद्याम् । ब्रह्मविद्याम् । भूतविद्याम् । क्षत्रविद्याम् । नक्षत्रविद्याम् । सर्पदेवजनविद्याम् । एतत् । भगवः । अध्येमि ॥ २ ॥

भाष्यम्–स इति । भगवता सनत्कुमारेणाभिहितोह प्रसिद्धो नारद उवाच । भगवः । हे भगवन् ! ऋग्वेदम् । यजुर्वेदम् । सामवेदम् । चतुर्थमाथर्वणम् । अथर्ववेदञ्च अध्येमि स्मरामि "अदन्त आथर्वण शब्दोऽपि अथर्ववेदवाची वसन्तादिगणे पठितः यद्वाऽस्मादेव प्रमाणादकारान्त आदादिश्च आथर्वण शब्दश्चतुर्थेवेदे मन्तव्यः । यद्वा । अथर्वणा ऋषिणा दृष्टः । आथर्वणः । यद्वा । थर्वा हिंसा विनाशः । न विद्यते थर्वा विनाशो यस्य सः । अथर्वा अविनश्वरः परमात्मा । तमधिकृत्य प्रधानतया प्रवृत्तो वेद आथर्वणः" । सर्वेषां वेदानां स्मरणमात्रमेव वर्त्तते नतु तत्त्वतोऽहं तान् जानामीत्यर्थः । "अधीगर्थदयेशां कर्म्मणि इतितु शेषत्वाविवक्षितत्वान्न प्रवर्त्तते" एवमेव पञ्चममितिहासपुराणम् । वेदानां वेदम् । विद्यन्ते ज्ञायन्ते पदार्था एभिरिति वेदाः विद्या पुरा वेदशब्दो विद्यायामपि प्रयुक्तः । विद्यन्ते ज्ञायन्ते विद्या लघूपायेन प्रयोगाश्च अनेन इति वेदो व्याकरणशास्त्रञ्च । व्याकरणं खलु प्रकीर्णान् सुदुर्ज्ञेयान् शब्दान् लघूपायेन स्वल्पसमयेन च ज्ञापयित्वा निखिल शब्दोदधीन् अवगाहयितुं क्षमान् जनान् विदधाति । इतराणि सर्वाणि शास्त्राणि अधीतव्याकरणस्य सुबोधानि जायन्ते च । अतो द्वितीयवेदपदेन व्याकरणमभिधीयते । प्रथम वेद शब्दो विद्यावाची । अतो वेदानां विद्यानां वेदम् । व्याकरणशास्त्रमित्यर्थः समायाति । यद्वा। समुदायार्थो व्याकरणम् । वेदानां वेद इति व्याकरणे रूढिरेषा मन्तव्या । पित्र्यम् । पितृशुश्रूषापरकं शास्त्रम् । पितृभिः प्रोक्तं पित्र्यं वा । राशिम् । गणितविद्याम् । दैवम् । उत्पातविद्याम् । निधिम् । महाकालादि निधिशास्त्रम् । वाकोवाक्यम् । तर्क शास्त्रम् । एकायनम् । नीतिशास्त्रम् । देवविद्याम् । निरुक्तशास्त्रम् । ब्रह्मविद्याम् वेदव्याख्यापरां शिक्षाकल्पादि विद्याम् । भूतविद्याम् । सर्व-प्राणिविद्याम् । क्षत्रविद्याम् । धनुर्विद्याम् । नक्षत्रविद्याम् । ज्योतिषशास्त्रम् । सर्पदेवजनवि-द्याम् । सर्पविद्याम् । देवजनविद्याञ्च । नृत्यगीतवाद्यशिल्पादि विज्ञानशास्त्रं देवजनविद्या निगद्यते । भगवः । हे भगवन् ! एतत् पूर्वोक्तम् । सर्वं विज्ञानमध्येमि स्मरामि ॥ २ ॥

अनुवादः–वह प्रसिद्ध नारद बोले कि हे भगवन् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को स्मरण किया करता हूं । और पञ्चम इतिहास पुराण वेदानांवेद (व्याकरण) पित्र्य (पितृ-शुश्रूषाविज्ञान) राशि (गणित) दैवविद्या, निधिविद्या वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र) एकायनविद्या (नीतिशास्त्र) देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या । इन सब विद्याओं को हे भगवन् ! मैं स्मरण किया करता हूं ॥२॥

पदार्थः—(सः ह) वे प्रसिद्ध नारद (उवाच) बोले कि (भगवः) हे भगवन्! (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को (सामवेदम्) सामवेद को (चतुर्थम्) चौथे (आथर्वणम्) अथर्ववेद को (अध्येमि) जानता हूं। (पञ्चमम्) पांचवें (इतिहास पुराणम्) इतिहास पुराण (प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ) को (वेदानाम्+वेदम्) वेदों का वेद अर्थात् व्याकरण को (पित्र्यम्) पितृ-शुश्रूषा विज्ञान को (राशिम्) गणित को (दैवम्) उत्पात-विद्या को (निधिम्) निधिविद्या को (वाकोवाक्यम्) तर्कशास्त्र को (एकायनम्) नीतिविद्या को (देवविद्याम्) निरुक्त को (ब्रह्मविद्याम्) शिक्षा, कल्प, छन्द आदिक वैदिक विद्या को (भूतविद्याम्) पशु, पक्षी, सरीसृप आदिक प्राणिविद्या को (क्षत्रविद्याम्) क्षत्रियों की विद्या अर्थात् धनुर्विद्या को (नक्षत्रविद्याम्) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र सम्बन्धिनी विद्या को (सर्पदेवजनविद्याम्) सर्पविद्या और नृत्यगीतवाद्य शिल्प आदि विद्या को (एतत्) इन सब विद्याओं को (भगवः) हे भगवन्! (अध्येमि) जानता हूं * ॥ २ ॥

भाष्याशयः–अथर्वन् शब्द—कहीं २ आथर्वण शब्द भी अथर्ववेदवाचक आता है। पाणिनीय सू० ४। २। ६६। वसन्तादिगण में अथर्वन् और आथर्वण इन दोनों का पाठ है। यद्वा इसी उपनिषद् के प्रमाण से समझना चाहिये कि आथर्वण शब्द पूर्वकाल में भी प्रयुक्त होता था। यद्वा। अ+थर्वा। अ=नहीं। थर्वा=विनाश। जिसका कदापि विनाश न हो वह अथर्वा परमात्मा। विशेषतया परमात्मा के अधिकार में जो प्रवृत्त हुआ हो उसे आथर्वण कहना चाहिये। यद्वा। अथर्वा ऋषि से दृष्ट जो वेद वह आथर्वण। इसको अथर्वाङ्गिरस वा आथर्वाङ्गिरस भी कहते हैं। वेदानांवेद–पूर्व समय में विद्या का भी नाम वेद था। पदार्थों का ज्ञान हो जिससे उसे वेद कहते हैं। विद्या के द्वारा झटिति पदार्थों का बोध होता है। अतः वेद नाम विद्या का है। और अनन्त शब्दों का सुगम उपाय से और थोड़े समय में व्याकरण के द्वारा बोध हो जाता है। तथा अधीत व्याकरण मनुष्य का अन्य शास्त्रों में शीघ्र प्रवेश होता है। अतः वेद नाम केवल व्याकरण का भी है। क्योंकि विद्याओं का

* (१) इसके अतिरिक्त उपनिषदों में इन विद्याओं की चर्चा पाई जाती है। शिक्षा (१) कल्प (२) व्याकरण (३) निरुक्त (४) छन्दः (५) ज्यौतिष (६) मुण्डको-पनिषद्। १। १। ५॥ विद्या (१) उपनिषद् (२) श्लोक (३) सूत्र (४) अनुव्या-ख्यान (५) व्याख्यान (६) बृ० उ० २। ४। १०। और ४। ५। ११॥ इस उपनिषद् में अथर्ववेद का नाम "अथर्वाङ्गिरस" आया है। और "इतिहास पुराण" शब्द यहां पृथक् है अर्थात् समास किया हुआ नहीं है।

भी शीघ्र बोध करने वाला व्याकरण है इस कारण "वेदानां वेद" व्याकरण को कहते हैं। यह शब्द रूढिवत् व्याकरण अर्थ में प्रयुक्त होता है। अध्येमि—स्मरण करता हूं "अधि इक्" धातु का अर्थ स्मरण करना होता है। इतना कहने से नारद का अभिप्राय यह है कि सब वेद और ये शास्त्र मुझे केवल स्मरणमात्र हैं। उनके तत्त्व क्या हैं इनके द्वारा परमात्मा कैसे जाना जाता है कैसे उसे जानकर आनन्दी हो जाता है। शोकरहित योगी कैसे होते हैं इत्यादि विषय मुझे मालूम नहीं। मुझे केवल ये सब विद्यायें पढ़ाई गई हैं और मुझे सब स्मरण भी हैं। इसी अभिप्राय से "अध्येमि" यह दोवार पठित है ॥ २ ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽत्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति । तꣳ होवाच—यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

सः । अहम् । भगवः । मन्त्रविद् । एव । अस्मि । न । आत्मविद् । श्रुतम् । हि । एव । मे । भगवद्दृशेभ्यः । तरति । शोकम् । आत्मविद् । इति । सः । अहम् । भगवः । शोचामि । तम् । मा । भगवान् । शोकस्य । पारम् । तारयतु । इति । तम् । ह । उवाच । यद् । वै । किञ्च । एतत् । अध्यगीष्ठाः । नाम । एव । एतत् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स इति । भगवः हे भगवन् ! सोऽहम् । एतद्विद्यानां पाठकोऽप्यहम् । मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् । कथं त्वं जानासि नाहमात्मविदित्याह । हि यतः । भगवद्दृशेभ्यः । भगवत्सदृशेभ्यो ब्रह्मनिष्ठेभ्य आत्मविद्भ्यो जनेभ्यो मे मम श्रुतमेव श्रुतमस्ति । यदात्मवित् पुरुषः शोकं तरति इति । शोकस्य पारं गच्छति न शोचतीत्यर्थः । हे भगवन् ! सोऽहंशोचामि । सर्वदा शोकापहतस्तिष्ठामीतिहेतोर्नाहमात्मविदिति ब्रवीमि । तं शोकसंतप्तमानसं मा मां शोकस्य पारं भगवान् तारयतु । शोकस्यान्तं मा स्वकीयोपदेशेन प्रापयतु इति । इति ब्रुवन्तं तं नारदंप्रति भगवान् सनत्कुमारोहोवाच । नारद ! यत्किञ्चवै यत्किञ्चिदेव । एतत् । पूर्वोक्तविज्ञानम् । अध्यगीष्ठाः । अधीतवानसि । एतत् पूर्वोक्तं सर्वं नामैव । नाममात्रमेव । नहि शब्दा अविचारिता अमताश्च सन्तस्तत्त्वं प्रकाशयितुं समर्थाः भवन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः-हे भगवन्! सो मैं केवल मन्त्रवित् हूं आत्मवित् नहीं। क्योंकि आप सदृशों (योगीश्वरों) से मुझ को सुना हुआ है कि आत्मवित् शोक को तर जाते हैं। किन्तु हे भगवन्! मैं तो शोक कर रहाहूं। इसलिये शोकग्रस्त मुझ को भगवान् शोक के पार उतारें (इसे सुन वे सनत्कुमार) उस प्रसिद्ध नारद से बोले कि हे नारद! जो कुछ यह आपने अध्ययन किया है यह नाम ही है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(भगवः) हे भगवन्! (सः+अहम्) वह मैं अर्थात् वेदादि शास्त्रों को जानने वाला भी मैं (मन्त्रवित्+एव) मन्त्रवेत्ता ही (अस्मि) हूं अर्थात् पाठकमात्र हूं (आत्मवित्+न) ब्रह्मवित् नहीं (हि) क्योंकि (भगवद्दृशेभ्यः) आपके समान तत्त्ववेत्ताओं से (मे) मुझे (श्रुतमेव) सुना ही हुआ है कि (आत्मवित्) ब्रह्मवित् (शोकम्+तरति) शोक को तरजाते हैं। अर्थात् शोक नहीं करते (इति) परन्तु (भगवः) हे भगवन्! (सोऽहम्) सो मैं (शोचामि) शोक कररहा हूं इस हेतु मैं आत्मवित् नहीं (तम्) शोकग्रस्त उस (मा) मुझको (भगवान्) आप (शोकस्य+पारम्) शोक के पार (तारयतु) उतारें (इति) यह मेरी प्रार्थना है। (तम्+ह+उवाच) वे प्रसिद्ध सनत्कुमार उस नारद से बोले कि (यत्किञ्च) जो कुछ (एतत्) पूर्वोक्त विज्ञान का (वै) निश्चय (अध्यगीष्ठाः) आपने अध्ययन किया है (एतत्+नामैव) यह सब नाम ही है ॥३॥

भाष्याशयः—नाम-सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि ऋग्वेदादि ये सब नाम ही हैं। यहां शङ्का हो सकती है कि यदि नाम है तो क्या इनसे कुछ लाभ नहीं है? । उ०—यहां नाम शब्द से अभिप्राय यह है कि वेदादि के अध्ययन से प्रथम वस्तुमात्र के नाम अर्थात् संज्ञा का बोध होता है और उसके साथ २ तद्वाच्य पदार्थ का भी बोध होता जाता है। परन्तु वेदादि शास्त्र पढ़े हुए भी जब नारद को आत्मविद्या रहित; सनत्कुमार ने देखा तो उनको कहना पड़ा कि अभी तक तुमने नाम ही का अध्ययन किया है ॥ ३ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानांवेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या। नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥

नाम । वै । ऋग्वेदः । यजुर्वेदः । सामवेदः । आथर्वणः । चतुर्थः । इतिहासपुराणः । पञ्चमः । वेदानाम् । वेदः । पित्र्यः । राशिः । दैवः । निधिः । वाकोवाक्यम् । एकायनम् । देवविद्या । ब्रह्मविद्या । भूतविद्या । क्षत्रविद्या । नक्षत्रविद्या । सर्पदेवजनविद्या । नाम । एव । एतत् । नाम । उपास्स्व । इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्–ऋग्वेदादि सर्वं नामैव । हे नारद ! एतन्नाम उपास्स्व विचारयेति । शेषं पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अनुवादः–(हे नारद !) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद नाम ही हैं । और पञ्चम इतिहासपुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशि (गणित) दैव (उत्पातविद्या) निधिविद्या, वाकोवाक्य (तर्कविद्या) एकायन (नीतिविद्या) देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या । ये सब नाम ही हैं । हे नारद ! नाम की भावना करो । इति ॥ ४ ॥

पदार्थः–इसके पदार्थ बहुत सहज हैं द्वितीय प्रवाकवत् जानना । द्वितीय प्रवाक की ही यहां आवृत्ति की गई है ॥ ४ ॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारोभवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति ? नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

सः । यः । नाम । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । नाम्नः । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । नाम । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । नाम्नः । भूयः । इति । नाम्नः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्–स य इति । स यो ब्रह्मवित् । नाम ब्रह्मेत्युपास्ते । ब्रह्मज्ञानार्थमृग्वेदादिरूपम् नाम उपास्ते भावयति । तस्य यत् फलं भवति तच्छृणु । यावन्नाम्नोगतं यावत्पर्यन्तं नाम्नो गतं गतिरस्ति । तत्र । अस्य नामोपासकस्य यथाकामचारो भवति स्वेच्छाचारो भवतीत्यर्थः । यः पुरुषो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते । पुनरपि नारदः पृच्छति । भगवो भगवन् ! नाम्नो नामधेयाद्भूयोऽधिकतरं किमस्ति ? इति प्रश्नः । सनत्कुमार उत्तराति । नाम्नो वाव नामधेयाद्वै भूयोस्ति अधिकतरमस्ति इति । पुनरपि नारदः पृच्छति यदि नामधेयादधिकतरं

किमपि वर्त्तते तर्हि तत् मे मह्यं कृपया भगवान् पूज्यतमः खलु भवान् ब्रवीतु। उपदिशतु शास्त्वित्यर्थः। इति प्रार्थये॥ ५॥

इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम्॥ १॥

अनुवादः—जो ब्रह्मवित् ब्रह्मप्राप्त्यर्थ नाम की भावना करता है (उसका फल आगे कहा जाता है सो हे नारद! सुनो) जहांतक नाम की गति है वहांतक इसका यथा कामचार (स्वेच्छागमन) होता है। जो नाम की ब्रह्मप्राप्त्यर्थ उपासना करता है (फिर नारद पूछते हैं कि) हे भगवन्! नाम से अधिकतर क्या है? (सनत्कुमार कहते हैं) नाम से भी तो अधिकतर है (फिर नारद पूछते हैं कि नाम से जो अधिकतर है) उसको मेरे लिये भगवान् कहें। इति॥ ५॥

पदार्थः—(सः+यः) सो जो नामोपासक (नाम+ब्रह्म+इति+उपास्ते) ऋग्वेदादि स्वरूप नाम का ब्रह्मप्राप्त्यर्थ अथवा बृहत् मानकर अध्ययन करता है उसको यह फल प्राप्त होता है सो आगे कहते हैं (नाम्नः) नामकी (गतम्) गति (यावत्) जहांतक है (तत्र) वहांतक (अस्य) इस नामाध्यायी पुरुष का (यथाकामचारः) स्वेच्छागमन (भवति) होता है। किसको होता है सो पुनः उपसंहाररूप से वर्णन करते हैं (यः+नाम+ब्रह्म+इति+उपास्ते) जो नामका ब्रह्मप्राप्त्यर्थ अध्ययन करता है (नारद पू०) (भगवः) हे भगवन्! (नाम्न) नाम से (भूयः+अस्ति+इति) बड़ा भी कोई पदार्थ है (सनत्कुमार) (नाम्नः+वाव+भूयः+अस्ति+इति) नाम से तो बड़ा अन्य वस्तु है। (नारद पू०) (तत्) उसको (मे) मेरे लिये (भगवान्+ब्रवीतु+इति) आप कृपा कर कहें। हे भगवन्! नाम से भी जो बड़ा है उस विज्ञान की शिक्षा मुझे दीजिये॥५॥

इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम्॥ १॥

अथ द्वितीयः खण्डः॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनवि-

(१) ब्रह्म शब्द के अर्थ ईश्वर और बड़ा दोनों घट सकते हैं ब्रह्म शब्द की समीक्षा देखो।

द्याम् । दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च । तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकम् । धर्मञ्चाऽधर्मञ्च सत्यञ्चाऽनृतञ्च साधुचासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्च यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाऽधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नाऽनृतं न साधु नाऽसाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति । वाचमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

वाक् । वाव । नाम्नः । भूयसी । वाक् । वै । ऋग्वेदम् । विज्ञापयति । यजुर्वेदम् । सामवेदम् । आथर्वणम् । चतुर्थम् । इतिहासपुराणम् । पञ्चमम् । वेदानाम् । वेदम् । पित्र्यम् । राशिम् । दैवम् । निधिम् । वाकोवाक्यम् । एकायनम् । देवविद्याम् । ब्रह्मविद्याम् । भूतविद्याम् । क्षत्रविद्याम् । नक्षत्रविद्याम् । सर्पदेवजनविद्याम् । दिवम् । च । पृथिवीम् । च । वायुम् । च । आकाशम् । च । आपः । च । तेजः । च । देवान् । च । मनुष्यान् । च । पशून् । च । वयांसि । च । तृणवनस्पतीन् । श्वापदानि । आकीटपतङ्गपिपीलिकम् । धर्मम् । च । अधर्मम् । च । सत्यम् । च । अनृतम् । च । साधु । च । असाधु । च । हृदयज्ञम् । च । अहृदयज्ञम् । च । यद् । वै । वाक् । न । अभविष्यत् । न । धर्मः । न । अधर्म्मः । व्यज्ञापयिष्यत् । न । सत्यम् । न । अनृतम् । न । साधु । न । असाधु । न । हृदयज्ञः । न । अहृदयज्ञः । वाक् । एव । एतत् । सर्वम् । विज्ञापयति । वाचम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—हे नारद ! नाम्नः सकाशात् । वाग्वाव वागेव । भूयसी अधिकतरा । यतो वाग्वै । ऋग्वेदं विज्ञापयति बोधयति । यजुर्वेदमारम्य सर्पदेवजनविद्या—पर्य्यन्तं पूर्वं व्याख्यातम् । एवमेव दिवञ्च, पृथिवीञ्च, वायुञ्च, आकाशञ्च, आपश्च, तेजश्च, देवांश्च, मनुष्यांश्च, पशूंश्च, वयांसि च, तृणवनस्पतींश्च, श्वापदानि हिंस्रपशून्, आकीटपतंगपिपीलिकं, धर्मञ्च, अधर्मञ्च, सत्यञ्च, अनृतञ्च, साधु च, असाधु च, हृदयज्ञञ्च हृदयप्रियञ्च, अहृदयज्ञञ्च हृदयस्याप्रियञ्च, एतत्सर्वं वाग्वै विज्ञापयति । हे नारद ! यदि वाङ् नाभवि-

ण्यत्तर्हि वचनाभावे अध्यापनं न स्यात् । तदभावे श्रवणं न स्यात् । श्रवणाभावे धर्मादीनामनुष्ठानाभावः । अतस्त्वं नारद । वाचमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अनुवाद:—हे नारद नाम से वाणी ही अधिकतर है । वाणी ही ऋग्वेद को बोधित करती है । यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चम इतिहास पुराण, वेदानां वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, द्युलोक और पृथिवी और वायु और आकाश और जल और तेज और देव और मनुष्य और पशु और पक्षी, तृणवनस्पति, श्वापद=हिंस्रजन्तु, कीटपतङ्गपिपीलिका पर्य्यन्तक्षुद्रजन्तु, धर्म और अधर्म, सत्य और अनृत्य, साधु और असाधु, हृदयप्रिय और हृदय का अप्रिय इन सब वस्तुओं को वाणी ही समझाती है । यदि वाणी न होती तो न धर्म न अधर्म न सत्य न असत्य न साधु न असाधु न प्रिय न अप्रिय ज्ञात होता । हे नारद ! इस हेतु ब्रह्मज्ञान के लिये वाणी की उपासना करो ॥ १ ॥

पदार्थः—सनत्कुमार कहते हैं हे नारद ! (वाग्) वाणी (वाव) ही (नाम्नः+भूयसी) नाम से बड़ी है क्योंकि (वाग्+वै) वाणी ही (ऋग्वेदम्+विज्ञापयति) ऋग्वेद को जतलाती है इसी प्रकार (यजुर्वेदम्०) यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण, पञ्चम इतिहास पुराण, व्याकरण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन (नृतवाद्यादि) विद्या (दिवञ्च) द्युलोक (पृथिवीञ्च) पृथिवी (वायुञ्च) वायु (आकाशञ्च) आकाश (आपश्च) जल (तेजश्च) तेज (देवांश्च) देव (मनुष्यांश्च) मनुष्य (पशूंश्च) पशु (वयांसि च) पक्षी (तृणवनस्पतीन्) तृणवनस्पति (श्वापदानि) हिंस्रजन्तु (आकीटपतङ्गपिपीलिकम्) कीटपतङ्गपिपीलिकापर्य्यन्त सब क्षुद्रजन्तु (धर्मञ्चाधर्मञ्च) धर्म और अधर्म (सत्यञ्चानृतञ्च) सत्य और मिथ्या (साधु च असाधु च) अच्छा और बुरा (हृदयज्ञञ्च+अहृदयज्ञञ्च) हृदय के प्रिय और अप्रिय इन सब को वाणी ही जतलाती है (यद्वै) यदि (वाग्) वाणी (न+अभविष्यत्) नहीं होती तो (न धर्मः न अधर्मः) न धर्म न अधर्म (व्यज्ञापयिष्यत्) विज्ञात होता क्योंकि वाणी के न रहने से अध्यापन का अभाव, अध्यापन के अभाव से श्रवण का अभाव, श्रवण के अभाव से धर्मादियों का अभाव हो जाता । इसी प्रकार (न सत्यम्+न अनृतम्) न सत्य न मिथ्या (न साधु न असाधु) न मङ्गल न अमङ्गल (न हृदयज्ञः न अहृदयज्ञः न हृदयप्रिय न हृदय के अप्रिय ज्ञात

होसकता । हे नारद ! (वाग्+एव) वाणी ही (एतत्+सर्वम्) इन सबों को (विज्ञापयति) विस्ताररूप से विज्ञापित करती है इस हेतु (वाचम्+उपास्स्व इति) वाणीसम्बन्धी विद्या का अध्ययन करो ॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ! वाचो भूय इति ? वाचो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । वाचम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । वाचः । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । वाचम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । वाचः । भूयः । इति । वाचः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । हे नारद ! यः कश्चिदुपासको ब्रह्मप्राप्त्यर्थं वाग्विद्यामुपास्ते । अस्य पुरुषस्य यावद् वाचो गतं गोचरोऽस्ति तत्र कामचारोभवति । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवादः—सो जो कोई ब्रह्मप्राप्त्यर्थ वाग्विद्या का अध्ययन करता है उसकी वहां तक स्वच्छन्द गति होती है जहां तक वाणी का गोचर है जो ब्रह्मप्राप्त्यर्थ वाणी का अध्ययन करता है । नारद—हे भगवन् वाणी से अधिकतर क्या है। सनत्कुमार—वाणी से अधिकतर तो है । नारद—उसको मुझ से भगवान् कहें । इति ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः+यः) सो जो कोई साधक (वाचम्+ब्रह्म+इति+उपास्ते) वाणी को ब्रह्मप्राप्ति के लिये अथवा वाणी को श्रेष्ठ मानकर (उपास्ते) उपसता अर्थात् अध्ययन करता है उस का आगे फल कहते हैं । (वाचः+यावत्+गतम्) वाग्विद्या का जहांतक गोचर है अर्थात् वाग्विद्या में जहांतक पहुंचाने की शक्ति है (अस्य+तत्र+यथाकामचारः+भवति) इस साधक का वहांतक स्वच्छन्दगमन होता है अर्थात् वहांतक पहुंच सकता है उससे आगे नहीं (यः+वाचम्+ब्रह्म+इति+उपास्ते) सो जो कोई ब्रह्मप्राप्त्यर्थ वाणी का अध्ययन करता है । यह पुनरुक्ति उपासक के विश्वासार्थ है । नारद—(भगवः+वाचः+भूयः+अस्ति+इति) हे भगवन् ! वचन से अधिकतर क्या कोई वस्तु है ? सनत्कुमार—(वाचः+वाव+भूयः+अस्ति+इति) वचन से अधिकतर पदार्थ तो है ! नारद—(तत्+

मे+भगवान्+ब्रवीतु+इति) हे भगवन् ! वचन से जो अधिकतर वस्तु है उसके विषय में मुझ को आप कृपाकर के शिक्षा देवें यह प्रार्थना है ॥ २ ॥ इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचञ्च नाम च मनोऽनुभवति । स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते । कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते । पुत्राꣳश्चपशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छेयेत्यथेच्छते । मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

मनः । वाव । वाचः । भूयः । यथा । वै । द्वे । वा । आमलके । द्वे । वा । कोले । द्वौ । वा । अक्षौ । मुष्टिः । अनुभवति । एवम् । वाचम् । च । नाम । च । मनः । अनुभवति । सः । यदा । मनसा । मनस्यति । मन्त्रान् । अधीयीय । इति । अथ । अधीते । कर्माणि । कुर्वीय । इति । अथ । कुरुते । पुत्रान् । च । पशून् । च । इच्छेय । इति । अथ । इच्छते । इमम् । च । लोकम् । अमुम् । च । इच्छेय । इति । अथ । इच्छते । मनः । हि । आत्मा । मनः । हि । लोकः । मनः । हि । ब्रह्म । मनः । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—मन इति । मनो मननवृत्तिरन्तःकरणस्य धर्मविशेषः । वाव एव निश्चितम् । वाचो वाण्याः सकाशात् । भूयोधिकतरम् । एतदेवाग्रेदर्शयति दृष्टान्तैः । यथा लोके मुष्टिः संहतकरः । द्वे वा आमलके फले । द्वे वा कोले बदरफले । द्वौ वा अक्षौ विभीतकफले । अनुभवति विजानाति । अर्थात् हस्तगते द्वे वा फले यथा मुष्टिः स्वकीयव्याप्त्या सम्यग् विजानाति । एवमनेन प्रकारेण । वाचञ्च वाणीञ्च । नाम च नामधेयञ्च । मनो मननवृत्तिरनुभवति । पुनरपि तदेवोदाहरणैर्विस्पष्टयति । स पुरुषो यदा । मंत्रान् वेदान् । अधीयीय पठेयमिति मनसा मनस्यति मननं करोति । अथ तदा अधीते पठति । कर्माणि कुर्वीयम् । कुर्यात् । इति मनसा मनस्यति । अथ कुरुते क्रियायां प्रवर्त्तते । पुत्रांश्चापत्यानि । पशूंश्च गोहिरण्यादीनि वित्तानि । इच्छेय इच्छेयम् । आत्मनेपदमार्षम् । इति मनसा मनस्यति । अथ तदा इच्छते । इच्छति ।

इमञ्च दृश्यमानं मर्त्यसंज्ञकं लोकं भुवनम् । अमुञ्च ऊर्द्ध्वं दृश्यमानं द्युलोकाख्यञ्च लोकमिच्छेय इच्छेयमिति मनस्यति । अथ इच्छते इच्छति । एतेन मनसो वाचो भूयस्त्वं सूच्यते । प्रथमं मनोव्यापारेणान्तःकरणं क्षुभ्यते । क्षोभेण नामाश्रिता वाग् व्याप्रियते । तदा सर्वतो निश्चिता इच्छानुकूलायां कृतौ मनुष्य प्रवृत्तिः । एतेन मनसो व्याप्तिर्नाम्निवचसि च विज्ञायते । यद्वस्तु यस्य व्याप्यं भवति । तद्धि तस्यान्तर्गतम् । अन्तर्गतत्वान्न्यूनता प्रसिद्धा । नामवाचोर्मनो व्याप्यत्वात् मनसो न्यूनता । मनसोधिकतेतिसिद्धम् । मनो हि आत्मा । सति मनसि । आत्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च सिध्यति । अतोमनस्यात्मत्वारोपः । सत्येव हि मनसि लोको भवति । तत्प्राप्त्युपायानुष्ठानञ्च । अतो मनो हि लोकः । सत्येव मनसि ब्रह्म विज्ञायते । तल्लाभोपायप्रवृत्तिश्च । अतो हि मनो ब्रह्म इत्युपदिश्यते । अत एव मन उपास्स्व । मनसो धर्म्मं विद्धीत्यर्थः । ब्रह्म बृहत् । मनोवृहत्त्वेनोपास्स्वेत्यर्थः । यद्वा । ब्रह्म प्राप्त्यर्थं मन उपास्स्व ॥ १ ॥

अनुवादः—मन ही वाणी से अधिकतर है । जैसे दो आमलक फलों का वा दो बदरी फलों का अथवा दो बहेड़े के फलों का मुष्टि अनुभव करती है वैसे ही वाणी का और नाम का अनुभव मन करता है । सो जो कोई जब "मैं मन्त्रों का अध्ययन करूं" ऐसा मनके द्वारा मनन करता है । तब वह मन्त्रों को पढ़ता है "कर्मों को करूं" ऐसे मनन के अनन्तर कर्मों को करता है "पुत्रों और पशुओं की इच्छा करूं" ऐसे मनन के अनन्तर उनकी इच्छा करता है । "इस लोक और उस लोक की इच्छा करूं" ऐसा मनन करने पर उसके लिये इच्छा करता है । इस कारण मन ही आत्मा है । अतः मन ही लोक है । अतः मन ही बड़ा है । हे नारद ! इस हेतु मानसिक शास्त्रका अध्ययन करो ॥ १ ॥

पदार्थः—(मनः+वाव) हे नारद ! मन ही तो (वाचः+भूयः) वाणी से श्रेष्ठ है । मनकी श्रेष्ठताको अनेक दृष्टान्तों से दिखलाते हैं (यथा+वै+मुष्टिः) जैसे ही मुट्ठी (द्वे+वा+आमलके) दो आंम लों (द्वे+वा+कोले) अथवा दो वेर फलों (द्वौ+वा+अक्षौ) अथवा दो बहेड़े के फलों को (अनुभवति) अनुभव करती है (एवम्) वैसे ही (मनः) मननवृत्ति (वाचञ्च+नामच) वाग् और नाम इन दोनों का (अनुभवति) अनुभव करती है पुनः आगे अन्य प्रकार के दृष्टान्त देते हैं (सः) सो जो कोई पुरुष (यदा+मनसा+मनस्यति) जब मन से मनन करता है कि (मंत्रान्+अधीयीय) मन्त्रों को पढूं (अथ+अधीते) तत्पश्चात् पढ़ता है (कर्माणि+कुर्वीय) कर्मों को करूं. (अथ+कुरुते) तब करता है

(पुत्रान् च पशून् च) पुत्रों और पशुओं की (इच्छेय) इच्छा करूं (अथ इच्छते) तत्पश्चात् इच्छा करता है (इमञ्च+लोकम्+अमुञ्च) इस लोक और परलोक को (इच्छेय) इच्छा करूं (अथ+इच्छते) पश्चात् इच्छा करता है इसलिये हे नारद ! मन वाणी से श्रेष्ठ है। इस हेतु (मनः+हि+आत्मा) मन ही आत्मा है क्योंकि मनके रहने पर ही आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व सिद्ध होता है इस हेतु मन आत्मा कहागया है (मनः+हि+लोकः) मन ही लोक है क्योंकि मन की स्थिति से ही लोक होता है और तत्प्राप्त्युपाय का अनुष्ठान भी होता है (मनः+हि+ब्रह्म) और मन ही ब्रह्म है। ब्रह्म-प्राप्ति का साधन मन ही है अथवा मन बड़ा है इसहेतु हे नारद ! (मनः+उपास्व+इति) मानसिक विद्या का अध्ययन करो ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति । मनसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । मनः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । मनसः । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । मनः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । मनसः । भूय । इति । मनसः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–स इति । स य उपासको ब्रह्मेति ब्रह्मप्राप्ति साधनमिति मन उपास्ते । मनोवृत्ति धर्मानखिलान् विज्ञातुं प्रयतते । तस्योपासकस्य यत्फलं तच्छृणु नारद ! यावन्मनसो गतमित्यादि समानम् ॥ १ ॥ इति तृतीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः–जो कोई उपासक मन को ब्रह्मप्राप्ति साधन मान मन की उपासना करता है (उसका यह फल है) जहांतक मन की गति है वहांतक इस उपासक का यथाकामचार (स्वेच्छागमन) होता है। जो मन की ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ उपासना करता है (नारद पूछते हैं) हे भगवन् ! मन से अधिकतर भी "कोई वस्तु" है ? (सनत्कुमार कहते हैं) निश्चय मन से भी अधिकतर वस्तु है (नारद पू०) भगवान् मुझ से उसका उपदेश करें। इति ॥ २ ॥

पदार्थः–(सः) वह (यः) जो (मनः) मनको (ब्रह्मेति) ब्रह्म की प्राप्ति का साधन समझ (उपास्ते) मन की उपासना करता है अर्थात् मन के धर्मों को विचारता

है उसका फल आगे कहा जाता है (यावत्) जितना (मनसः) मनका (गतम्) गमन अर्थात् मनोगोचर है (तत्र) वहां (अस्य) इस मन के उपासक का (यथाकामचारः) स्वेच्छागमन (भवति) होता है (मनः+ब्रह्म+इति+उपास्ते) जो मन की ब्रह्मप्राप्ति का साधन समझ उपासना करता है। नारद पूछते हैं (भगवः) हे भगवन् (मनसः) मन से (भूयः) अधिकतर (अस्ति) क्या कोई वस्तु है ? (इति) इति शब्द प्रश्न समाप्ति का सूचक है। सनत्कुमार कहते हैं कि (मनसः) मन से (वाव) निश्चय (भूयः) अधिकतर (अस्ति) है (इति) फिर नारद पूछते हैं कि (भगवान्) आप कृपाकर (मे) मुझ को (तत्) उसका (ब्रवीतु) उपदेश करें। इति ॥ २ ॥

इति तृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

संकल्पः । वाव । मनसः । भूयान् । यदा । वै । सङ्कल्पयते । अथ । मनस्यति । अथ । वाचम् । ईरयति । ताम् । उ । नाम्नि । ईरयति । नाम्नि । मन्त्राः । एकम् । भवन्ति । मन्त्रेषु । कर्माणि ॥ १ ॥

भाष्यम्—सङ्कल्प इति । हे नारद ! सङ्कल्प एव मनसः सकाशात् भूयानधिकतरः। सङ्कल्पो हि मनोवदन्तःकरणवृत्तिविशेषः । कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषयविभागेन समर्थनमितियावत् । विभागेन हि समर्थिते विषये चिकीर्षा बुद्धिर्मननानन्तरं भवति । कथम् । यदा वै सङ्कल्पयते कर्त्तव्यादिविषयान् विभजयते । इदं कर्त्तुं युक्तमिदन्नेति । अथ मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यादि । अथानन्तरम् । वाचं वाणीमीरयति प्रेरयति मन्त्रादीनामुच्चारणविषये । ताञ्च वाचमु हि नाम्नि नामोच्चारणनिमित्तां विवक्षां कृत्वा । ईरयति प्रेरयति । नाम्नि नामसामान्ये मन्त्राः शब्दविशेषाः सन्त एकं भवन्ति । अन्तर्भवन्तीत्यर्थः । सामान्ये हि विशेषोऽन्तर्भवति । मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्ति । मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते । नामन्त्रकमस्ति कर्म्म । यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्ताकं सत्कर्म ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यमस्मै फलायेति विधीयते । याप्युत्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणो दृश्यते सापि मन्त्रेषु लब्धसत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम् । न हि मन्त्राप्रकाशितं कर्म किञ्चिद्ब्राह्मणोत्पन्नं दृश्यते । त्रयीविहितं कर्मेति प्रसिद्धं लोके । त्रयीशब्द-

ऋग्यजुः सामसमाख्याः। मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि चाथर्वणे। १। २। १॥ तस्माद्युक्तं मन्त्रेषु कर्माण्येकं भवन्तीति॥ १॥

अनुवादः-सङ्कल्प ही मन से अधिकतर है जब सङ्कल्प करता है तदनन्तर मनन करता है तदनन्तर वाणी की प्रेरणा करता है और उस वाणी को नाम में प्रेरित करता है। तब नाम में मन्त्र एक होते हैं और मन्त्र में कर्म एक होते हैं॥ १॥

पदार्थः-हे नारद! (सङ्कल्पः+वाव) सङ्कल्प ही (मनसः) मन से (भूयान्) बड़ा है (यदा वै) जब ही मनुष्य (सङ्कल्पयते) संकल्प करता है (सङ्कल्प) अन्तःकरण की एक वृत्तिविशेष है अर्थात् कर्तव्य अकर्तव्य विषयों को पृथक् पृथक् कर समर्थन करने नाम सङ्कल्प है विभागपूर्वक जब विषय विचारित होते हैं तबही बुद्धिमानों को करने की इच्छा होती है इसहेतु सङ्कल्प और मन में बहुत भेद है) (अथ+मनस्यति) तदनन्तर मनन करता है कि इन मन्त्रों को पढ़ूं या न पढ़ूं कर्म करूं या न करूं इत्यादि। इस प्रकार मन के द्वारा स्थिर कर (वाचम्+ईरयति) मन्त्रोच्चारण में वचन को प्रेरणा करता है (ताम्+उ) तब उसी वचन को (नाम्नि) नाम के द्वारा उच्चारण निमित्त इच्छा करके (ईरयति) प्रेरणा करता है (नाम्नि) नाम में (मन्त्राः+एकम्+भवन्ति) मन्त्र एक होते हैं (मन्त्रेषु+कर्माणि) मन्त्रों में कर्म एक होते हैं॥ १॥

भाष्याशयः—मन्त्र अर्थात् वेद। वेदविहित ही कर्म किये जाते हैं अवेदविहित नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थ में यह कर्म करना चाहिये यह नहीं करना चाहिये इसका यह फल है इत्यादि विषयों को जो प्रकाशित करते हैं वे सब वेद में विद्यमान ही हैं वैदिककर्म का ही स्पष्टीकरण ब्राह्मणग्रन्थ करते हैं। ब्राह्मण में कोई ऐसा कर्म नहीं जो वेदों में प्रकाशित हो। लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि वेदविहित को ही कर्म कहते हैं इसीहेतु मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि मन्त्रों में जिन कर्मों को ऋषियों ने देखा उनका ही विस्तार पीछे करते गये इसीहेतु मंत्र में सब कर्म एक होते हैं ऐसा कहा गया है॥ १॥

तानि ह वैतानि सङ्कल्पैकायनानि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि। समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशञ्च समकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च। तेषाᳬ संक्लृ-

प्त्यै वर्षꣳ सङ्कल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳ सङ्कल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः सङ्कल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यै मन्त्राः सङ्कल्पन्ते मन्त्राणाꣳ संक्लृप्त्यै कर्माणि सङ्कल्पन्ते कर्मणाꣳ संक्लृप्त्यै लोकः सङ्कल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वꣳ सङ्कल्पते । स एष सङ्कल्पः सङ्कल्पमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

तानि । ह । वा । एतानि । सङ्कल्पैकायनानि । सङ्कल्पात्मकानि । सङ्कल्पे । प्रतिष्ठितानि । समक्लृपताम् । द्यावापृथिवी । समकल्पेताम् । वायुः । च । आकाशम् । च । समकल्पन्त । आपः । च । तेजः । च । तेषाम् । संक्लृप्त्यै । वर्षम् । सङ्कल्पते । वर्षस्य । संक्लृप्त्यै । अन्नम् । सङ्कल्पते । अन्नस्य । संक्लृप्त्यै । प्राणाः । सङ्कल्पन्ते । प्राणानाम् । संक्लृप्त्यै । मन्त्राः । सङ्कल्पन्ते । मन्त्राणाम् । संक्लृप्त्यै । कर्माणि । सङ्कल्पन्ते । कर्मणाम् । संक्लृप्त्यै । लोकः । सङ्कल्पते । लोकस्य । संक्लृप्त्यै । सर्वम् । सङ्कल्पते । सः । एषः । सङ्कल्पः । सङ्कल्पम् । उपास्स्व । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—तानीति । तानि पूर्वोक्तानि । ह वा निपातावलङ्कारार्थौ । एतानि इमानि मन आदीनि सङ्कल्पैकायनानि । सङ्कल्प एकोयऽनं गमनं येषां तानि सङ्कल्पैकायनानि । सङ्कल्प लयस्वभावानीत्यर्थः । सङ्कल्पात्मकानि । उत्पत्ति समये सङ्कल्पस्वरूपाणि इव तिष्ठन्ति । स्थितौ सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि भवन्ति । द्यावापृथिवी । द्यौश्चपृथिवी च इति द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यावित्यर्थः । समक्लृपताम् । कृत सङ्कल्पे इव तिष्ठतः । तथा वायुश्चाकाशश्च एतावपि समकल्पेतां सङ्कल्पं कृतवन्ताविवेत्यर्थः । आपश्च जलं च तेजश्चाग्निश्च एतान्यपि समकल्पन्त कृतसङ्कल्पानीव तिष्ठन्ति । तेषां द्यावापृथिव्यादीनां संक्लृप्त्यै सङ्कल्पाय सङ्कल्पार्थं वर्षं वृष्टिः संकल्पते समर्थं भवति । तथा वर्षस्य संक्लृप्त्यै संकल्पनिमित्तमन्नं सङ्कल्पते सङ्कल्पं करोति भवतीत्यर्थः । अन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते । अन्नमयाहि प्राणा अन्नोपष्टंभकाः प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः शब्दाः सङ्कल्पन्ते समर्थाभवन्ति । प्राणवन्तोहि मन्त्रानध्येतुं समर्थाभवन्ति । मन्त्राणां संक्लृप्त्यै संकल्पनिमित्तं कर्माणि अग्निहोत्रादीनि सङ्कल्पन्ते । अनुष्ठीयमानानि भवन्ति । मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि फलाय समर्थानि भवन्तीत्यर्थः । कर्मणां संक्लृप्त्यै सङ्कल्पनिमित्तं लोकः अनुष्ठाता सङ्कल्पते । कर्मकर्तृ समवायितया

समर्थो भवतीत्यर्थः। लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते सर्वं जगत् समर्थं भवतीत्यर्थः। स एष संकल्पः। सर्वं संकल्पमूलमित्यर्थः। हे नारद! संकल्पमुपास्स्व विजानीहीत्यर्थः। इति ॥ २ ॥

अनुवादः-वे प्रसिद्ध ये (मन आदिक) सङ्कल्परूप एक आयतन=आश्रय वाले हैं। सङ्कल्पस्वरूप हैं. संकल्प में प्रतिष्ठित हैं। द्युलोक और पृथिवी सङ्कल्प को करती हुई सी हैं। वायु और आकाश संकल्प करते हुए के समान विद्यमान हैं। जल और तेज मानो संकल्प कर रहे हैं। उन पृथिवी आदिकों के संकल्प निमित्त वर्षा समर्थ होता है। वर्षा के संकल्प के निमित्त अन्न समर्थ होता है। अन्न के संकल्प से प्राण समर्थ होते हैं। प्राणों के संकल्प के निमित्त मन्त्र समर्थ होते हैं। मन्त्र के संकल्प निमित्त कर्म समर्थ होते हैं। और कर्म के संकल्प निमित्त लोक समर्थ होते हैं। और लोक के संकल्प निमित्त सब समर्थ होता है। सो यह संकल्प है। हे नारद! इस संकल्प का अध्ययन करो ॥ २ ॥

पदार्थः-(ह+वै) निश्चय (तानि+एतानि) वे ये मन नाम आदिक (सङ्कल्पैकायनानि) संकल्पाश्रय हैं संकल्प ही एक=मुख्य, अयन=आश्रय है जिनके (संकल्पात्मकानि) यथार्थ में सङ्कल्पस्वरूप ही हैं (संकल्पे+प्रतिष्ठितानि) संकल्प में प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर की सृष्टि में प्रायः सब पदार्थ कृत संकल्प हैं क्योंकि संकल्प विना कोई कार्य नहीं होता। यद्यपि संकल्प चेतन का धर्म है, तथापि अचेतन में भी अध्यारोप होता है। संकल्प के समान चेतन भी सर्वथा मौन और गंभीरभाव को धारण करता है। तद्वत् यह पृथिवी प्रभृति पदार्थ भी प्रतीत होता। अतः (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (समक्लृपताम्) मानो संकल्पवती लक्षित होती हैं (वायुः+च+आकाशम्+च) वायु और आकाश (समकल्पेताम्) मानो कृत संकल्प से प्रतीत होते हैं (आपः+च+तेजः+च) जल और अग्नि भी (समकल्पन्त) कृत संकल्प ही लक्षित होते हैं (तेषाम्) द्यावापृथिवी आदिकों के (संक्लृप्त्यै) संकल्प निमित्त (वर्षम्) वृष्टि (संकल्पते) संकल्प करता है और (वर्षस्य+सङ्क्लृप्त्यै) वृष्टि के संकल्प निमित्त (अन्नम्+संकल्पते) अन्न संकल्प करता है (अन्नस्य+सङ्क्लृप्त्यै) अन्न के संकल्प निमित्त (प्राणाः+संकल्पन्ते) प्राण संकल्प करते हैं। (प्राणानाम्+सङ्क्लृप्त्यै) प्राण के संकल्प निमित्त (मन्त्राः+संकल्पन्ते) मन्त्र संकल्पित होते हैं। संकल्प के साथ पढ़े जाते हैं (मन्त्राणाम्+सङ्क्लृप्त्यै) मन्त्र के संकल्प निमित्त (कर्म्माणि सङ्कल्पन्ते) संकल्पपूर्वक कर्म किये जाते हैं (कर्मणाम्+सङ्क्लृप्त्यै) कर्मों के अनुष्ठान निमित्त

लोकः+संकल्पते) लौकिक सुख प्राप्त होता है (लोकस्य+संक्लृप्त्यै) लोकप्राप्ति निमित्त (सर्वम्+संकल्पते) सब ही कुछ प्राप्त होता है (सः+एषः+संकल्पः) ऐसा यह संकल्प है (संकल्पमुपास्स्व इति) संकल्प का मनन करो ॥ २ ॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति । यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति ? संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

सः । यः । सङ्कल्पम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । क्लृप्तान् । वै । सः । लोकान् । ध्रुवान् । ध्रुवः । प्रतिष्ठितान् । प्रतिष्ठितः । अव्यथमानान् । अव्यथमानः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । सङ्कल्पस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । सङ्कल्पम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । सङ्कल्पात् । भूयः । इति । सङ्कल्पाद् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स इति । स यः संकल्पोपासकः । संकल्पं ब्रह्मेति ब्रह्मप्राप्तिसाधनम्मत्वा । उपास्ते संकल्पधर्मान् विभावयति सः पुरुषः स्वयमपि संकल्पविषये ध्रुवो दृढः । प्रतिष्ठितो ज्ञातसंकल्पमूलः अव्यथमानः पुनः पुनः संकल्पकरणे निश्चयः सन् । क्लृप्तान्, ध्रुवान्, प्रतिष्ठितान्, अव्यथमानान्, लोकान्, अभिसिध्यति प्राप्नोति तथा च यावत्संकल्पस्यगतमित्यादि पूर्ववत् ॥ ६ ॥

अनुवादः—सो जो कोई ब्रह्मप्राप्त्यर्थ संकल्प तत्त्वों का अध्ययन करता है वह स्वयं ध्रुव प्रतिष्ठित और अव्यथमान होकर क्लृप्त (संकल्प-निपुण) ध्रुव, प्रतिष्ठित, अव्यथमान लोकों को प्राप्त होता है । हे नारद ! संकल्प की जहांतक गति है वहांतक उसका यथाकामचार होता है । जो कोई ब्रह्मप्राप्त्यर्थ संकल्प विज्ञान का अध्ययन करता है । नारद पू०—हे भगवन् ! संकल्प से भी बड़ी कोई वस्तु है ? सनत्कुमार—निश्चय संकल्प से भी बड़ी वस्तु है । नारद—उसका उपदेश कृपया आप मुझसे करें यही प्रार्थना है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः+यः+सङ्कल्पम्) जो कोई उपासक सङ्कल्प को (ब्रह्म+इति) बड़ा समझ वा ब्रह्मप्राप्ति निमित्त (उपास्ते) अध्ययन करता है उसके गुणों को तत्त्वतः जानने को प्रयत्न करता है (सः+वै) वह कृतसङ्कल्प ज्यों ज्यों सङ्कल्प में निपुण होता जाता है त्यों त्यों उसे अधिक फल प्राप्त होता है सो आगे कहते हैं (क्लृप्तान्) अच्छे समर्थ सङ्कल्प में निपुण (लोकान्) पुत्र पौत्रादि लोकों को (अभिसिद्ध्यति) प्राप्त करता है (ध्रुवः) अपने यदि सङ्कल्प में दृढ होता है तो (ध्रुवान्) दृढ पुत्रादिकों को पाता है तब (प्रतिष्ठितः) वह जगत् में प्रतिष्ठित होता है और तब (प्रतिष्ठितान्) प्रतिष्ठित पुत्रादि संतानों को प्राप्त करता है । और (अव्यथमानः) अक्लेशित होकर (अव्यथमानान्) अक्लेशित पुरुषों को (अभिसिद्ध्यति) पाता है । इस प्रकार सङ्कल्प शास्त्र के अध्येता (यावत्+संकल्पस्य+गतम्) जहांतक संकल्प का पहुंच है (तत्रास्य+यथाकामचारः+भवति) वहांतक इसका स्वेच्छागमन होता है । इत्यादिपूर्ववत् ॥ ३ ॥ इति चतुर्थखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

चित्तम् । वाव । सङ्कल्पाद् । भूयः । यदा । वै । चेतयते । अथ । सङ्कल्पयते । अथ । मनस्यति । अथ । वाचम् । ईरयति । ताम् । उ । नाम्नि । ईरयति । नाम्नि । मन्त्राः । एकम् । भवन्ति । मन्त्रेषु । कर्म्माणि ॥ १ ॥

भाष्यम्—चित्तमिति । चित्तं वाव चित्तमेव । सङ्कल्पाद्भूयोधिकतरं वर्त्तते । चित्तं चेतयितृत्वं प्राप्तकालानुरूपबोधवत्वं अतीतानागत-विषय-प्रयोजन-निरूपण-सामर्थ्यं च तत् संकल्पादपिभूयः । तदेवाग्रे प्रदर्शयति यदा वै पुरुषः चेतयते प्राप्तस्य वस्तुनः आदानाय त्यागाय वा चिन्तयति । अथानन्तरं सङ्कल्पयते अथ तदनन्तरं मनस्यति मननं करोति । अथ तदनन्तरं वाचं वाणीमीरयति मन्त्रानामुच्चारणे प्रेरयति । तामु तामेव वाणीम् । नाम्नि ईरयतीत्यादि पूर्ववद्विज्ञेयम् ॥ १ ॥

पदार्थः-(चित्तम्+वाव+संकल्पाद्+भूयः) चित्त ही संकल्प से बड़ा है (यदा वै) जब किसी पदार्थ का (चेतयते) चिन्तन करता है कि इसे ग्रहण करें वा त्याग (अथ) (तत्पश्चात्) (संकल्पयते) संकल्प करता है (अथ) तत्पश्चात् (मनस्यति) मनन

करता है (अथ) तब (वाचम्) वाणी को उच्चारणार्थ (ईरयति) प्रेरित करता है और (ताम्+उ) उसी वाणी को (नाम्नि) नाम निमित्त (ईरयति) प्रेरित करता है (नाम्नि+मन्त्राः+एकम्+भवति) नाम में मन्त्र एक होते हैं । मन्त्रेषु+कर्माणि) मन्त्रों में कर्म एक होते हैं ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि । तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति । नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

तानि । ह । वै । एतानि । चित्तैकायनानि । चित्तात्मानि । चित्ते । प्रतिष्ठितानि । तस्मात् । यद्यपि । बहुविद् । अचित्तः । भवति । न । अयम् । अस्ति । इति । एव । एनम् । आहुः । यत् । अयम् । वेद । यद् । वै । अयम् । विद्वान् । न । इत्थम् । अचित्तः । स्यात् । इति । अथ । यदि । अल्पवित् । चित्तवान् । भवति । तस्मै । एव । उत । शुश्रूषन्ते । चित्तम् । हि । एव । एषाम् । एकायनम् । चित्तम् । आत्मा । चित्तम् । प्रतिष्ठा । चित्तम् । उपास्स्व । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—तानीति । तानि पूर्वोक्तानि । ह वा इति निपातौ वाक्यालङ्कारार्थौ । एतानि सङ्कल्पादीनि कर्मफलान्तानि । चित्तैकायनानि चित्तमेकं प्रधानमयनं गमनं स्थानं येषां तानि चित्तैकायनानि चित्तप्रलयस्वभावानीत्यर्थः । चित्तात्मानि उत्पत्तिसमये चित्तरूपाणि । चित्ते प्रतिष्ठितानि चित्ते लब्धस्थानानि सन्ति । तस्मात् । यस्मात्कारणात्संकल्पादीनि वस्तूनि चित्तमूलानि वर्त्तन्ते । तस्माद्धेतोः । यद्यपि कोपि पुरुषो बहुविदनेकवेदादिशास्त्र परिज्ञानवान् भवेत् । यदि । परन्तु । अचित्तोभवति न विद्यते चित्तमस्येऽत्यचित्तोऽस्थिरचित्त इत्यर्थः तदा निपुणा लौकिकाः कथयन्ति । नायमस्ति । विद्यमानोऽप्यसत्सम एवास्तीत्येनमचित्तवन्तं पुरुषं प्रत्याहुः कथयन्ति । यत् किञ्चिदयमचित्तः पुरुषः वेद जानाति । तदपि अस्य वृथा एव इति जनाः कथयन्ति । कस्मात् । यद्वै यदि अयं विद्वान् भवेत् इत्थमचित्तो न स्यात् मा भूदिति जनाः कथयन्ति । अथ यदि । अल्पविदल्पज्ञोपि किञ्चित्ज्ञोपि । चित्तवान् प्रशस्तं चित्तमस्येति चित्तवान् भवति । तर्हि । तस्मै एव तदुक्तार्थं ग्रहणायैवोत शुश्रूषन्ते तदीयं वचनं

श्रोतुमिच्छन्ति। तस्माच्चित्तं हि एव एषां संकल्पादीनामेकायनं प्रधानमूलम्। चित्तमात्मा। सति प्रशस्ते चित्ते आत्मा विज्ञायते तल्लब्ध्युपायानुष्ठानं च संभवति। अत आह चित्तमात्मेति। चित्तं प्रतिष्ठा सति चित्ते सङ्कल्पादौ प्रतिष्ठा स्थिरता जायते अत आह चित्तं प्रतिष्ठेति। तस्मान्नारद! चित्तमुपास्स्व चित्तधर्मान् विजानीहीति ॥ २ ॥

अनुवादः–ने ये। निश्चय। चित्तरूप एक अयन वाले हैं। चित्तस्वरूप हैं। चित्त में प्रतिष्ठित हैं। इस हेतु यद्यपि कोई बहुवित् हो परन्तु अचित्त हो तो इस के विषय में कहते हैं कि "यह नहीं है" यह जो कुछ जानता है। वह भी वृथा ही है, यदि यह विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त नहीं होता। और जो अल्पवित् है परन्तु चित्तवान् है तब उसी के निकट सुनने के लिये जाते हैं वा उसी की शुश्रूषा करते हैं। चित्त ही इनका एकायन है। चित्त आत्मा, चित्त प्रतिष्ठा है। चित्त का अध्ययन करो ॥ २ ॥

पदार्थः–(ह+वै) निश्चय (तानि+एतानि) वे ये पूर्वोक्त सङ्कल्पादिक (चित्तैकायनानि) चित्ताश्रय है (चित्तात्मकानि) चित्तस्वरूप है। और (चित्ते+प्रतिष्ठितानि) चित्त में ही प्रतिष्ठित हैं (तस्मात्) उस हेतु (यद्यपि) यद्यपि कोई पुरुष (बहुविद्) बहु वेद शास्त्रादिकों को जाननेवाला हो परन्तु (अचित्तः भवति) यह अचित्त हो अर्थात् चित्त की स्थिरता न हो तो(एनम्+आहुः) इस अचित्त पुरुष के प्रति लोग कहते हैं कि (न+अयम्+अस्ति) यह नहीं है। अर्थात् अचित्त पुरुष रहता हुआ नहीं के बराबर है (यत्) यदि (अयम्+वेद) यह पुरुष कुछ जानता है तो वह व्यर्थ ही है क्योंकि (यद्वै) यदि (अयम्) यह (विद्वान्) शास्त्रों का ज्ञाता होता तो (न+इत्थम्+अचित्तः+स्यात्)ऐसा अचित्त न होता। ऐसा अस्थिर चित्त वाला नहीं होता। आगे इस के विपरीत उदाहरण देते हैं (अथ) और (अल्पवित्) यदि कोई अल्पज्ञ (चित्तवान्) अच्छा चित्तवाला (भवति) है तो (तस्मै+एव) उसी पुरुष की (शुश्रूषन्ते) शास्त्रादि श्रवण के लिये सब कोई सेवा करते हैं। इसहेतु हे नारद! (चित्तम्+हि+एषाम्) चित्त ही इन सबों का (एकायनम्) प्रधान आश्रय है (चित्तम्+आत्मा) चित्त ही आत्मा है। चित्त की स्थिरता से ही आत्मप्राप्ति भी होसकती है। अतः चित्त आत्मा कहा गया है (चित्तम्+प्रतिष्ठा) चित्त ही प्रतिष्ठा है (चित्तम्+उपास्स्व+इति) चित्त शास्त्र का अध्ययन करो ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसि-

ध्यति । यावच्चित्तस्य गतं तत्राऽस्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति ? चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

सः । यः । चित्तम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । चित्तान् । वै । सः । लोकान् । ध्रुवान् । ध्रुवः । प्रतिष्ठितान् । प्रतिष्ठितः । अव्यथमानान् । अव्यथमानः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । चित्तस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । चित्तम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । चित्ताद् । भूयः । इति । चित्ताद् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अस्य सर्वाणि पदानि प्रायः व्याख्यातान्येव सन्ति ॥ ३ ॥

अनुवादः—सो जो कोई, ब्रह्मप्राप्त्यर्थ चित्त विज्ञान का अध्ययन करता है वह प्रशस्त चित्त वाले सन्तानों और पुत्र पौत्रादिकों को प्राप्त करता है । और सब ७ । ४ । ३ के समान जानना ॥ ३ ॥

पदार्थः—(सः+यः) सो जो कोई (चित्तम्+ब्रह्म+इति+उपास्ते) ब्रह्मप्राप्त्यर्थ चित्तशास्त्र का अध्ययन करता है वह (ध्रुवः) ध्रुव=कार्य्य में सदा स्थिर (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित (अव्यथमानः) व्यथा रहित होता है । और (सः) वह अपने समान ही (चित्तान्+वै) निश्चय चित्त=पूजित (ध्रुवान्+प्रतिष्ठितान्+अव्यथमानान्) ध्रुव, प्रतिष्ठित और अव्यथमान (लोकान्) जनों को (अभिसिद्ध्यति) प्राप्त होता है (चित्तस्य+यावत्+गतम्) चित्तकी जहांतक गति है इत्यादि पूर्ववत् जानना ॥ ३ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवाऽऽपो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति

ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

ध्यानम् । वाव । चित्तात् । भूयः । ध्यायति । इव । पृथिवी । ध्यायति । इव । अन्तरिक्षम् । ध्यायति । इव । द्यौः । ध्यायन्ति । इव । आपः । ध्यायन्ति । इव । पर्वताः । ध्यायन्ति । इव । देवमनुष्याः । तस्मात् । ये । इह । मनुष्याणाम् । महत्ताम् । प्राप्नुवन्ति । ध्यानापादांशाः । इव । एव । ते । भवन्ति । अथ । ये । अल्पाः । कलहिनः । पिशुनाः । उपवादिनः । ते । अथ । ये । प्रभवः । ध्यानापदांशाः । इव । एव । ते । भवन्ति । ध्यानम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—ध्यानमिति । तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानमिति । ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् । वाव शब्दोऽवधारणार्थः । ध्यानमेव चित्ताद्भूयोऽधिकतरं विद्यत इत्यन्वयः । ध्यानस्य माहात्म्यमुपवर्णयितुं प्रवर्त्तत उत्तरोग्रन्थः । यथा योगी ध्यायन्निश्चलो भवति । तथैव पृथिवी भूमिर्ध्यायेतीव निश्चलेव लक्ष्यते । अन्तरिक्षमाकाशः । द्यौः द्युलोकः । आपो जलानि । पर्वता गिरयः । देवमनुष्या देव विद्वांसो मनुष्या इति देवमनुष्याः । एतत्सर्वं निश्चलत्वात् ध्यायतीव ध्यायदिव निश्चलमिति दृश्यते । अयमर्थः । एतत्सर्वं स्वस्मिन् स्वस्मिन् नियोगे अश्रान्तमिव वर्त्तमानं प्रत्यहं तदेव साधयद् लक्ष्यते । अतएव एतेषां महत्त्वमपि विद्यते । तस्मात्कारणात् । ये मनुष्याः । इह मनुष्यलोके मनुष्याणां मध्ये । महत्तां महत्त्वम् । प्राप्नुवन्ति लभन्ते । ते ध्यानापादांशा इवैव भवन्ति । ध्यानस्य आपादानमापादः फललाभ । इति ध्यानापादः । तस्यांशोऽवयवः काचित् कलेत्यर्थः । ध्यानफललाभकलावन्त एव भवन्ति निश्चला इव लक्ष्यन्ते न क्षुद्रा इवेत्यर्थः । अथ ये पुनरल्पा धनधान्यादिरहितास्ते कलहिनः कलहशीलाः पिशुनाः परदोषोद्भासका । उपवादिनः परदोषं सामीप्ये युक्तमेव वदितुं शीलं येषां ते उपवादिनश्च भवन्ति । अथ ये महत्त्वं प्राप्ता धनादिनिमित्तं तेऽन्यान् प्रति भवन्तीति प्रभवो विद्याचार्य्य राजेश्वरादयो ध्यानापादांशा इवेत्याद्युक्तार्थम् । अतो दृश्यते ध्यानस्य महत्त्वं फलतो भूयश्चित्तादतस्तदुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अनुवादः—अनुवाद पदार्थ के समान ही है ॥ १ ॥

पदार्थः–(ध्यानम्+वाव+चित्ताद्+भूयः) ध्यान ही चित्त से बड़ा है आगे ध्यान का माहात्म्य कहा जाता है (पृथिवी+ध्यायतीव) मानो पृथिवी ध्यानावस्थित निश्चल प्रतीत होती है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (ध्यायतीव) मानो ध्यान के कारण निश्चल है (द्यौः+ध्यायतीव) मानो ध्यान निमित्त ही द्युलोक स्थिर है (आपः ध्यायन्तीव) जल भी ध्यानावस्थित है (पर्वताः+ध्यायन्तीव) मानो पर्वत ध्यान से ही निश्चल हैं (देवमनुष्याः ध्यायन्तीव) ध्यान कारण ही विद्वान् मनुष्य सब कार्य्य में स्थिर हैं। अर्थात् ध्यान से ही मनुष्य देवत्व और विद्वत्ता को प्राप्त होता है (तस्मात्) इस हेतु (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के मध्य (ये+इह) जो पुरुष इस लोक में (महत्ताम्+प्राप्नुवन्ति) विद्या, धन, पुत्र, पौत्रादिक के कारण महत्त्व को प्राप्त करते हैं वे (ध्यानापादांशा इव एव) मानो ध्यानकी प्राप्ति की एक कला (ते+भवन्ति) वे हैं अर्थात् ध्यान के ही माहात्म्य से वे सब प्राप्त होते हैं। अब इस के विपरीत उदाहरण दिखलाते हैं और (ये+अल्पाः) जो ध्यान के एक अंश को भी प्राप्त नहीं हैं ऐसे क्षुद्र पुरुष (कलहिनः) कलह=उपद्रव करनेवाले होते हैं (पिशुनाः) दूसरे के दोषों को ही देखने वाले होते हैं (उपवादिनः) समीप में तो दोष को भी गुण दिखलाने वाले परोक्ष में निन्दा करने वाले होते हैं अर्थात् जिनको ध्यान का अंश भी प्राप्त नहीं है वे बहुत ही क्षुद्र होते हैं। कर्तव्याकर्तव्य विचारशून्यता के कारण उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। हे नारद ! (ये+प्रभवः) जो मनुष्यों के प्रभु (शासन करनेवाले) होते हैं (ध्यानापादांशा+इव+एव+ते+भवन्ति) वे ध्यान की प्राप्ति की एक कला के ही प्रताप हैं। इस हेतु (ध्यानम्+उपास्स्व) ध्यानशास्त्र का मनन करो। इति ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ? ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । ध्यानम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । ध्यानस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । ध्यानम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । ध्यानाद् । भूयः । इति । ध्यानात् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-भाष्यादि सर्वं पूर्ववद्विज्ञेयम् ॥ २ ॥

इति षष्ठखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानांवेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुञ्चाकाशञ्चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतञ्च साधुचासाधु च हृदयज्ञञ्चाहृदयज्ञञ्चान्नञ्च रसञ्चेमञ्च लोकममुञ्च विज्ञानेनैव विजानाति । विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

विज्ञानम् । वाव । ध्यानात् । भूयः । विज्ञानेन । वै । ऋग्वेदम् । विजानाति । यजुर्वेदम् । सामवेदम् । आथर्वणम् । चतुर्थम् । इतिहासपुराणम् । पञ्चमम् । वेदानां वेदम् । पित्र्यम् । राशिम् । दैवम् । निधिम् । वाकोवाक्यम् । एकायनम् । देवविद्याम् । ब्रह्मविद्याम् । भूतविद्याम् । क्षत्रविद्याम् । नक्षत्रविद्याम् । सर्पदेवजनविद्याम् । दिवम् । च । पृथिवीम् । च । वायुम् । च । आकाशम् । च । आपः । च । तेजः । च । देवान् । च । मनुष्यान् । च । पशून् । च । वयांसि । च । तृणवनस्पतीन् । श्वापदानि । आकीटपतङ्गपिपीलकम् । धर्मम् । च । अधर्मम् । च । सत्यम् । च । अनृतम् । च । साधु । च । असाधु । च । हृदयज्ञम् । च । अहृदयज्ञम् । च । अन्नम् । च । रसम् । च । इमम् । च । लोकम् । अमुम् । च । विज्ञानेन । एव । विजानाति । विज्ञानम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्-विज्ञानमिति । हे नारद ! ध्यानाद्विज्ञानं वाव भूयोऽधिकतरं विद्यते । विशेषं ज्ञानं विज्ञानम् । सर्वपदार्थविषयकं ज्ञानमिहविज्ञानमुच्यते । उपासकोविज्ञानेनैव । ऋग्वेदं

विजानाति । ऋग्वेदादिषु विज्ञानशास्त्रप्रचुरत्वात् विज्ञानंविना तानि सर्वाणि शास्त्राणि सम्यग् न विज्ञायन्ते । प्रवाकस्थपदानि व्याख्यातान्येवसन्ति ॥ १ ॥

पदार्थः—हे नारद ! (विज्ञानम्+वाव) विज्ञान ही (ध्यानाद्भूयः) ध्यान से अधिकतर है । पदार्थों के विशेष ज्ञान का नाम विज्ञान है (विज्ञानेन+वै) विज्ञान के द्वारा ही (ऋग्वेदम्+विजानति) ऋग्वेद के तत्त्वों को जानता है इसी प्रकार (यजुर्वेदम्०) यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण, पञ्चम इतिहासपुराण, वेदानांवेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्वदेवजनविद्या, इन सब विद्याओं को तत्त्वविज्ञान के विना नहीं जान सकता और (दिवञ्च०) द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, (श्वापद्वानि) हिंस्रजन्तु, (आकीटपतङ्गपिपीलकम्) कीट पतंग पिपील पर्य्यन्त क्षुद्र जन्तुओं को भी तत्व विज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है (धर्मञ्च+अधर्मञ्च०) धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, (हृदयज्ञम्) हृदयप्रिय (अहृदयज्ञम्) हृदय के अप्रिय (अन्नञ्च+रसञ्च) अन्न और रस (इमञ्च+लोकम्+अमुञ्च) लोक और परलोक इन सब को भी (विज्ञानेनैव+विजानाति) विज्ञानशास्त्र के द्वारा ही जानता है इस हेतु हे नारद ! (विज्ञानम्+उपास्स्व+इति) विज्ञानसम्बन्धी शास्त्र का अध्ययन करो ॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति। यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ! विज्ञानाद्भूय इति ? विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । विज्ञानम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । विज्ञानवतः । वै । सः । लोकान् । ज्ञानवतः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । विज्ञानस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । विज्ञानम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । विज्ञानाद् । भूयः । इति । विज्ञानाद् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तम् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स य इति । स य उपासकः । ब्रह्मप्राप्त्यर्थम् । विज्ञानं नाम शास्त्रार्थम् । उपास्ते ।

सहोपासकः । विज्ञानवतो ज्ञानवतश्चलोकान् । अभिसिद्ध्यति प्राप्नोति । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अनुवादः-सो जो उपासक ब्रह्मप्राप्त्यर्थ विज्ञाननाम शास्त्रका अध्ययन करता है वह विज्ञानवान् और ज्ञानवान् लोकों को प्राप्त करता है । हे नारद ! जो उपासक विज्ञान को बड़ा मान उपासता है । उसका स्वच्छन्द गमन वहां तक होता है जहां तक विज्ञान की गति है । इत्यादि २ पूर्ववत् अनुसन्धान करना ॥ २ ॥

इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति । परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति । श्रोता भवति । मन्ता भवति । बोद्धा भवति । कर्त्ता भवति । विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति । बलेनान्तरिक्षम् । बलेन द्यौर्बलेन पर्व्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकम् । बलेन लोकस्तिष्ठति । बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

बलम् । वाव । विज्ञानाद् । भूयः । अपि । ह । शतम् । विज्ञानवताम् । एकः । बलवान् । आकम्पयते । सः । यदा । बली । भवति । अथ । उत्थाता । भवति । उत्तिष्ठन् । परिचरिता । भवति । परिचरन् । उपसत्ता । भवति । उपसीदन् । द्रष्टा । भवति । श्रोता । भवति । मन्ता । भवति । बोद्धा । भवति । कर्त्ता । भवति । विज्ञाता । भवति । बलेन । वै । पृथिवी । तिष्ठति । बलेन । अन्तरिक्षम् । बलेन । द्यौः । बलेन । पर्व्वताः । बलेन । देवमनुष्याः । बलेन । पशवः । च । वयांसि । च । तृणवनस्पतयः । श्वापदानि । आकीटपतङ्गपिपीलकम् । बलेन । लोकः । तिष्ठति । बलम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—बलमिति । बलं नामान्नोपसेवनजनितं शारीरं मानसिकञ्च सामर्थ्यम् । तद् । वाव एव । विज्ञानाद् भूयोऽधिकतरं विद्यते । यतो बलं विना न किञ्चिदपि प्रतिभाति । अनशनाद्दगादीनि न वै मा प्रतिभांति भोः । इति श्वेतकेतुवचनमपि प्रमाणम् । अनशनाद्देहस्यहानिः । ततः । कार्य्ये असामर्थ्यम् । बलस्यमाहात्म्य-मुदाहरणेन दर्शयति । विज्ञानवतां विज्ञानिनां पुरुषाणाम् । शतं शतपरिमितां संख्याम् । एको बलवान् प्राणी । आकम्पयते । बलिष्ठो हस्तीवासमन्तात् कम्पयते विचालयति । अतो बलस्य विज्ञानादपि भूयस्त्वमिति सिद्धम् । पुनस्तदेव स्पष्टयति । सः पुरुषो यदा बली भवति । अन्नोपयोगेन समुद्भूतेन बलेन युक्तो भवति । अथ तदा । उत्थाता । उत्थानस्य कर्त्ता । शारीरिकमानसिकव्यापारयोर्विधाता भवति । उत्तिष्ठन् सन् परिचरिता भवति गुरूणामाचार्य्यस्य मातुः पितुः शुश्रूषणीयस्यान्यस्य वा परिचरणस्य सेवायाः कर्त्ता भवति । परिचरन् सेवमानः पुनः । उपसत्ता भवति उप समीपे सत्ता उपवेष्टा शुश्रूषया प्रसादितानां गुरूणामाचार्य्यप्रभृत्तीनाञ्चा समीपोपवेशको भवति तेषामन्तरङ्गः प्रियो भवतीत्यर्थः । उपसीदन् । समीप उपविशन् द्रष्टा उपदेशशिक्षादिकाले गुरूणां मुखस्य द्रष्टा भवति । उपदेष्टुर्मुखस्य दर्शनेनोपदेशकाले श्रोतुः सन्तोष उपजायते । अतः द्रष्ट्रा भवितव्यम् । बहूनां समूहे समीपग एव द्रष्टा भवितुमर्हति । श्रोता भवति । सामीप्यात् गुरुमुखविनिःसृतोपदेशवचनस्य सम्यक् श्रावको भवति । मन्ता भवति । वचन सम्यक् श्रवणानन्तरं गुरूणां वचनस्य इदं तात्पर्य्यमिदन्नोपपद्यते इत्याद्युपसत्ता मनन कर्त्ता भवति । बोद्धा भवति । मननानन्तरं तदुपदेशस्य बोद्धा । यद्गुरुभिरुक्तं तस्येदमेव तत्त्वमित्यवधारको जायते । ततः कर्त्ता भवति । निश्चित्य गुरूक्तार्थस्य कर्त्ताऽनुष्ठाता भवति । ततो विज्ञाता भवति । एतत्सर्वं सत्येव बले संभवतीति बलस्याधिकतरत्वम् । पुनरपि आसमाप्तेः बलस्यैव माहात्म्यं स्तुत्यर्थं प्ररोचनार्थञ्च निर्दिशति । तस्मान्नारद ! बलमुपास्स्वेति । बलधर्म्मान् विजानीहि । शेषमृज्वर्थम् ॥ १ ॥

अनुवादः-(सनत्कुमार कहते हैं कि) बलही विज्ञान से अधिकतर है । क्योंकि शत विज्ञानी पुरुषों को एक बलवान् कम्पित कर देता है । वह जब बली होता है तदनन्तर उत्थाता होता है । और उत्थाता होता हुआ परिचरिता (सेवक) होता है । सेवक होता हुआ उपसत्ता (गुरुके समीप बैठने के योग्य) होता है । उपसदन करता हुआ द्रष्टा होता है । श्रोता होता है । मन्ता होता है । बोद्धा होता है । कर्त्ता होता है । विज्ञाता होता हैं । बल से ही पृथिवी स्थित है । बल से अन्तरिक्ष, बल से द्युलोक, बल से पर्वत, बल से उत्तम मनुष्य, बल से पशु और पक्षी तृण वनस्पति । श्वापद ।

(दुष्टजन्तु) और कीट पतङ्ग पिपीलिका आदि सकल जन्तु बल से स्थित हैं। बल से पृथिव्यादिलोक स्थित हैं। हे नारद! बल की उपासना करो इति ॥ १ ॥

पदार्थः-(बलम्) बल (वाव) ही (विज्ञानात्) विज्ञान से (अपि) भी (भूयः) अधिकतर है (ह) यह बात प्रसिद्ध है कि (विज्ञानवताम्) विज्ञान जानने वाले मनुष्यों की (शतम्) शत संख्या को अर्थात् शतशः विज्ञानी पुरुषों को (एकः) एक (बलवान्) बलवान् (आकम्पयते) सब प्रकार से कँपा डालता है। (सः+यदा+बली+भवति) वह साधक जब बली होता है (अथ) तब (उत्थाता+भवति) साध्यकार्य में उत्थान का कर्त्ता अर्थात् कार्य करने का क्षम होता है (उत्तिष्ठन्) कार्य में उत्थान अर्थात् उत्साह करता हुआ (परिचरिता+भवति) सेवा करने के योग्य होता है (परिचरन्) सेवा करता हुआ (उपसत्ता+भवति) समीप बैठने योग्य होता है अर्थात् शुश्रूषा के द्वारा गुरु के समीप बैठने वाला अर्थात् गुरु का परमप्रिय होता है (उपसीदन्) समीप बैठता हुआ (द्रष्टा+भवति) आचार्य वा अन्य उपदेष्टा गुरु को एकाग्रतया देखने वाला होता है श्रोता+भवति) द्रष्टा होने से गुरु की सब बातों को सुनने वाला होता है (मन्ता+भवति) मनन करने वाला होता है (बोद्धा+भवति) बोद्धा होता है (कर्त्ता+भवति) अनुष्ठान करने वाला होता है (विज्ञाता+भवति) विशेष रूप से जानने वाला होता है (बलेन) बल से (वै) ही (पृथिवी तिष्ठति) भूलोक स्थित है (बलेन) बल से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (बलेन) बल से (द्यौः) द्युलोक (बलेन) बल से (पर्वताः) पर्वत (बलेन) बल से (देवमनुष्याः) विद्वान् मनुष्य (बलेन) बल से (पशवः) पशु (च) और (वयांसि) पक्षी (च) और (तृणवनस्पतयः) तृण और वनस्पति (श्वापदानि) हिंसक पशु (आकीटपतङ्गपिपीलकम्) कीट पतङ्ग पिपीलिका पर्य्यन्त बल ही से स्थित हैं (बलेन) बल से (लोकः) अवशिष्ट सब पदार्थ (तिष्ठति) स्थित हैं (बलम्) बल की (उपास्स्व) उपासना करो। अर्थात् बल के धर्म्मों को जानो ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति? बलाद्वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । बलम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । बलस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । बलम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । बलाद् । भूयः । इति । बलात् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्-स इति । स यः साधको ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूतं बलमुपास्ते तस्येदंफलं तच्छृणु । बलस्य गतमित्यादि । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

अनुवादः-सो जो कोई ब्रह्मप्राप्ति के साधनरूप बल की उपासना करता है । उसका फल यह है । जितनी बलकी गति है वहांतक इस साधक का यथाकामचार होता है । जो ब्रह्मप्राप्ति साधनभूत बलकी उपासना करता है । (नारद) हे भगवन् ! बल से भी अधिकतर कुछ है ? (सनत्कुमार) हां बल से तो अधिकतर है । (नारद) कृपया आप उसका मुझे उपदेश करें ॥ २ ॥

पदार्थः-(सः-यः) सो जो साधक (बलम्) बलकी (ब्रह्म+इति) ब्रह्म-प्राप्ति साधन समझ (उपास्ते) उपासना करता है । उसका फल आगे निरूपण होता है (यावत्) जितना (बलस्य) बल का (गतम्) गमन है । (तत्र) वहां (अस्य) इस साधक का (यथाकामचारः+भवति) स्वेच्छागमन होता है । अर्थात् बल की जहां तक गति है वहांतक वह साधक पहुंच सकता है (यः+बलम्+ब्रह्म+इति+उपास्ते) जो ब्रह्मप्राप्ति के साधनरूप बल की उपासना करता है । नारद पूछ०-(भगवः) हे भगवन् ! (बलाद्भूयः) बल से अधिकतर (अस्ति) कोई वस्तु है ? (इति) सनत्कुमार-(बलाद्+वाव+भूयः+अस्ति+इति) हां बल से भी अधिकतर है । नारद-(तत्+मे+भगवान्+ब्रवीतु+इति) आप मुझ को उस का उपदेश करें । इति ॥ २ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्तं ॥ ८ ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्याऽऽये द्रष्टा भवति । श्रोता भवति । मन्ता भवति । बोद्धा भवति । कर्त्ता भवति । विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अन्नम् । वाव । बलात् । भूयः । तस्मात् । यद्यपि । दशरात्रीः । न । अश्नीयात् । यदि । उ । ह । जीवेत् । अथवा । अद्रष्टा । अश्रोता । अमन्ता । अबोद्धा । अकर्त्ता । अविज्ञाता । भवति । अथ । अन्नस्य । आये । द्रष्टा । भवति । श्रोता । भवति । मन्ता । भवति । बोद्धा । भवति । कर्त्ता । भवति । विज्ञाता । भवति । अन्नम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्-अन्नमिति । अद्यते भूतैरित्यन्नं खाद्यवस्तु । तदेव बलाद्भूयः । कथम् । अन्नाशनेनैव बललाभः । अतो बलस्य कारणमन्नमेव । कार्याद्धि कारणस्याधिकतरत्वं लोकेऽपि दृश्यते । एतदेवात्र उदाहरणैः प्रमाणयति । तस्माद् । यस्माद् । बलकारणमन्नमस्ति । तस्माद्धेतोः । यद्यपि कश्चित् प्राणी । दशरात्रीर्दशाहोरात्रं नाश्नीयाद् नाद्यात् । किञ्चिज्जलादिकमपि प्राणान् धारयितुं न पिबेत् । तर्हि स म्रियते । बलिष्ठत्वात् कश्चिद्यदि न म्रियेत । अथवा यदि ह उ प्रसिद्धः कोपि प्राणी जीवेत् दशरात्रोपवासेनापि प्राणान् धारयेत् । तर्हि अकिञ्चित्कर एव स भविष्यति । कथम् । यतः । स अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता, अविज्ञाता भवति । तस्यऽनश्नता जीवतः पुरुषस्य सर्वं पूर्वं विपरीतमेव सम्पद्यते । अथ यदि बहून्यहानि । अनश्नन् जीवन् दर्शनादि क्रियास्वसमर्थः सन् पुरुषस्तिष्ठेत् । ततः । अन्नस्याऽऽये । आगमने सति । अन्नं यदि स लभेत तर्हि । तदा द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्त्ता भवति, विज्ञाता भवति । नारद तस्मादन्नमुपास्स्व । इति । अन्नधर्मान् विजानीहि ॥ १ ॥

अनुवादः-अन्न ही बल से अधिक है । उस हेतु यद्यपि (कोई) दशरात्रि न भोजन करे (तो वह मर जायगा) अथवा कदाचित् न मरे । यदि वह कष्ट से जीवित रहे तथापि (मृतवत् ही वह रहेगा क्योंकि) जीवित रहने पर भी वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता, अविज्ञाता होता है । फिर यदि अन्न की प्राप्ति हो तो द्रष्टा होता है । श्रोता होता है । मन्ता होता है । बोद्धा होता है । कर्त्ता होता है । विज्ञाता होता है (इस कारण नारद) अन्न की उपासना करो ॥ १ ॥

पदार्थः-(अन्नम्) अन्न (वाव) ही (बलाद्) बल से (भूयः) अधिकतर है (तस्मात्) इस हेतु (यद्यपि) यद्यपि कोई पुरुष (दशरात्रीः) दश दिनरात (न) नहीं (अश्नीयात्) भोजन करें (अथवा) अथवा न भोजन करने पर भी (यदि+उ+ह) यदि कोई बलिष्ठ प्रसिद्ध आदमी (जीवेत्) जीवे तथापि वह मृत समान ही है क्योंकि

(अद्रष्टा आदि०) अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता और अविज्ञाता होता है (अथ) अनन्तर (अन्नस्य) अन्न का (आये) आय अर्थात् प्राप्ति होवे तो (द्रष्टा इत्यादि०) द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञाता होता है । इस कारण हे नारद ! (अन्नम्+उपास्स्व+इति) अन्न की उपासना करो । इति ॥ १ ॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतोऽभिसिद्ध्यति । यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । अन्नम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अन्नवतः । वै । सः । लोकान् । पानवतः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । अन्नस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । अन्नम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । अन्नाद् । भूयः । इति । अन्नाद् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–स य इति । स य उपासकः । ब्रह्मेति ब्रह्मप्राप्तिसाधनमन्नमुपास्ते । सोऽन्नोपासकः । अन्नवतः । प्रभूतान्यन्नानि विद्यन्त एषामित्यन्नवन्तस्तान् । पानवतः प्रभूतोदकांश्च । लोकान् जनान् । अभिसिद्ध्यति आप्नोति । यावदन्नस्येत्यादि पूर्ववदनुसन्धेयं व्याख्येयञ्च ॥ २॥

अनुवादः–सो जो कोई साधक अन्न को ब्रह्मप्राप्ति का साधन मानकर उसके धर्म को विचारता है । वह अन्नवान् और पानवान् मनुष्यों को पाता है । जितनी अन्न की गति है । वहां तक इसका (साधक का) यथाकामचार होता है । जो ब्रह्मप्राप्ति का साधन मान अन्न के गुणों को विचारता है (नारद पू०) हे भगवन् ! अन्न से भी अधिकतर कोई वस्तु है ? (सनत्कुमार उ०) हां अन्न से भी अधिकतर वस्तु है (नारद पू०) कृपाकर मुझ को उसका उपदेश करें ॥ २ ॥

पदार्थः–(सः+यः) सो जो कोई साधक (अन्नम्) खाद्य पदार्थमात्र का (ब्रह्म+इति) ब्रह्मप्राप्त्यर्थ (उपास्ते) विचार करता है उसका यह फल होता है । (अन्नवतः+वै+पानवतः+लोकान्) अन्नवान् और पानवान् लोकों को (अभिसिद्ध्यति) प्राप्त करता है अर्थात् जो कोई अन्न सम्बन्धी विज्ञान को जानता है वह तो स्वयं

सुखी रहता ही है परन्तु उसके समीपी कुटुम्ब परिवार इष्ट मित्र भी अन्नों से सुखी रहते हैं। क्योंकि अपने विज्ञान से अपने समीपी को भी शिक्षित करता रहता है। पानी की सहायता से ही अन्न की उत्पत्ति होती है। अतः जलीय विज्ञान विना अन्न विज्ञान नहीं हो सकता अतः कहा गया है कि अन्नवान् और पानवान् लोकों को वह प्राप्त करता है। आगे पूर्ववत् ही जानना ॥ २ ॥

इति नवमखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवंत्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्त्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्त्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥

आपः। वाव। अन्नाद्। भूयस्यः। तस्मात्। यदा। सुवृष्टिः। न। भवति। व्याधीयन्ते। प्राणाः। अन्नम्। कनीयः। भविष्यति। इति। अथ। यदा। सुवृष्टिः। भवति। आनन्दिनः। प्राणाः। भवन्ति। अन्नम्। बहु। भविष्यति। इति। आपः। एव। इमाः। मूर्त्ताः। या। इयम्। पृथिवी। यत्। अन्तरिक्षम्। यद्। द्यौः। यत्। पर्वताः। यत्। देवमनुष्याः। यत्। पशवः। च। वयांसि। च। तृणवनस्पतयः। श्वापदानि। आकीटपतङ्गपिपीलकम्। आपः। एव। इमाः। मूर्त्ताः। अपः। उपास्स्व। इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—आप इति। आपो जलम्। वाव एव। अन्नाद् भूयस्य अधिकतराः सन्ति। जलंविनान्नानामनुत्पत्तिदर्शनाद्। तस्यान्नकारणत्वम्। तस्मात्। यस्माद्। अन्नकारणं वारि। तस्माद् यदा यस्मिन्काले सुवृष्टिर्न भवति। तदा प्राणाः। अत्र प्राणशब्देन प्राणिनो लक्ष्यन्ते प्राणिन इत्यर्थः। सर्वाणीन्द्रियाणि वा। व्याधीयन्ते व्याधियुक्ता दुःखिनो भवन्ति। किमर्थं प्राणिनो दुःखायन्त इत्याह। अन्नं प्राणधारणैकसाधनं धान्यादिकमन्नमस्माकं कनीयो भविष्यति। इति हेतोः प्राणिनः खलु दुःखायन्ते। अथ यदा सुवृष्टिर्भवति।

तदा प्राणाः प्राणिनः । आनन्दिन आनन्दाः प्रमुदिता भवन्ति । किमर्थम् । अस्माकमस्मिन् वर्षे । बहुप्रचुरमन्नं भविष्यतीति हेतो । अपां व्याप्तिं विज्ञानार्थी दर्शयति । आप एव इमा मूर्त्ता वक्ष्यमाणाः । अन्नानांकारणत्वाद् । आप एवान्नरूपेण प्रत्यक्षाः परिणताः सर्वाः मूर्तयः प्रतीयन्ते । एवं प्राणिनामपि परम्परया आप एव कारणम् । तस्मात्प्राणिनोपि । अपां परिणामस्वरूपा एव । एवं पृथिव्यादिष्वपि जलबाहुल्याद्प्जातत्वमिति प्रतीतिः तस्मान्नारद ! अप उपास्स्व । इति । अपां धर्म्मान् विजानीहि ॥ १ ॥

अनुवादः—जलही अन्नसे अधिकतर है । उस हेतु जब सुवृष्टि नहीं होती है तब प्राणी दुखी होते हैं । क्योंकि अन्न अल्पतर होगा । और जब सुवृष्टि होती है तब प्राणी आनन्दित होते हैं क्योंकि अन्न बहुत होगा । जल ही ये मूर्त्तिमान् हैं । जो यह पृथिवी, जो अन्तरिक्ष, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देवमनुष्य, जो पशु और पक्षी । तृण-वनस्पति । श्वापद (क्रूरपशु) कीटपतङ्ग और पिपीलिका पर्य्यन्त सब ही जलस्वरूप हैं (हे नारद) जल की उपासना करो अर्थात् जलके धर्म्मों को जानो ॥ १ ॥

पदार्थः—(आपः+वाव) जलही (अन्नात्) अन्नसे (भूयस्यः) अधिकतर है (तस्मात्) उस हेतु (यदा) जब (सुवृष्टिः) शस्यहितकारी अच्छी वृष्टि (न) नहीं (भवति) होती है तब (प्राणाः) प्राणी वा सब इन्द्रिय (व्याधीयन्ते) दुःखित होते हैं । दुःखित क्यों होते हैं इसका कारण आगे कहा जाता है (अन्नम्+कनीयः+भविष्यति) अन्न बहुत थोड़ा होगा (इति) इस कारण (अथ) और (यदा) जब (सुवृष्टिः) अच्छी वृष्टि (भवति) होती है तब (प्राणाः) प्राणी (आनन्दिनः) आनन्दित (भवति) होते हैं क्योंकि (अन्नम्+बहु+भविष्यति) अन्न बहुत होगा (इति) इस हेतु (आपः) जल (एव) ही (इमाः) ये वक्ष्यमाण पृथिवी आदि (मूर्त्ताः) मूर्त्तिमान् हैं (याः+इयम्+पृथिवी) जो यह पृथिवी (यद्+अन्तरिक्षम्) जो अन्तरिक्ष (यद्+द्यौः) जो यह द्युलोक (यत्+पर्वताः) जो पर्वत (यद्देवमनुष्याः) जो देवमनुष्य (यत्पशवः) जो पशु (च) और (वयांसि) पक्षी (च) और (तृणवनस्पतयः) तृण और वनस्पति (श्वापदानि) क्रूरपशु (आकीटपतङ्गपिपीलकम्) कीट पतङ्ग और पिपीलिका पर्य्यन्त सकल क्षुद्रजन्तु (आपः+एव+इमाः+मूर्त्ताः) जल ही मूर्त्तिमान् ये सब हैं (अपः) हे नारद ! जल की (उपास्स्व+इति) उपासना करो ॥ १ ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान् कामाꣳस्तृप्तिमान् भवति । यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति

योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥ २॥

सः। यः। अपः। ब्रह्म। इति। उपास्ते। आप्नोति। सर्वान्। कामान्। तृप्तिमान्। भवति। यावत्। अपाम्। गतम्। तत्र। अस्य। यथाकामचारः। भवति। यः। अपः। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अस्ति। भगवः। अद्भ्यः। भूयः। इति। अद्भ्यः। वाव। भूयः। अस्ति। इति। तत्। मे। भगवान्। ब्रवीतु। इति॥ १॥

भाष्यम्–स इति। स य उपासकः। ब्रह्मेति ब्रह्मप्राप्तिसाधनमिति मत्वा। अपो जलमुपास्ते। स सर्वान् कामान् आप्नोतीत्यन्वयः। अन्यत् सर्वं समानम्॥ २॥

अनुवादः–सो जो कोई उपासक ब्रह्मप्राप्ति का साधन समझ जल की उपासना करता है अर्थात् जल के धर्म्म को विचारता है वह सब कामनाओं को पाता है। तृप्तिमान् होता है। जितना जल का गमन है वहां तक उस उपासक का स्वेच्छा गमन होता है जो ब्रह्मसाधनभूत जल के धर्म्मों को विचारता है (नारद पू०) हे भगवान् जल से भी अधिकतर कोई वस्तु है? (सनत्कुमार) हां जल से तो अधिकतर वस्तु है (नारद पू०) कृपया आप मुझ को उस की शिक्षा देवें॥ २॥

पदार्थः–(सः+यः) सो जो उपासक (अपः) जल की (ब्रह्म+इति) ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ (उपास्ते) उपासना करता है वह (सर्वान्+कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) पाता है (तृप्तिमान्+भवति) तृप्तिमान् होता है (यावत्) जितना (अपाम्) जलों की (गतम्) गमन गति है (तत्र) वहां (अस्य) इस उपासक का (यथाकामचारः) स्वच्छन्द गमन (भवति) होता है (यः+अपः+ब्रह्म+इति+उपास्ते) जो ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ जल के धर्म को विचारता है। नारद–(भगवः) हे भगवन् सनत्कुमार! (अद्भ्यः+भूयः) जल से अधिकतर कोई वस्तु (अस्ति) है? सनत्कुमार (अद्भ्यः+वाव+भूयः+अस्ति) हां जल से तो अधिकतर वस्तु है (तत्+मे+भगवान्+ब्रवीतु+इति) हे भगवन्! कृपया मुझ को आप उस की शिक्षा देवें॥ २॥ इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते॥ १०॥

अथैकादशः खण्डः ॥

तेजो वावाद्भयो भूयस्तद्वा एतद्वायुमुपगृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति । तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

तेजः । वाव । अद्भ्यः । भूयः । तद् । वा । एतद् । वायुम् । उपगृह्य । आकाशम् । अभितपति । तत् । आहुः । निशोचति । नितपति । वर्षिष्यति । वै । इति । तेजः । एव । तत् । पूर्वम् । दर्शयित्वा । अथ । अपः । सृजते । तत् । एतत् । ऊर्ध्वाभिः । च । तिरश्चीभिः । च । विद्युद्भिः । आह्रादाः । चरन्ति । तस्मात् । आहुः । विद्योतते । स्तनयति । वै । वर्षिष्यति । इति । तेजः । एव । तत् । पूर्वम् । दर्शयित्वा । अथ । अपः । सृजते । तेज । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–तेजोऽग्निः । वाव एव । अद्भ्यो जलाद्भ्योऽधिकतरमस्ति । यतस्तेजोऽप्कारणमस्ति । तस्माद् । तद्वा तदेव एतत्तेजो वायुमुपगृह्य । अवष्टभ्य संगृह्य इति यावत् । आकाशमन्तरिक्षमभितपति । वायुभिः सार्धं तेज आकाशमभिज्वालयति । तदा आकाशस्यापि तापनसमये ग्रीष्मर्तौ । जनाः । आहुः कथयन्ति । यद् । इदं जगत् निशोचति नितपति । अर्थात् सर्वतः सम्प्रति भूमण्डलं संतप्तं भवति । अतो देवो वर्षिष्यति । तपनपूर्वकस्य वर्षणस्यानुमानात्तेज एव वर्षणकारणमिति प्रतीयते । तेज एव तत् पूर्वं जगत्तापनरूपं दृश्यं दर्शयित्वा प्रकटीकृत्य । अथानन्तरम् । अपो जलं सृजते उत्पादयति । यतोऽपामपि स्रष्टृ तेज एव । अतस्तेजसोऽद्भ्यो भूयस्त्वम् । तदेतत् तेजएव स्तनयित्नु रूपादिभिर्जलकारणं भवतीति दर्शयति । तथाहि । ऊर्ध्वाभिरूर्ध्वगामिनीभिः तिरश्चीभिस्तिर्यग्गताभिः कुटिलगामिनीभिः । विद्युद्भिः सम माह्रादाः स्तनयित्नुशब्दाः । चरन्ति भवन्ति । तस्मात् लौकिका जनाः । आहुर्ब्रुवन्ति । विद्योतते । विद्युत्प्रकाशते । स्तनयति । गर्जति । अतो वर्षिष्यति । वृष्टिर्भविष्यति । वेति । अतोनुमीयते । तेज एव तत् दृश्यं पूर्वं प्रथमं दर्शयित्वा प्रकटीकृत्य अथापो जलं सृजत उत्पादयति । तेज उपास्स्व । इति । तस्मान्नारद ! तेजोधर्मान् विभावय ॥ १ ॥

अनुवादः-तेज ही जल से अधिकतर है। सो यह (तेज ही) वायुको संगृहीत-कर आकाश में व्याप्त हो तपाता है। तब (लोक) कहते हैं कि जगत् को तपाता है अतः वर्षा होगी सो तेज ही उस दृश्यको प्रथम दिखाकर पश्चात् जल उत्पन्न करता है। और तेज ही विद्युद्रूप से वर्षा का भी कारण होता है। इसलिये जो ऊपर जानेवाली और तिरछी जाने वाली विद्युत् के साथ घोर गर्जन होता है (उसका भी कारण तेज ही है) इस हेतु लौकिक जन कहते हैं कि विद्युत् विद्योतित होती है। गर्जन होता है। अब वर्षा होगी। इति। अतः तेज ही प्रथम उस दृश्य को दिखलाकर पश्चात् वर्षा उत्पन्न करता है (हे नारद) तेज के धर्म्म को जानो विचारो॥ १॥

पदार्थः-(तेजः+वाव) तेज ही (अद्भ्यः+भूयः) जल से अधिकतर है क्योंकि जलका कारण तेज ही है (तत्+वै+एतत्) सो यह तेज निश्चय (वायुम्) वायुको (उपगृह्य) निग्रह करके अर्थात् वायु को अपने साथ लेकर (आकाशम्) आकाश को (अभितपति) व्याप्त होकर संतप्त करता है। ग्रीष्म ऋतु में तेज वायु को लेकर आकाश में फैल जगत् को तपाना आरम्भ करता है (तदा+आहुः) तब मनुष्य कहने लगते हैं कि (निशोचति+नितपति) यह तेज जगत् को और प्राणियों को संतप्त करता है (वर्षिष्यति+वै+इति) मालूम पड़ता है कि निश्चय वर्षा होगी (तेज+एव) तेज ही (तत्+पूर्वम्) उस दृश्य को प्रथम (दर्शयित्वा) दिखला कर (अथ) अनन्तर (अपः) जल को (सृजते) उत्पन्न करता है (तत्+एतत्) सो यह तेज विद्युत् आदि का भी कारण है। जो (ऊर्द्ध्वाभिः) ऊर्ध्व स्थित ऊपर जाने वाली (च) और (तिरश्चीभिः) तिरश्चीन गतिवाली तिरछी गतिवाली (विद्युद्भिः) विद्युत् के साथ (आह्रादाः) मेघ के घोर गर्जन (चरन्ति) चलते हैं अर्थात् होते हैं। इन का भी कारण तेज ही है (तस्मात्) उस हेतु (आहुः) लोक कहते हैं (विद्योतते) विद्युत् विद्योतित होती है (स्तनयति) मेघ गरजता है (वर्षिष्यति+वै+इति) अनुमान होता है कि वर्षण होगा (तेजः+एव+तत्+पूर्वम्+दर्शयित्वा) तेज ही उस दृश्य को प्रथम दिखला कर (अथ) अनन्तर (अपः) जल को (सृजते) उत्पन्न करता है। इस कारण हे नारद! (तेजः+उपास्व+इति) तेज के धर्म्मों को विचारो॥ १॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति। यावत्तेजसो गतं तत्रा-

स्य यथाकामचारो भवति । यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव-स्तेजसो भूय इति ? तेजसो वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भग-वान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । तेजः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । तेजस्वी । वै । सः । तेजस्वतः । लोकान् । भास्वतः । अपहततमस्कान् । अभिसिद्धयति । यावत् । तेजसः । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । तेजः । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । तेजसः । भूयः । इति । तेजसः । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स य उपासकः । ब्रह्मेति ब्रह्मलाभसाधनमिति मत्वा तेज उपास्ते तेजो धर्मान् विभावयति । स तेजस्वी भवति । वै इति निश्चयः । पुनः । तेजस्वतः । प्रचुरतेजस्विनः भास्वतः प्रकाशवतः । अपहततमस्कान् अपहतानि विनष्टानि तमांसि येषां ते अपहततमस्काः । तान् लोकान् । अभिसिद्धयति प्राप्नोति । तेजोधर्म्मविज्ञानेन स्वयं तेजस्वी भूत्वा निजोपदेशविधानेन अन्यानपि शिष्यान् तेजस्विनस्तेजोधर्मविदः कुर्वन्ति यावदित्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

अनुवादः—सो जो कोई उपासक तेज को ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ उसके धर्म्म को विचारता है । वह अवश्य ही तेजस्वी होता है । और वह तेजस्वी भास्वान और तमोरहित जनों को प्राप्त करता है । और जितनी तेज की गति है वहां इस साधक का स्वेच्छाचार गमन होता है । जो ब्रह्म साधनभूत तेज के धर्म्म की भावना करता है (नारद पू०) हे भगवन् ! तेजसे भी अधिकतर कोई वस्तु है (सनत्कुमार) तेज से अधिकतर वस्तु तो है (नारद) हे भगवन् ! कृपाकर मुझको आप उसका उपदेश करें ॥ २ ॥

पदार्थः–(सः+यः) सो जो उपासक (ब्रह्मेति) ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ (तेज+उपास्ते) तेज के धर्मों को विचारता है । वह (तेजस्वी) तेजस्वी होता है (वै) निश्चय अर्थात् इस में सन्देह नहीं । वह अवश्य तेजस्वी होता है । और (सः) वह (तेजस्वतः) तेजस्वी (भास्वतः) देदीप्यमान (अपहततमस्कान्) अज्ञानरूप अन्धकार रहित (लोकान्) जनों को (अभिसिद्धयति) प्राप्त करता है अर्थात् जो तेजसविद्या में निपुण होते हैं वे स्वयं तेजस्वी होकर अपनी शिक्षा से अन्य मनुष्यों को

भी स्वलक्षण उत्पन्न करते हैं (यावत्) जितना (तेजसः)-तेज की (गतम्) गति है। इत्यादि पूर्ववत् ही जानना ॥ २ ॥

इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्तं ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

आकाशः । वाव । तेजसः । भूयान् । आकाशे । वै । सूर्यचन्द्रमसौ । उभौ । विद्युत् । नक्षत्राणि । अग्निः । आकाशेन । आह्वयति । आकाशेन । शृणोति । आकाशेन । प्रतिशृणोति । आकाशे । रमते । आकाशे । न । रमते । आकाशे । जायते । आकाशम् । अभिजायते । आकाशम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—आकाशः इति । तेजस आग्नेयशक्तेः । आकाशः शब्दगुणोऽदृश्यपदार्थविशेषः । अतएव भूयानधिकतरः । कथम् ? वायुसहितस्य तेजस आकाशएव कारणमिति शास्त्रेषु प्रसिद्धम् । कारणं कार्याद्भूय इति नियमात् । यथा घटादिभ्यो मृत्तिका तथा वायुसहितस्य तेजस आकाशः कारणमिति ततोपि भूयान् भवितुमर्हति । अथयिदं विस्पष्टयति आकाशे वै । आकाशे एव । सूर्याचन्द्रमसौ । रविचन्द्रौ । उभौ तेजोरूपौ । अन्तर्वर्तिनौ दृश्येते । विद्युच्चपला । नक्षत्राणि । तारकाणि । अग्निरभिहित-सूर्य्य-प्रमुखातिरिक्ता आग्नेयी शक्तिस्तेजोरूपा । तत्सर्वमाकाशेऽन्तर्वर्ति । यद् यदन्तर्वर्ति तत्तस्मात् कनीयः । इतरच्च भूय इति लोके दृष्टम् । घटादिर्मृत्तिकान्तर्वर्ती । ततः कनीयान् । तद्वत् अन्यच्च । आकाशेन । आकाशद्वारेण । आह्वयति । अन्योन्यमाकारयति । आकाशेन शृणोति परस्परभाषणमाकाशद्वारयैव जनः शृणोति आकाशेन प्रतिशृणोति च प्रत्युत्तरं ददाति प्रतिशृणोति प्रत्युत्तरार्थः । "भगव इति ह प्रतिशुश्रावं" इत्यादि प्रयोगदर्शनात् । आकाशे रमते क्रीडति । आकाशे न रमते इष्टजनविप्रयोगे सति सत्यपि आकाशे जनो न रमते । अयमर्थः । क्रीड़ाकारणमाकाशश्चेत् सर्वः खलु रमेत । नहि सर्वो रममाणो दृश्यते । तर्हि कथमाकाशे रमत इत्यस्य संगतिः । इमां समुत्थितां शङ्कामपनेतुकामा आकाशे न रमते इति वर्णयन्ति । मनोवैकल्या-

दिदोष सद्भावादरमणम् । कर्ण-शष्कुली-वैगुण्याद्यथाऽश्रवणम् । आकाशे जायते । सत्येव आकाशे जन उत्पद्यते । तथा आकाशमभिलक्ष्य सर्वः पदार्थो जायते । वर्धते आत्मानं पोषयतीत्यर्थः न प्रतिलोमम् । एतैर्हेतुभिराकाशस्य तेजसः सकाशाद् भूयस्त्वम् । तस्मान्नारद ! आकाशमुपास्स्व । इति आकाशधर्मान् विद्धि ॥ १ ॥

अनुवादः-आकाश ही तेज से अधिकतर है आकाश में ही सूर्य और चन्द्र दोनों, विद्युत् नक्षत्र और आग्नेयशक्ति विद्यमान है । आकाश के द्वारा एक दूसरे को पुकारता है । आकाश के द्वारा सुनता है । आकाश के द्वारा उत्तर देता है । आकाश में क्रीड़ा करता है । आकाश में क्रीड़ा नहीं करता है । आकाश में उत्पन्न होता है । आकाश को लक्ष्य कर (सर्व पदार्थ) अपने को पुष्ट करते हैं (अतएव हे नारद !) आकाश के धर्म्म को जानो ॥ १ ॥

पदार्थः-(आकाशः) आकाश (वाव) ही (तेजसः) तेज से (भूयान्) अधिकतर है (आकाशे) आकाश में (वै) ही (सूर्य्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र (उभौ) दोनों (विद्युत्+नक्षत्राणि) विद्युत् और नक्षत्र (अग्निः) आग्नेयशक्ति विद्यमान है (आकाशेन) आकाश के द्वारा (आह्वयति) एक दूसरे को पुकारता है (आकाशेन+शृणोति) आकाश के द्वारा सुनता है (आकाशेन) आकाश के द्वारा (प्रतिशृणोति) प्रत्युत्तर देता है (आकाशे+रमते) आकाश में क्रीड़ा करता है । (आकाशे+न+रमते) आकाश में रमित नहीं होता है (आकाशे) आकाश में (जायते) सब पदार्थ उत्पन्न होता है (आकाशम्+अभिजायते) उत्पन्न होकर आकाश में ही अपने को पुष्ट करता है अतः हे नारद ! (आकाशम्) आकाश सम्बन्धी धर्म्मों को (उपास्स्व) विचारो ॥ १ ॥

भाष्याशयः-वायु सहित तेज का कारण आकाश ही है । यह शास्त्रप्रसिद्ध बात है । जो पदार्थ जिसका कारण होता है वह उससे अधिकतर है जैसे घट आदि का कारण मृत्तिका घट आदि से अधिकतर है । तद्वत् । सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत्, नक्षत्र और अन्य आग्नेयशक्ति सब ही आकाश के अन्तर्वर्ती हैं, अन्तर्वर्त्ती वस्तु अल्पतर होती है जैसे गृह के अन्तर्वर्ती घट अवश्य ही गृह से अल्पतर होगा । वैसे ही आकाश के अन्तर्वर्तिनी आग्नेयी शक्ति है अतः आकाश उससे अधिकतर है । यह सिद्ध होता है ॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति । यावदाका-

शस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । आकाशम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । आकाशवतः । वै । सः । लोकान् । प्रकाशवतः । असम्बाधान् । उरुगायवतः । अभिसिद्ध्यति । यावत् । आकाशस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । आकाशम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । आकाशाद् । भूयः । इति । आकाशाद् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स य इति । स य उपासकः । ब्रह्मेति ब्रह्मप्राप्तिसाधनमिति मत्वा । आकाशमाकाशधर्म्मान् । उपास्ते अधीते । सः । आकाशवतः । प्रशस्ताकाशगुणसहितान् । प्रकाशवतः प्रकाशाकाशयोर्नित्यसंबन्धात् तत्साहचर्य्येण प्रभासमन्वितान् । असम्बाधान् सम्बाधनं सम्बाधः परस्परपीड़ा सम्बाधशब्दवाच्या । न सम्बाधो विद्यते येषामिति ते असम्बाधास्तान् । परस्परसम्बन्धरहितान् । अतएव । उरुगायवतः । उरु विस्तीर्णं गायं गमनमित्युरुगायं तत्सहितानुरुगायवतो विस्तीर्णप्रचारान् । लोकान् जनान् । अभिसिद्धयति प्राप्नोति । यावदाकाशस्य गतमित्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

अनुवादः—जो कोई उपासक ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ आकाश के धर्म्मों का अध्ययन करता है । वह आकाशवान्, प्रकाशवान्, शारीरिक, मानसिक परस्पर पीड़ा रहित परम उदार जनों को प्राप्त करता है । और आकाश के गुणों की जितनी गति है वहां इस उपासक का यथाकामचार होता है जो ब्रह्मप्राप्ति साधन समझ आकाश के धर्म्मों का अध्ययन करता है । नारद—भगवन् ! आकाश से भी कोई अधिकतर वस्तु है ? । सनत्कुमार—हां आकाश से तो अधिकतर वस्तु है । नारद—भगवन् ! कृपया आप मुझको उसका उपदेश करें ॥ २ ॥

पदार्थः—(सः+यः+उपासकः) जो उपासक (ब्रह्म+इति) ब्रह्मप्राप्ति साधन मान (आकाशम्) आकाश सम्बन्धी गुणों का (उपास्ते) अध्ययन करता है (स+वै) वह प्रसिद्ध उपासक (आकाशवतः) आकाश के समस्त गुणों के जानने वाले (प्रकाशवतः) स्वच्छान्तःकरण अतएव (असम्बाधान्) शारीरिक मानसिक पीड़ा रहित (उरुगायवतः)

अतएव विस्तीर्ण गमन वाले अर्थात् परम उदार (लोकान्) पुरुषों को (अभिसिद्ध्यति) उत्पन्न करता है (यावदाकाशस्य) इत्यादि का अर्थ बहुत सुगम है । पूर्ववत् करलेना ॥ २ ॥

भाष्याशयः—जो जैसा हो शिष्य भी वैसे ही प्रायः होते हैं इस कारण आकाश के गुण जाननेवाले के शिष्य भी वैसे ही होवेंगे । जैसे आकाश प्राणी को अवकाश देता है वैसे मैं भी सबों को यथाशक्ति अवकाश दूं । जैसे आकाश के ही अधीन प्रकाश (ज्योति) रहता है अतः यह सबों को प्रकाश भी देता है । तद्वत् मैं भी ज्ञानरूप प्रकाश सबों को दूं । जैसे आकाश में कोटानकोटि लोकलोकान्तर निवास करते हुए परस्पर पीड़ित नहीं होते हैं । वैसे मेरे द्वारा भी परस्पर किसी को पीड़ा नहीं होनी चाहिये । अथवा जैसे आकाश में विद्यमान सब पदार्थ परस्पर टक्कर नहीं खाते हैं । तद्वत् मुझ में वर्त्तमान कामक्रोधादि परस्पर बाधित न होवें वैसे यत्न करने चाहियें । जैसे आकाश बहुत व्याप्त है । वैसे मेरी गति भी अनेक विद्याओं में होनी चाहिये । इत्यादि गुणों के अध्ययन करनेवाले का शिष्य भी तद्वत् ही होगा ॥ २ ॥

इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वावाऽऽकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न-स्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् । यदा वाव ते स्मरेयु रथशृणुयु रथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् । स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स्मरः । वाव । आकाशात् । भूयः । तस्मात् । यद्यपि । बहवः । आसीरन् । न । स्मरन्तः । न । एव । ते । कञ्चन । शृणुयुः । न । मन्वीरन् । न । विजानीरन् । यदा । वाव । ते । स्मरेयुः । अथ । शृणुयुः । अथ । मन्वीरन् । अथ । विजानीरन् । स्मरेण । वै । पुत्रान् । विजानाति । स्मरेण । पशून् । स्मरम् । उपास्स्व । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—स्मर इति । स्मरणं स्मरः । स्मृतिरित्यर्थः । अन्तःकरणस्य धर्मविशेषः । अनुभूतविषयस्य कारणविशेषेण चेतस्यारोहणं स्मरणम् । स स्मरः । आकाशाद्भूयः भूयान् । अधिकतरः । भूय इत्यत्र नपुंसकमार्षम् । आकाशस्य सकाशात् स्मरणस्य

भूयस्त्वप्रकारंसाधयति । तथा हि । यद्यपि । वहवो जना न स्मरन्तः सन्तः स्मरणशक्तिविरहिताः पूर्वं पूर्वं चणे चणे विस्मरन्तः सन्तः कस्मिंश्चित्स्थाने । आसीरन् । उपविशेयुर्नाम । ते कञ्चन शब्दं न शृणुयुः । स्मरणाभावात् । कञ्चन शब्दं शृण्वन्तोऽपि अशृण्वन्त इव ते तिष्ठन्ति । तेषां श्रवणमप्यश्रवणमेव । न मन्वीरन् । मन्तव्यान् विषयान् स्मरेयुश्चेत् तदा तेषां मननं सम्भवति । स्मरणाभावात् कथं मन्वीरन् न मन्तुं शक्नुयुः । न विजानीरन् । श्रवणस्मरणमननाभावात् परस्परभाषिततत्त्वं कथं नाम विजानीरन् विज्ञातुमपि न शक्नुयुरित्यर्थः । विलोमं दर्शयति । यदा वाव ते पुरुषाः स्मरेयुः । श्रोतव्यं मन्तव्यं विज्ञातव्यं वस्तु यदा सम्यक् स्मरेयुः । अथ तदा शृणुयुः । अथ मन्वीरन् । अथ विजानीरन् । स्मरेण वै स्मरणेनैव पुत्रान् पुत्रकलत्रप्रमुखान् विजानाति । स्मरेण स्मरणेन पशून् विजानाति । एतेनेदं सिद्धं शब्दगुणोह्याकाशः । गुणस्वरूप एव पदार्थः । यथा दहनगुणरूप एवाग्निः । न हि गुणाद् भिन्नः कोऽप्यग्निर्नाम पदार्थोऽस्ति तद्वत् शब्दगुणभिन्नो नह्यस्ति कोप्याकाशोनामपदार्थः । शब्दस्तु स्मृत्यधीनः । यद्यदाधीनम् । तत्तस्मात् कनीयः । यथा नृपाधीनोऽमात्यो नृपात् कनीयान् तद्वदिहापि । स्मराधीन आकाशः स्मरात् कनीयान् । इतरस्तु भूयानिति सिद्धम् । तस्मान्नारद ! स्मरमुपास्स्व स्मरधर्म्मानधीष्व । इति ॥ १ ॥

अनुवादः—आकाश से स्मरण ही अधिकतर है इस कारण यद्यपि (किसी एक स्थान में) स्मरण न करते हुए बहुत आदमी बैठें तो न तो वे एक शब्द ही सुन सकेंगे न मनन कर सकेंगे और न उनके तत्त्वों को जान सकेंगे । परन्तु यदि वे स्मरण करसकें तब वे सुन सकेंगे तब मनन कर सकेंगे और तब जान सकेंगे । स्मरण से ही पुत्रों को जानता है । स्मरण से ही पशुओं को जानता (अतः हे नारद !) स्मरणशक्ति का मनन करो ॥ १ ॥

पदार्थः–(स्मरः+वाव) स्मरण ही (आकाशात्) आकाश से (भूयः) अधिकतर है (तस्मात्) उस कारण (यद्यपि) यद्यपि (न+स्मरन्तः) स्मरण नहीं करते हुए (वहवः+आसीरन्) किसी स्थान में बहुत आदमी बैठ जायँ तो (ते) वे (नैव) न तो (कञ्चन) किसी शब्द को (शृणुयुः) सुन सकेंगे (न+मन्वीरन्) न मनन कर सकेंगे (न+विजानीरन्) न जान सकेंगे । परन्तु (यदा+वाव) जबही (ते) वे (स्मरेयुः) स्मरण कर सकेंगे (अथ) अनन्तर अर्थात् तब ही (शृणुयुः) सुन सकेंगे (अथ) तबही (मन्वीरन्) मनन कर सकेंगे (अथ) तबही (विजानीरन्) विशेषरूप से जान सकेंगे (स्मरेण+वै) स्मरण से ही (पुत्रान्+विजानाति) पुत्रों को जानता है (स्मरेण+पशून्)

स्मरण से पशुओं को जानता है । (स्मरम्) स्मरणशक्ति का (उपास्स्व) मनन करो । इति ॥ १ ॥

भाष्याशयः—आकाश से स्मर=स्मरण अधिकतर है । क्योंकि आकाश का गुण शब्द है यह प्रसिद्ध है । गुणी से भिन्न कोई गुण पदार्थ नहीं है । अर्थात् गुणस्वरूप ही पदार्थ होता है । गुण से भिन्न नहीं । जैसे अग्नि का गुण दाहकरण है । परन्तु दहन गुण से भिन्न कोई अग्नि पदार्थ नहीं है । किन्तु दहनस्वरूप ही अग्नि है । तद्वत् शब्द गुण जो आकाश सो शब्द से कोई भिन्न पदार्थ नहीं किन्तु शब्दस्वरूप ही है । परन्तु शब्द स्मरण के अधीन है । अतः स्मरण से अल्पतर शब्द है । जब शब्द अल्पतर हुआ तो आकाश भी स्मरण से अल्पतर हुआ । क्योंकि शब्द ही आकाश है जो पदार्थ जिसका अधीन होता है वह उससे अल्पतर होता है । जैसे नृप का अधीन अमात्य वा मन्त्री नृप से अल्पतर ही होता है । तद्वत् स्मरण का अधीन शब्द अवश्य उस से अल्पतर होगा । और स्मरण अधिकतर होगा । न सुन सकेंगे—इसका भाव यह है कि स्मरणशक्ति के न रहने से सुनते हुए भी नहीं सुनते हुए से रहते हैं एवं मन्तव्य विषय जब स्मृत रहते हैं तब ही उनका मनन भी होता है । स्मरण न रहने के कारण मनन नहीं होता और स्मरण मनन जब नहीं हुए तो उनका ज्ञान कैसे हो सकता । अतः स्मरण ही श्रवण मनन विज्ञान का कारण है । स्मरण—अन्तःकरण का एक धर्म्मविशेष है । योगसूत्र में कहा गया है (अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः) अनुभव किये हुए विषय का चित्त में आरोहण होना ही स्मरण है ॥ १ ॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत् स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति ? स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति । तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः । यः । स्मरम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । यावत् । स्मरस्य । गतम् । तत्र । अस्य । यथाकामचारः । भवति । यः । स्मरम् । ब्रह्म । इति । उपास्ते । अस्ति । भगवः । स्मराद् । भूयः । इति । स्मराद् । वाव । भूयः । अस्ति । इति । तत् । मे । भगवान् । ब्रवीतु । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । स य उपासकः । ब्रह्मेति ब्रह्मोपलब्धिसाधनमिति मत्वा स्मरं स्मरणं स्मरणधर्म्मान् । उपास्ते । अधीते । यावत् स्मरस्य गतमित्यादि व्याख्यातप्रायमेव ॥ २ ॥

अनुवादः—जो (कोई उपासक) ब्रह्मप्राप्ति का साधन समझ स्मरण के गुणों वा धर्म्मों का अध्ययन करता है (उस को जो फल प्राप्त होता है सो यह है) जितना स्मरण का गमन है। वहां तक इस (उपासक) का यथाकामचार होता है। जो ब्रह्मप्राप्ति-साधन-मूल-स्मरण का अध्ययन करता है। नारद—हे भगवन्! स्मरण से भी अधिकतर कोई वस्तु है ?। सनत्कुमार—हां स्मरण से तो अधिकतर वस्तु है। नारद—कृपया आप मुझ को उसका उपदेश देवें॥ २॥

पदार्थः—(सः+यः) जो कोई (ब्रह्म+इति) ब्रह्म की प्राप्ति का साधन समझ (स्मरम्) स्मरण का अर्थात् स्मरण के धर्म्मों का (उपास्ते) अध्ययन करता है। उस उपासक का यह फल है (यावत्) जितना (स्मरस्य) स्मरण का (गतम्) गमन है (तत्र+अस्य) वहां इसका अर्थात् इस उपासक का (यथाकामचारः) स्वच्छन्द गमन (भवति) होता है। अन्य पद पूर्ववत् विस्पष्ट हैं॥ २॥

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते॥ १३॥

अथ चतुर्दशः खण्डः॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमञ्च लोकममुञ्चेच्छत आशामुपास्स्वेति॥ १॥

आशा। वाव। स्मरात्। भूयसी। आशेद्धः। वै। स्मरः। मन्त्रान्। अधीते। कर्माणि। कुरुते। पुत्रान्। च। पशून्। च। इच्छते। इमम्। च। लोकम्। अमुम्। च। इच्छते। आशाम्। उपास्स्व। इति॥ १॥

भाष्यम्—आशेति। अनुपलब्धानां वस्तूनामाकांक्षा आशा। तृष्णा—कामादि—शब्दैर्लोके या व्यवह्रियते। सा चाऽऽशा। स्मरात् स्मरणाद् भूयसी। अधिकतरा। कथम् ?। अन्तःकरण स्थितया आशया युक्तः सन्नेव पुरुषः स्मर्तव्यविषयं स्मरति। निराशो हि नरो न किमपि स्मर्तुमिच्छति। आशेद्धः सन्नेव। आशया मनोरथेन। इद्धः। प्रदीप्तो वर्धित इति यावत्। वै निश्चितम्। स्मरोभवति। स्मरतीति स्मरः। स्मर्ता स्मरणकर्त्ता भवति। यदा स्मर्ता भवति। तदा मन्त्रानधीते पठति। मन्त्रानधीत्य तदनुकूलानि कर्माणि। कुरुतेऽनुतिष्ठति। कर्मफल-भूतान् पुत्रांश्च पशूंश्च गोमहिषहिरण्यादीनि वस्तूनि। इच्छते इच्छति। आत्मनेपदमार्षम्। आशावर्धितःसन्नेव। इमञ्च लोकम्। अमुञ्च लोकम्। इच्छते इच्छति। तस्मान्नारद! आशा-मुपास्स्व। आशामधीष्व। इति॥ १॥

अनुवादः–स्मरण से आशा ही अधिकतर है। आशा से ही वर्धित होकर स्मर्ता (स्मरण करने वाला) होता है और स्मर्ता होकर मन्त्रों को अध्ययन करता है। तब कर्म्मों का अनुष्ठान करता है। पुत्रों और पशुओं की इच्छा करता है। और इस लोक और उस लोक की इच्छा करता है अतः हे नारद! आशा का मनन करो ॥ १ ॥

पदार्थः–(आशा+वाव) आशा ही (स्मरात्) स्मरण से (भूयसी) अधिकतर है क्योंकि (आशेद्धः) आशा से वर्धित पुरुष (वै) निश्चय (स्मरः) स्मर्ता स्मरण करने वाला होता है। तब (मन्त्रान्) मन्त्रों का (अधीते) अध्ययन करता है तत् पश्चात् (कर्माणि+कुरुते) कर्म्मों को करता है (पुत्रान्+च) पुत्रों की (पशून्+च) गो महिष हिरण्य आदि धनों की (इच्छते) इच्छा करता है (इमम्+च+लोकम्) इस लोक और (अमुम्+च) उस लोक की (इच्छते) इच्छा करता है। हे नारद! इस कारण (आशाम्) आशा का (उपास्स्व) अध्ययन करो ॥ १ ॥

भाष्याशयः–अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा को आशा कहते हैं। संस्कृत में तृष्णा, काम, मनोरथ, वाञ्छा, इच्छा, आकाङ्क्षा आदि शब्दों से भी आशा का व्यवहार होता है। वह आशा सबों के अन्तःकरण में स्थित है। जब मनुष्य आशापाश से निबद्ध होता है तो स्मरणकर्त्ता बनता है यदि उसे आशा न हो तो स्मरण करने की इच्छा भी नहीं करेगा। एवं आशाबद्ध होकर ही वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करता है तब कर्म्म करता है। आशा-रूप कारण से ही विविध कर्म्मों में मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है तत्पश्चात् कर्म्म के फल-भूत पुत्रादि पदार्थों की इच्छा करता है। अतः आशा ही स्मरण से श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव

(१) आशेद्धः, आशा+इद्ध, ये दो शब्द हैं। इद्ध नाम प्रदीप्त आशा से प्रदीप्त अर्थात् आशा से वर्धित।

(२) पशु शब्द यहां सम्पूर्ण वित्त वाचक है।

(३) "इच्छते" के स्थान में आजकल "इच्छति" होता है।

आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

सः। यः। आशाम्। ब्रह्म। इति। उपास्ते। आशया। अस्य। सर्वे। कामाः। समृध्यन्ति। अमोघाः। ह। अस्य। आशिषः। भवन्ति। यावत्। आशयाः। गतम्। तत्र। अस्य। यथाकामचारः। भवति। यः। आशाम्। ब्रह्म। इति। उपास्ते। अस्ति। भगवः। आशायाः। भूयः। इति। आशायाः। वाव। भूयः। अस्ति। इति। तत्। मे। भगवान्। ब्रवीतु। इति॥ २ ॥

भाष्यम्–स य इति। स य उपासकः। ब्रह्मेति ब्रह्मोपलब्धिमुख्यसाधनमिति मत्वा। आशामाशासम्बद्धां विद्याम्। उपास्ते अधीते। अस्योपासकस्याशया हेतुना। सर्वे कामाः। समृद्ध्यन्ति समृद्धिं वृद्धिं प्राप्नुवन्ति। ह प्रसिद्धस्यास्य उपासकस्य। आशिषः प्रार्थनाः। अमोघा अन्यर्थाः पूर्णा भवन्ति। यत् प्रार्थ्यते तदवश्यं भवति। यावदाशाया गतमित्यादि-विस्पष्टम्॥ २ ॥

अनुवादः–सो जो कोई उपासक ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन समझ आशाशास्त्र का अध्ययन करता है। आशा के कारण इस (उपासक) के सकल काम वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस की सब प्रार्थनाएं अमोघ (पूर्ण) होती हैं। आशा की जितनी गति है वहांतक इस को यथाकामचार होता है जो आशाशास्त्र को आदर बुद्धि से पढ़ता है। नारद–हे भगवन्! आशा से भी कोई अधिकतर वस्तु है?, सनत्कुमार–आशा से तो अधिकतर वस्तु है। नारद–हे भगवन्! कृपया मुझको आप उस की शिक्षा देवें। इति॥२॥

पदार्थः–(सः+यः) सो जो कोई (आशाम्) आशाशास्त्र को (ब्रह्म+इति) ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन मान (उपास्ते) अध्ययन करता है (अस्य) इस आशा को अध्ययन करनेवाले उपासक के (आशया) आशा के कारण (सर्वे+कामाः) सब काम (समृद्ध्यन्ति) वृद्धि को प्राप्त होते हैं (ह) प्रसिद्ध (अस्य) उस उपासक की (आशिषः) प्रार्थनाएं (अमोघाः) अन्यर्थ अर्थात् पूर्ण (भवन्ति) होती हैं (यावत्) जितनी (आशायाः+गतम्) आशा की गति है (तत्र+अस्य) वहांतक इस का (यथाकामचारः) स्वेच्छागमन (भवति) होता है (यः+आशाम्+ब्रह्म+इति+उपास्ते) जो आशाशास्त्र को आदरबुद्धि से पढ़ता है (अस्ति) इत्यादि पूर्ववत्॥ २ ॥

इति चतुर्दशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

प्राणो वावाऽऽशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितम् । प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति । प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्य्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

प्राणः । वाव । आशायाः । भूयान् । यथा । वै । अराः । नाभौ । समर्पिताः । एवम् । अस्मिन् । प्राणे । सर्वम् । समर्पितम् । प्राणः । प्राणेन । याति । प्राणः । प्राणम् । ददाति । प्राणाय । ददाति । प्राणः । ह । पिता । प्राणः । माता । प्राणः । भ्राता । प्राणः । स्वसा । प्राणः । आचार्य्यः । प्राणः । ब्राह्मणः ॥ १ ॥

भाष्यम्—प्राण इति । आशायाः सकाशात् प्राणो वाव भूयानधिकतरः । नाम्न आरभ्याऽऽशापर्य्यन्तं कार्य्यकारणत्वेन निमित्तनैमित्तिकत्वेन च पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तराधिकतरत्वं प्रदर्शितम् । सम्प्रति वायुविकारस्य शरीरान्तर्वर्त्तिनः प्राणस्य भूयस्त्वं प्रद्योतयितुमुपक्रमते । सर्वेषामनुभवकर्तॄणां परीक्षकाणां लौकिकानाञ्च धूलधूसरितहालिकानामपि चेदमानायासानुभवसिद्धम् । यत् । प्राणाधीनमेव जीवनम् । मुमूर्षुमवलोक्य "अस्त्यस्मिन् सम्प्रति प्राणः । शनैः शनैः सरति । व्यात्तमुखात् प्राणो याति । इदानीं व्यपगतः प्राणः । मृतोऽयम्" इति पार्श्वस्था ग्रामीणा अपि वदन्ते । सर्वाश्च क्रियाः सर्वाश्चेन्द्रियवृत्तयश्च सत्येव प्राणे स्फुरन्ति । असति च प्राणे सर्वे व्यापाराः क्व गताः किमभूवन् इत्याद्यध्यवसितुं योगिनोऽपि न समर्थाः । कथमस्य भूयस्त्वमिति लौकिकदृष्टान्तैः साधयति । यथा वै लोके । नाभौ रथनाभिदेशे । अरा लघुदारुखण्डाः समर्पिताः सम्यगर्पिता भवन्ति । एवं तथैव । सर्वमिन्द्रियचेष्टनम् । प्राणे देहस्थिते मुख्ये प्राणे समर्पितं ग्रथितम् । यत एतस्मिन्प्राणे सर्वं प्रोतं वर्त्तते । अतः प्राण प्राणेन स्वात्मना स्वशक्त्यैव याति व्यवहरति । स्वक्रियासु असहायक इत्यर्थः । प्राणः प्राणं ददाति । प्राणो यत्किमपि वस्तु आत्मने ददाति तत्प्राणमेव ददाति । यथा कोपि पुरुषः आत्मने जलं ददाति अर्थात् जलं पिबति इह जलस्य पातापि प्राणएव तथा जलमपि प्राणएव । पाता तु प्राणं विना अकिञ्चित्करत्वात् प्राणशब्देन अभिधीयते पानीयादिवस्तु विना प्राणस्य अकिञ्चित्करत्वाच्चैतैः शब्दैः प्रयुज्यते । अतोत्र कर्त्ता च कर्म च उपादानीयं वस्तु च सर्वं प्राणशब्देन निगद्यते । एतद्दृष्ट्यैव प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति इति वाक्ये संगच्छेते । सम्प्रति पित्रादयोऽपि प्राणवाच्या भवन्तीत्युपदिश्यते प्राणोहेत्यादिना ।

ननु पित्रादयः शब्दा जनकादिषु रूढाः सन्ति लोके। नहि कोऽपि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा अन्यं सम्बंधिनं वा प्राणनाम्ना आह्वयति। नचेदृक् कुत्राऽपि प्रयोगो विद्यते। तत्कथं पित्रादयः शब्दाः प्राणस्य वाचकाः। मुख्यार्थं त्यक्त्वा नहि गौणोऽर्थः कल्पनीयः। शृणु तात्पर्यमेतस्य सति प्राणे अयं पिता, इयं माता, अयं भ्राता, इयं स्वसा, एष आचार्यः, असौ ब्राह्मणः, असौ क्षत्रियः। इत्यादि प्रयोगाः सम्पन्ना भवन्ति। उत्क्रान्ते च प्राणे न तादृशाः प्रयोगाः प्रयुज्यन्ते। किन्तु शवं दृष्ट्वा मम पितुः शरीरं मातुर्देहोऽयमित्येवं भणति। एतेन पित्रादयः शब्दाः प्राणवाचिन एव प्रतीयन्ते। उत्तरस्मिञ्छ्लोके एतदेव दर्शयिष्यति॥ १॥

अनुवादः--(सनत्कुमार कहते हैं) प्राण ही आशा से अधिकतर है। क्योंकि जैसे रथ की अर, रथ की नाभि देश में सम्बद्ध रहते हैं। वैसे ही इस प्राण में सब ओतप्रोत हैं। प्राण प्राण के द्वारा व्यवहार करता है, प्राण सबों को प्राण देता है, प्राण प्राण के लिये देता है। प्राण ही पिता, प्राण ही माता, प्राण ही भ्राता, प्राण ही स्वसा (भगिनी), प्राण ही आचार्य्य और प्राण ही ब्राह्मण है॥ १॥

पदार्थः–(प्राणः+वाव) प्राण ही (आशायाः) आशा से (भूयान्) अधिकतर है क्योंकि (यथा) जैसे (वै) ही (अराः) अर छोटे छोटे काष्ठखण्ड जो चक्र में लगाये जाते हैं वे (नाभौ) रथ की नाभि देश में (समर्पिताः) लगे हुए रहते हैं (एवम्) वैसे ही (अस्मिन्+प्राणे) इस प्राण में (सर्वम्+समर्पितम्) सब समर्पित अर्थात् सम्बद्ध हैं (प्राणः) प्राण (प्राणेन) निज शक्ति ही से (याति) व्यवहार करता है (प्राणः+ प्राणम्+ददाति) प्राण सब को वा अपने को प्राण देता है। अथवा प्राण जीवन को देता है (प्राणाय+ददाति) प्राण के लिये देता है (प्राणः+ह+पिता) वह प्रसिद्ध प्राण ही पिता है (प्राणः+माता) प्राण ही माता है (प्राणः+भ्राता) प्राण ही भाई है (प्राणः+स्वसा) प्राण ही बहिन है (प्राणः+आचार्य्यः) प्राण ही आचार्य्य है (प्राणः+ब्राह्मणः) प्राण ही ब्राह्मण है॥ १॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद्भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति॥ २॥

सः । यदि । पितरम् । वा । मातरम् । वा । भ्रातरम् । वा । स्वसारम् । वा । आचार्य्यम् । वा । ब्राह्मणम् । वा । किञ्चिद् । भृशम् । इव । प्रति । आह । धिक् । त्वा । अस्तु । इति । एव । एनम् । आहुः । पितृहा । वै । त्वम् । असि । मातृहा । वै । त्वम् । असि । भ्रातृहा । वै । त्वम् । असि । स्वसृहा । वै । त्वम् । असि । आचार्य्यहा । वै । त्वम् । असि । ब्राह्मणहा । वै । त्वम् । असि । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स यदीति । स यः कश्चित्पुरुषः पितृमातृभ्रातृस्वस्राचार्य्य ब्राह्मणादीनामन्यतमं यदि भृशमिव तदननुरूपमिव किञ्चिद्वचनं प्रत्याह कथयति तदा तत्पार्श्वस्था विवेकिनो जनास्तमनुचितवक्तारमेनमाहुः कथयन्ति यत् त्वा त्वां धिगस्तु इति । त्वं पितृहासि त्वं पितुर्हन्तासि पितरं हन्तीति पितृहा । इत्यादि । अन्यत् सर्वमृज्वर्थम् ॥ १ ॥

अनुवादः—वह यदि पिता वा माता वा भ्राता वा बहिन वा आचार्य्य वा ब्राह्मण इनमें से किसी को अनुचित वचन कहता है तो इसको लोक कहते हैं कि तुमको धिक्कार होवे । तू पितृघाती है। तू मातृघाती है । तू भ्रातृघाती है । तू स्वसृघाती है । तू आचार्य्य को हनन कर्त्ता है । तू ब्राह्मण का हनन करता है । इति ॥ २ ॥

पदार्थः–(सः) वह पुरुष (यदि) अगर (पितरं वा) पिता को अथवा (मातरं वा) माता को अथवा (भ्रातरं वा) भ्राता को अथवा (स्वसारं वा) बहिन को अथवा (आचार्य वा) आचार्य को अथवा (ब्राह्मणं वा) ब्राह्मण को (भृशमिव) अनुचितसा (किञ्चित्) कुछ वचन (प्रत्याह) कहे तो उसके समीपस्थ लोग (एनम्) इसको अर्थात् इस अनुचित वक्ता को (धिक्+त्वा+अस्तु) तुझ को धिक्कार होवे (इति+एव) ऐसा ही (आहुः) कहते हैं । और (वै) निश्चय (पितृहा+त्वम्+असि) पिता के मारने वाला तू है (मातृहा+वै+त्वमसि) माता के हनन करने वाला है (भ्रातृहा+वै+त्वमसि) भ्रातृघ्न तू है (स्वसृहा+वै+त्वमसि) स्वसृघ्न तू है (आचार्य्यहा+वै+त्वमसि+इति) आचार्यघाती तू है (ब्राह्मणहा+वै+त्वमसि+इति) ब्राह्मणघाती तू है इस प्रकार इस पुरुष से लोग कहा करते हैं अर्थात् जबतक शरीर में प्राण रहता है तबतक उस प्राणी से तत्तत् सम्बन्ध है । और इसी हेतु उस समय उसके साथ यथायोग्य व्यवहार करने से ही मर्य्यादा का पालन होता है, अन्यथा नहीं । इसके विपरीत उदाहरण आगे कहेंगे ॥ २ ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति । न मातृहासीति न भ्रातृहासीति । न

स्वसृहासीति । नाऽऽचार्य्यहासीति । न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

अथ । यद्यपि । एनान् । उत्क्रान्तप्राणान् । शूलेन । समासम् । व्यतिसन्दहेत् । न । एव । एनम् । ब्रूयुः । पितृहा । असि । इति । न । मातृहा । असि । इति । न । भ्रातृहा । असि । इति । न । स्वसृहा । असि । इति । न । आचार्य्यहा । असि । इति । न । ब्राह्मणहा । असि । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-अथेति । पूर्वविपरीतमुदाहरणमाह अथानन्तरं उत्क्रान्तप्राणान् उत्क्रान्तो व्यपगतः प्राणो येषां ते उत्क्रान्तप्राणास्तान् । त्यक्तशरीरान् । एनान् पूर्वोक्तपितृप्रभृतीन् । समासं यथा तथा शूलेन सर्वावयवानेकीकृत्येत्यर्थः । यद्यपि कोऽपि पुत्रः । व्यतिसन्दहेत् समासव्यत्ययादिप्रकारेण सम्यक् दहेत् अग्नौ प्रज्वलयेत् । तथापि । एनं पितृप्रभृतिमृतशरीरं दाहयन्तमपि । न ब्रूयुर्न कथयेयुः । यत्त्वं पितृहा असि । त्वं पितुर्हन्ता वर्त्तसे इत्येनं प्रति न केऽपि ब्रूयुः । एवमेव । त्वं मातृहासीत्येनं न ब्रूयुः । भ्रातृहासीत्येनं न ब्रूयुः । स्वसृहासीत्येनं न ब्रूयुः । आचार्य्यहासीत्येनं न ब्रूयुः । ब्राह्मणहासीत्येनं न ब्रूयुः । इह हि सर्वः खलु स्वकीयजनकादीनां निर्गतप्राणं कलेवरं शूलेन खण्डशो विभार्य विधायमग्निना भस्मसात् करोति नह्येनं पितृहासीत्येवंविधैर्वाक्यैः कोऽपि भर्त्सयति न स वा प्रायश्चित्तमर्हति । प्राणवतः खलु तान् किञ्चिदिव भर्त्सयेञ्जनोन्यैर्वाच्यो भवति धिक्कृतो भवति । विधिना प्रायश्चित्तीयते । एतेन प्राणएव पित्रादिसंज्ञको भवतीति ज्ञायते ॥ ३ ॥

अनुवादः-अब यद्यपि, प्राण रहित इन माता पिता आदिकों को शूल से ढेर करके और अवयवों को पृथक् करके उनके पुत्रादिक जलाते हैं परन्तु उनको ऐसा कोई नहीं कहते हैं कि तुम पितृघ्न हो, तुम मातृघ्न हो, तुम भ्रातृघ्न हो, तुम स्वसृघाती हो, तुम आचार्य्यघाती हो, तुम ब्राह्मणघाती हो ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (यद्यपि) यद्यपि (एनान्) इन (उत्क्रान्तप्राणान्) निकले हुये प्राण वाले माता पिता आदिकों को (शूलेन) शूल से (समासम्) इकट्ठा करके (व्यतिसन्दहेत्) उस के पुत्र सम्बन्धिक आदि जलाते हैं (एनम्) तथापि इस जलाने वाले पुरुष को कोई नहीं कहते हैं कि (पितृहा असि) तू पिता के मारने वाला है (मातृहा+असि+इति+न) तू मातृघाती है ऐसा उससे कोई नहीं कहता (भ्रातृहा+असि+इति+न) भ्राता के मारने वाला तू है ऐसा कोई नहीं कहता (स्वसृहा+असि+इति+न) भगिनी के मारनेवाला है ऐसा कोई नहीं कहता (आचार्य्यहा+असि+इति+न)

आचार्य का तू मारने वाला है ऐसा कोई नहीं कहता (ब्रह्मणहा+असि+इति+न) ब्राह्मण का हनन करने वाला तू है ऐसा कोई नहीं कहता अर्थात् प्राण से ही मातृ पितृ आदि सम्बन्ध घटित होता केवल शरीर से नहीं इस हेतु प्राण ही यथार्थ में माता पिता है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति । स वा एष एवं पश्य-न्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति । तञ्चेद् ब्रूयुरति-वाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥ ४ ॥

प्राणः । हि । एव । एतानि । सर्वाणि । भवति । सः । वै । एषः । एवम् । पश्यन् । एवम् । मन्वानः । एवम् । विजानन् । अतिवादी । भवति । तम् । चेद् । ब्रूयुः । अतिवादी । असि । इति । अतिवादी । अस्मि । इति । ब्रूयात् । न । अपह्नुवीत ॥ ४ ॥

भाष्यम्–प्राण इति । उपसंहरति । "प्राणो ह पिता । प्राणो माता प्राणो भ्राता । प्राणः स्वसा । प्राण आचार्यः । प्राणो ब्राह्मणः" इति पूर्वमुक्तम् । सम्प्रति प्राण एव एष सर्वो भवतीति दर्शयति । तद्यथा प्राण एव हि । एतानि मातापित्रादीनि वस्तूनि भवति । प्राण एव माता भवति । प्राण एव पिता भवति । इति सर्वः प्राण एव भवति । फलं निर्दिशति । स वा एष एवं पश्यन् स वै प्रसिद्धवदेष जीवः । एवं पूर्वोक्तरीत्या । पश्यन् फलतोऽनुभवन् । एवं मन्वानो विविधोपपत्तिभिश्चिन्तयन् । एवं विजानन् उपपत्तिभिः संयोज्यैवमेवेति निश्चयं विद-धत्सन् । अतिवादी भवति । अतीत्य वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी । एतस्मादिदं भूयः । तस्मा-दपीदं भूयः । इत्थमतीत्यवक्ता यथार्थवक्तेत्यर्थः । । अतिवादीसंज्ञको भवति । परन्तु अति-वादिने नराय द्रुह्यन्ति । विभीषिकां दर्शयन्ति । निन्दन्ति । कुत्सयन्ति । अहो इदमति-वादी समायातः । इत्यादिसाकूतमधिक्षिपन्ति । अतः केऽपि प्रारब्धातिवादा लघवोजनास्तद्-भीत्याऽतिवदनं त्यजन्ति । उपनिषत् खलु "अतिवदनं न कदापि त्याज्यमिति" उत्तरग्रन्थे-नानुशास्ति तथाहि । तमतिवादिनं पुरुषं केपि निन्दाभावेन ब्रूयुश्चेत् यत् "त्वमतिवादी असि"। तर्हि स इदं ब्रूयात् । सत्यम् । "अहमतिवादी अस्मि" इति । न अपह्नुवीत । न कदापि गोपायेत । अपह्नुवः पापकरोऽन्धकारश्च । अतो न गोपनीयं सत्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुवादः–प्राण ही ये सब होते हैं सो यह साधक ऐसे देखता हुआ ऐसे मनन करता हुआ ऐसे जानता हुआ अतिवादी होता है । उसे (अतिवादी पुरुष को) यदि कोई कहे कि तुम अतिवादी हो तो यह उत्तर देवे कि हां मैं अतिवादी हूं छिपावे नहीं ॥ ४ ॥

पदार्थः—पूर्व में कहा गया है कि "प्राण पिता है। प्राण माता। प्राण भ्राता। प्राण स्वसा। प्राण आचार्य। प्राण ब्राह्मण है। इसी विषय का उपसंहार करते हैं, यथा—(हि) प्रसिद्ध (प्राणः) प्राण (एव) ही (एतानि+सर्वाणि) ये सब माता पिता आदि (भवति) होता है आगे फल कहा जाता है (सः) वह (एषः) यह प्रसिद्ध साधक उत्तरोत्तर अधिकतर वस्तु विज्ञानी विद्वान् (एवं) पूर्वोक्त प्रकार से (पश्यन्) अनुभव करता हुआ (एवम्+मन्वानः) इस प्रकार उपपत्ति के द्वारा चिन्ता करता हुआ (एवम्+पश्यन्) विविध उपपत्तियों से यह वस्तु ऐसी ही है इत्यादि निश्चय करता हुआ (अति-वादी+भवति) अतिवादी होता है अर्थात् सत्यवक्ता होता है। परन्तु इस प्रकार के अतिवादी पुरुष से लोग द्रोह करते हैं, विभीषिका दिखलाते हैं निन्दा करते हैं। यह "अतिवादी आया" इस प्रकार ताना मारते हैं। इत्यादि कष्ट देख कोई २ पुरुष अपनी सत्यता को त्याग अतिवादनधर्म्म से गिर पड़ते हैं। परन्तु उपनिषद् चेताती है कि अति-वादन का त्याग करना उचित नहीं क्योंकि अतिवादन सत्यता है और सत्यता का त्याग सर्वथा हेय है। अतः आगे कहा जाता है कि (तम्+चेत्) उस अतिवादी पुरुष को (ब्रूयुः) यदि कोई कहे कि तू (अतिवादी+असि+इति) अतिवादी है तो वह (ब्रूयात्) अतिवादी उत्तर देवे कि मैं (अतिवादी+अस्मि+इति) अतिवादी हूं (न+अपह्नुवीत) छिपावे नहीं ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—अतिवादी—नाम से वाणी अधिक उससे मन अधिक इत्यादि भाषणशील पुरुष को अतिवादी कहते हैं। क्योंकि अति नाम अतिक्रमण का है तब वह उसका २ त्याग करता जाय और उससे दूसरे २ को उत्तम बतलाता जाय उसे अतिवादी कहते हैं अर्थात् यथार्थ वस्तु की ओर चलने वाले से अभिप्राय है। परन्तु अतिवादी पुरुष से लोग द्रोह करते हैं उसे विभीषिका दिखलाते हैं ताना मारते हैं। कुत्सन करते हैं अहो यह अतिवादी पुरुष आया इत्यादि वाक्यों से उसके ऊपर आक्षेप करते हैं। अतः कोई अति-वाद प्रारम्भ कर्त्ता लघु पुरुष उनके भय से अतिवाद को परित्याग कर देते हैं। अतः उपनिषद् शिक्षा देती है कि उसे त्याग न करै किन्तु दृढ़तापूर्वक सबों को उत्तर देवे कि मैं अतिवादी हूं। इस बात को कदापि न छिपावे। क्योंकि सत्य के गोपन से देश में अन्धकार फैल जाता है ॥ ४ ॥ इति पञ्चदशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १५ ॥

अथ षोडशः खण्डः ॥

प्राणस्य सर्वातिशयित्वं सर्वात्मत्वं तस्मिन् सर्वेषां समर्पितत्वं च निशम्य नारदोऽधुना प्रश्नाद् विरराम। अधीताखिलविद्योऽपि बोधितोऽपि पौनःपुन्येन शिक्षितोऽपि पौर्वापर्य-

प्रकरणपर्य्यालोचनेन प्राणशब्दस्योक्तार्थविज्ञानकुशलोऽपि "अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इत्याकारकं प्रश्नं कथं नाप्राक्षीत् । किं प्राणाद् भूयसोवस्तुनोऽभावग्रहणात्तूष्णीकः संवृत्तः । उत आचार्य्यसामीप्ये वावदूकत्वविनिवृत्तये । उत कारुणिक आचार्य्योऽन्तेवासिभावनिबन्धं प्रज्ञाय इतःपरमपि यदि तत्त्वं स्यात्तर्हि स्वयमेवोपदेक्ष्यतीत्यलंपृष्ट्वेति जोषमासे । पौर्वापर्य्येणपर्य्यालोच्यमाने प्रकरणे प्राणशब्दो मुख्यप्राणवाचीति सर्वेषां बुद्धिमारोहति किमु सर्वविद्यस्य नारदस्य । अतस्तस्मादपि ब्रह्मणो भूयस्त्वमिति विदुषि नारदे न पूर्वस्य पक्षस्य सम्भवोऽस्ति । उत्तरौपक्षावेव प्रश्नविरामे कारणमिति ध्वन्यते । अतः प्रश्नाद् विरमन्तं बुद्धिमन्तं सर्वभावेनोपसन्नं श्रोत्रियं ब्रह्मतत्त्वं जिज्ञासुं शिष्यमवलोक्य नहि प्राणान्तमेव तत्त्वमितः परमपि अस्त्येव तदपि साधीयसे शिष्याय शिक्षणीयमित्युत्तरग्रन्थमारभते योगिवरिष्ठः सनत्कुमारः ॥

भाषा—प्राण ही सब से अतिशय है । सर्वात्मा प्राण ही है । उसी में सर्व पदार्थ समर्पित हैं इस विषय को सुन अब नारद प्रश्न से विरत होगये । इसमें शङ्का होती है कि सम्पूर्ण विद्या के ज्ञाता, बोधित, पुनः २ शिक्षित और पूर्वापर प्रकरण की आलोचना से प्राण शब्द के उक्त अर्थों के जानने में कुशल नारद ने "हे भगवन् ! प्राण से भी अधिकतर कोई वस्तु है ?" ऐसा प्रश्न पूर्ववत् क्यों नहीं किया (१) प्राण से अधिकतर वस्तु का अभाव है इस हेतु क्या नारद चुप हो गये, (२) अथवा आचार्य के समीप बहुत बोलना ठीक नहीं इस कारण, (३) अथवा कारुणिक आचार्य शिष्य के भावबन्धन को जान यदि कोई तत्त्व इससे परे होगा तो स्वयमेव उत्तर देवेंगे पूछना व्यर्थ है इस हेतु वे चुप होगये । उत्तर—पूर्वापर प्रकरण की आलोचना से प्राण शब्द मुख्य प्राणवाचक है यह बात सबों की बुद्धि में झट आजाती है तब सर्वविद्य नारद की बात ही क्या । अतः प्राण से भी ब्रह्म की अधिकतरता को अच्छी तरह जानते हुए नारद में प्रथम पक्ष का सम्भव नहीं उत्तर दो पक्ष ही संभवित हैं । इस हेतु प्रश्न से विरत होते हुए बुद्धिमान्, सर्व भाव से उपसन्न, श्रोत्रिय और ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु शिष्य को देख प्राण पर्य्यन्त ही तत्त्व नहीं है इससे परे भी है वह भी साधु शिष्य को शिक्षणीय है इस हेतु योगिवरिष्ठ सनत्कुमार उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं ॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति । सोऽहंभगवः सत्येनातिवदानीति ? सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

एषः। तु। वै। अतिवदति। यः। सत्येन। अतिवदति। सः। अहम्। भगवः। सत्येन। अतिवदानि। इति। सत्यम्। तु। एव। विजिज्ञासितव्यम्। इति। सत्यम्। भगवः। विजिज्ञासे। इति॥ १॥

भाष्यम्-एषत्विति। सनत्कुमार आह। नारद! केवलस्य प्राणस्य वेत्ता नास्त्यतिवादी। किन्तु। एष तु वै निश्चितं अतिवदति। यः पुरुषः सत्येन=सत्त्वगुणनिधिना ब्रह्मणा सह अतिवदति अतिक्रम्य वदति। इत इदमधिकतरम्। ततोऽपीदं भूयः। इत्थमतिक्रम्यातिक्रम्य सत्त्वमुपतिष्ठते यः सोऽतिवदति। स एवातिवादी। वस्तुतस्तु नाम्न आरभ्य प्राणान्तमेवातिवदनशीलोनास्त्यतिवादी किन्त्वपरमार्थविदेव। यस्तु सर्वमतीत्य सत्यगुणमतत्त्वं ब्रह्म वदति। तस्मिन् प्रतितिष्ठति च स एव परमार्थविदतिवादी च। इदं श्रुत्वा नारदो ब्रूते। हे भगवो भगवन्! सोऽहं सत्यस्याऽवेत्ता तवोपदेशेन तत्सत्यस्य जिज्ञासुर्भवामि। मां कृपया तथा विदधातु यथाहं सर्वदा सत्येनातिवदानि सत्यं बोद्धुं वक्तुं च शक्नुयाम्। सनत्कुमार आह यद्येवं सत्येनातिवदितुमिच्छसि तर्हि। सत्यमेव तु तावद्विजिज्ञासितव्यम्। इति। नारद आह। एवमस्तु। हे भगवो भगवन्! सत्यं विजिज्ञासे सत्यं ज्ञातुमिच्छामि। इति॥ १॥

अनुवादः-(हे नारद!) किन्तु यह (उपासक) अतिवादी है। जो सत्य के साथ अतिवादी होता है। (नारद कहते हैं) हे भगवन्! मुझ पर इतनी कृपा करो कि मैं सत्य से अतिवादी होऊं। सनत्कुमार-तब हे नारद! सत्य ही की जिज्ञासा करनी चाहिये। नारद-हे भगवन्! मैं सत्य की जिज्ञासा करता हूं॥ १॥

पदार्थः-(तु) परन्तु (एषः) यह (वै) निश्चित (अतिवदति) अतिवादी होता है (यः) जो (सत्येन) सत्यगुणनिधि ब्रह्म के द्वारा (अतिवदति) अतिवादी होता है इतना सुन नारद कहते हैं कि (भगवः) हे भगवन्! (सः+अहम्) सो मैं अर्थात् सत्य को न जानने वाला (सत्येन) सत्य से=सत्यगुण विधान ब्रह्म से (अतिवदानि) अतिवादी होऊं। अर्थात् हे भगवन्! मुझ पर आप ऐसी कृपा करें वा मुझे ऐसी शिक्षा देवें कि मैं सत्य ब्रह्म के द्वारा ही अतिवादी होऊं। पुनः सनत्कुमार कहते हैं कि यदि सत्य के साथ अतिवादी होना चाहते हो तो (सत्यम्) सत्य (तु+एव) ही (जिज्ञासितव्यम्) (इति) जिज्ञासनीय है। पुनः नारद कहते हैं (भगवः) भगवन्! (सत्यम्) सत्य की (विजिज्ञासे+इति) जिज्ञासा करता हूं। इति॥ १॥

भाष्याशयः-सनत्कुमार का अभिप्राय यह है कि केवल प्राण का ज्ञाता अतिवादी नहीं है परन्तु प्राण से पर जो सत्य है उस के साथ योग कर जो अतिवादी होता है

वही यथार्थ अतिवादी है । प्राणवेत्ता अतिवादी नहीं । हां नामादिवेत्तों की अपेक्षा प्राणवेत्ता अवश्य अतिवादी है । इसे सुन प्राणसे भी कोई अधिकतर तत्त्व विद्यमान है ऐसा जान, उस सत्य की जिज्ञासा नारदने की ॥ १ ॥

इति षोडशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशः खण्डः ॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति । नाविजानन् सत्यं वदति । विजानन्नेव सत्यं वदति । विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा । वै । विजानाति । अथ । सत्यम् । वदति । न । अविजानन् । सत्यम् । वदति । विजानन् । एव । सत्यम् । वदति । विज्ञानम् । तु । एव । विजिज्ञासितव्यम् । इति । विज्ञानम् । भगवः । विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–वदेति । यदा अध्येता । विजानाति । इदं सत्यमिदमसत्यमिति परमार्थतो विवेक्तुं शक्नोति । अथानन्तरं सत्यं वदति । पूर्वोक्तमेवद्दढयति । नारद ! अविजानन् अविदन् पुरुषो न सत्यं वदति । विजानन्नेव सत्यं वदति । अतो विज्ञानमेव तु प्रथमं विजिज्ञासितव्यमिति । उक्त वचनं श्रुत्वा नारद आह । भगवो भगवन् ! विज्ञानं विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

अनुवादः–सनत्कुमार (हे नारद !) जब ही अध्येता निश्चितरूप से सत्य (ब्रह्म) जानता है तब सत्य (ब्रह्म) का कथन करता है न जानता हुआ सत्य का कथन नहीं कर सक्ता । जानता हुआ ही सत्य कहता है । अतः विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिये । नारद–हे भगवन् ! मैं विज्ञान की जिज्ञासा करता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः–(यदा+वै) जब ही (विजानाति) विशेषरूप से जानता है (अथ) तब (सत्यम्) ब्रह्म को (वदति) कहता है (अविजानन्) न जानता हुआ (न) नहीं (सत्यम्+वदति) सत्य ब्रह्म को कहता है (विजानन्+एव) जानता हुआ ही (सत्यम्+वदति) सत्य का कथन करता है इस कारण (विज्ञानम्+एव) विज्ञान की ही (विजिज्ञासितव्यम्) विजिज्ञासा करनी चाहिये । नारद कहते हैं (भगवः) हे भगवन् ! (विज्ञानम्) विज्ञान की (विजिज्ञासे+इति) विजिज्ञासा करता हूं । जब साधक "यह सत्य है" "यह असत्य है" इस प्रकार विविध विज्ञान शास्त्र के द्वारा निर्णय करता है तब ही यथार्थ में सत्यवक्ता हो सकता है । अन्यथा भ्रम में पड़कर सत्यासत्य के निर्णय में सर्वथा असमर्थ ही रहेगा । इस हेतु सत्य के लिये विज्ञान बड़ी आवश्यक्ता है इस हेतु

प्रथम सबों को विज्ञानशास्त्र अवश्य जानना चाहिये ॥ १ ॥

इति सप्तदशखण्डस्य संस्कृतभाष्ये समाप्ते ॥ १७ ॥

अथाष्टादशः खण्डः ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति । नामत्वा विजानाति । मत्वैव विजानाति । मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा । वै । मनुते । अथ । विजानाति । न । अमत्वा । विजानाति । मत्वा । एव । विजानाति । मतिः । तु । एव । विजिज्ञासितव्या । इति । मतिम् । भगवः । विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—यदेति । यदा यस्मिन् काले । वै निश्चितम् । अध्येता विविधाभिरुपपत्तिभिर्मनुते सत्यासत्यविवेकपूर्वकं मननं करोति । अथ मननानन्तरं विजानाति सत्यासत्यभेदं वेत्ति । अमत्वा मननमकृत्वा न विजानाति । न ज्ञानवान् भवति । किन्तु मत्वा एव विजानाति । अतो हे नारद ! मतिरेव मननमेव तु विजिज्ञासितव्या । इति । नारदः पृच्छति । भगवो मतिं विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

अनुवादः—(सनत्कुमार कहते हैं कि) जब निश्चितरूप से (अध्येता) मनन करता है तब जानता है । मनन के विना नहीं जानता । किन्तु मनन करके ही जानता है इस कारण हे नारद ! अब मनन की ही जिज्ञासा करनी चाहिये । नारद पूछते हैं—हे भगवन् ! मैं मनन को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः—(यदा) जब (वै) निश्चितरूप से (मनुते) विविध उपपत्तियों के द्वारा मनन करता है (अथ) तब (विजानाति) विशेष रूप से सत्यासत्य का भेद जानता है (अमत्वा) न मनन करके अर्थात् मनन के विना (न+विजानाति) विशेष रूप से नहीं जानता है (मत्वा+एव) मनन करके ही (विजानाति) विशेष रूप से जानता है (मतिः+तु+एव) इसलिये हे नारद ! मनन ही (विजिज्ञासितव्या+इति) विजिज्ञासनीय है । इतना सुन नारद कहते हैं (भगवः) हे भगवन् ! (मतिम्) मनन को (विजिज्ञासे+इति) विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूं विज्ञानशास्त्र भी मनन के अधीन है । गत प्रपाठकों में विशेष कर चतुर्थ प्रपाठक के सत्यकाम जाबाल और उपकोशल की आख्यायिका में मनन शास्त्र की ही प्रबलता कही गई है । मनन से ही मुनि होते थे । जबतक पदार्थों

का मनन नहीं हुआ है तब तक अन्तपर्यन्त तत्त्व का बोध कैसे हो सकता अतः मनन के अधीन ही विज्ञानशास्त्र है ॥ १ ॥ इत्यष्टादशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशः खण्डः ॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते । नाश्रद्दधन् मनुते । श्रद्दधदेव मनुते । श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा । वै । श्रद्दधाति । अथ । मनुते । न । अश्रद्दधत् । मनुते । श्रद्दधत् । एव । मनुते । श्रद्धा । तु । एव । विजिज्ञासितव्या । इति । श्रद्धाम् । भगवः । विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्–यदेति । मननकारणभूतां श्रद्धां व्याकर्त्तुं ग्रन्थारम्भः । आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा । यदा अध्येता । ब्रह्मणि वस्तुनि अध्येये वा श्रद्दधाति श्रद्धां करोति । अथ मनुते मन्ता भवति । अन्यत् सर्वमृज्वर्थम् । गीतायामपि श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानमित्यादि । योगशास्त्रेऽपि "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः" १ । १४ । सत्कारेण श्रद्धया आसेवितः सम्पादित इत्यर्थः । श्रद्धां विना मनने वैमनस्यसम्भवात् हे नारद ! श्रद्धा सम्यक् सम्पादनीया ॥ १ ॥

अनुवादः–(सनत्कुमार कहते हैं) जब ही मनुष्य श्रद्धा करता है तब ही मनन कर सकता है । श्रद्धा न करता हुआ मनन नहीं कर सकता । श्रद्धा करता हुआ ही मनन करता है इस कारण हे नारद ! श्रद्धा ही विशेषरूप से विजिज्ञासनीय है । नारद पूछते हैं हे भगवन् ! मैं श्रद्धा को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः–(यदा) जब (वै+श्रद्दधाति) श्रद्धा करता है (अथ) तब ही (मनुते) मनन करता है (अश्रद्दधत्) श्रद्धा न करता हुआ (न+मनुते) मनन नहीं करता किन्तु (श्रद्दधद्+एव) श्रद्धा करता ही हुआ (मनुते) मनन करता है इस कारण हे नारद ! (श्रद्धा+तु+एव) श्रद्धा ही तो (विजिज्ञासितव्या+इति) विशेषरूप से विजिज्ञासनीय है । यह सुन नारद पुनः कहते हैं (भगवः) हे भगवन् ! (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (विजिज्ञासे+इति) विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भाष्याशयः–मनन का हेतु श्रद्धा है । श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है कि श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है । योगशास्त्र में भी कहा है कि सत्कार (श्रद्धा) से

आसेक्ति होने पर ही योग दृढ़भूमि होता है। उस श्रद्धा का अध्ययन करना आवश्यक है। नारद इस बात को सुन श्रद्धाशास्त्र की जिज्ञासा करते हैं ॥ १ ॥

इत्येकोनविंशखण्डस्य संस्कृतभाष्ये समाप्ते ॥ २० ॥

अथैकविंशः खण्डः ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति। नानिस्तिष्ठन् श्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति। निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा। वै। निस्तिष्ठति। अथ। श्रद्दधाति। न। अनिस्तिष्ठन्। श्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्। एव। श्रद्दधाति। निष्ठा। तु। एव। विजिज्ञासितव्या। इति। निष्ठाम्। भगवः। विजिज्ञासे। इति ॥ १ ॥

भाष्यम्--यदेति। गुरुशुश्रूषादिषु या श्रद्धा सैव निष्ठा शब्दवाच्या ब्रह्मविज्ञानायाऽऽचार्य-शुश्रूषापि आवश्यकी। साध्ये कार्य्ये सर्वतोभावेन दृढता निष्ठा वा। यदा वै निस्तिष्ठति नितरामुपास्ये वस्तुनि अधितिष्ठति। अथानन्तरं श्रद्दधाति श्रद्धालुर्भवति। अनिस्तिष्ठन् सन् न श्रद्दधाति न सत्कारं करोति किन्तु निस्तिष्ठन् एव श्रद्दधाति सत्करोति अतो नारद! निष्ठैव तु विशेषेण विजिज्ञासनीया। नारदो ब्रूते। भगवो भगवन्! निष्ठां विजिज्ञासे इति ॥ १ ॥

अनुवादः--(सनत्कुमार कहते हैं कि हे नारद!) जब ही (कोई उपासक) निष्ठा करता है तब श्रद्धालु होता है निष्ठा न करता हुआ श्रद्धालु नहीं होता किन्तु निष्ठा करता हुआ ही श्रद्धालु होता है अतः निष्ठा ही विजिज्ञासनीय है। नारद कहते हैं कि हे भगवन्! मैं निष्ठा को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः--(यदा+वै) जब ही (निस्तिष्ठति) निष्ठा करता है (अथ+श्रद्दधाति) तब श्रद्धालु होता है (अनिस्तिष्ठन्) निष्ठा न करता हुआ (न--श्रद्दधाति) श्रद्धालु नहीं होता किन्तु (निस्तिष्ठन्+एव) निष्ठा करता हुआ ही (श्रद्दधाति) श्रद्धावान् होता है इस कारण हे नारद! (निष्ठा+तु+एव) निष्ठा ही तो (विजिज्ञासितव्या+इति) विशेष रूप से जिज्ञासनीय है। इसे सुन नारद कहते हैं (भगवः) हे भगवन्! (निष्ठाम्) निष्ठा को (विजिज्ञासे+इति) विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

भाष्याशयः--श्रद्धा का कारण निष्ठा है। उपास्य विषय में सर्वतो भाव से श्रद्धा

पूर्वक मन लगाना और धीरे २ दृढ़ता को प्राप्त करना निष्ठा कहलाती है । निष्ठा से युक्त पुरुष को नैष्ठिक कहते हैं । नैष्ठिक पुरुष को ही ब्रह्म की जिज्ञासा होती है ॥ १ ॥

इति विंशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ २० ॥

अथैकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति । नाकृत्वा निस्तिष्ठति । कृत्वैव निस्तिष्ठति । कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा । वै । करोति । अथ । निस्तिष्ठति । न । अकृत्वा । निस्तिष्ठति । कृत्वा । एव । निस्तिष्ठति । कृतिः । तु । एव । विजिज्ञासितव्या । इति । कृतिम् । भगवः । विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—यदेति । निष्ठाकारणीभूतां कृतिं व्याकरोति । उपास्यविषये चित्तैकाग्रता इन्द्रियाणां वशीकरणं च कृतिः । यदा वै करोति अनुतिष्ठति । अथानन्तरं निस्तिष्ठति निष्ठाता नैष्ठिकः पुरुषो भवति । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ १ ॥

अनुवादः—जब ही उपासक (एकाग्रतः इन्द्रिय—संयम) करता है तब नैष्ठिक होता है । नहीं करके नैष्ठिक नहीं होता अर्थात् करके ही नैष्ठिक होता है इसलिये हे नारद ! कृति (क्रिया) की विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये । नारद कहते हैं । हे भगवन् ! मैं कृति को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः—(यदा) जब (वै) ही (करोति) करता है । अर्थात् इन्द्रिय संयम चित्तवृत्तिनिरोध और चित्तैकाग्रता श्रद्धा आदि क्रिया करता है (अथ) तब (निस्तिष्ठति) नैष्ठिक होता है (अकृत्वा) न करके (न+निस्तिष्ठति) नैष्ठिक नहीं होता है । किन्तु (कृत्वा+एव) करके ही (निस्तिष्ठति) नैष्ठिक होता है हे नारद ! इस हेतु (कृतिः+तु+एव) क्रिया ही तो (विजिज्ञासितव्या) विशेषरूप से विजिज्ञासनीय है । इसे सुन नारद कहते हैं कि हे (भगवः) भगवन् ! (कृतिं+विजिज्ञासे+इति) क्रिया को विशेषरूप से मैं जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥ इत्येकविंशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशः खण्डः ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति । नासुखं लब्ध्वा करोति । सुखमेव लब्ध्वा करोति । सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यदा । वै । सुखम् । लभते । अथ । करोति । न । असुखम् । लब्ध्वा । करोति । सुखम् । एव । लब्ध्वा । करोति । सुखम् । तु । एव । विजिज्ञासितव्यम् । इति । सुखम् । भगवः । विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—यदेति । कृतिकारिणीभूतं सुखं व्याकरोति । यदा वै साधकः । सुखं प्रसादरूपोऽन्तःकरणस्य धर्मविशेषः । सुखं लभते प्राप्नोति । अथ करोति चिकीर्षति । असुखं लब्ध्वा सुखमलब्ध्वा न करोति अर्थात् सुखं लब्ध्वैव करोति । हे नारद ! तस्मात् सुखमेव विजिज्ञासितव्यम् । इति प्रबोधितो नारदः, भगवो भगवन् ! सुखं विजिज्ञास इत्यन्ववोचत् ॥ १ ॥

अनुवादः—(सनत्कुमार कहते हैं) जब ही (उपासक) सुख पाता है तब (एकाग्रता वा इन्द्रियसंयम श्रद्धा आदि कर्म) करता है सुख को न पाकर नहीं करता अर्थात् सुख को पाकर ही करता है । हे नारद ! इसलिये सुख ही विशेष रूप से जिज्ञासनीय है (नारद पूछते हैं) हे भगवन् ! मैं सुख को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः—(यदा) जब (वै) ही (सुखम्) सुख को (लभते) पाता है (अथ) तब (करोति) क्रिया करने की इच्छा करता है (असुखं लब्ध्वा) सुख को न पाकर (न+करोति) नहीं करता है किन्तु (सुखम्+एव+लब्ध्वा) सुख को ही पाकर (करोति) करने की इच्छा करता है (सुखम्+तु+एव) सुख ही तो (विजिज्ञासनीयम्+इति) विशेषरूप से विजिज्ञासनीय है यह सुन नारद बोले कि (भगवः) हे भगवन् पूजनीय गुरो ! (सुखम्+विजिज्ञासे+इति) सुख को विशेषरूप से जानने की इच्छा करता हूं * ॥ १ ॥ इति द्वाविंशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ २२ ॥

* यह जीवों का स्वभाव है कि जिसमें सुख को देखता है उसको शीघ्र आरम्भ करता है । परन्तु बहुतसे कार्य ऐसे हैं कि जिनका आरम्भ तो सुखकर है परन्तु अन्त महा दुःखदायी है । ज्ञानी लोग आदि अन्त दोनों विचार कर सुखकी मीमांसा करते हैं । गीता में कहा गया हैः—सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ! । अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥ ३६ ॥ यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥ विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः । निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥ गी अ० १८ ॥

अथ त्रयोविंशः खण्डः ॥

यो वै भूमा तत् सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखम् । भूमा-त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

यः । वै । भूमा । तत् । सुखम् । न । अल्पे । सुखम् । अस्ति । भूमा । एव । सुखम् । भूमा । तु । एव । विजिज्ञासितव्यः । इति । भूमानम् । भगवः । विजिज्ञासे । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—यो वा इति । सुखहेतुकं भूमानं व्याचष्टे । यो वै भूमा परममहान् । तत् सुखं तदेव सुखहेतुकम् । अल्पे लघौ वस्तुनि । न सुखम् । हे नारद ! भूमा एव सुखम् । द्विरुक्तिर्दृढार्था । हे नारद ! तस्मात् भूमैव तु विजिज्ञासितव्यः । इतीदं श्रुत्वा नारदो ब्रूते । भगवो भगवन् ! भूमानं विजिज्ञासे इति । भूमा—बहोर्भावो भूमा । "पृथ्व्यादिभ्य इमनिच्" इति इमनिच् प्रत्यये कृते "बहोर्लोपो भू च बहोः" ६ । ४ । १५८ । इति सूत्रेण बहोः परस्ये-

---

अर्थ—हे अर्जुन ! तीन प्रकार के सुखों को सुनो । योगी लोग सात्त्विक सुख उसको कहते हैं जिसमें अभ्यास के द्वारा साधक आनन्द भोग करता है और दुःख के पार पहुँचता है ॥ ३६ ॥ और जो आदि में विष और अन्त में अमृतवत् हो और आत्म और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ हो वह सात्त्विक सुख है ॥ ३७ ॥ हे अर्जुन ! विषय और इन्द्रिय के योग से उत्पन्न, जो प्रथम तो अमृत समान हो और अन्त में विष समान हो वह राजस सुख है ॥ ३८ ॥ और जो सुख आदि अन्त दोनों में आत्मा के मोहने वाला हो और निद्रा आलस्य प्रमाद से उत्पन्न हुआ हो उसे तामस कहते हैं । प्रकृत उपनिषद् में उस सुख का वर्णन है जैसा कि गीता में पुनः कहा है—यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६ । २२ ॥ जिस सुखको पाकर अन्य सुख को अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थित होकर महादुःख से भी विचलित नहीं होता यथार्थ में वही सुख है । यह सुख अभ्यासाधीन है ज्यों २ साधक ब्रह्मानन्द की ओर अभ्यास करता जाता है । त्यों २ उसके अन्तःकरण में सुखकी वृद्धि होती जाती है । परन्तु आपामर योगि पर्य्यन्त सब को सुख की जिज्ञासा है । परन्तु क्षुद्र २ सुखतक ही लोग पहुंचकर रहजाते हैं । ब्रह्म सुख तक कोई २ पहुंचता है परन्तु सुख के विना किसी की प्रवृत्ति होती नहीं इसहेतु उपनिषद् धीरे २ सुख की ओर साधक को लेजाती है और चिताती है कि ब्रह्म की ओर ही सुख है अन्यत्र नहीं ॥

मनिन् प्रत्ययस्यादेरिकारस्य लोपः स्याद् बहोः स्थाने भूरित्यादेशश्च स्यादित्युक्ते भूमान्निति शब्दो निष्पन्नः ॥ ६ । ४ । १५८ ॥ १ ॥

अनुवादः—(सनत्कुमार कहते हैं कि) जो ही भूमा है सो सुख है । अल्प वस्तु में सुख नहीं । भूमा ही सुख है । भूमा ही तो विशेष कर विजिज्ञासनीय है (नारद पूछते हैं) हे भगवन् ! भूमा को विशेष कर जानने की इच्छा करता हूं ॥ २ ॥

पदार्थः—(यः+वै+भूमा) जो ही भूमा है (तत्+सुखम्) वही सुखस्वरूप है (अल्पे+न+सुखम्) क्षुद्र वस्तु में सुख नहीं (भूमा+एव+सुखम्) भूमा ही सुखस्वरूप है । इस हेतु वह (भूमा+तु+एव) भूमा ही तो (विजिज्ञासनीयः) विशेष पूर्वक जिज्ञासनीय है भूमा का ही अन्वेषण करना चाहिये (इति) इतनी बात सुन नारद पुनः बोले कि (भगवः) हे पूज्यपाद सर्वैश्वर्य्य सम्पन्न गुरो ! (भूमानम्) भूमा को (विजिज्ञासे) मैं विजिज्ञासा करता हूं । कृपया मुझको भूमा की शिक्षा देवें ॥ १ ॥

भाष्याशयः—भूमा—यह नाम ब्रह्म का है । सबसे महान् इसका अर्थ है । भाव में "बहु" शब्द से प्रत्यय करने से भूमा सिद्ध होता है । संस्कृत भाष्य में साधनिका लिखी गई है ॥ १ ॥ इति त्रयोविंशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशः खण्डः ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳस भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

यत्र । न । अन्यत् । पश्यति । न । अन्यत् । शृणोति । न । अन्यत् । विजानाति । सः । भूमा । अथ । यत्र । अन्यत् । पश्यति । अन्यत् । शृणोति । अन्यत् । विजानाति । तत् । अल्पम् । यः । वै । भूमा । तत् । अमृतम् । अथ । यद् । अल्पम् । तत् । मर्त्यम् । सः । भगवः । कस्मिन् । प्रतिष्ठितः । इति । स्वे । महिम्नि । यदि । वा । न । महिम्नि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—यत्रेति । भूमानं लक्षयति । यत्र यस्मिन् वस्तुनि उपासकश्चिन्तकः । अन्यत् । भूमत्वातिरिक्तं किञ्चिद्वस्तु न पश्यति । अन्यद् वस्तु न शृणोति । अन्यत् वस्तु न विजा-

नास्ति । सभूमा । स भूमा इत्युच्यते । अथ यत्र यस्मिन् पदार्थे चिन्तकः । अन्यत् पश्यति अन्यद् वस्तु शृणोति । अन्यद् वस्तु विजानाति । तदल्पम् । तद्वस्तु अल्पमित्युच्यते । यो वै भूमा तदेवामृतम् । अविनश्वरं महानन्दघनम् । अथ यद् वस्तु अल्पम् । तन्मर्त्यम् । मरणशीलं दुःखकरं क्षणिकमिति यावत् । पुनरपि नारदः पृच्छति । भगवो हे भगवन् गुरो ! स भूमा कस्मिन् आधारे प्रतिष्ठितोऽस्ति इति ? भगवान् सनत्कुमार समाधत्ते । स भूमा स्वे स्वकीये आत्मीये निजे महिम्नि महात्म्ये प्रतिष्ठित आश्रितो विद्यते । यदि वा हे नारद ! स्वे महिम्न्यपि न प्रतिष्ठितोऽस्ति ॥ १ ॥

अनुवादः–जहां (उपासक) अन्य अस्तुओं को देखता नहीं । अन्य वस्तुओं को सुनता नहीं । अन्य अस्तुओं को जानता नहीं । वह भूमा है । और जहां (उपासक) अन्य वस्तु को देखता है । अन्य वस्तु को सुनता है । अन्य वस्तु को जानता है । वह अल्प है । जो भूमा है निश्चय वही अमृत है । और जो अल्प है । वही मर्त्य मरण योग्य है । नारद–वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है ? सनत्कुमार–निज महिमा में (यह प्रतिष्ठित है) यदि वा अपने महिमा से भी प्रतिष्ठित नहीं है ॥ १ ॥

पदार्थः–(यत्र) जिस भूमा ब्रह्म में उपासक गण (अन्यत्) अन्य वस्तु को (न+पश्यति) नहीं देखता है (अन्यत्+न+शृणोति) अन्य वस्तु को नहीं सुनता है (अन्यत्+न+विजानाति) अन्य वस्तु को नहीं जानता है (स+भूमा) वह भूमा है (अथ) और (यत्र) जिस में (अन्यत्) अन्य वस्तु को (पश्यति) देखता है (अन्यत्+शृणोति) अन्य वस्तु को सुनता है (अन्यत्+विजानाति) अन्य वस्तु को जानता है (तत्) वह (अल्पम्) अल्प है (यो+वै+भूमा) जो ही भूमा (बड़ा–महान्) है (तद्+अमृतम्) वह अमृत है (अथ+यद्+अल्पम्) और जो अल्प है (तत्+मर्त्यम्) वह मरने योग्य है । आगे नारद पुनः प्रश्न पूछते हैं (भगवः) हे भगवन् सनत्कुमार ! (सः) वह भूमा (कस्मिन्) किस में (प्रतिष्ठितः+इति) प्रतिष्ठित है सनत्कुमार उत्तर देते हैं (स्वे+महिम्नि) निज महात्म्य में (वह प्रतिष्ठित है) (यदि+वा) अथवा (न+महिम्नि+इति) अपने महिमा में भी वह प्रतिष्ठित नहीं है ॥ १ ॥

गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

गो। अश्वम्। इह। महिमा। इति। आचक्षते। हस्तिहिरण्यम्। दासभार्यम्। क्षेत्राणि। आयतनानि। इति। न। अहम्। एवम्। ब्रवीमि। ब्रवीमि। इति। ह। उवाच। अन्यः। हि। अन्यस्मिन्। प्रतिष्ठितः। इति॥ २॥

भाष्यम्–गोअश्वमिति। पूर्वं स भूमा स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठित इत्युक्त्वा स्वमहिम्न्यपि न प्रतिष्ठित इत्त्युक्तम्। तदिह वाक्यं परस्परविरुद्धमिव प्रतिभाति। अतः शास्त्रकृन्महिम शब्दार्थं दर्शयितुमुपक्रमते (इह) अस्मिन् लोके। लोकाः (गो अश्वम्) गावश्च अश्वाश्चेति गोअश्वम्। द्वन्द्वैकवद्भावः "सर्वत्र विभाषा गोः" ६। १। १२२ इति प्रकृतिभावश्च (महिमेत्याचक्षते) महिमा इति कथयन्ति (हस्तिहिरण्यम्) हस्तिनश्च हिरण्यानि च हस्तिहिरण्यम्। महिमेत्याचक्षते एवं दासभार्यम्। क्षेत्राणि आयतनानि महिमेत्याचक्षते। इमानि वस्तूनि महिमशब्दवाच्यानि भवन्ति। एषु वस्तुषु जनः प्रतिष्ठितो भवति। अयं प्रतिष्ठितोऽस्तीति जनैः कथ्यते। हे नारद! (एवम्) एवं प्रकारकं महिमानं नाहं ब्रवीमि। भूमविशेषे तु इत्थं न ज्ञातव्यम्। स भूमा ईदृशेषु स्वकीयेषु महिमसु न प्रतिष्ठितोस्ति। अतो मयोक्तं। "यदि वा न महिम्नीति" यद्येवं महिमा स्यात्तर्हि को दोषः। तं दोषमाह। हि यतोऽत्र (अन्यः) चैत्रादिः (अन्यस्मिन्) गो अश्वादौ प्रतिष्ठितः। चैत्रादिर्गो अश्वाश्रयेण प्रतिष्ठितोऽस्ति। यद्येवमेव महिमास्यात्तर्हि सोपिभूमा क्वचित् प्रतिष्ठितो वक्तव्यः। परन्तु स न क्वचित् प्रतिष्ठितः। अतोऽहमेवं न ब्रवीमि। अहंतु वक्ष्यमाणं महिमानं ब्रवीमि। तर्हि भगवतो कोऽभिप्रायोऽस्ति तमेव ब्रवीत्वित्युक्त सनत्कुमारो वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ह॥ २॥

अनुवादः–यहां गो, अश्व, हस्ति, हिरण्य, दास, भार्य्या, क्षेत्र और आयतन को महिमा कहते हैं। ऐसे महिमा को मैं नहीं कहता क्योंकि इस महिमा में अन्य अन्य में प्रतिष्ठित है मैं यह कहता हूं-इतना कह (सनत्कुमार) (वक्ष्यमाण वचन) बोले॥ २॥

पदार्थः–पूर्व में कहा गया है कि वह भूमा स्वमहिमा में प्रतिष्ठित है इतना कह पुनः कहा है कि अपने महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है। यहां ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। इस हेतु भगवान् सनत्कुमार महिमशब्द का अर्थ दर्शाते हैं (इह) इस संसार में (गो+अश्वम्) गौ और अश्व (हस्ति+हिरण्यम्) गज और सुवर्ण (दासभार्य्यम्) दास और भार्य्या (क्षेत्राणि) क्षेत्र (आयतनानि) आश्रय इनको (महिमा) महिमा (इति+आचक्षते) कहते हैं। परन्तु ब्रह्म के विषय में (एवम्+न ब्रवीमि) ऐसे महिमा को नहीं कहता हूं (हि) क्योंकि ऐसे महिमा में तो (अन्यः) अन्य (अन्यस्मिन्) अन्य में (प्रतिष्ठितः+इति) प्रतिष्ठित हैं अर्थात् गौ सुवर्ण आदि

जो महिमा कहलाता है । जिसको वे पदार्थ हों उनके अधीन वह प्रतिष्ठित होता है । परमेश्वर ऐसी महिमा के आश्रित नहीं । हे नारद ! (ब्रवीमि+इति) भूमा के विषय में वक्ष्यमाण महिमा को मैं कहता हूं इतना कह (उवाच) बोले ॥ २ ॥

इति चतुर्विंशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशः खण्डः ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

सः । एव । अधस्तात् । सः । उपरिष्टात् । सः । पश्चात् । सः । पुरस्तात् । सः । दक्षिणतः । सः । उत्तरनः । सः । एव । इदम् । सर्वम् । इति । अथ । अतः । अहङ्कारादेशः । एव । अहम् । एव । अधस्तात् । अहम् । उपरिष्टात् । अहम् । पश्चात् । अहम् । पुरस्तात् । अहम् । दक्षिणतः । अहम् । उत्तरतः । अहम् । एव । इदम् । सर्वम् । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—स एवेति । पुनर्भूमानं विशिनष्टि । स एव भूमा । अधस्तात् । अधस्थितः (सः) एव भूमा (उपरिष्टात्) ऊर्ध्वस्थितः (सः) स एव (पश्चात्) पृष्ठतः पश्चिमभागे स्थित इत्यर्थः (सः) स एव (पुरस्तात्) पुरतः पूर्वभागेस्थः (सः) स एव (दक्षिणतः) स एव (उत्तरतः) किं बहुना व्याख्यानेन (स एव) स एव भूमा (इदम्+सर्वम्) इदं सम्पूर्णं विश्वमधितिष्ठति । इति क्रिया शेषः । (अथातः) यत एव भूमा सर्वत्र विद्यते । अतोऽस्मात् कारणात् (अथ) सम्प्रति अहङ्कारादेश एव कथ्यते । स्वयं ब्रह्मणैवोपदिष्टम् । तमेवादेशं कथयामि । अहमेवाधस्तात् । अहमुपरिष्टात् । अहं पश्चात् । अहंपुरस्तात् । अहं दक्षिणतः । अहमुत्तरतः । अहमेवेदं भुवन सर्वमधितिष्ठामीति ॥ १ ॥

अनुवादः—वही नीचे, वही ऊपर, वही पश्चिम (पीछे) वही पूर्व (आगे) वही दक्षिण वही उत्तर वही इस सम्पूर्ण (भुवन) में प्रतिष्ठित है । इस हेतु आगे अहङ्कारादेश ही कहा जाता है । मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दक्षिण, मैं ही उत्तर, मैं ही इस समस्त ब्रह्माण्ड में स्थित हूं ॥ १ ॥

पदार्थः–(सः+एव) वही भूमा (ब्रह्म) (अधस्तात्) नीचे स्थित है (सः+उपरिष्टात्) वही ऊर्ध्वस्थित (सः+पश्चात्) वही पश्चिम भाग में वर्त्तमान है (सः+पुरस्तात्) वही पूर्वभाग में (सः+दक्षिणतः) वही दक्षिण भाग में (सः+उत्तरतः) वही उत्तर भाग में स्थित है। हे शिष्य ! कहांतक उसकी विभूति वर्णन करें सुनो (स+एव) वही भूमा महान् ब्रह्म (इदम्+सर्वम्) इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित है (अथ) जिस हेतु वह भूमा सर्वत्र विद्यमान है (अतः) इस हेतु (अथ) अब (अहङ्कारादेश एव) ब्रह्म ने स्वयं जो उपदेश दिया है उसे ही कहते हैं (अहमेव+अधस्तात्) मैं ही नीचे (अहम्+उपरिष्टात्) मैं ही ऊपर हूं। अहम्+पश्चात्) मैं पीछे हूं (अहम्+पुरस्तात्) मैं आगे हूं (अहम्+दक्षिणतः) मैं ही दक्षिण भाग में हूं (अहम्+उत्तरतः) मैं उत्तर भाग में हूं (अहमेव) मैं ही (इदं+सर्वम्) इस सम्पूर्ण विश्व में स्थित हूं ॥ १ ॥

अथात आत्माऽऽदेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

अथ। अतः। आत्मादेशः। एव। आत्मा। एव। अधस्तात्। आत्मा। उपरिष्टात्। आत्मा। पश्चात्। आत्मा। पुरस्तात्। आत्मा। दक्षिणतः। आत्मा। उत्तरतः। आत्मा। एव। इदम्। सर्वम्। इति। सः। वै। एषः। एवम्। पश्यन्। एवम्। मन्वानः। एवम्। विजानन्। आत्मरतिः। आत्मक्रीडः। आत्ममिथुनः। आत्मानन्दः। सः। स्वराड्। भवति। तस्य। सर्वेषु। लोकेषु। कामचारः। भवति। अथ। ये। अन्यथा। अतः। विदुः। अन्यराजानः। ते। क्षय्यलोका। भवन्ति। तेषाम्। सर्वेषु। लोकेषु। अकामचारः। भवति ॥ २ ॥

भाष्यम्–अथेति। अथात आत्मदेशः प्रारभ्यते। आत्मैवाधस्तादित्यादिपूर्ववत्। भूमादेश अहङ्कारादेश आत्मादेशः। एते त्रयोपि समाना एव। क्वचित्तच्छब्देन क्वचिदस्मच्छब्देन

क्वचिदात्मशब्देन ब्रह्मणो विभूतिः स्वयमेवप्रकटीकृतास्ति । अग्रे । एवं विदुषः फलं निर्दिशति । स एवं विद्वान् स्वाराड्भवति स्वः सुखस्य राट् राजा स्वाराड् सुखधाम प्राप्नोतीत्यर्थः । पुनः तस्य विदुषः सर्वेषु लोकेषु सर्वत्रैव कामचारो भवति । कामंयथेच्छं चारोगमनं कामचारः । सर्वत्र अवारितगतिरित्यर्थः । कोऽसौ य ईदृग् भवति ? स वै एषः स एवैष ईदृग् भवति । य एवं पूर्वोक्तगुणविशिष्टं भूमानम् । पश्यन् । एवं मन्वानः । भूम्नि मननं कुर्वाणः । एवं विजानन् एवं विद्वान् । आत्मरतिः आत्मनि भूम्नि रतीरमणं यस्य सः । आत्मक्रीडः । आत्मनि क्रीड़ा यस्य सः आभ्यन्तरिको मानसिक आनन्दो रतिः । बाह्यविषया क्रीड़ा । आत्ममिथुनः आत्मयोगः । आत्मानन्दः, इत्थमात्मन्येव आनन्दो यस्य सः । ईदृग् पुरुषः स्वारा भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ ये येच अतोऽस्माद् विज्ञानात् । अन्यथा विपरीतम् । विदुर्जानन्ति ते अविद्वांसः । अन्यराजनः अन्ये राजानो येषां ते अन्यराजानः । न ते स्वयं राजानो भवंति । किन्तु पराधीना कामादीनां पुनः २ संसारस्य वशमापद्यन्ते । ते तद् वैपरीत्येन क्षय्यलोका विनश्वरलोकाः । पुनः । तद्वैपरीत्येन तेषाम् अज्ञानिनां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति ॥ २ ॥

अनुवादः–अब आत्मादेश कहते हैं । आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पश्चात्, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दक्षिण, आत्मा ही उत्तर, आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है । वही यह विद्वान् (उस को पाता है) जो ऐसा देखता, मनन करता, ऐसा जानता हुआ है और जो आत्मारति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द है वह सुखराज्याधिपति होता है । उसकी सब लोकों में अहतगति होती है और जो उससे विपरीत जानते हैं वे अन्य के अधीन होते हैं । और वे विनश्वर लोकवाले होते हैं उन सब लोकों में अकामचार (इच्छानुसार गमन नहीं) होता है ॥ २ ॥

पदार्थः–(अथ+अतः) इस हेतु अब (आत्मादेशः+एव) आत्मादेश ही कहते हैं जिस कारण ब्रह्म सर्वत्र है इस हेतु आत्मा (परमात्मा) का आदेश अनुशासन=आज्ञा अर्थात् आत्मशब्द द्वारा जो ब्रह्मने शिक्षा दी है उसे ही नारद तुम्हें सुनाते हैं (आत्मैव) परमात्मा ही (अधस्तात्) नीचे (आत्मा) परमात्मा ही (उपरिष्टात्) ऊपर (आत्मा+पश्चात्) आत्मा ही पीछे (आत्मा+पुरस्तात्) आत्मा ही आगे (आत्मा+दक्षिणतः) आत्मा ही दक्षिण (आत्मा+उत्तरतः) आत्मा ही उत्तर (आत्मा+एव) परमात्मा ही (इदम्+सर्वम्) इस सम्पूर्ण भुवन में अधिष्ठित है । आगे ऐसे विद्वान् पुरुष को क्या फल मिलता है सो कहते हैं (सः+वै+एषः) वही यह विद्वान् उस को पाता है जो (एवम्) पूर्वोक्त गुण विशिष्ट भूमा को (पश्यन्) देखता हुआ (एवं+मन्वानः) ऐसा मनन करता

हुआ (एवं+विजानन्) और ऐसा जानता हुआ है । और जो (आत्मरतिः) आत्मा= परमात्मा में रति रमण है जिसका वह (आत्मक्रीडः) परमात्मा में ही क्रीड़ा है जिसकी वह । आभ्यन्तरिक आनन्दानुभव का नाम रति, बाहरी विषयों में आनन्दानुभव का नाम क्रीड़ा है (आत्ममिथुनः) परमात्मा से योग है जिसका वह (आत्मानन्दः) इस प्रकार परमात्मा ही में जिस को आनन्द प्राप्त होता है (सः+स्वाराट्) वह सुखं का राजा (भवति) होता है (तस्य) उसको (सर्वेषु+लोकेषु) सब लोकोंमें (कामचारः) स्वच्छन्द गति (भवति) होती है (अथ) और (ये) जो (अतः) इस विज्ञान से (अन्यथा) विपरीत (विदुः) जानते हैं वे (अन्य राजानः) स्वयं राजा न होकर किन्तु प्रजा होते हैं अर्थात् कामादि के अधीन हो सर्वदा इस संसारके वशवर्ती होते हैं । अन्य=दूसरे हैं राजा जिनके वे अन्यराजा कहलाते हैं और (ते) वे (क्षय्यलोकाः+भवन्ति) विनश्वर लोक वाले होते हैं (तेषाम्) उनकी (सर्वेषु+लोकेषु) सब लोकों में (अकामचारः) विहतगति (भवति) होती है अर्थात् सर्वत्र स्वेच्छानुसार उनका गमन नहीं होता ॥ २ ॥

इति पञ्चविंशखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ २६ ॥

अथ षड्विंशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति ॥१॥

तस्य । ह । वै । एतस्य । एवम् । पश्यतः । एवम् । मन्वानस्य । एवम् । विजानतः । आत्मतः । प्राणः । आत्मतः । आशा । आत्मतः । स्मरः । आत्मतः । आकाशः । आत्मतः । तेजः । आत्मतः । आपः । आत्मतः । आविर्भावतिरोभावौ । आत्मतः । अन्नम् । आत्मतः । बलम् । आत्मतः । विज्ञानम् । आत्मतः । ध्यानम् । आत्मतः । चित्तम् । आत्मतः । सङ्कल्पः । आत्मतः । मनः । आत्मतः ।

वाक् । आत्मतः । नाम । आत्मतः । मन्त्राः । आत्मतः । कर्माणि । आत्मतः । एव । इदम् । सर्वम् । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—तस्येति । एवं विदुषः पुरुषस्य सर्वे व्यवहारा आत्मत एव भवन्ति । ते परमात्मव्यतिरेकेण किमपि न पश्यन्ति । पूर्वोक्ताः सर्वे विषया आत्मत एव आविर्भवन्तीति व्यत्ययेन दर्शयति । तथाहि । प्राणः प्राणनं जीवनधारणं मुख्यप्राणो वा । आशा प्रत्याशा । स्मरः स्मृतिः । आकाशः अवकाशः । तेजः । आपोजलम् । आविर्भावतिरोभावौ प्रकाशाप्रकाशौ । यथा मत्सस्य जले मज्जनोन्मज्जने भवतस्तथैव । अन्नम् । बलम् । विज्ञानम् । ध्यानम् । चित्तम् । सङ्कल्पः । मनः । वाक् । नाम । मन्त्राः । कर्माणि । च । आत्मत एव भवन्ति । पदानीमानि यथास्थानं व्याख्यातानि । इत्थं सर्वमात्मत एते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । आत्मशब्दस्य पुनरावृत्तिर्द्योतयति यदात्मत एव इदं सर्वञ्जायते नान्यस्मात् ॥ १ ॥

अनुवादः—निश्चय, ऐसे ब्रह्म को साक्षात् करते, ऐसे को मनन करते और ऐसे को विशेष रीति से जानते हुए विद्वान् को आत्मा (परमात्मा) से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मर (स्मृति), आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से आविर्भावतिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से सङ्कल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म, आत्मा ही से सब पदार्थ, आत्मा से ही सब कुछ प्राप्त होता है ॥ १ ॥

पदार्थः—यहां सम्पूर्ण प्रपाठक के अभिप्राय को संक्षेप से दिखलाया है । ब्रह्मज्ञानी को व्यावहारिक पदार्थ भी परमात्मा से ही प्राप्त होता रहता है । अर्थात् निष्काम पुरुष को आत्मविज्ञानातिरिक्त किसी वस्तुकी आवश्यक्ता ही नहीं होती । सदा वह परमात्मा में ही निमग्न रहता है (ह+वै) यह निश्चय है कि (एवं+पश्यतः) इस प्रकार के द्रष्टा (एवं+मन्वानः) इस प्रकारके मन्ता (एवं+विजानतः) इस प्रकार के विज्ञाता ऐसे (तस्य+एतस्य) उस इस प्रसिद्ध साधक के (आत्मतः+एव+इदम्+सर्वम्) ब्रह्मके द्वारा ही यह सांसारिक सब पदार्थ प्राप्त होता है । इस विषय को आगे दिखलाते हैं (आत्मतः+प्राणः) आत्मा से प्राण (आत्मतः+आशा) आत्मा से आशा (आत्मतः+स्मरः) आत्मा से स्मरण (आत्मतः+आकाशः) आत्मा से आकाश (आत्मतः+तेजः) आत्मा से तेज (आत्मतः+आपः) आत्मा से जल (आत्मतः+आविर्भावतिरोभावौ) आत्मा से आविर्भाव=प्रकाश, तिरोभाव=अप्रकाश (आत्मतः+अन्नम्) आत्मा से अन्न (आत्मतः+बलम्) आत्मा से

बल (आत्मतः+विज्ञानम्) आत्मा से विज्ञान (आत्मतः+ध्यानम्) आत्मा से ध्यान (आत्मतः+चित्तम्) आत्मा से चित्त (आत्मतः+सङ्कल्पः) आत्मा से सङ्कल्प (आत्मतः+मनः) आत्मा से मन (आत्मतः+वाक्) आत्मा से वाणी (आत्मतः+नाम) आत्मा से नाम (आत्मतः+मन्त्राः) आत्मा से मन्त्र (आत्मतः+कर्माणि) आत्मा से कर्म इस प्रकार आत्मा के मनन से ही निखिल वस्तु की प्राप्ति हो सकती है ॥ १ ॥

भाष्याशयः–यहां आत्म शब्द से जीवात्मा परमात्मा दोनों का ग्रहण हो सकता है इस जीवात्मा में भी अनन्त शक्तियां हैं। अभ्यास के द्वारा वे प्रकट होती रहती हैं। इसी हेतु जगत् में श्रवण मनन निदिध्यासन के द्वारा यही आत्मा अपूर्व २ वस्तु का जिसको प्रथम लोगों ने स्वप्न में भी नहीं देखा था और जो अत्यन्त आश्चर्य्यजनक है, आविष्कृत करता है। इसीहेतु योगादि शास्त्रों में आत्मा के गुण अनन्त कहे गये हैं यहांतक कि सर्वज्ञता आदि की भी पदवी इसको दीगई है। इसमें सन्देह नहीं कि जो साधक आत्मा से ही आत्मतत्त्व की जिज्ञासा में लगे रहते हैं वे अद्भुत प्रकार के कार्य करने में कभी न कभी समर्थ होते हैं। जगत् में मानुषीय विभूति जो कुछ देखते हैं वे सब ही इसी जीवात्मा से आविर्भूत हुए हुए हैं। इस आत्मा के साक्षात् करने के पश्चात् उस परमात्मा का साक्षात् करना सहज होजाता है। इस प्रवाक में सम्पूर्ण प्रपाठक का सार दिखलाया गया है ॥ १ ॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति ॥२॥ (क)

तत् । एषः । श्लोकः । न । पश्यः । मृत्युम् । पश्यति । न । रोगम् । न । उत । दुःखताम् । सर्वम् । ह । पश्यः । पश्यति । सर्वम् । आप्नोति । सर्वशः । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्–तदिति । तत्तत्र विदुषो विज्ञानविषये एष वक्ष्यमाणोऽयं । श्लोकः श्लोकप्रमाणमपि वर्त्तते । तथाहि पश्यः पश्यतीति पश्यः । यथोक्तदर्शी विद्वान् इत्यर्थः । मृत्युं मरणभयम् । न पश्यति न जानाति । न रोगम् । आधिं व्याधिञ्च न प्राप्नोति । उत तथा च । न दुःखताम् । अन्यदपि किमपि दुःखम् । यद्वा । दुःखभावमपि न पश्यति । तर्हि स विद्वान् किमपि पश्यति न वेत्याह । पश्यः स यथोक्तभूमदर्शी । अन्ते । पश्यति ब्रह्मानन्दमेव पश्यति । अतएव सर्वं वस्तु आनन्दकरम् । सर्वशः सर्वतो भावेन सर्वेषां सकाशाद्वा प्राप्नोति आप्नोति । इति ॥ २ ॥ (क)

अनुवादः—उस विषय में यह श्लोक है । वह ब्रह्मदर्शी (पुरुष) मृत्यु को नहीं देखता है । न रोग और न दुःखता को देखता है वह ब्रह्मदर्शी ब्रह्म को ही देखता है । अतः अन्त में सब प्रकार से सब वस्तु को अथवा ब्रह्म को ही प्राप्त होता है ॥ २ ॥ (क)

पदार्थः—(तत्) उस ब्रह्मज्ञानी के विषय में (एषः) यह वक्ष्यमाण (श्लोकः) श्लोक प्रमाण है (पश्यः) उस भूमा ब्रह्म को यथार्थ प्रकार से देखने वाला (मृत्युम्) मरणजनित भय को (न+पश्यति) नहीं देखता है (रोगम्) तीनों प्रकार के रोगों को (न+पश्यति) नहीं देखता है (न+उत+दुःखताम्) और दुःखभाव को नहीं देखता है । तो क्या ब्रह्मदर्शी पुरुष कुछ भी देखता है वा नहीं । सो आगे कहते हैं (पश्यः) वह ब्रह्मदर्शी (सर्व+ह) ब्रह्म को ही (पश्यति) देखता है इस हेतु (सर्वशः) सब प्रकार से (सर्वम्+आप्नोति) सर्व को ही पाता है । यहां सर्व शब्द ब्रह्मवाचक भी होसकता है क्योंकि सबों का आधार वही है इसलिये वह सर्व नाम से भी प्रसिद्ध होता है इति ॥ २ ॥ (क)

स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च विंशतिः ॥ २ ॥ (ख)

सः । एकधा । भवति । त्रिधा । भवति । पञ्चधा । सप्तधा । नवधा । च । एव । पुनः । च । एकादशः । स्मृतः । शतम् । च । दश । च । एकः । च । सहस्राणि । च । विंशतिः ॥ २ ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति । ब्रह्मविदुषः पुरुषस्य माहात्म्यं दर्शयति । सः ब्रह्मवित् पुरुषः एकधा भवति । सर्वत्र एकः प्रधानो भवति । त्रिधा भवति एकोऽपि सन् अनेक इव भवतीत्यर्थः । कथमिदं सम्पद्यते । समर्थस्य ब्रह्मज्ञानिनः सर्वदा परोपकारपरायणस्यानुगायिनोऽनेके जायन्ते । यथा महर्षेः श्रीमद्दयानन्दस्य सन्ति च शतशोऽनुगामिनः । अतएकोऽपि स अनेक इव प्रतिभाति । ये तु योगबलेन स योगी बहूनि शरीराणि विरचय्य स्वेच्छया त्रिधा पञ्चधा सप्तधा नवधा एवं सहस्रधा लक्षधा भवितुमर्हति इति कल्पयन्ति ते प्रमादमेव कुर्वन्ति ॥ २ ॥ (ख)

अनुवादः—वह एक होता है वह तीन, पांच, सात, नव होता है । पुनः वह एकादश कहलाता है । वह सौ दश, एक, सहस्र, बीस होता है ॥ २ ॥ (ख)

पदार्थः—आगे ब्रह्मवित् पुरुष का माहात्म्य दिखलाया जाता है (सः) वह ब्रह्मवित्

पुरुष (एकधा+भवति) ज्ञान के पूर्व वह एकही रहता है पश्चात् (त्रिधा+भवति) तीन होता है (पञ्चधा) पांचप्रकार (सप्तधा) सात प्रकार (नवधा+च+एव) नव प्रकार होता है (पुनः+च+एकादशः+स्मृतः) पुनः वह एकादश कहलाता है (शतम्+च) सौ (दश+च) दश (एक+च) एक (सहस्राणि+च) सहस्र और (विंशतिः) बीस होता है ॥ २ ॥ (ख)

भाष्याशयः–जब विद्वान् पुरुष परोपकार में परायण, आत्म-दर्शन में यत्नवान्, विजितेन्द्रिय, आत्मरति, आत्मक्रीड़ आदि होता है। तब उसके अनेक अनुगामी हो जाते हैं उसका बल सम्राट् से भी बढ़ जाता है। इस प्रकार यद्यपि वह एकही है परन्तु वह यथार्थ में अनेक है उसके अनुगामी शतशः लक्षशः हो जाते हैं। यही योगी विद्वान् तीन २ पांच सात आदि होता है। इस समय महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी के सहस्रों अनुगामी वर्त्तमान हैं। वह एक रहते हुए भी अनेक हैं। योग के बल से योगी अनेक शरीर धारणकर एक दो तीन चार सहस्र लक्ष अनन्त होता है ऐसा कहने वाले प्रमाद-युक्त हैं क्योंकि वह नवीन आत्मा उत्पन्न कर ही नहीं सकते तो फिर भौतिक शरीर बनाने से ही क्या लाभ हुआ आत्मा का खण्ड भी नहीं कर सकते इत्यादि हेतुओं का अनुसन्धान करना ॥ २ ॥ (ख)

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

आहारशुद्धौ। सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ। ध्रुवा। स्मृतिः। स्मृतिलम्भे। सर्वग्रन्थीनाम्। विप्रमोक्षः। तस्मै। मृदितकषायाय। तमसः। पारम्। दर्शयति। भगवान्। सनत्कुमारः। तम्। स्कन्दः। इति। आचक्षते। तम्। स्कन्दः। इति। आचक्षते ॥ २ ॥

भाष्यम्–आहारशुद्धाविति। आह्रियत इत्याहारः। शब्दादिविषयविज्ञानमत्राहारो निगद्यते। यथा भोक्तुर्भोगायाहारो भोजनं भवति। तथैव शब्दादिविषयज्ञानमेव आत्मन आहारोऽस्ति। तेनायमर्थः। आहारस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिः। आहारशुद्धिः। रागद्वेषमोहदोषैरसंस्पृष्टविषयविज्ञानमित्यर्थः। आहारशुद्धौ रागद्वेषमोहदोषैर्विरहिते शब्दादिविषयविज्ञाने सति सत्त्वशुद्धिः सत्वस्यान्तःकरणस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति। सत्त्वशुद्धौ

सत्त्वशुद्धौ सत्याम् । ध्रुवा स्मृतिः भूतात्मविज्ञानविषया ध्रुवाऽविच्छिन्ना स्मृतिः स्मरणं भवति । स्मृतिलम्भे स्मृतेर्लम्भः स्मृतिलम्भः प्राप्तिः । स्मृत्यां लब्धायां सत्याम् । सर्वग्रन्थीनाम् । सर्वेषाम् अविद्याकृतानर्थपाशरूपाणाम् । अनेकजन्मान्तरानुभवभावनाकठिनीकृतानाम् हृदयाश्रयाणाम् । ग्रन्थीनाम् । विप्रमोक्षः । विशेषेण मोक्षणं विनाशो भवति । यत एवमुत्तरोत्तरं यथोक्तमाहारशुद्धिमूलं तस्मात् सा कार्येत्यर्थः । इत्थं सर्वं शास्त्रार्थमशेषेणोक्त्वाऽऽख्यायिकामुपसंहरति । तस्मावित्यादिना । भगवान् सनत्कुमारः प्राप्तैश्वर्यो लब्धभूमविज्ञानः पूजावान् सनत्कुमारो महर्षिः । मृदितकषायः । वार्क्षादिरिव कषायो रागद्वेषमोहदोषः । सत्त्वस्य रञ्जनारूपत्वात् । सज्ज्ञानवैराग्याभ्यासरूपक्षालनेन मृदितो विनाशितः कषायो यस्य स मृदितकषायः । तस्मै निखिलान्तःकरणदोषविनिर्मुक्ताय तस्मै नारदाय तमसः अविद्यालक्षणादज्ञानात् पारम् परमार्थतत्त्वं दर्शयति दर्शितवानित्यर्थः । तं स्कन्द इत्याचक्षते तं भगवन्तं सनत्कुमारं केपि ज्ञानिनः । स्कन्द इत्याचक्षते । कथयन्ति । द्विर्वचनमध्यायसमाप्त्यर्थम् ॥ २ ॥

अनुवादः–आहार शुद्धि से सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि से ध्रुवास्मृति, ध्रुवास्मृतिकी प्राप्ति से सर्व ग्रन्थियों का विनाश होता है (इस प्रकार) भगवान् सनत्कुमार ने मृदितकषाय नारदजी को अविद्या के पारको दर्शाया । उस भगवान् सनत्कुमार को स्कन्द कहते हैं । उन को स्कन्द कहते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–(आहार शुद्धौ) शब्द स्पर्श रूप रस गन्धस्वरूप जो विषय उनका जो ज्ञान उसे आहार यहां कहते हैं । आत्माका आहार यही सब है । आहार की जो शुद्धि उसे आहारशुद्धि कहते हैं । अर्थात् राग द्वेष मोह इन तीनों दोषों से रहित जो शब्दादि विषय विज्ञान उसकी जो शुद्धि निर्म्मलता वह आहारशुद्धि । इस प्रकार आहार की शुद्धि होने पर (सत्त्वशुद्धिः) अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उसकी शुद्धि होनेपर (ध्रुवा+स्मृतिः) उस भूमा परमात्मा में निश्चय स्मृति स्मरण होता है (स्मृतिलम्भे) और स्मृतिकी प्राप्ति होने से (सर्वग्रन्थीनाम्) हृदय की सकलग्रन्थियों का (विप्रमोक्षः) सर्वथा नाश होता है । इस प्रकार सम्पूर्ण विद्या का वर्णन करके अब आख्यायिका को समाप्त करते हैं (भगवान्+सनत्कुमारः) भगवान् सनत्कुमारजी ने (मृदितकषायाय) जिनके हृदयसे सब दोष विनष्ट होगये हैं ऐसे (तस्मै) उस नारद को (तमसः) अज्ञानरूप अन्धकार से (पारम्) पार ले जाकर परमार्थतत्त्वको (दर्शयति) दर्शाया (तम्) उस सनत्कुमार को (स्कन्द+इति) स्कन्द नामसे (आचक्षते) लोक कहते हैं (तम्+स्कन्द+इत्याचक्षते) उनको स्कन्द कहते हैं ॥ २ ॥

इतिषड्विंशखण्डस्य संस्कृतभाष्ये समाप्ते ॥ २६ ॥

समीक्षा ॥

इस सम्पूर्ण सप्तम खण्ड का संक्षिप्त विवरण यह है कि भगवान् सनत्कुमार के निकट जा नारद बोले कि हे भगवन् ! मुझ को आत्मज्ञान का उपदेश करें सनत्कुमारजी ने उनकी विद्या के विषय पूछा कि आप जो जानते हैं प्रथम उन को सुनाइये तब हम उस के आगे उपदेश करेंगे। नारद ने पढ़ी सब विद्याएं सुनाईं। तदनन्तर क्रमशः एक दूसरे से अधिकतर वस्तु को सनत्कुमार कहते गये हैं वे ये हैं—ऋग्वेदादि नाम हैं। नाम से अधिकतर वाणी है। वाणी से मन। मन से सङ्कल्प। सङ्कल्प से चित्त। चित्त से ध्यान। ध्यान से विज्ञान। विज्ञान से बल। बल से अन्न। अन्न से जल। जल से तेज। तेज से आकाश। आकाश से स्मर (स्मरण=स्मृति)। स्मृति से आशा। आशा से प्राण अधिकतर हैं। यहां प्राण की अधिकतरता सुन नारद चुप हो गये। पश्चात् सनत्कुमार ने कहा कि हे नारद ! यथार्थ में "अतिवादी" वह है जो सत्य के साथ अतिवाद करता है। प्राण तक ही अतिवाद की समाप्ति नहीं तब नारद ने कहा कि मैं सत्य की जिज्ञासा करता हूं। तदनन्तर सनत्कुमार ने यह कहा है कि विज्ञान से सत्यता में, मनन से विज्ञान में, श्रद्धा से मनन में, निष्ठा से श्रद्धा में, क्रिया से निष्ठा में और सुख से क्रिया में दृढ़ता होती है। वह सुख हे नारद ! केवल भूमा में है। जो सर्वत्र व्याप्त है। इसी आत्मा की उपासना करो इस प्रकार आत्मोपदेश नारद से भगवान् सनत्कुमार ने किया है।

सनत्कुमार—यह नाम अन्य ईशावास्यादि ९ नवों उपनिषद् में कहीं नहीं आया है। वैदिक समय में यह नाम प्रसिद्ध नहीं पाया जाता है। सनत्=सर्वदा। कुमार=बालक जो सर्वदा बालक रहे उसे सनत्कुमार कहते हैं यह इस शब्द का अर्थ है पुराण में इस की बहुत काल्पनिक कथाएं हैं ये चार भाई थे ऐसा सुना जाता है। सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमार। जो आज कल पुराण की रीति से तर्पण किया जाता है उस पद्धति में तीन भाइयों के नाम आये हैं यथा "सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः" ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में चारों नाम आए हैं यथा "सनत्कुमारो धर्म्मश्च सनकश्च सनातनः। सनन्दश्चापि सूर्यश्च येऽन्ये वा ब्रह्मणः सुताः" इसी प्रकार भागवत आदि में भी इन की गाथा पाई जाती है। ये चारों ब्रह्मपुत्र कहलाते हैं।

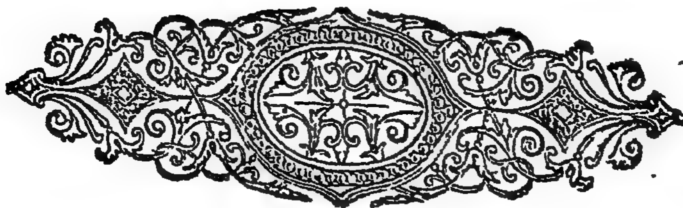
नारद—यह नाम भी अन्य नवों उपनिषदों में नहीं आया है। "नारं परमात्मविषयकज्ञानं ददातीति नारदः", परमात्म सम्बन्धी ज्ञान को जो देवे उसे नारद कहते हैं।

अथवा "नारं नरसमूहं द्यति खण्डयति कलहेनेति नारदः" जो नार=मनुष्य समूह को द्यति= कलह करने से खण्ड करे वह नारद। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ करते हैं इनके विषय में भी पौराणिकी गाथाएं बहुत हैं।

भूमा—इस प्रकरण में भूमा शब्द ब्रह्मवाचक है। इसके प्रमाण में वेदान्त के दो सूत्र हैं, यथा-"भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्। ८। धर्म्मोपपत्तेश्च"। ९। वेदान्तसूत्र अ० १। पाद ३। वेदान्तशास्त्र के प्रथमाध्याय में उन शब्दों के ऊपर विशेष मीमांसा कीगई है जो शब्द अनेकार्थक हैं और जिनके अर्थ में श्रवणमात्र से सन्देह उत्पन्न हो जैसे आकाश, प्राण, अक्षर आदिक। भूमा शब्द में यह सन्देह होता है कि जैसे महिमा, लघिमा, गरिमा, अणिमा आदिक शब्द भाववाचक हैं अर्थात् महिमा से महत्त्व=बड़प्पन, लघिमा से लघुता= हलकापन, गरिमा से गुरुता, अणिमा से अणुता का बोध होता है इसी प्रकार भूमा से बहुत्व=बहुतपना=बहुताई का बोध होता है। क्योंकि बहु शब्द से भाव अर्थ में "इमनिच्" प्रत्यय होनेपर भूमा शब्द सिद्ध होता है। तब यह नाम ब्रह्म का कैसे हो सक्ता है। ब्रह्म एक है बहुत नहीं। और भाव में प्रत्यय है इससे सन्देह होता है क्योंकि ब्रह्म का नाम महान् हो सकता है "महिमा" नहीं। महिमा तो महान् पदार्थ के भाव का नाम होता है इसी प्रकार कदाचित् "बहु" ब्रह्म का नाम हो भी सकता है भूमा नहीं। एवं यह भूमा शब्दार्थ प्राण में संघटित हो सकता इत्यादि शङ्का के समुत्थान होने से वेदव्यास ने निर्णयार्थ दो सूत्र रचे हैं जिनसे सिद्ध किया है कि यहां भूमा शब्द ब्रह्मवाचक है। इन सूत्रों पर के भाष्य देखो।

इति श्रीशिवशङ्करशर्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये सप्तमप्रपाठकस्य

संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ ७ ॥



ओ३म् ।

अथाष्टमः प्रपाठकः प्रारभ्यते ॥

अन्तरङ्गिका ।

अयं प्रपाठकः पूर्वोक्तं सर्वमुपसंहरन्निव दृश्यते । अत्र वेदान्तस्य सर्वा मर्यादा व्याख्याता वेदितव्याः । यथास्थानं तत्सर्वमुपरिष्टात् समालोचयिष्यामः । सम्प्रति तु ब्रह्मोपासनास्थानदिदर्शयिषया दहराकाशं व्यपदिशति । अध्यात्माधिदैवतभेदेनोपासनद्वयं प्राधान्येन पूर्वं स्थाने स्थाने प्रशासितम् । सप्तमप्रपाठके भूमप्रकरणस्योपसंहारेण "स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात्" । ७ । २५ । १ ॥ एवंविधैः शास्त्रैर्भूम्नः सर्वत्रगतत्वं दर्शयित्वा । "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् । सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" । ७ । २६ । २ ॥ एवं जातीयकैर्वाक्यैर्भूमोपासकस्य त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिमप्यवोचत् । क च तत्तु प्राप्नुयात् । कथञ्च जिज्ञासुरुपासनामारभेत । असंदिग्धम्—तद्ब्रह्म आवृत्तचक्षुषोऽन्तर्लीनचित्तवृत्तयो धीराः "तमात्मस्थम्" दृष्ट्वाऽमृतत्वं शाश्वतमश्नुवन्ति । अन्यथा दुष्प्रापमेवतद्ब्रह्मेत्यतो मन्दमत्युपासकचित्तवृत्तीरेकत्र संयमयितुं स्वहृदयस्थस्य दहराकाशस्योपासना-

---

भाषा—यह प्रपाठक पूर्वोक्त सब विषयों को उपसंहार करता हुआ दीखता है इसमें वेदान्त की सब मर्यादा व्याख्यात जाननी चाहिये । इसको यथास्थान में आगे विचारेंगे । सम्प्रति ब्रह्मोपासनाके स्थान को दर्शानेकी इच्छासे "दहराकाश" का उपदेश करते हैं । अध्यात्म अधिदैवतभेद से प्रधानतया दो प्रकार की उपासना, पूर्व, स्थान स्थान में प्रशासित हुई है । सप्तम प्रपाठक के "भूम प्रकरण" के उपसंहारमें (स एव०) वही नीचे, वही ऊपर, वही पूर्व, वही पश्चिम में है । ऐसे शास्त्रों से भूमा का सर्वगतत्व दरशा कर (न पश्यः) ब्रह्मदर्शी न तो मृत्यु को, न रोग, न दुःखभाव को देखता किन्तु सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता और उसीको सब प्रकार से पाता है ऐसे वाक्यों से ब्रह्मोपासक की त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्ति भी कही, परन्तु उसको कहां प्राप्त करे । और जिज्ञासु कैसे उपासना आरम्भ करे । निःसन्देह उस ब्रह्मको आवृत्तचक्षु अन्तर्लीनचक्षुवृत्ति धीर "आत्मस्थ" देखकर शाश्वत अमृतत्व को पाते हैं । अन्यथा वह ब्रह्म दुष्प्राप ही है । अर्थात् उस ब्रह्म को

विधिं प्रदर्शयति । योगशास्त्रेऽपि "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" । यो० सू० १ २९ ॥ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" । यो० १ । ४ ॥ एतेन यदान्तर्मुखीन उपासको भवति तदैव ब्रह्म प्राप्नोति । तदैव च ब्रह्मणि तस्योपासकस्य सम्यक् स्थितिरप्युपपद्यते । इयमेव शाश्वती मर्य्यादा वेदान्तशास्त्रस्य । इममेवार्थं प्रतिपादयन्ति सन्ति बहूनि वाक्यानि महर्षीणाम् । तद्यथा:—

(१) "अयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत् पूर्णमप्रवर्ति ॥ छा० ३ । १२ । ९ ॥ (२) एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा ॥ ३ । १४ । ३ ॥ (३) स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयम् ॥ छा० ८ । ३ । ३ ॥ (४) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥ कठ० ६ । १७ ॥

योगीगण हृदय में ही देखते हैं । इसीहेतु उपासकों की चित्तवृत्तियों को एकत्र बांधने के लिये स्वहृदयस्थ "दहराकाश" की उपासना की विधि को उपदेश करते हैं । योगशास्त्र में भी यही कहागया है (ततः) उस प्रणव के विचार से (प्रत्यक् चेतनाधिगमः) अन्तः-करण में स्थित चेतनारूप आत्मा (परमात्मा) का (अधिगमः+अपि) साक्षात्कार भी होता है (च) और (अन्तरायाभावः) अखिलविघ्नों का नाश होता है और (तदा) तब ही (द्रष्टुः) सर्वद्रष्टा ब्रह्म के (स्वरूपे) स्वरूप में (अवस्थानम्) जीवात्मा की स्थिति होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि जब साधक अन्तर्मुखीन होता है तब ही ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है । और तब ही ब्रह्म में उपासक की सर्वथा स्थिति होती है यही वेदान्तशास्त्र की शाश्वती मर्यादा है । इसी अर्थ को प्रतिपादन करते हुए महर्षियों के बहुत वाक्य हैं । कतिपय वाक्य यहां दर्शाये जाते हैं—

(अयम्) यह (अन्तर्हृदये) हृदय के अन्तर बीच (आकाशः) ब्रह्म है । तद्+एतत्) वह यह ब्रह्म (पूर्णम्) सर्वत्र पूर्ण (अप्रवर्त्ति) परिवर्तन रहित है ॥ १ ॥ (एष आत्मा) यह परमात्मा (मे) मेरे (अन्तर्हृदये) हृदय के बीच में है (व्रीहेः) व्रीहि से (यवाद्+वा) यव से (अणीयान्) अति सूक्ष्म है ॥ २ ॥ (स वै) वह (एष आत्मा) यह आत्मा (हृदि) हृदय में है (तस्य) उस हृदयका (एतत्+एव) यही (निरुक्तम्) निर्वचन=अर्थ है (हृदि+अयम्) यह ब्रह्म हृदय में है (तस्मात्) इस हेतु (हृदयम्) यह हृदय कहलाता है ॥ ३ ॥ (अङ्गुष्ठमात्रः) अतिसूक्ष्म (अन्तरात्मा) जीवात्मा में भी व्यापक (पुरुषः) सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म (सदा) सर्वदा (जनानां हृदये) मनुष्यों के हृदय में (सन्निविष्टः) स्थित है ॥ ४ ॥ (तस्मिन्) उस (अन्तर्हृदये) हृदय के बीच में (यथा व्रीहिर्वा) अति सूक्ष्म

(५) तस्मिन्नन्तर्हृदये यथ व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशान सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च। बृ० ५। ६। १॥ (६) एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। श्वेताश्वतर० ४। १७॥ (७) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति। गीता १८। ६१॥ (८) आत्मस्थमपि क्वचित् तदुक्तम्। यथा—तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। कठ ५। २२॥

"ब्रह्मपुरम्"

ब्रह्मणः स्थितेरेव हृदयं ब्रह्मपुरमभिधीयते। तद्यथा "अथयदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकम्। छा० ८। १। १॥ दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः"। मु० २। २। ७॥ इत्येवंविध पूर्वोक्त वर्णनेन मनसोगत्यवरोधाय किञ्चित्स्थानविशेषावश्यंयकतापतीतेर्बाह्यजगतोऽनन्तत्वात् अतिसूक्ष्मं हृदयाकाशं निर्दिष्टं महर्षिभिः। उपनिषदां सिद्धान्तमेवोपासितुं योगशास्त्रस्य प्रवृत्तिः। मनोवशीकरणाय तत्रोक्ताः सर्वे उपाया उपासनीयाः। परन्त्वयंविषयः परमोपयोगितया सर्वदा स्मरणीयो यत्। यत्र यत्र महर्षयो हृदयाकाशं ब्रह्मो-

---

ब्रह्म व्याप्त है (स एषः) वह यह ब्रह्म सबों का ईश सर्वाधिपति है और जो कुछ है सब का शासन वही कर रहा है॥ ५॥ (एष देवो वि०) यह विश्वकर्त्ता परमात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में स्थित है॥ ६॥ (ईश्वरः) हे अर्जुन! ईश्वर सबों के हृदय में स्थित है। ॥ ७॥ कहीं ब्रह्म को आत्मस्थ कहा गया है यथा (तमात्मस्थम्) उस ब्रह्म को जो धीर आत्मस्थ देखते हैं उनको ही शाश्वत सुख प्राप्त होता है। दूसरों को नहीं। आत्म शब्द का अर्थ यहां शरीर बुद्धि आदि भी हो सकता है॥ ८॥

हृदय में ब्रह्म स्थित है इसी हेतु इसको ब्रह्मपुर कहते हैं (अथ०) इस ब्रह्मपुर में जो यह (दहरम्) अतिसूक्ष्म (पुण्डरीकम्) कमलाकार प्रदेश है। उस में ब्रह्म व्याप्त है इत्यादि (दिव्ये) दिव्य ब्रह्मपुर में यह ब्रह्म स्थित है। इत्यादि पूर्वोक्त वर्णन से ऋषियों का विस्पष्ट अभिप्राय विदित है कि मन की गति को अवरुद्ध करने के लिये कोई स्थान विशेष चाहिये। बाह्य जगत् के अनन्त होने से अतिसूक्ष्म हृदयाकाश का ही निर्देश किया है। योगशास्त्र में मन वशीकरण के जितने उपाय हैं वे सब ग्राह्य हैं। इनही उपनिषदों के सिद्धान्त की उपासनार्थ योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। एक यह विषय परमोपयोगितया सर्वदा स्मरणीय है कि जहां महर्षि हृदयाकाश में ब्रह्म के ध्यान के लिये उपदेश करते हैं वहां ही यह भी कह देते हैं कि यह ब्रह्म केवल हृदयमात्र में नहीं किन्तु सर्वत्र व्याप्त है। देखो

पासनाय निर्दिशन्ति तत्र तत्र नेदं ब्रह्म हृदयस्थमात्रमेव किन्तु हृदयदेशाद् बहिरपि सर्वत्रगतं वर्तत इत्यपि ब्रुवन्ति । पश्यन्तु तावत् । छान्दोग्ये "एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षादित्यादि" पुनः मुण्डके "दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म-निष्कलम्" इत्युक्त्वाग्रे । "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" । मु०२ । २ । ११ ॥ सर्वत्रैवमूह्यम् । वेदान्त-सूत्रेषु शास्त्रार्थोऽयं सम्यङ् निर्णीतः । विस्तरभयान्नोलिख्यते । तत्रैव मीमांसनीयः । इति ॥

छान्दोग्य में जहां ब्रह्म को हृदयस्थ कहा है वहां ही (एष म आत्मा) यह मेरे अन्तर्हृ-दयस्थ ब्रह्म पृथिवी अन्तरिक्ष और सर्व लोकलोकान्तर से बहुत ही बड़ा है पुनः (दिव्ये) दिव्य ब्रह्मपुर में वह ब्रह्म व्याप्त है । इत्यादि कह आगे कहते हैं कि (ब्रह्मैवेदम्) यह ब्रह्म ही अमृतस्वरूप है यही आगे, पीछे, उत्तर, दक्षिण ऊपर, नीचे सर्वत्र व्याप्त है इसी प्रकार सर्वत्र संगति है । वेदान्तसूत्रों में इस शास्त्रार्थ का अच्छे प्रकार निर्णय किया गया है । विस्तारभय से नहीं लिखते हैं वहां ही मीमांसा करलेना ।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

अथ । यद् । इदम् । अस्मिन् । ब्रह्मपुरे । दहरम् । पुण्डरीकम् । वेश्म । दहरः । अस्मिन् । अन्तराकाशः । तस्मिन् । यत् । अन्तः । तत् । अन्वेष्टव्यम् । तत् । वाव । विजिज्ञासितव्यम् । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथ भूमविद्यानन्तरम् । चित्तवृत्तिनिरोधाय दहराकाशविद्यामारभते । ब्रह्मणः परमात्मनः पुरम् । ब्रह्मपुरं शरीरम् । यद्वा ब्रह्मपुरीति ब्रह्मपुरम् "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" । ५ । ४ । ४ ॥ इति समासान्ताकारः । "पूःस्त्री पुरी नगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम् । स्थानीयं निगमोऽन्यत्तु यन्मूलं नगरात्पुरम् ॥ इति नपुंसकपुरशब्दोऽप्युपलभ्यते । अस्मिन् ब्रह्मपुरे शरीरे यदिदं दहरं सूक्ष्मम् । पुण्डरीकं कमलम् । तदेव वेश्म भवनम् । वेश्मेव । अस्तीतिशेषः । अस्मिन् दहरपुण्डरीके वेश्मनि । यो दहरः सूक्ष्मः । अन्तराकाश अन्तर्वर्ती । आकाशः परमेश्वरोब्रह्म । तस्मिन् दहराकाशे सूक्ष्मे ब्रह्मणि इत्यर्थः । यदन्तः यद् अन्तर्वर्ति-

गुणजातम् । तत् । तदुभयम् । अन्तराकाशस्तदन्तर्वर्ति गुणजातञ्च । उभयम् । अन्वेष्टव्यम् । तद्वाव तदेव । विजिज्ञासितव्यमिति ॥

विदितसद्ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मजिज्ञासुश्च द्वावुपासकौ । ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषस्योपासनास्थान नियमो न क्वापि विधीयते । अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्म समत्वेन सर्वत्रनिरीक्षमाणो वशीकृतेन्द्रियग्रामो ब्रह्मरतिर्ब्रह्मक्रीडो ब्रह्मानन्दोयोगी साक्षात्कृत्य सर्वत्रैवोपास्ते । इतरश्च प्रारब्धजिज्ञासो विज्ञानाऽसमर्थो ब्रह्मविभूतिं सर्वत्र निश्चेतुं न शक्नोति । तदर्थं प्रथमं हृदयाकाशमुपदिशति । पश्चात् शनैः शनैस्तमपिजिज्ञासुं परमं सद् गमयिष्यति । यश्च जिज्ञासुर्ब्रह्मैश्वर्यं सर्वत्रावधारयितुं शक्नोति । सतु नास्योपासनस्याधिकारी मन्दबुद्धिरेव जिज्ञासुरस्मिन्नधिकृतोस्ति । शङ्कराचार्योऽप्येतमर्थं स्वीकरोति यथा-"यद्यपि दिग्देशकालादिभेदशून्यं ब्रह्मसदेकमेवाद्वितीयमात्मैवेदं सर्वमिति षष्ठ सप्तमयोरधिगतम् । तथापीह मन्दबुद्धीनां दिग्देशादिभेदवत् वस्त्वित्येवं भाविता सा मन्दबुद्धिर्न शक्यते सहसा परमार्थविषयी कर्तुमित्यनधिगम्यच ब्रह्म न पुरुषार्थसिद्धिरिति तदधिगमाय हृदयपुण्डरीकदेश उपदेष्टव्यः" । "दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थ सद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनामसदिव प्रतिभाति । सन्मार्गस्थास्तावद् भवन्तु । ततः शनैः परमार्थं सदपि ग्राहयिष्यतीति मन्यते श्रुतिः" एतेन मन्दबुध्यर्थं प्रकरणमिति सर्वतः पर्य्यवसितम् ।

ब्रह्मपुरम्-अन्याप्युपनिषत् शरीरमिदं ब्रह्मपुरं ब्रवीति तद्यथा "दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः" । मुण्ड० २ । २ । ७ ॥ दहरः-अत्यन्तसूक्ष्म । एतत्स्थानमपहाय न क्वाप्युपनिषत्सु शब्दोऽयं प्रयुक्तः । महानारायणोपनिषदि द्विरयमधीयते तत्र दहू इति पाठोस्ति । पुण्डरीकं कमलम् । पुण्डरीकं सिताम्भोजमथरक्तसरोरुहे । इति नामारण्यात् । इदं छान्दोग्ये त्रिरधीयते । बृहदारण्यके वारैकं दृश्यते । इदानीन्त्वयंशब्दः प्रसिद्धतरोजातः । कर्मकाण्डेऽपि पुण्डरीकाक्ष इत्युच्चारणेन सर्वद्रव्यशुद्धिं मन्यन्ते कर्मठाः । इतरास्वष्टसूपनिषत्सु न क्वाप्युपलभ्यते । दहराकाशशब्देनात्र ब्रह्मनाभिधीयते एतन्निर्णयन्तु वेदान्तसूत्रेषु पश्यत ॥ १ ॥

अनुवादः-अब इस ब्रह्मपुर में जो यह सूक्ष्म पुण्डरीक गृह है और इसमें जो सूक्ष्म अन्तर्वर्त्ती आकाश (ब्रह्म) है और उस (ब्रह्म) में जो अन्तर्वर्ती गुणसमूह हैं वे दोनों (ब्रह्म और ब्रह्म का गुण) अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य हैं ॥ १ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर अर्थात् सप्तम प्रपाठक में भूमं (भूमा) विद्या की समाप्ति हो गई उसके अनन्तर चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये दहराकाश विद्या का आरम्भ होता है (अस्मिन्) इस (ब्रह्मपुरे) शरीर में (यद्+इदम्) जो यह (दहरम्) स्वल्प सूक्ष्म

(पुण्डरीकम्) कमल (वेश्म) गृह है (अस्मिन्) इस कमल गृह में (दहरः) सूक्ष्म (अन्तराकाशः) मध्यवर्ती आकाश अर्थात् ब्रह्म है (तस्मिन्) उस दहराकाशवाच्य ब्रह्म में (यदन्तः) जो अन्तर्वर्ती गुणसमूह है (तत्) वे दोनों ब्रह्म और ब्रह्म का गुण (अन्वेष्टव्यम्) खोजने योग्य हैं और (तद्+वाव) वे ही (विजिज्ञासितव्यम्) विशेषरूप से विजिज्ञासनीय हैं । यद्वा (अस्मिन्) इस कमलगृह में (दहरः+अन्तराकाशः) सूक्ष्म मध्यवर्ती आकाश अर्थात् अनकाश है (तस्मिन्) उस आकाश में (यदन्तः) जो अन्तर्वर्ती वस्तु है (तद्+अन्वेष्टव्यम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

भाष्याशयः--ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मजिज्ञासु दो प्रकार के उपासक होते हैं । ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिये उपासना के स्थान का नियम कहीं नहीं होता है नीचे ऊपर सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म को समभावसे सर्वत्र देखता हुआ वशीकृतेन्द्रियग्राम, ब्रह्मरति, ब्रह्मक्रीड़ और ब्रह्मानन्दयोगी साक्षात् कर सर्वत्र ब्रह्म की उपासना करता है । पश्चात् शनैः शनैः इस जिज्ञासु को भी परब्रह्म की ओर ले जायेंगे । उन जिज्ञासुओं में भी जो ब्रह्मैश्वर्य को सर्वत्र निश्चित करने में समर्थ हो वह इस उपासना का अधिकारी नहीं । इससे फलित यह हुआ कि मन्दबुद्धि जिज्ञासु इस का अधिकारी है । शङ्कराचार्य भी इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं यथा "यद्यपि वह ब्रह्म दिग्देशकालादिभेदशून्य, सत् स्वरूप, एक, अद्वितीय है और यह परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है इसका निरूपण षष्ठ सप्तम में होगया है तथापि मन्दबुद्धि पुरुषों की बुद्धि, यह ब्रह्म दिग्देशादि भेद सहित है ऐसे विचार से ग्रसित होने के कारण शीघ्र परमार्थ विषय का ग्रहण नहीं कर सकती परन्तु ब्रह्मको न पाकर पुरुषार्थ की सिद्धि भी नहीं हो सकती इस हेतु इस ब्रह्मकी प्राप्ति के लिये हृदयपुण्डरीक देशका उपदेश कर्तव्य है । यहां ही पुनः शङ्कराचार्य कहते हैं कि वह परमार्थ ब्रह्म दिशा, देश, गुण, गति, फल और भेदशून्य है । और अद्वितीय है । परन्तु मन्दबुद्धियों को ऐसा प्रतीत नहीं होता । प्रथम ऐसे मनुष्य सन्मार्गस्थ होवें तब धीरे २ परमार्थ वस्तु (ब्रह्म) का भी ग्रहण करवाऊंगी ऐसा श्रुति मानती है" इस से यह सिद्ध हुआ कि मन्दबुद्धियों के लिये यह प्रकरण है ।

---

(१) यहां दहराकाश का अर्थ अति सूक्ष्म ब्रह्म होता है । वेदान्तशास्त्र के "दहर उत्तरेभ्यः" इस सूत्र से "अपि स्मर्यते" इस सूत्र पर्य्यन्त देखो ।

(२) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में इन सब प्रवाकों का अर्थ किया हुआ है देखो ।

ब्रह्मपुर–ईश्वर का पुर ग्राम। यहां ब्रह्मपुर शब्द से शरीर का ग्रहण है यद्यपि ईश्वर की वर्त्तमानता सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी उपासना सौकर्यार्थ इस मानुष शरीर के अभ्यन्तर हृदय के मध्य ब्रह्मध्यान का उपदेश किया गया है इस हेतु इस शरीर का नाम ब्रह्मपुर है। मुण्डक उपनिषद् ने भी इस शरीर को ब्रह्मपुर कहा है। यथा–(दिव्ये ब्रह्मपुरे०) इस दिव्य ब्रह्मपुर शरीर में आकाश में जैसे यह आत्मा प्रतिष्ठित है, दहर–अति सूक्ष्म का नाम दहर है इस स्थान को छोड़ अन्यत्र कहीं भी दशोपनिषदों में इस का प्रयोग नहीं है महानारायणोपनिषद् में इस का पाठ इस प्रकार है–"दहूं विपाप्मं वरं वेश्मभूतं···तत्रापि दहूं गगनं" छुरिकोपनिषद् में "दहरंपुण्डरीकेति" ऐसा पाठ है। पुण्डरीक–श्वेत कमल का नाम पुण्डरीक है। यह शब्द छान्दोग्य में तीनवार आया है। दो वार इस स्थल में और एकवार "तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" १। ६। ७ में। अर्थ–उस ब्रह्म के नेत्र दुष्टों के प्रति रक्त और शिष्टों के प्रति श्वेत हैं। बृहदारण्यक में भी एकवार आया है। यथा–"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथाऽऽपाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकम्" २। ३। ५॥ यथा—(तस्य ह एतस्य) यहां पुरुष की वासना के रूप का वर्णन है। उस इस पुरुष की वासना का यह रूप है कि कभी (यथा महारजनं वासः) जैसा महारजन=हरिद्रा से रंगा हुआ वस्त्र का रूप होता है वैसा ही स्त्र्यादि मनोभिलषित विषय संयोग से तादृश वासनारूप रंजनाकार चित्त की वृत्ति होती है जिससे वस्त्रादिवत् यह पुरुष रक्त कहलाता है। कभी (यथा आपाण्ड्वाविकम्) जैसा आपाण्डु=ईषत् श्वेत। आविक=मेषरोम से बना हुआ वस्त्र होता है तद्वत् कभी यथा (इन्द्रगोपः) जैसा इन्द्रगोप नामक (बहूटी) कीट रक्त होता है। (यथा अग्न्यर्चिः) जैसी अग्नि की ज्वाला होती है (यथा पुण्डरीकम्) जैसा श्वेत कमल होता है तद्वत् मनुष्य की वासनाओं के अनेक रूप होते हैं। अन्य आठों उपनिषदों में यह शब्द प्रायः नहीं आया है परन्तु पश्चात् यह शब्द बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। आजकल यावत्कर्म में पुण्डरीकाक्ष शब्द का उच्चारण होता है और उससे कर्मकाण्डी लोग सब पदार्थों की शुद्धि मानते हैं। जैसे–"यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरःशुचिः" जो पुण्डरीकाक्ष को स्मरण करता है वह बाहर और अभ्यन्तर से पवित्र होजाता है॥

तञ्चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ? सब्रूयात्॥ २॥

तम् । चेत् । ब्रूयुः । यद् । इदं । अस्मिन् । ब्रह्मपुरे । दहरम् । पुण्डरीकम् । वेश्म । दहरः । अस्मिन् । अन्तराकाशः । किम् । तत् । अत्र । विद्यते । यत् । अन्वेष्टव्यम् । यद् । वाव । विजिज्ञासितव्यम् । इति । सः । ब्रूयात् ॥ २ ॥

भाष्यम्–तञ्चेदिति । हृत्स्थं दहराकाशवाच्यं ब्रह्मोपदिशति । आचार्य्ये अश्रद्दधतोऽन्तेवासिनः केचिद् यदि तं प्रति ब्रूयुः कथयेयुः । हे आचार्य गुरो ! अस्मिन् ब्रह्मपुरे परिच्छिन्ने शरीरे यदिदं दहरं पुण्डरीकं सूक्ष्मं कमलम् । वेश्म गृहमस्ति । अस्मिंश्च यो दहरोऽन्तराकाशोऽस्ति ततोप्यल्पतर आकाशोस्ति । यथाभगवानुपदिशति । अस्मिन् दहराकाशे किं-तद्वस्तु विद्यते । यदन्वेष्टव्यम् । यद्वाव यदेव विजिज्ञासितव्यम् । इति यदि नाम दहरिमात्रे किमपि विद्यते किं तस्यान्वेषणेन विजिज्ञासनेन वा फलं स्यात् । अतो यदत्रान्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं वा न तेन किमपि प्रयोजनम् । यत एकतस्तु ब्रह्मपुरमेव तावत्परिच्छिन्नमल्पञ्च तत्रस्थं पुण्डरीकं ततोप्यल्पतरं तस्मादप्यन्तर्निविष्टं यद्वस्तुतदतिसूक्ष्मतमम् । किं स्यात्तस्यान्वेषणेन इत्थं स्वशिष्यैर्जिज्ञासुभिर्वाऽभिहितः स आचार्य्यो वक्ष्यमाणं वचनं ब्रूयात् ॥ २ ॥

अनुवादः–उस (पूर्वोक्त उपदेश देनेवाले आचार्य्यादि) से यदि कोई पूछे कि इस ब्रह्मपुरमें जो यह अल्प पुण्डरीक गृह है । और इसमें जो दहरअन्तराकाश है इस में कौन वह वस्तु है, जो अन्वेष्टव्य और जो विजिज्ञासनीय होवे । तब वह आचार्य्य कहे ॥ २ ॥

पदार्थः–पूर्वोक्त उपदेश सुन उस उपदेष्टा आचार्य में श्रद्धा वा विश्वास न रखते हुए कोई शिष्य आदि अथवा संदिग्ध पुरुष (तम्+चेत्) यदि उस उपदेष्टा से (ब्रूयुः) पूछे कि (अस्मिन्) इस (ब्रह्मपुरे) परमात्मा के पुर अर्थात् शरीर में (यदिदम्) जो यह (दहरम्) अल्प (पुण्डरीकम्) कमल सदृश (वेश्म) गृह है । और (अस्मिन्) इस पुण्डरीक गृह में जो (दहरः) सूक्ष्म (अन्तराकाशः) मध्यवर्ती आकाश है (अत्र) इस दहराकाश में (किं+तद्) कौनसी वह वस्तु (विद्यते) विद्यमान है (यद्+अन्वेष्टव्यम्) जो अन्वेष्टव्य और (यद्वाव) जो ही (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष रूप से विजिज्ञासनीय होवे । इस प्रकार जब शिष्यादि पूछे तब (सः+ब्रूयात्) वह उपदेष्टा वक्ष्यमाण वचन कहे इति ॥ २ ॥

भाष्याशयः—यदि इस शरीर में बदर (बेर) परिमाण कोई वस्तु है तो उसके अन्वेषण और जिज्ञासा से जिज्ञासा करनेवाले को क्या फल मिल सकता है इस हेतु उसमें जो अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य है उससे कुछ प्रयोजन नहीं क्योंकि एक तो यह ब्रह्मपुर ही परिच्छिन्न और अल्प है दूसरा तत्स्थ पुण्डरीक उससे भी अल्पतर है तीसरा तदन्तर्निविष्ट जो वस्तु है वह उससे भी अल्पतम है उसके अन्वेषण से क्या हो सकता है॥ २॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चास्येहास्ति यच्चनास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति॥ ३॥

यावान्। वै। अयम्। आकाशः। तावान्। एषः। अन्तर्हृदयः। आकाशः। उभे। अस्मिन्। द्यावापृथिवी। अन्तः। एव। समाहिते। उभौ। अग्निः। च। वायुः। च। सूर्याचन्द्रमसौ। उभौ। विद्युन्नक्षत्राणि। यत्। च। अस्य। इह। अस्ति। यत्। च। न। अस्ति। सर्वम्। तत्। अस्मिन्। समाहितम्। इति॥ ३॥

भाष्यम्—यावानिति। स आचार्यस्तान् संशयितान् एवं पृष्टवतो ब्रूयादिति यदुक्तं तदिह दर्शयति। यावान् यत्परिमाणमस्य यावान्। अयमाकाशः। भौतिक आकाशोऽस्ति। तावान्। तत्परिमाणमस्य तावान्। अन्तर्हृदय आकाशः। आकाशाख्यं ब्रह्म। नात्राकाशतुल्यपरिमाणत्वमभिप्रेत्य तावानित्युच्यते। किन्तर्हि। ब्रह्मणोऽनुरूपस्य दृष्टान्तान्तरस्याभावात् सोपमा। कथं पुनर्नाकाशसममेव ब्रह्मेत्यवगम्येत। "येनावृतं खञ्च दिवं महीञ्च"। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"। "तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश" इत्यादि श्रुतिभ्यो नाकाशसमत्वं ब्रह्मणः। किञ्च। अस्मिन्। अन्तराकाशाख्ये ब्रह्मणि। उभे द्यावापृथिवी। अन्तरेव अन्तर्वर्त्तित्वेनैव। समाहिते। सम्यगाहिते स्थिते। तथा उभौ। अग्निश्च वायुश्च। उभौ सूर्याचन्द्रमसौ। विद्युन्नक्षत्राणि च। एतत्सर्वं तदन्तर्वर्त्तिस्थितम्। यच्चास्यात्मन आत्मीयत्वेन देहवतोऽस्ति विद्यते। इहलोके तथा यच्चात्मीयत्वेन। न विद्यते। नष्टं भविष्यच्च नास्तीत्युच्यते। नत्वत्यन्तमेवासत्। तत्सर्वमस्मिन् समाहितम्। सम्यक् स्थितम्॥ ३॥

अनुवादः—वह "उन संदिग्ध पुरुषों से" कहे कि निश्चय जितना बड़ा यह आकाश है उतना बड़ा यह हृदयान्तर्वर्त्ती आकाश (ब्रह्म) है । दोनों द्युलोक और पृथिवी इसके अन्तर्मध्य समाहित (सम्यक् स्थित) हैं । दोनों अग्नि और वायु, दोनों सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत, नक्षत्र इसके मध्य समाहित हैं जो इस प्राणी के यहां है और जो नहीं है वे सब ही इसमें समाहित हैं ॥ ३ ॥

पदार्थः—वह उपदेष्टा आचार्य्य उन संदिग्ध जिज्ञासुओं से कहे कि (यावान्) जितना प्रमाण का (वै) निश्चय (अयम्) यह (आकाशः) भौतिक आकाश है (तावान्) उतना प्रमाण का (एषः) यह (अन्तर्हृदयः) हृदयान्तर्वर्ती (आकाशः) आकाशाख्य ब्रह्म है (अस्मिन्) इस आकाशाख्य ब्रह्म में (उभौ) दोनों (अग्निः+च+वायुः+च) अग्नि और वायु (उभौ) दोनों (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र (विद्युन्नक्षत्राणि) विद्युत् और नक्षत्र ये सब इसमें समाहित हैं (अस्य) इस साधक का (इह) इस लोक में (यच्च+अस्ति) जो है (यच्च+नास्ति) और जो नहीं है (तत+सर्वम्) सबही (अस्मिन्) इस आकाशाख्य ब्रह्म में (समाहितम्) अच्छे प्रकार से स्थित है इति ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—जितना बाह्य आकाश है उतना ही हृदयाभ्यन्तर आकाश कहा गया है । हृदयाभ्यन्तर आकाश का अर्थ यहां ब्रह्म है बाह्य आकाश की उपमा देने से ब्रह्म की परिच्छिन्नतारूप दोष होता है परन्तु ब्रह्म अपरिच्छिन्न है तब कैसे यह वर्णन किया गया है ?, उत्तर—यहां तावान् शब्द से आकाश तुल्य परिमाण का ग्रहण नहीं है । तब क्या है ? ब्रह्म के समान अन्य दृष्टान्त के अभाव होने के कारण यह बाह्याकाश का दृष्टान्त दिया गया है । पुनः शङ्का—आकाश के तुल्य ही ब्रह्म है ऐसा क्यों नहीं समझा जाय । उ०—क्योंकि सर्व वेदान्त सिद्धान्त यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके अल्पावयव समान है फिर आकाश परिमाणवत् ही ब्रह्म कैसे हो सकता है और कहा भी गया है (तस्माद्वा०) उस इस परमात्मा से आकाश का भी आविर्भाव होता है पुनः—"तस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" । बृ० ३ । ८ । ११ ॥ हे गार्गि ! उसी ब्रह्म में यह आकाश ओतप्रोत है । इस हेतु उपमा के अभाव के कारण आकाश से उपमा दी जाती है ॥ ३ ॥

तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैत(न)ज्जरावाऽऽप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

तम्। चेत्। ब्रूयुः। अस्मिन्। चेत्। इदम्। ब्रह्मपुरे। सर्वम्। समाहितम्। सर्वाणि। च। भूतानि। सर्वे। च। कामाः। यत्। एतत्। (एनत्)। जरा। वा। आप्नोति। प्रध्वंसते। वा। किम्। ततः। अतिशिष्यते। इति॥ ४॥

भाष्यम्-तञ्चेदिति। तमुपदिशन्तमाचार्यं पुनरप्यन्तेवासिनः सन्दिग्धाः सन्तः ब्रूयुः कथयेयुश्चेत्। किं ब्रूयुरित्याह। हे भगवन् आचार्य! चेद्यदि अस्मिन्ब्रह्मपुरे। ब्रह्मैवपुरं ब्रह्मपुरम्। नतु ब्रह्मणः पुरितिषष्ठीतत्पुरुषः। अस्य शरीरस्य सर्वाधिष्ठानत्वासम्भवात् अस्मिन् ब्रह्मपुरे अन्तराकाशाख्ये ब्रह्मणि यदि सर्वमखिलं समाहितं सम्यगाहितं स्थितं वर्तते। एतदेवपुनः प्रपञ्चयति। सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः। एतस्मिन् ब्रह्मपुरे यदि समाहिताः सन्ति। तर्हि। हे गुरो! यदा यस्मिन्काले। एनदेतत् शरीरं कर्तृ जरां वृद्धावस्थामाप्नोति प्राप्नोति। यद्वा। जरेति प्रथमान्तंपदं। यदा जरा जरावस्था एतच्छरीरं वा आप्नोति तदा प्रध्वंसत एवं। वा शब्द एवार्थः। ततः यदा किमतिशिष्यते। किमवशिष्यते। प्राप्तायां जरावस्थायां विध्वस्ते चास्मिन् शरीरे न कश्चिदवशेषोऽत्र दृश्यते। कथं तर्हि। वयं भगवद्वचनं प्रतीमः। घटाश्रितक्षीर दधिस्नेहादिवद् घट नाशेपि देहाश्रयमुत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वनाशान्नश्यतीत्यभिप्रायः। एवं प्राप्ते नाशे न किञ्चनावतिष्ठते॥ ४॥

अनुवादः-उस (उपदेश देते हुए आचार्य) से पुनरपि सन्दिग्ध शिष्य यदि पूछे कि हे भगवन् आचार्य्य! यदि इस ब्रह्मपुर में सब कुछ समाहित अर्थात् सम्यक्रूप से समावेशित है और सर्व प्राणियों (का ज्ञान) और सर्व काम समाहित हैं तो जब इसको (इस शरीर को) जरावस्था प्राप्त होती है तब विनष्ट ही हो जाता है तब इस में क्या रहजाता है अर्थात् कुछ नहीं रहता॥ ४॥

पदार्थः-(चेत्) यदि (तम्) उपदेष्टा आचार्य से (ब्रूयुः) संदिग्ध शिष्य जिज्ञासा करे कि (चेत्) यदि (अस्मिन्+ब्रह्मपुरे) इस ब्रह्मपुर अर्थात् विज्ञान में (सर्वं+समाहितम्) सब कुछ अच्छेप्रकार स्थित है (सर्वाणि च भूतानि) और सब प्राणी का ज्ञान (सर्वे च कामाः) सर्व कामनाएं सम्यग् प्रकारसे स्थित हैं तो (यदा) जब (जरा)

(१) एनदिति प्रामादिकः पाठो दृश्यते। लेखकभ्रमात् तकारस्य नकारो जात इति प्रतीयते। क्वचिज्जरतिप्रथमान्तं क्वचिद् द्वितीयान्तं पठ्यते। यदा जरा प्रथमान्ता तदा एनदिति साधु इतरथाऽसाधु इति विवेकः॥

वृद्धावस्था (एतत्) इस शरीर को (आप्नोति) प्राप्त होती है तो (प्रध्वंसतेऽवा) यह शरीर अवश्य ही नष्ट होजाता है (ततः) तब (किम्) क्या (अतिशिष्यते) अवशेष बाक़ी रहजाता है (इति) ॥ ४ ॥

भाष्याशयः-ब्रह्मपुर-यहां ब्रह्मपुर शब्द का अर्थ केवल ब्रह्म ही है । ब्रह्म का जो पुर वह ब्रह्मपुर ऐसा समास यहां नहीं करना चाहिये । क्योंकि यावत् पदार्थ ब्रह्म में स्थित है न कि शरीर में । और शिष्य को शङ्का इस हेतु है कि यदि ब्रह्म इस शरीर में है तो शरीर के नाश से उस पुण्डरीक का नाश उसके नाश से ब्रह्म के नाश का भी प्रसंग होजायगा ॥ ४ ॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

सः । ब्रूयात् । न । अस्य । जरया । एतत् । जीर्यति । न । वधेन । अस्य । हन्यते । एतत् । सत्यम् । ब्रह्मपुरम् । अस्मिन् । कामाः । समाहिताः । एषः । आत्मा । अपहतपाप्मा । विजरः । विमृत्युः । विशोकः । विजिघत्सः । अपिपासः । सत्यकामः । सत्यसङ्कल्पः । यथा । हि । एव । इह । प्रजाः । अन्वाविशन्ति । यथा । अनुशासनम् । यम् । यम् । अन्तम् । अभिकामाः । भवन्ति । यम् । जनपदम् । यम् । क्षेत्रभागम् । तम् । तम् । एव । उपजीवन्ति ॥ ५ ॥

भाष्यम्-स ब्रूयादिति । स उपदेष्टाचार्यः संदिग्धान् शिष्यान्प्रति पुनरपि ब्रूयात् । अस्य शरीरस्य जरया वार्द्धक्येन एतद्ब्रह्मपुरं न जीर्यति न जीर्णतां प्राप्नोति । अस्य शरीरस्य वधेन शस्त्रादिघातेन एतद्ब्रह्मपुरं न हन्यते न विनश्यति । यतः । एतद्ब्रह्मपुरं सत्यमविनश्वरं वर्त्तते । अस्मिन् सर्वे कामाः समाहिताः सन्ति । अधुना यस्य ब्रह्मण इयं पूरस्ति स कीदृगित्युच्यते । एष आत्मा परमात्मा । अपहतपाप्मा । अपहतो व्यपगतः पाप्मा पापं यस्मात् । सः । पुनः । विजरः । विगता जरा वार्द्धक्यं यस्मात् स विजरः । पुनः । विमृत्युः । विगतमृत्युः । विशोकः । विगतशोकः । विजिघत्सः । अत्तुमिच्छा जिघत्सा विगता जिघत्सा भोजनेच्छा यस्य

स विजिघत्सः । पुनः । अपिपासः पातुमिच्छा पिपासा । न विद्यते पिपासा पानेच्छा यस्य सः । पुनः । सत्यकामः । सत्या अविनश्वरा अपरिणामिनः कामा यस्य स सत्यकामः । सत्यसङ्कल्पः । सत्याः सङ्कल्पा यस्य सः । ईदृग् लक्षणोपेत आत्मा अस्मिन् ब्रह्मपुरे निवसति । सोऽन्वेष्टव्यः । स विजिज्ञासितव्यः । अत्र दृष्टान्तमाह । यथाह्येव हि यतः । यथैव इहास्मिन् लोके प्रजा राजानुशासनवर्तिन्यः प्रजाः । यथानुशासनम् । अनुशासनमतिक्रम्य यथानुशासनं । नृपाज्ञानुसारेण अन्वाविशन्ति अनुवर्त्तन्ते । यंयम् अन्तं प्रदेशं अभिकामा अधिकामाः । यस्य यस्य प्रदेशस्य प्रार्थिन्योभवन्ति तथा च यं जनपदं यं क्षेत्रभागञ्च अभिकामाः प्रार्थिन्योभवन्ति तं तमेव अन्तादिं नृपानुग्रहेण प्राप्योपजीवन्ति जीविकां निर्वाहयन्ति ॥ ५ ॥

अनुवादः–वह उपदेष्टा शिक्षक उन सन्दिग्ध शिष्यों से कहे कि इस (शरीर) की जरावस्था से यह जीर्ण नहीं होता इस के वध से इस का हनन नहीं होता । यह ब्रह्मपुर सत्य है इस में सब काम समाहित हैं । यह आत्मा पाप रहित, जरा रहित, विमृत्यु, विशोक, अशनेच्छा रहित, पिपासा रहित, सत्य काम और सत्य सङ्कल्प है जैसे ही यहां जो प्रजाएं राजा की आज्ञानुसार वर्त्तने वाली हैं वे जिस २ प्रदेश जिस जनपद और जिस क्षेत्र भाग की कामनाएं करती हैं उस उसी को पाकर जीविका निर्वाह करती हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः–(सः) वह उपदेष्टा शिक्षक (ब्रूयात्) उन संदिग्ध शिष्यों से कहे कि (अस्य) इस शरीर की (जरया) वृद्धावस्था से (एतत्) यह ब्रह्मपुर अर्थात् ब्रह्म (न+जीर्यति) जीर्ण नहीं होता (अस्य वधेन) इस के वध से (न+हन्यते) यह हत नहीं होता क्योंकि (एतद्+ब्रह्मपुरम्) यह ब्रह्मपुर=ब्रह्म (सत्यम्) सत्य अविनश्वर है (अस्मिन्) इस ब्रह्मपुर में (कामाः) कामनाएं (समाहिताः) सम्यक् प्रकार स्थित हैं । आगे यह कहा जाता है कि जो इस ब्रह्मपुर में निवास करता है वह कैसा है (एषः) यह अन्तराकाशाख्य ब्रह्म (आत्मा) सर्व व्यापक है (अपहतपाप्मा) अपहत विनष्ट व्यपगत है पाप जिस का अर्थात् विशुद्ध (विजरः) जरा अवस्था रहित (विमृत्युः) मृत्युरहित (विशोकः) जिस को शोक न हो (विजिघत्सः) जिस को खाने की इच्छा न हो (अपिपासः) जिसको पीने की इच्छा न हो (सत्यकामः) और जिस की कामनाएं कभी व्यर्थ न हों (सत्यसङ्कल्पः) जिस के सङ्कल्प भी सत्य ही हों ऐसा जो ब्रह्म है वही अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासनीय है । आगे ज्ञाता और अज्ञाता के फल का कथन होता है (इह)

इस लोक में (यथा+हि+एव) जैसे ही (प्रजाः) जो प्रजाएं (यथानुशासनम्) राजा की आज्ञानुकूल (अन्वाविशन्ति) चलनेवाली हैं वे प्रजाएं (यम्+यम्) जिस २ (अन्तम्) प्रदेश की (यं+जनपदम्) जिस २ जनपद की (यम्+क्षेत्रभागम्) जिस २ क्षेत्रभाग की (अभिकामाः) कामना करने वाली (भवन्ति) होती हैं (तम्+तमेव+उपजीवन्ति) उसी २ प्रदेशादि को राजा की कृपा से पाकर जीविका निर्वाह करती हैं ॥ ५ ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

तद् । यथा । इह । कर्मजितः । लोकः । क्षीयते । एवम् । एव । अमुत्र । पुण्यजितः । लोकः । क्षीयते । तद् । ये । इह । आत्मानम् । अननुविद्य । व्रजन्ति । एतान् । च । सत्यान् । कामान् । तेषाम् । सर्वेषु । लोकेषु । अकामचारः । भवति । अथ । ये । इह । आत्मानम् । अनुविद्य । व्रजन्ति । एतान् । च । सत्यान् । कामान् । तेषाम् । सर्वेषु । लोकेषु । कामचारः । भवति ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तदिति । पूर्वोक्तलक्षणं ब्रह्माचार्येभ्यः शास्त्रमननादिभ्यश्च ज्ञातव्यमित्यनया बुद्ध्यावेदितव्यम् । स्वाराज्यादिककामनया न ब्रह्मज्ञाने प्रवर्तितव्यम् । कथम् । सर्वेषां विनश्वरत्वात् । स्वयमेवोपनिषद् काम्योपासने दोषमाह दृष्टान्तेन । तत्तत्र तस्मिन् विषये इहास्मिल्लोके तासां नृपाज्ञानुसारिणीनां प्रजानाम् । कर्मजितः । कर्मभिः सेवादिरूपैर्व्यापारैर्जितः प्राप्तः । उपार्जितः । लोकः । सेवादिसंतुष्टेन नृपेण प्रदत्तोजनपदक्षेत्रभागादिरूपोभागो लोकः । गजतुरङ्ग हिरण्यरजतवित्तादिपुरस्कारोऽपि भोग्यहेतुत्वाल्लोकः।यथा येनप्रकारेण । क्षीयते गच्छत्सु कालेषु भोग्येन इतरैर्बहुभिः प्रकारैर्वा विनश्यति । एवमेव । यथायं दृष्टान्तस्तथैव । पुण्यजितः- पुण्यैरग्निहोत्रपरोपकारदानादिभिर्धर्मैः जितः । उपार्जितः । लोकः । भोगसाधनम् । कालेनक्षीयते । क्षयं प्राप्नोति । अग्रे विद्यावतामविद्यावताञ्च भोगविषयं दर्शयति । तत् तत्र । इह कर्मक्षेत्रे ।

ये। अविद्वांसः। आत्मानम् परमात्मानम्। अननुविद्य अज्ञात्वा। असाक्षात्कृत्वा। एतान् यथोक्तान् सत्यान् कामान् सत्यसंकल्पजनितान् स्वात्मस्थान् कामांश्च। अननुविद्य। अस्मात् स्थानाद्। व्रजन्ति। गच्छन्ति। तेषामविद्यावतां पुरुषाणां। सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति। प्रतिहतगतिर्भवति। इह चारश्चरणम्। कामं यथेच्छं चारः। कामचारः। न कामचारोऽकामचारः। अकामचारिता। अस्वतन्त्रता इति यावत्। अविदुषां न सर्वत्र सर्वे भोगाः सत्यसंकल्पान् समुत्तिष्ठन्तीत्यर्थः तद्विपरीतं विदुषां विषयं दर्शयति। अथ ये विद्यावन्तः। इह कर्मभूमौ। आत्मानं परमात्मानं अनुविद्य। सर्वेषुलोकेषु स्थितम्। यमनियमादि योगशास्त्रप्रदर्शितमार्गाभ्यासादनन्तरम्। आत्मनि। आत्मानं साक्षात्कृत्य। एतांश्च वक्ष्यमाणान् सत्यानवश्यंभाविनः कामांश्चविदित्वा इतो व्रजन्ति। तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। सर्वेषु भोग्येषु स्वतन्त्रता जायते तेषां सत्यसंकल्पादेव सर्वे भोगा उत्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति प्रथमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-वहां जैसे इस लोकमें कर्मों से प्राप्त (उपार्जित) लोक (भोगसाधन) क्षयको प्राप्त होता है। वैसा ही उस लोकमें पुण्योपार्जितलोक (भोगसाधन) क्षयको प्राप्त होता है। वहां जो इस लोकमें आत्माको और इन सत्यकामों को न जानकर यहां से प्रस्थान करते हैं। उन को सब लोकों में अकामचार (अस्वतन्त्रता) होती है और जो यहां आत्माको और इन सत्यकामों को जानकर यहां से प्रस्थान करते हैं उनका सब लोकों में कामचार (स्वतन्त्रता) होती है ॥ ६ ॥

पदार्थः-आचार्य और शास्त्र के मननादिद्वारा पूर्वोक्त लक्षण ब्रह्म ज्ञातव्य है उस बुद्धि से जाने किन्तु सुखादि कामना की इच्छा से ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि सब पदार्थ विनश्वर हैं और स्वयं उपनिषद् भी दृष्टान्त से काम्योपासना में दोष सूचित करती हैं (तत्) उस विषय में दृष्टान्त कहा जाता है (यथा) जैसे (इह) इस लोक में राजा की आज्ञा के अनुसार चलनेवाली प्रजाओं का (कर्मजितः) सेवादिरूप व्यापार से उपार्जित (लोकः) सेवादि से सन्तुष्ट नृपप्रदत्त जनपद क्षेत्रभागादि रूपभाग, गज तुरङ्ग हिरण्य रजत वित्तादि पुरस्कार भी यहां भोग्य होने के कारण लोक कहलाता है। अर्थात् नृप प्रदत्त भोग्य पदार्थ (क्षीयते) कुछ दिनों के अनन्तर भोग्य से अथवा अन्य प्रकार से क्षीण होजाता (एवमेव) इसी दृष्टान्त के समान (अमुत्र) परलोक में भी (पुण्यजितः) पुण्य अग्निहोत्र परोपकार दानादि धर्मों से जित=उपार्जित (लोकः) भोगसाधन क्षीण होता है। इसहेतु ब्रह्मकी उपासना निष्काम करे आगे विद्यावान् और अविद्यावान्

के भोगविषय को महर्षि दिखलाते हैं (तत्) उस विषय में यह कहा जाता है (इह) इस कर्मभूमि में (ये) जो अविद्वान् पुरुष (आत्मानम्) परमात्मा को (अननुविद्य) अच्छे प्रकार न जान (च) और (एतान्+सत्यान्+कामान्) इन सत्यकामनाओं को न जान (व्रजन्ति) इस स्थान से प्रस्थान करते हैं (तेषाम्) उन अज्ञानी पुरुषों को (सर्वेषु+लोकेषु) सब लोकों में (अकामचारः+भवति) स्वच्छन्दगमन नहीं होता है (अथ) और (ये) जो विद्यावान् पुरुष (इह) इस कर्मभूमि में (आत्मानम्) आत्मा को (एतान्+च+सत्यान्+कामान्) इन और सत्य कामनाओं को (अनुविद्य) जानकर (व्रजन्ति) यहां से प्रस्थान करते हैं (तेषाम्) उन विद्वानों को (सर्वेषु+लोकेषु) सर्व लोकलोकान्तरों में (कामचारोः+भवति) स्वच्छन्द गमन होता है । अर्थात् अस्वतन्त्र प्रजा जैसे राजनियम बद्ध होकर स्वच्छन्दतया कोई काम नहीं करसकती वैसे ही आत्मानभिज्ञ पुरुष स्वतन्त्रता को कभी प्राप्त नहीं होते और जैसे सम्राट् स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र भ्रमण कर सकता सकलकार्य को स्वतन्त्रतया कर सकता है । तद्वत् आत्मज्ञानी मुक्त जीव सर्वत्र भ्रमण कर सकता है ॥ ६ ॥

इति प्रथमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ १ ॥

सः । यदि । पितृलोककामः । भवति । सङ्कल्पाद् । एव । अस्य । पितरः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । पितृलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ॥ १ ॥

भाष्यम्—स यदीति । कथं विदुषांसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति विस्तरेण वक्तुमुपक्रमते । स परित्यक्तशरीरो मुक्तः पुरुषः । यदि पितृलोककामोभवति । पितरो जनकास्त एव आह्लादहेतुत्वेन भोग्यत्वाल्लोका उच्यन्ते । पितर एव लोकाः पितृलोकाः तेषु कामो मनोरथो यस्य सः । अयं भावः । पितृदर्शनाभिलाषी यदि स भवति । तर्हि । अस्य शुद्धसत्त्वस्य योगिनः । संकल्पादेव सङ्कल्पे एव पितरः । अनेक प्राक्तन जन्म सम्बन्धिनोऽपि जन्मदातारः । समुत्तिष्ठन्ति सम्यग् उपस्थिता भवन्ति । प्रत्यक्षवद् भासन्ते तस्य योगिनोऽन्तःकरणे । तेन पितृलोकेन पितृदर्शनजनितभोगेन सम्पन्नः समृद्धस्सन् । महीयते पूज्यते वर्द्धते । स्वसङ्कल्पस्यमहत्त्वमनुभवन् आत्मानं बहुमन्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—वह योगी यदि पितृलोकाभिलाषी होता है तो उसके सङ्कल्प से ही पितर उपस्थित होते हैं उस पितृलोक से सम्पन्न होकर वह पूजित होता है अर्थात् अपने महत्त्व का अनुभव करता है ॥ १ ॥

पदार्थः—(सः) वह योगी (यदि) यदि (पितृलोककामः) पितरों के दर्शन की कामनावाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्पमात्र से ही (पितरः+समुत्तिष्ठन्ति) पितरगण सम्यक् उपस्थित होते हैं (तेन+पितृलोकेन) उन पितरों से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमा का अनुभव करता है। भाव इस का यह है कि वह मुक्त योगी यदि समाधि दशा में ज्ञानी पुरुषों के दर्शन की अभिलाषा करे तो उस योगी के सङ्कल्प से ही विज्ञानी उसके मन में उपस्थित होते हैं। पिता आदि के नाम के कीर्तन से केवल प्रिय वस्तु सूचित करने का अभिप्राय है। परन्तु ऐसे अनेक ऐश्वर्य उन योगियों को सहजतया प्राप्त होते रहते हैं ॥ १ ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ २ ॥

अथ। यदि। मातृलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। मातरः। समुत्तिष्ठन्ति। तेन। मातृलोकेन। सम्पन्नः। महीयते ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति। सः। यदि मातृलोककामो भवति। मातर एव लोका मातृलोकास्तेषु कामो यस्य सः। शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

अनुवादः—वह यदि मातृदर्शनाभिलाषी होता है तो इसके सङ्कल्पमात्र से ही माताएँ सम्यक् उपस्थित होती हैं उस मातृलोक से सम्पन्न होकर अपने महिमा को अनुभव करता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (मातृलोककामः) माताओं के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (मातरः+समुत्तिष्ठन्ति) माताएं उपस्थित होती हैं (तेन+मातृलोकेन) उन माताओं से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ३ ॥

अथ । यदि । भ्रातृलोककामः । भवति । सङ्कल्पाद् । एव । अस्य । भ्रातरः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । भ्रातृलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ॥ ३ ॥

भाष्यम्--अथ यदिति । स यदि भ्रातृलोककामो भवति । भ्रातर एव लोका भ्रातृलोकास्तेषु कामो यस्य सः । शेषं पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अनुवादः--वह यदि भ्रातृदर्शनाभिलाषी होता है तो इसके सङ्कल्पमात्र से ही भ्राता उपस्थित होते हैं उस भ्रातृलोक से सम्पन्न होकर अपने महिमा को अनुभव करता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (भ्रातृलोककामः) भ्राता के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो अस्य इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (भ्रातरः+समुत्तिष्ठन्ति) भ्राता उपस्थित होते हैं (तेन+भ्रातृलोकेन) उन भ्राताओं से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमाका अनुभव करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥

अथ । यदि । स्वसृलोककामः । भवति । सङ्कल्पाद् । एव । अस्य । स्वसारः । समुत्तिष्ठन्ति । तेन । स्वसृलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ॥ ४ ॥

भाष्यम्--अथेति । स यदि स्वसृलोककामो भवति । स्वसार एव लोकाः स्वसृलोकास्तेषु कामो यस्य सः । शेषं पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अनुवादः--वह यदि स्वसृदर्शनाभिलाषी होता है तो इसके सङ्कल्प से ही स्वसाएं अर्थात् बहिनें उपस्थित होती हैं । उस स्वसृलोक से सम्पन्न होकर वह अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (स्वसृलोककामः) बहिनों के दर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (स्वसारः+समुत्तिष्ठन्ति) बहिनें उपस्थित होती हैं (तेन+स्वसृलोकेन) उस स्वसृलोक से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) पूज्य होता है यद्वा अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५ ॥

अथ। यदि। सखिलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। सखायः। समुत्तिष्ठन्ति। तेन। सखिलोकेन। सम्पन्नः। महीयते ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति। स यदि सखिलोककामो भवति। सखाय एव लोकाः सखिलोकास्तेषु कामो यस्य सः। शेषं पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अनुवादः-वह यदि सखिदर्शनाभिलाषी होता है तो इसके सङ्कल्प से ही सखा उपस्थित होते हैं। उस सखिलोक से सम्पन्न होकर वह अपने महिमा को अनुभव करता है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (सखिलोककामः) सखाओं के दर्शन की कामनावाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (सखायः+समुत्तिष्ठन्ति) सखा उपस्थित होते हैं (तेन+सखिलोकेन) उस सखिलोक से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) पूज्य होता है यद्वा अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ६ ॥

अथ। यदि। गन्धमाल्यलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। गन्धमाल्ये। समुत्तिष्ठतः। तेन। गन्धमाल्यलोकेन। सम्पन्नः। महीयते ॥ ६ ॥

भाष्यम्-अथेति। स यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति। गन्धश्च माल्यञ्च गन्धमाल्ये। गन्धमाल्ये एव लोकौ तयोः कामो यस्य सः। शेषं पूर्वव ॥ ६ ॥

अनुवादः-वह यदि गन्धमाल्यलोक की कामनावाला हो तो इसके सङ्कल्प से ही गन्ध और माल्य उपस्थित होते हैं। उन गन्धमाल्यों से सम्पन्न होकर वह अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ६ ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (गन्धमाल्यलोककामः) गन्ध और माला की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+

एव) सङ्कल्प से ही (गन्धमाल्ये+समुत्तिष्ठतः) गन्ध और माला उपस्थित होती हैं (तेन+गन्धमाल्यलोकेन) उन गन्धमालाओं से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ६ ॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ७ ॥

अथ । यदि । अन्नपानलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । अन्नपाने । समुत्तिष्ठतः । तेन । अन्नपानलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ॥ ७ ॥

भाष्यम्–अथेति । स यदि अन्नपानलोककामो भवति । अन्नपाने एव लोकौ तयोः कामो यस्य सः । शेषं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

अनुवादः–वह यदि अन्नपान दर्शन की कामना वाला हो तो इसके सङ्कल्प से ही अन्न और पान उपस्थित होते हैं । उस अन्नपान के दर्शन से सम्पन्न होकर वह अपने महिमा को अनुभव करता है ॥ ७ ॥

पदार्थः–(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (अन्नपानलोककामः) अन्नपान दर्शन की कामनावाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (अन्नपाने+समुत्तिष्ठतः) अन्न और पान उपस्थित होते हैं (तेन+अन्नपान-लोकेन) उस अन्नपान दर्शन से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्र लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥

अथ । यदि । गीतवादित्रलोककामः । भवति । सङ्कल्पात् । एव । अस्य । गीतवादित्रे । समुत्तिष्ठतः । तेनः । गीतवादित्रलोकेन । सम्पन्नः । महीयते ॥ ८ ॥

भाष्यम्–अथेति । अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति । गीतञ्च वादित्रञ्च गीतवादित्रे । गीतवादित्रे एव लोकौ तयोः कामो यस्य सः । शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

अनुवादः–वह यदि गीतवादित्र दर्शन की कामना वाला हो तो इसके संकल्प से ही गीतवादित्र उपस्थित होते हैं । उस गीतवादित्र लोक से सम्पन्न होकर वह अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ८ ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (गीतवादित्रलोककामः) गीत और वादित्र दर्शन की कामनावाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (गीतवादित्रे+समुत्तिष्ठतः) गीत और वादित्र=बाजा उपस्थित होते हैं (तेन+गीतवादित्रलोकेन) उस गीतवादित्र की प्राप्ति से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमाका अनुभव करता है ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ९ ॥

अथ। यदि। स्त्रीलोककामः। भवति। सङ्कल्पात्। एव। अस्य। स्त्रियः। समुत्तिष्ठन्ति। तेन। स्त्रीलोकेन। सम्पन्नः। महीयते ॥ ९ ॥

भाष्यम्-अथेति। अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति। स्त्रिय एव लोकास्तेषु कामो यस्य सः। शेषं पूर्ववत् ॥ ९ ॥

अनुवादः-वह यदि स्त्रीदर्शन की कामना वाला हो तो इस के सङ्कल्प से ही स्त्रियां दर्शन देती हैं। उस स्त्रीदर्शन से सम्पन्न होकर वह अपनी महिमा का अनुभव करता है ॥ ९ ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यदि) यदि (स्त्रीलोककामः) स्त्रीदर्शन की कामना वाला (भवति) होता है तो (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (स्त्रियः+समुत्तिष्ठन्ति) स्त्रियां दर्शन देती हैं (तेन+स्त्रीलोकेन) उस स्त्रीदर्शन से (सम्पन्नः) समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ ९ ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥ १० ॥

यम्। यम्। अन्तम्। अभिकामः। भवति। यम्। कामम्। कामयते। सः। अस्य। सङ्कल्पाद्। एव। समुत्तिष्ठति। तेन। सम्पन्नः। महीयते ॥ १० ॥

भाष्यम्-यं यमिति। स योगी यं यम्। अन्तं प्रदेशम्। अभिकामः अधिकामो भवति। यं यं कामञ्च कामयते। पूर्वोक्तव्यतिरेकेण यं यं काममभिलषते स सोऽभीष्टः प्रदेशः स स कामश्च। अस्य योगिनः सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥ १० ॥

इति द्वितीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवादः-वह योगी जिस २ प्रदेश की प्राप्ति के कामना वाला होता है और इन सबों के अतिरिक्त जो जो कामनाएं करता है वह २ सब ही इस के संकल्प से ही दर्शन देता है । उससे सम्पन्न हो अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ १० ॥

पदार्थः-(अथ) और वह योगी (यम्+यम्) जिस २ (अन्तम्) प्रदेश का (अभिकामः) कामना वाला (भवति) होता है (यम्) और उन पूर्वोक्त कामनाओं के अतिरिक्त जिस जिस कामना को करता है (सः) वह प्रदेश और वह कामना (अस्य) इस योगी के (सङ्कल्पात्+एव) सङ्कल्प से ही (समुत्तिष्ठति) दर्शन देती है (तेन+सम्पन्नः) उससे समृद्ध होकर (महीयते) अपने महिमा का अनुभव करता है ॥ १० ॥

इति द्वितीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाꣳसत्यानाꣳसता-मनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

ते । इमे । सत्याः । कामाः । अनृतापिधानाः । तेषाम् । सत्यानाम् । सताम् । अनृतम् । अपिधानम् । यः । यः । हि । अस्य । इतः । प्रैति । न । तम् । इह । दर्शनाय । लभते ॥ १ ॥

भाष्यम्-त इति । हृदयपुण्डरीके ब्रह्मणः स्थितिः । तस्मिन् द्यावापृथिव्यादीनां स्थितिरित्युक्तं प्रथमखण्डे । योह्युपासक एतद्ब्रह्म हृदयस्थं विजानाति तस्य सर्वे कामा हृदय एव प्राप्यन्ते । इममेव विषयं द्वितीयखण्डे "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति । तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते" इत्यादि वाक्यैर्विस्तरेणादर्शयत् । अत्र केचिच्छंकन्ते यदि हृदये सकलकामा लभ्येरन् तर्हि कथन्न सर्वेषां ते प्राप्ता भवन्ति । सर्वेषां हृदि हि ब्रह्मसमत्वात् । तेन । एवंविदो यथा प्राप्नुवन्ति । अनेवंविदोऽपि तथैव प्राप्नुयुः । इत्येवं प्रकारकविविधशङ्काः प्रत्याख्यातुं तृतीयखण्डमारभन्ते भगवन्त ऋषयः । अहो कष्टमिदं वर्तते । यत्स्वात्मस्थाः शक्यप्राप्ता अपि सत्यकामा जना न प्राप्नुवन्ति । तथाहि । यद्यपि आत्मस्थाः सर्वे कामाः सत्या एव सन्ति । तथापि इहासत्या इव दृश्यन्ते । किं कारणं तत्रे-त्युच्यते । ते पूर्वोक्ता इमे आत्मस्थाः । कामा मनोरथाः सत्याः सर्वदा स्थितिशीला नित्या अपि जनैर्न प्राप्यन्ते कुतः ? अनृतापिधाना अनृतं कुसंस्कारजनिता अविद्या । अपिधानमाच्छादनं

येषां ते अनृतापिधानाः असत्येनाच्छादिताः। बाह्यविषयेषु स्त्र्यन्नभोजनादिषु तृष्णा तन्निमित्तं च स्वेच्छाप्रचारत्वं मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वादनृतमित्युच्यते तन्निमित्ता सत्यानां कामानां हृदयस्थानामप्राप्तिर्भवति। इदमेवापिधानमतोऽजनास्तांस्तान् कामान् हृदयस्थानपि न प्राप्नुवन्ति। स्वयमेवर्षिः "अनृतापिधाना" इत्यस्य व्याख्यानं वेदयत्युत्तरपदैः। सतामात्मनि वर्तमानानाम् तेषां सत्यानां तेषां नित्यानां कामानामनृतं मिथ्याज्ञानम्। अपिधानमाच्छादनमप्राप्तिरित्यर्थः। अपिधानमिवापिधानम्। अस्य अनृतापिधानैः सत्यैः कामैर्युक्तस्य पुरुषस्य। इतोऽस्मात् स्थानात् यो यो बन्धुरिष्टः माता पिता अन्यः प्रियतमः कश्चिद्वा। प्रैति देहं परित्यज्य लोकान्तरं गच्छति। तमिष्टं पुत्रं भ्रातरं मातरं वा स्वहृदयाकाशे विद्यमानमपि इहास्मिन् बाह्ये लोके दर्शनाय पुनर्द्रष्टुमिच्छन्नपि न लभते। तस्य २ दर्शनं न प्राप्नोति। अनृतापिधानत्वात्। इति त्वविदुषां फलं प्रदर्शितमग्रे विद्वत्फलं दर्शयिष्यति ॥ १ ॥

अनुवादः—वे ये काम सत्य होने पर भी अनृत से ढके हुए हैं। अर्थात् (आत्मामें) विद्यमान इन सत्यकामों का अनृत (अविद्या) अपिधान (ढकना) है इसहेतु इस (पुरुष) का जो जो यहां से (शरीर त्यागकर) परलोक को जाता है। यहां उसको दर्शन के लिये नहीं पाता है ॥ १ ॥

पदार्थः—यद्यपि आत्मस्थ सकल काम सत्य ही हैं तथापि ये कहीं २ अनृत देख पड़ते हैं इसका क्या कारण है सो आगे दर्शाया जाता है (ते) वे सर्व आत्मस्थ (इमे) ये (कामाः) मनोरथ (सत्याः) सत्य ही हैं तथापि सब को प्राप्त नहीं होते। क्यों ? सो आगे कहते हैं। (अनृतापिधानाः) अनृतरूप ढकने से ढके हुए हैं इसीलिये हृदय में सब काम रहते हुए भी सब मनुष्य नहीं प्राप्त करते। "अनृतापिधान" शब्द का स्वयं अर्थ ऋषि करते हैं (सताम्) सब के हृदयों में वर्त्तमान (तेषाम्+सत्यानाम्) उन सत्यकामनाओं का (अनृतम्) कुसंस्कारजनित अविद्या ही (अपिधानम्) आच्छादन=ढकना है इसी हेतु वे सत्यकाम सबों को प्राप्त नहीं होते। किस प्रकार अनृतापिधान निमित्त उन कामनाओं का लाभ नहीं होता सो आगे कहते हैं (हि) उसी को दिखलाते हैं (अस्य) अनृतापिधान सत्य कामों से युक्त इस पुरुष का (इतः) इस लोक से (यः+यः) जो जो पुत्र भ्राता पिता माता इष्ट बन्धु बांधव (प्रैति) प्राण त्यागकर लोकांतर में जाता है (तम्) उस उस गये हुए पुरुष को हृदयाकाश में वर्त्तमान रहने पर भी (दर्शनाय) दर्शनार्थ इच्छा करता हुआ भी उनका दर्शन (न) नहीं (लभते) पाता है ॥ १ ॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

अथ । ये । च । अस्य । इह । जीवाः । ये । च । प्रेताः । यत् । च । अन्यत् । इच्छन् । न । लभते । सर्वम् । तत् । अत्र । गत्वा । विन्दते । अत्र । हि । अस्य । एते । सत्याः । कामाः । अनृतापिधानाः । तत् । यथा । अपि । हिरण्यनिधिम् । निहितम् । अक्षेत्रज्ञाः । उपरि । उपरि । सञ्चरन्तः । न । विन्देयुः । एवम् । एव । इमाः । सर्वाः । प्रजाः । अहः । अहः । गच्छन्त्यः । एतम् । ब्रह्मलोकम् । न । विन्दन्ति । अनृतेन । हि । प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति । हृदयस्थसत्यकामानां विज्ञातुः फलं दर्शयति । अथ पुनः । अस्य विद्यावतः सम्बन्धिनां मातृपितृपुत्रेष्टप्रभृतीनां जनानां मध्ये । ये च ये जनाः । इह अस्मिन् लोके । जीवा जीवन्तीति जीवा जीवन्तः पुरुषाः । येच प्रेताः येच पञ्चत्वं गताः प्र= प्रकृष्टं दूरं स्वनिकटाद्दूरम् । इता गता इति प्रेताः प्रपूर्वकादितेः क्तः । प्रयन्ति इमं देहं त्यक्त्वा प्रव्रजन्तीति प्रेताः । मृता इत्यर्थः । यच्चान्यद् पूर्वोक्तादन्यदपि वस्त्रान्नपानाद्यभीष्टं वस्तु । इच्छन् तेषां दर्शनं कामयमानोऽपि । इह बाह्ये लोके न लभते दर्शनं न प्राप्नोति । तत्सर्वं तदखिलमिष्टं पितृमात्रादिकंवस्तु । अत्र दहराकाशाख्ये ब्रह्मणि गत्वा निकटं प्राप्य विन्दते । यथोक्तेन विधिना लभते । हि यतः अत्र अस्मिन् हार्दाकाशे । अस्य पुरुषस्य एते सत्याः कामा अनृतापिधानाः सन्ति । तानेव ज्ञानाऽऽलोकेन अनृतापिधानमन्धकारं दूरीकृत्य ज्ञानिनः प्राप्नुवन्ति । कथमिव तदन्याय इति दृष्टान्तेनाह । तत्तत्र तस्मिन् विषये । यथा अक्षेत्रज्ञाः न क्षेत्रं जानन्तीति अक्षेत्रज्ञाः स्वकीयस्यैव क्षेत्रस्य अज्ञाः । उपर्य्युपरि संचरन्तः अपि क्षेत्रस्य उपर्य्युपरि कर्षणादिव्यापारं कुर्वन्तोऽपि पुरुषाः । निहितं स्वक्षेत्रे अन्तर्हितम् । हिरण्यनिधिं हिरण्यमेव निधिः हिरण्योपलक्षितपृथिवीस्थ विविधाऽऽकरमित्यर्थः । न विन्देयुः न लभेरन् नाप्नुवन्तीत्यर्थः । एवमेव । यथायं दृष्टान्तस्तथैव इमा अविद्यावत्यः सर्वाः अखिलाः प्रजाजनाः । अहरहः प्रत्यहम् । एतं सर्वत्र विद्यमानं ब्रह्मलोकम् ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोक-

स्तम् । गच्छन्त्यो लभमानाः । ब्रह्मणः सर्वत्र विद्यमानत्वात् सर्वयोगोस्तीत्यभिप्रायः । इत्थं प्रत्यहं ब्रह्मयोगं लभमाना अपि इमा जना एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति । न प्राप्नुवन्ति । हि यस्मात्कारणात् । अनृतेन मिथ्याज्ञानेन हार्दं ब्रह्माऽजानन्त्यः प्रजाः प्रत्यूढाः हृताः सन्ति । अविद्यादिदोषैर्बहिरपकृष्टाः सन्ति । अतः कष्टमिदं वर्तते जन्तूनां यत्स्वायत्तमपि ब्रह्म न लभ्यत इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

अनुवादः-और इस विद्वान् के सम्बन्धिक जो यहां जीवित और जो मृत होगये हैं। और जो कुछ अन्य वस्तु प्राप्त करने की अभीष्ट है इन सबों को प्राप्ति की इच्छा करता हुआ भी जिनको वह विद्वान् इस बाह्य जगत् में नहीं पाता है। उस सबको यहां (दहराकाशाख्य ब्रह्म के निकट) जाकर पाता है क्योंकि इसके ये सब सत्यकाम इस ब्रह्म में वर्त्तमान हैं परन्तु अनृतापिधान होने से प्राप्त नहीं होते (इस विषय में दृष्टान्त कहा जाता है) जैसे अक्षेत्रज्ञ पुरुष, खेतके ऊपर २ जोतना बोना आदि व्यापार करते हुए भी अपने क्षेत्र में निहित हिरण्यकोश को नहीं पाते हैं। इसी प्रकार ये सब प्राणी दिन २ ब्रह्म के निकट जाते हुए भी इस ब्रह्मलोक को नहीं पाते हैं। क्योंकि ये असत्य से (हृत) आच्छादित हैं ॥ २ ॥

पदार्थः-हृदयस्थ सत्यकामों को जानने वाले का फल कहते ह (अथ) और (अस्य) इस विद्यावित् पुरुष के (ये+च) जो सम्बन्धिक इष्ट मित्र पुत्र भार्य्या माता पिता आदिक (इह) इस लोक में (जीवाः) जीते हुए हैं (ये+च) और जो (प्रेताः) मर गये हैं (यत्+च+अन्यत्) और जो कुछ इन दोनों के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं उन सबों को (इच्छन्) इच्छा करता हुआ भी वह विद्वान् (न+लभते) जिन को इस लोक में नहीं पाता है (तत्सर्वम्) उस सब को (अत्र) इस हृदयकमलस्थ ब्रह्म के निकट (गत्वा) जाकर अर्थात् हृदयस्थ ब्रह्म के निकटस्थ होकर (विन्दते) पाता है। यदि ब्रह्म सर्व सम्बद्ध है तो सब स्थान सब काल में सबों को सब कामनाएं प्राप्त होनी चाहिये परन्तु सो नहीं होता। इसका कारण आगे कहा जाता है (हि) क्योंकि (अत्र) इस ब्रह्मलोक में (अस्य) इस विद्वान् पुरुष के (एते+सत्याः+कामाः) ये सत्यकामनाएं वर्तमान हैं और जानने पर प्राप्त करते हैं परन्तु (अनृतापिधानाः) वे सत्यकाम अनृत=अविद्यारूप पात्र से ढके हुए हैं यहां पर दृष्टान्त कहाजाता है (तत्) इस विषय में (यथा) जैसे (अक्षेत्रज्ञाः) अपने खेत को अच्छेप्रकार से नहीं जाननेवाले और (उपरि+उपरि+संचरन्तः) ऊपर २ जोतना बोना आदि व्यापार करतेहुए गृहस्थ (निहितम्) अपने खेत के

भीतर गड़े हुए (अपि) भी (हिरण्यनिधिम्) सुवर्णकोश को (न+विन्देयुः) नहीं पाते हैं (एवमेव) वैसे ही (इमाः+सर्वाः+प्रजाः) ये सब प्रजाएं (अहः+अहः) दिन २ (गच्छन्त्यः) ब्रह्म के समीप जाती हुई भी (एतम्+ब्रह्मलोकम्) इस ब्रह्म के दर्शन को (न+विन्दन्ति) नहीं पाती हैं (हि) क्योंकि ये प्राणी (अनृतेन) अविद्या से (प्रत्यूढाः) प्रतिहृत ढके हुए हैं ॥ २ ॥

भाष्याशयः–उपासकों के प्ररोचनार्थ यह वर्णन है । यदि विज्ञानदृष्टि से देखो तो सर्वव्यापी ब्रह्म से सबों का तुल्य रूप से सम्बन्ध है । सम्बन्ध में तो सन्देह नहीं परन्तु अस्मदादिकों को अनुभव नहीं होता । योगियों को होता है । हृदय में ध्यान करने से साधक अन्तर्दृष्टि होना आरम्भ होता है जब उस में दृढ़ता को प्राप्त होता है तब वहां ही सर्वानन्द का अनुभव करता है । यह विषय योगशास्त्रगम्य है, इस हेतु यहां इस विषय का विशेष वर्णन नहीं करते हैं ॥ २ ॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति * ॥ ३ ॥

सः । वै । एषः । आत्मा । हृदि । तस्य । एतत् । एव । निरुक्तम् । हृदि । अयम् । इति । तस्मात् । हृदयम् । अहः । अहः । वै । एवंवित् । स्वर्गम् । लोकम् । एति ॥ ३ ॥

भाष्यम्–स इति । स वै एष आत्मा परमात्मा हृदि हृदय एव वर्तते । तस्य हृदयस्य । एतदेव निरुक्तं निर्वचनविद्यते । हृदि अयमात्मा वर्तत इति यस्मात्तस्माद्धृदयम् । हृदयनाम-निर्वचनप्रसिद्ध्यापि स्वहृदये आत्मेत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः । एवंवित् पुरुषः । अहरहर्वै । प्रत्यहमेव स्वर्गं लोकं ब्रह्मलोकम् । एति गच्छति विन्दते । स्वर्गं सुखं सुखधाम ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः–निश्चय सो यह आत्मा (परमात्मा) हृदय (हृदय पुण्डरीक) में है । उसका यही निरुक्त (निर्वचन=शब्दार्थ) है । हृदय में यह आत्मा है उस हेतु "हृदयम्" यह नाम है । अतः एवंविद् पुरुष प्रतिदिन ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

* एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳ "हृदय" मिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद । द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद । यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ बृ० उ० ५ । ३ । १ ॥

पदार्थः—(वै) इसमें निश्चय ही है कि (सः+एषः+आत्मा) सो यह आत्मा परमात्मा (हृदि) हृदय कमल में है। क्योंकि हृदय शब्द का अर्थ भी यही है सो आगे कहते हैं (तस्य) उस हृदय का (एतदेव) यही (निरुक्तम्) निर्वचन=शब्द व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दार्थ है। क्या है, सो कहते हैं (हृदि) हृदय में (अयम्) यह परमात्मा जिस कारण है (तस्मात्) उस हेतु (हृदयम्) हृदयम् कहलाता है। अतः (एवंवित्) ऐसा जानने वाला विद्वान् (अहः+अहः+वै) निश्चय दिन दिन (स्वर्गम्+लोकम्) सुख-धाम ब्रह्मरूप लोक को (एति) प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥ ४ ॥

अथ। यः। एषः। सम्प्रसादः। अस्मात्। शरीरात्। समुत्थाय। परम्। ज्योतिः। उपसम्पद्य। स्वेन। रूपेण। अभिनिष्पद्यते। एषः। आत्मा। इति। ह। उवाच। एतद्। अमृतम्। अभयम्। एतद्। ब्रह्म। इति। तस्य। ह। वै। एतस्य। ब्रह्मणः। नाम। सत्यम्। इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथ य इति। सम्प्रसादः। सम्प्रसीदतीति सम्प्रसाद आत्मा। आचार्य्यतः शास्त्रतश्च संस्कृत आत्मा प्रत्यहं सता सम्पन्नःसन् सम्यक् सर्वदा सर्वत्रैव प्रसन्नःसन्नेव तिष्ठति। अतो विदुषामात्मा सम्प्रसाद इत्युच्यते। अथ य एषः सम्प्रसादः। विदुषामात्मा वर्तते। सः। अस्मात् शरीराद्देहात्। समुत्थाय। इदं शरीरं त्यक्त्वा। परंज्योतिः। परमात्माख्यमनुत्तमं प्रकाशम्। उपसम्पद्य। प्राप्य। स्वेन रूपेण सह वर्त्तमानः सन्। अभिनिष्पद्यते। तस्मिन्नेव परमे ब्रह्मणि अभितो विचरति। हे शिष्याः! एष आत्मा परमात्मास्ति। यत्रायंजीवात्मा। परमानन्दं लभते। इति होवाच कारुणिक उपदेष्टाऽऽचार्यः। साधनाय अदृश्यस्य परमात्मनः केनापि नामधेयेन भवितव्यमित्यतस्तस्यनामाह। हे शिष्याः! यदेतद्। अमृतम्। विमृत्यु। एतद्। अभयम्। एतद्। ब्रह्मास्ति तस्य ह वै एतस्य ब्रह्मणो नाम। नामधेयम्। सत्यम्। इति वर्त्तते ॥ ४ ॥

अनुवादः—जो यह सम्प्रसाद (जीवात्मा) है वह इस शरीर से उठकर परज्योति को प्राप्त हो निजरूप से उसके अन्तर चारों ओर विचरण करता है। हे शिष्यो! यह आत्मा (परमात्मा) है जिसमें सम्प्रसाद आनन्द को पाता है। पुनः आचार्य बोले। यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है। उस इस ब्रह्मका निश्चय सत्य नाम है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (यः) जो (एषः) यह (सम्प्रसादः) जीवात्मा है वह (अस्मात्+शरीरात्) इस शरीरसे (समुत्थाय) उठकर अर्थात् इस शरीर को त्यागकर (परम्+ज्योतिः) परमात्माख्य प्रकाश के (उपसम्पद्य) सान्निध्य को पा (स्वेन रूपेण) निजरूप से वर्त्तमान रहता हुआ (अभिनिष्पद्यते) उस परमात्मा के अभ्यन्तर अभि=चारों तरफ विचरण करता है। हे शिष्यो (एष) यही (आतमा) परमात्मा है (इति+ह+उवाच) इतना उपदेश दे पुनः आचार्य बोले हे शिष्यो! (एतद्+अमृतम्) यह अमृत है (अभयम्) यह अभय है (एतद्+ब्रह्म+इति) यही ब्रह्म है (तस्य+वै+एतस्य) निश्चय उस इस ब्रह्म का (नामसत्यम्) नाम सत्य है ॥ ४ ॥

तानि हवा एतानि त्रीण्यक्षराणि "सतिय मिति" तद्यत् "सत्" तदमृतमथ यत् "ति" तन्मर्त्यमथ यत् "यम्" तेनोभे यच्छति। यदनेनोभे यच्छति तस्माद् "यम्" अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति * ॥ ५ ॥

तानि। ह। वै। एतानि। त्रीणि। अक्षराणि। स। ति। यम्। इति। तद्। यत्। सत्। तद्। अमृतम्। अथ। यद्। ति। तत्। मर्त्यम्। अथ। यत्। यम्। तेन। उभे। यच्छति। यद्। अनेन। उभे। यच्छति। तस्मात्। यम्। अहः। अहः। वै। एवंविद्। स्वर्गम्। लोकम्। एति ॥ ५ ॥

भाष्यम्-तानीति। तानि ह वै एतानि ब्रह्मणो नामाक्षराणि त्रीणि वर्तन्ते। सतियमिति। सकारस्तकारोयमिति इकारस्तकारे उच्चारणार्थोऽनुबन्धः ह्रस्वेनैवाक्षरेण पुनः प्रतिनिर्देशाच्चेषाम्। तत् तत्र। यत्। सत्। सकारः तदमृतम्। स सद्ब्रह्म। अमृतवाचकत्वादमृत एवं सकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः। यत् ति तकारः। तन्मर्त्यम्। अथ यद् यमक्षरमस्ति। तेनाक्षरेण अमृतमर्त्याख्ये पूर्वे उभे अक्षरे। यच्छति। यमयति। नियमयति। आत्मना वशीकरोतीत्यर्थः। यद्यस्मादनेन यमित्येतेनोभे अक्षरे यच्छति। तस्माद् " यम् " निगद्यते। यच्छति नियच्छतीतियम्। एवंविद्। अहरहर्वै प्रत्यहं वै। स्वर्गं लोकमेति ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति तृतीयखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

*....ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ "सत्य"मिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतम् तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैनं विद्वाꣳस मनृतꣳ हिनस्ति ॥ बृ० ५। ५। १ ॥

अनुवाद:-ब्रह्म के सत्यनाम के तीन अक्षर हैं। स+त+यम् । जो सत् सकार है वह अमृत है । और जो ति तकार है वह मर्त्य है । जो य यम् है उससे दोनों को अपने वश करता है जिस हेतु य अक्षर से दोनों संयत नियमबद्ध होते हैं । अतः यम् उसका नाम है । एवंविद् पुरुष निश्चय प्रतिदिन स्वर्गलोक (ब्रह्म) को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थ:-ब्रह्म के "सत्य" नाम के (तानि+ह+वै) अति प्रसिद्ध वे (एतानि) ये (त्रीणि+अक्षराणि) तीन अक्षर हैं (सतियमिति) स=सकार, ति=तकार और यम् (तत्) उन तीनों अक्षरों में (यद्) जो (सद्) सकार अक्षर है (तद्+अमृतम्) वह अमृत है (अथ) और (यत्+ति) जो ति=तकार अक्षर है (तत् + मर्त्यम्) वह मर्त्य है (अथ) और (यद्+यम्) जो "यम्" अक्षर है (तेन) उस यम् अक्षर से (उभे) पूर्वोक्त दोनों अक्षरो को (यच्छति) यह नाम अपने वश में करता है (तस्माद्) उस हेतु (यम्) "यम्" कहलाता है । अतः (एवंविद्) ऐसा जानने वाला (अहः+अहः+वै) निश्चय प्रतिदिन (स्वर्गम्+लोकम्) स्वर्गलोक को अर्थात् सुखस्वरूप ब्रह्म को (एति) प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भाष्याशय:-सत्य-इस शब्द में "स+त + य" ये तीन अक्षर हैं मूल में कहा गया है कि "स" इस अक्षर का अर्थ अमृत, "त" अक्षर का मर्त्य और "य" अक्षर का वश करनेवाला अर्थ है यहां पर ऐसा प्रतीत होता है कि सकार अक्षर से जीवात्मा का और तकार अक्षर से प्रकृति का ग्रहण है यद्यपि प्रकृति भी अमृतस्वरूप है मर्त्य नहीं । तथापि उसके सकल महदादि कार्य परिवर्तनशील और आविर्भाव तिरोभाव को प्राप्त होते रहते हैं और प्रकृतिरूप बीज का ही यह सम्पूर्ण विश्व दीखता है जो अवश्य विनश्वर है । इसहेतु गौण अर्थ में यहां प्रकृति को मर्त्य कहा गया है । जीवात्मा और प्रकृति को जो अपने वश में रखता है उसे सत्य कहते हैं । "यम्" धातु से "य" सिद्ध हुआ है "स" अमृत जीवात्मा "त" परिवर्तनशील प्रकृति इन दोनों को जो "य" अपने नियम में रखने वाला है उसे "सत्य" कहते हैं । मूल में "सत्" में तकार और "ति" में इकार उच्चारण मात्र के लिये कहा गया है और "यम्" अक्षरमें "म" यह विभक्ति का चिह्न है ॥५॥ इति तृतीयखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥३॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ❀ ॥ १ ॥

अथ । यः । आत्मा । सः । सेतुः । विधृतिः । एषाम् । लोकानाम् । असम्भेदाय । न । एतम् । सेतुम् । अहोरात्रे । तरतः । न । जरा । न । मृत्युः । न । शोकः । न । सुकृतम् । न । दुष्कृतम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरं य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोक इत्येवंविधपूर्वोक्तविशेषणयुक्तो य आत्मास्ति स पुनः कीदृशोऽस्तीति भण्यते । स आत्मा एषां लोकानां सेतुः । सेतुरिव सेतुः । पुनः । विधृतिः । विधरणः धर्ता इत्यर्थः । ईश्वरेणाध्रियमाणमिदं विश्वं विनश्येदत एव स एव ईश्वरः सेतुर्विधृतिश्चैतेषामुच्यते । किमर्थम् ? । एषां लोकानाम् । असम्भेदाय अविदारणाय । अविनाशायेत्यर्थः । किंविशिष्टश्चासौ सेतुरित्याह । एतं सेतुमहोरात्रे न तरतः न प्राप्नुतः । न जरा, न मृत्युः, न शोकः, न सुकृतं धर्मः । न दुष्कृतमधर्मः । एतत्सर्वमेतं सेतुं न तरतीत्यन्वयः ॥ १ ॥

अनुवादः—अनन्तर जो आत्मा (पूर्वोक्त विशेषणयुक्त) है वह इन लोकलोकान्तरों के अविनाशार्थ सेतु और धर्त्ता है । इस सेतु को अहोरात्र प्राप्त नहीं करते और न जरा, न मृत्यु, न शोक, न सुकृत, न दुष्कृत ॥ १ ॥

पदार्थः—(अथ) और (यः+आत्मा) जो आत्मा पूर्व प्रकरण में अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोकादि विशेषण युक्त कहा गया है (सः+आत्मा) वह आत्मशब्दवाच्य ईश्वर (एषाम्+लोकानाम्) इन लोकलोकान्तरों के (असम्भेदाय) अविनाश के लिये (सेतुः) सेतु सदृश है और विधृति विधारण अर्थात् धारण करने वाला है । भाव यह है कि यदि ईश्वर इस जगत् को धारण न करे तो तत्काल यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विनष्ट होजाय इस कारण इस संसार की रक्षा के लिये ब्रह्म ही सेतु और विधृति है । आगे सेतु का विशेषण कहते हैं (एतम्+सेतुम्) इस सेतु को (अहोरात्रे) दिन और रात (न+तरतः) प्राप्त नहीं कर सकते । और (न+जरा) न जरावस्था (न+मृत्युः) न मृत्यु (न+शोकः) न शोक (न+सुकृतम्) न धर्म (न+दुष्कृतम्) और न अधर्म इस सेतु को प्राप्त कर सकते ॥ १ ॥

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकस्तस्माद्वा एतꣳसेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः

* एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति ॥ बृ० ४ । ४ । २२ ॥

सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति। तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते। सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः॥ २॥

सर्वे। पाप्मानः। अतः। निवर्त्तन्ते। अपहतपाप्मा। हि। एषः। ब्रह्मलोकः। तस्माद्। वै। एतम्। सेतुम्। तीर्त्वा। अन्धः। सन्। अनन्धः। भवति। विद्धः। सन्। अविद्धः। भवति। उपतापी। सन्। अनुपतापी। भवति। तस्माद्। वै। एतम्। सेतुम्। तीर्त्वा। अपि। नक्तम्। अहः। एव। अभिनिष्पद्यते। सकृद्विभातः। हि। एव। एषः। ब्रह्मलोकः॥ २॥

भाष्यम्-सर्वे पाप्मान इति। अतोऽस्मादात्मनः। सर्वे पाप्मानः सर्वाणि पापानि निवर्त्तन्ते। हि यतः। एष ब्रह्मलोकः। ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः। अपहतपाप्मा अपहताः पाप्मानः पापानि यस्य सः। तस्माद्धेतोः। वै निश्चितम् एतं सेतुं आत्माख्यंसेतुं तीर्त्वा प्राप्य अन्धस्सन् अनन्धो भवति। देहवत्त्वे पूर्वमन्धोऽपि सन् आत्मानं प्राप्य तं द्रष्टुं नेत्रवान् भवति। विद्धः सन् देहवत्त्वे पीडितः सन्नपि देहवियोगे सति सेतुमात्मानं प्राप्य अविद्धो-भवति। तथा देहावस्थायामुपतापी रोगाद्युपतापवान् सन् अनुपतापी भवति त्रिविधतापरहितो भवति। यस्मादीदृश आत्माऽस्ति तस्माद्वै। एतं सेतुं तीर्त्वा प्राप्य। नक्तमपि रात्रिरपि। अहरेव दिनमेव। अभिनिष्पद्यते भवतीत्यर्थः। विज्ञानात्मज्योतिःस्वरूपमहरिवाहः सदैकरूपं विदुषः सम्पद्यत इत्यर्थः। हि यतः। एष ब्रह्मलोकः। ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोकः। सकृद्विभातः। सदा विभातः। सदैकरूपएवेत्यर्थः॥ २॥

अनुवादः-यहां से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि यह ब्रह्म अपहतपाप्मा है। इसी हेतु इस सेतु (ब्रह्म) को पाकर अन्ध अनन्ध हो जाता है। पीड़ित अपीड़ित होता है। उपतापी अनुपतापी होता है। इसी हेतु इस सेतु को पाकर रात्रि भी दिन ही हो जाती है। क्योंकि यह ब्रह्म सदा प्रकाशस्वरूप ही है॥ २॥

पदार्थः-(अतः) इस पूर्वोक्त लक्षणयुक्त आत्मा से (सर्वे) सब (पाप्मानः) पाप (निवर्त्तन्ते) निवृत्त होजाते हैं (हि) क्योंकि (एषः+ब्रह्मलोकः) यह ब्रह्म (अपहतपाप्मा) पाप रहित है (तस्माद्वै) इसी हेतु (एतम्+सेतुम्) इस आत्माख्य सेतु को पाकर तीर्त्वा (अन्धः+सन्) अन्धा होता हुआ पुरुष (अनन्धः+भवति) अनन्ध अर्थात् नेत्रवान् होता है (विद्धः+सन्) पीड़ित होता हुआ भी (अविद्धः+भवति) अविद्ध अपीड़ित होता है (उपतापी+सन्) रोगादिकों से उपतापवान् होता हुआ भी (अनुप-

तापी+भवति) अनुपतापवान्=रोगादि ताप रहित होता है (तस्माद्वै) इसी हेतु (एतम्+सेतुम्+तीर्त्वा) इस सेतु को पाकर (नक्तम्+अपि) रात्रि भी (अहः+एव) दिन ही (अभिनिष्पद्यते) होजाती है (हि) क्योंकि (एषः+ब्रह्मलोकः) यह ब्रह्म (सकृत्) सर्वदा (विभातः+एव) प्रकाशस्वरूप ही है ॥ २ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

तत् । ये । एव । एतम् । ब्रह्मलोकम् । ब्रह्मचर्य्येण । अनुविन्दन्ति । तेषाम् । एव । एषः । ब्रह्मलोकः । तेषाम् । सर्वेषु । लोकेषु । कामचारः । भवति ॥३॥

भाष्यम्--तदिति । तत्तत्र ये विद्वान्सः । ब्रह्मचर्य्येण स्त्रीविषयतृष्णात्यागेनैव । एतं । ब्रह्मलोकमेतद्ब्रह्म अनुविन्दति प्राप्नुवन्ति । तेषां विदुषामेव । एष ब्रह्मलोकः प्राप्यते । नान्येषां स्त्रीविषयसम्पर्कजाततृष्णानां ब्रह्मविदामपीत्यर्थः । तेषां ब्रह्मविदां ब्रह्मचर्यसाधनवतामेव सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । तस्मात्परममेतत्साधनंब्रह्मचर्यं सर्वेषां ब्रह्मजिज्ञासूनाम् ॥ ३ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अनुवादः-इस हेतु जो इस ब्रह्म को ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त करते हैं उन्हीं को यह ब्रह्मलोक मिलता है । और उन्हीं को सब लोकलोकान्तरों में स्वेच्छाचार विहार होता है ॥ ३ ॥

पदार्थः-(तत्) इसलिये (ये+एव) जो ही ब्रह्मवित् पुरुष (एतम्+ब्रह्मलोकम्) इस ब्रह्म को (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से ही (अनुविन्दन्ति) प्राप्त करते हैं (तेषाम्+एव) उन ब्रह्मचर्य-साधक ब्रह्मवित् पुरुषों को ही (एषः+ब्रह्मलोकः) यह ब्रह्मलोक मिलता है (तेषाम्) उनका ही (सर्वेषु+लोकेषु) सर्वलोकलोकान्तरों में (कामचारो+भवति) स्वेच्छाचार अर्थात् स्वच्छन्द गमन होता है ॥ ३ ॥

इति चतुर्थखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

अथ। यद्। यज्ञः। इति। आचक्षते। ब्रह्मचर्यम्। एव। तत्। ब्रह्मचर्येण। हि। एव। यः। ज्ञाता। तम्। विन्दते। अथ। यद्। इष्टम्। इति। आचक्षते। ब्रह्मचर्यम्। एव। तद्। ब्रह्मचर्येण। हि। एव। इष्ट्वा। आत्मानम्। अनुविन्दते॥ १॥

भाष्यम्-अथ यदिति। य आत्मा स सेतुत्वादिगुणैः पूर्वप्रकरणे स्तुतः। सम्प्रति तल्लब्धये ज्ञानसहकारि साधनान्तरं ब्रह्मचर्याख्यं विधातव्यमित्याह। यज्ञादिभिस्तत्स्तौति च कर्तव्यार्थम्। अथ विद्वांसो "यज्ञ" इति यल्लोके आचक्षते विवृण्वन्ति कथयन्ति। तद् ब्रह्मचर्यमेव। यतो यज्ञस्यापियत्फलं तद्ब्रह्मचर्यवान्पुरुषएवलभते। अतो यज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यमेवेतिबोद्धव्यम्। कथं ब्रह्मचर्य यज्ञ इत्याह। हि यस्मात्। ब्रह्मचर्येणैव ब्रह्मचर्यसाधनेनैव यो ब्रह्मविद्। ज्ञाता ब्रह्मणो ज्ञाता भवति। स एव ब्रह्मविद् ब्रह्मचर्यसाधनः। तं ब्रह्मलोकं विन्दते प्राप्नोति। अथ तथाच। लोकेविद्वांसः। "इष्ट"मिति यदाचक्षते कथयन्ति। तद् ब्रह्मचर्यमेव। हि यस्मात्। ब्रह्मचर्येणैव साधनेन। इष्ट्वा तमीश्वरं पूजयित्वा। तमात्मानं ब्रह्माख्यं परमात्मानम्। अनुविन्दते प्राप्नोति। जानातीतिज्ञो। येनासौज्ञो यज्ञ इतिव्युत्पत्तिर्लक्ष्यते। यतो यो ज्ञातेति पदं पठति। यजतेर्यज्ञ इति सिद्धिः सर्वत्रैव प्रसिद्धा॥ १॥

अनुवादः-अब (इसलोक में शिष्ट पुरुष) जिसको "यज्ञ" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि जो ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही ब्रह्मवित् बनता है वही उस (ब्रह्मलोक) को पाता है और जिसको "इष्ट" कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही उस (परमात्मा) को पूजन कर परमात्मा को पाता है॥ १॥

पदार्थः-(अथ) अब (यज्ञः+इति) यज्ञ ऐसा (यद्+आचक्षते) जिसको शिष्ट पुरुष कहते हैं अर्थात् जिसको इस लोक में शिष्ट पुरुष यज्ञ कहते हैं और जिस यज्ञ को परम पुरुषार्थ का साधन मानते हैं (तत्+ब्रह्मचर्यम्+एव) वह ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्येण+एव) ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही (यः+ज्ञाता) जो ज्ञाता होता है अर्थात् जो ब्रह्मवित् होता है वही (तम्) उस ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्मको (विन्दते) पाता है (अथ) और (यत्) जिसको (इष्टम्+इति+आचक्षते) इष्ट कहते हैं (तत्+ब्रह्मचर्यम्+एव) वह ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्येण+एव) ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही (इष्ट्वा) उस ब्रह्म को पूज (आत्मानम्) परमात्माको (अनुविन्दते) पाता है॥ १॥

भाष्याशयः-ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन इस खण्ड में कहा जाता है। ब्रह्मचर्य ही

मुख्य साधन है । यद्यपि यज्ञ, इष्ट आदि अनेक साधन के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति कही गई है किन्तु मूलकारण ब्रह्मचर्य ही है इसके विना किसी यज्ञ में मनकी स्थिरता नहीं हो सकती । इस हेतु यज्ञवाचक कतिपय शब्द के अर्थ के द्वारा दर्शाते हैं कि सम्पूर्ण यज्ञ ब्रह्मचर्य के उद्देश को ही जतलाते हैं । यथा—यज्ञशब्द—यज धातु से इसकी सिद्धि मानते हैं । परन्तु यथार्थ में "यत्+ज्ञ" ये दो शब्द मिलकर यज्ञ बना है (जानातीतिज्ञः) जानने वाले को "ज्ञः" कहते हैं । जिसके द्वारा उस ब्रह्म को जाने उसको यज्ञ कहते हैं । अर्थात् ब्रह्मचर्य का ही नामान्तर यज्ञ है । इसी प्रकार इष्ट भी ब्रह्मचर्य का नाम है ॥ १ ॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवाऽऽत्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

अथ । यत् । सत्त्रायणम् । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्यम् । एव । तद् । ब्रह्मचर्येण । हि । एव । सतः । आत्मनः । त्राणम् । विन्दते । अथ । यत् । मौनम् । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्यम् । एव । तद् । ब्रह्मचर्येण । हि । एव । आत्मानम् । अनुविद्य । मनुते ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथेति ॥ अथ विद्वांसः "सत्त्रायण"मिति यदाचक्षते यत्कथयन्ति तद्ब्रह्मचर्यमेव । हि यस्मात् । ब्रह्मचर्येणैव आत्मज्ञः पुरुषः । सत आत्मनो जीवात्मनस्त्राणं रक्षणं विन्दते प्राप्नोति ॥ अतः सत्त्रायणशब्दोऽपि ब्रह्मचर्यमेव लक्षयति । अथयत्"मौन"मित्याचक्षते विद्वांसस्तद्ब्रह्मचर्यमेव । हि यस्मात् ब्रह्मचर्येणैव साधनेन । आत्मानं परमात्मानमनुविद्य विदित्वा पश्चान्मनुते ध्यायति । अतो मौनं शब्दोपि ब्रह्मचर्यमेव द्योतयति । सत्त्रायणं सन्तमात्मानं त्रायते साधको येन कर्मणा तत्सत्त्रायणं यद्वा सन्नात्मा त्रायते येनेति सत्त्रायणम् । मनुते मननं करोति साधको येन तन्मौनम् ॥ २ ॥

अनुवादः—अनन्तर जिसको (विद्वान् लोग) "सत्त्रायण" कहते है वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही सत् जो जीवात्मा उसका त्राण अर्थात् रक्षा को पाता है । और जिसको विद्वान् लोग "मौन" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही आत्माको जानकर पश्चात् मनन करता है ॥ २ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (यत्) जिसको (सत्त्रायणम्) सत्त्रायण नामयज्ञ (इति+आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्+ब्रह्मचर्यम्+एव) वह ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि

(ब्रह्मचर्येण+एव) ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही (सतः+आत्मनः) सर्वदा विद्यमान अर्थात् अविनश्वर जीवात्मा की (त्राणम्) रक्षा (विन्दते) पाता है (अथ) और (यत्) जिसको (मौनम्) मौन (इति+आचक्षते) ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं (तद्+ब्रह्मचर्यम्+एव) वह ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (ब्रह्मचर्येण+एव) ब्रह्मचर्यरूप साधन से ही (आत्मानम्) परमात्मा को (अनुविद्य) अच्छे प्रकार जान पश्चात् (मनुते) मनन करता है ॥ २ ॥

भाष्याशयः-सत्त्रायण--यह नाम किसी यज्ञविशेष का है। "सत्+त्रायण" ये दो शब्द हैं। सत्=जीवात्मा। त्रायण=रक्षण=रक्षा। आत्मा की त्रायण रक्षण जिससे हो उसे सत्त्रायण कहते हैं। यथार्थ में ब्रह्मचर्य से ही उस आत्मा की रक्षा होती है अतः ब्रह्मचर्य का ही नाम सत्त्रायण भी है। इसी प्रकार मौन शब्द भी जानना ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयꣳसरस्तदश्वत्थःसोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳहिरण्मयम् ॥ ३ ॥

अथ । यत् । अनाशकायनम् । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्यम् । एव । तद् । एषः । हि । आत्मा । न । नश्यति । यम् । ब्रह्मचर्येण । अनुविन्दते । अथ । यद् । अरण्यायनम् । इति । आचक्षते । ब्रह्मचर्यम् । एव । तद् । अरः । च । ह । वै । ण्यः । च । अर्णवौ । ब्रह्मलोके । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि । तद् । ऐरम् । मदीयम् । सरः । तद् । अश्वत्थः । सोमसवनः । तद् । अपराजिता । पूः । ब्रह्मणः । प्रभुविमितम् । हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्-अथेति । अथ विद्वांसः । अनाशकायन मनशनायनमुपवासनायनमित्यर्थः । इति तु लौकिकोऽर्थः । परमार्थस्तु वक्ष्यते । यदाचक्षते । तद्ब्रह्मचर्यमेव । हि यस्मात् । तस्य ब्रह्मचर्यसाधनवतः पुरुषस्य । ब्रह्मचर्यसाधनेन योह्यात्मा दृढो भवति । स उत्तरोत्तरमूर्ध्वगामी भवति । एष आत्मा न नश्यति न विविधक्लेशान् प्राप्नोति । यमात्मानं ब्रह्मचर्येण अनुविन्दते प्राप्नोति । तस्मादनाशकायनं नाम यो यज्ञस्तदपि ब्रह्मचर्यमेव । नाशएव नाशकः । नाशक ईयते प्राप्यते अनेन इति, नाशकायनं न नाशकायनमनाशकायनम् । ब्रह्मचर्येणैव

आत्मा स्वकीयानुष्ठाने दृढो भवति । अथ अरण्यायनंवनगमनमिति यदाचक्षते । तद्ब्रह्मचर्यमेव । अग्रे कथं ब्रह्मचर्यमेतदिति दर्शयति । तथाहि । ब्रह्मलोके ब्रह्मप्राप्तिनिमित्ते । द्वौ अर्णवौ समुद्रौस्तः । अरः अरनामा । ण्यः । ण्यनामा च । अर इति कर्मसंज्ञा । ण्य इति ज्ञानसंज्ञा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं कर्मज्ञानकाण्डौ द्वौ समुद्रौ भवतः । विषयान्तरमप्येतत्संबंधेन दर्शयति । इतोऽस्मात्स्थानात् तृतीयस्यां दिवि स्थिते ब्रह्मलोके इत्यर्थः । तत्प्रसिद्धम् ऐरं मदीयं ज्ञानकाण्डजनितं परमहर्षकरम् । सरः सर इव सुखकरं स्थानमस्ति । तत्र प्रसिद्धः सोमसवनः । ज्ञानकांडोद्भूतः । अश्वत्थोऽश्वत्थवद् वृक्षोऽस्ति । तत्र अपराजिता ब्रह्मणः पूः पुरी वर्तते । तत्र प्रभुविमितं प्रभुणा निर्मितं हिरण्मयं सौवर्णं तेजोमयमित्यर्थः । स्थानमस्ति । अस्य प्रवाकस्यागामिना प्रवाकेण सम्बन्धोऽस्तीति वेदितव्यम् ॥ ३ ॥

अनुवादः—अब जिसको "अनाशकायन" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि यह आत्मा नष्ट नहीं होता जिसको ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करता है और जिसको "अरण्यायन" कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मप्राप्त्यर्थ "अर" और "ण्य" नाम के दो अर्णव=समुद्र हैं । और यहां से तृतीय द्युलोक में वह प्रसिद्ध ऐर मदीय सर है और वहां सोमसवन अश्वत्थ है वहां ब्रह्म की अपराजिता पुरी है और वहां प्रभुनिर्मित ज्योतिर्मय स्थान है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) और (यत्+अनाशकायनम्+इति) जिसको अनाशकायन नाम यज्ञ (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्+ब्रह्मचर्यम्+एव) वह ब्रह्मचर्य ही है (हि) क्योंकि (एषः+आत्मा+न+नश्यति) यह आत्मा नष्ट नहीं होता है (यम्) जिस आत्मा को (ब्रह्मचर्येण+अनुविन्दते) ब्रह्मचर्यरूप साधन से प्राप्त करते हैं (अथ) और (यत्+अरण्यायनम्+इति+आचक्षते) जिसको अरण्यायन नाम यज्ञ कहते हैं (तत्+ब्रह्मचर्यमेव) वह ब्रह्मचर्य ही है (ह) क्योंकि (ब्रह्मलोके) ब्रह्मप्राप्ति निमित्त (अरः+च) अर अर्थात् कर्मकाण्ड (ण्यः+च) और "ण्य" अर्थात् ज्ञानकाण्डरूप (अर्णवौ) दो समुद्र हैं (वै) इस में सन्देह नहीं । और (इतः) यहां से (तृतीयस्याम्+दिवि) तृतीय द्योतनात्मक स्थान में (तत्) वहां (ऐरम्+मदीयम्) कर्मकांडजनित हर्षदायक (सरः) सरोवर तुल्य स्थान है (तत्) वहां (सोमसवनः) अमृत चूता हुआ मानो (अश्वत्थः) एक अश्वत्थ वृक्ष है (तत्) और वहां (अपराजिता) जिस को कोई जीत नहीं सकता ऐसी (ब्रह्मणः+पूः) ब्रह्म की पुरी है और (प्रभुविमितम्) प्रभुनिर्मित (हिरण्मयम्) ज्योतिर्मय स्थान है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः-अनाशकायन-इसके दो अर्थ हैं एक अनशनायन=उपवासविधान और दूसरा यह जो उपनिषद् बतलाती है ? नाश का नाम ही नाशक है। नाश को प्राप्त होता है जिसके द्वारा उसे नाशकायन कहते हैं। जो नाशकायन न हो वह अनाशकायन। ब्रह्मचर्य के द्वारा यह आत्मा नाश=अधोगति को प्राप्त नहीं होता किन्तु उच्चगति को दिन २ लाभ करता जाता है इसहेतु ब्रह्मचर्य ही का नाम अनाशकायन है। अरण्यायन अर+ण्य+अयन इसमें तीन पद हैं। अर नाम कर्मकांड का है। क्योंकि "ऋ" धातुसे जिसका अर्थ गमन है अर शब्द सिद्ध हुआ है, जिसमें अधिक प्रवृत्ति हो। यद्वा जिसके द्वारा ज्ञान की ओर गति हो उसे "अर" कहते हैं, कर्मकांड में ज्ञानकांडकी अपेक्षा मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति होती है क्योंकि इसका फल लोक में प्रशंसा आदि शीघ्र प्राप्त होता है अथवा जब कर्मकांड में लोक निपुण होते हैं तब ज्ञान के तरफ जा सकते हैं। इसहेतु अर नाम कर्मकांड का है। ण्य नाम ज्ञानकांड का है क्योंकि "ण्य" दो धातु से सिद्ध होता है "णश्" जिसका अर्थ नाश करना और "या" जिसका अर्थ प्राप्ति करना है इन दोनों से बना है "अविद्यां नाशयित्वा यः ब्रह्म प्रापयति स ण्यो ज्ञानकांडः" अविद्या का नाश करके ब्रह्म जो प्राप्त करवावे उसे ण्यः कहते हैं। ब्रह्मप्राप्ति के लिये यथार्थ में ये दो महासमुद्र हैं जबतक साधक इन दोनों महासमुद्र के अन्ततक नहीं पहुंचता तबतक ब्रह्मप्राप्ति दुःसाध्य है। और अरण्यायन का वन गमन भी अर्थ है तृतीयस्यांदिवि-तीसराद्युस्थान द्योतनात्मक, स्थान का नाम द्युलोक है वह सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म स्थान है इसका अभिप्राय यह है कि कर्म, उपासना, ज्ञान ये तीन कांड है। ब्रह्म की स्थिति ज्ञान में है इस हेतु कहा जाता है कि ब्रह्म तृतीयस्थान में रहता है सर्वशास्त्र का यही सिद्धान्त है कि ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ऐर-इरा नाम वाणी का है, वाणी सम्बन्धी कर्म का नाम ऐर है क्योंकि कर्मकांड में वाणी के द्वारा ही मंत्र पढ़ना स्तुति करना उपासना आदि व्यवहार होता है। मदीय-अत्यन्त हर्षजनक। सर-"सरति गच्छतीति विनश्यतीति सरः" आजकल तालाब का नाम सर है। यहां पर अलङ्काररूप से वर्णन किया गया है कि ऐर अर्थात् कर्मकांडजनित जो मदीय अति हर्षदायक स्थान मिलता है वह सर अर्थात् शीघ्र नाश होने वाला है, क्योंकि सर शब्द का अर्थ ही ऐसा है। अश्वत्थः-"श्वयति गच्छति वर्द्धते च श्वत्थः। न श्वत्थः अश्वत्थः एकरस इति यावत्" जो गति और वृद्धि से रहित हो अर्थात् जो सदा एकरस हो उसे अश्वत्थ कहते हैं। सोमसवन-सोम अमृत, सवन उत्पन्न होता है जिससे उसे सोमसवन कहते हैं। ब्रह्म के निकट मानो कर्मकांडजनित एक सरोवर और ज्ञानकांडजनित मानो एक वृक्ष है जिनको कर्मकांडी और ज्ञानकांडी जाकर मानो भोग करते हैं। यह

आलङ्कारिक वर्णन है इसी प्रकार जिस स्थान को ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं वह यथार्थ में ब्रह्म की अपराजिता पुरी है, क्योंकि इस पुरी को कोई २ प्राप्त करते हैं। हिरण्मय= हिरण्य नाम ज्योति प्रकाश का है और प्रकाश नाम ज्ञान का है, सब शास्त्रों का सिद्धान्त है कि ईश्वर तेजःस्वरूप है इस हेतु यहां कहा गया है कि ईश्वर का स्थान तेजोमय है। यद्यपि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है तथापि ज्ञान के द्वारा जब साधक ईश्वर को जिस अवस्था में प्राप्त करता है उसी अवस्थाविशेष का नाम ब्रह्मस्थान है क्योंकि उस अवस्था में ब्रह्म का अनुभव अधिकतर कर सकता है। और इसी हेतु इसका नाम प्रभु विमित अर्थात् प्रभुनिर्मित कहा है। अन्यत्र यह भी कहागया है कि ईश्वर का अनुग्रह जिसके ऊपर होता है वही ईश्वर को प्राप्त होता है। इस कारण भी वह दशा प्रभुविमित है ॥ ३ ॥

तद्य एवैतावरं च ण्यञ्चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाᳬ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

तत् । ये । एव । एतौ । अरम् । च । ण्यम् । च । अर्णवौ । ब्रह्मलोके । ब्रह्मचर्येण । अनुविन्दन्ति । तेषाम् । एव । एषः । ब्रह्मलोकः । तेषाम् । सर्वेषु । लोकेषु । कामचारः । भवति ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तदिति । तत्तस्मात् ये ब्रह्मचर्यसाधनसम्पन्नाः । ब्रह्मलोके ब्रह्मलोक निमित्ताय । एतौ पूर्ववर्णितौ अरञ्च कर्मकांडञ्च ण्यञ्च ज्ञानकाण्डञ्च एतद्रूपौ अर्णवौ । ब्रह्मचर्येणैव ब्रह्मचर्यरूपेण साधनेनैव नान्येन । अनुविन्दन्ति प्राप्नुवन्ति । तेषामेव । एष ब्रह्मलोकः ब्रह्मलोक प्राप्तिर्भवति । तेषामेव सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । येकेचन स्त्र्यादिविषयलोलुपाः सन्ति ब्रह्मचर्यमाहात्म्यं न जानन्ति न च ब्रह्मचर्यं पालयन्ति । ते न कदापि ब्रह्मलोकं प्राप्नुयुः । न च ते कामचारिणो भवन्ति । सर्वदा तेषां विषयबन्धनत्वाद् ॥ ४ ॥ इति पञ्चमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—इसहेतु जो कोई ब्रह्मलोक-प्राप्ति निमित्त इन पूर्व वर्णित अर=कर्मकांड और ण्य=ज्ञानकाण्ड । एतत्स्वरूप समुद्रों को ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। उन का ही यह ब्रह्मलोक है। उनका ही सब लोक लोकान्तर में स्वेच्छाचार विहार होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(तत्) इसहेतु (ये) जो कोई ब्रह्मचर्यसाधनसम्पन्न साधक (ब्रह्मलोके) ब्रह्म की प्राप्ति के हेतु (एतौ) ये पूर्ववर्णित (अरञ्च) अर अर्थात् कर्मकाण्ड (ण्यञ्च) ण्य अर्थात् ज्ञानकाण्ड (अर्णवौ) ये ही जो दो महासमुद्र उनको

(ब्रह्मचर्येण+एव) ब्रह्मचर्यरूप साधन के द्वारा ही अर्थात् अन्य साधन से नहीं (अनुविन्दन्ति) प्राप्त करते हैं (तेषाम्+एव+एषः+ब्रह्मलोकः) उनका ही यह ब्रह्मलोक है अर्थात् उन ब्रह्मचर्य साधनसम्पन्न पुरुषों को ही ब्रह्मप्राप्ति होती है (तेषाम्) उनको ही (सर्वेषु+लोकेषु) सब लोकलोकान्तरों में (कामचारः) काम=स्वेच्छानुसार, चार=गमन, विहार (भवति) होता है। अर्थात् जो लोग स्त्र्यादिविषयभोग में लोलुप हैं ब्रह्मचर्य के माहात्म्य को नहीं जानते हैं और न उसका पालन करते हैं वे कदापि भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते और न उनका कहीं स्वेच्छागमन हो सकता ॥ ४ ॥

इति पञ्चमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम्।

अथ षष्ठः खण्डः ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः * ॥ १ ॥

अथ। याः। एताः। हृदयस्य। नाड्यः। ताः। पिङ्गलस्य। अणिम्नः। तिष्ठन्ति। शुक्लस्य। नीलस्य। पीतस्य। लोहितस्य। इति। असौ। वै। आदित्यः। पिङ्गलः। एषः। शुक्लः। एषः। नीलः। एषः। पीतः। एषः। लोहितः ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति। मरणवेलायामयमात्मा कर्मादिष्टेन शरीरपथा निःसरति। श्रूयते च यच्चक्षुषा श्रोत्रेण वा मुखेन वा इतरेण वा मार्गेण वा प्रैति। तत्रास्ति कश्चिन् मार्गविशेषः। येन विनिर्गच्छतोजीवात्मनोऽमुत्र सुखं लभ्यते। तं मार्गं हृदयपुण्डरीकगतं यथोक्तगुणसंपन्नं ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नस्त्यक्तबाह्यविषयानृततृष्णो विजितेन्द्रियग्रामोऽन्तर्मुखीन आवृत्तचक्षुः शान्तो दान्तो भूत्वोपासीन एव कश्चित् सहस्रेषु प्राप्नोति। तस्य मूर्धन्यानाड्या गतिर्वक्तव्यायया गच्छन् शाश्वतसुखंलभत इति खण्ड आरभ्यते। अथ सम्प्रति गतिं दर्शयति। या एताः या एता वक्ष्यमाणा हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनास्थानस्य सम्बन्धिन्यः। नाड्यः हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृता आदित्यमंडलाद्रश्मय इव

(१) ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा ॥ बृ० ४।३।२०॥

वर्तन्ते । ता हृदयस्य नाड्यः । पिङ्गलस्य पिङ्गलवर्णविशिष्टस्य अणिम्नः सूक्ष्मरसस्य रसेन पूर्णाः । तिष्ठन्ति वर्तन्ते । रसेन पूर्णा इति पदद्वयमध्याहार्यं सर्वत्र । तथा शुक्लस्य श्वेतवर्णस्य, नीलस्य कृष्णवर्णस्य, पीतस्य पीतवर्णसहितस्य, लोहितस्य रक्तवर्णमिलितस्य, अणिम्नः सूक्ष्मस्य रसेन पूर्णास्तिष्ठन्ति तदाकारा एव वर्तन्ते । सौरेण पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन कफेनाल्पेन सम्पर्कात् पिङ्गलं भवति । सौरं तेजः पित्ताख्यम् । तदेववातभूयस्त्वान्नीलं भवति । तदेव च कफभूयस्त्वाच्छुक्लम् । कफेन समतायां पित्तम् । शोणितबाहुल्येन लोहितम् । वैद्यकाद्वावर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः । कथं भवन्तीति अत्रय आहुरादित्यसम्बन्धादेव तत्तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषा भवन्तीति । कथमित्थमित्याह । असौ वै एष एव आदित्यः सूर्यः । पिङ्गलः पिङ्गलवर्णविशिष्टः । एष सूर्यः शुक्लः शुक्लवर्णः । एष नीलः, एष पीतः, एष लोहितः, सर्ववर्णविशिष्ट आदित्य एव वर्तते । तस्यैव सम्पर्केण शरीरान्तर्गता नाड्योऽपि तत्तद्वर्णास्तिष्ठन्ति । सूर्यत एव जगदिदं शुक्लनीलपीतादीन् वर्णान्प्राप्नोति । प्रधानतया सूर्ये सप्तवर्णा विद्यन्ते त अश्वा उच्यन्ते । अतएव तस्य सप्ताश्वसंज्ञा लोके प्रसिद्धा ॥ १ ॥

अनुवादः—अब गतिका वर्णन करेंगे । हृदय की जो ये नाडिएं हैं वे पिङ्गल, शुक्ल, नील, पीत, लोहित वर्णविशिष्ट सूक्ष्म रसके रससे पूर्ण हैं । निश्चय यह आदित्य ही पिङ्गल है । यह शुक्ल, यह नील, यह पीत, यह लोहित है ॥ १ ॥

पदार्थः—मरण समय में यह जीवात्मा स्वकर्म-निर्दिष्ट शरीर-मार्ग से निकलता है । सुना जाता है कि नेत्र से अथवा श्रोत्र से अथवा मुख से अथवा अन्य किसी मार्ग से यह जीवात्मा शरीर से निकलता है। इस शरीर में कोई मार्गविशेष है । जिससे निकलते हुए जीवात्मा को सुख प्राप्त होता है । परन्तु उस मार्ग को सब कोई नहीं पाते । ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न, त्यक्तबाह्यविषयानृततृष्ण, विजितेन्द्रियग्राम, अन्तर्मुखीन, आवृत्तचक्षु, शान्त, दान्त होकर हृदयपुण्डरीकगत यथोक्त गुणसहित ब्रह्म की उपासना करता हुआ कोई सहस्रों में उस मार्ग को पाता है । उस पुरुष की मूर्धनी नाड़ी से गति होती है । जिससे जाता हुआ ब्रह्मचारी सुख प्राप्त करता है । इसे ही दर्शाने के लिये इस खण्ड का आरम्भ होता है । (अथ) अब गति को कहेंगे (याः एताः) जो ये वक्ष्यमाण हृदयस्थ पुण्डरीकाकार और ब्रह्मोपासना स्थान हृदय की (नाड्यः) नाड़िएं हैं । जो हृदय के मांसपिण्ड से, सूर्यमण्डल से किरण की नाईं सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत हैं (ताः) वे हृदय की नाड़िएं (पिङ्गलस्य) पिङ्गलवर्ण वाले (अणिम्नः) अति सूक्ष्म रसके रससे पूर्ण हैं इसी प्रकार (शुक्लस्य) श्वेत (नीलस्य)

कृष्णवर्ण (पीतस्य) पीतवर्ण (लोहितस्य) रक्तवर्ण वाले (अणिम्नः) सूक्ष्म रसके रसों से पूर्ण हैं। ये नाड़िएं पिङ्गल, श्वेत, कृष्णादिवर्ण वाली कैसे होती हैं। उसपर ऋषि कहते हैं कि सूर्य के सम्बन्ध से ही नाड़ियों के वर्ण भी होते हैं। इस हेतु प्रथम सूर्य के वर्ण कहे जाते हैं (असौ+वै+आदित्यः) यही सूर्य (पिङ्गलः) पिङ्गल वर्ण है (एषः+शुक्लः) यही शुक्ल (एषः+नीलः) यही कृष्णवर्ण (एषः+पीतः) यही पीत (एषः+लोहितः) यही रक्तवर्ण है अर्थात् सूर्य में ही सब वर्ण हैं उसी की किरण के द्वारा सर्वत्र वर्ण प्राप्त होता है। शरीर के अभ्यन्तर भी सूर्य का ताप पहुंचता है, अतः नाड़ियों के तत्तत् रंग होते हैं। नाड़ियों का यहां किञ्चित् लक्षणमात्र कहागया है। सूर्य में प्रधानतया सात रंग हैं अश्व कहलाते हैं और इसी हेतु सूर्य को सप्ताश्व लोक में कहते हैं। जगत् में जो कुछ रंग देखा जाता है वह सूर्य के द्वारा ही आता है विज्ञान-शास्त्र के द्वारा इसे जानो ॥ १ ॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चै-वमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चा-मुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते। तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

तद्। यथा। महापथः। आततः। उभौ। ग्रामौ। गच्छति। इमम्। च। अमुम्। च। एवम्। एव। एताः। आदित्यस्य। रश्मयः। उभौ। लोकौ। गच्छन्ति। इमम्। च। अमुम्। च। अमुष्माद्। आदित्यात्। प्रतायन्ते। ताः। आसु। नाडीषु। सृप्ताः। आभ्यः। नाडीभ्यः। प्रतायन्ते। ते। अमुष्मिन्। आदित्ये। सृप्ताः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तद्यथेति। दूरस्थादित्यस्याध्यात्मनाडीषु कथं सम्बन्धोस्तीति द्वितीयं प्रवा-क्यमारभन्ते। तत्तत्र। यथा येनप्रकारेणास्मिन् लोके। महापथः। महांश्चासौपन्था महापथः। महाविस्तीर्णमार्गः। आततः। अतिदूरे व्याप्तो महापथः। उभौ ग्रामौ गच्छति प्राप्नोति याति। इमञ्च अतिसन्निकटं ग्रामम्। अमुञ्च दूरस्थं ग्रामं चोभौ ग्रामौ गच्छति। एवमेव यथायं लोके दृष्टान्तोस्ति तथैव। आदित्यस्य सूर्यस्य एताः इमाः रश्मयः किरणाः। इम-ञ्चादित्यमण्डलसमीपस्थं लोकम्। अमुञ्च तस्माद्दूरस्थं पुरुषञ्च उभौ लोकौ मण्डलसामीप्य-मनुष्यलोकौ। गच्छन्ति यान्ति। कथम्? ताः सूर्यरश्मयः। आदित्यात् सूर्यात् निःसृत्य प्रतायन्ते संतता विस्तीर्णाभवन्ति। त एव सूर्यकिरणा आसु नाडीषु हृदये स्थितानामेतासां

नाडीनांमध्ये सृप्ताः गता प्रविष्टाभवन्ति । ततः । आभ्योनाडीभ्यः । एताभ्यो हृदयस्थाभ्यो नाडीभ्यः । निःसृत्य किरणाः प्रतायन्ते सन्तता शरीरमध्ये तत्तत्स्थानं प्राप्नुवन्ति । ततः । अस्मिन् आदित्ये एतस्मिन् सूर्ये एव पुनः ते किरणाः सृप्ताः गता प्रविष्टभवन्ति । रश्मि-शब्दः स्त्रीलिङ्गः पुल्लिङ्गश्च । अयमर्थः । आभ्यो नाडीभ्यस्ते सूर्यकिरणाः प्रतायन्ते पुन-स्ते सन्तानभूताः सन्तः, अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता भवन्ति । अर्थात् ते सूर्यरश्मयः सूर्यान्निः-सृत्य आसु नाडीषु प्रविष्टाभवन्ति । आभ्यो नाडीभ्यश्च निःसृत्य पुनः सूर्यं प्रविष्टा भव-न्ति । इत्येवमाशयोऽस्ति । यद्यपि नहि नाडीभ्यः कदापि रश्मयो निःसृत्य सूर्यं गच्छन्ति प्रत्यक्षबाधादसंभवाच्च । तथापि सर्वाप्युष्णता सूर्याद् विस्तीर्णाभूत्वान्ते सूर्यमेवाविशन्तीति लौकिकप्रतीत्येयं वर्णना ॥ २ ॥

अनुवादः–उक्त विषय में (दृष्टान्त कहा जाता है) जैसे विस्तीर्ण महापथ समी-पस्थ और दूरस्थ दोनों ग्रामों में पहुंचता है वैसे ही आदित्यरश्मि उस मण्डल और इस पुरुष इन दोनों को प्राप्त होते हैं। वे रश्मि आदित्य से निकल सर्वत्र विस्तीर्ण होते हैं। पश्चात् इन नाड़ियों में प्रविष्ट होते हैं। और इन नाड़ियों से सर्वत्र विस्तीर्ण होते हैं तब पुनः वे उस आदित्य में प्रविष्ट होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः–दूरस्थ आदित्य का इन हृदयस्थ नाड़ियों से कैसे सम्बन्ध होता है इसको दिखाने के लिये इस द्वितीय प्रवाक को आरम्भ करते हैं (तत्) इस पूर्वोक्त विषय में ऐसा जाने (यथा) जैसे (आततः) बहुत दूर तक व्याप्त (महापथः) महन् विस्ती-र्ण मार्ग (इमञ्च) इस समीपस्थ (अमुञ्च) और उस दूरस्थ ग्राम (उभौ+ग्रामौ) दोनों ग्रामों को (गच्छति) पहुंचता है अर्थात् महाविस्तीर्णमार्ग आदि अन्त और मध्य कई ग्रामों को जाता है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (आदित्यस्य) सूर्य की (एताः+रश्मयः) ये किरणें (इमञ्च) इस सूर्यमण्डल को (अमुञ्च) और सूर्यमण्डल से उस दूरस्थ पुरुषको भी (उभौ+लोकौ) अर्थात् दोनों लोकों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं (ताः) वे सूर्य्य की किरणें (अमुष्मात्) उस (आदित्यात्) सूर्य से निकल (प्रतायन्ते) चारों तरफ विस्तीर्ण होती हैं इस प्रकार विस्तीर्ण होती हुई (आसु+नाडीषु) इन नाड़ियों में (सृप्ताः) गत प्रविष्ट होती हैं । इस प्रकार सूर्य की किरणद्वारा हृदयस्थ नाड़ियें अनेक रंगवाली होती हैं (ते) वे किरण (आभ्यः+नाडीभ्यः) इन ना-ड़ियों से निकलकर (प्रतायन्ते) वाह्य शरीर में विस्तीर्ण होते हैं और इस प्रकार पुनः (अ-मुष्मिन्+आदित्ये) उस आदित्य में (सृप्ताः) गत प्रविष्ट होते हैं । यद्यपि इन नाड़ियों से सूर्य की किरणें निकल कर सूर्य में पुनः नहीं पहुंचती हैं क्योंकि प्रत्यक्षतया लौटती

हुई नहीं दीखती और असम्भव प्रतीत होता है तथापि लौकिक दृष्टि से विदित होता है कि सम्पूर्ण उष्णता सूर्य से आकर पुनः उसी में लौट जाती है अन्यथा वह उष्णता कहां गई इसका निर्णय होना कठिन होगा ॥ २ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति * ॥ ३ ॥

तत्। यत्र। एतत्। सुप्तः। समस्तः। सम्प्रसन्नः। स्वप्नम्। न। विजानाति। आसु। तदा। नाडीषु। सृप्तः। भवति। तत्। न। कश्चन। पाप्मा। स्पृशति। तेजसा। हि। तदा। सम्पन्नः। भवति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-तदिति। तत्तत्र। एवं सति यत्र यस्मिन् काले। एतद्। एष स्वप्नवान् जीवः। अत्र लिङ्गव्यत्यय आर्षः। सुप्तः समस्तः स्वापस्य द्विप्रकारत्वाद् विशेषणं समस्त इति। उपसंहृतसर्वेन्द्रियवृत्तिरित्यर्थः। अतः सम्प्रसन्नः न ह्यविषयसम्पर्कजनितकालुष्याभावात् सम्यक् प्रसन्नो भवति। तदा स्वप्नं न विजानाति स्वप्नप्रत्ययं नानुभवतीत्यर्थः। कथम्? तदा तस्मिन् सुषुप्तिकाले आसु नाडीषु हृदयस्थासु एतासु नाडीषु सृप्तो भवति प्रविष्टो भवति। पुनश्च तस्मिन् काले कश्चन कश्चिदपि सुखदुःखादिरूपः पाप्मा पापं। न स्पृशति न स्पर्शनेन दुःखयति। स्वरूपावस्थितत्वात् तदात्मनः। देहेन्द्रियविशिष्टं हि सुखदुःखकार्यप्रदानेन पाप्मा स्पृशतीति न तु सत्सम्पन्नं स्वरूपावस्थं कश्चिदपि पाप्मा स्प्रष्टुमुत्सहते अविषयत्वात्। हि यस्मात् यदा जीव एवं सुप्तोऽस्ति। तदा तस्मिन् काले तेजसा स्वकीयेन तेजसा सम्पन्नो भवति सर्वतः स्वस्थो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनुवादः-ऐसा होने पर जिस काल में यह जीवात्मा सुप्त, समस्त और सम्प्रसन्न होता है तब स्वप्न नहीं जानता। तब इन नाड़ियों में से पुरीतति नाम नाड़ी में प्रविष्ट रहता है उस समय इस को कोई सुखदुःख स्पर्श नहीं करता। क्योंकि उस समय अपने तेज से व्याप्त रहता है ॥ ३ ॥

* अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा च न कस्यचन वेद हितानामनाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथाकुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ बृ० २। १। १९ ॥ यत्सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ बृ० ४। ३। १९ ॥

पदार्थः-(तत्) ऐसा होने पर (यत्र) जिस काल में (एतत्) यह स्वप्नवान् जीवात्मा (सुप्तः) सुषुप्तावस्था को प्राप्त (समस्तः) अपने में लीन अर्थात् इन्द्रियों की सकल वृत्तियों को जिसने अपने में संहार कर लिया है । अतएव (सम्प्रसन्नः) बाह्य वि-षय सम्बन्धजनित दुःखों से विनिर्मुक्त होने के कारण सब प्रकार से आनन्दस्वरूप होता है और उस समय में (स्वप्नम्+न+विजानाति) स्वप्न को नहीं देखता (तदा) तब (आसु+नाडीषु) इन नाड़ियों में से पुरीतति नाम नाड़ी में (सृप्तः+भवति) गत प्रविष्ट रहता है उस समय (कश्चन+पाप्मा) कोई पाप अर्थात् सुखदुःखादि द्वन्द्व (तम्) उस जीवात्मा को (न+स्पृशति) स्पर्श नहीं करता (हि) क्योंकि (तदा) तब (तेजसा) अपने सम्पूर्ण तेज से (सम्पन्नः) संयुक्त (भवति) रहता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति * ॥ ४ ॥

अथ । यत्र । एतद् । अबलिमानम् । नीतः । भवति । तम् । अभित । आसीनाः । आहुः । जानासि । माम् । जानासि । माम् । इति । सः । यावत् । अस्मात् । शरीरात् । अनुत्क्रान्तः । भवति । तावत् । जानाति ॥ ४ ॥

भाष्यम्-अथेति । संक्षिप्य प्रसंगाज्जीवगतिं दर्शयति । अथ यत्र यस्मिन्काले अयं पुरुषः एतदेतमार्षं नपुंसकत्वम् । जरादिरोगनिमित्तम् । अबलिमानमबलभावं दौर्बल्यं । नीतो भवति प्रापितो भवति । यदायं पुरुषो दुर्बलतां प्राप्नोति । तदा तं दुर्बलत्वादिकारणेन मुमूर्षुं जनम् । अभितः परितः । मातापितृभ्रातृमित्र-बन्धु-बान्धवादयः । आसीना उपवेष्टा भवन्ति । मुमूर्षुं जनं वेष्टयित्वा सर्वं उपविशन्ति । उपविश्य चाहुः । यत् । मां जानासि । मां जानासीति । हे पुत्र ! अहं तव मातास्मि । किं मां न जानासि । हे मित्र ! अहममुक-नामास्मि मां परिचिनोषि । अहं तव वयस्योऽस्मि मां वेत्सि । इत्थमभित आसीना जनाः पृच्छन्ति । तदा यावत् यावत्कालपर्य्यन्तम् । स मुमूर्षुः । अस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति अनुद्गतो भवति । तावत्पर्यन्तं सर्वं जानाति ॥ ४ ॥

* स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति यद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बंधनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवति प्राणायैव ॥ बृ० ४ । ३ । ३६ ॥

अनुवादः-अनन्तर जब यह जीव दुर्बलता को प्राप्त होता है तब उस के चारों तरफ उसके सम्बन्धिक लोग बैठ कर पूछते हैं कि क्या मुझ को जानते हो ? मुझ को जानते हो ? सो वह जीवात्मा जब तक इस शरीर से नहीं निकलता है तब तक जानता है ॥ ४ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (यत्र) जिस काल में यह जीवात्मा (एतत्+अबलिमानम्) जरा रोगादि निमित्त मृत्युजनक दुर्बलता को (नीतः+भवति) प्राप्त होता है तब (तम्+अभितः) उसके चारों तरफ उसके सम्बन्धिक लोग (आसीनाः) बैठकर (आहुः) कहते हैं (माम्+जानासि) मुझ को जानते हो ? (माम्+जानासि) मुझ को जानते हो ? (इति) इस प्रकार मरणापन्न मनुष्य से उसके इष्ट मित्रादिक पूछा करते हैं (सः) वह मरणापन्न मनुष्य (यावत्) जब तक (अस्मात्+शरीरात्) इस शरीर से (अनुत्क्रान्तः+भवति) नहीं निकलता है (तावत्+जानाति) तब तक जानता है ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व-माक्रमते । स ओमिति वा होद्वा मीयते । स यावत्क्षिप्येन्म-नस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

अथ । यत्र । एतत् । अस्मात् । शरीरात् । उत्क्रामति । अथ । एतैः । एव । रश्मिभिः । ऊर्ध्वम् । आक्रमते । सः । ओम् । इति । वा । ह । उत् । वा । मीयते । सः । यावत् । क्षिप्येत् । मनः । तावत् । आदित्यम् । गच्छति । एतद् । वै । खलु । लोकद्वारम् । विदुषाम् । प्रपदनम् । निरोधः । अविदुषाम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति । यत्र यस्मिन्काले । पूर्वोक्तो मुमूर्षुः । एतस्माच्छरीरादुत्क्रामति स्वकर्मनिर्दिष्टानुगतिं भोक्तुमिमं देहमुत्सृज्य गच्छति । अथ तदा । एतैरेव पूर्वोक्तैरश्मिभिः सूर्यकिरणसम्मिलिताभिर्नाडीभिः । प्रथममूर्द्ध्वमाक्रमते उर्द्ध्वं गच्छति । यद्वा- सर्वत्र सन्ततैः सूर्यरश्मिभीरश्म्युपलक्षिततेजोगतिभिरित्यर्थः । ऊर्ध्वमाक्रमते कर्मनिर्दिष्टं तं तं लोकं गच्छति । इति तु सर्वेषां व्यवस्थास्ति । यस्तु विद्वान् ब्रह्मचर्यसाधनसंपन्नोऽस्ति स पूर्वम् । ओमिति वा । ओमितिपदमोङ्कारवाच्यं ब्रह्म स्मरन् सन् उद् ऊर्ध्वं मीयते प्रमीयते गच्छतीत्यर्थः । हेति प्रसिद्धम् । अग्रे गतिक्षिप्रतां विदुषां दर्शयति । यावत् । यावताकालेन मनं

मन इन्द्रियं क्षिप्येत् क्षयेत् क्षयं प्राप्नुयात् । तावत्तावता कालेन स विद्वान् । आदित्यं सौरीं दशां गच्छति । एतद्वै एतत्खलु प्रसिद्धम् । लोकद्वारम् । ब्रह्मलोकद्वारम् । ब्रह्मस्थानमित्यर्थः । इमामेव सौरीं दशां प्राप्य ब्राह्मींदशामधिगच्छति । अतएव सौरीदशा ब्रह्मद्वारं निगद्यते । इदं विदुषां ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नानां प्रपदनं प्रपद्य ते प्राप्नुवन्ति ब्रह्मलोकमनेनद्वारेणेति प्रपदनम् । किन्तु । अविदुषाम् ब्रह्मचर्यादिसाधनविहीनानामज्ञानिनां निरोधोऽवरोधः । अस्मादादित्यादविदुषां निरोधोभवति ॥ ५ ॥

अनुवादः—अनन्तर जब यह जीवात्मा इस शरीर से ऊपर को उठता है तब इन्हीं नाड़ियों के द्वारा ऊपर को जाता है । और वह जीवात्मा ओंकार को स्मरण कर ऊपर को जाता है । जब तक उसके मन का धीरे २ क्षय नहीं होता है तब तक आदित्यरूप द्वार (सौरी दशा) को प्राप्त करता है । निश्चय यही ब्रह्मलोक का द्वार है । विद्वानों का गमन और अविद्वानों का निरोध है ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (यत्र) जिस काल में (एतत्) यह जीवात्मा (अस्मात्+शरीरात्) इस शरीर से (उत्क्रामति) ऊपर उठने को होता है । अर्थात् मरणकाल प्राप्त होता है (अथ) तब (एतैः+एव) इन्हीं (रश्मिभिः) रश्मिवत् देह में व्याप्त नाड़ियों के द्वारा अर्थात् इन नाड़ियों में से किसी नाड़ी के द्वारा (ऊर्ध्वम्) ऊपर को जाता है यह गति सर्वसाधारणों की होती है । आगे विद्वानों की गति कही जाती है । (सः) वह विद्वान् पुरुष (ओम्+इति+वा) ब्रह्म का ही ध्यान करता हुआ वा उसी का उच्चारण वा स्मरण करता हुआ (उत्) ऊपर को (वा) ही (मीयते) जाता है (सः) वह (यावत्) जबतक (मनःक्षिप्येत्) मन का क्षय करता है । अर्थात् धीरे २ जब तक उस का मन क्षीण होता है (तावत्) तब तक (आदित्यं+गच्छति) आदित्यरूप द्वार को अर्थात् सौरी दशा को प्राप्त होता है (एतद्+वै+खलु) निश्चय यही (लोकद्वारम्) ब्रह्मलोक का द्वार है (विदुषाम्+प्रपदनम्) विद्वानों का मार्ग है (अविदुषाम्+निरोधः) अविद्वानों का निरोध रुकावट का स्थान है ॥ ५ ॥

(१) मरणकाल में ओङ्कार का स्मरण वा उच्चारण की विधि कई स्थलों में पाई जाती है । यथा—वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तध्शरीरम् । ओं क्रतोस्मर कृतध्स्मर क्रतोस्मर कृतध्स्मर । ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति ॥ ७ ॥ प्र० उ० प्रश्न ५ ॥ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ गीता इत्यादि ।

तदेषश्लोकः। शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति * ॥ ६ ॥

अर्थः-हृदय में यह आत्मा है। इस हृदय से सम्बन्ध रखनेवाली १०१ नाड़िएं हैं। और एक २ में सौ सौ नाड़िएं हैं और इस प्रत्येक की ७२००० नाड़ी भेद है इनमें व्यान विचरण करता है। इसका हिसाब इस प्रकार है (१०१+१००×७२०००)+(१०१×१०१)=७२, ७२, १०, २०१ अर्थात् बहत्तर कोटि बहत्तर लाख दश-हज़ार दोसौ एक।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति। पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

अर्थः-उन प्रधान १०१ नाड़ियों में से मध्यस्थ ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी है। इसमें ऊर्ध्वगामी उदानवायु विचरण करता है। वह पुण्य के द्वारा पुण्यलोक को पाप से पापलोक को पाप पुण्य दोनों से मनुष्य लोक को लेजाता है। बृहदारण्यक में-"अथ यदा सुषुप्तो भवति तदा न कस्यचन वेद। हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते। ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते॥ बृ० २।१।१६॥

अर्थः-जब यह जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त रहता है तब वह कुछ नहीं जानता है। हिता नामक अर्थात् हित करने वाली हृदय से लेकर सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई ७२००० बहत्तर सहस्र नाड़िएं हैं इनहीं नाड़ियों के द्वारा विचरण करता हुआ यह जीवात्मा शरीर में स्थित है। यहां केवल ७२००० सहस्र नाड़ियों की चर्चा है। पुनः "हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधाभिन्न एवमस्यैताहिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिताः" पुनः बृ० ४।२।३॥ तावा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशःसहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति। शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः॥ ४।३।२०॥ भाव इसका यह है कि हृदयपिण्ड से सम्बन्धित केशसदृश सूक्ष्म सहस्रों नाड़िएं हैं। वे शुक्ल, नील, पिङ्गल, हरित, लोहित रस से पूर्ण हैं इस प्रकार उपनिषदों

* कठोपनिषद् में एतत्सम श्लोक है। यथा-"शतञ्चैकाच हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" कठ ६। १।६। प्रश्नोपनिषद् में" हृदिह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति। प्रश्न० ३॥ ६॥

तत् । एषः । श्लोकः । शतम् । च । एका । च । हृदयस्य । नाड्यः । तासाम् । मूर्धानम् । अभिनिःसृता । एका । तया । ऊर्ध्वम् । आयन् । अमृतत्वम् । एति । विष्वङ् । अन्याः । उत्क्रमणे । भवन्ति । उत्क्रमणे । भवन्ति ॥ ६ ॥

भाष्यम्-तत्तस्मिन् पूर्वोक्त विषये । एष श्लोको भवति । तथाहि । हृदयस्य मांसपिंडभूतस्य सम्बन्धिन्यः । शतञ्च । एका च । नाड्यः सन्ति । प्रधानतया एकोत्तरशतं नाड्यो वर्त्तन्ते । द्वौ चकारौ नाडीनामानन्त्यं सूचयतः । तासां नाडीनाम् । एका नाडी । मूर्धानं शिरः । अभिनिःसृता । मूर्धानमभिलक्ष्य विनिर्गतास्ति । इयमेव प्रधाना नाडी । तत् प्रधानत्वमाह । तयामूर्धाभिनिःसृतया पूर्वोक्तया नाड्या द्वारया । एष जीवः । ऊर्ध्वमायन् । ऊर्ध्वं गच्छन् सन् । अमृतत्वममरणभावं मोक्षम् । एति प्राप्नोति । किमितरया नाड्या गच्छतो नामृतत्वाशा ? न । तथाहि । अन्या नाड्यः । विष्वङ् नानागतयस्तिर्य्यग्विविधगयः । संसारगमनद्वारभूता एव भवन्ति । नामृतत्वाय । किं तर्हि । उत्क्रमणे उत्क्रमणनिमित्तायैवभवन्ति । उत्क्रमणन्तु ताभिरपि नाडीभिर्भवति । परं न सद्गतिस्ताभिर्गच्छतामित्यर्थः । द्विरभ्यासः प्रकरणसमाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इति षष्ठखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥

अनुवादः-उस विषय में यह श्लोक है, हृदय की एकसौ एक नाड़िएं हैं । उन में से एक नाड़ी मूर्धा की ओर निकली हुई है । उससे ऊपर को जाता हुआ जीवात्मा अमृतत्व को पाता है (अन्य से नहीं) अन्य विविध प्रकार की नाड़िएं उत्क्रान्त्यर्थमात्र हैं । उत्क्रान्त्यर्थमात्र हैं (अर्थात् अन्य नाड़ियां केवल उत्क्रमण के लिये तो हैं परन्तु उन नाड़ियों से निकलता हुआ जीवात्मा अमृतत्व को नहीं पाता) ॥ ६ ॥

पदार्थः-(तत्) उस विषय में (एषः+श्लोकः) यह श्लोक है (हृदयस्य) हृदयसम्बन्धी (शतम्) सौ (एका+च) और एक (नाड्यः) नाड़ियां हैं । चकारशब्द से हृदय में अनेक नाड़ियां हैं यह सूचित होता है । उनमें प्रधान एकसौ एक नाड़ियां हैं (तासाम्) उन नाड़ियों में से (एका) एक नाड़ी (मूर्धानम्+

में ऋषियों ने नाड़ी की स्थिति कही है । वहां सुषुम्ना नाड़ी की प्रधानता मानी गई है, यद्यपि यह शब्द प्रधान उपनिषदों में नहीं पाया जाता है तथापि ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी का नाम पश्चात् लोगों ने "सुषुम्ना" रक्खा, ऐसी प्रतीति होती है । ऊर्ध्वगामिनीनाड़ी से ज्ञान अर्थ प्रकाशित होता है केवल नाड़ी नहीं । यह वर्णन आलङ्कारिक मात्र है ग्रन्थविस्तार के भय से अधिक लिखना उचित नहीं देखते हैं ॥

अभिनिःसृता) मूर्धा की ओर निकली हुई है (तया) उस नाड़ी से (ऊर्ध्वम्+आयन्) ऊपर को जाता हुआ (अमृतत्वम्+एति) अमृतत्व को पाता है (अन्याः) अन्य नाड़ियां (विष्वङ्) विविध प्रकार की हैं परन्तु अमृतत्व के लिये नहीं तो पुनः किसलिये हैं ? सो आगे कहते हैं (उत्क्रमणे+भवन्ति) केवल उत्क्रमण मात्र के लिये होते हैं ॥ ६ ॥

इति षष्ठखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

यः । आत्मा । अपहतपाप्मा । विजरः । विमृत्युः । विशोकः । अविजिघत्सः । अपिपासः । सत्यकामः । सत्यसंकल्पः । सः । अन्वेष्टव्यः । सः । विजिज्ञासितव्यः । सः । सर्वान् । च । लोकान् । आप्नोति । सर्वान् । च । कामान् । यः । तम् । आत्मानम् । अनुविद्य । विजानाति । इति । ह । प्रजापतिः । उवाच ॥ १ ॥

भाष्यम्—य इति । आप्नोतेर्वाऽततेर्वाऽऽतनोतेर्वाऽऽत्मशब्दसिद्धिः । यः परमः प्रसिद्धः आत्मा । परमात्मा ब्रह्माख्यः सर्वत्रैव विद्यमानोऽपि अकृतात्मभिरविरतैर्दुश्चरितैरशान्तैरसमाहितैरशान्तमानसैरगम्योवर्तते । सोऽन्वेष्टव्यः । स सर्वत्रान्वेषणीयोमार्गणीयः । स विजिज्ञासितव्यः । स विशेषेण प्रत्येकपदार्थेषु जिज्ञासनीयः । तस्यैवान्वेषणं तस्यैव जिज्ञासा च विधेया । अन्यत्रोक्तं—तमेवधीरोविज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् । बृ० उ० ४ । ४ । २१ ॥ अन्यच्च । ओमित्येवंध्यायथ आत्मानम् । अन्यच्च । तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैषसेतुः । मु० २ । २ । ६ । ५ ॥ आत्मानं बहुभिर्विशेषणैर्मुमुक्षूणां सुखबोधाय पौनःपुन्येन दृढीकरणाय च विशिनष्टि । स आत्मा कीदृग् । अपहतपाप्मा । अपहतोऽपगतः पाप्मा पापं यस्य सः । विजरः । विगता अविद्यमाना जरा यस्य सः । विमृत्युः । मृत्युसंसर्गरहितः । यस्यभयान्मृत्युर्धावति । स कथं मृत्युमतिक्रामेत । तदुक्तं कठे—भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । ६ । ३ ॥ विशोकः । एष सर्वेश्वरः । एषभूताधिपतिः । एषभूतपालः एषसेतुर्विधरणः । एष आत्मकामः सर्वकामः स कथं किमुद्दिश्यशोचेत अविजिघत्सः ।

विशेषेण अत्तुं भक्षयितुमिच्छा विजिघत्सा अशिशिषा बुभुक्षा । नास्ति विजिघत्सा यस्य सोऽविजिघत्सः अशनेच्छारहितः । पातुमिच्छापिपासा न विद्यते पिपासा यस्य सोऽपिपासः पानेच्छारहितः । ननु यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनम् मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" कठ १ । २ । १५ ॥ अहमन्नादोऽहमन्नादोहमन्नादः इत्येवंविधैर्वाक्यैर्जीववत् सोऽपि अन्नादीनां भोक्ता प्रतिपद्यते । व्यासोऽपि "अत्ताचराचरग्रहणात्" इत्यादि सूत्रजातैर्ब्रह्मणोऽत्तृत्वमसीसधत् । स कथं तर्हि अविजिघत्स उच्येत । पुनरपि ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके इत्यादिभिः पिपासाऽपि तस्य साध्यते । अतः । अपिपास इत्यपि न युक्तम् । इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः । नहि वयमिव सोऽत्ति पिबति वा तस्मिन् अदनं पानम्वा केवलमुपचर्यतएव । तदिच्छयाविज्ञानवन्तो ब्राह्मणा अपि वीराः क्षत्रिया अपि च संह्रियन्ते । महान् प्रबलो मृत्युरपि तत्रैव प्रविलीयतेऽन्ते ऊर्णनाभवत् प्रलयान्ते सर्वं संहरतीति अत उच्यते न वास्तविकमत्तृत्वं तस्मिन् संघटेत कदाचित् । पुनः । सत्यकामः सत्यसङ्कल्पश्चेश्वरोस्ति । ननु स्यादीश्वरः सर्वसम्पन्नः किंस्यात्तेनास्माकमित्याह । यो विद्वान् मुमुक्षुः । तमात्मानम् ब्रह्माख्यं परमात्मानम् । अनुविद्य । पूर्वं तत्सृष्टानां पदार्थानां यथोपदेशं यथातथ्यं विदित्वा पश्चात् तद्द्वारा आत्मना परमात्मानं साक्षात्कृत्य विजानाति निरवशेषं जानाति वेत्ति । यद्वा तत्पश्चात् मोक्षसाधनमात्मशुद्धिञ्च जानाति । तस्यइदंफलमस्ति । स सर्वांश्च लोकान् आप्नोति । यं यं लोकं पितृलोकं भ्रातृलोकम् इत्येवमादिं कामयते संकल्पादेवास्य समुत्तिष्ठन्तीतिपूर्वमुक्तम् । तथाच सर्वान् ऐहिकान् आमुष्मिकान् कामान् मनोरथान् प्राप्नोति । इत्युपदेशं कदाचित् कुत्रचित् प्रजापतिः पुरा प्रसिद्धः कोऽपि ब्रह्मविदां वरिष्ठः साक्षात्कृतात्मा प्रजापतिसंज्ञकः पुरुषः । उवाच ह । स्वशिष्यान् अनुशास्तिस्म । हैतिह्ये ॥ १ ॥

अनुवादः—जो परमात्मा अपहतपाप्मा सर्वपाप जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित और सत्यकाम, सत्यसंकल्प है उसी का अन्वेषण और उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये जो उस परमात्मा को जान मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है । वह मुमुक्षुजीव उस परमात्मा के सम्बन्ध से सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है । यह उपदेश किसी स्थान में और किसी समय में प्रजापति दे रहे थे ।

पदार्थः—(ह) यह इतिहाससूचक है (प्रजापतिः+उवाच) एकसमय प्रजापति नाम के विद्वान् पुरुष जो पूर्वकाल में ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ थे शिष्यों से उपदेश दे रहे थे कि हे शिष्यो ! (यः) जो (आत्मा) परमात्मा (अपहतपाप्मा) पाप रहित है (विजरः) जरावस्थारहित (विमृत्युः) मृत्युशङ्काशून्य (विशोकः) शोकशून्य (अविजिघत्सः)

बुभुक्षा रहित (अपिपासः) पिपासा रहित है । और (सत्यकामः) सत्यकाम (सत्यसङ्कल्पः) सत्य सङ्कल्प है (सः) वही परमात्मा (अन्वेष्टव्यः) खोजने के योग्य है (सः) वही परमात्मा (विजिज्ञासितव्यः) विशेषरूप से जानने के योग्य है (यः) जो (तम्+आत्मानम्) उस परमात्मा को (अनुविद्य) जानकर (विजानाति) मुक्ति के साधनों और आत्म-शुद्धियों को जानते हैं । यद्वा सकलपदार्थों में अनुगत उसे प्रथम जान पश्चात् सकलपदार्थों से भी उसे भिन्न जानता है (सः) वह विज्ञानीपुरुष (सर्वान्+च+लोकान्) सम्पूर्ण लोकों को (सर्वान्+च+कामान्) सम्पूर्ण कामों को (आप्नोति) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः–आत्मा–(आप्लृव्याप्तौ, अतसातत्यगमने, तनुविस्तारे) जो सर्वत्र सबकाल विषय व्याप्त हो जिसकी जगत्प्रपञ्चव्यापाररूपक्रिया प्रतिक्षण धाराप्रवाहवत् जाग्रत हो । जो सर्व ब्रह्माण्ड को विकाश प्रकाशरूप विस्तारताको प्राप्त करवावे इत्यादि अर्थ आत्म-शब्द के होते हैं वह आत्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान ही है क्योंकि आत्म-शब्द का अर्थ ही वैसा है । तथापि अकृतात्म, अविरत, दुश्चरित, अशान्त, अशान्तमानस असमाहित पुरुष उसको नहीं पासकते हैं । अतः कृतात्मादि गुणवान् पुरुष को वह ब्रह्म अन्वेषणीय है और प्रत्येक पदार्थों में वही जानने योग्य है । बृहदारण्यक उपनिषद में कहागया है (तमेव०) धीर ब्रह्मविद् पुरुष विशेषरूप से उसको जान प्रज्ञा करें । बहुत शब्दों को चिन्तन न करें । क्योंकि वह वाणी की ग्लानिमात्र है अर्थात् व्यर्थ शब्दों के जानने से केवल श्रममात्र होता है । मुण्डक में क० (ओमित्येवम्०) सर्वव्यापक ओङ्कारवाच्य ब्रह्मका ही ध्यान करो (तमेकम्०) उसी एक परमात्माको जानो अन्यवचनों को त्यागो । यह अमृतका सेतु है । इन श्रुतियों के प्रमाणों से वही एक परमात्मा सदासर्वत्र अन्वेषणीय और विजिज्ञासनीय है । आगे मुमुक्षु जनों के सुखबोधार्थ और पुनः पुनः दृढ़ीकरणार्थ अनेक विशेषणों से उसी आत्मा का वर्णन करते हैं । विमृत्यु–मृत्यु उसके भय से भागता फिरता है । तब उस पर आक्रमण कैसे करसकता है । कठ में कहा गया है । इसके भय से । अग्नि और सूर्य तपता है । विद्युत् वायु और मृत्यु भागता है । विशोक–सर्वेश्वर, यह भूताधिपति, यह भूतपाल, यह जगत्का सेतु और विधरण है । यह आप्तकाम और सर्वकाम है । ऐसा श्रुति कहती है । ईदृग् परमात्मा किस वस्तु के उद्देशसे शोक करेगा । अतः यह विशोक कहागया है । अविजिघत्सः–"अद् भक्षणे" धातु से जिघत्सा बनता है । खानेकी इच्छा का नाम जिघत्सा है । वि=विशेष । न=नहीं विनष्ट व्यतीत ।

जिसको विजिघत्सा विगत होगई है । वह अविजिघत्स कहलाता है । अपिपास—"पा पाने" से पिपासा बनता है । पीने की इच्छा का नाम पिपासा । जिसको पिपासा न हो वह अपिपास । वहां शङ्का होती है कि जिस परमात्माका ब्राह्मण और क्षत्रिय ओदन (भात) है और मृत्यु खाने का घृत है । कौन इसको ऐसा जानता है । जहां वह है (कठ) मैं अन्नका खाने वाला हूं । मैं अन्नका खानेवाला हूं । मैं अन्न का खानेवाला हूं (यह तैत्तिरीयका वचन है) इस प्रकार के वाक्यों से विस्पष्ट जीववत् वह भी अन्नादिकों का भोक्ता प्रतीत होता है । व्यासभी—(अत्ताचराचरग्रहणात्) इत्यादि सूत्रसमूहों से ईश्वर को अन्नादिभोक्ता सिद्ध किया है । ऐसी दशामें वह ब्रह्म अविजिघत्स कैसे कहला सकता है। पुनरपि—(ऋतंपि०) वह सत्य को पीता है इससे उसके पिपासा की भी सिद्धि होती है । अतः अपिपास कहना भी युक्त नहीं है । इसका उत्तर यह है अस्मदादिवत् न खाता न पीता है उसमें अदन और पान केवल अलङ्काररूप से वर्णन किया जाता है । उसकी इच्छासे ज्ञानवान् ब्राह्मण भी, वीर क्षत्रिय भी संहृत होते हैं । महान् प्रबल मृत्यु भी अन्त में वहां ही प्रलीन होता है । ऊर्णनाभ कीट समान प्रलयान्त में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संहार अपने में वही करता है इसी हेतु वह "अत्ता" कहलाता है । कदाचित् भी वास्तविक अत्तृत्व उसमें घट नहीं सकता । अनुविद्य=अनु+विद्य । अनु=पश्चात् । विद्य=जानकर । अर्थात् प्रथम तत् सृष्ट सब पदार्थों को जो जान उसको जानता है उसका फल आगे कहागया है । पितृलोक, भ्रातृलोक, मातृलोक इत्यादि लोक उसके सङ्कल्पमात्रसे प्राप्त होते हैं पूर्व प्रकरण में ऐसा वर्णन होचुका है अतः वह ब्रह्मज्ञानी जिस २ लोक और कामना को चाहता है वह सब उपस्थित होता है ॥ १ ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २॥

तद् । ह । उभये । देवासुराः । अनुबुबुधिरे । ते । ह । ऊचुः । हन्त । तम् । आत्मानम् । अन्विच्छामः । यम् । आत्मानम् । अन्विष्य । सर्वान् । च । लोकान् । आप्नोति । सर्वान् । च । कामान् । इति । इन्द्रः । ह । एव ।

देवानाम् । अभि । प्रवव्राज । विरोचनः । असुराणाम् । तौ । ह । असंविदानौ । एव । समित्पाणी । प्रजापतिसकाशम् । आजग्मतुः ॥ २ ॥

भाष्यम्-तद्धेति । तद्ध । तत्र किल । उभये देवासुराः । देवाश्च असुराश्च । देवासुराः । वैदिकधर्म्मावलम्बिनो देवास्तद्विपरीतास्तु असुराः पुरा प्रोच्यन्त इतिविवेकः । य आत्माऽपहतपाप्मेत्याद्युपदेशं प्रजापतिकृतम् । अनु=परम्परागतं स्वकर्णगोचरापन्नम् । बुबुधिरे । बुद्धवन्तः । प्रजापतिरीदृशमुपदेशं ददाति येन सर्वेषां लोकानां वशीकरणम् । सर्वेषांकामनाञ्चाधिपत्यं भवतीति श्रुतवन्त इत्यर्थः । ते ह प्रसिद्धा देवासुराः स्वस्वपरिषदि परस्परमूचुरुक्तवन्तः । हन्त यदि भवतामनुज्ञास्यात्तर्हि तमात्मानमन्विच्छामः । मार्गयामः । अन्वेषणं कुर्मः । यमात्मानमन्विष्यमार्गयित्वा सर्वांश्च लोकान् सर्वान् कामांश्च जन आप्नोतीति । तया मीमांसया देवानां मध्ये ह प्रसिद्धः कोऽपि इन्द्र इन्द्रनामा पुरुषविशेषः । असुराणां मध्ये च विरोचननामा कश्चिद् । अभिवव्राज । ब्रह्मचारीवत् प्रजापतिमभिलक्षीकृत्य प्रतस्थे । तौ ह इन्द्रविरोचनौ किल असंविदानावेव । अन्योऽन्यं संविदंविवादमकुर्वाणौ विद्याफलं प्रति अन्योऽन्यमीर्षां दर्शयन्तावेव । पुनः । समित्पाणी । समिधो यज्ञसामग्र्यः पाणौ ययोस्तौ । समित्पाणी सन्तौ । प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः । आगतवन्तौ ॥ २ ॥

अनुवादः-उस समय दोनों देवों और असुरों को (प्रजापति का वह उपदेश) ज्ञात हुआ तब वे परस्पर अपनी २ सभा में विचार ने लगे कि यदि आप लोगों की आज्ञा होवे तो हम लोग उस आत्मा का अन्वेषण करें जिस आत्मा का अन्वेषण कर समस्त लोकों और समस्त कामों को पाता है । यह स्थिर कर देवों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचनने प्रजापति के स्थान को प्रस्थान किया । वे दोनों विद्या के लिये परस्पर न लड़ते हुए=परस्पर भाषण न करते हुए और समिधा को हाथ में ले प्रजापति के समीप आये ॥ २ ॥

पदार्थः—(ह) इतिहाससूचक होता है (तत्) वहां अथवा । प्रजापति के उस वचन को (उभये) दोनों (देवासुराः) देवों और असुरों ने (अनुबुबुधिरे) परम्परा से जाना (ते+ह) उन देवों और असुरों ने (ऊचुः) अपनी २ सभा में परस्पर कहा कि (हन्त) यदि सबों की सम्मति हो तो (तम्+आत्मानम्) उस आत्मा को (अन्विच्छामः) उस आत्मा का हम लोग अन्वेषण करें (यम्+आत्मानम्) जिस आत्माको (अन्विष्य) खोजकर (सर्वान्+च+लोकान्) सब लोकों और (सर्वान्+कामान्) सब कामों को (प्राप्नोति) मनुष्य पाता है (इति) इस प्रकार स्थिरकर

(देवानाम्) देवों में से (इन्द्रः+ह+वै) प्रसिद्ध इन्द्रने ही और (असुराणाम्) असुरों में से (विरोचनः) विरोचन ने ही (अभिवव्राज) प्रजापति के स्थान को उस विद्या के अध्ययन के लिये प्रस्थान किया (तौ+ह) वे दोनों (असंविदानौ+एव) परस्पर विवाद न करते हुए किन्तु विद्योपार्जननिमित्त ईर्षा को दिखलाते हुए ही और (समित्पाणी) हाथ में समिधा लेकर (प्रजापतिसकाशम्) प्रजापति के निकट (आजग्मतुः) आये ॥ २ ॥

भाष्याशयः-देवासुराः-अतिप्राचीन-काल में वैदिक-धर्म्मावलम्बी को देव और तद्विपरीत को असुर कहते थे * इन्द्रविरोचन-पूर्व काल में वैदिकधर्म्मावलम्वी आर्य्यों का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन कहलाता था, यह एक पदवीमात्र थी। इन दोनों दलों में सिंहासनादिरूढ़ जो जो होते थे वे जनकादिवत् इन्द्र और विरोचन कहलाया करते थे। परमऐश्वर्य-सम्पन्न को इन्द्र और विशेषकान्ति युक्त को विरोचन कहते हैं। परन्तु यहां ये दोनों गुणवाची शब्द हैं जिस में विद्याग्रहण करने की सामग्रीरूप ऐश्वर्य हो वह इन्द्र और (विगतं विरोचनं प्रकाशो यस्मात्) विद्याग्रहण का प्रकाश जिससे निकलगया है वह विरोचन। जैसे मलीन दर्पण प्रकाश-ग्रहण नहीं करता। और स्वच्छ करता है। यहां इन्द्रको स्वच्छ और विरोचन को मलीन दर्पण समान जानना। इसी हेतु इन्द्र को विद्या प्राप्त हुई। और विरोचन को नहीं। समित्पाणि-अति प्राचीनकाल में ब्रह्मचारी को समित्पाणि कहते थे। समित्+पाणि दो शब्द हैं इन में "इन्धनं त्वेध इध्ममेधः समिस्त्रियाम्" इन्धन, एध, इध्म, एधस् और समित् (समिधा) ये सब नाम सूखे काष्ठ और तृण आदि के हैं। और पाणि नाम हाथ का है (समित्पाणौ यस्य सः) जिस के हाथ में समित् (समिधा) हो उसे समित्पाणि कहते हैं। तो क्या हाथ में काष्ठ लेकर ब्रह्मचारी पुराकाल में पढ़ते थे? नहीं। यहां समिधा शब्द केवल ब्रह्मचर्य्य व्रतसम्बन्धी सामग्री का लक्षक है। अर्थात् ब्रह्मचर्यरूपव्रत धारण के हेतु जिस सामग्री की आवश्यकता होती है वह २ सब उनके निकट वर्त्तमान रहता था। एक वाह्य सामग्री, सूत्र, कमण्डलु, कौपीन, दण्ड आदि। दूसरी आभ्यन्तर उपस्थेन्द्रिय संयम, अचञ्चलता, मितभाषिता, उत्साह, विश्वास, सुश्रूषा आदि। दोनों सामग्रियें जिस के निकट सर्वदा विद्यमान हों वे समित्पाणि हैं। उपनिषदों में जहां कहीं विद्याध्ययन की चर्चा आई है वहां २ समित्पाणि शब्द का प्रयोग देखने में आता है। यथा-"समित्पाणयो भगवन्तं पिप्लाद-

* प्रथम प्रपाठक द्वितीय खण्ड की समीक्षा देखो

मुपसन्नाः" प्रश्न १ । १ ॥ सुकेशा आदि ब्रह्मचारी भगवान् पिप्पलाद के निकट समित्पाणि होकर आये । "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । मुण्डक १ । २ । १२ ॥ उस ब्रह्म के विज्ञानार्थ "समित्पाणि" हो वह ब्रह्मचारी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जाय । "समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे" छान्दो० ५ । ११ । ७ ॥ प्राचीनशाल आदि विद्वान् "समित्पाणि" होकर राजा अश्वपति के निकट वैश्वानरी विद्या के अध्ययनार्थ पूर्वाह्ण समय में पहुंचे । छान्दोग्योपनिषद् अष्टमप्रपाठक में यह प्रयोग अनेकवार आया है । इन प्रयोगों से यह भी विदित होता है कि केवल ब्रह्मचारी के लिये ही नहीं किन्तु जिज्ञासु विद्वानों के लिये भी यह समित्पाणि शब्द आया है ॥ २ ॥

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच—किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ ३ ॥

तौ । ह । द्वात्रिंशतम् । वर्षाणि । ब्रह्मचर्य्यम् । ऊषतुः । तौ । ह । प्रजापतिः । उवाच । किम् । इच्छन्तौ । अवास्तम् । इति । तौ । ह । ऊचतुः । यः । आत्मा । अपहतपाप्मा । विजरः । विमृत्युः । विशोकः । अविजिघत्सः । अपिपासः । सत्यकामः । सत्यसङ्कल्पः । सः । अन्वेष्टव्यः । सः । विजिज्ञासितव्यः । सः । सर्वान् । च । लोकान् । आप्नोति । सर्वान् । च । कामान् । यः । तम् । आत्मानम् । अनुविद्य । विजानाति । इति । भगवतः । वचः । वेदयन्ते । तम् । इच्छन्तौ । अवास्तम् । इति ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तौ हेति । तौ हेन्द्रविरोचनौ । द्वात्रिंशतंवर्षाणि अब्दान् । प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमूषतुः । ततः प्रजापतिर्ह तावुवाच । हे इन्द्रविरोचनौ, सम्प्रति, अधीता विद्याः सर्वाः । गच्छतं स्वं स्वं गृहम् । तौ चागच्छन्तौ दृष्ट्वा मानसिकं भावं विज्ञातुं पुनरप्युवाच । इतः परं

किमधिकं तत्त्वमिच्छन्तौ । युवाम् अवास्तम् । उषितवन्तौ । तत्प्रयोजनं विस्फुटीकृत्य वदतम् । इति प्रजापतिनाचार्य्येण पृष्टौ तौ होचतुः । य आत्मेत्यारभ्य विजानातीत्यन्तं सर्वं पूर्वं व्याख्यातमेव । इति पूर्वोक्तं भगवतो वचो वचनं शिष्टाजना वेदयन्ते कथयन्ति । तमात्मानम् विज्ञातुम् । इच्छन्तौ । अवास्तम् अवास्व । उषितवन्तौ । आर्ष प्रयोगः ॥ ३ ॥

अनुवादः—वे दोनों (प्रजापति के निकट) बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य करते रहे अनन्तर उन दोनों से प्रजापति ने पूछा कि किस प्रयोजन की इच्छा से आप दोनों ने यहां निवास किया । वे दोनों बोले कि जो आत्मा (परमात्मा) पाप, जरा, मृत्यु, शोक, बुभुक्षा और पिपासा रहित है और जो सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है वही अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासनीय है । जो कोई उस आत्मा को जान मोक्षमार्ग और आत्मशुद्धि को जानता है वह सब लोकों और सब कामों को पाता है । आप के इस उपदेश को आप्त लोग कहा करते हैं । हे भगवन् ! उसी आत्मा के जानने की इच्छा से हम दोनों ने यहां निवास किया है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तौ+ह) वे दोनों (द्वात्रिंशतम्) ३२ बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य के उद्देश से (ऊषतुः) प्रजापति के निकट निवास करते रहे (तौ+ह+प्रजापतिः+उवाच) उन दोनों से प्रजापति बोले कि (किम्+इच्छन्तौ) किस पदार्थ को चाहते हुए तुम दोनों ने (अवास्तम्) मेरे निकट वास किया है (इति) प्रजापति के पूछने पर (तौ+ह+ऊचतुः) वे दोनों बोले (य+आत्मा+···विजानाति+इति०) जो परमात्मा अपहतपाप्मा है इत्यादि (इन का व्याख्यान पूर्व यहां ही हो चुका है) (भगवतः+वचः+वेदयन्ते) आप के इस वचन को विद्वान् लोग कहा करते हैं (तम्+इच्छन्तौ+अवास्तम्+इति) उसी परमात्मा के जानने की इच्छा करते हुए हम दोनों ने यहां निवास किया है (१) ॥ ३ ॥

(१) आप दोनों ने मेरे निकट बत्तीस वर्ष रहकर सम्पूर्ण विद्याएं पढ़ीं अब आप अपने २ गृह पर जायं, परन्तु अपने अभीष्ट को अप्राप्त वे दोनों आचार्य के कथन को सुनकर भी जब समावर्त्तन करने से संकुचित देख पड़े तो प्रजापति ने उन के मानसिक भाव को जानने के लिये पुनः जिज्ञासा की । इतना व्याख्यान यहां और बढ़ाना चाहिये। क्योंकि अन्यथा इस में यह दोष आवेगा कि ३२ वर्ष तक उनके निकट वास करते हुए उन दोनों का ब्रह्मचर्य प्रयोजन प्रजापति को न मालूम हो यह बात असंगत प्रतीत होती

तौ ह प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

तौ । ह । प्रजापतिः । उवाच । यः । एषः । अक्षिणि । पुरुषः । दृश्यते । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतद् । अमृतम् । अभयम् । एतद् । ब्रह्म । इति । अथ । यः । अयम् । भगवः । अप्सु । परिख्यायते । यः । च । अयम् । आदर्शे । कतमः । एषः । इति । एषः । उ । एव । एषु । सर्वेषु । एतेषु । परिख्यायते । इति । ह । उवाच ॥ ४ ॥

भाष्यम्—तौ हेति । प्रजापतिराचार्य्यस्तयोराकाङ्क्षां विदित्वा तौ हेन्द्रविरोचनौ वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हे इन्द्रविरोचनौ ! य एष पुरुषः । अक्षिणि चक्षुषि प्रकृतौ वा । दृश्यतेऽवलोक्यते । एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युरित्यादिपूर्वोक्तगुणैः यथा युवाभ्यां श्रुतः । प्रजापतेरिदं वचनं श्रुत्वा संशयितौ तौ बभूवतुः । प्रजापतिः किमिदमुपदिशति । अयन्तु सर्वदैव सन्निहिततमोऽस्ति । नहि तेन वयमपहतपाप्मत्वादिगुणा अभूम । न च सर्वान् लोकांश्च प्रापाम । अतः प्रजापति-वचन-श्रवणात् प्रसन्नतादिभावमप्रकट्य मौनावलम्बिनौ सन्तौ स्तब्धौ इव क्षुब्धाविवास्ताम् । शिष्ययोरिमां दशामवलोक्य प्रजापतिः पुनरुवाच । एतत्कथ-

है । यदि यह कहा जाय कि जब उन्हें मालूम ही था तो पुनः पूछने की आवश्यकता क्या थी ? ।

उत्तर—प्रजापति जैसे अन्य ब्रह्मचारियों को पढ़ाया करते थे वैसे ही प्रथम उन्हें भी पढ़ाया होगा । परन्तु ये दोनों उतनी विद्या से संतुष्ट न हुए हों क्योंकि अभीतक सब लोकों और सब कामों को इन दोनों में से किसी ने नहीं पाया । परन्तु यही उन दोनों का अभीष्ट था । अतः ३२ वर्ष में अन्य सब विद्याएं अध्ययन करने पर भी अभीष्ट न पाकर समावर्त्तन करने में अपनी उदासीनता प्रकट की होगी । तब अन्तर्भावविकारज्ञ प्रजापति ने देखा होगा कि ये दोनों कुछ अन्य विद्या के भी जिज्ञासु हैं, अतः प्रजापति ने पूछा कि आप दोनों ने किस प्रयोजन के लिये मेरे निकट निवास किया है, इत्यादि विषय का अनुसन्धान करना ॥

यित्वा प्रजापतिः पूर्वोक्ताङ्क्षिन्ध्वैशिष्यावुवाच । एतत् । विधेयप्राधान्यान्नपुंसकम् । एष अक्षिणि दृश्यमान आत्मा अमृतम् । पुनः । अभयम् । भयशून्यम् । एतद् । एष आत्मैव । ब्रह्म । बृहत्तमम् । महत्तममित्यर्थः । गुणवाची ब्रह्मशब्दः । बृहत्त्वाद् ब्रह्म । गुणैर्नन्तवत्वात्-वैरात्मा बृहन्नस्ति । अनेकेष्वर्थेषु ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । वेदे ब्रह्मण्ये ऋत्विजे परमात्मनि आकाशे इत्यादिषु । अथ प्रजापतिवचनं श्रुत्वा तौ पृच्छतः । भगवः । हे भगवन् आचार्य गुरो ! योऽयमात्मा । अप्सुजले । यश्चायमात्मा । आदर्शे । दर्पणे परिख्यायते । परितः समन्तात् ख्यायते ज्ञायते । कतम एष आत्मेति । अक्षिजलादर्शादिषु दृश्यमानानामात्मनांमध्ये भगवद्भिरुक्तः कतमआत्माभिप्रेतोऽस्ति । एषुभिन्नोभिन्न आत्मा दृश्यते । किमेवं जातीयकेषु दृश्यमाना आत्मानः सर्व एकएव वर्त्तन्ते उत तेषां भेदोऽस्ति । तत्रापि एतएव अपहतपाप्मत्वादि गुणका उतान्यः कश्चित् । इत्यावयोः सन्देहोऽस्ति । इति शिष्ययोर्वचनं श्रुत्वा संशयमपनयन् प्रजापतिरुवाच । एतेषु एषु सर्वेषु अक्षिवार्यादर्शेषु यः परिख्यायते परितोविज्ञायते एष उ एव आत्मा अपहतपाप्मत्वादिगुणको विज्ञेयः ॥ ४ ॥

इति सप्तमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अनुवादः—प्रजापति उन दोनों से बोले कि जो यह पुरुष अक्षि (प्रकृति) में दीखता है वह आत्मा है । इतना कह पुनः वह बोले कि यह अमृत है । यह अभय है और यह ब्रह्म (बहुत बड़ा) है (इतना सुन वे दोनों बोले कि) हे भगवन् ! जो यह (आत्मा) जल में और जो यह (आत्मा) आदर्श में चारों तरफ विदित होता है वह कौन आत्मा है ? (प्रजा०) उन इन सबों में जो विदित होता है वही तो है ॥४॥

पदार्थः-(प्रजापतिः) आचार्य प्रजापति उन दोनों की आकाङ्क्षा को जान (उवाच+ह) बोले कि प्रिय शिष्य इन्द्र ! तथा विरोचन (यः+एषः+पुरुषः) जो यह पुरुष (अक्षिणि) प्रकृति वा नयन में (दृश्यते) दीखता है (एषः+आत्मा) यही आत्मा है। अर्थात् पाप, जरा, मृत्यु, बुभुक्षा, पिपासा आदि रहित सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प आदि गुणवाला यही आत्मा है । जिस के गुण प्रथम ही तुम दोनों ने सुने हैं । इतना वचन सुन उन दोनों को सन्देह हुआ कि प्रजापति क्या कहते हैं वह तो मेरे साथ ही है । परन्तु मैं पापादि से रहित नहीं हुआ । अतः प्रजापति के वचन सुन वे दोनों प्रसन्नतादि हृदयभाव को न दिखला कर प्रत्युत मौनावलम्बी स्तब्ध और क्षुब्ध होगये । सन्देह का कारण यह हुआ कि अक्षि शब्द का अर्थ प्रकृति और नयन दोनों होते हैं

प्रकृति अर्थ न समझ नयन ही अर्थ अक्षि शब्द का उन दोनों ने समझा अतः शिष्यों की यह दशा देख पुनः प्रजापति बोले। हे प्रिय इन्द्र ! विरोचन ! (एतत्+अमृतम्) यह आत्मा अमृत है (अभयम्) अभय=भयरहित है (एतद्) यह (ब्रह्म) गुणों में बहुत बड़ा है। इतना वचन सुन वे दोनों बोले कि (भगवः) हे भगवन् (यः+अयम्) जो यह (अप्सु) जल में (यः+च+अयम्) और जो यह (आदर्शे) दर्पण में (परिख्यायते) सर्वत्र दीखता है (कतमः+एषः) कौन यह आत्मा है ?। नयन जल और आदर्श में देखे जाते हुए आत्माओं में से किस आत्मा से आप का अभिप्राय है क्योंकि इनमें भिन्न २ आत्मा देख पड़ता है। इस प्रकार के पदार्थों में दृश्यमान आत्मा सब एक ही है या इनमें भेद है। और ये ही सब आत्मा अपहतपाप्मत्वादि गुणवाले हैं अथवा अन्य ? यह हम दोनों का सन्देह है। शिष्यों के इस वचन को सुन सन्देह को दूर करते हुए प्रजापति (ह+उवाच) बोले कि (एतेषु+एषु+सर्वेषु) उन इन सबों में जो आत्मा (परिख्यायते) अच्छे प्रकार दीख पड़ता है (एषः+उ+एव) वही तो निश्चय आत्मा है अर्थात् नयन जल आदर्श आदियों में जो अनुभूत होता है वही अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अबुभुक्षित, अपिपास और सत्यकाम, सत्यसङ्कल्पत्वादि गुणविशिष्ट है। दूसरा नहीं ॥ ४ ॥

इति सप्तमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ? तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति॥ १ ॥

उदशरावे। आत्मानम्। अवेक्ष्य। यत्। आत्मनः। न। विजानीथः। तत्। मे। प्रब्रूतम्। इति। तौ। ह। उदशरावे। अवेक्षाञ्चक्राते। तौ। ह। प्रजापतिः। उवाच। किम्। पश्यथः। इति। तौ। ह। ऊचतुः। सर्वम्। एव। इदम्। आवाम्। भगवः। आत्मानम्। पश्यावः। आलोमभ्यः। आनखेभ्यः। प्रतिरूपम्। इति॥ १॥

भाष्यम्—उदशराव इति । पुनरपि प्रजापतिरुवाच । हे सोम्यौ इन्द्रविरोचनौ ! युवाम् । उदशरावे । उदकपूर्णशरावादौ । आत्मानम् । आत्मच्छायाम् । अवेक्ष्य सम्यग् दृष्ट्वा । यद्यदितत्र । आत्मनः । आत्मसम्बन्धि तत्त्वं न जानीथः । तत्तर्हि मे मह्यम् । प्रब्रूतम् । कथयतम् । इतिप्रजापतेराचार्य्यस्योपदेशं श्रुत्वा तौ हेन्द्रविरोचनौ । उदशरावे उदकपूर्णे शरावे मृत्तिकापात्रविशेषे आत्मानम् । अवेक्षांचक्राते । ददृशतुः । परन्तु उदशरावे आत्मानमवेक्ष्य तौ किमज्ञासिष्टामित्युपदिष्टावपि प्रजापतये न किमप्यवोचताम् । अतोऽज्ञानविमोहितौ संक्षुब्धौ तूष्णींभूतौ शिष्याववलोक्य स्वयं प्रजापतिरुवाच । युवाम् । अस्मिन् उदशरावे किं पश्यथः इति ? । इत्युक्तौ तौ होचतुः । हे भगवः ! यथाऽऽवाम् । लोमनखादिमन्तौ करचरणाद्यवयववन्तौ वर्त्तावहे । तथैवावाम् आलोमभ्यः । शिरोरुहान् केशान् आरभ्य आनखेभ्यः चरणाङ्गुलिजनखान्तम् । सर्वमेवेदं शरीरस्य प्रतिरूपम् । प्रतिकृतिमात्मानम् । पश्यावः अवेक्षावहे ॥ १ ॥

अनुवादः—पुनः प्रजापति बोले कि हे प्रियशिष्य इन्द्र (विरोचना) जलपरिपूर्ण शराव (मृत्तिकापात्र) में आत्मा को देख यदि तुम दोनों उसे न जान सको तब मुझ से आकर कहो । उन दोनों ने उदक शराव में (आत्मा को) देखा । उन दोनों से प्रजापति पुनः बोले कि क्या देखते हो ? । उन दोनों ने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! नखसिख यह सब (शरीर का) प्रतिरूप आत्मा को हम दोनों देखते हैं ॥ १ ॥

पदार्थः—आचार्य्य प्रजापति पुनः बोले कि (उदशरावे) उद=उदक=जल । शराव=मृत्तिका का पात्रविशेष । अर्थात् जल से भरे हुए किसी पात्र में (आत्मानम्) आत्मा को (अवेक्ष्य) देख (यद्) यदि उस में (आत्मनः) आत्मा के तत्त्व को (न+विजानीथः) नहीं जानसको (तत्) तब (मे) मुझ से (प्रब्रूताम्) आकर कहो (इति) प्रजापति के उस वचन को सुनकर (तौ+ह) वे दोनों (उदशरावे) उदकपूर्णपात्र में (अवेक्षाञ्चक्राते) आत्मा को देखने लगे । परन्तु आत्मा को उसमें देखकर पीछे अपने आचार्य से कुछ नहीं कहा । अतः (प्रजापतिः) पुनः प्रजापति (तौ+ह) उन दोनों से (उवाच) बोले कि (किम्+पश्यथः) हे सौम्य ! इस में क्या देखते हो (तौ+ह+ऊचतुः) आचार्य के वचन सुन वे दोनों बोले कि हे (भगवः) भगवन् ! (आवाम्) हमदोनों जैसे शिखावान् और शरीर के अवयववान् हैं ठीक वैसे ही (आलोमभ्यः) शिर से लेकर (आनखेभ्यः) पैरतक (सर्वम्) सब (इदम्) यह (प्रतिरूपम्) शरीर का प्रतिरूप (आत्मानम्) आत्मा को (पश्यावः) देखते हैं ॥ १ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच-साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच-किं पश्यथ इति ?॥ २॥

तौ। ह। प्रजापतिः। उवाच। साधु। अलंकृतौ। सुवसनौ। परिष्कृतौ। भूत्वा। उदशरावे। अवेक्षेथाम्। इति। तौ। ह। साधु। अलङ्कृतौ। सुवसनौ। परिष्कृतौ। भूत्वा। उदशरावे। अवेक्षाञ्चक्राते। तौ। ह। प्रजापतिः। उवाच। किम्। पश्यथः। इति॥ २॥

भाष्यम्-तौ हेति। पुनरपि प्रजापतिराचार्यस्तौहोवाच। सोम्यौ इन्द्रविरोचनौ। युवाम् साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ च भूत्वा। उदशरावे जलपात्रविशेषे। आत्मानम्। अवेक्षेथाम्। अवेक्ष्यपरमात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतम्। साध्वलङ्कृतौ। साधु शोभनं यथास्यात्तथा विविधभूषणैरलङ्कृतौ भूषितौ। सुवसनौ। शोभनं वसनं वस्त्रं यस्य तौ। परिष्कृतौ। परिधौतौ। सर्वथाविमलौ। तौ ह आचार्य्येण यथोपदिष्टौ तथैव साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ। परिष्कृतौ भूत्वा। उदशरावे। जलपूर्णपात्रे आत्मानम् अवेक्षाञ्चक्राते। ददृशतुः। अस्मिन् समयेऽपि। आत्मानमवेक्ष्य प्रजापतये नावोचताम्। अतः पुनरपि प्रजापतिर्ह तौ उवाच। किं पश्यथः। युवामस्मिन् किं पश्यथः॥ २॥

अनुवादः-उन दोनों से प्रजापति पुनः बोले कि हे सोम्य ! तुम दोनों अच्छे प्रकार अलङ्कृत हो सुन्दर वस्त्र पहन और सर्वथा परिष्कृत हो उदकपूर्ण किसी पात्र में आत्मा को देखो (इस आज्ञा को पा) वे दोनों साध्वलङ्कृत सुवसन और सुपरिष्कृत हो उदकपूर्ण पात्र में (आत्माको) देखने लगे। तब प्रजापति ने उनसे पूछा कि तुम क्या देखते हो ?॥ २॥

पदार्थः-(प्रजापतिः) आचार्य प्रजापति पुनः (तौ+ह) उन दोनों से (उवाच) बोले तुम दोनों (साध्वलङ्कृतौ) अच्छे प्रकार अलङ्कृत (सुवसनौ) सुवस्त्रधारी (परिष्कृतौ) और स्वच्छ अतिविमल (भूत्वा) होकर (उदशरावे) उदकपूर्ण पात्र में (अवेक्षेथाम्) आत्मा को देखो। और देखकर पुनः मुझ से कहो (इति) इस प्रजापति के वचन को सुन (तौ+ह) वे दोनों (साध्वलङ्कृतौ) अच्छे अलङ्कृत (सुवसनौ) सुवस्त्रधारी (परिष्कृतौ) और सुपरिष्कृत (भूत्वा) होकर (उदशरावे) उदकपात्र में (अवेक्षाञ्च-

क्राते) अपने आत्मा को देखने लगे तब (तौ+ह+प्रजापतिः+उवाच) उन दोनों से पुनः प्रजापति बोले कि (किम्+पश्यथः+इति) तुम दोनों इसमें क्या देखते हो ॥ २ ॥

तौ होचुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृताविस्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

तौ । ह । ऊचुः । यथा । एव । इदम् । आवाम् । भगवः । साध्वलंकृतौ । सुवसनौ । परिष्कृतौ । स्वः । एवम् । एव । इमौ । भगवः । साध्वलङ्कृतौ । सुवसनौ । परिष्कृतौ । इति । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतद् । अमृतम् । अभयम् । एतद् । ब्रह्म । इति । तौ । ह । शान्तहृदयौ । प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

भाष्यम्–तौ होचुरिति । किं पश्यथ इति प्रजापतिनाचार्य्येण पृष्टौ तौ होचतुः । हे भगवन् ! यथैवेदं शरीरं पूर्वं सुपरिष्कृतं तथैवेदं पश्यावः । हे भगवः हे भगवन् ! यथैवावाम् । साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ । स्वः । भवावः । वर्त्तावहे । एवमेव तथैव । इमौ आवाम् । साध्वलङ्कृतौ । सुवसनौ । सुवस्त्रौ । परिष्कृतौ । निर्मलौ । स्वः । इति शिष्यप्रत्युत्तरं श्रुत्वा प्रजापतिरुवाच । हे सोम्य ! एतदमृतम् । एषः परमपुरुषः । अमृत अमरणधर्मा । एतदभयम् एतद्ब्रह्म । इति प्रजापतिप्रत्युत्तरं श्रुत्वा तौ हेन्द्रविरोचनौ शान्तहृदयौ गुरुकुलात् प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

अनुवादः–वे दोनों बोले कि हे भगवन् ! जैसे ही हम दोनों अच्छे प्रकार अलङ्कृत, सुवसन और परिष्कृत हैं । हे भगवन् वैसे ही ये दोनों छायात्मा अच्छे प्रकार अलङ्कृत, सुवसन और परिष्कृत हैं (प्रजापति) बोले कि यही आत्मा है । यह अमृत, अभय और यही बड़ा है । यह सुन वे दोनों शान्तहृदय हो वहां से चले ॥ ३ ॥

पदार्थः–(तौ+ह+ऊचतुः) वे दोनों बोले कि (यथा+एव+इदम्) जैसे ही यह शरीर प्रथम था वैसे ही इसको देखते हैं अर्थात् हे (भगवः) भगवन् ! जैसे (आवाम्) हम दोनों (साध्वलङ्कृतौ) अच्छे प्रकार अलङ्कृत (सुवसनौ) सुन्दर वस्त्रधारी (परिष्कृतौ) परिष्कृत विमल (स्वः) हैं (एवम्+एव) वैसे ही (इमौ) ये दोनों छायात्मा (साध्वलङ्कृतौ) अच्छे प्रकार अलङ्कृत (सुवसनौ) सुवस्त्रधारी (परिष्कृतौ) विमल देख पड़ते हैं । यह सुन (एषः+आत्मा+इति) यही आत्मा है (ह+उवाच) ऐसा प्रजापति

ने कहा (एतद्+अमृतम्) यही अमृत है (अभयम्) अभय है (एतद्+ब्रह्म) यही ब्रह्म है (इति) यह सुन (तौ+ह) वे दोनों (शान्तहृदयौ) शान्तहृदय हो (प्रवव्रजतुः) वहां से विदा हो चले ॥ ३ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचाऽनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति। देवा–वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान् जगाम। तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमञ्चामुञ्चेति ॥ ४ ॥

तौ। ह। अन्वीक्ष्य। प्रजापतिः। उवाच। अनुपलभ्य। आत्मानम्। अननुविद्य। व्रजतः। यतरे। एतदुपनिषदः। भविष्यन्ति। देवाः। वा। असुराः। वा। ते। पराभविष्यन्ति। इति। सः। ह। शान्तहृदयः। एव। विरोचनः। असुरान्। जगाम। तेभ्यः। ह। एताम्। उपनिषदम्। प्र। उवाच। आत्मा। एव। इह। महय्यः। आत्मा। परिचर्य्यः। आत्मानम्। एव। इह। महयन्। आत्मानम्। परिचरन्। उभौ। लोकौ। अवाप्नोति। इमम्। च। अमुम्। च। इति ॥ ४ ॥

भाष्यम्–तौ हेति। तौ हेन्द्रविरोचनौ गच्छन्तौ शान्तहृदयौ च। अन्वीक्ष्य अवलोक्य प्रजापतिर्मनसि उवाच। एतौ। आत्मानम्। परमात्मानम्। जीवात्मानम् वा। अनुपलभ्य असाक्षात्कृत्य। पुनः। अननुविद्य अज्ञात्वा मम स्थानात् व्रजतः। स्वं गृहं गच्छतः। अतो यतरे। ये देवा वा असुरा वा। एतदुपनिषदो भविष्यन्ति। एषा उपनिषद् येषां ते एतदुपनिषदः। बहुव्रीहिः। इन्द्रविरोचनाभ्यामयथातथ्यं गृहीता इयमुपनिषत्शिक्षाविद्या येषां देवानाम्वासुराणाम्वा भविष्यति ते देवा वा असुरा वा पराभविष्यन्ति। पराभवं प्राप्स्यन्ति। इति प्रजापति मनसि चिन्तयामास स ह विरोचनो विगततेजस्को मन्दबुद्धिः शान्तहृदय एव लब्धात्मा इव। असुरान् वैदिकसम्प्रदायरहितान् पुरातनान् आर्य्यान् आजगाम। आगत्य च तेभ्योहासुरेभ्यः। एतामुपनिषदं प्रोवाच। हे असुराः! इहास्मिन् लोके। आत्मैव देह

एव । महय्यः पूजनीयः । तथा आत्मा देह एव परिचर्य्यः परिचरणीयः शुश्रूषणीयः । तथा इहास्मिन् लोके आत्मानमेव । देहमेव महयन् पूजयन् । आत्मानं परिचरन् देहमेवविविधाशनवसनैः सेवमानः सन् पुरुषः उभौ लोकौ इमञ्च । अमुञ्च । अवाप्नोति । लभते ॥ ४ ॥

अनुवाद:—उन दोनों को (शान्तहृदय होकर जाते हुए) देख प्रजापति बोले कि ये दोनों आत्मा (परमात्मा वा जीवात्मा) को न साक्षात्कार कर और न कुछ जान यहां से जाते हैं । इस कारण इस उपनिषद् वाले जो देव अथवा असुर होवेंगे । वे अवश्य पराभून होवेंगे । वह विरोचन शान्त हृदय ही असुरों के निकट जा पहुंचा । और उन लोगों से यह उपनिषद् कही कि यहां शरीर ही पूजनीय है । शरीर ही सेवनीय है । और यहां शरीर को ही पूजता हुआ और सेवता हुआ मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों लोकों को पाता है । इति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(प्रजापतिः) आचार्य प्रजापति (तौ+ह+अन्वीक्ष्य) उन दोनों को देख (उवाच) बोले कि (आत्मानम्) आत्मा को (अनुपलभ्य) न पाकर और (अननुविद्य) न जानकर (व्रजतः) प्रजापति चिन्ता करने लगे ये दोनों जाते हैं । इस कारण (यतरे) जो (देवा वा) देव (असुर वा) अथवा असुर (एतदुपनिषदः) इस उपनिषद् वाले (भविष्यन्ति) होवेंगे (ते) वे देव वा असुर (पराभविष्यन्ति) परास्त होंगे (सः+विरोचनः) वह विरोचन (शान्तहृदयः+एव) शान्तहृदय होकर ही (असुरान्) असुरों के निकट (जगाम) पहुंचा । और पहुंच कर (तेभ्यः+ह) उन असुरों से (एताम्+उपनिषदम्) इस उपनिषद् को (प्रोवाच) कहने लगा । क्या कहा सो आगे कहते हैं (इह) इस लोक में (आत्मा+एव) शरीर ही (महय्यः) पूजनीय है (आत्मा+परिचर्य्यः) और आत्मा शरीर ही सेवनीय है (इह) यहां (आत्मानम्+एव) आत्मा=देह को ही (महयन्) पूजता हुआ (आत्मानम्+परिचरन्) आत्मा को ही सेवता हुआ (उभौ+लोकौ) दोनों लोक (अमुम्+च) इस लोक (अमुञ्च) उस लोक को (अवाप्नोति) पाता है ॥ ४ ॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाᳪह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति सᳪस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्त इति ॥५॥

तस्माद् । अपि । अद्य । इह । अददानम् । अश्रद्दधानम् । आहुः । आसुरः । वत । इति । असुराणाम् । हि । एषा । उपनिषत् । प्रेतस्य । शरीरम् । भिक्षया । वसनेन । अलङ्कारेण । इति । संस्कुर्वन्ति । एतेन । हि । अमुम् । लोकम् । जेष्यन्तः । मन्यन्ते । इति ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तस्मादिति । तस्मात्कारणात् । अद्यापि तत्सम्प्रदायोऽनुवर्त्तते । तथाहि । इह । अस्मिन् लोके । अददानम् । अन्येभ्यो यथाकालं यथापात्रम् किमपि अप्रयच्छन्तम् । अश्रद्दधानम् । परलोके । अविश्वसन्तम् । अयजमानम् । वैदिकानि यज्ञादीनि कर्माणि अकुर्वाणम् । ईदृशं पुरुषं कञ्चिदपि दृष्ट्वा । शिष्टा वतेति खेदेन । अयमासुरः । असुरसम्बन्धी कोऽपि पुरुषोऽस्तीति । आहुः कथयन्ति । इदानीमपि तस्मादेवकारणाद्वैदिकं कर्माननुतिष्ठन्तं जनमवलोक्य आसुरोऽयमिति शिष्टाः खेदेन कथयन्ति । हि यतः । असुराणामेव एषा अददानताऽश्रद्धानताऽयजमानतैवंविधलक्षणोपनिषद् वर्तते । तयोपनिषदा संस्कृताः सन्तः । प्रेतस्य एकं देहं परित्यज्य देहान्तरस्य प्रहीतुर्गमनशीलस्य जीवात्मा इत्यर्थः । शरीरं देहं भिक्षया गन्धमाल्यादिलक्षणया । वसनेन वस्त्रादिप्रकारेण । अलङ्कारेण भूषणेन एवंविधैरन्यैरपि पदार्थैः । संस्कुर्वन्ति भूषयन्ति । हि यतः । एतेन शरीरस्यालङ्कारादिव्यापारेण । अमुं परलोकमपि । जेष्यन्तो जेष्यामोवयमिति । मन्यन्ते ह्यसुराः । तेह्यसुराः शरीरस्य भरणपोषणादिभिरेव कल्याणं मन्यन्त उभयत्रेतिभावः ॥ ५ ॥

इत्यष्टमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अनुवादः—इस कारण आज भी इस लोक में अदानी, अश्रद्धालु और अयजमान (अयाजी) पुरुष को देखकर शिष्टजन यह "असुर" है ऐसा खेद के साथ कहते हैं। क्योंकि असुरों की ही यह उपनिषद् है। ये लोक मृतक के शरीर को ही भिक्षाओं, वस्त्रों और अलङ्कारों से संस्कृत करते हैं और इससे समझते हैं कि हम उस लोक को भी जीत लेवेंगे। इति ॥ ५ ॥

पदार्थः—(तस्माद्) उस कारण (अद्य+अपि) आजकल भी उन असुरों का सम्प्रदाय आ रहा है। इसी को आगे दिखलाते हैं (अददानम्) दान को न देते हुए अर्थात् अदाता (अश्रद्दधानम्) और परलोक विषय में श्रद्धा को न करते हुए अर्थात् अश्रद्धालु नास्तिक और (अयजमानम्) यज्ञ को न करते हुए अर्थात् अव्रती पुरुष को देखकर (वत) खेदके साथ (आहुः) शिष्ट जन कहते हैं कि (आसुरः+इति) यह पुरुष आसुर=असुर सम्बन्धी कोई है (हि) क्योंकि (एषा) यह अर्थात् अदान, अश्रद्धा, अयज्ञत्व आदि लक्षणयुक्त (उपनिषद्) उपनिषद् मिथ्याज्ञान (असुराणाम्)

असुरों की है । अर्थात् ऐसी उपनिषद् केवल असुरों की है । वे लोग ही दान आदि कर्म नहीं करते हैं और ये असुर लोग (प्रेतस्य+शरीरम्) प्रेत के शरीर को अर्थात् एक देह को त्याग दूसरे देह को धारण करने वाला गमनशील जीवात्मा के शरीर को ही (भिक्षया) गन्धमाल्य अन्नादि लक्षणस्वरूप भिक्षा से (वसनेन) विविध सुन्दर वस्त्र से (अलङ्कारेण) और विविध भूषण से (इति) इस प्रकार के अन्य २.पदार्थ से भी (संस्कुर्वन्ति) संस्कृत=सुसज्जित करते हैं और (एतेन) इससे (हि) निश्चय (अमुम्+लोकम्) उस परलोक को भी (जेष्यन्तः) जीत लेवेंगे (मन्यन्ते) ऐसा मानते हैं ॥ ५ ॥

भाष्याशयः-इस लेख से विस्पष्ट होता है कि असुरधर्म्म बहुत दिनों से चला आता है । जो लोग वैदिक-कर्म्मों को नहीं किया करते थे वे असुर नाम से प्रसिद्ध थे । इस शब्द पर प्रथम विचार हुआ है । वहां देखो । प्रेत-यहां प्रेतशब्द निन्दासूचक है । यह जीवात्मा एक शरीर में कदापि भी स्थिर नहीं रहता सदा नूतन २ शरीर का ग्रहण करता है । इस हेतु यह जीवात्मा प्रेत=अतिगमनशील कहलाता है (प्र=अतिशय । इत=गत) जब यह निश्चय है कि यह शरीर क्षणभंगुर है तब बुद्धिमान् को उचित है कि जीवात्मा के उद्धार का उपाय सदा करे इस शरीर के ऊपर उतनी आस्था न रक्खे । गीता के षोडशाध्याय में असुर-धर्म्म का अच्छा वर्णन है वहां देखो ।

इत्यष्टमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ८ ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

अथ । ह । इन्द्रः । अप्राप्य । एव । देवान् । एतद् । भयम् । ददर्श । यथा । एव । खलु । अयम् । अस्मिन् । शरीरे । साधु । अलङ्कृते । साधु । अलङ्कृतः । भवति । सुवसने । सुवसनः । परिष्कृते । परिष्कृतः । एवम् । एव । अयम् ।

अस्मिन्। अन्धे। अन्धः। भवति। स्रामे। स्रामः। परिवृक्णे। परिवृक्णः। अस्य। एव। शरीरस्य। नाशम्। अनु। एषः। नश्यति। न। अहम्। अत्र। भोग्यम्। पश्यामि। इति॥ १॥

भाष्यम्–अथेति। तयोर्मध्ये विरोचनस्तु। असुरान् प्राप्य यथाज्ञानमुपनिषदमनूच्य "अयं देह एव अपहतपाप्मत्वादि गुणः"। एनमेव पूजयन् सर्वांश्चलोकान् सर्वांश्चकामान् लभते। अयमेव देह आत्माऽपरनामवाच्यः प्रजापतिना तथैवोक्त" इत्यादि व्याख्याय विपरीतमात्मानमसुरान् ग्राहयामास। तस्मादेव कालादधिका आसुरी विद्या लोके वितता। अथ ह किल इन्द्रस्तु परमैश्वर्यसम्पन्नत्वाद्विवेकित्वाच्च। देवान्। तत्कालिकान् वेदधर्मणः स्वजातिबन्धुवान्धवान्। अप्राप्यैव। अलब्ध्वैव। एतद्वक्ष्यमाणं भयं ददर्श। तथाहि। यथैव खलु येन प्रकारेणैव। अस्मिन् शरीरे देहे। साध्वलङ्कृते। साधु सम्यं यथास्यात्तथा अलंकृते भूषिते। तथैवायं छायापुरुषोऽपि। साध्वलंकृतो भवति। सुवसने शोभनं वसनं वस्त्रं यस्य तस्मिन् सुवस्त्रे देहे सति। अयं छायापुरुषोऽपि। सुवसनो दृश्यते। परिष्कृते विमलीकृतेऽस्मिन् शरीरे सति। अयमपि परिष्कृतो भवति। एवमेवायं पूर्वोक्तदृष्टान्तवत्। छायापुरुषः। अस्मिन् शरीरे। अन्धे सति नेत्रविहीनेसति। अन्धो भवति। अस्य शरीरस्य चक्षुषोऽपगमेऽस्य छायापुरुषोऽपि अन्धो भवति। अस्मिन् शरीरे। स्रामे। काणे। एकनेत्रेसति। स्रवतीति स्रामः। अयं छायापुरुषोऽपि स्रामो दृश्यते। परिवृक्णे परिच्छिन्ने हस्तपादाद्यवयवविनाशे सति। परिवृक्णो भवति। अयं भावः। शरीरानुरूप एव छायापुरुषो भवति। तथाच। अस्यैव शरीरस्य। नाशमनुपश्चात् शरीरे नष्टे सति। एषोऽपि नश्यति नष्टो भवति। अतोऽहमस्मिन् विषये प्रजापत्युपदेशे वा न भोग्यं कल्याणं फलं पश्यामि। अतः पुनरपि स आचार्य्यः प्रष्टव्य एव। नाहं स्वयं संदिग्धो देवान् गच्छामीति स्थिरीकृत्य प्रत्याजगाम॥१॥

अनुवादः–परन्तु उस इन्द्र ने देवों को न प्राप्त होकर के ही इस भय को देखा जैसे ही इस शरीर के अच्छे अलंकृत होने पर यह (छायापुरुष) अच्छा अलंकृत होता है (शरीर के) सुवस्त्रधारी होने से यह सुवस्त्रधारी होता है। परिष्कृत होने से यह परिष्कृत होता है। वैसे ही इस शरीर के अन्ध होने से यह (छायापुरुष) अन्ध होता है। काणा होने से यह काणा और छिन्न होने से यह छिन्न होता है। इस शरीर के ही नाश होने से यह नष्ट होता है। अतः मैं इस (अध्यात्मविद्या में) भोग्य फल को नहीं देखता हूं॥ १॥

पदार्थः-(अथ) परन्तु (ह) प्रसिद्ध (इन्द्रः) इन्द्र ने (देवान्) देवों को (अप्राप्य+एव) न प्राप्त करके ही (एतद्) इस वक्ष्यमाण (भयम्) भय को (ददर्श) देखा । किस भय को देखा सो आगे कहते हैं (खलु) निश्चय (यथा+एव) जैसे ही (अस्मिन्+शरीरे) इस शरीर के (साध्वलंकृते) अच्छे प्रकार अलंकृत होने पर (अयम्) यह छायापुरुष भी (साधु+अलंकृतः) सुअलंकृत (भवति) होता है (सुवसने) सुवस्त्रधारी होने से (सुवसनः) यह भी सुवसन होता है । (परिष्कृते+परिष्कृतः) निर्मल होने से यह भी निर्मल होता है (एवम्+एव) वैसे ही (अस्मिन्+अन्धे) इस शरीर के अन्ध होने से (अन्धः) यह छायापुरुष भी अन्ध होता है (स्रामे) काण होने पर (स्रामः) यह भी काना होता है (परिवृक्णे+परिवृक्णः) छिन्न होने पर छिन्न होता है (अस्य+एव+शरीरस्य) इस शरीर को (नाशम्+अनु) नष्ट होने पर (एषः) यह भी (नश्यति) नष्ट होजाता है । इस कारण (अत्र) इस आध्यात्मिक शास्त्र में (न+भोग्यम्+पश्यामि+इति) मैं भोग्य=कल्याण को नहीं देखता हूं । गुरूपदिष्ट विषय में मैं स्वयं संशयग्रस्त हो रहा हूं देवों को क्या समझाऊंगा । इस कारण गृह न जाकर पुनः आचार्य्य के निकट जाना चाहिये । ऐसा मन में विचार वह इन्द्र प्रजापति के निकट चले ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राब्राजीः सार्द्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति ! स होवाच यथैवखल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैवशरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

सः । समित्पाणिः । पुनः । एयाय । तम् । प्रजापतिः । उवाच । मघवन् । यत् । शान्तहृदयः । प्राब्राजीः । सार्द्धम् । विरोचनेन । किम् । इच्छन् । पुनः । आगमः । इति । सः । ह । उवाच । यथा । एव । खलु । अयम् । भगवः । अस्मिन् । शरीरे ।

साधु। अलङ्कृते। साधु। अलङ्कृतः। भवति। सुवसने। सुवसनः। परिष्कृते। परिष्कृतः। एवम्। एव। अयम्। अस्मिन्। अन्धे। अन्धः। भवति। स्रामे। स्रामः। परिवृक्णे। परिवृक्णः। अस्य। एव। शरीरस्य। नाशम्। अनु। एषः। नश्यति। न। अहम्। अत्र। भोग्यम्। पश्यामि। इति॥ २॥

भाष्यम्–स इति। भयदर्शनात् सहेन्द्रः समित्पाणिः सन् पुनरपि प्रजापतिमेयाय। तमागतमिन्द्रं प्रजापतिरुवाच। हे मघवन् इन्द्र! विरोचनेन स्वसहाध्यायिना सार्धं। शान्तहृदयः सन् यत्त्वं प्राव्राजीः। अगमः। पुनरपि किमिच्छन् आगमः। आगतवानसि इति प्रजापतिनापृष्ट इन्द्रो होवाच। यथैवेत्यादि पश्यामि पर्य्यन्तं स्वानुभवं श्रावयामास। अर्थस्तु पूर्वोक्त एव॥ २॥

अनुवादः–वह इन्द्र समित्पाणि हो पुनरपि लौट आये प्रजापति ने उनसे पूछा कि हे इन्द्र! विरोचन के साथ आप शान्त हृदय होकर चले गये थे पुनः किस कामना से आये। इन्द्र बोले कि हे भगवन्! इस शरीर के साध्वलङ्कृत होने पर यह (छायापुरुष) भी साध्वलङ्कृत, सुवसन होने पर सुवसन, परिष्कृत होने पर परिष्कृत जैसे ही होता है। वैसे ही इस के अन्धे होने पर भी अन्ध, काने होने पर काना, छिन्न होने पर छिन्न होता है। और इसी शरीर के नष्ट होने पर यह भी नष्ट होता है। अतः इसमें मैं भोग्य नहीं देखता हूं॥ २॥

पदार्थः–(सः) वह इन्द्र (समित्पाणिः) पुनः ब्रह्मचर्य साधन सम्पन्न हो (पुनः+एयाय) पुनरपि आचार्य प्रजापति के निकट आये (तम्+ह) आये हुए उस इन्द्र को देख (प्रजापतिः+उवाच) प्रजापति ने पूछा कि (मघवन्) हे मगवन्! इन्द्र! (विरोचनेन+सार्धम्) विरोचन के साथ (शान्तहृदयः) शान्त हृदय होकर (यत्+प्राव्राजीः) चले गये थे तब (पुनः) पुनः (किम्+इच्छन्) क्या कामना करते हुए (आगमः) आप यहां आये (इति) (सः+ह+उवाच) तब इन्द्र बोले (यथा+एव) यथैव इत्यादि। इन सबों के अर्थ पूर्व में हो चुके हैं॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेवं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति। स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच॥ ३॥

एवम् । एव । एषः । मघवन् । इति । ह । उवाच । एतम् । तु । एव । ते । भूयः । अनुव्याख्यास्यामि । वस । अपराणि । द्वात्रिंशतम् । वर्षाणि । इति । सः । ह । अपराणि । द्वात्रिंशतम् । वर्षाणि । उवास । तस्मै । ह । उवाच ॥ ३ ॥

भाष्यम्-हे मघवन् इन्द्र ! एवमेव । यथा त्वमात्थ तथैव एष आत्मास्ति । सम्यक् त्वया तर्कितम् । इति होवाच प्रजापतिः । हे इन्द्र ! एतमात्मानम् तु एव ते तुभ्यं । भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । व्याख्यातमपि पुनरपि व्याख्यास्यामि । हे सौम्य ! अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि । मम समीपे वस निवासं कुरु । इत्याचार्यवचनं श्रुत्वा स तत्त्वजिज्ञासुरिन्द्रः अपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि प्रजापतौ । उवास । उषितवान् । तस्मै इन्द्राय कष्टतपसे वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥ ३ ॥ इति नवमखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अनुवादः—प्रजापति ने कहाकि हे इन्द्र ! यह आत्मा ऐसा ही है । इसी का अनुव्याख्यान पुनरपि तुमसे कहेंगे फिर भी बत्तीसवर्ष निवास करो । वह इन्द्र पुनः बत्तीसवर्ष निवास करता रहा । तब उससे प्रजापति बोले ॥ २ ॥

पदार्थः-(मघवन्) हे इन्द्र ! (एषः) यह आत्मा (एवम्+एव) ऐसा ही है अर्थात् जैसा तुमने तर्क किया है वह सर्वथा ठीक है (इति+ह+उवाच) प्रजापति इस प्रकार इन्द्र से पुनः बोले (एतम्+तु+एव) हे इन्द्र ! इसी आत्मा का तो (ते) तुझ से (भूयः) फिर (अनुव्याख्यास्यामि) अनुव्याख्यान करूंगा हे इन्द्र ! (अपराणि) अन्य और (द्वात्रिंशतम्) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (वस) मेरे निकट वास कर इस आज्ञा को पा (सः+ह) वह इन्द्र (अपराणि+द्वात्रिंशतम्) और बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (उवास) प्रजापति के निकट वास करने लगा (तस्मै) उससे (ह+उवाच) प्रजापति बोले ॥ ३ ॥

इति नवमखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ९ ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज । सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

यः । एषः । स्वप्ने । महीयमानः । चरति । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतद् । अमृतम् । अभयम् । ब्रह्म । इति । सः । ह । शान्तहृदयः । प्रवव्राज । सः । ह । अप्राप्य । एव । देवान् । एतद् । भयम् । ददर्श । तद् । यदि । अपि । इदम् । शरीरम् । अन्धम् । भवति । यदि । सः । अनन्धः । भवति । स्रामम् । अस्रामः । न । एव । एषः । अस्य । दोषेण । दुष्यति ॥ १ ॥

भाष्यम्—य एष इति । य आत्माऽपहतपाप्मत्वादिलक्षणः य एषोऽक्षिणीत्यादिना पूर्वव्याख्यातः । एष सः । कोऽसौ । यः आत्मा । स्वप्ने महीयमानः । स्त्र्यादिभिः पूज्यमानः । सन् । चरति । अनेकविधान् स्वप्नभोगान् अनुभवतीत्यर्थः । एष आत्मेति होवाचेत्यादि समानम् । सह प्रजापतिनैवएवमुक्तइन्द्रः । शान्तहृदयः । लब्धात्मा इव प्रवव्राज जगाम । मार्गे गच्छन् प्रजापतिवचनं पुनः पुनर्विवेचयन् देवान् । अप्राप्यैव एतद् भयं वक्ष्यमाणं भयं ददर्श । तद्भयं दर्शयति । तत् तत्र स्वप्ने यद्यपि । इदं शरीरमन्धं भवती । स आत्मा स्वप्नवाननन्धो भवति । यदि । यद्यपि इदं शरीरंस्रामंकारं भवति । तथापि अयमात्मा । अस्राम एव भवति । इत्थम् । अस्य शरीरस्य दोषेण । न वै न जातु । एष आत्मा दुष्यति दूषितो भवति ॥ १ ॥

अनुवादः–जो यह आत्मा स्वप्न में पूज्यमान होकर विचरण करता है वह यह आत्मा है इस प्रकार प्रजापति कह पुनः बोले कि यह अमृत अभय है यह बड़ा है । यह सुन वह इन्द्र शान्तहृदय हो वहां से चले । देवों को न पाकर ही इस भय को देखा कि उस स्वप्न में तो यद्यपि यह शरीर अन्ध भी हो तो वह स्वप्नात्मा अनन्ध ही होता है । यद्यपि यह शरीर स्राम रहे तो भी यह आत्मा अस्राम रहता है इस प्रकार इस (शरीर) के दोष से यह कदापि दूषित नहीं होता है ॥ १ ॥

पदार्थः–(यः) जो आत्मा अपहतपाप्मत्वादि लक्षण सहित पूर्व में कहा गया है और जो आत्मा नेत्र में दीखता है । इत्यादि व्याख्यान हुआ है (एषः) वह यह है । कौन है । सो कहते हैं । जो (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (महीयमानः) स्त्री पुत्र धनधान्यादि विविध मनोरथों से पूज्यमान होता हुआ (चरति) विविधभोगों का अपने ताईं अनुभव करता है हे इन्द्र ! (एषः+आत्मा+इति) वह यह आत्मा है (इति+ह+उवाच) इन्द्र को इतना कह पुनः बोले (एतद्+अमृतम्) यह अमृत है । यह अभय है । और यह ब्रह्म=बड़ा है (इति) इस उपदेश को पा (सः+ह) वह इन्द्र (शान्तहृदयः) शान्तहृदय हो (प्रवव्राज) वहां से चला । (सः+ह) उस प्रसिद्ध इन्द्र ने (देवान्) देवों को (अप्राप्य+एव) न पाकरके ही (एतद्+भयम्) इस भय को (ददर्श) देखा

(यदि+अपि) यद्यपि (तत्) उस स्वप्नावस्था में (इदं+शरीरम्) यह बाह्य शरीर (अन्धम्+भवति) अन्धा रहता है तथापि (सः) वह स्वप्नात्मा (अनन्धः+भवति) अनन्ध अन्धा नहीं होता है (यदि+स्रामम्) यदि यह शरीर काना रहता है तथापि (अस्रामः) काणत्वरहित ही रहता है अर्थात् (अस्य+दोषेण) इस बाह्य शरीर के दोष से (न+वा+एष+दुष्यति) कभी नहीं यह दूषित होता है ॥ १ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

न । वधेन । अस्य । हन्यते । न । अस्य । स्राम्येण । स्रामः । घ्नन्ति । तु । एव । एनम् । विच्छादयन्ति । इव । अप्रियवेत्ता । इव । भवति । अपि । रोदिति । इव । न । अहम् । अत्र । भोग्यम् । पश्यामि । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—न वधेनेति । अस्य शरीरस्य दोषेणायं स्वप्नात्मा न दुष्यतीति यदुक्तं तदेव पुनः कथयति न वधेनेत्यादिना । अस्य शरीरस्य वधेन घातेन अयं स्वप्नात्मा न हन्यते । हिंस्यते । न अस्य शरीरस्य स्राम्येण स्रामत्वेन विकलत्वेन विकारेणेत्यर्थः । अयं स्रामो भवति नायं विकलोऽङ्गहीनो वा भवति । एतत्सर्वं सत्यं किन्त्वयमात्मापि नापहतपाप्मत्वादिलक्षणोदृश्यते । कथमेतत् । एनम् । स्वप्नात्मानन्तु । स्वप्नेमहीमानतादशायामपि विद्यमानम् । केचन घ्नन्त्येव । घ्नन्तीव हिंसतीव अत्रैव शब्द इवार्थः । उत्तरत्र तथैव दर्शनात् । न हन्यते इति प्रयोगाच्च । गजादय आगत्य आत्मानं घ्नन्तीव स्वप्ने दृश्यन्ते । तेनात्मा महद्दुःखमनुभवन् मृतइव तिष्ठति । तथा केचन एनमात्मानं विच्छादयन्तीव । विद्रावयन्तीव । तथा स्वयमपि कदाचित् अप्रियवेत्ता इव भवति । मम पुत्रोमृतः । कलत्रं कूपे पातितम् । मम सर्वे बान्धवाः पंचत्वं गताः । मां बध्वा केपि नयन्ति । इत्याद्यप्रियं स्वप्ने अवलोक्य अप्रियवेत्ता इव भवति । अप्रियं दृष्ट्वा स्वयं रोदितीव । रुदन् लक्ष्यते । अतोत्रापि आत्मदर्शने नाहं भोग्यं पश्यामि ॥ २ ॥

अनुवादः—इस (शरीर) के वध से (यह स्वप्नात्मा) मारा नहीं जाता है इस (शरीर) के वैकल्य से (यह) विकल नहीं होता । परन्तु इस (स्वप्नात्मा) को कोई मानो मार रहे हैं । कोई मानो भगा रहे हैं । यह स्वयं अप्रियवेत्तासा हो रहा है और यह रोता हुआसा हो रहा है । अतः इस में भी मैं भोग्य फलको नहीं देखता हूं ॥ २ ॥

पदार्थः-(अस्य) इस शरीर के (वधेन) वध से (न+हन्यते) यह स्वप्नात्मा हत नहीं होता (अस्य) इस शरीर की (स्राम्येण) काणत्वादि विकलता से (न+स्रामः) यह विकल नहीं होता (तु) परन्तु (एनम्) इस स्वप्नात्मा को (घ्नन्ति+तु+एव) मानो कोई मार रहे हैं और (विच्छादयन्ति+इव) मानो कोई भगा रहे हैं (अप्रियवेत्ता+इव+भवति) और इस हेतु स्वयं यह आत्मा अप्रियवेत्तासा हो रहा है (अपि+रोदितीव) और इसी हेतु रोता हुआ सा भी प्रतीत होता है (अत्र) इस अध्यात्मज्ञान विषय में (न+अहम्) मैं नहीं (भोग्यम्) भोग्य=कल्याण को (पश्यामि+इति) देखता हूं ॥ २ ॥

समित्पाणिः पुनरेयाय । तᳪह प्रजापतिरुवाचमघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति ? । स होवाच-तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति । यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

सः । समित्पाणिः । पुनः । एयाय । तम् । ह । प्रजापतिः । उवाच । मघवन् । यत् । शान्तहृदयः । प्राव्राजीः । किम् । इच्छन् । पुनः । आगमः । इति । सः । ह । उवाच । तद् । यदि । अपि । इदम् । भगवः । शरीरम् । अन्धम् । भवति । अनन्धः । सः । भवति । यदि । स्रामम् । अस्रामः । न । एव । एषः । अस्य । दोषेण । दुष्यति ॥ ३ ॥

भाष्यम्-स इति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति मार्गे पुनः २ विवेचयन् भयमवलोक्य समित्पाणिर्ब्रह्मचर्यसाधनसम्पन्नःसन् पुनरेयाय। पुनरपि प्रजापतिमाजगाम । तं ह प्रजापतिरुवाचेत्यादि दुष्यतीत्यन्तं पूर्वं व्याख्यातमेव ॥ ३ ॥

अनुवादः-फिर इन्द्र, ब्रह्मचर्यसाधनसम्पन्न होकर प्रजापति के निकट आये उनसे प्रजापति बोले कि हे मघवन् ! जो आप शान्तहृदय होकर यहां से चले गये थे तो किस इच्छा से पुनरपि आये, यह सुन इन्द्र बोले कि हे भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अन्ध होता है तथापि वह स्वप्नात्मा अन्धा नहीं होता । यद्यपि यह शरीर अङ्गविकल रहता तथापि यह स्वप्नात्मा अङ्गविकल नहीं होता है अर्थात् इस शरीर के दोष से यह कदापि दूषित नहीं होता ॥ ३ ॥

पदार्थः-(सः) वे इन्द्र (समित्पाणिः) हाथ में यज्ञ सामग्री ले अर्थात् ब्रह्मचर्य के साधन से युक्त हो (पुनः+एयाय) फिर प्रजापति के निकट आये (तम्+ह) उन

से (प्रजापतिः+उवाच) प्रजापति ने पूछा (यत्) कि (हे मघवन्) इन्द्र (शान्तहृदयः) आप शान्तहृदय होकर (प्राव्राजीः) चले गये थे तब पुनः (किमिच्छन्) किस पदार्थ की इच्छा करते हुए (पुनः+आगमः) फिर लौट आये ? (इति) (सः+ह+उवाच) वे इन्द्र बोले (भगवः) हे भगवन् ! (यद्यपि) यद्यपि (तत्+इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (अन्धम्+भवति) अन्ध रहता है (सः) वह स्वप्नात्मा (अनन्धः+भवति) अन्धा नहीं होता है (यदि+स्रामम्) यदि यह शरीर अंगविकल रहता है तथापि (अस्रामः) यह स्वप्नात्मा अविकल होता है (अस्य+दोषेण) इस शरीर के दोष से (एषः) यह स्वप्नात्मा (नैव) कदापि नहीं (दुष्यति) दूषित होता है ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नाऽस्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाऽप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव । नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतन्त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति । सहाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास । तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

न । वधेन । अस्य । हन्यते । न । अस्य । स्राम्येण । स्रामः । घ्नन्ति । तु । एव । एनम् । विच्छादयन्ति । इव । अप्रियवेत्ता । इव । भवति । अपि । रोदिति । इव । न । अहम् । अत्र भोग्यम् । पश्यामि । इति । एवम् । एव । एषः । मघवन् । इति । ह । उवाच । एतम् । तु । एव । ते । भूयः । अनुव्याख्यास्यामि । वस । अपराणि । द्वात्रिंशतम् । वर्षाणि । इति । सः । ह । अपराणि । द्वात्रिंशतम् । वर्षाणि । उवास । तस्मै । ह । उवाच ॥ ४ ॥

भाष्यादिकं सर्वं पूर्ववत् ॥ ४ ॥

इति दशमखण्डस्य संस्कृतभाषाभाष्ये समाप्ते ॥ १० ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज । स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श । नाह खल्वयमेवं

सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि । विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

तद् । यत्र । एतत् । सुप्तः । समस्तः । सम्प्रसन्नः । स्वप्नम् । न । विजानाति । एषः । आत्मा । इति । ह । उवाच । एतद् । अमृतम् । अभयम् । एतद् । ब्रह्म । इति । सः । ह । शान्तहृदयः । प्रवव्राज । सः । ह । अप्राप्य । एव । देवान् । एतद् । भयम् । ददर्श । नाह । खलु । अयम् । एवम् । सम्प्रति । आत्मानम् । जानाति । अयम् । अहम् । अस्मि । इति । नो । एव । इमानि । भूतानि । विनाशम् । एव । अपीतः । भवति । न । अहम् । अत्र । भोग्यम् । पश्यामि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—तदिति । हे इन्द्र ! य आत्मा अक्षिणि त्वया दृष्टः । स्वप्ने च महीयमानश्चरति । स एषोऽस्ति । कोऽस्ति ? । तदेतद् । स एषः । इह लिङ्गव्यत्ययः । यत्र यस्यां दशायां सुषुप्तावित्यर्थः । सुप्तः स्वप्नविरहितः । समस्तः स्वेन सार्धं संमिलितः । अतः । सम्प्रसन्नः स्वानन्दमनुभवन् सन् । स्वप्नं न जानाति । एष स आत्माऽपहतपाप्मत्वादि लक्षणः । इति कथयित्वा पुनरपि प्रजापतिर्होवाच । एतदमृतमित्यादि समानम् । तत्रापि दोषं ददर्श । कथम् ? सुषुप्तिस्थ आत्मा । अयमहमस्मीति । एवं सम्प्रति । सम्यग् नैवात्मानं जानाति । अयमहमस्मि । एवं भूतोस्मि एवं भूतोस्मि । इति । नाह । नैव । खलु जानाति । नो एव । न चैव । इतराणि इमानि भूतानि कानिचिज्जानाति । तस्यां सुषुप्त्यवस्थायां नात्मा स्वमात्मानं जानाति नचान्यत् किमपि वेत्ति । तेनानुमीयते । विनाशमेव । अपीतो गतः । भवति । विनाशमेव प्राप्तोभवतीत्यर्थः । अतोऽत्रापि अस्मिन्नप्यध्यात्मविज्ञाने नाहं भोग्यं पश्यामि । इति ॥ १ ॥

अनुवादः—सो यह आत्मा जहां सुप्त, समस्त और सम्प्रसन्न हो स्वप्न को नहीं देखता है । यह आत्मा है । इतना कह पुनः प्रजापति बोले कि यह अमृत, अभय और यह ब्रह्म (बड़ा) है । यह सुन वे इन्द्र शान्तहृदय हो वहां से चले । परन्तु देवों को न पाकर ही इन्द्र को यह भय देख पड़ा । यह (सुषुप्तात्मा) "मैं यह हूं" इस प्रकार अच्छी तरह से अपने को नहीं जानता है और न "इन प्राणियों को" जानता है (यह आत्मा) विनाश को ही प्राप्त होता है । अतः इस (आत्मदर्शन) में भी भोग्य=कल्याण को मैं नहीं देखता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः—(तत्+एतत्) सो यह आत्मा (यत्र) जिस सुषुप्ति अवस्था में (सुप्तः) सुप्त=स्वप्न को न देखता हुआ (समस्तः) समस्त=अपने में अवस्थित इसी हेतु (सम्प्रसन्नः) सम्यग् प्रसन्न=निज आनन्द का अनुभव करता हुआ (स्वप्नम्) स्वप्न को (न) नहीं (विजानाति) जानता है (एषः+आत्मा) यह आत्मा अपहत पाप्मादि है (इति+होवाच) इतना कह प्रजापति पुनः बोले (एतद्+अमृतम्) यह अमृत इत्यादि पूर्ववत् जानना । इन्द्र ने भय को देखा सो आगे कहते हैं (अयम्) यह सुषुप्तात्मा (अयम्+अहम्+अस्मि) यह मैं हूं (एवम्) इस प्रकार (सम्प्रति) अच्छी तरह से (आत्मानम्) अपने को (खलु) निश्चयरूप से (नाह) नहीं (जानाति) जानता है (नो+एव) और नहीं (इमानि+भूतानि) इन प्राणियों को जानता है । इससे विदित होता है कि (विनाशम्) विनाश को (अपीतः) प्राप्त (भवति) होता है । इस हेतु (अत्र) इस आध्यात्मिक विद्या में भी (न+अहम्+भोग्यम्+पश्यामि) मैं भोग्यसुख को नहीं देखता हूं (इति) इस प्रकार संदिग्ध हो पुनः इन्द्रमार्ग से आचार्य्य के निकट लौट आये ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳह प्रजापतिरुवाचमघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति ? स होवाच—नाह खल्वयं भगव एवꣳ सम्प्रत्यात्मानं जानात्य "यमहमस्मीति" नो एवेमानि भूतानि । विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

सः । समित्पाणिः । पुनः । एयाय । तम् । ह । प्रजापतिः । उवाच । मघवन् । यत् । शान्तहृदयः । प्राव्राजीः । किम् । एव । इच्छन् । पुनः । आगमः । इति । सः । ह । उवाच । नाह । खलु । अयम् । भगवः । एवम् । सम्प्रति । आत्मानम् । जानाति । अयम् । अहम् । अस्मि । इति । नो । एव । इमानि । भूतानि । विनाशम् । एव । अपीतः । भवति । न । अहम् । अत्र । भोग्यम् । पश्यामि । इति ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । समिधः समिदुपलक्षितानि ब्रह्मचर्यसाधनानि पाणौ हस्ते यस्य सः । स इन्द्र पूर्वोक्तं दोषमवलोक्य भोग्यमनवगम्यच । पुनरपि एयाय प्रजापतिमा-

जगाम। आगतं तमिन्द्रंप्रति प्रजापतिरुवाच। हे मघवन् इन्द्र! त्वं यच्छान्तहृदयः। अस्मात्स्थानात्। प्राव्राजीः। अगमः। तर्हि। किमेव इच्छन्। किं कामयमानः। पुनस्त्वम्। आगमः। आगच्छः। इति प्रजापतिना पृष्ट इन्द्रः सर्वं नाहेत्यारभ्य पश्यामिपर्यन्तमुवाच। पदानि पूर्वं व्याख्यातानि॥ २॥

अनुवादः—वह इन्द्र पुनरपि समित्पाणि हो लौट आये, उस इन्द्र से प्रजापति ने पूछा कि हे इन्द्र! तुम जो शान्तहृदय होकर चले गये थे तो पुनः किस कामना से लौट आये हो। वह इन्द्र बोले कि हे प्रजापते! यह (सुषुप्तात्मा) "मैं यह हूं" इस प्रकार अच्छी तरह निश्चितरूप से अपने को नहीं जानता और न इन प्राणियों को जानता। यह नाश को प्राप्त हो जाता है। अतः इसमें मैं भोग्य को नहीं देखता हूं॥ २॥

पदार्थः—(सः) वह इन्द्र (समित्पाणिः) ब्रह्मचर्य-साधन-सम्पन्न हो (पुनः+एयाय) पुनः रास्ते से प्रजापति के निकट लौट आये (तम्+ह+प्रजापतिः+उवाच) उनसे प्रजापति ने पूछा कि (मघवन्) हे इन्द्र! (यत्+शान्तहृदयः) जो तुम शान्तहृदय होकर (प्राव्राजीः) यहां से चले गये थे तब (किम्+एव+इच्छन्) किस पदार्थ की इच्छा करते हुए (पुनः+आगमः) पुनः लौट आये हैं (इति+सः+ह+उवाच) प्रजापति के इस वचन को सुन वह इन्द्र बोले (नाह) इत्यादि पूर्ववत् जानना॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। नो एवान्यत्रैतस्माद्वसाऽपराणि पञ्च वर्षाणीति। स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास। तान्येकशतꣳ सम्पेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास। तस्मै होवाच॥ ३॥

एवम्। एव। एषः। मघवन्। इति। ह। उवाच। एतम्। तु। एव। ते। भूयः। अनुव्याख्यास्यामि। नो। एव। अन्यत्र। एतस्माद्। वस। अपराणि। पञ्च। वर्षाणि। इति। सः। ह। अपराणि। पञ्च। वर्षाणि। उवास। तानि। एकशतम्। सम्पेदुः। एतत्। तत्। यद्। आहुः। एकशतम्। ह। वै। वर्षाणि। मघवान्। प्रजापतौ। ब्रह्मचर्यम्। उवास। तस्मै। ह। उवाच॥ ३॥

भाष्यम्—एवमेवेति । हे मघवन् इन्द्र ! एवमेव । यत्त्वमात्थ । तत्सत्यम् । एष आत्मा तादृगेव । इति प्रजापतिर्होवाच । हे इन्द्र ! एतमेवात्मानन्तु ते तुभ्यम् । भूयोऽनुव्याख्यास्यामि । पूर्वं व्याख्यातमपि पुनः व्याख्यास्यामि । एतस्मात् । पूर्वं त्रिभिः पर्य्यायैर्मयोक्तादात्मनः । अन्यत्र अन्यम् । आत्मानम् । नो एव नैव कञ्चन । व्याख्यास्यामि किन्तु । तमेवात्मानम् । त्वयाऽविदितम् । अनुव्याख्यास्यामि । त्वम् । अपराणि पञ्चवर्षाणि पुनरपि मम सन्निकटे । वस वासं कुरु । सहाचार्यवचने विश्वस्तः । अपराणि पञ्चवर्षाणि । प्रजापतौ । उवास । तानि । सर्व्वाणि वर्षाणि मिलित्वा । एकशतम् । वर्षाणि सम्पेदुः । सम्पन्नानि बभूवुः । तदेतत् । तस्मात्कारणात् । एते शिष्टाः । आहुः । यत् । मघवानिन्द्रः । प्रजापतौ आचार्ये । एकशतम् । हवै । वर्षाणि । ब्रह्मचर्य्यम् । उवास । उषितवान् । इति । तस्मै कष्टतपसे पुनरपि प्रजापतिरुवाच वक्ष्यमाणं वचनम् ॥

इत्येकादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अनुवादः—हे मघवन् ! वैसा ही यह (आत्मा) है । इतना कह प्रजापति फिर बोले कि इसी का तो पुनः तुमसे अनुव्याख्यान करूंगा । इससे भिन्न (आत्मा) का नहीं तुम और पांच वर्ष निवास करो । इन्द्र इस आज्ञा को पा और पांच वर्ष वहां ब्रह्मचर्य करते रहे । वे सब मिलकर एकसौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य के हुए । इस कारण आजतक शिष्ट, लोक कहते हैं कि इन्द्र, प्रजापति के निकट निश्चितरूप से एकसौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य करते रहे, तत्पश्चात् फिर उनसे प्रजापति बोले ॥ ३ ॥

पदार्थः—(मघवन्) हे इन्द्र ! (एषः) यह सुषुप्तात्मा (एवमेव) वैसा ही है (इति+ह+उवाच) इतना कह प्रजापति फिर बोले कि हे इन्द्र ! (ते) तुम्हारे लिये (एतम्+तु+एव) इसी का तो (भूयः) फिर (अनुव्याख्यास्यामि) अनुव्याख्यान करूंगा (एतस्मात्) इस आत्मा से (अन्यत्र) दूसरे का (न+एव) नहीं व्याख्यान करूंगा किन्तु उसी आत्मा का अनुव्याख्यान करूंगा । (अपराणि+पञ्चवर्षाणि) और पांच वर्ष (वस) वास करो (इति) (सः) वे इन्द्र (अपराणि+पञ्चवर्षाणि) और पांचवर्ष (उवास) ब्रह्मचर्य करते रहे (तानि) वे सब मिलकर (एकशतम्) एकसौ एक वर्ष (सम्पेदुः) सम्पन्न हुए (तत्) इस हेतु (एतत्) इसको (आहुः) शिष्ट लोग कहते हैं (यत्) कि (एकशतम्+वर्षाणि) एकसौएक वर्ष (ह+वै) निश्चितरूप से (मघवान्) इन्द्र (प्रजापतौ) प्रजापति के निकट (ब्रह्मचर्यम्+उवास) ब्रह्मचर्य करते रहे (तस्मै+ह+उवाच) उस इन्द्र के लिये प्रजापति वक्ष्यमाण प्रकार से उपदेश देने लगे ॥ ३ ॥

इत्येकादशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

मघवन्मर्त्यं वा इदथं शरीरमात्तं मृत्युना *

* "मघवन्मर्त्यं वै मरणधर्म्मीदं शरीरं। यन्मन्यसेऽक्ष्याधारादिलक्षणः सम्प्रसादलक्षण आत्मा मयोक्तो विनाशमेवापीतो भवतीति। शृणु तत्र कारणम्। यदिदं शरीरं वै यत्पश्यसि तदेतन्मर्त्यं विनाशि। तच्चात्तं मृत्युना ग्रस्तं सन्ततमेव। कदाचिदेव म्रियत इति मर्त्यमित्युक्ते न तथा सन्त्रासो भवति यथा ग्रस्तमेव सदा व्याप्तमेव मृत्युनेत्युक्ते इति वैराग्यार्थं विशेष इत्युच्यते। आत्तं मृत्युनेति। कथं नामदेहाभिमानतो विरक्तः सन्निवर्त्तत इति। शरीरमित्यत्र सहेन्द्रियमनोभिरुच्यते। तच्छरीरमस्य सम्प्रसादस्य त्रिस्थानतया गम्यमानस्यामृतस्य मरणादिदेहेन्द्रियमनोधर्मवर्जितस्येत्येतत्। अमृतस्येत्यनेनैवाशरीरत्वे सिद्धे पुनरशरीरस्येति वचनं वाय्वादिवत्सावयवत्वमूर्त्तिमत्त्वे मा भूतामित्यात्मनो भोगाधिष्ठानं। आत्मनो वा सत ईक्षितुस्तेजोऽबन्नादिक्रमेणोत्पन्नमधिष्ठानं। जीवरूपेण प्रविश्य सदेवाधितिष्ठत्यस्मिन्निति वाधिष्ठानं। यस्येदमीदृशं नित्यमेव मृत्युग्रस्तं धर्माधर्मजनितत्वात्प्रियवदधिष्ठानं तदधिष्ठितस्तद्वान् सशरीरो भवति। अशरीरस्वभावस्यात्मनस्तदेवाऽहं शरीरं शरीरमेव चाहमित्यविवेकादात्मभावः

भाषार्थः—हे इन्द्र! यह शरीर मरणधर्मवाला है इसमें सन्देह नहीं परन्तु अक्षि में रहने वाला और स्वप्न सुषुप्ति में विचरण करनेवाला और परमानन्दयुक्त जैसा कि मैंने वर्णन किया है वह भी मरणधर्म वाला है ऐसा जो तुम समझते हो इसका कारण सुनो—जिस इस शरीर को तुम देखते हो वह विनाशी है और सर्वदा मृत्युग्रस्त है ग्रस्त पद यहां इसलिये कहा गया है कि "यह शरीर कदाचित् मरता है" इतना कहने से उतना भय लोगों को नहीं होता है जितना कि "यह शरीर मृत्यु से आत्त" अर्थात् ग्रस्त है इतना कहने से होता है इस हेतु वैराग्य के लिये "मृत्युना आत्तम्" इतना पद कहागया है। वह शरीर आत्मा का अधिष्ठान, यद्यपि आत्मा आनन्दयुक्त अमृतस्वरूप मरणादि देहेन्द्रिय मनो धर्मरहित है अर्थात् शरीररहित है तथापि इस आत्मा का यह शरीर अधिष्ठान होता है। शङ्का—अमृतपद कह देने से ही अशरीर का बोध होता पुनः अशरीर शब्द कहने का क्या प्रयोजन?। उत्तर—वायु आदिवत् यह आत्मा भी सावयव और मूर्त्तिमान कोई वस्तु है ऐसा कोई न समझे इस हेतु अशरीर पद कहा गया। अधिष्ठान शब्द से तात्पर्य यह है कि यह आत्मा इस शरीर के द्वारा ही सुख दुःख का भोग करता है। यद्यपि आत्मा का शरीर कोई नहीं तथापि सुख दुःखादि भोग के लिये उसको शरीर धारण करना पड़ता है। इस हेतु यह "सशरीर" कहलाता है और जब सशरीर होता है तब इस आत्मा को

तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः

सशरीरत्वमत एव सशरीरः सन्नात्तोग्रस्तः प्रियाप्रियाभ्यां । प्रसिद्धमेतत्तस्य च न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोर्बाह्यविषयसंयोगवियोगयोर्निमित्तयोर्बाह्यविषयसंयोग वियोगौ ममेति मन्यमानस्यापहतिर्विनाश उच्छेदः सन्ततिरूपयोर्नास्तीति । तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्त्तताऽविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः । स्पृशिः प्रत्येकं सम्बध्यत इति प्रियं न स्पृशत्यप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति । न म्लेच्छाशुच्यधार्म्मिकैः सह सम्भाषेतेति यद्वत् । धर्म्माधर्मकार्ये हिताहिते यतोऽशरीरता तु स्वरूपमिति । तत्र धर्म्माधर्मयोरसम्भवात्तत्कार्यभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।

ननु यदि प्रियमप्यशरीरं न स्पृशतीति यन्मघवतोक्तं सुषुप्तस्थो विनाशमेवापीतो भवतीति तदेवेहाध्यापन्नम् । नैव दोषो धर्माधर्मकार्ययोः शरीरसम्बन्धिनोः प्रियाप्रिययोः प्रतिषेधस्य विवक्षितत्वात् । अशरीरं न प्रियाप्रिये स्पृशत इत्यादिश्रुतिः । आगमापायि-

बाहर के संयोग और वियोग के निमित्त यह मेरा बाह्य विषय का संयोग है । यह मेरा देह है, यह स्त्री है, यह पुत्र है, यह अन्य है इत्यादि, यह मेरा बाह्य विषय का वियोग है ऐसा मानलेता है इस हेतु शरीर में रहते हुए आत्मा के सुख दुःख का नाश कभी नहीं होता । परन्तु जब यह आत्मा देहाभिमान से छूट कर निज स्वरूप को पहिचानता है तब इसको सुख दुःख नहीं स्पर्श करता । न सुख स्पर्श करता न दुःख स्पर्श करता । क्योंकि सुख दुःख धर्म अधर्म का कार्य है अशरीरता (शरीर का अभाव) आत्मा का स्वरूप है इस हेतु उस आत्मा में धर्माधर्म के न होने से उनके कार्य सुख दुःख तो दूर रहे इस हेतु सुख दुःख इसे स्पर्श नहीं करते ।

यहां शङ्का होती है कि जिस प्रकार से दुःख आत्मा को स्पर्श नहीं करता इस प्रकार सुख भी नहीं करता यदि यह अर्थ लिया जाय तो इससे तो यह सिद्ध हुआ कि आत्मा नष्ट हो जाता है । क्योंकि सुख दुःख इन दोनों में से कोई तो उसका चिन्ह रहना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में सुख दुःख के अभाव को देखकर इन्द्र ने अनुमान किया था कि उस अवस्था में आत्मा का अभाव हो जाता है परन्तु यह प्रत्यक्ष है कि सुषुप्ति अवस्था से जब जागृत अवस्था में प्राप्त होता

प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्य-

नोर्हि स्पर्शशब्दो दृष्टो यथा शीतस्पर्श उष्णस्पर्श इति । न त्वग्नेरुष्णप्रकाशयोः स्वभावभूत-योरग्निना स्पर्श इति भवति । तथाग्नेः सवितुर्वोष्णप्रकाशवत्स्वरूपभूतस्याऽऽनन्दस्य प्रिय-स्यापि नेह प्रतिषेधो विज्ञानमानन्दमानन्दो ब्रह्मेति श्रुतिभ्यः । इहापि भूमैव सुखमित्युक्त-त्वात् । ननु भूम्नः प्रियस्यैकत्वेऽसंवेद्यत्वात् । स्वरूपेणैव वा नित्यसंवेद्यत्वान्निर्विशेषतेति. नेन्द्रस्य तदिष्टम् । नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि

है तो वह कहता है कि मैंने आज सुखपूर्वक शयन किया एक भी स्वप्न नहीं देखा । इस अनुभव से बोध होता है कि सुषुप्ति अवस्था में सुख का अनुभव करने वाला कोई आत्मा था जो जाग्रत अवस्था में वैसा कहता है परन्तु आपका कथन है कि अशरीर अवस्था में आत्मा को सुख का भी अनुभव नहीं रहता है तो इससे तो यह सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति अवस्था से भी कोई विलक्षण यह अवस्था है जिसमें सुख का भी अभाव हो जाता है । एक प्रकार से यही सिद्ध होता है कि आत्मा का नाश हो जाता है । उत्तर–यहां प्रिय अप्रिय का तात्पर्य यह है कि धर्म अधर्म के कारण, जो शरीर के सम्बन्ध से सुख दुःख प्राप्त होता है, उस सुख दुःख का नाश होता है । और जो आत्मा में स्वभावतः सुख है उस के नाश से तात्पर्य नहीं जैसे अग्नि में स्वभावतः उष्णता और प्रकाशता है उस उष्णता और प्रकाशता को देखकर कोई नहीं कहता है कि अग्नि को उष्णता और प्रकाशता स्पर्श करती है । स्पर्श शब्द का प्रयोग वहां होता है जहां बाहर से कुछ धर्म उस में प्राप्त होता हो अर्थात् नैमित्तिक धर्म के आने का नाम यहां स्पर्श है । इस हेतु नैमित्तिक प्रिय और अप्रिय इन दोनों का यहां निषेध किया गया है । स्वाभाविक सुख का नहीं । यदि यह कहो कि आत्मा में सुख तो स्वाभाविक है दुःख नहीं इस में क्या प्रमाण ? यद्यपि इस का निर्णय करना अति कठिन है तथापि शास्त्रों का यह सिद्धान्त है कि आत्मा में स्वभावतः सुख ही है दुःख नहीं क्योंकि "विज्ञानमानन्दमानन्दो ब्रह्म" इत्यादि श्रुति के प्रमाण से अर्थात् यह आत्मा आनन्दस्वरूप है और यहां पर भी भूमा ही सुख है यह कहा गया है इस हेतु स्वाभाविक आनन्द आत्मा में है दुःख नहीं ।

शङ्का—क्या आप का यह तात्पर्य है कि आनन्द और आत्मा में भेद नहीं, यदि ऐसा हो तो कदापि भी "मैं आनन्द भोक्ता हूं" ऐसा बोध आत्मा को नहीं होगा परन्तु मैं आनन्द का भोग करता हूं, मैं आनन्द से भिन्न हूं ऐसा बोध होना चाहिये इसी में

...शरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्युक्तत्वात् । तद्धीन्द्रस्येष्टं यद्भूतानि चात्मानं च जानाति । न चाप्रियं किञ्चिद्वेत्ति । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्चकामान् येन ज्ञानेन । सत्यमेतदिष्टमिन्द्रस्येमानि भूतानि मत्तोऽन्यानि लोकाः कामाश्च सर्वे मत्तोऽन्येऽहमेषां स्वामीति । न त्वेतदिन्द्रस्य हितम् । हितञ्चेन्द्रस्य प्रजापतिना वक्तव्यम् । व्योमवदशरीरात्मतया सर्वभूतलोककामात्मत्वोपगमेन या प्राप्तिस्तद्धितमिन्द्राय वक्तव्यमिति प्रजापतिनाऽभिप्रेतम् । नतु राज्ञो राज्याप्तिवदन्यत्वेन । तत्रैवं सति कं केन विजानीयादात्मैकत्वे इमानि भूतान्यमहमस्मीति । नन्वस्मिन्पक्षे स्त्रीभिर्वा यानैर्वा स यदि पितृलोककामः स

पुरुषार्थ है इन्द्र का भी यही अभीष्ट था क्योंकि "नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानिभूतानि विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इस अवस्था में यह जीव अपने को नहीं जानता है कि मैं यह हूं और न इन प्राणियों को जानता है । इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा विनाश को प्राप्त हो जाता, मैं यहां कल्याण नहीं देखता । यह इन्द्र का कथन है । यदि आनन्द और आनन्दभोक्ता में अभेद इन्द्र मानता रहता तो फिर उसको इस अवस्था में भय नहीं प्राप्त होता । इस हेतु इन्द्र का अभिप्राय यह मालूम होता है कि ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि जिससे वह जाने कि मैं हूं और इन प्राणियों को मैं जानता हूं मुझे सुख प्राप्त है दुःख नहीं मैंने सब लोक और कामना को प्राप्त किया इत्यादि । ऐसी शङ्का उठाकर पुनः शंकराचार्य उत्तर देते हैं कि यह आपका कथन सत्य है कि इन्द्र का इष्ट है कि ये सब प्राणी मुझ से भिन्न हैं ये सब लोक और कामनाएं मुझ से भिन्न हैं मैं इन का स्वामी हूं । ऐसा इन्द्र तो समझता है परन्तु यह इन्द्र का कल्याणकर नहीं है । परन्तु प्रजापति को उचित है कि जिससे प्रिय शिष्य इन्द्र का कल्याणकर हो वही उपदेश करें वह उपदेश तब हो सकता कि आकाशवत् सर्वव्यापक अशरीरी आत्मा के सब भूत सब लोक में अभेदतया सम्बन्ध के ज्ञान हों, यही इन्द्र को हितकर होगा यह अभिप्राय प्रजापति का है । जैसे राजा अपने से भिन्न राज्य को प्राप्त करता है वैसा इन्द्र न समझे । किन्तु राज्य और अपने में भेद न माने । तब आत्मा का एकत्व ज्ञान हो जाने से कौन किसको भिन्न दृष्टि से जाने अर्थात् यह मैं हूं और ये प्राणी हैं यह मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जायगा और यही उपदेश के लिये हितकारी है ।

मघवन् । मर्त्यम् । वै । इदम् । शरीरम् । आत्तम् । मृत्युना । तत् । अस्य ।

एकधा भवतीत्याद्यैश्वर्य श्रुतयोऽनुपपन्नाः । न सर्वात्मनः सर्वफलसम्बन्धोपपत्तेरविरोधात् । मृद इव सर्व घट करक कुण्डाद्याप्तिः । ननु सर्वात्मत्वे दुःखसम्बन्धोऽपि स्यादिति चेन्न । दुःखस्याप्यात्मत्वोपगमादविरोधः । आत्मन्यविद्याकल्पनानिमित्तानि दुःखानि रज्ज्वामिव सर्पादिकल्पनानिमित्तानि । सा चाविद्या शरीरात्मैकत्वस्वरूपदर्शनेन दुःखनिमित्तोच्छिन्नेति दुःखसम्बन्धाशङ्का न सम्भवति । शुद्धसत्त्वसङ्कल्पनिमित्तानान्तु कामानामीश्वरदेहसम्बन्धः सर्व्वभूतेषु मानसानां पर एव सर्वसत्त्वोपाधिद्वारेण भोक्तेति सर्वाविद्याकृत संव्यवहाराणां पर एवात्मास्पदं नान्योस्तीति वेदान्तसिद्धान्तः । य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत इति च्छायापुरुष एव प्रजापतिनोक्तः स्वप्नसुषुप्तयोश्चान्ये एव । न परोऽपहतपाप्मत्वादि लक्षणो विरोधादिति केचिन्मन्यन्ते । छायाद्यात्मनाब्चोपदेशे प्रयोजनमाचक्षते । आदावेवोच्यमाने किल दुर्विज्ञेयत्वात्परस्यात्मनोऽत्यन्त बाह्यविषयासक्तचेतसोत्यन्तसूक्ष्मवस्तुश्रवणे व्यामोहो माभूदिति यथा किल

शङ्का—यदि ऐसा अर्थ समझते हो तो कई स्थानों में जो यह कहा गया है कि वह मुक्त पुरुष विविध भोगों को भोगता है । उसके सङ्कल्पमात्र से पितर आदि उपस्थित होते हैं वह एक से अनेक होता है इत्यादि वर्णन कैसे घटेंगे । उत्तर—शङ्कराचार्य इसका उत्तर देते हैं कि सर्वात्मस्वरूप जो आत्मा है उसको सम्पूर्ण फलों से सम्बन्ध है इस में कोई विरोध नहीं । अर्थात् जैसे मृत्तिका का सम्बन्ध सब घट, करक कुण्ड से है तद्वत् इस आत्मा का सब से सम्बन्ध है इस हेतु सम्पूर्ण लोकलोकान्तरों में सम्पूर्ण सुखों को भोगता है यह श्रुति का अभिप्राय है । शङ्का—यदि आत्मा सब से बराबर सम्बन्ध रखता है तो मुक्तावस्था में दुःख से भी सम्बन्ध होना चाहिये क्योंकि दुखी पुरुष से भी उसका सम्बन्ध है । तो सुख दुःख दोनों का भोक्ता मुक्त पुरुष को होना चाहिये । उत्तर—शङ्कराचार्य को इस के उत्तर देने में बड़ी कठिनाई प्राप्त हुई परन्तु अन्त में निर्णय किया है कि जैसे रज्जु में सर्पादि कल्पना निमित्त दुःख होता है तद्वत् आत्मा में अविद्या कल्पना निमित्त दुःख है सो वह दुःख देनेवाली अविद्या अभेदज्ञान से नष्ट हो जाती है । इस हेतु दुःख सम्बन्ध की शङ्का नहीं हो सकती और यथार्थ में एक ही भोक्ता है दूसरा नहीं यह वेदान्त सिद्धान्त है । अद्वैत ज्ञान उत्पन्न होने पर भोग्य भोग का सम्बन्ध जाता रहता है इत्यादि वर्णन किया है ॥

शङ्का—"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" जो यह अक्षि में पुरुष दीखता है । इससे छाया पुरुष से ही अभिप्राय प्रजापति का था और स्वप्न सुषुप्ति में जीवात्मा से अभि-

अमृतस्य । अशरीरस्य । आत्मनः । अधिष्ठानम् । आत्तः । वै । सशरीरः । प्रिया-

द्वितीयायां सूक्ष्मं चन्द्रं दिदर्शयिषुर्वृक्षं कञ्चित्प्रत्यक्षमादौ दर्शयति । पश्यामुमेष चन्द्रइति । ततोप्यन्नं गिरिमूर्द्धानं चन्द्रसमीपस्थमेष चन्द्र इति । ततोऽसौ चन्द्रं पश्यति । एवमेतद्य एषोऽक्षिणीत्याद्युक्तं प्रजापतिना त्रिभिः पर्य्यायैर्नारं इति । चतुर्थे तु पर्य्याये देहान्मर्त्यात्समुत्थायाऽशरीरतामापन्नो ज्योतिःस्वरूपम् । यस्मिन्नुत्तमपुरुषे स्त्र्यादिभिर्जक्षन् क्रीडन् रममाणो भवति स उत्तमपुरुषः परउक्त इति चाहुः ॥

सत्यं रमणीया तावदियं व्याख्या श्रोतुम् । न त्वर्थोऽस्य ग्रन्थस्यैवं सम्भवति कथमक्षिणि पुरुषो दृश्यत इत्युपन्यस्य शिष्याभ्यां छायात्मनि गृहीते तयोस्तद्विपरीतग्रहणं मत्वा तदपनयायोदशरावोपन्यासः । किं पश्यथ इति च प्रश्नः । साध्वलङ्कारोपदेशश्चा-

प्राय था किन्तु अपहतपाप्मा अजर अमर परमात्मा से अभिप्राय नहीं था । और ऐसे मानने का प्रयोजन यह है कि परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म अत्यन्त गूढ़ दुर्गम दुर्विज्ञेय आदि कथित है । यदि प्रथम ही बाह्य विषयों में आसक्त चित्त वाले साधक को अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु सुनाई जाय तो वह साधक व्यामोहित होकर उस विषय के ग्रहण करने में असमर्थ हो जायगा । जैसे द्वितीया तिथि के सूक्ष्म चन्द्रमा को दिखलाने के अभिप्राय से प्रथम किसी प्रत्यक्ष वृक्ष को दिखाता है । देखो इसको, यह चन्द्र है तब कोई अन्य चन्द्रसमीपस्थ पहाड़ के शिखर को दर्शाता है कि यह चन्द्र है तब वह क्रमशः चन्द्र को देखता है इसी प्रकार सूक्ष्म ब्रह्मज्ञान के दर्शनार्थ प्रजापति ने प्रथम नेत्र में छाया पुरुष को दिखलाया । तत्पश्चात् स्वप्न और सुषुप्ति में जीवात्मा को दर्शाया तदनन्तर "एवमेवैष सम्प्रसादोस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य···सतत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः ······इत्यादि" अर्थात् वह प्रसन्नात्मा इस शरीर से उठकर जिस परज्योति को पा अपने रूप से आनन्द को भोगता है वह उत्तम पुरुष परमात्मा है जिसमें वह मुक्त पुरुष विविध आनन्द को भोगता है । इत्यादि वर्णन से अन्त में परमात्मा दर्शाया है । किन्तु सर्वत्र परमात्मा का वर्णन नहीं (यथार्थ में ग्रन्थ का यही अभिप्राय है परन्तु शङ्कराचार्य का यह अभीष्ट न होने से सम्पूर्ण ग्रन्थ को अन्य प्रकार से लगाया है और इन सबों का उत्तर इस प्रकार दिया है) हां सत्य है क्योंकि यह व्याख्या सुनने में रमणीय मालूम होती है परन्तु ग्रन्थ का यह आशय नहीं । क्योंकि अक्षि में पुरुष दीखता है इत्यादि प्रारम्भ करके जब दोनों शिष्यों ने छायात्मा अर्थ ग्रहण किया तो इस विपरीत

प्रियाभ्याम्। न। वै। सशरीरस्य। स्वतः। प्रियाप्रिययोः। अपहतिः। अस्ति।

नर्थकः स्यात्। यदि छायात्मैव प्रजापतिनाऽक्षिणि दृश्यत इत्युपदिष्टः। किञ्च यदि वा तेन स्वयमुपदिष्टग्रहणस्याप्यपनयन कारणं वक्तव्यं स्यात्। स्वप्नसुषुप्तात्मग्रहणयोरपि तदपनयनकारणं च स्वयं ब्रूयात्। न चोक्तं तेन मन्यामहे। नाक्षिणि छायात्मा प्रजापतिनोपदिष्टः। किञ्चान्यदक्षिणि द्रष्टा चेद्दृश्यत इति उपदिष्टः स्यात्तत इदं युक्तम्। एतन्त्वेव त इत्युक्त्वा स्वप्नेऽपि द्रष्टुरेवोपदेशः। स्वप्ने न द्रष्टोपदिष्ट इति चेन्नापि रोदितीवा प्रियवेत्तेवेत्युपदेशात्। न च द्रष्टुरन्यः कश्चित्स्वप्ने महीयमानश्चरति। अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिरिति न्यायतः श्रुत्यन्तरे सिद्धत्वात्। यद्यपि स्वप्ने सधीर्भवति तथापि न धीः स्वप्नभोगोपलब्धि प्रतिकरणत्वं भजते। किन्तर्हि पटचित्रवज्जाग्रद्वासनाश्रया दृश्यैव धीर्भवतीति। न द्रष्टुः स्वयं ज्योतिष्ट्वबाधः स्यात्। किञ्चान्यत्। जाग्रत्स्वप्नयोर्भूतानि चात्मानं च जानतीमानि भूतान्ययमहमस्मीति प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधो युक्तःस्यान्नाह खल्वयमित्यादि। तथा चेतनस्यैवाविद्यानिमित्तयोः स शरीरत्वे सति प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीत्युक्त्वा तस्यैवाशरीरस्य सतोऽविद्यायां सत्यां सशरीरत्वे प्राप्तयोः प्रतिषेधो युक्तोऽशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति। एकश्चात्मा स्वप्नबुद्धान्तयोर्महामत्स्यवदसङ्गः सञ्चरतीति श्रुत्यन्तरे सिद्धम्। यच्चोक्तं सम्प्रसादः शरीरात्समुत्थाय यस्मिन् स्त्र्यादिभीरममाणो भवति सोऽन्यः सम्प्रसादादधिकरणं निर्दिष्ट उत्तमः पुरुष इति। तदप्यसत्। चतुर्थेऽपि पर्याये एतन्त्वेव त इति वचनात्। यदि ततोऽन्योऽभिप्रेतः स्यात्पूर्ववदेतन्त्वेव त इति न ब्रूयान्मृषा प्रजापतिः। किञ्चान्यत्तेजोवन्नादीनां स्रष्टुः सत स्वविकारदेहे शुङ्गे प्रवेशं दर्शयित्वा

ज्ञान को हटाने के लिये जलपरिपूर्ण पात्र में आत्मा को देखो ऐसा कहा और प्रश्न किया कि तुम दोनों क्या देखते हो? यदि छायात्मा पुरुष से ही प्रजापति का अभिप्राय रहता तो साधु अलङ्कृत होकर उदकपरिपूर्ण पात्र में आत्मा को देखो इत्यादि वर्णन व्यर्थ हो जायगा और जैसा प्रजापति ने प्रथम उपदेश किया उसके दूरीकरण के लिये कोई कारण कहना उचित था। और "एतन्त्वेव ते" पुनः इसी आत्मा का मैं व्याख्यान करूंगा इत्यादि कहना भी व्यर्थ हो जाता इससे ज्ञात होता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा का प्रजापति ने वर्णन किया है और चतुर्थ पर्याय में भी प्रजापति ने "एतन्त्वेव ते भूयो नु व्याख्यास्यामि" ऐसाही कहा है सो कहना प्रजापति का मिथ्या होजाता और आपने जो यह कहा कि "जिसमें वह मुक्त जीव नानाभोग को प्राप्त करता है वह परमात्मा है यह चतुर्थ पर्याय में वर्णन किया गया है" यह भी ठीक नहीं क्योंकि इस अवस्था में ग्रन्थकार को इस प्रकार

अशरीरम् । वाव । सन्तम् । न । प्रियाप्रिये । स्पृशतः ॥ १ ॥

प्रविष्टाय पुनस्तत्त्वमसीत्युपदेशो मृषा प्रसज्येत । तस्मिंस्त्वं स्त्र्यादिभीरन्ता भविष्यसीति युक्त उपदेशोऽभविष्यद्यदि सम्प्रसादादन्य उत्तमः पुरुषो भवेत् । तथा भूम्न्य हमेवेत्यादि-श्यात्मैवेदं सर्वमिति नोपसमहरिष्यद्यदि भूमा जीवादन्योऽभविष्यत् । नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे-त्यादि श्रुत्यान्तराच्च । सर्वश्रुतिषु च परस्मिन्नात्मशब्द प्रयोगो नाभविष्यत्प्रत्यगात्मा चेत्स-र्वजन्तूनां पर आत्मा न भवेत् । तस्मादेक एवात्मा प्रकरणसिद्धः । न चात्मनः संसारित्वं । अविद्याध्यस्तत्वादात्मनि संसारस्य । न हि रज्जुशुक्तिकागगनादिषु सर्परजतमलादीनि मिथ्याज्ञानाध्यस्तानि तेषां भवन्तीति । एतेन शरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिर्नास्तीति व्याख्यातम् । यच्च स्थितमप्रियवेत्तेवेति नाप्रियावेत्तैवेति सिद्धम् एवञ्चसति सर्वपर्यायेऽ-प्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति प्रजापतेर्वचनं । यदि वा प्रजापतिच्छद्मरूपायाः श्रुते-र्वचनं सत्यमेव भवेत् । न च तत्कुतर्कबुध्या मृषाकर्तुं युक्तम् । ततो गुरुतरस्य प्रमाणान्त-

कहना उचित होता "कि तू उसमें स्त्री आदि विषयों से रमण करनेवाला होगा" यदि सम्प्रसाद जीवात्मा से अन्य कोई उत्तम पुरुष होता । परन्तु ऐसा नहीं कहा गया है इससे विदित होता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा का वर्णन है यही प्रकरण का अभिप्राय है ।

यह आत्मा संसारी नहीं है इस आत्मा में संसार का अध्यासमात्र है । जैसे रज्जु (रस्सी) शुक्तिका और (सीप) और आकाश में क्रम से सर्प, रजत (चांदी) मल (नीलापन) मिथ्याज्ञान के कारण मालूम होता है और इस मिथ्याज्ञान से रज्जु आदि कदापि सर्पादि नहीं होजाता तद्वत् आत्मा में अध्यस्त जो संसार वह संसार आत्मा नहीं होसकता इस हेतु सशरीर आत्मा के सुख दुःख का नाश कदापि नहीं होता, जब मिथ्या ज्ञान को दूरकर अद्वैत ज्ञान उससे प्राप्त होता अर्थात् मैं शरीर से भिन्न हूं मेरा यह शरीर है मैं इसमें रहने वाला हूं इत्यादि द्वैत ज्ञान के नष्ट होने पर संसारीपन चला जाता है और ऐसा ही मानने पर प्रजापति का "यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है" वचन सङ्गत होसकता है । प्रजापति ने शिष्य के समझाने के लिये अमृत, अभय इत्यादि पद कहे हैं यथार्थ में नहीं । यदि यह भाव मानो तो इस में प्रथम प्रमाण क्या और कुतर्क से इस को मिथ्या करना चाहो तो इस में प्रबल युक्ति होनी चाहिये । यदि कहो कि प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि यह जीवात्मा दुखी और अप्रियवेत्ता होता है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि यह जीवात्मा ऐसा भी जानता है कि मैं वृद्ध हो गया, मैं आयु-

भाष्यम्—मघवन्निति। मघवन् इन्द्र! यदिदं शरीरं स्थूलम्। अवलोकयसि। तदिदं शरीरम्।

रस्यानुपपत्तेः। ननु प्रत्यक्षं दुःखाद्यप्रियवेत्तृत्वमव्यभिचार्यानुभूयत इति चेन्न। जरादिरहितो जीर्णोऽहं जातोऽहमायुष्मान् गौरः कृशो मृत इत्यादिप्रत्यक्षानुभववत्तदुत्पत्तेः। सर्व्वमप्येतत्सत्यमिति चेदस्त्येवैतदेवं दुरवगमं येन देवराजोऽप्युदश रावादिदर्शिताऽविनाश युक्तिरपि मुमोहैवात्र विनाशमेवापीतो भवतीति। तथाविरोचनो महाप्राज्ञः प्राजापत्योऽपि देहमात्रात्मदर्शनो बभूव। तथेन्द्रस्यात्मविनाशभयसागरे एव वैनाशिकाः न्यमज्जन् तथा साङ्ख्याः द्रष्टारं देहादिव्यतिरिक्तमवगम्यापि त्यक्तागमप्रमाणत्वात् मृत्युविषय एवान्यत्वदर्शने तस्थुः। तथाऽन्ये काणादादिदर्शनाः कषायरक्तमिव क्षारादिभिर्वस्त्रं नवभिरात्मगुणैर्युक्तमात्मद्रव्यं विशोधयितुं प्रवृत्ताः। तथाऽन्ये कर्म्मिणो बाह्यविषयापहृतचेतसो वेदप्रमाणा अपि परमार्थसत्यमात्मैकत्वं विनाशमिवेन्द्रवन्मन्यमाना घटीयन्त्रवदारोहावरोहप्रकारैरनिशं बम्भ्रमन्ति। किमन्ये क्षुद्रजन्तवो

ष्मान् हूं, मैं गौर और कृश हूं, मैं मरता हूं इत्यादि, जैसे ये ज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं परन्तु मिथ्या हैं इसी प्रकार मैं दुखी हूं अप्रियवेत्ता हूं इत्यादि ज्ञान भी मिथ्या है। यदि कहो कि आत्मा का वृद्धत्व, गौरत्व, कृशत्व, मृतत्व आदि सत्यही है तो इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि यह विषय बहुत दुरवगाह अर्थात् अत्यन्त कठिन है क्योंकि जब देवराज भी इस आत्मज्ञान में मोहित "होकर आत्मा विनाश ही को प्राप्त होता है" ऐसा समझने लगे। यद्यपि उन्हें अविनाशित्व की अनेक युक्ति बतलाई गई थी। जब महाप्राज्ञ प्रजापति के सन्तान भी विरोचन, केवल देह को ही आत्मा समझने लगे। जब इन्द्र के इस आत्मविनाश भयसागर में ही वैनाशिक (नास्तिक) डूब गये। जब सांख्यदर्शन ज्ञानी, देहादि से भिन्न आत्मा को समझ करके भी वैदिक प्रमाण के त्यागने के कारण मृत्युप्रद द्वैतज्ञान में ही वर्तमान रहे। जब अन्य वैशेषिकदर्शनकार प्रभृति, जैसे कसाय से रंगे हुए वस्त्र को क्षार आदि उपायों से शुद्ध करने के लिये लोग प्रवृत्त होते हैं। तद्वत् नौ गुणों से युक्त इस आत्मा को संशोधन करने के लिये प्रवृत्त हुए। जब अन्य कर्मकाण्डी, बाह्य विषयों से अपने चित्त को दूर करने पर भी और वेदों के प्रमाण मानने पर भी परमार्थ सत्य आत्मैकत्व अर्थात् अद्वैतवाद को इन्द्रवत् विनाश मानते हुए घटी यन्त्रवत् आरोह (चढ़ना) अवरोह (उतरना) इस प्रकार के ज्ञान से सर्वदा बारम्बार भ्रम में पड़े रहे जब ऐसे २ दर्शनकार महाभ्रम में पड़गये और आत्मतत्त्व नहीं ज्ञात हुआ। तो तब विवेकहीन स्वभावतः बाह्य विषयों में लगे हुए क्षुद्रजन्तुओं की गणना

मर्त्यं मर्त्तुं योग्यं मरणधर्म्मि । वै इति निश्चितम् अत्र देहस्य मर्त्यत्वे न सन्देहोऽस्तीत्यर्थः । अतएव मृत्युना । आत्तं ग्रस्तं । सर्वदैव मृत्युना गृहीतमित्यर्थः । तच्छरीरं । अमृतस्य अमरणधर्मिणः । अशरीरस्य मरणादिदेहेन्द्रियमनोधर्मरहितस्य । अस्य आत्मनो जीवात्मनः । अधिष्ठानम् । निवासस्थानम् । हे इन्द्र ! अस्माद्धेतोः । सशरीरः । शरीरेण भोगाधिष्ठानेन सह विद्यमानः सशरीरः । आत्मा । प्रियाप्रियाभ्यां सुखदुःखाभ्यां वै निश्चितम् । आत्तो । ग्रस्तः । पुनस्तदेवविस्पष्टयति । सशरीरस्य शरीरेणसार्द्धं विद्यमानस्य सत आत्मनः । प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोः । न वै न कदापि । अपहतिर्विनाशोऽस्ति । अशरीरं वावसन्तमात्मानम् । प्रियाप्रिये न स्पृशतो न सम्बध्नीतः ॥ १ ॥

अनुवादः—हे इन्द्र ! निश्चय, यह शरीर मरणधर्म वाला है, अतः मृत्यु से गृहीत है । वह शरीर इस अमृत और अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है । इसी हेतु निश्चय, शरीर सहित जीव, प्रिय और अप्रिय से गृहीत है । क्योंकि शरीर सहित आत्मा के प्रिय अप्रिय का कदापि नाश नहीं होता है । निश्चय, शरीररहित आत्मा को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते ॥ १ ॥

पदार्थः—(मघवन्) हे इन्द्र ! (इदम्+शरीरम्) यह शरीर (वै) निश्चय ही (मर्त्यम्) मरणधर्मवाला अर्थात् विनाशी है इसी हेतु यह शरीर (मृत्युना) मृत्यु=विनाश से (आत्तम्) गृहीत है (तत्) वह शरीर (अमृतस्य) अमृत कभी मरने वाला नहीं (अशरीरस्य) अशरीरी (आत्मनः) जीवात्मा का (अधिष्ठानम्) भोगाधिष्ठान है ।

विवेकहीनाः स्वभावत एव बहिर्विषयापहृतचेतसः । तस्मादिदं त्यक्तसर्वबाह्यैषणैः अनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राजकैरत्याश्रमिभिर्वेदान्तज्ञानपरैरेव वेदनीयं पूज्यतमैः । प्राजापत्यश्चेमं सम्प्रदायमनुसरद्भिरुपनिबद्धं प्रकरणचतुष्टयेन । तथाऽनुशासन्त्यद्यापि ते एव नान्य इति । तत्राशरीरस्य सम्प्रसादस्याविद्यया शरीरेणाविशेषतां सशरीरतामेव सम्प्राप्तस्य शरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेण यथाऽभिनिष्पत्तिस्तथा वक्तव्येति दृष्टान्त उच्यते" ॥ इति शाङ्करभाष्यम् ॥

ही क्या ? इस हेतु इस आध्यात्मिक ज्ञान को वेही समझ सकते हैं जिन्हों ने सम्पूर्ण बाह्य एषणाओं को त्यागा है । इस ज्ञान को परमहंस परिव्राजक अत्याश्रमी वेदान्तज्ञान तत्पर पूज्यतम महात्मा ही समझा सकते हैं दूसरे नहीं । और जो चार प्रकरणों से निबद्ध प्रजापति का यह सम्प्रदाय है उस सम्प्रदाय के जो लोग हैं वे समझा सकते हैं और आज भी वे लोग समझा रहे हैं । इस हेतु यह प्रकरण परमात्मपरक है जीवात्मपरक नहीं, यह सिद्ध हुआ ॥

इसी हेतु (वै) निश्चय ही (सशरीरः) शरीरोपाधिसहित आत्मा (प्रियाप्रियाभ्याम्) सुख और दुःख से (आत्तः) गृहीत है। क्योंकि (सशरीरस्य) शरीरोपाधिविशिष्ट (सतः) सदा विद्यमान आत्मा के (प्रियाप्रिययोः) प्रिय और अप्रिय का (न+वै) कदापि नहीं (अपहतिः) विनाश (अस्ति) होता है किन्तु (अशरीरम्) शरीर रहित (सन्तम्) विद्यमान आत्मा को (प्रियाप्रिये) सुखदुःख (न+वाव) कदापि नहीं (स्पृशतः) स्पर्श करते हैं ॥ १ ॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि। तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

अशरीरः। वायुः। अभ्रम्। विद्युत्। स्तनयित्नुः। अशरीराणि। एतानि। तद्। यथा। एतानि। अमुष्मात्। आकाशात्। समुत्थाय। परम्। ज्योतिः। उपसम्पद्य। स्वेन। स्वेन। रूपेण। अभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

भाष्यम्—अशरीर इति। यथा। वायुर्मरुत्। अशरीरोऽस्ति अविद्यमानं हस्तपादादिमच्छरीरं देहो यस्य सः। एवम्। अभ्रं मेघः। विद्युच्चपला। स्तनयित्नुर्मेघध्वनिः एतानि वस्तूनि। अशरीराणि सन्ति। अत्रायं विचारः। यथास्माकं हस्तपादशिरः प्रभृतयोऽवयवाः प्रविभक्ता दृश्यन्ते। तथा वाय्वादीनां शरीराणि न सन्ति। अत्र चत्वारो दृष्टान्ताः परस्परभिन्नाः। वायुस्तुत्वगिन्द्रियेण विज्ञायते नेतरैः। किन्तु तद्वेगेन कम्पिते वृक्षे तद्गतिर्नयनगोचरा भवति शब्दायमाने कर्णगोचरा। वायुरेव शब्दं स्थानात्स्थानं नयति। अन्नादिवत् प्राणी प्रत्यहं वायुमत्ति। प्रतिक्षणमद्यमानत्वादपि स्वादो न विज्ञायते। एवंविधैर्भूयिष्ठैर्गुणैर्युक्तोपि वायुरविवेकिभिः "अस्य किं प्रयोजनम् कोस्तीत्यादि" न गृह्यते। अभ्रं तावदाकाशे एकीभवत् चलत्सावयवं पर्वतवदुद्वीक्ष्यते। कथं तर्ह्यशरीरमिति। यथा गोमहिषादयः सशरीराः पादेन गच्छन्ति। मुखेन पिबन्ति। नासिकया जिघ्रन्ति। नेत्रेण पश्यन्तीत्यादि कर्माणि शरीरे सति विदधति न तथाऽभ्रमीदृशं सशरीरं यदा च वाष्पायते न शरीरवत् प्रतीयतेऽतोऽशरीरम्। विद्युत् प्रकाशत एव। नतु तस्याःशरीरं दृश्यते किन्तु तस्याः पातेन तद्विद्यमानता ज्ञायते। स्तनयित्नुस्तु कर्णगोचरस्तु नायते किन्तु इन्द्रियान्तरैर्नगृह्यते। तद्यथा। एतानि वाय्वादीनि वस्तूनि अमुष्मादाकाशात्। समुत्थाय उत्पद्य। परंज्योतिः स्व स्वकारणम्। उपसम्पद्य लब्ध्वा। स्वेन स्वेन रूपेण सार्धं विद्यमानानि स्वस्मिन् स्वस्मिन् कारणे। अभिनिष्पद्यन्ते प्रविलीयन्ते विलीनानि तिष्ठन्ति। नहि तेषां सत्तायाः कदापि नाशो भवति।

तद्वदयं जीवात्माऽपि ब्रह्मणि विलीनोऽपि स्वेनैवरूपेण सार्धं स्थितो न स्वसत्तां कदापि जहातीत्युत्तरे दर्शयिष्यति ॥ २ ॥

अनुवादः-वायु अशरीर है। तथा अभ्र (मेघ), विद्युत् और स्तनयित्नु (मेघगर्जन) ये भी अशरीर हैं। सो जैसे ये सब उस आकाश से उत्थित हो (उठकर) पर ज्योति को पाकर अपने २ रूप से स्थित रहते हुए कारण में लीन होते हैं ॥ २ ॥

पदार्थः-(वायुः) वायु (अशरीरम्) शरीर रहित है। और (अभ्रम्) मेघ (विद्युत्) बिजुली (स्तनयित्नुः) मेघगर्जन (एतानि) ये पूर्वोक्त (अशरीराणि) शरीररहित हैं। (तत्+यथा) सो जैसे (एतानि) ये वायु, मेघ, बिजुली और मेघगर्जन (अमुष्मात्) उस (आकाशात्) आकाश से (समुत्थाय) उठकर (परम्+ज्योतिः) परज्योति अर्थात् स्वकारणरूप उत्कृष्ट ज्योति को (उपसम्पद्य) पाकर (स्वेन+रूपेण) अपने २ रूप से (अभिनिष्पद्यन्ते) अपने २ कारण में लीन रहते हैं ॥ २ ॥

भाष्याशयः-यहां चार दृष्टान्त कहे गये हैं। वे चारों परस्पर भिन्न हैं। ये चारों शरीररहित इस हेतु कहे गये हैं कि जैसे हम लोगों के हस्त, पाद, शिर आदिक अवयव जुदे २ विदित होते हैं वैसे वायु आदिकों के अवयव ज्ञात नहीं होते हैं। वायु केवल त्वचा के स्पर्श से प्रतीत होता है अन्य इन्द्रियों से नहीं। किन्तु जब उसके वेग से वृक्ष कम्पमान होता है तब उसकी गति, नयनगोचर होती है और वृक्ष के शब्द होने पर वायु कर्णगोचर भी होता है ऐसा कह सकते हैं वायु ही शब्द को भी एक स्थान से दूसरे स्थान लेजाता है। अन्नादिवत् वायु को खाते हैं। परन्तु प्रतिक्षण खाद्यमान होने पर भी किसी को कुछ स्वाद ज्ञात नहीं होता। इत्यादि विविध गुणों से युक्त वायु है परन्तु अस्मदादिवत् उसका शरीर नहीं दीखता। और अज्ञ अविवेकी जन " इसका क्या प्रयोजन है, यह कौन पदार्थ है ? " इत्यादि इसके विषय में अन्वेषण नहीं करते हैं। अभ्र=मेघ जब आकाश में एकत्रित होता है तो उस समय सावयव पर्वताकार देख पड़ता है तब फिर इसको अशरीर कैसे कह सकते हैं। जैसे गोमहिष आदि शरीरधारी पैर से चलते हैं मुख से पीते हैं नासिका से सूंघते हैं इत्यादि कर्म शरीर रहते हुए करते हैं तद्वत् वह मेघ शरीरधारी नहीं है और जब वाष्प हो जाता है तो शरीरवत् प्रतीत नहीं होता। इस हेतु इस को अशरीर कहा है। बिजुली प्रकाशित तो होती है परन्तु उसका शरीर नहीं दीखता किन्तु उसके पतनादि से उसकी विद्यमानता प्रतीत होती है। इसी प्रकार मेघध्वनि भी कर्णगोचर तो होता है अन्य इन्द्रिगोचर नहीं और उसका

शरीर भी नहीं दीखता इस हेतु ये सब अशरीरी कहे गये हैं। स्वेनरूपेण—जैसे वायु, मेघ, विजुली, मेघध्वनि ये चारों अपने कारण में लीन हो जाते हैं परन्तु उनका अस्तित्व सदा भिन्न ही बना रहता है। अर्थात् उनका अपना रूप किसी न किसी दशा में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा भी 'स्वेनरूपेण' अर्थात् निज रूप के साथ वर्त्तमान रहता हुआ ही ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है जैसे मछली पानी में। यहां 'स्वनरूपेण' पद कहने से शङ्कराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा सिद्ध नहीं हो सकता॥ २॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः॥ ३॥

एवम्। एव। एषः। सम्प्रसादः। अस्मात्। शरीरात्। समुत्थाय। परम्। ज्योतिः। उपसम्पद्य। स्वेन। रूपेण। अभिनिष्पद्यते। सः। उत्तमः। पुरुषः। सः। तत्र। पर्य्येति। जक्षन्। क्रीडन्। रममाणः। स्त्रीभिः। वा। यानैः। वा। ज्ञातिभिः। वा। न। उपजनम्। स्मरन्। इदम्। शरीरम्। सः। यथा। प्रयोग्यः। आचरणे। युक्तः। एवम्। एव। अयम्। अस्मिन्। शरीरे। प्राणः। युक्तः॥ ३॥

भाष्यम्—एवमेवेति। वाय्वादिदृष्टान्तवत्। एष सम्प्रसादः। जीवः। विदित सतत्त्वः। दृष्टेश्वरविभूतिस्त्यक्ताभिमानादिसकलदोषराशिः। अतः सर्वदैव सुप्रसन्नो जीवः सम्प्रसादो निगद्यते। सम्प्रसीदतीति सम्प्रसादः। एष सम्प्रसादः। कृतकृत्यो कृतात्माजीवः। अस्मात् शरीरात्समुत्थाय। यत् परं ज्योतिः ब्रह्माख्यं ज्योतिः। उपसम्पद्य प्राप्य। स्वेन रूपेण सार्द्धं विद्यमानः सन्। यत्र। अभिनिष्पद्यते विलीयते। स उत्तमः पुरुषः। परमात्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः। इत्येवंविध पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः। अयं भावः। अयमशरीरः सम्प्रसादो देहं त्यक्त्वा यत्र स्वेनरूपेण विलीयते तद् ब्रह्मास्ति हे इन्द्र। एतदेव ब्रह्म विद्धि। तस्मिन् विलीयानन्दं भुंक्ते नवेत्यत उत्तरग्रन्थारम्भः। स ब्रह्मसम्प्रासः पुरुषः। तत्र ब्रह्मणि आधारे। पर्येति परितोभ्रमति। जक्षन् हसन्। क्रीडन् रममाणश्च तिष्ठति।

जक्षणादिक्रिया आनन्दातिशयं द्योतयति । प्रतिक्षणमानन्दमेवानुभवँस्तिष्ठतीत्यर्थः । संकल्पादेव समुत्थितैः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा सार्धं क्रीडन् क्रीडां कुर्वन् । तथा रममाणः सन् । स सम्प्रसादः । ब्रह्मणि पर्य्येतिपर्यटति विचरति । किं मुक्तावस्थायां दुःखजनकं पूर्वशरीरं स्मरति न वेत्यतआह । उपजनं दुःखजनकमिदं शरीरं न स्मरन् तस्य स्मरणं न कुर्वन् पर्य्येति । केवल कर्मफलभोगाय शरीरं लभत इति दर्शयितुमुत्तरो ग्रन्थः । यथा येन प्रकारेण । आचरणे । आचरति समन्ताद् भ्रमत्याचरणोरथः । तस्मिन् । प्रयोग्यः प्रयोज्य अश्वोवलीवर्दो वा । युक्तो भवति । एवमेव । अस्मिन् शरीरे रथस्थानीये । अयं प्राणः लिङ्गशरीरयुक्तो जीवात्माऽत्र प्राणशब्दवाच्यः । रथेऽश्ववत् । स्वकर्मफलं भोक्तुं नियुक्तो भवति ॥ ३ ॥

अनुवादः—वैसे ही जो यह सम्प्रसाद (ज्ञानीजीव) इस शरीर से उठकर परज्योति को पा जिस में अपने रूपसे प्रलीन होता है वह उत्तम पुरुष ब्रह्म है । उस में (आनन्दराशि को पाकर) हंसता हुआ और (सङ्कल्पमात्रसे समुत्थित) स्त्रियों वा यानों वा ज्ञातियों के साथ क्रीड़ा और रमण करता हुआ और दुःखजनक इस शरीर को न स्मरण करता हुआ उस ब्रह्म में चारों तरफ भ्रमण करता है । जैसे रथ में अश्वयुक्त होता है वैसे ही यह प्रज्ञात्मा इस शरीर में युक्त है ॥ ३ ॥

पदार्थः—(एवम्+एव) वैसे ही (एषः) जो यह (सम्प्रसादः) प्राज्ञजीवात्मा है (अस्मात्+शरीरात्) वह इस शरीर से (समुत्थाय) उठकर अर्थात् इस शरीर को त्याग (परम्+ज्योतिः) जिस परमात्मरूप महाज्योति को (उपसम्पद्य) पाकर (स्वेन+रूपेण) और जिसमें अपने रूप के साथ (अभिनिष्पद्यते) विद्यमान रहता हुआ प्राप्त होता है (सः+उत्तमः+पुरुषः) वह उत्तम पुरुष ब्रह्म है । ब्रह्म को प्राप्त कर पृथक् होकर वह मुक्त जीव आनन्द को भोगता है या नहीं सो आगे कहते हैं (तत्र) उस मुक्तावस्था में (सः) वह मुक्तजीव (जक्षन्) ब्रह्म की प्राप्ति से हंसता हुआ अर्थात् परम आनन्द को प्राप्त करता हुआ और अपने सङ्कल्पमात्रसे प्राप्त (स्त्रीभिः+वा) निज धर्मपत्नियों अथवा (यानैः+वा) विविध यानों अथवा (ज्ञातिभिः+वा) बन्धु बान्धव इष्ट मित्र आदि के साथ (क्रीडन्) क्रीड़ा करता हुआ (रममाणः) रमित होता हुआ (पर्य्येति) सर्वत्र विचरण करता है । इससे सिद्ध हुआ कि वह जीव अपनी सत्ता के साथ ब्रह्म में वर्तमान रहता है । हे इन्द्र ! (यथा) जैसे (आचरणे) रथ में (प्रयोग्यः) घोड़ा वा बैल (युक्तः) युक्त रहता है (एवम्+एव) वैसा ही

(सः+अयम्) सो यह (प्राणः) प्राण अर्थात् लिङ्गशरीरयुक्त जीवात्मा (अस्मिन्+शरीरे) इस शरीर में (युक्तः) युक्त रहता है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—अब प्रजापति ब्रह्म को दिखलाते हैं। जिसमें मुक्त जीव जाकर पूर्णानन्द को प्राप्त करते हैं। वह उत्तम पुरुष ब्रह्म है—यहां उत्तम पुरुष शब्द ब्रह्म के लिये आया है। सब में व्यापक होने से पुरुष और सर्वोत्कृष्ट होने से उत्तम कहलाता है। हे इन्द्र! वह परमात्मा जो अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिघत्स, अपिपास, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है जिसके जानने से सब लोक और सब कामनाएं प्राप्त होती हैं वह यह है जिसको अशरीर सम्प्रसाद वाच्य जीवात्मा पाता है। जक्षन्, क्रीडन् आदि पद से विस्पष्ट होता है कि मुक्तपुरुष को ज्ञान रहता है कि मैं और मेरे विषय भिन्न २ हैं यदि भेदज्ञान नहीं रहता तो क्रीड़ा आदि की सम्भावना नहीं रहती इस हेतु "स्वेनरूपेण" शब्द का अर्थ अपने रूप के साथ वह जीवात्मा विद्यमान रहता है और समझता है कि मैं और मेरा उपास्य ब्रह्म भिन्न है इत्यादि करना चाहिये। इस प्रकार अद्वैतवाद का यहां बिलकुल खण्डन होजाता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा । गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा । श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

अथ । यत्र । एतद् । आकाशम् । अनुविषण्णम् । चक्षुः । सः । चाक्षुषः । पुरुषः । दर्शनाय । चक्षुः । अथ । यः । वेद । इदम् । जिघ्राणि । इति । सः । आत्मा । गन्धाय । घ्राणम् । अथ । यः । वेद । इदम् । अभिव्याहराणि । इति । सः । आत्मा । अभिव्याहाराय । वाक् । अथ । यः । वेद । इदम् । शृणवानि । इति । सः । आत्मा । श्रवणाय । श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथात्मस्वरूपं विवृणोति । अत्र यस्मिन् स्थाने । एतच्चक्षुरेतन्नयनम् । आकाशं कृष्णतारोपलक्षितमाकाशम् । अनुविषण्णमनुगतमस्ति । तस्मिन् चक्षुषि भवतीति चाक्षुषः । चक्षुः स्थितः । स चाक्षुषः पुरुषः । आत्मा । चक्षुषि विद्यमानत्वात् । यथा चाक्षुषः । एवमेव । नासिक्यः । आस्यः । त्वाचः । श्रौतः । शारीरः । एवंविधनामभिर्वक्तुं शक्यते । तस्य । पुरुषस्य दर्शनाय द्रष्टुं चक्षुर्नयनम् मुक्तावस्थायां यदा पश्येयमिति संकल्पते

तदा तस्य चक्षुर्जायते । अथ यः कोऽपि "इदं वस्तु जिघ्राणि" घ्राणविषयकं करवाणि इति वेदविजानाति । स आत्मास्ति । तस्यात्मनो गन्धाय गन्धमादातुं घ्राणं भवति घ्राणेन्द्रियमित्यर्थः । अथ यः कोऽपि "इदम् अभिव्याहराणि" इदं वचनं ब्रवाणि इति वेद जानाति स आत्मास्ति । तस्यात्मनः । अभिव्याहाराय भाषणाय । वाग् भवति । अथ "इदं शृणवानि" श्रुतिविषयकं करवाणि इति यः कश्चिद्वेद जानाति । स आत्मास्ति । तस्यात्मनः । श्रवणाय श्रोत्रं श्रोत्रेन्द्रियं भवति ॥ ४ ॥

अनुवादः—अनन्तर जहां यह चक्षु (नयन) आकाश (नयनगत तारोपलक्षित आकाश) में अनुगत है उस चक्षुमें वर्त्तमान जो जीव वह चाक्षुष पुरुष कहलाता है उसके देखने के लिये (चक्षुः) नेत्र होता है । और "मैं इसको सूंघूं" इसको जो कोई जानता है । वह आत्मा हैं । उसके गन्ध के लिये घ्राण होता है । और "मैं इसको बोलूं" इसको जो जानता है वह आत्मा है। इसके बोलने के लिये वाणी होती है । और जो कोई "मैं इसको सुनूं" इसको जानता है वह आत्मा है उसको सुनने के लिये श्रोत्र होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अथ) अब जीवात्मस्वरूप का वर्णन करते हैं (यत्र) जिस स्थान में (एतत्+चक्षुः) यह नयन (आकाशम्) नेत्रगतकृष्णतारा का नाम यहां आकाश है । उसमें (अनुविषण्णम्) अनुगत है । और उस नयन में स्थित जो जीवात्मा है (सः+चाक्षुषः) वह चाक्षुष (पुरुषः) पुरुष है । क्योंकि जैसे सम्पूर्ण शरीर में इस आत्मा की चेतनता रहती है वैसे ही नयन में भी अतः इसको चाक्षुष पुरुष कहते हैं (दर्शनाय) उस आत्मा के दर्शन के लिये (चक्षुः) नयन होता है (अथ) और (यः) जो कोई (इदम्+जिघ्राणि) इस वस्तु को सूंघूं (इति+वेद) इस को जानता है (सः+आत्मा) वह आत्मा है (गन्धाय) उस आत्मा को गन्ध ग्रहणार्थ (घ्राणम्) घ्राणेन्द्रिय होता है (अथ) और (यः) जो कोई (इदम्+अभिव्याहराणि) इसको मैं बोलूं (इति+वेद) इसको जानता है (सः+आत्मा) वह आत्मा है (अभिव्याहाराय) उस आत्मा को भाषणार्थ (वाग्) वागिन्द्रिय होता है (अथ) और (यः) जो कोई (इदम्+शृणवानि) इसको सुनूं (इति+वेद) इसको जानता है (सः+आत्मा) वह आत्मा है (श्रवणाय+श्रोत्रम्) उस आत्मा को सुनने के लिये (श्रोत्रम्) श्रोत्र होता है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—मुक्तावस्था में इस आत्मा को बाह्य इन्द्रिय भी होते हैं इसे दर्शाने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ है। यद्यपि स्वरूप से ही आत्मा द्रष्टा घ्राता श्रोता रसयिता स्प्रष्टा विज्ञाता मन्ता आदि है । तथापि इस स्थूल शरीर को पाकर स्थूल इन्द्रिय की आवश्यकता

होती है। इसी प्रकार मुक्तावस्था में जैसा उसका सङ्कल्प होता है। वैसा २ इन्द्रिय प्राप्त होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि प्रथम वह अन्ध था जब नेत्र का सङ्कल्प किया तब नेत्र हुआ। किन्तु यहां केवल बाह्य इन्द्रिय का अधिकार जानना। इति ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा। मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

अथ। यः। वेद। इदम्। मन्वानि। इति। सः। आत्मा। मनः। अस्य। दैवम्। चक्षुः। सः। वै। एषः। एतेन। दैवेन। चक्षुषा। मनसा। एतान्। कामान्। पश्यन्। रमते ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथेति। अस्मिन् शरीरे यः कश्चिद् "इदं मन्वानि" इदं वस्तु मनन-व्यापारीभूतं सम्पादयानीति वेद जानाति। स आत्मा। अस्यात्मनः। मनो मन इन्द्रियम् दैव-मप्राकृतम् इतरैरिन्द्रियैरसाधारणम्। चक्षुः। चष्टे पश्यत्यनेन चक्षुः। वर्त्तमानकालविषयाणि इतराणि इन्द्रियाणि। अतोऽदैवतानि तानि। मनस्तु त्रिकालविषयोपलब्धिकरणं मृदितदो-षञ्च सूक्ष्मव्यवहितादि सर्वोपलब्धिकरणंचेति दैवञ्चक्षुरुच्यते। स वै एषः। स एष मुक्तात्मा। एतेन दैवेन अप्राकृतेन चक्षुषा। मनसैव एतान् कामान् पश्यन् अवलोकयन्। मुक्तावस्थायां। रमते विविधभोगान् प्राप्यानन्दमनुभवति ॥ ५ ॥

अनुवादः-और जो कोई "यह मनन करूं" इस को जानता है वह आत्मा है। उस आत्मा का मन दैव चक्षु है। सो यह आत्मा, निश्चय, इस दैवचक्षुरूप मन से ही इन कामनाओं को देखता हुआ रमित होता है ॥ ५ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर इस शरीर में (यः) जो कोई (इदम्+मन्वानि) मैं इस का मनन करूं (इति+वेद) इसे जानता है (सः+आत्मा) वह आत्मा है (अस्य) इस आत्मा का (मनः) मन ही (दैवम्+चक्षुः) दैवचक्षु है। दैव इन्द्रिय है (सः+एषः) वह यह मुक्त आत्मा (एतेन) इस (दैवेन) दैव (चक्षुषा) चक्षुरूप (मनसा+वै) मन से ही (एतान्) इन (कामान्) कामनाओं को (पश्यन्) देखता हुआ (रमते) क्रीड़ा करता है ॥ ५ ॥

भाष्याशयः-मनन के सङ्कल्प से जीवात्मा को मन प्राप्त होता है। मन इन्द्रिय "दैवचक्षु" इस हेतु कहलाता है कि भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के विषय को मनन

कर सकता है । यदि यह मन साधन द्वारा निर्मल किया जाय तो सूक्ष्म व्यवहित पदार्थ में भी इस की गति हो सकती है । पुनः यह सब इन्द्रियों का राजा है । इस के विना अन्य इन्द्रिय कुछ नहीं कर सकते इत्यादि कारण से मन को "दैव चक्षु" कहते हैं । और यथार्थ में इसी मन के द्वारा मुक्तात्माजीव सब कामनाओं का भोक्ता होता है । अन्य इन्द्रियों का अभाव भी मुक्तावस्था किन्हीं आचार्य्यों ने माना है । इत्यादि अनुसन्धान करना ।

य एते ब्रह्म लोके । तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते । तस्मात्तेषाᳬं सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः । स सर्वाᳬंश्च लोकानाप्नोति सर्वाᳬंश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

ये । एते । ब्रह्मलोके । तम् । वै । एतम् । देवाः । आत्मानम् । उपासते । तस्मात् । तेषाम् । सर्वे । च । लोकाः । आत्ताः । सर्वे । च । कामाः । सः । सर्वान् । च । लोकान् । आप्नोति । सर्वान् । च । कामान् । यः । तम् । आत्मानम् । अनुविद्य । विजानाति । इति । ह । प्रजापतिः । उवाच । प्रजापतिः । उवाच ॥ ६ ॥

भाष्यम्—य इति । य एते देवा मुक्ताः पुरुषाः । ब्रह्मलोके ब्रह्मैवलोकः । तस्मिन् ब्रह्मलोके ब्रह्मानन्दे स्थिताः सन्ति । ते तत्रापि । तमेतमात्मानं वै । व्यापकं ब्रह्मैव उपासते । मुक्तावस्थायामपि ब्रह्मोपासना कर्तव्येति सूच्यते । तस्मात् ब्रह्मोपासनाद्धेतोः । तेषां मुक्तात्मनाम् । सर्वे च लोका भोग्याः पदार्थाः । आत्ताः प्राप्ता भवन्ति । इति मुक्तात्मनां व्यवस्थां दर्शयित्वा विद्यावतां फलं निर्दिशति । स पुरुषः सर्वांश्चलोकान् । सर्वांश्चकामान् । आप्नोति प्राप्नोति । यः पुरुषः । तमात्मानम् । तदेव ब्रह्म । अनुविद्य सम्यग् विदित्वा । विजानाति मुक्तिमार्गं वेत्ति । स ह वै सर्वमाप्नोतीत्यर्थः । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुत्यनुसारम् । इति ह प्रजापतिरुवाच । इति ह प्रजापतिरुवाच । द्विर्वचनं समाप्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

इति द्वादशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अनुवादः—ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए जो ये मुक्त जीव हैं । वे उस अवस्था में भी उसी इस व्यापक परमात्मा की उपासना करते हैं । उसी कारण उनको सब लोक

और सब कामनाएं प्राप्त होती हैं। वह पुरुष सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता है जो इस आत्मा को अच्छे प्रकार जान मुक्ति के मार्ग को जानता है। इस प्रकार प्रजापति ने उपदेश दिया ॥ ६ ॥

पदार्थः-(ये) जो (एते) ये (देवाः) मुक्तजीव (ब्रह्मलोके) ब्रह्म को प्राप्त किये हुए हैं वे (तम्+वै+एतम्) उसी इस (आत्मानम्) परमात्मा की (उपासते) उपासना करते हैं (तस्मात्) उस हेतु (तेषाम्) उन मुक्त जीवों को (सर्वे+च+लोकाः) सब लोक और (सर्वे+च+कामाः) सब कामनाएं (आत्ताः) प्राप्त होती हैं। आगे फल कहते हैं (सः) वह (सर्वान्+च+लोकान्) सब लोक लोकान्तरों (सर्वान्+च+कामान्) सब कामनाओं को (आप्नोति) पाता है (यः) जो (तम्+आत्मानम्) उस आत्मा को (अनुविद्य) जानकर (विजानाति) मुक्ति मार्ग को जानता है (इति+ह+प्रजापतिः+उवाच) यह प्रजापति बोले, (इति+ह+प्रजापतिः+उवाच) यह प्रजापति बोले ॥ ६ ॥

भाष्याशयः-देव-यहां मुक्त जीव को देव कहा है। उपासना का त्याग किसी अवस्था में नहीं होता है। मुक्तावस्था में भी मुक्त जीव ब्रह्म की उपासना करते हैं बड़ा आश्चर्य होता है कि अपने को श्रुतिप्रमाण मानते हुए भी श्रीशङ्कराचार्यजी ने अद्वैत-वाद को कैसे सिद्ध किया। उपनिषद् मुक्तावस्था में भी जीव को ब्रह्म नहीं कहती है। यदि मुक्त जीव ब्रह्म ही हो जाते तो कौन किसकी उपासना करता। शाङ्कर-सिद्धान्त यह है कि अज्ञानीमात्र के लिये उपासनादि कर्म कथित है परन्तु क्या ये मुक्तजीव अज्ञानी हैं जो उपासना करते हैं आगे कहा है ज्ञानी ही इस को पाते हैं और इस को जानने से ही मुक्ति होती है। साक्षात् वेद भी कहता है कि (तमेव०) इसी को जानकर मुक्ति पाता है। दूसरा मार्ग ही नहीं। इत्यादि विचार करो ॥ ६ ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥ १ ॥

श्यामात्। शबलम्। प्रपद्ये। शबलात्। श्यामम्। प्रपद्ये। अश्वः। इव। रोमाणि। विधूय। पापम्। चन्द्रः। इव। राहोः। मुखात्। प्रमुच्य। धूत्वा।

शरीरम् । अकृतम् । कृतात्मा । ब्रह्मलोकम् । अभिसम्भवामि । इति । अभिसम्भवामि । इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—श्यामादिति । श्याम अतिकृष्णः । तेन वृत्तादि तामसी योनिर्लक्ष्यते । शवलः मिश्रितवर्णः तेन सुखदुःखविमिश्रितमनुष्यादियोनिर्लक्ष्यते । अतश्चायमर्थः । अयंजीवः श्यामात् तामसयोनिसकाशात् । शवलम् सुखदुःखमिश्रितमनुष्यादियोनिम् । प्रपद्ये प्रपद्यते प्राप्नोति । तद्विपरीतञ्च शवलात् श्यामं प्रपद्ये । अत्र पुरुषव्यत्ययः । यद्वा कोऽपि स्वानुभवं कथयति । अहं श्यामात् शवलं प्रपद्ये इत्यादि । अग्रे कदा ब्रह्म प्राप्नोतीति दर्शयति । यदा अश्व इव रोमाणि विधूय कम्पयित्वा । यथाश्वः स्वलोमकम्पनेन निजश्रमं पांश्वादि च रोमतोऽपनीय निर्मलो भवति । यथा च राहोश्छायाया मुखात् । चन्द्रःप्रमुच्य प्रमुक्तोभूत्वा निर्मलोभवति । तथैव यदा साधको रोमाणीव विविधपापानि मनसि प्रसक्तानि विदूरितानि कृत्वा तम इव अधर्माख्यं पापं विनाश्य कृतात्मा भवति कृतकृत्यो निर्मलोभवति । तदा शरीरं धूत्वा त्यक्त्वा । अकृतं ब्रह्मलोकम् नित्यं ब्रह्मम् अभिसंभवामि । अभिसंभवति प्राप्नोति । पुरुषव्यत्ययः । द्विर्वचनं प्रवाकपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य संस्कृतभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

अनुवादः—श्याम से शवल को पाता हूं और शवल से श्याम को पाता हूं। जैसे अश्व अपने लोमों के कँपाने से (अर्थात् श्रम और धूलि आदिक वस्तुओं को शरीर के कम्पन से) अपने रोमपर से दूरकर निर्मल होता है और जैसे राहु * (तम=

* (राहोर्मुखात्) आजकल पुराण के अनुसार राहु एक दैत्य समझा जाता है जो सूर्य और चन्द्र को समय २ पर ग्रसित कर ग्रहण का कारण होता है परन्तु यह बात तो बिलकुल मिथ्या है क्योंकि सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि आदि ग्रन्थों में विस्पष्टतया छायाकृत ग्रहण कहा गया है। जैसे "छादको भास्करस्येन्दुरधस्थो घनवद् भवेत्। भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ" सूर्यसिद्धान्त ॥ अर्थ—सूर्यग्रहण में चन्द्रमा बादल के सदृश सूर्य को ढकलेना है और चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा पूर्व की ओर जाता हुआ पृथिवी की छाया में आजाता है। बृहत्संहिता में भी यही लिखा है "भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः। प्रग्रहणमतः पश्चान्नेन्दोर्भानोश्च पूर्वाग्रीत्"। बृ० सं० अ० ५॥ अर्थ—चन्द्रमा अपने ग्रहण में भूमि की छाया में और सूर्यग्रहण में सूर्य और पृथिवी के मध्य में आजाता है इससे ग्रहण होता है॥ "पूर्वाभिमुखोगच्छन् भूच्छायान्तर्यतः शशीविशति तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान् मोक्षोऽस्य निस्सरतः" सि० शि० गोलाध्याय। अर्थ—जब चन्द्रमा पूर्व की ओर को जाता हुआ भूमि की छाया में चलाजाता है तब ग्रहण

अन्धकार) के मुख से छूट कर चन्द्र निर्मल दीखता है। तद्वत् मैं ब्रह्म की प्राप्ति से कृत-कृत्य होता हूं और पापजनक दुर्व्यसनों को दूरकर इस शरीर को त्याग नित्य ब्रह्मको प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

पदार्थः-(श्यामात्) श्याम=कृष्ण अर्थात् दुःखमय और जड़मय योनि से (शब-

---

पड़ता है जब छाया से निकलता है, तब मोक्ष वा उग्रहण होता है॥ "भूभाविधुं विधुरिनं ग्रहणोऽपिश्रत्ते" सि० शि० गो०। यही अभिप्राय ग्रहलाघव में कहागया है, "छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः" अर्थः-चन्द्रग्रहण में भूमि की छाया चन्द्रमा को और सूर्यग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को ढकलेता है।

परन्तु यहां राहुमुख कहने से कदाचित् लोगों को यह भ्रम हो कि उपनिषद् के समय में लोगों को ग्रहण का पूरा ज्ञान नहीं हुआ था इस हेतु राहु अर्थात् एक दैत्यकृत ग्रहण मानते हों सो यह कथन बिलकुल असत्य है क्योंकि सब विद्या ऋषियों से ही निकली है और उसी के अनुसार पीछे आचार्यों ने कहा है तब कब सम्भव हो सकता है कि उपनिषद् काल में ऋषि लोग ग्रहणविद्या को न जानते हों। हां उस समय के शब्द ऐसे कठिन हैं कि हम लोग उनके अर्थ करने मे कई प्रकार से असमर्थ हो रहे हैं। देखो प्रमाण "स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसा विध्यत्। स न व्यरोचत तस्यात्रिर्भासिन तमोऽपाहन्। स व्यरोचत यद्वै तद्वा अभवत्तद्भासस्य भासत्वम्" ताण्ड्यमहाब्रा० अ० १४। ख० ११। प्रपा० १४॥ अर्थः-(आसुरः) गमनशील (स्वर्भानुः) चन्द्रमा। चन्द्रमा को स्वर्भानु इस हेतु कहते हैं कि स्वर अर्थात् स्वर्गस्थित=द्युलोकस्थित जो सूर्य उसका भानु जो किरण उस क्रिया से जो प्रकाशित हो उसे स्वर्भानु कहते हैं वह चन्द्र(आदित्यम्) सूर्य को (तमसा) अपनी छाया से अर्थात् अपनी रुकावट से (अविध्यत्) बेध किया अर्थात् जब चन्द्र के आड़ में सूर्य पड़ जाता है तब हम पृथिवीस्थ मनुष्यों के ऊपर सूर्य का प्रकाश कतिपय क्षण तक नहीं पड़ता है यही सूर्यग्रहण का कारण है। यहां तमसा अन्धकार कहने से ऋषियों का सिद्धान्त विस्पष्ट हो जाता है कि छायाकृत ग्रहण होता है इसी प्रकार शतपथादि में भी प्रमाण हैं। जैसे-'स्वर्भानुर्हवा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध स तमसा विद्धो न व्यरोचत तस्य सोमारुद्राववैतत्तमोऽपाहताम्' इत्यादि अनेक प्रमाण विद्यमान हैं परन्तु कठिनता यह है कि आजकल आसुर स्वर्भानु आदि शब्दों के अर्थ बहुत ही परिवर्तित हो गये हैं इसहेतु सत्यता का बोध शीघ्र नहीं होता है॥

लम्) मिश्रित अर्थात् सुख दुःखमिश्रित मनुष्यादि योनि को (प्रपद्ये) पाता रहता हूं अथवा सब कोई पाते रहते हैं और इसके विपरीत पुनः (शबलात्) सुख दुःखमिश्रित योनि से (श्यामम्) कृष्ण अर्थात् तमोमय योनि को (प्रपद्ये) पाता रहता हूं अथवा सब कोई पाते रहते हैं । और ब्रह्म को कब यह जीव प्राप्त करता है सो आगे कहते हैं जब (अश्वः+इवरोमाणि) जैसे घोड़ा अपने केशों को (विधूय) कंपा निर्मल होता है और (राहोः+मुखात्) तमःस्वरूप राहु के मुख से (प्रमुच्य) छूटकर (चन्द्रः+इव) जैसे चन्द्र निर्मल होता है वैसे ही (कृतात्मा) जब यह जीवात्मा ब्रह्म की प्राप्ति से कृत-कृत्य होता है तब (पापम्+विधूय) पापजनक दुर्व्यसनों को दूरकर (शरीरम्+धूत्वा) शरीरको त्याग (अकृतम्+ब्रह्मलोकम्) नित्य ब्रह्म को (अभिसम्भवामि) प्राप्त होता है वा प्राप्त होता हूं (अभिसम्भवामि+इति) प्राप्त होता हूं वा प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भाष्याशयः—श्याम—अति कृष्ण काले रंग का नाम श्याम है यहां श्याम शब्द तामस योनि का द्योतक है क्योंकि वृक्षादि अथवा सिंहादिक जो तामस योनि के हैं विज्ञानरहित होने के कारण कृष्ण कहलाता है । शबल मिश्रित चित्र विचित्र रंग का नाम है । यहां ज्ञान अज्ञान सुख दुःख मिश्रित जो योनि उसको शबल कहा है । मनुष्यादि योनि सुख दुःखादि मिश्रित होने के कारण शबल कहलाती है । यह जीव कभी तामसी योनि को प्राप्त होता है और कभी सत्त्व, रज, मिश्रित योनि को प्राप्त होता है और उसके विपरीत भी मिश्रित योनि से तामस योनि में प्राप्त होता है ऐसी जीव की गति बराबर होती रहती है (अश्व इव रोमाणि) परन्तु जब यह जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है तब इन द्विविध योनियों से छूटकर ब्रह्मानन्द को भोगता है ॥ १ ॥

इति त्रयोदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता । ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा ॥ प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये । यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशो-ऽहमनुप्रापत्सि । स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳ श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दुमाभिगाम् ॥ १ ॥

आकाशः । वै । नाम । नामरूपयोः । निर्वहिता । ते । यदन्तरा । तद् । ब्रह्म । तत् । अमृतम् । सः । आत्मा । प्रजापतेः । सभाम् । वेश्म । यशः । प्रपद्ये । यशः । अहम् । भवामि । ब्राह्मणानाम् । यशः । राज्ञाम् । यशः । विशाम् । यशः । अहम् । अनुप्रापत्सि । सः । ह । अहम् । यशसाम् । यशः । श्येतम् । अदत्कम् । अदत्कम् । श्येतम् । लिन्दु । मा । अभिगाम् । लिन्दु । मा । अभिगाम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—आकाश इति । आकाश इति ब्रह्मनामधेयम् * । आकाशो वै ब्रह्मैव नाम । नामरूपयोः । देवदत्तयज्ञदत्तादि नाम । शुक्लपीतकृष्णादिरूपं तयोर्नामरूपयोः । निर्वहिता निर्वोढा व्याकर्त्ता प्रकाशयिता इत्यर्थः । वेदद्वारा सर्वेषां पदार्थानां नामधेयं स एवव्याकरोति । अस्य पदार्थस्य एतेन रूपेण भवितव्यम् । अस्य पदार्थस्य तेनरूपेण भवितव्यम् इतीश्वरसंकल्पादेव जगदिदं रूपवद्भवति । ते नामरूपे । यदन्तरा यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा यदन्तरा । यन्मध्ये वर्तेते । तद् ब्रह्म विज्ञेयम् । तदमृतम् मोक्षाख्यम् । स आत्मा आप्नोति स्वव्याप्तया सर्वं प्राप्नोतीत्यात्मा । अत ऊर्ध्वं प्रार्थना परकःप्रवाकः । कोऽपि मुमुक्षुर्ब्रवीति । अहम् । हे ब्रह्मन् ! त्वत्कृपया प्रजापतेः प्रजानां प्रकर्षेण जायमानानामखिलानां ब्रह्माण्डस्थानांजीवानां पतेः पालकस्य तव । सभां वेश्म प्रपद्ये । सर्वत्रभातीतिभा । मया सह विद्यते या सा सभा व्याप्तिस्तां सभाम् । वेश्म विशन्ति प्रविशन्ति प्राणिनो यत्र तद्वेश्म मुक्तिस्थानंमुक्तिरित्यर्थः । आनन्दप्रदा सर्वत्र भासमाना व्याप्तिरूपा या तव सभास्ति तदेव यद्वेश्म मुमुक्षूणां शरणरूपो यो मोक्षोऽस्ति तद्वेश्म प्रपद्ये गच्छेयम् प्राप्नुयां येनकर्मणा ज्ञानेन वा तद्विधेहि । हे भगवन् ! अहं सर्वत्र यशो भवामि यशस्वीभवेयम् । पुनः ब्राह्मणानां यशः । राज्ञां नृपाणां यशः । विशां वैश्यानां यशः । अहं । अनुप्रापत्सि प्राप्नुयां तत्कृपां मयिकुरु । यद्वा ब्राह्मणादीनां यशः प्राप्तुमिच्छेयमिति सुमतिःप्रदीयताम् । सहाहं सोऽहं तवनिकटे प्रार्थी । यशसां यशः यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवेयम् । किमर्थमहमेवं प्रपद्ये इत्युच्यते । श्येतं पक्वबदरसमं रोहितं लोहितं तथा । अदत्कम् दन्तरहितमपि । अदत्कम् । भक्षयितृ । स्वसेविनां तेजोबलवीर्यविज्ञानंधर्माणामपहन्तृ । एतादृशं श्येतं लिन्दु जन्मयोनिं । हे भगवन् ! माभिगां मागमम् मागच्छेयम् न प्राप्नुयामित्यर्थः । द्विर्वचनं निरतिशयानर्थहेतुत्वप्रदर्शनार्थम् ॥ १ ॥

---

* आकाशस्तल्लिङ्गात् । वेदान्तसूत्र १ । १ । २२ ॥

अनुवादः—निश्चय, नाम और रूप का प्रकाश आकाश का अर्थात् ब्रह्म ही है। वे नाम और रूप जिसके मध्य वर्तमान हैं। वह ब्रह्म है। और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है। वही आत्मा सबों में व्याप्त है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर की व्याप्तिरूप शरण को मैं प्राप्त होऊं। सर्वत्र यशस्वी होऊं। ब्राह्मणों के मध्य यश को, क्षत्रियों के बीच यश को, वैश्यों के बीच यश को मैं प्राप्त होऊं और वह मैं यशस्वियों के बीच यशस्वी होऊं। हे भगवन्! मैं आपकी कृपा से श्येत (रक्त=लाल) दन्तरहित तथापि भक्षयिता जन्मयोनि को मैं न प्राप्त होऊं मैं न प्राप्त होऊं ॥ १ ॥

पदार्थः—(वै) निश्चय (आकाशः+नाम) ब्रह्म ही (नामरूपयोः) जगत् के नाम और रूप का (निर्वहिता) प्रकाशक है (ते) वे नाम और रूप (यदन्तरा) जिस के मध्य में वर्तमान हैं (तद्+ब्रह्म) वह ब्रह्म है (तद्+अमृतम्) वह मोक्षस्वरूप है (सः+आत्मा) वह सर्वव्यापक जगत् का आत्मा है आगे प्रार्थना का प्रवाक है। कोई मुमुक्षु ईश्वर से प्रार्थना करता है। मैं (प्रजापतेः) सबों के पालक ईश्वर की (सभाम्+वेश्म) व्याप्तिरूप शरण को (प्रपद्ये) प्राप्त होऊं (यशः+अहं+भवामि) सर्वत्र मैं यशस्वी होऊं। (ब्राह्मणानाम्+यशः) ब्राह्मणों के मध्य यश को (राज्ञाम्+यशः) क्षत्रियों के मध्य यश को (विशाम्+यशः) वैश्यों के मध्य यश को (अहम्) मैं (अनुप्रापत्सि) प्राप्त होऊं (सः+ह+अहम्) वह मैं यश का प्रार्थी (यशसाम्+यशः) यशस्वियों के बीच यशस्वी होऊं और हे भगवन्! (श्येतम्) श्वेत=रक्त (अदत्कम्) दन्तरहित तथापि (अदत्कम्) भक्षण करने वाला अर्थात् यश, बल, वीर्य और धर्म का नाश करने वाला (श्येतं लिन्दु) जन्मयोनि को (मा+अभिगाम्) मत प्राप्त होऊं (लिन्दु+मा+अभिगाम्) योनि को मैं प्राप्त न होऊं ॥ १ ॥

भाष्याशयः—सभा—(भातीतिभा) जो सर्वत्र द्योतित हो उसे "भा" कहते हैं। अर्थात् प्रकाश तेज आदिक का नाम "भा" है। (भया सह वर्तत इति सभा) उस "भा" के साथ जो रहे उसे "सभा" कहते हैं अर्थात् ईश्वर की व्याप्ति का नाम यहां "सभा" है (सम्यग् भातीति सभा। यद्वा सह भान्ति यत्र सा सभा) जो अच्छी तरह से भासित हो यद्वा जिस में सब कोई साथ ही शोभित हों उसे सभा कहते हैं। इत्यादि इसकी अनेक व्युत्पत्ति है। उस ब्रह्म की व्याप्तिस्वरूप जो "वेश्म" गृह उसे "सभा वेश्म" कहते हैं। अदत्क=दन्त शब्द से "दत्क" जो "दत्क" न हो वह "अदत्क" अर्थात् दन्तरहित। और दूसरा "अदत्क" अद भक्षणे धातु से बना है। अद धातु का अर्थ भक्षण है अर्थात् भक्षण करने वाला ॥ १ ॥

अथ पञ्चदशः खण्डः ॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच । प्रजापतिर्मनवे । मनुः प्रजाभ्यः । आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्म्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते । न च पुनरावर्त्तते । न च पुनरावर्त्तते ॥ १ ॥

तत् । ह । एतद् । ब्रह्मा । प्रजापतये । उवाच । प्रजापतिः । मनवे । मनुः । प्रजाभ्यः । आचार्यकुलाद् । वेदम् । अधीत्य । यथाविधानम् । गुरोः । कर्म । अतिशेषेण । अभिसमावृत्य । कुटुम्बे । शुचौ । देशे । स्वाध्यायम् । अधीयानः । धार्मिकान् । विदधद् । आत्मनि । सर्वेन्द्रियाणि । सम्प्रतिष्ठाप्य । अहिंसन् सर्वभूतानि । अन्यत्र । तीर्थेभ्यः । सः । खलु । एवम् । वर्तयन् । यावदायुषम् । ब्रह्मलोकम् । अभिसम्पद्यते । न । च । पुनः । आवर्त्तते । न । च । पुनः । आवर्त्तते ॥ १ ॥

भाष्यम्-उपसंहारे छान्दोग्योपनिषदः प्रचारः कथमभूत् । कश्चास्याः प्रणेता । कथमध्येतव्या किंकर्त्तव्यमित्यादीन् एतत्सारभूतानुपदेशानतिसंक्षेपेणाह । तद्धैतद् ब्रह्मशास्त्रं शमदमादिभिरुपकरणैः समम् । ओमित्येतदक्षरमित्याद्यैः सहोपासनैस्तद्वाचकेन ग्रन्थेनाष्टाध्यायलक्षणेन सह । ब्रह्मा ब्रह्मनामा पुरातनः प्रसिद्धः कश्चिदृषिः । प्रजापतये कश्यपाय नामतः । उवाच । उपदिदेश । ततः स उपदिष्टः प्रजापतिः । मनवे स्वपुत्राय उवाच । ततोमनुः । अन्याभ्यः प्रजाभ्य उवाच । इत्येवं श्रुत्यर्थसम्प्रदायपरम्परयाऽऽगतमुपनिषद्विज्ञानमद्यापि विद्वत्स्ववगम्यते । इत्थं प्रतीयते ब्रह्मा नाम कश्चिदृषिः पुरातनोऽभूत् । स एव बहुषु कालेषु व्यतीतेषु प्राप्ते पुराणसमये, जगति प्रचलिते त्रयाणां देवानामुपासने च तेषामन्यतमश्चतुर्मुखो वेदकर्त्ताचामन्यत । शनैः शनैर्मनुष्या एव मनुष्यान् श्रेष्ठान् ततोऽलौकिकान् ततो देवान् तत्पश्चादीश्वरञ्चविदधति तमुद्दिश्यअद्भुतव्यापारा आख्यायिका रच्यन्ते । इत्थमेव अनेके मनुष्या कल्पितं देवत्वं प्राप्ताः । अनेके अपूर्वा देवाः कल्पनया मनुष्यैः सृष्टाः । सम्प्रति ते कल्पनया समृद्धिं प्राप्ता अपि

सत्यत्वेन मन्यन्ते पूज्यन्ते च । ईश्वर इव ध्यानादिसत्कारं लभन्ते । सम्प्रति कथं ब्रह्मज्ञानं कर्त्तव्यम् देशश्चकथं धार्मिको विधातव्य इत्याह । यथाविधानम् विधानमनतिक्रम्य विधिपूर्वकमित्यर्थः । आचार्यकुलाद् । गुरुकुलाद् । वेदमधीत्य । अर्थैश्चाङ्गैश्च सह ऋगृयजुः सामाथर्वाख्यं वेदं पठित्वा । अतिशेषेण निःशेषेण गुरोराचार्यस्य कर्म यद्यत् स्यात् । तत्तच्छुश्रूषणं गोचरणं समिदाहरणं भिक्षासमर्पणमित्यादि सर्वं गुरोः कर्त्तव्यं कर्म कृत्वा । ततः । अभिसमावृत्य । यथाविधि वेदं समाप्य समावर्तनं नाम कर्म कृत्वा । विवाह्य च कुटुम्बे स्थित्वा । शुचौविविक्ते अमेध्यादिरहिते पवित्रे देशे स्थाने यथावदासीनः । स्वाध्यायं वेदं प्रत्यहमधीयानः पठन् सन् । जनान् धार्मिकान् विदधत् कुर्वन् । आत्मने स्वात्मनि स्वहृदये । सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य उपसंहृत्य वशीकृत्य । तीर्थेभ्योऽन्यत्रापि गुरुकुलेभ्योऽन्यत्रापि । सर्वभूतानि सर्वान् प्राणिनः । अहिंसन् अपीड़यन् तिष्ठेत् । तीर्थमाचार्यः । तत्स्थानमपितीर्थम् । तत्सममन्यदपि सर्वं स्थानं तीर्थमित्यधीयते । आचार्यस्थाने सर्वथैव प्राकृता जना अपि भूतानि न हिंसन्ति । किन्तूपनिषदुपदिशति यत् तीर्थेभ्योऽन्यत्रापि हिंसा न कर्त्तव्या । स खलु । यावदायुषम् आयुः क्षयपर्य्यन्तम् एवं यथोक्तप्रकारेणैव वर्तयन् निर्वाहयन् दिनानि गमयन् । प्रेत्य । ब्रह्मलोकम् । ब्रह्मैवलोकस्तम् । अभिसम्पद्यते । प्राप्नोति । न च पुनरावर्त्तते । ब्रह्म प्राप्य न पुनः पुनर्जन्मदुःखमनुभवति । द्विरभ्यास उपनिषद्विद्या समाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

अनुवादः—ब्रह्मा ने उस इस "ब्रह्मविज्ञान" को प्रजापति से कहा । प्रजापति ने मनु से, मनु ने प्रजाओं से (कहा) आचार्य्य कुल से विधिपूर्वक वेदों को पढ़, सब प्रकार से गुरु की शुश्रूषा आदि कर्म का सम्पादन कर, गुरुकुल से लौट, विवाह कर कुटुम्ब में निवास करता हुआ, शुचिदेश में वेदों को पढ़ता, धार्मिक बनाता, सर्व इन्द्रियों का आत्मा में संहार करता और विद्यालयों से अन्यत्र भी प्राणियों की हिंसा न करता हुआ जो मनुष्य सम्पूर्ण आयु इस प्रकार वर्तता है । निश्चय, इस प्रकार वर्तता हुआ ज्ञानी ब्रह्म को पाता है और कभी वहां से लौटता नहीं लौटता नहीं ॥ ४ ॥

पदार्थः—(ब्रह्मा) ब्रह्मा नामक ऋषिने (प्रजापतये) कश्यप नामक प्रजापति से (तत्+ह+एतद्) इस उस उपनिषद् सम्बन्धी ब्रह्मविज्ञानरूप शास्त्र का (उवाच) उपदेश दिया (प्रजापतिः+मनवे) प्रजापति ने मनु से (मनुः प्रजाभ्यः) मनु ने अन्य प्रजाओं से इस का उपदेश दिया (आचार्यकुलाद्) आचार्यकुल से (यथाविधानम्) विधिपूर्वक (वेदम्+अधीत्य) वेद को पढ़कर (गुरोः) गुरु की

(अतिशेषेण) बिलकुल शुश्रूषा गोचारण आदि (कर्म) कर्म्मों को कर (अभिसमावृत्य) तत्पश्चात् गुरु की आज्ञा से समावर्तन कर अर्थात् गुरुकुल से लौटकर (कुटुम्बे) विवाह कर अपने कुटुम्ब के साथ रहता हुआ (शुचौ+देशे) पवित्र देश=स्थान में (स्वाध्याय-म्) वेद को (अधीयानः) पढ़ता हुआ (धार्मिकान्) मनुष्यों को धार्मिक (विदधद्) करता हुआ (आत्मनि) आत्मा में (सर्वेन्द्रियाणि) सब इन्द्रियों को (सम्प्रतिष्ठाप्य) स्थापित कर (तीर्थेभ्यः+अन्यत्र) विद्यालयों वा धर्म्मशालाओं से अन्यत्र भी (सर्वभू-तानि) सब प्राणियों की (अहिंसन्) हिंसा न करता हुआ जो आदमी इस संसार में बरतता है (सः) वह (खलु) निश्चय (एवम्) पूर्वोक्त प्रकार से (यावदायुषम्) आयु पर्यन्त (वर्तयन्) बरतता हुआ पुरुष (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्म को (अभिसम्पद्यते) पाता है (न+च+पुनः+आवर्त्तते) वह पुनः पुनः जन्मरूप क्लेश को नहीं पाता। (न+च+पुनः+आवर्त्तते) कभी नहीं लौटता। ग्रन्थ समाप्त्यर्थ "न+च+पुनः+आवर्त्तते" इस का दोवार पाठ हुआ है ॥ १ ॥

भाष्याशयः-तीर्थ प्राचीन काल में गुरु को कहते थे और उनके सम्बन्ध से जहां ये आचार्य लोग वेदादि शास्त्रों को पढ़ाया करते थे उसका भी नाम तीर्थ था इसी हेतु "सतीर्थ्य" उसको कहते हैं जिसका समान अर्थात् एक ही तीर्थ=गुरु हो। इस में प्रमाण-

समानतीर्थेवासी ४ । ४ । १०७ । वसतीति वासी। समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः। तीर्थे ये ६ । ३ । ८७ । तीर्थे उत्तरपदे यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः स्यात् । सतीर्थ्यः । एकगुरुकः ।

जो वास करे उसे वासी कहते हैं समान अर्थात् एक ही (तीर्थे) गुरु के निकट जो अध्ययन करने के लिये वास करता है उसे सतीर्थ्य कहते हैं अर्थात् एक ही गुरु से पढ़ने वाले का नाम सतीर्थ्य होता है। इस पाणिनीय सूत्र से सिद्ध है कि तीर्थ नाम गुरु, आचार्य आदि का है। शब्दरत्नावली में भी लिखा है:—

"स्यात्सतीर्थः सतीर्थ्योऽपि तथैकगुरुरित्यपि" ।

उपरोक्त प्रमाण का भी तात्पर्य पूर्ववत् है।

इति पञ्चदशखण्डस्य भाषाभाष्यं समाप्तम् ॥ १५ ॥

इति श्रीशिवशङ्करशर्मकृते छान्दोग्योपनिषद्भाष्येऽष्टमप्रपाठकस्य
संस्कृतभाष्यमार्यभाषाभाष्यं च समाप्तिमगात् ॥ ८ ॥

ग्रन्थश्चापि समाप्तः ॥

आशीः प्रयोग

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं, समाप्तिमगमच्छुभम् ।
मुदे भवतु सर्वेषां, विदुषां सारवेदिनाम् ॥ १ ॥
परां छन्दोगानां, जनयतु मुदं सामविदुषाम् ।
परं सारं साम्नां, प्रकटयतु मीमांसकमतौ ॥
मुमुक्षुभ्यस्तत्त्वं, वितरतु सदा ब्रह्मपरकम् ।
इदं मान्यं लोके, भवतु सततं ब्रह्मकृपया ॥ २ ॥

* ग्रन्थकृत्-परिचय *

चहुटा-ग्राम-वास्तव्यो, द्वारबङ्गस्य सन्निधौ ।
काव्यतीर्थश्च वेदेषु, साङ्ख्यशास्त्रे कृतश्रमः ॥ ३ ॥
कृतवान् सरलं भाष्यं, ब्रह्मणोऽनुग्रहाद्विभोः ।
भाषाद्वयेन संयुक्तं, मैथिलः शिवशङ्करः ॥ ४ ॥

प्रबन्धकर्तृसभापरिचय

महती नगरी रम्या, मरुदेशे विराजते ।
अजमेराभिधा या तु, पर्वतैः परिवेष्टिता ॥ ५ ॥
यत्राभूद्देहसंपातो, दयानन्दस्य धीमतः ॥

अर्थः—इस प्रकार कल्याणप्रद छान्दोग्योपनिषद्भाष्य समाप्त हुआ। यह भाष्य सारवेदी सकल विद्वानों के हर्ष के लिये होवे ॥ १ ॥ यह उपनिषद्भाष्य, सामतत्त्ववित् सामवेदियों के अतिशय हर्ष को उत्पन्न करे, वेदान्तियों की बुद्धि में सामवेद के उत्कृष्ट भाव को प्रकट करे और मुमुक्षुओं को ब्रह्मविचारपरक तत्त्व सदा देवे। इस प्रकार यह भाष्य ईश्वर की कृपा से लोक में सर्वदा माननीय होवे ॥ २ ॥

दर्भङ्गा समीपस्थ चहुटाग्राम निवासी, वेदों और साङ्ख्यशास्त्रों में कृतपरिश्रम, काव्यतीर्थ ॥ ३ ॥ और मैथिल शिवशङ्कर शर्मा ने ब्रह्म के अनुग्रह से दो भाषाओं से युक्त इस सरलभाष्य को बनाया है ॥ ४ ॥

अर्थ—मारवाड़ देशमें पर्वतों से परिवेष्टित अजमेर नाम की एक बड़ी रमणीय नगरी विराजमान है ॥ ५ ॥ जहां पर श्रीमन्महर्षि दयानन्दसरस्वतीजी का देहपतन

धर्मायधृतदेहस्य, वेदानां रक्षणाय च ॥ ६ ॥
समाजभवनंरम्य-मनाथालयसंयुतम् ।
शिशूनां बालिकानां च, पाठशाला सुशोभते ॥ ७ ॥
अत्रैव यन्त्रालयोऽप्यस्ति, वैदिकश्च मनोहरः ।
भवन्ति मुद्रिता ग्रन्था, वैदिकाश्चर्षिसंमताः ॥ ८ ॥

हुआ, जिसने धर्म और वेदों की रक्षा के लिये देहधारण किया था ॥ ६ ॥ और जहां अनाथालय सहित रमणीय समाजभवन, बालक और बालिकाओं के लिये पाठशाला (भिन्न २) सुशोभित होरही है ॥ ७ ॥ यहां ही सुमनोहर वैदिक-यन्त्रालय भी विद्यमान है, जहां वैदिक और ऋषि-संमत ग्रन्थ मुद्रित होते हैं ॥ ८ ॥

यंत्रालयस्य कार्याणां, सुप्रबन्धं निरीक्षितुम् ।
निर्मितैका सभा नाम्ना, प्रबन्धकारिणी जनैः ॥ ९ ॥
प्रत्यब्दं नूतनाः सभ्या, भवन्त्यत्रार्यसंचिताः ।
सप्तसभ्या भवन्त्यत्र, सर्वे कार्यविशारदाः ॥ १० ॥
एको भवति तेषां तु, प्रधानो मन्त्रिणा सह ।
पञ्च सम्मतिदातार-स्तिष्ठन्त्यन्ये समाहिताः ॥ ११ ॥
एकः प्रबन्धकर्ता च, यश्चालयति संततम् ।
यंत्रालयस्य सर्वं वै, कार्यं यच्च स्थिरीकृतम् ॥ १२ ॥

अर्थः—इस यन्त्रालय के कार्यों के सुप्रबन्ध देखने के लिये आर्य्यजनों ने एक प्रबन्ध-कारिणी" नाम की सभा बनाई है ॥ ९ ॥ जिसमें प्रतिवर्ष नूतन २ सभासदों को आर्य लोग चुनकर नियुक्त करते हैं इसमें कार्यविशारद सात सभ्य होते हैं ॥ १० ॥ इनमें एक प्रधान और एक मंत्री होता है और अन्य पांच बड़ी सावधानी के साथ विचार देने के लिये रहते हैं ॥ ११ ॥ इसके अतिरिक्त एक प्रबन्धकर्ता (मैनेजर) होता है जो प्रतिक्षण यंत्रालय के कार्य को, जो प्रथम ही स्थिर हो चुका है, चलाता है ॥ १२ ॥ इसी के ऊपर यंत्रालय का सब

सर्वो निक्षिप्यते भार- स्तस्मिन्नेव समन्ततः ।
अस्याज्ञामनुवर्तन्ते, भृत्याश्चान्ये नियोजिताः ॥ १३ ॥
अथ यदा प्रधानोऽभूद्, बुद्धिमांश्च विचक्षणः ।
रामविलासनामा वै, मुद्राकार्यविशारदः ॥ १४ ॥
मन्त्री मन्त्रविदां श्रेष्ठः, शिवप्रसाद नामकः ।
बहुश्रुतो बहुदृष्टः, प्रबन्धकरणे पटुः ॥ १५ ॥
ब्रह्मानन्दो यदाचासीत्, विहारिजनभूषणः ।
प्रबन्धकर्तृ-पदवीं, प्राप्तः शान्तो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥

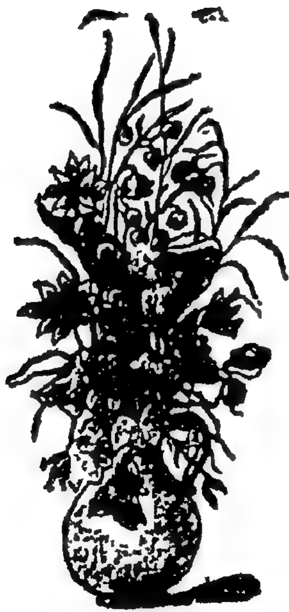
भार रहता है । और इसी की आज्ञानुसार नियोजित अन्य कर्मचारी भृत्य वर्तते हैं ॥ १३ ॥ जब बुद्धिमान्, विचक्षण और छापाखाने के कार्य में विशारद रामविलासजी प्रधान थे ॥ १४ ॥ जब मंत्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ, बहुश्रुत, बहुदर्शी और प्रबन्ध करने में पटु शिवप्रसादजी मंत्रीपद को विभूषित कररहे थे ॥ १५ ॥ जब विहारदेशी जनों को भूषित करनेवाले शान्ति और जितेन्द्रिय ब्रह्मानन्दजी प्रबन्धकर्तृ (मैनेजर) पद को प्राप्त थे ॥ १६ ॥

पद्मचन्द्रो महाप्राज्ञो, हरिबक्षस्तथापरः ।
नारायणः पटुर्धीमां- स्तथा च रामजीवनः ॥ १७ ॥
कन्हैयालालनामा च, यदाऽऽसंस्ते सभासदः ।
ऋषिप्रणीतशास्त्राणा- मुद्धाराय समुत्सुकाः ॥ १८ ॥
एतैरभ्यर्थितः सोऽहं, कृतवान् वेदसंमतम् ।
छान्दोग्योपनिषद्भाष्यं, संक्षिप्तं प्रमिताक्षरैः ॥ १९ ॥

अर्थः—और जब महाप्राज्ञ और बुद्धिमान् पद्मचन्द्रजी, हरिबख्श, नारायणजी, ॥ १७ ॥ रामजीवनजी और कन्हैयालालजी ये लोग बड़े कुशल और बुद्धिमान् इस सभा के सभासद् थे और जो ऋषिप्रणीत शास्त्रों के उद्धार के लिये अतिशय उत्सुक होरहे थे ॥ १८ ॥ उस समय इन लोगों से अभ्यर्थित होकर मैंने वेदानुकूल थोड़े शब्दों में अति संक्षिप्त छान्दोग्योपनिषद्भाष्य बनाया ॥ १९ ॥ संवत् १९०४ ईसवी पौषमास में इस

वर्षेऽब्धि खाङ्केन्दुमिते (१६०४), ईशवीये तु पौषके।
समाप्तिमगमद्भाष्यं, छान्दोग्यस्य समासतः ॥ २० ॥
सोऽयं करोतु देवो मे, सफलं वै परिश्रमम्।
भाष्यं क्लेशहरं हृद्यं, विदुषां मोदवर्धनम् ॥ २१ ॥

संक्षिप्त छान्दोग्योपनिषद्भाष्य की समाप्ति हुई ॥ २० ॥ सर्वत्र विद्यमान दिव्यगुणयुक्त सो यह ब्रह्म मेरे इस परिश्रम को सफल करे और इस भाष्य को अविद्यादि क्लेशनाशक, मनोहर और विद्वानों का हर्षवर्द्धक बनावे ॥ २१ ॥



(५) सेठ मांगीलालजी, नीमचनिवासी संपादक-अनाथरक्षक, अजमेर।

छांदोग्य छंदोग चित्त अति मोदनकारक।

दोन लोकहित करम जगत् में भल-संचारक।

गूरन्थ मणि जीवेश भेद विधी का संधारक।

यज्ञयाग शुभ करम धरम रीती परचारक।

उत्तम अस उपनिषद पे शिवशङ्कर व्याख्या रची।

पढ़ किंकर मनहरष अति धूम सकल भारत मची।

दोहा॥

नित्य निबन्ध निहार यह,

षट् कर्मन को धार।

दम्भ दर्पदल दूर कर, हो भवसागर पार॥

(६) पं० लुट्टनलालजी स्वामी सम्पादक-ब्राह्मणसमाचार, मेरठ।
आपका भेजा छान्दोग्य उपनिषद् आया, कार्य अत्युत्तम है॥

(७) पंडित श्रीमोहनलालजी विष्णुलालजी पंड्या मथुरा, एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ग्रेट ब्रिटन और आयरलैंड और गुजरात वरनैक्यूलर सोसाइटी के लाइफ मेम्बर, मेवाड़राज्य की स्टेट कौंसिल अर्थात् श्रीमहद्राजसभा के पूर्व मेम्बर और सेक्रेटरी, पूर्व दीवान राज्य प्रतापगढ़।

मैंने उसे पढ़ा और विचारा तो विदित हुआ कि इस भाष्य के कर्त्ता अच्छे विद्वान् हैं और जिस ढंग पर उन्होंने व्याख्या लिखी है सो ठीक ही है॥

(८) श्रीसत्यव्रतजी शर्म्मा सामश्रमी, एशियाटिक सोसाइटी का "एसोसियेट मेम्बर", मेम्बर आफ़ "फाइलोलेजिकल मीटिङ्ग", एडीटर आफ़ (गव०) "बिबलि ओथिका इण्डिका", एडीटर आफ़ "उषा" (वैदिकपत्रिका), अनुवादक—"सामवेद संहिता" "यजुर्वेद संहिता" आदि का, टीकाकार-"मन्त्र-

सम्मति

"गोभिलगृह्यसूत्र" आदि का, ग्रन्थकार-"त्रयीपरिचय" "त्रयी-ब्राह्मण" "ऐतरेय" आदिका, प्रकाशक-टीका" आदि का, समालोचक-"निरुक्त" "साम्प्रातिशाख्य", "निदानसूत्र (वैदिक)" इत्यादि विलुप्त ग्रन्थों का, प्रधान-परीक्षक-पञ्जाब, विश्वविद्यालयीय-संस्कृत उपाधिका, आचार्य्य बङ्गवेदविद्यालय कलकत्ता।

आज मुझे बहुत आनन्द है कि छान्दोग्य पर एक नई मनभावनी टीका देखने में आई। जो कोई ग्रन्थ साम्प्रदायिक मत का साहाय्य के लिये रचा जाता है वह उस सम्प्रदाय के लोगों को बहुत मीठा लगता है परंतु और विद्वानों को बहुत ही कडुआ लगता है इसी कारण शङ्कराचार्य सम्प्रदाय के लोगों को शंकरभाष्य बहुत प्यारा है तो भी अस्मदादि साम्प्रदायिक लोगों की आंखों में वह निर्दोष नहीं दीख पड़ता अब जो कोई असाम्प्रदायिक भाष्य बनजाय तो हम लोगों को बहुत आनन्द क्यों न हो।

भाष्य का जो नमूना देखा, इसी प्रकार जो समग्र ग्रन्थ बनजायगा तो आशा है कि हम लोगों का एक महान् अभाव का पूरण होजायगा। इसमें भी कुछ दोष देख पड़ता है कि जो शाङ्करभाष्य के पठन पाठन द्वारा ग्रन्थकार के शिर में छिपा हुआ है, वह भी ग्रन्थकार के अज्ञात ही प्रकट होरहा है। प्रार्थना है कि ऐसी बातों पर ग्रन्थकार बहुत ही दृष्टि रक्खा करें। और एक बात यह है कि पदच्छेद स्वतन्त्र जैसा छपा है इससे विशेष लाभ क्या होगा? भाष्य के भीतर तो पदच्छेद रहेहीगा।

